

ॐ

श्रीसद्गुरुदेवाय नमः

छहढाला प्रवचन

(भाग - १)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
'छहढाला' ग्रन्थ पर के प्रवचन
(ढाल १, २ और ३)

प्रकाशक

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट / श्री सत्सुख

प्रभावक ट्रस्ट ५८०, जूनी माणेकवाडी,

भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) २४२३२०७ / २५१५००५

गुरु गौरव

श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन साहित्य केन्द्र,

पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ .

श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट

विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ .

फौन : (०५७१) २४१००१०/११/१२

श्री खीमजीभाई गंगर (मुंबई) : (०२२) २६१६१५९१

श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाटा) : (०३३) २४७५२६९७

प्रथमावृत्ति : प्रत : १०००

द्वितीय आवृत्ति : प्रत : ७५०

तृतीय आवृत्ति : प्रत : ३०००, दि.१२-८-२०१४, पूज्य बहिनश्री की १०१वीं जन्म जयंति

पृष्ठ : ८ + ५०० = ५०८

लागत मूल्य : १५०/-

विक्री मूल्य : २०/-

टाईप सेटिंग :

पूजा इम्प्रेसन्स

प्लोट नं.१९२४-बी,

६, शान्तिनाथ बंगलोझ,

शशीप्रभु मार्ग, रुपाणी सर्कल के पास

भावनगर-३६४००१

फोन : ९७२५२५११३१

मुद्रक :

भगवती ओफसेट

१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड,

बारडोलपुरा

अहमदाबाद

फोन : ९८२५३२६२०२

प्रकाशकिय

संसार परिभ्रमण में जन्म-मरण कर रहे ऐसे जीव निरंतर मानसिक एवं शारीरिक ताप से तप्तयमान हो रहे हैं। अनंतकाल बीता फिर भी जीव को इस दुःख से मुक्त होने का उपाय प्राप्त नहीं हुआ, अतएव अनिच्छासे भी दुःखी हो रहा है। सुख की वांछा में भटक रहे जीव निरंतर दुःख प्राप्ति के उपाय का ही सेवन कर रहा है। यह एक वास्तविकता है। जीव को दुःख उत्पन्न होने का कारण क्या है इसकी भी खबर नहीं है तो उसे मुक्त कैसे होना उसके उपाय की तो सूझ कहाँ से होगी ? ऐसी एक विकट परिस्थिति में जगत के सर्व जीव काल व्यतीत कर रहे हैं।

दुःख को ही सुख मानकर सेवन करता ऐसा यह जीव दुःख के उपाय को ही साधता है। सुख का वास्तविक स्वरूप क्या ? दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या ? सुख कैसे प्रगट हो ? इत्यादि विषय से अनभिज्ञ, इस विषय की अंधकारमय परिस्थिति में कोई महाभाग्य से, महापुण्योदय से, किसी मंगल घडी में, दुःख से मुक्त कैसे होना और शाश्वत सुख कैसे प्राप्त करना उस पर प्रकाश डालने, उस उपाय को जगत समक्ष दर्शाने एक दिव्य आत्मा का आगमन इस भरतक्षेत्र में हुआ। जैसे सूर्यप्रकाश होने पर अंधकार रहता नहीं, वैसे वह दिव्य दैदीप्यमान, जाज्वल्यमान, अंतर-बाह्य पवित्रता के पूंज स्वरूप, अनेकानेक दिव्यगुणों से विभूषित आत्मा के आगमन से सुख कैसे प्रगट हो उसका उपाय दर्शाकर दुःखी जीवों की दरिद्रता को मिटाकर, शाश्वत सुख संपत्ति प्रदान की। ऐसे हम सबके तारणहार, जगत उद्धारक, मोक्षमार्ग शिरोमणी, पुरुषार्थ के धनी, सुख-संपत्ति दातार, इस काल का अचम्भा ऐसे पूज्य गुरुदेवश्री के चरणों में अत्यंत विनम्रभाव से वंदन हो।

पूज्य गुरुदेवश्री के ज्ञान-ध्यानमय जीवन का एक मुख्यभाग है - प्रवचन। पूज्य गुरुदेवश्री ने वस्तुस्वरूप स्पष्ट करके तत्संबंधित सुख-दुःख की विकट समस्या का उपाय दर्शाया। आपश्री के प्रवचनों का श्रवण करना, वांचन करना यह जीवन की अचिंत्य और सुमंगल घडी है। इन प्रवचनों का प्रकाशन होना, घर-घर में जिनवाणी का स्वाध्याय हो, मूल मोक्षमार्ग शाश्वत अखण्डरूप से विद्यमान रहे इस हेतु से पूज्य गुरुदेवश्री के सभी प्रवचन शब्दशः प्रकाशित हो, ऐसी प्रत्यक्ष बोधस्वरूप, पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनमर्म प्रकाशक, करुणासागर पूज्य भाईश्री शशीभाई की मंगल, पवित्र, लोकोत्तर

भावना के फल स्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ 'छहढाला प्रवचन' (भाग-१ और २) प्रकाशित करते हुए वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर गौरवान्वित हो रहा है।

'छहढाला प्रवचन' (भाग - १ और २में) प्रत्येक भाग में तीन ढाल पर के प्रवचनों का समावेश किया गया है। साथ ही ग्रन्थकर्ता श्री दौलतरामजी द्वारा रचित गाथाओं एवं उसकी हिन्दी टीका भी दी गई है। कविवर श्री दौलतरामजी का संक्षिप्त जीवन परिचय अन्यत्र दिया गया है, जिसे वहाँ से पढ़ने की पाठकवर्ग को विनंती है। प्रथम ढाल में ग्रन्थकर्ता कविवर श्री दौलतरामजी ने संसार परिभ्रमण का स्वरूप, चार गति में जीव ने कैसे-कैसे दुःख सहन किये उसका वर्णन किया है। तत्पश्चात् दूसरी ढाल में संसार परिभ्रमण का कारण, सात तत्त्व की विपरीत श्रद्धा, उसके नाश का उपाय इत्यादि विषय का सरल एवं स्पष्ट भाषा में वर्णन किया है। पूज्य गुरुदेशी प्रवचनों में अनेकबार फरमाते थे कि, यह तो गागर में सागर भर दिया है।

जैन सम्प्रदाय में छहढाला की कृति लोकप्रिय है। बहुत से जैनी इस कृति को मुखपाठ करते हैं, परन्तु परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी फरमाते हैं कि, 'शास्त्र में मार्ग कहा है परन्तु मर्म तो ज्ञानी के हृदय में रहा है।' तदनुसार पूज्य गुरुदेशी ने कविवर के हृदय में रहे भावों को स्पष्ट कर मोक्षमार्ग का उद्योत करके महान अविस्मरणिय उपकार किया है। पूज्य गुरुदेशी के प्रवचन यह मात्र कोई वचनश्रृंखला नहीं है अपितु उसमें निहित मोक्षमार्ग को यदि जीव हृदयगत करे तो आत्मकल्याण हो जाये ऐसा प्रबल निमित्तत्व इसमें रहा है। इसलिए प्रस्तुत प्रवचन जीव के कल्याणार्थ हैं, इस उद्देश्य से उसका वांचन, स्वाध्याय अवधारण आदि किया जाये ऐसी भावना है।

मूल कृति छहढाला सचित्र होने से प्रस्तुत प्रवचनों में जहाँ - जहाँ पूज्य गुरुदेशीने चित्रों को देखकर उसका उल्लेख किया है वहाँ-वहाँ उस चित्र को दिया गया है। तदुपरांत पूज्य गुरुदेशी ने जहाँ जिस प्रकार के दृष्टान्त दिये हैं उसके भी कुछएक चित्र दिये गये हैं। पूज्य गुरुदेशी के प्रवचनों का भाव एवं भाषाप्रवाह यथावत् बना रहे उसका यत्किंचित प्रयत्न किया गया है। कोई-कोई जगह में श्रोतागणमें से कोई बात की गई हो या पूछने में आयी हो वह स्पष्ट सुनने में नहीं आयी है वहाँ डोट-डोट करके जगह छोड़ दी गई है। जहाँ जरूरत लगी वहाँ वाक्यरचना पूर्ण करने हेतु कोष्ठक भरे गये हैं। व्यक्तिगत नाम का सम्बोधन कहीं भी लिया नहीं गया है। प्रत्येक भाग में दो ढाल के प्रवचन लिये गये हैं।

प्रस्तुत प्रवचनों को फिर से एकबार सुनकर जाँच लिये गये हैं, ताकि कोई क्षति रह न जाये।

जिनवाणी प्रकाशन का कार्य अति गम्भीर कार्य है ऐसी जागृतिपूरवक बारीकी से जाँच कर

प्रकाशन करने का प्रयत्न किया है, फिर भी कहीं अजागृतिवश या अगम्भीरतावश कोई क्षति या भूल रह गई हो तो जीनवाणी माता की हृदयपूर्वक क्षमायाचना करते हैं। तथा पाठकवर्ग से भी विनंती है की यदि कोई क्षति ध्यान पर आये तो उसे अवश्य बताए।

प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशन के प्रसंग पर कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी, प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबहन, पुरुषार्थ मूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी को स्मरण में लेकर उनके चरणों में वंदन करते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के अपूर्व प्रवचन प्रकाशित हो ऐसी जिनकी मंगलभावना है, ऐसे सौम्यमूर्ति, निष्कारण करुणाशील, ज्ञानीपुरुषों के हृदय प्रकाशक पूज्य भाईश्री शशीभाई के उपकार को हृदयगत कर उनके चरणों में वंदन करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की प्रवचन गंगा में स्नानकर मिथ्यात्वरूपी मलिनता को धोकर, निर्मल पवित्र परिणति अंगीकार करें, एसी भावना के साथ विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

पण्डित दौलतराम - संक्षिप्त जीवनवृत्त

प्रस्तुत कृति 'छहढाला' के रचनाकार पण्डित दौलतराम का जन्म विक्रम संवत् १८५५ (सन् १७९८ ईसवी) में, अलीगढ़-हाथरस के मध्य स्थित 'सासनी' ग्राम में हुआ था। आपके पिताश्री का नाम 'टोडरमल' था। आप पल्लीवाल जाति के नररत्न थे एवं आपका गोत्र 'गंगोरीवाल' अथवा 'गंगटीवाल' था। कविवर के पिता, अपने छोटे भाईश्री चुन्नीलाल के साथ हाथरस में कपड़े का व्यापार करते थे।

कविवदौलतराम की शिक्षा एवं शिक्षा गुरु के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है, पर इतना निश्चित है कि ये संस्कृत / प्राकृत भाषाओं के मर्मज्ञ मनीषी थे। आपके द्वारा रचि ग्रन्थों में उपलब्ध जिन-सिद्धान्तों की गम्भीरता, इस बात का ज्वलन्त प्रतीक है।

आपका विवाह सेठ चिन्तामणि जैन, छिपैटी, अलीगढ़ की सुपुत्री से हुआ था। आपके बड़े पुत्र टीका राम का जन्म विक्रम संवत् १८८३ और छोटे पुत्र का जन्म विक्रम संवत् १८८६ में हुआ था। आपके बड़े पुत्र लश्कर में रहते थे। आपके छोटे पुत्र के सन्दर्भ में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है।

कविवर दौलतराम, हाथरस में अपने पिता और चाचा के साथ कपड़े के व्यापार में सहयोग करते थे परन्तु स्वाध्यायप्रेमी होने के कारण यदा-कदा समय निकालकर शास्त्रों के अध्ययन-मनन में लीन हो जाया करते थे। एक बार की बात है कि वे हाथरस के जिनमन्दिर में गोम्मटसार का स्वाध्याय कर रहे थे। उसी समय मथुरा के प्रसिद्ध सेठ मणिरामजी जिनदर्शन हेतु वहाँ पधारे। वे उनके स्वाध्याय से अत्यधिक प्रभावित हुए और उनसे हाथरस छोड़कर मथुरा चलने का आग्रह करने लगे। पण्डित दौलतराम उनके साथ मथुरा चले गये और कुछ समय वहाँ बड़े आनन्द से रहे भी, परन्तु सम्भवतया सेठजी के वैभव की चकाचौंध में उनका मन नहीं लगा; अतः वे वहाँ से वापस अपने घर आ गये।

घर आने के बात उन्होंने पुनः आजीविका के सम्बन्ध में सोचा और अलीगढ़ जाकर छींट छापनें का कार्य करने लगे। प्रतीत होता है कि वे आजीविका की ओर से निश्चित नहीं थे और उनकी आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं थी, अतएव उन्हें अपने जीवन में बार-बार इधर से उधर होना पड़ रहा था, किन्तु साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि उनकी अद्यात्मरुचि अत्यन्त प्रबल थी; अतः वे इन उदयाधीन परिस्थितियों से

विशेष आकुलित भी नहीं होते थे। कहा जाता है कि जिस समय वे छींट छापने का कार्य करते थे, उस समय अपने समीप एक चौकी पर कोई प्राकृत या संस्कृत भाषा का शास्त्र विराजमान कर लेते थे और छींट छापते हुए उसकी गाथाएँ या श्लोक भी याद करते जाते थे। उनकी स्मरणशक्ति एवं रुचि इतनी प्रबल थी कि वे एक दिन में साठ-सत्तर गाथाएँ या श्लोक कण्ठस्थ कर लेते थे।

कविवर दौलतराम के जीवन का यह प्रसंग आत्महित के अभिलाषियों द्वारा बारम्बार विचार करने योग्य है क्योंकि इससे व्यर्थ के आर्तध्यान आदि विकारों से बचकर अधिक से अधिक समय तत्त्वाभ्यास करने की मंगल प्रेरणा प्राप्त होती है।

अलीगढ़ के बाद कविवर दौलतराम, दिल्ली आकर रहने लगे। दिल्ली में उन्हें विशिष्ट स्वाध्यायी एवं अद्यात्मरुचिसम्पन्न साधर्मियों का ऐसा सुन्दर समागम मिला कि वे सभी चिन्ताएँ भूल गये और फिर वहाँ से अन्यत्र कहीं नहीं गये; जीवन के अन्तिम समय तक वहीं रहे। आपने विक्रम सम्वत् १९०१ में माघ कृष्णा चतुर्दशी को दिल्ली के अनेक साधर्मि बन्धुओं के साथ तीर्थराज सम्मेदशिखर की यात्रा भी की थी।

कविवर पण्डित दौलतराम ने लगभग ६८ वर्ष की उम्र में, मार्गशीर्ष कृष्णा अमावस्या, विक्रम सम्वत् १९२३ को (०७ दिसम्बर १८६६, शुक्रवार) मध्याह्न में समाधिपूर्वक शरीर त्याग दिया। यह भी कहा जाता है कि उन्हें अपनी मृत्यु का छह दिन पूर्व ही आभास हो गया था और उन्होंने सबसे क्षमायाचना करके समाधिभाव धारण कर लिया था।

(मंगलायतन द्वारा प्रकाशित 'छहढाला', पुस्तकमें से साभार उद्धृत)

विषयानुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	दिनांक	गाथा	पृष्ठ नंबर
पहली ढाल			
०१	१६.०१.१९६६	१, २, ३	००१
०२	१७.०१.१९६६	३ से ६	०२३
०३	१९.०१.१९६६	७ से १२	०४६
०४	२०.०१.१९६६	१२ से १६	०७३
दुसरी ढाल			
०५	२२.०१.१९६६	१, २, ३	०९९
०६	२३.०१.१९६६	३, ४	१२३
०७	२४.०१.१९६६	५, ६	१४५
०८	२५.०१.१९६६	६, ७	१६६
०९	२६.०१.१९६६	७ से १२	१८७
१०	२७.०१.१९६६	१३	२११
११	२८.०१.१९६६	१३, १४, १५	२३०
तीसरी ढाल			
११	२८-०१-१९६६	१	२४६
१२	३०-०१-१९६६	१	२५५
१३	३१-०१-१९६६	१, २	२७४
१४	०१-०२-१९६६	३, ४	२९४
१५	०२-०२-१९६६	४, ५	३१६
१६	०३-०२-१९६६	६ से ८	३३७
१७	०४-०२-१९६६	८ से १०	३६१
१८	०६-०२-१९६६	१० से १२	३८६
१९	०७-०२-१९६६	१२, १३	४०९
२०	०८-०२-१९६६	१४, १५	४३२
२१	०९-०२-१९६६	१५ से १७	४५१
२२	१०-०२-१९६६	१७	४७३

ॐ
श्रीसद्गुरुदेवाय नमः

छहढाला प्रवचन

(भाग - १)

पहली ढाल

मंगलाचरण

(सोरठा)

तीन भुवनमें सार, वीतराग विज्ञानता;
शिवस्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारिकैं

अन्वयार्थ :- (वीतराग) राग-द्वेष रहित, (विज्ञानता) केवलज्ञान (तीन भुवनमें) तीन लोकमें (सार) उत्तम वस्तु (शिवस्वरूप) आनन्दस्वरूप [और] (शिवकार) मोक्ष प्राप्त करानेवाला है, [उसे मैं] (त्रियोग) तीन योग से (सम्हारिकैं) सावधानी पूर्वक (नमहुँ) नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ :- राग-द्वेषरहित 'केवलज्ञान' ऊर्ध्व, मध्य और अधो इन तीन लोकमें उत्तम, आनन्दस्वरूप तथा मोक्षदायक है, इसलिये मैं (दौलतराम) अपने त्रियोग अर्थात् मन-वचन-काय द्वारा सावधानी पूर्वक उस वीतराग (१८ दोषरहित) स्वरूप केवलज्ञान को नमस्कार करता हूँ।१॥

वीर संवत् २४९२, पोष कृष्ण १०, रविवार
दि. १६-१-१९६६, श्लोक १ से ३, प्रवचन नं. १

यह एक छहढाला है। 'छहढाला' अर्थात् छह प्रकार के राग की चाल है अथवा 'छहढाला' अर्थात् आत्मा को मिथ्यात्व और अज्ञान शत्रु को जीतने के लिए एक उपायस्वरूप ढाल, उसे यहाँ 'छहढाला' कहा जाता है। एक अध्यात्म प्रिय 'दौलतरामजी' हुए हैं, उन्होंने यह रचना की है। अन्दर सब शास्त्रों का उनकी शक्ति अनुसार निचोड़ करके गागर में सागर भर दिया है। गागर में सागर भर दिया है। संक्षिप्त में शास्त्र का रहस्य थोड़ा... थोड़ा... थोड़ा... (करके) सब बहुत बातें इसमें रख दी है। यह प्रचलित है लड़को में, अपने पाठशाला में भी (प्रचलित है)

ॐ मंगलाचरण, पहली ढाल।

'तीन भुवनमें सार, वीतराग-विज्ञानता;'

तीन भुवनमें सार, वीतराग विज्ञानता;

शिवस्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारिकैं

यह सोरठा है, सौरठा। ऐसे तो दो-दो बार बोलें, परन्तु यह सोरठा में दो बार नहीं। तीन भुवन में सार.. तीन भुवन में सार... ऐसा नहीं, सही देशी अर्थ ऐसा नहीं है। जैसा हो, वैसा कहा जाता है न वहाँ, यह राणकदेवी सोरठा बोलती है न ! 'मा पर मारा वीर, चौसला कौन चढ़ावशे' राणकदेवी, जब राजा मरता है, फिर पर्वत है, वहाँ से नीचे गिरती है, 'गिरनार।' यह सोरठा है वहाँ, ऐसा कहते हैं।

तीन भुवनमें सार, वीतराग विज्ञानता;

शिवस्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारिकैं।।१।।

कहो, समझ में आया इसमें ? हैं ? यह देशी समझ में आया ? ऐसा कहा। यह देशी ऐसा है - ऐसा समझ में आया ? ऐसा कहा है। ऐ... देवानुप्रिया ! क्या कहा ? देखो अब !

‘(वीतराग)...’ ‘राग-द्वेष रहित,...’ मांगलिक रूप से पहला शब्द यहाँ से शुरू किया है। राग-द्वेष रहित विज्ञानता। वि-शेष, ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान। विज्ञानता में लिया है न ! वि...ज्ञानता; ज्ञान तो है परन्तु यह विज्ञानता-विशेष पूर्णज्ञान - ऐसा केवलज्ञान ! देखो, यहाँ मांगलिक में केवलज्ञान का स्मरण करते हैं। सावधानीपूर्वक करते हैं - ऐसा कहते हैं, हों !

विज्ञान अर्थात् केवलज्ञान; तीन भुवन में ऐसा कहकर तीन लोक सिद्ध करते हैं। इस जगत में तीन लोक हैं। लोक एक, उसके तीन भाग हैं - उर्ध्व, मध्य और तिरछा ऐसे तीन लोक; एक लोक के तीन भाग। इन तीनों में, देखो ! तीन लोक है - ऐसा सिद्ध करते हैं। ‘सार’ उत्तम वस्तु है। यह केवलज्ञान, राग-द्वेषरहित स्वस्व यह इस जगत में सार में सार है। समझ में आया ? यह एक प्रयोजनभूत है।

वैसे वस्तुरूप से तो सभी सार कहलाती है। ऐसे समयसार कहलाता है न ? वह आत्मा का समय आत्मा के अर्थ में है, यहाँ पर केवलज्ञान के अर्थ में ‘सार’ है। समझ में आया ? समयसार (अर्थात्) सम्यक् प्रकार से अय - ज्ञान का परिणमन, विकार रहित; यह आत्मद्रव्य की बात है। यहाँ केवलज्ञान की पर्याय सार में सार प्रगट करने योग्य है; इसलिए उसे सार में सार कहा गया है। समझ में आया ? तीन लोक में, राग-द्वेष रहित वस्तु केवलज्ञान उत्तम पदार्थ है। ओ..हो..! वह केवलज्ञान चाहिए है न ? धर्मात्मा को केवलज्ञान चाहिए।

‘श्रीमद्’ भी अन्तिम कलश में कहते हैं न ? ‘इच्छे छे जे योगीजन, अनन्त सुख स्वस्व’ आता है ? ‘मूल शुद्ध ते आत्मस्व सयोगी जिन स्वस्व।’ देखो, वहाँ ऐसा लिया है। ‘मूल शुद्ध ते आत्मस्व, सयोगी जिन स्वस्व’ - वहाँ लिया है भाई ! वहाँ केवलज्ञान लिया है। ‘इच्छे छे जे योगीजन।’ यहाँ आयेगा तब इसमें आगे कहेंगे, हों ! ‘इच्छे छे जे योगीजन अनन्त सुख स्वस्व; मूल शुद्ध ते आत्मस्व।’ आत्मपद। मूल शुद्ध, वह आत्मपद, परन्तु वह आत्मपद पर्यायवाला लिया है। ‘सयोगी जिनस्वस्व, भले सयोग हो, परन्तु केवलज्ञान पर्याय प्रगट हुई, बस ! मोक्ष हो गया। समझ में आया ?

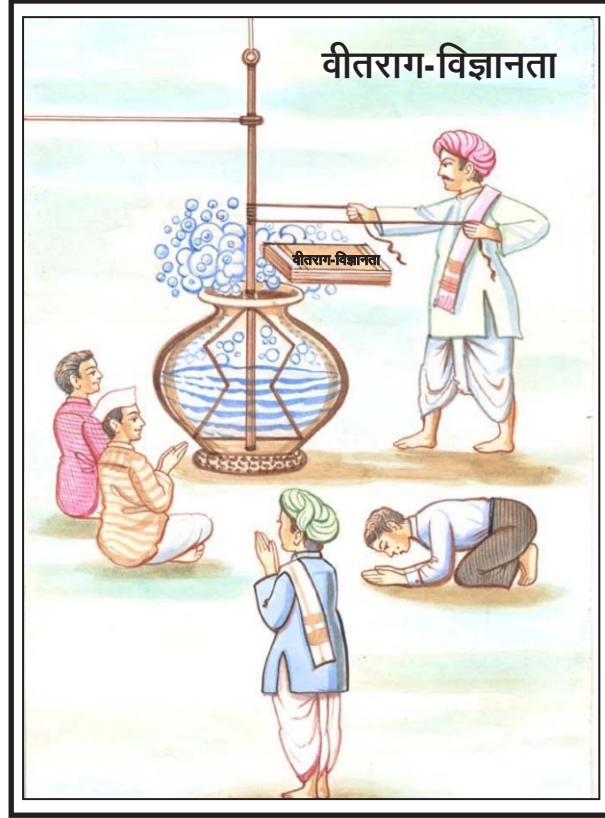
यह इस तीन लोक में - उर्ध्व में स्वर्ग में सर्वार्थसिद्धि के विमान; मध्य में बहुत रचनायें; अधो में नारकी, भवनपति इत्यादि की रचनायें, इन सब में सार एक ज्ञान की वीतरागता - पूर्णस्वस्व, यही जगत में सार है, यही मक्खन है; यही आत्मा को प्रगट करने योग्य है; इसलिए वह वन्दन

करने योग्य है।

कैसा है केवलज्ञान ? '(शिवस्वरूप)...' है (अर्थात्) 'आनन्दस्वरूप...' है। ज्ञान और आनन्द दो साथ डाले हैं (क्योंकि) मूलवस्तु है। दो डालते हैं। जहाँ-जहाँ; ज्ञान और आनन्द, बस ! ज्ञान और आनन्द। वह ज्ञान, आनन्दस्वरूप है, सुखरूप है, अतीन्द्रिय अनाकुल शान्तरस के साथ परिणमता केवलज्ञान होता है; इसलिए उसे शिव-उपद्रव रहित, कल्याणस्वरूप; कल्याण अर्थात् आनन्दस्वरूप - ऐसी उसकी व्याख्या की है। शिवका अर्थ तो कल्याणस्वरूप है; शिव का अर्थ उपद्रवरहित है, क्लेश रहित है अर्थात् आनन्दसहित है, ऐसा। आनन्द स्वरूप - यह वीतराग केवलज्ञान आनन्द स्वरूप है। जगत को आनन्द चाहिए है न ? तो कहते हैं कि केवलज्ञान ही आनन्दस्वरूप है। 'मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला है...' यह केवलज्ञान हुआ, अर्थात् उसे मोक्ष होकर ही रहेगा। यह भावमोक्ष है, द्रव्यमोक्ष हो जाता है। 'मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला...' केवलज्ञान और आनन्द है।

'उस मैं... (त्रियोग) अर्थात् तीन योग की...' मन-वचन और काया की, '(सम्हारिकें...)' अर्थात् 'सावधानी से...' देखा ? सावधानी से। उस वीतराग केवलज्ञान को, वीतराग-विज्ञान को (नमस्कार करता हूँ।) वीतराग-विज्ञान तो छद्मस्थ में भी होता है। समझ में आया ? 'परमात्म प्रकाश' में बहुत जगह आया है। वीतराग, विज्ञानदशा, मुनि को वीतराग-विज्ञानदशा होती है। यह तो वीतरागी-विज्ञान केवलज्ञान को (कहा है।) जिसके फलरूप पूर्णदशा हुई, उसे यहाँ वीतराग-विज्ञान कहा गया है। कहते हैं, उसे तीन योग की सावधानी से 'नमस्कार करता हूँ।' हमारे नमन करनेयोग्य, आदर करनेयोग्य हितरूप गिनकर सावधानरूप से प्रगट करनेयोग्य होवे तो यह वीतराग-विज्ञान केवलज्ञान है। उसे ही मैं नमस्कार करता हूँ। मेरा अन्तर झुकाव केवलज्ञान की पर्याय को ही नमन करता है। कहो, समझ में आता है ? अर्थात् ऐसा करके केवलज्ञान एक पर्याय है - ऐसा सिद्ध किया। आत्मद्रव्य में सामर्थ्य है, परन्तु केवलज्ञानपर्याय प्रगट करे - यह उसकी ताकात है। एक समय में तीन काल - तीन लोक को जाने ऐसी एक समय की पर्याय, ऐसी आत्मद्रव्य की एक समय की ज्ञान की पर्याय की ताकात है - ऐसी सामर्थ्य से उसे नमस्कार किया है। ऐसी सामर्थ्य गिनकर उसे वन्दन किया गया है।

भावार्थ :- इसमें वह रखा है न जरा ! चित्र... चित्र। तीनलोक रखे हैं, समझे न ? देखो न ! लोक रखा है न ? यह लोक उर्ध्व, मध्य और पाताल (तिरछा) सब उसे नमस्कार करते हैं। देखो ! अपने में नहीं है, उसमें - हिन्दी में है। यहाँ कहते हैं, देखो ! मंथन करते है न ? इस तीन लोक का मंथन करते हैं। मंथन करके निकालने योग्य सार हो तो, मक्खन हो तो केवलज्ञान है - ऐसा कहते हैं। कहते है न ? एक यह ध्यान में रहता है। यह तीन लोक है, इसमें यह रवैया। रवैया कहते है न ? क्या कहलाता है ? क्या कहते हैं ? मथानी। मंथन करने में सार मक्खन निकालने योग्य होवे तो वीतराग



केवलज्ञान है - ऐसा कहते हैं। देखो, चित्र भी ठीक दिया है, हों ! अपने नए में है, उस हिन्दी में हिन्दी में। इस हिन्दी में है। है न, यहाँ सब है यहाँ है। यह रही, हाँ ! यहाँ सब एक-एक है। यहाँ सब साथ रखी है। वह तो उसमें चित्र बराबर नहीं है, इसमें चित्र जरा ठीक है।

तीनलोकरूपी एक बड़ा मक्खन का... समझ में आता है ? क्या कहलाता है ? गोली... गोली ! गोली नहीं आयी तुम्हारी। तीनलोकरूपी गोली ! उसमें मंथन करके निकालने योग्य मक्खन होवे तो केवलज्ञान है - ऐसा कहते हैं, लो ! देखो न ! यह बताया है न ? यह क्या कहलाता है ? देखो न ! क्या कहलाता है ? गोल जैसा यह सामने बताया है न ? बड़ा बर्तन, बर्तन देखो न ! बर्तन जैसा आकार दिया है, देखो न ! है वहाँ ? बर्तन जैसा आकार देकर और उसमें मंथन करके

तीन लोक में से आत्मा के ज्ञानानन्द स्वस्व का मंथन करके केवलज्ञान प्रगट करना, यह सार में सार है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? उसे सब नमस्कार करते हैं, देखो ! इस और, इस और यह मुनि मंथन करते हैं, देखो ! ध्यान में। मुनि दिये है न ? ध्यान में। केवलज्ञान, इस जगत में सार में सार वीतराग केवलज्ञान है - ऐसा कहकर एक-एक आत्मा की केवलज्ञानदशा वीतरागता प्रगट होती है - ऐसी आस्थास्व से इस बात को सिद्ध करके उसे नमस्कार किया है। समझ में आया ? एक समय में ! आहा..हा..! राग-द्वेष की कल्पना गयी, ज्ञान की पूर्ण पर्याय हुई - ऐसा कहते हैं। वीतराग-विज्ञानता कहा है न ? अर्थात् राग-द्वेष की विकारी पर्याय गयी, वीतराग पर्याय हुई, वीतरागता के साथ केवलज्ञान पूर्णदशा तुरन्त ही प्रगट हुई - ऐसी एक आत्मा में, एक समय में ऐसी ताकत है - ऐसी उसकी प्रतीति और श्रद्धा करके, उसे प्रगट करने के लिए हम उसे वन्दन, सत्कार और उसका ही आदर करते हैं।

देखो ! भावार्थ में थोड़ा लिखा है। **‘राग-द्वेष रहित केवलज्ञान उर्ध्व, मध्य और पाताल - तीन लोक में उत्तम...’** सार का अर्थ उत्तम किया है। **‘आनन्दस्वस्व और मोक्ष देनेवाला है।’** यह केवलज्ञान आनन्दस्वस्व और मोक्ष देनेवाला। हों ! केवलज्ञान ही मोक्ष-पूर्ण सिद्धपद को देनेवाला है। **‘इसलिए मैं ‘दौलतराम’ अपने त्रियोग...’** अथवा उसे याद करनेवाला, केवलज्ञान को प्रगट करने का अभिलाषी। यह स्वतंत्र ग्रन्थकार कहते हैं **‘मन-वचन और काययोग द्वारा सावधानी से...’** अत्यन्त ही सावधानी से ऐसे वीतराग केवलज्ञान को मैं (नमस्कार करता हूँ) देखो ! सावधानी मे ज़रा राग के अभाव की सावधानी की है, कही है। ‘सावधानी’ शब्द का प्रयोग किया है न ? अर्थात् मोह का अभाव - ऐसी सावधानी को प्रगट करके ऐसे केवलज्ञानी वीतराग परमात्मा को मैं **‘नमस्कार करता हूँ।’** वे वीतराग कैसे है ? अठारह दोष रहित हैं। उन्हें क्षुधा नहीं, तृषा नहीं, रोग नहीं... ऐसे अठारह दोष आते हैं न ? (वे) नहीं - ऐसे केवलज्ञान को नमस्कार करता हूँ। लो !

ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य और जीवों की इच्छा

जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त, सुख चाहैं दुखतैं भयवन्त;
तातैं दुखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरु करुणा धार॥१॥

अन्वयार्थ :- (त्रिभुवनमें) तीन लोकमें (जे) जो (अनन्त) अनन्त (जीव) प्राणी [हैं] वे (सुख) सुखकी (चाहैं) इच्छा करते हैं और (दुखतैं) दुःखसे (भयवन्त) डरते हैं (तातैं) इसलिये (गुरु) आचार्य (करुणा) दया (धार) करके (दुखहारी) दुःख का नाश करनेवाली और (सुखकार) सुख को देनेवाली (सीख) शिक्षा (कहैं) कहते हैं।

भावार्थ :- तीन लोक में जो अनन्त जीव (प्राणी) हैं वे दुःख से डरते हैं और सुख को चाहते हैं, इसलिये आचार्य दुःखका नाश करनेवाली तथा सुख देनेवाली शिक्षा देते हैं॥२॥

अब, 'ग्रन्थ रचनाका उद्देश्य और जीव की चाह...' देखो ! उद्देश्य क्या है ? ओर जीव को मूल सुख की चाहना है। इसमें अनन्त प्राणी लेंगे, हों ! निगोद से लेकर अनन्त जीवों को सुख की चाहना है। समझ में आया ?

'जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त, सुख चाहैं दुखतैं भयवन्त;'

जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त, सुख चाहैं दुखतैं भयवन्त;
तातैं दुखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरु करुणा धार॥१॥

शब्द भी ऐसे रचे हैं न ! तीन भुवन में - तीन लोक में। एक बात सिद्ध की। पहले वहाँ कहा था न - तीन लोक में सार। पहले शब्द में कहा था 'तीन भुवन में सार;' अब कहते हैं, तीन लोक में जितने जीव हैं - अनन्त जीव हैं। समझ में आया ? अनन्त जीव हैं, इसमें इन्होंने जरा गति रखी

है, देखो ! चित्र में इस ओर; जीव अनन्त - इसमें रखा है - स्वर्ग का देव, गति है न ? यहाँ मनुष्य; यहाँ पशु (तीर्यज्व) और नारकी - चार चित्र चित्रित किये हैं। चारों का नमूना दिया है। देव, मनुष्य, तीर्यज्व, नारकी। वह मारता है। इन तीन भुवन में इन चार गतियों के अनन्त जीव है - ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया ? अनन्त जीव हैं। भले ही निगोद में अनन्त है और दूसरे मनुष्य, देव, नारकी असंख्य है। इसलिए इन्होंने चार गति का समुच्चय फोटो दिया है।



तीन भूवन में **‘जो अनन्त प्राणी है...’** उन अनन्त प्राणियों में, इन चार गति के जीवों को यहाँ चित्र में थोड़ा-सा बताया है। **‘वे सुख को चाहते हैं...’** यह सिद्धान्त।

जगत को सुख की छटपटाहट है, सुख चाहते हैं। निगोद से लेकर सब प्राणी सुख चाहते हैं। सुख चाहते हैं परन्तु सुख कहाँ है ? और उपाय क्या है ? इसका पता नहीं है। सुख चाहते हैं - यह एक ही सिद्धान्त यहाँ सिद्ध किया है। समझ में आया ? सुख को नहीं चाहते, वे जड़। ‘श्रीमद्’ ने एक जगह कहा है न भाई ! प्रत्येक प्राणी सुख को ही चाहता है, देखो ! मर कर भी सुख को चाहता है न ? मर जाऊँ; अमुक प्रतिकूलता आयी तो छोड़ दूँ, परन्तु प्रतिकूल छोड़कर सुखी होऊँ। यहाँ एकेन्द्रिय से लेकर सभी प्राणी लिये हैं, क्योंकि उनके आत्मा में सुखरूप आत्मा है; स्वभाव सुखरूप है, इसलिए सुख की अपेक्षा (रखकर सुख प्राप्त करने के लिए) बाहर में लगते हैं। उस प्रत्येक को सुख की इच्छा है। समझ में आया ? और सुख को चाहता है - ऐसा है न ? चाहना है, प्रत्येक प्राणी को सुख की चाहना है।

‘दुःख से डरता है...’ अस्ति-नास्ति की है। सुख की भावना है, दुःख से डरता है, दुःख से

त्रास पाता है... परन्तु दुःख किसे कहना ? और सुख किसे कहना ? इसका इसे पता नहीं है, इसलिए यहाँ उपदेश शुरू करते हैं - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? **‘दुःख से डरता है, इसलिए (गुरु)...’** है न ? **‘आचार्य...’** महासन्त मुनि दिगम्बर आचार्य गुरु है न ? वे ही आचार्य सच्चे होते हैं। गुरु है न ? गुरु ! गुण में बड़े, ज्ञान-दर्शन-चारित्र में (बड़े) ऐसे महान दिगम्बर आचार्य (होते हैं)।/ **‘दौलतरामजी’** के अभिप्राय में ऐसा है। महान निर्ग्रन्थ आचार्य दिगम्बर मुनि, वे गुरु **‘करुणा करके...’** देखो ! दया का भाव आता है। जगत के प्राणियों को दुःखी देखकर, स्वयं को किञ्चित् राग है, इसलिए करुणा आती है।

‘करुणा उपजे जोई’ - ‘श्रीमद्’ में आता है न ? ‘कोई क्रिया जड़ हो रहे, शुष्कज्ञान में कोई; माने मारग मोक्ष का करुणा उपजे जोई।’ यहाँ तो **‘दौलतरामजी’** यह कहना चाहते हैं (कि) आचार्य महाराज दिगम्बर सन्त महानिर्ग्रन्थ मुनि थे। वीतराग-विज्ञानता प्राप्त करने के अभिलाषी। वीतराग-विज्ञानता (जो) केवलज्ञान कहा; वीतराग विज्ञानता - ऐसी वीतराग-विज्ञानता के साधक, ऐसे आचार्य, सन्त, गुरु यह शिक्षा देते हैं। **‘दया करके...’** फिर दया करके, हों ! करुणा का विकल्प है, अरे...! जग के प्राणी ! **‘मोक्षमार्गप्रकाशक’** में आता है न ? धर्म के लोभी को देखकर किञ्चित् शुभराग होता है तो वे आचार्य जगत को उपदेश करते हैं। समझ में आया ? धर्म के लोभी जीव होवे तो, हों !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- हाँ, किन्तु गुरु कहते हैं। ऐसा कि मैं अपने घर की बात नहीं करता। आचार्य - गुरु कहते हैं, ऐसा कहते हैं। गुरु ने उपदेश दिया, वह मैं कहूँगा - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? देखो ! इन्होंने पहले सिर पर गुरु को रखा है। गुरु ने दया करके, आ..हा..! वीतराग-विज्ञान को साधन बोले, जिस वीतराग-विज्ञान को मैंने नमस्कार किया - ऐसे वीतराग-विज्ञान को साधनेवाले, उस वीतराग-विज्ञान की दशा में रहनेवाले, उस पूर्ण वीतराग-विज्ञान को प्राप्त करने के अभिलाषी... परन्तु वीतराग मुनि है। जिन्हे अन्दर में तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव हुआ है और ज्ञान की निर्मलता, स्वसंवेदन की वीतरागी-विज्ञानता अन्दर में प्रगट हुई है - परन्तु अपूर्ण - ऐसे गुरु दया करके, जगत पर करुणा करके (उपदेश देते हैं।) अरे...! जगत के प्राणी। अनादिकाल से चौरासी के अवतार में दुःखी है, उन्हें अब किञ्चित् सुख की इच्छा होने पर भी

सुख प्राप्त नहीं होता, उन पर करुणा करके, 'दुःख का नाश करनेवाली...' देखो ! यह शिक्षा। यह सब शिक्षा की व्याख्या है। शिक्षा कैसी है ? कि 'दुःख का नाश करनेवाली और सुख देनेवाली' अस्ति-नास्ति से बात की है।

ये आचार्य, सन्त, मुनि वीतराग विज्ञान के साधक, इन्होंने दुःख का नाश करनेवाली, सुख को उत्पन्न करनेवाली ऐसी शिक्षा अर्थात् उपदेश (दिया है।) एक सिद्धान्त में कितना भरा है, देखो ! विकार का नाश करनेवाली और आनन्द को उत्पन्न करनेवाली; निर्विकल्प दशा को उत्पन्न करनेवाली। विकार का नाश करनेवाली और निर्विकारी दशा को उत्पन्न करनेवाली। देखो ! इसमें अन्दर यह वीतरागता आयी। ऐसी शिक्षा गुरु-सन्तों ने दी है।

यहाँ तो आचार्य यह कहते हैं कि भाई ! गुरुने यह सीख (शिक्षा) दी है, उसमें से मैं यह बात कहूँगा - ऐसा कहते हैं। महा दिगम्बर सन्तो, आचार्योंने गागर में सागर भर करके थोड़े में बहुत कहूँगा। 'दुःख का नाश करनेवाली...' आहा..हा..! ठीक ! और 'सुख को देनेवाली...' जीव, सुख को चाहते हैं, इसलिए सुख को देनेवाली... इसका अर्थ यह है कि आत्मा की निर्विकारीदशा होनेवाली शिक्षा अर्थात् सीख; देखो ! यह उपदेश ! इन गुरु का यह उपदेश (है।) यह उपदेश का सार कहा। उपदेश कैसा होता है ? वह 'इष्टोपदेश' में आता है न ? इष्टोपदेश (में) आता है कि इष्ट अर्थात् प्रिय उपदेश किसे कहना ? कि जगत के प्राणी अपनी पर्याय का काम करे, (गति करे), तब जैसे धर्मास्ति निमित्त है, उसी प्रकार सभी कार्यों में एक जगत साधारण उदास निमित्तरूप है, ऐसा उपदेश, उसे इष्ट उपदेश कहते हैं। इस प्रकार दुःख का नाश करनेवाली और आनन्द को देनेवाली दशा का उपदेश, उसे सच्ची शिक्षा, उपदेश कहा जाता है। आहा..हा..! समझ में आया ?

इसका अर्थ ही यह हुआ कि वीतराग-विज्ञानता को केवलज्ञान को जो नमस्कार किया, उस केवलज्ञान के उत्पन्न करानेवाली, विकार की अभावदशा और निर्विकार की उत्पत्तिवाली ऐसी शीख, भगवानने - सन्तोने चार अनुयोगों में दी है, वह बात मैं कहूँगा - ऐसा कहते हैं। 'शिक्षा-सीख देते हैं...' शिक्षा कौन ले सकता है ? संज्ञी प्राणी। यह भी आया न ? शिक्षा कौन ले सकता है ? कि यह संज्ञी (प्राणी), संज्ञी प्राणी हो, वह शिक्षा के योग्य है और उसे गुरु, शिक्षा देते हैं। इसका अर्थ यह कि जिसे इतना क्षयोपशमज्ञान है कि (जो) शिक्षा को समझ सकता है, उसे यह

गुरु शिक्षा देते हैं।

‘(कहैं)...’ शिक्षा कहते हैं - ऐसा कहकर गुरु की वाणी भी... यहाँ तो गुरु देते हैं न ? ऐसा कहते हैं न ? उस वाणी द्वारा जगत को उपदेश करते हैं। वाणी में यह आयेगा - दुःख का अभाव हो और सुख की प्राप्ति हो, बस ! इसमें पूरा मोक्षमार्ग आ गया। समझ में आया ? आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति, वह मोक्ष को - आनन्द को देनेवाली (और) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान का नाश करनेवाली, दुःख का अभाव करनेवाली - ऐसी शिक्षा, सन्तोंने आचार्यों ने दी है। यह बात करेगें।

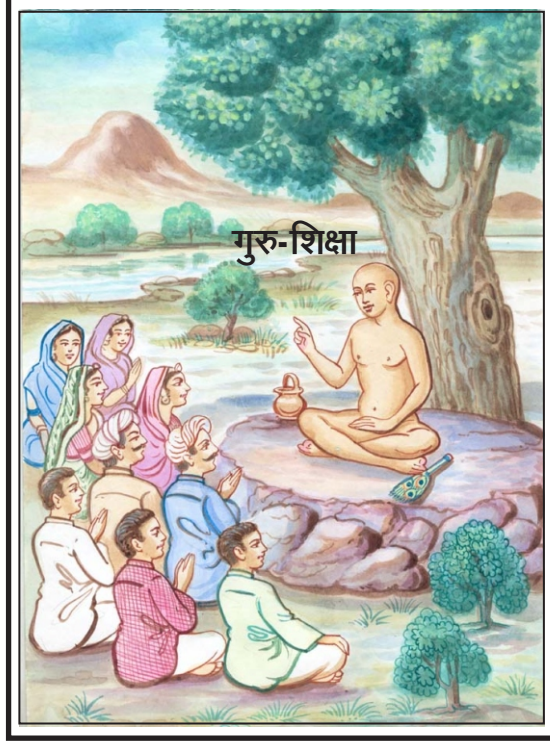
‘तीनलोक में जो अनन्त जीव (प्राणी) है, वे दुःख से डरते हैं...’ कोई कहता है - किन्तु तीन लोक में एकेन्द्रियजीव है, वे दुःख से डरते हैं ? हाँ, वे अन्दर अव्यक्तस्व से दुःख से डरते हैं। समझ में आया ? अनन्त प्राणी से व्याख्या ली है न ? जीव का स्वभाव ही ऐसा है, एक न्याय से देखें तो; क्योंकि वह आनन्दमूर्ति है, इसलिए सुख को ही चाहता है और दुःख से दूर होना चाहता है - ऐसा उसका स्वस्व ही है। देखो न ! यह सिर पर आपदा आवे या प्रतिकूलता आवे, उसे दूर करने को ‘शरीर छोड़कर भी (दुःख) दूर करुं और सुखी होऊँ’ - इसका अर्थ क्या होता है ? प्रतिष्ठा (न) हो, पैसा न हो, निर्धन हो - इतनी आपदा इसे कठोर लगती है कि शरीर को छोड़ना सरल लगता है। शरीर को छोड़ना सरल लगता है और आपदा कठोर लगती है। शरीररहित, अर्थात् अकेला रहकर भी, सुखी (होऊँ) - ऐसा हुआ है या नहीं अन्दर ? अकेला रहकर - शरीररहित रहकर भी दुःख से रहित होऊँ। शरीररहित; दूसरे साधन तो कहाँ गये ? मरे तब होता है न ? मर जाता है, नहीं ऐसे ? हाय ! दुःख से मर जाऊँ, छोड़ दूँ। भाई...! भाई ! यह क्या लगा रखा है इसने ? हैं ? भटकना है, कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि अन्दर में देहरहित होकर भी सुखी होना चाहता है - इसमें यह अव्यक्तस्व से सिद्ध होता है कि शरीर बिना अकेला रहूँ, परन्तु मैं सुखी होऊँ - तो इसका अर्थ यह कि मेरे अकेले में अन्दर सुख है, परन्तु इसे भान नहीं है, इसलिए शरीर छोड़कर फिर नरक-निगोदमें जाएगा। समझ में आया ? यह तो प्रसत होता है, आप क्यों ऐसा ढीला बोले ? कहो, समझ में आया ? ऐसा छोड़ूँ, जहर पीकर मरे - इसका अर्थ इतना सिद्ध होता है कि शरीर का साधन भी न रहे तो मैं अकेला सुखी होऊँगा - ऐसा अव्यक्तस्व से अन्दर में भाव (होता है), परन्तु भान नहीं,

भान नहीं। मूढ़ ! शरीररहित होकर फिर सुख कहाँ है ? - यह पता नहीं है, परन्तु सुख के लिए छटपटाहट और तड़पड़ाहट तो है इसकी। भाई ! है ?

मुमुक्षु :- निगोदके जीव को रोग...

उत्तर :- रोग ही बड़ा, पूरा सदा ही रोग ही है। निगोदके जीव को रोग ही बड़ा पड़ा है। 'आत्म भ्रान्ति सम रोग नहीं।' 'आत्म भ्रान्ति सम रोग नहीं' - उसे इस भ्रान्ति का बड़ा रोग पड़ा है। निगोदके जीव का बड़ी भ्रान्ति-भ्रम है। चैतन्य आनन्दमूर्ति है, उसकी खबर नहीं है (- यह) बड़ा भ्रम पड़ा है, वह महादुःखी है। सब कहेंगे, देखो न यहाँ !



इसलिए आचार्य महाराज 'दुःख का

नाश करनेवाली और सुख को देनेवाली शिक्षा देते हैं...' ऐसी शिक्षा आचार्य महाराज देते हैं - ऐसा कहा, देखा ? देखो ! इसमें लिखा है, देखो ! यहाँ गुरु बैठे हुए हैं, देखो ! यह मुनि, नगनमुनि, दिगम्बर मुनि, एक जगह कहीं लिखा है, हो ! गुरु अर्थात् दिगम्बर मुनि - ऐसा किसी प्रति में लिखा है, किसी प्रति में है, वह सही है। यहाँ लिखा है न - देखो न ! यहाँ दिगम्बर मुनि सामने विराजमान है, देखो ! चार व्यक्ति। समझ में आया ? उन्हें शिक्षा देते हैं। शिक्षा देते हैं - ऐसा करके ऐसा बहुत सरस... दिगम्बर मुनि, महामुनि ! वीतराग - विज्ञान साधक ! जिन्हें एक लंगोटी का धागा भी नहीं है। मोरपिच्छी, कमण्डल - यह तो उपचरित, अपवादिक उपकरण हैं। अन्तर में महा आत्मा का साधन कर रहे हैं, उसमें से विकल्प आया; जगत पर करुणा आयी है और उपदेश होता है। कहो, ऐसी शिक्षा देते हैं। लो ! यह पहला श्लोक (पूरा) हुआ। वह पहला (श्लोक था, वह) मंगलाचरण का था। यह ग्रन्थ का पहला श्लोक है।

गुरुशिक्षा सुननेका आदेश तथा संसार-परिभ्रमणका कारण

ताही सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्याण;
मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि॥२॥

अन्वयार्थ :- (भवि) है भव्य जीवो ! (जो) यदि (अपनो) अपना (कल्याण) हित (चाहो) चाहते हो [तो] (ताहि) गुरु की वह शिक्षा (मन) मनको (थिर) स्थिर (आन) करके (सुनो) सुनो [कि इस संसारमें प्रत्येक प्राणी] (अनादि) अनादिकाल से (मोह महामद) मोहस्त्री महामदिरा (पियो) पीकर, (आपको) अपने आत्मा को (भूल) भूलकर (वादि) व्यर्थ (भरमत) भटक रहा है।

भावार्थ :- हे भद्र प्राणियो ! यदि अपना हित चाहते हो तो, अपने मनको स्थिर करके यह शिक्षा सुनो ! जिस प्रकार कोई शराबी मनुष्य तेज शराब पीकर, नशे में चकचूर होकर, इधर-उधर डगमगाकर गिरता है, उसी प्रकार यह जीव अनादिकाल से मोह में फँसकर, अपनी आत्मा के स्वस्व को भूलकर चारों गतियों में जन्म-मरण धारण करके भटक रहा है॥२॥

दूसरा (श्लोक)। 'गुरुशिक्षा सुनने का आदेश...' गुरु, सुनने को कहते हैं। ध्यान रखकर सुन ! कहते हैं - सब छोड़कर यह सुनने में ध्यान रख - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! 'और संसार परिभ्रमण का कारण...' इसका भी (चित्र) रखा है न ?

ताही सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्याण;
मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि॥२॥

अद्भुत भाषा ! यह लड़को के हाथ में है या नहीं ? हाँ, ऐसा कहते हैं। यह तो तुम्हें बहुत बार सिखाते हैं। पहला शब्द लिया है, 'हे भव्य जीवों !' यहाँ भव्य से शुष्कात की है। भव्य जीव,

जो मोक्ष के लिए अभिलाषी है और मोक्ष के योग्य जीव है, उसे कहते हैं - हे लायक प्राणी ! यहाँ सम्बोधन किया है - **‘हे भव्य जीवो ! यदि अपना हित चाहते हो तो...’** यहाँ एक सिद्धान्त है। यदि अपना हित चाहते हो तो। एक शब्द यहाँ से लिया है - तुझे यदि हित की चाहना-भावना होवे तो। यहाँ ‘तो’ रखा है, हाँ ! चाहते हो तो - ऐसा कहा है न !

‘जो चाहे अपना कल्याण।’ तुम्हे हित चाहिए हो तो, हित-हित; अहित तो अनन्त काल से कर ही रहा है। यदि अपना हित चाहते हो तो **‘गुरुकी वह शिक्षा...’** मन में... देखो...! मन में स्थिर करके सुनो। **‘मन को स्थिर करके सुनो...’** काया-बाया स्थिर बैठी है या नहीं, **‘मन को स्थिर करके सुनो...’** ऐसा कहते हैं। ध्यान रखकर सुनो। जैसे, प्रियवान संसार की प्रिय वार्ता मन स्थिर करके सुनता है; इसी तरह तुझे तेरे हित की इच्छा होवे, आत्मा का हित कैसे हो ? शान्ति कैसे हो ? सुख कैसे हो ? - ऐसे हित की कांक्षा हो तो उन धर्मात्मा गुरु की शिक्षा मन को स्थिर करके आन-स्थिर करके (सुनो)। मन को स्थिर करके (अर्थात्) दूसरे विकल्प छोड़कर सुनो... आदेश किया है।

देखो ! अन्दर शब्द है न ? आदेश शब्द शीर्षक में (उपोद्घात में) दिया है - गुरु-शिक्षा सुनने का आदेश - यह ‘आदेश’ शब्द प्रयुक्त किया है। यहाँ भी **‘सुनो’** - ऐसा कहा है न ? सुनो ! इस पर तो बड़ा वजन है उसमें... पाहुड़ में, ‘सुनो’ शब्द की व्याख्या बहुत लम्बी की है। ‘जयधवल’। ‘सुनो’ शब्द की व्याख्या की - सुनो ! ऐसा कहकर गुरु, जगत को सत्यवार्ता सुनने के लिए उत्तेजित करते हैं, सावधान करते हैं। दूसरी बात छोड़ दे, दूसरे विकल्प छोड़ दे; हम जो यह शिक्षा कहते हैं, उसे सुनने में मन को स्थिर कर। सुनने की बहुत लम्बी व्याख्या की है। एक-एक शब्द सूत्र है अवश्य न ? पाहुड़ में। सुनो ! अर्थात् मन के दूसरे विकल्पों को छोड़कर, यह हित की बात कहते हैं, उसे सुनने में सावधान, तत्पर हो। कहो, समझ में आया ? यह हिन्दी तो बहुत साधारण भाषा है। मूल भाषा में कुछ बहुत (कठिनता) नहीं है और हमने तो यह गुजराती किया है।

‘इस संसार में प्रत्येक प्राणी अनादि काल से...’ यह सिद्ध किया। **‘जो चाहो अपना कल्याण...’** ऐसा है न ? अपना कल्याण चाहो, अर्थात् कल्याण, अर्थात् हित। कल्याण की

व्याख्या ही हित है। कल्याण की चाहना हो, हित की चाहना हो, आत्मा की शान्ति -सुख की प्राप्ति करने की चाहना हो तो हित की व्याख्या गुरूकहेगे, यहाँ दूसरी व्याख्या उनके पास नहीं है। समझ में आया ? पैसा कैसे मिले ? तुम्हारे पुत्र कैसे हो ? - यह बात यहाँ शिक्षा में नहीं है (-ऐसा) कहते हैं। हैं ? महाराज ! हमें यह पैसा-वैसा देदो; हाथ रखो, ऐसे अमुक हो जाए, हमारे यह हो जाए, फिर हम निरन्तराय धर्म (करेंगे)। कहते हैं कि शिक्षा में यह कोई बात नहीं आती। यहाँ तो कल्याण चाहता हो तो कल्याण की बात मन को स्थिर करके सुनो - एक बात कहते हैं। कल्याण की बात आती है, दूसरी कोई बात यहाँ नहीं है। ऐसे स्वयं ग्रन्थकर्ता आचार्य के उपदेश में यह आता है - ऐसा स्वयं सिद्ध करके साक्षी से बात करते हैं। आहा...हा...!

इस संसार में प्रत्येक प्राणी 'मोहमद पियो अनादि' - 'मोह महामद पियो अनादि।' भाषा देखो ! 'अनादि काल से...' अनादि अर्थात् निगोद से लेकर। क्या कहा ? वे निगोद के जीव नित्यनिगोद में पड़े हैं, जिसमें अभी कितने ही जीव ऐसे हैं कि कभी त्रस नहीं हुए, लट नहीं हुए, चीटी-मकोड़ा नहीं हुए; मनुष्य तो कहाँ से होंगे ? ऐसे अनादि के जीव निगोद में पड़े हैं; वहाँ से लेकर अनादि काल से; फिर मनुष्य हुआ, देव हुआ, पशु हुआ, पंचेन्द्रिय हुआ आदि। अनादिकाल से (कहकर) यह नयी बात नहीं है - ऐसा कहते हैं। मोहदशा नयी नहीं है - ऐसा कहते हैं। जैसे, इसका शुद्धस्वस्व अनादि पवित्र पड़ा है, वैसे ही यह मोहदशा भी इसके पास अनादि की है; मोहदशा फिर नयी लगी है - ऐसा नहीं है।

अनादि काल से 'मोहमहामद...' मोहस्वी तेज शराब ! तेज शराब ! तेज शराब ! तेजवाली शराब । शराब होती है न ? बहुत ऐसी शराब होती है, तेज... तेजदार होती है न ! पीते हों, 'मोह महामद...' मिथ्यात्व की बात साथ में मुख्य लेना है न ? मिथ्यात्वस्वी महामोहस्वी तेज शराब पी है। अनादिकाल से अज्ञानी ने एकेन्द्रिय से लेकर... आहा...हा...! नौवें ग्रैवेयक मिथ्यात्व सहित गया, वे सब प्राणी महामोहमद पियो... भ्रम का महामद पिया है - शराब, तेज शराब - तेज शराब । शराब पीते हैं न, फिर एकदम ऐसी तेज शराब (पीने के) बात कलेजा घनधना जाए ऐसा (फिर) नशे में पड़ता है।

'पालेज' मे मजदूर होते थे, मजदूर। प्रतिदिन पाँच-पाँच रूपये, दश-दश, सात-सात रूपये

पेदा करते, फिर सायंकाल जाकर बारह आने की शराब पी आये। दुकान साथ में थी, उसका बड़ा था, फिर पागल होकर पड़े। पूरे दिन की थकान लगी होवे न, वह थकान दिखे (महसूस) नहीं हो इसलिए। इसीप्रकार अनादि से अज्ञानीने महा मिथ्यात्व की शराब पी रखी है। देखो, इसने अनादि से मिथ्यात्व कि मदिरा पी रखी है, हो ! नया नहीं है।

‘**मोहरूपी तेज शराब...**’ ऐसा कहकर क्या कहा ? अनादि से कर्म इसे भटकाते हैं और कर्म ने यह नुकसान कराया है - ऐसा नहीं है। ऐसा कहा या नहीं इसमें क्या कहा ? तुझे अनादि से कर्म ने मार रखा है - ऐसा नहीं कहा, देखो ! ‘दोलतरामजी’ भी (ऐसा कहते हैं कि) आचार्य इस प्रकार कहना चाहते हैं - ऐसा हम कहते हैं। क्या कहा है वह ? अनादिकाल से मोहमहामद पियो, मिथ्यात्वस्वी जहर - महामदिरा तूने पीयी है, कर्म ने कुछ कराया है - ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं। ओहो...हो...! पहली ही भूल में यह बात करते हैं, लो !

दूसरे लोग कहते हैं कि अनादिसे दर्शनमोह के कारण (परिभ्रमणकिया)। इन भगवान के पास गया न ! निमित्त तो अच्छा था न ? क्यों नहीं समझता, यदि निमित्त से समझता होवे तो ? तब कहते हैं - इसे दर्शनमोह का कर्म पड़ा (था) निमित्त कठोर था, उसके कारण नहीं समझता। आहा...हा...! है ? ऐसा स्पष्टीकरण में (अज्ञानी) कहते हैं। है ? समझ बिनाके।

यहाँ तो स्वयं कहते हैं - ‘**मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि...**’ देखा ? भूलने का कारण बताया ! महामोहरूपी जलद अर्थात् तेज शराब अर्थात् तीव्रतायुक्त मिथ्यात्व को - भ्रम की मदिरा पी ली है। तूने पी है, तूने किया है, किसी ने कराया नहीं है। भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है, उससे विरुद्ध होकर तूने मिथ्यात्व की शराब... एकेन्द्रिय से लेकर... हाँ! जगत के एकेन्द्रिय प्राणी भी मोहमहामद - मदिरा पीने के कारण पड़े हैं - ऐसा कहते हैं। ‘गोम्मटसार’ में आता है न ? - कलंक - प्रचुर कलंक, प्रचुर भावकलंक; भाव की प्रचुर कलंकता के कारण पड़ा है, देखो ! उन्होंने यह वचन यहाँ दूसरी गाथा में लिखा है, लो ! समझ में आया ?

क्यों भटकता रहा ? और कैसे किया ? कि मोह महामद पिया इसलिए; कर्म के जोर के कारण भटकता रहा और भ्रान्ति हुई - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! अब इस ‘छहढाला’ में तो

ऐसी बात डाली है। कहो है ? यह पाठशाला में पढ़ाते हैं।

देखो ! ‘(आपको) अपने आत्मा को भूलकर...’ देखो ! मिथ्यात्व की तीव्र मदिरा (पिया), जो अपना स्वस्व नहीं है, उसे (अपना) मानकर और जो अपना स्वस्व है, उसे भूलकर... ऐसा कहा है; देखा ? मोहस्वी शराब पी है, इसलिए जो अपना स्वस्व नहीं है, उसे (अपना) मानकर और अपने स्वस्व को भूलकर - ऐसा कहते हैं। देखो ! समझ में आता है ? किस कारण से ? इस विपरीत पड़े हुए तेरे मोह के कारण से - ऐसा कहते हैं यहाँ तो। आहा...हा...! छहढाला में ऐसी बात ! गागर में सागर भरी हुई बातें करते हैं। और फिर वापिस डाले तब कर्म के कारण होता है - ऐसा कहते हैं, लो ! यह यहाँ ऐसा कहा होगा, परन्तु यह बात पहले से ही शुरू की है यहाँ; और गुरु इसे सीख देते हैं - इसका अर्थ क्या हुआ ? इसे सीख देते हैं - इसका अर्थ (क्या) ? कि तू भूला है, तुझसे भूल मिटाने की बात करते हैं। हम कर्म का कहते



है ? भाईसाहब ! कर्म ने इसे दुःख कराया है, भ्रम कराया है। कर्म को कहते हैं ? दूर हट ! उपदेश तो उसे देते हैं, जो भूल है, उसे भूल मिटाने का उपदेश हो सकता है। कर्म भूला है ? कर्म ने भूलाया है ? समझ में आया ?

फिर ‘पियो...’ - ऐसा कहा है न ? तूने पी है मदिरा - ऐसा कहा, देखो न ! ‘मोहमहामद पियो...’ तूने पी है। विपरीत मान्यता - मिथ्याश्रद्धा (अर्थात्) जो तेरी वस्तु नहीं है, उसे / पर को अपना-मानना यह महामदिरा तूने पी है।

मुमुक्षु :- जैन शराब पीये ?

उत्तर : वह यह मिथ्यात्व की मदिरा पीता है। जैन अर्थात् क्या ? उस शराब की बात कहाँ है ? यह भाषा कैसी प्रयोग की है, देखो न ! 'मोहमहामद...' अन्दर महामद चढ़ गया है।

इसमें दृष्टांत दिया है न ? है ? देखो, दिया है, हाँ, देखो देखो ! यह शराब पी है। देखो, यह पागल हो जाता है, देखो ! हाथ में बोतल है ऐ...से...! यहाँ एक बहुत शराब पिये हुए है और वह पड़ता है। पड़ता है फिर कुत्ता चाटता है, देखो ! एक पड़ते-पड़ते रह गया है, यह रखा; एक ने पी, पड़ते-पड़ते रखा और एक पड़ा - ऐसे तीन डाले है। समझ में आया ? एक स्त्री यहाँ बताई है, गोद में लड़का है, वह ऐसे कि मोह में पड़ी है ऐसे। मोह मदिरा में... मेरा लड़का.. मेरा लड़का। इस मोह में यह शराब पीकर ऐ...सा... पागल हो गया है। है चित्र ? पहला शराब पीकर थोड़ा... दूसरा ऐसे लड़खड़ाते पैरों से आया ए... पंडितजी ! जरा ऐसा लड़खड़ाया... सीधा लड़खड़ाकर पड़ा है। पड़ा और वह कुत्ता उसे चाटता है, देखो, पीछे ! समझ में आया ?

आहा...! जैसे शराब पीकर ऐसे हेरान-हेरान होता है, वैसे ही महा मिथ्यात्वरूप शराब पीकर, यह मेरी स्त्री और यह मेरा पुत्र और यह मेरा पति और यह मेरा शरीर और यह मेरा यह... ऐसे करते-करते जाए... भटकते... भटकते पड़कर नीचे। शराब पीये हुए मनुष्य, जहाँ मल-मूत्रादि हो, वहाँ पड़ जाते हैं। नीचे मल-मूत्र (हों) वहाँ पड़ जाता है और कुत्ता आकर, मुँह खुला हो तो उसमें पेशाब करता है। कहो, समझ में आया ?

मोह के मारे चार गति मे भटकते हैं। स्त्री-पुत्र, मुझे हेरान करते हैं, परन्तु ऐसे धक्का मारे, गाली दे, भान बिना के, तुमने तो ऐसा किया, तुम्हें कुछ नहीं, ये दूसरे देखो न कैसे ? ये मुँह फाड़कर मुँहमें पेशाब डाले तो यह प्रसत होता है। अर...र...र...! समझ में आया ? ठीक चित्रित किया है, हों ! महामद की व्याख्या वही... वही... खराब (की है।) मोह अर्थात् ममता, अहंभाव किया है, लो ! और कल्याण का अर्थ किया है - भलाई अथवा सुख। यह यदि तुम्हें चाहिए हो तो कहते हैं कि तुमने आत्मा को भूलकर मोह की मदिरा (पी है, उसे छोड़ो।) वादि अर्थात् व्यर्थ; मुफ्त वह मोह है न (उसकी) व्याख्या। वादि अर्थात् मोह से व्यर्थ भटकता है, मुफ्त में भटकता है। मोह की व्याख्या ही मुफ्त/ व्यर्थ इस प्रकार होती है। जो स्वरूप में नहीं है - ऐसा निरर्थक मोह उत्पन्न करके; और भ्रम का स्वभाव आत्मा का नहीं है, भटकने का नहीं है और

व्यर्थ-निरर्थक भटकता है। चौरासी के अवतार में ऐकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय (गति में) भटकता है।

‘(भावार्थ :-) हे भद्र प्राणियों ! यदि अपना हित चाहते हो...’ हित चाहते हो। ‘श्रीमद्’ कहते हैं न ? ‘जो इच्छो परमार्थ तो...’ आता है या नहीं ? है ? ‘जो इच्छो परमार्थ तो’ - परमार्थ चाहते हो तो कहते है, वरना न हो तो (नहीं कहते)। ‘करो पुरुषार्थ’ - आता है ? ‘करो सत्य पुरुषार्थ’ ‘जो इच्छो परमार्थ तो...’ बाकी क्या कहै ? यदि तू मोक्षार्थी हो तो तुझे यह बात कहते हैं।

ऐसा कहते हैं, अपना हित चाहते हो तो ‘अपना मन स्थिर करके यह शिक्षा सुनो।’ शिक्षा, गुरु जो ज्ञान से बात करते हैं, उस बात को सुन, जिसमें शिक्षा रही है, जिसमें तेरा हित रहा है, उसे सुन। ‘जिस प्रकार कोई शराबी, शराब पीकर, नशे में चकचुर होकर...’ देखा ? शराब पीकर फिर चकचूर हुआ... ‘जहाँ-तहाँ लड़खड़ाता है...’ लड़खड़ाकर है न उसमें ? देखो न ! यह (जीव) भी जहाँ-तहाँ लड़खड़ाता है, निगोद में और यहाँ और वहाँ। स्त्री, पुत्र, अमुक व्यापार, धन्धा, शराब पीकर जहाँ-तहाँ लड़खड़ाता है निरर्थक ! समझ में आया या नहीं ?

भाई ! यह शरीर ... यह भी मोह की शराब पीकर भटक रहा है - ऐसा कहते हैं। मोह की शराब पी रखी है। शरीर मिटे परन्तु शरीर मिटे तो तुझे क्या है किन्तु ? मिथ्यात्व की शराब पीकर जहाँ-तहाँ भटका-भटक, भटका-भटक करता है। नशा (करके) नीचे गिरता है न ? ऐ...से...! मुँह फाड़े और कुत्ता हंगे (पेशाब करे) तो इसके मुँहमें आ जाता है, तो भी गटककर पी जाता है। आहा...हा...! महामिथ्यात्व के जोर में ऐसी प्रतिकूलता या अनुकूलता हो, उसमें राग-द्वेष करके, राग-द्वेष करके अन्दर मिथ्यात्व का जहर चढ़ गया है। मिथ्यात्व, मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व महा मोह; राग-द्वेष तो अस्थिरता के है।

‘जहाँ-तहाँ लड़खड़ाकर गिरता है...’ जहाँ-तहाँ, ऐसे। फिर कोई मेल रहता है कि शराब पीकर कहाँ पड़ता है ? ऐसा कि भाई ! योग्य रहकर गिरे या इस जगह गिरे, मूत्र (होवे) अरे...! विष्टा बाहर डालकर आये हों, वहाँ जाकर गिरता है। वहाँ रास्ते में एक शराबखाना नहीं है ? ‘राजकोट’ में ! एक बार (उधर से) निकले ते तो एक शराब पीकर निकला था,

ऐ..से..! वे खेत में मलादि डाल आते हैं न ? वह क्या कहलाता है ? नगरपालिका के डिब्बे भरकर, वहाँ भटकता है, खेत में, कुछ भान नहीं है कि किस तरफ जाता हूँ ? वह विष्टा का ढेर पड़ा हो, वहाँ फटा..क देकर ऐसे गिर जाता है। समझ में आता है ?

इसी प्रकार मिथ्यात्व की शराब पीये हुए चार गति में जहाँ-तहाँ भटकता है - ऐसा कहना है न ? जहाँ-तहाँ कोई एकेन्द्रिय में, कोई पंचेन्द्रिय में, कोई नरक में, कोई देव में - सब मिथ्यात्व के शराब पीकर भटक रहे हैं। **‘उसी प्रकार यह जीव अनादिकाल से मोह में फँसकर...’** स्वयं मोह में फँसा है, हाँ ! कर्म ने नहीं फँसाया है। यहाँ ऐसी बात करते हैं, उसे नहीं समझता, क्या करना ? कहो ! है ? **‘मोह में फँसकर, अपने आत्मा के स्वरूप को भूलकर...’** लो ! यहाँ से शुरु किया है पहले ! देखा ! **‘भूल आपको...’** है न ? अपने स्वरूप को भूला है, बस ! यह इसकी बात। मिथ्यात्व के भ्रम में अनादि से निगोद से लेकर,... इसमें सब आये या नहीं ? दिगम्बर मुनि नौवें ग्रैवेयक तक गया, वह भी मोह की, मिथ्यात्व की मदिरा में चकचूर हो कर अपने को भूल गया है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? **‘अपने आत्मा के स्वरूप को भूलकर...’** स्वयं भूलकर **‘भूल आपको भरमत - चारो गति यों में जन्म-मरण धारण करके भटकता है।’** चौरासी के अवतार में जहाँ सुख नहीं है, वहाँ भ्रम से सुख खोजता है और आत्मा के सुख को भूलकर चारों गतियों में दुःख में भटक रहा है।

इस ग्रन्थ की प्रमाणिकता और निगोद का दुःख

त्रास भ्रमनकी है बहु कथा, पै कछु कहूँ कही मुनि यथा;
काल अनन्त निगोद मँझार, वीत्यो एकेन्द्री तन धार।।३।।

अन्वयार्थ :- (तास) उस संसारमें (भ्रमनकी) भटकनेकी (कथा) कथा (बहु) बड़ी (है) है (पै) तथापि (यथा) जैसी (मुनि) पूर्वाचार्योंने (कही) कही है [तदनुसार में]

भी] (कछु) थोड़ी-सी (कहूँ) कहता हूँ [कि इस जीव का] (निगोद मँझार) निगोदमें (एकेन्द्री) एकेन्द्रिय जीवके (तन) शरीर (धार) धारण करके (अनंत) अनंत (काल) काल (वीत्यो) व्यतीत हुआ है।

भावार्थ :- संसार में जन्म-मरण धारण करनेकी कथा बहुत बड़ी है। तथापि जिस प्रकार पूर्वाचार्यों ने अपने अन्य ग्रन्थों में कही है, तदनुसार मैं (दौलतराम) भी इस ग्रन्थमें थोड़ी-सी कहता हूँ। इस जीवने नरकसे भी निकृष्ट निगोदमें एकेन्द्रिय जीव के शरीर धारण किये अर्थात् साधारण वनस्पतिकाय में उत्पन्न होकर वहाँ अनंतकाल व्यतीत किया है।।३।।

अब तो ऐसा सिद्ध करना चाहते हैं कि 'इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता...' मोक्षमार्ग (प्रकाशक) मैं कहते हैं न कि यह ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। मेरे घर की कल्पना की बात नहीं है। 'ग्रन्थ की प्रामाणिकता और...' पहले 'निगोद का दुःख।' भ्रम के कारण महादुःख प्राप्त किया। वह प्रथम निगोद के दुःख से शुरू करते हैं। इस मिथ्यात्व की व्याख्या बाद में करेंगे, परन्तु इस मिथ्यात्व से ही अनादिकाल में यह निगोद में भटका है। निगोद में भी मिथ्यात्व के कारण रहा है - ऐसा सिद्ध करते हैं पहले से - शुरू से, एकेन्द्रिय निगोद से इसके दुःख (कहते हैं।)

तास भ्रमनकी है बहु कथा, पै कछु कहूँ कही मुनि यथा;

काल अनन्त निगोद मँझार, वीत्यो एकेन्द्री तन धार।।३।।

'तास भ्रमन की है बहु कथा, वै कछु कहूँ कही मुनि यथा;,...' देखा ! यह भी मुनि कहते हैं - ऐसा मैं कहूँगा - यह कहते हैं। 'तास भ्रमन की है बहु कथा पै कछु कहूँ कही मुनि यथा;,...' स्वयं उत्तरदायित्व लेते (कहते हैं कि) मुनियों ने कही है; सन्तों ने, वीतराग ज्ञानियों ने कही है - वह बात मैं तुमसे कहूँगा। प्रामाणिकरूप से भगवान निगोद के दुःख का वर्णन कहते हैं, वह बात कहूँगा। देखो ! ऐसा कहकर पहली पंक्ति में ग्रन्थ की प्रामाणिकता स्थापित की है।

‘त्रास भ्रमन की है वह कथा,...’ मिथ्यात्व की। ‘पै कछु कहूँ,...’ किन्तु थोड़ी कहूँगा। ‘कही मुनि यथा;...’ जैसी मुनियों ने कही है, वैसी बात मैं करूँगा; मेरे घर की कल्पना की कोई बात नहीं करूँगा।

‘काल अनन्त निगोद मँझार, वीत्यो एकेन्द्री तन धार।’ यहाँ से बात शुरू की है। अनन्त काल निगोद मँझार पड़ा, वहाँ से एकेन्द्रिय तन धारण किया, उसमें अनन्त दुःख सहन किया। ओ...हो...हो...! वह सब मिथ्यात्व के कारण (धारण किया) - ऐसा सिद्ध करता हूँ, हाँ! क्या? मिथ्यात्व के कारण दुःख प्राप्त किया। सम्यग्दर्शन के कारण सुख पाता है, बस! यहाँ एक ही बात कहना है (कि) ऐसी भ्रमणा के कारण निगोद के दुःख प्राप्त किये।

यह बात ‘तास भ्रमन की’ (अर्थात्) ‘भटकने की कथा बहुत बड़ी है...’ भाई! आहा...हा...! कहते हैं कि तेरे भटकने की वार्ता तो बहुत बड़ी है, ‘तथापि जैसी पूर्वाचार्यों ने कही है...’ देखो! मुनि की व्याख्या की। महा कुन्दकुन्दाचार्य आदि महा मुनि, समन्तभद्राचार्य महामुनि। पूज्यपाद स्वामी आदि महामुनि, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती दिगम्बर सन्त - उन्होंने जो कहा, भटकने की जो (कथा) कही है, यह बात मुनियों ने कही है, वह बात कहूँगा। ‘उस अनुसार में भी थोड़ी सी कहता हूँ।’ ऐसा कहते हैं। ‘कछु’ कहा है न? सन्तों ने तो बहुत कही है, विस्तार से कही है, परन्तु मैं कुछ थोड़ी-सी कहूँगा।

‘इस जीव का... (निगोद मँझार) निगोद में एकेन्द्रिय जीव का शरीर धारण करके...’ देखो! चैतन्यस्वरूप को भूलकर एकेन्द्रिय शरीर धारण किया। अनादि एकेन्द्रिय के शरीर में रहा। ‘अनन्त काल व्यतीत हुआ है...’ समझ में आया? ‘काल अनन्त निगोद’ कहा है न? ‘अनन्त काल व्यतीत हुआ है।’ निगोद में एक शरीर, शरीर है न? वाणी और मन तो नहीं है। एक तन-शरीर धारण करके अनन्तकाल निगोद में रहा है, वह मिथ्यात्व-भ्रम के कारण (रहा है।) वह दुःख कैसा है - यह विशेष कहेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



वीर संवत् २४९२, पोष कृष्ण ११, सोमवार
दि. १७-१-१९६६, श्लोक ३ से ६, प्रवचन नं. २

यह 'छहढाला' है। इसकी पहली ढाल की तीसरी गाथा चलती है। एक तो मांगलिक की हुई और यह तीसरी गाथा चलती है। क्या बात चलती है ? जीव अनादि से, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दुर्लभ भावना, उसकी बात चलती है। बाद में लेंगे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। अनन्तकाल से परिभ्रमण करते-करते, उसे इस नरकगति, तिर्यञ्चगति-निगोदगति, मनुष्यगति देवगति में भटकते हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति महादुर्लभ है, वह यह वर्णन है। स्वामी 'कार्तिकियानुप्रेक्षा' में यह बोधिदुर्लभ भावना की व्याख्या है, भाई ! उसकी वह गाथा है।

बारह भावना है, (उसमें) बोधिदुर्लभ भावना (है।) उसकी गाथा का अर्थ लगभग उन्होंने वहाँ से लिया है। समझ में आया ? बारह भावना है न ? उसमें ग्यारहवीं बोधिदुर्लभ भावना है, दसवीं लोकभावना है। चौदह ब्रह्माण्ड है, उसमें अनन्त बार परिभ्रमण किया; फिर ग्यारहवीं बोधिदुर्लभभावना है, बारहवीं धर्मभावना है। इस बोधि दुर्लभ भावना में स्वामी कार्तिकियने इस प्रकार लिया है। उनकी शैली अनुसार इन्होंने - 'दौलतरामजी' ने हिन्दुस्तान की भाषा में रचना की है। देखो ! यहाँ आया है।

भावार्थ है। तीसरी गाथा का है न ? यह क्या बात चलती है ? इस प्रकार परिभ्रमण करते-करते सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करना बहुत दुर्लभ है। भटकते-भटकते दुःख पाते हुए यह मनुष्यभव और उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति (होना) तो महा-महा अनन्तकाल में दुर्लभ है। यह बतलाने के लिए यह दुःख की व्याख्या और मिथ्यात्व का फल बताते हैं।

'संसार में जन्म-मरण धारण करने की कथा बहुत बड़ी है।' स्वयं कहते हैं कि भाई ! मुनियों ने सन्तोने, भगवानोंने संसार में जन्म-मरण-जन्म लेना और मरना इसके जो जन्म-

मरण धारण करने की बात तो (बडी मिलती है) 'तथापि जिस प्रकार पूर्व आचार्यों ने...' स्वामी 'कार्तिकिय' आदि आचार्यों ने 'अपने दूसरे ग्रन्थों में कही है...' उस प्रकार मैं भी इस ग्रन्थ में थोड़ी-सी कहूँगा। आचार्यों ने तो बहुत विस्तार से (वर्णन) किया है। स्वामी 'कार्तिकियानुप्रेक्षा' में तो एक-एक का बहुत विस्तार लिया है।

'इस जीवने नरक से भी निकृष्ट निगोद में एक इन्द्रिय जीव का शरीर धारण किया...' देखो ! निगोद जीव, नरक से भी हलका (निम्न) है। निगोद का जीव (अर्थात्) एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं, उसे निगोदजीव कहते हैं। समझ में आया ? अनन्त काल नित्य निगोद में रहा, जिसमें से कभी त्रसपना प्राप्त नहीं किया, ऐसे निगोद में अनन्त बार रहा; परन्तु यहाँ ग्रन्थकार को, निगोद में से निकलेगा - ऐसी बात लेना है। भाई ! पीछे आता है न ? **'निकसि भूमि'** - निगोद से निकलकर... **'निकसि भूमि'** आया न ? इसलिए निगोद में से निकलनेवाले की व्याख्या। नित्य पड़ा है वह तो पड़ा ही है। समझ में आया ? अभी निगोद किसे कहना ? उसकी श्रद्धा कराते हैं। उसमें कितने काल भटका और कितने दुःख सहन किये ?

निगोद के एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। उन्हें एकसाथ अनन्त का श्वास साथ ही होता है, आयुष्य साथ ही होता है, इन्द्रिय साथ (होती है) और प्राण (साथ होते हैं।) समझ में आया ? ऐसे निगोद में एकेन्द्रिय शरीर धारण करके रहा है। 'गोम्मटसार' में तो ऐसा एक लेख है कि निगोद का एक शरीर असंख्य क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम तक रहता है, उसमें निगोद का जीव जन्मता और मरता है, जन्मता और मरता है, जन्मता और मरता है। ओहो...हो...! आता है, यह बात पहले हुई है, याद है न ? ऐ...ई...! 'गोम्मटसार' में है।

एक निगोद का शरीर, हों ! इतने काल रहे उसमें एक निगोद का जीव बारम्बार मरता-जन्मता है, मरता-जन्मता है, मरता-जन्मता है, तथापि शरीर तो वह का वही रहता है। उस शरीर में इतनी बार-असंख्य... असंख्य... असंख्य... अरबों बार निगोद के अनन्त जीव जन्मते और मरते हैं। कहीं उनकी खान का पता नहीं लगता उन्हें। समझ में आया ? क्या कहा ? एक शरीर में इतने काल रहता है - यह कहेंगे, देखो !

नरक से भी हल्का निगोद काल है। **'एक इन्द्रियजीव का शरीर धारण...'** करता है।

अनन्त जीवों का शरीर एक, इन्द्रिय एक, श्वास एक, आयुष्य एक - ऐसे अनन्त जीव एक शरीर में रहते हैं, उनके दुःख की पर्याय क्या कहना ? कहते हैं जिनकी इतनी हीनदशा हो गयी है। तत्त्व के विराधक जीव, कितने तो अनादि के तत्त्व के विराधक (हैं) और कितने ही तत्त्व के विराधक होकर वहाँ - निगोद में जाते हैं, उसे इतर निगोद कहते हैं और यहाँ निगोद अनादि से आत्म तत्त्व के स्वभाव के भान बिना भाव कलंक पहुरा - भाव कलंक की प्रचुरता; प्रचुरकलंकके कारण एक शरीर में निगोद के अनन्त जीव पड़े हैं। उनका दुःख भगवान जाने और वे वेदन करें। वे जीव हैं, हों ! मिथ्या नहीं है। आलु, शक्करकन्द, हरी काई (इनकी) एक इतना टूकड़ा लो तो (उसमें) असंख्य तो शरीर है और एक शरीर में अभी तक जो सिद्ध जीव हुए, छह महीने और आठ समय में छहसौ आठजीव सिद्ध होते हैं, अभी तक के अनन्त पुद्गलपरावर्तन में सिद्ध की जो संख्या है, (उसकी अपेक्षा भी अनन्त जीव निगोद के है।) अनन्त पुद्गलपरावर्तन की जो सिद्ध की संख्या, फिर वापिस अनन्त पुद्गलपरावर्तन आया। समझ में आया ? एक पुद्गलपरावर्तन में उसके अनन्तवें भाग में अनन्त चौबीसी होती है। ऐसा एक पुद्गल (परावर्तन), ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्तन, उसमें एक चौबीसी में भी छह माह और आठ समय में छहसौ आठ मुक्ति होती है। ऐसे-ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्तन की मुक्ति की जो संख्या है, उसकी तुलना में निगोद के एक शरीर में अनन्तगुने जीव हैं। समझ में आया ?

भूतकाल की अपेक्षा उसमें कितना (काल) गया ? आहा...हा...! कितने जीव तो एक शरीर में, उसमें अनन्तबार रहा। यह सत्य होगा ? है ? दुर्लभपना बतलाते हैं, भाई ! तुझे मनुष्यपना मिलना... आगे कहते-कहते कहेंगे, उसमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करना, जो जन्म-मरण के अन्त का कारण है, वह तो महादुर्लभ है, भाई ! यह दुर्लभ सामग्री प्राप्त करके अब काल को - अवसर को मत चूकना - यह कहना चाहते हैं। कहेंगे, अभी आगे बहुत कहेंगे। समझ में आया ?

इस नरक से भी हीन निगोद का एकेन्द्रिय जीव का शरीर धारण करता है। **‘साधारण वनस्पतिकाय में उत्पन्न होकर वहाँ अनन्त काल व्यतीत किया है।’** एक में असंख्य क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम का एक शरीर, उसमें रहा फिर वह गया; ऐसे - ऐसे अनन्त के शरीर भी इसने परिवर्तन किये। समझ में आया ? कोठी में होता है न ? जैसे बड़ी कोठी होवे और एक दाना

आवे और जाए; दाना आवे और कोठी ऐसी की ऐसी रहे। इसी प्रकार निगोद का एक शरीर इतने काल तक रहता है। उसमें से अनन्त जीव जाते हैं और अनन्त आते हैं; अनन्त जाते हैं और अनन्त मरते हैं, अनन्त (आते हैं), शरीर ऐसा का ऐसा रहता है। ओ..हो..हो...! उसमें से इसे निकलना ! कहते हैं - इस प्रकार अनन्तकाल व्यतीत हुआ है। यह तीन बात हुई।

निगोदका दुःख और वहाँ से निकलकर प्राप्तकी हुई पर्यायें

एक श्वासमें अठदस बार, जनम्यो मरयो मरयो दुखभार,
निकसि भूमि जल पावक, भयो, पवन प्रत्येक वनस्पति थयो ॥४॥

अन्वयार्थ :- [निगोदमें यह जीव] (एक श्वासमें) एक साँसमें (अठदस बार) अठारह बार (जनम्यो) जनमा और (मरयो) मरा [तथा] (दुखभार) दुःखों के समूह (मरयो) सहन किये [और वहाँ से] (निकसि) निकलकर (भूमि) पृथ्वीकायिक जीव, (जल) जलकायिक जीव, (पावक) अग्निकायिक जीव (भयो) हुआ तथा (पवन) वायुकायिक जीव और (प्रत्येक वनस्पति) प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव (थयो) हुआ।

भावार्थ :- निगोद [साधारण वनस्पति] में इस जीवने एक श्वासमात्र (जितने) समयमें अठारह बार जन्म* और मरण x करके भयंकर दुःख सहन किये हैं। और वहाँ से निकलकर पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवके + रूपमें उत्पन्न हुआ ॥५॥

* नया शरीर धारण करना।

x वर्तमान शरीरका त्याग।

+ निगोदसे निकलकर ऐसी पर्यायें धारण करनेका कोई निश्चित क्रम नहीं है; अन्य त्रस पर्यायें भी प्राप्त करता है।

अब, 'निगोद का दुःख...' उसमें दुःख का वर्णन करते हैं। यह बोधिदुर्लभ भावना का वर्णन करने में 'स्वामी कार्तिकियानुप्रेक्षा' में यह अधिकार लिया है, उसमें से इन्होंने यह लिया है। 'वहाँ से निकलकर प्राप्त पययिं।'

**एक श्वासमें अठदस बार, जनम्यो मरयो मरयो दुखभार,
निकसि भूमि जल पावक, भयो, पवन प्रत्येक वनस्पति थयो।।४।।**

'(निगोद में यह जीव) (एक श्वास में)' 'एक श्वास में... (अठदस बार) अठारह बार जन्मा और मरा...' एक श्वास, आहा..हा...! यहाँ तो इसे जरा-भी प्रतिकूलता आ जाए, वहाँ शोर मचा देता है। भाई! एक श्वास में, हों! अठारह बार जन्मा और मरा। अठारह बार, एक श्वास में। ऐसे अनन्त बार! एक अनन्त श्वाच्छोश्वास निगोद के शरीर में परिभ्रमण में इसने निकाले हैं। आहा..हा...! यहाँ जहाँ आया, वहाँ सिर घूम जाता है, मानो क्या करना और हमारे क्या करना और कहाँ जाना? है? कुछ थोड़े से पैसे होवे वहाँ ऐसा हो जाता है और बढे वहाँ तो ऐसा होजाए, जीव को हैरान कर देता है! भाई! है?

यह कहते हैं - भाई! बापू! तेरे इतिहास की कथा लम्बी है। यह कहा न! देखो न! क्या कहा? 'ये कछु कहूँ कही मुनि यथा...' तेरी यह कथा बड़ी है, भाई! जैसे वह बारोट आकर इसकी बात करता है या नहीं? तेरे परिवार में ऐसे लोग हो गये हैं, ऐसे हुए थे, ऐसे हुए; अच्छा - सब कहता है वह तो। इसीप्रकार यह सर्वज्ञ भगवानने तेरी भूतकाल की कथा कही है। इस विगत काल में कितना रहा - यह भगवानने तो बहुत विस्तार से कहा है, सन्तों ने तो बहुत विस्तार से कहा है, परन्तु मैं उसमें से थोड़ी-थोड़ी बात करूँगा।

कहते हैं - एक श्वास में अठारहबार जन्मा और मरा। ऐसे अनन्त जीव एक साथ हो! साथ ही जन्मे और मरे। उनमें इतनी भाईबन्दी होगी या नहीं? जरा भी लेना या देना नहीं है। एक जीव में दूसरे जीव का अभाव; एक जीव की प्रकृति अलग, पर्याय अलग; द्रव्य-गुण अलग, उनके कर्म भी अलग सब अलग अलग है। आहा..हा...! आहा..हा...! 'जन्मा और मरा और... (दुःखभार) दुःखो का समूह...' ओ..हो..हो...! निगोद का दुःख, उसके दुःख का क्या

कहना ? नरक का दुःख तो पंचेन्द्रिय संयोग की व्याख्या है वहाँ। इसके (निगोद के) दुःख तो मिथ्यात्व और कषाय की उग्र परिणति का दुःख है और भले ही शास्त्रकार दुःख का कथन संयोग से करते हैं, परन्तु दुःख का स्वरूप आनन्द से विपरीत मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष की उग्रता में परिणमित होना, उसका नाम दुःख है। बात तो लोग, संयोग से देखते हैं, इसलिए संयोग से बात करेंगे। यह जन्म-मरण का दुःख (कहा, वह) वास्तव में जन्म-मरण का दुःख नहीं। देखो ! बात तो यह कही, देखो ! कहते हैं न ! **‘एक श्वास में अठदस बार जन्मो मर्यो दुःखभार...’** देखो ! जन्मा, मरा, दुःखों का समूह सहन किया। भाषा क्या है ? जन्म और मरण के दुःख का भार सहन किया। उन्हें बताना है कि भाई ! यह आत्मा जन्मे और मरे, इसमें कषाय की इतनी तीव्रता है कि बारम्बार उसमें विकार में दुःखी होकर बारम्बार परिवर्तन करता है।

जिस मनुष्य को जिसके प्रति बहुत प्रेम होता है न, वह चीजे बहुत पलटाया करता है। समझ में आया ? बाईयों के पास पच्चीसों प्रकार की साड़ियाँ होती हैं। देखा है उनके सन्दूक में ! वे शौच के लिये जाये तब दूसरी (पहिने), बैठने के लिए दूसरी, सोने के लिए दूसरी, यह करे तो दूसरी... ऐसी पलटापलट - पलटापलट किया करती है। एक दिन में कितनी बार बदलती है। ये बड़े राजा होवे जोड़ा बहुत बदलते हैं, लकड़िया बहुत बदलते हैं, घर में हो तो यह (इस प्रकार) अलग-अलग (रखते हैं।) जिसके प्रति रस है उसे ऐसा करूँ... ऐसा करूँ... ऐसा भोगना, यों भोगना... ऐसा भोगना ! कहो भाई ! देखा है या नहीं ? बहिनों के विचार किसी दिन देखे है ? सवेरे से शाम तक कितनी साड़िया बदलती है तुम्हे ? लो ! गरीब व्यक्ति को एक होवे तो क्या बदले ? वे दस प्रकार के, पन्द्र प्रकार के पड़े हो तो बदलाबदली यह तो तुम्हारे। दो घड़ी में यह और दो घड़ी यह। इस प्रकार मानों बाई बदल गयी हो ऐसा लगे, वस्त्र बदला इसलिए। भाई !

ऐसे इसके संस्कार कहते हैं कि इस शरीर का इतना प्रेम है। चैतन्य का तो पता नहीं; रहा है एक शरीरमात्र। शरीरमात्र रहा है। उसमें इतनी एकत्वबुद्धि है। इतनी एकत्वबुद्धि है कि गुलाँट मार-मारकर एक श्वास में अठारह भव करता है। आहा..हा...! उसके एक दिन के कितने, क्या कुछ कहलाता है न एक अन्तर्मुहूर्त के ? तीन हजार सात सो अठहत्तर ! है क्या कहते हैं ?

बहत्तर ? है ? तिहत्तर ? जो आकड़ा हो वह, हाँ ! कितने ? एक अन्तर्मूर्तमें इतने भव करता है, लो ! आंकड़ा जो कोई हो वह। इतना प्रेम हे न ! भगवान आत्मा का प्रेम तो चला गया है। इस प्रकार बार-बार गुलॉट खाता है। एक श्वास में अठारह भव - यह भी कोई बात है ! कुछ समझ में आया ? ऐसे दुःख के समूह को जन्म-मरण की व्याख्या से आचार्य ने शास्त्र में दुःख की व्याख्या की है। वरना जन्मना-मरना तो संयोग हुआ। जन्म, (यह) संयोग और मरण, वह संयोग का वियोग, परन्तु उस समय उसे दबाव की मिथ्यात्व और कषाय की इतनी तीव्रता है कि उसके दुःख के जन्म-मरण के समय भगवान जानते हैं ओर वह भोगता है - इतना उसे दुःख है। समझ में आया ?

उसकी थोड़ी व्याख्या की है। उन्होंने एक बार कहा था न ? कि भाई ! निगोद के दुःख को किस प्रकार... भाईने दिया है जरा। एक मनुष्य होवे, उसके प्रत्येक अंग में मजबूत वस्त्र भर दे, फिर उसे लोहे के सरिये से बाँधे, फिर उसे एक वृक्ष पर बाँधकर टांग दे। समझे इसमें ? इस प्रकार वे वृक्ष पर पिण्ड करके बाँध दै, हाँ ! सब बन्द करके... फिर नीचे से अग्नि जलावे और सिर पर कोड़े मारे। यह तो अभी पंचेन्द्रिय की व्याख्या है, इससे तो अनन्तगुना दुःख है। यह तो एक लोगों का जरा ऐसा लगे कि ऐसा ! मुँह सिल दिया हो, फिर ऐसे चारों ओर कसकर, शरीर को कसकर और लोहे के धगधगाते सरियों से बाँधकर और लोहे सरिये में डालकर वृक्ष पर बाँधे और पीटे, आवाज़ कर नहीं सके, हिल सके नहीं; कुछ नहीं मात्र अकेली पीड़ा (सहन करे)। यह तो संयोग से बात की है। समझाये किस तरह ? परन्तु वस्तुतः तो उसे संयोगीभाव का दुःख है। आहा..हा...! समझ में आया ? यहाँ जरा चीखे वहाँ तो हाय... हाय... उसे ठीक हो गया और मुझे खराब हो गया। उसे यह हो गया, वह चढ़ गया - छोटा भाई बढ़ गया और बड़ा भाई रह गया। शूली पर चढा होगा, वहाँ क्या है ? आहा..हा...!

कहते हैं - भाई ! तेरे दुःख की व्याख्या भगवान भी पूरी नहीं कर सकते। क्या कहें ? जैसे आत्मा की अनंतता की बात का पार नहीं है, वैसे ही उसकी विपरीतदशा का वेदन, जिसे वेदन हो, उसे पता पड़ता है (या) उस वेदन को दूसरे केवली जानते हैं। क्या वेदन ? अपार, जहाँ सम्पूर्ण आत्मा ही जहाँ मिथ्यात्व और मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष में इतना ढंक गया है कि जिसके अक्षर के अनन्तवें भाग की पर्याय का क्षयोपशम जरा ज्ञान-दर्शन का (हो) वीर्य आवृत्त है। समझ में

आया ? ऐसी निगोद पर्याय के दुःख की दशा, कहते हैं कि मुनियोंने तो बहुत कही है, परन्तु मैं थोड़ी कहूँगा। समझ में आया ? उसमें अनन्तकाल रहता है। निगोद में अनन्त पुद्गलपरावर्तन (काल तक) रहता है। ऊपर अनन्तकाल कहा है न ? नहीं कहा उसमें ?

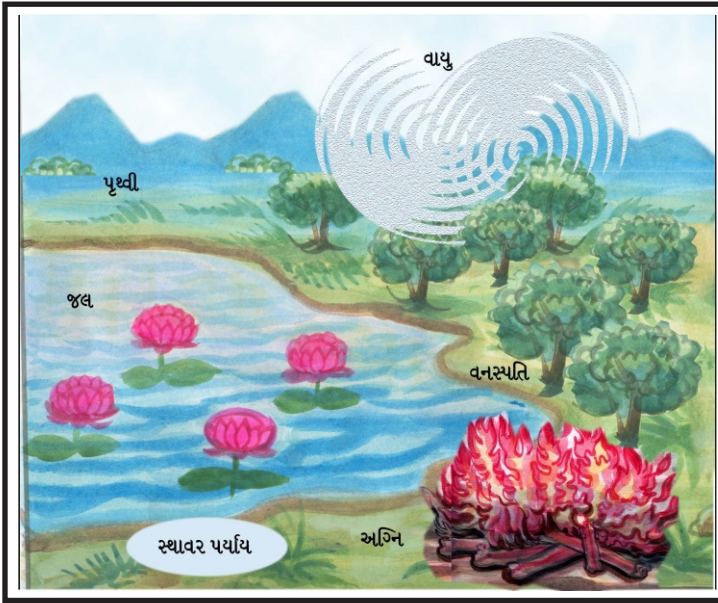
‘काल अनन्त निगोद मँझार...’ अनन्त पुद्गलपरावर्तन। एक बादर निगोद में व्यर्थ रहे, अकेला बादर निगोद में (रहे) तो भी सत्रह क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम (रहता है।) सूक्ष्म निगोद में रहे तो सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम तक (रहता है।) दो में फिरते-फिरते रहे तो ढाई पुद्गलपरावर्तन और एकेन्द्रिय आदि में जाकर एकेन्द्रिय निगोद, एकेन्द्रिय निगोद असंख्यात पुद्गलपरावर्तन करता है, उसे श्वास आ जाता है, परन्तु ऐसे तो अनन्त निकाले - ऐसा कहते है। यहाँ तो काल अनन्त कहा है न ? अनन्त... फिर भाषा तो क्या रखें ? आहा..हा...! अरे ! इसमें से तू मनुष्य हुआ, भाई ! ऐसा कहते है। यह बोधिदुर्लभ - सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करना और मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र का त्याग करना, यह अनन्तकालमें, यह निकलना ही दुर्लभ, उसमें यह पाना तो कितना दुर्लभ है ! समझ में आया ?

‘दुःखो के समूह सहन किये...’ लो ! ‘(और वहाँ से) निकलकर...’ यह बात ली है। निगोद में से निकलकर यहाँ तो (यह) बात लेना है। जो नित्य निगोद में पड़े हैं, उनकी बात नहीं है; वे तो हैं, पड़े हैं। ‘पृथ्वी कायिक जीव...’ यह तो उनकी एक शैली से बात करते हैं। शास्त्र में, ‘स्वामी कार्तिकियानुप्रेक्षा’ में भी यही शैली है, भाई ! पृथ्वीकायिक आदि.. भाषा ऐसी बोली जाती है न ? बोला क्या जाता है ? पृथ्वी, अप, तेज, वायु और.. ऐसा बोला जाता है न ? पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय - इस प्रकार कथन किया है। निकलने की यही रीति है - ऐसा कुछ नहीं है। समझ में आया ?

कहते हैं पृथ्वी का जीव हुआ। वह जीव कैसा होगा ? यह खान की मिट्टी आती है न ? एक टूकड़े में असंख्यात शरीर है, एक-एक शरीर में एक-एक जीव है। उसमें एक पृथ्वी में रहे तो सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम तक वहाँ रहता है। समझ में आया ? आहा..हा...! सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम किसे कहते हैं ? असंख्यात् अरब वर्ष। सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम। एक सागरोपम में दश क्रोड़ाक्रोड़ी प्लोयपम, एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग में असंख्यात्

अरबों वर्ष (होते हैं।) पृथ्वी में रहे तो असंख्यात अरबों वर्ष रहता है। पृथ्वी में ही निकले-ऐसा कुछ नहीं, परन्तु उसे शास्त्र की कथन की पद्धति एकेन्द्रिय की है, उस पद्धति से बात की है। पृथ्वी कायिक जीव।

जल, यह पानी... पानी एक जल की बिन्दु हैं, उसमें असंख्य जीव है। उसमें एक-एक शरीर



में एक-एक जीव पानी में भी ऐसा का ऐसा जन्मे और मरे तो सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम तक रहता है। वह जीव वहाँ (इस) स्थिति में रहता है। कायस्थिति, हाँ भवस्थिति थोड़ी है। जैसे की पृथ्वीकाय का एक शरीर है, वह बाईस हजार वर्ष है, परन्तु उसी का उसी में जन्मे और मरे, जन्मे और मरे तो असंख्यात

अरब वर्षों तक रहता है। पानी में एक शरीर में रहे तो कितने सात हजार वर्ष रहे ? सातहजार वर्ष एक शरीर में, हाँ ! एक ही शरीर, परन्तु जन्मे और मरे, जन्मे और मरे - असंख्यात क्रोड़ाक्रोड़ी, समझ में आया ? सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी; असंख्यात नहीं; असंख्यात अरब वर्ष, असंख्यात अरब वर्ष। कहो, उसमें से निकला और अग्नि हुआ।

अग्नि-अग्नि। यह चूल्हे की अग्नि, दियासलाई की अग्नि होती है न ? चिनगारी, यह जीव है। इतनी-सी कणी दिखायी देवे, उसमें असंख्य जीव है। एक-एक में एक-एक शरीर है। एक शरीर का एक-एक जीव है। उसमें एक में रहेतो उसकी अमुक आयुष्य (होती है।) तीन अहो रात्र ! यह सब भूल गया। और उसी का उसी में रहे तो सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम रहे। असंख्यात अरबों वर्ष तक अग्नि में ही जन्मे ओर मरे, अग्नि में जन्मे और मरे अग्नि में मरे और

जन्में...! ओ..हो...हो...! समझ में आया ? भाई ! अब तुम्हारा मनुष्यपना इतना कहाँ रहा ?

अवसर आता है न, तब यह भूल जाता है। वह दृष्टान्त नहीं आया ? नगर का एक दृष्टान्त आया था न ? मुझे गाँव में घुसना है, नगर था न नगर ? उसके चार दरवाजे थे। अब मुझे गाँव में घुसना है। मैं अन्धा हूँ। तब कहते हैं - तुझे बताने कौन आयेगा ? उसका गढ़ हो न ? उसे हाथ से छूते जाना, दरवाजा आवे तब घुस जाना; परन्तु दरवाजा आवे तब हाथ से खुजलाने लगे, इतने में दरवाजा चला जाए, फिर जहाँ दूसरा दरवाजा आवे, वहाँ पेशाब करने का मन हो; तब दरवाजा निकल जाए, गढ़ में घुसने का प्रसंग ही प्राप्त नहीं हो। इस प्रकार अवसर आवे तब मुझे कुछ यह करना है, मुझे कुछ यह करना है, मुझे धूल यह करना है।

कहते हैं अरे ! अग्निकाय का जीव...! आहा...हा...! असंख्य अरब वर्ष वहाँ (रहता है।) सत्तर क्रोड़क्रोड़ी सागरोपम की कायस्थिति, हो !

फिर वायुकाय हुआ। पवन... पवन ! वह भी जीव है। वह वायु, उसमें भी सत्तर क्रोड़क्रोड़ी सागरोपम रहता है। उसके एक शरीर की आयुष्य कितनी है ? सात हजार वर्ष। एक शरीर में सात हजार वर्ष रहता है। इस प्रकार असंख्यात अरब वर्ष रहता है। उसकी वायु में रहने की कायस्थिति असंख्य अरब वर्ष ! सत्तर क्रोड़क्रोड़ी सागरोपम ! यह सब, यहाँ तू रहा है। कहते हैं भाई ! यह सब आस्था कराते हैं। यह सब था और वहाँ तू (रहा है)। भगवानने बारोट होकर यह तेरी कथा कही है, बापू ! यहाँ तू इतना भटका है, भाई ! तुझे सम्यग्दर्शन पाने के लिए महासमागम मिलना और पाना अनन्तकाल में दुर्लभ है। आगे...आगे बात करेंगे।

प्रत्येक वनस्पति निगोद में से निकला है न ? अर्थात् एक शरीर में एक जीव; यह नीम, पीपल, एक पता है, उसमें असंख्य जीव हैं। नीम के एक पत्ते में असंख्य जीव हैं। उसमें एक-एक शरीर में एक-एक जीव, उसके दुःख भी बहुत। समझ में आया ? प्रत्येक वनस्पति काय में भी सत्तर क्रोड़क्रोड़ी सागरोपम रहता है एक शरीर में दश हजार वर्ष कायस्थिति, मरे और जन्मे, मरे और जन्मे तो असंख्यात अरबों वर्ष (रहता है) सत्तर क्रोड़क्रोड़ी (सागरोपम) रहता है - इस नीम जैसी प्रत्येक वनस्पति में। लौकी और करेला यह सब है न ? उनमें मरे और जन्मे, मरे और जन्मे तो भी सत्तर क्रोड़क्रोड़ी सागरोपम (रहता है।) आहा...हा...!

सब्जी लेने गया, वहाँ चार पैसे के (एक) शेर बैंगन लिया, छोटी मूली माँग ली, छिलके के साथ था, उसमें भाई स्वयं बैठा था। मुफ्त में मूली में गया। है ? आहा...हा...! इसे पत्ता कहाँ है ? यह कितनी मूल्यवान वस्तु है ! गरीब को गुड़ मिले तो सन्तोष करता है ऐसा... ऐसा... ऐसा... इसे ऐसा मनुष्यदेह प्राप्त हुआ, उसमें क्या करने का है ? और क्या प्राप्त करने का है ? इसकी दरकार नहीं है, इसलिए उस बात की सब शुर्खात यहीं से की है, हों ! 'स्वामी कार्तिकिय' ने की है, वह बात स्वयं करते है। समझ में आया ? यह अन्वयार्थ हुआ।

‘भावार्थ :- निगोद (साधारण वनस्पति) में इस जीव ने एक श्वासमात्र (जितने) समय में अठारह बार जन्म और मरण करके भयंकर दुःख सहन किये हैं।’ यह तो निमित्त से बात की है। शरीर धारण किया और गया - ऐसे संयोग से बात करते हैं, परन्तु शरीर का संयोग होने पर उसमें इतना दुःख है और वियोग होने पर इतना दुःख है। उस दुःख की व्याख्या बतलाना है। समझ में आया ? एक अंगुली का जोर टूट जाए तो चिल्लाता है या नहीं ? तो पूरा शरीर टूट जाता है, हाय...! इतना मिथ्यात्व और कषाय का जोर है न ? दुःखी... दुःखी... दुःखी... तडफता है; भयंकर दुःख सहन किये है।

‘वहाँ से निकलकर...’ देखो ! निगोद में से निकलकर, ऐसा हाँ ! वहाँ भी ऐसा पाठ है, भाई ! ‘स्वामी कार्तिकियानुप्रेक्षा’ में वह अभी देखा है। उसमें जरा लिखा है न, इसलिए वह देखा। उनके घर का नहीं है, लोग नहीं मानते। उन्होंने घर का कुछ नहीं डाला है। सब शास्त्र के आधार सहित है, हों ! देखो !

जीवो अणंतकालं वसइ णिगोएसु आइपरिहीणो।

तत्तो णीसरिऊणं पुढवीकायादियो होदि।।२८४।।

शास्त्र की भाषा है, तदनुसार कहा है। पृथ्वीकायिक होता है। पृथ्वी, अपकाय - यह शैली ली है। समझे ?

तत्थ वि असंखकालं वायरसुहमेसु कुणइ परियत्तं।

चिंतामणिव्व दुलहं तसत्तणं लहदि कट्टेण।।२८५।।

देखो ! अब आयेगा न ? वह उनकी भाषा है, देखो !

तिर्यचगतिमें त्रसपर्यायकी दुर्लभता और उसका दुःख

दुर्लभ लहि ज्यों चिन्तामणि, त्यों पर्याय लही त्रसतणी;
लट पिपील अलि आदि शरीर, घर घर मरयो सही बहु पीर ॥५॥

अन्वयार्थ :- (ज्यों) जिस प्रकार (चिन्तामणि) चिन्ता-मणिरत्न (दुर्लभ) कठिनाईसे (लहि) प्राप्त होता है (त्यों) उसी प्रकार (त्रसतणी) त्रसकी (पर्याय) पर्याय [भी बड़ी कठिनाई से] (लही) प्राप्त हुई। [वहाँ भी] (लट) इल्ली, (पिपील) चींटी, (अलि) भँवरा (आदि) इत्यादिके (शरीर) शरीर (घर घर) बारम्बार धारण करके (मरयो) मरण को प्राप्त हुआ [और] (बहु पीर) अत्यन्त पीड़ा (सही) सहन की।

भावार्थ :- जिस प्रकार चिन्तामणिरत्न बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होता है उसी प्रकार इस जीवने त्रसकी पर्याय बड़ी कठिनतासे प्राप्त की। उस त्रस पर्यायमें भी लट (इल्ली) आदि दो इन्द्रिय जीव, चींटी आदि तीन इन्द्रिय जीव और भँवरा आदि चार इन्द्रिय जीव के शरीर धार करके मरा और अनेक दुःख सहन किये ॥५॥

अब, 'तिर्यचपर्याय में त्रसपर्याय की दुर्लभता...' तिर्यचगति में त्रसपर्याय की दुर्लभता 'और उसका दुःख।' यहाँ तक तो बात की है निगोद के दुःख, वहाँ से निकलकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति (हुआ)। (इसी) क्रम से होता है - ऐसा कुछ नहीं है। किसी समय होवे भी और किसी समय सीधा मनुष्य भी होता है। किसी समय पृथ्वीरूप से होता है; किसी समय निकलकर सीधे वनस्पति भी होता है, परन्तु उस शास्त्र की शैली है न, पृथ्वी जल - उस शैली से बात की है। देखो ! यह 'स्वामी कार्तिकेय' की भाषा है भाई !

दुर्लभ लहि ज्यों चिन्तामणि, त्यों पर्याय लही त्रसतणी;
लट पिपील अलि आदि शरीर, घर घर मरयो सही बहु पीर ॥५॥

‘जैसे, चिन्तामणिरत्न कठिनता से प्राप्त होता है...’ देखो ! भाषा। चिन्तामणिरत्न, महापुण्य होवे और प्राणी को प्राप्त होता है। अभी लाभ-अलाभ का प्रश्न नहीं है। यह तो जैसे महापुण्य के कारण चिन्तामणिरत्न प्राप्त होता है। वह चिन्तामणि पत्थर होता है, उसकी सेवा देव करते हैं; इसलिए वह जिसे प्राप्त होता है, उसकी इच्छानुसार उसे मिलता है, पुण्यके कारण। ऐसी दुर्लभता बताकर (कहते हैं)। ‘उसी प्रकार (त्रसतणी) त्रस की (पर्याय)...’ ओ...हो...! अभी तो त्रसपना, हों ! निगोद में से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति प्रत्येक (हुआ), उसमें से त्रस (हुआ) इतनी बात यहाँ करनी है। समझ में आया ? अभी यह सब तिर्यच की बात चलती है। निगोद, वह तिर्यञ्च है न ? निगोद है, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सब तिर्यञ्च है। अब, कहते हैं कि उसमें से त्रसपना प्राप्त करना चिन्तामणिरत्न के समान है। अभी त्रस, हों ! दो इन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय होना। ओ..हो..हो..! समझ में आया ?

‘त्रस की (पर्याय)...’ अर्थात् शरीर ‘(दुर्लभ) कठिनता से प्राप्त होती है।’ दो इन्द्रिय में से निकलकर, प्रत्येक में आना - पृथ्वी आदि में आना, उसमें से निकलकर त्रस होना, (वह जैसे) चिन्तामणिरत्न की प्राप्ति दुर्लभ है, वैसे त्रसपना प्राप्त करना दुर्लभ है। दो इन्द्रिय इल्ली (कीडा) होना दुर्लभ है। ऐसा कहते हैं, लो ! आहा...हा...! आचार्य ‘स्वामिकातिकिय’ स्वयं कहते हैं, हाँ ! उसका दृष्टान्त दिया है। अभी श्लोक पढ़ गये हैं न ! आहा...हा...! पहले के गृहस्थ पण्डित घर की बात नहीं करते हैं; सभी आचार्यों ने कही है, उसे संक्षेप में समेटकर जो कुछ कहने का आशय हो, वह बात करते हैं। एक भी बात घर की (कल्पना की) नहीं करते हैं; महा भवभीरूथे। समझ में आया ?

‘वह त्रस की पर्याय कठिनता से प्राप्त होती है। (वहाँ भी) लट...’ अभी तो कहते हैं कि एकेन्द्रिय वनस्पति, पृथ्वी, जल में से निकलकर लटपना प्राप्त करना, वह चिन्तामणिरत्न प्राप्त करने जैसा है। आहा...हा...! जैसे चिन्तामणिरत्न कठिन, वैसे ही एकेन्द्रिय में से लट होना कठिन (है।) लट... लट..., दो इन्द्रिय ! वह कण्डे में होती है न ? एक शरीर और मुँह (ऐसी) दो (इन्द्रियाँ) होती है। समझ में आया ? एकेन्द्रिय अर्थात् एक शरीरस्पर्श ही होता है। इसे (दो इन्द्रियवाले को) शरीर और मुँह दो होते हैं। लट... ‘चीटी...’ देखो ! क्रम लिया है, हाँ ! चींटी

अर्थात् त्रिइन्द्रिय - ऐसा क्रम लिया है। चीटों को तीन इन्द्रियाँ होती है स्पर्श, जीभ और नाक। वह भी एकेन्द्रियमें से दोइन्द्रिय और दोइन्द्रिय में से तीन इन्द्रिय (प्राप्त होना), वह चिन्तामणि रत्न की तरह दुर्लभता से पाता है। यहाँ कहते हैं, हीरा थोड़ा सा मिले, वहाँ ऐसा-ऐसा हो जाता है। वह तो कहते हैं, उस चिन्तामणिरत्न की तरह यह लट (पना) पाना कठिन है - ऐसा कहते हैं। तेरे हीरा की बात नहीं है। समझ में आया ? वहाँ से निकलकर भँवरा (हुआ), वह चौइन्द्रिय है। एक-एक इन्द्रिय बढ़ी है। भ्रमर को चार इन्द्रियाँ होती है, कान नहीं होता, उसे आँख होती है। स्पर्श, जीभ, नाक, आँख (ऐसी) चार (इन्द्रिया होती है।)

‘(आदि) इत्यादि शरीर...’ इसका यह तो एक-एक नमूने का नाम दिया है, हाँ ! ऐसे दो इन्द्रिय के जीव, त्रिइन्द्रिय के जीव, चौइन्द्रिय के जीव - यह एकेन्द्रिय में से होना महा चिन्तामणिरत्न की तरह कठिन है। समझ में आया ? ‘(धर-धर) बारम्बार धारण करके...’ देखो ! फिर एक नहीं, उसमें भी बहुत काल रहता है, उसकी कालस्थिति बड़ी है। त्रस में, एक त्रस की स्थिति में दो हजार सागर। दो हजार सागरोपम त्रस में रहता है। त्रस अर्थात् सब होकर, हाँ ! दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय सब ! दो हजार सागरोपम। इसमें कितने वर्ष होते हैं ? असंख्यात अरब वर्ष। दो हजार सागरोपम। एक सागरोपम में दश करोड़करोड़ी पल्योपम, एक पल्योपम में असंख्यात अरब वर्ष ऐसे-ऐसे दो हजार सागरोपम त्रस में रहता है। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय सब होकर, हाँ ! समझ में आया ?

‘बारम्बार धारण करके (भरा)...’ संयोग से बात करते हैं। समझ में आया ? वैसे तो निगोद से निकलकर... शास्त्र में आता है न ? भरत के बत्रीस हजार पुत्र.. लिखा है न इसमें ? एकदम मनुष्य (हुए) यह तो कोई होता है। यह तो सीधे मनुष्य भी होता है। कोई सीधे मनवाला भी होता है, कोई मनहरित पंचेन्द्रिय होता है, सीधा होता है, इसमें कुछ (नहीं)। यह तो एक उसे समझाने की शैली शास्त्र में होवे - ऐसे बात रखते हैं न ! दस हजार, वे बत्रीस हजार, कहो ! समझ में आया ? उत्कृष्ट बात में दुःख की शैली और क्रम बताना होवे, उसमें (दुःख की) उत्कृष्ट बात करते हैं। ऐसा होता है न ? यह बतलाना हो न ? अन्य बात यहाँ किसलिए बतायें ?

कहते हैं कि, धर-धर मर्यो। शरीर धर धर कर मरा। एक शरीर धारण किया, वहाँ दूसरा,

दूसरा वहाँ तीसरा... आहा...हा...! वस्त्र पलटाना पड़े वह इसे कठिन पड़ता है। यह कहते हैं शरीर धर-धर कर अनन्तबार मरा। भगवान आत्मा आनन्द का कन्द प्रभु, अपने को भूलकर और पर्याय में मिथ्यात्व और राग-द्वेष का सेवन करके ऐसे शरीर को धारण किया। कौन वहाँ मान और कहाँ अपमान ? इसे कोई मानता ही नहीं था कि यह जीव है। एकेन्द्रिय निगोद के जीव को कौन मानता है ? उसे भी कहाँ खबर है (कि) हम जीव हैं या नहीं ? यह त्रस हुआ तब फिर जरा गति करने लगा। ऐसे वीर्य की गति, वह तो शरीर की गति। कर्मचेतना... कर्मचेतना। एकेन्द्रिय में तो मुख्यस्व से अकेली कर्मफलचेतना ही है। अकेले पाप के फल ही भोगता है। अकेले दुःख को भोगता है। त्रस में मुख्यस्व से कर्मचेतना गिनी गयी है, वरना फल तो भोगता है। यहाँ भोगने की बात ली है। यहाँ तो कर्मफलचेतना... भोगने की दुःख की व्याख्या लेना है यहाँ तो।

‘(मर्यो) मरण को प्राप्त हुआ...’ कौन मरण को प्राप्त हुआ ? कि जीव, मरण को प्राप्त नहीं करता। शरीर धारण कर-करके मरा - ऐसा कहा है न ? शरीर का संयोग हुआ, वह शरीर छूटा; शरीर प्राप्त हुआ, वह शरीर छूटा - इसका नाम मरा ऐसा (कहा जाता है।) ‘(और) (बहुपीर) (सही) बहुत पीड़ा सहन की।’ बहुत पीड़ा ! लट, चींटी, मकोड़े... आहा...हा...! इतनी लम्बी लट होती है, उस पर एक पचास मण का बड़ा घन पड़ा हो, आधी लट दब गयी हो और आधी-दूर रह गयी हो। है ? मण दो मण लोहा होता है या नहीं ? लम्बी लट नहीं होती ? ऐसी लम्बी हो, उस पर पाँच मण का पत्थर पड़ा... आधी यहाँ आधी अन्दर ! संयोग से बात चलती है, हाँ ! उसे पीड़ा तो विकार और एकत्व की है। आहा...हा...! यह शरीर नीचे से निकले नहीं, यहाँ से मरे नहीं, वह ऐसे तड़फन... तड़फन... तड़फन... तड़फन कर मरता है। यह दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चोइन्द्रिय की बात है, हों !

यह मक्खियाँ, देखो न ! मधुमक्खी। सिर पर ऐसी इकट्टी की हो, नीचे पकड़नेवाला अग्नि का धुँआ करता है, बड़ी अग्नि ! धड़... धड़... धड़... अग्नि करता है। एकदम भाग जाती है। शहद लेने के लिए (ऐसा) करते हैं। ऐसे दुःख, पीड़ा, बहुत पीड़ा सहन की। कहते हैं - आहा...हा...! देखो न ! इस गुड़ के उसमें - राब में गुड़के राब में ऐसी मक्खियाँ पड़ते ही एकदम मर जाती है। हैं ? चीटियाँ, ऐसी चीटियाँ निकली हो न... तमतमाती अग्नि में (पड़े) तमतमाती कड़ाई होवे न,

कड़ाई नीचे ? इतने अधिक तेल में वहाँ कौन देखने जाता है ? ऐसे चट... चट... (सुलग जाती है।) दीमक... दीमक...! ऐसे सुँवाली दीमक होती है, बाहर निकलती है और तेज धूप लगे तो खत्म हो जाती है, धानी तरह सट... सट... हो जाती है। ऐसी ‘(बहु पीर सही)...’ यह संक्षिप्त शब्द में (कहते हैं)। तूने बहुत पीडा सहन की है, बापू ! दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चौ इन्द्रिय में कही सुख की गन्ध नहीं है।

‘भावार्थ :- जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है, उसी प्रकार...’ यह तो कठिनता से प्राप्त होता है - ऐसा (कहा है, इसमें) इतनी दुर्लभता बतलाना है, हों ! वह दुर्लभ हे न ? यह बोधि दुर्लभ है। **‘इस जीव ने त्रसपर्याय भी बड़ी कठिनता से प्राप्त की है।’** निगोद से निकलकर प्रत्येक और उसमें से निकलकर त्रस बहुत महापुण्य किया होवे, तब बाहर आया है।

‘उग्र त्रसपर्याय मैं भी लट (इल्ली) आदि दो इन्द्रिय जीव, चींटी आदि तीन इन्द्रिय जीव; और भँवरा आदि चार इन्द्रिय जीव के शरीर धारण कर करके मरा और अनेक दुःख सहन किये।’ आहा...हा...! किसे पुकार करने जाए ? वहाँ फरियाद चलती है कि यह मुझे व्यर्थ में मार देता है ? हम **‘ऐसे ही’** फिरते हैं, चींटों, मकोड़ा पानी में पड़ते हैं, अग्नि में (जलते हैं); कहो, समझ में आता है ? चींटों, चींटी को पंख आवे और पानी में **‘गिरे एकदम गिरते... गिरते...’** बड़े पंख लम्बे हों तो कहाँ पड़ता उसे पता नहीं होता, वह तो पड़ते पड़ते एसे अग्नि होवे तो वहाँ पड़ जाए। पंखों का मार हो जाता है न, पंखों का ? यह नहीं होता। चातुर्मास में वे जीव (होवे है न) ? एक यहाँ निकलते थे, कोने में एक बार, तुम थे या नहीं ? तुम थे, उस कौने में पता है न ? बहुत वर्ष पहले, एक साथ निकलते थे; अन्दर से नये-नये फट-फट (निकलते)। बाहर से कौए और कबूतर तैयार हो, एकदम चोंच मारे तो वह बीच का कलेवर खा जाए और वह पंख टूट जाता है; परन्तु उसे न ? यह कहते हैं - अनन्त बार तेरा हुआ है - ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया ? दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय, भँवरा, मक्खी, पतंगा दब जाते हैं, देखो न ! रास्ते में ऐसे बड़े-बड़े पतंगे होवे हैं, इतने बड़े ! बस चलती

है बस, बहुत बार रास्ते में चिपके हुए दिखते हैं। इतने इतने बड़े, हाँ ! पीले चिपके हुए।

अब फिर तिर्यचगति में असंज्ञी और संज्ञी का क्रम लिया है। तिर्यचगति में भी मनरहित पंचेन्द्रियजीव होते हैं और मनवाले होते हैं। ऐसे भी तूने अनन्त भव किये हैं। वह शास्त्र में इसमें स्वामी कार्तिकिय में यह क्रम लिया है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यही कहते हैं कि तू अब काल मिला है, इसलिए अवसर पहचान ले, इसके लिए तो यह बात करते हैं। कठिन ! बापू ! मनुष्यपना कठिन, उसमें धर्म प्राप्त करना, सुनना कठिन। आहा...हा...! देखो न ! यह बाहर की पदवी के लिए धमाधम चलती होगी या नहीं ? है ? वे कहे हैं पदवी में आऊँ, वह कहे मैं आऊँ। अरे...! परन्तु बापू ! वह तेरी पदवी कहाँ है ? भाई ! क्या मिला और क्या पाना है - वह पूरा रह जाता है। ऐसा महा किठिनता से भव मिला।

तिर्यचगतिमें असंज्ञी तथा संज्ञीके दुःख

कबहूँ पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो;
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पशु हति खाये भूर॥६॥

अन्वयार्थ :- ढयह जीवज (कबहूँ) कभी (पंचेन्द्रिय) पंचेन्द्रिय (पशु) तिर्यच (भयो) हुआ [तो] (मन बिन) मनके बिना (निपट) अत्यन्त (अज्ञानी) मूर्ख (थयो) हुआ [और] (सैनी) संज्ञी [भी] (ह्वै) हुआ [तो] (सिंहादिक) सिंह आदि (क्रूर) क्रूर जीव (ह्वै) होकर (निबल) अपने से निर्बल (भूर) अनेक (पशु) तिर्यच (हति) मार-मारकर (खाये) खाये।

भावार्थ :- यह जीव कभी पंचेन्द्रिय असंज्ञी पशु भी हुआ तो मनरहित होनेसे अत्यन्त अज्ञानी रहा; औ० कभी संज्ञी हुआ तो सिंह आदि क्रूर-निर्दय होकर अनेक निर्बल जीवोंको मार-मारकर खाया तथा घोर अज्ञानी हुआ॥६॥

**कबहूँ पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो;
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पशु हति खाये भूर॥६॥**

यह सब शैली ली है। 'यह जीव कभी पंचेन्द्रिय...' विकलेन्द्रिय में से निकलता है न ? दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय में से निकला। यह तो क्रम लिया है। यह तो कोई सीधा पंचेन्द्रिय भी होता है, उसका कुछ नहीं। समझ में आया ? किसी समय... इसलिए कहा न ? 'कभी पंचेन्द्रिय...' हुआ और पाँच इन्द्रियाँ मिली। कान भी मिले, उस भँवरे तक चार इन्द्रियाँ थी, फिर कान मिले; पाँच इन्द्रियाँ मिली, परन्तु '(मन बिन) मन के बिना (निपट अज्ञानी)...' मन नहीं मिला, इसलिए अत्यन्त मूर्ख हुआ... लो ! मन नहीं मिलता, वहाँ शिक्षा ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं मिलती। मूर्ख... मूर्ख... मूर्ख... हुआ। मन के बिना निपट अज्ञानी रहा। चाहे जो मन के बिना का बड़ा प्राणी हो, उसे शिक्षा दो तो क्या ग्रहण करने की शक्ति है ? इसलिए कहते हैं, मन बिना निपट (अज्ञानी रहा।)

बड़ा भरफोड़ा (जीवजन्तु) होता है, हों ! कितने ही पंचेन्द्रिय सर्प मनरहित होते हैं, कितने ही, हों ! बड़े-बड़े हाथी हों ऐसे हों ! मनरहित साधारण दिखाव; मनरहित असंज्ञी मछलियाँ (होती है)। यह तो बहुत संज्ञी है, परन्तु मनरहित सीधे अध्वर मछलियाँ होती है; मन नहीं होता, असंज्ञी। भान नहीं होता। मिली पाँच इन्द्रियाँ, मिली मूर्खता और अज्ञानदशा। आहा...! उसमें से कहते हैं कि यह मनुष्यपना और उसमें दुर्लभ (भव में) सम्यग्दर्शन प्राप्त करना, वह कठिन है। पाया तो अब चूकना मत - ऐसा अब आगे कहेंगे। है ? आता है न पीछे ?

'(सैनी) संज्ञी (भी) हुआ...' वह मन रहित था, उसमें से मरकर फिर पंचेन्द्रिय मनवाला हुआ। मन प्राप्त हुआ। 'सिंह इत्यादि क्रूर जीव होकर...' देखो ! क्रूर सिंह हुआ। हिरण को तो ऐसे एकदम पकड़ता है। सिंह को जरा भी दया होगी ? क्रूर ऐसा बड़ा मुँह मारकर चीरकर...

भगवान को जीव भी देखो न ! 'महावीर' भगवान का जीव आता है न दशवें भव में ? हिरण वह ऐसी तराप (छलाँग) मारता है। ऐसे मारता है। आहा...हा...! उसमें फिर मुनि निकले और (बोध देते हैं।) अरे...! जीव अरे...! तुम यह क्या करते हो ? तुम तो दसवें भव में तीर्थकर



होनेवाले हो। हमने सर्वज्ञदेव केवली से सुना है। यह क्या करते हो ? पंचेन्द्रिय को पंचेन्द्रिय मारे ? यह क्या गजब है ? (सिंह) एसा रूक जाता है। देखो ! अभी

तो दसवें भव में तीर्थकर होनेवाला है। वह हिरण को मारता है। ऐसे भव भान बिना क्रूर होकर किये हैं। सिंह क्रूर (होकर) ऐसा बटका खाता है। एक और भेड़ उस तरफ हरा खड़ मुँह से खाता हो, पीछे सिंह पूंटे खाता है। ऐसा उसका स्वभाव होता है।

यह बड़े राजा जाते हे न ? क्या करने ? शिकार ! तख्ता बाँधे, वहाँ भेड़ को बाँधे, पाड़े को बाँधे और सिंह आवे। वह घास डाला हो, उसे भेड़ खाता हो और पीछे से सिंह काटे। एक बनिये को देखने ले गये। (एक सेठ) थे, दरबार ले गये। सेठ ! चलो तो सही। वह जाने कि ना कहा करना। वहाँ अन्दर उस तख्ते में से देखा। बाहर में वह पाड़ा बँधा और दीपड़ा, सिंह आवे उसे मारे। यह कहे - भाई ! यह हमसे नहीं देखा जाता। (एक) सेठ था (वह कहे) 'हमारे ऐसा नहीं होता, यह हमारा काम नहीं।' (तब दरबार कहता है) अरे ! बनिया डरपोक इतना नहीं देख सकता ? आहा...हा...! बापा ! अभी क्या होता होगा, वह भगवान जाने। है ? अभी नरक में उसकी चिल्लाहट और उसकी पीड़ा, वह भगवान जाने और वह भोगे... क्या होगा अब ? भविष्य में होना होगा वह होगा। गोलन गाडा भरे। इस हाथ करके इस हाथ भोगेंगे। हम क्षत्रिय कहलाते हैं। बनिये की तरह डरपोक नहीं है कि हम डर जाएँगे। बहुत अच्छी बात है, भाई ! मरकर जाएगा वहाँ डरपोक से भी हल्का होकर मरकर दुःखी होगा। उसकी एक समय की पीड़ा एक सैकेण्ड की उसकी पीड़ा वह जाने। इतना वर्णन भगवान करते हैं। और अभी वहाँ नीचे पड़ा है। बड़े-बड़े राजा मरकर नरक में पड़े हैं। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं 'सिंह इत्यादि क्रूर जीव होकर अपने से निर्बल...' प्राणी को मारता है। आहा...! अभी एक बार नहीं आया था ? सिंह और अजगर की लड़ाई। अजगर तो बड़ा जबरदस्त। सिंह को लिया पाशमें सिंह को अजगर में ऐसा पाश लिया, बीच में पेट में से। वह छूटने के लिए महेनत करे... महेनत करे... चौबीस घण्टे ऐसा पाश में लिया कि सिंह का खून निकाल दिया, मर गया। मरा तो निकाल दिया। अजगर... अजगर बड़ा जबरदस्त था, सिंह को मार दिया। यहाँ कहेंगे न ? सबलवान ऐसे निर्बल को मार देता है। अजगर होता है न ? बड़े-बड़े अजगर। उनकी आँखों में ऐसा होता है कि ऐसा बड़ा घोड़ा चला आ रहा हो, वह खिंच जाता है। अजगर में ऐसा होता है। बड़ा अजगर किस प्रकार चलता है ? दौड़कर कहाँ जाए ? कुदरत ने उसकी आँखें ऐसी की है कि ऐसा करे वहाँ छोटे छोटे घोड़े उसके पेट में खिंच आते हैं, मुँड में आ जाते हैं और फिर खाता है। ओ..हो...हो...! ऐसा अनन्तबार संज्ञी पंचेन्द्रिय क्रूर हुआ तो निर्बलों को मारकर, चीरकर खाया। यहाँ तो संयोग से व्याख्या करना है न ? खा सकता है या नहीं, यह यहाँ सिद्ध नहीं करना है, हाँ फिर ! आहा...हा...!

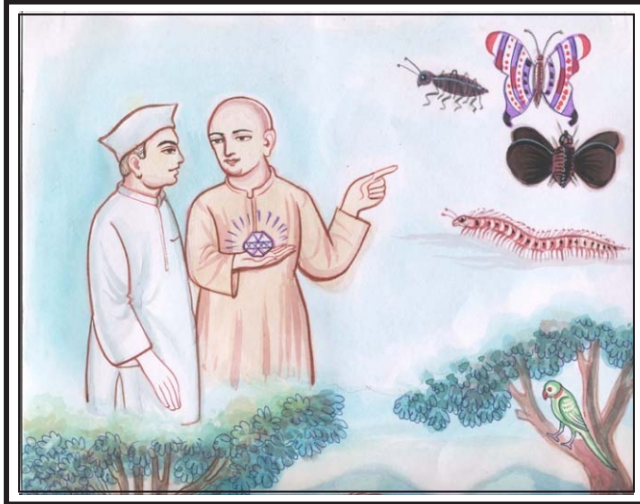
'निर्बल अनेक तिर्यच मार-मारकर खाये।' पाठ क्या है ? देखो ! हे ? मार दिया। लो ! अभि सिद्ध क्या करना है ? बात समझना चाहिए न ? हैं ? ऐसे भाव किये तब वह मारा गया, इसमें दुःख हुआ, - ऐसे कहते हैं। परन्तु भाषा क्या कहें ? देखो ! यह मार दिया, यह आया था नहीं इसमें ? अरे...! भगवान ! 'सैनी ह्वै क्रूर, निर्बल पशु हति...' एक शब्द 'खाये भूर।' दूसरा शब्द बहुत मार मारकर खाये। लो ! खा सकता है या नहीं ? यहाँ तो संयोग से उसे दुःख की व्याख्या बतलाना है। क्रूर सिंह हुआ। इसलिए मारकर खाये। मुँह पकड़े, पेट (पकड़े) बड़ी भेंस होती है न ? सिंह उसकी आल पकड़ता है आल खाता है। गिरे और ऐसे नीचे डाले।

(एक भाई) कहते थे न ! एक बार दो सिंह आये उनके गाँव में। भेंस को पकड़ी, बड़ी भेंस, उसका आल खाते थे। दो सिंह बैठे थे। स्वयं देखने गये, क्या करते हैं ? एक सिंह को देखा, ऐसा देखा वहाँ दूसरा। सवेरा हुआ वहाँ दोनो चले गये। भेंस का आल खा गये थे। तड़फ तड़फ कर मर गयी। आल ही खाये, अन्दर का माल। आहा...हा...! पूरा शरीर पड़ा रहा। क्रूरता की। समझ में आया ? कहते हैं - 'अनेक तिर्यच मार-मारकर खाये।' फिर एक दो नहीं, ऐसा

कहते हैं। बहुत चाहिए या नहीं उसे ? सिंह आदि को तो बहुत चाहिए, अजगर को कितने ही पशु आदि चाहिए।

‘भावार्थ :- यह जीव कभी पंचेन्द्रिय असंज्ञी पशु भी हुआ तो मन रहित होने से...’
देखो ! ऐसी भी एक दशा होती है। मनरहित पंचेन्द्रिय भी होता है। पंचेन्द्रिय होवे और मनुष्य हो ऐसा कुछ नहीं। **‘अत्यन्त अज्ञानी रहा...’** ‘छहढाला’ में सब बातें बहुत अच्छी की है। पहली दुर्लभ भावना से वर्णन करके वस्तु का वर्णन करेंगे। **‘...और कभी संज्ञी हुआ...’** मनवाला हुआ, सिंह इत्यादि। सिंह, हाथी, घोड़ा, बाघ, नाग ये सब क्रूर हुए, क्रूर निर्देय हुए। समुद्र में निर्देय मगर-मच्छ होते हैं; बड़े मगरमच्छ छोटे को खाते हैं। क्या कहते हैं ? मच्छ निगल-निगल नहीं कहते ? है ? मच्छ निगल-निगल कहते हैं न ? बड़ा मच्छ ही छोटे को खाता है पूरा। मेंढक होवे, उसने मुँह में मच्छर को पकड़ा हो, उस मेंढक को छोटा सर्प पकड़ता है, छोटे को दूसरा बड़ा पकड़ता है। ऐसा का ऐसा चला करता है। मेंढक ने एक मक्खी को मारने, खाने के लिए मुँह में पकड़ी हो, उस को दूसरे बड़े (सर्पने) पकड़ा हो; उसे फिर उससे बड़े ने पकड़ा हो। ऐसी पीड़ा और ऐसे भव जीव ने अनन्तबार किये हैं। जैसे बारोट इसकी पूर्व की कथा कहता है; ऐसे भगवान तेरी कथा कहते हैं, ले ! मुनि ने जैसी कथा कही, वैसी कथा कहूँगा, भाई ! आहा...हा...!

‘सिंह आदि क्रूर तिर्यच होकर, अपने से निर्बल...’ जो अपने से हलके प्राणी निर्बल है (ऐसे) **‘अनेक जीवों को मारकर...’** लो ! मारकर, अर्थात् ऐसे मार डालने के भाव हुए और उसकी क्रिया हुई। शब्द क्या बोले ? व्यवहार से बात, सब व्यवहार की ही होती है अधिक।



समझाना होवे तो ऐसा कहते हैं कि नहीं, नहीं; इसने मार नहीं दिया, इसने भाव किया था ऐसा कहेंगे वहाँ ? यहाँ बताना क्या है ? जन्म-मरण किया, इसलिए दुःखी हुआ - ऐसा कहा। लो ! शरीर के संयोग-वियोग से ऐसी व्याख्या की। व्याख्या करे तब उन्हें समझाना क्या है ?

‘घोर अज्ञानी हुआ।’ मारकर खाया, माँस खाया। समझ में आया ? सिंह कितन ही ऐसे क्रूर होते हैं। थोड़ा लगा होवे तो कपट करे। जहाँ लेने आवे, वहाँ उसे ही मारे, पकड़े, खा जाए। यहाँ हुआ था न ? ‘गोंडल’ का नहीं ? फटाया का दीपडा था बड़ा, ऐसा पड़ा था। वहाँ एक व्यक्ति गया तो (उसे खा गया।) हाय... हाय... साथ रहनेवाला मनुष्य क्या करे ? क्रूरता... क्रूरता... क्रूरता...! क्रूर, उसका मुँह ही क्रूर होता है। दीपडा ऐ..सा (होता है।) यह आयेगा। इसमें यह बात रह ही गई, हो !

है ? चित्र में रह गयी। एक बात में कहाँ सब होती है ? चित्र है या नहीं इसमें ? है ? देखो !

उसमें कहा है न ? वह एकेन्द्रिय निगोद की व्याख्या की। लो ! फिर वह जन्मा, मरण को प्राप्त हुआ ! देखो ! पृथ्वी, जल का दृष्टान्त दिया है, हाँ ! मनुष्य रचना है, फिर यह



बताया, देखो ! यह... ऐसा कहते हैं। चिन्तामणि त्रसपर्याय - ऐसा कहकर तितलियाँ और ऐसा दृष्टान्त दिया है। यह बताते है, देखो ! ऐसा पाना दुर्लभ है। ऐसा फोटो इसमें दिया है, हाँ ! है ?

उसमें से सिंह लिया, देखो अब यह। यह सिंह इस हिरण को उल्टा पटककर मारता है, देखो !

ऐसा करके, यहाँ पंछी रखा है, यहाँ एक सर्प रखा है नीचे, ऐसा करके सर्प उपर चढ़कर उसको मारने जाता है और वह मैना मानो सर्प को मारूँ, सर्प मानो उसे मारूँ। समझ में आता है ? ऐसे क्रूर ! अभी तो यहाँ तक आया है न ? 'सिंहादिक सैनी द्वै क्रू, निबल पशु हति खाये भूर।' भूर अर्थात् बारम्बार, एकाकार। सर्प को मारे ऐसे पाप अनन्तबार किये और अनन्त दुःख सहन किये, परन्तु कही इसे अन्त नहीं आया।

६ गाथा कही। लो ! सातवीं गाथा में (आयेगा)। उसमें दृष्टान्त ठीक दिये हैं, हाँ ! चित्ता का किया है, हाँ ! यह श्वास का दृष्टान्त दिया है। यह श्वास... श्वास.. एक श्वास में (अठारह बार)। ठीक ! यह निगोद, ठीक !



जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो त्रिकाल स्वभावभाव है । वह मोक्ष करना है या मोक्ष हुआ है, ऐसा नहीं , परन्तु इस शक्तिरूप मोक्षका आश्रय लेकर जो पर्याय होती है , वह व्यक्तिरूप मोक्ष है । वह व्यक्तिरूप मोक्ष - मोक्षमार्गकी प्रर्यायसे प्राप्त होता है, परन्तु द्रव्यसे प्राप्त नहीं होता । पर्याय ही मोक्ष प्रकट करती है, त्रिकाली ध्रुवद्रव्य मोक्षको प्रकट नहीं करता, न ही जडकर्म मोक्षको प्रकट करता है। इसे भी सच में तो शुद्धउपादान-कारणभूत होनेसे मोक्षका कारण कहा है, परन्तु यह भी एक अपेक्षासे ही है । वास्तवमें तो मोक्षमार्गका व्यय होने पर ही मोक्षकी पर्याय होती है । (परमागमसार - ११७)

वीर संवत् २४९२, पोष कृष्ण १३, बुधवार

दि. १९-१-१९६६, श्लोक ७ से १२, प्रवचन नं. ३

इस 'छहढाला' में पहली ढालचलती है। छह प्रकार के देशी भी हैं और छह प्रकार के कथन की विधि भी है, परन्तु अन्तर है, प्रत्येक में भिन्न है न ? प्रत्येक ढाल में ! पहली ढाल में वहाँ से लिया है - निगोद से लेकर दुःख का वर्णन किया है। क्यों किया ? - यह दूसरी ढाल में आयेगा। दूसरी ढाल है न ? उसमें आयेगा। देखो ! 'ऐसे मिथ्याद्रग-ज्ञान-चर्ण, वश...' दूसरी ढाल का प्रथम श्लोक है न ? वर्णन करने का हेतु क्या है ? कि अनादिका अज्ञानी आत्मा, मिथ्याश्रद्धा - मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश होकर चारगति में दुःखो को सहन करता है - यह बात सिद्ध करना है।

आत्मा के भान बिना... आत्मा अन्तर शुद्ध चैतन्यमूर्ति, उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बिना (दुःख सहन किये), इसलिए स्वामी 'कार्तिकियानुप्रेक्षा' में बोधिदुर्लभभावना में ही यह व्याख्या है। अनन्तकाल चौरासी के अवतार में... यहाँ लिया है निगोद से, 'स्वामी कार्तिकिय' ने भी इसी प्रकार लिया है। निगोद से निकलकर और कोई पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु होता है। वहाँ कोई मनरहित पशु होता है, कोई मनवाला पशु होता है; वहाँ से मरकर नरक जाता है, वहाँ से मरकर कोई मनुष्य होता है; वहाँ से मरकर कोई देव होता है - ऐसे इसप्रकार भाईने वर्णन लिया है, यह शैली आचार्य की शैली है। वह शैली यहाँ ली है।

आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति है। उसके अन्तर के सम्यग्दर्शन और ज्ञान बिना उसने चौरासी के अवतार अनन्तकाल से एक-एक में जन्म-मरण किया है। उसके दुःख का वर्णन करते हैं। वे दुःख प्राप्त क्यों हुए ? मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण। इसलिए दूसरी ढाल में यह कहा कि - 'ऐसे मिथ्याद्रग-ज्ञान-चर्ण वश...' ऐसा कहा न ? 'भ्रमत भरत दुःख, जन्म-मर्ण; ता तैं इनको तजिये सुजान, सुनतिन संक्षेप कहूँ बरवान।' यह पहली ढाल में दुःख का वर्णन बताने का हेतु कि मिथ्या दर्शन-ज्ञान के कारण से ऐसे दुःख सहन किये; इसलिए मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र को छोड़ और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अंगीकार कर। यह बताने के लिए यह बात की है।

तिर्यचगतिमें निर्बलता तथा दुःख

कबहूँ आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अतिदीन;
छेदन भेदन भूख पियास, भार-वहन हिम आतप त्रास॥७॥

अन्वयार्थ :- [यह जीव तिर्यच गतिमें] (कबहूँ) कभी (आप) स्वयं (बलहीन) निर्बल (भयो) हुआ [तो] (अतिदीन) असमर्थ होनेसे (सबलनि करि) अपनेसे बलवान प्राणियो द्वारा (खायो) खाया गया [और] (छेदन) छेदा जाना, (भेदन) भेदा जाना, (भूख) भूख, (पियास) प्यास, (भार-वहन) बोझ ढोना, (हिम) ठण्ड, (आतप) गर्मी [आदिके] (त्रास) दुःख सहन किये।

भावार्थ :- जब यह जीव तिर्यचगतिमें किसी समय निर्बल पशु हुआ तो स्वयं असमर्थ होने के कारण अपनेसे बलवान प्राणियों द्वारा खाया गया; तथा उस तिर्यचगतिमें छेदाजाना, भेदा जाना, भूख, प्यास, बोझ ढोना, ठण्ड, गर्मी आदिके दुःख भी सहन किये॥७॥

अब, अपने यहाँ छह गाथा पूर्ण (हुई है), सातवीं आयी है। तिर्यचगति के निर्बलता के दुःख।

कबहूँ आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अतिदीन;

छेदन भेदन भूख पियास, भार-वहन हिम आतप त्रास॥७॥

क्या कहा ? भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने ऐसा देखा कि इसने अनादि से निगोद के अनन्त दुःख सहन किये। एक श्वास में अठारह भव धारण किये। यह बात आ गयी है न ? वहाँ से कदाचित् कोई मरा तो एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति में आया। उसमें से त्रसपना प्राप्त करना तो महारत्न की तरह दुर्लभ कहा है न अन्दर ? जैसे चिन्तामणिरत्न प्राप्त करना दुर्लभ है, उसी प्रकार एकेन्द्रिय में से त्रसपना प्राप्त करना महादुर्लभ है। यह सब शैली से वर्णन किया है। यह

शास्त्रानुसार वर्णन किया है। समझ में आया ?

अब, यहाँ कहते हैं कि उसमें से तिर्यच में आया। निगोद में से (निकलकर) मनवाला प्राणी हुआ। उसमें कैसे दुःख सहन किये - यह बात करते हैं। ‘(यह जीव तिर्यचगति में) कभी (स्वयं) कमजोर हुआ...’

मिथ्यादर्शन-ज्ञान के कारण से पशु में अवतरित हुआ। समझ में आया ? इस कारण अन्दर यह बताना है - मिथ्याश्रद्धा - मिथ्याज्ञान के कारण ऐसे तिर्यच में अवतरित हुआ, बलहीन हुआ - कमजोर (हुआ), ‘(तो) असमर्थ होने से



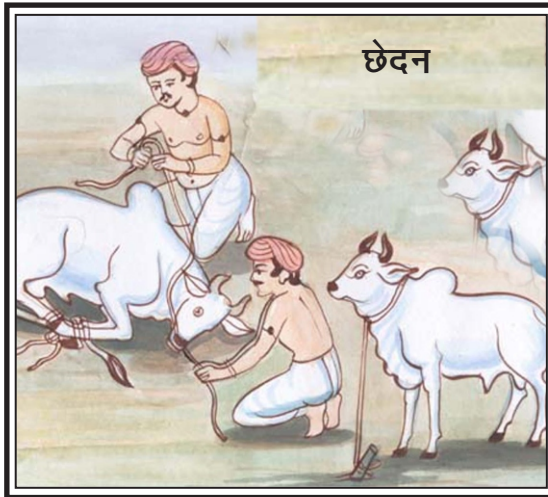
अपने से बलवान प्राणियों के द्वारा खाया गया...’ संयोग से दुःख का कथन किया है, हाँ ! समझ में आया ? देखो ! इसमें है। है न इसमें ? यह चिन्ह दिया है, क्या कहलाता है ? चित्र बलहीन जो हिरण है, देखो ! उसे चीता पीछे पकड़ता है, ऐसा। उसमें सामने वृक्ष आता है, इसमें सामने वृक्ष है। समझ में आया ? हिरण का भव किया। मिथ्याश्रद्धा - मिथ्याज्ञान द्वारा निगोद में से निकलकर पन्चेन्द्रिय हुआ, वहाँ दीनता के कारण सिंह ने मारा। समझ में आया ? और फिर विशेष कहेंगे, देखो !

‘बलवान प्राणियों द्वारा खाया गया...’ खाया गया अर्थात् ? उसका शरीर खाया गया। शरीर खा जाने से व्याख्या की है। समझ में आया ? शरीर खाया गया। किसने खाया ? देखो ! दूसरे शरीर खा सकते हैं न ? भाई !

मुमुक्षु :- नहीं साहेब !

पूज्य गुरुदेवश्री :- तो यह क्या खाया गया ? यह तो संयोग से दुःख का वर्णन करते हैं कि

निर्बल प्राणियों को सबल प्राणीने महा प्रहार करके मारा। गर्म पानी छिड़का। चूहे को उसमें पकड़ते हैं न ? पिंजरे में। पिंजरे में चूहे को पकड़कर ओर फिर से धगधगता गर्म-गर्म पानी डालते हैं। धगधगता पानी, हाँ ! नजरों से देखा है, वहाँ हमारे 'पालेज' में मुसलमान की दुकान है, अनाज की दुकान, इसलिए चूहे बहुत होते हैं। उसका एक व्यक्ति चूहे पकड़कर निकला था, वहाँ ऊपर से धगधगता पानी डालता था। ऐसे दुःख (सहन किये।) अब, चूहे को कहाँ जाय ? यह तो संयोग से वर्णन करते हैं। राग... राग... एकत्वबुद्धि है न ? शरीर और राग मैं हूँ... शरीर और राग मैं हूँ; चिदानन्द भगवान आत्मा का पता नहीं, इसलिए ऐसी एकत्वबुद्धि के कारण खाया गया, पकाया गया, मारा गया -



ऐसे दुःख अनन्त बार वहाँ सहन किये। कहे, समझ में आया ?

'छेदा जाना...' तो ! है न इसमें इस ओर ? देखो ! यहाँ छेदते हैं। इस पशु को नहीं छेदते ? नथ बाँधते है, बाँधकर नपुसंक करते हैं, इन्द्रिय काटते है। यह ऐसा करके (छेदते हैं।) भगवान आत्मा, अपनी शान्ति का आनन्द स्वभाव, उसे अनादि से भूलकर इसने अनादि से ऐसे दुःख सहन किये है। समझ में आया ?

‘भेदा जाना...’ भेदा गया, टुकड़े किये। लो ! देखो ! शिकारी अथवा कषायी लोगों ने पकड़कर एकदम टुकड़े करता है। ‘राजकोट’ में कषायी के घर के पास से दिशा (जंगल) जाने को निकलते हैं न ? खट... खट... ऐसे काटता होता है। ऐसे दुःख, आत्मा को भूलकर शरीर और राग की एकता में, आस्रव और अजीव की एकता में (प्राप्त किये हैं।) - ऐसा अभी कहना है। समझ में आया ? आस्रव और अजीव भित है, उसके भान बिना उनकी एकता में ऐसे दुःख अनन्तबार सहन किये हैं। इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे करेंगे।



फिर ‘भूख...’ लगी, भूख - क्षुधा। पशु को कितनी क्षुधा लगती है, देखो न ! समझ में आया ? मिलता नहीं बिचारे कुत्ते तो... ‘कुत्ते के भव में मैं दूढ खाये टुकड़े, वहाँ भूख का सहा भड़का’ - ऐसा पहले ‘पालेज’ में सुनते थे। भाई ! ‘पालेज’ में ऐसी बातें होती है न ? वहाँ दूसरी ऐसी तत्त्व की बात कहाँ थी ? उसमें एक साधु ‘पालेज’ में आते थे, फिर ऐसा पहले गाते। लो ! पहले सुना हुआ यह। ‘कुतरा ना भवमां में

वीणी खाया कटक्या, त्यां भूख ना बेठ्या भडका रे...' भूधरजी तमने भूल्यो। भूधरजी अर्थात् भगवान को भूला, ऐसा। वहाँ मन्दिरमार्गी का मन्दिर है न, वहाँ उतरे; फिर हम रात्रि को जाए, यह बात करते। तत्त्व की बात तो थी नहीं। ऐसे दुःख सहन किये - यह (कहे)। वहाँ भी ऐसा था, 'दामनगर' ! नारकी का चित्र बताये। पहलेके पुराने साधु होय न ? देखो ! हुक्का पीये तो ऐसा होगा; बीड़ी पीये तो ऐसा होगा; परस्त्री को भोगेगे तो ऐसा होगा। उनको ऐसे दुःख बताये; परन्तु ये दुःख बताने का हेतु क्या है ? है ? मिथ्याश्रद्धा-आत्मा के भान बिना इसने विकार और संयोगी वस्तु को अपनी मानकर स्वभाव को भूल गया। उस भूल में इसने ऐसे अनन्त भ्रमण किये हैं।

'प्यास...' यह पानी का प्यास। यह पशु की बात है, हाँ ! अभी। 'बोझा ढोना..' सिर पर बोझा (ढोना)। देखो ! यहाँ किया है न ! देखो ! इतना भार है तो बैल ऐसे गिर जाता है। 'कलकत्ता' में सौ-सौ मण भार भरते है, नहीं ? है ? पता है। लम्बी गाड़ी और इतना भार भरते हैं, बोझा भरते हैं। भार-वहन, छेदन-काटा जाना, ऐसे दुःख अनन्तबार सहन किये हैं।

'ठण्ड...' जंगल में सर्दी पड़े और ये हिरण के छोटे-छोटे बच्चे... हा...य... ठण्डी में ठिठुर जाते हैं। 'गर्मी...' गर्मी ऐसी पड़ती है कि ऐसे छोटे त्रस मर जाते हैं। देखो न ! यह चकला और मैना नहीं आते ? गर्मी में चकला, मैना एसे हाँफ-हाँफकर मर जाते हैं, बहुत गर्मी लगती है। ऐसे दुःख प्रत्येक जीव ने अनन्तबार सहन किये हैं। चार गति में, इसमें तिर्यचगति की बात है। 'दुःख सहन किये।' लो ! समझ में आया ?

'भावार्थ :- जब यह जीव तिर्यच गति में किसी समय निर्बल पशु हुआ तो स्वयं असमर्थ होने के कारण अपने से बलवान प्राणियों के द्वारा मारकर खाया गया; तथा उस तिर्यचगति में छेदाजाना, भेदाजाना, भूख, प्यास, बोझा ढोना, ठण्ड, गर्मी आदि के दुःख भी सहन किये।'



तिर्यच के दुःखकी अधिकता और नरक गति की प्राप्ति का कारण

बध बंधन आदिक दुख घने, कोटि जीभतैं जात न भने;
अति संक्लेश भावतैं मरयो, घोर श्वभ्रसागरमें परयो॥८॥

अन्वयार्थ :- [इस तिर्यचगतिमें जीवने अन्य भी] (बध) मारा जाना, (बंधन) बँधना (आदिक) आदि (घने) अनेक (दुख) दुःख सहन किये; [वेज (कोटि) करोड़ों (जीभतैं) जीभोंसे (भने न जात) नहीं कहे जा सकते। [इस कारण] (अति संक्लेश) अत्यन्त बुरे (भावतैं) परिणामोंसे (मरयो) मरकर (घोर) भयानक (श्वभ्रसागरमें) नरक रूपी समुद्र में (परयो) जागिरा।

भावार्थ :- इस जीवने तिर्यचगतिमें मारा जाना, बँधना आदि अनेक दुःख सहन किये, जो करोड़ों जीभोंसे भी नहीं कहे जा सकते। और अन्तमें इतने बुरे परिणामों (आर्तध्यान) से मरा कि जिसे बड़ी कठिनाईसे पार किया जा सके ऐसे समुद्रसमान घोर नरकमें जा पहुँचा॥८॥

‘अब तिर्यच के दुःख की अधिकता और नरकगति की प्राप्ति का कारण’ यहाँ से नरक लिया है, भाई! ‘स्वामी कार्तिकिय’ने ऐसा लिया है - निगोद से तिर्यच और तिर्यच से नरक।

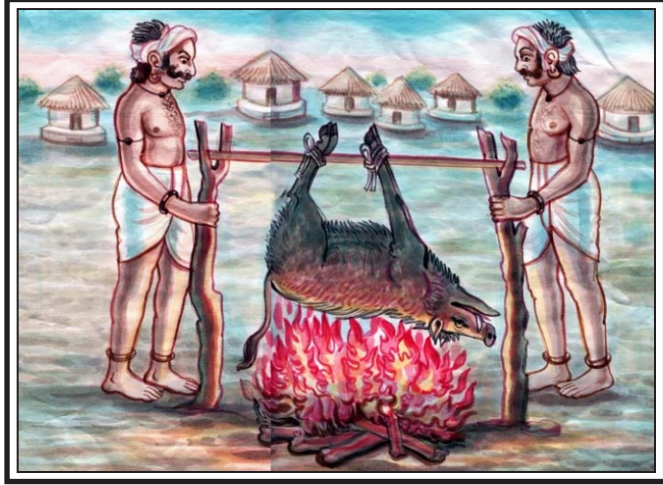
बध बंधन आदिक दुख घने, कोटि जीभतैं जात न भने;
अति संक्लेश भावतैं मरयो, घोर श्वभ्रसागरमें परयो॥८॥

‘(इस तिर्यचगति में जीवने अन्य भी) मारा जाना, बँधना...’ देखो न! यह शिकारी लोग अथवा कषाईखाने में... ‘आदि अनेक दुःख सहन किये...’ ग्रन्थकार कहते हैं कि इन तिर्यच के दुःखों को हम करोड़ों जीभों से कहें तो नहीं कहे जा सकते। करोड़ों जीभों से कहें तो उनके दुःख (नहीं कहे जा सकते।) भूल गया, परन्तु भूल जाता है न? मनुष्य होवे वहाँ भूल

जाता है न ? 'करोड़ो जीभों से नहीं कहे जा सकते।' ऐसे तिर्यच के दुःख। काटे, टूकड़े करे।

एकबार 'धंधुका' में एक बड़ी गाय को भले प्रकार श्रृंगार करके गाँव में घुमाया था। उस गाय को रात्रि में पूरी तरह बाँधकर, मुँह बन्द करके बाँधी। मुसलमानों ने किया था, 'धंधुका' में मुसलमानों ने (किया था।) फिर बारीक... बारीक... बारीक... टूकड़े करके काट दिया, फिर उसे बाँट दिया। आहा...हा...! समझ में आया ? पशु के ऐसे दुःख ! आत्मा के भान बिना (सहन किये।) मैं कौन हूँ ? मेरी क्या जाति है ? मुझे क्या चाहिए ? मुझे क्या प्राप्त करना है और क्यों छोड़ना है ? इसके भेदज्ञान के भान के बिना ऐसे अनन्त अवतार में ऐसे दुःख भोगे हैं।

एक व्यक्ति कहता था, हमारे भाई कहते - पारसी लोग इनके पड़ौसी थे। (वे) सूअर के पैर को लोहे के सरिये के साथ बाँधकर, जैसे शक्करकन्द को शेकते है, शक्करकन्द; वैसे सूअर को अग्नि में डाल दिया, सिकने के बाद उसे खाते हैं। आहा...हा...! पूरे सूअर को उसे बाफकर ऐसे जीवित डालते हैं, फिर आग पर डालते हैं। ऐसे दुःख, भाई ! इसने देखे नहीं हैं, सुने नहीं है, इसे खबर नहीं है। यहाँ जरा सा दुःख और प्रतिकूलता होवे और अपमान होय है ! तुरन्त क्रोधित हो जाता है। हे हमारा अपमान !



परन्तु मुफ्त में ऐसे दुःख बहुत बार सहन किये हैं। मूली में मुफ्त में बिक गया है। तेरी कोई कीमत नहीं है। तूने धर्म की कीमत किये बिना ऐसे दुःख सहन किये हैं। कहते है, करोड़ जीभों से भी नहीं कहे जा सकते। देखो ! अन्दर है न ? दो बैल बनाये हैं, हाँ ! बध-बन्धन बाद में आयेगा।

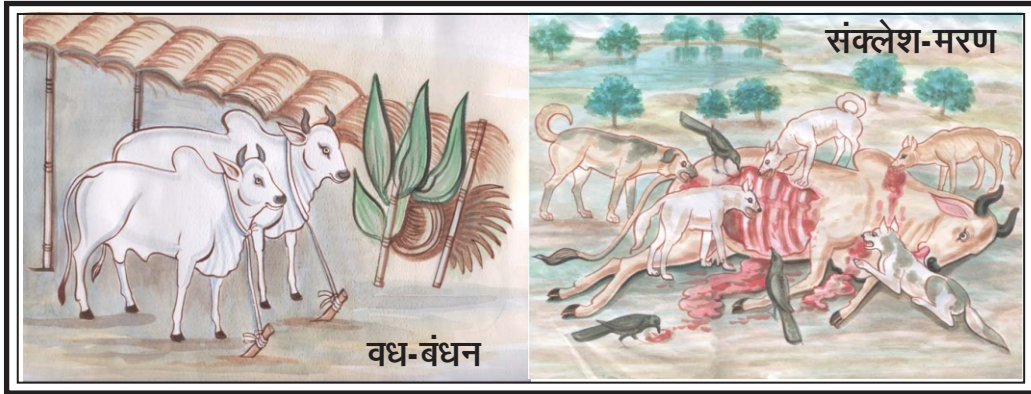
मुमुक्षु :- याद क्यों नहीं रहता है ?

उत्तर :- जन्म होने के छह माह बाद क्या हुआ था - याद रहता है ? यहाँ जन्म होने के बाद

महीने में पहले थे या नहीं ? है ? माँ की गौद में बैठकर रोते थे, ऊँ... ऊँ... करते थे - वह सब याद है ?

मुमुक्षु :- नहीं, माँ कहती है।

उत्तर :- परन्तु तुम्हें खबर नहीं है न ! इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, देखो न ! कल वह लड़का ऊँआ... ऊँआ... करता था, बहुत रोता था न ? उस लड़के को, बालक को कुछ भान नहीं होता। उसे अनुकूल क्या, प्रतिकूल क्या - इसको खबर नहीं होती। बालपने में बहुत दुःख है, हाँ ! आगे आयेगा। बालपने में बहुत दुःख, अन्दर भान नहीं होता, आकुलता (होती है।) ऐसे बैठना होतो है ऐसे सुलावे, ऐसे सुलावे तो ऐसे बिठावे, उस बिचारे को कुछ पता नहीं होता। बालकपने में दुःख... दुःख... दुःख... बहुत दुःख है। समझे ? अभी उस दुःख की खबर है ? वहाँ तुम्हारी डोकरीने क्या किया था। 'आकडिया' में ? (याद नहीं), इसलिए नहीं था ? ऐसे अनादि का यह है। इसकी माँ कहे और याद करे; इसी प्रकार यहाँ भगवान कहते हैं और याद करता है, ऐसे इसे याद कराते हैं। कहो, भाई ! आहा...हा...!



कहते हैं - ऐसे दुःख बहुत सहन किये। 'अति संक्लेशभाव तै भर्यो।' तिर्यच की बात है। समझ में आता है ? बहुत संक्लेश। देखो ! इसका दृष्टान्त दिया है। देखो ! इसका दृष्टान्त दिया है। देखो ! यहाँ गाय। गाय का। एक गाय है और मरने पर उसे (खाते हैं।) यहाँ एक गाय थी। हम (एक भाई के) मकान में थे। उसमें हुआ था उसे वह। क्या कहलाता है यह ? हड़कवा। गाय

बड़ी, हडकवा लो ! दो दिन फिरा करे। हमारे तो ऊँचा मकान और नीचे फिरती थी। साथ ही उसके पास एक बड़ है वहाँ गिरी और फीर पक्षी और कुत्ते आकर काटे/चाटे और चीखे/ चिल्लाए मर गयी। दो दिन नहीं पानी, नहीं आहार - ऐसे दुःख अनन्त बार (सह किये।) यहाँ तो संयोग से वर्णन करते हैं। भित... भित संयोग में इसकी दुःख की एकता कैसी होती है - ऐसा बताकर, मिथ्यादर्शन के फलरूप ऐसे (दुःख) भोगने पड़े है - यह कहते हैं। आहा...हा...! कहो समझ में आया ?

संकलेश से मरा। वह गाय, में सब देखो न बहुत। ऊपर से ये चूहे होज में गिरते हैं। यह होता है न ? मिल का धगधगता गर्म पानी होवे, उसमें कबूतर पडते हैं, कबूतर बिचारे। बड़े सर्प निकले हों, वे गिरते हैं, वे जल जाए ऐसे। हाय... हाय... ! ऐसे भव तिर्यच में संकलेशभाव से बहुत किये। वहाँ से मरकर **‘घोर (स्वभ्रसागर में)...’** लो ! वहाँ से - तिर्यच में से नरक में गया। ऐसी शैली ली है। वह पशु मरकर वहाँ से ऐसे बुरे परिणाम किये। बुरे-बुरे कि मरकर नरक में गया। **‘भयानक नरकस्त्री समुद्र में जा गिरा। स्वभ्रसागर -’** उसे उपमा दी - नरकस्त्री समुद्र में जा गिरा। पशु में से निकलकर नारकी हुआ।

एक भेड़ को तो पीठ में से लोहे का धगधगता सरिया डालकर और मुँह में निकाला था। जीवित भेड़ ! पीठ में से धगधगता सरिया डालकर, कपड़े से पकड़कर ऐसे पीठ में से मुँह से (बाहर निकाला।) वह पीड़ा कैसी होगी ? मूल मे तो एकता (एकत्वबुद्धि) की पीड़ा है, परन्तु शास्त्रकार संयोग की स्थिति का दूसरा क्या वर्णन करे ? निमित्त से, संयोग से, व्यहार से सब वर्णन करते हैं। वह दशा भूल गया है। भगवान (आत्मा) आन्दकन्द प्रभु है। जिसकी नजरो में अतीन्द्रिय आनन्द आवे - ऐसा यह आत्मा है। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द की श्रद्धा और ज्ञान को भूलकर ऐसे दुःख अनन्त बार सहन किये है। समझ में आया ? **‘बड़ी कठिनाई से पार किया जा सके - ऐसे समुद्र समान घोर नरक में जा पहुँचा।’** गया नरक में।

नरकों की भूमि और नदियों का वर्णन

तहां भूमि परसत दुख इसो, बिच्छू सहस डसे नहिं तिसो;
तहां राध-श्रोणितवाहिनी, कृमि-कुल-कलित, देह-दाहिनी ॥९॥

अन्वयार्थ :- (तहां) उस नरक में (भूमि) धरती (परसत) स्पर्श करनेसे (इसो) ऐसा (दुख) दुःख होता है [कि] (सहस) हजारों (बिच्छू) बिच्छू (डसे) डंक मारे तथापि (नहिं तिसो) उसके समान दुःख नहीं होता; [तथा] (तहां) वहाँ [नरकमें] (राध-श्रोणितवाहिनी) रक्त और मवाद बहानेवाली नदी [वैतरणी नामकी नदी] है जो (कृमि-कुल-कलित) छोटे-छोटे क्षुद्र कीड़ोंसे भरी है तथा (देह-दाहिनी) शरीर में दाह उत्पन्न करनेवाली है।

भावार्थ :- उन नरकों की भूमिका स्पर्श मात्र करने से नारकियों को इतनी वेदना होती है कि हजारों बिच्छू एक साथ डंक मारे तब भी उतनी वेदना न हो। तथा उस नरक में रक्त, मवाद और छोटे-छोटे कीड़ोंसे भरी हुई, शरीर में दाह उत्पन्न करनेवाली एक वैतरणी नदी है, जिसमें शांतिलाभ की इच्छा से नारकी जीव कूदते हैं, किन्तु वहां तो उनकी पीड़ा अधिक भयंकर हो जाती है।

(जीवों को दुःख होनेका मूल कारण तो उनकी शरीर के साथ ममता तथा एकत्वबुद्धि ही है; धरती का स्पर्श आदि तो मात्र निमित्तकारण है।) ॥९॥

अब, 'नरक की भूमि और नदी के दुःख' का वर्णन करते हैं। लो ! अब यह कठोर बात वापिस (आई।)

तहां भूमि परसत दुख इसो, बिच्छू सहस डसे नहिं तिसो;
तहां राध-श्रोणितवाहिनी, कृमि-कुल-कलित, देह-दाहिनी ॥९॥

देखो ! यहाँ दृष्टान्त दिया है। देखो यह ! हजारों बिच्छु लगायें हैं, देखो ! एक जहरीला बिच्छु अच्छी तरह से काटे तो शोर मचाने लगा और तुरन्त दो घड़ी में मर जाए। ऐसे वहाँ नरक में दूसरे बिच्छु बहुत कठोर करके और पूरे शरीर को (चिपकते हैं।) देखो ! यह चित्र किया। देखो यह ! एक तो नारकी नपुसंक है। यह सब माँस खाये, शराब पीये, शिकारकरे, सब लम्पटी वे मरकर वहाँ नरक में अनन्तबार गये। प्रत्येक जीव वहाँ नरक में अनन्तबार उत्पन्न हुआ है। हजारों बिच्छु उसे काटे, उसका दुःख न हो, उससे अनन्तगुना दुःख वहाँ है। आहा...हा...! कहो, भाई ! क्या है यहाँ तुम्हें ?

‘उस नरक में धरती स्पर्श करने से ऐसा दुःख होता है...’ जमीन को स्पर्श करने से, हाँ ! स्पर्श करने से अनन्तगुना दुःख होता है, मानों हजारों बिच्छु काटते हों। हजारो कठोर झहरीले बिच्छु ऐसे डंक मारे तो हाय... हाय... ! ऐसे एक-एक जगह दौड़े ! देखो ! यह सब दृष्टान्त दिये हैं। चारों ओर बिच्छु... बिच्छु... बिच्छु...!



आत्मा अनादिकाल से परिभ्रमण में रहा है, मोक्ष में तो गया नहीं। मोक्ष अर्थात् अपनी शुद्धता को तो प्राप्त नहीं हुआ। तब वह रहा कहाँ ? वह वर्णन पहले करते हैं। समझ में आया ? क्यों रहा ? कि मिथ्यादर्शन के कारण। मूल कारण तो मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? इसलिए फिर उसका क्रमवर्णन करेंगे। मिथ्यादर्शन, कुदेव-कुगुरु गृहीत-अगृहीत का; फिर समकित का; फिर ज्ञान का; फिर चारित्र का। ऐसा करके ‘छहढाला’ पूरी करेंगे। बारह भावना है। समझ में आया ?

नरक में भूमि का स्पर्श ऐसा कठोर-कठोर है। यह कोई डाभ (कुश) का अथवा गोखुर का

एक काँटा जरा लगे, चूभे, वहाँ इसे ऐसा हो जाता है। उससे अनन्तगुनी तीखी नरक की भूमि है। ऐसी तीखी जमीन है और जो नारकी जीव हैं... यहाँ से मरकर जहाँ नारकी उत्पन्न होते हैं, जो उनके उपजने का स्थान है, वे ऐसे उलटे हैं, ऐसे। ऐसे उलटे हैं। वहाँ उपजता है, वहाँ ऐसा नीचे गिरता है। वह उपजता है, वहाँ भी तीक्ष्ण शस्त्र भरे हैं, अन्दर से कठोर हैं, उसमें उपजता है। हाय.. हाय...! बिल में उपजा साथ नीचे नरक में। नीचे छत्रीस प्रकार के शस्त्र होते हैं। ऊँचे शस्त्र आते हैं न ? ऊँचे बहुत प्रकार के कठोर, तीक्ष्ण शस्त्रों को स्पर्श करे, वहाँ कट जाए ऐसे। उसमें नारकी एकदम ऊपर से नीचे गिरता है। कहो, समझ में आया ? यह राजा, महाराज माँस खानेवाले और ये सब लम्पटी होते हैं न ? माँस, शराब खानेवाले, शहद खानेवाले - ये सब मरकर वहाँ नरक के मेहमान होते हैं। है ? आहा...हा...!

अनादि का है। यह आत्मा कहाँ नया है ? शरीर ऐसे नये-नये धारण किये हैं। अनादि से इसने ऐसे भान बिना नरक में ऐसे दुःख सहन किये कहते हैं। उसमेंसे काटा जाना, छेदाजाना, भेदाजाना, आहा...हा...! फिर चिल्लाता है। ऐसे करते हजारों बिच्छु डंक मारते तो उसके जैसा दुःख नहीं होता। उसके जैसा दुःख नहीं होता अर्थात् क्या ? उन हजारों बिच्छुओं के दुःख की अपेक्षा भी यह दुःख बहुत है। ऐसा कहते हैं। वहाँ इतना अधिक दुःख है कि उन हजारों बिच्छुओं की तो उसके समक्ष गिनती नहीं, उतना दुःख नरक में है। परन्तु आनन्द को भूलकर तीव्र मिथ्यात्व का सेवन किया हो; जितना आनन्द, सहजानन्द प्रभु आत्मा है, उसकी दृष्टि का भान नहीं होता, उसका ज्ञान नहीं होता, इसलिए अनन्त विपरीतता की है, विपरीतता; इसलिए उसके दुःख में अनन्तपना ही अन्दर में आता है। स्वयं आनन्दमूर्ति है, उससे विरुद्ध एक विकल्प राग, देह, वाणी, मन इनका अभिमान- यह हमारे, यह हम इस मिथ्याश्रद्धा में इसने ऐसे दुःख अनन्तबार सहन किये हैं। समझ में आया ?

उसमें से (उसे ऐसा लगता है कि) लाओ न नदी (वेतरणी नदी) में जाऊँ। ऐसा विचार होता है। बहुत दुःख लगता है, बहुत दुःख लगता है। हाय.. हाय...! चिल्लाता है। अरे..रे..! यह दुःख वह क्या होगा ? यहाँ बड़ा राजा हो, महल में सोता है, मखमलकी सय्या में से वहाँ जाकर पड़ता है नीचे। समझ में आया ? बड़े मील का मालिक अरबोंपति हो, महा करोड़पति हो, महा

अधर्म किया हो, अनेक मेंढक मारे हों, अनेक माँसादि खाते हो, शराब पीते हो, गुप्तपने मछलियां खाता हो। आहा...हा...!

‘राजकोट’ में एक बनिया कहता था - महाराज ! कितने ही बनिये ऐसे है कि बाहर मूर्गी लेकर (ऐसा कहते हैं) हलुआँ करना, हाँ ! मूर्गी का अच्छा हलुआँ करना। बनिया कहता था। आहा...हा...! फिर ऐसे रगड़ना हाँ ! कहो, ऐसे पाप, बहुतगलत कार्य ! मूर्गे को मारकर सुजी के हलवे जैसा ? घर में स्त्री तो करने दे नहीं, बनिये के घर में, इसलिए दूसरे के यहाँ एकदम बाहर करे। अब ऐसे काले कारनामे करे और मरकर नरक जाए। वह कुछ कीमत भरकर जाता है न ? या मुफ्त में जाता है ? हैं ? किंमत देकर जाता है। आहा...हा...!

यहाँ एक रस की पीड़ा हुई हो, रस होता है न ? रस। क्या कहते हैं ? रस की पीड़ा। वह पीड़ा बिच्छु काटे ऐसी, हाँ ! वह पीड़ा बहता न हो और ऐसी की ऐसी क्या कहलाता है उसका नाम ? वह पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... वे कहते थे। वह पीड़ा बिच्छु की पीड़ा से अधिक है। पीठ में नीचे निकलते तो खून जाए नहीं, पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा... उसमें से। नरक की तो उससे अनन्तगुनी है। आहा...हा...! किसका मान करना और किससे अधिकपने होना, मनाना ? समझ



में आया ?

उसमें बहुत दुःख होता है, (इसलिए) ‘(राध-श्रोणितवाहिनी) रक्त और भवाद बहानेवाली...’ वैतरणी नदी। यह वास्तव में तो नारकी वैतरणी नदी का रूप धारण करते हैं। नरक के दूसरे नारकी होवे है, वे शरीर का वैतरणी नदी का प्रवाहीरूप धारण करते हैं। उसमें अन्य दूसरे आकर पड़ते हैं। समझ में आया ? अन्दर ही अन्दर नारकी ही ऐसा करते हैं। ‘रक्त और मवाद बहानेवाली (एक वैतरणी नामक नदी है) जो (क्रमिकुलकलित) छोटे-छोटे क्षुद्र कीड़ों...’ मगर-मच्छ, क्षुद्र कीड़े वे भी नारकी होते हैं, हाँ ! अन्दर, दूसरे नारकी ऐसे होते हैं। वह (अन्य) नारकी आता है (तो) काटता है, टुकड़े करते हैं, छेदते है। हाय... हाय...! बाहर से यहाँ आया, मानों नदी है, इसलिए शीतलता होगी...! वहाँ तो ... आहा...हा...! पुकार... पुकार... अरे...रे...! कहाँ जाना ? ‘कीड़ों से भरी है तथा शरीर में दाह उत्पन्न करनेवाली है।’ लो ! समझ में आया ? शरीर में दाह उत्पन्न करनेवाली ऐसी नदी महादुःख (उत्पन्न करनेवाली है।)

‘भावार्थ : उन नरकों की भूमि का स्पर्शमात्र करने से नारकियों को इतनी वेदना होती है कि हजारों बिच्छु एक साथ डंक मारे तब भी उतनी वेदना न हो। तथा उस नरक में रक्त, भवाद और छोटे-छोटे कीड़ों से भरी हुई, शरीर में दाह उत्पन्न करनेवाली एक वैतरणी नदी है।’ यह सब आचार्यों ने कहा है, हाँ ! भगवान ने देखा हुआ और सुना हुआ ऐसा कहा है। ‘जिसमें शान्तिलाभ की इच्छा से नारकी जीव कूदते हैं, किन्तु वहाँ तो उनकी पीड़ा अधिक भयंकर हो जाती है।’ मूलतो एकत्वबुद्धि का (दुःख) है। देखो ! अन्दर लिखा है। बात तो सब संयोग से बतायी जाती है न ? खाना, खाता है, पीता है, टुकड़ा करते हैं, काट खाते हैं - यह सब संयोग है। वस्तु तो प्रभु आत्मा अपनी ज्ञान जाति को, आनन्द जाति को भूलकर देह-शरीर, वाणी, पुण्य-पाप के विकल्पों में एकत्व होता है, उसकी तारतम्यता के दुःखों का यह सब वर्णन है। कुछ समझ में आया ? आहा...हा...! अब इसमें बहुत तड़फड़ाता हो, वहाँ से निकलकर कहते हैं बाहर आवे। वैतरणी, ठीक ! उसमें रूप धारण किया है।

नरकों के सेमलवृक्ष तथा सर्दी-गर्मीके दुःख

सेमर तरु दलजुत असिपत्र, असि ज्यों देह विदारैं तत्र;
मेरु समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय ॥१०॥

अन्वयार्थ :- (तत्र) उन नरकोंमें (सिपत्र ज्यों) तलवार की धारकी भाँति तीक्ष्ण (दलजुत) पत्तोंवाले (सेमर तरु) सेमलके वृक्ष [हैं जो] (देह) शरीर को (असि ज्यों) तलवार की भाँति (विदारैं) चीर देते हैं, [और] (तत्र) वहाँ [उस नरकमें] (ऐसी) ऐसी (शीत) ठण्ड [और] (उष्णता) गरमी (थाय) होती है [कि] (मेरु समान) मेरु पर्वतके बराबर (लोह) लोहेका गोला भी (गलि) गल (जाय) सकता है।

भावार्थ :- उन नरकोंमें अनेक सेमलके वृक्ष हैं, जिनके पत्ते तलवार की धार के समान तीक्ष्ण होते हैं। जब दुःखी नारकी छाया मिलने की आशा लेकर उस वृक्ष के नीचे जाता है, तब उस वृक्ष के पत्ते गिरकर उसके शरीर को चीर देते हैं। उन नरकों में इतनी गरमी होती है के एक लाख योजन ऊँचे सुमेरु पर्वतके बराबर लोहेका पिण्ड भी पिघल* जाता है; तथा इतनी ठण्ड पड़ती है कि सुमेरु के समान लोहेका गोला भी गल+ जाता है। जिस प्रकार लोकमें कहा जाता है कि ठण्डके मारे हाथ अकड़ गये, हिम गिरनेसे वृक्ष या अनाज जल गया आदि। यानी अतिशय प्रचंड ॥१०॥

* मेरु सम लोहपिंडं, सीदं उण्हे विलम्भि पक्खित्तं ।

ण लहदि तलप्पदेसं, विलीयदे मयणखंडं वा ॥

* अर्थ :- जिस प्रकार गर्मीमें मोम पिघल जाता है (बहने लगता है) उसी प्रकार सुमेरु पर्वतके बराबर लोहेका गोला गर्म बिलमें फेंका जाय तो वह बीचमें ही पिघलने लगता है।

X मेस्सम लोहपिंडं, उण्हं सीदे विलम्भि पक्खित्तं ।

ण लहदि तलप्पदेसं, विलीयदे लवणखण्डं वा ॥

X तथा जिस प्रकार ठण्ड और बरसातमें नमक गल जाता है (पानी बन जाता है) उसी प्रकार सुमेरु के बराबर लोहेका गोला ठण्डे बिलमें फेंका जाये तो बीचमें ही गलने लगता है। पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे नरककी भूमि गर्म है; पाँचवे नरक में ऊपर की भूमि गर्म तथा नीचे तीसरा भाग ठण्डा है। छठवें तथा सातवें नरककी भूमि ठण्डी है।

दसवीं -

सेमर तरुदलजुत असिपत्र, असिज्यो देह विदारैतत्र;

मेरुसमान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय ॥१०॥

यह भी शास्त्र का पाठ है, हों ! उस नरक में जीव ने अनन्तबार मिथ्यादर्शन के कारण नरक की योनि धारण की है। कहते हैं 'तलवार की धार की भाँति तीक्ष्ण पत्तोंवाले सेमल के वृक्ष...' उसके शरीर को चीर दिया। सिर पर पड़ा, नीचे जरा शीतलता लेने जाए, नदी में से निकलकर नारकी जहाँ-तहाँ ऊपर से तलवार की धार जैसे पत्ते (पड़ते हैं) पच्चीस-पचास मण के लोहे के गोले जैसे उसके फल होते हैं, (वे) सिर पर पड़ते हैं। समझ में आया ? वे तलवार की तरह चीर देते हैं।

'(उस नरक में) ऐसी सर्दी...' ऐसी सर्दी होती है (कि) एक लाख योजन का मेरुजितना गोला हो, यह मेरुपर्वत हे न ? एक लाख योजन का मेरुपर्वत है। एक योजन दो हजार कोष का, ऐसा लाख योजन का मेरु; ऐसा एक लोहे का गोला करे, ऐसी सर्दी वहाँ है कि उस गोले के रजकण एक क्षण में बिखर जाएँ। मेरु जितना लोहेका गोला; जिसकी सर्दी में वह गोला डाले, अभी तो ऐसे डाले, नीचे न पहुँचे, वहाँ उसके सभी रजकण बिखर जाएँ, गल जाए, पानी की तरह समाप्त हो जाए। समझ में आया ? आहा...हा...! उसमें सागरोपम रहना होता है। भूल गया, परन्तु वह नहीं है ? भाई ! आहा...हा...! एक रात्रि कठिनता से जाए तो इसे कैसा लगता है ? अरे...! कोई नहीं और रात्रि ऐसी कठिनाई में गयी, तड़फड़ाहट मार-मारकर गयी। प्रातःकाल निकाला - यह मेरा मन जानता है - ऐसा कितने ही कहते हैं न ? भाई !

एकबार मास्टर कहते थे, हाँ ! मास्टर अकेले रहते थे। एकबार कहते थे। पूरी रात्रि ऐसा होता है। सब सोते हों, सोते हों और जागे तो भी उसे करे क्या परन्तु अन्दर ? यह मनुष्य की बात तो साधारण है। यहाँ तो नरक में लोहे का गोला ... मेरुजितना एक करे, उस उष्णता में डाले तो जैसे घी का पीण्ड पिघल जाता है, ऐसे उसकी गर्मी में पिघल जाता है। (मेरु पर्वत की) ऊँचाई जितना पिण्ड भी पिघल जाए 'इतनी सर्दी पड़ती है कि सुमेरुके समान लोहे का गोला भी पिघल जाता है।'

‘जिस प्रकार लोक में कहा जाता है कि ठण्ड के मारे हाथ अकड़ गये...’ नहीं कहते ? ऐसा वहाँ शरीर सर्दी के कारण अकड़ जाता है और ‘हिम गिरने से वृक्ष या अनाज जल’ जाता है। हिमगिरने पर अनाज भी जल जाता है न ! हिम पड़े तो यह बैंगन बहुत जलती है। हिम पड़े न ? बैंगन... बैंगन सब सड़... सड़... सड़... हो जाते हैं। इतनी सर्दी नरक में है। दीमक के शरीर... जैसे धूप लगे तो तड़ - तड़ हो जाए, ऐसे ये वहाँ के नारकी के शरीर सड़... सड़... हो जाते हैं, टुकड़े इकट्ठे हो जाते हैं। ओ...हो...हो...! यह भगवान याद कराते हैं। आहा...हा...! मिथ्यादर्शन के फल की बात की। मिथ्याश्रद्धा - गृहीत मिथ्यात्व या अगृहीत मिथ्यात्व; गृहीत अज्ञान या अगृहीत अज्ञान और मिथ्याचारित्र ऐसे सेवन किये अनन्तकाल में। किसी दिन इसने सम्यग्दर्शन क्या है ? कैसे प्राप्त होता है ? उसकी विधि भी कभी नहीं पकड़ी। आहा...हा...!

कहते हैं - ‘अनेक सेमर के वृक्ष है, जिनके पत्ते तलवार की धार के समान तीक्ष्ण होते हैं। जब दुःखी नारकी छाया मिलने की आशा लेकर उस वृक्ष के नीचे जाता है, तब उसे वृक्ष के पत्ते गिरकर उसके शरीर को चीर देते हैं।’ इतनी गर्मी कि लाख योजन का गोला भी गल जाता है। लो ! ‘अतिशय प्रचण्ड ठण्ड के कारण लोहे में चिकनाहट कम हो जाने से उसका स्कन्ध बिखर जाता है।’ इतनी पीड़ा... वह सर्दी की। अनन्त उष्णता, अनन्त सर्दी। देखो न ! यह हिम पड़ती है तो ये पूरे वृक्ष जल जाते हैं। ऐसी सर्दी की पीड़ा, यह शरीर सब ऐसे मुरदे जैसे रहते हैं। समझ में आया ? वर्षा में नमक पीघल जाए - ऐसे मेरु समान लोहे का गोला पिघल जाता है। यह दसवीं (गाथा पूरी) हुई।

नरकों में अन्य नारकी, असुरकुमार तथा प्यास का दुःख

तिल-तिल करैं देहके खण्ड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचण्ड;
सिन्धुनीर तैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय।।११।।

अन्वयार्थ :- [उन नरकों में नारकी जीव एक-दूसरेके] (देह के) शरीर के (तिल-तिल) तिल्लीके दाने बराबर (खण्ड) टुकड़े (करें) कर डालते है [और] (प्रचण्ड) अत्यन्त (दुष्ट) क्रूर (असुर) असुरकुमार जातिके देव [एक दुसरे के साथ] (भिड़ावै) लड़ाते हैं; [तथा इतनी] (प्यास) प्यास [लगती है कि] (सिन्धुनीर तैं) समुद्रभर पानी पीनेसे भी (न जाय) शांत न हो, (तो पण) तथापि एक बूँद एक बूँद भी (न लहाय) नहीं मिलती।

भावार्थ :- उन नरकोंमें नारकी एक-दूसरे का दुःख देते रहते हैं अर्थात् कुत्तों की भाँति हमेशा आपसमें लड़ते रहते हैं। वे एक-दूसरेके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं, तथापि उनके शरीर बारम्बार पारेकी* भाँति बिखरकर फिर जुड़ जाते हैं। संक्लिष्ट परिणामवाले अम्बरीष आदि जातिके असुरकुमार देव पहले, दुसरे तथा तीसरे नरक तक जाकर वहाँ की तीव्र यातनाओंमे पड़े हुए नारकियोंको अपने अवधिज्ञानके द्वारा परस्पर बैर बतलाकर अथवा क्रूरता और कुतूहलसे अपसमें लड़ाते हैं और स्वयं आनन्दित होते हैं। उन नारकी जीवों को इतनी महान प्यास लगती है कि मिल जाये तो पूरे महासागर का जल भी पी जायें तथापि तृषा शांत न हो; किन्तु पीनेके लिये जल की एक बूँद भी नहीं मिलती ॥११॥

‘नरक में अन्य नारकी, असुरकुमार तथा प्यास

का दुःख।’ देखो ! यहाँ काटते हैं, देखो ! है न ? ग्यारह आती है न यह ? वृक्ष और यह सब किया है, हाँ ! टुकड़े टुकड़े करते हैं। देखो ! हाथ कट जाता है। वह उपर से पड़ता है और सेमर के पत्ते ? कन्धा कट जाता है, पेर कट जाता है, आधा सिर कट जाता है, नाक कट जाती है। एक



* पारा एक धातु के रस समान होता है। धरती पर फेंकने से वह अमुक अंशमें छार-छार होकर बिखर जाता है। और पुनः एकत्रित कर देनेसे एक पिण्डरूप बन जाता है।

तो श्रद्धा कराते है कि ऐसा अनन्तबार हुआ है। यह कल्पित बात नहीं है। तुझे ऐसा अनन्तबार हुआ, बापा ! तू भूल गया, इसलिए कही वस्तु चली जाएगी ? अनादिका आत्मा है।

मुमुक्षु :- रविवार...

उत्तर :- नरक में एक समय का रविवार नहीं आता। अनन्त-अनन्त दुःख ! इसने निरन्तर खोटे परिणाम किये, निरन्तर खोटे भाव किये। उसके फल निरन्तर ही होते हैं। समझ में आया ?



तिल-तिल करैं देहके खण्ड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचण्ड;

सिन्धुनीर तैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय॥११॥

ऐसा कहाँ लीखा है। यहाँ नारकी किये है न ? मार-काट करते है, देखो ! हाथ कट गया है, नारकी-नारकी अन्दर ही अन्दर; वह असुरदेव खड़ा है। फिर नारकी नारकी को (मारते हैं।) वह उसका सिर काटता है, उसका हाथ काटता है, उसका वह काट देता है। है ? यहाँ होता हे न मनुष्य को ? मनुष्य-मनुष्य में नहीं होता ? काट देते हैं, चीर देते हैं। ओ...हो...हो...!

संवत् १९९४ में एक ब्राह्मण था। (एक भाई) कहते थे - काच्छियों और ब्राह्मणों में खेत के लिये बड़ी लड़ाई हुई। काछी और ब्राह्मण बड़े लट्ट जैसे हों ! तेरह चोट मारी सब टुकड़े हों ! घाव हुआ घाव ! खून तो ऐसा बहता जाए। बाजार में निकला तो ऐसा खून का प्रवाह निकले बलशाली व्यक्ति न, ऐसे का ऐसा वहाँ से घर जाकर फिर पड़ा। लहुलुहान... लहुलुहान...! यह तो अनन्तवें भाग की पीड़ा है। नरक में तो बापू ! उससे अनन्तगुनी भाई ! अनन्तानुबन्धी की कषाय तीव्र हे न ? हैं ? अनन्तानुबन्धी का क्रोध, अनन्तानुबन्धी का लोभ आहा...हा...! मिथ्यात्वस्पी

अनन्त, उसे अनुबन्ध करके जो विकार उत्पन्न करता है, (उसके फल में) उसके संयोग में चीखकर पुकारता है; एक पल का भी सुख नहीं है।

धर्म प्राप्त करना दुर्लभ है। ऐसी-ऐसी गति में भटकते हुए यह धर्म कुछ पाया नहीं। आचार्य महाराज ने 'बोधिदुर्लभ भावना' में यह सब वर्णन किया है। 'स्वामी कार्तिकिय' ! धर्म, यह कहीं लौकिकमें साधारण मानते हैं - ऐसी चीज़ नहीं है। अलौकिक आत्मा अन्दर, भगवान आत्मा, अकेला ज्ञान का सागर प्रभु है। जैसे यह दुःख के सागर में नरक में भटका है, वैसा ही भगवान अन्दर ज्ञान का सागर है। उस ज्ञान के सागर में... उसमें कहीं आया था न ! सवेरे का याद आया था 'परखे गुण की थैली' - ऐसा कहीं आया था, हाँ ! कही आया था। सवेरे फिर ऐसा पाठ आया था - 'परखे गुण की थैली'। कहीं आया अवश्य था। भजन में कहीं, चाहे जहाँ क्या पता पड़े बहुत जगह होता है। यह गुण की थैली आत्मा। स्मयों की थैली भरी होती है या नहीं ? चावल की थैली, स्मयों की थैली। ऐसे ही यह गुण की थैली। अकेले अनन्त रत्न - ज्ञान, दर्शन, आनन्द की थैली आत्मा है। 'परखे' (अर्थात्) उसकी परीक्षा करे तो उसे सम्यग्दर्शन होवे तो उसके जन्म-मरण मिटें तो यह दुःख मिटे, वरना तो मिटना नहीं है। कहो, समझ में आया ? 'परखे गुण की थैली। यह परीक्षा कर, बापा ! ऐसा तो तूने भान बिना सब किया। दुनिया की परीक्षा की। हीरा, माणिक की की और वह की परन्तु आत्मा की परीक्षा नहीं की।

कहते हैं - '(उस नरक में नारकी जीव एक-दूसरे के) शरीर को -' देखो ! 'शरीर के तिल के दाने जैसे टूकड़े कर देते हैं...' टूकड़े... टूकड़े... टूकड़े... समझ में आया ? एकबार एक व्यक्ति 'मुम्बई' में रास्ते में जा रहा था। वहाँ एक व्यक्ति भुजिया करता था। कसाई... कसाई...! वह पच्चीस, पचास, सो मुर्गी के अण्डे ऐसे-ऐसे बच्चे छोटे; उन्हे जरा ऐसा आटा डाले तो नजदीक आवे। पूरा हाथ में लेकर उसकी टांगे तोड़ दी, चने का आटा लपेटकर एक बच्चे का एक भुजिया (बनाता था।) एक व्यक्ति निकला। (उसने देखा) यह क्या करता है ? एक-एक इतना बच्चा; अण्डा टूट गया और मुर्गी का इतना बारीक बच्चा; पैर तोड़ दे। पूरा लेकर चने के आटे में तल डाले। कीमत ले रूपये का सेर। यह तो पहले की बात है हाँ ! पचास-साठ वर्ष पहले की। लो ! यह तिर्यक के ऐसे तो प्रत्यक्ष दुःख है। वह आगे कहेंगे हाँ ! वह तो तुम प्रत्यक्ष देखते

हो। समझ में आया ? भूल जाता है।

(यहाँ कहते हैं) तिल-तिल जितने टूकड़े करते हैं। ‘अत्यन्त क्रूर असुरकुमारजाति के देव, (एक-दूसरे के साथ भिड़ाते हैं।)’ देखो ! आया है, भिड़ाते हैं, देखो ! यहाँ काठी फुरसत में होते हैं न ? शाम को बैठकर फिर पाड़ों को लड़ाते हैं, मुर्गों को लड़ाते हैं; मुर्गे लहुलुहान हो जाते हैं, पाड़ो होते हैं और फिर बैठे-बैठे देखते हैं। ऐसे यह असुरकुमार भी नारकियों को परस्पर भिड़ाते हैं; बैठे-बैठे देखते हैं। काठी समझते हैं ? काठी होती है न ? ऐसे फुरसत से बैठते हैं, कुछ काम नहीं। पाड़ा लाकर फिर सिर में मारते हैं। लहुलुहान एक-दूसरे, हों ! अर्धमृतक जैसे हो जाते हैं। देखते हैं। ऐसे ही नारकियों को परस्पर लड़ाकर असुरकुमार भिड़ाते हैं, अन्दर पीड़ा करते हैं। आहा...हा...! असुरकुमार एक-दूसरे को लड़ाते हैं।

‘इतनी प्यास (लगती है कि) समुद्रभर पानी पीने से भी शान्त नहीं हो सकती...’

सम्पूर्ण स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्य योजन में पानी भरा है। अन्तिम समुद्र है न ? असंख्य योजन में मीठा पानी भरा है, हाँ ! उसे दे तो कड़ाई में एक बिन्दु पड़े - इतनी प्यास लगती है। इतना पानी (पीने की प्यास लगती है) परन्तु एक बूँद नहीं मिलता। प्यास इतनी कि पूरा समुद्र देवे तो भी बुझे नहीं। यह अतिशयोक्ति होगी ? कारण है, प्रभु ! तेरे स्वर्ष में अनन्त शान्ति, आनन्द है; उससे विरुद्ध पड़ा हुआ कषायभाव, ऐसा तीव्र, ऐसा तीव्र की जिसकी तृषा के दुःखों का (पार नहीं है)। तृषा तो संयोग से बात की है परन्तु उसमें इतनी तृषा और इतने ममता के परिणाम हुए हैं। हाय... हाय... अरे...! यह पानी बिना कैसे निकाला ? ३३ सागर निकाले। कितने ?

एक सागरोपम में दश क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपम और एक पल्योपम में असंख्यात अरबों वर्ष ! अब यह तो इतना है वहाँ, ३३ सागर अर्थात् (क्या) ? ऐसे तो अनन्त तेतीस सागर एक नरक में किये। समझ में आया ? और एक नरक में भी जाए और फिर वापस जाए - ऐसे लगातार जाए तो पहले नरक में आठ बार जाए, भाई ! समझ में आया ? पहला नरक है न ? वहाँ से निकलकर दूसरी बार, तीसरी बार लगातार जाए तो पहले नरक में आठ बार जाए। दूसरे नरक में लगातार सात बार जाए। तीसरे में छहबार; चौथे में पाँच बार; पाँचवे में चार बार, समझ में आया ? छठवें

में तीन बार और सातवे में दो बार। सातवें नरक का नारकी लगातार दो बार जाता है। वें तीस सागर के दुःख भोगकर फिर पशु होता है, फिर मरकर वहाँ जाता है। समझ में आया ? भगवान के ज्ञान में मित्यादृष्टि के ऐसे भव उसने अनन्तबार किये, (यह जाना गया है।)

पहले नरक में से कठिनाईसे एक सागर से निकले, वहाँ फिर दूसरी बार जाए। एक अन्तर्मुहूर्त का पशु आदि का भव करे, हाँ ! भाई ! पहले नरक में एक सागरोपम के दुःख। जघन्य दस हजार वर्ष; उत्कृष्ट एक सागर; जिसकी दश क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपम की स्थिति। जिसमें दुःख की इतनी पीड़ा कि जिसमें सर्दी (इतनी) कि एक मेरुपर्वत (जितना) लोहे का गोला गल जाए। उसमें इसने एक सागर व्यतीत किया। वहाँ से निकलकर अन्तर्मुहूर्त का कोई तिर्यच हुआ। समझ में आया ? मच्छ। अन्तर्मुहूर्तमें वापस वहाँ आया। ऐसे-ऐसे लगातारपहले नरक में आठभव (किये) समझ में आया ? ऐसे दूसरे नरक की तीन सागर की स्थिति है न ? सात भव लगातार (करे), वहाँ से मरकर पशु और पशु में से वहाँ आवे, मनुष्य में आवे और मनुष्य मरकर वहाँ जाए। आहा...हा...!

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह तो कहते हैं। बाकी समझ ले, आत्मा का ज्ञान कर, आत्मा की कीमत कर; दूसरी कीमत छोड़ दे, उसके लिए तो यह बात चलती है। शरीर मेरा और पैसा हमारा और धूल हमारी... अभी तो आगे कहेंगे। समझ में आया ? किसी को कुछ अधिक पैसे हो गये हों तो उसकी जलन, अपने को कम होवे तो उसकी जलन। किसी का पुत्र होवे और उसे अच्छा होवे तो उसकी जलन, अपना पुत्र खराब होवे तो उसकी जलन। यह तो जलन की कितनी बात करना इसे ? भाई ! बाप लिखे कि भई ! ऐसा मत करो तो यह कोई माने ? लड़के स्वतन्त्र है या नहीं ? पाप करने में।

मुमुक्षु :- कहा करते हैं न ?

उत्तर :- कौन कहा करता था ? कोई नहीं करता। यह तो उसे ठीक लगे तो मानता है। तुम्हें मानता है वह ?

कहते हैं - ओ...हो...हो...! यह नरक के दुःख ! आहा...हा...! आठ, सात, छह, पाँच, चार, तीन, दो, एक - ऐसे एक बार नहीं; ऐसे नारकी के भव अनन्तबार किये और अनन्तबार

पशु में आकर, मनुष्य में आकर वहाँ गया। भाई ! परन्तु भूल गया। नहीं ? यह बंगला देखकर ! आहा...हा...! भाई ! परन्तु तू है या नहीं ? है तो अनादि का है या नया है ? यदि अनादि का है तो कहीं रहा है या नहीं ? कहाँ रहा है ? पहली बात तो यह लिखी है यहाँ तो। मिथ्यादर्शन के कारण कहाँ रहा है ? रहा है या नहीं ? तू है या नहीं ? कहाँ रहा ? ऐसे नरक के अन्दर। आहा...हा...!

तिल-तिल जितने टुकड़े करते हैं। समझ में आया ? तथापि फिर वे टुकड़े टुकड़े हो जाए - ऐसा स्वभाव है या नहीं ? इकट्ठे हो जाए - ऐसा स्वभाव है। तृषा इतनी लगती है, तथापि एक बूँद पानी नहीं मिलता। असंख्यात समुद्रपानी के आवें तो भी तृषा बुझे नहीं, इतनी तृषा और मिले नहीं एक बूँद। कहो, यह बात सत्य होगी ? है ? भाई ! उसके (आत्मा के) आनन्द की अन्तता क्या कहना ! ऐसे ही उसके उल्टे दुःख की अनन्तता क्या कहना ? यहाँ तो ऐसा वर्णन करते हैं। समझ में आया ? अनन्तानुबन्धी शब्द का प्रयोग किया है न ? यह कारण है। भगवान आत्मा अनन्त शान्त और आनन्द का रस है, उसे भूलकर 'पर मेरे और मैं उनका' ऐसे अनन्त संसार की तीव्रता के कषाय परिणाम, उसकी तृषा के दुःख अनन्त ही होते हैं। आहा...हा...! परन्तु कुछ माप करना ही नहीं आता। क्या कहे ? समझ में आया ?

टुकड़े-टुकड़े करते हैं, वापस मिल जाते हैं। **‘संक्लिष्ट परिणामवाले अम्ब और अम्बरीष...’** वहाँ के देव है, परमाधामी। जैसे यहाँ जेलर होते हैं न ? ऐसे वहाँ होते हैं। तीन नरक तक होते हैं, हाँ ! फिर तो नारकी परस्पर (लड़ते है।)... **‘देव पहले, दूसरे, तीसरे नरक तक जाकर, वहाँ के तीव्र दुःखी नारकियों को, अपने अवधिज्ञान से वैर बताकर अथवा क्रूरता और कौतूहल से आपस में लड़ाते हैं...’** देख, यह तेरे बाप को ऐसा किया था, हाँ ! तुझे पता नहीं, तुझे भी पूर्व में मारा डाला था। देखो ! इसने तुझे ऐसा किया था, तुझे वहाँ कुएँ में धकेल दिया था, अग्नि में डाल दिया था, सेक दिया था। देख यह। वह यह मनुष्य, देख यह नारकी - ऐसा करके असुरकुमार (उन्हें) आपस में लड़ाते हैं। कुत्तों की तरह.. जैसे कुत्ते इकट्ठे होते हैं, देखे न ? आहा...हा...! अक कुत्ती को आठ कुत्ते लगे थे, एक बार ऐसे, पींख डालते हैं, पींख डालते हैं कुत्ते। ऐसे कुत्तों की तरह नारकी परस्पर लिपते हैं।

‘स्वयं आनन्दित होते हैं।’ कौन ? वे देव प्रसन्न होते हैं। आहा...हा...! एकबार हमारे यहाँ

‘चमार’ गाँव है न ? ‘पालेज’ के पास, अभी ‘नदीपुरा’ नाम दिया है। ‘पालेज’ से चार-छह गाँवा दूर है। एक बार गये थे। एक गोरा (अंग्रेज) आया था। बारह हिरण... एक हिरण को ऐसे मारा; मारकर फिर ऐसे कूदा, ऐसा प्रसत... ऐसा प्रसत... ऐसा प्रसत... आहा...हा...! देखो न ! यह तो कुकर्म (करते हैं।) ‘चमार’ नाम का गाँव था। ‘पालेज’ से ‘भरूच’ के बीच आता है। वहाँ एक बार गये थे। वहाँ बात करते थे, एक गोरा आया था। हिरण को मारा। सब मुसलमान, पूरा गाँव मुसलमान। हिरण को मारा और ऐसे वह हिरण उछला तो स्वयं साथ में उछला। आहा...हा...! वह नारकी जैसा है या नहीं ? क्या है ? उससे तो अनन्तगुनी पीड़ा वहाँ नरक में है। ऐसे जीव वहाँ हर्षित होते हैं। कौन ? वे मारनेवाले, लड़ानेवाले। आहा...हा...!

‘नारकी जीवों की इतनी प्यास लगती है कि यदि मिलजाए तो एक महासागर का पानी पी जाए...’ मिलती नहीं एक बूँद। है न ? **‘तो पण एक न बूँद लहाय।’** पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती। आहा...हा...! इतनी प्यास ! यहाँ तो एक जरा (देर) इसे हो जाए तो तड़फड़ता है। कोई पानी नहीं लाता, इतना-इतना कहते हैं तो कोई सुनते नहीं हमारा वचन... (कल) तक तो सब पालते थे परन्तु अब यह जरा हमारा शरीर शिथिल पड़ गया, वहाँ हो रहा ? हम चले गये ? मर गये ? - ऐसा कहते हैं या नहीं ? कहते हैं, कहते हैं। मैंने तो दूसरों की बात की है, हाँ ! दूसरों की बात थी। ऐसा जरा दो-चार बार बुलावे और जवाब नहीं दिया (तो कहे) यह लो, हमारा वचन क्या है ? अभी तक तुम यह सब करते थे, और हम शिथिल पड़े, खटिया पर पड़े वहाँ ऐसा करते हो ? आहा...हा...! कहो, भाई ! अज्ञानी मूढ़ भ्रम में हैरान हो गया। भान नहीं है कि मैं मेरे कारण दुःखी हूँ; किसी (अन्य) के कारण नहीं। ऐसे नरक के अन्दर... एक बूँद भी नहीं मिलती। आहा...हा...! समझ में आया ?

यह यहाँ भिड़ते हैं, देखो ! यह क्या कहते हैं ? चिर-प्यास। पेट में प्यास लगी है न ? वह आकर भाला मारता है। भाला मारता है, देखो ! यहाँ काट डालता है, और यहाँ भाला मारता है। हाय... हाय.. मुझे प्यास लगी है तो वह (दूसरा) कहता है, ले ! लोहे का उबलता हुआ पानी (रस) पिलाता है, लोहे का उबलता पानी ! जैसे कथीर का होता है न कथीर ? गर्म-गर्म रस। अरे...! तेजाब ! उससे अनन्तगुना तेज तेजाब बनाकर वह इसके मुँह में पिलाता है। कहो, भाई ! है ! यह सब इसने भोगा है। यहाँ जरा हो वहाँ ऐं... ऐं... हो जाता है, बापा ! और सच्ची श्रद्धा

करनी हो तो कहे, अरे...!
 ऐसा होगा, अरे...! अमुक
 होगा, दुनिया रोकेगी, जगत
 रोकेगा, ऐसा रोकेगा। यह
 करने जाऊँगा तो अपने
 लड़को का विवाह नहीं करने
 देंगे, लड़कियां नहीं देंगे,
 अमुक नहीं रहेगा, अमुक नहीं
 देगा, अकेला हो जाऊँगा...!



मर गया... आह... हा...!

वह हाथ जोड़ता है, हाँ ! देखो ! ऐसे हाथ जोड़ता है। भाई साहब ! रहने दो न ! उसका मुँह
 ऐसा-ऐसा होगा ? भूत जैसा। असुरकुमार उसे भिड़ाता है, मारता है। लोहे का तीव्र (रस)
 करके (कहे) ले, पी यह। भाई साहब ! मुझे तो प्यास लगी है। यहाँ कहाँ पानी था अभी ? यह तो
 यह है। हाय... हाय... कहता है। ऐसे दुःख अनन्तबार सहन किये हैं।

नरकोंकी भूख, आयु और मनुष्यगति प्राप्तिका वर्णन

तीनलोकको नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय;
 ये दुख बहु सागर लौं सहै, करम जोगतैं नरगति लहै ॥१२॥

अन्वयार्थ :- [उन नरकोंमें इतनी भूख लगती है कि] (तीनलोक को) तीनों लोक
 का (नाज) अनाज (जु खाय) खा जाये तथापि (भूख) क्षुधा (न मिटै) शांत न हो।
 [परन्तु खाने के लिये] (कणा) एक दाना भी (न लहाय) नहीं मिलता। (ये दुख) ऐसे
 दुःख (बहुसागर लौं) अनेक सागरोपम काल तक (सहै) सहन करता है, (करम

जोगतैं) किसी विशेष शुभकर्मके योगसे (नरगति) मनुष्यगति (लहै) प्राप्त करता है।

भावार्थ :- उन नरकों में इतनी तीव्र भूख लगती है कि यदि मिलजाये तो तीनों लोक का अनाज एक साथ खा जाये तथापि क्षुधा शांत न हो; परन्तु वहाँ खाने के लिये एक दाना भी नहीं मिलता। उन नरकों में यह जीव ऐसे अपार दुःख दीर्घकाल (कमसे कम दस हजार वर्ष और अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम काल तक) भोगता है। फिर किसी शुभ कर्मके उदय से यह जीव मनुष्यगति प्राप्त करता है।।१२।।

अब, 'नरक की भूख, नरक की आयु और मनुष्यगति प्राप्ति का वर्णन।' अब, यहाँ से मनुष्य लेते हैं। देखो ? नरक में से मनुष्य, उस प्रकार शैली है। समझ में आया ? उसमें भी ऐसा है।

तीनलोक को नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय;

ये दुख बहु सागर लौं सहै, करम जोगतैं नरगति लहै।।१२।।

ऐसे दुःख जहाँ सहन किये। नरक में इतनी भूख लगती है (कि) तीन लोक के अनाज को 'खाजाए तो भी भूख नहीं मिटती।' तीन लोक का अनाज कहा है। यदि पूरी दुनिया का अनाज पकाकर दे तो भी उसकी भूख नहीं मिटती। ओ...हो...हो...! सब अनन्तता की ही बात। बापू ! परन्तु तू अनन्त स्वरूप है न ! उससे विरुद्ध गया तो सब वेदन अनन्त ही होता है। समझ में आया ? संयोग भले थोड़ा हों, परन्तु अन्दर प्रतिकूलता की वेदना अनन्त ही होती है। आहा...हा...!

'खाने को एक दाना भी नहीं मिलता...' इतनी भूख की पीड़ा। तीन लोक का अनाज पकाकर दे तो स्वाहा (हो जाए।) अग्नि में जैसे कण डाले ऐसे स्वाहा हो जाए, परन्तु एक कण नहीं मिलता। 'ऐसा दुःख (बहुसागर लौं...)' बहु सागर - ३३-३३ सागर। पहले नरक में एक सागर, तीन सागर, सात सागर - ऐसे करते-करते दस सत्रह, बाईस, तेतीस (सागर-इतने काल) तक सहन करता है। ऐसे करते हुए कभी कदाचित् ऐसा शुभभाव हो जाए, कोई विशेष शुभ परिणाम; समझे न ? उसके कारण नरगति - मनुष्यभव मिलता है।

अब, इस मनुष्यभव में भी मिथ्यादर्शन के कारण, आत्मज्ञान के बिना कैसे दुःख प्राप्त किये, उसका वर्णन करेंगे...।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत् २४९२, पोष कृष्ण १४, गुरुवार
दि. २०-१-१९६६, श्लोक १२ से १६, प्रवचन नं.४

१२वीं गाथा का भावार्थ। क्या चलता है यह ? अनादिकाल से मिथ्यादर्शन के जोर से मिथ्यादर्शन-मिथ्याश्रद्धा के कारण से आत्मा के स्वरूप के मान बिना, इसने अनन्तबार मिथ्यात्व का सेवन करके चार गति के दुःख अनन्तबार सहन किये हैं। उसमें ग्रन्थकार ने निगोद से शुरुआत की है। आचार्यने (भी) निगोद से शुरु किया है। निगोद के अनन्त दुःख (सहन किये हैं।) वहाँ से निकलकर तिर्यच (में आया), उसके भी अनन्त दुःख (सहन किये हैं)। यहाँ से तिर्यच में से नारकी की बात है। अन्तिम बात है, देखो !

‘उन नरकों में इतनी तीव्र भूख लगती है...’ भूख इतनी है कि **‘यदि मिल जाए तो तीनों लोकों का अनाज खा जाए... परन्तु वहाँ खाने के लिए एक दाना भी नहीं मिलता।’** यहाँ ज़रा पन्द्रह मिनट, दस मिनट देरी हो जाए तो थनगनाट हो जाए। भाई ! गर्म का ठण्डा हो जाए। वहाँ अनन्तबार ऐसे दुःख सहन किये हैं। एक अनाज का कण नहीं मिलता और तीन लोक का अनाज दो तो एक बिन्दु की तरह समाप्त हो जाए - इतनी भूख (लगती है।) आहा...हा...! यह अतिशयोक्ति नहीं है, हाँ ! कोई ऐसा माने (तो) यह अतिशयोक्ति नहीं है। मिथ्याश्रद्धा के फल में ऐसे (दुःख) अनन्तबार (सहन किये हैं।) अनादिकाल का (आत्मा) है। अनन्तबार दुःख सहन किये हैं। देखो !



‘उन नरकों में यह जीव ऐसे अपार दुःख दीर्घकाल...’ शास्त्र तो ऐसा कहता है कि

पहले नरक की आयु दस हजार वर्ष है। वह दस हजार वर्ष (में) अनन्त बार उत्पन्न हुआ। पहले नरक में दस हजार वर्ष और एक समय की आयु में अनन्तबार उत्पन्न हुआ। समझ में आया ? ऐसे दस हजार वर्ष और दो समय में अनन्तबार उत्पन्न हुआ, ऐसे तीन, चार, पाँच, छह, सात... संख्य, असंख्य अन्तर्मुहूर्त फिर उसके समय-समय में वह एक सागर की स्थिति के जितने समय होते हैं, उतने एक-एक समय में अनन्तबार नरक में उत्पन्न हुआ है। इसमें समझ में आया या नहीं ?

नरक के अन्दर एक दस हजार वर्ष का आयुष्य और सातवें का उत्कृष्ट (आयुष्य) तैतीस सागर हैं तो एक-एक समय के एक दश हजार (वर्ष) अनन्तबार; दश हजार वर्ष और एक समय अनन्तबार; चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ, अन्तर्मुहूर्त ऐसे करते-करते पल्योपम और सागरोपम और ऐसे जाए तैतीस (सागर)। उतने समय होते हैं, उन समय-समय की स्थिति में अनन्तबार परिभ्रमण करनेवाला प्रत्येक जीव उत्पन्न हुआ है। कहो, समझ में आया कुछ ? उसमें से किसी समय शुभभाव हो जाते हैं। समझ में आया ? तो **‘शुभकर्म के उदय से वह प्राणी मनुष्यगति को प्राप्त करता है।’** उसमें से शुभकर्म के कारण मनुष्यगति (में उत्पन्न होता है) शुभ कर्म अर्थात् उसका मूलभाव-शुभभाव हुआ, उससे मनुष्यपना पाता है।

अब मनुष्यपने के दुःख का वर्णन तीन का दुःख हो गया। निगोद, उसमें से तिर्यच, उसमें से यह नारकी। नारकी... नारकी !

मनुष्यगतिमें गर्भनिवास तथा प्रसवकालके दुःख

जननी उदर वस्यो-नव मास, अंग सकुचतैं पायो त्रास;

निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर।।१३।।

अन्वयार्थ :- [मनुष्यगतिमें भी यह जीव] (नव मास) नौ महीने तक (जननी) माता के (उदर) पेटमें (वस्यो) रहा; [तब वहाँ] (अंग) शरीर (सकुचतैं) सिकोड़कर रहने

से (त्रास) दुःख (पायो) पाया, [और] (निकसत) निकलते समय (जो) जो (घोर) भयंकर (दुख पाये) दुःख पाये (तिनको) उन दुःखों को (कहत) कहने से (और) अन्त (न आवे) नहीं आ सकता।

भावार्थ :- मनुष्यगति में भी यह जीव नौ महीने तक माता के पेट में रहा; वहा; शरीर को सिकोड़कर रहने से तीव्र वेदना सहन की, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कभी-कभी तो माता के पेट से निकलते समय माता का अथवा पुत्र का अथवा दोनों का मरण भी हो जाता है।।१३।।

मनुष्यगति में गर्भ निवास और प्रसवकाल के दुःख।

जननी उदर वस्यो-नव मास, अंग सकुचतै पायो त्रास;

निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर।।१३।।

‘(मनुष्यगति में भी यह जीव) नौ महीने तक माता के (उदर में)...’ एक बार रहा। समझ में आया ? एक बार रहा अर्थात् ? नव महीने तक एक बार, दूसरी बार नव (महीने) - ऐसे अनन्त-अनन्त बार नव महीने तक मनुष्य के गर्भवास में रहा। शास्त्र तो ऐसा कहते हैं कि माता के पेट में पौधे के रूप से रहे तो एक ही भव में बारह वर्ष तक वहाँ रहता है। कोई दृष्टान्त है ? तुम डॉक्टरने नहीं देखा ? पुस्तक में आता है परन्तु कुछ नहीं बोलते। दो-तीन वर्ष छह महीना अधिक वर्ष, दो वर्ष नहीं आता ? आता है। तीन वर्ष तो हमने देखा है, तीन वर्ष तो हमने देखा है। ‘सीतापुर’ में एक बाई थी, तीन वर्ष तक ऐसे का ऐसा बालक पेट में। शास्त्र तो बारह वर्ष कहते हैं। यह तो हमारे वहाँ तो दृष्टान्त था। यहाँ ‘सीतापुर’ है न ? ‘वढवाण केम्प’ के पास। बहुत वर्ष पहले गये थे। वह बहिन बिचारी व्याख्यान में आयी थी, फिर वह कहती - यह कैसे पाप का उदय होगा ? महाराज ! सवा तीन वर्ष हुए, सवा तीन वर्ष हुए ! माता के पेट में एक का एक (जीव) सवा तीन वर्ष (रहा।) शास्त्र तो कहता है कि एक बार एक भव की स्थिति पेट में बारह वर्ष की होती है; एक भव की और कायस्थिति चौबीस वर्ष की होती है। वह का वही जीव मरकर वापस

वहाँ जाए और फिर पौधे ले तो बारह वर्ष रहे। पौधे अर्थात् प्रसव न हो, वह ऐसा का ऐसा रहे। माता के पेटमें ऐसा का ऐसा रहे, वह पौधा कहलाता है। नव महीने में जन्म होना तो सबको साधारण है। वह आता है, 'भगवती सूत्र' में आता है। उसमें, शास्त्र में आता है। इतने वर्षों में सुना नहीं ?

मुमुक्षु :-

पूज्य गुरुदेवश्री :- हाँ, बहुतों को होता है। सुना है। यह तो 'भगवती सूत्र' में (आता है।) पौधे अर्थात् ऐसा का ऐसा जीव वहाँ रहे। बारह वर्ष तक एक शरीर। मरे नहीं, बारह वर्ष में जन्म हो और कदाचित् बारह वर्ष में बाहर निकल जाए और वापस वह का वह जीव वहाँ जन्मे। फिर बारह वर्ष दूसरे। चौबीस वर्ष तक माता के पेट में एक कायस्थितिरूप रहे।

मुमुक्षु :- बढ़े नहीं ?

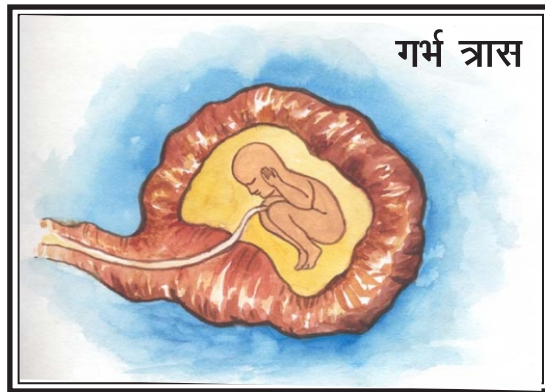
उत्तर :- नहीं, उतना ही बढ़े। बढ़े नहीं, उतना का उतना रहे। पेट कहाँ से फाटे ? तुम्हें डॉक्टर को भी पता नहीं ? आता है आता है, शास्त्र में आता है। हमने तो पहले 'भगवती' पढ़ा था। (संवत्) १९७१, पहले १९७१ में 'भगवती (सूत्र)' पढ़ा था। '७१ कितने वर्ष हुए ? है ? एक्यावन। तब से हमें तो पता है। हैं ? आता है, आता है। यहाँ तो श्वेताम्बर का एक-एक (शास्त्र) देखा है। सब जगह पौधा (होता है।) बहुत दृष्टान्त भी है। बारह वर्ष तक एक माता के पेट में रहे। तथा यह डॉक्टर कहता है, बढ़े नहीं ? बड़ा लड़का हो जाता है न ? नहीं, नहीं; उसमें सिकुड़कर रहता है। देखो ! यहाँ कहेंगे, देखो !

'जननी उदर वस्यो नव मास, अंगसकुचतै पाई त्रास।' देखो ! यह लिखा है। यह दृष्टान्त दिया है न ? देखो ! यहाँ **'अंग सकुचतै।'** सिकुड़कर ऐसा (पड़ा है।) माता के पेट में होता है न ? ऐसा ! आहा...हा...! (उल्टे सिर) इसमें तो बराबर नहीं किया। उल्टे सिर नव महीने। बारह-बारह वर्ष (तक रहे।) बारह-बारह वर्ष ! और एक साथ (लगातार उपजे तो) चौबीस वर्ष (रहता है।) एक माता के पेट में वह का वह जीव चौबीस वर्ष रहता है। इसलिए कितने ही देव तो... आगे देव में आयेगा। कितने ही देवों को, मिथ्यादृष्टि देव हैं, उस देव का आयुष्य जब लगभग (छह) महीने बाकी रहे, तब उसे ख्याल आता है कि माला मुरझाए, वस्त्र,

आभूषण मुरझाए... अरे...! मैं कहाँ जाऊँगा ? अर..र ! यह मनुष्य के पेट में नव महीने ! आहा...हा...! देव ! उसमें कितने ही वैमानिक देव होते हैं, हाँ ! यहाँ मिथ्यादृष्टि की बात है न ! सम्यग्दृष्टि की बात यहाँ नहीं है। हाँ वैमानिक की भी मिथ्यादृष्टि की बात लेते हैं। भाई ! नव अनुदिश और अनुत्तर की बात नहीं लेते। उसका कारण है कि वे सम्यग्दृष्टि है; यहाँ तो मिथ्यादृष्टि की बात है। मिथ्यादृष्टि तक की मर्यादा की बात लेती है न ! आगे नहीं लेती है - सम्यग्दृष्टि है, नव अनुत्तर, नव अनुदिश और पाँच वैमानिक। समझ में आया ? क्या कहलाता है वह ? अनुत्तर विमान। अनुदिश, अनुत्तर विमान। कुछ समझ में आया ?

उसमें रहे तो देव की ऐसी भी भावना कभी हो जाती है, मिथ्यादृष्टि है तो हाय...हाय...! रोता है, बहुत रोता है। अर...र...र...! यहाँ से जाऊँगा। इसकी अपेक्षा तो एकेन्द्रिय में उत्पत होऊँ तो अच्छा ! ऐसा विचार (करता है।) एकेन्द्रिय के विचारों में हिलोरे चढ़ें तो सीधा एकेन्द्रिय में (जाता है।) वैमानिकदेव, दूसरे देवलोक तक का मरकर एकेन्द्रिय में जाता है। ऐसे अनन्त अवतार ऐसे भाव से किये हैं। मिथ्यादर्शन के कारण, एक आत्मा का भान नहीं... समझ में आया ? मिथ्यादृष्टि सहित व्रतादि भी अनन्त बार किये, उसके फल में यह स्वर्ग आदि प्राप्त हुए और वहाँ से वापस मरकर एकेन्द्रिय में अवतरित हुआ, एकेन्द्रिय में। हाय... हाय...! सवा नौ महीने रहना; उसमें फिर किसी का पता चले कि बारह वर्ष तक अन्दर पैधे रहना... इससे तो एकेन्द्रिय में जाना ठीक। एकेन्द्रिय में अनन्तबार उत्पत हुआ। यहाँ कहाँ उसे कुछ पता नहीं होता। पता नहीं है, इसलिए वस्तु की सत्ता चली जाएगी।

कहते हैं - 'संकुचतैं...' देखो ! अन्दर संकुचन किया है न ? पेट में नौ महीने तक 'शरीर को सिकोड़कर रहने से (त्रास)...' (प्राप्त हुआ।) एक थोड़ा यहाँ शरीर दो घण्टे सिकोड़कर पड़ा रहे तो ए.... ऐसा अकड़ जाता है, ऐ... अकड़ जाता है। वह बालक नौ महीने तक पड़ा है।



अभी बालक का शरीर कोमल... कोमल... कोमल... कहीं श्वास भी कहाँ से लेता होगा ? अन्दर ही अन्दर। ऐसे भव इसने अनन्तबार किये हैं, भाई ! एक आत्मा की विपरीत श्रद्धा (के कारण से) यह अन्तमें कहेंगे, हाँ ! कब आत्मा को पाये ? ऐसी श्रद्धा और ऐसे विपरीतज्ञान में मनुष्य होवे, तब फिर ऐ... यह नीच कहेंगे।

‘निकसत जे दुःख पाये
घोर...’ उसमें से ‘निकलते
समय जो घोर दुःख पाये...’

आहा...हा...! देखो ! यही लिया है,
हों ! माता को सुलाया है और लड़के
का जन्म होता है। आहा...हा...!
शास्त्र कहते हैं कि माता ने जन्म
दिया, (उसकी) नजर तो बाद में



जाएगी परन्तु अनित्यता ने उसे गोद में ले लिया है। अनित्यता ने उसे गोद में ले लिया है। अब कब नष्ट हो जाएगा (इसका पता नहीं है।) समझ में आया ? अनित्य... अनित्य ! उसको नजर न जाए वहा मर भी जाए। यह लड़का जन्मा कैसा है (ऐसी) नजर जहाँ जाए वहाँ मर भी जाए। ऐसी स्थिति, यह स्थिति। ऐसे मनुष्य के गर्भ के दुःख, जन्म के दुःख, त्रास... त्रास... अनन्तबार हुई। मनुष्यपना प्राप्त हुआ, परन्तु धर्म प्राप्त करने की दरकार नहीं की। सम्यग्दर्शन, वीतराग परमेश्वरने कहा (वह प्राप्त नहीं हुआ।) जिस-जिस मण्डल में जन्मे, उससे अधिकपने जीना - ऐसे (भ्रम में) मर गया। दूसरे से हमकुछ बड़े होवें, ऊँचे होवें, यह होवें, अमुक होवे इसमें मर गया उसमें - जो मण्डल, जो समुदाय, जो रिस्तेदारी, जो सगे, जो परिवार, जो जाति, जो अमुक-अमुक इन सब में अपना जीवन कुछ-कुछ ठीक होवे, उसकी अपेक्षा अधिक (अच्छा होना चाहिए।), परन्तु आत्मा ‘णाणसहावादियं मुणदि आदं’ आत्मा ज्ञानस्वभाव, राग से अधिक भित है ऐसे अधिकपने का भाव इसने नहीं किया। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- प्रगति होती है न ?

उत्तर :- प्रगति किसकी ? विपरीतता की ? भान नहीं है, इसे किसकी प्रगति करना है ? बाहर की प्रगति करने की की है। इससे बढ़ें, और इससे बढ़े अधिक (होवें) या पैसे में बढ़ें या प्रतिष्ठा में बढ़ें या ढीकाना (अमुक) में बढ़ें। लड़के ठीक हो तो फिर निर्विघ्न खायेंगे। हम पचास वर्ष के होंगे और चार लड़के हैं (फिर) यह निर्विघ्न... बाद के चालीस वर्ष पद्मासन से बैठकर खायेंगे। मूढ़जीव भी ऐसा जहाँ-तहाँ ऐसे फँस गया है। कहो, समझ में आया ?

अधिक... यह तो मस्तिष्क में क्या आया ? कि यह जहाँ-जहाँ अवतरित होता है - मनुष्य हुआ, वहाँ भी बाहर आकर दूसरे से अधिकपने किसी प्रकार शरीर की महत्ता में, वाणी की महत्ता में, पण्डिताई की महत्ता में, मूर्खाई के उसमें... इस (प्रकार) अनन्त... अनन्तबार (अभिमान किया)। मकान की महत्ता में, कपड़ों की महत्ता में, पहनावे की महत्ता में, कण्ठ की महत्ता में, गायन की महत्ता में, नृत्य की महत्ता... बहुत प्रकार हैं या नहीं ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- हो, होता है। उसमें खोटी बात क्या है ? उनसे यह अपना अधिकपना मानता है न ! आहा...हा...!

एक भगवान आत्मा 'गाणसहावाधियं मुणदि आदं' - अधिक अर्थात् पृथक्क उसकी बात है, हाँ ! भगवान आत्मा, पुण्य-पाप के विकल्प ओर शरीर से पृथक् है। अपने अनन्त अनन्त गुण से भारी थैली आत्मा है, गुण की थैली है। ऐसा भगवान आत्मा, जिसमें अनन्त खान पड़ी है। अरे...! एक रत्न की थैली हाथ आवे तो निकालने को उतावला होता है। है ? भगवान आत्मा एक समय में अनन्त आनन्द रत्न की थैली, बोरी है। बोरी... बोरी ! बोरी कहते हैं न ? क्या कहते हैं ? बोरा ! यह चावल इत्यादि भरते हैं न ? आहा...हा...!

कहते है, ऐसे आत्मा की इसने दरकार नहीं की। यह अन्तिम शब्द कहेंगे, हाँ ! अन्तिम कहते है न यह ? (सोलहवीं गाथा कहते है न ?) 'सम्यग्दर्शनं बिन दुःख पाय ।' यह समझे न ? 'कैसे रूप लखे आपनो-' आयेगा, देखो ! १४वीं (गाथा में) आयेगा। 'कैसे रूप लखे आपनो' - देखो ! ऐसा कहते हैं। इसमें यह पंचायत में पड़ा है, उसमें आत्मा कौन है ? मेरा

(क्या) स्वस्व है ? निवृत्त कहाँ है यह, भाई ! सत्य है या नहीं ?

‘भयंकर दुःख प्राप्त किये। उन दुःखों का कहने से अन्त नहीं आ सकता।’ उसमें दुःख कहे थे न ! करोड़ों जीवों से भी तिर्यच के दुःख कहने से पार नहीं आता। यहाँ तो कहते हैं कि मनुष्य के इस दुःख का भी पार नहीं आता, क्योंकि आत्मा के आनन्द स्वस्व से विपरीत दृष्टि के राग-द्वेष के भाव में फँस गया है, दब गया है, उसके दुःख की क्या बात कहना ?

‘भावार्थ :- मनुष्यगति मैं भी यह जीव नौ महीने तक माता के पेट में रहा; वहाँ शरीर को सिकोड़कर रहने से तीव्र वेदना सहन की...’ यह सिकोड़कर से बात की है, हों ! निमित्त से बात की है। मूल तो वहाँ मिथ्यात्व और कषाय का जोर है और उसका इसे दुःख है, परन्तु उसके भित-भित निमित्त से उसका कथन किया है, वरना दुःख की व्याख्या तो यही है कि आत्मा के स्वस्व को भूलकर मिथ्यादृष्टि से राग और शरीर को एकरूप मानता है, बस ! यही महा दुःख है। कुछ समझ में आया ? अतीन्द्रिय आनन्द (स्वस्व) भगवान आत्मा की एकता में अतीन्द्रिय आनन्द है। उसे राग-द्वेष और विकार की एकता में अनन्त दुःख है। शास्त्रकार, निमित्त से कथन (करते हैं) और अज्ञानी निमित्त से दुःख को देखता है। यह बिच्छु आवे, उसे देखता है कि यह दुःख आया, परन्तु उस समय कषाय होती है, उसका दुःख आया, परन्तु उससमय कषाय होती है, उसका दुःख है, उसे वह नहीं जानता; इललिए आचार्यदेव ने निमित्त और संयोग से कथन [करके] जग को - संयोग से माननेवाले को इस प्रकार से समझाया है। समझ में आया ?

‘कभी-कभी तो माता के पेट से निकलते समय माता अथवा पुत्र का...’ देखो ! मरण होता है। काटकर निकालते हैं। निकालते हैं या नहीं ? किया है तुमने ? प्रसव न हो तो काटते हैं, टुकड़े करके निकालते हैं। फिर स्त्री (माँ) मर जाती है या वह (बालक) मर जाता है। यदि अन्दर रह जाए और अन्दर मर जाए तो स्त्री मर जाती है। झट निकालो। छुरी डालकर बालक के बारीक टुकड़े करते हैं। आहा...हा...! कहे ! एक महिलाको तो जितने प्रसव हों, वे टुकड़े करके ही निकालने पड़ते। एक गाँव में महिला है। जितने बालक (गर्भ में) आवे उतने टुकड़े करके निकाले। डॉक्टर कहे, अब बन्द रखो। यह जितने बालक हुए, सबको टुकड़े करके

ही निकालने पड़ते। ऐसा ही कोई पाप का उदय लेकर आये। बालक ऐसा ही (उदय) लेकर आये कि टुकड़े करके ही निकालने पड़ें। यह दशा ! अनन्त बार ऐसे टुकड़े होकर (बाहर) आया। फिर वहाँ से एकदम (मरकर) अन्यत्र वापिस जाए। ऐसे अवतार ! भगवान आत्मा के स्वस्व की कीमत (दरकार) नहीं की; अपने आनन्दस्वस्व शुद्ध चैतन्य की महत्ता की दरकार नहीं आयी और मिथ्यात्वभाव में परवस्तु की दरकार और महत्ता और महिमा आयी, यह उसके फल में (इस प्रकार) भटका - ऐसा कहते हैं। कुछ समझ में आया ?

मनुष्यगति में बाल, युवा और वृद्धावस्था के दुःख

बालपनेमें ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तस्णी-रत रह्यो;
अर्धमृतकसम बूढापनो, कैसे स्वलखै आपनो॥१४॥

अन्वयार्थ :- [मनुष्यगति में जीव] (बालपने में) बचपन में (ज्ञान) ज्ञान (न लह्यो) प्राप्त नहीं कर सका [और] (तस्ण समय) युवावस्था में (तरुणी-रत) युवतीस्त्री में लीन (रह्यो) रहा, [बूढापनो] वृद्धावस्था (अर्धमृतकसम) अधमरा जैसा [रहा, ऐसी दशामें] (कैसे) किस प्रकार [जीव] (आपनो) अपना (स्व) स्वस्व (लखै) देखे-विचारे ?

भावार्थ :- मनुष्यगति में भी यह जीव बाल्यावस्था में विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाया, यौवनावस्था में ज्ञान तो प्राप्त किया किन्तु स्त्री के मोह (विषय-भोग) में भूला रहा और वृद्धावस्था में इन्द्रियों की शक्ति कम हो गई अथवा मरणपर्यंत पहुँचे ऐसा कोई रोग लग गया कि जिससे अधमरा जैसा पड़ा रहा। इस प्रकार यह जीव तीनों अवस्थाओं में आत्मस्वस्व का दर्शन (पहिचान) न कर सका ॥१४॥

चौदह (गाथा)। 'मनुष्यगति में बाल...' अवस्था 'युवा, वृद्धावस्था के दुःख।'

बालपनेमें ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी-रत रह्यो;
अर्धमृतकसम बूढापनो, कैसे स्वलखै आपनो॥१४॥

आहा...हा...! देखो ! यहाँ मनुष्य में यह लिया, भाई ! उसमें अभी दुःख का ही वर्णन किया था। यहाँ कहते हैं...

मुमुक्षु :-

उत्तर :-- हाँ, इसलिए लिया। वहाँ भी वह मनुष्य है न ? **‘(मनुष्यगति में जीव) बालपने में...’** ‘बालपन खेल में खोया, जवानी में स्त्री में मोह्या, बूढ़ापन देखकर रोया।’ हमारे वहाँ ‘पालेज’ में छोटी उम्र में (देखा था)। मुसलमानों का रोजा का दिन आता है न ? यह क्या कहते हैं ? वह रात्रि में फकीर आता, निकलता, वह ऐसा बोलता। ‘बालपन खेल में खोया, जवानी में स्त्री में मोह्या, बूढ़ापन देखकर रोया।’ बूढ़ापा (आया), हाय... हाय... ! अब ?

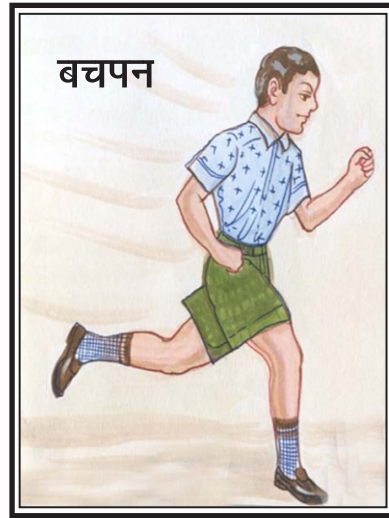
‘बचपन में ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका...’ विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका। शब्दज्ञान अर्थात् उसका क्षयोपशम हो, परन्तु सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका, इसलिए यह विद्या भी ठीक पढ़ा नहीं। उसमें और उसमें खेल में काल गँवाया। बालपने में खेलमें काल गँवाया, लो ! देखो न ! यह गेंद खेलना और यह खेलना और वह खेलना और धूल खेलना... कितना काल जाता है ? एक-एक समय ऐसा- चिन्तामणि रत्न जैसा मिला है, मनुष्य की देह का एक समय, चिन्तामणि रत्न दे तो भी नहीं मिलता - ऐसा मिला; खेलकूद, नाच, हा...हो...! वह गेंद क्या कहलाता है ? फूटबोल ! वह कितना ऊँचा उछला ? कितना उछला ? परन्तु यह क्या है ? तू अन्दर में उछल गया। तेरा समय ऐसा चला जाता है। आहा...हा...! अनन्तकाल में मुश्किल से ... और बाहर आया और उसमें यह मनुष्यपना क्या हुआ इसका तुझे पता नहीं पड़ता।

कहते हैं, और **‘युवावस्था में युवती स्त्री में लीन...’** **‘तरुणीरत’** - ऐसा कहा है न ? तस्नी अर्थात् स्त्री, युवा स्त्री। स्वयं युवा और युवा स्त्री; हो गया, दोनो आमने-सामने देखा करते हैं, और पूरे दिन एक ही बात। समझ में आया ? एक (व्यक्ति) का विवाह महा कठिनता से हुआ तो वह घर ही बैठा रहता, उसके सामने ही देखा करता। वह सवेरे कलशा करे। क्या कहलाता है वह ? सवेरे कलशा करते हैं न ? रात्रि के बासी हों, उन्हें साफ करते हैं। वे लकड़ी के क्या कहलाते हैं वे ? ब्रश डालकर। तुम्हें ब्रश इतना झट कहना भी नहीं आता ? यहाँ हम तो भूल गये होते हैं, क्यों ? वह ब्रश डालकर ऐसे-ऐसे घिसने बैठे न ? वह पति सामने देखा करे। ऐसे जाए

तो सामने देखा करे। पूरे दिन सामने देखे, मानों महा कठिनतासे रत्न मिला हो। कौन जाने क्या होगा ? चली जाएगी या क्या होगा ? आहा...हा...! ऐसे पापी !

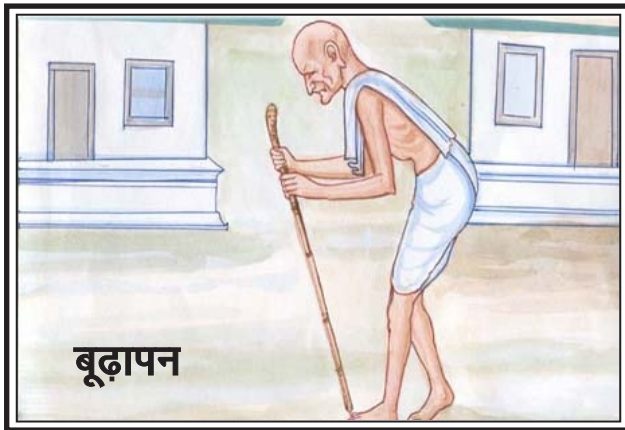
एक व्यक्ति ने घरघरणुं किया। समझ में आता है ? बड़ी उम्र में विवाह किया। बहु मर गयी, तो विषय के लिए बिलखन लगा वह स्त्री कहे - मैं चली नहीं जाऊँगी, हमने विवाह किया है। समझ में आया ? एक-एक रात्रि में भोग में बारह बारह बार ! बारह-बारह बार (भोग करे)। एकदम क्षय हुआ। हमारे तो बहुत दृष्टान्त आये हो न ? बहुत नजर में पड़े हों या नहीं ? आहा...हा...! अधिक दृष्टान्त उत्कृष्ट देने को हो न ! साधारण तो... समझे हो ? आहा...हा...! मर गया। कहते हैं, तरणी रत। तस्णीरत कहा न ? स्त्री में रत हो गया। मानो कि आहा...हा...! ऐसा मिलेगा या नहीं ? तल्लीन... तल्लीन... तल्लीन... एक-एक अवयव (देखा करता है।) क्या है ? वह तो हाड-माँस के पिण्ड हैं और उनमें सुख है ? तेरी राग की एकाग्रता है, उसे तू मानता है, वहाँ कहाँ धूल में सुख था ?

‘युवावस्था में... (तस्ण समय)’ समय है न ? अर्थात् युवावस्था के काल में - ऐसा लेना। लो न ! तस्णसमय - युवावस्था के काल में - युवावस्था के समय, ‘युवा स्त्री में लीन रहा.. (बूँढापनो) वृद्धावस्था’ जहाँ आयी, ‘अधमरा जैसा रहा...’ लो ! आहा...हा...! समझ में आया ? इतना विषय सेवन करता है कि वीर्य के बदले खून निकलता है। इतना विषय सेवन करता है। इतना गृद्ध हो जाता है। आत्मा क्या है ? कहाँ है ? कौन है ? - यह समझ ने की दरकार नहीं होती। यह समझ में आता है ? ऐसे जीव सुने है, सब देखे हुए है; सब नाम-ठाम का पता है। आहा...हा...! अन्त में खून गिरता है। शरीर में वीर्य नहीं रहता, (इसलिए) खून गिरता है, तो भी नहीं छोड़ता। क्षय होकर मर जाता है।



कहते हैं, युवावस्था में ऐसी स्थिति को प्राप्त हुआ। बूढापा अर्द्धमृतक जैसा। देखो ! इसमें

दृष्टान्त दिया है न ? देखो ! इसमें दिया है, हाँ ! देखो ! यह बालपन - एक पैर ऊँचा रखा है। खेलता है, खेलता है। है ? भाई ! है या नहीं इसमें ? क्या किया है ? एक लड़का खड़ा (रखा है, उसने) ऐसे पैर ऊँचा रखा है। खेलता है। समझे न ? लो ! (दूसरे चित्र में) युवा स्त्री ने हाथ पकड़ा है, उसने हाथ पकड़ा है। देखो ! ऐसे खेलता है। (दूसरे में) स्त्री ने हाथ पकड़ा और (तीसरे में) वृद्धावस्था में लकड़ी पकड़कर ऐसे... ऐसे (चलता है)।... शरीर, यह दशा ! फिर मजाक करते हैं, लड़के मजाक करते हैं। बापा ! क्या खोजते हो ? ऐ... युवापन खोजते है, बापा ? बूढ़ी थी न बिचारे ! वृद्धा होती है न ? बिचारे ऐसे (टेडे) हो गये हों, ऐ...से...चलते-चलते (जाते हों)। उसमें बीस वर्ष का युवा लड़का (मिले), बड़ा शरीर लट्टा जैसा, अंग्रेज जैसा (होवे), (उससे पूछो कि) माँ ! क्या खोजती हो ? (तो कहे) बापू ! जवानी खोजते है, भाई ! हमारे तेरे जैसी जवानी थी, हाँ ! परन्तु वह जवानी चली गई, हाँ ! तू वह नहीं करना। हों ! अब वह युवान मजाक करता है। हैं ? आहा..हा..! उभरती जवानी हो, मजाक करे वह वृद्ध बिचारी ऐसे लार गिरती हो,



लकड़ी ऐसे... ऐसे रखे, वरना तो ऐसे गिर जाए। इस तरह लकड़ी से कठिनता से चलते हों, बापू ! ऐसे अवतार अनन्तबार (किये), अनन्तबार किये हैं। फिर यह किसी की बात नहीं चलती। आहा...हा...! शरीर जरा वैसा मिले, वहाँ ऐसा हो जाता है कि हम कायम रहनेवाले हैं।

कहेत हैं - '(ऐसी दशा में) (कैसे) (जीव) अपना स्वरूप (लिखे)...' देखो ! आहा...हा...! 'कैसे रूप लखे आपनो।' भाई ! यहाँ से शुरु किया है। देखो ! इसमें सम्यग्दर्शन की व्याख्या में यहाँ से शुरुकिया है - ऐसा मेरा कहना है। ऐसा नहीं कि वह शुभभाव कैसे करे ओर अमुक कैसे करे ? यहाँ से शुरु किया (है।) देखो, यहाँ पर ग्रन्थकार 'दौलतरामजी' ऐसा कहते हैं कि मनुष्यपने में, बालपन खेलमें खोया, (जवानी में) तस्णी में मोह्या और वृद्धावस्था में (अर्ध मृतक होकर रहा।) इसमें अपना रूप कब लखे ? अपना स्वरूप जानने का नाम ही सम्यग्दर्शन है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? देखो ! स्वयं यहाँ लिखते हैं, भाई ! 'कैसे रूप...' आया या नहीं ? 'कैसे रूप लखे आपनो।' ऐसा कहा है। स्वरूप कौन है ? राग कौन है ? शुभराग कौन है ? ऐसा मानो शुभराग किया नहीं ? समझ में आया ? अनन्तभव में शुभराग नहीं किया ? वह तो यहाँ से लेंगे। मनुष्य मरकर स्वर्ग में जाएगा, वहाँ से लेंगे। मनुष्य में से देव लेंगे। शुभभाव तो अनन्तबार किया है, परंतु कहते हैं कि ऐसा मनुष्यपना प्राप्त करके, आत्मा स्वरूपसे भगवान यह अखण्डानन्द शुद्ध चिदानन्द वीतरागमूर्ति आत्मा है, उसके स्वरूप को किस प्रकार लखे ? लखे अर्थात् जाने। ऐसी स्थिति में बालपना ऐसा गया, तस्णी में ऐसा गया, वृद्धावस्था में ऐसा गया। पैसा मिला, वहाँ पैसे में गया, नहीं होवे, वहाँ निर्धनता में रोया। ऐसा ही ऐसे इसने अनन्तकाल होली सुलगाई है। समझ में आया ?

युवावस्था होवे और उसमें पाँच-पच्चीस लाख मिले होवें तो 'मैं चोड़ा और गली सकड़ी' ! ओ...हो...हो...! साथवाले को दबावे। 'खाली करो, आठ लड़के हैं, हमारे मकान चाहिए।' (तब कहे) भाई साहब ! परन्तु हमारे मकान की कीमत मुताबिक कुछ दोगे ? (तब वह कहे) खाली करना है या नहीं ? तुम्हारी सिफारिश नहीं पहुँचेगी, कोर्ट में हमारी सिफारिश पहुँचेगी। ठीक, बापू ! भाई ! आहा...हा...! परन्तु तुझे यह क्या करना है ? ऐसे झगड़े ही खड़े करना है या आत्मा क्या है - इसका कुछ जानने का प्रयत्न करना है ? ऐसी स्थिति में कहते हैं कैसे किस प्रकार यह '(आपनो) अपना स्वरूप (लखें)...' आहा...हा...! अद्भुत व्याख्या की है यहाँ। चौदहवीं (गाथा में) की है। लो, भाई ! है ?

मुमुक्षु :-

उत्तर :- नहीं, नहीं; इस प्रकार पड़ा है, उसमें कहाँ से करे ? - ऐसा (कहते) हैं। उलझ गया। बालकपने में, जवानीमें, लक्ष्मी में, मोह में, परिवार में, कबीले में, देश में, व्यापार में, बड़े करने में (उलझ गया।) समय मिला, वह समय वहाँ गँवाया। अब, इसमें आत्मा का रूप-स्वरूप कब जानने चाहे। ऐसा कहते हैं। आत्मा कौन है ? उसकी क्या चीज है ? उसमें क्या वस्तु है और ये विकारादि क्या मेरे से प्रत्यक्ष हैं ? यह जानने की दरकार (नहीं की।) **‘कैसे रूप लखे आपनो।’** अपनी जाति को जानना - यह इसमें कैसे मिले ? यह बाहर में रचा-पचा है उसमें। कहो, ठीक है या नहीं ? आहा...हा...! निर्धनपना होवे, तब ऐसा मानता है कि भई ! हमारे पास साधन (नहीं है, इसलिए) कमाने के (लिए) समय चाहिए। पैसे मिले तब कहता है बापा ! पैसेवाले को कैसे निवृत्ति मिले - यह तुम्हें पता नहीं पड़ेगा। ऐसे ही ऐसे अभिमानी ! एक व्यक्ति कहता था, कहा न वह ? उसदिन तो साठ लाख थे, (वह कहे) महाराज ! वह तो हमारे जैसा समय होवे तो पता पड़े। अरे...! परन्तु तुम मर गये इसमें ? क्या हो गया अब तेरे पास साठ लाख और दो करोड़ और पाँच करोड़ धूल में ? मरते समय निवृत्ति मिलेगी और टांगा पड़े (रहेंगे) ऐ... ऐसा करके। उसमें और उसमें (समय जाता है। या मिल या जीन और या प्रेस का संचा। बाहर में उसमें फँस गया है।

कहते हैं, अरे...! ऐसा मनुष्यपना पाया, वहाँ इन्होंने लिखा, देखो ! मनुष्यपने में, हाँ ! आहा...हा...! अन्य की अपेक्षा हमारी दुकान अच्छी चलती है, दूसरे की अपेक्षा हम ऊँचे हैं, हमने पैसा, पूँजी बढ़ाई है। हमारे लड़के आज्ञाकारी, ऐसे दूसरों के नहीं; हमारे जैसा साधन (किसी को नहीं), सब सही। अभी हमारे बहुत अच्छा है। किसका ? धूल का। भाई ! आहा...हा...! **‘कैसे रूप लखे आपनो।’** वाह...! मनुष्यपना पाकर यहाँ उलझ गया। भाई ! यह फिर मस्तिष्क में आया। आहा...हा...!

‘भावार्थ :- मनुष्यगति में भी यह जीव बाल्यावस्था में विशेषज्ञान प्राप्त नहीं कर पाया...’ ऐसा। विद्या-विद्या नहीं सीखी, विशेष ज्ञान नहीं। मूढ़ जैसा मूर्ख रहा। कहा नहीं था एक लड़के को ? तीस वर्ष की उम्र, दश वर्ष पढ़ाया तो सौ की गिनती सीखा था। सौ तक गिनती। पाठशाला में दस वर्ष पढ़ाया तो सौ तक गिनती सीखा। वह भी यह दशाश्रीमाली बनिया और तू

यह ? (संवत्) १९७० के पोष महीने की बात है। कितने वर्ष हुए ? बावन हुए। अमरेली के उपाश्रय में उतरे थे दर्ईडा का लड़का था। दर्ईडा...दर्ईडा है। पास का गाँव है। वह लड़का मजदूरी करता था। कोई लड़का था, छोटा था। उस दिन की ५२ वर्ष पहले की बात है। परन्तु तू यह क्या करता है ? यह तीन आने का तीन आना, ढाई आना होंगे, उस दिन तो कौन जाने (कितने होंगे ?) ऐसे सिर पर (उठाये)... चोरणी पहिनकर। .. तू दशाश्रीमाली बनिया है। तो कहे, हाँ; तो यह क्या ? मेरे पिता ने दश वर्ष तक पाठशाला में पढ़ाया, सौ तक गिनती आती है, कहा। आहा...हा...! ऐसा मूढ़ भी अनन्तबार हुआ। यह कही इसके लिए एक की बात नहीं है, ऐसे अनन्त-अनन्त मनुष्य के अवतार किये। समय आया, तब भूल गया। उसे बुद्धि नहीं, हमारे तो बुद्धि है, हम तो बुद्धिवाले हैं। किसकी बुद्धि है ? भटकने की ? यह कमाने की और यह अमुक व्यवस्था करने की, हमारे हाथ में व्यवस्था आवे, हमारे हाथ में डौर आवे तो दुकान सही चले; उसके हाथ में आवे तो वह सब डूबो देगा...।

मुमुक्षु :- होता है।

उत्तर :- होवे, धूल में भी (नहीं) होता, वह तो पुण्य के कारण होता है। भाई ! क्या होगा ? हमारे हाथ में दुकान की डोर लें तो ठीक प्रकार से चले, उसमें हमारी आमदनी कम नहीं हो, बढ़ती ही जाए। धूल में बढ़ती जाती होगी तेरे कारण। वह तो पूर्व का पुण्य होवे तो बढ़ती है, उसमें तूने क्या किया ? व्यर्थ ही ऐसे ही ऐसे अभिमान में मर गया। आत्मा क्या है ? - (यह) पहिचानने का अवसर नहीं लेता।

‘यौवनवस्था में ज्ञान तो प्राप्त किया, किन्तु स्त्री के मोह (विषय-भोग) में भूला रहा...’ लो ! ऐसा लिया। ज्ञान किया, पढ़ा, विद्या (प्राप्त की), भोग में भूल गया (कि) इस समय में मुझे यह आत्मा की पहिचान, ध्यान, ज्ञान करना है। **‘वृद्धावस्था में इन्द्रियों की शक्ति कम हो गयी...’** शिथिल हो गयी। भाई ! सुनाई नहीं देता, कान बहेरे हो गये। आँख से नहीं दिखता, मोतिया आ गया। है या नहीं ? मोतिया आया, कुछ नहीं दिखता, बहुत पढ़ने का मन हो जाता है, परन्तु सही समय में पढ़ा नहीं हाँ ! और अभी पढ़ने का मन हो तब आँख नहीं मिलती। ओ...य...! भाई ! तुम्हारे तो आँखे हैं और सोते सोते पढ़ना हो तो पढ़ सको ऐसा है।

परन्तु फुरसत कब है ?

मुमुक्षु :- उसे क्या काम है ?

उत्तर :- यह चिन्ता करने का। क्यों ? भाई ! हम इसकी सही बात करते हैं या नहीं ? चिन्ता करने का। लड़का क्या करता होगा ? और वह... क्या नाम है दूसरे का ? वह क्या करता होगा ? (इस भाईके) लड़के कितने बढ़ गये और कितने किये ? यह चिन्ता... चिन्ता... चिन्ता... चिन्ता में होली (सुलगती है।)

कहते हैं, वह भूल गया। 'विषय' शब्द से तो पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं, हाँ ! स्त्रीका मोह (है) परन्तु पाँचों इन्द्रियों के विषयों में (भूल गया)। प्रतिष्ठा प्राप्त करना, कीर्ति प्राप्त करना, रूप देखना... एसा का एसा गया। **‘वृद्धावस्था में इन्द्रियों की शक्ति कम हो गयी अथवा मरणपर्यंत पहुँचे - ऐसा कोई रोग लग गया...’** वहाँ रोग लग गया। ऐसा कोई टी.बी. हो गया। हाय... हाय...! साठ वर्ष बाद... साठ वर्ष में सत्तर वर्ष में अभी टी.बी. होती है। लो ! है ? उस भाई को टी.बी. नहीं थी ? (उस भाई को) टी.बी. थी, पचहत्तर वर्ष में टी.बी. (हुई)। वह तो अब डॉक्टर इनकार करते हैं, अब कुछ लेना नहीं, हाँ ! क्या खाना ? मक्खन... मक्खन (खाओ) भाई साहब ! हम गरीब आदमी कहाँ से (लायें) ? पैसे वाले तो खाये। खायें तो उसमें वही की वही उसकी लोलुपता होती है, कब ठीक होंगे ? कब ठीक होंगे ? ठीक होकर फिर कोई धर्म करना है - ऐसा नहीं है। ठीक होकर वापस दुकान पर जाकर जमकर बैठना है। है ?

कहते हैं, देखो न ! अर्धमृतक हुआ, अर्धमृतक। है ? अर्धमुरदे जैसा; ऐसा कहते हैं। उस हालत में **‘रोग हो गया, जिससे अधमरा जैसा पड़ा रहा।’** पलंग में पड़ा रहा। कपड़ा ढाँककर पड़ा हो। एक वृद्ध मनुष्य था। दो-दो वर्ष, तीन-तीन वर्ष (पलंग में), दूसरा कोई रोग नहीं, हाँ ! परन्तु फिर अवस्था के कारण चल नहीं सके, फिर चद्दर ढँककर पड़ा हो। खाने का समय होवे तब दे, परन्तु चद्दर ढँककर पड़ा रहे और फिर किसी समय चिड़चिड़ाये। अपेक्षित न मिला होवे तो ऐसा चिड़चिड़ाये, ऐसा चिड़चिड़ाये... आहा...! फिर अन्दर लड़के भी मारे। हमने देखा है, हाँ ! चद्दर ढँका रखकर मारे। बोलना नहीं... वह वृद्ध गाली दे... ऐसी कठोर गाली दे।

... उसके लड़के के लड़के घर में हो और गाली दे... लड़का बाप को ... परन्तु क्या करे ? भाई ! आहा...हा...! अरे...! ऐसा का ऐसा इसका समय गया, फिर उसे आर्तध्यान (होता है)। अर..र..! हमने तुम्हारा पालन किया, पोषण किया, बड़ा किया, हमने ऐसा किया-वैसा किया और अब तुम ऐसा (करते हो) ? परन्तु तू इतनी गालियाँ (देता है), माँ-बहिन को गालिया (देता है)। ऐसा गालियाँ (दे), हाँ ! सुनी नहीं जाए और बाजार में दुकान, इसलिए बाहर लोग निकले, (वे) सुने, इतनी शर्म लगे; लड़को के लड़के घर में, उसे अन्दर से मारे। कहे, 'अर्धमृतक जैसा पड़ा रहा।'

'ऐसी दशा में प्राणी तीनों अवस्थाओं में...' देखो ! अब कहते हैं। बालकपने में आत्मा का ज्ञान किस प्रकार करे ? जवानी में (स्त्री में मोह्या), वृद्धावस्था में (अर्धमृतक हुआ)। (उसमें) 'आत्मास्वरूप का दर्शन (पहिचान) नहीं कर सका।' लो ! आत्मा का क्या स्वस्व है ? भगवान आत्मा ? उसकी महत्ता इसने नहीं की; दूसरे की कीमत में मर गया, परन्तु उसकी (आत्मा की) कीमत (महत्ता) नहीं की।

देवगति में भवनत्रिक का दुःख

कभी अकामनिर्जरा करै, भवनत्रिकमें सुरतन धरै;

विषय-चाह दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुख सह्यो ॥१५॥

अन्वयार्थ :- [इस जीवने] (कभी) कभी (अकामनिर्जरा) अकामनिर्जरा (करै) की [तो मरनेके पश्चात्] (भवनत्रिकमें) भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी में (सुरतन) देवपर्याय (धरै) धारण की, [परन्तु वहाँ भी] (विषय-चाह) पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छा रूपी (दावानल) भयंकर अग्नि में (दह्यो) जलता रहा [और] (मरत) मरतेसमय (विलाप करत) रो-रोकर (दुख) दुःख (सह्यो) सहन किया।

भावार्थ :- जब कभी इस जीवने अकाम निर्जरा की तब मरकर उस निर्जराके प्रभावसे (भवनत्रिक) भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवोंमें से किसी एकका शरीर

धारण किया। वहाँ भी अन्य देवोंका वैभव देखकर पचेन्द्रियों के विषयों की इच्छारूपी अग्निमें जलता रहा। फिर मदारमाला को मुरझाते देखकर तथा शरीर और आभूषणों की कान्ति क्षीण होते देखकर अपना मृत्युकाल निकट है ऐसा अवधिज्ञान द्वारा जानकर 'हाय ! अब यह भोग मुझे भोगने को नहीं मिलेंगे !' ऐसे विचार से रो-रोकर अनेक दुःख सहन किये।।१५।।

अकाम निर्जरा यह सिद्ध करती है कि कर्मके उदयानुसार ही जीव विकार नहीं करता, किन्तु चाहे जैसा कर्मोदय होने पर भी जीव स्वयं पुस्कार्य कर सकता है।

‘देवगति में भवनत्रिका का दुःख।’ लो ! मनुष्य के दुःखों का इतना साधारण वर्णन किया, वरना दुःख तो बहुत प्रकार का है न ? मनुष्य में बहुत प्रकार के (दुःख हैं।) छेदाजाए-भेदाजाए, अँगुलिया टूटे, कुष्ठ होवे। देखो न ! बहुत रोग होते हैं न ? पीड़ा। कण्ठ में वह होता है। का कहलाता है ? केन्सर। है ? आहा...हा...! केन्सर का पता पडे, पेट में भूख का पार न हों और यहाँ केन्सर, पानी उतरे नहीं। अभी कोई कहता ता, पानी नहीं उतरता। यहाँ पर पानी जाने से दुःखता है। पेट में भूख का पार नहीं होता, यहाँ पानी डाले तो (जले)। पानी ठण्डा हो, कैसा भी हो, परन्तु जलन होती है। वह ... हो गया हो न ? .. बापा ! वह अवस्था गयी। आत्मा कौन है ? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ भगवान, इस आत्मा के स्वस्व की महिमा जिनकी वाणी में पूर्ण नहीं आती, ऐसा आत्मा कौन वह यह अन्दर है ? ओ...हो...हो...! उसके स्वस्व को जानने, पहिचानने की दरकार नहीं की। उसमें क्या करे ? कहते हैं, वहाँ फँस गया भाई ! पुस्तक छपावे, उसमें रोके, फिर छपाया होवे, उसे समाप्त होवे वहाँ तक रोके, फिर समाप्त होने पर उसकी राशि संग्रह करने में रुके, भाईयों को कोई विवाद उठे, उसमें रुके... रुकने के साधन कितने ? भाई ! यहाँ तो वह मनुष्य का पूरा करते हैं न, इसलिए जरा लिया। मनुष्य में बहुत बहुत दुःख (भोगे)।

ओ...हो...! एक स्त्री तो उस दिन (संवत्) १९८२ के चातुर्मास में पोरबन्दर में थी। हमारा चातुर्मास था न ? एक बाई थी, उस ओर थी, मन्दिरमार्ग की ओर। साडे तीन वर्ष से ऐसी उल्टी

पड़ी रहती थी, बहुत दुःख ! चिल्लाये ! महाराज ! दुःख नहीं सहा जाता। ऐसे के ऐसे उल्टे सिर, हाँ ! कुछ स्वप्ने ऐसा होगा ? साढ़े तीन वर्ष से !

‘जामनगर’ में ऐक साधु था, मन्दिर मार्गीसाधु। हाथ में कीड़े पड़ गये थे। मन्दिरमार्गी साधु था, गये थे, उसके पास गये थे। बिचारा (कहता), महाराज ! साठ वर्ष की बड़ी उम्र थी, सुन्दर शरीर था, परन्तु कौन देखे वहाँ ? फिर करे (कौन) ? एक व्यक्ति रख दिया था। शिष्य था, परन्तु क्या करे ? अब, सहन नहीं होता, इसलिए क्या करना ? कहा। उसमें कहीं मर जाने से छुटकारा है ? वह तो आयु पूर्ण होगी, तब होगा। शरीर में कीड़े पड़े, हाँ ! मन्दिरमार्गी साधु, कीड़े पड़े। कारण कि बहुत घिसता था न ! कीड़े पड़े। सुन्दर शरीर था। उसमें मर गया। ऐसे-ऐसे मनुष्य के अनन्त अवतार किये। समझ में आया ? एक की बात नहीं। ऐसे-ऐसे जितने जितने दृष्टान्त दें ऐसे अनन्तबार मनुष्यपने में इसने अवतार धारण किया है।

अब, कहते हैं, वहाँ से कदाचित् (बाहर निकलता है।)

‘देवगतिमें भवनत्रिक का दुःख’ आया, हाँ ! पन्द्रहवीं (गाथा)

कभी अकामनिर्जरा करै, भवनत्रिकमें सुरतन धरै;

विषय-चाह दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुख सह्यो ॥१५॥

यहाँ सब दिया है, हाँ ! चित्र दिया है।

भवनपत्ति में जन्में और सब है न ? ‘(इस जीवने) कभी अकामनिर्जरा की...’ अकाम निर्जरा माने, समझ में आता है ? इच्छा बिना, खाने-पीने का भाव है, तथापि मिलता नहीं उसमें कोई राग की मन्दता करे, यह स्त्री विधवा हो और भाव होने पर भी मिले नहीं और उसमें फिर राग की मन्दता करे तो अकामनिर्जरा से भवनपत्ति, व्यन्तरदेव



होवे। ऐसी अकामनिर्जरा अनन्तबार की है। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष - तीनों के कारण अलग-अलग हैं, परन्तु होते सब मिथ्या दृष्टि हैं। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष में जन्म लेने वाले सब मिथ्यादृष्टि होते हैं, सम्यग्दृष्टि वहाँ जन्म नहीं लेते हैं। (मिथ्यादृष्टि ही) ऐसे भवनत्रिक में (जन्म लेते हैं।) भवनत्रिक अर्थात् भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष।

‘कभी अकामनिर्जरा करके भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी में (सुर-तन)...’

सुर अर्थात् देव का शरीर धारण किया, **‘(परन्तु वहाँ भी) (विषय चाह) पाँचो इन्द्रियो के विषयों की इच्छास्व...’** विषय की चाह। देवियों के विषय उनमें व्यन्तर हुआ तो कोतूहल किया। कोतूहल किया, किसी की देहमें प्रवेश करके (देह में प्रवेश नहीं करते हैं, मात्र लोक कहावत है।) धुनाते है न ? धुने-धुनावे ऐसे कौतूहल करके जिन्दगी व्यतीत की है। कुमार कहलाते हैं न ? उन्हें कुमार कहते हैं, समझ में आया ? जवान लड़के जैसे खेलकूद में समय विताते हैं, ऐसे ये असुरकुमार आदि देव, व्यन्तर देव क्रीड़ा में काल गँवाते हैं। विषय की चाह, क्रीड़ा में काल गँवाते हैं। मरकर फिर जाते हैं, पशु आदि में चले जाते हैं। समझ में आया ? ऐसे अनन्तबार भवनपति (के अवतार किये।) उनकी एक सागर की स्थिति है। दश हजार (वर्ष की जघन्य) आयु है। दश हजार वर्ष की आयु में अनन्तबार जन्मा; फिर एक समय अधिक की आयु अधिक (प्राप्त करके) उसमें जन्मा। भवनपति, व्यन्तर प्रत्येक में (इस प्रकार जन्मा)। दश हजार वर्ष की आयु में भवनपति में अनन्तबार जन्मा; एक समय अधिक आयुष्य में (अनन्तबार जन्मा, दो समय अधिक में (अनन्तबार जन्मा)। ऐसे अकाल निर्जरा के फलस्वरूप में ऐसे अवतार किये। ऐसे व्यन्तर, भूत होते हैं न ? समझ में आया ?

नीचे नरक के भाग हैं। पहले नरक में दश जगह भवनपति हैं। समझ में आया ? असुरकुमार, नागकुमार आदि। नीचे नरक और व्यन्तर ऊपर के भाग में हैं। उनमें अनन्त बार एक-एकपने जन्मा है। व्यन्तर देव दुःखी हैं - ऐसा नहीं है, हाँ ! वहाँ बाहर का बड़ा साधन है, परन्तु कौतूहल करके हाथमशकरी करने का धन्धा (किया करते हैं।) अभी वे लोग नहीं होते ? हाथ करनेवाले नहीं (होते), क्या कहलाते हैं ? मशकरा। ‘राजकोट’ का एक ब्राह्मण आया ? बस ! वाक्य-वाक्य में उसकी मशकरी ही होती है। हास्यवृत्ति, हास्य ही करे। अभी एक आया

था, वह भी हास्य ही करता था। यही सीखा हो। बड़े राजा-महाराजा की सभा इकट्ठी करके ऐसे शब्द बोले, स्वयं हँसे नहीं, भाषा ऐसी बोले कि हँसी ही आवे। ऐसे मरकर व्यन्तर हुए हों, कोई शुभभाव हो और अकामनिर्जरा से (वहाँ जाकर) वहाँ भी वापस ऐसे ही ऐसे ढोल बजाये। समझ में आया ? व्यन्तर में ऐसा ही ऐसा किया करे। आहा...हा...!

नपुसंक होते हैं। ये देखो न, नहीं होते ? मुसलमान और सब नपुसंक ढोलक बजाते हैं। पैसे माँगने के लिए बजाते हैं न ? वह इसमें है न ? कहीं आयेगा, इसमें आयेगा। स्त्री, पुस्र और नपुसंक आता है न ? आता है, आता है। इसमें चित्र आता है। वह नपुसंक बराबर ठीक किया है। हमारे यहाँ 'पालेज' में बहुत मुसलमान आते थे। मुसलमान ने लेंहगा पहना हो, फिर ऐसा बोले, खराब भी बोले पैसा लेने के लिए। छ आना, आठ आना ले, पैसा-वैसा न ले।

कहते हैं, ऐसे देव... यहाँ भी ऐसी अकामनिर्जरा में कोई राग मन्द हो गया हो और उसमें अवतरित होता है। वहाँ भी वापस वही की वही कौतूहल वृत्ति करता है। वहाँ विषय-चाह की दाह में जला-जला करता है। समझ में आया ? '(दावानल) भयंकर अग्नि में जलता रहा...' कौनसी अग्नि ? विषय की चाह, चाहना, चाहना। 'मरते समय रो-रोकर दुःख सहन किया।' वह भवनपति, व्यन्तर मरते समय हाय... हाय.. कहाँ जाऊँगा ? रोता है। कुछ सुख नहीं होता, अपमान बहुत होता है। देव में भी रोता है, चिल्लाकर रोता है, वहाँ अरे...रे...! अब मेरा कोई मालिक नहीं है; हमने इन देवों के साथ, इन्द्र के साथ बहुत काम किया है, मरने का समय आया, कोई हमारा सहायक नहीं है। रोता है, फिर रोता है। हाय... हाय.. कहाँ जाऊँगा ? ऐसे अवतार ! यह आत्मा का ज्ञान और आत्मा के सम्यग्दर्शन बिना, आत्मस्वरूप की पहिचान बिना अनन्तबार ऐसे (अवतार) मिथ्यादर्शन के कारण किये हैं।

'जब कभी इस जीव ने अकामनिर्जरा की, तब मरकर उस निर्जरा के प्रभाव से (भवनत्रिक) भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में से किसी एक का शरीर धारण किया।' तीन का कोई एकसाथ नहीं होता, ऐसा। 'वहाँ भी अन्य देवों का वैभव देखकर' ... देखो ! दूसरे देवों का वैभव देखकर 'पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छारूप अग्नि में जलता

रहा...' और यहाँ जैसे दूसरों का वैभव देखकर जलते हैं न ? सुलगते हैं न ? मेरे पास पचास हजार, उसके पास पाँच लाख; मेरे पास दो लाख, उसके पास दस लाख ऐसे की ऐसी होली सुलगती ही है। वहाँ देव में भी ऐसी जलन है। अन्य देव बहुत सुन्दर हो, बड़ी पदवी का देव हो (उसके नीचे नोकर हो), आहा...हा...! हम नोकर, यह बड़ा देव। उसने क्या किया ? हमारा हाल किया - यह जलन।

यहाँ दो भाई हों और उनमें (एक) पाँच करोड़, दस करोड़ का (स्वामी) हो जाए तो दूसरे का जलन होती है। गाँव में एक मुसलमान बढ़ जाए - उसकी जलन इसे नहीं होती। है ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- हाँ वह बाहर का आदमी है - ऐसा कहता है। बाहर के आदमी के कारण (नहीं जलता।), घरके आदमी (देखकर जलता है।) डॉक्टर ठीक कहता है। कारण कि बाहर के आदमी के साथ हमें क्या संबंध हो ? तुम्हारे क्या ? लड़का नहीं मिलता। सबके लड़के कमाते हैं, परन्तु यदि एक बढ़ गया होवे तो, अब नहीं रहूँ साथ, तुम्हारे आमदनी बड़ी है, सरखाई है, इसलिए हम शामिल नहीं। ए...ई ! जलन होती है। अरे...! इस पाँच लाख इकट्ठे हुए। हमारे तो पूरी जिन्दगी में एक एक को पाँच लाख आवे ऐसा तो हुआ नहीं। ऐ... जलन होती है।

‘मन्दारमाला मुरझाते देखकर...’ लो ! इन भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष को यहाँ भी माला होती है, हाँ ! शरीर प्रमाण माला। माला, फूल की माला (होवे), ऐसी कोई माला मुरझाते देखकर, उन्हें ऐसी माला ही होती है। अभी बड़े-बड़े (लोग) नहीं (पहनते) ? पूरे शरीर प्रमाण बड़ी लम्बी माला होती है। वह मुरझाये तब दिखता है कि पुण्य क्षीण हुई, आयुष्य पूरा हो गया। ओ..हो..! यह देव कहते कि यह मुरझाये तब आयुष्य पूरा होता है।

‘शरीर तथा आभूषण की कान्ति क्षीण होती देखकर...’ लो ! शरीर भी क्षीण होता दिखता है। अन्दर दिखे ऐसा, हाँ ! हाय... हाय... बस ! चले अब !

मुमुक्षु :- माला।

उत्तर :- ऐसा होता है कुछ। बड़े शुभभाव वालों को होता है। पूरे शरीर प्रमाण बड़ी माला होती है। स्वयं की कान्ति हीन देखकर आभूषणों की कान्ति भी मन्द दिखती है। देखो ! पुण्य के

कारण, देखो ! आभूषण शाश्वत् है, परन्तु आभूषण शाश्वत (होने) पर भी वह पुण्य घटा न ? पुण्य का दिखाव ऐसा मन्द दिखता है। देखो ! विशेषता देखो ! आभूषण शाश्वत है। वे कहाँ तुम्हारे यहाँ के घड़े हुए है ? उनकी आँख में ही ऐसा दिखता है। कर्म का उदय मन्द हो गया, अब यहाँ से मरकर जाना है। आभूषण ऐसे दिखते हैं। देखो न ! यहाँ गहने पहनते हैं, तब कैसे पहनते हैं ? देखो न ! समान करके ऐसे ऐसे ऐसे लटकते झूलते, लटकते झूलते, यहाँ डाले यह, यहाँ डाले। वे मारवाड़ी तो फिर क्या करे, नहीं करते ? मारवाड़ी नहीं ? उनमें कुछ भान न हो और उसमें से कुछ गिर गया होवे तो हाय... हाय... और यही ऐसे ऊपर (चोट) लगी हो शोभा में खड़े... कहते हैं। ऐसे (अवतार) अनन्तबार किये।

उनकी शोभा मन्द देखकर ‘अपना मृत्युकाल निकट है - ऐसा अवधिज्ञान द्वारा...’ अवधि अर्थात् विभंग। मिथ्यादृष्टि को तो विभंग होता है। समझे ? उस विभंग ज्ञान द्वारा ‘जानकर हाय ! अब यह भोग मुझे भोगने को नहीं मिलेंगे।’ हाय... हाय...! अब यहाँ से चला जाऊँगा। अरबों वर्ष यहाँ रहा, असंख्य वर्ष रहा... अब ? चले जाओ अन्यत्र... करते हैं न देव भी हाय... हाय.. करते हैं। नारकी हाय, मनुष्य हाय, देव और तिर्यच। निगोद तो बिचारे हाय कहाँ कर सकते हैं ? महादुःख में लीन हो गये हैं।

‘ऐसे विचार से रो-रोकर अनेक दुःख सहन किये।’ लो ! समझ में आया ? भवनत्रिक का (चित्र) किया है, हाँ ! ऐसे अवतार भव के किये। ‘अकामनिर्जरा यह सिद्ध करती है कि कर्म के उदयानुसार ही जीव विकार नहीं करता...’ ऐसा कहाँ से आया ? कर्म के उदय-प्रमाण होवे तो यह इच्छा मन्द करके पुण्य किस प्रकार बाँधे ? जितना कर्म का उदय है, उस प्रमाण यहाँ विकार होवे तो यह अकामनिर्जरा सिद्ध नहीं होती। लोग समझे बिना कहते हैं। ‘चाहे जैसा कर्मोदय होने पर भी जीव स्वयं पुस्त्रार्थ कर सकता है।’

देवगतिमें वैमानिक देवोंका दुःख

जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुख पाय;
तहँते चय थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरेकरे॥१६॥

अन्वयार्थ :- (जो) यदि (विमानवासी) वैमानिक देव (हू) भी (थाय) हुआ [तो वहाँ] (सम्यग्दर्शन) सम्यग्दर्शन (बिन) बिना (दुख) दुःख (पाय) प्राप्त किया [और] (तहँते) वहाँसे (चय) मरकर (थावर तन) स्थावर जीव का शरीर (धरै) धारण करता है, (यों) इसप्रकार [यह जीव] (परिवर्तन) पाँच परावर्तन (पूरे करै) पूर्ण करता रहता है।

भावार्थ :- यह जीव वैमानिक देवों में भी उत्पन्न हुआ किन्तु वहाँ इसने सम्यग्दर्शन के बिना दुःख उठाये और वहाँ से भी मरकर पृथ्वीकायिक आदि स्थावरों* के शरीर धारण किये; अर्थात् पुनः तिर्यचगतिमें जा गिरा। इस प्रकार यह जीव अनादिकाल से संसार में भटक रहा है और पाँच परावर्तन कर रहा है॥१६॥

‘देवगतिमें वैमानिक देवोंका दुःख’ अब अन्तिम बड़ा देव।

जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुख पाय;
तहँते चय थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरेकरे॥१६॥

देखो ! इसमें दिखाव कैसा दिया है, देखा ? एक देव है, वह मरकर वनस्पति में जाता है, देखो ! दिखा ? इस और यह देव है। वह मरकर... वनस्पति में जाता है। है ? भाई ! वैमानिक का देव, बड़ा दो सागर का आयुष्य होता है। दो सागरोपम। असंख्यात अरब वर्षों का पल्योपम और ऐसे दस क्रोड़क्रोड़ी पल्योपम का सागर; ऐसे दो सागर; वह मरकर देखो ! इस वृक्ष में उत्पत्त

* मिथ्यादृष्टि देव मरकर एकेन्द्रिय होता है, सम्यग्दृष्टि नहीं।

हुआ, देखो ! यह वृक्ष।
वनस्पति के वृक्ष का कहीं
अच्छा फूल होता है न ? वहाँ
मरकर अवतरित होता है झट
से ! आहा..हा..! अवतरित
होता है न ? यह जीव
अवतरित हुआ होगा या
नहीं ? यह अवतरित हुआ,
उसकी तो बात चलती है।



अनन्तबार देव मरकर एकेन्द्रिय हुआ। हाय... हाय...! ऐसे अनन्त अवतार मिथ्यादर्शन के प्रभाव से किये।

‘यदि वैमानिकदेव भी हुआ (तो वहाँ) सम्यग्दर्शन बिना...’ सम्यग्दर्शन से रहित जीव की बात है, हाँ ! वैमानिकदेव में सम्यग्दृष्टि है, वे तो फिर एकावतारी होकर मोक्ष जाते हैं। सम्यग्दर्शनवाला (देव की) बात इसमें नहीं है। **‘सम्यग्दर्शन के बिना दुःख प्राप्त किया। वहाँ से मरकर (थावर तन) स्थावरजीव का शरीर धारण करता है...’** एकेन्द्रिय होता है, एकेन्द्रिय ! आहा...हा...! पृथ्वी में उत्पन्न हो, हीरा-माणिक में उत्पन्न हो, जल में उत्पन्न हो, ऊँचा-अच्छा पानी होता है न ? स्वातिबिन्दु आदि, मोती पकते और होते हैं न ? उसमें उत्पन्न होता है। फूल में अवतरित होता है, अच्छे चम्पाके, गुलाब के फूल होते हैं न ? देव मरकर वहाँ अवतरित होता है। एकेन्द्रिय वनस्पति होता है। ऐसे अवतार अनन्तबार किये हैं। समझ में आया ?

‘(परिवर्तन) पाँचो परावर्तन (पूरे करै)’ लो ! यह अन्तिम श्लोक है न ? इस प्रकार निगोद, तिर्यच, मनुष्य, देव...। अनन्त बार द्रव्य में सभी रजकण ग्रहण किये - ऐसे अनन्त अवतार द्रव्य से किये; क्षेत्र में अनन्त अवतार किये; काल में एक-एक समय में अनन्त अवतार किये। अनन्त चौबीसी में एक-एक चौबीसी के एक समय में अनन्त अवतार किये। ऐसे एक भव

के अनन्त अवतार और भाव के अनन्त अवतार। भाव अर्थात् शुभाशुभभाव, उस शुभाशुभभाव के भी अनन्त अवतार किये। समझ में आया ? भव अनन्त... भाव अनन्त, द्रव्य, क्षेत्र और काल प्रत्येक में अनन्त-अनन्तभव किये। जितने रजकण हैं, उतने लिये, छूटे। अनन्त बार। क्षेत्र में एक-एक क्षेत्र में अनन्तबार जन्मा और मरा। अनन्त चौबीसी में एक-एक चौबीसी पहले से शुरूकरो तो एक समय में जन्म, दूसरे समय में जन्म, तीसरे समय ऐसे अनन्तबार जन्म, अनन्तबार मरण एक-एक चौबीसी मे। ऐसे एक-एक भव (गति) में अनन्तभव और एक-एक शुभ-अशुभ में अनन्तभाव। ऐसे अनन्तबार शुभभाव, अनन्त बार अशुभभाव किये और परिवर्तन पूरे किये - ऐसा यहाँ अन्त में कहते हैं। इस चार गति के दुःख मिथ्यादर्शन के प्रभाव से, आत्मदर्शन के बिना, सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना इसने ऐसे चार गति के दुःख और परिभ्रमण पूरा किया। लो !

‘भावार्थ :- यह जीव वैमानिक देवों में भी उत्पत्त हुआ, किन्तु वहाँ इसने सम्यग्दर्शन के बिना दुःख उठाये और वहाँ से भी मरकर पृथ्वीकायिक आदि स्थावरों में...’ इत्यादि अर्थात् पृथ्वी, जल और वनस्पति, तीन ही/ तीन लेना। **‘शरीर धारण किये अर्थात् फिर से तिर्यचगति में आ पड़ा। इस प्रकार यह जीव संसार में अनादिकाल से...’** यह पहली ढाल में पूरा किया। इस प्रकार **‘अनादि काल से भटक रहा है और पाँच पाँच परावर्तन कर रहा है।’** सब दुःखों की व्याख्या आ गयी। अब, इसके बाद दूसरी ढाल में सीधे लेगें - **‘ऐसे मिथ्यादृग...’** ऐसा लेंगे, लो ! है ?

इस प्रकार चार गति के भव अनन्तबार मिथ्यादर्शन के कारण, मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र के कारण (किये)। इसलिए पहले यह बात की। भटका है मिथ्यादर्शन के कारण। इसलिए मिथ्यादर्शन आदि का क्या स्वरूप है ? - यह दूसरी ढाल में कहेंगे। (विशेष कहेंगे।)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



दूसरी ढाल

(पद्धरि छन्द) १५ मात्रा

संसार (चतुर्गति) में परिभ्रमणका कारण :-

ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश, भ्रमत भरत दुख जन्म-मर्ण;
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान॥१॥

अन्वयार्थ :- ढयह जीवज (मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश होकर (ऐसे) इस प्रकार (जन्म-मर्ण) जन्म और मरण के (दुख) दुःखों को (भरत) भोगता हुआ [चारों गतियों में] (भ्रमत) भटकता फिरता है। (तातैं) इसलिये (इनको) इन तीनों को (सुजान) भली भाँति जानकर (तजिये) छोड़ देना चाहिये। [इसलिये] (तिन) इन तीनों का (संक्षेप) संक्षेप से (कहूँ बखान) वर्णन करता हूँ उसे (सुन) सुनो।

भावार्थ :- इस चरण से ऐसा समझना चाहिये कि मिथ्यादर्शन-ज्ञान, चारित्रसे ही जीवको दुःख होता है अर्थात् शुभाशुभ रागादि विकार तथा परके साथ एकत्व की श्रद्धा, ज्ञान और मिथ्या आचरण से ही जीव दुःखी होता है; क्योंकि कोई संयोग सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता - ऐसा जानकर सुखार्थों को इन मिथ्याभावों का त्याग करना चाहिये। इसलिये मैं यहाँ संक्षेप से उन तीनोंका वर्णन करता हूँ।

वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल १, शनिवार
दि. २२-१-१९६६, श्लोक १ से ३, प्रवचन नं. ५

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। इसकी पहली ढाल पूर्ण हुई। (अब), दूसरी ढाल। ढाल को चाल भी कहा जाता है और ढाल अर्थात् मिथ्यादर्शन आदि से आत्मा के स्वभाव की रक्षा करने की आड़ में छहढाला कहा जाती है। पहली ढाल में चार गति के दुःखों का वर्णन किया। वह दुःख क्यों भोगा ? - ऐसा कहते हैं।

‘संसार (चतुर्गति में) परिभ्रमण का कारण।’ अर्थात् चार गति है - ऐसा फिर सिद्ध किया। पहले बात आ गयी है। निगोद, वहाँ से निकलकर तिर्यच हुआ, वहाँ से नरक में गया, वहाँ से मनुष्य हुआ, देव हुआ - इसने मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से ऐसे अनन्त अवतार किये हैं। स्वर्ग के भव भी अनन्त किये हैं। पाप किये तो नरक-निगोदादि में गया, पुण्यादि किये हों तो मनुष्य और स्वर्ग में (गया)। इस प्रकार अनन्त काल से चार गतियों में (भटकता है।) इसलिए मिथ्यादर्शन शब्द लिया है। देखो !

ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश, भ्रमत भरत दुख जन्म-मर्ण;

तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान॥१॥

‘(यह जीव) (मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश) मिथ्यादर्शन- मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश...’ इसका स्पष्टीकरण करेंगे। **‘ऐसे-’** यहाँ वजन है। पूर्व में कहा था कि अनन्त कालनिगोद में रहा, एक श्वास में अठारह भव किये। कितने ? अठारह, अठारह भव एक श्वास में ! ऐसे-ऐसे अनन्तकाल निगोद में रहा। भगवान परमेश्वर सर्वज्ञदेव तीर्थकर ने देखा कि इस मिथ्याश्रद्धा और ज्ञान के जोर से यह निगोद में भी इनके कारण रहा, भाई ! कर्म के कारण नहीं - ऐसा यहाँ सिद्ध करना है, देखो !

‘ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश, भ्रमत मरत दुख जन्म-मर्ण।’ उस निगोद में अनन्तकाल रहा। एक शरीर में अनन्त जीव हैं, वे भी अपनी मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र्य के कारण रहे हैं। कहो, ठीक है ? इसमें से निकलता है। निकलता है न ? ‘ऐसे’ यह शब्द कहकर, पूर्व में पहली ढाल में जो चार गति के दुःखो का वर्णन किया है - उसका कारण बतलाते हैं। देखो ! ऐसा कहा है न ? ‘संसार (चतुर्गति में) परिभ्रमण की कारण।’ यह कारण है। कर्म कारण नहीं है; कर्म तो जड़, मिट्टी-धूल है। वे यह जड़ मिट्टी तत्त्व है, अजीवतत्त्व है। इसे चार गतियों में भटकने का कारण मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याराग-द्वेष परिणाम (है।) इनके कारण यह जन्म-मरण के दुःख सहन किये हैं। कहो, भाषा कैसी सरस की है ! देखो न ! है ? अन्य (लोग) कहते हैं - कर्म के कारण (परिभ्रमण किया है।) कर्म तो जड़ है, मिट्टी-धूल है; तू भाव करे, तदनुसार कर्म बँधते हैं। तेरे भाव के कारण चारगतियों में भटका है। कहो, ठीक है ? भाई ! या कर्म के कारण ?

मुमुक्षु :- नहीं, नहीं; प्रभु !

पूज्य गुरुदेवश्री :- नहीं ? यह क्या कहते हैं ? ‘ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश भ्रमत, मरत दुःख जन्म-मर्ण।’ यह ‘वश’ ऐसे डाल देना चाहिए। छपने में भूल पड़ गयी है। चर्ण ऐसे चाहिए वश ऐसे चाहिए। ‘वश भ्रमत मरत दुःख जन्म-मर्ण।’ ऐसे चाहिए। चरण है और सामने ‘मरण’ चाहिए। समझ में आया ?

अनादि से एकेन्द्रि, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय (हुआ।) मनुष्य के भव ऊपराऊपर करे तो आठ करे, ऐसे अनन्त भव किये। स्वर्ग के भी ... महा दया, दान, व्रत, भक्ति - ऐसे पुण्य किया, (उसके कारण) स्वर्ग में भी अनन्त भव किये; परन्तु मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र्य क्या है ? - उसका ज्ञान इसने नहीं किया। इस मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्या राग-द्वेष के कारण अनन्त काल से ऐसे निगोद से लेकर (देव तक के) भव किये। समझ में आया ?

उनके वश ‘इस प्रकार से जन्म और मरण के दुःखो को...’ जन्मना और मरना ऐसे

दुःखो को 'भोगता हुआ...' जन्म-मरण की व्याख्या संयोग से की है। वस्तुतः तो ऊपर कहा, मिथ्यादर्शन, ज्ञान और विकार - यह दुःख के कारण हैं, ये दुःखरूप हैं; संयोग दुःखरूप नहीं है। समझ में आया ? प्रतिकूल संयोग, वह दुःख का कारण नहीं है, वह तो मिट्टी-धूल-पर है। इसी तरह अनुकूल संयोग, सुख नहीं है। मूढ़ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव को उसे अनुकूल होवे तो मुझे ठीक और प्रतिकूल होवे तो अठीक - ऐसा मिथ्याश्रद्धा से मानकर दुःखी हो रहा है। समझ में आया ?

'जन्म और मरण के दुःखों को भोगता हुआ (चारों गतियों में)...' देखो ! यह चार गतियाँ इसमें दी है, हैं ! इसमें दी है, चक्र बनाया है न ? देखो ! यह चक्र है इसमें ? भाई ! चार गतियाँ है, देखो ! मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र, इन तीनों के कारण निगोद से लेकर नौंवे ग्रैवेयक, अन्तिम ग्रैवेयक (में) मिथ्यादृष्टि देव होकर प्रत्येक जीव ने अनन्त अवतार किये है। उनमें सब से कम मनुष्य के किये, अनन्त अवश्य परन्तु मनुष्य के थोड़े (किये हैं।), उससे असंख्यगुने नारकी के; अनन्त तो दोनों ही है परन्तु असंख्यगुने नारकी के; उससे असंख्यगुने देव के अभी तक किये हैं; उससे अनन्त गुने तिर्यच के किये हैं।

भगवान सर्वज्ञ के ज्ञान में परमेश्वर तीर्थकरदेवने (जीव) चारगति में कहाँ-कहाँ कितना काल रहा - यह उनके केवलज्ञान में भासित हुआ है, तदनुसार ऐसा अनन्त काल चारो गतियों में रहा परन्तु अनन्त अनन्त में अन्तर है। बहुत काल तो निगोद



और पशु में व्यतीत किया। मिथ्यादर्शन क्या है और सम्यग्दर्शन क्या है ? इसकी इसने कभी पहिचान ही नहीं की है।

‘(चारों गतियों में) भटकता फिरता है; इसलिए इन तीनों को भलीभाँति जानकर...’ देखो ! तीन अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, इन्हें जानकर, ‘छोड़ देना चाहिए।’ जानकर छोड़ेगा न ? जाने बिना क्या छोड़े कि यह मिथ्याश्रद्धा क्या है ? यह स्पष्टीकरण करेंगे, हाँ ! स्वयं करेंगे। ‘(इसलिए) इन तीनों का संक्षेप से (कहूँ बरवान)...’ मैं वर्णन करता हूँ। तीनों का संक्षेप में वर्णन करेंगे। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने तो शास्त्र में बहुत कहा है। सन्तों ने, मुनियों ने परम्परा में बहुत (कहा है) परन्तु मैं इस बात को संक्षेप में कहूँगा; इस प्रकार ग्रन्थकर्ता ‘दौलतरामजी’ कहते हैं। ‘सुनो !’ इस शब्द का वजन है। है न ? ‘सुन...सुन...’ सुनो ! कहते हैं कि मिथ्यादर्शन - विपरित मान्यता, विपरित ज्ञान और विपरित राग-द्वेष से चारगति में कैसे भटका है ? यह बात सुनो। सुनाते हैं।

‘भावार्थ :- इस चरण से ऐसा समझना चाहिए कि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही जीव को दुःख होता है...’ देखो ! इनसे दुःख होता है। इनसे परिभ्रमण किया और इनसे दुःख होता है - दो बातें लेना है। क्या कहा ? मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से परिभ्रमण किया और इनसे दुःख होता है, (इस प्रकार) दो बातें लेना। ‘शुभाशुभ रागादि विकार...’ देखो ! ‘शुभाशुभ रागादि विकार तथा पर के साथ एकत्व होता है...’ लो ! दुःखी होने का कारण - एक तो शुभ-अशुभ पुण्य-पाप का भाव, वह विकार है। वह मेरा मानता है - यही मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान है। आहा...हा...! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- परिभ्रमण का दुःख है ?

उत्तर :- यह भटकता है, इससे और दुःख भी यही है, ऐसा। यहाँ तो परिभ्रमण का कारण सिद्ध किया है न ? फिर तो अर्थ में ज़रा दुःख कहा। उन जन्म-मरण के दुःख से (अधिक) करते यह मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान का दुःख है ऐसा कहा, परन्तु उनके कारण ही भटकता है और वही दुःख का स्वरूप है, ऐसा। समझ में आया ? आहा...हा...!

कहते हैं - शुभ और अशुभ पुण्य-पाप के भाव, वे मेरे हैं - ऐसी जो श्रद्धा, वह मिथ्यादर्शन है। वह शुभ-अशुभ पुण्य-पाप के भाव-दया, दान, व्रत, भक्ति का शुभभाव और हिंसा, झूठ, चोरी का भाव (अशुभभाव) ये दोनों विकार हैं। वह विकार मेरा स्वस्व है, मुझे लाभदायक है अथवा वे मेरे हैं - ऐसी मान्यता को भगवान मिथ्यादर्शन कहते हैं। वह मिथ्यादर्शन और उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं, कारण कि उस पर ज्ञान करके आत्मा का ज्ञान छोड़ दिया, उसे ही मिथ्याचारित्र कहते हैं। आहा...हा...! कहो, समझ में आया ?

शुभाशुभभाव अथवा पर के साथ (अर्थात्) देह, मन, वाणी - यह सब तो जड़ मिट्टी है, अजीव है। दो तत्त्व लिये - एक अजीवतत्त्व और (दूसरा) आस्रवतत्त्व। शरीर, वाणी और जड़ कर्म, यह अजीवतत्त्व है तथा पुण्यऔर पाप का भाव, वह आस्रवतत्त्व (है)। नव तत्त्व में जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष है। उनमें यह शरीर, वाणी, कर्म-मिट्टी, यह तो अजीवतत्त्व है। उसे अपना माना कि इस देह की समस्त क्रिया में करता हूँ, यह वाणी मैं बोलता हूँ, देह से काम चले, वह मुझसे होता है - यह सब अजीव को अपना माना है, यह मिथ्यादर्शन-ज्ञान है। समझ में आया ? नवतत्त्व भित-भित है; जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। अतः अजीवतत्त्व तो पृथक् तत्त्व है। इस पृथक् तत्त्व की क्रिया होती है, वह आत्मा से होती है - ऐसा मानने का नाम मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याराग है। आहा...हा...! कहो, इसमें समझ में आता है ? और दूसरा शुभाशुभाराग - आस्रव, पुण्य-पाप का भाव (है)। नवतत्त्व है न ? शुभ - दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प (होवे), वह शुभभाव है, वह पुण्य है; हिंसा, मूढ, वह पाप है - ये दोनों ही आस्रव है, और दोनों में भटकना बन्धभाव है। इस पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध को अपना स्वस्व मानना, (यह मिथ्यादर्शन - मिथ्याज्ञान है।) स्वयं ज्ञानस्वस्व चिदानन्द भगवान आत्मा है, उसे नहीं मानकर इस प्रकार को अपना मानने का नाम मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। आहा...हा...! समझ में आया ?

दो को भित-भित न मानकर एक माना; जीव और अजीव को एक माना तथा आस्रवतत्त्व और जीव को एक माना। है भिन्न तत्त्व; वरना नौ किस प्रकार होंगे ? समझ में आया ? भाषा

थोड़ी-थोड़ी समझ में आती है न ? थोड़ी-थोड़ी समझ लेना। आहा...हा...! कहते हैं कि आस्रव और पर अजीव के साथ एकत्व की श्रद्धा, मिथ्यादर्शन शल्य है। आहा...हा...! वह मिथ्याज्ञान है, ऐसे मिथ्या आचरण से, यह चारित्र कह। इस प्रकार पर को अपना मानना, आस्रव को अपना मानना, देह को अपना (मानना), देह की क्रिया मुझसे होती है - ऐसा मानना, यह वाणी निकलती है - वह भी मैं बोलता हूँ - ऐसा मानना, इसका नाम मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण है। इनसे ही 'जीव दुःखी होता है।' कहो, समझ में आया ?

कर्म परिभ्रमण नहीं कराता और कर्म से दुःखी नहीं होता, दो बात सिद्ध करना है, भाई ! आहा...हा...! कर्म तो जड़ है, अजीवतत्त्व है। अजीवतत्त्व से आत्मा परिभ्रमण करे ? अपनी भूल से भ्रमता है या अजीव से भ्रमता है ? और अजीव से दुःख होता है ? स्वयं विपरीत मान्यता और विपरीत भाव करे तो दुःख होता है। क्या जड़ से आत्मा को दुःख होता है ? समझ में आया ? भाई !

मुमुक्षु :- जी हाँ !

पूज्य गुस्देवश्री :- हाँ जी, परन्तु धीरे-धीरे आया। यह विपरीत मान्यता है, कहते हैं। यह शरीर में ऐसा हुआ, इसलिए दुःखी हूँ, मूढ़ है - ऐसा यहाँ कहते हैं।

मुमुक्षु :- साक्षात् दुःख दिखता है।

उत्तर :- धूल में भी दुःख नहीं है। मिट्टी में क्या है ? यह मिट्टी है, यह तो अजीव है, जड़ है, चैतन्य के होंशरहित तत्त्व है, अजीव रजकण हैं। अ-जीव (अर्थात्) रंग, गन्ध, रस, स्पर्शवाला। इसमें कुछ दुःख है ? उसमें दुःख है ? अथवा इसमें आनन्द है या आनन्द की विपरीत दुःखदशा हो ? आनन्द तो आत्मा में है। अतीन्द्रिय आनन्द भगवान आत्मस्वरूप, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान आत्मा है। आहा...हा...! (जिसे) नवतत्त्व का पता नहीं होता, उसे श्रद्धा-मिथ्यादर्शन कैसे जाए ? भाई ! आहा...हा...!

मुमुक्षु :- नव तत्त्व तो मानता है !

उत्तर :- क्या धूल भी नहीं मानता (नाम भी नहीं आते होंगे; नाम आते हों तो उनके भाव का पता नहीं होता। समझ में आया ?

कहते हैं - यह मिथ्याश्रद्धा, यह आस्रवतत्त्व अथवा पुण्य-पापतत्त्व अथवा भावबन्ध; भावबन्ध, हाँ ! अटकस्व बिकार को और अजीव - कर्म, शरीर, वाणी, मन; यह पुद्गल, पैसा-धूल आदि पर, यह सब मेरे हैं - ऐसा मानने का नाम मिथ्याश्रद्धा, उसका नाम मिथ्याज्ञान और यह राग-द्वेष और मिथ्या आचरण कहा, उससे जीव परिभ्रमण करता है और उससे ही स्वयं दुःखी होता है। दो बातें लेना। कहो, ठीक होगा इसमें ? भाई !

‘**क्योंकि कोई संयोग सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता...**’ निर्धनता, शरीर में रोग या स्त्री मर जाना, मकान नहीं होना, विवाह न होना, बाँझपन - यह चीज दुःख का कारण नहीं है, यह तो पर संयोगी वस्तुएँ हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- यह जीव संयोग में तो गुम गया है।

उत्तर :- गुम नहीं गया, मान्यता में गुम गया है, संयोग में नहीं गुमा, मान्यता में गुम गया है। जहाँ ऐसी प्रतिकूलता आती है, वहाँ यह... मुझे हो गया ! तुजे क्या है ? वह तो जड़ में है भाई ! शरीर में रोग (आता है।)

देखो ! यहाँ कहा वह ‘**संयोग सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता...**’ क्योंकि भगवान ने अजीवतत्त्व को आत्मा से भित कहा है। यह आत्मा जीवतत्त्व है और यह सब मिट्टी अजीवतत्त्व है। यह रोग, पैसा, स्त्री, पुत्र, शरीर; शरीर, हाँ ! - यह अजीवतत्त्व, आत्मा को दुःखस्व नहीं होता, (क्योंकि) यह तो जड़-मिट्टी है; दुःख तो विकारभाव है, अतः अजीव कहीं विकारभाव नहीं कराता। स्वयं भूलकर ‘मुझे इसमें दुःख है’ - ऐसी मिथ्याश्रद्धा खड़ी करके दुःखी होता है। कुछ भान नहीं होता, भान। एक भी तत्त्व का पता नहीं होता। तब क्या उबता जाता है ? सवेरे में ऐसे अन्दर से आकर चिल्लाहट करता है। कहो, समझ में आया इसमें ? आहा...हा...!

देखो न ! एक गाथा में कितना रख दिया है ! यह ‘**चर्णवश भ्रमत मरत दुःख जन्म-मर्ण**’ इसके कारण भ्रमा और मरत दुःख (अर्थात्) इसके कारण जन्म-मरण का दुःख भोगा। इसमें दोनों ही भाषा आ गयी। इसमें आया न ? ‘**मिथ्यादृग-ज्ञान-चर्णवश भ्रमत...**’ और ‘**मरत दुःख जन्म-मर्ण।**’ कितना स्पष्ट किया है ! ‘दौलतरामजी’ ने एक सादी हिन्दी भाषा में किया

है। लो ! है ? पढ़ा है तुमने ? समझ में आया ?

कहते हैं - संयोग सुख-दुःख का कारण नहीं है। यह धूल-पैसा पाँच-पच्चीस लाख-सुख की कारण नहीं है; यह तो जड़-मिट्टी है। जड़ सुख का कारण होगा ? क्या कहते हैं ? संयोग है, वह तो धूल - अजीवतत्त्व है। अजीवतत्त्व सुख का कारण है ? अजीव में सुख है ? परन्तु 'मुझे सुखरूप होगा' - ऐसी मिथ्यादृष्टि की मान्यता, मिथ्यादर्शन की शल्य को खड़ा करके भ्रम रहा है और दुःखी हो रहा है - ऐसा है। समझ में आया ? अनुकूल निरोग शरीर हो तो अपने की ठीक (रहे!) निरोग अर्थात् क्या ? वह तो शरीर की दशा है, जड़ की -मिट्टी की (दशा है।) संयोग से कोई प्रतिकूलता और संयोग से अनुकूलता है ही नहीं। सातवें नरक का नारकी, जिसे भगवान भंकर नरक कहते हैं, वह जीव भी इतनी प्रतिकूलता में सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, लो ! संयोग कहाँ रोकता है ? ऐसे सातवें (नरक में पाता है।)

मुमुक्षु :- तो रोकता कौन है ?

उत्तर :- यह विपरीत मान्यता, यह अड़चन (है।) यह क्या कहा ? यह क्या कहते हैं ? इसकी (ऐसी) विपरीत श्रद्धा इसे रोकती है। यह बाहर के साधन मुझे दुःख (रूप) है और यह मुझे सुख(रूप) है। मैं एक ज्ञानस्वरूप हूँ, मैं तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ, उसकी श्रद्धा का भान नहीं और यह मेरा और यह तेरा - इस पर को माना, इसका नाम मिथ्यादर्शन है; फिर त्यागी हुआ हो और भोगी हुआ हो और सामायिक-प्रौषध करके बैठा हो परन्तु यह मान्यता है तो वह मिथ्यादृष्टि जीव है। समझ में आया ? उसे मिथ्यादर्शन है, उसे जरा भी धर्म-बर्म नहीं है। समझ में आया ?

‘ऐसा जानकर सुखार्थी को इन मिथ्याभावों का त्याग करना चाहिए।’ समझ में आया ? ‘इनको तजिये’ हे न ? ‘तातैं इनको तजिये सुजान...’ सुजान (अर्थात्) भलीभाँति जानकर; बिना जाने किस प्रकार छोड़ेगा ? यह सुख है, यह दुःख है - पर के कारण माना है - यह मिथ्याश्रद्धा है; पर के कारण सुख-दुःख नहीं है। तूने सुख-दुःख की मान्यता करी; इसलिए सुख-दुःख कल्पना है, वस्तु में (सुख-दुःख नहीं है।) भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है। केवली ने तो ऐसा देखा है कि तेरा आत्मा तो ज्ञान, आनन्द और शान्ति से

भरपूर आत्मा है, उसे भगवान ने आत्मा देखा है। भगवान ने उसे आत्मा कहा और देखा है। अन्दर ज्ञान, आनन्द और शान्ति भरी हुई है, उसका नाम भगवानने आत्मा देखा है। पुण्य-पाप भाव को तो भगवानने आस्रवतत्त्व देखा है; कर्म, शरीर को भगवान ने अजीवतत्त्व देखा है और इस अजीव तथा आस्रव को अपना माने और आत्मा का ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे अपना नहीं माने - यह मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान है। समझ में आया ?

भगवान सर्वज्ञदेव परमात्मा त्रिलोकनाथ परमेश्वर, जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक ज्ञात हुए। समझ में आया ? अनन्त काल से परमेश्वर होते आये है या नहीं ? वर्तमान में केवलीरूप से सीमन्धर भगवान विराजमान है (और) लाखों केवली तथा बीस तीर्थंकर (बिराजमान है, उन्होंने) तो तेरे आत्मा को ऐसा देखा है - शुद्ध ज्ञानस्वरूप (देखा है), फिर इसमें (आगे) आयेगा। देखो ! 'विनमूरत चिनमूरत...' फिर आयेगा। भगवान ने तो यह देखा है कि आत्मा तो ज्ञान, आनन्द और शान्ति की मूर्ति है, अरूपी है। भगवानने तो ऐसा देखा है। वे पुण्य-पाप के भाव उत्पत्त हो - दया, दान, काम, क्रोध को तो आस्रवतत्त्व देखा है और कर्म, शरीर को भगवानने अजीवतत्त्व देखा है और (यदि) तू अजीव और आस्रव को अपना मानता है तो भगवान की मान्यता से तेरी मान्यता (विपरीत) हो गयी और तेरे तत्त्व से भी तेरी मान्यता खोटी हो गयी। समझ में आया ? 'सुखार्थी को इन मिथ्याभावों का त्याग करना चाहिए। इसलिए मैं यहाँ संक्षेप से उन तीनों का वर्णन करता हूँ।' लो !

अगृहीत-मिथ्यादर्शन और जीवतत्त्व का लक्षण

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिनमांहि विपर्ययत्व;
चेतनको है उपयोग रूप, विनमूरत चिनमूरत अनूप॥२॥

अन्वयार्थ :- (जीवादि) जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष (प्रयोजनभूत) प्रयोजनभूत (तत्त्व) तत्त्व है, (तीनमांहि) उनमें (विपर्ययत्व) विपरीत (सरधैं) श्रद्धा करना [सौ अगृहीत मिथ्यादर्शन है।] (चेतनको) आत्मा का (रूप)

स्वरूप (उपयोग है) देखना-जानना अथवा दर्शन-ज्ञान है [और वह] (विनमूरत अमूर्तिक) (चिन्मूरत) चैतन्यमय [तथा] (अनूप) उपमारहित है।

भावार्थ :- यथार्थरूप से शुद्धात्मदृष्टि द्वारा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष, इन सात तत्त्वों की श्रद्धा करनेसे सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये इन सात तत्त्वों को जानना आवश्यक है। सातों तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान करना उसे अगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। जीव ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप अर्थात् ज्ञातादृष्टा है। अमूर्तिक, चैतन्यमय तथा उपमारहित है।।२।।

‘अगृहीत मिथ्यात्व...’ अर्थात् अनादि की मिथ्याश्रद्धा। अगृहीत अर्थात् नयी नहीं ग्रहण की हुई। जन्म के बाद कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र मिले और विपरीत श्रद्धा ग्रहण करे, उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं, परन्तु अनादि के निगोद से लेकर निसर्ग अर्थात् स्वाभाविक विपरीत मान्यता अनादि से की है, उसे अगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। ‘अगृहीत मिथ्यादर्शन और जीवतत्त्व का लक्षण।’ इसमें दो व्याख्या करेंगे। अगृहीत समझ में आया ? अनादिकाल से उन पुण्य और पापभावों को अपना माना; ज्ञानानन्दस्वरूप को भूला ऐसी जो मिथ्याश्रद्धा, वह अगृहीत मिथ्यात्व है, नयी ग्रहण नहीं की है। अनादि के निगोद एकेन्द्रिय वे जीव से लेकर स्वर्ग में देव हुआ, अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया, साधु होकर पंच महाव्रत की क्रिया पालन कर (वहाँ गया) परन्तु इसने अगृहीत मिथ्यात्व का अभाव नहीं किया। वह अगृहीत अर्थात् वह पुण्य और दया, दान, व्रत का विकल्प उत्पन्न होता है, वह विकार है, उसे अपना मानना, अगृहीत मिथ्यादर्शन है। आहा...हा...! समझ में आया ?

प्रश्न :- अनादिकाल का है, इसलिए तो मजबूत है ?

उत्तर :- यह मजबूत तो अगृहीत उपरान्त गृहीत हो, वह मजबूत है। अगृहीत का अर्थ इतना कि अनादि से ग्रहण किया है, नया नहीं। यह मिथ्यादर्शन अनादि का है और जन्मने के बाद कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की विपरीत मान्यता करने का नाम गृहीत मिथ्यात्व है, उस मिथ्यात्व को

अधिक पुष्ट किया। आयेगा, इसमें सब आयेगा। समझ में आया ? किसी दिन, पढ़ा है कभी ? ऊपर-ऊपर से मान्यताएँ चला रखी हैं। इसने तो पुस्तक छपायी है, कोई गप्प छपाई हो।

अब, अगृहीत मिथ्यादर्शन की व्याख्या करते हैं -

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरथै तिनमांहि विपर्ययत्व;

चेतनको है उपयोग रूप, विनमूरत चिन्मूरत अनूप॥२॥

देखो ! वह पहले कहा था न ? वह, आत्मा का...ए...ई... देवानुप्रिया ! कहाँ गया ? ए...ई... क्या कहा था ? पहले इसमें आत्मा का रूप कहा था न ? 'आत्मा का रूप नहीं जाना' - नहीं आया था ? 'कैसे रूप लखे आपनो...' चौदहवी, चौदहवी (पहली ढाल की चौदहवी गाथा)। 'कैसे रूप लखे आपनो' - यह रूप अर्थात् आत्मरूप है। देखो ! यहाँ ले लिया, देखो ! 'चेतनको है उपयोगरूप' है न ? 'बिनमूरत, चिनमूरत, अनूप' बहुत सरस बात। संक्षिप्त में बहुत अच्छी की है। अब, क्या कहते हैं ?

देखो ! इसका अर्थ - '(जीवादि)...' नव तत्त्व है न ? यों संक्षेप में सात कही, 'जीव, अजीव...' आस्रव में पुण्य-पाप साथ ही आ गये। 'आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष...' भगवान ने नव तत्त्व कहे हैं। इस प्रकार भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं; छह द्रव्यों के अन्तर्भेद नव तत्त्व कहे। इन नव तत्त्वों का भिन्न भिन्न स्वस्व है। वे कैसे है ? - यह सब व्याख्या अन्दर आयेगी, हाँ !

जीव, उसे कहते हैं चैतन्यरूप को। अजीव उसे कहते हैं कि शरीर, कर्म, धर्मास्ति आदि को; आस्रव उसे कहते हैं - जीव में होनेवाले शुभ-अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोधके भाव को आस्रवतत्त्व कहते हैं; बन्ध उसे कहते हैं, इनमें (रागादि में) आत्मा का अटकना। चैतन्य मूर्ति ज्ञानान्द, राग में अटका, उसे भावबन्ध कहते हैं। संवर उसे कहते हैं कि शुभाशुभ विकार रहित आत्मा के चैतन्य के आनन्द का भान और शुद्ध आनन्द के भान में स्थिर हो, तब जो शुभाशुभ परिणाम रुक जाएँ, उसे संवर कहते हैं। समझ में आया ? यह संक्षिप्त व्याख्या ! आगे

सब आयेगा, हाँ !

चैतन्यमूर्ति भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप है - ऐसा भान करके आनन्द में, ज्ञान में स्थिर हो, पुण्य-पाप के विकल्प से हटे, उतनी आत्मा की अनाकुल शान्ति उत्पन्न होती है, उसे भगवान, संवर कहते हैं। निर्जरा - पूर्व की शुद्धि से अधिक शुद्धि की शान्ति बढ़े, वीतरागता बढ़े, शुद्ध उपयोग की शुद्धि बढ़े; पुण्य-पाप भाव का उपयोग घटे; शुभाशुभ परिणाम घटे और शुद्ध उपयोग बढ़े उसे भगवान, निर्जरा कहते हैं। समझ में आया ? और मोक्ष-सर्वथा विकाररहित होकर आत्मा की पूर्णानन्द दशा की प्रगट दशा (होवे), उसे भगवान, मोक्ष कहते हैं। लो ! सात (व्याख्या हुई।) सात में आस्रव में पुण्य और पाप दो आ गये।

ये सात तत्त्व अथवा नव तत्त्व प्रयोजनभूत है, मतलब के हैं, स्वयं को इनका ज्ञान उपयोगी है। इन नौ का ज्ञान अपने को उपयोगी है। समझ में आया ? यह स्वयं को काम आवे ऐसा है। यह कहते हैं। समझ में आया ? यह नवतत्त्व मतलब के हैं, अपने उपयोग के हैं, अपने हित के हैं और स्वयं को प्रयोजनभूत भगवान ने सात (तत्त्व) कहे हैं, उन्हें भलीभाँति जानना चाहिए। भगवान जाने, कैसे होंगे ? गाडी भगाता (चलाया) जाता है, भाई ! ये सब पुराने मनुष्य हैं, सामायिक, पौषध और प्रतिक्रमण किया करते हैं, भगाते रहते है गाड़ी ! किसे संवर कहना और किसे आत्मा कहना ? (इसका कुछ पता नहीं हो।)

मुमुक्षु :- संवर नहीं होता ?

उत्तर :- धूल भी संवर नहीं है, वहाँ संवर कहाँ था ? आत्मा, पुण्य-पाप के राग से रहित-भिन्न भासित हुए बिना, आनन्द में स्थिर हुए बिना संवर और सामयिक होगा कहाँ से ? समझ में आया ? है ?

मुमुक्षु :- मतलब के हैं, इसलिए संग्रह कर रखना।

उत्तर :- हाँ, हाँ ज्ञान में सुरक्षित रखना। क्या कहते हैं ? कहो, ज्ञान में इसे सुरक्षित रखना, उपयोग के। पहले कहा न ? नहीं कहा ? लाभदायक है। जीव ज्ञानानन्द स्वरूप है; अजीव शरीर, मन, वाणी, कर्म, जड़ की क्रिया उसकी स्वतन्त्र है। दया, दान, व्रत के परिणाम उत्पत्त होते हैं, वह शुभ-पुण्य बन्ध और आस्रव है और इन पुण्य-पाप के परिणाम रहित भगवान आत्माका ज्ञान

करके आनन्द में, शुद्धता में पुण्य-पाप से रहित दशा आनन्द में स्थिरता, वह संवर और निर्जरा है। पूर्णानन्द की प्रगट दशा का नाम मोक्ष है। वह आत्मा को संग्रह योग्य है। लो ! उसका ज्ञान; 'सुजान' कहा न ? क्या भाषा कही ? देखो न ! उसमें 'सुजान' कहा था न ! जानने को कहा था। यहाँ कहा कि उसे जानना विपरीत श्रद्धा, मिथ्यात्व है, सुलटी (सम्यक् श्रद्धा) लाभदायक है। समझ में आया ? बहुत संक्षिप्त में गागर में सागर भर दिया है। - गागर में सागर ! हिन्दी में संक्षिप्त में बहुत भर दिया है।

यह '(प्रयोजनभूत)' प्रयोजनभूततत्त्व है। देखो ! पहला यह कि स्वयं क्या तत्त्व है ? - यह जाने बिना स्व में स्थिर कैसे होगा ? अजीवतत्त्व को अजीवस्व से जाने बिना उसमें से लक्ष्य किस प्रकार छोड़ेगा ? समझ में आया ? मोक्ष को जाने बिना, पूर्ण मुक्ति परमानन्द को जाने बिना मोक्ष का प्रयत्न किस प्रकार करेगा ? और प्रयत्न करना, वह तो संवर-निर्जरा है। इन पुण्य-पाप के भाव-आस्रव को जाने बिना, आस्रव को जाने बिना उससे हटना, ऐसा संवर का ज्ञान किस प्रकार होगा ? समझ में आया ? भाई ! यह तुम्हारे यहाँ 'नागनेश' में कहाँ था ? नहीं ? सब उल्टी-उल्टी बातें हैं, एक-एक बात ! किसी एक भी तत्त्व की - क्या तत्त्व है और उसका क्या स्वभाव है ? कुछ भी भान नहीं है और कहे हम धर्म करते हैं। धूल भी नहीं है। बकवास में जिन्दगी चली जाएगी और चौरासी के अवतार में चला जाएगा।

'उनमें विपरीत श्रद्धा करना...' देखो ! ज्ञानानन्दस्वस्व आत्मा, उसे रागवाला, पुण्य-दया, दानवाला मानना, उसका नाम मिथ्यादर्शन है। उस पुण्य-पाप के भाव से आत्मा को लाभ मानना, इसका नाम मिथ्यादर्शन है। यह अजीव की क्रिया - देह-मन-वाणी की होती है, वह मुझसे होती है; यह पर जीव की दया चलती है, वह मैं पाल सकता हूँ - यह मिथ्यादर्शन ! कारण कि अजीवतत्त्व भिन्न है। (पर) जीव और अजीव मुझसे भिन्न है, उनकी दशा मुझसे नहीं होती, फिर भी 'मुझसे होती है' (- ऐसा माने तो) वह मिथ्यादर्शन - अगृहीत मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? तथा संवर और निर्जरा... आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धस्वस्व, उसकी अन्तर निर्मलता में ध्यान में एकाकार होना, उसका नाम संवर है। उसे नहीं मानकर, शुभभाव- दया, दान के होते हैं, उन्हें संवर मानना, यह मिथ्यादर्शन। समझ में आया ? और अकेले उपवास करके निर्जरा

मानना, उसका नाम मिथ्यादर्शन। शुद्ध आत्मा का भान होकर अन्दर में - आनन्द में स्थिर हो, अतीन्द्रिय आनन्द का विशेष स्वाद आवे, उसका नाम निर्जरा है। उसे नहीं मानकर, एक उपवास किया, मुझे निर्जरा हुई (- ऐसा माने), उसका नाम मिथ्यादर्शन। ऐ.... देवानुप्रिया ! ये हमारे पुराने लोग हैं। कहो, सेठिया व्यक्ति है और पुराने हैं, वहाँ 'वडाल' के। सब सुना है न ! इन्होंने जिन्दगी में बहुत सुना है, उपाश्रय के अग्रेसर। मरे तब रोवे। अरे...! भगवान, बापा ! भगवान क्या कहते हैं - उनके तत्त्व का पता नहीं हो तो उसे सच्ची श्रद्धा कहाँ से हुई ? आहा...हा...!

यह विपरीत श्रद्धा, उसे अगृहीत मिथ्यात्व (कहते हैं।) अगृहीत अर्थात् यह मान्यता अनादि की है, नयी नहीं है। कहो, अनादि से चला आया कहो - (सब एकार्थ है।) ओ...हो...! दिगम्बर साधु होकर नौवें ग्रैवेयक गया, हाँ ! नाम मुनि (होकर) हजारों रानियाँ छोड़कर, पंच महाव्रत के परिणाम, दया के ऐसे परिणाम (पालन किये कि) ऊपर से देवलोक के देवी आवे तो भी चलित न हों ऐसे। भान नहीं होता, तत्त्व अन्दर आनन्दकन्द ज्ञानानन्द शुद्ध स्वस्व है और यह दया, दान का विकल्प उठता है, वह आस्रव और पुण्य व विकार है - इन दोनों का भेदज्ञान नहीं था, इससे मिथ्यादर्शन के कारण नौवें ग्रैवेयक में रहा। यह कहा न ? उसके कारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान के कारण चार गतियों में भटका है, देवलोक में भी भटका है - ऐसा आया न इसमें ? समझ में आया ?

‘(चेतन को)...’ अब चेतन की व्याख्या करते हैं। पहले सात की व्याख्या लेनी है न ? ‘(चेतन को) आत्मा का (रूप)...’ देखो ! ऐ.. देवानुप्रिया ! आत्मा का रूप आया। रूप अर्थात् स्वस्व। भगवान आत्मा अन्दर देह में विराजमान है, चैतन्य प्रभु। उसका स्वस्व कैसा है ? ‘देखना - जानना...’ है। उसका स्वस्व तो देखना और जानना है। देह की क्रिया करना या राग करना, यह उसका स्वस्व नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया ? जानना-देखना, दर्शन-ज्ञान स्वस्व भगवान आत्मा, दृष्टा-ज्ञाता; चैतन्य प्रतिभास। उसमें दूसरा ज्ञात हो, वह जाननेवाला। राग-द्वेष हों, वह ज्ञात हो, शरीर की क्रिया ज्ञात हो; स्वयं जाननेवाला, करनेवाला नहीं। समझ में आया ? ऐसा भगवान आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव ने देखा कि यह तो ज्ञान और दर्शन का पिण्ड आत्मा है। जैसे, शक्कर का शक्कर और मिठास का दल है; वैसे ही

यह भगवान आत्मा जानना और देखना, उसका दल/ सत्व उसकी सम्पूर्ण शिला है। जानने-देखने के सत्व की शिला आत्मा है। अरूपी भगवान आत्मा है। उसे न मानकर, ऐसा न मानकर उसे पर की क्रिया करनेवाला मानना, उसे पुण्य के - पाप के भाववाला मानना यह चैतन्य की विपरीत मान्यता मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? यह तो अब पुस्तक सामने रखा है, उसका अर्थ होता है। ... में क्या लिखा है ?

‘आत्मा का (स्व) स्वरूप देखना-जानना अथवा दर्शन-ज्ञान है...’ जिसे यहाँ भगवान आत्मा कहते हैं (उसका स्वरूप जानना-देखना है)। बाकी पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, वह तो आस्रवतत्त्व है। शरीर, वाणी, मन और यह जड़, वह तो अजीवतत्त्व है। ऐसे अजीव को अजीव; आस्रव को आस्रव; जीव को जीव इसने नहीं जाना है। गड़बड़ की है, ईधर से ऊधर और ऊधर से ईधर। जानने-देखने के स्वरूप को विकारवाला माना और विकार से आत्मा को लाभ होता है ऐसा माना है। अजीव की क्रिया जीव करता है - ऐसा माना है। जीव, अजीव की क्रिया करे, जानना-देखना नहीं परन्तु अजीव की चलना-बोलना आदि (क्रिया करे - ऐसा माना है।) ऐसा चैतन्य तत्त्व को जानने-देखने के स्वरूप से न मानकर विपरीत मान्यता की, उसका नाम मिथ्यादर्शन शल्य कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया ? है या नहीं पुस्तक ? ऐ... ई...! है ? उसमें लिखा है ? यह क्या कहा ?

‘चेतन को रूप उपयोगरूप’ कहा ? लो ! भाई ने क्या कहा ? ‘चेतन को है उपयोगरूप, चेतन को है उपयोगरूप, बिनमूरत चिनमूरत अनूप।’ बिनमूर्ति अस्पी है वह तो; उसके रंग, गन्ध, स्पर्श (नहीं है।) बिनमूरति (अर्थात्) उसमें रंग, गन्ध कहाँ है ? यह धूल का रंग है। वह तो अरूपी है और चिन्मूरति है। बिनमूरति और चिनमूरति। बिनमूरति (अर्थात्) वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श रहित की भी चिनमूरति है। वह तो भगवान ज्ञान का तेज है, अकेले ज्ञान के प्रकाश का चन्द्र है। ज्ञान-दर्शन का पिण्ड भगवान आत्मा है। उसे भगवान ने आत्मा कहा है। उसे काम सोंपना, विकार के और पर के काम सोंपना, (वह) मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान है - ऐसा कहते हैं। कहां भाई ! यह समझ में आता है या नहीं ? (पुस्तक) है न हाथ में ? हेड मास्टर है। आहा...हा...! क्या कहते हैं ? देखो !

भगवान आत्मा जानना-देखना अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा का पिण्ड है। उसमें आनन्द आदि सब है, परन्तु यह मुख्य गुण है न ? उपयोग लेना है न ? उपयोग लेना है। उपयोग अर्थात् जानना और देखना, बस ! यह जानना-देखना भगवान आत्मा का लक्षण अनादि-अनन्त भगवान न देखा है। ‘उवओग लक्षणो निश्चम्’ भगवान आत्मा को भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थकरदेव ने जानने-देखने के उपयोग स्वस्व से भगवान आत्मा को देखा है। उसे आत्मा कहते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से आत्मा के लिए मानना (अर्थात्) शरीरवाला और कर्मवाला और अमुकवाला और सुखी दुःखी मानना और राजा-रंक (मानना) सब मिथ्यादर्शन शल्य है। यह आयेगा, यह बाद में आयेगा। चौथी (गाथा में) आयेगा समझ में आया ?

विपर्य श्रद्धा की बात है न ? देखो न, क्या कहा ? ‘सरधैं तिनमांहि विपर्यत्व।’ इन नव तत्त्वों में विपरीतस्व मानना, उसे भगवान अगृहीत मिथ्यात्व अनादि की उल्टी मान्यता कहते हैं। अब इसमें तो दीपक जैसी बात है, इसमें कुछ सीखने का (या) बहुत लम्बे पड़खे की बात नहीं है। ऐसे जो नवतत्त्व है, उन्हें विपर्यत्व - विपरीतस्व से श्रद्धा करे; जैसे है वैसे न माने, उससे उल्टा माने। आत्मा ज्ञानस्वस्व-जानना-देखना, उसे न माने; उसे रागवाला माने, पुण्यवाला माने, कर्मवाला माने, शरीरवाला माने। वे तो भित तत्त्व हैं। यह मिथ्याश्रद्धा है। अजीव को आत्मा का कार्य करता माने। अजीव अपने आप नहीं कर सकता (ऐसा माने)। अजीव में कहाँ शक्ति है ? शरीर, वाणी जड़-मिट्टी है, उसमें शक्ति है ? वह तो आत्मा होवे तो उन्हें हिला सकता है। इस तरह मूढ़ अजीव की शक्ति को नहीं मानता। वह अजीवतत्त्व जड़ है। हिले-चले, वह जड़ के कारण है; आत्मा-फात्मा नहीं हिलाता। अजीव अर्थात् जड़। उसमें कहाँ शक्ति (है) ? उसमें अनन्त शक्ति है। आहा...हा...!

अजीव, तत्त्व है। अजीव कहीं अवस्तु नहीं है। एक-एक रजकण में अनन्त-अनन्त गुण हैं। एक-एक पोईन्ट, यह तो बहुत रजकण (का पिण्ड है।) यह कहाँ मूल चीज है ? बहुत रजकण इकट्ठे होकर हुआ है। भगवान ने तो इसका अन्तिम, अन्तिम, अन्तिम टुकड़ा। उस एक-एक परमाणु में अनन्त गुण हैं। स्वी-रंग, गन्ध, स्पर्शवाले अनन्त गुण हैं, उसमें जड़ में। उसके कारण से गति करता है और उसके कारण से स्थिर होता है और उसके कारण से वर्गान्तर होता है - ऐसी

उसमें शक्ति है। ऐसा अजीवतत्त्व को ऐसा न मानकर, आत्मा उसका कुछ करदे - ऐसा मानना, वह मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्याश्रद्धा में मानता है।

मुमुक्षु :- भगवान ने दी है।

उत्तर :- भगवान ने जाना है, दे कौन ? भगवान ने कहा है कि जितने गुण तुझ में है... पहले कहा नहीं था ? आकाश सर्व व्यापक है न ? आकाश है या नहीं ? भगवान ने देखे हुए छह द्रव्य है या नहीं ? धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, जीव और पुद्गल। उनमें आकाश सर्वव्यापक है न ? ऐसा और ऐसा चला है न ? यह चौदह ब्रह्माण्ड तो थोड़ा है। चौदह राजू लोक तो असंख्य योजन में है, परन्तु खाली भाग है न ? अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त चला जाता है, उसे भगवान आकाश कहते हैं, आकाश। फिर कहीं (पूरा) हो रहता है ? आकाश कहीं किसी दिशा में हो रहता है ? अमाप... अमाप... अमाप... अमाप... कहीं मर्यादा नहीं आती। उसके एक-एक पोईन्ट का रजकण रखो तो एक प्रदेश कहलाता है। इतने अधिक प्रदेशों की संख्या से भी एक जीव में अनन्तगुने गुण हैं। इतने ही अनन्त गुण उस परमाणु में है। सुना है या नहीं कभी इसने ?

यह आकाश नामक पदार्थ ऐसा का ऐसा अव्यापक अर्थात् व्यापक कहीं नहीं स्कता, न मर्यादा रहती, अमर्यादित ऐसा का ऐसा चला ही गया, चला ही गया। उसके जितने प्रदेश हैं, उससे तुलना में एक रजकण में अनन्तगुने गुण हैं। एक रजकण, हाँ ! पोईन्ट ! ऐसा भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ तीर्थकरदेव ने जाना और कहा है। जाना वैसा कहा और कहा वैसा है। भगवान ने कहाँ किया था ? किया है भगवान ने ? भगवान कुछ कर्ता-धर्ता नहीं है। समझ में आया ? उस अजीव में शक्ति नहीं है - ऐसा मानता है। अपने आप शरीर चलता है ? अपने आप वाणी निकलती है ? अपने आप निकलती है। तुझे भान नहीं है, यह कहते हैं। उसमें विपर्यय श्रद्धा करता है। समझ में आया ?

चैतन्यमय आत्मा अमूर्तिक है। देखो ! एक तो ज्ञानदर्शन कहा। ‘(विनमूरत)’ अर्थात् ‘अमूर्तिक...’ उसमें कोई रंग, गन्ध, रस, स्पर्श भगवान आत्मा में नहीं है, वह तो अस्वी है। ‘(चिन्मूरत) चैतन्यमय...’ है। चैतन्य ज्ञानदर्शनमय भगवान आत्मा है और ‘(अनूप)...’

है (अर्थात्) 'उपमारहित है।' चैतन्यमय है न ? अभेद हो गया न ? ज्ञानदर्शनमय है। अकेले ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव से भरा हुआ और अनूप (अर्थात्) उसे कोई ऊपमा नहीं। क्या ऊपमा देना ? वह चीज ही महान पदार्थ है। सर्वज्ञ स्वभावी भगवान, जिसमें सर्वज्ञस्वभाव अनादि का पड़ा है; सर्वदर्शीस्वभाव अनादि का पड़ा है। यह कहा न ज्ञानदर्शन ? अनादि का अन्दर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी शक्तिरूप से पूरा स्वभाव पड़ा है। उसे क्या ऊपमा देना ? ओ...हो...हो...! इस भगवान आत्मा को किसकी ऊपमा देना ? ऐसी महान चीज ! जो रजकण में न हो, कर्म में न हो, शरीर में न हो, पुण्य-पाप के भाव में वह चीज नहीं। ऐसी वह चीज स्वयं वर्तमान, हाँ ! अरूपी, चिन्मूरति, अमूर्तिक, चिन्मूरति, ऊपमारहित। अरे...! इसने आत्मा को सुना नहीं कि आत्मा कैसा है ? है ?

मुमुक्षु :- ऊपमा देकर (समझाओ।)

उत्तर :- उसे ऊपमा किसकी देना ? यह इसके जैसा ! इसे रूपी की ऊपमा किस प्रकार देना ? अनुपम पदार्थ, अलौकिक पदार्थ... किसकी देना ? कहो ! घी का स्वाद चखा है या नहीं ? घी का स्वाद चखा है या नहीं ? तुम्हें तो पहले से ही मिला होगा ? घर में भेंसे थी। हैं ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- परन्तु उसे पता पड़े तो ऊपमा देकर बताओ। घी का स्वाद ऊपमा देकर बताओ।

मुमुक्षु :- वह तो खाकर बतायें।

उत्तर :- यह तो खाकर हुआ। यह तो जानकर हुआ। ऊपमा देकर बताओ - मैंने तो ऐसा कहा है। घी का स्वाद तुम्हारे ख्याल में है, ऊपमा देकर बताओ। किसी पदार्थ के साथ ऊपमा देकर बताओ। तुमने तो घर में भेंस का घी खाया है। हैं ? इनके घर तो भेंसे -भेंसे थी। इनके पिताजी को थी न ? इनके पिता के पिता भी (थे), घरठीक था (समझ में आया ?) ऐ...ई...! भाई ! ... घर में रखते होंगे या नहीं पहले ? हैं ? रखते थे न ? बड़ा घर था वहाँ। कहो, समझ में आया ? क्या कहते है ? लाओ, बताओ, घी का स्वाद बताओ। लाओ, किसी पदार्थ की ऊपमा। शक्कर जैसा ? गुड़ जैसा ? कैला जैसा ? ... जैसा ? नहीं आते ? तालाब में होते हैं। कैसा ? अरे...! जिसे जड़ की ऊपमा ख्याल में होने पर भी दी नहीं जा सकती। यह तो भगवान आत्मा,

इसे क्या ऊपमां देना ? ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया ? होशियार डॉक्टर घी की ऊपमा दे सकता है या नहीं ? नहीं ?

मुमुक्षु :- वह तो इंजेक्शन देता है।

उत्तर :- धूल भी इंजेक्शन नहीं देता, राग कर सकता है। यहाँ तो भगवान कहते हैं, राग कर सकता है। इंजेक्शन तो जड़ की क्रिया है। अरे...! कहाँ की कहाँ बाते ? तत्त्व का पता नहीं चलता, श्रद्धा विपरीत और माने कि हम कुछ धर्म करते हैं। कहते हैं, '(अनूप) ऊपमारहित है।

भावार्थ :- यथार्थस्व से शुद्धात्मदृष्टि द्वारा... स्पष्टीकरण किया है। अर्थात् शुद्धात्मज्ञान क्या, उस द्वारा जीव को जानना, उस द्वारा अजीव को जानना। वह अजीव मुझसे भित है, ऐसा। आस्रव को जानना। पुण्य-पाप का भाव शुद्धात्मदृष्टि से जानना कि वह आस्रव पुण्य-पाप का भाव है, वह मुझ में नहीं है, परन्तु जानना ऐसा। बन्ध (अर्थात्) अटका हुआ अथवा जड़का बन्ध। संवर-निर्जरा कहे वह, शुद्धात्म दृष्टि द्वारा शुद्धपर्याय निर्मल होवे, रागरहित, पुण्य-पाप रहित शुद्धता का नाम संवर है और शुद्धात्मदृष्टि द्वारा निर्जरा-शुद्धि होवे, उसका नाम निर्जरा है और पूर्ण मोक्ष शुद्धात्मदृष्टि द्वारा इन सात तत्त्वों की श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन होता है। कहो, समझ में आया ?

शुद्धस्वरूप ज्ञायक मूर्ति की दृष्टि द्वारा, फिर आस्रव-बन्ध यह तो विकारी पर्याय है; संवर-निर्जरा-मोक्ष, यह निर्विकारी (पर्याय) है। यह द्रव्य का ज्ञान होवे तो इन निर्विकारी विकारी पर्याय का ज्ञान होता है। समझ में आया ? फिर यह क्या ? शुद्धात्म दृष्टि द्वारा (अर्थात् क्या) ? अद्भुतता लगती है। वीतराग की वाणी प्रथम ही मुद्दे की पहली रकम की है, परन्तु कभी सुनी नहीं है।

शुद्धात्म दृष्टि - आत्मा ज्ञान, चैतन्यरूप अनूप आनन्दकन्द है। ऐसी अन्तर में सम्यग्दृष्टि द्वारा अजीव को भिन्न जानना, पुण्य-पाप के भाव को विकारी भिन्न जानना और संवर-निर्जरा को अपनी शुद्ध, इनसे भिन्न अपनी निर्मल पर्याय हुई, वह अभेद जानना। पूर्ण निर्मल पर्याय को मुक्ति जानना। इस प्रकार यथार्थ जाने, उसे सम्यग्दर्शन होता है और सम्यग्दर्शन कहा जाता है। पहले सम्यग्दर्शन की यह व्याख्या सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के

बिना चारित्र या व्रत-तप नहीं। कोरे कागज पर सब शून्य है। समझ में आया ?

इसलिए इन सात द्रव्यों को जानना आवश्यक है। वहाँ मतलब के कहा था न ? मतलब के कहे, प्रयोजनभूत कहे, उपयोगी कहे, काम के कहे या जरूरत के कहे। **‘सातों तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान करना, उसे अगहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।’** ऐसी मान्यता बतलायी। इस सत्य से विपरीत (मान्यता) करना, वह अनादिका अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव कहा जाता है।

‘जीव ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वस्व अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा है...’ लो ! पहली जीव की व्याख्या की, हाँ ! फिर अजीव की करेंगे। स्वयं एक-एक की व्याख्या करेंगे। **‘जीव ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वस्व अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा है...’** भगवान तो आँखे - चैतन्यदृष्टा, ज्ञान-दर्शन उसकी आँख है। उसमें पुण्य-पाप का भाव, वह कोई उसके स्वरूप नहीं है, वह तो विकल्प, बढ़े हुए नाखून है। समझ में आया ? वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। शरीरादि पर है।

‘अमूर्तिक चैतन्यमय...’ है, अभेद है। भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शनमय अभेद है। शक्कर जैसे सफेद और मिठासमय है; वैसे ही भगवान आत्मा जानने-देखने के ज्ञानदर्शन के स्वभावमय है। आहा...हा...! मात्र एक व्याख्या की जीव की। चेतनस्व, विनमूरति, अमूर्त, अनूप।

जीवतत्त्व के विषयमें मिथ्यात्व (विपरीत श्रद्धा)

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल,
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देहमें निज पिछान॥३॥

अन्वयार्थ :- (पुद्गल) पुद्गल (नभ) आकाश (धर्म) धर्म (अधर्म) अधर्म (काल) काल (इनतैं) इनसे (जीव चाल) जीव का स्वभाव अथवा परिणाम (न्यारी) भिन्न (है) है; [तथापि मिथ्यादृष्टि जीव] (ताकों) उस स्वभाव को (न जान) नहीं जानता और (विपरीत) विपरीत (मान करि) मानकर (देहमें) शरीर में (निज) आत्माकी (पिछान) पहिचान (करे) करता है।

भावार्थ :- पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-यह पाँच अजीव द्रव्य है। जीव त्रिकाल ज्ञानस्वभाव तथा पुद्गलादि द्रव्यों से पृथक् है, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव आत्मा के स्वभावकी यथार्थ श्रद्धा न करके अज्ञानवश विपरीत मानकर; शरीर ही मैं हूँ, शरीरके कार्य मैं कर सकता हूँ, मैं अपनी इच्छानुसार शरीर की व्यवस्था रख सकता हूँ - ऐसा मानकर शरीरको ही आत्मा मानता है। [यह जीवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है]॥३॥

‘जीवतत्त्व के विषय में मिथ्यात्व (विपरित श्रद्धा) ।’

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल,
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देहमें निज पिछान॥३॥

इस जीवतत्त्व में मिथ्यादृष्टि का मित्यात्वभाव (कहते हैं।) यह ‘पुद्गल...’ यह शरीर, वाणी, कर्म ये पुद्गल हैं, यह मिट्टी, धूल है। समझ में आया ? इससे भगवान जीव की चाल अर्थात् उपयोग - ज्ञान-दर्शन भिन्न है। ऐसा न मानकर शरीर मेरा और इसकी क्रिया मेरी - (ऐसा माने) वह मिथ्यादृष्टि जीव है। यह जीव की विपरीत मान्यता है। पुद्गल शरीर, कर्म, पैसा, स्त्री, पुत्र, सब - यह देहादि, हाँ ! उनका आत्मा अन्दर अलग है। यह सब दिखता है, धूल, एक-एक धूल जितनी यह सब है, उस पुद्गलको अपना मानना, कहे समझ में आया ? इस जीव के स्वभाव और परिणाम से वह जाति भिन्न है। क्या कहा ?

‘इनतैं न्यारी है जीव चाल;’ शरीर, कर्म की दशा से जीव की चाल अर्थात् उपयोग ही अलग प्रकार का है। आहा...हा...! चाल ली है, जीव की चाल। यह उसका उपयोग ही अलग प्रकार की गति का है, कहते हैं। आहा...हा...! जानने-देखने का उपयोग उससे-जीवके परिणाम से वह भिन्न चीज है। यह शरीर वाणी, कर्म जड़ मिट्टी यह भिन्न है, उसे अपना मानना, अथवा उसकी जो क्रिया होती है उसकी पर्यायको अपना मानना इसका नाम मिथ्यादृष्टि, जीवके विषय में उसे मिथ्यात्व है। जीव की श्रद्धा का ज्ञान नहीं है। कहे, समझ में आया ?

मुमुक्षु :- गरज नहीं की।

उत्तर :- तुमने ऐसी गरज नहीं की। बात सत्य है। बात तो स्वयं इसने गरज नहीं की ! ऐसा कहा न ? स्वयं से भटकता है न ? स्वयं भूल की है न ?

मुमुक्षु :- दूसरा क्या करे ?

उत्तर :- नहीं, नहीं, नहीं, यह बात नहीं। स्वयं कहा था न पहले ? मिथ्यादर्शन के वश (होकर) दुःखी (होता है।) और परिभ्रमण करता है, ऐसा कहा था। उसे सत्य सुनने को नहीं मिला था, इसलिए परिभ्रमण करता है - ऐसा नहीं कहा था।

मुमुक्षु :- कर्मने किया है।

उत्तर :- यह तो बात ही नहीं है। जड़ तो क्या करे बिचारा ? 'कर्म बिचारै कौन भूल मेरी अधिकाई' - जड़ बिचारा कौन ? मिट्टी, उसे तो पता ही नहीं है कि हम जगत की चीज है या नहीं ? उसे कब पता होगा कि हम शरीर हैं ! बिचारा मिट्टी जड़ है, उसे तो यह ज्ञान जानता है कि यह जड़ है। उसे तो पता ही नहीं कि हम कौन हैं ? कर्म-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मिट्टी जड़ रजकण धूल है। उसे तो पता ही नहीं है कि हम कर्म हैं, या हम रूपी है या रजकण हैं ? ज्ञान उन्हें जानता है कि यह रूपी रजकण जड़ मिट्टी है। आहा...हा...! अद्भुत किन्तु मण में आठ पसेरी की भूल की है न ! कहते हैं पूरी-पूरी (भूल की है।)

जीव की चाल इस पुद्गल से अलग है। उसे कहते हैं कि नहीं, नहीं; मेरी चाल उसके कारण है अथवा वह मेरे कारण चलता है, यह सब अजीव मेरे कारण चलते हैं, बोलते हैं। देखो ! वर्ण बदलता है, ऐसा होता है, निवाला लेते हैं, दाल-भात लेते हैं, सब्जी लेते हैं, पानी पीते हैं - यह सब हम करते हैं... परन्तु इस जड़ की क्रिया से इसकी (जीवकी) चाल अलग है। यह तो जानने-देखनेवाला है। यह क्रिया आत्मा की कहाँ से आयी ?

मुमुक्षु :- मानता है न ?

उत्तर :- यह ऐसा ही मानता है न ! न माने तो इसका मिथ्यात्व टिके कैसे ? अनादि से मिथ्यादृष्टि रहा है। अनन्त बार त्यागी हुआ, परन्तु मिथ्यादर्शन क्या कहलाता है - इसका ज्ञान इसने नहीं किया। उसमें बाहर में क्या है ? वह तो अनन्त बार हुआ। समझ में आया कुछ ?

यहाँ तो कहते हैं, पाँच से जीव का उपयोग और परिणाम अलग है, ऐसा कहना है। शरीर में या कर्म में आत्मा नहीं है, पुण्य-पाप में आत्मा नहीं है। **‘(तथापि मिथ्यादृष्टि जीव) उस आत्मस्वभाव को नहीं जानता...’** यह पुण्य-पाप का राग और शरीर, वाणी, मन और यह धर्मास्ति, अधर्मास्ति तत्त्व, इनसे पृथक् हूँ - ऐसा नहीं जानता। पृथक् जानने का/ भेदज्ञान का प्रयत्न कभी नहीं किया।

मुमुक्षु :- कहने में तो...

उत्तर :- कहना क्या ? वह तो जड़ की पर्याय है। भाषा जड़की अवस्था है; आत्मा कहाँ बोलता है ? कठिन बात है, भाई ! आहा...हा...!

‘(तथापि मिथ्यादृष्टि जीव) उस आत्मस्वभाव को नहीं जानता...’ इन सब से पृथक् चीज़ है, परन्तु पृथक् नहीं जानता। परस्पर, परस्पर ... जैसे छलाछल हो गया। शरीर अच्छा तो मैं अच्छा; शरीर ठीक नहीं तो मुझे ठीक नहीं; उसे रोग आवे तो मैं रोगी हो गया, उसे निरोगता होवे तो मैं निरोगी हो गया। मूढ़, वह मूढ़ है। कहे कि शरीर की क्रिया ठीक होवे तो मुझे ठीक; अठीक होवे तो मुझे अठीक। इस प्रकार यह शरीर की चाल से जीव की चाल पृथक् है - ऐसा नहीं जानता। आहा...हा...! भाषा भी कैसी की है ! काल चाल, आता है, नहीं ? भाई ! काल चाल आता है। वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, ‘बनारसीदास’ में नहीं ? काल चाल आता है। काल को चाल कहा है। वहाँ काल को चाल कहा है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव लिया है। सत्य बात है।

कहते हैं, भगवान आत्मा, ये पाँच द्रव्य जितने हैं - धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल और पुद्गल, इनसे उत्पन्न पृथक् (है।) पुद्गल का एक रजकण से रजकण पृथक् है - ऐसा पृथक् स्वल्प है - ऐसा ज्ञान इसने नहीं किया है। **‘उल्टा मानकर...’** विपरीत मानकर, **‘शरीर में आत्मा की पहिचान कराता है।’** लो ! यह शरीर की क्रिया में; और यह मैं और यह मैं - ऐसा मानता है, इसका नाम मिथ्यादृष्टि अज्ञानी कहा जाता है। इसने अनादि का यह मिथ्यादर्शन पकड़ा है, इसने छोड़ा नहीं; इसलिए भटक रहा है। इसकी व्याख्या करेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



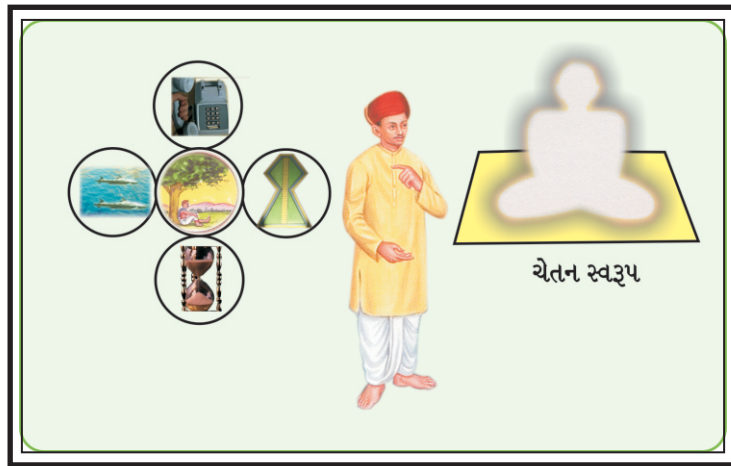
वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल २, रविवार

दि. २३-१-१९६६, ढाल-२, गाथा ३, ४ प्रवचन नं.-६

‘दौलतरामजी’ कृत दूसरी ढाल चलती है। तीसरी गाथा है न ?

**पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल,
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देहमें निज पिछान।।३।।**

है, तीसरी गाथा ? ‘जीवतत्त्व के विषय में...’ मिथ्याश्रद्धा - विपरीत मान्यता। यह विपरीत मान्यता दुःखरूप है। विपरीत श्रद्धा, यह दुःख का कारण है और विपरीत श्रद्धा ही परिभ्रमण का मूल है। कुछ समझ में आया ? विपरीत श्रद्धा, वह दुःखरूप है, असत्यरूप है, भ्रमणा का कारण है; इसलिए उसे बताते हैं कि जीव में क्या विपरीतता/ श्रद्धा है ? कि पुद्गल इस जगत में शरीर, कर्म आदि सब पुद्गल है। यह चित्र है, उसमें किया होगा। किसी का चित्र होगा। यहाँ की एक पुस्तक थी न ? वह किसीने लिया लगता है। यहाँ की एक चित्रवाली पुस्तक थी। वह यहाँ की पुस्तक है, वह किसी न परसों ली है। सागर में गया। यहाँ की पुस्तक है न एक ? वह मुझे चाहिए नहीं वह तो यहाँ की एक पुस्तक है, वह कहाँ है ? ऐसा। ले गया था, किसी ने लिया होगा। उसमें चित्र है। देखो ! उसमें चित्र है न ? पुद्गल, देखो ! चित्र है उसमें पुद्गल। वह ऊपर लिखा है न ? वह। क्या



कहलाता है ? (ग्रामोफोन) गुजराती शब्द कहो न, बाजा ! देखो, ऊपर बाजा है। है न ? वह पुद्गल है। यह बतलाने में क्या आशय है ? कि यह आवाज आदि पुद्गल है। आवाज और निकलती है, वह पुद्गल है, वह आत्मा नहीं है। आत्मा से आवाज नहीं निकलती। भाषा, वह पुद्गल है, जड़ है - ऐसा कहा है। देखो ?

‘धर्म...’ देखो ! उसमें धर्म में मछली की है। चित्र में पानी में मछली चलती है, उसमें पानी निमित्त है। ऐसे धर्मास्तिकाय, जड़-चैतन्य गति करे, उसमें निमित्त है। अधर्मास्तिकाय है। देखो ! अन्दर वृक्ष के नीचे आदमी बैठा है, वृक्ष के नीचे...। भगवान तीर्थंकर ने देखा हुआ अधर्मास्तिकाय एक पदार्थ है कि जो जड़ और चैतन्य गति करते हुए स्थिर होते हैं, उन्हें वह स्थिर (होने में) निमित्त कहलाता है। जैसे चलते हुए पंछी को वृक्ष (स्थिरता में) निमित्त है। ऐसा एक अधर्मास्तिकाय नामक तत्त्व है।

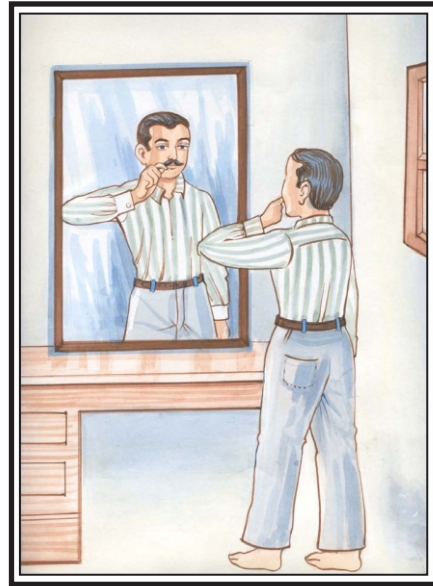
फिर देखो अन्दर वह पूरा लोक रखा है और वह घड़ियाल किया है। यह घड़ियाल, वह काल, कालचक्र है। वह द्रव्य है। देखो ! धर्म, अधर्म, आकाश और काल। आकाश वह पूरा लोक रखा है न अन्दर, उसके आस-पास का सब आकाश है। ये पाँच अजीव द्रव्य हैं। जीव तो त्रिकाल ज्ञानस्वस्वरूप है। जीव की चाल... अन्दर चाल आया था न ? ‘इनतैँन्यारी है जीव चाल...’ यह शरीर, भाषा, कर्म - इनसे जीव की चाल पृथक् है। वह तो जानने-देखनेवाला है। उसका स्वभाव जानने देखने का है और उसकी पर्याय अर्थात् परिणमन भी जानने-देखने की पर्याय है, उसे आत्मा कहते हैं। समझ में आया ? ऐसे आत्मा, त्रिकाल ज्ञानस्वभाव और वर्तमान परिणमन, उसकी चाल-गति-परिणमन ऐसा उसका जानना-दखना स्वभाव है। आत्मा को ऐसा न मानकर... आत्मा, पाँच द्रव्यों से जिसकी चाल भित है। जानना-दखना और जानने-देखने की पर्याय-ऐसी उसकी गति (अर्थात्) स्वभाव, पाँच द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न है।

शरीर, कर्म, वाणी आदि से उत्पत्त उसकी जीव की चाल पृथक् है - ऐसा न मानकर... कहा है न ? ‘ताकौ न जान विपरीत मान...’ वह पुद्गलादि द्रव्यों से पृथक् है, परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव उस आत्मा के स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा नहीं करता। यह शरीर, कर्म और भाषा यह सब मैं हूँ, अन्दर यह आत्मा जानने-देखनेवाला और जानने-देखने की दशा, वही आत्मा है। पुण्य-पाप

के विकल्प, वे आस्रव में जाएंगे। दया, दान, काम, क्रोध के शुभाशुभभाव, वे आस्रवतत्त्व में जाएंगे। यह सब-कर्म, भाषा, यह सब अजीवतत्त्व में जाता है। इनसे, भगवान आत्मा-जानने देखने के जिसके परिणाम और स्वभाव, उसे ऐसा मानकर, उसे इस शरीर, वाणी, मन की क्रियावाला और ये क्रियाएँ आत्मा करता है - ऐसा मानना, यह जीव में मिथ्यादृष्टि की मिथ्याश्रद्धा है।

मिथ्यादृष्टि आत्मा के स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा नहीं करता। ‘अज्ञानवश विपरीत मानकर...’ है न इसमें ? ‘विपरीत मानकर...’ मूल पाठ में ऐसा है। विपरीत मान करके ‘शरीर ही मैं हूँ...’ समझ में आया ? उस चित्र में किया है, देखो ! चैतन्य और शरीर दो बताये हैं। चैतन्य तो अरूपी ज्ञानघन जानने-देखनेवाला, उसके परिणाम वे चैतन्य है। वह शरीर बताया है, वह पुद्गल शरीर बताया है। शरीर पृथक् और चैतन्य पृथक्। दो न मानकर शरीर, वह मैं, शरीर की पर्याय (वह मैं)। इसे भी पर्याय कहते हैं। .. नहीं ? और उसकी होती जो पर्याय-स्थिति, वह मैं इस प्रकार जीव की भिन्न चाल को - जानने-देखने को न मानकर इसे (शरीर को) आत्मा मानता है। वह मिथ्यादृष्टि जीव दुःख के भाव का सेवन करता है; परिभ्रमण के कारण को करता है और वर्तमान दुःखस्वस्व जो मिथ्याभाव, वह उत्पन्न करता है।

देखो ! एक दृष्टान्त इसमें दिया है। हम बहुत बार उस दर्पण का दृष्टान्त दैते हैं न प्रातः में ? यह मैं हूँ, यह मैं यह रहा। लिखा है इसमें ? देखो ! उस चित्र में है, देखो ! स्पष्ट दृष्टान्त देते हैं। इसने पहले से किया होवे तो क्या पता ? परन्तु मैं तो दृष्टान्त देता हूँ। देखो ! यह दर्पण। दर्पण में दिखता है, देखो ! दर्पण में, मूँछ ऐसे करके ऐसे देखता है। यह मैं हूँ। सवेरे देखता है न मुँह में ? ऐसे करे, ऐसे करे और टीका करे, टपका करे। वह अन्दर जो वस्तु दिखती है, वह तो पुद्गल है, जड़ है।



यह शरीर जड़ है, परन्तु दोनों को अपना मानता है कि यह सब क्रिया मेरी और यह मैं। यह जीव के विषय में इसकी बड़ी मिथ्यादृष्टि की भूल है। कहो, कुछ समझ में आया ? देखो ! किया है हाँ ! यह तो पहले से छपा होगा न ? यह तो यहाँ का दिगम्बर का है, हों ! अपने तो बहुत बार दृष्टान्त (देते हैं।) इन्होंने ऐसा दृष्टान्त दिया है। 'दर्पण में प्रतिबिम्ब को अपना ही स्वस्व समझता है' - अन्दर लिखा है, हाँ ! तुमने तो पढ़ा ही कहाँ है ?

यह भगवान आत्मा तो जानने-देखनेवाला त्रिकाली ज्ञानस्वभावी वस्तु है और उसकी चाल अर्थात् वर्तमान परिणाम भी उसके ज्ञान के, दर्शन के ही परिणाम, वह आत्मा है। ऐसे जीव को न मानकर, उस जीव को शरीर की क्रियावाला, भाषावाला, बोलनेवाला, उन कर्म को जड़ को बाँधनेवाला (मानता है)। समझ में आया ? जीव को ऐसा मानना, वह मिथ्यादृष्टि की जीवतत्त्व में बड़ी भूल है। आहा..हा..! कहो, यह तो अभी पहले की बात है, जीवतत्त्व की श्रद्धा की बात है। समझ में आया ?

‘विपरीत मानकर शरीर ही मैं हूँ, शरीर के कार्य मैं कर सकता हूँ...’ हाथ हिलाना, बोलना, ऐसे करवट बदलना यह करना मुझसे होता है - ऐसा माननेवाला शरीर को ही आत्मा मानता है। कहो, यह बात सही होगी ? कौन घुमाता (परिवर्तित करता) होगा इस शरीर को इधर से उधर करवट ? हैं ? यह पैर ऊँचे कौन करता होगा ? यह पैर तो जड़-मिट्टी है। अन्दर जाननेवाला आत्मा तो ज्ञानचालवाला है। जाननहार... जाननहार... जाननहार... उस समय देह में जैसी क्रिया होती है, वैसी उसे जाननेवाला आत्मा है। जाननेवाला है, उस क्रिया का करनेवाला नहीं। परन्तु वह शरीर की क्रिया पैर घुमाया, ऐसा किया, ऐसा किया, ऐसा किया, खाते समय भी जीभ ऐसे फिराये, ऐसे (करे) यह सब क्रियाएँ शरीर की पर्याय जड़ की अवस्था है। उसे अज्ञानी मूढ़, जीवतत्त्व को भिन्न न मानकर, उसी (शरीर की) क्रिया को करनेवाला मानता है। कहो, समझ में आया ?

‘मैं अपनी इच्छानुसार शरीर की व्यवस्था रख सकता हूँ...’ अर्थात् ? ठीक पथ्य-आहार लेता हूँ, ठीक से दूध पीता हूँ, दवा ठीक से लेता हूँ, सवेरे में खाते समय भी थोड़ा हिंगाष्टक ठीक से लेता हूँ और चबा-चबाकर खाता हूँ (कारण कि) पेट में दाँत नहीं हैं इसलिए।

शरीर की स्वच्छता रखना मेरा अधिकार है, इस कारण मैं शरीर की स्वच्छता रख सकता हूँ। वह मूढ़ जीव है। इस शरीर की इस प्रकार की दशा रहना, वह जड़ के कारण है; आत्मा के कारण नहीं। आत्मा की चाल तो अलग है। ऐसा यहाँ पर कहा है न ? क्या कहा है ? देखो न ! भिन्न चाल है - ऐसा कहा है। 'जीव चाल' - 'इनतै न्यारी है जीव चाल...' समझ में आया ? किनसे (न्यारी है) ? यह सब परमाणु, कर्म, शरीर, वाणी, दाल, मात, सब्जी, पैसा सब चीजे, इनसे तो (जीव) पृथक् चीज है पृथक् चीज पृथक् की पर्याय को अपनी मेने तो उसे पृथक् वस्तु की श्रद्धा नहीं है। मैं आत्मा हूँ - उसे ऐसी मान्यता का भी पता नहीं है। मूढ़ अपने जीव के स्वभाव को ही भूल गया है। कहो, कुछ समझ में आया ?

कहते हैं, 'मैं अपनी इच्छानुसार शरीर की व्यवस्था रख सकता हूँ...' अभी खुराक छोड़ दी है क्योंकि ठीक व्यवस्था (रहे), हमेशा शेर-दो शेर दूध पीऊँ। दो शेर सवेरे, दो शेर शाम का। इसलिए शरीर की अवस्था यह रखी रखी है। नहीं आता, नहीं आता ऐसा अज्ञानी मूढ़ मानता है। मूढ़ जीव मिथ्यादृष्टि, जीव के स्वभाव को नहीं जानकर, पर का विकारी दशा, शरीर की अवस्था को मेरे से रहती है और मैं ध्यान रखता हूँ, इसलिए शरीर ऐसा रहता है। भाई ! धूल में आरोग्य उसके घर रह गया। वह तो शरीर का जो परमाणु का पुद्गल है, वह पुद्गल है उससे जीव की चाल न्यारी कही है। उसकी चाल - वह चलता है, उसकी पर्याय तो उससे चलती है। वह आत्मा से चलती है, आत्मा निरोग रख सकता है, आत्मा सरोग कर सकता है, आत्मा बाल तोड़ सकता है, आत्मा हाथ ऐसे-ऐसे कर सकता है, आत्मा बोल सकता है, आत्मा जीभ फिरा सकता है - (ऐसा) तीन काल में नहीं है। क्या है ? वह तो जड़ की पर्याय होती है। आत्मा तो जानता है कि एसा होता है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- .. का अर्थ क्या ? बात क्या कही ? देखो ! 'इनतै न्यारी है जीव चाल...' जितने पुद्गल की पर्याय वर्तमान वर्तती है, उससे भगवान आत्मा सर्वथा भिन्न है - ऐसा न मानकर, इन सब क्रियाओं का मैं करनेवाला हूँ - ऐसा माननेवाले जीव की दृष्टि विपरीत है, मिथ्यात्व है, असत्य है, दुःखस्वरूप है, परिभ्रमण का कारण है। चौरासी के अवतार के परिभ्रमण का कारण

यह मिथ्याश्रद्धा है। ओ..हो..हो..! कहो, समझ में आता है कुछ ?

‘**ऐसा (मानकर) शरीर को ही आत्मा मानता है।**’ अर्थात् किसी भी प्रकार से शरीर की, वाणी की दशा, वह मेरा ही कार्य है; वह मैं हूँ। मेरा चैतन्य भित ज्ञानानन्द है - ऐसा न मानकर उसे ही (शरीर को ही) आत्मा मानता है। इस प्रकार हाँ ! मैं कर सकता हूँ अथवा मेरे अस्तित्व में - होनेपने में वह चीज है। इससे वह मेरे होनेपने में वह होने से मैं उसका अधिकारी हूँ, व्यवस्थित कर सकता हूँ। कहो, समझ में आया ? कितने ही लोग ऐसे होते हैं न कि ऐसे धीरे-धीरे चलते हैं (क्योंकि) नाभि में दबाव न लगे। है ? यह सब देखा है। यह सब नाम-ठाम का सब पता है। एक वृद्ध था, वह बहुत धीरे-धीरे क्यों चलता है ? (तो उसने कहा) - धीरे धीरे चलेंगे तो नाभि में दबाव नहीं लगेगा और श्वास कम रहे तो आयुष्य बढ़ता है। ऐ...ई...! मूढ़ है। कहा ऐसा का ऐसा। बुद्धि के लट्ठ जैसे गाँव-गाँव में भरे हैं। समझ में आया ? ऐसे कहलाये, फिर बाहर के होशियार व्यक्ति कहलायें, हम ऐसे हैं। धीरे-धीरे (चलते हैं)। श्वास अधिक आ जाएंगे तो आयुष्य कम हो जाएगा। श्वास थोड़े ज्यादा धीरे-धीरे लेंगे, थोड़े लेंगे तो श्वास बढ़ जाएंगे। इस प्रकार शरीर की अवस्था को आत्मा रख सकता है।- ऐसा मानता है। भाई !

मुमुक्षु :- रख सकता है।

उत्तर :- उसके समक्ष तो दृष्टान्त दिया है। यहाँ क्या कहते हैं ? देखो !

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल,

ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देहमें निज पिछान।।३।।

ऐसा करके। मान और करि साथ लेना है। ऐसे शब्द में मान ऐसे लाना - ‘**ताकों न जान विपरीत मान, मान करि करै देह में निज पिछान।**’ विपरीत मानकर देह में मैं हूँ, शरीर मैं, वाणी मैं - ऐसा अज्ञानी मूढ़ अनादि से आत्मा को न पहिचानकर पर को अपना (मानता है) क्योंकि अस्तित्व स्वयं ज्ञानस्वरूप कौन है - उसका पता नहीं है, इसलिए कहीं इसका अस्तित्व - होनापना स्वीकार करना पड़ता है। यह इन्द्रिय से ज्ञान करता है, इसलिए यह सब, यह सब, यह सब (मैं करता हूँ) - ऐसा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी, भले जैन नामधारक हो; सामायिक और प्रौषध आदि क्रियाएँ करनेवाला हो, परन्तु इस प्रकार शरीर की क्रिया ऐसी (होवे)... भाई ! यह शरीर

की क्रिया मैंने की - ऐसा करके, कहते हैं कि मूढ़ है। वह शरीर को ही आत्मा मानता है। समझ में आया इसमें ?

अनादि से जीव की चाल ही पाँच द्रव्यों से भिन्न है। है ? पुस्तक है ? वहाँ बोर्डिंग में भी नहीं ? पता नहीं यहाँ बढ़ जाती है, सब वहाँ से लाते थे न पहले। अब कल कहाँ... ? कल तो सोमवार है। सोमवार को छुट्टी है ? कहो, कुछ समझ में आया ? जब यहाँ सवेरे ऐसा चलता है, तब तक सवेरे आने वाले वहाँ से लेते आना। यहाँ कितने पूरे करे ? वहाँ पड़े वह वहाँ संग्रहित करना हो ? कहो, समझ में आया इसमें ?

‘देह में निज पिछान,...’ पुद्गल में अपनी पहिचान करता है। यहाँ यह किसलिए लिया ? वे चार तो अरूपी है न ! धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल अरूपी है, इसलिए उनमें तो इसकी नजर पड़ती नहीं। यह नजर पड़ती है इस शरीर में। इस शरीर की स्वच्छता और यह रखें, और यह करे और यह किया, मैंने किया, अमुक किया... भाई ! अपने रखने से शरीर रहता है, और मिटाने से मिटता है - ऐसी बातें लोग करते हैं। स्त्री भी ऐसी सरीखी होती है। हम खाने-पीने में ध्यान रखेंगे तो शरीर निरोग रहेगा और यह अभी तक अमुक को निरोग शरीर रहा है (क्योंकि) उनकी हिफाजत बहुत अच्छी थी। भाई ! यह ठीक होगा ? तुम्हारी मा का बहुत शरीर है। देखो ! इतने वर्षों में भी। है ? यह जानकारी होगी इसलिए न ?

मुमुक्षु :- काम करते हैं।

उत्तर :- धूल में भी काम करे इसलिए नहीं। काम करे वह तो राग किया, दूसरा क्या किया इसने ? घीसता (कार्य के बोझ में) रहा है। भेंस और गोबर के (संभालने/देखभाल में) ... वह तो जड़ की क्रिया है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- कहो, ठीक ! यह अपनी पोल खोल रहा है। यह बात भी मिथ्या है। काम अर्थात् क्या ? यह तो अन्दर राग और द्वेष करता है। देह की क्रिया जो होती है, उससे यहाँ शरीर में भूख लगती होगी ? समझ में आया ? यह भी लोग बोलते हैं, भई ! सवेरे उठकर दस शेर दल डालना, भूख लगेगी - ऐसा करके सास को बहू को काम सौंपना होता है न (इसलिए) अन्दर ललचाती

है। शरीर ऐसा होता है। जल्दी सवेरे चार बजे उठकर दस शेर दल डालिये। चने की दाल दले तो अन्दर बहुत कस रहे... करे तो बहू... यह सब सुना है, हाँ ! एक-एक बात, है ? हमने कहाँ कर लिया ? परन्तु यह तो सुना हो कि लोग ऐसा बोलते हैं। बोलते हों, सासु बहू को कहे, जल्दी उठ बा, जल्दी उठ, शरीर हल्का रहे, पूरी रात (सोते हो इसलिए) जल्दी दस शेर गेहूँ दल डालें तो काम भी हो और शरीर भी अच्छा रहे।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- धूल में भी उसके कारण नहीं होता। दोनो जन मूर्ख हैं, ऐसा यहाँ तो कहेत हैं। दुनिया की बहुत सारी बातें सुनी हो न ? हमने तो अनेक प्रकार की (सुनी है।) तुम सब तो नाचे हो, यहाँ तो हमने तो नाच को देखा है। कैसा नाचते है ? ... कितनी बाते भी अन्दर भ्रमणा करावे ! आहा..हा..! यही यहाँ कहते हैं, देखो !

किसी प्रकार विपरीत मान करके, - ऐसा कहते हैं। 'करे देह में निज पिछान -' कारण कि देह दिखती है; इसलिए देह, वाणी, अन्दर कर्म आदि सब कार्य मेरे हैं और यह सब काम हम करें यह तो अपना कर्तव्य है न ! - ऐसा करके, जीव को जाति ज्ञानानन्द-जाननेवाला-देखनेवाला है, उसके अस्तित्व को नहीं मानता, मूढ़ मिथ्यादर्शन का सेवन करता है। भाई ! यह प्रौषध, सामायिक करनेवाले भी यदि ऐसा माने तो वे मिथ्यादृष्टि और मूढ़ है - ऐसा कहते हैं, उन्हें प्रौषध और सामायिक नहीं है - ऐसा कहते हैं, भाई !

मुमुक्षु :- मिथ्यादर्शन ...

उत्तर :- मिथ्यादर्शन अर्थात् असत्य मान्या, झूठी मान्यता। इसलिए तीन बोल वर्णन किये। असत्य मान्यता अर्थात् दुःख का कारण अर्थात् दुःखस्व और परिभ्रमण का कारण। ऊपर आया था न ? भाई ! भ्रमत, नहीं ? उसमें से सब कहा है। 'भ्रमत मरत दुःख जन्म मरण...' एक तो भ्रम करता है, इससे चार गतियों में भ्रमेगा; और स्वयं दुःखस्व है और दुःख का कारण है। मिथ्याश्रद्धा, यही महान पाप है। इस पाप का त्याग न करे, तब तक दूसरी किसी चीज़ का त्याग, अन्दर राग का त्याग नहीं हो सकता। तीन (गाथा) हुई, तीन। (अब), चार।

मिथ्यादृष्टि का शरीर तथा परवस्तुओं सम्बन्धी विचार

मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव;
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेस्त्र सुभग मूरख प्रवीण॥४॥

अन्वयार्थ :- [मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादर्शनके कारण से मानता है कि] (मैं) मैं (सुखी) सुखी (दुखी) दुःखी, (रंक) निर्धन, (राव) राजा हूँ, (मेरे) मेरे यहाँ (धन) रुपया-पैसा आदि (गृह) घर (गोधन) गाय, भैंस आदि (प्रभाव) बड़प्पन [है; और] (मेरे सुत) मेरी संतान तथा (तिय) मेरी स्त्री है, (मैं) मैं (सबल) बलवान (दीन) निर्बल, (बेस्त्र) कुस्त्र, (सुभग) सुन्दर, (मूरख) मूर्ख और (प्रवीण) चतुर हूँ।

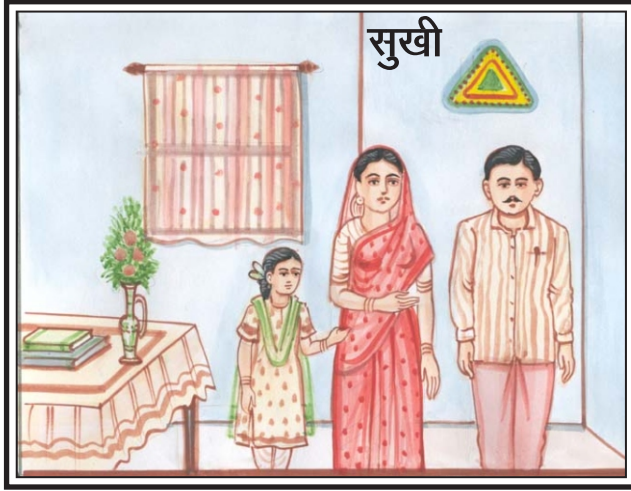
भावार्थ :- (१) जीवतत्त्वकी भूल :- जीव तो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है, उसे अज्ञानी जीव नहीं जानता और जो शरीर है सो मैं ही हूँ, शरीर के कार्य मैं कर सकता हूँ, शरीर स्वस्थ हो तो मुझे लाभ हो, बाह्य अनुकूल संयोगोसे मैं सुखी और प्रतिकूल संयोगोसे मैं दुःखी, मैं निर्धन, मैं धनवान, मैं बलवान, मैं निर्बल, मैं मनुष्य, मैं कुरूप, मैं सुन्दर-ऐसा मानता है; शरीराश्रित उपदेश तथा उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व मानता है-इत्यादि^१ मिथ्या अभिप्राय द्वारा जो अपने परिणाम नहीं है उन्हें आत्मा का परिणाम मानता है वह जीवतत्त्वकी भूल है॥४॥

१. जो शरीरादि पदार्थ दिखाई देते हैं वे आत्मा से त्रिकाल भिन्न हैं, उनके ठीक रहने या बिगड़ने से आत्मा का कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं होता; किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इससे विपरीत मानता है।

मिथ्याद्रष्टि का शरीर तथा परवस्तुओ सम्बन्धी विचार। है इसमें ?

मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव;
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेस्त्र सुभग मूरख प्रवीण।।४।।

देखो इसमें द्रष्टान्त भी दिया है अन्दर, हाँ ! एक स्त्री है और एक जवान ऐसे कोट पहनकर, एक सरीखे बटन यहाँ से यहाँ तक है न ? देखो न, अन्दर है। उसके जेब में हाथ, स्त्री साथ खड़ी है, वह लड़की है, हाथ ऐसा पकड़ा है। ओ...हो...! मेरी स्त्री है।



‘मिथ्याद्रष्टि जीव,
मिथ्यादर्शन के कारण से...’

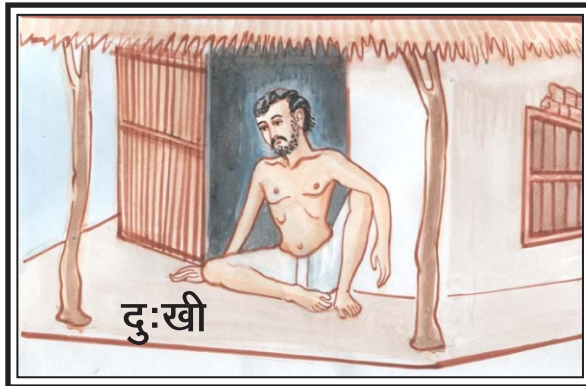
विपरीत मान्यता-मिथ्याशल्य के कारण से ‘मैं सुखी...’ देखो, लो ! ऐसा सरीखा कोट-बोट पहिना हो, शरीर निरोग हो ऐसे निकले, शाम को खा-पीकर घूमने निकले। घण्टे-दो घण्टे फुरसत हो और स्त्री साथ हो और लड़का-लड़की साथ हो, अज्ञान की हिलोरे मारता है ! मिथ्याश्रद्धा-मान्यता करके और मैं सुखी (हूँ) - ऐसा माननेवाला मूढ़ जीव है, कहते हैं। कहो, भाई ! हम सुखी हैं। सुखी की व्याख्या क्या ? सुखी का स्वल्प क्या ? सुख तो आत्मा के आनन्द में है। आत्मा के आनन्द में सुख है। यह मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान निकाल दे, तब आत्मा का आनन्द आयेगा। उसमें आनन्द है और बाहर के संयोगों मैं सुखी हूँ - ऐसा माननेवाला जीवतत्त्व को भूलता है। लो ! यह मिथ्याद्रष्टि, शरीर को और परवस्तुको अपनी मानता है। यह सब समझने योग्य बात है। पढ़ा है तुमने किसी दिन ? भाई !

‘मैं सुखी...’ देखो ! ऐसे कोट-बोट, पेन्ट ठीक से (पहिने हो) व्यवस्थित मोटर-बोटर नहीं हो, वरना उसमें रखे। यह सब डाला तो बहुत है, हाँ ! देखो ! यह सब मकान और मकान का वह

होता है न ? चोखंडे; अच्छा मकान बनाया हो न ? ऐसा चौखंडेवाला है न ? ऊपर जाली, इसके ऊपर बहुत दृष्टान्त अन्दर दिये हैं, हाँ ! तिजोरी की है, हं, ऐसे, देखो ! यह सब मकान और सब पड़ा हो, फर्नीचर। चारों तरफ सुसज्जित, सब ... समझे न ? लकड़ी कोमल की हो, पालीस ... पालीस। यह सीडियों में लकड़िया बिछायी हो और कपड़े ऐसे बिछाये हों और ऐसी आती है न ? कुर्सियाँ। हम सुखी है, सब प्रकार से सुखी हैं। हमारे हाम, दाम और ठाम है। हाम-हमारे कमाई का पुरुषार्थ भी है; दाम-पैसा भी है; ठाम-मकान और वखार और घर भी है। मूर्ख है, कहते हैं। समझ में आया कुछ ?

‘मैं सुखी ...’ ऐसा माननेवाला जीव को भूल गया है। मैं एक आनन्दकन्द ज्ञानस्वरूप हूँ - ऐसे जीव को भूलकर बाहर की सामग्री से (अपने को) सुखी मानता है, यह मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। ‘मैं दुःखी...’ अरे...! मेरे जैसा कोई दुःखी नहीं, हाँ ! दूसरे सब निरोगी घूमते हैं, अस्सी-अस्सी वर्ष का शरीर और यह मुझे पचास वर्ष में रोग आया; महादुःखी हूँ, बापा ! बहुत दुःखी हूँ; मुझे कोई संभाल करनेवाला नहीं होता, घर में लड़का नहीं होता, दो लड़के कमाने गये, स्त्री ठीक नहीं; दुःखी.. दुःखी (हूँ)। मूढ़ हो, भाई ! भगवान ! तू तो जानने-देखनेवाला आत्मा है और इस संयोगी चीज तथा प्रतिकूलता में मुझे दुःख होता है - ऐसा मानता है (तो) मिथ्यादृष्टि मूढ़ असत्य श्रद्धा का सेवन करता है और असत्य दुःख के भाव का सेवन करता है और दुःख के कारण का सेवन करते हुए दुःख उत्पन्न करता है और परिभ्रमण का कारण करता है। कहो, समझ में आया ?

‘मैं रंक, गरीब...’ हम तो भाई गरीब मनुष्य है; पाँच पैसे भी नहीं मिलते। देखो ! उसमें लिखा है, हों ! देखो ! गरीब लिखा, गरीब लिखा है अन्दर, देखो ! गरीब मनुष्य। मैं गरीब हूँ। किस प्रकार ? पैसे में ? की नहीं। शरीर से, स्त्री, पुत्र और सब प्रतिकूलता (है), इसलिए गरीब-गरीब हूँ। मूढ़



है, ...! बाहर की सामग्री कम (हो,) इसमें गरीबी कहाँ आ गयी ? महा मूल्यवान ज्ञानानन्दस्वभाव सम्पत्ति का स्वामी आत्मा, वह बाहर की प्रतिकूलता की सामग्री से (अपने को) गरीब माने (तो) मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव है, कहते हैं। उसे आत्मा की श्रद्धा का पता नहीं है। आहा..हा..! बहुत कठिन बात, भाई ! ऐसी बात लोगों को सुनना कठिन पड़ती है। वे (तो) लोग (ऐसा कहते हैं) ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो। करे नहीं (कुछ), एक रजकण बदल नहीं सकते; करो, करो करते हैं। स्वयं मिथ्यात्व का सेवन करते हैं और दूसरों को मिथ्यात्व को सेवन कराते हैं। कहो, समझ में आया ?

मैं गरीब, मैं राजा-ऐसा सब डाला है न ? इतना अधिक कहाँ से डाले ? एक दृष्टान्त दिया। मैं राजा हूँ। मेरे घर एक वर्ष की (एक) लाख की तो आमदनी है। इतनी हमारे जागीर है। लाख तो अभी बहुत काम नहीं आते। क्यों ? (इन भाई के) लड़के जैसों को तो अभी लाख-बाख की क्या गिनती ? परन्तु पाँच लाख, दस लाख की हमारी आमदनी है, हमारे ऐसा है, हमारे सब सुविधा है; हमारा पुण्य अभी बहुत फ़िरा है। पुण्य कब तेरा था ? वह तो रजकण था, धूल और धूल के (निमित्त से) प्राप्त हुई सामग्री धूल है। वह मेरे और हम राजा (है), कहते हैं कि वह जीव भूला है। जो चीज संयोग में आयी, उसे अपनी मानकर असंयोगी चीज को भूला है। कहो, समझ में आया कुछ ? दुःखी, गरीब, राजा।

‘मेरे रुपये...’ लो ! ‘मेरे धन...’ मेरे रुपये, मेरे रुपये, मेरे रुपये...। हैं ? एक साधु था। त्यागी हो गया। रुपये कोई ले गया होगा। उसके नाम से संथारा किया, मर गया। ऐसे के ऐसे मूढ़। बाहर निकला तब दूसरे प्रकार से निकला था, फिर छोड़ा। ममता (तो थी, यह मेरा पैसा, कोई खा गया होगा। क्योंकि घर में तो कुछ रखे नहीं न ? जहाँ रखे वह खा गया। फिर संथारा किया; नहीं आवे तब तक खाऊँ नहीं। मर गया। वहाँ कहाँ उसके पास थे कि दे। समझ में आया ?

कहते हैं, ‘मेरे रुपये.. पैसे...’ इतना संग्रह करके रखा है, गुप्त रखा है। पत्नी को भी पता नहीं और पुत्र को भी पता नहीं, इतना रखा है। मरणपूँजी रखी है अन्दर। मूढ़ ! पैसे के रजकण, वह तो जड़-मिट्टी है। मेरे पैसे, मेरे रुपये-यह माननेवाला मूढ़ मिथ्यादृष्टि जीव है। उसे आत्मा की श्रद्धा का पता नहीं है। यह तो बहुत कठिन पड़ता है, हाँ ! तब (क्या) हमें बाबा हो जाना चाहिए ? परन्तु बाबा ही है, सुन न ! रजकण कब तेरे हैं ? एक रजकण भी तेरा नहीं है और उसे

अपना माने तो महामिथ्यादृष्टि दुःख के भाव को करता है और दुःख के भाव में परिभ्रमण करेगा।

‘(गृह)...’ हमारे घर है, घर। महीने में पाँच हजार का किराया हमारे सहज में आता है - इतने हमारे मकान हैं, ऐसा है, वैसा है। बात करे तो मीठाश से करे। हमारे इतना है। हमारे घर है, हमारे घर है। पहले ! तेरा घर तो यहाँ रहा। वहाँ तेरा घर कहाँ था ? जड़ का घर तेरा (है) ? इतने बंगले बनाये हैं। इन्हें तो तीन बड़े बंगले हैं। एक बंगले में रहते हैं और दो बंगले किराये पर देते हैं। सब उसमें क्रम से आना चाहिए न ! कहे, समझ में आया ? गरीब मनुष्य को गरीब लो न एक झोपड़ी होवे, उसे श्रृंगार करता है। पुत्र का विवाह हो तब उसे जरा ऐसा श्रृंगार करता है। ऊपर कपड़े का क्या कहलाता है वह ? तोरण ! अर..र..र..! मूढ़ ! यह जीव भगवान आत्मा तो जानने-देखनेवाला है। जानने-देखने के स्वभाव से भरपूर और जानने-देखने की परिणतिवाला तत्त्व है। उसे ऐसे ‘घर मेरा’ (माननेवाला) मिथ्यादृष्टि है - (ऐसा) कहेत हैं।

‘(गोधन) गाय-भैंस...’ लो ! समझ में आया ? गोधन का (चित्र) बनाया है न ? नहीं ? इसमें नहीं होगा। गोधन है। गोधन-गाय और भैंस आदि। इतना शब्दार्थ है। गाय, बैल आदि। नीचे शब्दार्थ है। गाय, भैंस, बकरा, ऊँट, हाथी, तोता, कबूतर।

मुमुक्षु :- इसमें कहीं मोटर नहीं है।

उत्तर :- वह मोटर इसमें आ जाती है, इतनी तो हमारे मोटर है। लाख-लाख रुपये की मोटर आती है या नहीं ? ऐ...ई ! उसका क्या नाम आता है ? शेरोलेट ! शेरोलेट अर्थात् क्या ? कौन जाने ? उसमें एक भी अक्षर अपनी गुजराती का नहीं है। लाख रुपये की मोटर। हमारे चार मोटर लाख (-लाख) की है और चालीस-चालीस हजार की... है और वह धूल है। हमारे है, हमारे है, मर गया। परन्तु तेरा कब (था) ? एक रजकण भी नहीं। जीव में परवस्तु को अपनी मानना, वही महामिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान है। यह बात जीव को कठिन पड़ती है। उसमें अभी की हो..हा और मौजमस्ती का काल। ऐसा कमाना और ऐसा खाना और ऐसा पीना और ऐसा करना। धूल में भी नहीं कर सकता। सुन न !

मुमुक्षु :- खाना या नहीं खाना ?

उत्तर :- कौन खा सकता है ? धूल है, यह तो जड़ है। उसके रजकण आते और जाते हैं।

आत्मा को राग होता है। यह जड़ की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। खाने-पीने की (क्रिया) कभी नहीं कर सकता। यह सब तो ऊपरी है। कहो, समझ में आया ?

‘(प्रभाव) बड़प्पन...’ हमारा। संघ के सेठ है, संघ के प्रमुख हैं, संघ में हमारा पहला नाम (होता है), संघवी रूप से, सेठ रूप से, प्रमुखरूप से, मन्त्री रूप से। क्या नाम होगा ? सेनापति रूपसे, दीवानरूप से। हम दीवानसाहब के घर के हैं। यह हमारा बड़प्पन (है।) भगवान ! इससे तू बड़प्पन माने यह तो मिथ्यात्व है, भाई ! आत्मा का बड़प्पन तो अन्दर ज्ञानानन्द स्वभाव से बड़प्पन है। पर वस्तु से बड़प्पन माने यह मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। समझ में आया ? देखो ! ‘दौलतरामजी’ ने गृहस्थदशा में भी बात कितनी स्पष्ट की है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह रहा न ! अन्दर लिखा है, यह क्या कहते हैं ? ‘मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव...’ है या नहीं ? पड़ा है या नहीं इसमें ? आठ लड़को का पिता हूँ, बारह पुत्रों का (पिता हूँ), हम बारह भाई हैं, अमुक हैं, हमारे इतने पैसे हैं, धूल है। अभिमान... पर वस्तु का अभिमान करके चैतन्य को भूल गया। भगवान आत्मा तो इस वस्तुओं का जानने-देखनेवाला है - ऐसा कहना, यह व्यवहार है। समझ में आया ? स्वयं स्वयं का जानने देखनेवाला ऐसा चैतन्यस्वरूप, उसे भूलकर पर को अपना माने, वह असत्य, मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। इस प्रकार मूढ़ जीव चार गतियों में परिभ्रमण कर रहा है।

‘मेरी सन्तान...’ बोले तो अन्दर से ऐसा (बोले कि) महाराज ! मेरा पुत्र है। दस हजार वेतन है। एल.एल.बी.में कितने वर्ष से पास हुआ है और बहुत दिमाग, बहुत दिमाग। एक व्यक्ति तो कहता है, यह मेरी पुत्री ऐसे पढ़ी है... परन्तु अब क्या तुझे दिखावा कितना करना है ? वे इस भाई के मित्र थे। बहुत वर्ष की भी थी न ? यह मेरी पुत्री, यह मेरी पुत्री-इतना पढ़ी है.. परन्तु हमारे पास तुझे कितनी बात करनी है ? पुत्री भी तेरी नहीं है और पढ़ी तो उसमें भी तुझे क्या है ? और पढ़ी है वह मूढ़ता की - अज्ञान की पढ़ाई है सब। सब संसार की पढ़ाई अज्ञान की, मूढ़पने की पढ़ाई है। समझ में आया ? यह तो सब पोल खोल देते हैं, हाँ !

मुमुक्षु :- यह खोलने जैसा है।

उत्तर :- ऐसा है। हैं ? भाई ! हमारी सन्तान। भई लो ! अच्छा पुत्र हो तो मनुष्य को पोरस तो चढ़ता है न ! है ?

मुमुक्षु :- मीठास...

उत्तर :- मीठास अलग होती है। स्त्री बैठी होवे तो बातें करे, यह हमारे ऐसे है। हमारी मौसी का लड़का है और बहुत पैसेवाला है। यहाँ भले ही पाई न देता हो परन्तु उसे अन्दर ... है। हमारे साले की बहू है, यह गाँव की बड़ी आयी है... परन्तु तुझे क्या ? हमारे साले की बहू। ओहो...हो..!

मुमुक्षु :- नशा चढ़ गया है।

उत्तर :- नशा चढ़ गया है। देखो ! हमारी नात-जाति की स्त्री इतनी बड़ी ! परन्तु तू कौन ? तू स्त्री नहीं और स्त्री का शरीर है, वह तो उसका आकार है। शरीर का आकार स्त्री है। आत्मा स्त्री है ? भगवान आत्मा (तो) स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, देह नहीं, वाणी नहीं, कर्म नहीं। आहा...हा...! अद्भुत बात, भाई !

‘मेरी सन्तान...’ मेरी सन्तान। समझे न ? पुत्र-पुत्रियाँ। ‘मेरी स्त्री...’ दूसरे घर में भले होगी दूसरे की स्त्री, परन्तु मेरी स्त्री अलग प्रकार की, खानदान की... खानदान की... क्या है परन्तु ? तेरी सेवा बहुत करती है इसलिए किसकी सेवा करती है ? धूल की, शरीर की ? समझ में आया कुछ ? आहा...हा...! यह सब खुल्ला किया होगा, भाई !

मुमुक्षु :- सत्य है।

उत्तर :- सत्य है ? लो ! फिर सेठिया सत्य कहते हैं।

‘मेरी स्त्री...’ आहा...हा...! अरे...! बापा ! तेरी स्त्री कैसे ? भाई ! तेरी होवे तो तुझसे भित रहे नहीं। या तो उसे छोड़कर तू जाए या वह तुझे छोड़कर जाए। हैं ? तेरी चीज कहाँ थी ? चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा ज्ञानानन्द सम्पदा से भरपूर है, उसे स्वयं का न मानकर ऐसी वस्तु को (अपनी) माने, वह चैतन्य को भूल गया है। अपने चैतन्य की श्रद्धा उसे नहीं है। ऐसे आत्मा... आत्मा माने- ऐसा नहीं। हम आत्मा (बोले) - ऐसा नहीं। आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति स्वभाव है और यह सब चीजें मेरी नहीं हैं। मैं मुझमें हूँ और मेरा आनन्द और ज्ञानस्वभाव मेरा है - ऐसा माने, उसे आत्मा है। ऐसा सब माने, पर को अपना माने और फिर मैं आत्मा (हूँ ऐसा)

माने - ऐसा हो नहीं सकता। समझ में आया ?

‘मैं बलवान...’ देखो न ! शरीर में बलवान होता है न ? तीन-तीन, चार-चार लड्डु चढाता (खाता) हो, एकदम पचा दूँ - ऐसा कहे समझ में आया ? एक व्यक्ति, पाँच-छह व्यक्तियों का दूधपाक किया, वह खा गया। भाई फिर उसे शोच.. समझे न ? एक था, गाँव में एक था। तुम्हारे था ? ए..इ..! सब पता है। नाम तो सबके सुने होंगे न ? पाँच व्यक्तियों का बनाया समाप्त। फिर रोटी नहीं, दूधपाक नहीं। ... परन्तु... मुझे किसलिए पहले खाने बैठाया ? आहा...हा...! एसे सब। और फिर (ऐसा कहे हम) दो सामायिक करते हैं और प्रोषध करते हैं... परन्तु तुझे किसकी सामायिक आयी ? अभी आत्मा कौन है ? पर का अभिमान मिटा नहीं, पर से भितता का भान नहीं, सामायिक आयी कहाँ से ?

मुमुक्षु :- सामायिक...

उत्तर :- सामायिक कहना किसे ? आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। उसमें राग भी मेरा नहीं है, देह भी मेरी नहीं है, कोई जड़ की क्रिया मेरी नहीं है - ऐसे स्वरूप की श्रद्धा करके, अनुभव करके उसमें स्थिर हो, आनन्द में स्थिर हो, उसे सामायिक कहते हैं। सामायिक क्या आँखे (बन्द) करके दो घड़ी बैठ गये (तो) उसे सामायिक हो गई ? (वह तो) मिथ्यादृष्टि की सामायिक है।

‘मैं बलवान...’ एक मुक्का मारूँ तो खून निकाल दूँ ऐसा कितने ही बोलते हैं न ? एक मारूँ न ऐसे ठीक से... परन्तु तू कौन है जो मारेगा ? वह तो जड़ है, मिट्टी है भाई ! एक मारूँ तो खून ऊगलवा दूँ, खून ऊगलवा दूँ, मूर्ख तो अभिमान भी (कितना) ? हमारे (यहाँ) एक लड़का था, हाँ ! ‘पालेज’ में साथ में दुकान थी। लड़का हम दो को उठाले, ... ! अठारह वर्ष का था परन्तु हम बारह-बारह, चौदह वर्ष के, दोनों को ऐसे हाथ से उठाले और ऊँचा करके ऐसे घूमाये, हाँ ! .. ऐसा ! और जब मरने पड़ा... हाय...! मैंने नजरों से देखा है। दुकान के साथ रहता था। ‘पेटलाद’ का था। दुकान के साथ तम्बाकू की दुकान थी। एक जवान दो व्यक्तियों को उठाये, हाँ ! ऐसे हाथ से ऊँचा करे और घुमाये। वह बीमार पड़ा। विवाह किया और फिर बीमार पड़ा, मरने की तैयारी... मैं देखने गया था। कैसे हो ? बोलने की शक्ति नहीं, मरने की तैयारी। रात्रि में मर गया। फिर... बोल गया था। वहाँ है न ‘पालेज’ ? एक गाँव है, कैसा ? नदी के किनारे। वहाँ ले गये। आहा...हा...! उसे देखा। एक बार रात्रि में लड़को को ऊँचा करनेवाला और वह फिर ऊँचा

हो गया। बापा ! यह शरीर तेरा नहीं है, यह शरीर का बलवानपना तेरा नहीं है।

‘(दीन)...’ हम निर्बल है, बापू ! हममें मक्खी उड़ाने की ताकात नहीं है। परन्तु यह कमजोरी तो जड़ की है, इसमें तेरी कहाँ आई ? आहा...हा...! समझ में आया ? ‘(बेस्व) कुस्व...’ कुरूप। छोटी उम्र से यह शीतला निकली और यह सब घंटा दो घंटा जैसा मेरा स्व हो गया। मेरा स्व - ऐसा बोलता है, परन्तु यह तो जड़ का है; तेरा कहाँ से आ गया ? शर्माता है। किसी की आँख जरा फूटी हो तो चश्मा-वश्मा आड़े रखता है। स्त्री होवे तो फिर जरा साड़ी आड़े रखती है। वह सो रही होवे तो न दिखे (इसलिए) साड़ी ठीक से रखती है। परन्तु उसमें जड़ के कारण तुझे क्या है ? आहा...हा...! बापू ! धर्मदृष्टि तो आत्मा ज्ञानस्वस्व है, भाई ! उस ज्ञानस्वस्व में श्रद्धा करे, उसे ज्ञान और शान्ति के परिणाम प्रगट होते हैं। उसे ऐसी मिथ्याश्रद्धा नहीं होती और (जिसे) ऐसे मिथ्याश्रद्धा हो, उसे शान्ति और सम्यग्दर्शन नहीं होता। क्यों, भाई ! ऐसी श्रद्धा रखकर सामायिक, प्रौषध करे तो ? नहीं होते ? ऐसे बैठे। किसकी हो सामायिक, प्रौषध ? मिथ्यादृष्टि की विषमदृष्टि और विषमज्ञान होता है।

बैरूप हूँ, कुरूप हूँ। ‘(सुभग) सुन्दर...’ सुन्दर हूँ। देखो तो ! एक-एक अवयव ऐसे देखो, किसीके साथ मिलाओ। नाक देखो तो गरूड़ के उस (चोंच) जैसी; कान देखो तो कुण्डल जैसी; आँख देखो तो हिरण की आँख जैसी; मुँह देखो तो ऐसा मानो... लाल क्या कहलाता है वह ? अरीठा और ऐसा नाम आता है। शास्त्र में महिमा करे। टिंडोरा और लाल नहीं आता बड़ा ? ऐसा लाल; होठ ऐसे लाल, नैसर्गिक। नैसर्गिक हों ! नागरवेल के पान खायें और लाल-लाल रखे - ऐसा नहीं और अभी यह बहिने-बहिने ऐसा जरा लाल चोपड़ती है, वह भी नहीं और ये लड़के रात्रि में सफेद चोपड़ते हैं, उसकी लाली ऐसी आती है। हैं ? सब सुना है और सब देखा है। लोग बातें करते हैं, वह सुनते है कि यह चोपड़ा लगता है... परन्तु यह ऐसा लाल कहाँ से ? शरीर साधारण है और लाल कैसे ? लाल चोपड़ा है। आहा...हा...! मुरदे का श्रृंगार करके (मानता है कि) मुझे श्रृंगार हुआ। मुरदे को श्रृंगार करके मुझे श्रृंगार किया (मानता है)। मूढ़ है, कहते हैं। तुझे आत्मा का भान नहीं है। आहा...हा...!

‘(मूर्ख)...’ हूँ। लो ! एक भी नहीं आता, बापा ! बहुत मूर्ख ! परन्तु तू मूर्ख नहीं है, बापू !

तू तो ज्ञानानन्द, केवली को प्रगट करे ऐसा (तू है।) मूरख-बूरख पर्याय में जानता हूँ, उसमें मूरख मने, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! एक समय में ज्ञान में कभी होवे तो क्या है ? वस्तु भगवान आत्मा है। ऐसे एक समय की पर्याय को मूर्खरूप माने, वह आत्मा को नहीं मानता, आत्मा को नहीं जानता, उसे आत्मा की श्रद्धा नहीं है।

ऐसे 'चतुर हूँ।' गाँव के सब हमारे यहाँ पूछने, सलाह लेने आते हैं। समझ में आया ? हम गाँव खबरिया हैं, ठीक ! जितने गाँव के लोग हों, वे सब हमें पूछने आते हैं। भाई ! गाँव में... वह होशियार व्यक्ति कहलाता होगा या नहीं ? 'करांची' रहते थे। सब पूछने आते। भाई ! चतुर व्यक्ति को सब पूछने आते हैं। लो ! सगाई करना हो, लड़की का करना, अमुक पूछना, पूछने आते हैं, भाई ! इसका तुम क्या कहते हो ? ये सब चतुर कहलाते हैं। कहते हैं, हम चतुर है - ऐसा माननेवाले जीव मूढ़ है - यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह सब तो देखा होगा या नहीं ? पूरी दुनिया (देखी है।) कितने वर्ष से, यहाँ (संवत्) १९५३ से तो देखते हैं और दुकान पर भी देखते थे। दुकान पर भी बहुत अधिक देखते थे। समझ में आया ? आहा...हा...!

'(प्रवीन)' हैं। कोई बात पर से संबंधित हमारी। भाई ! ऐसा कितने ही कहते हैं।

मुमुक्षु :- यह सबमें होशियार है।

उत्तर :- हाँ, सबमें होशियार। एक व्यक्ति कहता था। गायें देखनी हो तो इतना... यह, भेंस को देखना हो तो यह, स्त्री को देखना हो तो यह, आदमी को देखना हो तो यह, मकान को देखना हो तो यह - इनकी सब परीक्षा होती है। सब संबंधित को लगती। सोनेकी अँगुठी ऐसी होती है, अमुक ऐसा होता है, वर्ण ऐसा होता है, गहना ऐसा होता है, गहने में ऐसा पोला होता है। एक-एक सब से संबंधित। धूल में भी होशियार नहीं है, कहते हैं। व्यर्थ का आत्मा के भान बिना ऐसी चतुराई को अपनी मानना मूढ़ जीव है, कहते हैं। आहा...हा...! भाई ! ठीक होगा यह ? तुमने वहाँ होशियारी नहीं की होगी ?

मुमुक्षु :- सब खुल्ला ...

उत्तर :- क्या कहते हैं ? खुल्ला करते हो.. सत्य बात। देखो न ! किन्तु यह तो

‘दौलतरामजी’ने लिखा है। देखो ! शास्त्र का सार करके (लिखा है।) इस अजीव को ही अपना मानता है। यह सब मूर्खता अजीवता है। यह कहाँ आत्मा का स्वभाव है ? और चतुर (होवे), बाहर का ज्ञानावरणीय का कुछ उघाड़ होवे, लौकिक कला और ज्ञान होवे, चतुराई होवे, पाँच पूछने बैठे ही होवें, पाँच-पच्चीस इसके घर में पूछने (बैठे होवें) और सम्बन्ध-बबन्ध करने में होशियार होवे तो इसे हमेशा लापसी मिले। किसी की सगाई करे न ! कितने ही ऐसे होशियार होते हैं। वे पड़े तो वहाँ एकदम सगाई हो जाए, दूसरा पड़े तो सगाई नहीं है। ऐसे के ऐसे। कितने ही ऐसे सब देखे हैं, हाँ ! आहा...हा...! यह सब मात्र लापसी खाने के अभिलाषी हैं। मानते ऐसा है कि हम जहाँ पड़ते हैं, वहाँ सब व्यवस्थित हो जाता है... कहते हैं कि, हम चतुर (-ऐसा मानना), वह जीव की बड़ी भूल है। आहा...हा...! भाई !

‘भावार्थ :- जीव तो त्रिकाल ज्ञानस्वस्व है...’ भावार्थ है न ? त्रिकाल भगवान चैतन्य ज्योत है। ज्ञान जिसकी चाल, ज्ञान जिसका स्वभाव, ज्ञान जिसका रूप, ज्ञान जिसकी सम्पदा, ज्ञान जिसका भाव - ऐसा आत्मा है। उससे अतिरेक करके परवस्तु को, किसी भी क्रिया को अपनी मानना, वह जीव की भूल की बड़ी मिथ्यादर्शन / श्रद्धा है। जहाँ तक मिथ्यादर्शन होता है, (वहाँ तक किसी प्रकार का धर्म-बर्म कोई त्याग वैराग्य उसे सच्चा नहीं हो सकता। समझ में आया ? भाई ! यह हेडमास्टर सब होशियार कहलाते हैं या नहीं ? सबको हाथ में रखते हैं। वे कितने ही ऐसा रखें। आहा...हा...! अभिमान (करे)। उसे शरीर-बरीर ठीक (इसलिए ऐसा माने कि) मालिक को दबाना और मालिक को वश रखना, यह तो अपनी कला है। आहा...हा...! हैं ?

मुमुक्षु :- अखबार में आया था।

उत्तर :- आयो होगा, परन्तु यह तो मैंने हमारे यहाँ नजरो से देखा था। ‘गारियाधार’ की बात है। यह तो बहुत वर्ष (पूर्व की) बात है ! ५५-६० वर्ष पहले की बात है। साथ में एक गंजा रहता गंजा। वह गंजा रहता भाई ! वह सामने रहता न ? उसकी दुकान बाहर बाजार में थी। उस समय मेरी उम्र छोटी, शरीर बहुत सुन्दर और सब बातें ऐसी करे कि ऐसा ओ...हो...हो...! कहा, क्या करता है यह ? महिलाये निवृत्त होकर ऐसे गप्पे लगायें ! और माने कि हम धर्मी है, प्रतिक्रमण करते हैं, सामायिक करते हैं, प्रौषध करते हैं, प्रतिक्रमण करते हैं। बहुत अच्छी बात है। धर्म का भान नहीं हो कि आत्मा ज्ञानानन्दस्वस्व है, उसके ज्ञान बिना यह अज्ञानी जीव, वह

त्रिकाल स्वस्व है उसे/ स्वयं को नहीं जानता।

‘जो शरीर है, वही मैं हूँ; शरीर के कार्य मैं कर सकता हूँ; शरीर स्वस्थ होवे तो मुझे लाभ हो...’ निरोगता होवे तो धर्म किया जा सता है - ऐसा माननेवाले मूढ़ जीव हैं। सब व्यर्थ आता है इसमें। देखो ! **‘बाह्य अनुकूल संयोग से मैं सुखी...’** बादशाही है, अभी सब व्यवस्थित है। लड़के व्यवस्थित, लड़किया व्यवस्थित; दामाद मिले तो ऐसे; मकान लेने जाएं तो पच्चीस हजार में लेने जाएं तो पचास हजार में मिल जाता है। सब प्रकार से कौन जाने... उलटा डालें तो सुलटा पड़ता है। भाई ! यह होता है, वह तो पुण्य के कारण होता है, इसमें तेरे कारण क्या है ? तू कहाँ वहाँ घुस गया तो व्यवस्थित करे ? (ऐसे) **‘मैं सुखी...।’**

‘प्रतिकूल संयोग से मैं दुःखी...’ कहो, समझ में आया ? मूढ़ है, कहते हैं। मिथ्यादृष्टि पापी है। पाप को करता है, दुःख को करता है, दुःख को भोगता है, भविष्य के दुःख के परिभ्रमण के भाव को उत्पन्न करता है। समझ में आया ? **‘मैं निर्धन, मैं धनवान, मैं बलवान, मैं निर्बल, मैं मनुष्य, मैं कुरूप...’** मनुष्य कैसा ? वह तो जड़ है। **‘मैं कुरूप, मैं सुन्दर - ऐसा मानता है। शरीराश्रित उपदेश...’** लो ! मोक्षमार्ग प्रकाशक का डाला। शरीराश्रित उपदेश होता है, यह आत्मा उपदेश करता है - ऐसा मानता है। वह तो वाणी-जड़ की क्रिया है। आत्मा उपदेश कर सकता है ? आत्मा में शब्द है, वह कर सकता है ? बहुत मानते हैं। अभी सम्प्रदाय के कितने ही साधु (कहते हैं कि) हम उपदेश देकर धर्म प्राप्त कराते हैं। अपने को वह नहीं करना, उसे जिलाना-ऐसा नहीं करना; उपदेश देना कि भाई ! किसी को मारना नहीं, किसी को ऐसा नहीं करना - ऐसा उपदेश दें तो धर्म होता है। उपदेश तो जड़ की भाषा है। आहा...हा...! यह शरीर की क्रिया उपदेश, उसे अपनी माने और मैंने उपदेश दिया, इसलिए मुझे लाभ होता है और उस उपदेश से जगत धर्म प्राप्त करता है और उससे मुझे लाभ होता है। मूढ़ जीव है; मिथ्यादृष्टि जीव को नहीं जानता। समझ में आया ?

‘उपवासादि क्रिया...’ इस शरीर में रोटियां नहीं खाई, वहाँ उपवास हुआ, वहाँ मुझे धर्म हुआ-ऐसा मानता है। रोटियाँ, वह तो इतना जड़ नहीं आता था। शरीर में नहीं पड़ा, इसमें तुझे धर्म कहाँ से हो गया ? समझ में आया ? आहा...हा...! कठनि लगता है।

मुमुक्षु :- लड़के तो...

उत्तर :- यह सब किसके लिये है ? लड़के छोटे होते हैं, वे ऐसे बड़ाई करते हैं कि मैं ऐसा कर सकता हूँ, मैं ऐसा कर सकता हूँ, मैं उछाल सकता हूँ, गेंद ऐसे कर सकता हूँ, अमुक ऐसा कर सकता हूँ, एक हाथ मारुं तो गेंद ऐसे कर सकता हूँ... वह भी मूढ़ है। कहो, समझ में आया ? यह लात (पैर) मारना चाहिए, मेरा पैर लगे तो गेंद ऐसे उड़ती है। आहा...हा...! पैर की ठोकर मारता हूँ, पूरा पैर नहीं मारता, कहे। जाए ऊँचे... ओ..हो...हो...! पैर कहाँ तेरा है कि तू ठोकर मारे ? सुन न ! समझ में आया ? क्या कहा ?

‘यह उपवासादि...’ अर्थात् शरीर में आहार कुछ थोड़ा आया, लिया, उनोदर किया, समझ में आया ? रात्रि में... ऐसा मुझे प्रायश्चित दो यह सब धर्म है - ऐसा मानते हैं। यह भाषा तो शरीर की क्रिया है, उसमें कोई राग मन्द हुआ हो तो वह पुण्य है और उसमें धर्म मानता है। ‘अपनापन मानता है...’ यह क्रिया मेरी है। कठिन बात है। ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ में ‘टोडरमलजी’ ने लिखा है। समझ में आया ? कि अनादि मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधु था, उसकी क्या भूल रह गयी ? उसने पुरुषार्थ तो बहुत किया था। वह शरीर की क्रिया और उपवास की जड़ की क्रिया (हो), उसे अपनी मानता है... राग मन्द हो, वह शुभ है, परन्तु देह की क्रिया में आहार नहीं मिला और उसे अपनी क्रिया मानता है। वह तो जड़की क्रिया हुई। समझ में आया ? है न यह ? हैं ? देखो ! यह इसमें है, हों ! ‘उसी प्रकार कर्मोदयजनित शुभाशुभ कार्य का कर्ता, तद्रूप परिणामें तो भी उस प्रकार का अन्तरंग श्रद्धान है कि यह कार्य मेरे... परन्तु यदि देहाश्रित व्रत, संयम को भी अपना माने....’ देहाश्रित। ‘टोडरमलजी’ मोक्षमार्ग प्रकाशक (में कहते हैं।) ‘देहाश्रित व्रत-संयम को भी...’ अपने देह की क्रिया हो। दया पालने की हो, देह से, हाँ ! उसे अपनी मानकर कर्ता हो, वह मिथ्यादृष्टि है। वह अज्ञानी है, उसे आत्मा की श्रद्धा का पता नहीं है। आहा...हा...! बहुत कठिन बात, भाई ! देखो, यह है। ३५५ पृष्ठ पर है। आहा...हा...! कहो, समझ में आया।

‘अपनापना मानता है - इत्यादि अभिप्राय द्वारा...’ है न ? नीचे लिखा है, हाँ ! इसने इसमें लिखा है, पुरानी प्रत में से। ‘जो शरीरादि पदार्थ दिखायी देते हैं, वे आत्मा से त्रिकाल

भित है...’ यह पुरानी प्रत में लिखा है। ‘उन पदार्थों के ठीक रहने या बिगड़ने से आत्मा का तो कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं होता, परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव उससे विपरीत मानता है।’ इसमें लिखा है, हाँ ! इसने स्वयं ! पुरानी प्रति है न ? पहली हिन्दी (प्रति में।)

‘इत्यादि मिथ्या अभिप्राय द्वारा...’ इत्यादि अर्थात् जितने सब हैं, उनमें कहीं-कहीं किसी रजकण में, किसी स्कन्ध में, किसी पर्याय में, किसी खाने-पीने की क्रिया में, कहीं भी अपनापना मानता है, मुझसे होता है - ऐसा मानता है। ऐसे ‘अभिप्राय से जो अपने परिणाम नहीं है, परन्तु सब परपदार्थ के ही परिणाम है...’ समझ में आया ? उस परपदार्थ की अवस्था को आत्मा की माने, आत्मा की सत्ता से होती है - ऐसा माने, ‘उन्हें आत्मा का परिणाम मानता है, वह जीवतत्त्व की (महा) भूल है।’ मिथ्यादृष्टि की बड़ी भूल है। वह जीवतत्त्व को नहीं जानता। कहो, समझ में आया वह ? यह तो समझ में आये - ऐसी बात है अब, आहा...हा...! इतनी सी भी पता नहीं होती। जैन में जन्मा होवे तो ऐसा का ऐसा उल्टा का उल्टा चला जाता है।

यह जीवतत्त्व में अपना ज्ञानानन्द त्रिकाल स्वस्व है, वह तो जानने - देखने की ही क्रिया को करनेवाला है। यह शरीरादि की क्रिया का या रागादि क्रिया उसकी नहीं। उसका कर्ता स्वभाव नहीं हो सकता - ऐसा जिसे भान नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि जीव की बड़ी भूल करता है।

अब, पाँचवे में ‘अजीव और आस्रवतत्त्व का विपरीत श्रद्धान’ बतलायेंगे। अजीव, अजीव, अजीव, की भूल। यह जीव की भूल कही थी। अब अजीव की भूल (कहते हैं।) शरीर उत्पन्न हुआ तो मैं उत्पन्न हुआ। इसमें दृष्टान्त दिया है, हाँ ! और मर गया। देखो ! मुर्दा। अर्थी निकाली, देखो ! दोनो दिये हैं, है न ? देखो यह ! मुँह और... शरीर उत्पन्न हुआ तो मैं उत्पन्न हुआ, शरीर मर गया तो मैं मर गया - ऐसा (जो) मानता है, वह अजीव की (भूल है) और आस्रव की (भूल अर्थात्) पुण्य-पाप का भाव दुःखस्व है, शुभाशुभभाव दुःखस्व है, उनकासेवन करके सुखस्व मानता है, वह मिथ्यादृष्टि की आस्रवतत्त्व की भूल है।

इसकी विशेष व्याख्या करेंगे।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव।)



अजीव और आस्रवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान;
रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन॥५॥

अन्वयार्थ :- [मिथ्यादृष्टि जीव] (तन) शरीर के (उपजत) उत्पन्न होने से (अपनी) अपना आत्मा (उपज) उत्पन्न हुआ (जान) ऐसा मानता है और (तन) शरीर के (नशत) नाश होने से (आपको) आत्मा का (नाश) मरण हुआ ऐसा (मान) मानता है। (रागादि) राग-द्वेष-मोहादि (ये) जो (प्रगट) स्पष्ट रूप से (दुःख देन) दुःख देने वाले हैं (तिनही को) उनकी (सेवत) सेवा करता हुआ (चैन) सुख (गिनत) मानता है।

भावार्थ :- (१) अजीवतत्त्वकी भूल :- मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है कि शरीर की उत्पत्ति (संयोग) होने से मैं उत्पन्न हुआ और शरीर का नाश (वियोग) होने से मैं मर जाऊँगा, (आत्मा का मरण मानता है;) घन, शरीरादि जड़ पदार्थों में परिवर्तन होने से अपने में इष्ट-अनिष्ट परिवर्तन मानना, शरीर में क्षुधा-तृषारूप अवस्था होने से मुझे श्रुधा-तृषादि होते हैं, शरीर कटने से मैं कट गया - इत्यादि जो अजीव की अवस्थाएँ हैं उन्हें अपनी मानता है यह अजीवतत्त्वकी भूल है^१।

(२) आस्रवतत्त्वकी भूल :- जीव अथवा अजीव कोई भी पर पदार्थ आत्माको किंचित् भी सुख-दुःख, सुधार-बिगाड़, इष्ट-अनिष्ट नहीं कर सकते, तथापि अज्ञानी ऐसा नहीं मानता। पर मैं कर्तृत्व ममत्वस्व मिथ्यात्व तथा राग-द्वेषादि शुभाशुभ आस्वभाव-यह प्रत्यक्ष दुःख देनेवाले हैं, बन्ध के ही कारण हैं तथापि अज्ञानी जीव उन्हें सुखकर जानकर सेवन करता है; और शुभभाव भी बन्धका ही कारण है - आस्रव है, उसे हितकर मानता है। परद्रव्य जीवको लाभ-हानि नहीं पहुँचा सकते, तथापि उन्हें

१. आत्मा अमर है; वह विष, अग्नि, शस्त्र, असत्र अथवा अन्य किसी से नहीं मरता और न नवीन उत्पन्न होता है। मरण (वियोग) तो मात्र शरीर का ही होता है।

इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें प्रीति-अप्रीति करता है; मिथ्यात्व, राग-द्वेष का स्वरूप नहीं जानता; पर पदार्थ मुझे सुख-दुःख देते हैं अथवा राग-द्वेष-मोह कराते हैं - ऐसा मानता है - यह आस्रवतत्त्व की भूल है ॥५॥

वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल ३, सोमवार

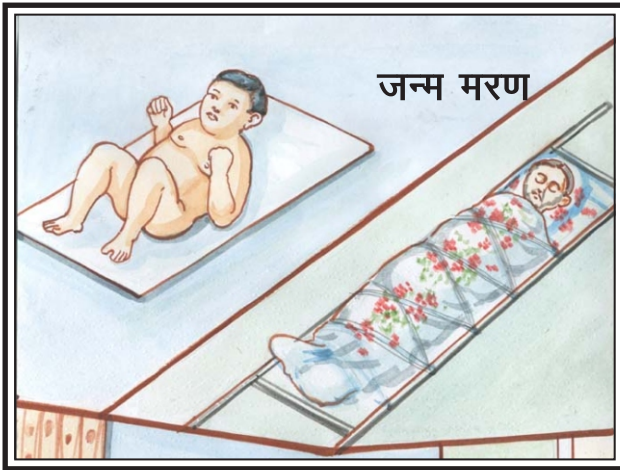
दि. २४-१-१९६६, ढाल-२, गाथा ५, ६ प्रवचन नं.-७

दूसरी ढाल। चार गाथा हुई, पाँचवी (गाथा)। ‘अजीव और आस्रवतत्त्व का विपरीत श्रद्धान।’

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान;

रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन ॥५॥

एक गाथा में दो की भूल (दिखायी है)। ‘(मिथ्यादृष्टि जीव)...’ अज्ञानी। अपना चैतन्यस्वरूप कभी जन्मता नहीं और कभी मरता नहीं। चैतन्य कभी जन्मता नहीं और मरता भी नहीं - ऐसे आत्मा को नहीं जानता हुआ ‘शरीर के उत्पन्न होने से अपना आत्मा उत्पन्न हुआ



- ऐसा मानता है।’ इसमें दृष्टान्त दिया है, देखो ! इसमें है। लड़का जन्मा न ? शरीर ऐसा हुआ, इसलिए मैं जन्मा ऐसा। शरीर उत्पन्न होने से मैं उत्पन्न हुआ - इस प्रकार अज्ञानी, अजीव को अपना स्वरूप मानता है - यह अजीव की भूल है - ऐसा कहना है। उसमें यह

आया था। आत्मा पर को - देह को माने, आत्मा देह में स्वयं को माने तो यह जीव की भूल है। यह देह उत्पत्त होने से मैं उत्पन्न हुआ - यह माने, वह अजीव की भूल (है।) कुछ समझ में आया ?

शरीर के उत्पत्त होने से अपना... है न ? 'अपनी उपज...' स्वयं तो त्रिकाल ज्ञानस्वस्व है, आनन्द है; उसे-आत्मा को जन्म और मरण नहीं है। संयोगी चीज का - शरीर का योग होने पर मैं उत्पन्न हुआ शरीर का वियोग होने पर मैं मर गया। इसमें दोनों दृष्टान्त दिये हैं, देखो ! अर्थी बाँधी है न ? उसमें मुर्दा किया है, शरीर किया है। यह उसमें दिया है। पुराने में दिया है, नये में दिया है। यह जन्म का दृष्टान्त है और यह मरण का है - दो। है ? भाई ! है या नहीं इसमें ? मैं मर गया। मरते हुए गहरे-गहरे उतरता है न ? मरने के काल में ऐसे मानो आत्मा उतरता हो अर्थात् मानो ऐसे अभाव हो जाता हो, सारा शरीर दुर्बल पड़ जाता है, अन्दर नसों में चर्बी घट जाती है। ऐसा गहरा-गहरा लोग नहीं कहते ? मरते गहरा-गहरा उतर जाता है। यह दूसरा सूँघता है न ? तब उसे ऐसा लगता है कि गहरे-गहरे उतरता है। गहरा कहाँ उतरे ? वह तो है वहाँ है परन्तु पर के कारण मानो पर उत्पन्न हुआ तो मैं उत्पन्न हुआ और गहरे-गहरे उतरे मानों मेरा ही अभाव हो गया। अभाव होता जाए। उसे आत्मा पर से भित ज्ञानानन्द है, उसमें उपजना नहीं और मरना भी नहीं - ऐसा न मानकर इस देह में उपजा, वह मैं उपजा, देह में सब मन्द पड़ गया। यह सब ऐसा हो गया और यह मेरा अर्थात् मैं मर गया - यह अजीवतत्त्व की बड़ी भूल (है।)

'शरीर का नाश होने से...' अपना नाश 'अथवा मरण हुआ - ऐसा मानता है...' यह अजीव की भूल संक्षेप की, निशेष स्पष्टीकरण अन्दर अर्थ में करेंगे। 'राग-द्वेष-मोह इत्यादि (प्रकट)...' प्रकट-ऐसा शब्द (प्रयोग किया) है। शुभ-अशुभ, राग-द्वेष और पर के प्रति मेरे(पने का) मोह, यह 'स्पष्टस्व से (दुःखदेन) दुःख देनेवाले हैं...' शुभ-अशुभराग और यह मेरा-ऐसा मिथ्यात्वभाव, यह प्रकट दुःख देनेवाले हैं, तथापि 'उनकी सेवा....' करता है, अर्थात् उनमें ही एकाग्र होता है। पुण्य और पाप के भाव की सेवा करता है। सेवा अर्थात् उनकी सेवा करे, उनमें ही एकाग्र हो, उनसे मुझे लाभ होता है - ऐसा माने, उसे आस्रवतत्त्व की भूल होती है। देखो ! यह बड़ी भूल।

अजीव उत्पन्न होने से मैं उत्पन्न हुआ और इन पुण्य-पाप के भाव में एकाग्रता (करता है)-

यह सेवन करने योग्य है, भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप सेवा करने योग्य नहीं है (-ऐसा मानता है।) यह संवर-निर्जरा में आयेगा। यही सेवन योग्य है। शुभ और अशुभ ठीक है, हित है, श्रेय है, उसमें से ही मेरे आत्मा की सब सम्पदा प्राप्त होगी। ऐसे शुभाशुभ राग में दुःख देनेवाले शुभ और अशुभपरिणाम दोनों हैं, तथापि उन्हें अपना भाव मानकर सेवा करता है।

‘सेवा करता हुआ (चैन) सुख मानता है।’ फिर ऐसा कहा है न ? सुख मानता है। शुभाशुभभाव दुःखरूप है, अहितकर है, हेय करने योग्य है; दुःख के देनेवाले को सुखरूप मानता है। कहो, इसमें समझ में आया ? यह शुभ और अशुभराग होता है, वह दुःख देनेवाला है।

मुमुक्षु :- शुभ से तो लाभ है, उससे तो स्वर्ग मिलता है।

उत्तर :- स्वर्ग मिला, इससे आत्मा को क्या हुआ ? यह कहेंगे। वेष बदला, शरीर बदला। अघाति के कर्म का वेष पलटा - इसमें आत्मा को क्या ? समझ में आया ? शुभभाव से वह तो बन्धन में आयेगा। बन्धन के फल में शुभ का अनुकूल फल देखकर उस बन्ध में रहेगा। यह बात बन्ध में आयेगी। यहाँ तो अभी मात्र शुभ या अशुभ विकल्प जो हैं, वे दुःख के देनेवाले हैं, इसलिए आत्मा के अमृत से विपरीत अवस्थारूप विकार है। आत्मा अमृतस्वरूप शान्त, आनन्द (स्वरूप) आत्मा है, तब उससे विपरीत पुण्य-पाप का भाव दुःखरूप है। उसे सुखरूप चैन मुझे मजा है (- ऐसा मानता है)। शुभभाव में मजा और अशुभभाव में मजा (है) ऐसा माननेवाले आस्रवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा करते हैं। कहो, इसमें समझ में आया ? कहाँ गये ? भाई ! इसमें समझ में आया ?

कहते हैं, शुभ और अशुभ और मोहभाव प्रगट दुःखदेन है, ऐसा शब्द प्रयोग किया है। ‘प्रकट दुःखदेन’ ऐसा। उनमें जरा भी शान्ति नहीं है; शुभ या अशुभभाव में जरा भी शान्ति नहीं है, तथापि उन्हें सुखरूप (मानता है)। चैन लगती है, मजा लगता है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, काम-क्रोध, मान, माया, लोभ भाव करके मजा... मजा, है; हमारे मजा है। मूढ़ है, कहते हैं। दुःखरूप भाव को सुखरूप मानना, मूढ़ है। ऐसे ही शुभभाव का भाव, वह भी विकारभाव स्वयं वर्तमान दुःखरूप है।

(समयसार) कर्ता-कर्म (अधिकार की) ७२वीं गाथा में आ गया है। आस्रवभाव-पुण्य-

पाप स्वयं वर्तमान दुःखस्व भाव है और दुःख का कारण है, उसे होंश करके उसकी सेवा करता है। उसे सुखस्व मानकर रुचि से - प्रीति से उसकी सेवा करता है, इसका नाम आस्रवतत्त्व में मिथ्यादृष्टिपना है। कहो, इसमें समझ में आया ? लड़के पुस्तक लाये हैं या नहीं ? देखो ! इसमें सूक्ष्म बात है। उसमें गेंद खेलते हैं या नहीं ? उसमें राग होता है और राग में मजा माने, वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। हैं ? क्या कहा ? कहते हैं कि, अशुभराग होता है। किसमें ? इसमें बाह्य के उसमें (खेल में) अशुभराग होता है। उस अशुभराग में चैन मानता है, मजा मानता है, हर्ष मानता है। कहते हैं कि, वह मूढ़ है, भाई ! आज आये है। (मुझे कहाकि) हिम्मत दो। ऐसे अस्ति से बोले; परन्तु इसका अर्थ कि हिम्मत हार गया हूँ - ऐसा बोले। ऐसा था न ? मैं समझ गया। हिम्मत दो, कहे। बहुत उलाहना मिलता है न, इसलिए सीधी भाषा ऐसी कि हिम्मत हार गया हूँ। किसमें से हिम्मत हारना ?

पाप का भाव आवे, उसे मजा मानना, उस दुःखदायक (भाव को) सुखदायक मानना, वह मूढ़ता है - ऐसा कहते हैं। प्रतिकूलता में, प्रतिकूलता के कारण नहीं; स्वयं के कारण से हुआ पापभाव, उसमें मजा मानना कि यह मुझे ठीक है, इसका नाम मिथ्यादृष्टि असत्य पाप का सेवन है। कठोर बात ! समझ में आया ?

‘भावार्थ :- अजीवतत्त्व की भूल :- मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है कि शरीर की उत्पत्ति (संयोग) होने से मैं उत्पन्न हुआ...’ शरीर का संयोग होने से मैं जन्मा। जन्मे तब शरीर का तो संयोग होता है, कहीं आत्मा नहीं जन्मता। **‘और शरीर का नाश (वियोग) होने से मैं मर जाऊँगा, (आत्मा का मरण मानता है।)’** जहाँ शरीर छूटने लगे, बस ! अब मैं मर गया। अब हम मर गये। कौन मरे ? मर गया - ऐसा बोले। अब हम मर गये। कौन मरे इसमें ? शरीर मरे या आत्मा मरे ? मरे कौन ? यहाँ तो शरीर का वियोग होता है - इतनी बात है। मरता तो न शरीर है, न आत्मा मरता है। शरीर के वियोग से आत्मा की मृत्यु माने, वह मूढ़ जीव, अजीवतत्त्व की बड़ी भूल सेवन करता है। समझ में आया कुछ ? अथवा आत्मा का मरण मानता है।

‘धन, शरीरादि जड़ पदार्थों में परिवर्तन होने से...’ उसमें ऐसा था कि यह परिवर्तन मैं

करता हूँ। यहाँ परिवर्तन होने पर वह परिवर्तन अपने में मानता है। जैसे, शरीर के उत्पन्न होने से अपना उत्पन्न होना मानता है; वैसे शरीर की अवस्था पलटने से मैं वृद्ध हो गया, मैं यह हो गया, मेरे सब हथियार हल्के पड़ गये। शरीर व्यवस्थित न हो, वहाँ (ऐसा मानता है।) समझ में आया ? मूढ़ है। भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्द स्वस्व है। शरीर की कमजोरी से कहीं आत्मा को कमजोरी नहीं आती। शरीर की अवस्था के परिवर्तन से कही आत्मा में परिवर्तन नहीं होता। कहो, भाई !

भगवान आत्मा ज्ञानानन्द अनादि-अनन्त स्वस्व है। उसे बाह्य के परिवर्तन से स्वयं का परिवर्तन / पलटना मानना, वह अजीव की बड़ी भूल है। अजीव में परिवर्तन होने से यहाँ परिवर्तन मानना, वह बड़ी भूल है। वहाँ शरीर में, आबरुमें, कीर्ति में, मकान में, स्त्री-पुत्र में परिवर्तन होवे, उसमें तुझे क्या हो गया ? समझ में आया ? पैर टूटा, पैर कम हो गया, ऐसा हो गया, लूला हो गया, लो ! तब कहे, मैं लूला हो गया। भाई ! आहा...हा...! है ? कान टूटा तो मैं टूट गया, नाक टूटा तो मैं टूट गया, आँख फूटी वहाँ मैं फूट गया। आँख जरा फूटे न ? हाय... हाय... हम तो भई अन्धे हो गये अब। शरीर की अवस्था के परिवर्तन से आत्मा में परिवर्तन मानना उसे अजीव की मिथ्यादृष्टि की भूल कहते हैं। समझ में आया ?

‘शरीर की उष्ण अवस्था होने पर मुझे बुखार आया...’ यह शरीर में उष्णता आती है। इस शरीर में - यह रजकण मिट्टी है, उसमें एक स्पर्श नाम का गुण है। इस गुण के कारण उसमें उष्ण अवस्था होती है। वह उष्ण अवस्था शरीर में होने पर आत्मा ‘मुझे बुखार हुआ’ - ऐसा मानता है। उसकी अवस्था अपने में मानी, वह मिथ्यादृष्टि, अजीव को भूलता है। समझ में आया ? सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव त्रिलोकनाथ, जिन्होंने एक सैकण्ड के असंख्य भाग में तीन काल-तीनलोक प्रत्यक्ष देखा, वे भगवान कहते हैं कि इस शरीर में जो उष्णता होती है, वह इस रजकण के स्पर्शगुण की एक पर्याय है। वह पर्याय होने पर मुझे हुई - ऐसा माना है, उसने अजीव को जीव माना है। वह अजीव की भूल है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया कुछ ?

‘शरीर में क्षुधा...’ लगने पर मुझे क्षुधा लगी। मर गया। मुझे इतनी भूख लगी है, हाँ ! ऐसा नहीं कहते ? हे ? झट दो, ऐसी भूख लगी है। परन्तु किसे ? शरीर की क्षुधा। भगवान आत्मा तो

अरूपी आत्मघन है। आत्मा तो अरूपी ज्ञानघन है, उसे क्षुधा नहीं होती। शरीर की क्षुधा को अपनी क्षुधा मानना यह अजीव की भूल है। मिथ्यादृष्टि को अजीवतत्त्व की भूल है। आहा...हा...! वीतराग के नौ तत्त्व भगवान ने कहे हैं। जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। इसे यथार्थ नवतत्त्व का पता नहीं होता, इसे धर्म होगा कहाँ से ? धूल में धर्म बाहर से होता होगा ? समझ में आया ? कहते हैं, शरीर की क्षुधा की अवस्था होने पर मुझे हुई; तृषा अवस्था (हुई) मुझे कण्ठ में खुस्की पड़ती है, हाँ। आत्मा को खुस्की पड़ती होगी ?

मुमुक्षु :- डॉक्टर...

उत्तर :- डॉक्टर को होंश कब था वहाँ ? नहीं, डॉक्टर ?

मुमुक्षु :- (उन्हें) आत्मा नाम की चीज नहीं

उत्तर :- ठीक, इसलिए फिर मानते नहीं। आत्मा ही पूरा उड़ाया, आत्मा नाम की चीज नहीं होती, फिर यही सब है। यहाँ यही कहते हैं।

क्षुधा, तृषा अवस्था होने पर मुझे क्षुधा, तृषा हुई। शरीर की अवस्था में क्षुधा, तृषा होने पर, जैसे शरीर के उत्पन्न होने पर मैं उत्पन्न हुआ; वैसे ही शरीर की क्षुधा, तृषा होने पर मुझे क्षुधा, तृषा हुए। यह मिथ्या, अजीवतत्त्व की मिथ्याश्रद्धा की भूल है। ऐसा मिथ्यात्व जहाँ हो, वहाँ उसे धर्म किसी प्रकार नहीं हो सकता। ये सामायिक और प्रोषध करनेवाले इसप्रकार माने तो वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हें सामायिक प्रोषध है ही नहीं, भाई !

मुमुक्षु :- बुखार आये तो कहे मुझे बुखार आया।

उत्तर :- बुखार किसे आवे ? धूल को। बुखार अर्थात् क्या ? उष्ण; स्पर्शगुण की एक उष्ण पर्याय। बुखार अर्थात् क्या ? बुखार की व्याख्या। बुखार (शब्द) वाचक, उसका वाच्य क्या ? यह रजकण-परमाणु है, उनमें एक स्पर्शन नाम की शक्ति है, गुण है, उसकी बुखार एक अवस्था है। वह अवस्था जड़ में - परमाणुओं से होती है। उसके बदले कहता है - मुझे बुखार आया - मूढ़ है।

मुमुक्षु :- बोले तो कैसे ?

उत्तर :- बोले तो कहा न कि पहिचान के लिए कहते हैं। वह नहीं कहता था ? एक राजा का डॉक्टर था। 'रतलाम' का डॉक्टर था। हैं ? वह 'रतलाम' का डॉक्टर आया था न फिर (राजा

को) आमदनी तो बारह महीने में दस लाख की साधारण, परन्तु उसे बुखार आया - ऐसा नहीं कहा जाता; तब क्या (कहा जाता) ? अन्नदाता ! आपके दुश्मन को बुखार आया है तो वैद्यको बुलाऊँगा ? आपके दुश्मन को बुखार आया - ऐसा बोला जाता। आपको बुखार (आया है ऐसा) बोला जाता है ? ... सुन नहीं सकता। राजा इसलिए ! हम राजा, महाराजा।! ऐ...दरबार ! यह दरबार तो बनियों के दरबार हैं। वे तो जगीरदार। समझ में आया ? लो ! वे कहते, हाँ ! यहाँ आये थे। हमारे दरबार को बुखार आवे तो ऐसा नहीं कहा जाता। अन्नदाता ! आपको बुखार आया - ऐसा नहीं कहा जाता। तब क्या कहा जाता है ? अन्नदाता ! आपके दुश्मन को बुखार आया है, बुखार आया है, तो किसी वैद्य को बुलाऊँगा ? ऐसा बोला जाता है। आहा...हा...!

मुमुक्षु :- दरबार को बीमार कहा जाता है ?

उत्तर :- दरबार बीमार नहीं। आत्मा ही दरबार है, वह कहाँ दरबार था ? आहा...हा...!

मुमुक्षु :- दवा कौन पिलाये ?

उत्तर :- कौन पिलाये ? शरीर में पड़े, उसे दवा पिलाये ऐसा कहा जाता है। राजा मरे तब मर गये - ऐसा नहीं कहा जाता, सो गये हैं - ऐसा कहा जाता है। बड़े राजा, महाराजा, करोड़-करोड़ पाँच करोड़, दस करोड़ की आमदनी हो, उनके ऐसे बड़े बंगले, हीरा-माणिक से श्रृंगारित हो; अब उन्हें ऐसा नहीं कहा जाता कि मर (गये हैं)। बाहर में यह आवाज नहीं निकलती। महाराज साहब सो गये हैं, बस ! इतना बाहर कहे। तब लोग समझ जाते हैं कि मर गये हैं, ऐसा। अरे...अरे...! अभिमान, वह भी कितना ? (यह तो) एक साधारण राजा, दस लाख की आमदनी वाला, 'रतलाम'का।

वे तो चक्रवर्ती, माण्डलिक राजा, महाराजा, हजारों बड़े श्रेणिक राजा जैसे जिनको चामर (पंख) ढोलते हैं - ऐसे राजाओं को भी सम्यग्दर्शन होता है। वह जानते हैं कि यह जड़ की अवस्था है, हमें इसमें कुछ नहीं; हम तो उसके जाननेवाले हैं - यह कहना (भी) व्यवहार है, हमारा मानना - यह तो बात ही नहीं है। आहा...हा...! वे राग में पड़े, छियानवे हजार रानियों के वृन्द में पड़े दिखलायी दै। अरे...! हम तो हमें देखनेवाले हैं। आहा...हा...! समझ में आया ?

इनके देखनेवाले कहना, यह व्यवहार (है) तो वे हमारे हैं - यह बात तो उनमें है नहीं। आहा...हा...! ऐसे देखो तो बड़े चक्रवर्ती ऐसे दिखे। सोलह हजार देव सेवा करते हों; समझ में आया ? और उनकी ऋद्धि, उनके पुण्य फेलाये समावे नहीं, इतना उनका पुण्य। यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं। हम तो अपनी आनन्द ऋद्धि, शान्ति ऋद्धि, एक-एक ऋद्धि की अनन्त शक्ति ऐसा तत्त्व-आत्मा है। हम उनमें कही नहीं आये, वे हमारे में नहीं आते। कुछ समझ में आया ?

कहते हैं कि यह मुझे क्षुधा, तृषा (होती है)। ‘शरीर कटने से मैं कट गया...’ नाक फट जाए तो कहे, मैं नककटा हूँ। ऐसा मानता है न ? मैं तो पहले से ही नककटा हूँ, भाई ! मेरी एक आँख पहले से फूटी है। मेरी एक आँख फूटी हुई है (- ऐसा कहता है)। (आँख) शरीर की है या तेरी है ? कान में होता है न ? कितने ही कनकटा वे ऐसा ही मानते हैं कि मैं ऐसा हूँ, बस ! समझ में आया ? वह क्या कहलाता है ? गाँठ होती है, बड़ी गाँठ होती है। तुम्हारे भाई को इतनी बड़ी रसोली थी न ? ऐसा हो, छोटा-छोटा वह होते हैं न ? मस ! उसे ऐसा ही हो जाता है। मेरे दो वर्ष बाद मस हुआ। मुझे मस हुआ है। यहाँ मोटा हो जाता है, यहाँ मोटा हो जाता है। यहाँ इतना मोटा था। वह मसा हो जाए, फिर वह कटे नहीं, काटे तो खून निकलता है। फिर ऐसे का ऐसा रहे। देखो न ! भाई को आँख में है न जरा ? आँख के ऊपर जरा मसा बढ़ जाए, पलकों के ऊपर; कटे नहीं, मिटे नहीं। वह तो जड़ की दशा है। समझ में आया कुछ ? आहा...हा...! यह पलकों में मसा होता है। है न ? यह पलकें है न ? उसमें से इतना बढ़े, ऐसा टूकड़ा बढ़ जाता है, मूँग के दाने जितना। भाई को है। कुछ समझ में आया ? वह जड़ की अवस्था है, आत्मा नहीं, परन्तु उसे ऐसे ही मानता है। उसे स्वप्न भी ऐसे आते हैं, यह मैं। आहा...हा...! भूला, वह भी पूरी भीत को भूला है न ! कहो ! यह अजीवतत्त्व की भूल है।

नीचे भाईने - ग्रन्थकारने अर्थ करनेवाले लिखा है - ‘आत्मा अमर है; वह विष, अग्नि, शस्त्र-अस्त्र या दूसरे किसी से नहीं मरता... ‘नैनं छिदन्ति’ आता है न यह ? ‘नया उत्पन्न नहीं होता। मरण (वियोग) तो मात्र शरीर का ही होता है।’ मरण नाम शरीर का वियोग है - इसका नाम मरण कहा जाता है। आत्मा को आत्मा का वियोग नहीं होता। आत्मा को आत्मा का वियोग होता है ? अखण्डानन्द प्रभु चैतन्यदल ... समझ में आया ? ऐसा का ऐसा

पूर्वजन्म से यहाँ आवे और यहाँ से अन्यत्र जाए तब शरीर यहाँ पड़ा रहे और वहाँ गया। शरीर के कारण आत्मा को जन्म मरण मानना, यह बड़ी अजीब की भूल है।

अब, आस्रव की भूल - 'जीव अथवा अजीव कोई भी परपदार्थ आत्मा को कुछ भी सुख-दुःख, बिगाड़-सुधार नहीं कर सकते, तथापि अज्ञानी ऐसा नहीं मानता। पर में कर्तृत्व, ममत्वस्व...' पर में कर्तृत्व, ममत्वस्व 'मिथ्यात्व...' अर्थात् ? पर का कार्य कर नहीं सकता, तथापि पर का कार्य करूं- ऐसी मान्यता या ममता मिथ्यात्व की है। मिथ्यात्व की ममता है, विपरीत श्रद्धा (है।)

'और राग - द्वेषादि शुभाशुभ आस्रवभाव प्रत्यक्ष दुःख देनेवाले है...' वह प्रगट का अर्थ किया है। शुभ और अशुभ पुण्य-पाप के भाव; यह दया, दान, भक्ति, व्रत पूजा का शुभभाव, वह दुःखरूप है। आहा...हा...! आवे सही, होवे भले ही, पाप से बचने के लिए (आवें) परन्तु वे शुभभाव, अमृत को लूटकर उत्पन्न हुए हैं। आहा...हा...! कभी घर देखने के लिए निवृत्त नहीं हुआ। 'न देखा अपना रूप' नहीं आया ? पहले आ गया है। है ? चौदहवीं गाथा आ गयी है। 'न देखा अपना रूप।' अपना रूप आया था, देखो ! 'कैसे रूप लखे आपनो - ' पहली ढाल की १४ वीं (गाथा) को अन्तिम लाईन है।

बलपने में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणीरत रह्यो;

अर्धमृतकसम बूढापनो, कैसे रूप लखै आपनो।।१४।।

अपना स्वरूप अखण्डानन्द ज्ञान है। इसमें रच-पच गया। फुरसद कब हैं ? मैं कौन हूँ ? अन्दर देखने, अन्दर दूढने, अन्दर अवलोकन करने, खोजने को निवृत्त कब होगा ? कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया ? इन सब अवस्थाओं को अपनी माने और उसी-उसी में संभाल करने में रचपच गया। उसमें अन्दर यह आत्मा कौन चीज है। क्या है ?

कहते हैं कि, यह शुभाशुभभाव बन्ध के ही कारण हैं। अभी बन्धतत्त्व की भूल नहीं बतानी है; यहाँ (तो) आस्रव की भूल बतानी है, परन्तु यह पुण्य-पाप के भाव बन्ध के कारण हैं, दुःख के कारण हैं, उन्हें सुखरूप मानता है - इतना बताना है। बन्ध का (स्वरूप) बाद में आयेगा। 'बन्ध

के ही कारण हैं, तथापि अज्ञानी जीव उन्हें सुखकर जानकर सेवन करता है।' भाव का सेवन करता है। समझ में आता है ? शुभ और अशुभभाव। यह विषय भोग, प्रतिष्ठा-कीर्ति, सुनने से इसे अशुभभाव हो, (उसमें) मजा माने, चैन... चैन...चैन... (लगे)। पाँच हजार या पच्चीस हजार मिले, वहाँ (कहता है) हलुआ का गर्म पानी रखो ! हर्ष मानता है। यह हर्षभाव, यह पापभाव है, (उसमें) मजा मानता है। क्या होगा इसमें ? भाई ! अरे... अरे...! कठिन बात। घर में पच्चीस लोग हों और पाँच लाख कमाय तो सब प्रसन्न होते हैं, लो ! लड़का कर्मी हुआ है।

मुमुक्षु :- कर्मी न ? धर्मी नहीं न !

उत्तर :- वह फिर अलग (बात) परन्तु यह तो कर्मी हुआ है अर्थात् वह जो अशुभभाव करता है और उसमें मजा मानता है - ऐसा, इतना कहना है। भाई ! क्या होगा इसमें ? क्या कहते हैं ?

शुभ और अशुभभाव, यह पुण्य-पाप के भाव दुःख के देनेवाले हैं। प्रत्यक्ष दुःख देनेवाले हैं। प्रत्यक्ष, हाँ ! यहाँ तो ग्रन्थकार ने स्वयं बात (-शब्द) प्रयोग की है - प्रगट दुःख देनेवाले। पता नहीं (इसे), वहाँ कहाँ शान्ति थी ? - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! शान्ति तो भगवान आत्मा में है। उसमें से बाहर निकलकर शुभाशुभभाव में प्रगट दुःख देनेवाले है और **‘बन्ध के ही कारण है, उन्हें अज्ञानी जीव सुखकर जानकर सेवन करता है।’** है न ? **‘सेवत गिनत चैन।’** यह चैन की व्याख्या की। मजा है, अभी तो हमारे मजा है। आहा...हा...! खाने-पीने के साधन, बंगला और गाड़ी सब अनुकूलता है। उसमें भाव होता है पाप और मानता है कि हमको मजा है। अबी सुखी है, सुखी है, बादशाही है।

मुमुक्षु :- एक माँगे और इक्कीस मिले...

उत्तर :- यह तो पूछो, इस भाई को। धूल में भी सुख नहीं है। फँसे एक में से दूसरे में, दूसरे में से तीसरे में फँसता है, वह राग, राग, राग, राग, राग, राग... समझ में आया ? आहा...हा...! कठिन बात, भाई ! ऐसा (हो) तब इसमें हमें करना क्या ? अब धर्म किस प्रकार करना ? अच्छे साधन होवे तो धर्म होता है। अच्छे साधन न हो तो धर्म होता है ? साधन अच्छे-बुरे कहना किसे ? कहते हैं। पर के साधन को अच्छा-बुरा मानना, वही मूढ़ जीव है। पर के साधन का आत्मा से सम्बन्ध क्या है आहा...हा...!

‘और शुभभाव भी बन्ध का ही कारण है...’ कारण की बात है, हाँ ! आस्रव की बात है। वह ‘आस्रव है...’ पुण्य-दया, दान, व्रत के शुभभाव। ‘उन्हे हितकर मानता है। परद्रव्य, जीव को लाभ-हानि नहीं पहुँचा सकते, तथापि उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें प्रीति-अप्रीति करता है...’ परपदार्थ, आत्मा को लाभ - हानि करनेवाले नहीं है, वे तो ज्ञेय है।

‘मिथ्यात्व, राग-द्वेष का स्वरूप नहीं जानता...’ विपरीत मान्यता; इसे इस मान्यता का पाप ही दिखायी नहीं देता। किसी की ... मर जाए, पाँच-पचास लाख इकट्ठा करे तो यह पाप करता है - ऐसा लगता है; समझ में आया ? परन्तु यह सम्पूर्ण आत्मा अखण्डानन्द शुद्ध है, उसे भूलकर, मुझे पर से सुख-दुःख होता है- ऐसा मानता है, वह महापाप है। उस पाप को नहीं पहिचानता। यह क्या पाप ? उसमें क्या जीव मर गया ? बापू ! ज्ञाता-दृष्टा चैतन्य, उसे पर की अनुकूलता से सुख अथवा शुभभाव में सुख माना, वही मिथ्यात्वभाव है। क्योंकि मिथ्यात्व और राग-द्वेष का स्वरूप नहीं पहिचानता। इसमें क्या राग हुआ ? इसमें क्या राग हुआ ? - ऐसा कितने ही कहते हैं। यह भगवान की भक्ति करें, इसमें क्या राग हुआ ? लो ! हमारे तो वीतरागता चाहिए है।

मुमुक्षु :- यह तो बहुत पुरानी बात है।

उत्तर :- हाँ, परन्तु ऐसा कहते हैं न ? सब मानते हैं। (संवत् १९९५ में वहाँ ‘जूनागढ’ गये थे न ? वहाँ एक था। हम भगवान के भक्ति (करते हैं), हमें राग नहीं चाहिए, हमें तो वीतरागता चाहिए है। लो ! तुम कहते हो कि भगवान कि भक्ति, वह राग है, परन्तु हम कहते हैं कि हमारे राग है कहाँ ? हमारे राग करना कहाँ है ? परन्तु तू भक्ति करे यही राग है। सुन अब ! समझ में आया ? परन्तु वह राग को स्वयं सुख का कारण मानता है। बन्ध के कारण को, अबन्ध परिणाम को न जानकर बन्ध के कारण को सुख माने तो अबन्ध कारण के परिणाम को नहीं जानता। आहा...हा...! समझ में आया ? ऐसा मानता है कि हमारे (राग) कहाँ चाहिए है ?

एक व्यक्ति कहता था, लो ! एक बार (संवत् १९९७ में वकील कहता था। इसमें परजीव की दया के भाव (हुए) उसमें क्या पाप आया ? उसमें राग कहाँ आया ? उसमें राग कहाँ आया ? - ऐसा प्रश्न किया था, लो ! भाई ! ज्ञानस्वरूप वह अपना लक्ष्य छोड़कर अन्य के विषय का लक्ष्य

करके विषय बदलता है, वही राग है भाई ! यहाँ कहा न ? राग के स्वस्व को नहीं पहिचानता। राग-द्वेष के स्वस्व को नहीं पहिचानता। ऐसे की परजीव की दया पालन करें, उसमें राग कहाँ आया ? भाई ! तू ज्ञानस्वस्व है, उसका विषय तो ज्ञान, स्वविषय है। उसके बदले यह (है), दूसरे का भाव था, उसमें से ऐसा बदला, ऐसा बदला यह बदलना वही अन्दर राग है। आहा...हा...! उसमें क्या राग आया ? दान में क्या राग आया ? अमुक में क्या (राग) आया ? भाई ! आत्मा-स्वविषय ज्ञानस्वस्व है। उसके विषय को छोड़कर, जितना परविषय में लक्ष्य बदलता है, फिर द्वेष हो या राग, परन्तु विषय बदलता है, यह ठीक नहीं; यह ठीक - यह सब राग है। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ? राग कैसे होता है और राग का क्या स्वस्व है ? - इसे नहीं जाने, यह आस्रव की बड़ी भूल है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह कहा न ! पहिचानता नहीं। वस्तु जो चैतन्य है, वह तो इसका स्वविषय तो अन्दर है और देखने के लिए यह विषय बदलता है तो बदलता है। यह क्या है ? विकल्प बदलता है, राग बदलता है, अन्दर विकार बदलता है। विकार बदलता है, फिर राग हो या द्वेष हो परन्तु ऐसा बदलता है - यह... यह... यह... यह... हिंसा का भाव था, फिर दया का भाव (आया), इसलिए विषय बदलता है। विषय बदले अर्थात् अन्दर राग बदलता है ज्ञान बदले तो ज्ञाता होकर बदले। उसमें पर का विषय आया ही नहीं।

यहाँ तो जरा ऐसा आया न कि 'मिथ्यात्व, राग-द्वेष का स्वस्व नहीं जानता...' जानता ही नहीं। यह शास्त्र पढ़ने में क्या राग आया ? ऐसा कोई कहते हैं, लो ! बापू ! यह लक्ष्य है न ऐसे, ऐसे जो लक्ष्य है, उसमें से ऐसे लक्ष्य गया है, वह विषय बदलता है। आहा...हा...! है ? कुछ समझ में आया ? राग-द्वेष का विषय पर होता है; राग-द्वेष का विषय स्व नहीं होता; इसलिए जो यह विकल्प ऐसे चक्कर खाता है, वह सब विकार है; इसलिए जो यह विकल्प ऐसे चक्कर खाता है, वह सब विकार है; फिर शुभ का चक्र बदले या अशुभ का बदले, दोनों ही आस्रव हैं। कुछ समझ में आया ? ऐसे आस्रवतत्त्व को नहीं पहिचानता।

'परपदार्थ मुझे सुख-दुःख देते हैं...' ऐसा मानता है। अब हैरान हो गये। इतने वर्ष से

दुःख और इतने महीनों से पलंग पर पड़े हैं ! क्या है परन्तु ? यह तेरे विकल्प दुःखस्व है; वह परवस्तु दुःखस्व नहीं है। पर को सुख-दुःखस्व मानता है; 'अथवा राग-द्वेष मोह कराते हैं...' परपदार्थ मुझे राग-द्वेष मोह कराते हैं। समझ में आया कुछ ? भूल है, विभाव भी परलक्षी निज परिणमन है। स्वभाव स्वलक्षी निज परिणमन है। उसमें दूसरे के कारण कुछ नहीं है। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ? 'ऐसा मानता है - यह आस्रवतत्त्व की भूल है।' लो ! यह एक गाथा में अजीव और आस्रव की दोनों भूलें कहीं।

अब, छठवीं गाथा।

बन्ध और संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा

शुभ-अशुभ बन्धके फल मंझार, रति-अरति करै निजपद विसार;
आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखै आपको कष्टदान।।६।।

अन्वयार्थ :- [मिथ्यादृष्टि जीव] (निजपद) आत्मा के स्वस्व को (विसार) भूलकर (बन्धके) कर्मबन्ध के (शुभ) अच्छे (फल मंझार) फल में (रति) प्रेम (करै) करता है, और कर्मबन्ध के (अशुभ) बुरे फलसे (अरति) द्वेष करता है; [तथा जो] (विराग) राग-द्वेषका अभाव [अर्थात् अपने यथार्थ स्वभावमें स्थिरतास्व^१ सम्यक्चारित्र] और (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान [और सम्यग्दर्शन] (आतमहित) आत्मा के हित के (हेतु) कारण हैं (ते) उन्हें (आपको) आत्मा को (कष्टदान) दुःख देनेवाले (लखै) मानता है।

भावार्थ :- (१) बंधतत्त्व की भूल: अघातिकर्म के फलानुसार पदार्थोंकी संयोग-वियोगस्व अवस्थाएँ होती हैं। मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें अनुकूल-प्रतिकूल मानकर उनसे मैं सुखी-दुःखी हूँ ऐसी कल्पना द्वारा राग-द्वेष, आकुलता करता है। घन योग्य स्त्री,

१. अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य ही आत्मा का सच्चा स्वरूप है।

पुत्रादिका संयोग होने से रति करता है; रोग, निंदा, निर्धनता, पत्र वियोगादि होने से अरति करता है; पुण्य-पाप दोनों बन्धनकर्ता है, किन्तु ऐसा न मानकर पुण्य को हितकर मानता है; तत्त्वदृष्टि से तो पुण्य-पाप दोनों अहितकर ही है; परन्तु अज्ञानी ऐसा निर्धाररूप नहीं मानता - वह बन्धतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है।

(२) संवरतत्त्वकी भूल :- निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही जीव को हितकारी है; स्वरूप में स्थिरता द्वारा रागका जितना अभाव वह वैराग्य है; और वह सुख के कारणरूप है; तथापि अज्ञानी जीव उसे कष्टदाता मानता है - यह संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।।६।।

‘बन्ध और संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा।’ देखो ! इसमें आस्रव का दृष्टान्त क्या दिया है ? देखो ! एक सेठ है न ? क्या है यह ? तिजोरी। तिजोरी बतायी है न ? तिजोरी है न ? भाई ! क्या है ? तिजोरी में पैसा रखता है या निकालता है - यह सब राग है, ऐसा कहना है। है न इसमें ? भाई ने छपाया है न सब ? (उन्हें) पता है। तिजोरी है न यह ?

तिजोरी में ऐसा बताया है कि पैसा रखना। परन्तु वास्तव में रखना और लोगों को देना या निकालना - यह सब राग है। तिजोरी में ‘मेरे’ मानकर रखे अथवा यह मैं रखता हूँ - ऐसा भाव, वह भी पाप-आस्रव है और किसी को देने के लिए निकालने का भाव, वह पुण्य-आस्रव है, परन्तु दोनों आस्रव हैं। कहो, समझ में आया ? देखो ! यहाँ एक सेठ बैठा है। सिरहाना है, सिरहाना ... क्या कहलाता है तुम्हारा ? इसे तकिया कहते हैं। यह तकिये पर ऐसे बैठा है, उघाड़ शरीर, ऐसा कि वस्त्र ओड़ने का ठिकाना नहीं। इतनी पैसा... पैसा... पैसा... कमाने, रखने, संग्रह में लवलीन हो गया है। है ?



मुमुक्षु :- है।

उत्तर :- नहीं, नहीं, वह व्यवस्थित करने में। यह व्यवस्थित और जो पैसा हो तथा गुप्तरीति से पैसा रखना हो तो मजदूर को अन्दर नहीं ले जाए। एक-एक हजार की लाख, दो लाख थेली हो। कहा था न एकबार ? एक सेठ का पुत्र था। नाम-ठाम नहीं देते। वह 'पूना' में पढ़ता था। उसके पिता तीन भाई साथ थे। (लड़का कहता), बापूजी ! महीने के दो सो रुपये खर्च के लिए भेजना, जब खर्च; और दूसरा रसोई का खर्च वह तो है ही, वह तो तुम भेजते ही हो परन्तु दो सौ भेजना। यदि आपको ठीक न लगता हो तो चाचा के नाम में नहीं परन्तु तुम्हारे नाम से भी भेजना। क्यों ? कि हम गृहस्थ के यहाँ पैदा हुए हैं, गरीब के घर पैदा नहीं हुए और जब घर में लाख, दो लाख थेलियाँ आती हैं, तब मजदूर बाहर तक रख जाते हैं और फिर हम उठाकर कमरे में रखते हैं। उस दिन नगद रुपये थे न ? रोकड़ थे। समझे न ? अब तो तुम्हारे थोक सब हो गये। क्या कहलाता है यह ? नोट हुई। उस दिन रोकड़ा नगद (थे।) आदमी को अन्दर नहीं ले जाए। जिस जगह तिजोरी हो, उसमें उसे नहीं ले जाए, बाहर रखे। दरवाजे में बाहर दूसरा दरवाजा (हो), वहाँ (रखे) फिर घर के लड़के उठाकर वहाँ रखे। कड़ी तोड़े अन्दर। गृहस्थ के लड़के दस-दस लाख के आसामी हो तब भी, हाँ, लिखा था, बापा ! यह पैसा छोड़े उस समय हमें बल पड़ता है, इसलिए तुम्हें ठीक पड़े, चाचा ने नाम से न आवे तो तुम्हारे नाम में लिखकर (भेजना।) खर्च के दो सो (रुपये) चाहिए। हम गरीब के घर पैदा नहीं हुए, जन्मे तब घोड़ागाड़ी के घर पैदा हुए हैं। भाई ! परन्तु यह तो पाप के परिणाम हैं।

यहाँ तो यह कहना है, समझ में आया ? परन्तु उस लड़के को भाव होते हैं, वह पाप का है, ऐसा यहाँ कहना है। वह तो आस्रव है। यहाँ तो तिजोरी की बात नज़र में आयी, इसलिए जरा (बात की)। तिजोरी में अन्दर कौन रखने जाए ? वह तो यहाँ सब (बदल गया।) वह तो घर के लोग रखने जाए-ऐसा कहना है। गहराई में दूर हो। दो-दो लाख पड़े हों, पाँच-पाँच लाख की थैलियाँ (पड़ी हों), हजार-हजार रोकड़, हाँ ! नगद ! रुपये रोकड़। 'सायला' में दालान में रुपये की थैलियाँ पड़ी थी।

'सायला' दरबार थे और यह सेठ थे। सेठ परिवार था। उनका लड़का नहीं था ? हमारे साथ घूमता। गरीब व्यक्ति हो गया था। उसके स्वयं के विवाह के समय कहते थे। नाम भूल गये।

बिचारा हमारे साथ घूमता, हाँ ! (संवत्) १९८१ के साल में। अस्सी वर्ष की उम्र। उसके विवाह में वहाँ उसका विवाह जब था, वह दरबार आये, थैलियाँ भरी हुई। दरबार थे और दरबार का छोटा लड़का था। दालान में रुपये की थैलियाँ (पड़ी थी), रुपये की थैलियाँ ! तब तो रोकड़ था न ! थैलियाँ... थैलियाँ ! जैसे गुण भरे ऐसे।

राजकुमार कहता है, पिताजी ! बापूजी ! यह क्या सेठ के घर में यह क्या है ? तो राजा कहता है, भाई ! अपने सेठ पैसेवाले है और सेठ को अपना भरोसा है। इसमें से कुछ जाए तो अपने को घर का देना पड़े, इसलिए खुल्ला पड़ा है। वे राजा ऐसे थे। समझ में आया ? उस विवाह के समय राजा आये थे, फिर अंजली (दोनों हथेलियों द्वारा रचित) भर-भर खारेक (खजूर सूखा हुआ) पूरी बोरी भर के... 'लीमड़ी' में उपाश्रय है। वह राजकुमार पूछे तो राजा ऐसा बोला। वे रुपये खड़खड़े तो सही न ! थैलियाँ हाँ ! सपनों की भरी हुई, बोरियाँ भरी हुई। तब कहाँ तिजोरी-फिजोरी थी। बापूजी ! यह क्या ? (तो कहा) अपने सेठ पैसेवाले हैं और इन्हे अपना विश्वास है। यदि इसमें से कुछ जाए तो अपनी तिजोरी में से देना पड़े - ऐसा इन्हें भरोसा है। इन्हे - राजा को ईर्ष्या नहीं थी - ऐसा कहना है। ईर्ष्या नहीं थी। अपने सेठ ऐसे पैसेवाले हैं। समझ में आया ? अब ठीकठाक करने लगे तो अंदर दूर गए और अब तो यह आपके कागज-रद्दी (हो गए) इसलिए वह कहता है कि इतना खर्च देना पड़ेगा। हम पाप के भाव, मजदूरी बहुत करते हैं। लड़के को शिक्षा मिलती है।

यहाँ तो कहते हैं कि देने-लेने का भाव बन्ध दोनों का कारण है। ऐसी बात कहनी है। देखो न, यह दृष्टान्त दिया है न, इस पर से जरा (बात की)। इन्हे तो रखने के लिए दिया होगा, मैं तो अन्दर खेंचने के लिए (कहता हूँ)। दान देने के लिए निकाले तो भी शुभभाव है। समझ में आया ? अब, छठवीं गाथा :-

‘बन्ध और संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा -’

शुभ-अशुभ बन्धके फल मंझार, रति-अरति करै निजपद विसार;

आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखै आपको कष्टदान॥६॥

देखो ! आया। सब जगह यह आता है। क्या कहते हैं ? ‘(मिथ्यादृष्टि जीव)’ अज्ञानी

‘(निजपद)’ अर्थात् ‘आत्मा के स्वस्व को भूलकर...’ भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु है। जिसके स्वभाव में तो अकेली शान्ति और आनन्द पड़ा है। उसकी नजर करने पर निधान में से आनन्द झरता है। ऐसा भगवान आत्मा है, उसे नहीं पहिचानता। जिसके सामने देखने से समता प्रकट होती है और पर के सामने देखने से विषमता प्रगट होती है। कुछ समझ में आया ?

ऐसा भगवान आत्मा निजपद, ज्ञानानन्द शुद्ध आनन्दप्रभु, उसे भूलकर, उसका उसे पता नहीं, है कि मेरे स्वभाव में निजपद में क्या है। उसे भूलकर ‘कर्मबन्ध के अच्छे फल में प्रेम करता है...’ समझ में आया ? पूर्व का कोई पुण्य बंधा हुआ हो और उसका अनुकूल फल देखकर उसमें प्रेम करता है। हमें बहुत बादशाही है, सामग्री की बहुत सुविधा है, बहुत सुविधा है। इस शुभराग के अनुकूल फल को ठीक माननेवाले बन्ध की श्रद्धा को भूलते हैं। वह बन्ध पुण्य का हो या पाप का (हो), दोनों बन्ध अहितकर हैं। ऐसा न मानकर शुभभाव के फलस्व से बँधे हुए पुण्य, उसके फलस्व से धूल आदि सामग्री-स्त्री, पुत्र, परिवार की सुविधा (मिले), उसमें ठीक मानता है। ‘अच्छे...’ है न ? ‘(शुभ) फल में प्रेम करता है...’ प्रेम करता है, प्रेम।

‘और कर्मबन्ध के बुरे फल में द्वेष करता है...’ यह अघाति का फल, उसके पाप बाँधे-शरीर में रोग आवे, निर्धनता आवे- गरीबी आवे, बाँझपना, कुँवारापना हो, शरीर में रोग होवे, जन्म से ही रोग हो - उन्हें बुरे मानता है। बन्ध के प्रतिकूल फल खराब और अनुकूल फल अच्छे - ये दो चीजें है ही कहाँ ? कहेत हैं। यह तो संयोग की चीज है, उसमें यह अनुकूल और यह प्रतिकूल; यह अच्छा और यह बुरा-ऐसा मानना यह बन्धतत्त्व की भूल है। अबन्धतत्त्व जो निजपद, सामने ऐसा कहा। समझ में आया ? ‘शुभ-अशुभ बन्ध के फलमझार, रति-अरति करै निजपद विसार;...’ निजपद तो अबन्धस्वस्व है। समझ में आया ? आहा...हा...! यह बारीक चिमटे से भूल पकड़ाई है। है ? आहा...हा...!

कहते हैं, पाप का फल आवे, तब द्वेष करे कि अर...र...र...! यह कहाँ (आया) ? और पुण्य का फल आवे, तब प्रेम करता है। भगवान ! तुझे बन्धतत्त्व का पता नहीं है। बन्धतत्त्व तो आत्मा के अबन्ध परिणाम से अत्यन्त विरुद्ध भाव से हुआ तत्त्व बन्ध है। उस बन्ध के एक भाग को ठीक

और दूसरे भाग को अठीक (मानना), यह तेरी बन्धतत्त्व की भूल है। आहा...हा...! समझ में आया ?

भगवानने तो आठ कर्मों को विषवृक्ष का फल कहा है। जहर के वृक्ष का फल ! चिल्लाते हैं न यह लोग ? देखो न ! मीठास है न ! है न अपने, देखो अन्दर। 'जिस पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है।' ... उसे आत्मा के धर्म की रुचि नहीं। आहा...हा...! भगवान आत्मा बन्धरहित, वह तो अबन्ध स्वस्व है। आत्मा अर्थात् मुक्तस्वस्व; उसमें आस्रव या कर्म है ही नहीं, इसलिए मुक्त स्वस्व ही आत्मा है अथवा अबन्ध परिणाम को उत्पन्न करे-ऐसा मुक्त स्वभाव आत्मा का है। बन्ध के परिणाम कारणस्व और उसके फलस्व से बन्ध करे यह आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ? है न अन्दर ? पुस्तक-बुस्तक लिया या नहीं ? कल तो लेकर नहीं आया था ? पता पड़ता है या नहीं ? सवेरे (चलता) है। सवेरे चलेगा, अभी थोड़े समय चलेगा, लम्बा तो नहीं चलेगा; चले तब तक तो लाना या नहीं ? राजा, तलवार घर रखता होगा ? बहार निकले तब कन्धे पर रखता है। पुस्तक तो साथ में चाहिए या नहीं ?

'कहते हैं, **कर्मबन्धन के बुरे (फल) मैं द्वेष करता है...**' यह इतनी बन्धतत्त्व की भूल की व्याख्या है। समझ में आया ? किसी रोग की प्रतिकूलता आवे तो द्वेष.. द्वेष (करने लगता है) और कोई अनुकूलता आवे (तो), हर्ष, उल्लास, उल्लास मुँह पर (दिखता है।) भाई ! यह अनुकूल-प्रतिकूल दोनों बन्ध के फल (हैं), उनमें एक अच्छा, (एक) बुरा है ही नहीं। आहा...हा...! इस बन्ध के फल को, शुभ को अच्छा माने तो तूने भगवान अबन्ध परिणामी चैतन्य को झूठा माना। आहा...हा...!

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- दुनिया तो ऐसी ही होती है न ! पागलों में पागलों की ही बातें होती है। दुनिया तो पागल है।

मुमुक्षु :- हर्षके समय हर्ष तो करे न ?

उत्तर :- परन्तु हर्ष किसका ? हर्षके समय तो आत्मा में आनन्द है, उसका हर्ष करे या इसमें हर्ष करे ? किसका हर्ष ? पुत्र का विवाह हो, उसमें दस लाख की पूँजी हो, स्वामीने कहा हो कि इसबार लाख खर्चना है, हाँ ! एक लाख बराबर ठीक से, खर्चना हो तो तुझे छूट है, जा ! फिर

पीहरवालों को बुलावे और अमुक को बुलावे और उसे बुलावे, बस ! आ..हो..हो...! आवाज बैठ जाए तो भी इसे शांति नहीं आती, तब भी बोलकर अन्दर जबरदसती होंश करता है। क्या है परन्तु यह ? किसका लाभ ? अग्नि का। अग्नि का लावा होता है, नहीं पता ? यह परदेश में जो ज्वालामुखी निकलता है। बापा ! यह राग के लावा की मीठास, बन्ध में अनुकूलता की मान्यता, मिथ्यादृष्टि है, कहते हैं। कठिन बात, भाई ! यह तो सादी भाषा में रखा है। सर्वथा सादी हिन्दी भाषा में है। गागर में सागर भर दिया है। कहो, समझ में आया ? इसमें कोई शास्त्र, बहुत सूक्ष्म या 'परमात्मप्रकाश' या 'समयसार' (जैसा नहीं है।)

मुमुक्षु :- इसमें निकालते हैं।

उत्तर :- परन्तु इसमें है न, देखो न ! क्या कहते है ? देखो ! **'शुभ-अशुभ बन्ध के फल मझार, रति-अरति करै निजपद विसार;**' भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति ज्ञानस्वरूप है, उसे भूलकर शुभ बन्ध में हर्ष करता है, रति करता है; अशुभबन्ध बँधे, उसमें अरति करता है। अरे...! तुम्हें बन्ध हुआ, पुण्य का बन्ध हुआ... 'समयसार' में आता है न ? परजीव की दया में पुण्यबन्ध, पर की हिंसा में पापबन्ध। पुण्यबन्ध होता है न ? परन्तु वहाँ तो गाली देते है कि परजीव की दया में अहंकार है न ? वहाँ मिथ्यात्वसहित का पापबन्ध है। उसके साथ वह घाति का पाप है, अघाति का जरा पुण्य है। किसमें प्रसन्न होता है ? ऐसा कहते है। पुण्य है न उसमें ? हमारे पुण्य तो बँधेगा न ? परन्तु पुण्य बँधता है न ? तेरा अबन्धस्वरूप है, उसे ऐसे बन्ध में तुझे हर्ष किसका ? कुछ समझ में आया ? ऐसा बन्धन होगा और फिर बड़ा अच्छा फल मिलेगा-चक्रवर्ती होगा वासुदेव, और बलदेव और अमुक राजा होगा और सेठ होगा यह कहते हैं, शुभबन्ध में जिसे रति और प्रेम है, (वह) बन्धतत्त्व को भूला है। कोई बन्ध अच्छा है ही नहीं।

अबन्ध परिणाम भगवान आत्मा, मुक्त चैतन्यस्वरूप, उसकी दृष्टि, ज्ञान, शान्ति-ऐसे अबन्ध परिणाम (होवें) वे अच्छे हैं। इसके अतिरिक्त कोई बन्ध का कारण और बन्धस्वरूप भाव या बन्धतत्त्व, वह अच्छा नहीं है और बन्ध का फल एक भी अच्छा नहीं है। अद्भुत बात, भाई ! ओ..हो..हो...! यह तो सात तत्त्व की भूल की व्याख्या चलती है। कुछ समझ में आया ? मिथ्यादृष्टि की भूल। तथा त्याग तो फिर, मुनिपना और वह तो कहीं रह गया। यह तो अभी सात

तत्त्व की भूल में अटका, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे धर्म-बर्म, त्याग-बाग नहीं होता। ओ..हो..हो..! यह बन्ध(की) बात की।

‘तथा जो (विराग)...’ अर्थात् ‘राग-द्वेष का अभाव...’ अर्थात् चारित्र। समझ में आता है ? संवर.. संवर है न यह ? यह संवर है। आत्मा में राग-द्वेष का रूक जाना, वह संवरभाव है। पुण्य-पाप के विकल्प रूकना और आत्मा में से शान्ति प्रगट होना, वह संवरतत्त्व है। संवरतत्त्व कहो या सम्यक्चारित्र कहो; सम्यक्चारित्र कहो या विराग कहो। यह सम्यक्चारित्र जो आत्मा का स्वभाव शुद्ध चैतन्यमूर्ति, उसमें स्थिर होना, उसका नाम सम्यक्चारित्र (है)। कहते हैं, वह ‘हित का (हेतु)...’ है। ‘उसे दुःख देनेवाला मानता है।’



जैसे मुसाफिर एक गाँवसे दूसरे गाँव जाता है तो पाथेय साथ लेकर जाता है, तो दूसरे भवमें जानेके लिये भी कुछ कलेवा चाहिए या नहीं ? श्रद्धाज्ञानरूपी पाथेय साथ लेकर जाना चाहिए। पत्नीकी ओर देखे तो पाप, पुत्रकी ओर देखे तो पाप, लक्ष्मीकी ओर देखे तो पाप, पर ओर देखते सभी पाप ...पाप और पाप है। अरे ! तुझे कहाँ जाना है ? राग और मैं एक हूँ ...क्या ऐसा मिथ्यात्वका कलेवा साथ लेकर जाना है ? मैं रागसे भिन्न ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ ...ऐसा कलेवा साथ ले जाए तो धर्ममार्गमें बढ़नेमें यह काम आएगा। अन्तरके असंख्य प्रदेशोंमें गहरे, अति गहरे ध्रुव तलको थाह लेना है। (पर्यायको ले जाना है।) यह तो धीरोंका-वीरोंका काम है। ९०

वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल ४, मंगलवार
दि. २५-१-१९६६, ढाल-२, गाथा ६, ७ प्रवचन नं.-८

बन्धतत्त्व की भूल। आत्मा का निजस्वभाव अबन्धस्वस्व है। पुण्य-पाप का भाव, वह भावबन्ध है और जड़कर्म का बन्ध, वह निमित्त, व्यवहार निमित्तबन्ध है। दोनों से रहित आत्मा का अबन्धस्वस्व है। उस निजपद को भूलकर, यह इसका-छठवीं गाथा का पहला शब्द पड़ा है - 'निजपद विसार।' अपना पद है, वह ज्ञानानन्द शुद्ध अबन्धस्वस्व है। उसे भूलकर 'अघातिकर्म के फल-अनुसार...' कोई पुण्य-पाप के भाव किये हों, उसका बन्धन हुआ हो, उसका संयोग मिले-ऐसा यहाँ कहना है। संयोग में 'अनुकूल-प्रतिकूल...' संयोग-वियोग अवस्थाएँ होती है। मिथ्यादृष्टि उन्हें अनुकूल-प्रतिकूल मानकर 'उनसे मैं सुखी-दुःखी हूँ - ऐसी कल्पना द्वारा राग-द्वेष, आकुलता करता है।'

आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वस्व निजपद है। (उसे) भूलकर अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष (करता है।) देखो ! इसमें चित्र में भी दिया है। चित्र में है ? शुभ-निरोगी शरीर और भोजन करने बैठा है और व्यवस्थित ऐसा सब प्याला-ब्याल लगा है। नहीं है ? है ? इसमें नहीं होगा। है ? देखो ! प्याला, बर्तन, जगह, वह ऊर क्या कहलाता है तुम्हारे ? बैठने



की यह (कुर्सी) रखने का टेबल। ऐसे खाता है। शुभ-पुण्य का फल है, उसे अपना मानता है। टेबिल-बेबिल अच्छा रखा है। थालियाँ-सोने की थाली, चांदी की थाली, उसमें व्यवस्थित कटोरी हो; उसमें बादाम, पिश्ता, पापड़ और सब (रखा हो)। खाने बैठा है ऐसे...प्रसत...प्रसत...।

अशुभ में वह एक गरीब बताया है। देखो ! साधारण लंगोटी, जीर्ण शरीर और ऐसे (बैठा है)। ये दोनों अघातिकर्म, पुण्य-पाप के भाव, इनसे बँधा हुआ अघातिकर्म, उनसे प्राप्त हुआ यह संयोग - उसे अपना स्वस्व मानता है। अनुकूलता में रति माने और प्रतिकूलता में अरति-खेद करे, उसे बन्ध तत्त्व की भूल है। दोनों एक प्रकार के हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। पुण्य से अनुकूल संयोग हो या पाप से प्रतिकूल (संयोग हो), दोनों संयोग तो एकसे ही हैं। बाहर के वेष शरीर आदि जड़ के हैं, वह कोई आत्मा का वेष नहीं है। यह आत्मा के ज्ञानानन्दस्वस्व को भूलकर ऐसे संयोग में रति-अरति करता है। इसे बन्ध तत्त्व का मिथ्यादृष्टिपना कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

‘धन, योग्य स्त्री...’ लक्ष्मी कुछ ठीक मिली हो, अनुकूल स्त्री हो, पुत्रादिक अनुकूल हो, (उनका) ‘संयोग होने से रति करता है...’ उनमें रति करनेपना कहाँ है ? आत्मा में आनन्द है, उसे भूलकर, उनमें प्रेमवृत्ति करता है-यह बन्धतत्त्व की और आत्मा की दोनों की भूल यह है। निजपद को भूलकर बन्ध के फल में रति करता है, उसे बन्ध के तत्त्व का पता नहीं है। समझ में आया ? शरीर में रोग हो, ‘निन्दा, निर्धनता, पुत्रवियोगादि होने से अरति करता है; पुण्य-पाप दोनों बन्धनकर्ता है...’ पुत्र का वियोग हुआ, वहाँ दुःख मानता है। वह तो संयोग की चीज है। अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, वह तो संयोगी फल (है।) स्वभाव वस्तु नहीं है। स्वभाव तो ज्ञानस्वस्व है। इस ज्ञान के निजपद की दृष्टि और रुचि, ज्ञान और लीनता चूककर, बन्ध के दो भाग करके एक में रति और (एक में) अरति करता है - यह मिथ्यादृष्टि का बन्ध बन्धतत्त्व की भूल का लक्षण है। यह तो बहुत सादी भाषा में, हिन्दी में सादी भाषा में (वर्णन किया) है।

मुमुक्षु :- रति करता है ?

उत्तर :- रति करता है। अच्छी निद्रा ले तो रति करता है, निद्रा न आवे तो अरति करता है। नींद न आवे तो नहीं करते ? पूरी रात चिल्लाता है। अरे... पूरी रात.. आज तो ज़रा भी नींद नहीं आयी, भाई ! अपने दृष्टान्त यहाँ है न ! वह तो कहने के लिए। दूसरे बहुत होते हैं न ? रात्रि में अच्छी नींद न आवे तो यह करवटे बदले। एक सेठ था। उसके बारह हाथ का कमरा और बारह हाथ चौड़ा गद्दा, पूरा कमरे के बराबर। फिर ऐसे से ऐसे, ऐसे से ऐसे ठेठ तक नींद ही नहीं आवे। हमारे गाँव मे एक ब्राह्मण था। (उसे) ३३ वर्ष से नींद नहीं (आती थी।) यह तो गद्दे में नींद नहीं आवे - ऐसा कहना है। ऐसे में कसर-मसर, कसर-मसर करे और वह नींद नहीं आवे, इसलिए उसमें अरति-खेद, खेद किया करे। अरे...! नींद नहीं आती, अरे...! नींद नहीं आती, अरे...! नींद नहीं आती। फिर वह गौलियाँ खाये। नींद की (गौलियाँ) नहीं आती ? ऐ...ई...! बहुत आती है। आवे तो सब पता होवे न ! नींद की गौलियाँ आती हैं। बहुत खाये फिर शक्तिहीन हो जाए।

कहते हैं, नींद इत्यादि में दुःख वेदे, दुःख। आहा...हा...! देखो न ! यह गरीब मनुष्य निश्चिन्ता से खरटि लेता है और हमारे पास पैसे होते भी नींद नहीं - ऐसा करके चीखे-चिल्लाए। अंदर में चिल्लाए, हों ! यह बन्ध की भूल है। अब नींद न आवे तो दुःख क्या ? और नींद आवे तो सुख क्या ? ऐसा कहते हैं। नींद आयी तो उसमें सुख कहाँ से आया ? छह घण्टे, आठ घण्टे ऐसी मधुर-मीठी नींद आयी - फिर ऐसा बोलता है। बोलता है या नहीं ? है ? ऐसी मधुर-मीठी नींद (आयी कि) छह घण्टे तो आँख ऊँची नहीं हुई। पता नहीं सपने में, फिर दो घण्टे ऐसी मीठी नींद आयी (कि) साड़े छह बज गये, लो ? हमें पता नहीं रहा। है ? पिछले प्रहर की शीतल हवा, थके-हारे, ऐसी नींद आयी। नींद आयी, उसमें सुख क्या माना ? ऐसा कहते हैं। भाई ! मूढ़ हो, कहते हैं। नींद आयी - सुख किसका ? उसमें तुने किसकी रति की ? यहाँ तो ऐसी बात है।

मुमुक्षु :- दुःख...।

उत्तर :- परन्तु दुःख की व्याख्या क्या ? मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान, वह दुःख है। वह दुःख कहाँ भूल गया है, वह तो अन्दर पड़ा है। कुछ समझ में आया ? नींद से दुःख हों। उसमें नींद नहीं ली कि नींद आवे तो सुख हो। उसमें सब ले लेना।

‘पुण्य-पाप दोनों बन्धन कर्ता है किन्तु ऐसा न मानकर पुण्य को हितकारी मानता

है; तत्त्वदृष्टि से तो पुण्य-पाप दोनों अहितकर ही हैं परन्तु अज्ञानी ऐसा निर्धारिस्व नहीं मानता...' अर्थात् निजस्वस्व को जाने बिना-यह पद अन्दर सबमें लेना। मूल है न ? 'रति-अरति करै निजपद विसार।' अपना पद ज्ञाता-दृष्टा है। यह धर्मी तो नींद में भी ज्ञाता-दृष्टा है। आहा...हा...! समझ में आया ? वह नींद में सुख नहीं मानता। आहा...हा...! है ?

मुमुक्षु :- नींद में।

उत्तर :- वह अन्दर ज्ञाता-दृष्टा है। भान सदा ही वर्तता ही है। उसमें, कहीं निद्रा से सुख है और न आवे तो दुःख है - ऐसा नहीं मानता। सूक्ष्मबात है, भाई ! आहा...हा...! जागृतभाव में सो रहा है, उसे सोते में भी ज्ञाता-दृष्टापना ही है। ऐसी बात है, भाई ! अन्य तो सोता हो तो (मानो) बेभान (हो गया हो), कोई भान नहीं होता। भगवान तो तीन ज्ञान के स्वामी, माता के गर्भमें भी नो महीने जागृत हैं। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ? मति-श्रुत और अवधि-तीन ज्ञान सहित तीर्थकर माता के गर्भ में आवें परन्तु अन्दर भान-ज्ञाता-दृष्टापना सदा ही वर्तता है। यह तो कैसी (बात है) ! चैतन्य स्वयं जगा तो फिर वहाँ दूसरे साधन उसे बाधक कहाँ है ? कुछ समझ में आया ? बाहर के अनुकूल साधन उसे अनुकूल है या प्रतिकूल-यह है ही नहीं। जरा प्रमाद आ जाए तो भी अन्दर ज्ञाता-दृष्टापना नष्ट नहीं हो जाता। आहा...हा...! कुछ समझ में आया ?

मुनि को तो निद्रा बहुत कम (होती है)। उसमें भी ज्ञाता-दृष्टापना रहकर थोड़ी नींद होती है। छठे गुणस्थान में भी चारित्र, दर्शन और ज्ञान सहित में जरा सा प्रमाद आवे। वह घण्टा-घण्टा नींद न ले। आहा..हा..! चारित्र किसे कहना ? मुनिपना चारित्र किसे कहते हैं ? लोगों को पता नहीं चलता। बाह्य मानी हुई क्रिया में नग्न हुए (वह) चारित्र। भाई ! चारित्र तो आत्मा की जागृति के साथ आनन्द इतना प्रवाहित होता है नींद भी बहुत कम (होती) है। छठे गुणस्थान का हिस्सा (भाग) ही पौनी सेकण्ड है। जरा सी इतनी निंद आवे तो भी भीतर में जागृत है। आहा..हा..! तुरंत सातवाँ आवे, तुरंत छठ्ठा आवे, तुरंत छठ्ठा आवे। वह भी रात्रि के पिछले प्रहर के अमुक भाग में (थोड़ी नींद आवे)। ऐसी चारित्रदशा सम्यग्दर्शन सहित हो उसे साधुपद और भावलिंग कहा जाता है। दुनिया को बाहर से मापने, भीतर तत्त्व क्या है, श्रद्धाज्ञान का पता नहीं। आहा..हा..! क्या कहा समझ में आया ?

अज्ञानी अपने स्वस्व को भूलकर 'निर्धाररूप नहीं मानता...' निर्णय नहीं करता कि नींद में सुख नहीं है और अनिद्रा में दुःख नहीं है। इस जगत से सब उल्टा है, भाई ! यह बन्धतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है, लो ! समझ में आया ?

अब '(२) संवरतत्त्व की भूल :-' यह इसमें आ गया है। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इसमें आया था न ? देखो ! वैराग्य, ज्ञान उसे दुःखदायक मानता है। आया था न ? देखो ! इसमें भी फोटो है। देखो ? देखो ! इसमें फोटो है। मुनि ध्यान में ज्ञानानन्दस्वस्व में अन्दर रमते हैं। उन्हें



फिर एक दीपक से उजाला करता है। ज्ञान का होगा। हैं ? ज्ञान का दीपक और वह पुस्तक-बुस्तक है ? ठीक ! वह एक युवक खड़ा है। (वह कहता है), नहीं... नहीं... नहीं। ऐसा ज्ञान और ऐसा चारित्र नहीं। ऐसा नहीं। पाठ है सही न ? है ?

'आत्महित हेतु विराग-ज्ञान, ते लखै आपकू कष्टदान...' यह ज्ञान क्या ? यह दुःखदायक है। आत्मा का ज्ञान और आत्मा का चारित्र, उसे मिथ्यादृष्टि दुःखदायक मानता है। बापा ! चारित्र तो लोहे के चने चबाने (जैसा है), अर्थात् अज्ञानी ने चारित्र को दुःखदायक माना है। चारित्र अर्थात् तो आत्मा के आनन्द में रमणता। अतीन्द्रिय आनन्द का रस। सिद्ध को आनन्द आवे वैसा ही आनन्द इसे आता है। ऐसा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आनन्ददाता (है), उसे अज्ञानी दुःखदाता मानता है। समझ में आया ?

'जीव को हितकारी है, स्वस्व में स्थिरता द्वारा राग का जितना अभाव, वह वैराग्य है...' अर्थात् वास्तविकस्व से चारित्र है। 'और वह सुख के कारणरूप है...' जितना आत्मदर्शनपूर्वक राग घटकर स्थिरता हो, वह आनन्ददायक है, हितकारी है, शान्ति का दाता है। 'तथापि अज्ञानी जीव उसे कष्टदाता मानता है।' बापा ! चारित्र तो ओ..हो..हो...! बहुत

कठिन ! हवा से थैली भरना सरल, परन्तु चारित्र पालना बहुत कठिन है। है ! उस 'मृगापुत्र' में आता है न ? तराजू में मेस्पर्त तोलना। तराजू में मेस्पर्त तोलने की अपेक्षा भी चारित्र कठिन है - ऐसा करके दुःखदायक मानता है। ऐसा नहीं, भाई ! जिसके घर में ठहरना, उसमें दुःख क्या ? कुछ समझ में आया ? चारित्र तो आत्मा के आनन्दस्वरूप में स्थिरता, रमना (है।) भोजन-अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करने का नाम चारित्र है। मिथ्यादृष्टि मूढ़ उस चारित्र को दुःखदायक, कष्टदायक, व्याकुलता... व्याकुलता... व्याकुलता (मानता है)। है न ? देखो ! ऐसा हाथ करता है, नहीं। फोटो ठीक निकाले लगते हैं। यह तो पहले के हैं, हाँ ! हिन्दीवालो के। समझ में आया ? 'यह संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।' लो ! यह छठवीं (गाथा पूर्ण) हुई।

निर्जरा और मोक्ष की विपरीत श्रद्धा तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान

रोके न चाह निजशक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय;
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान।।७।।

अन्वयार्थ :- [मिथ्यादृष्टि जीव] (निजशक्ति) अपने आत्मा की शक्ति (खोय) खोकर (चाह) इच्छा को (न रोके) नहीं रोकता, और (निराकुलता) आकुलता के अभावको (शिवरूप) मोक्षका स्वरूप (न जोय) नहीं मानता। (याही) इस (प्रतीतिजु) मिथ्या मान्यता सहित (कछुक ज्ञान) जो कुछ ज्ञान है (सो) वह (दुखदायक) कष्ट देनेवाला (अज्ञान) अगृहीत मिथ्याज्ञान है ऐसा (जान) समझना चाहिये।

भावार्थ :- निर्जरातत्त्व में भूल :- आत्मा में आंशिक शुद्धि की वृद्धि तथा अशुद्धि की हानी होना उसे संवरपूर्वक निर्जरा कहा जाता है; वह निश्चयसम्यग्दर्शन पूर्वक ही हो सकती है। ज्ञानानन्दस्वरूपमें स्थिर होनेसे शुभ-अशुभ इच्छाका निरोध होता है वह तप है। तप दो प्रकार का है : (१) बालतप (२) सम्यक् तप; अज्ञानदशामें जो तप

किया जाता है वह बालतप है, उससे कभी सच्ची निर्जरा नहीं होती; किन्तु आत्मस्वस्व में सम्यकप्रकार से स्थिरता-अनुसार जितना शुभ-अशुभ इच्छा का अभाव होता है वह सच्ची निर्जरा है - सम्यकृतप है; किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है। अपनी अनन्त ज्ञानादि शक्ति को भूलकर पराश्रयमें सुख मानता है, शुभाशुभ इच्छा तथा पांच इन्द्रियोंके विषयों की चाहको नहीं रोकता - यह निर्जरातत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है।

(२) मोक्षतत्त्व की भूल :- पूर्ण निराकुल आत्मिकसुख की प्राप्ति अर्थात् जीव की सम्पूर्ण शुद्धता वह मोक्ष का स्वस्व है तथा वही सच्चा सुख है। किन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं मानता।

मोक्ष होने पर तेजमें तेज मिल जाता है अथवा वहाँ शरीर इन्द्रियाँ तथा विषयों के बिना सुख कैसे हो सकता है ? वहाँ से पुनः अवतार धारण करना पड़ता है - इत्यादि। इस प्रकार मोक्षदशामें निराकुलता नहीं मानता वह मोक्षतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।

(३) अज्ञान :- अगृहीत मिथ्यादर्शन के रहते हुए जो कुछ ज्ञान हो उसे अगृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं, वह महान दुःखदाता है। उपदेशादि बाह्य निमित्तों के आलम्बन द्वारा उसे नवीन ग्रहण नहीं किया है, किन्तु अनादिकालीन है, इसलिये उसे अगृहीत (स्वाभाविक-निसर्गज) मिथ्याज्ञान कहते हैं। ॥७॥

अब, 'निर्जरा और मोक्ष की विपरीत श्रद्धा तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान।' सातवीं (गाथा में) तीन की बात आती है। वह 'छहढाला' तो तुम्हारे सब बहुत बार (पढ़ी गयी) होगी। यह 'छहढाला' तो तुमने पढ़ी होगी न ? हिन्दुस्तान में (दिगम्बरों के) घर में चलती होगी (परन्तु) अर्थ नहीं आते होंगे।

रोके न चाह निजशक्ति खोय, शिवस्व निराकुलता न जोय;

याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान॥७॥

'रोके न चाह निज शक्ति.. मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्माकी शक्ति...' आनन्दस्व

शक्ति है, उसे खो बैठता है। अकेली अभिलाषा के, इच्छा के वेग में, इच्छा के वेग में आत्मा के आनन्द की शान्ति को खोता है और मानता है कि मुझे इच्छा मैं मजा है - यह निर्जरातत्त्व की भूल है। कुछ समझ में आया ? इच्छा उत्पन्न नहीं होना और आत्मा के आनन्द की, शान्ति की उत्पत्ति होना, शक्ति की व्यक्तता होना, उसका नाम निर्जरा है। ऐसी भाषा है, भाई ! क्या कहा ?

‘रोके न चाह निजशक्ति खोय...’ अर्थात् निजशक्ति को प्रगट करना, उसका नाम निर्जरा है। आहा...हा...! भगवान आत्मा ज्ञान और अतीन्द्रिय की मूर्ति है। उसमें एकचित्त होकर उस शक्ति की व्यक्तता, शुद्ध का प्राकट्य होना उसका नाम निर्जरा है। आहा..हा..! निर्जरा की व्याख्या, देखो ! कहा न ? ‘रोके न चाह निजशक्ति खोय...’ इसका अर्थ यह कि निर्जरा की भूल है। तब निर्जरा किसे कहना ? कि निजशक्ति की व्यक्तता प्रगट करे, उसे निर्जरा कहना। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य, पुण्य-पाप की इच्छारहित वस्तुमें अन्दर सम्यग्दर्शन, ज्ञानपूर्वक स्वस्व में शक्ति की प्रगटता का पुरुषार्थ (होना), ऐसी शुद्धता की व्यक्तदशा (होवे), उसे भगवान निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा-ऐसा नहीं करके अकेली इच्छाओं में घिरकर शक्ति को प्रगट नहीं करता। वह उसमें ठीक मानता है, इच्छा में ठीक मानता है। (जो) इच्छा में ठीक मानता है, उसे निर्जरातत्त्व की भूल है। कुछ समझ में आया।

‘इच्छा को नहीं रोकता...’ इसका अर्थ कि आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वस्व है - ऐसी शक्ति की उसे प्रतीति नहीं है। उसकी प्रतीति शुभ की अभिलाषाओं में सब-सर्वस्व मानता है। जो शुभ-अशुभ की इच्छाएँ होती हैं, उसमें सब सर्वस्व मानता है। ओ..हो..! आखिर बहुत तो शुभ इच्छा हुई, हमने बहुत काम किया, बहुत काम किया... परन्तु इस इच्छा में तो आत्मा के आनन्द की शक्ति, व्यक्तता रुक गयी है। कुछ समझ में आया ?

यहाँ तो इच्छा में शुभ इच्छा भी इच्छा है। आहार न करूँ- ऐसी भी जो इच्छा, उस इच्छा के पीछे आत्मा कौन है ? - इसका पता नहीं। आत्मा इच्छारहित चीज है। ऐसी आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक, पुरुषार्थ से शक्ति का व्यक्तपना प्रगट होना, इसका नाम निर्जरातत्त्व कहते हैं। वह (अज्ञानी) इस शुभ इच्छा में सर्वस्व मानता है। शुभ इच्छा हुई न ! आहार नहीं करने की या किसी प्रकार से प्रायश्चित्त की (या) अमुक (इच्छा), शुभराग। भाई ! यह शुभराग हुआ,

उसे ही निर्जरा और लाभ मानता है। आहा...हा...! समझ में आया ? भगवान आत्मा पूर्ण निरोध, इच्छा-निरोध तत्त्वस्वस्व है - ऐसे स्वस्व में से जो तत्त्व पूरा अखण्डानन्द प्रभु, उसकी प्रतीति, ज्ञानपूर्वक उसमें लीनता होने से जो शुद्धता के अंश प्रगट होते हैं, उसका नाम निर्जरा अथवा शुद्ध उपयोग निर्जरा अथवा शुद्धिकी वृद्धि, वह निर्जरा है। अज्ञानी शुभ इच्छा में सन्तुष्ट हो गया है। ओ..हो..! वहाँ शक्ति रुक गयी है और उसे मानता है कि हम धर्म करते हैं और निर्जरा करते हैं। कुछ समझ में आया ?

‘रोके न चाह निजशक्ति खोय...’ इन शब्दों में से बहुत अर्थ भरा है.. हाँ ! कहो, समझ में आया कुछ ? उस शक्ति को खोकर बैठा है, अर्थात् इच्छा में ही जो अभिलाषा - इच्छा है कि यह करूँ, यह नहीं खाऊँ, यह नहीं लूँ, यह नहीं दूँ, यह छोड़ूँ, यह रखूँ - ऐसी इच्छा में ही यह सब मान बैठा है। यह तप है और यह निर्जरा है, यह संवर है और यह धर्म है। इच्छा तो आत्मा की शान्ति को, शुद्धता को रोकनेवाली है। इसकी इच्छा द्वारा मुझे निर्जरा होती है और मुझे तप हुआ - ऐसा मानना, यह निर्जरातत्त्व की भूल है। आहा...हा...! कहो, है इसमें ? है या नहीं इसमें ? इसमें पाठ भरा है, इसका भी पता नहीं चलता।

फिर ‘शिवस्व निराकुलता न जोय...’ यह निराकुलता तो मोक्षदशा है। इसके अतिरिक्त कहीं निराकुलता नहीं होती, परन्तु कहीं राग की मन्दता या ऐसे भाव में निराकुलता मानकर वहाँ सर्वस्व मोक्ष मानता है, उसे मोक्षतत्त्व की भूल है। सर्वथा निराकुलता हो जाने का नाम मोक्ष है। यहाँ ऐसी व्याख्या की है। पूर्ण निराकुलता और पूर्ण अनाकुल का आनन्द का प्रगट होना, इसका नाम मोक्ष है। ऐसे अनाकुल आनन्द को नहीं जानकर अनाकुल आनन्दरूपी मुक्तदशा को नहीं मानकर, कोई मन्दराग की आकुलता घटी तो हमारी हमारी आकुलता तो कम होती है न ! आकुलता तो कम होती है न ! - ऐसा मानकर मोक्षतत्त्व को नहीं जानता। समझ में आया ?

जिसने शुभ इच्छा से मोक्ष माना है, उसने



आकुलता से निराकुलता का फल माना है, अर्थात् (उसे) निराकुलतास्व मोक्ष की प्रतीति का पता नहीं। आहा...हा...! अनाकुलस्व चैतन्यस्वस्व, उसकी पर्याय में अनाकुलस्व प्रगट पर्याय का प्रगट होना, उसका नाम मोक्ष है। ऐसी अनाकुलता में उसकी भूल होती है। कोई बन्ध करे तो अपने को लाभ होगा, शुभभाव में भी अपने को मुक्ति होगी उससे परम्परा मुक्ति होगी (-ऐसा मानता है।) समझ में आया कुछ ? उस निराकुलता का कारणस्व भी निराकुलता का ही भाव होना चाहिए। ऐसे भाव को नहीं जानकर, निराकुलता की पूर्णता अर्थात् मोक्षतत्त्व को भी वह नहीं जानता। कुछ समझ में आया ?

‘याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान,...’ ऐसी विपरीत श्रद्धापूर्वक-समस्त सातों ही तत्त्व आ गये। आ गये ? जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। साततत्त्व की भूल हो गयी। ‘याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुःखदायक अज्ञान जान।’ सात है न, सात ? देखो ! वह लिया है उसमें हों ! देखो ! अथाह चाह देखो ! नीचे एक लड़का या युवक बैठा है। अथाह याह। क्या करूँ? स्त्री, पुत्र, यह, यह अभिलाषा... अभिलाषा... अभिलाषा। अन्दर बहुत अधिक (चित्रित किया) है। मकान है और मनुष्य है... है या नहीं ? है ? गाड़ी है। मोटर सदा ही कहाँ थी ? परन्तु बंगला...बंगला हो उस ओर मोटर है - ऐसा न यह ? बंगला हो लो, न सब। यह... देखो न, ऐसे बैठा है। ऐसा करके। विचार में चढ़ गया है। कैसे कमाना ? कैसे पैदा करूँ? कैसे सट्टा करना ? देखो ! विचार में चढ़ गया है। लंगोट जैसा वस्त्र पहिना है, एक पैर ऐसे पड़ा है, एक हाथ ऐसे रहा (है)। है ? और फिर मैं कुछ ठीक करता हूँ - ऐसे भाव में पड़ा है वह। मैं कुछ ठीक करता हूँ कमाने का भाव करता हूँ, अमुक करता हूँ, अमुक करता हूँ - यह सब ठीक करता हूँ, ऐसे भाव में



चढ़ गया है, जीव की शक्ति रोकता है और मानता है कि कुछ हित करता हूँ, अर्थात् ठीक करता हूँ।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह भी इच्छा का अर्थ समझना चाहिए न ! भाषा तो सब बोल देते हैं। यह रेकोर्डिंग बोलते है। भाई ! यह इसे प्रतिकूलता में दुःख होता है, उसकी इच्छा का कहाँ भान है इसे ?

मुमुक्षु :- अब क्या करना - यह तो कहो ?

उत्तर :- यह कहते हैं, वस्तु की श्रद्धा-ज्ञान करके और इच्छा को रोकना, स्वल्प में स्थिर होना ही शान्ति का उपाय है; दूसरा कोई उपाय तीन काल में नहीं है। यह तो जरा प्रतिकूलता (आवे, वहाँ) रोता है। हाय...हाय... हिम्मत हार गये, अब क्या करना है ? मर जाँँ। कहाँ जाना है यहाँ से ? भाई ! यह तुम्हारे भाई का सब खुल्ला करते हैं। यह तो ऐसे बहुत होते है न ! एक नहीं, ऐसे तो बहुत होते हैं। मर जाँँगे। यहाँ से कहाँ जाओगे ? जहर पीने का मन हो जाता है। हमारे तो गुप्त पत्र भी बहुत आते हैं। बहुत दुःखी के पत्र आते हैं। महाराज ! कुछ भेजो, हों ! वरना अब जहर पीने का समय आया है। यहाँ कौन जाने रुपयों के ढेर पड़े हैं - ऐसा लोगों को हो गया है, हाँ ! वहाँ ऐसा कि इनके पास करोड़ों रुपये पड़े हैं और सेठों का जरा आदेश करें - इतनी देर है। जरा एक पाँचसौ भेजो, एक पाँच हजार भेजो और मेरी दुकान भी चलने के बाद में आपको धीरे-धीरे दे दूँगा। यहाँ दुकान और धन्धा होगा। आहा...हा...! वरना पाँच दिन में हमारी बात प्रसिद्ध हो गयी तो हमारे जहर पीने का समय है, ऐसा आता है, हाँ ! उसे मानो कि सब सेठ ही है। यह भाई, इनके लड़के बड़े-बड़े सेठ हैं, बहुत बड़े हैं।

कहते है, देखो ! विचार में चढ़ गया है; और यह मोक्ष है, देखो ! यह। मोक्षशिला है न ? निराकुल। देखो ! कैसी स्थिति है ? अकेली अनाकुलता, विकल्पमात्र नहीं, वह मोक्ष है। यह पूरा होने के बाद अगृहित मिथ्याज्ञान की बात आयेगी। फिर कहते हैं, **‘याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुःखदायक अज्ञान जान।’** इस मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान सहित। सातो ही तत्त्वों की मिथ्याश्रद्धा और सातो ही तत्त्वों की मिथ्याश्रद्धा रहित। देखो ! प्रतीति लिया न ? इन सातों तत्त्वों की प्रतीति सहित - मिथ्यामान्यता, कछुक ज्ञान, जो कोई ज्ञान है, वह कष्ट को

देनेवाला अगृहीत मिथ्याज्ञान है। पूर्व में मिथ्याश्रद्धा की व्याख्या थी। वहाँ अगृहीत सात तत्त्वों की श्रद्धा की भूल बतानी थी। अगृहीत अर्थात् अनादि की श्रद्धा-निसर्ग मान्यता, अनादि की भूल, किसी से सीखी हुई नहीं। वह अनादि को पकड़ी हुई साततत्त्व की भूल निसर्ग है। उसके साथ कुछ ज्ञान विपरीत **‘कष्ट को देनेवाला अगृहीत मिथ्याज्ञान है...’** इसमें भाई ने लिखा है। क्या कहलाता है ? यह ‘छहढाला’ में ‘बुधसागर’ है न, ‘बुध’ उसमें से यह बनायी है। ‘बुधजन’ लिखा है। ऐसी सब बातें तो अपने ‘समयसार’ आदि शास्त्रों में आ गयी है। यह तो ये लोग ढाल का कर्ता दूसरा भी इस प्रकार कहते हैं।

‘सब व्यवहार क्रिया का ज्ञान, भयो अनन्ती बार प्रधान।’ ‘सब व्यवहार क्रिया का ज्ञान, भयो अनन्ती बार प्रधान, निपट कठिन अपनी पहिचान, ताको पावत है कल्याण।’ यह शास्त्र का ज्ञान और दूसरी क्रिया का ज्ञान और दया, दान, व्यवहार ज्ञान और यह ज्ञान, यह ज्ञान - ऐसा अनन्त बार किया। सब व्यवहार क्रिया - दया, अहिंसा और ऐसा व वैसा और ऐसा पालन करना और यह खाना, और यह लेना, यह लेना - ऐसी क्रियाएँ, उनका ज्ञान ‘भयो अनन्ती बार प्रधान।’ प्रधान अर्थात् ऊँचा ऐसा फिर। शास्त्र में से व्यवहार का ज्ञान निकालकर बहुत पढ़ा। ऐसे प्रायश्चित्त लिया जाता है और ऐसे दिया जाता है और दया चलती है, ऐसे देखकर चला जाता है, ऐसा होता है। ऐसी व्यवहार क्रिया का ज्ञान अनन्ती बार प्रधान किया।

‘निपट कठिन अपनी पहिचान’ - भगवान आत्मा ज्ञानस्वस्व का ज्ञान, वह महाकठिन है; बाकी ऐसा सब ज्ञान तो अनन्तबार किया है। मिथ्याश्रद्धासहित ऐसा मिथ्याज्ञान भी अनन्त बार किया। वह अगृहीत मिथ्याज्ञान है। समझ में आया ? ‘ताको पावत है कल्याण।’ लो ! ‘धर्म सुभाव आप श्रद्धान’ - देखो ! सम्यग्दर्शन रहित बाह्यक्रिया और चारित्र का ज्ञान किया, देखो ! अर्थ में (लिखा है)। तथा धर्म का स्वस्व तो आत्मा का श्रद्धान है। पहले यहाँ से प्रारम्भ किया है। ‘धर्म सुभाव आप श्रद्धान, धर्म न शील, न स्नान, न दान।’ कषाय की मन्दता आदि शीलस्वभाव या न स्नान या दान धर्म-बर्म नहीं है। पुकार तो करते हैं यह ‘बुधजन’ पहले से, लो ! और यह लोग कहते हैं, ‘सोनगढवालों’ ने ऐसा किया, ‘सोनगढवालो’ ने ऐसा किया, कहते हैं। समझ में आया ?

‘बुधजन गुरु की सीख विचार, गहो धाम आतम हितकार।’ भगवान अनन्त गुण का स्वामी

प्रभु, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द से भरचक भरा हुआ छलाछल - ऐसे भगवान आत्मा के धाम की श्रद्धा कर ! कहते हैं। उसके सन्मुखदेख और उसका ज्ञान कर, वह ज्ञान है। उसके सन्मुख देख, उसका ज्ञान कर, वह ज्ञान है; बाकी व्यवहार क्रिया आदि का ज्ञान प्रधानरूप से किया। प्रधान अर्थात् बहुत ऊँचा मिथ्याज्ञान, वह कोई ज्ञान-ब्यान नहीं है। समझ में आया कुछ ? देखो ! यह यहाँ (रखा) है। ऐसे बैठा है। मिथ्याज्ञान का है न ? टेबिल है न ? मिथ्या पुस्तकें पढ़ी होगी। कुछ है अवश्य ऐसा सब लम्बा-लम्बा। अगृहीत मिथ्याज्ञान हुआ। लो !

भावार्थ :- कहते हैं कि वह दुःखदायक कष्ट को देनेवाला है। ठीक ! यह आत्मज्ञानरहित जो बाह्य क्रिया का ज्ञान, वह तो दुःखदायक और दुःख का देनेवाला है। भगवान आत्मा का ज्ञान, वह सुखदायक है। उसके बिना अकेली क्रिया का, व्यवहार की बात, सब व्यवहार लिया है - व्यवहार श्रद्धा, व्यवहार ज्ञान और व्यवहारचारित्र और व्यवहार व्रत और उसका तप और उसका सब ज्ञान - आत्मज्ञान के बिना यह सब कष्टदायक है। आहा...हा...! ऐसा तो यह लोग गृहस्थाश्रम (रहकर) दिगम्बर कह गये हैं, दिगम्बर गृहस्थ ! उसमें सनातन मार्ग था। परम्परा वीतराग केवलज्ञानी को जो बात है, वह बात परम्परा (से) दिगम्बर सन्तों में चली आयी है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- ऐसा विपरीत चला आता था, विपरीत मानते हैं, यह कहते हैं न, देखो न ! सर्वज्ञ परमेश्वर से कथित मार्ग दिगम्बर में अनादि से सत् चला आता है - ऋषभदेव भगवान से। यह देखो न, तब से यह चला आता है। क्रिया का ज्ञान, वह मिथ्याज्ञान है। उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान, वह वस्तु ही बन्ध का कारण है। अब, उसमें धर्म कहाँ आया ? यह व्रत, नियम और क्रिया का ज्ञान, वह मिथ्याज्ञान है - ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहा...हा...!

आत्मा के ज्ञान से रहित का जो ज्ञान...आहा...हा...! कथानुयोग का ज्ञान, करणानुयोग का व्यवहारज्ञान - यह सब, सम्यक् आत्मज्ञान के बिना, वह ज्ञान कष्टदायक है, ऐसा कहते हैं। अभिमान हो गया कि मुझे बहुत जानकारी है। हमें सब आता है। चारों अनुयोग में से व्यवहार ऐसा होता है, व्यवहार ऐसा होता है, व्यवहार ऐसा होता है, परन्तु वह व्यवहार - आत्मज्ञान रहित का व्यवहारज्ञान तो दुःखदायक है। आहा...हा...! अद्भुत डाला है, हाँ ! बात तो ऐसी ही है।

ऐसी प्रतीति, अर्थात् सात तत्त्वों की भूल कही न ? पहली जीव अपने उपादान से कार्य हो - ऐसा न मानकर पर से माने, यह जीव की भूल है। अजीव के उपादान से काम हो, उसे जीव से होता है - ऐसा माने, वह अजीव की भूल है। समझ में आया ? पुण्य-पाप दोनों आस्रवतत्त्व हैं, उनमें से एक को ठीक और अठीक माने, वह आस्रवतत्त्व की भूल है। बन्ध में शुभ और अशुभ एक प्रकार के संयोग हैं, उनमें एक ठीक और एक अठीक माने, यह बन्धतत्त्व की भूल है। निर्जरा की भूल - इच्छा को रोकना, उसमें लाभ है, उसके बदले अकेली शुभ इच्छा करने में लाभ है - इसका नाम निर्जरातत्त्व की भूल है।

परिपूर्ण निराकुल मोक्षतत्त्व है। उसमें कुछ भी वहाँ अन्दर खाने-पीने का नहीं, अमुक नहीं, वहाँ ऐसा नहीं, वहाँ यह नहीं - ऐसा कितने ही चिल्लाते हैं न ? यह क्या कुछ नहीं मिलेगा ? लाड़ी नहीं, वाड़ी नहीं, गाड़ी नहीं, घोड़ी नहीं, बोलना नहीं, सुनता नहीं, लो ! ऐसा का ऐसा (रहना)। इस निराकुल सुख का - मोक्षसुख का उसे पता नहीं है। आकुलता से छूट जाने का नाम मोक्ष है। उसके बदले (ऐसा माने कि) खाना नहीं, पीना नहीं, लड्डु नहीं, चूरमा नहीं, दाल-भात नहीं, सब्जी नहीं, बघारे हुए करेला नहीं। है ? यह तो करेला के अन्दर मसाला भरते हैं न ? और रस होवे, ऊँचा रस, भाई ! आम का बड़िया रस। वहाँ था न, देखो न ! ऐसी बड़िया से बड़िया आम। वहाँ भी आम लाये थे। वह कौनसा गाँव ? 'खड़... खड़...' यह कौनसा गाँव कहा ? वे उठकर गये थे 'शंकर' के देवालय में। पहले नहीं 'कुण्डले' से उठकर। वह 'खड़' कौनसा गाँव ? गाँव का क्या नाम ? 'खड़कालु।' 'खड़कालु ?' हाँ, वह। वह शंकर का देवालय नहीं ? 'कुण्डले' से उठकर। तब की बात है। कहों, समझ में आया ? नहीं रस, पुड़ी... गर्म-गर्म पुड़ी घी में तली हुई और बड़िया में बड़िया मीठारस निकाला हुआ, ऐसा कटोरा भरकर एसा फर्स्टक्लास ! उसके साथ मीठा साठा / फिका है ? कहते हैं, एसा कुछ नहीं, उस मोक्ष का हमें क्या करना है ? समझ में आया ? मूढ़ ! तुझे मोक्ष का पता नहीं है। यह सब इच्छायें - खाने, पीने की, वह तो आकुलता है। होली है वहाँ। वहाँ दुःख का ढेर है। यह खाऊँ, और यह लूँ और वह लूँ और पतरवेलियाँ और श्रीखण्ड व पुड़ी और... सभी इच्छायें दुःखरूप हैं। ऐसा तो वहाँ नहीं है, कहते हैं। परन्तु वहाँ नहीं किसका ? वहाँ तो निराकुलता आनन्द है। तुझे दुःख है, इसलिए इच्छा होती है।

यह वर्णन किसलिए किया ? यह आकुलता है - ऐसी आकुलता वहाँ नहीं है। उसे मानता है

कि ऐसा कुछ नहीं। ऐसी आकुलता किसकी हो, परन्तु वहाँ ? समझ में आया ? अकेला अनाकुल रसकन्द में ऐसा पड़ा है अन्दर से। आहा...हा...! 'सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख में, अनन्त दर्शन, ज्ञान सहित जो।' - श्रीमद् ने कहा है न ? ऐसा आनन्दस्वरूप मोक्ष, उसे नहीं मानकर, कोई इच्छा करें, इच्छा करे, इच्छा करें, कुछ नहीं मिलता, साधन नहीं मिलता, इच्छायें नहीं मिलती, यह नहीं मिलता - ऐसा मोक्ष हमें नहीं चाहिए।

एक व्यक्ति फिर ऐसा कहता था। बिचारा मर गया। वह कहता - मोक्ष में वे सिद्ध क्या करते हैं ? कहा - कोई हराम कुछ करे तो। तब वह कहता - यह सिद्ध हमें नहीं चाहिए। कहो, ठीक ! 'हीराभाई' के मकान में 'नारणभाई' के मित्र थे, कितनी ही बार आते थे, परन्तु दृष्टि इतनी विपरीत। सिद्ध परमात्मा मोक्ष (में जाकर) क्या करते हैं ? मैंने कहा - आत्मा के आनन्द को करते हैं, बस ! दूसरा कुछ नहीं। हराम है किसी का कुछ करे तो; एक छिलका भी नहीं फिराते। (तब वह कहता), ऐसा मोक्ष हमें नहीं चाहिए। उसका अर्थ कि हमें ऐसा मोक्ष चाहिए ही नहीं। बापा ! तुम्हें, मोक्ष अर्थात् क्या ? - इसका (पता ही नहीं है।) यहाँ भी जितने अंश में राग घटे और स्वस्व में स्थिर हो, उतने अंश में शान्ति है। राग होवे और प्रवृत्ति अनुकूल होवे, उसमें शान्ति है - ऐसा नहीं है।

मानों दूसरों को सुधार दे और सब सुखी दिखें, बस ! अपने को शान्ति... मूढ़ है। वह तो राग है, मूर्ख ! समझ में आया ? पर का कर दें, वह तो आकुलता की बुद्धि महामिथ्यात्व है - मिथ्यात्व है। ज्ञानस्वरूप में राग का करना है ही कहाँ ? उसके बदले जहाँ कर्तृत्व स्वीकार किया है, (वहाँ) तीव्र आकुलता है, मिथ्यात्व की तीव्र आकुलता है। मिथ्या अर्थात् असत्य दृष्टि की तीव्र आकुलता है। अब ऐसा उसे वहाँ नहीं दिखता। कहा - पर का अच्छा करने की इच्छा मोक्ष में नहीं होती। ऐसा मोक्ष ? है ? कुछ समझ में आया ?

कहते हैं, ऐसी मान्यता सहित जिसका उल्टा ज्ञान है, उसे अगृहीत मिथ्यात्व कहा जाता है। यह सातों तत्त्वों के भूल की व्याख्या हो गयी। निर्जरातत्त्व में आत्मा के आंशिक शुद्धि की वृद्धि। यहाँ कहा न ? 'निज शक्ति खोय' - अपना आत्मा आनन्दमूर्ति श्रद्धा सम्पन्न केवलज्ञान का कन्द, ऐसी उसकी शक्ति है। उसकी शक्ति की श्रद्धाज्ञान द्वारा प्रगट होना चाहिए, प्रगट होना चाहिए, उस शक्ति की प्रगटता होनी चाहिए, उसके बदले इसने अकेली इच्छा में लाभ माना है।

आंशिक शुद्धि की वृद्धि अथवा अशुद्धि की हानि होना, उसे संवरपूर्वक निर्जरा कहा जाता है। वह निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक हो सकती है। वह निर्जरा, आत्मा के परिपूर्ण शुद्ध आनन्द की प्रतीति के अनुभवपूर्वक ही निर्जरा होती है; वरना निर्जरा नहीं हो सकती। क्योंकि शक्ति परिपूर्ण है, उसका प्रतीति और ज्ञान में तो भान आया नहीं। (भान) आये बिना स्थिर कहाँ हो और निर्जरा हो कहाँ ? - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? सम्यग्दर्शनपूर्व जो कहा, उसका अर्थ यह कि जहाँ आत्मा एकत्वस्व से अखण्डानन्द पूर्ण आनन्द, पूर्णज्ञान का कन्द आत्मा है - ऐसा जहाँ अन्तर ज्ञान में प्रतीति ही नहीं आयी, भान ही नहीं आया तो उसमें स्थिरता कहाँ से हो ? इसलिए सम्यग्दर्शनके बिना उसे निर्जरा नहीं हो सकती। समझ में आया कुछ ?

ज्ञानानन्द स्वस्व में स्थिर होने से... देखो ! शुभ-अशुभ इच्छा का निरोध होता है, उसे तप कहा जाता है। अकेला उपवास करे और इच्छा है, वहाँ तो राग का भाग है। इच्छा रहित चीज, निराकुल आनन्दकन्द - ऐसे आत्मा की तो प्रतीति नहीं हुई कि उसमें स्थिरता से मेरा चारित्र होगा; उसमें स्थिरता से मेरी मुक्ति होगी। क्या कहा ? यह स्वस्व अखण्डानन्द ज्ञान का पुंज प्रभु है, वही मेरा तत्त्व है। उसमें स्थिरता से मेरी मुक्ति होगी - ऐसी प्रतीति का भान तो हुआ नहीं; उसे निर्जरा कहाँ से हो ? समझ में आया ? वह तो बाहर की इच्छा के वेग में खिंच गया है। यह कर दूँ और यह कर दूँ, दूसरे का कर दूँ। दुनिया का उद्धार कर दूँ... परन्तु पहले तेरा तो कर !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- हाँ, एसा कितने ही कहते हैं। कितने ही कहते हैं (भले ही) हमारे दो भव बढ़ें, परन्तु यदि दुनिया का कल्याण होता होवे तो, भले ही दो भव बढ़ें। उस मूढ़ को न तो आत्मतत्त्व की श्रद्धा है, न मुक्ति अनाकुल होती है - इसकी श्रद्धा है। उसे आकुलता करके दुनिया को सुधारने का भाव है।

मुमुक्षु :- मोक्ष हो जाए...

उत्तर :- धूल में भी नहीं। बात नहीं कही ? लोककल्याण कर ही कौन सकता है ? यह (संवत्) १९८२ के साल में हमारे बड़ी चर्चाचली थी। कहा नहीं था ? 'तिरे वह तारे।' - ऐसा सुत्र लिखा था। 'वढ़वाण' में चातुर्मास में। (एक मुमुक्षु) है न ? 'तिरे, वह तारे।' एक वकील आया। कंदोई वकील है। वकील आया-महाराज ! ऐसा न करो। तब क्या करना चाहिए इसमें ?

‘तारे वह तिरे’ भाई ! कितना ढूँढ़ने जाना ? कहा - एक भी व्यक्ति न होय तो उसे केवलज्ञान हो नहीं न ? समझ में आया ? (संवत्) १९८२ केसाल की बात है। व्याख्यान चलता हो न ? सिर पर चाक बाँधते। सूतका, हाँ ! क्या कहलाता है ? भरकर, धागों से भरा हुआ। ‘तिरे, वह तारे’ - ऐसा लिखा था। वकील आया। महाराज ! ऐसा नहीं चाहिए। ‘तारे वह तिरे।’ कहा - कितनों को ढूँढ़ना ? कितनों को ढूँढ़ने जाना ? यहाँ ढूँढ़ना या वहाँ ढूँढ़ना ? भाई ! दुनिया तो ऐसे की ऐसे चली ही जाती है। यह तो १९८२ की बात है, लो ! चालीस वर्ष हुए। ‘तारे वह तिरे।’ कहा - एक को भी नहीं तारे और स्वयं तिरे, सुन न ! निमित्त तो, उसकी स्वयं की सामनेवाली की योग्यता हो और इसे पुण्य का योग हो तो निमित्त होता है। निमित्त नहीं भी होता, एक को भी नहीं तारे और स्वयं तिरे।

अपना आत्मा अखण्डानन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसकी दृष्टि, ज्ञान और रमणता करना - यह एक ही इसे मुक्ति का उपाय है। यह तो दुनिया ऐसा कहे, ओ..हो...हो...! दश-दश हजार, बीस-बीस हजार, पच्चीस-पच्चीस हजार में इसका व्याख्यान (होता है) और लोग ... धूल में क्या है ? परन्तु है क्या ? यह वाणी ही आत्मा की नहीं है, इच्छा होती है, वह आत्मा की नहीं है। अब, इसमें कल्याण किसका करना ? ऐ..ई..! वाणी जड़ है, उसमें से आत्मा को लाभ नहीं है। इच्छा हुई कहा, वह इच्छा राग है, आकुलता है। (उससे) आत्मा को लाभ नहीं है। किससे लाभ करना है इसे ? पूरी दृष्टि की मूल में भूल है। कुछ समझ में आया ?

अशुभ इच्छा और शुभ का निरोध हो, उसे तप कहते हैं। यह इच्छा जो हुई, इसे ही न होने देना और स्वस्व को शान्ति और अनाकुल आनन्द को प्रगट शक्ति का व्यक्त भाव होना यही धर्म और तप और निर्जरा है। आहा...हा...! ऐ.... ‘तपस्वी !’ यह तपस्वी कह गया। महीने के उपवास करे तो उससे दूसरा विशेष भले हो परन्तु कहीं तपस्वी कहलाये ? बाहर में वह गिना जाता है। (एक भाई की) बहु से कहा। यह कहे तुम डिग्रीवाले होकर हमारी सेवा करते हो (तो वह कहे) हमारी डिग्री से तुम्हारी डिग्री ऊँची। वे विचारे यहाँ के गिने जाते। (एक भाई की) बहू डॉक्टर है न ? तुम्हारी डिग्री ऊँची। यह कहे - परन्तु तुम ऐसे ऊँचे और हमारी सेवा करते हो, हम साधारण मनुष्य।

यहाँ तो बात यह है कि जिसे आत्मा में इच्छा ही नहीं करना। इच्छा होती है, वही बन्ध का

कारण है। बोलने-फोलने की बात थी कब ? यह वाणी तो जड़ की है। समझ में आया ? कहते हैं, सम्यग्दर्शनपूर्वक और सम्यक् ज्ञानानन्दस्वरूप में स्थिर होने से शुभ-अशुभ का इच्छा का रूक जाना, उसे सच्चा तप और निर्जरा (कहते हैं।) दुनिया को उपदेश दो तो अपने को निर्जरा होगी। धूल भी नहीं होगी, सुन न ! उपदेश तो वाणी है, वाणी से आत्मा को निर्जरा होती होगी ? और इच्छा उत्पत्त होवे, वह पुण्य है, उससे जीव को निर्जरा होती है ? दुनिया धर्म प्राप्त करे। तू (स्वयं) समझा नहीं और अन्य को तू कहाँ से निमित्त होगा ? धर्म का स्वरूप क्या है, यह तो अभी तुझे ही पता नहीं। तू जाने कि यह इच्छा करूँ और यह उपदेश दूँ तो धर्म होगा... मूढ है तू। अब ऐसा किस प्रकार से तू दूसरों को करेगा ?

मुमुक्षु :- आता है।

उत्तर :- परन्तु कहाँ से आता है ? इच्छा रहित, वाणी रहित आत्मा का स्वभाव है। उस स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करे, उसे धर्म होता है। लायेगा कहाँ से ? समझ में आया ? अद्भुत बात, भाई !

प्रश्न : मूल में से भूल ही नीकली ?

उत्तर :- मूल में से भूल बड़ी मणकी, मणमें आठ पंसेरी की भूल (शत् प्रतिशत भूल) है। आहा...हा...!

‘शुभ-अशुभ इच्छा का निरोध होता है, वह तप है। तप दो प्रकार का है - (१) बाल तप, (२) सम्यक्तप।’ देखो ! ‘अज्ञान दशा में जो तपकिया जाता है,...’ देखो ! उनोदर की वृत्ति, रस परित्याग (करे), त्याग भले करे परन्तु आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप का भान नहीं है। वह इच्छा मात्र का कर्ता नहीं। वाणी का कर्ता नहीं, किसी को समझावे और दूसरा समझे - यह भी वस्तु में है ही नहीं। आहा...हा...! अधिक समझें तो अधिक लाभ होता है, थोड़ा समझे तो उसे मोक्ष थोड़ा दुष्प्राप्य हो - ऐसा होगा न ? जिससे बहुत समझे, उसका मोक्ष झट हो जाए और जिससे थोड़े (भी) नहीं समझे तो उसका मोक्ष नहीं होता ! ढूँढ़ना पड़ता है न अधिक को ? अरे...! चल..चल...!

भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु, उसे खोजकर उसमें एकाग्र होता है, उसका मोक्ष होता है।

लाख बातें (हों), इच्छा हो या उपदेश हो, उसके घर, उसके घर रहे। उसके साथ आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं है। कहो, समझ में आया कुछ ? आहा...हा...! पन्द्रह-पन्द्रह हजार लोगों को धर्म प्राप्त कराये, उसे कितना लाभ होता है ? धूल भी नहीं होता, सुन न ! अभी दूसरों को प्राप्त नहीं करा सकता, वे तो स्वयं के कारण से समझते हैं और तेरी श्रद्धा में तो ऐसा है कि यह दूसरे समझे तो उसमें कुछ थोड़ा भाग मुझे मिलेगा... मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...!

मुमुक्षु :- व्यापार में बढ़ोतरी होवे तो व्यापार ही सूझेगा न ?

उत्तर :- यह ठीक, परन्तु इच्छा के साथ पर का सम्बन्ध क्या ? जीव बोले तो जीव को लाभ होता है - यही बात मिथ्यादृष्टि मानता है। भाषा जड़ की है और जीव को उपदेश देने की इच्छा होती है तो आत्मा को लाभ होता है, वही मूढ़ है। इच्छा तो राग है, उसमें से लाभ कैसे होगा ? और दूसरे समझे तो इसे लाभ होता है - तो दूसरे के समझ ने की उसकी योग्यता है। उसमें तुझसे समझा कहाँ है ? और वह समझे, इसमें तुझे ज़रा भी लाभ कहाँ ? आहा...हा...! अद्भुत बात, भाई ! परन्तु भाई ! आता है न ? 'सर्व जीव करुँ शासन रसि' - यह तो विकल्प आया, उसका बन्ध पड़ता है - ऐसा कहा है। 'श्रीमद्' ने ऐसा कहा है। यदि एक जीव को भी धर्म प्राप्त कराये तो तीर्थकर पुण्य बाँधे। अर्थात् ? वह इच्छा हुई, उसमें तुझे बन्ध होगा - ऐसा वहाँ कहा है। भाई ! ऐसा कहा है, हाँ उन्होंने ! अन्य क्या समझे ? आहा...हा...! परन्तु ऐसा लिखा है। उनकी - 'श्रीमद्' की शैली तो अलग प्रकार की। अर्थात् जो धर्म समझा है और ज़रा इच्छा हुई; अब उसमें कोई समझे न समझे उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। इच्छा आयी तो इच्छा से उसे सम्यग्दर्शन है (-ऐसा नहीं मानता)। इच्छा मेरा कर्तव्य नहीं है; मुझसे दूसरा समझता नहीं; यह वाणी निकलती है, वह मेरी चीज़ नहीं - ऐसी इच्छा में निषेध वर्तता है, आत्मा का आदरभाव है और उसका आदर नहीं है, इसलिए उसे तीर्थकर प्रकृति बाँधेगी। वह बाँधेगी, उसमें आत्मा को लाभ नहीं है। इच्छा से लाभ नहीं है और बाँधने से लाभ नहीं है - ऐसा सम्यग्दृष्टि मानता है। उस इच्छा को तोड़कर स्थिर होऊँगा तब मुझे चारित्र और केवल (ज्ञान) होगा। इच्छा से प्रकृति बाँधी, इसलिए मुझे केवल होगा - ऐसा ज्ञानी नहीं मानता और ऐसा हो (भी) नहीं सकता। आहा...हा...! अद्भुत बात, भाई ! कुछ समझ में आया ?

सात तत्त्व की भूल कहकर कहा कि यह भूलवाला जितना दूसरा ज्ञान करता है, वह सब ज्ञान

कष्टदायक है। समझ में आया ? ‘अज्ञानदशा में...’ अर्थात् आत्मा के भान बिना, इच्छा से लाभ माननेवाले, शरीर की क्रिया से लाभ माननेवाले ऐसे अज्ञानी को यह जो कुछ रागादि मन्द हो और कोई तपस्या, उनोदर हो, वह सब बालतप है। ‘उससे कभी सच्ची निर्जरा नहीं होती...’ उसे सच्ची अर्थात् शक्ति की प्रगटता (नहीं होती), क्योंकि उसमें सामने तो पर के सामने देखने का है, स्व के सन्मुख देखने का नहीं और स्वसन्मुख (देखकर) प्रतीति करे तो फिर स्वसन्मुख देखकर स्थिर होवे। चिदानन्दस्वरूप अखण्डानन्द पूर्ण हूँ, मैं ज्ञाता-दृष्टा परिपूर्ण हूँ - ऐसी प्रतीति और अनुभव होवे तो उसके सन्मुख देखकर स्थिर होवे, परन्तु उसकी प्रतीति का तो पता नहीं हो, स्थिर कहाँ होना ? इसलिए अज्ञानी के जितनी तपस्या आदि होती है, वह सब बालतप है, (उससे) पुण्यबन्ध आदि भले हो, परन्तु मिथ्यात्वसहित है, इसलिए अज्ञानतप है। ओ..हो..हो...!

‘किन्तु आत्मस्वरूप में सम्यक् प्रकार से स्थिरतानुसार जितना शुभ-अशुभ इच्छाओं का अभाव...’ अर्थात् ? आत्मा विकल्प, इच्छा और वाणी रहित है - ऐसा अन्तर अनुभव और दृष्टि हुई है, उसे ‘सम्यक् प्रकार से स्थिरतानुसार...’ उसमें जितनी स्वसन्मुख स्थिरता हुई, उसके अनुसार जितना शुभ-अशुभ का अभाव हो गया, वह सच्ची निर्जरा है, उसे सच्चा तप कहा जाता है। कहो, समझ में आया ? ‘किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा नहीं मानता।’

‘अपनी अनन्त ज्ञानादि शक्ति को भूलकर...’ मेरी शक्ति मुझ में है; इच्छा से प्रगट नहीं होती, निमित्त से प्रगट नहीं होती बोलने से प्रगट नहीं होती। मेरा स्वरूप तो पूर्णानन्द है, उसके सन्मुख देखने से, एकाग्र होने से शक्ति प्रगट होती है। जिसमें भरी है, उसमें एकाग्र होने से होती है - उसका इसे पता नहीं है। जिसमें पूर्णानन्द केवलज्ञान, आनन्द पड़ा है - ऐसे स्वरूप की प्रतीति हुई है, उसमें एकाग्र होने पर (शक्ति की प्रगटता) होती है - ऐसा भान तो अज्ञानी को नहीं है। इस कारण उसके समस्त तप को अज्ञानतप कहा गया है। कुछ समझ में आया ?

‘पराश्रय में सुख मानता है...’ इच्छा हुई है न ? वाणी निकलती है, त्यागादि या उपवास करे, उसमें लाभ मानता है, वह पराश्रयभाव है। ‘शुभाशुभ इच्छा और पाँच इन्द्रियों की

विषयों की इच्छा को नहीं रोकता। परन्तु रोके कहाँ से ? जिसे इच्छा रहित स्वरूप ही क्या है - उसका भान नहीं और इच्छा में ही सर्वस्व माना है - परसन्मुखता के वेग की वृत्तियों में सर्वस्व माना है। चीज दूसरी है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान नहीं है। अद्भूत बात की है। देखो न ! एक श्लोक में यह सब है, हाँ !

मुमुक्षु :- जब इच्छा का नाश...

उत्तर :- यह बात तो पहले आ गयी। कहा न ? पहाड़ा बोलता है यह, इसे जमता कहाँ है ? ज्ञान में निर्णय होना चाहिए न ? तो ऐसा राग नहीं करे - ऐसी बात पहले कही थी। भाई ! प्रातः ऐसी प्रकार करके आता है - आज हिम्मत दो। क्या है ? हिम्मत हार गये हैं। हिम्मत हार गया है - ऐसा नहीं बोले। समझ गये। सफाई भाषा की थोड़ी। है या नहीं ? पहले भाषा ऐसी करते कि अब तो ऐसा है और सवेरे ऐसा है। फिर परसों आये तो (कहा) हिम्मत दो, महाराज ! ऐसी सफाई से भाषा बदली उन्होंने। अर्थात् हिम्मत हार गया है - ऐसा नहीं बोला। उसने भाषा बदली। है ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- नहीं, नहीं। यह तो अन्दर बनियागिरी की। मैंने तुरन्त कहा, है हिम्मत हार गये की भाषा; हिम्मत दो - तुम बोलते हो, फिर दांत निकालने लगा (हँसने लगा) ऐसा नहीं होता उसे। लाख प्रतिकूलता हो तो क्या ? परन्तु मुझे क्या है ? वह तो जड़ की अवस्था है। मुझे वह स्पर्श करती है ? तब उसे अन्तर आत्मा की प्रतीति होती है, तब इच्छा रूकती है। उसके बिना कहाँ से रूकती थी ? जिसमें इच्छा नहीं है - ऐसी चीजकी प्रतीति के बिना इच्छा का अभाव किस प्रकार करेगा ? इच्छा अर्थात् राग का नाश करनेवाला आत्मा-इसका अर्थ कि उसमें इच्छा नहीं है। नाश करनेवाला कहा। करने और रखने वाला है यह ? तो उसका अर्थ क्या हुआ ? भले नाश करनेवाला वास्तव में तो नहीं है। इसका अर्थ यह कि यह रागादि उसके स्वभाव में है ही नहीं। ऐसे स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान बिना राग को रोकना, इच्छा को रोकना कभी भी तीन काल में नहीं होता।



वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल ५, बुधवार

दि. २६-१-१९६६, ढाल-२, गाथा ७ से १२ प्रवचन नं.-९

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' (चलती है।) उसमें दूसरी ढाल की सातवीं गाथा का अन्तिम थोड़ा-सा बाकी है। अन्त में अज्ञान की व्याख्या है न ? अनादि से मिथ्यादर्शन सहित अगृहीत मिथ्यादर्शन कहा है न ? सात तत्त्व की भूल कहकर, अब यह मिथ्याज्ञान उसके साथ बताते हैं। जीव, पाँच द्रव्यों से जिसका उपयोग स्वस्व अत्यन्त भिन्न है - ऐसा न जानकर पर के कारण मैं हूँ, ऐसा अन्तर में चिदानन्द ज्ञानानन्द के स्वभाव को भूल-शरीर, मन, वाणी, राग से मैं हूँ - ऐसी मान्यता, यह जीव की भूल, यह मिथ्याश्रद्धा अनादि की अगृहीत निसर्ग से है। कुछ समझ में आया ?

जीव, पाँच द्रव्यों से उसकी चाल सर्वथा भिन्न है - ऐसा आया था न ? ज्ञानस्वस्व, चिदानन्द स्वस्व उसका है, वह तो उपयोग जानने-देखनेवाला शक्ति और पर्याय, उसकी वह है। ऐसा न मानकर दूसरे पदार्थ के संग से मैं हूँ - ऐसे अपने उपादान में मानना, उसे जीव की अगृहीत मिथ्यादर्शन की भूल कहा जाता है, जो कि अनादि की - अगृहीत, किसी के उपदेश बिना (ग्रहण की हुई है), उसे अगृहीत, जीव की भूल कहते हैं।

अजीव की भूल - शरीर आदि उत्पन्न हो तो मैं उत्पन्न हुआ हूँ। यह पर के क्रिया आदि में मेरा अधिकार पना है - ऐसे अजीवतत्त्व के उपादान की स्वतन्त्र पर्याय में आत्मा ऐसा माने कि यह मुझसे है, उसे अजीवतत्त्व की भूल कहा जाता है। यह अगृहीत मिथ्यादर्शन का अजीवतत्त्व की भूल का स्वस्व है। कुछ समझ में आया ?

आस्रव - जो आत्मा में पुण्य और पाप के भाव दुःखदायक है, आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं, उन्हें यह प्रेम से आकुलता का सेवन करे, प्रेम से उनकी प्रवृत्ति की, पुण्य पाप के भाव की रुचि रखे... समझ में आया कुछ ? उसे आस्रवतत्त्व की अनादि की अगृहीत मिथ्याश्रद्धा कहा

जाता है। समझ में आया ?

बन्धकी भूल - अनुकूल सामग्री मुझे ठीक पड़ती है; प्रतिकूल, वह अठीक पड़ती है। बन्ध के फलरूप से प्राप्त सामग्री, यह सब बन्ध का फल यह मुझे अनुकूल - ठीक है, प्रतिकूल ठीक नहीं है - ऐसी जो मान्यता है, उसे बन्धतत्त्व की भूल है क्योंकि वह बन्ध स्वयं ही प्रतिकूल-अनुकूल संयोग का कारण एक भी हितकर नहीं है। ऐसे साधन होवे तो मुझे ठीक; ऐसे साधन होवे तो मुझे ठीक नहीं - ऐसी उसे बन्धतत्त्व की अनादि की अगृहीत निसर्गरूपसे - उपदेश के बिना ग्रहण की हुई श्रद्धा है। समझ में आया ?

संवर की इसकी यह भूल है कि आत्मा का ज्ञान और आनन्द... आनन्द, अर्थात् चारित्र, वह आत्मा का ज्ञान और चारित्र, आत्मा को शान्ति देनेवाला है। आत्मा का ज्ञान और आनन्द; आनन्द अर्थात् चारित्र, वह शान्ति देनेवाला (है, तथापि) उसे दुःखदायक मानता है। यह क्या ? आत्मा का फिर ज्ञान और उसमें चारित्र (क्या ?) उसे ज्ञान और वैराग्य को दुःखदेन माने, दुःखदायक माने, उसे संवरतत्त्व की अनादि की - अगृहीत मिथ्यादर्शन की श्रद्धा है। कुछ समझ में आया ?

(निर्जरातत्त्व की भूल) - अपनी शक्ति शुद्ध आनन्दकन्द है। उस शक्ति की प्रगटता न करके, इच्छा को प्रगट करके उसमें सन्तोष मानता है। कुछ समझ में आया ? इच्छा फिर शुभ या अशुभ कोई भी हो; उस इच्छा की प्रवृत्ति मैं जिसे सन्तोष है, उसे शक्ति का निरोध होता है, शक्ति प्रगट नहीं होती और (उसमें) सन्तोष मानता है, वह निर्जरातत्त्व की भूल है। समझ में आया ? एक मोक्ष रहा।

मोक्ष, वह निराकुल परमानन्द का स्वभाव, उसका नाम मोक्ष है। वह मोक्ष इसे नहीं रुचता। यह क्या ? अकेले रहना, नहीं कोई खाने-पीने का साधन, नहीं बोलने का साधन, नहीं कुछ राग-द्वेष के विकल्प या मन का साधन, अकेले (रहने का) ? इस प्रकार जिसे निराकुल आनन्द के मोक्षतत्त्व की प्रीति नहीं है, उसे अनाकुल तत्त्व नहीं रुचता। आकुलता बिना अकेला रहे - यह फिर क्या ? शरीर के बिना आत्मा रहता है ? इन्द्रियों के बिना आत्मा ज्ञान करता है ? ऐसे जिसे अनाकुल तत्त्व मोक्ष की प्रतीति का पता नहीं है, उसे मोक्षतत्त्व की भूल अनादि की अगृहीत, निसर्ग-उपदेश बिना स्वभाव से मानी हुई है। उसे अनाकुल में मोक्ष न मानकर, सर्वथा निवृत्ति हो

जाना, इसका नाम मोक्ष की निवृत्ति को न मानकर प्रवृत्ति को कुछ माने, उसे मोक्षतत्त्व की भूल कहते हैं।

यह 'अगृहीत मिथ्यादर्शन हो...' इस एक शब्द की व्याख्या में सात की संक्षिप्त (व्याख्या) पहले कर दी। समझ में आया ? ऐसा अगृहीत मिथ्यादर्शन जहाँ हो, वहाँ जो कुछ ज्ञान होता है, उसे अगृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं। जो कुछ जानपना-शास्त्र का जानपना हो, दूसरे का जानपना होवे, उस समस्त ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा जाता है। आहा...हा...! जहाँ मूल साततत्त्व की अन्दर की दृष्टि में भूल है, उसका चाहे जितना जानपना, क्षयोपशम ज्ञान हो; उस ज्ञान को, भगवान कहते हैं (कि) हम उसे अगृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं। वह मिथ्याज्ञान भी उपदेश के बिना उसने स्वतः प्रगट किया है। समझ में आया ? उसे निसर्ग मिथ्याज्ञान कहा जाता है। निसर्ग मिथ्याज्ञान कहो या अगृहीत मिथ्याज्ञान कहो।

अनादि से स्वस्व के साततत्त्व के विवेक की श्रद्धा की अन्तर खबर नहीं होती, उस सहित का जितना जानपना है, उतने को (मिथ्याज्ञान कहते हैं।) देखो ! कहा न ? 'जो कुछ ज्ञान हो...' वह ज्ञान अगृहीत मिथ्याज्ञान कहा जाता है। वह ज्ञान कैसा है ? 'महान दुःखदाता है।' दुःखदाता है और वह ऐसा मानता है कि इस ज्ञान से मुझे लाभ होगा। अगृहीत मिथ्यादर्शनपूर्वक जिसे अन्तर इस ज्ञान का उघाड़ होता है, उस उघाड़ से वह लाभ मानता है। मैं कुछ बढ़ा-चढ़ा हूँ, मेरी कला है, मुझे आता है - ऐसा जो अन्दर मिथ्याज्ञान का अभिमान महा दुःखदायक है, तथापि उसे लाभदायक मानता है। समझ में आया ?

'महान दुःखदाता...' ऐसा कहा है न ? देखो न ! 'सो दुःखदायक अज्ञान जान।' - ऐसा है न ? 'याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान...' ऐसा है न ? 'कछुकज्ञान...' यह शब्द ही इसमें पड़ा है। इससे 'कुछ ज्ञान' लिखा है। मूल पाठ में ऐसा लिखा है। है न ? 'रोके न चाह निजशक्ति खोय, शिवस्व निराकुलता न जोय; याही प्रतीतिजुत कछुकज्ञान, सो दुःखदायक अज्ञान जान।' लो कुछ समझ में आया ? बहुत संक्षिप्त शब्दों में बहुत भाव भर दिये हैं। गृहस्थाश्रम में भी, इन्होंने शास्त्र के मर्म की बात है, उसे बहुत संक्षेप में कहा है।

भाई ! जिसे अन्दर आत्मा का पक्ष नहीं हुआ है और जिसे अन्दर मैं ऐसी भूल है - प्रवृत्ति की

इच्छा में सन्तोष मानता है, वह प्रवृत्ति-इच्छा करके निर्जरा मानता है। इच्छा से उसमें ज्ञान हुआ, उसे सच्चाज्ञान मानता है, वह ज्ञान अकेला दुःखदायक है। समझ में आया ?

‘वह उपदेशादि बाह्यनिमित्तो के अवलम्बन से नया ग्रहण नहीं किया है; अनादि का...’ यह परालम्बीज्ञान, तत्त्व की श्रद्धा विरुद्ध, परालम्बी पकड़ा हुआ उघाड़, वह उसके कारण प्रगट हुआ है, वह अनादि का है, ‘इस कारण उसे अगृहीत (स्वाभाविक निसर्गज) मिथ्याज्ञान कहते हैं।’ तीनों का एक ही अर्थ है। अगृहीत कहो, निसर्ग कहो, स्वाभाविक कहो। देखो ! यह मुद्दे की रकम की बात चलती है। समझ में आया ? जिसने, आत्मा अखण्डानन्द ज्ञानमूर्ति प्रभु की अन्तर में विकल्परहित प्रतीति नहीं की, उसका आत्मज्ञान प्रगट नहीं किया और आत्मज्ञान में स्थिरता का चारित्र प्रगट नहीं किया, उसे इस प्रकार के बोल अनादिके हैं। वह संसार में महादुःखदायक है। अब, इसके साथ ‘अगृहीत मिथ्याचारित्र (कुचारित्र) का लक्षण’ (कहते हैं।)

अगृहीत मिथ्याचारित्र (कुचारित्र)का लक्षण

इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्याचरित्त;

यो मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत, सुनिये सु तेह।।८।।

अन्वयार्थ :- (जो) जो (विषयनिमें) पांच इन्द्रियोंके विषयों मैं (इत जुत) अगृहीत मिथ्यादर्शन तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान सहित (प्रवृत्त) प्रवृत्ति करता है (ताको) उसे (मिथ्याचरित्त) अगृहीत मिथ्याचारित्र (जानो) समझो। (यो) इसप्रकार (निसर्ग) अगृहीत (मिथ्यात्वादि) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका [वर्णन किया गया] (अब) अब (जे) जो (गृहीत) गृहीत [मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र] है (तेह) उसे (सुनिये) सुनो।

भावार्थ :- अगृहीत मिथ्यादर्शन तथा अगृहीत मिथ्याज्ञान सहित पाँच इन्द्रियों के

विषयमें प्रवृत्ति करना उसे अगृहीत मिथ्याचारित्र कहा जाता है। इन तीनों को दुःख का कारण जानकर तत्त्वज्ञान द्वारा उनका त्याग करना चाहिये ॥८॥

इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्याचरित्त;
यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत, सुनिये सु तेह ॥८॥

देखो ! क्या कहते हैं ? यह विषय - 'पाँच इन्द्रियों के विषयों में (इन जुत) अगृहीत मिथ्यादर्शन और अगृहीत मिथ्याज्ञान सहित...' ऐसा। पहले साततत्त्वों की भूल कही न ? और उस सहितका जो ज्ञान, उस सहित का ज्ञान और उससहित की विषयों में प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... शुभः अशुभराग की प्रवृत्ति। शुभ-अशुभ राग की प्रवृत्ति दोनों मिथ्याचारित्र है - ऐसा कहते हैं। 'विषय' शब्द से मात्र 'भोगादि' - ऐसा नहीं; जिसे आत्मा का विषय नहीं है, इस कारण उसे मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान में जो अनादिका पड़ा है, उसका जितना झुकाव ऐसे शुभ-अशुभराग में जाता है, वह सब मिथ्याचारित्र है। भाई ! अद्भुत बात, भाई ! कुछ समझ में आया ?

कहते हैं, उस अगृहीत मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान सहित 'प्रवृत्ति करता है...' यहाँ वजन 'प्रवृत्ति' पर है। वह मिथ्याश्रद्धा थी, मिथ्याज्ञान था, उसमें शुभ-अशुभ परिणाम किसी भी प्रकार के हों, सब मिथ्याचारित्र है, क्योंकि स्वविषय नहीं आया और पर विषय की श्रद्धा और ज्ञान किया है। उस सम्बन्धित प्रवृत्ति के परिणाम ही, उसका नाम मिथ्याचारित्र कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया ? 'उसे अगृहीत मिथ्याचारित्र समझो।' प्रवृत्ति, हाँ ! इस प्रकार शुभाशुभ परिणाम की एकत्वबुद्धि है, शुभाशुभ परिणाम का ही ज्ञान और स्वभाव का ज्ञान नहीं और यह शुभाशुभ की प्रवृत्ति, उसे मिथ्याचारित्र कहा जाता है। समझ में आया ?

अब कहते हैं, 'इस प्रकार अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का (वर्णन किया गया)।' बहुत सरस वर्णन है। समझ में आया ? इसकी कहाँ सूक्ष्म भूल है, अनादिकी, उसके साथ अब गृहीत मिथ्यात्व आदि की बात करते हैं। मिथ्यात्व तो है परन्तु बाह्य

से अब कुदेव-कुगुरु की सेवा करके, आदर, विनय करके उस मिथ्यात्व की पुष्टि करता है। अगृहीत है, उसके साथ मिथ्यात्व की पुष्टि करे, उसे मिथ्यादर्शन आदि कहा जाता है। ‘अब, जो गृहीत (मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र) है, उसे (सुनिये)।’ देखो ! उसे भी यहाँ कहा, ‘सुनिये।’ अब, वह सुनो, कहते हैं।

‘भावार्थ :- अगृहीत मिथ्यादर्शन और अगृहीत मिथ्याज्ञान सहित पाँच इन्द्रियों के विषयों में...’ ऐसा। मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान सहित पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति, ‘उसे अगृहीत मिथ्याचारित्र कहा जाता है। इन तीनों को दुःख का कारण जानकर...’ इन तीनों को दुःख का कारण जानकर जीव उनसे वापस हटे और अपने तत्त्वज्ञान को पाये, इसके लिए यह बात कही जाती है। ‘तत्त्वज्ञान द्वारा उनका त्याग करना चाहिए।’ देखा ? ‘तत्त्वज्ञान द्वारा उनका त्याग करना चाहिए।’ (मैं) ज्ञानानन्द स्वस्व हूँ, राग, वह (मैं) नहीं हूँ। संवर-निर्जरा मुझे शुद्धस्व है, आनन्ददायक है; पूर्ण निराकुलता मोक्ष, वह सुखस्व है। शुभ-अशुभ, वह बन्ध सब एक ही प्रकार का है, अहितकर है। आस्रव का भाव पुण्य हो या पाप, वह दुःखदायक है; आत्मा आनन्ददायक है। ऐसी अन्तर तत्त्वज्ञान पूर्वक ऐसे तीन बोल का त्याग करना - उसके लिए यह कथन किया गया है। समझ में आया ? आहा...हा...! नौवीं (गाथा)।

गृहीत मिथ्यादर्शन और कुगुरु के लक्षण

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषै चिर दर्शनमोह एव;
अन्तर रागादिक धरैं जेह, बाहर घन अम्बरतैं सनेह॥१॥

गाथा १० (पूर्वाद्ध)

धारै कुलिंग लहि महत भाव, ते कुगुरु जन्मजल उपलनाव;

अन्वयार्थ :- (जो) जो (कुगुरु) मिथ्या गुरु की (कुदेव) मिथ्या देव की और (कुधर्म) मिथ्या धर्म की (सेव) सेवा करता है, वह (चिर) अति दीर्घकाल तक

(दर्शनमोह) मिथ्यादर्शन (एव) ही (पोष) पोषता है। (जेह) जो (अन्तर) अन्तरमें (रागादिक) मिथ्यात्व-राग-द्वेष आदि (धरें) धारण करता है और (बाहर) बाह्यमें (धन अम्बरतैं) धन तथा वस्त्रादिसे (सनेह) प्रेम रखता है; तथा (महत भाव) महात्मापने का भाव (लहि) ग्रहण करके (कुलिंग) मिथ्यावेषों को (धरें) धारण करता है वह (कुगुरु) कुगुरु कहलाता है और वह कुगुरु (जन्मजल) संसाररूपी समुद्रमें (उपलनाव) पत्थर की नौका समान है।

भावार्थ :- कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा करनेसे दीर्घकाल तक मिथ्यात्व का ही पोषण होता है अर्थात् कुगुरु, कुदेव और कुधर्म का सेवन ही गृहीत मिथ्यादर्शन कहलाता है।

परिग्रह दो प्रकारका है; एक अंतरंग और दूसरा बहिरंग; मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि अंतरंग परिग्रह है और वस्त्र, पात्र, धन, मकानादि बहिरंग परिग्रह हैं। वस्त्रादि सहित होने पर भी अपनेको जिनलिंगधारी मानते हैं वे कुगुरु हैं। 'जिनमार्गमें तीन लिंग तो श्रद्धापूर्वक हैं। एक तो जिनस्वस्त्र-निर्ग्रथ दिगंबर मुनिलिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकस्त्र दसवी-ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकलिंग और तीसरा आर्यिकाओं का स्त्र-यह स्त्रियों का लिंग, - इन तीन के अतिरिक्त कोई चौथा लिंग सम्यग्दर्शनरूप नहीं है; इसलिये इन तीनके अतिरिक्त अन्य लिंगो को जो मानता है उसे जिनमत की श्रद्धा नहीं है किन्तु वह मिथ्यादृष्टि है। (दर्शनपाहुड गाथा १८)' इसलिये जो कुलिंग के धारक हैं, मिथ्यात्वादि अंतरंग तथा वस्त्रादि बहिरंग परिग्रह सहित हैं, अपने को मुनि मानते हैं मनाते हैं वे कुगुरु हैं। जिस प्रकार पत्थर की नौका डूब जाती है तथा उसमें बैठने वाले भी डूबते हैं; उसीप्रकार कुगुरु भी स्वयं संसार-समुद्र में डूबते हैं और उनकी वन्दना तथा सेवा-भक्ति करनेवाले भी अनन्त संसारमें डूबते हैं अर्थात् कुगुरु की श्रद्धा, भक्ति, पूजा, विनय तथा अनुमोदना करनेसे गृहीत मिथ्यात्व का सेवन होता है और उससे जीव अनन्तकाल तक भव-भ्रमण करता है। ॥९॥

‘गृहीत मिथ्यादर्शन और कुगुरु का लक्षण :-’

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषै चिर दर्शनमोह एव;
अन्तर रागादिक धरै जेह, बाहर घन अम्बरतैं सनेह ॥९॥

गाथा १० (पूर्वार्द्ध)

धारै कुलिंग लहि महत भाव, ते कुगुरु जन्मजल उपलनाव;

इसमें इन्होंने जरा डाला है। पहले विषय में प्रवृत्ति लिखी है न ? उसमें इन्होंने चित्र रखा है। यह विषय में प्रवृत्ति आयी न ? मिथ्याचारित्र। अपने नये में निकाल दिया है, चित्र नहीं डाला। इसमें जरा डाला है। उसका अर्थ यह है कि मिथ्यादर्शन-ज्ञान सहित पाँच इन्द्रियों के विषयोंमें स्पर्श लिया है। वैसे भले अन्धा लिया है। साधारण लकड़ी है। स्पर्श कर ऐसे देखता है न स्पर्श द्वारा। यह क्या चीज है ? उसमें एकाकार हो जाता है, ऐसा। स्पर्श को देखने पर, स्पर्शता एकाकार हो जाता है यह ? एक प्रति में है। इसमें है, देखो ! है ?

एक प्रति में है। इसमें है, देखो ! है ?

मुमुक्षु :- युवक को स्पर्शकर चलता है।

उत्तर :- हाँ, स्पर्शकर चलता है और वह सब स्पर्शता जाता है। एकाकार...यह स्पर्श की इन्द्रिय के विषय में एकाकार हो जाता है, वह मिथ्याचारित्र, मिथ्यादर्शन-ज्ञान सहित है। फिर एक रसवाला लिया है। ऐसे खड़ा है, देखो ! खाता है, चाटता है। है ? ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं होगी। है ? चाटता है। ऐसे रास्ते में कितने ही आलू नहीं खाते ? ऐसे चूसते होते हैं।

मुमुक्षु :- ‘मुम्बई’ में बहुत होता है।

उत्तर :- हाँ, इसलिए ऐसा बनाया है। उसमें निकाल दिया है। रास्ते में ऐसा नागरबेल का पान खाता होता है। वे चढ़ते जाएँ और ऐसे चबाते जाए न... रस। रस एकाकार रस के अन्दर। सात तत्त्व की मिथ्याश्रद्धापूर्वक, मिथ्याज्ञान, उस कला का अभिमान और उसके साथ यह इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति। समझ में आया ? और एक नाक। देखो ? हाथ में गजरा रखा है।

गजरा है, गजरा। राजकोट में बहुत घूमते हैं न वे ? क्या कहलाता है वह ? घोड़ा का, घोड़ा का रेसकोर्स। उसमें फिरते होते हैं सवेरे; बहुतों के हाथ में फूल होते हैं। ऐसे करते जाते हैं और घूमते जाते हैं। हैं ? मैंने रास्ते में बहुत देखे हैं। रास्ते में से फूल तोड़ते जाते हैं। जब घूमने जाते हैं, (तब) रास्ते में फूल होते हैं न ? (एक मुमुक्षुके) घर में फूल है। पीछे से बाहर निकले होते हैं। रास्ते में निकले, तब फूल तोड़ते जाते हैं और सूँघते-सूँघते घूमते जाते हैं। एकाकार, मानों दूसरा कोई है ही नहीं - ऐसी प्रवृत्ति में एकाकार (हैं)। कहते हैं कि, मिथ्याश्रद्धा सहित के ऐसे एकाकार को मिथ्याचारित्र कहते हैं।

फिर आँख का लिया है। है न ? ऐसे... आँख से भलीभाँति देखे। ऐसे एकाकार दिखता है, देखो यह ! है ? प्राकृतिक सीन.. देखने के लिए तत्पर हो गया है। प्राकृतिक सरोवर तो यहाँ है, अन्दर पड़ा है। उसे नहीं देखकर दुनिया के रूप को देखने में तल्लीन हो जाता है, उसे मिथ्याचारित्र कहते हैं। और शब्द... शब्द। वह वाजिंत्र पड़ा है, देखो ! रेड़ियो... तब रेड़ियो कहाँ था ? परन्तु यह तो इन्होंने दृष्टान्त दिया है। रेड़ियो..बेड़ियों, देखो न ! घर-घर में रेड़ियो रखते हैं... बड़े-बड़े... आहा...! तल्लीन (हो जाता है।) बाई राँधती, राँधती रोटी बनाती हो, तब रेड़ियो बजाती है। रोटी बनाती जाती है और रेड़ियो सुनती जाती है। अभी तो इतना रस पड़ा है आहा...हा...! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ज्ञान बढ़ता है न ?

उत्तर :- धूल में बढ़ता नहीं ज्ञान। एकाकार हो गया है, उसमें आत्मा कहाँ रहा ? यह क्या करता हूँ ? उसका कुछ भान नहीं होता। वहाँ वे मास्टर कहते थे, (मास्टर) नहीं कहते थे ? वह 'महम्मद' कौन ? उन पाँच विषय का नहीं ? बेगड़ो ! वह कहता। कैसा ? 'महम्मद बेगड़ो।' पाँच इन्द्रियों के विषयों में तल्लीन वर्ते। खाता हो, वैश्या नाचती हो, फूल के पैड़ में बैठा हो, चारों तरफ एकसाथ पाँच इन्द्रियों के विषय। धूल में भी एक साथ विषय नहीं लिये जाते। वह मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान सहित शुभाशुभ परिणाम में प्रवर्तता है। यह तो साधारणरूप से अशुभ का दृष्टान्त दिया है, परन्तु शुभाशुभ प्रवृत्ति में तल्लीनता (होती है) उसे मिथ्याचारित्र अनादि का - अगृहित कहा जाता है।

अब, यहाँ तो कहते हैं, मिथ्यादर्शन। गृहीत (अर्थात्) नया पकड़ा हुआ; जन्मने के बाद ऐसे अगृहीत मिथ्यात्व सहित। जिसे गृहीत मिथ्यात्व होता है, उसे अगृहीत तो होता ही है। अगृहीत हो और गृहीत किसी को न भी हो। समझ में आया ? परन्तु जिसे गृहीत हो, उसे अगृहीत मिथ्यात्व तो होता ही है। नौवे ग्रैवेयक में अनन्त बार गया, उसने गृहीत मिथ्यात्व छोड़ा था, अगृहीत नहीं छोड़ा था। अनादि (से) राग से धर्म और संवर, वह दूसरी चीज़, क्या चीज़, उसका कुछ भान नहीं अन्तर में नौ ग्रैवेयक गया। महामुनि.. ऐसा दिगम्बर मुनि (हुआ), हजारों रानियों का त्याग (किया) - ऐसी स्थिति में भी उसने अन्तर में गहरे-गहरे राग को अपना स्वरूप मानकर, देहादिक की क्रिया को अपनी मानकर, अन्दर में आत्मा की शान्ति को दुःखदायक माना। गहरे-गहरे उसकी तत्त्व की श्रद्धा में भूल होती है। समझ में आया ? इन मिथ्या गुरु की, मिथ्या देव की, मिथ्या धर्म की सेवा करे, उसे यह अगृहीत मिथ्यात्व पुष्टि को प्राप्त होता है। है न ? देखो न !

‘सेवे, पोषे चिर दर्शनमोह एव;...’ मिथ्यागुरु, मिथ्यादेव, मिथ्या धर्म की सेवा, ‘अति दीर्घकाल तक मिथ्यादर्शन ही पोषता है।’ लो ! ‘जो अन्तर में (रागादिक) मिथ्यात्व-राग-द्वेष आदि धारणा करते हैं...’ पाठ में इतना है - ‘अंतर रागादिक धरें जेह...’ इसका अर्थ कि एकत्वबुद्धि। मिथ्यात्व सहित राग को अपना मानकर ऐसे मिथ्यादृष्टि सहित, मोह सहित जो रागादि धरतें हैं, (वे) मिथ्यात्व आदि धारण करते हैं।

‘बाह्य में धन तथा वस्त्रादि से प्रेम रखता है...’ अन्तर में विकार के प्रति प्रेम है; बाह्य में बाहर की वस्तु के प्रति प्रेम है। समझ में आया ? धन और वस्त्र। ‘(महतभाव) महात्मापने का भाव ग्रहण करके मिथ्या वेषों को धारण करता है...’ ऐसे वेष हो तो मेरी महिमा बढ़े, बडप्पन बढ़े, गुरु गिना जाऊँ, साधु गिना जाऊँ, अधिक पद में गिना जाऊँ - ऐसे कारण से अनेक प्रकार के वेष धारण करते हैं, वे सब कुगुरु के लक्षण हैं। कुछ समझ में आया ? देखो ! यह क्या लिखा है ? देखो न ! कितना लिखा है ! तुम्हें तो यह पहले से मिला है, परन्तु विचार कहाँ किया है ? ना करता है। मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि धारण करे और उनमें प्रेम करे, ‘महात्मापने

का भाव ग्रहण करके...' ऐसा कहना है। देखा न ? 'धारें कुलिंग लहि महत भाव...' इसका अर्थ यह कि 'धारे कुलिंग लहि महतभाव...' वेष ऐसे बदले और माने कि इसमें बड़प्पन कहलाता है। समझ में आया ? पण्डितों में भी कितनों को ही ऐसा होता है। ऐसे वस्त्र-वस्त्र ऐसे होते हैं न ? लाल क्या कहलाते हैं ? वे भगवा-बगवा होते हैं न ? कुर्ता ! ऐसा लाल रंग आता है न ? ऐसा गेस्त्रा वस्त्र होवे तो उसका बड़प्पन इसे कहा जाता है। अन्दर में कोई दम नहीं होता। यह पण्डित है। ऐसी ज़रा टोपी लाल हो, सिर पर लगाई हो, होवे भले गृहस्थ। भगवा नहीं गोरे रंग जैसी। तो दिखता है कि यह त्याग है अथवा यह पण्डित है अथवा दूसरों की अपेक्षा दूसरे प्रकार का दिखता है - पृथक् लगता है। इसके लिये महंतता के लिये ऐसा वेष पहिनता है, कहते हैं, वे सब कुगुरु हैं। आहा...हा...! समझ में आया ?

'महात्मापने का भाव ग्रहण करके मिथ्या वेषों को धारण करता है, वह कुगुरु (कहलाता है और वह कुगुरु) (जन्मजल) संसाररूपी समुद्र में...' जन्मजल (अर्थात्) जन्मरूपी संसार का समुद्र, उसमें '(उपलनाव)...' है। वह पत्थर की नाव है। उपल अर्थात् पत्थर। पत्थर की नाव में बैठे, वह पत्थर भी डूबता है और नाव भी डूबती है और नाव में बैठनेवाले भी डूबते हैं। कहो, समझ में आया ? जिसे, आत्मा राग रहित शुद्ध चैतन्य क्या है ? (उसका) भान नहीं है और पुण्य-पाप में धर्म मानता है, ऐसी एकत्वबुद्धि जिसकी है - ऐसे कुगुरु को माननेवाला पत्थर की नाव में बैठा है - ऐसा कहते हैं।

भाई ! जिसे आत्मज्ञान, आत्मदर्शन का भान नहीं है (और) अकेली बाह्यक्रिया तथा राग में धर्म मान बैठा है और इसकी महत्ता उसे लगती है कि हम कुछ महन्त है, हम अधिक है, त्यागादिक में दूसरों से अलग पड़नेवाले हम हैं ऐसा मानकर वेष आदि धारण किया, उसे यहाँ कुगुरु कहा गया है। उस कुगुरु को माननेवाले कैसे हैं ? - यह कहेंगे।

'भावार्थ :- कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा करने से दीर्घकाल तक मिथ्यात्व का ही पोषण होता है, अर्थात् कुगुरु, कुदेव और कुधर्म का सेवन ही गृहीत मिथ्यादर्शन कहलाता है।' यह कुगुरु की सेवा, कुदेव की सेवा... समझ में आया ? या कुशास्त्र

की सेवा या कुधर्म की सेवा, वह अनादि अगृहीत मिथ्यादर्शन को पुष्ट करनेवाले हैं। कहो, समझ में आया ? इसमें ? श्रद्धा-ज्ञान की कीमत नहीं होती, लोगों को बाह्यत्याग की कीमत है। वस्तु अन्तरदृष्टि में कितना अन्तर है ? (- इसका पता नहीं है।) रागादि को धर्म माने, व्यवहार को धर्म माने, परमार्थ धर्म माने, और निमित्त में अपनी, शरीरादिक की क्रिया होती है, उसे अपना कार्य माने, वे सब अन्तर में मिथ्यादृष्टि हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टि को गुस्सप से स्वीकार करना; उस कुगुरु को गुरु मानना - यह अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व की पुष्टि है। यह मिथ्यात्व में वृद्धि होती है - ऐसा कहते हैं। कहो, भाई !

मुमुक्षु :- महावीर का नाम तो लेते है।

उत्तर :- हमारे सेठ ऐसे हैं। जरा धीरे-धीरे (बोलते हैं।) 'महावीर' का नाम नहीं लेते। नाम (लेना) उसे कहा जाता है कि जिसने वीर भगवान ने वीरता का स्वभाव प्रगट किया और वीरता - चैतन्य के वीर्य की प्रगट दशा करे, उसे 'महावीर' कहा जाता है और उनका नाम स्मरे ऐसी दृष्टि (होती है), उसने महावीर का स्मरण किया कहा जाता है। (जिसे ऐसा नहीं है), वह राग का स्मरण करता है। एक बार कहा नहीं था ? 'समन्तभद्राचार्य' भगवान को वन्दन करते हुए कहते हैं है नाथ ! अभव्य आपको वन्दन नहीं करता। वह किस प्रकार नहीं करता ? आप वीतराग स्वस्व हो, आपकी दशा रागरहित है। - ऐसी दशा उसे (नहीं होती) और राग की रुचिवाला आपको नमस्कार करे, वह (वस्तुतः) नमस्कार करता ही नहीं। आत्मा वीतरागस्वभाव है। ज्ञानस्वस्व आत्मा है, जिसमें विकल्प की गन्ध नहीं - ऐसी दृष्टि नहीं करता, वह वीतराग को नमस्कार करता ही नहीं; वह तो राग को, व्यवहार को, विकल्प को और मेल को नमता है, वह निर्मल को नमन नहीं करता, सूक्ष्म बात है। भाई !

मुमुक्षु :- यह तो नाम लेने का है।

उत्तर :- वह नाम ही नहीं लेता, यही कहा; नाम ही नहीं लेता। नाम का अर्थ - जैसी उनकी दशा है, उसमें नमें, ढले उसे नाम लेना कहा जाता है, ऐसा है। नाम अर्थात् नमना, ढलना। समझ में आया ? उसे कहाँ उस तोता को पता है ? मूँगफली का दाना दे - बोल तोता ! राम। (तोता), राम-राम (बोले) यह कुछ पता नहीं कि यह राम नहीं है। ऐसे बोलो महावीर... महावीर...

(बोले) परन्तु महावीर कैसे हैं ? - उसका पता नहीं है। इसलिए वास्तव में वह महावीर का नाम लेता ही नहीं। समझ में आया ? जिनकी वीतरागता... अन्तरदृष्टि सर्वज्ञता प्रगटी है, उसकी रुचिसहित होवे, उसके चार निक्षेपों का ज्ञान उसे सच्चा कहलाता है। जिसे उसकी रुचि नहीं, उसे एक भी निक्षेप सच्चा नहीं हो सकता। समझ में आया ?

अब, कहते हैं - 'परिग्रह दो प्रकार का है, एक अन्तरंग और दूसरा बहिरंग...' रागादि कहा था न ? 'अन्तर रागादिक धरै जेह...' और बहिरंग 'धन अम्बर तैं सनेह -' उसकी व्याख्या करते हैं। अन्तरंग बड़ा परिग्रह तो मिथ्यात्व है। यह शुभाशुभभाव की पकड़ और उसकी प्रवृत्ति में लाभ (की) मान्यता, (यह) महा मिथ्यात्व की पकड़ है। समझ में आया कुछ ? भगवान आत्मा अत्यन्त निर्विकल्प निवृत्तस्वर्ष है। उसकी प्रतीति न करके जो विकल्प आदिकी शुभभाव की प्रवृत्ति में लाभ मानना, वह महामिथ्यात्व का परिग्रह है। उसने मिथ्यात्व को पकड़ा है। वह बाह्य से अत्यन्त त्यागी हो गया हो तो भी अन्दर में मिथ्यात्व का परिग्रह पड़ा है, उसे महा परिग्रहवन्त कहा जाता है। समझ में आया ?

निष्परिग्रह - ऐसा भगवान आत्मा, उसे न पकड़ कर रागादि के विकल्प को पकड़ कर, वह मुझे लाभदायक है - यही मिथ्यात्वभाव का परिग्रह है। समझ में आया ? बाहर में लँगोटी न हो, नग्न हो परन्तु जिसे यह मिथ्यात्व परिग्रह पड़ा है, (उसे) महा परिग्रहवन्त कहा जाता है। समझ में आया ? 'प्रवचनसार' में थोड़ा आ गया, नहीं ? कितनी वीं (गाथा) ? २३६ गाथा, नहीं ? कायक्लेश, वह सब कायक्लेश है। काया और कषाय, कषाय और काया - ये दो; इसलिए लिया न ? राग को अपना मानता है और शरीरादि की क्रिया मुझसे होती है। यह कषाय और काया दो (हुए।) उसे आत्मा का ज्ञान नहीं है और कुछ भी, जरा भी त्याग नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया ? (यह) अन्तरंग परिग्रह (हुआ।)

'और वस्त्र, पात्र, धन, मकानादि बहिरंग परिग्रह है...' अन्तरंग परिग्रह के त्याग सहित बाह्य परिग्रह वस्त्रादि का त्याग न होवे तो उसे मुनिपना सच्चा नहीं हो सकता। समझ में आया कुछ ? 'वस्त्रादि सहित होने पर भी अपने को जिनलिंग धारी मानते हैं...' जिनलिंग अर्थात् मुनिपना अथवा उत्कृष्ट श्रावकपना अथवा श्राविका, आर्यिकापना - ऐसा जिनलिंगधारी

मानते हैं - ऐसे जिनलिंग तीन है, परन्तु ऐसे स्वभाव के भान बिना वस्त्रादि सहित होने पर भी जिनलिंगधारी - हम जिन-लिंग के धारक हैं। (- ऐसा मानते हैं), वे कुगुरु हैं।

‘जिनमार्ग में तीन लिंग तो श्रद्धापूर्वक हैं...’ धर्मी के लिंगरूप से, हाँ ! ‘एक तो जिनस्वरूप-निर्ग्रथ दिगम्बर मुनिलिंग...’ होता है। जैनदर्शन में मुनिलिंग - आत्मदर्शनसहित दिगम्बरदशा, यह मूल लिंग होता है। ‘दूसरा उत्कृष्ट श्रावकस्व दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाधारक श्रावक लिंग...’ होता है (लंगोटी) श्रावक का लिंग होता है। धर्म के लिंग रूप से - वेषरूप से तीन ही वेष हैं। ‘तीसरा आर्योकाओं का रूप - यह स्त्रियों का लिंग...’ होता है। आर्यिका अथवा क्षुल्लिका होती है न ? एक वस्त्र आदि (होता है)। ‘इन तीन के अतिरिक्त कोई चौथा लिंग सम्यग्दर्शनस्वरूप नहीं है।’ सम्यग्दर्शन में जिनलिंग के तीन प्रकार में वेष की गिनती में तीन लिंग के अतिरिक्त दूसरा वेष नहीं है। समझ में आया कुछ ?

‘इसलिए इन तीन लिंगों के अतिरिक्त अन्य लिंगों को जो मानता है...’ अन्य लिंगों में जो ऐसा मुनिपना या आर्यिकापना आदि मानता है, ‘उसे जिनमत की श्रद्धा नहीं है, किन्तु वह मिथ्यादृष्टि है।’ सूक्ष्मबात, अद्भूत बात, भाई ! ‘दर्शनपाहुड़’ १८वीं गाथा में ‘कुन्दकुन्दाचार्यदेव’ ने कहा है। ‘इसलिए जो कुलिंग के धारक हैं, मिथ्यात्वादि अन्तरंग...’ परिग्रहवाले हैं; ‘वस्त्रादि बहिरंग परिग्रहसहित है, अपने को मुनि मानते हैं...’ समझ में आया ?

उन लोगों के शास्त्रों में ऐसा लेख है, साधु आहार लेने जाए (तब) दस पात्र दे, कोई कम्बल दे तो ले लेना। दस कम्बल, दश पात्र, दश ऐसा ‘भगवतीसूत्र’ में लेख है। कौन जाने क्या लिखा है और क्या किया है ? कुछ पता (नहीं पड़ता)। इतना उठाकर (चलें इसलिए) वह मजदूर जेसा लगता है। दस कम्बल, या दस पात्र.. और भगवान के नाम से चढ़ा दिया। ‘भगवतीसूत्र’ - भगवान ने कहा है, लो ! बड़ा बड़िया में बड़िया वह कहलाता है। यह जब पढ़ते हैं, तब एक एक - एक रुपया देते हैं, होता है या नहीं ? तुम्हारे तो कहाँ था ऐसा पैसा-बैसा खर्च करने का ? है ? उन लोगों को ऐसा होता है। ‘भगवती(सूत्र)’ पढ़े तक चावल के बड़े स्वस्तिक

पूरते हैं। भाई ! देखा है या नहीं ? उसमें यह लिखा है, हाँ ! आहा...हा...! एक बार पढ़ा, कहा, यह क्या करते हैं ? यह भगवान के नाम से दश-दश पात्र (रखते हैं), एक पात्र स्वयं रखे और नौ देवे आचार्यों को। दश ..., एक स्वयं को रखने की और बाकी की उन्हें दे।, दश कम्बल में से एक स्वयं रखे और नौ उन्हें दे। यह क्या, यह फिर क्या ? साथ में बहुत साधु हों, किसी को चाहिए हो तो..।

ऐसे वस्त्रसहित और ऐसे परिग्रहवाले को मुनि मानना, यह मुनि माननेवाले को मिथ्यादर्शन लगता है। गृहीत मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? गृहीत अर्थात् अगृहीत तो है, तदुपरान्त उसे यह गृहीत मिथ्यादर्शन उसे लगता है। मुनिलिंगरूप से दूसरा लिंग नहीं हो सकता। मुनि माने और वस्त्र-पात्र आदि रखे और अभ्यन्तर मिथ्यात्व हो; एकदम कुगुरु है। उसे मानने से गृहीत मिथ्यात्व का पोषण होता है। भाई ! पैर पड़ना चाहिए या फिर सौगन्ध करना ? है ? हाथधुनन भाई चलता है। अखबार में आता है। कल या परसों नहीं लिया ? दिल्ली में सौगन्ध (शपत लिया)। फिर सबने राष्ट्रपति ने और इन्दिराने शपत ली, ऐसे हाथ पकड़ कर। हाथधुनन फिर यह नयी भाषा लगती है। हाथधुनन... हाथधुनन। (हाथ) पकड़ कर ऐसे... ऐसे। ओ..हो..हो..! तुम बड़े प्रधान। इसी प्रकार इस गुरु को न माने (और) गुरु आया होवे तो इसे क्या करना ? है ? परसो ही थोड़ा यहाँ बना था। समझ में आया ? आहा...हा...! परन्तु वह वन्दन ही नहीं है। वह तो जैसे एक प्रेमी व्यक्ति मिले और सम्बन्ध हो वह करे। (उसे ऐसे कि) पैर पड़ेगा, (इसने) हाथ किया। ओप्फ....! यह तो बदल गया। वह नीचे ऐसे ऐसे करने गया, (उसे ऐसा कि) पैर पड़ेगा। उसने हाथ पकड़ा। आहा...हा...!

कहते हैं, बाह्य मैं परिग्रह - वस्त्र-पात्र (रखे और) अभ्यन्तर स्वयं मिथ्यात्व-रागादि का सेवन करे, उन्हें गुरु मानना - ये हमारे तारण-तरण है, ये साधु हैं - ऐसा मानना, उसे मिथ्यादर्शन गृहीत का, अगृहीत के उपरान्त बड़ा पाप लगता है। समझ में आया ? परन्तु तब अब किसमें करना क्या ? रहना पानी में और मछली के साथ वैर ? ऐसी बातें करते हैं न लोग ? सबके साथ रहना और सबसे वैर करना क्या ? किसके साथ वैर ? सुन न। आत्मा की सच्ची श्रद्धा हो, वह ऐसे कुगुरु को नहीं मानता। दुनिया में चाहे जो होवे। पलटा होवे तो उसके घर रहा, वह तो पलटा होना होना होगा। दुनिया से डरकर सत् को नहीं बेचें, भाई ! क्या हो, इसमें ? क्या कहा समझ में आया ?

भगवान के मार्ग में तो, आत्मा में राग का कण हो और धर्म-परमार्थ धर्म माने तो मिथ्यादृष्टि है और फिर मिथ्यादर्शन सहित वस्त्र रखकर मुनिपना माने... समझ में आया ? जैनदर्शन में वस्त्रधारी मुनि तीन काल में नहीं हो सकते और अकेला नग्न हो, परन्तु अन्दर में श्रद्धा, भान न हो - यह क्रिया मैंने की, जड़ की क्रिया मेरी, इन महाव्रत के परिणाम (को) धर्म (माने), वह भी मिथ्यादृष्टि है। उसे वास्तव में सच्चा लिंग/भावलिंग नहीं है, इसलिए बाह्य द्रव्यलिंग में भी यथार्थपना नहीं है। आहा...हा...!

‘जिस प्रकार पत्थर की नौका स्वयं डूब जाती है और उसमें बैठनेवाले भी डूबते हैं; उसी प्रकार कुगुरुभी स्वयं संसार-समुद्र में डूबते हैं और उनकी वन्दना, सेवा...’ उन्हें वन्दन करनेवाले, उनकी सेवा करनेवाले, **‘भक्ति करनेवाले भी अनन्त संसार में डूबते हैं, अर्थात् कुगुरुकी श्रद्धा, भक्ति, पूजा, विनय...’** किन्तु कठिन बहुत, भाई ! दुनिया से अकेला अलग-थलग हो जाए, है ? किसी के साथ मेल नहीं, किसी के साथ मिलनसार नहीं, ऐसा मानते हैं। लो !

मुमुक्षु :- पुरानी पहिचान होवे तो क्या करना ?

उत्तर :- वह (इन भाई को) पूछो। पुराने व्यक्ति और वहाँ के बड़े हैं। पुरानी पहिचान होवे तो उसमें क्या करना ? क्या होना ? निडर होना। लो ! भाई यह कहते हैं। सत्य बात होवे, उसमें दूसरा क्या हो सकता है ? इसके लिए कोई बालसखा हो तो कोई जहर खाकर बालसखापना रखा जाए ? बालसखा है न, तू साथ में थोड़ा खा ले, अपन बालसखा है न ? - ऐसा कहीं पारिवारिकपना रखा जाता है ? -ऐसा नहीं रखा जाता।

कुगुरु की श्रद्धा, उसकी भक्ति, लौकिक की श्रद्धा बताये और उसमें धर्म माने, उसमें मनावें, वे सब कुगुरु है, उनका विनय, **‘अनुमोदन करने से गृहीत मिथ्यात्व का सेवन होता है और उससे जीव अनन्तकाल तक भव-भ्रमण करता है। धारै कुलिंग लाहे महतभाव-’** ऐसा लिया न ? समझे न ? **‘धन अम्बर तै सनेह-’** ऐकाकार बुद्धि है - ऐसा कहते हैं।

गाथा १० (उत्तरार्द्ध)

कुदेव (मिथ्यादेव)का स्वरूप

जो राग-द्वेषमलकरि मलीन, वनिता गदादिजुत चिह्न चीन;

गाथा ११ (पूर्वार्द्ध)

ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भवभ्रमण छेव;

अन्वयार्थ :- (जे) जो (राग-द्वेषमलकरि मलीन) रागद्वेषस्त्री मैलसे मलिन है और (वनिता) स्त्री (गदादि जुत) गदा आदि सहित (चिह्न चीन) चिह्नों से पहिचाने जाते हैं (ते) वे (कुदेव) झूठे देव हैं, (तिनकी) उन कुदेवों की (जु) जो (शठ) मूर्ख (सेव करत) सेवा करते हैं (तिन) उनका (भवभ्रमण) संसारमें भ्रमण करना (न छेव) नहीं मिटता।

भावार्थ :- जो राग और द्वेषस्त्री मैल से मलिन (रागी; द्वेषी) हैं और स्त्री, गदा, आभूषण आदि चिह्नों से जिनको पहिचाना जा सकता है वे 'कुदेव' कहे जाते हैं। जो अज्ञानी ऐसे कुदेवों की सेवा (पूजा, भक्ति और विनय) करते हैं वे इस संसार का अन्त नहीं कर सकते अर्थात् अनन्तकाल तक उनका भवभ्रमण नहीं मिटता।।१०।।

अब (बाकी का) गाथा - 'कुदेव (मिथ्यादेव) का स्वरूप।'

जो राग-द्वेषमलकरि मलीन, वनिता गदादिजुत चिह्न चीन;

ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भवभ्रमण छेव;

'जो राग-द्वेषरूपी मैल से...' राग-द्वेष शब्द से मिथ्यादृष्टि ... लेना। समझ में आया ?

१. सुदेव - अरिहन्त परमेष्ठी; देव - भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक, कुदेव-हरि, हर शीतलादि; अदेव-पीपल, तुलसी, लकड़बाबा आदि कल्पितदेव; जो कोई भी सरागी देव-देवी हैं वे वन्दन पूजनके योग्य नहीं हैं।

जिसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान है और राग-द्वेष के मैलसहित अन्दर में मलीन है; (जिसे) निर्मलानन्द भगवान आत्मा का भान नहीं है। यहाँ सर्वज्ञपना बतलाना है। भगवान सर्वज्ञ एक समय में तीनल काल-तीन लोक का ज्ञान हो, वे सर्वज्ञदेव कहलाते हैं। समझ में आया ? एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान और निर्मलता अर्थात् वीतरागता। ऐसे वीतराग-विज्ञानघन सर्वज्ञ परमेश्वर, वे देव कहलाते हैं। उनके अतिरिक्त कोई देव माने, दूसरे का राग-द्वेष सहित, अल्पज्ञान; राग-द्वेष सहित मिथ्यादृष्टि, उन्हें देव माने, वह मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? यह तो दृष्टान्त दिया है।

‘राग-द्वेषरूपी मैल से मलिन है और (वनिता)...’ अर्थात् ‘स्त्री तथा (गदादिजुत) गदा आदि सहित चिह्नों से पहिचाने जाते हैं...’ स्त्री बगल में बैठी हो, हाथ में गदा हो, हाथ में माला हो। समझ में आया ? ‘(गदादि जुत) गदा आदि सहित चिह्नों से पहिचाने जाते हैं, वे (हैं कुदेव) झूठे देव हैं...’ वे सच्चे देव नहीं है। सच्चे देव तो सर्वज्ञ-वीतराग परमेश्वर है। जिनकी दिव्य ध्वनि में अकेली वीतरागता झरती होती है। समझ में आया ? तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें एक समय में तीन लोक का ज्ञान, ऐसे ज्ञान के धारक और जिनके साथ वीतरागता तथा परमानन्द की दशा (हो) - ऐसे देव के अतिरिक्त दूसरे को राग-द्वेष की मलिनतावाले को और मिथ्यादर्शनसहित को देव मानना; बाहर मैं वनिता-स्त्री आदि सहित हो (वह) कुदेव है - मिथ्या देव है। उस कुदेव की शोठ-मूर्ख... इसमें होगा अवश्य ? इसमें होगा है, है। वह पैर पड़ता है, देखो ! वह पैर पड़ता है।

कुगुरु-कुदेव-कुधर्म। समझे न ? कोई आरती उतारता है, देखो ! जटा-बटा है और पीछे एक बाबा है। हाथ में कुछ है और वह पैर पड़ता है। कुगुरु-कुदेव और कुशास्त्र तीनों रखे हैं, हाँ ! कुधर्म है न वह घोड़ी ? उस पर कुशास्त्र है। कुशास्त्र है न ? पुस्तक है न पुस्तक। वह पत्थर है, वह कुगुरु है - यह इन सबके पैर पड़ता है। ऐसे कुगुरु-कुदेव-कुधर्म। देखो ! एक लड़का वहाँ पैर पड़ता है। समझ में आया ? सवरे में ऐसे पत्थर... जिसे देव नहीं, जिसे देव का भान नहीं - ऐसे कुदेव की प्रतिमा बनाये और माने, वह भी मिथ्यादेव का सेवन करनेवाले हैं। समझ में आया ? पत्थर होय तो भगवान की मूर्ति है न ? पत्थर है। (वह) अलग बात है।

सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग प्रभु है, जिनका विरह होता है। तब स्थापनारूप से धर्मी को ऐसी भक्ति, शुभभाव, वन्दन, विनय आये बिना नहीं रहता, उसे स्थापना निक्षेपरूप से जानता है। जिन नहीं, परन्तु जिन सरीखी प्रतिमा को जानता है। जिन नहीं, स्वयं वीतराग नहीं। निक्षेप में वीतराग की आकृति देखकर स्मरण में आता है कि ऐसे सर्वज्ञ होते हैं, ऐसे स्थिररूप से स्थित हुए वीतराग होते हैं। पूरी दुनिया(में) चाहे जो फेरफार होता हो तो उनके ज्ञान में, वीतरागता में कुछ अन्तर नहीं पड़ता - ऐसे स्मरण के लिए भगवान की प्रतिमा को सम्यग्दृष्टि भी मानता है, पूजता है। शुभभाव है, वह शुभभाव है, उसे मिथ्यात्व नहीं है। समझ में आया ? आप दूसरे के पत्थर को ऐसा कहते हो तो यह पत्थर है परन्तु इस पत्थर की आकृति वीतराग आकृति है। इस पूरी बात में अन्तर है। समझ में आया ?

सब यह लगाते हैं कि अजीव को जीव माने तो मिथ्यात्व। यह अजीव है, उसे तुम जीव मानते हो - ऐसा कहते हैं... ऐ...ई...! सब सुना तो होगा या नहीं ? क्यों भाई ! भाई ! वह तो अजीव को अजीव ही मानते हैं। यह स्थापना निक्षेप से मानते हैं, उसे कहीं जीव नहीं मानते। इसमें केवली और सर्वज्ञ परमेश्वर साक्षात् हैं - ऐसा इसमें नहीं है। समझ में आया ? मात्र उनकी प्रतिकृति - ऐसे सर्वज्ञ-वीतराग परमेश्वर (होते हैं।) जिनके विरह में ... स्त्री मर जाए तो उसके विरह में स्त्री का फोटो घर में रखते हैं या नहीं ? ऐ...ई...! तुम्हारा 'पोरबन्दर' नहीं उपाश्रय के पास वह कौन...? उसकी पुरानी पत्नी मर गयी थी। घर देखने गये थे तो ऐसा बड़ा फोटो टंगा था। कहा - यह क्या यहाँ ? वे स्थानकवासी कहलाते हैं न ? (वह कहने लगा) - मेरी पत्नी गुजर गयी, उसके प्रति प्रेम है, इसलिए बड़ा फोटो (लगाया है।) बड़ा फोटो, हाँ ! ऐसा कपड़ा ढँका हुआ। उपाश्रय के पास साथ में (मकान था)। कहा, यह क्या ? अरे ! तुम्हे स्त्री का प्रेम है और वह मर गयी तो उसका यह (फोटो) रखते हो और भगवान के प्रति-प्रेम हो और भगवान के फोटो को वन्दन नहीं करना, भगवान का फोटो (प्रतिमा) नहीं मानना, वह अचेतन कहलाये। परन्तु अचेतन से कौन इनकार करता है ? उसे चेतन किसने कहा ? स्थापना निक्षेप से वीतराग की मूर्ति है। सर्वज्ञ परमेश्वर की प्रतिकृति सामने हैं। उसे सम्यग्दृष्टि बहुमान, विनय, भक्ति से पूजा करता है, उसका नाम शुभभाव है; धर्म-परमार्थ धर्म नहीं तथा उसे मानना मिथ्यादर्शन नहीं। बहुत गड़बड़ देखो ! वन्दन करता है, लड़का सवेरे (वन्दन करता है।) और यहाँ देव के वह किये हैं न,

घोड़े जैसे मुँह... है न ? कुदेव। उसमें लिखा है न ? 'वनिता गदादिजुत चिह्न चीन।' बड़ी फूल की माला है और हिरण जैसा बड़ा मुँह है। ऐसे देव को देव मानना, वह मिथ्यात्व है। वह देव सच्चा नहीं है। समझ में आया ?

‘मूर्ख सेवा करते हैं, उनका संसार में भ्रमण करना नहीं मिटता।’ ऐसा है न ? उसका चार गति में भटकना नहीं मिटता। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग देव मिले, जिसकी श्रद्धा में सर्वज्ञ परमात्मा रमते हैं। एक समय में तीन काल - तीन लोक का ज्ञान - ऐसे परमेश्वर जिसके ज्ञान में विराजमान होते हैं; समकित्ती के ज्ञान में परमात्मा विराजते हैं। उनके विरह में प्रतिमा, पूजा आदि होते हैं। मिथ्यादर्शन नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शन पूर्वक शुभभाव है।

‘भावार्थ :- जो राग-द्वेषस्त्री मैल से मलिन...’ देखो ! **‘और स्त्री, गदा, आभूषण, आदि चिह्नों से जिनको पहिचाना जा सकता है...’** स्पष्टरूप से, ऐसा। **‘वे कुदेव कहलाते हैं।’** नीचे व्याख्या की है। पूर्व के शास्त्रकार ने, हाँ ! सुदेव - अरिहन्तपरमेष्ठी; सुदेव अर्थात् मानने योग्य परमेश्वर। देव-भवनवासी इत्यादि देव। वे देव अलग और यह देव अलग। वे सुदेव है। सर्वज्ञ परमात्मा सुदेव हैं और भवनपति व्यन्तर आदि तो एक गति के देव है। कुदेव - हरि, हर आदि कुदेव हैं। (जो) वास्तविक देव नहीं, वे कुदेव कहलाते हैं। अदेव। चार नाम अलग दिये हैं, देखा ? सुदेव, देव, कुदेव, अदेव। अदेव (अर्थात्) यह पीपल, तुलसी, लकड़बाबा इत्यादि। लकड़बाबा, यह तो हिन्दुस्तान में होंगे, अपने हैं कोई ? यह पीपल को पान डालकर नहीं करते ? पीपल के फेरे फिरते हैं, मूढ़ है। महिलायें वहाँ बहुत जाती हैं। पीपल को पानी डाले, (मानती है कि) लड़का होगा, धूल। तुलसी को पानी डालकर (मानते हैं कि) यह मेरे देव कहलाते हैं। वह तो एकेन्द्रिय वनस्पति है। लकड़बाबा कुछ होगा अथवा वह लकड़ी का घड़ा हुआ, अथवा वह पाणियारा पर नहीं रखते ? रूई की आँखे और गोबर के काकाबणिया। उसके उपर वे काकाबणिया रखते हैं, और माने देव। सवेरे पैर पड़े, मूढ़ है, कहते हैं। ऐसे देव को माननेवाले (मूढ़ है।) समझ में आया ?

जो कोई भी सरागी देव-देवी है, वे वन्दन-पूजन के योग्य नहीं है। पैर लगे, घर में... होता है। क्या कहलाता है इसका ? कुलदेव, कुलदेवी। सब मूढ़ता है, कहेत हैं। उसे सच्चे देव का पता

नहीं है। परमेश्वर सर्वज्ञ वीतराग के अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि किसी को नहीं मानता। समझ में आया ? दस गाथा हुई।

‘अज्ञानी ऐसे कुदेवों की सेवा, (पूजा, भक्ति और विनय) करते हैं, वे इस संसार का अन्त नहीं कर सकते...’ क्योंकि उसको अन्त नहीं है, जिन्हें मानता है, उसे संसार का अन्त नहीं है और उसका अनुमोदन करे तो इसे मिथ्यात्व का पाप लगता है ‘अर्थात् अनन्त काल तक उनका भवभ्रमण नहीं मिटता।’

गाथा ११ (उत्तरार्ध)

कुधर्म और गृहीत मिथ्यादर्शनका संक्षिप्त लक्षण

रागादि भावहिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत।।११।।

जे क्रिया तिन्हें जानहु कुधर्म, तिन सरघै जीव लहै अशर्म;

याकूं गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जौ है अज्ञान।।१२।।

अन्वयार्थ :- (रागादि भावहिंसा) राग-द्वेष आदि भावहिंसा (समेत) सहित तथा (त्रस-थावर) त्रस और स्थावर (मरण खेत) मरण का स्थान (दर्वित) द्रव्यहिंसा (समेत) सहित (जे) जो (क्रिया) क्रियाएँ [हैं] (तिन्हें) उन्हें (कुधर्म) मिथ्याधर्म (जानहु) जानना चाहिये। (तिन) उनकी (सरघै) श्रद्धा करने से (जीव) आत्मा-प्राणी (लहै अशर्म) दुःख पाते हैं। (याकूं) इस कुगुरु, कुदेव और कुधर्मका श्रद्धान करनेको (गृहीत मिथ्यात्व) गृहीत मिथ्यादर्शन जानना, (अब गृहीत) अब गृहीत (अज्ञान) मिथ्याज्ञान (जो है) जिसे कहा जाता है उसका वर्णन (सुनो)।

भावार्थ :- जिस धर्म में मिथ्यात्व तथा रागादिरूप भाव-हिंसा और त्रस तथा स्थावर जीवोंके घातरूप द्रव्यहिंसा को धर्म माना जाता है, उसे कुधर्म कहते हैं। जो जीव उस कुधर्म की श्रद्धा करता है, वह दुःख प्राप्त करता है। ऐसे मिथ्या गुरु, देव और धर्म की

श्रद्धा करना उसे 'गृहीत मिथ्यादर्शन' कहते हैं। वह परोपदेस आदि बाह्य कारण के आश्रय से ग्रहण किया जाता है इसलिये 'गृहीत' कहलाता है। अब गृहीत मिथ्याज्ञान का वर्णन किया जाता है।।१२।।

११. 'कुधर्म और गृहीत मिथ्यादर्शन का संक्षिप्त लक्षण।' कुधर्म और गृहीत मिथ्यादर्शन का - दो बात

रागादि भावहिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत।।११।।

जे क्रिया तिन्हें जानहु कुधर्म, तिन सरधै जीव लहै अशर्म;

याकूं गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जौ है अज्ञान।।१२।।

गृहीत मिथ्यात्व की बात यहाँ तक है। क्या कहते हैं ? 'राग और द्वेष आदि भावहिंसा (समेत) सहित त्रस और स्थावर के...' घात की हिंसा... वह द्रव्यहिंसा करे। राग-द्वेषसहित बाहर की त्रसहिंसा, उस सहित की क्रियाएँ 'उन्हें मिथ्याधर्मजानना चाहिए...' देखो ! यहाँ जरा गड़बड़ नहीं होती। कहते हैं कि जिसमें अकेला राग-द्वेष होता है और बाहर अकेले त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है, उसे धर्ममाना, वह मिथ्यात्व है। भगवान की पूजा में तो एक शुभराग है और उसमें भी एकेन्द्रिय प्राणी (की) अमुक साधारण हिंसा होती है। सावदलेश्या हो तो पुण्य बहुत होता है - ऐसा आचार्यों का वचन है। उसे परमार्थ धर्म नहीं मानता।

भगवान की पूजा में किञ्चित् स्थावर जीव की, वनस्पति या पानी



के थोड़े जीव हों, घात हो, इसलिए सावद्यलेश्या कहा है, परन्तु शुभभाव हैं, इसलिए उसे पुण्य बन्धन होता है। उसे परमार्थ से वह हिंसा का भाव (नहीं है), अनुबन्ध अहिंसा का है, वीतरागभाव की अनुमोदना का है; और यह तो अकेली हिंसा करता है; परिणाम में राग-द्वेष के भाव (करता है।) बाहर में हिंसा का पार नहीं होता।



भगवान के नाम से बाग-बगीचा, फूल तोड़कर पूरे-पूरे जीव मारता है, प्रमाण नहीं रखता, रात्रि में दीपक, रात्रि में फूलवाड़ियाँ, रात्रि में भगवान की पूजा (करता है) और ऐसा मानता है कि मुझे लाभ होता है। - यह सब मिथ्याधर्म है। समझ में आया कुछ ? उसमें धर्म मानना, मिथ्यादर्शन है, गृहीत मिथ्या श्रद्धा है। विवेक चाहिए, देखो न ! पानी की हिंसा। फूल-फल की भी उसकी मर्यादा होती है। समझ में आया ? भाव का ठिकाना नहीं और बहुत हिंसा हो जाए तो उसे धर्म का विवेक नहीं है। यह तो भाई वीतराग का ऐसा मार्ग है। जिसमें राग घटे और बाहर की हिंसा भी घटे, इस प्रकार उसे लेना चाहिए। समझ में आया ?

‘जे क्रिया तिन्हें जानहू कुधर्म...’ ऐसी जो द्रव्यहिंसा और भावहिंसा सहित..., भावहिंसा सहित है न ? उन क्रियाओं को मिथ्याधर्म जानना। ‘उनकी श्रद्धा करने से प्राणी (अशर्म)...’ अशर्म अर्थात् ‘दुःख...’ शर्म अर्थात् सुख। ‘दुःख पाते हैं।’ समझ में आया ? परिणाम का विचार नहीं। मेरे परिणाम कैसे हैं ? यह कितनी हिंसा होती है ? क्या होता है ? इसका पता नहीं चलता। ऐसे तीव्र रागादिभाव हों, बाह्य हिंसादि - त्रस-स्थावर मरें, चींटी, मकोड़ा मरते हैं, भगवान के नाम पर देखो न कितने कीड़े-मकोड़े मरते हैं। दूध और दही सिर पर बहाते हैं... कितने जीव मरते हैं ! उसका विचार नहीं करते और अकेली हिंसा होती है - ऐसे कुधर्म को माने तो मिथ्याश्रद्धा है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

‘इस कुगुरु-कुदेव-कुधर्म का श्रद्धान करने को गृहीत...’ नया मिथ्यात्व नहीं, अनादि का है वह; उसके साथ यह नया मिथ्यात्व। अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व है, वह पहले साततत्त्वों की भूलें कही थी वे, उसके साथ यह दूसरी मिथ्यात्व की श्रद्धा जोड़ दी, इसलिए मिथ्यात्व पुष्ट हुआ, उसे आत्मा का लाभ नहीं हुआ। ‘गृहीत मिथ्यादर्शन जानना। अब गृहीत मिथ्याज्ञान (जो है) जिसे कहा जाता है...’ लो ! गृहीत, हाँ ! वह जो अगृहीत मिथ्याज्ञान कहा था, वह दूसरी बात। यह गृहीत मिथ्याज्ञान। अगृहीत मिथ्याज्ञान में भी अदिक पुष्टि करनेवाला। आहा...हा...! समझ में आया ? ‘उसका वर्णन सुनो।’

‘जिस धर्म में मिथ्यात्व तथा रागादिरूप भावहिंसा और त्रस तथा स्थावर जीवों के घातरूप द्रव्यहिंसा को धर्म माना जाता है, उसे कुधर्म कहते हैं। जो जीव उस कुधर्म की श्रद्धा करता है, वह दुःख प्राप्त करता है। ऐसे मिथ्या गुरु-देव और धर्म की श्रद्धा करना, उसे ‘गृहीत मिथ्यादर्शन’ कहते हैं।’ उसे मिथ्यादेव कौन है ? - उसकी परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा किये बिना माने, वह वीतरागमार्ग में धर्म नहीं कहलाता है। वह परोपदेश आदि बाह्य कारण के आश्रय से ग्रहण किया जाता है। पहले वह आया था, परसों कहा था न ? अगृहीत में। (वह) उपदेशादि बाह्य अवलम्बन द्वारा नवीन नहीं ग्रहण किया है। अज्ञान में ऐसा आया था, पहले शुरुआत में। यहाँ परोपदेश पढ़ने से, सुनने से, देखने से, कहने से ग्रहण किया गया है, इसलिए उसे गृहीत मिथ्यादर्शन कहा जाता है। ‘अब, गृहीत मिथ्याज्ञान का वर्णन...’ करेंगे। यह तेरहवीं गाथा। बारह हुई न ? बारह हुई। बारह तक गृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत (मिथ्यात्व को) पुष्टि करनेवाले की बात की। अब अगृहीत (मिथ्या)ज्ञान को पुष्टि देनेवाले मिथ्याज्ञान की बात करेंगे।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)



गृहीत मिथ्याज्ञान का लक्षण

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त;
रागीकुमतनिकृत श्रुताभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास।।१३।।

अन्वयार्थ :- (एकान्तवाद) एकान्तस्व कथन से (दूषित) मिथ्या [और] (विषयादिक) पाँच इन्द्रियोंके विषय आदिकी (पोषक) पुष्टि करनेवाले (रागीकुमतनिकृत) रागीकुमति आदिके रचे हुए (अप्रशस्त) मिथ्या (समस्त) समस्त (श्रुताभ्यास) शास्त्रों को (अभ्यास) पढ़ना-पढ़ना, सुनना और सुनाना (सो) वह (कुबोध) मिथ्याज्ञान [है; वह] (बहु) बहुत (त्रास) दुःखको (देन) देनवाला है।

भावार्थ :- (१) वस्तु अनेक धर्मात्मक है; उसमेंसे किसी भी एक ही धर्म को पूर्ण वस्तु कहने के कारण से दूषित (मिथ्या) तथा विषय-कषायादि की पुष्टि करनेवाले कुगुरुओं के रचे हुए सर्व प्रकार के मिथ्या शास्त्रों को धर्मबुद्धि से लिखना-लिखाना, पढ़ना-पढ़ाना, सुनना और सुनाना उसे गृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं।

(२) जो शास्त्र जगतमें सर्वथा नित्य, एक अद्वैत और सर्वव्यापक ब्रह्ममात्र वस्तु है, अन्य कोई पदार्थ नहीं है - ऐसा वर्णन करता है, वह शास्त्र एकान्तवादसे दूषित होने के कारण कुशास्त्र है।

(३) वस्तुको सर्वथा क्षणिक-अनित्य बतलायें अथवा (४) गुण-गुणी सर्वथा भित हैं, किसी गुणके संयोगसे वस्तु है ऐसा कथन करें, अथवा (५) जगत का कोई कर्ता-हर्ता तथा नियंता हैं ऐसा वर्णन करें, अथवा (६) दया, दान, महाव्रतादिक शुभ राग-जो कि पुण्यास्त्रव है पराश्रय है उससे, तथासाधु को आहार देनेके शुभभावसे संसार परित (अल्प, मर्यादित) होना बतलायें तथा उपदेश देनेके शुभभावसे परमार्थस्व धर्म होता है - अत्यादि अन्य धर्मियों के ग्रन्थों में जो विपरीत कथन हैं, वे एकान्त और अप्रशस्त होनेके कारण कुशास्त्र है; क्योंकि उसमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वोंकी यथार्थता नहीं है। जहाँ एक तत्त्वकी भूल हो वहाँ सातों तत्त्वोंकी भूल होती ही है, ऐसा समझना चाहिए।।१३।।

वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल ६, गुरुवार

दि. २७-१-१९६६, ढाल-२, गाथा १३ प्रवचन नं.- १०

‘छहढाला’ की दूसरी ढाल (चलती है।) बारह गाथा पूर्ण हुई। तेरहवीं गाथा। ‘गृहीत मिथ्याज्ञान का लक्षण।’ ऐसा एक विचार इससे पहले आया कि यह आत्मा जो है, आत्मा, वह ज्ञानस्वस्व है, ज्ञानस्वस्व। मिथ्याज्ञान है न इसमें ? आत्मा है, वह ज्ञानस्वभाव है और ज्ञान की जो पाँच पर्याय हैं - मति, श्रुत, अबाधि, मनःपर्याय और केवल; तो केवलज्ञान की एक समय की पर्याय अपने अनन्त गुणोंकी पर्याय और अपनी भी व्यवस्थित पर्याय, केवलज्ञान की पर्याय भी समय-समय में जो व्यवस्थित है, व होना है उसमें वह... अनन्त काल वह होता है न ? इसलिए केवलज्ञान की पर्याय अपने गुण की पर्याय जो ज्ञान की पर्याय का व्यवस्थितपना और दूसरे द्रव्यों की जो समय-समय की पर्याय है, उसे भलीभाँति व्यवस्थितस्व से जानती है। यह मतिज्ञान भी उसी प्रकार व्यवस्थित जानता है। अल्प, कम उसका प्रश्न अभी नहीं है। श्रुतज्ञान भी उसी प्रकार जानता है। ऐसा व्यवस्थित जानने का और सामने व्यवस्थित पर्याय है, उसका व्यवहार से ज्ञान करने का उसका स्वभाव है। श्रुतज्ञान भी अपने अनन्त गुणों की और अपनी भी पर्याय व्यवस्थित होती है, उसको जानने का स्वभाव है। पर की भी व्यवस्थित जो होती है, उस पर्याय को जानने का उसका स्वभाव है। अवधिज्ञान भी वह स्वयं अपनी जो व्यवस्थित पर्याय समय-समय में होती है, उसे जानने का स्वभाव और रूपी आदि पर्याय उसके योग्य है, उसे भी जानने का स्वभाव है। ऐसे ही मनःपर्यायज्ञान(भी) अपनी व्यवस्थित पर्याय (जानता है), अन्य की भी उसके योग्य जितनी जानने की योग्यता है, उसकी व्यवस्थित पर्याय को जानने का स्वभाव है।

अब, यह सब केवलज्ञानादि पर्याय का स्वभाव स्वयं को और पर को जैसा है, वैसा जानना (है।) उसमें कैसे है और कैसे फेरफार करना - यह वस्तु का स्वभाव नहीं है। ऐसी पर्याय एक-एक गुण में अनन्त-अनन्त पर्याय पड़ी हैं। यह मति, श्रुत, अवधि; मनःपर्याय और केवल की जो

अनन्त पर्याय है, वह ज्ञानगुण में अनन्त अनन्तस्व रही है। ऐसा ज्ञान का धारक आत्मा (है) जिसने वस्तु का स्वस्व ही व्यवस्थित स्वयं अपने को जाने और पर को जाने - ऐसा ही उसका स्वभाव हुआ। एक समय का नहीं, परन्तु पूरा त्रिकाली स्वभाव। भाई ! वस्तु ही ऐसी है। यहाँ तो पर्याय से लेकर गुण में गया और गुण लेकर द्रव्य - ऐसी वस्तु है। यह बात है, यह वस्तु है। कुछ समझ में आया ?

भगवान आत्मा ज्ञानस्वस्व है - ऐसा जो कहा - उसका अर्थ ही यह है कि जहाँ ज्ञान का निश्चय किया अर्थात् प्रत्येक पर्याय अपनी मति, श्रुत, मनःपर्याय की होती है, उसे वह जानता है और दूसरे गुणों की पर्याय भी क्रमसर होती है, क्रमवर्ती होती है, उसे जानता है। उसके योग्य सामने जो द्रव्य है, उसे जानने योग्य, उसे भी उस प्रकार जानता है। एक पर्याय को, एसी तीन काल की पर्यायें या सर्वज्ञ सादि-अनन्त की केवलज्ञान की पर्याय, वह भी जानता है और सामने अवस्था जो अनन्त की होती है, वह जानता है। ऐसी अवस्था का पूरा पिण्ड, वह ज्ञानगुण। उस गुण में स्व-पर का व्यवस्थित जानना-एसी ही उसकी सामर्थ्य है। ऐसे स्वभाववन्त को आत्मा न माने और दूसरे प्रकार से माने तो वह आत्मा ही उसने नहीं माना। भाई ! यह तो सवेरे उठकर फिर यह चला था। कुछ समझ में आया ?

यह भगवान ही आत्मा ज्ञानस्वस्व है अर्थात् इसकी कोई भी पर्याय भी व्यवस्थितस्व से परिणमति है और व्यवस्थितस्व से दूसरे को जानती है - इसका नाम ज्ञान ! कुछ समझ में आया ? भाई ! इसमें समझ में आता है ? विचार करते हैं, कहते हैं। बहुत अच्छी बात है।

मुमुक्षु :- फिर से समझाओ।

उत्तर :- यह कहा न, उठते ही एकदम यह बात दिमाग में आयी। वस्तु ही ऐसी है। उसमें विकल्प का अवकाश ही नहीं है। ऐसा कैसे ? पर में या मुझ में ऐसा कैसे ? यह ऐसा कैसे तो व्यवस्थित जानने का स्वभाव, उसमें ऐसा कैसे- यह विकल्प ही नहीं होता। समझ में आया ? सूक्ष्म पड़े, परन्तु वस्तु आत्मा को ज्ञान कहा है न ? भाई ! ज्ञान, वह आत्मा - ऐसा कहा है न ? इस पर से एकदम फिर विचार की धारा चली कि ज्ञान, वह आत्मा। अर्थात् कि ज्ञान तो जाने, वह आत्मा। अर्थात् उसकी जितनी पाँच पर्यायें हैं, उन प्रत्येक (को) जाने, जाने, जाने, वह आत्मा।

ज्ञान में जानना है। किसी को बदलना या स्वयं का बदलना उसमें है नहीं। आहा...हा...! करे क्या ? समझ में आया ?

यह तुम्हारे मकान का ठिकाना पड़ता नहीं, उस विचार में एकदम यह विचार आये... परन्तु जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस प्रकार से जो पर्याय होनी है, उसे फेरफार करे कौन ? कुछ समझ में आया ? यह ज्ञान का तो स्वभाव ही ऐसा है, अर्थात् उसकी पर्याय का स्वभाव ऐसा, उसके गुण का स्वभाव ऐसा और उस द्रव्य का स्वभाव ऐसा। है ? आहा...हा...! ऐसा ही उसका स्वभाव है। जहाँ निर्विकल्पस्व से ज्ञान का निश्चय अनुभव हुआ, जानने का दूसरा कुछ है ही नहीं इसे। समझ में आया ? यह राग आता है, उसे जाने, करे नहीं - यह द्रव्य का ऐसा स्वभाव है, भाई ! इसमें कुछ समझ में आया ?

ज्ञान आत्मा, यह कहो तब तो ज्ञान आत्मा और ज्ञान की पर्याय, वह भी आत्मा, - ऐसा हुआ न ? भाई ! है ? पर्याय, वह पर्यायवान की अर्थात् पर्याय (और) पर्यायवान एक है। गुण और गुणी एक है, अभेद है। वह जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला है। जो जानने की दशा का ज्ञान और जाने वह व्यवस्थित पर की पर्याय का ज्ञान.. बस ! यह सब जानना ही उसके पिण्ड में पड़ा है। आत्मा के पिण्ड में अर्थात् उसका शरीर ही ऐसा है। शरीर अर्थात् आत्मा का वह शरीर आत्मपिण्ड ही ऐसा है, आत्मशरीर ही ऐसा है अर्थात् चैतन्य शरीर ही ऐसा है। वह स्व-पर की जैसी व्यवस्थित है, ऐसा उसे उस प्रकार से सहज जानना। वह जानना द्रव्य में, गुण में और पर्याय में - तीनों में व्यापक है। समझ में आया ?

इसप्रकार यदि आत्मा को माने तो उसने आत्मा को माना कहा जाता है। दूसरे प्रकार से आत्मा माने तो उस आत्मा की वह स्थिति नहीं है; इससे विपरीत माने तो उसने आत्मा ही नहीं माना। आहा...हा...! भाई ! समझ में आया ? अन्दर गंभीरता तो बहुत आती थी, परन्तु अब वह भाषा में आनी चाहिए न ? भूमिका अनुसार आती है न ! ओ..हो...! यह अकेला चैतन्य गोला, वह ज्ञान - द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों में व्यापक है। वह व्यवस्थित अपने को, दूसरे गुणों को, दूसरे द्रव्यों को - इस प्रकार जानने के स्वभाववाला, वह पर्याय, गुण और द्रव्य - तीनों में व्यापक जानना। इस प्रकार उसे अनुभव में आवे, उसने आत्मा जाना और माना कहा जाता है।

आहा...हा...! अरे...! इसमें वाद-विवाद का स्थान कहाँ है ? समझ में आया ?

भगवान आत्मा, अर्थात् चैतन्यसूर्य अर्थात् स्व-पर को जानने के स्वभाव से- सत्व से भरपूर तत्त्व। उसकी पर्याय में वह स्वभाव। उसमें पहले-बाद का प्रश्न ही नहीं है कहीं पर्याय में ... आहा...हा...! यह पहले और यह बाद में... ज्ञान में जानने का नहीं रहा, यह तो विषमता हुई। है ? समझ में आया ? इससे ऐसा स्वस्व निश्चय में आया कि यह वस्तु तो ऐसी जानने के स्व-परप्रकाशक के स्वभाव से भरपूर (है) और व्यवस्थित अपने और दूसरे गुणों की और दूसरे द्रव्यों की पर्याय को जानना - इतना ही इसका स्वस्व है, बस ! और यह 'जानना' - उसे आत्मा कहा जाता है। उसने जानने का किया, वही उसने किया - यह क्रिया। कुछ समझ में आया ? भाई ! फिर इससे यह हुआ और इससे ऐसा हुआ - यह वस्तु में नहीं रहता। है ? आहा...हा...! उसके गुण में उसका गुण ऐसा है, गुण, गुण - ज्ञानगुण। ज्ञानगुण, उसका गुण ऐसा, अर्थात् स्वभाव है, बस ! जानना। ऐसा आत्मा मात्र स्व-पर को जानने का केवल अकेला चैतन्यसूर्य (है।) समझ में आया ? उसकी पर्याय मति(ज्ञान की) होवे तो भी जानना, उसमें भी व्यवस्थित जानता है। कम-ज्यादा का प्रश्न नहीं है। श्रुत(ज्ञान) भी ऐसा ही जानता है, क्योंकि उसके गुण में स्व-पर को व्यवस्थित जानने की सामर्थ्य स्वभाव है। इसलिए उसकी पर्याय में भी स्व-पर को जानने की पर्याय को व्यवस्थित जानता है। समझ में आया ? और उसमें से केवलज्ञान पर्याय तो फिर सादि-अनन्त रही। भाई !

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय - यह तो बहुत ही अल्प पर्याय है। अल्प अर्थात् बहुत थोड़े काल रहनेवाली है। है ? और केवलज्ञान पर्याय तो इससे अनन्तगुनी रहने वाली है, भाई ! ध्यान रखना ! केवलज्ञान पर्याय तो अनन्त... अनन्त... अनन्तगुनी है। जो पर्याय चार ज्ञान की हुई, इतने काल में जो काल गया, उससे अनन्तगुना काल केवलज्ञानपर्याय ऐसी की ऐसी रहनेवाली है। अब, उस कैवल्य की परिपूर्णता में अपना और पर का स्व-पर व्यवस्थित जानना ऐसा ही उसका स्वभाव है। इसलिए पूरे गुण का ही ऐसा स्वभाव है। भाई ! विवाद-तकरार, चर्चा, वाद-विवाद से पार पड़े ऐसा नहीं है; वस्तु का स्वभाव समझे तो पार पड़े -ऐसा है। इसमें समझ में आता है ?

यह भगवान आत्मा, ऐसा जिसका ज्ञान है, उसे सुशास्त्र का ज्ञान कहा जाता है। इससे विरुद्ध है, उसे सामने सच्चे शास्त्र हो तो भी उसे कुशास्त्र का ज्ञान है - ऐसा कहा जाता है। यह 'कुमति' आया न ? (इसमें से) ज़रा अधिक विचार उठा। मैंने कहा - यह अद्भुत, भाई ! कुमति से रचित शास्त्र... परन्तु सुमति से रचे गये शास्त्र हों परन्तु जिसकी मति में स्वयं को कुमतिपना है... समझ में आया ? ... तो उसका शास्त्र अभ्यास होकर उसे कुसूत्ररूप परिणमित हुआ है। शास्त्र क्या करे ? वह तो परवस्तु है। सर्वज्ञ भी क्या करें ? सर्वज्ञ सामनेवाले के जानने की अपेक्षा से तो परवस्तु है। दिव्यध्वनि क्या करे ? समझ में आया कुछ ?

भगवान आत्मा ऐसा सादि-अनन्त केवलज्ञान पर्याय, अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त गुण। जिसके गुण के पट (क्षेत्र) में एक समय में वर्तमान सब पड़ा है ऐसा। ऐसे गुण को तो स्व-पर व्यवस्थित जानना - ऐसी जिसकी सामर्थ्य है। इसके अतिरिक्त विपरीत प्रकार से माने तो न तो उसने आत्मद्रव्य को मना, न उसने दूसरे द्रव्य और गुण की पर्याय जैसा है, वैसा माना। समझ में आया ? आहा...हा...! लो ! इतना आया ? उस ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है - ऐसा यहाँ कहना है। उसका परिणमन का स्वभाव ज्ञान का ऐसा (है कि) सबको जानना। वे भी सामने व्यवस्थित होते हैं, तब यहाँ ज्ञान एक समय में जानता है। आहा...हा...! छहो द्रव्यों का व्यवस्थितपना, उनके गुणों का व्यवस्थितपना, उनकी पर्याय का व्यवस्थितपना। पर्याय का व्यवस्थितपना तो उसके गुण की शक्ति में भी व्यवस्थितपने परिणमना, वही उसका स्वभाव है। आहा...हा...! इसमें कुछ समझ में आता है ?

इसमें धर्म क्या आया ? ऐसा लोगों को (लगता है।) हैं ? भाई ! आत्माज्ञान का पिण्ड, इस प्रकार सर्वज्ञ पर्याय की पूर्णता की अनन्त पर्याय की सामर्थ्यवाला ऐसा जो ज्ञान गुण, उस गुण का धारक आत्मा, वह ज्ञान और ज्ञान, वह आत्मा। बस ! उसे तो इस प्रकार स्व-पर व्यवस्थित है, उसे जानना। अर्थात् इसमें व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान है - यह बात भी इसमें आ जाती है। है ? भाई ! १२वीं गाथा का जो सिद्धान्त है...ओ..हो..हो...! 'रचना जिन उपदेश की, सर्वोत्कृष्ट तीन काल, इनमें सब मत रहते हैं, तरते जीव सम्हार' - शास्त्र की किसी अपेक्षा से बात लो, उस अपेक्षा से वह सब बात यथार्थ खड़ी होती है। समझ में आया ?

‘भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव’ने १२वीं गाथा में यह वस्तु-व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान कहा, उसमें ही विवाद उठे। वह विवाद ‘अपरमें द्विदा भावे।’ अर्थात् कि जो परम में नहीं, उसे व्यवहार करने को कहा -ऐसा है ही नहीं, भाई ! आहा...हा...! जो पूर्णदशा, कैवल्य आदि दशा में स्थित नहीं है, उसे अपूर्णदशा में ज्ञान में वह राग बाकी (रहा है), उसे जानने की ज्ञान की दशा ही ऐसी रहती है। अपनी व्यवस्थित (पर्याय को जानने का) और राग भी व्यवस्थित (होता है) उसे जानना का इतना भाग रह जाता है। इस रूप से (अर्थात्) स्वद्रव्य के पर्याय के रागरूप से केवली को वह नहीं रहता। समझ में आया कुछ ? इससे वहाँ भूतार्थ स्वभाव भगवान आत्मा, उसके आश्रय से हुआ ज्ञान, उस ज्ञान में जो अपूर्णता और रागादि है, उसे जानने का नाम व्यवहार कहा है। उसे व्यवहार का ज्ञान, व्यवहार जानना। इसके अतिरिक्त कोई दूसरी चीज़ ही उसमें खड़ी नहीं होती। समझ में आया ?

एक समय में भूतार्थ भगवान आत्मा ऐसे गुणवाला तत्त्व एकरूप से (बिराजमान है), उसकी दृष्टि होने पर अन्दर उस दृष्टिवाला ज्ञान (होता है), उसे अपूर्णता और न्यूनता है, उस कारण उसे व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान कहा गया है। केवली को वह नहीं है। उन्हें एकसाथ लोका लोक सब निमित्त है। बस ! इतनी बात है, दूसरा कुछ है नहीं।

अब, यहां पर ‘गृहीत मिथ्याज्ञान का लक्षण’ (कहते हैं।) इससे उल्टा। दोनों है इसमें। समझ में आया ?

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त;

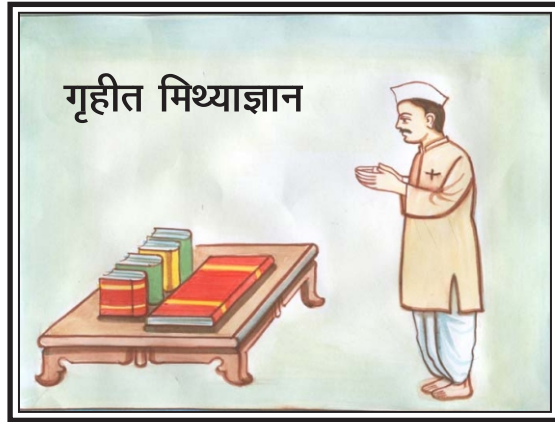
रागीकुमतनिकृत श्रुताभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास।।१३।।

‘(एकान्तवाद) अकान्तस्व कथन से दूषित-मिथ्या...’ अर्थात् ? ‘वस्तु अनेक धर्तात्मक है...’ नीचे इसका (स्पष्टीकरण) है। ‘उसमें से किसी भी एक ही धर्म को पूर्ण वस्तु कहने के कारण से दूषित (मिथ्या)...’ आत्मा आदि प्रत्येक वस्तु अनित्य भी है, नित्य भी है ! वस्तु स्वस्व से एक है, गुण-पर्यायों से अनेक है - इस प्रकार वस्तु को न मानकर उसका एक ही पक्ष मानना, तो वस्तु की सर्वांगता उसकी दृष्टि में नहीं रहती और सर्वांग माने

बिना, असर्वांग को सर्वांग माने, उसे अनेकान्त न मानकर उसने एकान्त माना है।

वस्तु के सर्वांग जितने हैं, अंग, जितने नीचे-नीचे के पर्याय के प्रकार हैं, समझ में आया ? गुण, पर्याय के, पूर्ण गुणपर्याय एक समय के, वे सब नित्य-अनित्य हैं। इस प्रकार उसका सर्वांगपना न मानकर, उसका एक ही अंगपना माने, (अर्थात्) नित्य ही है, तो पर्याय रह जाती है। अनित्य है (- ऐसा एकान्त माने) तो गुण-द्रव्य रह जाता है। समझ में आया ? वस्तु का सर्वांगपना मानने का नाम अनेकान्त है, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। वस्तु का एकांग मानना, एक पहलू ही मानना, पर्याय ही मानना और गुण - ही मानना; गुण ही मानना और पर्याय नहीं मानना... समझ में आया ? उसे एकान्तवाद - एक पक्षीय मिथ्याज्ञान कहते हैं। यह सूक्ष्म बात है।

एकान्त कथन से दूषित अथवा विषयादि पोषक अर्थात् क्या कहा ? जो पाँच इन्द्रिय के विषय। परसन्मुखता का भाव, वह परसन्मुख जाता है। समझ में आया ? ऐसे विषयों के पोषक.. स्वविषय जो आत्मा है, उसका अनादर करके पर तरफ के अकेले विषय के भाव, उनका पोषण करनेवाले एकान्तिक कुशास्त्र कहलाते हैं। समझ में आया कुछ ? **‘पाँच इन्द्रियों के विषय...’** बाह्य के। उनके लक्ष्य से आत्मा को लाभ माननेवाले, (उसे) यह स्वविषय पूरा आत्मा उसमें रह जाता है। समझ में आया ? (ऐसी पुष्टि) करनेवाले, कुमतिन रचित, कपिल इत्यादि द्वारा बनाये हुए अथवा कुमतियों द्वारा बनाये हुए। जैसा द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप है, वैसा जाने बिना अपनी कल्पना की तर्ककोटी से, तर्कों के समूह से रचित शास्त्र... समझ में आया ? वे मिथ्या अप्रशस्त है। जिसमें सत्य सिद्धान्त का विरोध आता है। समझ में आया ? उन समस्त शास्त्रों का अभ्यास करना... यह धर्मबुद्धि से अभ्यास करना, उनमें से ज्ञान मिलेगा, उसमें भी सम्यग्ज्ञान के वे शास्त्र हैं - ऐसा जानकर अभ्यास



करना। इस प्रकार करता है तो वह तो कुशास्त्र रचते हैं - ऐसा होता है... समझ में आया ? उन्हें शास्त्र जानकर अभ्यास करना, पढ़ना, दूसरों से पढ़वाना, दूसरों को पढ़ाना, दूसरों से सुनना... अद्भुत बात, भाई !

वे कुशास्त्र, जिनमें एकान्तपना है, जिनमें अनेकान्त वस्तुसिद्ध नहीं होती, उन्हें सुनाना, ऐसे कुशास्त्रों को जगत को सुनाना, वह सब मिथ्याज्ञान का पोषण है। समझ में आया ? वह 'कुबोध' अर्थात् मिथ्याज्ञान है। देखो ! वह बहुत दुःख देनेवाला है। वह त्रासदायक है। **'कुबोध बहु देन त्रास।'** आहा...हा...! समझ में आया ?

इसमें एक यह अर्थ किया है, भाई ! जरा-सा दूसरा है। इसमें तो ऐसा अर्थ किया है, यह तीसरा पूरा होने के बाद, हाँ ! इसमें, कि मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान के रहेत हुए... यह तो अपना नहीं परन्तु पहले के आधार का है, वह जरा इसमें डाला है। परन्तु एक है। जो ऐसे कुशास्त्र का ज्ञान और मिथ्यादर्शन, इनके विद्यमान रहते हुए मनुष्य, चारित्र के नाम पर जो कुछ भी धारण करता है..., चारित्र के नाम से मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान है ऐसे उनके ऊपर, चारित्र के नाम पर व्रतादि (पालन करे), - व्रत, नियम, उपवासादि करता है, उसे गृहीत मिथ्याचारित्र कहा गया है। समझ में आया ? ऐसा जो ज्ञान है, वह इस तेरह गाथा में चलता है, वह। इससे पहले मिथ्यादर्शन (का वर्णन) चला। ऐसे मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानसहितवाला जीव, कोई चारित्र धारण करे, अर्थात् व्रत, नियम, उपवासादि धारण करे, वे सब कुचारित्र है। कहो, यहाँ 'सोनगढ़वालो' ने कहा है - ऐसा नहीं। यहाँ तो पहले उसमें छपा है। अरे..! भगवान ! क्या कहता है ?

देखो ! इसमें यह है। इसमें यह लिखा है। समझ में आया ? तथा जिसे मिथ्याश्रद्धा-ज्ञानसहित...। मिथ्या अगृहीत हो या गृहीत हो, उसकेसहित जिसने चारित्र धारण किया है, वह चारित्र कैसा ? कि, व्रत और उपवासादि क्रिया। व्रत, नियम, उपवास, रात्रिभोजन त्याग, सामायिक इत्यादि - वह गृहीत मिथ्याचारित्र कहा जाता है, उसे तो गृहीत मिथ्याचारित्र कहा जाता है। अब (कहते हैं), फिर जो क्रिया केवल शरीर को दुःख पहुँचानेवाली है... उसकी क्रिया का क्या कहना ? ऐसा। यह पंचाग्नि और (यह सब)। यह तो ऐसी मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान सहित के जैन के नाम धरानेवाले व्रत, तप, उपवास आदि करे तो भी कुचारित्र है, मिथ्याचारित्र है,

गृहीतमिथ्याचारित्र (है), ऐसा।

क्रियाएँ शरीर को दुःख पहुँचानेवाली... आगे आयेगा... मान, प्रतिष्ठा, यश, कामना और पैसे के लाभादि इच्छा से की जाती है; त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करनेवाली है, उनमें तो आत्महित की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। इस कारण से आचार्यों ने ऐसी क्रियाओं को मिथ्याचारित्र कहा है। कुछ समझ में आया ? और पंचाग्नि तपने में अगणित त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है। जटाजुत... जटा रखते हैं न ? जूँ इत्यादि उत्पत्त होती हैं। शरीर को राख लगाते हैं, तिलक मुद्रा आदि करने से मान-प्रतिष्ठा आदि की भावना स्पष्ट दृष्टि (गोचर) होती है। अनेक प्रकार के आसन लगाने से शरीर को खेदमात्र ही होता है तो आत्मलाभ प्रतीत नहीं होता। (ये) सभी (कार्य) आत्मज्ञ पुष्पों ने मिथ्याचारित्र कहा है। जैन नाम धरानेवाले भी मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान सहित जो व्रत धारण करते हैं, वह भी कुचारित्र है और अन्यमती की ऐसी क्रियाएँ खेदखिन्न होकर करना, वह भी मिथ्याचारित्र है। स्व-पर का विवेक नहीं होता।

यह मार्ग तो अत्यन्त ज्ञानसम्पन्न विवेक है। इसमें दूसरी कोई क्रिया, राग की क्रिया-क्रिया उसके स्वस्व में नहीं है। आहा...हा...! ऐसा ज्ञान और दर्शन (हुए बिना) आत्मा का भान नहीं होता; और जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान रखकर चारित्र के नाम से कोई व्रतादि धारण करता है तो वह सब मिथ्या गृहीत चारित्र है गृहीत मिथ्याचारित्र है, भाई !

‘भावार्थ : (१) वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उसमें से किसी भी एक ही धर्म को पूर्ण वस्तु कहने के कारण से दूषित (मिथ्या) तथा विषय-कषायादि की पुष्टि करनेवाले कुगुस्त्रों के रचे हुए...’ कुमतिवालो के रचे हुए शास्त्र। समझ में आया ? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी, उनके द्वारा कथित और तदनुसार आचार्यों द्वारा रचे हुए (शास्त्रों) के अतिरिक्त कुमतियों द्वारा रचित... आ..हा..! **‘सर्व प्रकार के मिथ्या शास्त्रों को धर्मबुद्धि से...’** है ? ऐसा है न ? ऐसे तो सब पढ़ें, चाहे जो पढ़ें नहीं। यह शास्त्र है, इसमें से कुछ तत्त्व निकलेगा - ऐसी बुद्धि से **‘लिखना-लिखाना, पढ़ना-पढ़ाना, सुनना और सुनाना, उसे गृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं।’** समझ में आया ?

‘(२) जे शास्त्र जगत में सर्वथा नित्य...’ अर्थात् गुण ही माने और पर्याय न माने; एक ही माने, किन्तु अनेकपना न माने, अद्वैत माने, ‘और सर्व व्यापक ब्रह्मात्र वस्तु है...’ ऐसा माने। ‘अन्य कोई पदार्थ नहीं हैं - ऐसा वर्णन करता है, वह शास्त्र एकान्तवाद से दूषित होने के कारण कुशास्त्र हैं।’ एक ही आत्मा है, दूसरा कुछ नहीं, सर्वव्यापक सभी आत्मा एक ही जाति है। एक जाति अर्थात् संख्यारूप से एक (है) - ऐसा माननेवाले, उनके द्वारा रचे गये शास्त्र, सब कुशास्त्र है। उनका अभ्यास भी कुशास्त्र है। समझ में आया ? आहा...हा...!

‘(३) वस्तु को सर्वथा क्षणिक-अनित्य...’ बौद्ध मानते हैं न ? यह सामने लिया, उसके सामने। ‘अथवा (४) गुण-गुणी सर्वथा भित...’ माने। गुणी भगवान (आत्मा) और ज्ञान अत्यन्त भित। भित रहा तो गुणी कहना किस प्रकार ? ऐसे सर्वथा गुणी भगवान और उसका ज्ञानगुण, वह संयोग से कितने ही मानते हैं, क्योंकि वह ज्ञान अधिक प्रगट होता है न ? अधिक प्रगट कहाँ से हुआ ? कहाँ था ? - ऐसा कहते हैं। अतः बाहर से आया, परन्तु अन्दर शक्तिरूप से था और एकाग्र होने पर अन्दर से आया, वह गुण-गुणी एक थे तो आया - ऐसा उन्हें ख्याल में नहीं आया। समझ में आया ? पर्याय में अधिक (ज्ञान) होता है। अधिक हुआ कहाँ से ? (तो कहें) बाहर से आया है। अर्थात् गुण-गुणी की अभेदता का स्वीकार नहीं है। भगवान गुणी आत्मा, उसकी शक्ति का सत्त्व पूर्ण गुण उसकी एकाग्रता से पर्याय में दशा आती है। ऐसा अभेद न मानकर एकान्त गुण-गुणी का भेद ही मानना, (वह मिथ्याज्ञान है।)

‘किसी गुण के संयोग से वस्तु है - ऐसा कथन करें...’ किसी गुण के संयोग से वस्तु, ऐसा। यह कहा न ? ज्ञान का संयोग, दर्शन का संयोग बाहर से (होता है।) ‘अथवा (५) जगत का कोई कर्ता-हर्ता...’ माने। ऐसे शास्त्र सब कुशास्त्र हैं... ‘और नियंता है - ऐसा वर्णन करें...’ समस्त वस्तुओं को नियन्त्रित रखनेवाला एक भगवान है। समझ में आया ? वस्तु ही व्यवस्थित/ नियन्त्रित है, उसे कोई नियंता, कर्ता माने - ऐसे जो शास्त्र हों, वे सब कुशास्त्र है। उनका बहुत अभ्यास करना, पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब मिथ्याज्ञान है।

मुमुक्षु :- छापना ?

उत्तर :- यह सब उसमें अनुमोदन आवे न इस अपेक्षा से। उसे छापना (होवे तो) ? उसे छापने का आया, उसने किया न सब ! ऐसी पुस्तके बहुत छपाई है। वह लौकिक बात है। वह एक व्यापार की (बात है।)

तथा.. देखो ! इसमें जरा बात की है न ? कुमति रचित श्रुत का अभ्यास। है न उसमें कपिलादि ? उसमें सब आते हैं। जिस शास्त्र में मात्र पर की दया से संसार का नाश होता है - ऐसा बताया हो, वह शास्त्र भी कुशास्त्र है। तब उसमें से तर्क करे कि उसमें दया को धर्म बताया है न ? यह दयाधर्म व्यवहारधर्म बताया है। समझ में आया ?

सर्वज्ञ के शास्त्र में पर की दया का शुभभाव... निश्चय अपना स्वभाव, अरागी की दशा - श्रद्धा प्रगटी है, तब उस शुभभाव को व्यवहार धर्म कहा जाता है। व्यवहार धर्म से संसार का नाश नहीं होता। समझ में आया ? परमार्थ धर्म से संसार का नाश होता है, क्योंकि संसार, वह विकार है, राग, उदयभाव है। यह स्वभाव चिदानन्द है, उसके आश्रय से ही संसार का अभाव होता है - ऐसा न बताकर, मात्र परद्रव्य की दया के भाव से संसार का अभाव होना बतावे, वह कुशास्त्र है। आता है न ? 'मेघकुमार' के अधिकार में आता है। श्वेताम्बर में 'ज्ञातासूत्र' है न ? उसमें आता है। हाथी के जीव ने जीव की दया पालन की। हाथी था, हाथी। वर्णन सुना है न ? एक 'मेघकुमार' का जीव था। वह पूर्वभव में हाथी था। भगवान के समय में राजकुमार (था।) वह हाथी के भव में वन में हाथी स्वयं रहता। अग्नि लगी, अग्नि। बड़ी आग लगी, इसलिए एक जगह सब जानवर एक जगह इकट्ठे होने लगे। चारों ओर अग्नि लगी। उसमें वे सब इकट्ठे होते-होते भीड़ हो गयी। एक खरगौश ऊपर आया। ऊपर धक्का-मुक्की होती थी, उसमें कहीं जगह नहीं मिले। उसमें इसका (हाथी का) जो पैर था, और उस हाथी को खुजली हुई। बीचोंबीच एक योजन का मंडप था। एक योजन का मंडप समझते हो ? मंडप ! ये सब वृक्ष-वृक्ष साफ करके यह मंडप हाथियों ने बनाया था। उसमें सब इकट्ठे हुए। उसमें एक खरगौश आया। अब (उसे) कहीं जगह नहीं मिले। इधर से उधर धक्के खाये, चारों ओर से धक्का-मुक्की। इतने में हाथी ने खुजलाने के लिए पैर ऊँचा किया, वह जगह मिली तो (खरगौश) बैठ गया। उस हाथीने पैर रखते हुए ऐसी जरा नजर की। न की होती तब तो सब (पूरा हो गया होता।) क्योंकि वे अधिक पशु थे न ? इसलिए

नीचे ऐसे देखने पर खरगौश दिखा। (हाथी ने) पैर ऐसा का ऐसा अद्धर रखा। और उसमें 'परानुकम्पे जीवाणु' ऐसा पाठ है। इस प्राणी-जीव की अनुकम्पा से संसार घटा दिया, परित किया, घटाया ऐसा है। भाई ! सुना है न ? सुना है। यह बात सत्य नहीं है। समझ में आया ?

परजीव की दया के भाव से संसार का नाश होता है - (ऐसा कहे), वे शास्त्र सच्चे नहीं हैं - ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने का इसमें आशय है। तब उसने दूसरा लिया। लो ! उस शास्त्र में ऐसा कहा है... परन्तु भाई ! दिगम्बर सत् शास्त्र हैं, उनमें जितनी परदया का भाव है, उससे उसे पुण्यबन्ध का कारण कहा है और परम्परा मोक्ष का कारण कहा है - उसका अर्थ कि उसे छोड़कर स्थिर होगा। वह राग स्वयं तो बन्ध का ही कारण है। आहा...हा...! अबन्ध स्वभाव भगवान आत्मा, जिसमें भव और भव का भाव नहीं है। ऐसे आत्मस्वभाव के आश्रय से ही भव का अभाव होता है, बाकी तीन काल में दूसरे के आश्रय से नहीं होता। समझ में आया ?

भगवान आत्मा एक समय में ज्ञान और आनन्द का पूर प्रभु आत्मा है। उसके प्रवाह में तो भव के अभाव का ही प्रवाह होता है। उसमें भव है ही नहीं। भव का राग भी वस्तु में नहीं है। ऐसी वस्तु भगवान आत्मा का आश्रय करने पर ही भव का अभाव होता है। इसके अतिरिक्त यह राग, पुण्य और यह दया पालन की, इसलिए भव का नाश हो गया - यह शास्त्र के कथन सत्य नहीं है। समझ में आया ?

दान। दान में यह अधिकार आता है। श्वेताम्बर में 'विपाक अधिकार' है, विपाक सूत्र। दस दुःख विपाक, दस सुख विपाक। वे दश सुख विपाक ऐसे हैं कि मुनि तो सच्चे लिये हैं। लेनेवाले, समझे न ? बाकी तो पात्र सहित लिये हैं, परन्तु मुनि सच्चे लिये हैं और देनेवाला है, वह मिथ्यादृष्टि है। महा धनाढ्य है। ऐसे सिंहासन पर बैठा है, उसमें मुनि पधारते हैं। नीचे उतर कर पैर छूता है, बहुत आदर करता है। आदर करके आहार-पानी देता है। इससे उसके संसार का नाश हुआ- ऐसा बताते हैं। यह बात सत्य नहीं है। कुछ समझ में आया ? दशविपाक अधिकार है। सुख विपाक का पूरा विपाकसूत्र है। उसमें दशों ही बोल मिथ्यादृष्टि से मुनियों को आहार दिया (और अपना) संसार नष्ट किया - ऐसा पाठ है। वह तत्त्व की बात ही नहीं है। वे सत्य तत्त्व से विरुद्ध शास्त्र हैं। कुछ समझ में आया ? भाई !

यह बात उसमें कही थी, फिर उसे वे ले गये, देखो ! ऐसा उपदेश किया है। यह सबको कुशास्त्र कहते हैं। अपने में भी ऐसा आता है भाई ! ऐसा नहीं, भाई ! ऐसा नहीं आता, बापा ! तुझे पता नहीं भाई ! सर्व-सन्तों के कहे हुए, महामुनियों के कहे हुए - आता है न ? 'पंचास्तिकाय' में पहली गाथा में ऐसा आता है। महाश्रमण कथित या फिर उनके अनुसार महासंतो से कथित, दिगम्बर सन्त - 'कुन्दकुन्दाचार्य', 'पूज्यपादस्वामी', 'समन्तभद्राचार्य', 'नेमिचंद्राचार्य', 'अमृतचंद्राचार्य' इत्यादि महासन्तो द्वारा कहे गये। उनमें जगह-जगह स्वद्रव्य के आश्रय बिना पर से मोक्ष का धर्म का लाभ होता है - ऐसा हो ही नहीं सकता। समझ में आया ? और उस शास्त्र को जो कहना है, वह समझता नहीं तो उसे स्वयं को शास्त्र का अर्थ करनेवाले को कुशास्त्र हो पड़ा है। समझ में आया ? आहा...हा...! विवाद तो विवाद...!

कहते हैं कि ऐसा जो पर को दान (दे), उसमें शुभभाव होता है। शुभभाव होता है, क्योंकि पराश्रित व्यवहार, स्वआश्रति निश्चय। अतः जितना पराश्रितभाव होता है - साक्षात् तीर्थकर हो, उन्हें आहार देने का भाव भी शुभ है, परन्तु वह जीव समकिती और ऐसा ही होता है, इस कारण मुक्ति का पात्र होता है। समझ में आया ? मुनि या तीर्थकर छद्मस्थ हो और कोई दूसरा उन्हें आहार देने का भाव करे, इतने भावमात्र से भव का अभाव (होवे तो) यह राग से भव का अभाव (हुआ) - ऐसा हो ही नहीं सकता। समझ में आया ? इस राग के कारण से, दान से भव का अभाव माने तो वह शास्त्र ही सत्य नहीं है। सत्य शास्त्र तो उसे कहते हैं कि जो वस्तु स्वभाव, एक समय के विकल्प बिना की चीज़, ऐसी चीज़ की दृष्टि-ज्ञान और उसका आश्रय करने से ही भव का अभाव होता है - यह कथन अनादि-अनन्त सत्य सर्वज्ञ के घर का है। यह कथन-शास्त्र है, इससे विरुद्ध कथन सम्यक् शास्त्रों में होता ही नहीं। सम्यक् शास्त्र में विरुद्ध होता ही नहीं। समझ में आया ?

मिथ्याशास्त्र में तो ऐसी खुल्ली बातें होती हैं कि इस प्रकार देखो, ऐसा दिया और परित संसार किया। समझ में आया ? परन्तु किसे यह विचार मंथन करना है ? सत्य क्या है ? जहाँ पड़े वहाँ पड़े और उस में (रह गये), हो गया। समझ में आया ? ऐसा दान (दे), पर को अभयदान दे तो भी क्या ? शुभभाव है। अब, यह कहते हैं कि देखो ! 'पद्मानन्दि पंचविंशति' में अभयदान में भव का अभाव कहा है। ऐसे लेख आते हैं, लो ! परन्तु वह तो दूसरी बात है। समझ में आया ?

स्व-आश्रित निश्चय अर्थात् सत् पराश्रित व्यवहार अर्थात् उपचार। यह सिद्धान्त समझे बिना, दूसरे प्रकार से कथन किया हो, और उसे माने तो वह सब कुशास्त्र का ज्ञान है। समझ में आया ?

‘महाव्रतादि का शुभभाव...’ लो ! महाव्रत है, वह भी शुभभाव-पुण्य है। अणुव्रत और महाव्रत, वह आस्रव है। ‘तत्त्वार्थसूत्र-मोक्षशास्त्र’ में ‘उमास्वामी’ ने कहा है। ‘तत्त्वार्थसार’ में ‘अमृतचंद्राचार्य’ ने (भी) ऐसा ही कहा है कि अब, हम पुण्य की बात करेंगे कि जो निमित्तस्व से, सहायस्व से व्रत होते हैं। पाप की नहीं, परन्तु यह पुण्यभाव-पुण्यास्रव है। अहिंसां, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह - पाँच भाव महाव्रत हैं... समझ में आया ? वह शुभभाव है।

जो शास्त्र का स्वाध्याय पर तरफ के लक्ष्यवाला भी शुभभाव है, उससे निर्जरा और संवर कभी सत्शास्त्र में कहा ही नहीं गया होता है। समझ में आया ? उसका तो आधार देते हैं। ‘धवल’ में कहा है। अरे...! भगवान ! बापू ! ऐसा नहीं, भाई ! ‘जयधवल’ की तो दृष्टान्त देते हैं। शुभ-उपयोग और शुद्ध उपयोग दो से निर्जरा है। इसके अतिरिक्त कोई आधार नहीं है। उसका अर्थ यह है, शुद्ध उपयोग से पुण्य-पाप दोनों की निर्जरा होती है, शुभ से जरा अशुभ की निर्जरा होती है - ऐसा गिनकर निमित्त कहा है। वस्तु शुद्धता के आश्रय बिना पुण्य-पाप दोनों की निर्जरा नहीं होती और उसका नाम ही वास्तविक निर्जरा है।

निर्जरा की व्याख्या - शक्ति की शुद्धता की वृद्धि। शुद्धता की वृद्धि क्या शुभभाव के आश्रय से होगी ? समझ में आया ? इसलिए सम्यक्शास्त्रों में ‘धवल’ आदि, ‘जयधवल’ आदि ने तो यथार्थस्व से जो कहा है, वह कहा है। उसका अर्थ करनेवाले को भूल होती है। समझ में आया ? और यह तो जिनके शास्त्रों में स्पष्ट बात लिखी हो, पाँच महाव्रत निर्जरा के स्थान हैं। ‘ठाणांग’ में ऐसा कथन है। समझ में आया ? पाँच महाव्रत, स्वयं अहिंसा आदि निर्जरा के स्थान है - यह बात ही झूठ है। पराश्रय से जितना विकल्प उत्पन्न हो, वह निर्जरा और संवर बिलकुल होता ही नहीं। वहाँ ‘द्रव्य संग्रह’ में कहा हो कि व्यवहार से अशुभ की निवृत्ति। यह तो व्यवहार का कथन है। अशुभ से निवृत्ति हुई है, उसे व्यवहार संवर कहा है, परन्तु दृष्टि सम्यक् है, शुभाशुभ दोनो ही विकल्प, वह आस्रव है। उन में से जितना दृष्टिपूर्वक अशुभ से निवृत्त हुआ, उसे व्यवहार संवर कहा है। दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। समझ में आया कुछ ?

ऐसा जिनके शास्त्रोंमें स्पष्ट है कि यह महाव्रतादि पुण्यास्त्रव उनसे 'तथा मुनि को आहार देने के शुभभाव से...' पहले अभयदान आया था और यह पात्रदान। (इससे) संसार कम या न्यून होता है (-ऐसा जिस शास्त्र में कहा हो, वह कुशास्त्र है।) समझ में आया ? आत्मा... यहाँ तो क्या कहते हैं ? कि कुमति आदि द्वारा रचित श्रुत का अभ्यास अथवा कपिलादि रचित श्रुत का अभ्यास, उसे मिथ्याज्ञान कहा जाता है। इसलिए जो शास्त्र आत्मा के चैतन्य के शुद्धभाव के अन्तर अवलम्बन के अतिरिक्त, जितने पुण्य के विकल्प उठते हैं, उनके द्वारा संसार का नाश होना बतलाते हैं, वे सब शास्त्र कुमति के द्वारा रचित कुशास्त्र हैं। समझ में आया ?

यह 'छहढाला' चलती है। कपिलादि रचित श्रुत का अभ्यास... तेरहवां है, तेरहवां। उसमें दो अर्थ हैं - कुमति आदि रचित श्रुत को अभ्यास। किसी जगह कपिलादि लिखा है, किसी जगह कुमतिने लिखा है। कुमति से लिखे हुए अर्थात् जिसमें सम्यग्ज्ञान चैतन्यमूर्ति भगवान, उसके आश्रय से दृष्टि, उसके आश्रय से ज्ञान और उसके आश्रय से चारित्र (होता है।) इसके अतिरिक्त पराश्रित ज्ञान, पराश्रय से राग, व्रतादि और पराश्रय की श्रद्धा इनसे जन्म-मरण का अन्त आवे - ऐसी बात कही होवे तो वह सुशास्त्र नहीं है। समझ में आया कुछ ? आहा...हा...! बहुत बात हुई।

'उपदेश देने के शुभभाव से परमार्थ धर्म होता है - इत्यादि अन्यधर्मियों के ग्रन्थों में जो विपरीत कथन है...' वह कौन कहता है ? वर्तमान में वह ऐसा एक पन्थ है। उपदेश करेंगे तो अपने को धर्म होगा। उपदेश करना, वह धर्म। उपदेश - वाणी तो जड़ है। समझ में आया ? वह तेरापन्थ में ऐसा है। स्थानवासी का एक तैरापन्थ भाग है न ? तुलसी ! उन लोगों का ऐसा अभिप्राय है कि उपदेश से निर्जरा होती है और धर्म होता है। इसी तरह, दूसरा कोई जीव उसे मारता हो तो बचाना - ऐसा वे नहीं कहते, परन्तु उसे उपदेश देना। भाई ! किसी जीव को मारना ठीक नहीं है - इत्यादि। इस उपदेश से उपदेश देनेवालो का धर्म होता है। झूठ बात (है।) उपदेश, वह वाणी की क्रिया है, उससे आत्मा को धर्म बिलकुल नहीं होता। उपदेश देने के काल में जो विकल्प उठता है, वह भी पुण्यबन्ध है, उससे भी स्व को- आत्मा को धर्म नहीं होता। आहा...हा...! समझ में आया ? परन्तु जो कोई ऐसा मानता है या शास्त्र में, शास्त्र के बहाने मनवाता है कि उपदेश से दूसरे जीवों को बहुत लाभ होता है, आत्मा को धर्म का लाभ होता है - यह

बिलकुल झूठ बात है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- किसे हो ? वह तो उसकी स्वयं की पर्याय के कारण होता है। यह भगवान का मार्ग अलग प्रकार का है। यह तो सर्वज्ञ परमात्मा का पेट है। सूक्ष्म बात है। समझ में आया ?

वाणी निकलती है, वह तो स्वतन्त्र जड़ है। आत्मा उसका कर्ता है ? और वाणी निकली, इसलिए सामनेवाले को ज्ञान हुआ - ऐसा है ? वह तो आत्मा ज्ञानमूर्ति (है।) उसे उस समय के ज्ञानपर्याय होती है, तब वाणी को निमित्त कहा जाता है। वाणी से ज्ञान होता हो, तब तो सबको समान होना चाहिए। समझ में आया ? सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थंकर देव की दिव्यध्वनि सुननेवाले बहुत होते हैं - सबको समान ज्ञान होता है ? क्यों ? वाणी तो एक प्रकार की निकलती है। गणधर को चौदह पूर्व का द्वादश अंग का ज्ञान होता है। दूसरे को किंचित् हो जाए लो ! समझ में आया ? यह क्या कहलाता है ?

यह 'प्रद्युमन', 'रुकमणी' का पुत्र, वह जब खो गया, नारद भगवान से पूछने गये थे। 'सीमन्धर' भगवान त्रिलोकनाथ महाविदेहक्षेत्र में अभी बिराजमान हैं, अभी तीर्थंकर परमेश्वर विराजमान है। कौन ? सीमन्धर प्रभु अभी बिराजते हैं ये चौबीस तीर्थंकर तो मोक्ष पधारे, उन्हें देह नहीं है, वे तो सिद्ध है, परन्तु महाविदेहक्षेत्र में अभी 'सीमन्धर' भगवान आदि बीस तीर्थंकर शरीरपने विद्यमान है। वहाँ इन्द्र वाणी सुनते जाते हैं। यह सामायिक में आज्ञा नहीं लेते ? किसे पता है, कहाँ लेते होंगे ? भगवान महाविदेह क्षेत्र में विराजमान हैं। वह वाणी निकलती है, उसे इन्द्र सुनने जाते हैं। समझ में आया ? तो भी सभी सुननेवालों को एक सरीखा ज्ञान नहीं होता। क्यों ? कि वाणी से होता होवे तो सबको समान होना चाहिए। उसकी स्वयं की जितनी योग्यता, जितनी लायकात है, उतना ज्ञान उसे होता है, तब उतने प्रमाण में वाणी को निमित्त कहा जाता है। हैं ? आहा...हा...!

वीतराग परमेश्वर की ध्वनि निकलती है। ॐ ध्वनि ! बारह प्रकार की सभा है। नाग, बाघ, करोड़ देव सभा में बिराजते हैं। भगवान 'महावीर प्रभु' थे, तब भी सभा में करोड़ो देव-देवियां आते थे, सुनते थे। उन सबको समान (ज्ञान) नहीं होता था। तब उस वाणी के कारण से ज्ञान नहीं,

उसकी अपनी योग्यता के कारण से (ज्ञान होता है)। वाणी तो एक धारा से निकलती है, एक साथ पूर्ण ! जिसे बारह अंग का ज्ञान हुआ, उसे वह बारह अंग के ज्ञान में निमित्त कहलाई। वह क्या कहलाता है, यह कहा वह ? 'प्रद्युमन' 'नारद' पूछने गये तो 'नारद' को ऐसा लगा कि भगवान मुझे ऐसा कहते हैं। भगवान उसे ऐसा कहते हैं कि 'स्कमणी' का पुत्र उसके घर सोलह वर्ष में आयेगा... भगवान की वाणी में कहा (वह) अलग नहीं आता, भगवान की वाणी तो एक साथ ॐ ध्वनि इच्छा के बिना खिरती है; वे तो वीतराग हैं। केवली हैं, उन्हें राग नहीं होता। 'नारद' को ऐसा लगा कि 'स्कमणी' का पुत्र सोलह वर्ष में आयेगा ऐसा भगवान कहते हैं। उसे उस प्रकार का उघाड़ में (वाणी) उतनी निमित्त हुई। समझ में आया ?

वाणी, निमित्त कब कहलाती है ? कि जिसे जितनी योग्यता प्रकट हुई, उतने ज्ञान को वह निमित्त कहलाती है। वह तो पूरा प्रकट; गणधर को बारह अंग का ज्ञान प्रकट हुआ तो बारह अंग में निमित्त कहलाई। उसे इतना कहा तो भगवान की वाणी उतने में निमित्त कहलाई। इसमें वस्तु स्वतन्त्र सिद्ध होती है या उसके कारण होता है - यह सिद्ध होता है ? समझ में आया ? इसलिए कोई उपदेश की वाणी से आत्मा को लाभ होता है - ऐसा माने अथवा शास्त्र में इस बहाने मनवावे, वह कुशास्त्र है। समझ में आया ? स्वयं को तो जितना आत्मा श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति में, दृष्टि में लिया है, उसकी जितनी एकाग्रता वर्तती है, वह उसे लाभ का कारण है। विकल्प उत्पन्न हुआ, वह भी आत्मा के धर्म और एकाग्रता का कारण नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया ?

यह (संवत्) १९८२ के साल में नहीं कहा था ? 'तिरे वह तारे' - ऐसा सूत्र रखा था। तब वह आया (और) कहा, ऐसा नहीं; यह लिखाओ कि 'तारे, वह तारे।' मैंने कहा - किसे ढूँढने जाना ? १९८२ के साल में 'वढ़वाण' में (एक मुमुक्षु) है; उसने व्याख्यान पर लिखा था। १९८२ के साल, चालीस वर्ष हुए। 'वढ़वाण' में स्थानकवासी के 'सुन्दर वोरा' के उपाश्रय में व्याख्यान चलता था। 'तारे, वह तारे' - (ऐसा) वह कहने लगा। 'तिरे, वह तारे' - लिखा था। एक वकील था, 'वढ़वाण' में हलवाई था। वह वकील आया-महाराज ! ऐसा नहीं; 'तारे, वह तारे।' (हमने) कहा - कितनों को ढूँढने जाना ? दूसरा नहीं तारे तो आत्मा का स्वयं का तरना चला जाता है ? वाणी नहीं हो... समझ में आया ? वकील था, एक वकील था। कुछ तर्क करना चाहिए

न ? तर्क किया। भाई ! यहाँ ऐसा तर्क नहीं चलता, कहा।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- वह तो बिचारा साधारण रीति से बात करता था। ऐसे तो हमारे प्रति प्रेम था न ? सबको प्रेम था न ! किसी को अश्रद्धा नहीं, परन्तु ऐसा कि ऐसा मानो कोई वकील है न (तो) तर्क करना, ऐसा। दूसरा एक भी प्राणी नहीं तरे, आत्मार्थी अपने ज्ञान-ध्यान में रहकर केवल (ज्ञान) प्राप्त करके मोक्ष चला जाए; कहने का विकल्प भी न हो और वाणी भी न हो - इससे कहीं लाभ रुक जाए - ऐसा नहीं है।

यह दूसरे की अपेक्षा से बात की है, हाँ ! तेरापन्थी ऐसा मानते हैं। उपदेश देना धर्म है - ऐसा वे मानते हैं। निर्जरा है - ऐसा मानते हैं। इस अपेक्षा से लिखा है। तब (कहे), हमारे शास्त्रों में से... ऐसा नहीं भाई ! ऐसा कहना, उसके लिए कहा है। व्याख्यान में बहुत बार आया हो न ! उसमें से फिर लिखा गया है। **‘जो विपरीत कथन हैं, वे एकान्त और अप्रशस्त होने से कुशास्त्र हैं।’** वे सच्चे शास्त्र नहीं कहलाते। **‘क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की यथार्थता नहीं है। जहाँ एक तत्त्व की भूल हो, वहाँ सातों तत्त्वों की भूल होती ही है - ऐसा समझाना चाहिए।’** एकबार यह बात बहुत अच्छी की। एक तत्त्व की संवर-निर्जरा की भूल होवे, वहाँ आस्रव कितना होता है ? अधिक संवर होवे तो आस्रव थोड़ा होता है - इसका भी जिसे पता नहीं हो, थोड़े संवर से केवल पाते हैं (ऐसा माने तो) केवल का भी उसे मान नहीं है। उसे सातों तत्त्वों का ख्याल नहीं होता। एक तत्त्व की भूल से सातों ही तत्त्वों का ख्याल नहीं - ऐसी जरा सूक्ष्म बात है, भाई ! समझ में आया कुछ ? ऐसे तत्त्वों के कहनेवाले कुशास्त्रों का अभ्यास करना, कराना और करते हुए का अनुमोदन करना; पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना यह सब कुशास्त्र, कुज्ञान कहलाता है। कुशास्त्र कैसे हैं ? **‘सो हैं कुबोध बहु देन त्रास।’** बहु देन त्रास। बहुत त्रास देने का इस मिथ्याज्ञान का फल है। इसलिए धर्मार्थी जीव को कुशास्त्रों का ज्ञान छोड़कर सुशास्त्रों का अभ्यास करना। यह बात यहाँ कहना चाहते हैं। (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)



वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल ७, गुरुवार
दि. २८-१-१९६६, गाथा १३ से १५ प्रवचन नं.- ११

‘दौलतरामजी’ कृत ‘छहढाला’, उसकी दूसरी ढाल। १३वीं गाथा हुई। कुशास्त्र ऐसा आया न अन्तिम ? कुमति अथवा कपिलादि रचित श्रुत को अभ्यास ‘**सो है कुबोध बहु देन त्रास**’ - ऐसा। कुशास्त्रों का ज्ञान, चार गति के दुःख देनेवाला है। उनमें अनेक प्रकार के तत्त्वों की विरुद्ध बात की होती है और उसे स्वयं माने तो उस कुशास्त्र की श्रद्धा से चार गतियों में भटकना होता है। अन्तिम शब्द कहा... ‘**जहाँ एक तत्त्व की भूल होती है, वहाँ सातों ही तत्त्वों की भूल होती ही है - ऐसा समझना।**’ यह बात बहुत बार आ गयी है। समझ में आया ?

जैसे कि मुनिपना आत्मा को तीन कषाय के अभावरूप संवरदशा हो, वहाँ उन्हें विकल्प बहुत ही मन्द (होता है)। आहार-पानी आदि लेने के विकल्प का आस्रव इतना ही होता है, उन्हें वस्त्र-पात्र आदि लेने का विकल्प नहीं होता। जिन्होंने वस्त्र-पात्रसहित के रागवाला मुनिपना मनाया है, उन्हें नौ तत्त्वों की - सात ही तत्त्वों की भूल हुई; क्योंकि उसके (मुनिदशा के) प्रमाण में जो उग्र संवर चाहिए, उस संवर का उन्हें भान नहीं रहा और उग्र संवर हो, वहाँ आस्रव उत्पन्न ही मन्द होता हो; वस्त्र-पात्र का विकल्प नहीं होता; निर्दोष आहार - जल ग्रहण करने का, अट्टाईस मूलगुण पालन का ही विकल्प होता है। अतः उन्हें आस्रवतत्त्व की भूल भी है। संवर-निर्जरातत्त्व की उग्रता हो, वहाँ इतना आस्रव होता है और तीव्र आस्रव होने पर भी, वहाँ संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारणरूप साधुपना मनाया, यह संवर-निर्जरा की भी भूल है और इस मन्द संवर-निर्जरा से मोक्ष मनाया, वह मोक्षतत्त्व की भी भूल है। आत्मा की भी भूल है। आत्मा की शक्ति की व्यक्तता, छठवें गुणस्थान में बहुत उग्रता चाहिए, उतनी शक्ति की व्यक्तता नहीं

मानी तो उसे जीवतत्त्व की भी भूल है। उस आस्रव में तीव्र बन्ध पड़ा - ऐसा बन्धतत्त्व, उन्हें - (मुनि को) नहीं हो सकता; और अजीव का संयोग, जिसे मुनिपने की उग्र संवरदशा हो, उसे अजीव का संयोग-वस्त्र-पात्र का संयोग नहीं होता। यह अजीवतत्त्व की भूल भी है। सातों ही तत्त्वों की (भूल है)। एक तत्त्व की भूल में सातों ही तत्त्व की भूल है। समझ में आया ? यह बहुत बार कहा जा चुका है।

ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर को भी जो नहीं माने और माने तो विपरीतरूप से माने तो एक तत्त्व को भूलने पर समस्त तत्त्वों की भूल होती है। समझ में आया ? सर्वज्ञ को एक समय में दर्शन और दूसरे समय में ज्ञान (होता है) - ऐसा मानने पर खण्ड-खण्ड ज्ञान हो गया। उसे अखण्ड वीतरागदशा में पूर्ण उपयोग का ख्याल नहीं रहा तो उसके कारणरूप उग्र पुरुषार्थ चाहिए, उस पुरुषार्थ से एकरूप उपयोग होना चाहिए, उस काल के पुरुषार्थ का भी ज्ञान नहीं रहा। जिसे ऐसी दशा होवे, उसे आहार-पानी की इच्छा नहीं हो सकती; उसे आहार-पानी का संयोग ही नहीं होता। ऐसी दशा - वीतराग परमानन्द भावमोक्ष हो गया, उसे आहार-पानी की इच्छा नहीं है और इच्छा के बिना वह आहार-पानी का संयोग नहीं होता। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है! इसलिए सच्चे शास्त्र क्या हैं, मिथ्या क्या है - इसकी खोज करनी चाहिए और विचार करके निर्णय करना चाहिए।

गृहीत मिथ्याचारित्र का लक्षण

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विध देहदाह;
आतम अनात्मके ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन॥१४॥

अन्वयार्थ :- (जो) (जो) (ख्याति) प्रसिद्धि (लाभ) तथा (पूजादि) मान्यता और आदर-सन्मान आदिकी (चाह धरि) इच्छा करके (देहदाह) शरीर को कष्ट देनेवाली (आतम अनात्म के) आत्मा और परवस्तुओं के (ज्ञानहीन) भेदज्ञान से रहित (तन) शरीर को (छीन) क्षीण (करनी) करनेवाली (विविध विध) अनेकप्रकार की (जे जे करनी) जो-जो क्रियाएँ हैं, वे सब (मिथ्याचारित्र) मिथ्याचारित्र हैं।

भावार्थ :- शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान न होने से जो यश, धन-सम्पत्ति, आदर-सत्कार आदि की इच्छा से मानादि कषाय के वशीभूत होकर शरीर को क्षीण करनेवाली अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता है, उसे 'गृहीत मिथ्याचारित्र' कहते हैं।।१४।।

अब, 'गृहीत मिथ्याचारित्र का स्वरूप।' ऐसी मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञानसहित जिसके भले ही राग की मन्दता आदि की क्रिया हो... समझ में आया ? वह शरीर को जीर्ण करनेवाली है, आत्मा की शान्ति प्रगट करनेवाली नहीं, विकार को क्षीण करनेवाली नहीं, परन्तु देह को क्षीण करनेवाली क्रिया - ऐसी कठोर होवे, पंचाग्नि आदि, वह कीलों में सोते है न ? क्या कहलाता है वह ? बाण... बाण। बाणशय्या में सोवे, पंचाग्नि - पाँच-पाँच छाणा अग्नि में पड़े, पानी में यहाँ तक डूबकर ऐसे हाथ ऊँचा करके रहे... है न इसमें। दृष्टान्त है, इसमें। दृष्टान्त इसमें हैं। यह मुल है और इसमें है। इसमें है। है न ? दृष्टान्त है। पानी में है न ? चौदहवीं में दृष्टान्त डाला है, देखो ! पानी में खड़ा... ठण्डा पानी होवे और खड़ा रहे। वह तो देह को कष्ट है, उसमें आत्मा का धर्म नहीं है। आत्मा के भान बिना ऐसी क्रियाएँ करे, वे सब शरीर को कष्ट देनेवाली अथवा शरीर को जीर्ण करनेवाली हैं। आत्मा का विचार जीर्ण हो या नष्ट हो - ऐसा कुछ वहाँ नहीं है। यह ! १४वीं गाथा में कहते हैं, देखो !

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विध देहदाह;

आतम अनात्मके ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन।।१४।।

देखो ! आत्मा और अनात्म-भाषा रखी है, हाँ! आत्मा और शरीर - ऐसी नहीं रखी; फिर भले ही अर्थ में शरीर डाले परन्तु सब (लिया है)। आत्मा, शरीर की क्रिया स्वतन्त्र है - उसका भान नहीं है; पुण्य-पाप के परिणाम बन्ध का कारण है, अनात्मा है - उसका पता नहीं है और आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध स्वरूप है, उसकी भी जिसे दृष्टि नहीं है। आत्मा और... है न ?

'जो...' कोई 'प्रसिद्ध...' आत्मा का भान नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्द में आनन्द है - ऐसी दृष्टि, रुचि, अनुभव नहीं है - ऐसे अज्ञानी मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान सहित, गृहीत और अगृहीत दोनो। यहाँ गृहीत की बात है। प्रसिद्धि-अपनी प्रसिद्धि के लिए क्रियाएँ करते हैं,

क्योंकि आत्म प्रसिद्धि का पता नहीं है। समझ में आया ? आत्मप्रसिद्धि... देखो ! यहाँ प्रसिद्धि शब्द रखा है न ? ख्याति, आत्मख्याति आता है न ? टीका।

आत्म ज्ञायक चिदानन्द अखण्ड आनन्दमय है - ऐसी दृष्टि किये बिना आत्मा की प्रसिद्धि, ख्याति धर्म नहीं हो सकता। समझ में आया ? आत्मा एक समय में अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध है। वह पुण्य-पाप, दया, दान आदि के विकल्प-राग से रहित है। ऐसी आत्मा की प्रतीति और भान बिना उसे आत्मा की प्रसिद्धि की, ख्याति-प्रसिद्धि होती नहीं। हैं ? (जो) आत्मप्रसिद्धि के लिए नहीं करता, वह पर के लिए - बाह्य प्रसिद्धि के लिए करता है। दुनिया में प्रसिद्ध होऊँ, कुछ लाभ मिले, फायदा मिले, शिष्य हों, प्रतिष्ठा हो, कीर्ति हो - ऐसे हेतु से करनी (करता है)। मिथ्याश्रद्धा-मिथ्याज्ञान, कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यतासहित जो ऐसी क्रियाएँ करते हैं, वे सब बाहर के किसी लाभ के लिए करते हैं, अन्दर के आत्मा के लाभ के लिए नहीं। कहो, ठीक है ? आत्मा जाना नहीं, कि आत्मा कौन है ? आत्मा राग, पुण्य-पाप के राग से रहित है - ऐसी दृष्टि के बिना अज्ञानी को आत्मा का लाभ होता ही नहीं।

अज्ञानी मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान में बाहर के लाभ के लिए सब करता है। पूजा, मान्यता, बाहर में प्रसिद्धि होना, दूसरे लोग माने अथवा 'आदर इत्यादि की इच्छा करके ((देहदाह) शरीर को पीड़ा करनेवाली...' भाषा तो ऐसी ही कही जाती है न ! वरना शरीर को पीड़ा कुछ नहीं है, परन्तु शरीर जीर्ण होता है न ? ऐसा। यह पंचाग्नि करे, तप करे, यह महीने-महीने के उपवास करे-देखो न ! भान बिना जैन में भी (करते हैं)। उसे पता नहीं, कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र कोन ? सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र कौन ? आत्मा और अनात्मा में सब आ गया - आस्रव, बन्ध, अजीव, पुण्य और पाप। वह अनात्मा कौन है, किस प्रकार है और आत्मा क्या है ? - इसके भान बिना अज्ञानी 'शरीर को पीड़ा करनेवाले...' समझ में आया ?

देखो ! 'आत्मा-अनात्म के ज्ञान हीन...' सिद्धान्त यहाँ है। जिसे गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्याचारित्र है या जिसे अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र है, उसे आत्मा-अनात्मा का भान नहीं है। आत्मा और अनात्मा अर्थात् परवस्तु के भेदज्ञान से रहित - 'यह शरीर की क्रिया में कर सकता हूँ, मैंने

आहार-पानी छोड़े, यह अजीव की क्रिया मैंने की, मैंने आहार नहीं लिया तो नहीं लिया गया, लिया तो ले सके' - ऐसे जड़ पदार्थ का उसे भान नहीं है कि जड़ की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। अनात्मा का भान नहीं है, उसे पुण्यपरिणाम का भान नहीं है। इस पर के त्याग में जरा राग मन्द होता है, वह तो शुभ है; वह कहीं धर्म नहीं है। धर्म तो आत्मा के शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि में - भान में स्थिर होना, उसे धर्म कहते हैं। अज्ञानी को उस धर्म का पता नहीं है, भले ही जैन सम्प्रदाय में पड़े हों ! बाहर में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का भी पता नहीं होता, वे सब ऐसी करनी करके हैरान होते हैं - ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

वर्षातप करते हैं न ? देखो न ! खेंच-खेंचकर करते हैं। भान नहीं होता देव का, गुरु का, शास्त्र का, नहीं होता आत्मा-अनात्मा का भान। जीव कौन ? पुण्य कौन ? आस्रव कौन ? बन्ध कौन ? और अजीव कौन ? बाहर की क्रिया में देह का जीर्ण (क्षीण) किया करते हैं। 'शरीर को क्षीण करनेवाली...' ये सब क्रियायें हैं। ये क्रियायें विकार का नाश करनेवाली नहीं है। आत्मा की पुष्टि करनेवाली नहीं है, वे तो शरीर को क्षीण करनेवाली हैं। शरीर जीर्ण हो जाए तो लोग ऐसा जाने कि आहा..हा.. ! क्या तपस्वी ! कैसी तपस्या की ! ओ..हो..हो.. ! एक दिन खाना और एक दिन उपवास। धूल में भी नहीं है। जहाँ आत्मा-अनात्मा का ज्ञान नहीं, स्व-पर का विवेक नहीं, मैं चिदानन्द ज्ञाता-दृष्टा हूँ, रागादि के परिणाम उत्पन्न हों, वह भी विकार है और शरीरादि की-आहारादि की क्रिया तो जड़ की क्रिया है। इस तरह जिन्हें आत्मा और अनात्मा का भान नहीं है, वे सब शरीर को क्षीण करते हैं। भाई !

मुमुक्षु :- आन्दोलन करते हैं न ?

उत्तर :- अज्ञान का आन्दोलन करते हैं - ऐसा यहाँ कहते हैं। आत्मा कौन ? ज्ञाता-दृष्टास्वरूप है। उसकी क्रिया में राग, विकल्प उठे, वह भी उसकी क्रिया नहीं है।

मुमुक्षु :- तपस्या करने से लाभ ?

उत्तर :- हाँ, होता है न ! इस तपस्या से तपस्या करे, उसे मिथ्यात्व का लाभ (होता है)। मिथ्यात्व का लाभ होता है। कहते हैं न ? यहाँ क्या बात चलती है ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह तपस्या-तपस्या, वह दूसरी बात, यह तपस्या नहीं, अज्ञानी माने वह बात नहीं। यह तो अज्ञानी माने वह नहीं।

यह तो आत्मा के आनन्द में चैतन्य का अतीन्द्रिय आनन्द का पहला सम्यग्दर्शन हुआ है - ऐसे आनन्द में स्थिर होने को तपस्या कहते हैं, उसे तपस्या कहा जाता है। यह तो सब लंघन है। आत्मा तीर्थकर हो उन्हें नहीं। यहाँ तो सम्यग्दर्शन में पहले आत्मा के आनन्द का अनुभव किया, फिर सम्यग्ज्ञान में अन्तर शुद्धि बढ़ाकर और फिर शुद्धता में आनन्द में - अतीन्द्रिय आनन्द में गुम हो गये कि जिन्हें इच्छा ही नहीं आयी, आहार नहीं आया। उसे अतीन्द्रिय आनन्द में गुम हुए को, लीन हुए को तपस्या कहा जाता है, बाकी लंघन है। समझ में आया ?

आत्मा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के भान बिन जितना कुछ करता है, वह सब संसार परिभ्रमण के खाते में है। होगा ही। अनादि का नौवें ग्रैवेयक गया, अनन्त बार जैन का साधु हुआ, पंच महाव्रतों का पालन किया; जिनदीक्षा लेकर अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया.. वह कैसी दीक्षा होगी ? हजारों रानियों का त्याग किया, राग की मन्दता थी। आत्मा, राग से भिन्न चैतन्यमूर्ति आनन्द है, उसके अनुभव की दृष्टि के बिना उन क्रियाओं में संसार फलित हुआ। जन्म-मरण मिला। मिला, जन्म-मरण मिटा नहीं। बात ऐसी है जरा, भाई !

आत्मा और अनात्मा के भान बिना... देखो न, क्या है ? शब्द है या नहीं ? यह विकल्प उठता है। आहार छोड़ूँ या रखूँ - यह भी विकल्प, राग, आस्रवतत्त्व है, वह आत्मा नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्द तत्त्व बिन्न है। देह की क्रिया, आहार रखना-छोड़ना यह जड़ की क्रिया है, आत्मा की नहीं। ऐसे आत्मा-अनात्मा के 'भेदज्ञान से रहित शरीर को क्षीण करनेवाली...' क्रिया है, वह तपस्या अज्ञानी की जो है वह। समझ में आया ?

एक बालतप और एक ज्ञानतप - शास्त्र में दो प्रकार के तप हैं। आत्मा के - चैतन्य के शुद्ध आनन्दकन्द के अनुभव बिना जितनी क्रियायें करे, उन सबको बालतप कहा जाता है। महीने-महीने के उपवासा करो, बारह-बारह महीने के उपवास करो - सब बालतप, मूर्खता से भरा तप है। उसमें आत्मा को ज़रा भी लाभ नहीं है, (परन्तु) नुकसान अनन्त अनन्त (है।) मिथ्यात्व का नुकसान है। धर्म नहीं और धर्म माने। निर्जरा नहीं होती और बन्ध होता है, उसे

निर्जरा माने। भाई ! है ?

मुमुक्षु :- भलाभोला..।

उत्तर :- भला भोला माना अर्थात् मूर्खाई का। भला-भोला कैसा यहाँ ? वीतरागमार्ग में भला-भोला क्या काम आवे ? यहाँ तो नौ तत्त्व हैं या नहीं ? तो आत्मा किसे कहना ?

मुमुक्षु :- स्थिर होने का काम है न ?

उत्तर :- परन्तु किसका तप ? किसमें स्थिर होना ? अभी चारित्र नहीं हो, दर्शन नहीं हो, ज्ञान नहीं हो, तो उसे तप कहाँ से आया ? सम्यग्दर्शन के बिना तप और चारित्र तीन काल में सच्चा नहीं होता। एकके बिना के शून्य होते हैं, रण में चिल्लाकर रोने जैसा है।

आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है। अन्दर पुण्य-पाप, दया-दान, व्रत का परिणाम उठे, तप का (परिणाम आवे कि) आहार छोड़ूँ, वह तो आस्रव-पुण्यभाव है। देहादिक की क्रिया, आहार-पानी छूटना, वह तो जड़ की क्रिया है। वह जड़ का भाव, विकारीभाव और अविकारीभाव - इनके अन्तर में भेदज्ञान और अनुभव के बिना जितनी तपादि की क्रिया की जाती हैं, वह शरीर को क्षीण करने के लिए हैं; आत्मा के लाभ के लिए नहीं।

‘भेदज्ञान से रहित शरीर को क्षीण करनेवाली (विविध...विधि)...’ देखो ! **‘अनेक प्रकार की (जे जे करनी) जो-जो क्रियायें हैं, वे सब मिथ्याचारित्र कहलाती हैं।’** अज्ञानी का वह मिथ्याचारित्र है, जिसमें से संसार बढ़ जाता है। सूक्ष्म बात है, बापू ! उसे अभी सुनने नहीं मिला। अनादि से भटका-भटक (करता है)। यह तो अभी गृहीत मिथ्यात्व, पहले तो अगृहीत (मिथ्यात्व की) बात की है। समझ में आया कुछ ? सात तत्त्व की श्रद्धा (विपरीत श्रद्धा) की बात हो गई।

‘भावार्थ :- शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान नहीं होने से...’ मूल पाठ में ही यह है। वहाँ पर और आत्मा-अनात्मा कहा, इसलिए अनात्मा में सब पूरी व्याख्या (आ जाती है)। आत्मा और अनात्मा अर्थात् पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध, अजीवादि ऐसा। आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध जानने-देखनेवाला, वही उसकी चीज़ है और पुण्य-पाप के विकल्प उत्पन्न हों, वह तो आस्रवतत्त्व है। शुभ-अशुभभाव उत्पन्न हों - यह किया, यह छोड़ा, वह सब आस्रवतत्त्व है। जीवतत्त्व पृथक्

आस्रवतत्त्व पृथक् । कर्म, शरीर, आहार-पानी तो अजीवतत्त्व, जड़तत्त्व है । उस जड़ का ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ - यह मान्यता अजीव की मिथ्यादृष्टि की है । जीव राग करे और राग का कर्तव्य उसका है - यह जीवतत्त्व की भूल है । राग, शुभभाव मुझे धर्म का कारण होता है - यह शुभ, आस्रवतत्त्व की भूल है । ऐसे जीव और अजीव अथवा आत्मा और अनात्मा के ज्ञान बिना, श्रद्धा-अन्तर अनुभव के बिना जितना किया जाता है, वह सब मिथ्याचारित्र कहा जाता है । कहो, समझ में आया ?

देखो ! इसमें एक दृष्टान्त दिया है । बिचारा, देखो न ! करनी करके सूख जाए... अभी तो ऐसा भी कहाँ है ? यह तो नौवे ग्रेवेयक गया, तब तो इतनी चारित्र की क्रिया - इसकी मानी हुई... मानी हुई - पंच महाव्रत, अट्टाईस मूलगुण निरतिचार, नग्नदेह भी परन्तु यह राग की क्रिया है और शरीर की क्रिया जड़ है - ऐसा वह नहीं जानता । यह मेरा धर्म है, पंच महाव्रत का परिणाम, यह मेरा धर्म है - ऐसा मानता है । मूढ़ है । ह तो राग है । ज्ञानानन्द चैतन्य राग से भिन्न अखण्डानन्द प्रभु वीतरागी पिण्ड आत्मा है, उसकी अन्तर स्वभाव में दृष्टि, अनुभव बिना जो कुछ करे, वह सब उसे संसार में भटकने का (कारण) है ।

‘शरीर और आत्मा का भेदज्ञान नहीं होने से...’ भावार्थ है न ? वह यश के लिए ही करता है । आत्मा की प्रसिद्धि का पता नहीं । उस प्रसिद्धि का अर्थ यश किया है । आत्मा तो ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य है । सम्यग्दर्शन होने पर धर्मी को, सम्यग्दृष्टि को आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, तब तो उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है । समझ में आया ? भगवान् अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति वीतराग समस्वभावी स्वरूप उसका है । जैसा परमात्म का - परमेश्वर अरिहन्त का प्रगट है, इसका अप्रगट पूर्ण शक्तिरूप है । पूर्णानन्द का पूर्ण तत्त्व है - ऐसा जो अन्दर में भान (हुआ), उसे आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष पुण्य-पाप के परिणाम को हेयबुद्धि से मानता है । समझ में आया ? अज्ञानी को यह पता नहीं है । आत्मा का स्वाद क्या ? पुण्य-पाप का विकल्प उत्पन्न होता है, उनका स्वाद बेस्वाद है, जहर है, इसका उसे पता नहीं है । समझ में आया ?

‘शरीर और आत्मा का भेदज्ञान नहीं हो से यश...’ बस ! बाहर की प्रसिद्धि का ही

अन्तर हेतु है; आत्मा की प्रसिद्धि का पता नहीं है। 'धन...' अथवा तो लक्ष्मी मिलेगी। यह करे न ? ऐसी क्रिया करेंगे तो पुत्र होगा, पैसे मिलेंगे। मांगलिक करेंगे तो ऐसा होता है - यह सब मिथ्यादर्शन की क्रियाएँ हैं। यह अच्छे रूप से दौलत मिले... धन और दौलत (दो में) फिर क्या अन्तर होगा ? पैसा बहुत बढ़े-ऐसा न ?

मुमुक्षु :- जवाहरात दौलत में आवे।

उत्तर :- दौलत में आती होगी ? ऐसा मिले। गहरे-गहरे ! आत्मा का तो पता नहीं। ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप आत्मा को अनुभव में लेकर आनन्द प्रगट होता है - ऐसा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो (है) नहीं; दौलत प्राप्त करूँ... अरे... ! दुनिया में बड़े कहलाये... तपस्वी हैं, व्रतधारी हैं, चारित्रवन्त हैं - ऐसे दूसरों से महन्तता लेने 'आदर-सत्कार इत्यादि की इच्छा से मानकषाय के वशीभूत होकर...' अन्तर में तो भान ही पड़ा है, अन्दर आत्मा का भान नहीं है, इसलिए।

'शरीर को क्षीण करनेवाली...' भाई ! शरीर को क्षीण करनेवाली... आ..हा.. ! पीछे है न इसमें ? देखो न ! मूल में है। 'धरि करन विविध विधि देहदाह...' देह को दग्ध करता है, देह को जलाता है, जीर्ण (करता है, उसमें आत्मा को क्या ? आत्मा तो पता नहीं अन्दर क्या चीज है ? 'छीन' (शब्द) है न अन्दर ? 'जे जे करनी तन करन छीन।' उस-उस करनी से तन को क्षीणता होती है, जीर्ण होता है। (ऐसी) 'अनेक प्रकार की क्रिया करता है, उसे गृहीत मिथ्याचारित्र कहते हैं।' मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञानरहित ऐसे राग की क्रिया करे, उसे (गृहीत) मिथ्याचारित्र कहते हैं। समझ में आया ?

मिथ्याचारित्रके त्याग का तथा आत्महित में लगने का उपदेश

ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आत्म के हित पंथ लाग;
जगजाल-भ्रमण को देहु त्याग, अब दौलत ! निज आत्म सुपाग।।१५।।

अन्वयार्थ :- (ते) उस (सब) समस्त (मिथ्याचारित्र) मिथ्याचारित्र को (त्याग) छोड़कर

(अब) अब (आतम के) आत्मा के (हित) कल्याण के (पंथ) मार्ग में लाग) लग जाओ;
(जगजाल) संसाररूपी जाल में (भ्रमण को) भटकना (देहु त्याग) छोड़ दो, (दौलत) है
दौलतराम ! (निज आतम) अपने आत्मा में (अब) अब (सुपाग) भलीभाँति लीन हो जाओ ।

भावार्थ :- आत्महितैषी जीव को निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ग्रहण करके गृहीत
मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा आगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का त्याग करके
आत्मकल्याण के मार्ग में लगना चाहिये। श्री पण्डित दौलतरामजी अपने आत्मा को
सम्बोधन करके कहते हैं कि-हे आत्मन् ! पराश्रयरूप संसार अर्थात् पुण्य-पाप में भटकना
छोड़कर सावधानी से आत्मस्वरूप में लीन हो ।

‘मिथ्याचारित्र के त्याग का और आत्महित में लगने का उपदेश।’ लो ! यह दूसरी ढाल
का अन्तिम श्लोक है ।

ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतम के हित पंथ लाग;

जगजाल-भ्रमण को देहु त्याग, अब दौलत ! निज आतम सुपाग ।।१५।।

इसमें भी उन्होंने चित्र रखे हैं, हों ! जगजाल है न सब ? यह चित्र रखा है । जन्म, भ्रमण में
देव, वनस्पति, सर्प हुआ, मुर्गा हुआ, यह हुआ, ढोर हुआ, नारकी हुआ । चार गति के भव, आत्मा
के सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना, अन्तर्दृष्टि, अनुभव बिना इसने यह सब किया, यह चार गति के भव
में भटकने के लिये हैं ।

‘उस समस्त मिथ्याचारित्र को छोड़कर अब आत्मा के कल्याण के मार्ग में लग
जाओ...’ देखो ! यह शब्द ! स्वयं अपने को कहते हैं और दुनिया को - दोनों को कहते हैं । हे
आत्मा ! आत्मा का हित - यह देहादि, वाणी की क्रिया मेरी नहीं है, शरीरादि वस्तु मेरी नहीं,
उसकी दशा हो वह मेरी नहीं है; पुण्य-पाप के परिणाम / विकल्प उठता है - दया, दान व्रतादि
वह भी शुभभाव है । हिंसा, झूठ, चोरी - यह पापभाव है परन्तु मेरी चीज नहीं । इनसे मेरी चीज
ज्ञानानन्द शुद्ध आनन्दकन्द भिन्न है, - ऐसी श्रद्धा करके आत्मा के हित में लग जाओ । कहो,
समझ में आया ?

अभी तक आत्मा का अहित करता था - ऐसा हुआ न ? अहित करता (था) । यह तो गृहीत

मिथ्यात्व की बात है। अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व, अगृहीत ज्ञान, अगृहीत चारित्र, वे तो अनादि के हैं। तदुपरान्त यह कुदेव-कगुरु-कुशास्त्र मिले, उनके श्रद्धा आदि किये, तो यह गृहीत मिथ्यात्व, गृहीत ज्ञान और गृहीत (मिथ्या) चारित्र हुए। मिथ्या ! समझ में आया ? छह प्रकार का वर्णन आ गया है।

‘अब, आत्मा के (हित) कल्याण के मार्ग में लग जाओ...’ मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र - दोनों प्रकार के - गृहीत और अगृहीत को छोड़ दे - ऐसा एकसाथ कहा है। आत्मा के हित के पन्थ में लग जाओ। भगवान आत्मा शुद्ध अनाकुल शान्तरस का पिण्ड प्रभु, अनन्त अनन्त पवित्र गुण का धाम आत्मा (है)। ऐसा आत्मा की अन्तर्दृष्टि करके, अन्तर आत्मा का ज्ञान करके उसके हित के पन्थ में लग जाओ। लो ! समझ में आया ?

‘(जगजाल) संसाररूपी जाल में भटकना छोड़ दो।’ चार गति, भटकने के कारण - मिथ्यादर्शन आदि और पुण्य-पापभाव, यह पुण्य-पाप के भाव भी भटकने का कारण है। शुभभाव भी परिभ्रमण का बन्ध का कारण है। समझ में आया ? पुण्यभाव, पुण्यभाव परिभ्रमण का कारण है। पुण्य से बन्धन होता है और बन्धन से संयोग मिलते हैं, उसमें आत्मा को कुछ लाभ नहीं है। पापभाव से प्रतिकूल बन्ध होता है और उससे प्रतिकूल संयोग मिलते हैं, इसलिए कोई लाभ (नहीं है)। ऐसा जगजाल, ‘संसाररूपी जाल में...’ अर्थात् मिथ्यादर्शन, ज्ञान में और पुण्य-पाप के भाव में भटकने का त्याग करो, उसे छोड़ो। समझ में आया ?

‘हे दौलतराम !’ हे आत्मा की दौलत के राम, ऐसा। अन्दर अन्तर आत्मा में अनन्त ज्ञान और आनन्द पड़ा है, अनन्त गुण पड़े हैं। जितने गुण सिद्धों में हैं, उतने ही गुण आत्मा में यहाँ है। हे दौलतराम ! हे आत्माराम ! दौलतराम यह। कहो, समझ में आया ? उस दौलत को छोड़कर यह दौलत-ऐसा कहा न ? वह दौलत ली थी न ? लक्ष्मी की दौलत, उसे छोड़कर अब आत्म दौलत को अन्दर में देख ! यह आत्मा क्या होगा ? कौन जाने क्या पता पड़े ? यह अन्दर में पुण्य-पाप के विकल्प उत्पन्न हो, शुभाशुभ - इनसे रहित तत्त्व है, जिसमें अनन्त दौलत पड़ी है। आहा..हा.. ! केवलज्ञान प्रगट हो, उसका मूल आत्मा है। इस आत्मा में से केवलज्ञान प्रगट होता है, कहीं बाहर से नहीं होता है।

मुमुक्षु :- केवलज्ञान का घर पड़ा है।

उत्तर :- घर पड़ा है, कहा था न यह तो ? केवलज्ञान तो एक समय की पर्याय है। केवलज्ञान कोई गुण नहीं है। केवलज्ञान, सिद्धदशा भी एक समय की दशा है, पर्याय है। ऐसी-ऐसी एक समय में पर्याय रहे, दूसरे समय नष्ट हो जाए; नया केवलज्ञान हो, दूसरे समय नया केवलज्ञान होता है। दूसरे समय का हुआ, तीसरे समय नष्ट होकर नया केवलज्ञान होता है। ऐसा अनन्त काल नया-नया केवलज्ञान हुआ करता है। ऐसे अनन्त केवलज्ञान का पिण्ड पड़ा है आत्मा। किसे पता क्या होगा यह ? समझ में आया ?

यह केवलज्ञान गुण है या पर्याय - इसक पता नहीं होता। यह केवलज्ञान की पर्याय अर्थात् हो रहा मानो। केवलज्ञान, वह पर्याय है, वह कोई गुण नहीं है। गुण तो आत्मा में त्रिकाल है। नयी अवस्था उत्पन्न होती है, वह पर्याय होती है, गुण नहीं होती। विवाद उठा न ? वे कहते हैं - सम्यग्दर्शन गुण है। बड़ा विवाद चला था। सम्यग्दर्शन तो पर्याय है। गुण प्रगट होते होंगे ? आत्मा तो अनन्त गुणों का पिण्ड त्रिकाल ध्रुव है। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द ये गुण हैं, वे तो त्रिकाल पड़े हैं, त्रिकाल ध्रुव है। अन्दर में केवलज्ञान प्रगट होता है, वह तो पर्याय है, हालत है, दशा है। समझ में आया ? ऐसी अनन्त केवलज्ञान की दशायें, उनका पिण्ड, आत्मा में ये समस्त शक्तियाँ पड़ी है। किसे पता वह आत्मा कैसा होगा ? भाई ! आत्मा कुछ करता नहीं ? जानने का क्या काम है ? क्या करता है ? मूढ़ करे। समझ में आया ? हैं ?

मुमुक्षु :- काम में लग जाओ।

उत्तर :- काम में लग जाओ, अर्थात् आत्मा में लग जाओ, ऐसा। अनादि से बाहर से बाहर में ही लगा है। शुभाशुभभाव तो अनादि से किये है। समझ में आया ? बाहर के त्याग-ग्रहण की बुद्धियाँ भी अनन्त बार की; परन्तु आत्मा कौन है ? - उसका इसने एक सैकेण्ड भी ज्ञान नहीं किया। एक सैकेण्ड नहीं किया, इसलिए अब तो कहते हैं, आत्मा के हित और कल्याण के लिए लग जाओ। आहा..हा..! बाद में यह ढाल आती है न, इसलिए यह उपोद्घात किया है। अब तीसरी (ढाल में) मोक्षमार्ग आयेगा, इसलिए यहाँ 'हित' लिया है। आत्मा का हित मोक्षमार्ग है - यह कहेंगे। देखो !

‘संसाररूपी जाल में भटकना छोड़ दे। हे दौलतराम ! (निज आत्म)...’ देखो !
 ‘अपने आत्मा में...’ हाँ ! भगवान का आत्मा - परमेश्वर का आत्मा अलग ! देखो ! वे भगवान,
 भगवान आत्मा को कोई तिरा नहीं देते। वे तो सर्वज्ञ परमेश्वर हैं, वे तो परवस्तु हैं। परमात्मा का
 ध्यान, विचार करना, वह भी एक शुभविकल्प है, राग है, पुण्य है। आहा..हा.. ! इसलिए कहते
 हैं कि ‘(निजआत्म)...’ अन्दर अपना आत्मा अनन्त... अनन्त गुणों से भरपूर भगवान, अन्तर
 में अतीन्द्रिय आनन्द का रस पड़ा है। आत्मा में अतीन्द्रिय शान्ति पूर्ण पड़ी है। ऐसे आत्मा को
 पहिचानो और ऐसे आत्मा में... अब, निज आत्मा में अर्थात् अपने आत्मा में अब तो लगे - ऐसा
 कहते हैं। देखो न ? अभी तक तो किये उल्टे(भाव)। माना धर्म और थे विपरीत भाव।

‘(अब) अब (सुपाग) भलीभाँति लीन हो जाओ।’ लो ! सुपाग समझे न ? भगवान
 आत्मा अशुद्ध आनन्दकन्द निर्विकल्प आनन्द है। जिसका स्वरूप पुण्य-पाप के राग से रहित
 है। एक-एक रजकण, देह या कर्म का जिसमें नहीं है - ऐसा अभी आत्मा है। ऐसे आत्मा का
 अन्तर अनुभव करो और उसमें सुपाग - विशेष स्थिर होओ, लीन होओ। कहो, इसमें समझ में
 आया ?

‘भावार्थ :- आत्म हितैषी जीव को निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ग्रहण करके...’
 देखो ! निश्चय अर्थात् क्या ? आत्मा शुद्ध अखण्ड, पुण्य-पाप के रागरहित, दया-दान-व्रत के
 विकल्परहित आत्मा है। यह विकल्प उठे, वह सब राग और पुण्यास्रव है। उससे रहित शुद्ध
 चैतन्य पिण्ड अखण्डानन्द अनन्त गुणों का पिण्ड, उसका अनुभव निश्चय सम्यग्दर्शन (है)।
 उसका अनुभव, यह आत्मा आनन्दकन्द है, उसका अनुभव-इसका नाम सच्चा सम्यग्दर्शन
 है। समझ में आया ? और ज्ञान... उस आत्मा का ज्ञान। शुद्ध केवलज्ञान का कन्द हूँ - ऐसा
 आत्मा का स्वसंवेदनज्ञान। शास्त्रज्ञान आदि परज्ञान, वह मोक्ष में कुछ काम नहीं करता।
 बहुत सूक्ष्म बात (है) !

निश्चय अर्थात् (सच्चा) सम्यग्दर्शन, सच्चा ज्ञान। निश्चय अर्थात् आत्मा का सच्चा ज्ञान।
 अन्तर आत्मा ज्ञानस्वरूप है, राग और पुण्य से रहित है - ऐसा स्वसंवेदनज्ञान और चारित्र।
 इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के अनुभव में - स्वरूप में वीतरागपने स्थिर होना, आनन्द में स्थिर

होना, अतीन्द्रिय आनन्द में जम जाना - इसका नाम भगवान, चारित्र कहते हैं। इसका नाम भगवान, चारित्र अर्थात् सच्चा व्रत कहते हैं। समझ में आया ? यह निश्चय सम्यग्दर्शन। (निश्चयशब्द) तीनों को लागू पड़ता है। निश्चय सम्यग्ज्ञान, निश्चय चारित्र ग्रहण करके, लो ! यह पर्याय है सही न ! सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादि मोक्षमार्गः।

‘गृहीत मिथ्यादर्शन ज्ञान-चारात्रि...’ गृहीत अर्थात् जन्मने के बाद नयी कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा की हो। मिथ्याज्ञान जन्म के बाद ग्रहण किया हो। अनादि का मिथ्याज्ञान किया, वह अलग (है)। यह तो जन्म लेने के बाद कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का ज्ञान किया हो, और मिथ्याचारित्र-इनका त्याग...।

‘अगृहीत मिथ्यादर्शन...’ अनादि की सात तत्त्वों की भूल। समझ में आया कुछ ? आ गयी न ? सातों तत्त्वों की भूल आ गई है। जीव को शरीर की क्रिया का करनेवाला मानना। यह पैसा मेरा, स्त्री मेरी, कुटुम्ब मेरा, यह मेरा, यह मेरा... यह मेरा मानना - यह सब मिथ्यादर्शन है, यह जीवतत्त्व की भूल है। जीव में ये चीजें नहीं हैं, उन्हें (अपनी) मानना वह मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? यह अगृहीत-अनादि का है। जन्म लेने के पश्चात् कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र में अवतार हुआ और उनसे मनाया, वह गृहीत मिथ्यादर्शन, नया (हुआ)। पुराने मिथ्यात्व की पुष्टि करनेवाला (है)। समझ में आया ?

‘अगृहीत मिथ्यादर्शन...’ शरीर उत्पन्न हुआ तो मैं जन्मा, शरीर मरे तो मैं मर गया। शरीर की समस्त क्रियाएँ मैं कर सकता हूँ; मेरे कारण होती है। उनकी उपादान शक्ति से होती है - ऐसा नहीं मानता। कर्म-बन्धन होता है, वह रजकण की क्रिया से होता है। यह शरीर चलता है, वह जड़ के कारण चलता है, आत्मा के कारण नहीं। ऐसा जो नहीं मानता, वह अजीव की भूल। उसके उपादान की क्रिया मुझसे होती है - यह अजीव की भूल है। अनादि की मिथ्यादृष्टि की अजीव की भूल है। समझ में आया ?

आस्रव - पुण्य-पाप के परिणाम, शुभाशुभपरिणाम, वे दुःख के देनेवाले हैं। शुभ हो या अशुभ पराणाम, वे दुःख के देनेवाले हैं। शुभ हो या अशुभ हो - दोनों विकार परिणाम बन्ध के कारण, दुःख के कारण है। उन्हें सुख का कारण माने, यह आस्रवतत्त्व की भूल है। शुभ-पुण्य

का फल शरीरादि अनुकूल मिलें, उसमें प्रेम करना और प्रतिकूल अशुभबन्ध के फल में द्वेष करना, यह बन्धतत्त्व की भूल है। आ गयी न सब ?

भगवान आत्मा, उसका सम्यग्ज्ञान-अन्तर में आत्मा का ज्ञान करना और आत्म का चारित्र, अन्दर संवर, निर्जरा, वीतरागभाव प्रगट करना - ऐसे ज्ञान और चारित्र को दुःखादायक मानें, कष्टदायक मानें, यह संवर, निर्जरा की भूल है। बहुत से कहते हैं न ? भाई ! चारित्र तो बालू/रेत का ग्रास है, बापा ! चारित्र तो आनन्ददायक है। अन्तर आनन्द प्रगट हो, उसे चारित्र कहते हैं। दुःखदायक होवे तो वह तो पाप है, दुःखदायक तो आर्तध्यान है। समझ में आया ? व्याख्या करते हुए कहते हैं न ? बापा ! चारित्र तो बालू/ रेत के ग्रास है। आहा..हा..! तू चारित्र को नहीं समझता। चारित्र तो अन्तर आनन्द की अनुभवदृष्टि में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे, अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव की वीतरागता प्रगटे, उसे चारित्र कहते हैं। जबकि यह कहता है - दुःखदायक है। है सुखदायक, उसे दुःखदायक माने, उसे संवरतत्त्व की भूल है।

निर्जरा की (भूल) - आत्मा के स्वभाव शुद्ध चैतन्य की शक्ति प्रगट नहीं करता; आत्मा के शुद्ध स्वभाव की परमानन्द की मूर्ति, उसकी तिजोरी नहीं खोलता, एकाग्र होकर नहीं खोलता; मात्र इच्छा और अभिलाषा के वेग में जाकर मुझे निर्जरा होती है और लाभ होता है - ऐसा माने, वह निर्जरातत्त्व की भूल है।

अनाकूलता मोक्ष का स्वभाव है। मोक्ष में अत्यन्त अनाकूलता (है)। आत्मा के आनन्द के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अनुभव से जो मोक्ष होता है, (वह) अनाकूल-आनन्दमय है, उसे दुःखरूप मानना। मोक्ष में क्या किसी का करते नहीं ? मोक्ष में ऊपर लटकते हैं ? गाड़ी, वाड़ी कुछ नहीं ? - ऐसा माननेवाले मोक्षतत्त्व को नहीं समझते। शरीर होवे तो ज्ञान होता है, इन्द्रियाँ होवे तो ज्ञान होता है; शरीर, इन्द्रियों के बिना ज्ञान होता होगा ? भगवान आत्मा ! मोक्ष, अर्थात् पूर्णानन्द की प्राप्ति। ऐसी अनाकूलदशा को नहीं पहिचानता, इसलिए उसे मोक्षतत्त्व की भूल है। या तो कुछ ऐसा चाहिए, साधन चाहिए... केवली होवे, पूर्ण परमात्मा होवे तो दुनिया का कुछ कर दे या नहीं कुछ ? अनन्त वीर्य प्रगट, वे दुनिया का कोई भला-बुरा

नहीं करे। हम ऐसे साधारण (हैं) तो भी किसी का भला कर देते हैं। मूढ़ जीव मानता है। कर किसका सकता है ? पर का (भला) कौन करे ? एक छिलका बदलने की आत्मा में ताकत नहीं है। जड़ की क्रिया जड़ से होती है, उसे आत्मा (कर्ता है - ऐसा) माने (तो वह) मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। ऐसे मिथ्यादृष्टि को मोक्षतत्त्व का भी पता नहीं है। लो ! क्या मोक्ष में अकेला बैठे रहना है ? अकेला अर्थात् अनाकुल आनन्द का अनुभव, उसका नाम मोक्ष है। विकार से छूटना, अशरीरी होना और अकेले आत्मा की शुद्धता पूर्णानन्द प्रगट होता है। इस आत्मा का मोक्षमार्ग, अन्तर के मोक्षमार्ग से प्रगट होता है - इसका भान नहीं है, उसे की जितनी पढ़ाई हो, वह सब अनादि का अगृहीत मिथ्याज्ञान है; और मिथ्याचारित्र..! ऐसे अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञानसहित जितनी मन्द रागादि की क्रिया हो, वह सब मिथ्याचारित्र है। 'उनका त्याग करके...' लो ! 'आत्मकल्याण के मार्ग में लगना चाहिए।' समझ में आया ? 'आत्म के हित -' कहा है न ?

'पण्डित श्री दौलतरामजी अपने आत्मा को सम्बोधन करके कहते हैं कि हे आत्मन् ! पराश्रयरूप संसार, अर्थात् पुण्य-पाप में भटकना छोड़कर...' स्वआश्रय कहा न ? आत्मा आत्मा कहा इसलिए। शरीराश्रित क्रिया और पुण्य-पाप के भाव की क्रिया, यह सब पराश्रित, बन्ध का कारण है। उस पराश्रयरूप 'संसार, अर्थात् पुण्य-पाप में भटकना छोड़कर सावधानी से आत्मस्वरूप में लीन हो।' यह आत्मा के हित का मार्ग है। समझ में आया ? यह दूसरी ढाल हुई। अपने सार सब आ गया है। इसमें जो कहना है, वह सब आ गया है।



तीसरी ढाल

नरेन्द्र छन्द (जोगीरासा)

आत्महित, सच्चा सुख तथा दो प्रकार से मोक्षमार्ग का कथन
 आत्मको हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये;
 आकुलता शिवमांही न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिये।
 सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन शिव, मग सो द्विविध विचारो;
 जो सत्यारथ-रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो॥१॥

अन्वयार्थ :- (आत्म को) आत्मा का (हित) कल्याण (है) है (सुख) सुख की प्राप्ति, (सो सुख) वह सुख (आकुलता बिन) आकुलता रहित (कहिये) कहा जाता है। (आकुलता) आकुलता (शिवमांही) मोक्ष में (न) नहीं है (तातैं) इसलिये (शिवमग) मोक्षमार्ग में (लगना) लगना (चहिये) चाहिए। (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरन) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की एकता वह (शिवमग) मोक्ष का मार्ग है। (सो) उस मोक्षमार्ग का (द्विविध) दो प्रकार से (विचारो) विचार करना चाहिए कि (जो) जो (सत्यारथरूप) वास्तविक स्वरूप है, (सो) वह (निश्चय) निश्चय मोक्षमार्ग है और (कारण) जो निश्चय-मोक्षमार्ग का निमित्तकारण है। (सो) उसे (व्यवहारो) व्यवहार-मोक्षमार्ग कहते हैं।

भावार्थ :- (१) सम्यक्चारित्र, निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ही होता है। जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यक्भावश्रुत-ज्ञान होता है और निश्चयनय तथा व्यवहारनय यह दोनों सम्यक् श्रुतज्ञान के अवयव (अंश) हैं; इसलिये मिथ्यादृष्टि को निश्चय या व्यवहारनय हो ही नहीं सकते; इसलिये 'व्यवहार प्रथम होता है और निश्चयनय बाद में प्रगट होता है' - ऐसा माननेवाले को नयों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञास नहीं है।

(२) तथा नय निरपेक्ष नहीं होते। निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होने से पूर्व यदि व्यवहारनय हो तो निश्चयनय की अपेक्षा रहित निरपेक्षनय हुआ; और यदि पहले अकेला व्यवहारनय हो तो अज्ञानदशा में सम्यग्ज्ञान मानना पड़ेगा; किंतु 'निरपेक्षानयाः मिथ्या सापेक्षावस्तु तेऽर्थकृत' (आप्तमीमांसा श्लोक-१०८) ऐसा आगम का, वचन है; इसलिये अज्ञानदशा में

किसी जीव को व्यवहारनय नहीं हो सकता, किन्तु व्यवहाराभास अथवा निश्चयाभासरूप मिथ्यानय हो सकता है।

(३) जीव निज ज्ञायकस्वभाव के आश्रय द्वारा निश्चयरत्नत्रय (मोक्षमार्ग) प्रगट कर, तब सर्वज्ञकथित नव तत्त्व, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा सम्बन्धी रागमिश्रित विचार तथा मन्दकषायरूप शुभभाव-जो कि उस जीव को पूर्वकाल में था उसे भूतनैगमनय से व्यवहारकारण कहा जाता है। (परमात्मप्रकाश, अ. २ गाथा १४ की टीका)। तथा उसी जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन की भूमिका में शुभराग और निमित्त किस प्रकार के होते हैं, उसका सहचरपना बतलाने के लिये वर्तमान शुभराग को व्यवहारमोक्षमार्ग कहा है। ऐसा कहने का कारण यह है कि उससे भिन्न प्रकार के (विरुद्ध) निमित्त उस दशा में किसी को हो नहीं सकते। - इस प्रकार निमित्त व्यवहार होता है तथापि वह यथार्थ कारण नहीं है।

(४) आत्मा स्वयं ही सुखस्वरूप है, इसलिये आत्मा के आश्रय से ही सुख प्रगट हो सकता है, किन्तु किसी निमित्त या व्यवहार के आश्रय से सुख प्रगट नहीं हो सकता।

(५) मोक्षमार्ग तो एक ही है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप है। (प्रवचनसार गाथा ८२-१९९ तथा मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली, पृष्ठ ४६२)

(६) अब 'मोक्षमार्ग तो कहीं दो नहीं हैं, किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ मोक्षमार्ग के रूप में सच्चे मोक्षमार्ग की प्ररूपणा की है वह निश्चयमोक्षमार्ग है; तथा जहाँ, जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है अथवा सहचारी है, वहाँ उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहें तो वह व्यवहारमोक्षमार्ग है; क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है, अर्थात् यथार्थ निरूपण वह निश्चय और उपचार निरूपण वह व्यवहार। इसलिये निरूपण की अपेक्षा से दो प्रकार का मोक्षमार्ग जानना। किन्तु एक निश्चयमोक्षमार्ग है और दुसरा व्यवहारमोक्षमार्ग है - इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।'

(मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पृष्ठ ३६५-३६६)

वीर संवत २४९२, माघ शुक्ल ७, शुक्रवार

दि. २८-१-१९६६, गाथा १, प्रवचन नं.-११ (४० मिनट)

अब, तीसरी ढाल। नरेन्द्र छन्द, जोगीरासा। 'आत्महित, सच्चा सुख और दो प्रकार से मोक्षमार्ग का कथन।' एक श्लोक में (कहेंगे)। अब, यह चार-चार (लाईनों का) आया, हाँ ! चार-चार लाईनों का बड़ा-बड़ा है। देखो, आत्मा का हित क्या है ? - उसका इसमें कथन है। वह आत्महित कहा था न ? अन्तिम ढाल में - आत्मा के हित में लग जाओ। भगवान आत्मा को अन्तर(में) पहिचानकर, उसमें एकाकार होओ, यह आत्महित है। यह क्या कहते हैं ? यह बताते हैं, देखो ! सच्चा सुख क्या ? और दो प्रकार से मोक्षमार्ग, (ऐसे) तीन का कथन है।

आत्मको हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये;

आकुलता शिवमांही न तातैं, शिवमग लाग्यो चहिये।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन शिव, मग सो द्विविध विचारो;

जो सत्यार्थ-रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो॥१॥

बहुत अच्छी बात ! गागर में सागर भरा है। थोड़े में और सादी भाषा ! यह तो हिन्दी भाषा है। 'आत्मा का कल्याण सुख की प्राप्ति है।' लो, आत्मा का हित अर्थात् कल्याण की प्राप्ति, सुख की प्राप्ति, अतीन्द्रिय कल्याण की प्राप्ति, वह आत्मा का हित है। कहो, दुनिया को सुख चाहिए या नहीं ? कैसा सुख ? अतीन्द्रिय एक ही सुख है। दुनिया में पुण्य-पाप में पैसा-धूल में सुख मानते हैं, वह तो मिथ्यादृष्टि है। पैसे में सुख है, स्त्री में सुख है, प्रतिष्ठा में सुख है - यह माननेवाला मूढ़, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी है। ऐसी मिथ्यादृष्टि सहित की जो कोई क्रिया करे, वह सब अज्ञान में जाती है। सुख कहाँ धूल में ? समझ में आया ? परन्तु थोड़ा-बहुत सुख होगा या नहीं ? धूल में भी सुख नहीं है। स्त्री-शरीर जड़-मिट्टी है; पैसा मिट्टी-धूल है। दाल, चावल, लड्डू, वह धूल है। पर में सुख कहाँ से आया ?

मुमुक्षु :- शक्कर मिले तो प्रसन्न हुए।

उत्तर : प्रसन्न हुए, मूढ़ है, कहते हैं। सम्यग्दृष्टि को शक्कर के ढेर हो तो जड़ है। प्रसन्न किसमें होता है वह ? धर्मी को तो भीतर में आत्मा के आनन्द का ढेर पडा दिखाई देता है। शक्कर का ढेर जड़ का है। यहाँ चैतन्य का है, वह तो जड़ का है। सम्यग्दृष्टि को देवपद मिले तो भी प्रसन्न नहीं होता। देव का पद मिले तो भी प्रसन्न नहीं, और देवपद का कारण जो पुण्यभाव हो, उसमें भी सम्यग्दृष्टि प्रसन्न नहीं है। पुण्य और पुण्य के फल में प्रसन्न हो, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। उसे वीतरागमार्ग की श्रद्धा का पता नहीं है। ऐसी बात है, भाई ! आहा..हा.. !

सुख तो 'आकुलता रहित कहा जाता है...' ऐसा कहते हैं। दुनिया का माना हुआ सुख, वह सुख नहीं है। आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द का ढेर पड़ा है। आत्मा (में) अकेला अतीन्द्रिय आनन्द का पुञ्ज भीतर पड़ा है। उसके अतीन्द्रिय आनन्द का पर्याय में प्रगट होना, इसका नाम सुख कहा जाता है। अनाकुलता के भाव को सुख कहते हैं। कहो, यह तो स्त्री, पुत्र, पैसा, पाँच-पचास लाख का ढेर (होवे तो कहते हैं) उसके समक्ष देखकर आकुलता है; धूल में भी सुख नहीं है। व्यर्थ में ही मूढ़ मिथ्यादृष्टि राजपाट, स्त्री, पुत्र, पैसे में सुख मानता है। कैसे होगा ? भाई ! क्या लेना इसमें ? भाई ! मूढ़ अज्ञानी व्यर्थ हैरान हो गया है।

मुमुक्षु :- किसलिए ?

उत्तर :- पर में सुख मानकर। धूल में भी सुख नहीं है, मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु :- पर में दुःख तो होगा न ?

उत्तर :- पर में दुःख भी नहीं है। पर में दुःख कैसा ? पर को अपना मानना, पर से मुझे लाभ (है - ऐसा) मानना - ऐसी मान्यता इसे दुःखरूप है। पर कैसा ? वह तो जड़, मिट्टी, धूल है, वह तो अजीवतत्त्व है। पैसा, लक्ष्मी अजीव धूल तत्त्व है। उसमें सुख कैसा और दुःख कैसा ? स्त्री-पुत्र अच्छे हों, पैसा-वैसा ठीक हो, पाँच-पचास हजार महीने का वेतन हो (तो कहता है) सुखी है। (यहाँ कहते हैं) मूढ़ हो, मिथ्यादृष्टि हो; तुम्हें वीतरागमार्ग का पता नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव, ऐसे लाख, करोड़, अरबों पैसे (रूपये) बाहर के हो और अनुकूलता होवे (तो भी) उसमें दुःख का निमित्त मानता है। दुःख का निमित्त, हाँ ! वह दुःख नहीं है।

आकुलता, विकल्प उत्पन्न होता है, वह दुःख है, उसका वह निमित्त है। सम्यग्दृष्टि धर्मीजीव पर में सुख नहीं मानता। आहा..हा..! अभी मान्यता का ही पता नहीं है (कि) क्या चीज है ?

‘सुख आकुलता रहित कहा जाता है।’ आकुलता न हो, उसे सुख कहते हैं। वह ‘आकुलता मोक्ष में नहीं है...’ ऐसा अब सिद्ध करते हैं। आत्मा का हित-कल्याण सुख की प्राप्ति है। वह सुख आकुलतारहित कहा जाता है और वह आकुलता मोक्ष में नहीं है – ऐसा कहते हैं। मोक्ष को सिद्ध करते हैं। आत्मामें से परमात्मदशा प्रकट होना, (वह मोक्ष है।) केवलज्ञान, केवलदर्शन, पूर्ण आनन्द, पूर्ण वीर्य, सिद्धपद, वह मोक्षदशा है। मोक्ष में आकुलता नहीं, अनाकुलता है।

‘इसलिये (शिवमग) मोक्षमार्ग में लगना...’ ‘चहिये...’ अर्थात् ‘चाहिये।’ इसलिए मोक्ष के मार्ग में लगना चाहिए। यह मोक्ष, वह हित और अनाकुल सुख है, इसलिए उसके मार्ग में जाना चाहिए – ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! वहाँ से शुरू किया है, देखा ? पहले से मोक्ष से शुरू किया। सिद्ध भगवान आत्मा और अरिहन्त परमेश्वर अनन्त आनन्द को भोगनेवाले हैं। समझ में आया कुछ ? अरिहन्त परमेश्वर को भी अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द है। भले चार अघातिकर्म शेष हों, (तो भी) अनन्त आनन्द है। महाविदेहक्षेत्र में ‘सीमन्धर’ भगवान विराजमान है। चार कर्म शेष है, चार कर्मों को टाला है। अनुभव करके, अन्तर अनुभव दृष्टि करके उन्हें अन्दर से अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट हुआ है। अतीन्द्रिय आनन्द अर्थात् मोक्ष ही है, उन्हें भावमोक्ष है। सिद्ध को द्रव्यमोक्ष हो गया है, शरीर छूट गया है, वे देहमुक्त हो गये हैं। उसमें ही आनन्द है, अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं है। ‘इसलिए (शिवमग) मोक्षमार्ग में लगना चाहिए।’ लो, दूसरा सब छोड़कर मोक्ष के मार्ग में (लगना चाहिए) क्योंकि मोक्ष में अनाकुलता है। मोक्ष, वह आत्मा की शुद्धपर्याय है।

मोक्ष कहा निज शुद्धता, वह पावे सो पन्था।

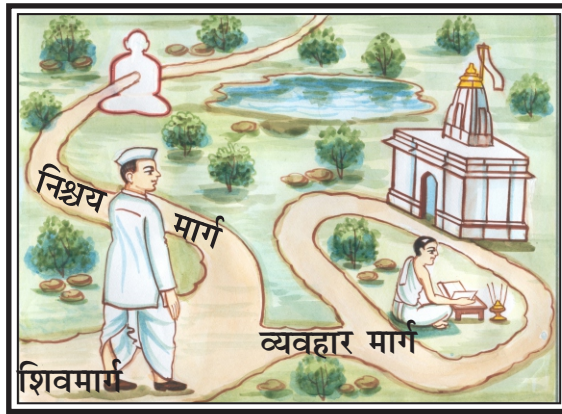
समझाया संक्षेप में सकल मार्ग निर्ग्रन्था।

वीतराग भगवान परमेश्वर ने पूर्णानन्द की प्राप्ति मोक्ष, उसका मार्ग अन्तर में स्वरूप में समझाया है।

‘मोक्षमार्ग में लगना चाहिए। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की एकता, वह मोक्ष का मार्ग है।’ समझ में आया ? उसकी व्याख्या नीचे करेंगे, हाँ ! आत्मा अन्तर में पूर्ण, शुद्ध आनन्द वीतरागीमूर्ति प्रभु आत्मा है। अभी, हाँ ! उसकी अन्तर में दृष्टि-ज्ञान और लीनता होना, उसका नाम (मोक्षमार्ग है)। निर्विकल्प वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और आत्मा की वीतरागी शान्ति (प्रकट होना) उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र -मोक्ष का मार्ग, उसे भगवान कहते हैं। आहा..हा.. ! तीनों की एकता, वह शिवमार्ग है।



‘उस मोक्षमार्ग को दो प्रकार से विचार करना चाहिए...’ समझ में आया ? उसमें कोई शब्द है न ? ‘उस मोक्षमार्ग का दो प्रकार से विचार करना कि जो (सत्यारथरूप) वास्तविक स्वरूप है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है...’ समझ में आया ? आत्मा में शुद्ध चैतन्यमूर्ति की अन्तर निर्विकल्प अनुभव-दृष्टि (होना), उसका-आत्मा



का अन्तर निर्विकल्प ज्ञान और अन्तर स्वरूप की वीतरागता - परिणति चारित्र (प्रगट होना), वह एक ही सच्चा मोक्ष का मार्ग है। देखो ! ‘सत्यार्थ’ पर जोर है, उसकी समझ में आयेगा, असत्यार्थ। कहो, समझ में आया ? ‘वास्तविकस्वरूप है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है।’ समझ में आया ?

इस प्रकार विचार में लेना अर्थात् इसे सत्यार्थरूप से विचारना - ऐसा कहते हैं। उसे

असत्यार्थरूप से... इसके सामने लो तो असत्यार्थ रूप से; इसे निश्चयरूप से लो तो उसे व्यवहाररूप से; इसे शुद्ध उपादानरूप से तो उसे निमित्तरूप से (विचारना)। - यह इसमें लिखा है, भाई ! यह पुरानी प्रति है न ? उसमें यह लिखा है। वास्तविक स्वरूप है, वह निश्चय है। कोष्टक में शुद्ध अथवा मुख्य। मुख्य - ऐसा लिखा है। आहा..! पहले की हिन्दी (प्रति है)। मोक्षमार्ग कहलाता है। और उस निश्चयमोक्षमार्ग का कारण व्यवहार... कोष्टक में (लिखा है), अशुद्ध, गौण अथवा उपचार। इसमें पहले हैं, हाँ ! क्या कहते हैं ? यह बड़ा विवाद है। उसका यह स्पष्टीकरण होता है।

भगवान आत्मा के आश्रय से निर्विकल्प अन्तर अनुभव दृष्टि, ज्ञान और शान्ति (प्रकट हो), वह निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह एक ही सच्चा मोक्षमार्ग है। समझ में आया कुछ ? उसका विचार करना। पहले उसका ज्ञान करना - ऐसा कहते हैं। ' (सत्यार्थरूप) वास्तविक-स्वरूप है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है और (कारण)... ' ऐसा है न ? 'कारण सो व्यवहारो।' अर्थात् कारण। कारण के अर्थ में आया कि आत्मा शुद्ध परमानन्द की अन्तर दृष्टि, ज्ञान (होना), वह शुद्ध उपादान दृष्टि हुई। वह सत्यार्थ मोक्षमार्ग हुआ और उसके साथ राग (होता है), देव-गुरु-शास्त्र आदि की श्रद्धा का राग होता है, वह असत्यार्थ अथवा वह निमित्तकारण आया। यहाँ उपादानकारण आया, यहाँ वह निमित्तकारण आया। यहाँ निश्चय आया, वह व्यवहार आया। यहाँ मुख्य आया, (वह) गौण आया। यह शुद्ध आया, (वह) अशुद्ध आया। समझ में आया ? आहाहा..! यह तो हम इस शब्द में से (अर्थ करते हैं)।

'शिवमग सो द्विविध विचारो; जो सत्यार्थरूप सो निश्चय... जो सत्यार्थरूप...' ऐसा कहा है न ? सच्चा स्वरूप, ऐसा। सत्यार्थ अर्थात् सच्चा स्वरूप, वह निश्चयमोक्षमार्ग (है)। सच्चा रूप, रूप अर्थात् स्वरूप। भगवान आत्मा शरीर-वाणी की क्रिया का लक्ष्य छोड़कर, पुण्य-पाप का विकल्प राग होता है, उसकी रुचि छोड़कर, अकेले परमानन्द प्रभु आत्मा की अन्तर रुचि, ज्ञान और रमणता (होना), वह मोक्ष का मार्ग है। सच्चा, सत्य स्वरूप, निश्चय मार्ग, शुद्ध उपादान से प्रकट हुआ, उसे यथार्थ वास्तविक मोक्षमार्ग कहते हैं। समझ में आया कुछ ?

'और (कारण) जो...' कारण का अर्थ निमित्त। क्योंकि यहाँ यह शुद्ध उपादान आया।

समझ में आया ? आत्मा, जो ध्रुव त्रिकाल आनन्दकन्द है, वह ध्रुव उपादान है, परन्तु उसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्ध पर्याय प्रकट हुई, वह भी शुद्ध उपादान पर्याय हुई। शुद्ध उपादान और निमित्त और... उसमें कितना ज्ञान करना ? कहते हैं कि - भाई ! तूने कभी सच्चे तत्त्व का पता नहीं किया है।

वह भगवान आत्मा शुद्ध ध्रुव तो शुद्ध ध्रुव है। त्रिकाल अखण्ड आनन्द और शुद्ध का ही पिण्ड आत्मा है। वह ध्रुव उपादान है। उसे अन्तर में शुद्ध वर्तमान पर्याय, वह द्रव्य के आश्रय से प्रकट हुई - शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परमार्थ से वीतराग दृष्टि वीतराग ज्ञान, वीतराग चारित्र जो स्वभाव है, वह शुद्ध उपादान प्रकट हुई पर्याय है। उसके साथ वह राग - देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, नव तत्त्व की विकल्पवाली श्रद्धा, नवतत्त्व की श्रद्धा-राग, उसे निमित्तकारणरूप से; असत्यार्थ मार्ग को निमित्तरूप से, व्यवहाररूप से, उपचाररूप से मार्ग कहा गया है। समझ में आया ? इसीलिए तो 'सत्यार्थरूप' शब्द प्रयोग किया है। सच्चा, व निश्चय। दूसरे प्रकार से कहे तो मिथ्या अर्थात् वह मार्ग तो नहीं है, ऐसा (कहना है)। परन्तु उसे निमित्त नाम प्राप्त होता है, निमित्त का नाम पड़ता है। सच्चा मोक्षमार्ग तो आत्मा के अवलम्बन से हो, वह मोक्षमार्ग है, परन्तु उस काल में पूर्ण वीतरागदशा नहीं है; इस कारण भगवान द्वारा कथित नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा का राग (होता है), वह विकल्प है, वह पुण्य है, उसे निमित्त कहा जाता है; उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है; व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा जाता है। असत्यार्थ को व्यवहार कहना, इसका नाम उसका उपचार मार्ग है। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- झूठे-सच्चे को साथ रखना चाहिए ?

उत्तर :- रखना चाहिए नहीं; ऐसा होता है। यह सच्चा मार्ग हो; जहाँ तक पूर्ण वीतराग न हो, तब ऐसा विकल्प का भाव उपचार से वहाँ होता है। होता है, वीतराग नहीं हुआ, वहाँ तक ऐसा होता है। केवल (केवलज्ञान) हुआ तो उसे विकल्प नहीं होता, वह व्यवहार नहीं होता। समझ में आया ? परन्तु जहाँ निश्चय भान हुआ है, वहाँ ऐसे विकल्प को व्यवहार और उपचार कहा जाता है। अद्भुत बात, भाई !

निश्चयमोक्षमार्ग अकेला ही एक मोक्ष का कारण है। यह जो व्यवहार कहा है, वह बन्ध का कारण है, परन्तु उसे ऐसा ही अनुकूलपना – देव-गुरु; सच्चे अरिहन्त देव-गुरु, केवली परमात्मा, सच्चे निर्ग्रन्थ मुनि या सच्चे शास्त्र या सच्चा अहिंसाधर्म होता है। अहिंसा अर्थात् राग की उत्पत्ति नहीं होना, वह आत्मा का धर्म। ऐसा जो विकल्प-शुभराग है, वह है तो बन्धा का कारण। परन्तु जब यहाँ पर आत्मा के अवलम्बन से मोक्षमार्ग प्रकट हुआ, उसके निमित्त से उसे (बन्धाभाव को) मोक्षमार्ग का आरोप दिया जाता है। 'नहीं है' – उसे कहना, इसका नाम व्यवहार कहा जाता है। 'है' उसे ऐसा जानना और कहना, उसे निश्चय और सत्यार्थ कहा जाता है। कहो, इसमें समझ में आया ? देखो न ! कितनी बात की है !

'जो सत्यारथरूप सो निश्चय...' है न ? 'कारण सो व्यवहारो।' कारण अर्थात् कि इस (सच्चे) कारण से यह दूसरा कारण है। यह कारण जो है, वह तो (सत्य है)। किसका कारण ? मोक्ष के मार्ग की बात है। मोक्ष का मार्ग, तो मार्ग तो कारण हो गया। वह एक कारण है कि शुद्ध भगवान आत्मा की वीतरागी अन्तर दृष्टि होना, उसका-आत्मा का ज्ञान होना, आत्मा में लीनता (होना), वह मोक्ष का मार्ग है। मार्ग अर्थात् कारण। वह कारण उपादानकारण हुआ। तब साथ में विकल्प उत्पन्न हुआ है – सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, नव तत्त्व की श्रद्धा आदि, पंच महाव्रत के परिणाम आदि, शास्त्र का ज्ञान आदि, उसे निमित्तकारण कहते हैं। भाई ! यह पुस्तक तो साधारण हिन्दी भाषा में है। इसमें यह सब अर्थ भरे हैं। ये सब दिगम्बर बहुत वर्षों से पढ़ते थे, परन्तु उन्हें कहीं (अर्थ का पता नहीं था)।

निमित्तकारण – निश्चयमोक्षमार्ग का उपचार कारण, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है। इसे पहले उन्हें भलीभाँति जानना और निर्णय करना चाहिए। इसका विशेष भाव आयेगा।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



वीर संवत २४९२, माध शुक्ल ७, रविवार

दि.३०-१-१९६६, गाथा १, प्रवचन नं.-१२

‘दौलतरामजी’ कृत तीसरी ढाल है। इसमें पृष्ठ ४३ है। अन्तिम आता है, देखो ! ‘मोक्षमार्ग का दो प्रकार से विचार करना चाहिए...’ यह शब्दार्थ है ? मोक्षमार्ग जो है, आत्मा को पूर्ण आनन्द की प्राप्ति का कारण – ऐसा मोक्ष का मार्ग। मार्ग कहो या उपाय कहो या कारण कहो। आत्मा पवित्र शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उसकी पूर्ण आनन्द की प्राप्ति, पूर्ण सुख की, शान्ति की प्राप्ति (होना), उसका नाम मोक्ष है। उस मोक्ष का उपाय कहो, कारण कहो, मार्ग कहो – वह कहते हैं कि दो प्रकार से विचार करना – ऐसा इसमें लिखा है।

विचार करना अर्थात् दो प्रकार से उसे जानना। उसमें ‘जो सत्यार्थरूप वास्तविक स्वरूप है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है।’ उनके शब्द में ही है, देखो ! समझ में आया ? क्योंकि यह आत्मा अन्तर्मुख दृष्टि करने से, अन्तरस्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और लीनता होने पर उसे निश्चयमोक्षमार्ग प्रकट होता है। समझ में आया ? अनादि से जो बहिर्मुख दृष्टि है, शुभ-अशुभ आदि क्रियाकाण्ड, दया, दान, व्रतादि सब बहिर्मुख वृत्ति है। उसे जब पहला आत्मस्वभाव, उसके अन्तर्मुख का स्व आश्रय ले, चिदानन्द पूर्ण शुद्ध आनन्द ज्ञायकभाव है, उसका प्रथम आश्रय ले, तब उसे निश्चयमोक्षमार्ग प्रकट होता है। देखो ! इसलिए निश्चय प्रथम कहा है और व्यवहार कथन में दूसरी बात बाद में ली है। समझ में आया कुछ ?

निश्चयमोक्षमार्ग सत्यार्थरूप है। सत् स्वरूप जो आत्मा, शुद्ध आनन्दकन्द ज्ञायक, उसका स्वआश्रय, अन्तर्मुख... अन्तर्मुखदृष्टि हुई और जो ज्ञान तथा स्थिरता होती है, उसका नाम सत्यार्थ, सच्चा, मुख्य, परमार्थ मोक्षमार्ग कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें ? अथवा उसे शुद्ध मोक्षमार्ग कहा जाता है। सत्यार्थ कहो, शुद्ध कहो या सत्यार्थ को यहाँ मुख्य कहो, क्योंकि स्वयं आगे लेंगे। अन्तिम गाथा है, भाई ! अन्तिम गाथा। मुख्य-उपचार ! वहाँ

भी मुख्य पहले और उपचार बाद में लेंगे। छहढाला में अन्त में (छठवीं ढाल में) १४वीं गाथा में है। मुख्य-उपचार, समझ में आया ? मुख्य कहो या निश्चय कहो या सत्यार्थ कहो या शुद्ध कहो। आत्मा अन्तर चिदानन्द प्रभु, अन्तर की शक्ति का अवलम्बन । स्व सत् स्वरूप पूर्णानन्द को अन्तर में अवलम्बन कर, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होवे, वह सच्चा मार्ग है, वह शुद्ध-पवित्र मार्ग है, मुख्य मार्ग है, वही यथार्थ अनुपचार मोक्षमार्ग है। कहो, है इसमें ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- नहीं, है या नहीं इसमें ? इसीलिए तो मुख्य-उपचार का दृष्टान्त दिया, अन्तिम ढाल का; चौदहवीं गाथा है। अन्तिम, अन्तिम (ढाल) की चौदहवीं (गाथा) है। देखो ! यह अन्त में स्वयं समाप्त करते हुए लेंगे। देखो ! पन्द्रहवीं एक बाकी रहेगी। सोलहवीं तो... है। समझ में आया ? वह तो ग्रन्थरचना का (काल कहा है।) चौदहवीं में है, देखो ! 'मुख्योपचार दु भेद यों बड़भागी रत्नत्रय धरै...' है ? मुख्य उपचार । मुख्य अर्थात् निश्चय, मुख्य अर्थात् निश्चय - यह सिद्धान्त भी यहाँ डाल दिया है, भाई ! निश्चय अर्थात् मुख्य - ऐसा नहीं; मुख्य अर्थात् निश्चय - ऐसा सिद्धान्त भी डाल दिया। मुख्य-उपचार दो भेद। उपचार अर्थात् आरोपित; मुख्य अर्थात् उचित, यथार्थ। उपचार अर्थात् आरोपित व्यवहार, निमित्तरूप से हो वह। दो भेद। 'बड़भागी रत्नत्रय धरै; अरु धरेंगे ते शिव लहैं, तिन सुयश चल जग मल हरैं।' कहो समझ में आया ?

इसलिए कहा है कि भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द की ध्रुव धातु, ध्रुव.. ध्रुव... चैतन्य ध्रुव धातु अर्थात् जिसने चैतन्यपना, शुद्धपना, ध्रुवपना, आनन्दपना ध्रुवरूप से धारा है अर्थात् टिकाया है - ऐसे द्रव्य का अवलम्बन करके, स्व सत् स्वरूप का अवलम्बन लेकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-स्थिरता होवे, उसे ही मुख्य, शुद्ध, निश्चय, सत्यार्थ, यथार्थ मोक्षमार्ग कहते हैं।

अब (कहते हैं) 'जो निश्चयमोक्षमार्ग का निमित्तकारण है, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।' 'कारण सो व्यवहारो' - ऐसा कहा है न ? 'कारण सो व्यवहारो' - ऐसा शब्द पड़ा है। 'कारण सो व्यवहारो।' उसमें पीछे 'उपचार' कहा था। उसके साथ जो निमित्तकारण

है अथवा मुख्य, वह निश्चय कहा; इसलिए गौण, वह व्यवहार कहा। शुद्ध, उसे निश्चय कहा तो यह अशुद्ध है, उसे व्यवहार कहा। समझ में आया ? शुद्धस्वरूप आत्मा के अवलम्बन से प्रकट हुई शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र को शुद्ध मोक्षमार्ग कहा तब जो विकल्प – रागादि है, उसे अशुद्ध मोक्षमार्ग कहा। अशुद्ध मोक्षमार्ग कहा, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा, उपचार मोक्षमार्ग कहा, असत्यार्थ मोक्षमार्ग कहा, गौण मोक्षमार्ग कहा। समझ में आया ? ‘उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।’ लो ! इन शब्दों में ही इतना तो निकलता है। भाई ! निकलता है या नहीं इसमें ? पीछे है या नहीं ? ऐ..ई ! है ? दूसरे लड़कों ने (पुस्तक) रखे हैं या नहीं ?

अब, इसका भावार्थ। यहाँ तो क्या बात सिद्ध करनी है ? कि पहले आत्मज्ञान हुए बिना प्रमाणज्ञान नहीं होता। आत्मा, जो शुद्ध स्वरूप से है, पवित्र है, उसे अन्तर में पकड़े बिना प्रमाणज्ञान नहीं होता अर्थात् श्रुतज्ञान (नहीं) होता अर्थात् भाव श्रुतज्ञान परिणमित नहीं होता। वह वस्तु ज्ञान-स्वरूप है न ? तो ज्ञान तो गुण है, परन्तु उस गुण का त्रिकालपना है, उसे अन्तर में अवलम्बन कर जो भावश्रुत (ज्ञान) परिणमित होता है, भले मतिज्ञान के साथ ही होता है। समझ में आया ? अभी अवधि, मनःपर्यय, केवल की जरूरत नहीं है यहाँ तो पहले भावश्रुत(ज्ञान), जिसकी ताकत स्वसंवेदन से पकड़ने की है। वह ज्ञायकमूर्ति है, अकेला ज्ञान का पुंज प्रभु है, – ऐसा जो सम्यग्ज्ञान-श्रुतज्ञान, वह आत्मा के आश्रय से प्रकट होता है। इसलिए आत्मा के आश्रय बिना श्रुतज्ञान प्रकट नहीं होता और श्रुतज्ञान प्रकट हुए बिना, उसके-प्रमाणज्ञान के जो दो भाग नय, वे नहीं हो सकते। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, परन्तु यह है ऊँची ! ऐ... भाई ! अभी यह बड़ी गड़बड़ है न ? अभी अनादि की गड़बड़ ऐसी की ऐसी चलती है।

कहते हैं कि – भगवान आत्मा जो ज्ञान की मूर्ति चैतन्यस्वभाव, उसका अन्तर में सम्यक् आश्रय होकर, साथ में दर्शन तो हुआ; परन्तु यहाँ नय की व्याख्या करनी है – निश्चय और व्यवहार। निश्चय और व्यवहार। इसमें आत्मा ज्ञानस्वरूप सत्, सत्व स्वरूप, ज्ञान का सत्व आत्मा है, आनन्द का सत्व आदि अनन्त गुणों का एकरूप, उसका ज्ञान होने पर उसे भावश्रुतज्ञान कहा जाता है और प्रथम वह भावश्रुतज्ञान न होवे तो उसे नय नहीं हो सकता। व्यवहार और निश्चय नय, ये श्रुतज्ञान के दो पहलू हैं, दो भाग हैं। एक श्रुतज्ञान होता है, उसके

दो भाग है। समझ में आया ? जैसे शरीर होवे तो उसके दो पहलू होते हैं - दायां और बायां। इसी प्रकार भावश्रुतज्ञान होता है, उसके दो पहलू हैं - एक निश्चय और एक व्यवहार। समझ में आया ? सूक्ष्म पड़ता है न ?

आत्मा है, आत्मा वस्तु है न ? तो अनन्त अनन्त गुणरत्न का सागर है। वह तो कल कहा गया था न ? कल सवेरे बहुत कहा गया था। समझ में आया ? वह महारत्न है, वह तो महा-महा रत्न है, क्योंकि यह जो सम्यक् रत्न है, निश्चयसम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, वे स्वद्रव्य के आश्रय से प्रकट होते हैं, उन्हे रत्नत्रय कहते हैं। उस रत्नत्रय का फल केवलज्ञान आदि अनन्त गुण की पर्याय है, तो केवलज्ञान आदि अनंततगुण की पर्यायें तो महारत्न हुईं। और केवलज्ञानादि एक-एक महारत्न हैं - ऐसी अनन्त केवलज्ञान की पर्यायोंरूपी रत्न एक ज्ञानगुण में इतने अनन्त रत्न पड़े हैं। वह ज्ञानगुण तो महारत्न से महारत्न बड़ा हुआ और ऐसे-ऐसे अनन्त गुणों का पिण्ड, वह द्रव्य; वह तो महा... महा... महा... रत्न हुआ। समझ में आया ? ऐसे भगवान महारत्न के आश्रय से जो सम्यक् श्रुतज्ञान - जो सम्यक् श्रुतज्ञान, जो सम्यग्ज्ञान रूपी रत्न (प्रकट हुआ, उसे) अब यहाँ रत्न कहना है न ? भावश्रुतज्ञान, वह निश्चय ज्ञान है न ? मोक्षमार्ग में दर्शन, ज्ञान और चारित्र निश्चय, वह मोक्षमार्ग है। वह तीन रत्न है; तो श्रुतज्ञान रत्न है न ? महा नहीं, अभी रत्न कहा न... उसे महारत्न कहा इसलिए, अपने को बोल डालना ऐसा नहीं चलता।

महा तो आत्मा कहा। एक समय में पूर्ण बड़ा महाप्रभु है। उसमें से प्रकट हुआ श्रुतज्ञान, वह मोक्षमार्ग का एक रत्न है, मोक्षमार्गरूप एक रत्न है। उसका फल केवलज्ञान रत्न है। यहाँ तो मार्ग की व्याख्या लेना है न ? तो मार्ग प्रकट हुआ श्रुतज्ञान से। सम्यग्दर्शन और चारित्र साथ है, परन्तु हमें यहाँ नय की व्याख्या करनी है न ? इसलिए जो भावश्रुतज्ञान प्रकट हुआ - तब उसके दो भाग - निश्चय और व्यवहारनय होते हैं; इसलिए पहले व्यवहार और बाद में निश्चय - ऐसा वस्तु स्वरूप में नहीं हो सकता। समझ में आया ?

पहले व्यवहार (बाद में) निश्चय (एसा) उसमें नहीं हो सकता। केवलज्ञानी का निर्णय करो कि -

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥८०॥

वहाँ दर्शन की व्याख्या से बात ली है। भगवान सर्वज्ञ की एक समय की पर्याय है; द्रव्य और गुण तो सामान्य है। सर्वज्ञ की पर्याय में ऐसी ताकत है। अनन्त केवलज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि; उस पर्याय का जहाँ निश्चय करने जाते हैं, तब भले उन अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय(का) विकल्प में ख्याल लिया, परन्तु उसे व्यवहार कब कहा जाता है ? उससे हटकर और आत्मा 'अप्पाणं जाणदि' - आत्मा अखण्ड ज्ञायक चैतन्यस्वरूप है - ऐसा जहाँ जाने, वहाँ उसे दर्शनमोह का नाश होकर समकित होता है। समकित हुआ, (उसके) साथ भावश्रुतज्ञान होता है। उसमें भी आगे-पीछे नहीं रहा कि पहले राग था (- ऐसा नहीं)। पहले श्रुतज्ञान का विकल्प भले ही था, उसे 'परमात्मप्रकाश' में नैगमनय से (कारण) कहा, परन्तु वास्तव में वह कारण नहीं है। कारण तो यहाँ 'अप्पाणं' जाना, ज्ञायक चैतन्यस्वरूप हूँ - ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान में जाना, तब उसे निश्चय सम्यग्ज्ञान और श्रुतज्ञान हुआ, प्रमाणज्ञान हुआ। यह प्रमाणज्ञान हुआ, वह स्व को जाने, वह निश्चय और फिर राग बाकी रह गया, व्यवहाररत्नत्रय का राग रहा, उसे जाने, वह व्यवहार; परन्तु यह जाने निश्चय, तब व्यवहार साथ हुआ। समझ में आया ? सूक्ष्म बहुत, भाई ! इसमें विवाद उठा है। इसमें लिखावट में भी बहुत जगह (आता है कि) पहले व्यवहार की प्राप्ति होती है, फिर निश्चय तो उसमें आ जाता है; उसकी प्राप्ति के लिए अलग पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं है - ऐसा इसमें लिखा है। परन्तु निश्चय के बिना व्यवहार कहना किसे ? सुन न !

अनादि काल से परसन्मुखता के विकल्प तो अनन्त बार किये। शास्त्र सम्बन्धी, श्रद्धा सम्बन्धी, व्रत सम्बन्धी... समझ में आया ? परन्तु स्वभूमिका का पता चले बिना उसको व्यवहार कहना किसे ? वस्तु पूर्ण है, एक समय में अखण्डानन्द प्रभु चैतन्य है। उसकी दृष्टि और ज्ञान (की) सम्यक् भूमिका प्रकट हुए बिना उसे (राग को) यह व्यवहार है - ऐसा आरोप कहाँ से आयेगा ? यों तो अनादि से परविकल्प तो किया ही करता है। नौवे गैवेयक गया तो व्यवहार श्रद्धा... भले निश्चय बिना व्यवहाराभास है - श्रुत का व्यवहार ज्ञान, नव-नव पूर्व का ज्ञान और पंच महाव्रत के परिणाम, यह व्यवहार नहीं हुआ; क्योंकि जहाँ नय ही

नहीं है, वहाँ व्यवहार आया कहाँ से ? अकेला पुण्यबन्ध हुआ, मिथ्यादृष्टि के साथ, मिथ्याज्ञान के साथ। समझ में आया ? ऐसे परसन्मुखता के व्यवहार ज्ञान के निश्चयरहित के विकल्प (किये), उन्हें व्यवहार भी लागू नहीं पड़ता। व्यवहार लागू (नहीं) पड़ता। यह सब नौवे ग्रैवेयक (गये, तब) नव पूर्व का ज्ञान पंच-महाव्रत, नवतत्त्व की भेदवाली श्रद्धा उसने की है; नहीं की - ऐसा नहीं है। समझ में आया ? उसे मोक्षमार्ग प्रारम्भ नहीं हुआ।

यहाँ स्वसत्ता चैतन्य भगवान का अवलम्बन किया, उसका ज्ञान प्रमाणज्ञान हुआ, इसलिए यहाँ निश्चय को जानना, उसका नाम यथार्थ (कहा), व्यवहार को जानना, उसका नाम उपचार ज्ञान कहा, इसलिए व्यवहार पहले, निश्चय बाद में - ऐसा वस्तु में नहीं हो सकता। समझ में आया ? इसलिए कहते हैं कि 'उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं।' समझ में आया ? किसे ? अशुद्धपना, राग बाकी रहा; शुद्ध का भान हुआ, तब अशुद्धपने का राग बाकी रहा, उस अशुद्ध को अशुद्ध व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं। यहाँ निश्चय-शुद्ध को शुद्ध-सत्यार्थ मोक्षमार्ग कहते हैं और अशुद्ध को गौणरूप से असत्यार्थ मार्ग कहते हैं। इस प्रकार (है)। अन्यथा वस्तु स्थिति किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। नहीं ज्ञान सिद्ध होता; नहीं नय सिद्ध होते; नहीं निश्चय सिद्ध होता; नहीं व्यवहार सिद्ध होता। समझ में आया ? इसीलिए तो वे श्वेताम्बर (के साधु) कहते हैं - 'निश्चयनय पहले कहे, पीछे ले व्यवहार।' परन्तु वह ऐसा ही है, पीछे ले क्या ? निश्चय होवे तब ही उसे (राग को) व्यवहार कहा जाता है। दूसरा व्यवहार कहना किसको ? यह बात तो (उस साधु ने कही है और) ८४ बोल का दिगम्बर का दोष निकाला है। है ? (ऐसा कहते हैं), तुम्हे कुछ पता नहीं होता। समझ में आया ?

अरे... ! स्व चैतन्य भगवान, अकेली चैतन्य धातु, जिसने अनादि-अनन्त धारण कर रखी है - ऐसा तत्व, ऐसे चैतन्य के अन्दर में एकाग्र हुए बिना इस चैतन्य का भावश्रुत का अंकुर फूटेगा कहाँ से ? कुछ समझ में आया ? भावश्रुतज्ञान का अंकुर उस भूमिकामें से प्रकटता है। कहीं राग के विकल्प में से ज्ञान नहीं आता। क्या कहा ? दया, दान, व्रतादि शुभराग है न ? या बाह्य शास्त्रज्ञान व्यवहार, वह सब विकल्प-राग है, उसमें से यह अंकुर नहीं आता। उस अंकुर में-राग में वह ताकात कहाँ है ? समझ में आया ? भाई ! बहुत सूक्ष्म... बहुत सूक्ष्म !

भगवान आत्मा अकेला ज्ञान का सागर अनन्त गुणों का रत्नाकर चैतन्य-रत्नाकर प्रभुमें से अंकुर उगा। एकाग्र होने से अंकुर उगा, उसे भावश्रुतज्ञान कहते हैं। उसके साथ दृष्टि हुई, उसे सम्यक् कहते हैं, उसके साथ स्थिरता हुई, उसे चारित्र कहते हैं। भाई ! कहते हैं - राम, राम... राम.. राम... राम करो जाओ ! भजन करो, जाओ, आत्मसाक्षात्कार हो जाएगा। कहो, समझ में आया ? भाई ! वह राम-राम अर्थात् आत्मा राम। 'निजपद रमे सो राम कहीए।' 'आनन्दघनजी' ने ऐसा कहा है। 'निजपद रमे सो राम कहीए।' दूसरा राम कौन ? अपने अखण्ड आनन्द ज्ञायकस्वरूप में एकाग्र होवे, उसे राम कहा जाता है। उस आत्मा राम को जानने पर जो ज्ञान प्रकट होता है, उसे भावश्रुतज्ञान का अंकुर-प्रमाणज्ञान कहा जाता है। और वह प्रमाणज्ञान, जैसा केवलज्ञान प्रमाण है, वैसा ही यह श्रुतज्ञान प्रमाण है। जैसे केवलज्ञान प्रमाण है, वैसे यह श्रुतज्ञान प्रमाण है। प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही भेद है। श्रुतज्ञान में भी केवलज्ञान की तरह ही सभी वस्तु व्यवस्थित दिखती है, उसे जैसे जानता है; वैसे श्रुतज्ञान भी प्रमाणज्ञान द्वारा स्व का पूर्णपना और प्रत्येक पर्याय का क्रमपना वह श्रुतज्ञान में भलीभाँति जैसा है, वैसा जानता है, उसे आगे-पीछे नहीं होता। ऐसे श्रुतज्ञान के दो भाग पड़े कि जो निश्चय को जानता है, उसे सत्यार्थ ज्ञान कहा जाता है; व्यवहार को जानता है, उसे उपचार ज्ञान और आरोपित ज्ञान कहा जाता है। वह व्यवहारनय कहलाता है।

अब, यहाँ लिखावट में यह बात लेनी है कि (भावार्थ) :- १. 'सम्यक्चारित्र...' आत्मा में शुद्ध स्वरूप की रमणता (होवे), वह क्या चीज़ है कि जिसमें रमना है ? उस चीज़ की श्रद्धा और ज्ञान बिना उसमें स्थिरता नहीं हो सकती। क्या कहा, कुछ समझ में आया ? सम्यक्चारित्र अर्थात् स्थिरता; स्वरूप में स्थिरता... परन्तु स्वरूप क्या है ? ऐसे स्वरूप की दृष्टि और ज्ञान के बिना स्थिरता नहीं हो सकती। भाई ! अद्भुत बात, भाई !

भगवान आत्मा अकेले ज्ञान की खान है। समझ में आया ? 'श्रीमद्' तो एक बार कहते हैं - अरे... ! इस अचित् धातु का आभास तो देखो ! ऐसा कहा। विकल्प आदि उठते हैं न ? अचिद् धातु (है) और यह चिद् धातु है। भगवान अकेली ज्ञान की धातु.. ज्ञान को धारण की हुई चीज़ ऐसा। ऐसे भगवान आत्मा में स्थिरता कब हो सकती है ? स्थिरता। चारित्र कहो, चरना कहो, रमना कहो, भोजन करना कहो - यह निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक ही होता है।

अर्थात् ? कि यह स्वरूप शुद्ध पवित्र है - ऐसा अन्तर दर्शन - श्रद्धा हुई, उसका ज्ञान हुआ, तब उसमें स्थिर हुआ जा सकता है। अभी दर्शन-श्रद्धा, ज्ञान के बिना स्थिरता नहीं हो सकती। समझ में आया ? सम्यक्चारित्र अर्थात् सच्ची रमणता, सच्ची लीनता; तो लीनता किसमें करना ? किसमें हुई ? जो चीज़, जिसमें लीनता हुई, वह चीज़ - स्वरूप आत्मा अखण्डानन्द प्रभु है; उसके दर्शन और ज्ञान बिना उसमें लीनता नहीं हो सकती। कहो, ठीक है ? है इसमें, लिखा है ?

‘जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यक् भावश्रुतज्ञान होता है।’ निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ अर्थात् यह चीज़ शुद्ध अखण्ड है - ऐसी रुचि - दृष्टि प्रकट हुई, उसके साथ ही उसका ज्ञान सच्चा होता है। समझ में आया ? दर्शन कारण है, ज्ञान कार्य है, तथापि दोनों एक समय में (साथ में है।) यह वस्तु शुद्ध चैतन्य ज्ञानपुंज है - ऐसी जहाँ प्रतीति हुई, तब प्रतीति के साथ सम्यग्ज्ञान, उसके स्वज्ञेय को पकड़ने का ज्ञान साथ में होता है, उस ज्ञान को भावश्रुतज्ञान कहते हैं। समझ में आया ? यह तो वस्तु ऐसी है न ?

यहाँ से (बात) उठाई है। तीसरी ढाल (यहाँ से) शुरु की है। ‘जो सत्यारथरूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो।’ यहाँ से शुरुआत की है। दो कहा सही, द्विविध विचार करने को कहा, जानने को कहा, परन्तु एक सत्यार्थ को सत्यार्थरूप से जानना और अशुद्ध को अशुद्धरूप से गौणरूप से, उपचाररूप से जानना - ऐसा कहा। पाठ में ही यह भरा है। है या नहीं ? यह पुस्तक तो सबके हाथ में है। ऐ...ई..! है या नहीं इसमें ? ऐसा अर्थ सुना था या नहीं ? पढ़ा था या नहीं ?

‘निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ...’ अर्थात् ? आत्मा अनन्त गुण का पवित्र धाम है - उसका निर्णय हुआ; उसका हुआ निर्णय, निर्णय के साथ ही सम्यग्ज्ञान होता है, क्योंकि निर्णय, वह कारण है और ज्ञान, वह कार्य है, तथापि उस कारण-कार्य का सम्बन्ध एक समय में है। समझ में आया ? जैसे दीपक और प्रकाश एकसाथ होते हैं, परन्तु दीपक कारण कहलाता है और प्रकाश कार्य कहलाता है; तथापि पहले - बाद में नहीं है, फिर भी दीपक को कारण कहते हैं और प्रकाश को कार्य कहा जाता है। इसी तरह आत्मा ज्ञायक चैतन्य शुद्ध पवित्र है, यह आत्मा अनाकुल आनन्द का धाम है, उसका अन्तर निश्चय... निश्चय... निश्चय...

निर्णय, सम्यक् अनुभव हुआ, उसके साथ जो ज्ञान होवे, उसे सम्यग्ज्ञान-श्रुतज्ञान कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें ? यह तो 'छहढाला' में है। ऐ..ई ! यह है या नहीं ? तुमने कितनी बार रट लिया ? घण्टी लाओ, पड़ लाओ, एक घण्टी का पड़ पड़ा रहा, दूसरा लाओ (- ऐसा कहे) परन्तु यह घण्टी का पड़ तो पहले पहिचाने, निश्चय चक्र यह है और विकल्प का चक्र दूसरा व्यवहार अशुद्ध है।

'सम्यक् भावश्रुतज्ञान होता है और निश्चयनय तथा व्यवहारनय, दोनों सम्यक् श्रुतज्ञान के अवयव (अंश) है...' क्या कहा ? आत्मा के निश्चय में आया, निर्णय में आया, नियमरूप जो सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ; नियमरूप अर्थात् निश्चय (आया कि) यह शुद्ध निर्विकल्प आनन्द ज्ञान है। आत्मा अकेला ज्ञान का पुंज है। 'देह भिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान' आता है न ? श्रीमद् में ! 'देह भिन्न केवल चैतन्य' - अकेला चैतन्य, अकेला चैतन्य... अकेला चैतन्य, (उसका) ज्ञान। उस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है। उस श्रुतज्ञान के दो भाग - एक निश्चयनय, एक व्यवहारनय। दोनों सम्यक् श्रुतज्ञान के अंश अवयव है। कहो, ठीक है।

'इसलिए मिथ्यादृष्टि को निश्चय या व्यवहारनय हो ही नहीं सकता।' जहाँ तक इसकी रुचि पुण्य-पाप के राग में, अस्तित्व दृष्टि पड़ी है, पुण्य-पाप के विकल्प के प्रेम में - रुचि में, आसक्ति में, लीनता में रुचि पड़ी है, तब तक इसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। सही है ? और सम्यग्ज्ञान नहीं होता, इसलिए निश्चय और व्यवहार... उसके दो पहलू नहीं होते। वस्तु ही नहीं है, वहाँ दो पहलू कहाँ से लाना ? 'इसलिए व्यवहारनय प्रथम होता है और निश्चयनय बाद में प्रकट होता है - ऐसा माननेवाले को नयों का स्वरूप...' अथवा वास्तविक दृष्टि का पता नहीं है। आता ही नहीं, परन्तु आवे कहाँ से ? भाई ! समझ में आया ? आहा..हा.. ! चाहे जितना जानपना हो, या पंच महाव्रत का विकल्प (हो), वह तो सब बहिर्मुख घोलन है, वह तो बहिर्मुख है। इस प्रकार अन्तर्मुख की सत्ता भगवान, महा अनन्त सत्ता आत्मा की है। वह जब तक दृष्टि में नहीं आवे, तब तक उसे नय का ज्ञान (नहीं होता)। प्रमाणज्ञान नहीं है तो फिर नय कहाँ से आये ? समझ में आया ? इसलिए जिसकी दृष्टि पुण्य और पाप की रुचि में पड़ी है, उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता; इसलिए उसे निश्चय और व्यवहार, ज्ञान के दो अंश भी नहीं होते। समझ में आया ? आहा..हा.. ! भारी विवाद... यह एक बोल हुआ।

दूसरा (बोल) :- ‘(२) तथा नय निरपेक्ष नहीं होते...’ अर्थात् क्या ? यह तो ऊपर आ गया है कि प्रमाणज्ञान हो, वहाँ दोनों नय साथ ही होते हैं; अकेला नहीं होता। निरपेक्ष अर्थात् व्यवहार होवे और निश्चय न होवे और निश्चय होवे और व्यवहार न होवे, नीचे की बात है, हाँ ! ऊपर की बात नहीं है। ‘निश्चयसम्यग्दर्शन प्रकट हुए पहले...’ अर्थात् आत्मा शुद्ध चैतन्य के अन्तर्मुख की निश्चयदृष्टि किये बिना, अन्तर को पकड़े बिना, जो अनादि से बाह्य को पकड़ा है, शुभाशुभरागादि, बाह्य शास्त्रज्ञान... उसमें से अन्तर को पकड़े बिना उसे निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं हो सकता; अतः सम्यग्दर्शन से पहले यह व्यवहारनय होवे तो निश्चयनय की अपेक्षा रहित हुआ। समझ में आया ? पहले व्यवहार कहो तो निश्चय नहीं तो व्यवहार किसे कहना ? सूक्ष्म बात है ! यह पूरा विषय ही (सूक्ष्म है)।

दो कहा न ? सत्यार्थ सम्यग्दर्शन, वह निश्चय; उसके समक्ष असत्यार्थ, मिथ्या, झूठा, अशुद्ध, गौण, निमित्तकारण, उसे व्यवहार कहा जाता है। समझ में आया ? तो जहाँ निश्चय-स्वआश्रित दृष्टि नहीं हुई, उसे पराश्रित राग का ज्ञान पहले कहना और स्व का बाद में कहना – ऐसा नहीं हो सकता। कहो, इसमें समझ में आया ? ‘तथा प्रथम अकेला व्यवहारनय होवे तो अज्ञानदशा में...’ सम्यग्ज्ञान माना पड़ेगा। जहाँ अन्तर्मुख दृष्टि हुई नहीं और अनादि का बहिर्मुखता का झुकाव है, उसे सम्यग्ज्ञान मानना पड़ेगा, व्यवहार को प्रथम कहो तो... परन्तु बहिर्मुखता के अकेले भाव में व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता।

‘निरपेक्षा नयाः मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत (आप्तमीमांसा, श्लोक १०८) ऐसा आगम का वचन है।’ परन्तु न्याय से भी उसे जानना या नहीं ? बहिर्मुखता के अकेले विकल्प को व्यवहार कहो, तब तो यहाँ निश्चय तो नहीं है और अकेला व्यवहार रहा; निरपेक्ष हो गया। व्यवहार अकेला निरपेक्ष (हुआ)। निश्चय की अपेक्षा रहित का व्यवहार रहा, तो मिथ्या हो गया। समझ में आया ? प्रथम व्यवहार कहो – परलक्ष्यी ज्ञान, परलक्ष्यी राग – उस व्यवहारचारित्र को यदि व्यवहार कहो तो अकेला रहा, निश्चय तो आया नहीं; निश्चय रहित नय अर्थात् निरपेक्ष (हुआ) तो मिथ्या हुआ। वह मिथ्या है, इसलिए नय नहीं है। उसे (नय) नहीं हो सकता, भाई ! समझ में आया ? सूक्ष्म (है)। व्यापार करके ‘मुम्बई’ गये थे न ? वहाँ

फँसे तो यह समझ में नहीं आयेगा। आहा.. !

‘इसलिए अज्ञानदशा में...’ अर्थात् बहिर्मुख की दृष्टि के विकल्प के ज्ञान में कभी नय हो नहीं सकता; अर्थात् व्यवहारनय हो नहीं सकता। व्यवहाराभास है। अर्थात् कि वस्तु के भान बिना अकेले विकल्पात्मक ज्ञान में, विकल्पात्मक राग की श्रद्धा में व्यवहाराभास कहा जाता है और यहाँ जब तक केवलज्ञान नहीं हुआ और वहाँ व्यवहार विकल्प आदि न होवे तो निश्चयाभास कहा जाता है। जो पूर्ण नहीं हुआ, वहाँ विकल्प – व्यवहार तो होता है और वह कहे कि हमें वह विकल्प नहीं होता तो वह भी निश्चयाभास कहा जाता है; क्योंकि यथार्थ निश्चय प्रकट हुआ हो तो उसे विकल्प आदि भाव निमित्तरूप से, केवलज्ञान न हो, तब तक हुए बिना रहते नहीं। इसलिए कोई कहे कि हमें व्यवहार नहीं होता, तो निश्चयाभास हो गया। निश्चय न होवे तो व्यवहाराभास हो गया व्यवहाराभास अर्थात् मिथ्या। निश्चय मिथ्या और व्यवहार मिथ्या। समझ में आया ?

समझना... समझना... और समझना। आत्मा ही समझ का पिण्ड है। केवलज्ञान समझ है, श्रुतज्ञान भी समझ है और आत्मा समझ का पिण्ड है। आहा..हा.. ! ज्ञान का पिण्ड, ज्ञान का झोकड़ा है। भगवान ज्ञानरत्न का पूर्ण झोकड़ा है। आहा..हा.. ! अन्तर में उसका ज्ञान प्रकट हो, तब उस विकल्प को – व्यवहार को उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाता है। निश्चय के बिना व्यवहार कैसा ? और व्यवहार के बिना निश्चय कैसा ? नीचे, हाँ ! पूर्ण हो गया और तो फिर प्रमाण पूरा हो गया। समझ में आया ?

इसलिये कहते हैं – ‘(३) जीव निज ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से निश्चयरत्नत्रय (मोक्षमार्ग) प्रकट करे...’ देखो ! भगवान आत्मा चैनत्यमूर्ति जो रागरहित चीज़ है, जो आस्रवतत्त्व – पुण्य-पाप के हैं और अजीवतत्त्व – कर्म, शरीर है – उनसे रहित वह चीज़ है। उनसे रहित चीज़ में आस्रव नहीं है। ऐसी चीज़ का सम्यग्दर्शन-ज्ञान करे, तब वह आस्रव-विकल्प जो निमित्तरूप से व्यवहार आता है, तब उसे उपचार से मोक्ष का मार्ग आरोप किया जाता है। समझ में आया ?

‘तब सर्वज्ञ कथित नव तत्त्व...’ देखो ! अकेले एक स्वतत्त्व का भलीभाँति भान हुआ,

तब सर्वज्ञ कथित, हाँ ! दूसरे – अन्य के कथित नहीं; क्योंकि सर्वज्ञस्वभावी, सर्वज्ञस्वभावी आत्मा पूर्ण ज्ञानस्वभावी है, उसका ज्ञान हुआ, वह निश्चय हुआ; उसके साथ सर्वज्ञ द्वारा कथित नव(तत्त्व) के भेदवाला ज्ञान, नव तत्त्व का ज्ञान, वह भेद-ज्ञान है, व्यवहार ज्ञान है, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है।

‘नव तत्त्व, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा...’ सच्ची सर्वज्ञदेव, अपने सर्वज्ञ परमात्मा की श्रद्धा हुई, तब व्यवहार में दूसरे सर्वज्ञदेव ऐसे होते हैं – ऐसी उनकी विकल्पात्मक श्रद्धा होती है। समझ में आया ? यह सर्वज्ञस्वभावी अर्थात् यह तो अकेला ज्ञानस्वरूप ही है। फिर ज्ञान में कम, न्यून कुछ नहीं रहता। एक ज्ञान, एक ज्ञान – ऐसा सर्वज्ञ अर्थात् पूर्ण ज्ञानस्वरूप। ऐसे आत्मा की दृष्टि हुई, तब सर्वज्ञ कथित व्यवहार के जो व्यवहाररूप नव तत्त्व, उनकी उसे विकल्परूप श्रद्धा होती है, उस व्यवहार को समकित कहा जाता है। समझ में आया ? यह तो बहुत बोल याद रखना। है या नहीं ? पुस्तक रखा है न ? भाई !

‘सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा...’ अर्थात् ? ज्ञायकस्वभाव कहा न ? अकेला ज्ञानस्वभाव भगवान पूर्ण... पूर्ण... प्रभु; उसका जहाँ सम्यग्ज्ञान, दर्शन हुआ, तब भगवान द्वारा कथित भेदवाले नवतत्त्व, दूसरे सर्वज्ञदेव, उसके साधक गुरु, उनको कहनेवाले शास्त्र, इन सम्बन्धी – परद्रव्य सम्बन्धी श्रद्धा-राग मिश्रित विचार, यह सब तो परद्रव्य हुए न ? स्वद्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान हुए, तब अभी विकल्प बाकी रह गया है। जो परद्रव्य-सर्वज्ञदेव-शास्त्र-गुरु और नवतत्त्व की श्रद्धा का राग, उसे होता है।

‘राग मिश्रित विचार और मन्द कषायरूप शुभभाव होवे, उस जीव को जो पूर्व में था, उसे भूतनैगमनय से व्यवहार कारण कहा जाता है।’ यह किस अपेक्षा से कहा ? ‘जो जाणदि अरहंत’ – कहा था न ? जो अरिहन्त को जानता है, तब अरिहन्त को (जानने में) पर तरफ के विकल्प थे। यह अरिहन्त ऐसे हैं; द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे हैं, (फिर) ऐसे हटकर अपने सर्वज्ञस्वभाव का ज्ञान हुआ, तब उस विकल्प को नैगमनय से कारण कहा गया है। समझ में आया ? प्रवचनसार में ८०वीं गाथा में कहा न ? ‘जो जाणदि अरहंत,’ वे तो परद्रव्य हैं। ‘द्वत्तगुणपज्जयत्तेहि’ उनके द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने, तब तो वह विकल्प था, वह तो पर

तरफ का विकल्प था। उसे छोड़कर अन्दर निर्विकल्प सम्यग्ज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, तब उस विकल्प को 'उससे हुआ' - ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। समझ में आया ?

यहाँ तो अपने नैगमनय को अरिहन्त के साथ मिलाया। अरिहन्त ऐसे, द्रव्य-गुण-पर्याय (ऐसे) - ऐसा पहले परसन्मुख ज्ञान हुआ, वह वृत्ति परसन्मुख है। ऐसा वह आत्मा, ऐसा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, एक समय की ऐसी ताकत है, ऐसी ताकत तो द्रव्यमें से प्रकट हुई है। मेरा द्रव्य भी ऐसा है। इस प्रकार अन्दर द्रव्य में जाकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रकट होता है, तब जो विकल्प का, व्यवहार का ज्ञान था अथवा देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का उस प्रकार का राग था, उसे नैगमनय से व्यवहार कारण कहा जाता है। इसमें समझ में आया ? सब बोल ऐसे (हैं), यह तो निश्चय और व्यवहार के बोल ही सब ऐसे हैं। आहा..हा..! 'परमात्मप्रकाश' की दूसरे अध्याय की १४वीं गाथा की वह नैगमनय की टीका है। समझ में आया ?

'तथा उसी जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन की भूमिका में शुभराग और निमित्त किस प्रकार के होते हैं...' उसने सर्वज्ञस्वभावी जाना है, माना है, उसे विकल्प में भी सर्वज्ञ कथित तत्त्व और विकल्प और निमित्त व शुभराग ऐसा ही होता है; दूसरा नहीं हो सकता - ऐसा बताने के लिए **'उनका सहचरपना बताने को...'** विकल्प साथ होता है। भगवान सर्वज्ञ प्रभु, अकेला जाननेवाला, कहीं अटकनेवाला नहीं - ऐसा उसका स्वरूप है, चैतन्य का, हाँ ! ऐसे चैतन्य के, ज्ञायक के स्वभाव को जाना, तब उसकी भूमिका में, अभी अधूरा है; इसलिए उसका ज्ञान और विकल्प, सर्वज्ञ कथित नव तत्त्व की श्रद्धा और उनके द्वारा कथित चारित्र के विकल्प की मर्यादा उस भूमिका में होती है - इतना बतलाने के लिए उसे व्यवहार कहा है। समझ में आया ? यह सब समझने योग्य है। यह छहढाला तो लड़के बहुत पढ़ते होंगे। हैं ? कहाँ गया ? यह सब पढ़ते हैं या नहीं ? वहाँ अपने पढ़ाते हैं या नहीं ? तो फिर ध्यान रखना चाहिए न इसमें क्या है ? आ..हा..! क्या कहा ?

भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी वस्तु प्रभु, यह आत्मा, हाँ ! उसका निश्चय दर्शन होने पर सर्वज्ञ कथित भेदवाले नव तत्त्व या छह द्रव्य आदि की श्रद्धा; सर्वज्ञ की श्रद्धा या गुरु-शास्त्र की श्रद्धा; जिस शास्त्र ने सर्वज्ञपना कहा, जिसे सर्वज्ञपना प्रकट हुआ या जो सर्वज्ञपना साध रहे

हैं - भाई ! इस प्रकार तीन लिये। ठीक ! सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की दृष्टि हुई, सर्वज्ञ कथित शास्त्र, शास्त्र द्वारा कथित सर्वज्ञ का स्वरूप सन्त अथवा सर्वज्ञता को साधनेवाले गुरु और सर्वज्ञपना पर, उसे ऐसे श्रद्धा-ज्ञान की भूमिका में ऐसा ही विकल्प होता है; दूसरा नहीं हो सकता। आहा..हा..! कुछ समझ में आया ?

‘उसका सहचरपना...’ शुद्ध सर्वज्ञ आत्मस्वभाव की प्रतीति के साथ ऐसे ही सर्वज्ञदेव, सर्वज्ञ के साधनवाले गुरु; सर्वज्ञपना जिन्होंने सिद्ध किया है - ऐसे शास्त्र। समझ में आया ? और उनके द्वारा कथित नव तत्त्व, उसका सहचरपना (होता है)। निश्चयसम्यग्दर्शन में ऐसे विकल्प का सहचरपना होता है - साथ होता है। सहचर - साथ में। पहले नैगमनय से कहा था। ‘जो जाणादि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं। सो जाणादि अप्पाणं’ कुछ समझ में आया ? यह साथ में कहा था। उसे अभी राग है न ? इसलिए उस प्रकार का विकल्प (होता है)। सर्वज्ञ परमेश्वर की श्रद्धा का राग, सर्वज्ञ के साधक ऐसे गुरु का विकल्प और सर्वज्ञ को सिद्ध करनेवाले शास्त्र। शास्त्र तो सर्वज्ञपना सिद्ध करते हैं, अर्थात् वीतरागपना सिद्ध करते हैं। वीतरागपना सिद्ध करते हैं न ? और वीतरागपना शास्त्रका तात्पर्य है। ऐसे शास्त्र की श्रद्धा करना। ऐसे निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ ऐसा सहचरपना, ऐसा ही विकल्प और ऐसा ही ज्ञान होवे, उसे व्यवहार कहा जाता है, भाई !

आज तो पोनघण्टे एक ही चला। इसमें कितना याद रखना ? मोटर का कितना याद रखते होंगे वहाँ ? मोटर के पार्ट्स... पार्ट्स कहते हैं न ? क्या कहते हैं ? भाग, कितने ही पार्ट्स और कितने ही भाग; चारों ओर के याद रहते हैं। तुम्हारे लोहे का कितना याद रहता है ? आहा..हा..! इसमें बहुत नहीं है। यह है तो थोड़ा, परन्तु इसका विस्तार समझाने के लिए बहुत कहना पड़ता है। समझ में आया ? वरना तो सर्वज्ञस्वभावी प्रभु की दृष्टि होने पर उनके द्वारा कथित और वे स्वयं और गुरु की, शास्त्र की श्रद्धा का राग आवे, उसे व्यवहार कहा जाता है। लो, यह संक्षिप्त और सार ! अर्थात् उन कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र, सर्वज्ञ के अतिरिक्त के, सर्वज्ञ को साधनेवालों के अलावा, सर्वज्ञ को कहनेवाले शास्त्र के अलावा सब निकल गये। कुछ समझ में आया ?

‘ऐसा कहने का कारण यह है कि उससे अलग प्रकार का (विरुद्ध) निमित्त उस दशा में किसी को नहीं हो सकते...’ सर्वज्ञ के अतिरिक्त, सर्वज्ञ के साधक गुरु के अतिरिक्त या सर्वज्ञ और वीतरागता को सिद्ध करनेवाले शास्त्र के अतिरिक्त अन्य के देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा उसे नहीं हो सकती। अल्पज्ञ अज्ञानी के कहे हुए तत्त्वों, अज्ञानी की श्रद्धा या अज्ञानी के कहे हुए शास्त्र (इनकी श्रद्धा उसे नहीं होती)। अर्थात् शुभभाव-व्यवहाररत्नत्रय का भाव-व्यवहार होता है तो भी वह वास्तविक कारण नहीं है। सत्यार्थ कारण नहीं, उपचार कारण है, अशुद्ध कारण है, गौण कारण है। मुख्य कारण तो यह निश्चय है।

एक न्याय तो यह है। जैसे ज्ञान में सिद्ध किया, ऐसे आत्मा शुद्ध स्वरूप है। ज्ञान और आनन्द दो ही गुणों की प्रधानता आत्मा में है। आत्मा स्वयं ही आनन्दरूप है। जैसे पहले ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञस्वभाव सिद्ध किया... समझ में आया ? ऐसे आत्मा आनन्दरूप है; इसलिए आत्मा के आश्रय से सुख प्रकट हो सकता है। आनन्दरूप है, उसके आश्रय से आनन्द प्रकट होता है। राग, पुण्य और निमित्त कहीं आनन्दरूप नहीं है, स्वयं के आनन्दरूप नहीं है। पुण्य-पाप का विकल्प या निमित्त या संगपना या देव-गुरु-शास्त्र; यहाँ आनन्द है, वह आनन्द उनमें नहीं है; इसलिए यह आनन्द जो आत्मा में है, उसके आश्रय से ही आत्मा को आनन्द प्रकट हो सकता है। ठीक है ? जहाँ आनन्द है, वहाँ आनन्द की नज़र डालने से आनन्द प्रकट होता है।

जैसे ज्ञान-सर्वज्ञपना जहाँ है, वहाँ एकाकार होवे तो सर्वज्ञ की प्रतीति, ज्ञान और रमणता होती है, तो सर्वज्ञ कार्यरूप परिणमित्त होता है। इसी तरह आत्मा स्वयं ही आनन्दरूप है, इसलिए आत्मा के आश्रय से सुख होता है। ‘परन्तु किसी निमित्त या व्यवहार के आश्रय से सुख प्रकट नहीं हो सकता।’ क्यों ? कि राग में या निमित्त में वह आनन्द नहीं है। यह आत्मा का आनन्द वहाँ नहीं है। समझ में आया ? (आज) नवमी और रविवार है।

कहते हैं कि आत्मा जैसे सर्वज्ञस्वभावी है तो उसके आश्रय से ज्ञान की सच्ची प्रतीति हुई और सर्वज्ञपना प्रकटे। राग में कहीं सर्वज्ञपना नहीं है तथा निमित्त में संगपने में सर्वज्ञपना नहीं है कि जिसके आश्रय से वह प्रकटे। ऐसे आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु है। उस अतीन्द्रिय आनन्द के अवलम्बन से अतीन्द्रिय आनन्द, श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के कारण से प्रकटे।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह आनन्द का ही अंश है। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

वस्तु है, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द सुखरूप है। सुखरूप, आनन्दरूप है तो उसके आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, वे सुखरूप होते हैं। सुखरूप हों, व पूर्ण सुख को साधनेवाली पर्याय है। आनन्दरूप आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति, इस पर्याय को अपूर्ण आनन्द है। वस्तु पूर्ण आनन्द है, पर्याय अपूर्ण आनन्द है। उसे पूर्ण आनन्द का कारण होता है। उस आनन्द के आश्रय बिना पुण्य-पाप के विकल्प, व्यवहार और निमित्त में कुछ आनन्द नहीं है कि उनके आश्रय से प्रकटे। इस आनन्द के आश्रय से अंश प्रकट होता है। समझ में आया ? शुभराग है, व्यवहार जो है, व्यवहार का ज्ञान, व्यवहारिक श्रद्धा, व्यवहारिक राग में कुछ आनन्द नहीं है। आंशिक आनन्द भी नहीं है; पूर्ण आनन्द तो नहीं, आंशिक भी नहीं है। पूर्णानन्द भगवान आत्मा है। उसके आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र आंशिक आनन्द प्रकट होता है। राग और निमित्त में अंश भी नहीं है। पूर्ण नहीं और अंश भी नहीं है तो उनके आश्रय से कभी सुख प्रकट नहीं होता; इसलिए उनके आश्रय से मोक्षमार्ग प्रकट नहीं होता अर्थात् पूर्ण आनन्दरूपी मोक्ष का कारण अंशराग और निमित्त नहीं हो सकता। समझ में आया ? भाई ! कितने सब बोल इसमें अन्दर समझने योग्य हैं, हाँ ! लिखा है, यह तो उसका अर्थ होता है।

सत्य सिद्धान्त क्या सिद्ध करना है ? कि भगवान आत्मा अकेला आनन्द का ही पिण्ड है। आत्मा अर्थात् अतीन्द्रिय गुण सम्पन्न। एक-एक गुण से लो तो पूर्ण गुणरूपी वस्तु है। जैसे, पहले ज्ञान से लिया तो ज्ञायक ले लिया। अब, आनन्द से लेने पर आनन्दमूर्ति है। वीर्य से (लेवे तो) वीर्यगुण की मूर्ति है। शान्ति कहो तो चारित्र की मूर्ति है। वस्तु... वस्तु एक अखण्ड। आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में अन्तर एकाग्र होवे तो आनन्द का अंश प्रकट होता है। वह आनन्द का अंश प्रकट होता है, उसका नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहा जाता है। और वह पूर्ण होवे तब उसे मोक्ष कहा जाता है। पर्याय का पूर्ण पर्याय में पूर्ण (मोक्ष होता है), वस्तु तो पूर्ण है, पर्याय में पूर्ण ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सुख आदि (प्रकट होते हैं)। समझ में आया ?

इस सुख की दशा का अंश, अंशी के अवलम्बन के बिना नहीं होता; तो वह अंशी तो पूर्ण

आनन्दरूप है। यह राग और निमित्त कहीं उसका अंशी नहीं है कि उसमें से आनन्द प्रकटे या उसमें से मोक्ष का मार्ग आवे या उनसे मोक्ष हो, उनसे मोक्षमार्ग, उनसे मोक्ष हो - ऐसा नहीं है। समझ में आया ? धीरे-धीरे तो कहा जाता है। उसे विचारने में समय रहे ऐसा थोड़ा-थोड़ा (कहा जाता है)। यह तो एक-एक गुण कोई भी लो न (सब में कहा जाता है)। मुख्य तो सब जगह सुख और ज्ञान से ही आत्मा का वर्णन किया है। मांगलिक किया वहाँ (यह कहा), चिदानन्दाय नमः, समझ में आया ? क्योंकि मुख्य वस्तु ज्ञान और आनन्द है। ज्ञान प्रधान वस्तु है और जगत को आनन्द चाहिए। उसमें वीर्य, श्रद्धा, शक्ति की पूर्णता यह सब उसमें आ जाता है। दूसरे प्रकार से कहे तो, श्रद्धा से कहे तो श्रद्धा नाम का गुण पूरा आत्मा में व्यापक है। आत्मा श्रद्धास्वरूप ही है, लो ! क्या कहा ?

जैसे, यह ज्ञान और आनन्द कहा; ऐसे आत्मा अकेला श्रद्धा का पिण्ड है। सम्यग्दर्शन पर्याय नहीं, श्रद्धारूप पूरा आत्मा है। उस श्रद्धारूप पूर्ण आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रकटती है। यह राग और पुण्य में श्रद्धा है ? श्रद्धा का गुण है कि उसके आश्रय से श्रद्धा प्रकटी, और वह पूर्णानन्द श्रद्धा जो यहाँ प्रकटी, पूरे श्रद्धा (गुणमें से) सम्यक्श्रद्धा प्रकटी, वह पूर्ण अवगाढ़ (समकित) जो केवलज्ञान में प्रगटता है, वह इससे प्रकटता है। रागमें से प्रकटता है ? समझ में आया ? भाई ! पलाखे भी कठिन है।

मुमुक्षु :- आनन्द तो कहीं प्रभु हमे खोजने से मिलता नहीं।

उत्तर :- परन्तु यह दुःख तो खोजने से मिलता है या नहीं ? यह दुःख ज्ञात होता है, वह कृत्रिम है। इसके पीछे है, वह आनन्द - ऐसा कहते हैं, लो ! क्या (कहा) ? दुःख है या नहीं ? दुःख शरीर का नहीं, हाँ ! उसमें फिर चिल्लाना नहीं। इस शरीर में ठीक नहीं है - ऐसी मान्यता, वह दुःख है या नहीं ? यह दुःख है, वह कृत्रिम है। दुःख विकार त्रिकाल नहीं हो सकता। दुःख वह कृत्रिम है, विकार है, अनित्य है, अध्रुव है। उस विकार के पीछे त्रिकाल रहता है, उसे ध्रुव और आनन्द कहा जाता है। लो ! आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- परन्तु यह विकृत हुआ, वह कोई चीज़ अविकृत है, उसका विकृत होता है या

अविकृत नहीं, उसका विकृत होता है ? इस लकड़ी को दुःख होता है ? कहो, इसमें दुःख होता है ? क्यों (नहीं होता) ? कि अन्दर आनन्द नहीं है। आनन्द हो, वहाँ आनन्द की उल्टी दशा - अ-आनन्द अर्थात् दुःख होता है। समझ में आया ? भाई ! इसमें समझ में आता है या नहीं ? उसे दुःख है ? किसे दुःख है ? आत्मा की पर्याय में दुःख है। दुःख, वह विकृतपना बतलाता है, आकुलता बतलाता है। वह दुःख एकरूप नहीं रहता, अर्थात् वह अनित्यता बतलाता है; एकरूप नहीं रहता इसलिए। वह अनित्यता और आकुलता कृत्रिम है तो वह कोई आनन्द त्रिकाल है, उसकी उल्टी अवस्था है। वही आनन्द को सिद्ध करती है। समझ में आया ? भाई ! लोजिक से न्याय से तो यह है।

मुमुक्षु :- दुःख। आनन्द को सिद्ध करता है।

उत्तर :- सिद्ध करता है। हाँ, दुःख का ख्याल आवे तो आनन्द दूसरा है - ऐसा सिद्ध करता है। समझ में आया ? आनन्द का ज्ञान होवे, तब दुःख का ज्ञान व्यवहार से कहा जाता है - ऐसा कहते हैं।

यह तो श्रद्धा ली; ऐसे ही प्रत्येक गुण की ऐसी शैली है। भगवान आत्मा शान्तरस का पिण्ड चारित्र है। शान्त... शान्त.. अकषाय-स्वरूप है। प्रभु आत्मा अकषाय का पिण्ड है। उसके आश्रय से अकषाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं। अकषाय अर्थात् शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, परन्तु उस अकषाय चारित्र का आधार यह अकषाय द्रव्य होता है। विकल्प उसका आधार होता है ? (क्या) राग में अकषायपना है ? जो राग स्वयं वर्तमान कषाय हो और फिर अकषाय कार्य का कारण होगा ? इसमें कुछ समझ में आया ? यह तो निश्चय और व्यवहार दो के कार्य-कारण की बात ऐसी है। आ..हा !

कहते हैं कि आत्मा (सुखस्वरूप है)। इस प्रकार सब ले लेना, हाँ ! शान्ति, श्रद्धा... समझ में आया ? वीर्य, वीर्य की मूर्ति प्रभु है। अकेले बल की मूर्ति है। शक्ति का पूर्ण बल ! उस बल के आश्रय से बलवाला सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्यक् प्रकट होता है। हैं ?

मुमुक्षु :- भीत हिला दे।

उत्तर :- भीत हिलावे ? भीत हिलाता होगा ? तो वह बल कहलाये ? हैं ?

यहाँ तो विकल्प में भी बल नहीं है – यह सिद्ध करना है। दूसरे को हिलाने की बात भी कहाँ है ? वास्तविक बल विकल्प में नहीं है। बलवन्त... बलवन्त.. वह क्या कहलाता है ? क्या कहलाता है उस पौधे का नाम ? कहते थे न ? वह पौधा नहीं था प्रवचन मण्डप में ? उस पौधे का नाम कहते, बल। नाम क्या ? अकेला बल ही ? दूसरा शब्द नहीं ? ऐसा कहते थे के यह बल का वृक्ष है, परन्तु दूसरा विशेष नाम था। वह बल का वृक्ष कहलाये; उसे बल कहा जाता है। हें ?

मुमुक्षु :- बल बीज।

उत्तर :- हाँ, बल का बीज होता है वह। वह वहाँ था। वैसे यह बल का बीज तो यह आत्मा है, वीर्य का पिण्ड पूरा। अकेले वीर्य की कतली भगवान है। यह वीर्य की मूर्ति, वीर्यबल जो आत्मा का है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का वीर्य प्रकट होता है। पुण्य के राग में बल है, वह उसके आश्रय से प्रकट होता है ? और उस राग में बल है कि राग के आश्रय से मोक्ष हो ? पूर्ण वीर्य। मोक्ष अर्थात् पूर्ण वीर्य। पूर्ण वीर्य इस राग के आश्रय से होता होगा ? पूर्ण वीर्य के आश्रय से हुआ वीर्य, वह पूर्ण वीर्य का कारण होता है। समझ में आया ? फिर पाँचवा बोल लेते हैं। लो ! मोक्षमार्ग तो एक ही है, उसकी व्याख्या विशेष आयेगी...

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



निर्विकल्प होनेवाला जीव, निर्विकल्प होनेके पूर्व ऐसा निर्णय करता है कि मैं कभी भी रागादि भावरूप परिणामनेवाला नहीं हूँ। परन्तु ज्ञानदर्शन रूप परिणामनेवाला हूँ। अभी रागादि भाव होंगे-ऐसा जानता है, फिर भी मैं उनका स्वामीरूप होनेवाला नहीं। मेरा ऐसा प्रयत्न है कि मुझे भविष्यमें सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त होंगे फिर भी उस समय राग भी रहेगा, परन्तु मैं उसरूप परिणामनेवाला नहीं-ऐसा निश्चित है। (प्रथम) निर्णय करता है पर्यायमें, बादमें अनुभव होगा पर्यायमें। परन्तु वह पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि मैं तो चिन्मात्र अखण्ड ज्योति स्वरूप हूँ, पर्याय नहीं।

(परमागमसार - २९)

वीर संवत् २४९२, माघ शुक्ल १०, सोमवार

दि. ३१-१-१९६६, गाथा १, २ प्रवचन नं.-१३

तीसरी ढाल, उसकी पहली गाथा, उसका भावार्थ चलता है। पाँचवां भाग है। आया है न ?

**सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन शिवमग सो द्विविध विचारो;
जो सत्यार्थ-रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो॥**

उसकी व्याख्या चलती है। उसमें दो प्रकार कहे हैं। उसका हेतु ज़रा सिद्ध करते हैं। है तो दो प्रकार से कथन, परन्तु यथार्थ में एक है - ऐसा कहना है। कथन में दो है और तुम एक सिद्ध करते हो ? समझ में आया ? कथन में दो है। 'मग, सो द्विविध विचारो; जो सत्यार्थरूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो ।'

मुमुक्षु :- विचारने का फल।

उत्तर :- यह तो दोनों को विचारने को कहा है, विचार का फल नहीं। यह तो दोनों को विचारने को कहा है। तात्पर्य यह कि दो है और तुम फिर उसमें एक क्यों कहते हो ? यह तो जरा स्पष्ट करने के लिए (कहा है)। है तो दो, कथन के लिए उसे निम्नांकित पेरोग्राफ लागू पड़ेगा। छट्टा, छठवाँ है वह। समझ में आया ? उसके साथ मिलना चाहिए न ?

'मोक्षमार्ग तो एक ही है।' यह कथन किसलिए है ? यहाँ गाथा में दो (कहा) है, दो (अर्थात्) निश्चय, वह सत्य है और व्यवहार, वह उपचार है। इस अपेक्षा से उसे निश्चय, वह सत्य एक है - ऐसा कहना है, वरना उपचार दूसरा निमित्तरूप से, व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। 'मोक्षमार्ग तो एक ही है। वह निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप है।' तीन की दर्शन-ज्ञान और चारित्र की एकता, वह मोक्षमार्ग एक है। उसका कथन, एक को

सिद्ध करने का कथन 'प्रवचनसार' गाथा ८२ और १९९ में कहा है समझ में आया ? ८२ में ऐसा कहा कि मोक्षमार्ग तो एक ही है। परन्तु यहाँ जो कहा है, उसके कथन के दो प्रकार वर्णन किये हैं समझ में आया ?

'प्रवचनसार' गाथा ८२ में 'मोक्षमार्ग एक ही है, अन्य दूसरा कोई नहीं;' तथापि यहाँ दो कहे हैं (उसका कारण) उसका कथन करना है। यथार्थ मोक्षमार्ग तो आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र (प्रकट हो), वही मोक्षमार्ग है, परन्तु उसके साथ सहचररूप, उपचाररूप निमित्त कहना हो, उसका ज्ञान कराने को दो प्रकार से मोक्षमार्ग गाथा में कहा है। 'प्रवचनसार' (गाथा) १९९ में भी मोक्षमार्ग तो एक ही है - ऐसा कहा है; परन्तु यहाँ जो दूसरा कहा है, वह निमित्त को सहचर बतलाने के लिए कहा है। इसलिए कितने ही को ऐसा (होता है) कि इसमें दो कहे हैं और तुम एक स्थापित करते हो। यह तो गाथा से विरुद्ध है।

अब इसके लिये यहाँ ज़रा मोक्षमार्ग की (बात लीखी है)। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में ३१५ (पृष्ठ में) तो यह अधिकार है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - आत्मा की सम्यक् - निश्चय श्रद्धा, उसका ज्ञान और चारित्र इन तीन की एकता, वह एक मोक्षमार्ग है। वह तीन मोक्षमार्ग नहीं है। निश्चय-व्यवहार की बात वहाँ नहीं है। समझ में आया कुछ ?

आत्मा... वह यहाँ दूसरी गाथा में स्पष्ट कहेंगे। आत्मा का जो निश्चय स्वरूप शुद्ध आनन्द ज्ञायकमूर्ति, उसकी अन्तर में स्वरूप की निर्विकल्प प्रतीति / दर्शन (होवे), उसे निश्चय समकित कहा है। उसका ज्ञान और उसकी बात कहेंगे। स्थिरता-चारित्र (कहेंगे) परन्तु साथ में व्यवहार होता है, उसका कथन इसमें भी कहा है और मोक्षमार्गप्रकाशक में भी कहा है। दर्शन-ज्ञान और चारित्र - ऐसे तीन मार्ग नहीं है - ऐसा ३१५ (पृष्ठ पर) सिद्ध करना है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन होकर एक मोक्षमार्ग है, ऐसा। समझ में आया ?

'अब, मोक्षमार्ग तो दो है नहीं...' अब यहाँ दो कहे हैं, उसके समक्ष दो नहीं है - ऐसा सिद्ध करना है, इसलिए लोगों को जरा-सा विरोध लगता है... 'परन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है।' उसका कथन दो प्रकार से है। समझ में आया ? 'जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपण किया है...' यह डोटरमलजी की शैली है। 'वह निश्चयमोक्षमार्ग है...' जो

आत्मा में अनुभव की दृष्टि होकर सम्यग्दर्शन हुआ और आत्मा का ज्ञान हुआ, वह तो निश्चयमोक्षमार्ग है। 'तथा जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है...' यह यहाँ इसमें साथ सिद्ध किया है... 'वा सहचारी है...' अर्थात् साथ है, साथ। आत्मा के आश्रय से मोक्षमार्गनिश्चय दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो, उसके साथ नव तत्त्व की श्रद्धा का भेदवाला व्यवहार होता है, इससे उसे सहचारी मोक्षमार्ग कहा जाता है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र व्यवहार होता है।

'वहाँ उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहें, वह व्यवहारमोक्षमार्ग है...' वह यहाँ इसमें - पहली गाथा में सिद्ध किया है। समझ में आया ? 'मग सो द्विविध विचारो' - मार्ग है, उस प्रकार से जानना। वह जानने में सत्यार्थ-यथार्थ है। कारण के साथ सहचर गिनकर, निमित्त - गिनकर व्यवहार मोक्षमार्ग कहा गया है। मोक्षमार्ग तो नहीं है, परन्तु निमित्त - सहचारी (देखकर) उसे उपचार कहते हैं, वह व्यवहारोक्षमार्ग है। वह यहाँ पहली गाथा में सिद्ध किया है। समझ में आता है न भाई ! साथ में होता है, इसलिए - यह बात पहली गाथा में सिद्ध की है।

'क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है...' यह 'टोडरमलजी' की व्याख्या है कि निश्चय और व्यवहार का लक्षण सर्वत्र ऐसा है कि ऐसा। 'सच्चा निरूपण, वह निश्चय...' सत्य मार्ग जो होवे, सच्चा हो, यथार्थ हो, वास्तविक हो, अन्दर यह जो सत्यार्थ कहा है, वह निश्चय 'उपचार निरूपण, वह व्यवहार।' अर्थात् जो व्यवहार कहा है - 'कारण सो व्यहारो;' उसे उपचार से कहा है - ऐसा यहाँ सिद्ध किया है। समझ में आया ? निश्चय और व्यवहार के विवाद बहुत हैं।

सच्चा कथन है कि आत्मा से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है - यह सच्चा कथन है, इसलिए निश्चय है और साथ में उपचाररूप से सहचर होता है, उसे व्यवहार कहते हैं। 'इसलिए निरूपण की अपेक्षा से दो प्रकार से मोक्षमार्ग जानना...' ऐसा यहाँ जो पहली गाथा में कहा है न ? इस कथन की पद्धति की रीति से निश्चय के साथ सहचर उपचार से व्यवहार होता है, इसलिए उसे मोक्षमार्ग कहा है। 'परन्तु एक निश्चयमोक्षमार्ग है तथा एक व्यवहारमोक्षमार्ग...' भाषा देखी ? एक निश्चयमोक्षमार्ग है और फिर एक दूसरा

व्यवहारमोक्षमार्ग है... एक मोक्षमार्ग निश्चय और एक मोक्षमार्ग व्यवहार – ऐसे 'एक' पर वज़न है – ऐसा नहीं है; मोक्षमार्ग तो एक है, परन्तु उसके साथ व्यवहार है, उसे निमित्त गिनकर उपचार से कहा है। इसलिए एक निश्चयमोक्षमार्ग है और एक व्यवहारमोक्षमार्ग – ऐसे दो नहीं है। कुछ समझ में आया ?

मुमुक्षु :- दो होकर एक है।

उत्तर :- नहीं नहीं। दो होकर एक (नहीं); एक ही मोक्षमार्ग है, परन्तु साथ में सहचर अनुकूल व्यवहार देखकर, निश्चयमोक्षमार्ग के साथ ऐसा सहचर है; इसलिए उसका कथन साथ में किया है, वरना वह मोक्षमार्ग है नहीं परन्तु उसे सहचर देखकर कहा है। इसलिए इसे दो प्रकार का मोक्षमार्ग कथन की अपेक्षा से है। समझ में आया ? परन्तु एक निश्चयमोक्षमार्ग और यह एक व्यवहारमोक्षमार्ग, ऐसी भाषा है; दो मोक्षमार्ग है – ऐसा नहीं है। एक यह और एक यह ऐसा नहीं है, परन्तु एक यह निश्चय, वह सच्चा और एक यह, एक यह दूसरा – एक उपचार से सहचर देखकर कहा है। उसे दो होकर मोक्षमार्ग है – ऐसा नहीं है। बहुत कड़क बात है। 'टोडरमलजी' का कथन कितना है !

एक निश्चयमोक्षमार्ग और एक व्यवहारमोक्षमार्ग... पहला व्यवहार एक फिर निश्चय एक हो – ऐसा नहीं है – यह कहते हैं। समझ में आया ? पहला एक व्यवहारमोक्षमार्ग हो, दूसरे निश्चय की अपेक्षा रहित, भाई ! और फिर दूसरा एक निश्चय हो, वर्तमान व्यवहार की अपेक्षा रहित हो – ऐसा नहीं है, ऐसा है। यह एक-एक (कहने की) शैली रखी है, उसका हेतु यह है। एक निश्चयमोक्षमार्ग और एक व्यवहारमोक्षमार्ग – ऐसे दो नहीं है। समझ में आया ? दो होवे तो एक व्यवहारमोक्षमार्ग हो, वहाँ निश्चय नहीं होगा, तो अपेक्षा रहित हो गया (परन्तु) ऐसा नहीं है और अकेला निश्चय हो, वहाँ व्यवहार नहीं हो, – ऐसा नहीं है।

यहाँ तो मोक्षमार्गात्मा के आश्रय से जो निश्चयमोक्षमार्ग है, वह एक ही सच्चा है परन्तु कथन में दूसरा सहचर साथ में रहा हुआ है, निमित्तरूप में रहा हुआ है, इसलिए उसे व्यवहार कहा जाता है। नीचे अकेला एक व्यवहारमोक्षमार्ग और ऊपर अकेला निश्चयमोक्षमार्ग – ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। समझ में आया ? 'मानना मिथ्या है।' एक निश्चयमोक्षमार्ग और एक

व्यवहारमोक्षमार्ग है, अर्थात् ? एकसाथ रहित के, दो में एक-एक अलग है, एक-एक अलग करके मोक्षमार्ग है - ऐसा नहीं है। इसमें समझ में आया ?

ऐसा कहते हैं कि देख भाई ! इसमें परद्रव्य की भिन्नता कहेंगे। यह सामान्य की व्याख्या करेंगे। सामान्य-विशेष दो प्रकार है। आत्मा, अपने स्वरूप को, शुद्ध पवित्र है - ऐसा स्व आश्रय से सम्यग्दर्शन, स्व का ज्ञान और स्व की स्थिरता (करे) - ऐसा एक मार्ग है, वही निश्चय और यथार्थ है, परन्तु साथ-साथ उसे अनुकूलरूप निमित्त ऐसा होता है कि जो सर्वज्ञ द्वारा कथित छह द्रव्य अथवा सर्वज्ञ की श्रद्धा या सर्वज्ञ को (साधनेवाले) गुरु-साधक जीव की श्रद्धा या नव तत्त्व की श्रद्धा या पञ्च महाव्रत - ऐसा एक विकल्प साथ में निमित्तरूप साथ होता है; इसलिए उसे कथन में दो प्रकार से कहा है, परन्तु एक निश्चयरहित व्यवहार है, और एक व्यवहाररहित निश्चय है - ऐसी मोक्षमार्ग की कथन की पद्धति है ही नहीं। ऐसा है नहीं - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- दो होकर एक कहने में क्या बाधा है ?

उत्तर :- दो होकर एक नहीं; निश्चय एक ही है। दूसरा तो ऐसा सहचर देखकर, अनुकूल निमित्त देखकर सहचर में - साथ में कहा है, है नहीं। नहीं, उसे कहना - इसका नाम व्यवहार है। है तो यह एक ही है, दो होकर एक - ऐसा नहीं। अरे... ! ठीक है, तर्क तो होता है न ! समझ में आया ?

आत्मा शुद्ध अखण्ड ज्ञानमूर्ति अनन्त गुण का पिण्ड उसका एकरूप (है)। ऐसी अन्तर निश्चय निर्विकल्प प्रतीति-अनुभव (हुई), वह एक ही सम्यग्दर्शन है और आत्मा का जो ज्ञान, वह एक ही ज्ञान है; उसमें स्थिता, वह एक ही चारित्र है। यह तीन होकर एक है। तीन होकर तीन मार्ग नहीं है। ये तीन होकर एक मार्ग है। अब एक मार्ग है तो भी साथ में ऐसे विकल्प की व्यवहार से अनुकूलता (देखकर) कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा का अभाव, अत्रतादि का अभाव या उसके प्रमाणमें जो राग की मन्दता की व्यवहार श्रद्धा, व्यवहार ज्ञान और व्यवहार चारित्र (होवे) - ऐसे निमित्त को साथ में गिनकर, साथ गिनकर, साथ गिनकर उसे कथन में दूसरा मोक्षमार्ग व्यवहार है, दूसरा इसलिए दूसरा - ऐसा कहा है, है नहीं। समझ में आया ?

इसलिए उसमें दो होकर एक - ऐसा भी नहीं और आगे - पीछे एक-ऐसा भी नहीं, भाई !

मुमुक्षु :- मार्ग नहीं परन्तु मार्ग - योग्यता...

उत्तर :- योग्यता अर्थात् उपचार होने के लिए निमित्त है न ? निमित्त में योग्यता ऐसी है। निमित्त में ऐसी योग्यता है कि उसमें कथन आता है कि यह मोक्षमार्ग व्यवहार हैं। है नहीं, उसे कहने का नाम व्यवहार है और है उसे जानना, उसका नाम निश्चय है - ऐसा यहाँ है। तब है नहीं तो क्यों कहा ? कि ऐसे निमित्त की सहचरता देव-गुरु-शास्त्र की, नव तत्त्व की श्रद्धा का विकल्प या शास्त्र का ज्ञान या पंच महाव्रतादि के परिणाम (स्वरूप) ऐसा ही निमित्त उसे होता है, दूसरा नहीं होता - ऐसा व्यवहार से अनुकूल गिनकर उसमें व्यवहारमोक्षमार्ग का आरोप दिया है, वस्तु (मोक्षमार्ग) है नहीं। बन्धमार्ग है, उसे मोक्षमार्ग कहने का नाम व्यवहार है। आहा..हा.. !

इसलिए दो होकर एक - ऐसा नहीं; दो अलग-अलग - ऐसा नहीं, मात्र साथ में यह निश्चय है - ऐसी एक निमित्त की व्यवहार से अनुकूलता है। निश्चय से तो प्रतिकूल है। समझ में आया ? वस्तु का स्वभाव अपने आश्रय से हुआ दर्शन-ज्ञान-चारित्र एक ही सत्य है। तीन होकर, हाँ ! तीन होकर एक ! परन्तु साथ में एक ऐसे विकल्प की उसमें योग्यता होती है कि जिसमें निमित्तपने का, व्यवहार का आरोप किया जा सकता है। वह मोक्षमार्ग है नहीं, वह तो बन्धमार्ग है। इसलिए नहीं है, उसे कहना और साथ है, उसे ऐसे आरोप देना - इसका नाम व्यवहारमोक्षमार्ग कथन में आता है। वस्तु में ऐसा है नहीं।

‘पंचाध्यायी’कारने तो ऐसा लिया है, भाई ! व्यवहार, पता है ? वचनात्मक कहना, वह व्यवहार, ऐसा उन्होंने लिया है। लो ! फिर यह आया। ‘पंचाध्यायी’ में तो ऐसा कहा है कि वचनात्मक कहना, वह व्यवहार है; वस्तु में वह नहीं है। वाणी द्वारा कहना कि ऐसा यहाँ है, ऐसा है - इस वचनात्मक को उन्होंने व्यवहारनय कहा है। समझ में आया ? निमित्त में ऐसे रागादि है, यह वाणी से ऐसा कहना कि यह एक व्यवहार (है)। वस्तु में ऐसा नहीं है। है न ? व्यवहारनय की व्याख्या ऐसी की है। पता है या नहीं ? पहले बहुत बार कहा गया है। इस वचनात्मक को ही व्यवहार कहते हैं। अर्थात् ? वचनात्मक अर्थात् ? वह कथन, निरूपण

आता है न ? उसमें उसे व्यवहार आता है, यह राग, यह विकल्प, यह शास्त्रज्ञान इसे व्यवहार कहते हैं। वस्तुस्थिति है नहीं। उसमें व्यवहारनय की व्याख्या ही यह की है। उसमें भी नहीं की ? अपने कहाँ आया था ? 'कलशटीका'। 'कलशटीका' में आया था, वचनात्मक। भाई ! आया था। 'कलशटीका' में कहीं आया है। कथन, ऐसा नहीं। यह व्यवहार वचनात्मक है - ऐसा (आया) है। वह है, आया था, तब कहा था। सब कहाँ याद है, किस जगह है ? 'कलशटीका' में कहीं होगा ? वचनात्मक। वहाँ आया था, उस दिन कहा था। आया, देखो ! पाँचवा कलश है। कहा था, देखो भाई !

'व्यवहारनयः यद्यपि हस्तावलम्बः स्यात्' इसकी व्याख्या की। व्यवहारनय अर्थात् 'जितना कथना' यह उस दिन कहा था। यह 'पंचाध्यायी' की शैली है। यह लिखनेवाले 'राजमल्लजी' स्वयं है न ? 'पंचाध्यायी' में ऐसा (ही लेते हैं), व्यवहार अर्थात् वचन से कहना। देखो ! यहाँ अपने आया है। चिह्न भी किया है। समझ में आया ? 'उसका विवरण - जीव वस्तु निर्विकल्प है। वह तो ज्ञानगोचर है। वही जीव वस्तु को कहना चाहे, तब ऐसा ही कहने में आता है कि जिसके गुण दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह जीव। यदि कोई बहुत साधिक (अधिक बुद्धिमान) हो तो भी ऐसे ही कहना पड़े। इतना कहने का नाम व्यवहार है।' इतना कहने का नाम व्यवहार है। देखो ! दूसरी बार आया। तब कहा था, उस दिन व्याख्या हुई थी। याद है ? समय नहीं होता और याद भी नहीं रहे, आपने ही यह सब किया है। सभी पाठ तो आपने समरूप किये हैं। शब्द, भाषा व्यवस्थित की है।

'यहाँ कोई आशंका करेगा कि वस्तु निर्विकल्प है, उसमें विकल्प उपजाना अयुक्त है। वहाँ समाधान इस प्रकार है कि व्यवहारनय हस्तावलम्ब है। जैसे कोई नीचे पड़ा हो तो उसे हाथ पकड़कर ऊपर लेते हैं; वैसे ही गुण-गुणीरूप भेद कथन ज्ञान उपजने का एक अंग है।' देखा ! इस प्रकार सारी व्याख्या की है और 'पंचाध्यायी' में भी, वचनात्मक है (- ऐसा लिया है।) उसकी और इसकी शैली एक ही है। समझ में आया कुछ ?

यहाँ तो भगवान आत्मा महान पदार्थ, अनन्त शान्तरस, आनन्दकन्द प्रभु (है)। बस ! उसकी अन्तर्मुख दृष्टि स्व के आश्रय से (होना), उसका ज्ञान, चारित्र मोक्षमार्ग तो एक ही है,

परन्तु साथ में ऐसा निमित्त होता है, उसे व्यवहार कहने में (आता है)। कथन की ऐसी पद्धति है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? वाणी का विलास ही ऐसा है कि उसे इस प्रकार से कहते हैं। वस्तु तो यह है वह है। अन्दर निर्विकल्प दृष्टि (हुई) वह। निर्विकल्प ज्ञान शान्ति... !

मुमुक्षु :- वाच्य नहीं।

उत्तर :- वह वाच्य नहीं, अर्थात् निमित्त है, परन्तु वह सब कथनमात्र है, वस्तुस्वरूप नहीं है। निमित्त है, वह यह वस्तु नहीं है – ऐसा कहते हैं। जो यह मोक्षमार्ग कहा जाता है वह नहीं। यह वस्तु है, वह यह नहीं (अर्थात् कि) सहचर है, वह यह निश्चय नहीं, ऐसा। समझ में आया ? भाई ! यह तो ऐसी बात है न कि अन्तर की बात के दो प्रकार कथन क्यों किये ? तो एक तो वचन द्वारा उसका कथन किया है। भेद करने कहना है तो कहते हैं, यह श्रद्धा-देव-गुरु की, नौ तत्त्व की श्रद्धा को समकित कहा। समझ में आया ? वास्तव में वह समकित कहाँ है ? वह तो राग है। समझ में आया ? समकित तो यह एक ही है – ज्ञान में निर्विकल्प प्रतीति होना, यह एक समकित है, वह तो राग है। राग को समकित कहना ? परन्तु कहते हैं कि निमित्त की श्रद्धा की पर्याय नहीं – ऐसा होने पर भी निमित्त की ऐसी श्रद्धा का ज्ञान इसे होता है; इस कारण उसे व्यवहार समकित का आरोप दिया जाता है। वह कथनमात्र है, वह (वास्तव में) वस्तु नहीं है। अद्भुत बात, भाई ! कहो, भाई ! समझे या नहीं ? कहाँ आया ? नीचे।

इस एक-एक में विशिष्टता है। पहले अकेला व्यवहार और फिर अकेला निश्चय या पहले अकेला निश्चय और फिर अकेला व्यवहार – ऐसा नहीं है। पहले अकेला-व्यवहार और फिर निश्चय – ऐसा नहीं है – यह कहते हैं। समझ में आया ? चौथे, पाँचवे, छठवे में अकेला व्यवहारमोक्षमार्ग और फिर सातवें से अकेला निश्चय है – ऐसा नहीं है। साथ के व्यवहार को आरोप करके, निमित्त जानकर कथन किया है। ऐसी निरूपण की पद्धति है। आहा..हा..! समझ में आया या नहीं ? यह 'मोक्षमार्गप्रकाशक' का (आधार दिया है) गुजराती पृष्ठ ६५३-६५४। (हिन्दी पृष्ठ २५८-२५९ है।)

अब, दूसरी गाथा। समझ में आया या नहीं, भाई ! लो ! भाई ! बात सत्य।

इसे समझना चाहिए न ? ऐसे तोड़-मरोड़ करे ऐसे नहीं। वस्तु जैसी है, वैसे उसे ख्याल में लेना चाहिए न ! कथन की क्या पद्धति है और स्वरूप जिस प्रकार है, उसे समझ ले। दो प्रकार, दूसरा पहलू है अवश्य, परन्तु वह तो कथन का निरूपण - कथन पद्धति की अपेक्षा से कहा है; वस्तुस्वरूप की अपेक्षा से नहीं। स्वरूप में (स्थिरता) वह चारित्र - यह सत्य है, विकल्प उत्पन्न हो, उसे चारित्र कहना ? वह तो अस्थिरता है। पंचमहाव्रत के (विकल्प) तो अस्थिरता है, लो ! है ? परन्तु उस समय मुनि की दशा में ऐसे ही राग की मन्दतावाला अहिंसा आदि का विकल्प होता है, उसे व्यवहार से निमित्त की अनुकूलता व्यवहारचारित्र है - ऐसा कहने में आया है; है नहीं। आहा..हा.. ! इसी तरह भगवान आत्मा का आत्मज्ञान, चैतन्य का ज्ञान, वही ज्ञान है, परन्तु उसके विकल्प में शास्त्र का ज्ञान, सर्वज्ञ कथित ज्ञान - छह द्रव्य आदि का ज्ञान जो विकल्परूप से है, उसे निमित्तरूप से एक समय की पर्याय की ऐसी ताकत है - यह गिनकर विकल्पात्मक ज्ञान को आरोप से कहा है कि, यह व्यवहारज्ञान है। वह व्यवहार, ज्ञान है ही नहीं, वह ज्ञान ही नहीं है। आहा..हा.. ! भाई ! समझ में आता है या नहीं ? धीरे-धीरे समझना। इसमें कोई एकदम नहीं चलता।

निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप

परद्रव्यनतैं भिन्न आपमें रुचि, समकित भला है;

आपरूपको जानपनों, सो सम्यग्ज्ञान कला हैं।

आपरूपमें लीन रहे थिर, सम्यग्चारित्र सोई;

अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियतको होई॥२॥

अन्वयार्थ :- (आपमें) आत्मा में (परद्रव्यनतैं) परवस्तुओं से (भिन्न) भिन्नत्व को (रुचि) श्रद्धा करना सो (भला) निश्चय (समकित) सम्यग्दर्शन है; (आपरूपको) आत्मा के

स्वरूप को (परद्रव्यनतैं भिन्न) परद्रव्यों से भिन्न (जानपनों) जानना (सो) वह (सम्यग्ज्ञान) निश्चय सम्यग्ज्ञान (कला) प्रकाश (है) है। (परद्रव्यनतैं भिन्न) परद्रव्यों से भिन्न ऐसे (आपरूपमें) आत्मस्वरूप में (थिर) स्थिरतापूर्वक (लीन रहे) लीन होना सो (सम्यक्चारित) निश्चय सम्यक्चारित्र (सोई) है। (अब) अब (व्यवहारमोक्षमग) व्यवहार-मोक्षमार्ग (सुनिये) सुनो कि जो व्यवहारमोक्षमार्ग (नियतको) निश्चय-मोक्षमार्ग का (हेतु) निमित्तकारण (होई) है।

भावार्थ :- परपदार्थों से त्रिकाल भिन्न ऐसे निज-आत्मा का अटल विश्वास करना, उसे निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं। आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानना (ज्ञान करना) उसे निश्चयसम्यग्ज्ञान कहा जाता है। तथा परद्रव्यों का आलम्बन छोड़कर आत्मस्वरूप में एकाग्रतासे मग्न होना, वह निश्चय सम्यक्चारित्र (यथार्थ आचरण) कहलाता है। अब आगे व्यवहार-मोक्षमार्ग का कथन करते हैं क्योंकि जब निश्चय-मोक्षमार्ग हो, तब व्यवहार-मोक्षमार्ग निमित्तरूप में कैसा होता है वह जानना चाहिए।

अब, दूसरी गाथा। (पहले) जो सत्यार्थ कहा था न ! 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण शिवमग, जो सत्यारथरूप सो निश्चय -' ऐसा ले लेना। 'सम्यग्दर्शन ज्ञान-चरण शिवमग, जो सत्यारथरूप सो निश्चय।' पहले पद का अब दूसरी गाथा में स्पष्टीकरण करते हैं।

परद्रव्यनतैं भिन्न आपमें रुचि, समकित भला है;

आपरूपको जानपनों, सो सम्यग्ज्ञान कला हैं।

आपरूपमें लीन रहे थिर, सम्यग्चारित्र सोई;

अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियतको होई॥२॥

'पुरुषार्थसिद्धियुपाय' में ऐसा जरा अर्थ किया है। यह २२वीं गाथा है न ? लो, यह निकली। देखो ! पाठ है न ? भाई ! अपने २२ का आधार दिया है न ? इसमें कहीं पीछे कहा है न ? 'पुरुषार्थसिद्धियुपाय' - गाथा २२। मुझे तो यहाँ दूसरी शैली कहनी है। कहते हैं -

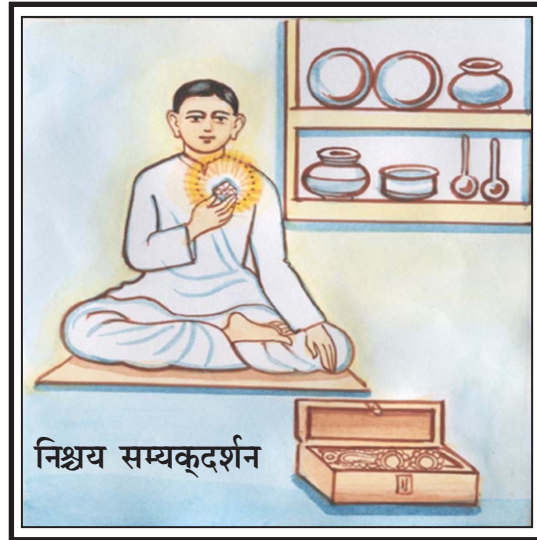
‘तत्त्वश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। वह तत्त्वार्थश्रद्धा दो प्रकार से है - एक सामान्यरूप, एक विशेषरूप। जो परभावों से भिन्न...’ यहाँ यह शब्द पड़ा है न ? ‘अपने चैतन्यस्वरूप को निजरूप से श्रद्धान करे, उसे सामान्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं।’ यहाँ कहा न ? ‘परद्रव्यनतै भिन्न आपमे रुचि समकित भला है;...’ उसकी व्याख्या यहाँ स्वयं करते हैं।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्;

श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशं विविक्तमात्मरूपं तत्॥२२॥

यह सम्यग्दर्शन आत्मरूप-स्वरूप है, यह कोई विकल्प और राग नहीं है। तत्त्वार्थ सम्यग्दर्शन। आत्मज्ञान सहित की प्रतीति, वह आत्मस्वरूप है। अब, यहाँ कहते हैं - परद्रव्य से भिन्न सामान्यरूप तो एक है। परद्रव्य से भिन्न एक सामान्यरूप है। ‘यह श्रद्धान तो नारकी, तिर्यञ्चादि सर्व सम्यग्दृष्टि जीवों को होता है।’ यह सामान्य। समझ में आया ? ‘और जीव-अजीवादि सात तत्त्वों के विशेषण जानकर अर्थात् उनके भेदों को जानकर श्रद्धान करे, उसे विशेष तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं। यह श्रद्धान मनुष्य-देवादि विशेष बुद्धिवान जीवों को होता है परन्तु राजमार्ग (मुख्यमार्ग) की अपेक्षा सात तत्त्वों को जानना, वही समकित का - सम्यक् श्रद्धान का कारण है।’ इसलिए कहा था। लो ! समझ में आया ? उसमें दो प्रकार ‘टोडरमलजी’ ने स्वयं ही उतारे, तत्त्वार्थश्रद्धान की सामान्यरूप से व्याख्या की। सामान्य बुद्धि थोड़ी होवे, उसे ‘परद्रव्यनतै भिन्न आपमें रुचि, समकित भला है’ और विशेषरूप से बुद्धिवाला हो, वह विशेष जानकर अन्दर तत्त्व की श्रद्धा करे।

‘(आपमें) आत्मा में परवस्तुओं से भिन्नपने की...’ समझ में आया ? इसमें सब है। कहाँ गये ? भाई गये ? उनके पास



एक पुस्तक थी न ? है न ? देखो ! अन्दर। यह सम्यग्दर्शन में यह सब लिखा है। क्या लिखा है ? किसने किया है ? भाई ! आप क्या समझे ? यह परद्रव्य - छह द्रव्य देखे हैं। गृहस्थाश्रम में बैठा हो, यह ठीक है। गृहस्थाश्रम में रहा हो यह सब होने पर भी परद्रव्य से भिन्न है, ऐसा। ऐसी शैली की है न ? बराबर है, ठीक है। यह चित्र है न ? एक ओर बाजा है और एक ओर मकान और एक ओर यह सब घर का सारा सामान ऐसा सब लगता है। चित्र... चित्र है। कहते हैं, ये सब हो - स्त्री, पुत्र, परिवार घर का सामान समझे न ? देखो ! यहाँ सब चित्र में डाला है।

‘परद्रव्यनतैः भिन्न...’ परद्रव्य अर्थात् सभी चीजें, घरेलू वस्तुएँ, स्त्री, पुत्र, मकान.. समझ में आता है न ? तथापि आत्मा अन्दर बैठा होवे (उसे) ‘आत्मा में परवस्तुओं से भिन्नपने की श्रद्धा करनी...’ उस गृहस्थाश्रम में भी यह सम्यग्दर्शन इस प्रकार प्रकट हो सकता है। समझ में आया कुछ ?

मुमुक्षु :- परद्रव्य में पड़ा होने पर भी ?

उत्तर :- पड़ा नहीं; परद्रव्य यहाँ होनेपर भी उसमें ऐसा पड़ा नहीं है; पड़ा तो आत्मामें है। परद्रव्य के सम्बन्ध में रहा होने पर भी, परद्रव्य में नहीं रहा है। परद्रव्य में तो कुछ रहा ही नहीं है। भाई ! यह तो भई सूक्ष्म बात है। परद्रव्य साथ में होता है, तथापि आत्मा में परवस्तुओं से भिन्नपने की श्रद्धा करनी। ऐसी चीज, इस क्षेत्र में सब शामिल दिखे, फिर भी उससे भिन्न आत्मा अखण्ड ज्ञान, चैतन्यमूर्ति है - ऐसा ज्ञान का ज्ञान करके, प्रतीति करना इसका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है। समझ में आया ?

‘आत्मा में (परद्रव्यनतैः) परवस्तुओं से...’ ऐसा अनुमान लाता है, क्योंकि यह सब ऐसी शैली लगती है। भाई ने कहा - ऐसा लगता है। ऐसा लगता है, नहीं ? यह सब द्रव्य रखे है न ? यह सब घर की चीजें हैं, यह बाजा है, यह मकान है, अमुक है, तिजोरी है, बर्तन है। लो, यह ठीक किया है। यह सब बर्तन है न ? कलशा-फलशा है न... चिमटा और सब घर में पड़े हैं। आत्मा परद्रव्यनतैः भिन्न... भगवान आत्मा इन सब वस्तुओं से अत्यन्त पृथक् हैं। ज्ञानमूर्ति आनन्दस्वरूप है - ऐसे परद्रव्य से भिन्नपने की श्रद्धा (करना); श्रद्धा अर्थात् आत्मा की निर्विकल्प श्रद्धा... हाँ! ‘वह निश्चयसम्यग्दर्शन है...’ देखो ! ‘भला’ की व्याख्या की। यह

सत्यार्थ कहा था न ? सत्यार्थ कहा था न ? कहाँ ? पहली पंक्ति में। सत्यार्थ सम्यग्दर्शन, सत्यार्थ सम्यग्ज्ञान, सत्यार्थ चारित्र - ऐसे तीन हैं न ? वह यहाँ 'भला' शब्द में सत्यार्थ मिला दिया है, भाई ! समझ में आया ? यही निश्चय है और यही भला है और यही यथार्थ है।

'आत्मा में परवस्तुओं से भिन्नपने की श्रद्धा करना...' स्वयं राग से, शरीर से, कर्म से, पर से भिन्न है - इसका अर्थ यह हुआ कि पर का लक्ष्य छोड़कर स्व-विषय में आया, इसलिए वह राग से भिन्न हो गया। ऐसे जो परद्रव्य-शरीर, वाणी, कर्म - यह सब था, उनसे ऐसे लक्ष्य हटाया, इसलिए उसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर गयी। द्रव्यस्वभाव की दृष्टि हुई, उसका नाम निश्चय, सत्यार्थ, भला सम्यग्दर्शन कहा जाता है। कहो, इसमें समझ में आया ? यह तो सादी बात है। सबके हाथ में (पुस्तक) है या नहीं ? यह तो सादी हिन्दी भाषा में पुस्तके कितनी छप गयी हैं ?

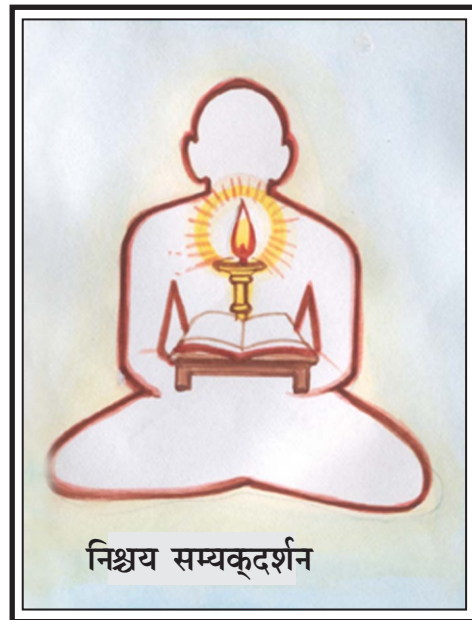
भगवान आत्मा... ? 'आपमें...' (कहा तो) आत्मा कौन है ? - इसका इसे पहले ज्ञान होना चाहिए न ? आत्मा अर्थात् परद्रव्य से भिन्न चीज़। सब पर - कर्म, शरीर, वाणी - ये सब जो हैं, वे नहीं। इस अस्तित्व में जो पर्यायबुद्धि से ऐसा है; पर्याय-अवस्थाबुद्धि से उसका फैलाव में यह सब है - ऐसा जो था वह, यह नहीं, ऐसा गया। ज्ञायक चैतन्यमूर्ति, आप अर्थात् ज्ञायक चैतन्यमूर्ति; उसकी अन्तर्दृष्टि होने पर वह राग और विकल्प भी (बाहर रह गया)। ऐसे के ऐसे लक्ष्य जाने से राग और विकल्प भी उसकी प्रतीति में ही रहा, आत्मा रह गया। समझ में आया ?

'(आपमें) आत्मा में परवस्तुओं से भिन्नता की श्रद्धा...' अर्थात् कर्म, शरीर से भिन्न, उनसे पृथक्... ऐसे जहाँ जाए तो उसके अन्तर में - तलेटी में विकल्प भी लक्ष्य में नहीं रहे। समझ में आया ? यह आत्मा परद्रव्य से भिन्न है। उस भिन्न चीज़ में अस्तित्व माना था कि यह। ऐसा होने पर भी उस परद्रव्य से पृथक् और विकल्प से भी पृथक् - ऐसा आत्मतत्त्व, उसके अन्दर प्रतीति - श्रद्धा, ज्ञान, भान होकर होना - उसका नाम निश्चय, भला, सच्चा, शुद्ध, उचित, मुख्य सम्यग्दर्शन है। कहो, समझ में आया ? सत्यार्थ में जितने शब्द प्रयोग किये थे (वे कहे।) यह एक-एक की इस प्रकार से बात आती है। 'भला' शब्द कहा है न। देखो ! उसमें 'कला' कहेंगे, ज्ञान है न ? (उसे) कला (कहेंगे)। भाषा भी बहुत सन्तुलित रखी है।

यह हिन्दी तुम्हें अब तक पढ़ना नहीं आया। यह तुम्हारी भाषा है। हमारी तो हिन्दी भाषा भी नहीं है।

‘परद्रव्यनतै भिन्न...’ आहा..हा..! कितनी बात ली है, देखो न ! उसमें भिन्न स्वद्रव्य। उसका अर्थ ऐसे गुलांट खाता है। परद्रव्य से पृथक् तो स्वद्रव्य, बस ! ऐसा ही आया। आप – अपना स्वरूप अखण्ड ज्ञायकमूर्ति ‘ण वि होदि अप्यमत्तो’ है न ? ‘जाणगो दु जो भावो’ – यह ज्ञायक रह गया। अकेला आत्मा शुद्ध एकरूप, उसकी अन्तर-प्रतीति होना – श्रद्धा होना, उसका अन्तर विश्वास (आना कि) यह वस्तु है – ऐसा विश्वास (आना) आगे अर्थ में जरा कहेंगे। कहीं है, विश्वास। समझ में आया ? इसलिए कहते हैं; ऐसा विश्वास (आना चाहिए।) दृष्टि में (आत्मा) आया हो, उसका विश्वास होवे न ? वस्तु का पता न हो, उसका विश्वास क्या होगा ? खरगोश के सींग का विश्वास करना... परन्तु देखे नहीं, है नहीं; (विश्वास क्या करना) ? यह वस्तु ज्ञायक चैतन्य अकेले ज्ञान की पुंज वस्तु, उसका अन्तर में विश्वास (आगे कि) यही आत्मा है – ऐसी प्रतीति – ऐसा भरोसा, एसा विश्वास, एसा स्व आश्रित दर्शन (होवे), वह सम्यग्दर्शन सच्चा है। सच्चा कहो या भला कहो या शुद्ध सम्यग्दर्शन यह है। यह शुद्ध सम्यग्दर्शन है। समझ में आया ? यह सम्यग्दर्शन मुख्य है। व्यवहार सम्यग्दर्शन तो विकल्प, गौण, अशुद्ध, उपचार से कहते हैं। समझ में आया ?

‘परद्रव्यनतै भिन्न...’ आत्मा के स्वरूप को परद्रव्य से भिन्न – इसका अर्थ हो गया न ? ‘परद्रव्यनतै भिन्न आपमे रुचि (समकित) भला है!’ अब ‘परद्रव्यनतै... आपरूप को जानपनों सो... (भला है), सम्यग्ज्ञान कला है।’ समझ में आया ? ‘(आत्मरूप को) आत्मा के स्वरूप को पर से भिन्न...’ शास्त्रज्ञान विकल्प है, वह नहीं। ‘आत्मा के स्वरूप को... (आपरूप को)...’ है न ? उसमें आपमें कहा था, इसमें आपरूप ज्ञान



निश्चय सम्यग्दर्शन

है। आत्मा के स्वरूप को परद्रव्य से भिन्न, पर से पृथक् जानना। आत्मा, पर के ज्ञान, श्रद्धा, विकल्प या पर से अत्यन्त भिन्न है। यह तो परद्रव्य से भिन्न ज्ञान हुआ तो आत्मा का ज्ञान हुआ। उसका व्यवहार ज्ञान इसके लक्ष्य में नहीं रहा। समझ में आया ?

‘आत्मा के स्वरूप को पर से भिन्न जानना, वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है, ...’ वह सम्यग्ज्ञान सच्चा है, भला है, शुद्ध है, वह मुख्य सम्यग्ज्ञान है। समझ में आया कुछ ? ‘वह निश्चय सम्यग्ज्ञान प्रकाश है।’ वह कला है, क्योंकि केवलज्ञान को प्रकट करने की यह एक कला है। केवलज्ञान को प्रकट करने की, आत्मज्ञान वह एक कला है। कला कही है न ? कला करते हैं – ऐसा ‘समयसार’ में आता है न ? क्रीड़ा करते हैं – यह पढ़ा है, भाषा सब शास्त्र की प्रयोग की है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा अकेला ज्ञान का पिण्ड प्रभु, उसे परद्रव्य से लक्ष्य छोड़कर जैसी स्व की श्रद्धा हुई; ऐसा ही परद्रव्य से लक्ष्य छूटकर जो श्रद्धा हुई, उसमें उसका ज्ञान हुआ – यह आत्मा शुद्ध चैतन्य है, उसके स्वरूप का ज्ञान हुआ। समझ में आया ? ‘(आपरूप को) ...’ चैतन्य ज्ञायकस्वरूप पूर्ण आनन्दस्वरूप, उसका परद्रव्यों से पृथक् पड़ा हुआ अकेले आत्मा का ज्ञान, वह निश्चय ज्ञान है, वह सच्चा ज्ञान है, वह भला ज्ञान है; उसे शुद्ध ज्ञान की कला कहा जाता है। यह शुद्ध ज्ञान की कला उसे कहा जाता है। भाई ! कहो, समझ में आता है या नहीं ? यह तो साथ में पुस्तक है, लिया है या नहीं ? भाई ! पुस्तकें बहुत रखी हैं, हो रहा ? यहाँ तो बहुत पुस्तकें हैं, पहले से ध्यान रखना चाहिए न ! यह पुस्तकें बहुत पड़ी हैं। वहाँ तो बहियों में ध्यान रखता है... यह तो कितनी पड़ी है, देखो न ! अभी पड़ी लगती है, नहीं ? अभी बहुत पड़ी है। कहो, समझ में आया इसमें ? यह तो अन्दर में शब्द-शब्द का अर्थ समझने योग्य है। यह कोई साधारण बात नहीं है। शास्त्र जैसा ही अर्थ किया है। शास्त्र को ठीक से ध्यान रखकर (समझना चाहिए)।

भगवान आत्मा का बीजज्ञान प्रकट होना। चैतन्यस्वरूप का परद्रव्य से लक्ष्य छोड़कर जैसी अपनी आत्मा में श्रद्धा – सम्यग्दर्शन था, वैसा ही आत्मस्वरूप का ज्ञान, उसके स्वरूप का ज्ञान, आत्मस्वरूप का ज्ञान (होना), वही ज्ञान सम्यक् है, वही ज्ञान शुद्ध है, वही ज्ञान मुख्य है और वही ज्ञान केवलज्ञान को प्रकट करने की कला है। कहो, इसमें समझ में आया ?

दूसरे शास्त्र आदि का व्यवहारज्ञान, यह केवलज्ञान प्रकट करने की कला है ही नहीं – ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! ऐ..ई !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह तो एक कहने के लिए निमित्त सहचर ऐसा देखकर, उसे ज्ञान है – ऐसा कहेंगे। वह वास्तविक कला नहीं है, वह सम्यग्ज्ञान वास्तविक नहीं है, वह शुद्धज्ञान नहीं है। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- सम्यग्ज्ञान को दीपक बताया है।

उत्तर :- हाँ यह इसमें बताया है। सत्य बात है। इसमें बताया है न ? इसमें बताया है, देखो ! यह दर्शन में बताया, यहाँ दीपक बताया है। मन की पंखुड़ी फिर जाती है। ऐसी कला, ज्ञान का दीपक किया है। देखो ! यह ज्ञानस्वरूप, उसका ज्ञान। परद्रव्यों से भिन्न, उसका ज्ञान... यह तो पहली सामान्य व्याख्या है न। फिर सब विशेषरूप से बतायेंगे। सामान्य रीति से कितने ही जीवों को – नारकी आदि को ऐसा होता है। विशेष बुद्धिवाले को विस्तार से होता है। समझ में आया ? 'वह निश्चय सम्यग्ज्ञान (कला)...' (कला का) अर्थ प्रकाश है। लो !

'आपरूप में लीन रहे स्थिर, सम्यक्चारित सोई;' 'सोई' वह चारित्र है। 'आत्मस्वरूप में...' देखो ! यहाँ चारित्र है न ? स्थिर बिम्ब हो गया है। चारित्र का दृष्टान्त दिया है न ? लीन... लीन। विकल्पों की धालमेल निकल गयी है। '(आपरूप में) आत्मस्वरूप में स्थिरतापूर्वक...' अर्थात् स्थिर '(लीन रहे)...' स्थिर-लीन रहे, ऐसा। स्थिर-लीन रहे। देखा ! यह चारित्र। पंच महाव्रत का विकल्प, वह चारित्र नहीं; वह सम्यक् चारित्र नहीं, भला चारित्र नहीं, शुद्ध चारित्र नहीं। वह तो गौणरूप से निमित्त ऐसा होता है – ऐसा गिनकर सहचररूप से चारित्र कहने के कथन में कहा गया है। आडा..हा..! अब ऐसी बात कितनी स्पष्ट पड़ी है – इसका अर्थ भी नहीं समझते। ऐसी बात है ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- विषय में... उसमें हैं। वह वस्तु उसमें हो परन्तु होवे वह आवे न या नहीं ? क्या

आवे ? हीरा बताना हो तो उसे किस प्रकार बताना ? हीरे की जो कीमत तो उसकी आँख ठीक हो, तब समझे या नहीं ? हीरा के पासा का प्रकाश हो, उस प्रकाश में प्रकाश के पासा झट से अलग पड़ते नहीं। वह पासा - पासा देखे (उसके लिए) उसे सूक्ष्म दृष्टि चाहिए या नहीं ? वरना एक में दूसरा प्रकाश देखे बिना एक समान लगेगा। इसी तरह भगवान आत्मा अकेला ज्ञान की मूर्ति है, उसका अन्तर में ज्ञान (होवे), स्थिरता (होवे)। स्थिर और लीन - ऐसा कहा है न ? स्थिर-लीन। स्थिर ऐसा हुआ कि लीन हो गया, विकल्परहित (हो गया)। परद्रव्य से लक्ष्य छोड़कर जैसी श्रद्धा हुई थी, ज्ञान हुआ था, अतः व्यवहार का विकल्प भी नहीं रहा। इस प्रकार लीन हो गया, इसलिए निश्चय हुआ। यह हुआ, उसके साथ विकल्प कैसा (होता है) ? उसका-व्यवहार का ज्ञान बाद में करायेंगे। समझ में आया ?

‘(सम्यक्चारित्र) निश्चय सम्यक्चारित्र (सोई) है।’ ऐसा कहते हैं। सो.. सोई अर्थात् वह सम्यक्चारित्र है। पहले ‘भला’ (शब्द) प्रयोग किया था, दूसरे में (शब्द) प्रयोग किया था ‘कला’, इसमें (शब्द) प्रयोग किया है ‘वही’ - ऐसा। भगवान आत्मा अकेला ज्ञान का रस, उसकी श्रद्धा-ज्ञान सहित अन्दर की लीनता (होवे), वह चारित्र भला है, वह चारित्र शुद्ध है, वह चारित्र मुख्य है; उस चारित्र को निश्चयचारित्र कहा जाता है। सच्चा चारित्र वह है। सत्यार्थ कहा था न ? सम्यग्दर्शन भी सच्चा, सम्यग्ज्ञान भी सच्चा और चारित्र भी सच्चा - ये तीनों सच्चे। समझ में आया ? यह ‘छहढाला’ तो कितनी बिक गयी ! इसे पता होगा। यहाँ पहले छप गयी है न ? १४००० हिन्दी, गुजराती ? (पता) नहीं होगा। अपनी तरफ से छपाई ? कहां, कितने हजार ? इसमें कोई संस्कृत, व्याकरण की आवश्यकता पड़े - ऐसा नहीं है।

अब कहते हैं, निश्चयचारित्र वह है। वह भला है। ‘अब, ...’ देखो ! भाषा है न ? ‘व्यवहारमोक्षमार्ग सुनो...’ देखो ! निश्चय लेकर व्यवहार लिया है। भाई ! ऐ..ई ! यह वस्तुस्थिति है। अब उसमें जरा सहचररूप, विकल्परूप, शुभ उपयोगरूप भाव होता है; उसे यह निश्चय होता है तो इसे व्यवहार कहा जाता है। अब, कहा है न ? ‘अब व्यवहारमोक्षमार्ग सुनो...’ कुछ समझ में आता है ? अब अर्थात् ऐसा (निश्चय) हो, वहाँ अन्दर दूसरा एक विकल्प का भाग, व्यवहार से अनुकूल। निश्चय समकित दर्शन को व्यवहार अनुकूल दर्शन; निश्चय ज्ञान को व्यवहार शास्त्र का विकल्प निमित्त अनुकूल, व्यवहार से अनुकूल, हाँ ! कारण

कि निश्चय तो यह है। उसे फिर यह निश्चय कहाँ से आवे ? समझ में आया ? उसे व्यवहार से अनुकूल, पंच महाव्रत आदि।

‘अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियतको होई।’ यहाँ विवाद (पड़ता है)। यह नियत का निमित्त है। जहाँ ऐसा निश्चय होता है, वहाँ ऐसा हेतु, व्यवहार कारणरूप-निमित्तरूप, हेतुरूप से होता है। समझ में आया ? जैसे, गति करते हुए जीव या पुद्गल को धर्मास्तिकाय का निमित्तरूप हेतु है। है या नहीं ? अथवा परिणमन के समय में जड़ या चैतन्य आदि परिणमते हैं, उन्हें कालद्रव्य निमित्त-हेतु है। निमित्तरूप हेतु है, हेतु है। वह परचीज़ है। यह करे तब, (उसे) हेतु कहा जाता है। समझ में आया ? शास्त्र में निमित्त को धर्मास्तिकायवत् लिया है, अतः व्यवहार भी निमित्त ही है।

यह अपने ४७ बोल (दोहों) में आता है। निमित्त - उपादान के ४७ दोहों में (आता है)। वरना बीच में पंच महाव्रत आते हैं न ? आता है न उसमें ? वह निमित्त कहा है। वहाँ वह निमित्त कहा है। उसका तर्क करते हैं, निमित्त तर्क करता है। पंच महाव्रत है न ? तुम हमें कैसे छोड़ दोगे ? भले हो, परन्तु उन्हें छोड़कर स्थिर हो, तब वास्तविक चारित्र है। समझ में आया ? ४७ दोहों में, भैया ‘भगवतीदास’ ने यही लिया है। उन लोगों ने - पहले के पण्डितों ने भी ऐसी संधि से बात की है न ? दिगम्बर पण्डित ! सन्तों की तो क्या बात करना !! उन लोगों ने भी, परम्परा से जैसा सत्य है, उस प्रकार सुरक्षित रखकर बात की है। यहाँ ऐसा कहा है, पंच महाव्रत होते हैं न ? अरे.. ! ध्यान होता है न ? निमित्त तो वहाँ तक डाला है। ध्यान अर्थात् मैं ऐसा करूँ - ऐसा विकल्प, (वह) होता है न ? ‘छोड़ ध्यान की धारणा, मोड रीति...’ यहाँ आ जा, कहते हैं। यह निमित्त है। हो, वह क्या है ? उसे छोड़कर यहाँ आ जाए, तब स्थिर होता है। निश्चयमोक्षमार्ग का हेतु... इतने न्याय दिये। समझ में आया ? उसका निमित्त, कारण होता है, होता है - ऐसा कहा है। समझे न ? ‘सोई’ के साथ ‘होई’ कराया। व्यवहार होता है, व्यवहार है अवश्य परन्तु व्यवहार को उपचाररूप कहा जाता है।

‘भावार्थ :- परपदार्थों से त्रिकाल भिन्न ऐसे निज आत्मा का अटल विश्वास करना उसे...’ लो ! अटल विश्वास अर्थात् टले नहीं ऐसा प्रकार, निश्चयसम्यग्दर्शन, अपने निजत्व का

दर्शन है, वह कोई विकल्प नहीं है कि टल जाए। वह तो ऐसा का ऐसा रहता है। यह निश्चयसम्यग्दर्शन प्रकट हुआ, वह ऐसा का ऐसा सिद्ध में भी रहता है – ऐसा। समझ में आया ? व्यवहार समकित नहीं रहता, वह तो विकल्प है, वह कहाँ वास्तविक चीज़ थी ? श्रद्धा कही है न ? ‘आप - में रुचि’ – रुचि अर्थात् विश्वास, वह ऐसा प्रकट हुआ, वह चैतन्यमूर्ति ज्ञानस्वरूप है – यह विश्वास की, रुचि की पर्याय सिद्ध में भी रह गयी। समझ में आया ? उसकी चारित्र पर्याय केवलज्ञान में रह गयी। आहा..हा..! ‘उसे निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं।’ लो !

‘आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानना (ज्ञान करना), उसे निश्चय सम्यग्ज्ञान कहा जाता है तथा परद्रव्यों का अवलम्बन छोड़कर...’ लक्ष्य छोड़कर, आश्रय छोड़कर ‘आत्मस्वरूप में एकाग्रता से मग्न होना, एकाग्रता अर्थात् एक ही आत्मा को लक्ष्य करके (लीन होना), वह निश्चय सम्यक्चारित्र...’ अर्थात् सच्चा आचरण है। वह आचरण सच्चा है, स्वभाव में स्थिर होना वह आचरण सच्चा है। वह भला आचरण है। लो ! (अज्ञानी) आचरण... आचरण करते हैं या नहीं ? विकल्प है, वह आचरण नहीं है। साथ में वैसा निमित्त देखकर कथन की अपेक्षा से (लिया है)। व्यवहार से अनुकूल। निमित्त अर्थात् अनुकूल। अनुकूल अर्थात् व्यवहार से अनुकूल। निश्चय से अनुकूल तो निश्चय अनुकूल अपनी पर्याय है। धर्मास्तिकाय को व्यवहार से अनुकूल कहा है या नहीं ? वह निमित्त है। या निश्चय से (कहा है) ? निश्चय से तो अपनी पर्याय अनुकूल है। इस प्रकार गति-स्थिति में परिणमती है, उसकी तरह – जैसे धर्मास्तिकाय निमित्त है, व्यवहार से अनुकूल है, दूसरी चीज़ है, उसे गति में ऐसा ही निमित्त, योग्यता होती है; अधर्मास्तिकाय का निमित्त नहीं होता। गति होने पर अधर्मास्तिकाय का निमित्त होता है ? इसलिए अनुकूल निमित्त कहा जाता है। इसी प्रकार (जहाँ) ऐसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र हो, वहाँ आगे ऐसा जो व्यवहार (होता है, उसे अनुकूल कहा जाता है)।

‘परद्रव्यों का अवलम्बन छोड़कर आत्मस्वरूप में एकाग्रता से मग्न होना, वह निश्चय सम्यक्चारित्र (यथार्थ आचरण) कहा जाता है।’ ऐसे आचरण के साथ आगे जो निमित्त अब कहते हैं... ‘अब आगे व्यवहारमोक्षमार्ग का कथन...’ अर्थात् साथ में ऐसा निमित्त है। यहाँ

सहज परिणमन चलता है, तब ऐसा व्यवहार होता है - धर्मास्तिकाय के निमित्तवत्। भगवान् पूज्यपादस्वामी ने (इष्टोपदेश) ३५वीं गाथा में कहा है कि निमित्त कैसा ? कि धर्मास्तिकायवत् ले लेना। वह भी निमित्त है। ऐसा कहते ही उसमें पहले - बाद में नहीं है। ऐसा कहते ही वह यथार्थ वस्तु नहीं है - ऐसा है। समझ में आया ? वस्तु की शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता होने पर साथ में ऐसा एक व्यवहार उसके काल में, उसी काल में सहचररूप से साथ में ऐसा एक निमित्त होता है, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग का आरोप कहा जाता है। है नहीं, उसे कहना - इसका नाम व्यवहार है। समझ में आया ?

‘अब, आगे व्यवहारमोक्षमार्ग का कथन कहा जाता है क्योंकि जब निश्चयमोक्षमार्ग हो...’ जहाँ स्वभाव चैतन्य भगवान् की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता हो, ‘तब व्यवहारमोक्षमार्ग निमित्तरूप में कैसा होता है...’ अर्थात् निमित्तरूप कैसा होता है। समझ में आया ? वहाँ व्यवहारमोक्षमार्ग निमित्तरूप - सहचररूप से कैसा होता है ? ‘वह जानना चाहिए।’ वह जानना चाहिए। जानना तो चाहिए न ? कहते हैं, समझ में आया ? व्यवहारमोक्षमार्ग सुनो ! सुनो (कहा तो) उसे समझना तो चाहिए न ? ‘हेतु नियतको होई...’ तब एक निमित्त साथ है। उपचाररूप मोक्षमार्ग व्यवहार है, उसे इसे भलीभाँति जानना चाहिए। समझ में आया ? अब उस व्यवहार समकित अर्थात् सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं। व्यवहार सम्यग्दर्शन में किसकी श्रद्धा होती है ? वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है तो विकल्प, शुभ-उपयोग है, वह कही सम्यग्दर्शन नहीं है, परन्तु उसमें भेदरूप जो नव तत्त्व है। उसमें अन्तर आत्मा (आदि) सब लेंगे, हाँ ! सब चीजें जैसी है वैसी इसकी श्रद्धा में व्यवहार में आनी चाहिए। समझ में आया ? इसके लिए उसका स्वरूप तीसरी गाथा में कहेंगे। लो.. ! (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



आत्मा जैसा और जितना महान पदार्थ है उतना महान मानना ही आत्माकी दया पालने रूप समाधि है । और ऐसे महान आत्माको रागादिरूप मानना अथवा मतिज्ञान आदि चार अल्पज्ञ पर्याय जितना मानना वह आत्माकी हिंसा है । (परमागमसार - ३४)

व्यवहार समकित (सम्यग्दर्शन) का स्वरूप

जीव अजीवतत्त्व अरु आस्रव, बन्ध रु संवर जानो;
 निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको, ज्यों का त्यों सरधानो।
 है सोई समकित व्यवहारी, अब इन रूप बखानो;
 तिनको सुन सामान्य विशेषैं, दिढ़ प्रतीत उर आनो॥३॥

अन्वयार्थ :- (जिन) जिनेन्द्रदेव ने (जीव) जीव, (अजीव) अजीव, (आस्रव) आस्रव, (बन्ध) बन्ध, (संवर) संवर, (निर्जरा) निर्जरा, (अरु) और (मोक्ष) मोक्ष, (तत्त्व) यह सात तत्त्व (कहे) कहे हैं; (तिनको) उन सबकी (ज्योंका त्यों) यथावत् - यथार्थरूप से (सरधानो) श्रद्धा करो। (सोई) इस प्रकार श्रद्धा करना सो (समकित व्यवहारो) व्यवहार से सम्यग्दर्शन है। अब (इन रूप) इन सात तत्त्वों के रूप का (बखानो) वर्णन करते हैं; (तिनको) उन्हें (सामान्य विशेषैं) संक्षेप से तथा विस्तार से (सुन) सुनकर (उर) मन में (दिढ़) अटल (प्रतीत) श्रद्धा (आनौ) करो।

भावार्थ :- (१) निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ व्यवहारसम्यग्दर्शन कैसे होता है, उसका यहाँ वर्णन है। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता। निश्चयश्रद्धासहित सात तत्त्वों की विकल्प-रागसहित श्रद्धा को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है।

(२) तत्त्वार्थसूत्र में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' कहा है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। (देखो, मोक्षमार्ग प्रकाशक अ. ९ पृष्ठ ४७७ तथा पुरुषार्थसिद्धयुपाय गाथा २२)

यहाँ तो सात तत्त्वों की श्रद्धा कही है। वह भेदरूप है - रागसहित है, इसलिये वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है। निश्चयमोक्षमार्ग में कैसा निमित्त होता है ? वह बतलाने के लिये यहाँ तीसरी गाथा कही है; किन्तु उसका ऐसा अर्थ नहीं है कि निश्चयसम्यक्त्व के बिना व्यवहारसमकित हो सकता है।

वीर संवत २४९२, माघ शुक्ल ११, मंगलवार

दि. १-२-१९६६, गाथा ३, ४ प्रवचन नं.-१४

छहढाला चलती है। यह उसकी तीसरी ढाल है; उसकी तीसरी गाथा। तीसरी ढाल की तीसरी गाथा है। व्यवहार समकित अथवा व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप।

जीव अजीवतत्त्व अरु आस्रव, बन्ध रु संवर जानो;
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको, ज्यों का त्यों सरधानो।
है सोई समकित व्यवहारी, अब इन रूप बखानो;
तिनको सुन सामान्य विशेषैं, दिढ़ प्रतीत उर आनो॥३॥

क्या कहते हैं ? दूसरी गाथा में कह गये हैं। 'परद्रव्यनतैं भिन्न आप - में रुचि समकित भला है;...' पहले यह आत्मा शरीर, कर्म से और पुण्य-पाप आदि राग से पृथक् तत्त्व है - ऐसी अन्तर में सम्यग्दर्शन में अन्तर प्रतीति करना, उसका नाम निश्चय-सच्चा सम्यग्दर्शन है। वहाँ से धर्म का प्रारम्भ होता है। जिसे यह भान नहीं है, उसे किसी प्रकार का धर्म नहीं हो सकता। समझ में आया ?

परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि। यह शरीर, कर्म जड़ - यह सब मिट्टी - धूल अजीव (है)। कर्म भी अजीव है, उनसे आत्मा भिन्न है और अन्दर पुण्य-पाप शुभ-अशुभभाव होते हैं... दया, दान या काम-क्रोध के शुभाशुभभाव से भी आत्मा भिन्न है। यह ज्ञानानन्द शुद्ध आत्मा परमानन्द की मूर्ति आत्मा है। उसकी अन्तर में स्वभावसन्मुख की सम्यक्श्रद्धा की प्रतीति (हो), उसका नाम सच्चा समकित है। उसका नाम चौथे गुणस्थान की उत्पत्ति है। कुछ समझ में आया ? ऐसा सच्चा सम्यग्दर्शन अन्दर से उत्पन्न हो और उत्पन्न करे, उसके साथ व्यवहार समकित कैसा होता है ? - यह उसकी व्याख्या चलती है।

व्यवहार अर्थात् शुभभाव। निश्चय समकित अर्थात् शुद्ध परिणतिरूप श्रद्धा। आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप है। उसकी-शुद्ध चैतन्य की अन्तर्मुख की, राग बिना शुद्ध स्वभाव(का) अनुभव होकर प्रतीति-श्रद्धा (होना)। आत्मा आनन्दमूर्ति ज्ञायक हूँ - ऐसी अन्तर में - अनुभव में - भान में प्रतीति (होना), उसका नाम सच्चा सम्यग्दर्शन, उसका नाम सच्ची श्रद्धा, उसका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है। तब से धर्म की शुरुआत होती है। ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मी गृहस्थाश्रम में हो या मुनि, त्यागी हो; ऐसे सम्यग्दर्शन के बाद उसके साथ व्यवहार सम्यग्दर्शन का शुभराग, शुभ उपयोग उस प्रकार का व्यवहार ज्ञान का उपयोग (हो), उसे व्यवहार श्रद्धा... पुण्यबन्ध का कारण, उसे व्यवहार समकित कहते हैं। निश्चय समकित, वह संवर और निर्जरा का कारण है। समझ में आया ?

यह अब यहाँ नौ तत्त्व की बात करते हैं। जिसे आत्मा के अन्तर शुद्ध स्वभाव का भान होकर सम्यग्दर्शन, अन्दर अनुभव में प्रतीति होती है। यह आत्मा ज्ञान का कन्द है, पवित्र आनन्दकन्द है। जैसे परमात्मा हुए, वैसी दशा-समस्त शक्तियाँ मेरे आत्मा में पड़ी है - ऐसा आत्मा का अन्तर्मुख में स्वशुद्ध सन्मुख की अन्तर प्रतीति के साथे जो व्यवहार-नव तत्त्व की श्रद्धा का राग होता है, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं; परन्तु ऐसा निश्चयसम्यग्दर्शन होवे तो। कहो, भाई ! यह कहते हैं, देखो !

‘अन्वयार्थ - जिनेन्द्रदेव ने...’ पहला शब्द है। जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकर त्रिलोकनाथ भगवान को एक समय में, सैकेण्ड के असंख्य भाग में एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान था। उन भगवान ने नव तत्त्व देखे; छह द्रव्य के अन्तर भेद में नव तत्त्व देखे। यह नव तत्त्व जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित ऐसे। आत्मा निश्चय - सच्चे सम्यग्दर्शन की भूमिका में वीतराग द्वारा कथित ऐसे नव तत्त्वों की उसे श्रद्धा हो तो उस शुभभाव को व्यवहार समकित कहा जाता है, (वह) पुण्यबन्ध का कारण है। निश्चयसम्यग्दर्शन, संवर-निर्जरा का कारण है।

उसमें जिनेन्द्रदेव ने ‘जीव...’ कहा। भगवान ने जीव कहा। आगे उस जीव के तीन प्रकार करेंगे - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। ऐसा बहिरात्मा का स्वरूप - जो पुण्य-

पाप और शरीर को आत्मा माने, ऐसे बहिरात्मा को, उसकी व्यवहार श्रद्धा में उस प्रकार मानना चाहिए। समझ में आया ? यह व्यवहार श्रद्धा, हाँ ! निश्चय श्रद्धा में आत्मा अखण्ड ज्ञायकमूर्ति (है)। उसकी अन्तर में - अनुभव में भान में प्रतीति (होना), स्वभाव की शुद्धता का श्रद्धा ज्ञान (होना), उस श्रद्धा का नाम संवर और निर्जरा है। उसके साथ जीव के प्रकार - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा (पड़ते हैं)। यह भगवान द्वारा कहे गये ऐसे। बहिरात्मा कि जो कोई शरीर, देह की क्रिया या अन्तर में पुण्य का शुभभाव, वह मेरे हैं - ऐसा मानता है, वह मूढ़ है। आगे 'तत्त्वमूढ़' कहेंगे। वह तत्त्व से अजान मूढ़ जीव है। उसे सम्यग्दृष्टि जीव शुभराग में - व्यवहार समकित में उसे बहिरात्मारूप से मानते हैं। समझ में आया ?

जो जीव, परद्रव्य से भिन्न आत्मा की रुचि (करके), ऐसे सम्यग्दर्शन का भान है; पुण्य-पाप का शुभ-अशुभभाव उत्पन्न होता है, वह भी बन्ध का कारण है; वह आत्मा नहीं है। शरीर पर; जड़ की क्रिया पर है - ऐसा शरीर से भिन्न और परद्रव्य से भिन्न आत्मा का जिसे दर्शन हुआ है - ऐसा सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। उसके भेद लेंगे। - जघन्य, मध्यम (और) उत्कृष्ट (-ऐसे भेद लेंगे)। यह जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अन्तरात्मा चौथे से बारहवे गुणस्थान तक (है, उन्हें) यह राग और पुण्य से भिन्न आत्मा की अनुभवदृष्टि है। ऐसा अन्तरात्मा को अन्तरात्मा रूप से व्यवहार समकित मानता है। समझ में आया ? यह मानना शुभभाव है।

आत्मा का अन्तर अनुभव, प्रतीति (हुई), वह निश्चयभाव - शुद्धभाव है। ऐसे शुद्धभाव की भूमिका में ऐसे अन्तरात्मा को अन्तरात्मारूप से ठीक से मानना। वह आत्मा से (भिन्न) परवस्तु है न ? उसे अन्तरात्मा, बराबर अन्तरात्मा है, रागरहित आत्मा को जाननेवाला-माननेवाला है, मानना ऐसे अन्तरात्मा को अन्तरात्मारूप से मानना वह व्यवहार समकित का लक्षण है। समझ में आया ?

परमात्मा - अरिहन्तदेव सर्वज्ञदेव शरीरसहित त्रिकाल ज्ञान (सहित विराजते हैं)। शरीरसहित त्रिकाल ज्ञान; और सिद्ध भगवान शरीररहित त्रिकाल ज्ञान। सिद्ध भगवान ! ऐसे परमात्मा को त्रिकाल ज्ञान होता है और त्रिकाल ज्ञानी - तीन काल - तीन लोक के द्रव्य-गुण-पर्याय को बराबर जानते हैं। इस प्रकार परमात्मा के ज्ञान को - परमात्मा को जो यथार्थतः

मानता है, उसे व्यवहार समकित का शुभभाव कहा जाता है। आरे..आ..रे.. ! इसमें समझ में आया या नहीं ?

ऐसे अनन्त केवलज्ञान आदि पर्याय और महासमकित आदि की अनन्त पर्यायें, ऐसी शान्ति की पर्याय – ऐसी पूर्ण पर्याय का पिण्ड ऐसा यह आत्मा है। ऐसा आत्मा अत्यन्त ध्रुव शुद्ध अखण्ड ज्ञायक; जिसमें ऐसे अनन्त परमात्मा पड़े हैं, जिसमें ऐसी अनन्त चारित्र की पर्यायें पड़ी हैं। इस आत्मा की राग से भिन्न करके अनुभव, प्रतीति (हो), उसे निश्चय समकित कहा और ऐसे परमात्मा जो एक समय में तीन काल – तीन लोक को जाने, केवलीप्रभु – ऐसे केवलज्ञान द्वारा तीन काल की पर्याय जैसी (होती है, वैसी जानते हैं), इस प्रकार जो केवली को माने, उसे निश्चयसम्यग्दर्शन होवे तो ऐसे केवली को माननेवाले को व्यवहार समकित कहा जाता है। ऐ..ई.. ! घानी के बैल की तरह घूमकर फिरे। (यह भाई) कल आये न ? ऐसा कहे, फिर-फिरकर वापस जगह तो वह की वह निकली। आहा..हा.. ! देखो न ! यह एक व्याख्या इन्होंने कितनी (अच्छी) की है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा को क्यों निश्चय समकित कहा ? कि इसमें तो ऐसे अनन्त परमात्मा, अनन्त-अनन्त अन्तरात्मा और अनन्त यथाख्यातचारित्र की पर्यायें और अनन्त क्षायिकसमकित की पर्यायें – ऐसी अनन्त-अनन्त आत्मा में पड़ी है – ऐसा पूरा एक आत्मा है। समझ में आया ? ऐसा एकरूप आत्मा, पूरा तत्त्व भगवान निर्विकल्प आनन्दस्वरूप के अन्तर में स्वभावसन्मुख की प्रतीति में तो बहुत आ गया। ऐसा शुद्ध आत्मा, उसकी श्रद्धा – सम्यग्दर्शन, स्वभावसन्मुख होकर (होता है), वह निश्चय, वह सच्चा है। उसके साथ ऐसे परमात्मा, अन्तरात्मा, बहिरात्मा को जैसे है, वैसे मानना-इसका नाम व्यवहार समकित का शुभ उपयोग, राग कहा जाता है। आहा..हा.. ! समझ में आया या नहीं ?

अजीवतत्त्व, वह आगे लेंगे। भगवान ने आत्मा के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अजीव देखे हैं। यह आत्मा जीव है। इसके अतिरिक्त एक धर्मास्तिकाय है, एक अधर्मास्तिकाय है, एक आकाश है, एक काल है और पुद्गल परमाणु है – ऐसे पाँच अजीव की अजीवरूप से श्रद्धा करना। भाई ! इसमें तो ध्यान रखे तो समझ में आये ऐसा है; नहीं समझ में आये ऐसा नहीं है,

परन्तु व्यापार में से थोड़ी रुचि हटे तो यह समझ में आये ऐसा है। वे कल कहते थे, बहुत ध्यान रखना (पड़ता है), पकड़ में नहीं आता। उसे रुचि है, प्रेम से सुनता है। यह तो इसका परिचय किया तब। संसार की कैसी अच्छी रुचि लग गयी है।

देखो ! 'अजीव...' यह व्याख्या तो बहुत (सरल है)। अजीव अर्थात् परमाणु, अनन्त पुद्गल हैं - शरीर, कर्म आदि - ये सब जो अनन्त पुद्गल हैं, उनके द्रव्य, गुण और पर्याय स्वतन्त्र इस प्रकार हैं, उसी प्रकार अजीव को माने। जैसा भगवान ने देखा - ऐसे अजीव को (ऐसे माने)। समझ में आया ? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल - ये चार अरूपी द्रव्य) हैं। यह शरीर, वाणी सब पुद्गल है। इसे अजीव को... अजीव का द्रव्य अर्थात् वस्तु, इसके गुण अर्थात् शक्ति और पर्याय अर्थात् वर्तमान अवस्था - यह सब अजीव है। उसके कारण उसका उसमें है। ऐसे अजीव को अजीवरूप से; परमाणु से लेकर स्कंध तक; कर्म से लेकर शरीर के बन्धन तक, क्रिया तक जो अजीवतत्त्व है, उसे उसरूप से अजीव माने तब निश्चयसम्यग्दर्शन सहित अजीवतत्त्व की श्रद्धा को व्यवहार समकित कहा जाता है। भाई ! आहा..हा.. ! अब यह अजीव कौन और अजीव की पर्याय क्या ? सर्वज्ञ क्या और सर्वज्ञ की पर्याय क्या ? यह सब तो व्यवहार समकित के विषय में आ जाता है। समझ में आया कुछ ?

मुमुक्षु:- ...

उत्तर :- जाना नहीं। उसे व्यवहार भी नहीं। स्व पूरा तत्त्व ज्ञानमूर्ति और शुद्ध चैतन्यप्रभु आत्मा है। उसकी अन्तरसन्मुख की प्रतीति के भान बिना... परसन्मुख के विषय का व्यवहार उसे यथार्थ हो नहीं सकता। क्या कहा समझे इसमें ? स्वविषय आत्मा पूर्णानन्द प्रभु, अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा - ऐसे स्व आत्मा का अन्तर विषय, उसे ध्येय बनाकर अन्दर अनुभव होकर प्रतीति करने का नाम निश्चय स्वविषय की प्रतीति हुई, तब उसे अभी परविषय की प्रतीति (होती है)। पाँच द्रव्यों की (प्रतीति) करना अथवा जीव के अन्तरात्मा, परमात्मा कि जो दूसरे जीव हैं, उनकी उस प्रकार से प्रतीति करना, तब बाह्य विषयवाली व्यवहार समकित - श्रद्धा होती है। कहो, इसमें समझ में आता है या नहीं ? अजीवतत्त्व, यह सब वर्णन आगे करेंगे, हाँ ! उसमें ऐसा आ जाता है।

‘आस्रव...’ तत्त्व। देखो है न ! यह शुभाशुभ परिणाम हैं, शुभ-अशुभभाव हैं - दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, वह शुभ है; हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वह पाप है - ये दोनों आस्रव अर्थात् मलिनभाव है। ये नये कर्म का कारण है। ऐसे आस्रव को आस्रवरूप मानना। यह सब भेद है न ? उसे व्यवहारश्रद्धा का विषय कहा जाता है। समझ में आया ? यह नौ चीज भेद से है या नहीं ? एकरूप अखण्ड ज्ञायकमूर्ति, अन्तर स्वविषय की श्रद्धा (होना), उसे निश्चय समकित (कहते हैं), उसे ऐसा व्यवहार होता है। समझ में आया ? (यह) आस्रव (हुआ)।

‘बन्धा...’ यह बन्धन... बन्धन। कर्म का बन्धन है न ? दोनों एकरूप हैं। शुभ-अशुभ कोई भेद नहीं है; (दोनों) बन्ध है। बन्ध को बन्धरूप से भलीभाँति जानना चाहिए। शुभ, वह ठीक; अशुभ, (वह अठीक) - यह नहीं। बन्ध को बन्धरूप से जानना। यह निश्चयसम्यग्दर्शन सहित का नव तत्त्व के विषयवाला बन्धका भाव, इसे व्यवहार सम्यग्दर्शन का विषय कहा जाता है। समझ में आया ?

‘संवर...’ आत्मा में इस पुण्य-पाप के राग से रुककर शुद्ध आत्मा में सम्यग्दर्शन सहित शुद्धता की पर्याय का प्रकट होना, उसे संवर कहते हैं। इस संवर तत्त्व के भेद को ठीक से मानना, जानना-इसका नाम अभी व्यवहार सम्यग्दर्शन का विषय कहा जाता है। समझ में आया ? इसका भी पता चले और उसका भी पता न चले और चलो करो धर्म ! भाई ! संवर किसे कहना ? सामायिक और प्रौषध किये... परन्तु किसका सामायिक, प्रौषध भी ? अभी सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ? - इसका भी पता नहीं होता तो सामायिक और प्रौषध आये कहाँ से ? समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि सच्ची सामायिक और प्रौषध करनेवाले जीवों को इस प्रकार मानना, उसे व्यवहार समकित का विषय है। आहा..हा..! और मिथ्या माननेवाले को बहिरात्मारूप से मानना, वह भी व्यवहार समकित का विषय है। भाई ! फिर वापस विषय क्या होगा ? इस व्यवहार समकित का यह लक्ष्य है। उसका लक्ष्य बाहर होता है और निश्चय समकित का लक्ष्य अन्दर है, अन्दर। यह बाहर (लक्ष्य है), दोनों (में) भेद है। अन्तर्मुख की

दृष्टि और बहिर्मुख की दृष्टि, यह व्यवहार होता है। समझ में आया ?

यह तो अभी वीतरागमार्ग की पहली भूमिका की बात चलती है। जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन परमेश्वरने एक समय में तीन काल – तीन लोक देखे हैं; उनके द्वारा कथित नव तत्त्व (है)। समझ में आया ? और उन्होंने ने जाना हुआ, देखा हुआ यह आत्मा। यह आत्मा, हाँ ! ऐसा उसे अन्तर प्रतीति में, श्रद्धा-ज्ञान में आवे, तब उसे सच्चा सम्यग्दर्शन (कहलाता है) और उसकी पर्याय में – शुभ विकल्प में नव तत्त्व अर्थात् संवर के साधनेवाले जीव संवररूप से कैसे होते हैं ? उसे संवर ऐसा मानना। समझ में आया ? और अपने में भी संवर की पर्याय के भेद-शुद्धता के अंश कैसे होते हैं ? – उन्हें उस प्रकार से मानना, वह व्यवहार समकित का भेद है। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- पर्याय है न ? भेद है या नहीं ? अभेद तो अन्तर एकरूप हो गया। कहो, समझ में आया ?

संवर जानना। है न ? देखो ! उसे ठीक से जानना, कहते हैं। तब उसे व्यवहार समकित कहते हैं, निश्चय समकित होवे तो। निश्चय समकित दर्शन के बिना अकेला व्यवहार होवे तो उसे व्यवहार नहीं कहते। (वह तो) एक के बिना की शून्य है।

‘निर्जरा...’ आत्मा में शुद्धि की वृद्धि होना। शुभ-अशुभपरिणामरहित शुद्ध चैतन्यमूर्ति के भान में निर्जरा-शुद्धि की वृद्धि होना, (वह निर्जरातत्त्व है)। ऐसे दूसरे जीवों की वृद्धि और अपनी (वृद्धि होना)। ऐसे निर्जरातत्त्व को इस प्रकार भेद से भलीभाँति जानना, मानना – इसका नाम समकित-व्यवहार समकित कहा जाता है, जो पुण्यबन्ध का कारण है। अपने स्वभाव की अभेद से अन्तर श्रद्धा हुई, वह संवर-निर्जरा का स्वरूप है, परन्तु उसके भेद कर, संवर-निर्जरा को भेद से श्रद्धा करना, अभेद को छोड़कर भेद से श्रद्धा करना, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन का विषय कहते हैं। समझ में आया ?

‘मोक्ष...’ मोक्ष। भगवान अरिहन्त को सदेह मुक्ति हुई। (वे) देह सहित, चार कर्मों का नाश होकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं। वे भगवान अभी अरिहन्तपद में विराजमान हैं।

सीमन्ध्र भगवान महाविदेहक्षेत्र में है और देहरहित भगवान मोक्ष पधारे, वे सिद्ध हैं। यह चौबीस तीर्थकर आदि देहरहित हो गये हैं, वे सिद्ध में हैं, अशरीरी हैं। इन्हें शरीर हैं। ऐसे भगवान को केवलज्ञानसहित, केवलज्ञानसहित और तीनकाल-तीनलोक के ज्ञान (सहित) सर्वथा मुक्त हैं, चार कर्मों से (रहित) हैं। ऐसे मोक्ष को मोक्षरूप से श्रद्धा करना, उसे निश्चयसम्यग्दर्शन सहित का व्यवहार समकित का विषय व्यवहार समकित कहते हैं। समझ में आया ? है या नहीं पुस्तक ? मेहमानों को दी है या नहीं ? रखो तो सही। यह लड्डूओं से यह कोई दूसरी चीज़ है। यह भगवान क्या कहते हैं ? घर में तो कभी फुरसत भी नहीं होती। समझ में आया ?

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। तीर्थकर केवली के मुख में (से) यह बात आयी है। यह बात सन्तों ने पकड़कर, जानकर अनुभव की है। वह यहाँ कही जाती है। समझ में आया ? आहा..हा..! 'कहे तिनको...' देखो ! अन्तिम शब्द आया न ! ऐसे सात (तत्त्वों को) अर्थात् आस्रव में पुण्य-पाप आ गये। आस्रव है न - दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा - यह शुभपरिणामरूपी पुण्यास्रव है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय भोग, वासना, कमाना, क्रोध, मान, माया - यह पाप आस्रव है। आस्रव में ये दो भाग आ गये। उसमें पुण्य को पुण्यरूप से और पाप को पापरूप से जो 'कहे जिन...' वीतराग ने कहे; जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने कहे... 'तिनको ज्यों का त्यों सरधानो।' है न ? 'उन सबको (ज्यों का त्यों) जैसे कहे हैं वैसे...' जैसे कहे हैं वैसे। वजन यहाँ है।

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने (कही), यह बात अन्यमत में नहीं हो सकती। केवलज्ञानी परमेश्वर तीर्थकरदेव के ज्ञान में तीन काल - तीन लोक ज्ञात हुए। उसमें उन्होंने जो नव तत्त्व देखे, उस प्रकार जो माने। ' (ज्यों का त्यों) ' ज्यों का त्यों अर्थात् जैसे है वैसे। ज्यों का अर्थात् जैसा है, त्यों अर्थात् वैसा। 'यथार्थ श्रद्धा करो।' समझ में आया ? भाई ! यह सब मुम्बई के यहाँ तीन बड़े हैं। हमारे बड़े पण्डित और तुम दो छोटे पण्डित। अभी है न ? कहो, इसमें समझ में आया ? आहा..हा.. !

'इस प्रकार श्रद्धा करना, वह व्यवहार से सम्यग्दर्शन है।' है अन्दर ! व्यवहार से

अर्थात् पराश्रित श्रद्धा का नाम व्यवहार कहा जाता है। ऐसे नव तत्त्व की भेदरूप श्रद्धा, वह पराश्रित श्रद्धा है; इसलिए उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन, शुभपरिणाम, शुभविकल्प कहा जाता है। समझ में आया ? कहो भाई ! हाथ में (पुस्तक) रखी है या नहीं ? फिर उसका अर्थ समझना।

मुमुक्षु :- अगमनिगम की बातें हैं।

उत्तर :- लो, अगमनिगम की, ठीक ! यह भी तक बड़ी बेगार खोटी बेगार है न ? यह दूसरी चीज़ है - ऐसा कहते हैं। आत्मा मजदूरी करके ऐसा का ऐसा हेरान हो गया है।

कहते हैं - 'है सोई समकित व्यवहारी...' है न ? 'अब (इनरूप) इन सात तत्त्वों का...' (सामान्य-विशेष) संक्षेप से (कहता हूँ)। समझ में आया ? सामान्य-विशेष अर्थात् कोई संक्षेप में और कोई थोड़े विस्तार से... 'विस्तार से सुनकर...' सुनकर। ऐसा कहते हैं, सुनो। 'सुनकर मन में चित्त में अटल (प्रतीत) श्रद्धा करनी चाहिए।' अटल श्रद्धा करनी चाहिए। व्यवहार श्रद्धा भी ऐसी अटल, हाँ ! चलित न हो ऐसी; अर्थात् (बारबार) बदलनेवाली नहीं ऐसी। टले तो फिर वापस चली जाए।

मुमुक्षु :- यह सुने बिना ?

उत्तर :- उसे कहाँ होश है ? होश होने के काल में इसे सुनना होता है, ऐसा कहते हैं। सुनकर होता है - इसका अर्थ उसे समझे, तब उसे सुनना होता है - ऐसा है, भाई !

वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव केवलज्ञानी परमेश्वरने... वैसे तो सवेरे-शाम बोले - केवलिपण्णत्तो धम्मो शरणं - बोलते हैं न मांगलिक में ? पहाड़े बोले पहाड़े। अर्थ का कुछ पता नहीं होता। अरिहंता मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं। किसे कहना केवली ? और किसे कहना पण्णत्तो ? और किसे कहना धर्म ? तीनों का अर्थ ही (अलग है)। परन्तु फुरसत नहीं मिलती न ! पाप के कारण पूरी जिन्दगी मजदूरी कर-करके मर गया ऐसा का ऐसा। धर्म की पहिचान में भी धर्म के नाम पर मजदूरी की है। यह भाई कहते हैं न ? ये डोकरा तो वृद्ध हो गया। ८४ वर्ष (हुए हैं)। सेठिया घानी के (पशु की) तरह अभी तक ऐसा का ऐसा गया। आँख से पट्टी खोली तो वह की वह घानी और वह की वह तेली।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- आज सवेरे इसने पहले यही कहा कि हम तो उसी की उसी जगह पर हैं, हम कोई आगे नहीं चले हैं। कहो, समझ में आया ? लो, वहाँ संघ के सेठ हैं, 'वडाल' के 'वडाल' न ? कर-करके इतना किया। यह किया और वह किया ! सामायिक की और प्रौषध किये, प्रतिक्रमण किया ! किसकी सामायिक ? किसके प्रौषध ? किसका प्रतिक्रमण ? अभी तो सामायिक, प्रौषध किसे कहना ? - इसका तो पता नहीं है। आत्मा क्या है ? किसमें स्थिर होना चाहिए ? किसमें लीन होना चाहिए ? वह चीज़ क्या है ? उस चीज़ के भान बिना स्थिरता... ऐसी सामायिक आयी कहाँ से ?

मुमुक्षु :- होती है न ?

उत्तर :- हो, परन्तु गुड़ होना चाहिए न ? गुड़ होवे तो ? गुड़ के नाम पर गोबर खाये तो क्या होगा ? ऐसे भगवान आत्मा, जो निर्विकल्प श्रद्धा में यह आत्मा पूर्णानन्द ऐसे प्रतीति में आये बिना इसमें स्थिरता.. इसमें स्थिरता से मुझे शान्ति मिले और इसमें स्थिरता से मुझे मुक्ति मिले... उस चीज़ की प्रतीति, पहिचान बिना यह स्थिर किसमें होगा ? यह तो अनादि से पुण्य और विकल्प में स्थिर है। ऐसे के ऐसे विकल्प उठाकर उसमें (स्थिर है)। वह तो संसार है, आस्रव है, बन्ध है। समझ में आया ?

'दृढ़ प्रतीति उर आनो...' उसकी व्यवहार से यथार्थ श्रद्धा करना। अब इसका अर्थ करते हैं, देखो ! हमारे ऊपर आ गया है। 'भावार्थ :- निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ व्यवहार सम्यग्दर्शन कैसा होता है, उसका यहाँ वर्णन है।' निश्चय अर्थात् आत्मा शुद्ध पवित्र की अन्तर सम्यक्दृष्टि प्रकट हुई हो, उसके साथ व्यवहार का विकल्प-शुभराग-व्यवहार समकित कैसा होता है - उसका इसमें वर्णन है।

'जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो...' भगवान आत्मा पवित्र, पुण्य-पाप के रागरहित अखण्डानन्द ज्ञानानन्दस्वरूप की अन्तर पहिचान, अनुभव और प्रतीति नहीं है, 'उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता।' 'भी' अर्थात् निश्चय तो नहीं परन्तु व्यवहार भी नहीं। निश्चय (सम्यक्दर्शन) के बिना, आत्मा के अन्तरभान के बिना, यह व्यवहार का परविषय का

विकल्प उपचार से भी उसे लागु नहीं पड़ता। समझ में आया ?

‘निश्चय श्रद्धा सहित...’ देखो ! आत्मा एक वीतराग निर्विकल्प पिण्ड प्रभु आत्मा है – ऐसी अन्तरदृष्टि होने पर ‘सात तत्त्वों की विकल्प-राग सहित की श्रद्धा...’ यह नौ कहो या सात कहो। आस्रव के दो भेद। उसकी विकल्प अर्थात् भेदवाली श्रद्धा, भेद की श्रद्धा को ‘व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है।’ कहो, समझ में आया ? व्यवहार सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं परन्तु वह शुभ विकल्प और उस प्रकार का व्यवहार का ज्ञान है, इसलिए व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। व्यवहार सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं। निश्चय अर्थात् यथार्थ सम्यग्दर्शन। व्यवहार सम्यग्दर्शन, (वह) सम्यग्दर्शन नहीं परन्तु उसे उस प्रकार की श्रद्धा में, व्यवहार श्रद्धा के क्षयोपशम के भाव में और विकल्प में ऐसी श्रद्धा होती है, इसलिए उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन का आरोप दिया जाता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- व्यवहार सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की पर्याय नहीं है ?

उत्तर :- श्रद्धागुण की पर्याय नहीं है। नहीं, वह तो राग है। यह क्या कहा ? ‘विकल्प-राग सहित की श्रद्धा...’ यह श्रद्धागुण की पर्याय नहीं है। निश्चयसम्यग्दर्शन, वह आत्मा के श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय है। व्यवहार समकित तो राग है, वह कहाँ श्रद्धागुण की पर्याय ? श्रद्धागुण की पर्याय क्या ? यह सब कभी सुना नहीं होगा और गाँववालों को तो (ऐसा लगता है) क्या कहते हैं यह ? गाँववाले क्या और शहर(वाले भी क्या) ? तत्त्व के भान बिना ऐसे के ऐसे मजदूरी करते रहते हैं। एक तो पूरे दिन संसार की मजदूरी करते हैं।

मुमुक्षु :- वहाँ तो लाभ होता है।

उत्तर :- किसका ? धूल का ? क्या लाभ होता है ? पैसे तो उसके घर में रह गए। पैसे कहाँ उसके पास घुस गए हैं ? उसके पास लाभ ममता का होता है, भाई ! पाँच-दस लाख, बीस लाख पैसे तो उसके पास – जड़ में रह गए। उसका क्या लाभ ? मेरे पास (पैसे) आए, ऐसी ममता उसके पास आई। उसे क्या लाभ हुआ ?

मुमुक्षु :- हमारी कोई बात तो रखिए (मानिए) ?

उत्तर :- एक भी बात सत्य नहीं है। सच्ची किसकी रखें ? एक भी बात सत्य होवे तो सच्ची रखें न ? कैसे होगी ? कहो, समझ में आया ? पैसा.. पैसा.. क्या पैसा ? दो करोड़, तीन करोड़ और धूल करोड़। इसके पास क्या आया होगा ? ऐ..ई.. ! तुम्हारे भतीजे के पास क्या आया होगा ? यह तो कहता है - आकुलता आयी। लो ! (अपने यहाँ एक मुमुक्षु आते हैं न) ? बाईस-बाईस मंजिल के हजीरा बनाते हैं न ? हजीरा अर्थात् ? मकान... मकान। बाईस... बाईस मंजिर के। धूल में भी नहीं वहाँ अब। उनकी अपेक्षा तो अपने इनके मामा का लड़का बड़ा। चालीस करोड़ ! 'गोवा.. गोवा !' 'पाणसणा' का न ? क्या कहलाता है ? 'पाणसणा' पांदड़ा नहीं। पांदड़ा तो यहाँ एक गाँव है। हमारे 'उमराला' से 'गारियाधार' जाते तब रास्ते में पांदड़ा आता था। वह आता है, पता है। यह तो छोटी उम्र में गये थे न ! दस वर्ष - बारह वर्ष की उम्र में 'उमराला' से शाम से सवेरे जाते थे। 'पाणसणा' इसके मामा का लड़का, सगे मामा का लड़का।

मुमुक्षु :- इतना तो पुण्य है न ?

उत्तर :- आकुलता का ढेर है। धूल में भी वहाँ पैसे काम नहीं करते। रूपया है, वह अजीवतत्त्व है। वह मेरे, यह माना, वह मिथ्यात्व तत्त्व है और उसकी आकुलता, वह आस्रवतत्त्व है। आहा..हा.. ! कहो, क्या कहना है ? पैसा अजीवतत्त्व है या जीव ? यह अजीवतत्त्व भिन्न है। जीव माने कि मेरा है। वह इसका नहीं है और 'मेरा' माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु :- अजीव भी जीव को उपयोगी है न ?

उत्तर :- धूल में भी उपयोगी (नहीं है)। क्या काम आता है ? जीव उसका काम कर सकता है ? वह आत्मा को काम आता है ? राग करने में निमित्त होता है। राग अर्थात् आकुलता करने में निमित्त हुआ। वह तो आकुलता-दुःख में निमित्त हुआ। आहा..हा.. ! भगवान का गज अलग प्रकार का है, भाई ! तीर्थकर-केवलियों का माप - गज अज्ञानी की अपेक्षा अलग प्रकार के हैं। यह दुनिया के साथ मेल नहीं खाता। यह पैसा मेरा है - ऐसी मान्यता (मिथ्यात्व है)। यह पैसा आत्मा का है ? जीव का अजीव कभी होता है ? जीव का

कभी अजीव होता है ? अर्थात् अजीव इसका होगा ? ऐसा। यह अजीव मेरा है – ऐसा माना, वह तो मिथ्यादृष्टि है, मूढ़ है। परवस्तु को मेरी माने... यहाँ कहा न ? परद्रव्य से भिन्न अपनी श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है।

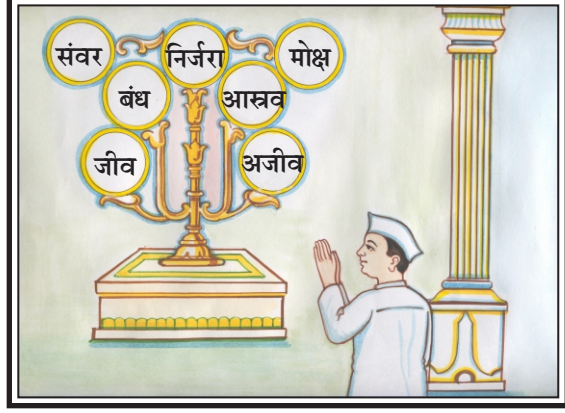
सम्यग्दृष्टि जीव एक रजकण को भी अपना नहीं मानता। भले राजपाट में दिखे। मेरा मेरे पास। अनन्त गुण की शुद्धता भरी है, वह मेरी चीज है। पुण्य-पाप के भाव उठें, वह मेरी चीज़ नहीं है; तो फिर यह धूल मेरी कहाँ से आयी ? समझ में आया ? ‘परद्रव्यनतै भिन्न...’ पहले आ गया न ? इन सात तत्त्वों में भी आ गया। आस्रवतत्त्व नहीं आया ? अजीवतत्त्व, उसके रजकण, स्कंध (है)। यह व्यवहार श्रद्धा हुई। इससे रहित अकेले आत्मा की श्रद्धा की, तब ऐसी श्रद्धा को व्यवहार कहते हैं। आहा..हा..! बहुत अच्छी बतायी है ! गागर में सागर भर दिया है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- नहीं, नहीं; यह पहले का है। यह तो कोई शब्द का फेर है। इसमें है, देखो ! यह पुराना है, पुराना। पुराना है, इसमें है। कहाँ गया पुराना ? लो ! यह... यह रहा। यह पुराना। देखो, इसमें ही यह है। समझ में आया ? यह तो इससे हमने सुधारा है। देखो ! यहाँ लिखा है। जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष सात तत्त्व कैसे है, उसका जैसा हैं, वैसा अटल श्रद्धान करना, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। अब फिर इन सात तत्त्वों के स्वरूप का सामान्य और विशेषरूप से वर्णन करेंगे। ‘रूप’ है न अन्दर में ? ‘अब इन रूप बखानो।’ ऐसा। इस पर वजन है। यहाँ देखो न, तीसरे में ! ‘अब इन रूप बखानो-’ इनका – सात का स्वरूप अब कहेंगे – ऐसा। सात तत्त्व भिन्न-भिन्न कैसे हैं – उन्हें यथार्थ श्रद्धा करे। आत्मदर्शनसहित होवे तो उसे व्यवहार समकित कहा जाता है। उसके स्वरूप को अब कहेंगे – यह शब्द पाठ में ही है। समझ में आया ?

इसमें भी सात तत्त्वों का चित्र लिया है, हाँ ! देखो ! यह चित्र है, देखो ! ऐसे अन्दर भलीभाँति श्रद्धा करता है। ऐसे आँख रखकर देखता नहीं हो ! चित्र में सात तत्त्व जैसे हैं, जैसे बाह्य ज्ञान से, बहिर्लक्ष्यी ज्ञान से उन्हें भलीभाँति देखता है कि ऐसे हैं।

अपने यहाँ से यह अधिक डाला है।
 '(२) तत्त्वार्थसूत्र में 'तत्त्वार्थ
 श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'' कहा है...
 'कुन्दकुन्दाचार्य' के शिष्य 'उमास्वामी' ने
 एक तत्त्वार्थसूत्र बनाया है। परम्परा
 भगवान से आये हुए तत्त्वों को थोड़े
 शब्दों में समेटकर संक्षिप्त बनाया है।
 उसमें यह 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'
 कहा है। 'वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। यहाँ
 जो सात तत्त्वों की श्रद्धा कही है...' वह व्यवहार है, क्योंकि भेदरूप है और तत्त्वार्थसूत्र में
 जो तत्त्वार्थ श्रद्धान कहा है, वह निश्चय है। वरना समानता तो दोनों में है - यह भी तत्त्वार्थ है
 और वह भी तत्त्वार्थ है। समझ में आया ?



यह सात तत्त्वों की श्रद्धा, वह व्यवहार है और 'उमास्वामी' ने तत्त्वार्थश्रद्धान कहा, वह
 आत्मा के ज्ञान-भान सहित की आस्रव, बन्ध, संवर का उसमें अभाव है - ऐसी श्रद्धासहित,
 उसमें अभेद एक आत्मा की श्रद्धा की - यह सब एकवचन में समाहित हो जाता है। समझ में
 आया ? वह निश्चयसम्यग्दर्शन है और इन सात को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसलिए
 यहाँ ज़रा स्पष्टीकरण किया है।

'देखो मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ - ४७७...' यह हिन्दी की बात है।
 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय, गाथा २२।' तत्त्वार्थ श्रद्धान निजरूप है। यह समझ में आया ? है
 इसमें ? इसमें है यह - 'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।' यह पुरुषार्थसिद्धयुपाय
 की २२वीं (गाथा है)। 'श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मारूपं तत्-' (अर्थात्)
 विपरीत अभिनिवेश से रहित - विपरीत - मिथ्या अभिप्राय से रहित। 'जीव-अजीवादि
 तत्त्वार्थों का...' पुरुषार्थसिद्धयुपाय की २२ वीं गाथा है, वह बोली जाती है। (वह श्रद्धान)
 सदाकाल करने योग्य है। 'वह श्रद्धान ही आत्मा का स्वरूप है।' समझ में आया ?

‘आत्मरूपं...’ क्योंकि दर्शनमोहरूप उपाधि दूर होने पर प्रकट होता है, इसलिए आत्मा का स्वभाव है। चतुर्थ आदि गुणस्थानों में प्रकट होता है। चौथे गुणस्थान से आत्मा की अनुभव-दृष्टि प्रकट होती है; तत्पश्चात् सिद्ध अवस्था में भी सदाकाल उसका सद्भाव रहता है; इसलिए कहा है कि ‘सदैव कर्तव्यम्...’ सिद्ध में भी (रहता है)। यह पुरुषार्थसिद्धियुपाय की २२वीं गाथा और मोक्षमार्गप्रकाशक हिन्दी (दिल्ली संस्करण) में ४७७ पृष्ठ पर है। क्या कहा यह ?

यह आत्मा का सम्यग्दर्शन-निश्चय श्रद्धा - तत्त्वार्थश्रद्धान शास्त्र में कहा है, यह तत्त्वार्थ श्रद्धाननिश्चय है। आत्मा की - अभेद की श्रद्धासहित; और यह जो सात तत्त्वों की श्रद्धा (कही है), यह व्यवहार श्रद्धा का विकल्प राग है, उसे यहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान कहा जाता है। ‘यहाँ जो सात तत्त्वों की श्रद्धा कही है, वह भेदरूप है...’ पहले (जो) तत्त्वार्थ (श्रद्धान कहा), वह अभेद एकवचनरूप था। यह ‘भेदरूप है - रागसहित है; इस कारण वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है।’ व्यवहार अर्थात् शुभरागरूप है। जो श्रद्धा की पर्याय नहीं है, फिर भी उसे सम्यग्दर्शन की पर्याय कहने का नाम व्यवहार कहा जाता है। पर्याय क्या और यह सब भाषा कैसी ?

जैनदर्शन की तो पहली ईकाई है। द्रव्य किसे कहना ? कि त्रिकाली वस्तु को द्रव्य कहते हैं। उसमें शक्ति और गुण हौ, उसे गुण कहते हैं। उसकी वर्तमान हालत को - स्थिति को पर्याय कहते हैं। ऐसे छह द्रव्य भगवान ने देखे हैं। (उस) प्रत्येक में द्रव्य-गुण-पर्याय होते हैं। उसे उसके द्रव्य-गुण-पर्याय से उसका जैसा तत्त्व है, उस प्रकार श्रद्धा करना, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन का विषय कहा जाता है। समझ में आया ?

‘निश्चयसम्यग्दर्शन में कैसा निमित्त होता है...’ निश्चयसम्यग्दर्शन में या निश्चयमोक्षमार्ग में... समझे ? निश्चयसम्यग्दर्शन के समय व्यवहार सम्यग्दर्शन कैसा होता है अथवा निश्चयमोक्षमार्ग-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन की एकता में व्यवहारमोक्षमार्ग का सम्यग्दर्शन कैसा होता है ? समझ में आया ? ‘तीसरी गाथा कही है...’ उसके लिए ये तीसरी गाथा सम्यग्दर्शनकी है। ‘उसका ऐसा अर्थ नहीं है कि निश्चयसमकित के बिना व्यवहारसमकित हो सकता है।’ यह सात की श्रद्धा हो, इसलिए व्यवहार-समकित है और

निश्चय है नहीं - ऐसा नहीं हो सकता है। एक हो तो शून्य को दस गिना जाता है; एक के बिना शून्य को शून्य नहीं गिना जाता (अर्थात्) गिनती में नहीं आता। इसी प्रकार आत्मा के अन्तर अनुभव में समकित निश्चय होवे तो एक (का अंक) हुआ तो व्यवहार समकित के तत्त्वार्थ श्रद्धान को निमित्तरूप से व्यवहार कहा जाता है। वह है तो शून्य, हाँ ! सम्यग्दर्शन नहीं।

जीव के भेद, बहिरात्मा और उत्तम अन्तरात्मा का लक्षण

बहिरातम, अन्तरआतम परमातम, जीव त्रिधा हैं;

देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्वमुधा है।

उत्तर मध्यम जघन त्रिविध के अन्तर-आतम ज्ञानी;

द्विविध संगबिन शुध-उपयोगी मुनि उत्तम निजध्यानी॥४॥

अन्वयार्थ :- (बहिरातम) बहिरात्मा, (अन्तरआतम) अन्तरात्मा (और) (परमातम) परमात्मा, (इस प्रकार) (जीव) जीव (त्रिधा) तीन प्रकार के (है) है; (उनमें) (देह जीवको) शरीर और आत्मा को (एक गिने) एक मानते हैं, वे (बहिरातम) बहिरात्मा हैं (और वे बहिरात्मा) (तत्त्वमुधा) यथार्थ तत्त्वों से अज्ञान अर्थात् तत्त्वमूढ मिथ्यादृष्टि हैं। (आतमज्ञानी) आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानकर यथार्थ निश्चय करनेवाले (अन्तरआतम) अन्तरात्मा (कहलाते हैं; वे) (उत्तम) उत्तम (मध्यम) मध्यम और (जघन) जघन्य ऐसे (त्रिविध) तीन प्रकार के हैं; (उनमें) (द्विविध) अन्तरंग तथा बहिरंग ऐसे दो प्रकार के (संगबिन) परिग्रह रहित (शुध उपयोगी) शुद्ध उपयोगी (निजध्यानी) आत्मध्यानी (मुनि) दिगम्बर मुनि (उत्तम) उत्तम अन्तरात्मा है।

भावार्थ :- जीव (आत्मा) तीन प्रकार के हैं - (१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा। उनमें जो शरीर और आत्मा को एक मानते हैं, उन्हें बहिरात्मा कहते हैं; वे तत्त्वमूढ मिथ्यादृष्टि हैं। जो शरीर-आत्मा को अपने भेदविज्ञान से भिन्न-भिन्न मानते हैं, वे अन्तरात्मा

अर्थात् सम्यग्दृष्टि हैं। अन्तरआत्मा के तीन भेद हैं - उत्तम, मध्यम और जघन्य। उनमें अंतरंग तथा बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक वर्तते हुए शुद्ध-उपयोगी आत्मध्यानी दिगम्बर मुनि उत्तम अन्तरात्मा हैं।

अब, 'जीव के भेद, बहिरात्मा और उत्तम अन्तरात्मा का लक्षण।' लो, यह इसे व्यवहार सम्यग्दर्शन में श्रद्धान करना चाहिए, पहिचान करके यथार्थतः मानना चाहिए।

बहिरातम, अन्तरआतम परमातम, जीव त्रिधा हैं;

देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्वमुधा है।

उत्तर मध्यम जघन त्रिविध के अन्तर-आतम ज्ञानी;

द्विविध संगबिन शुध-उपयोगी मुनि उत्तम निजध्यानी॥४॥

क्या कहते हैं ? भगवान आत्मा, जिसने सम्यग्दर्शन में पूरा आत्मा पूर्णानन्द को पकड़ा - मैं परमस्वरूप से, परमात्मस्वरूप से, मैं परमस्वरूप से पूर्णानन्द हूँ - ऐसा जिसने सम्यक्श्रद्धा - दर्शन में पकड़कर प्रतीति की है, उसे व्यवहार श्रद्धा में जीव के भेद जैसे है, (वैसे श्रद्धा की।) यहाँ वे दूसरे भेद नहीं गिने हैं, भाई ! यहाँ मात्र बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा (ये भेद) गिने हैं। देखो ! मुद्दे की रकम गिनी ! वरना तो जीव के दूसरे भेद भी बहुत हैं - स्थावर और त्रस और अमुक... अमुक, परन्तु यह तो कहते हैं - वे प्रयोजनभूत नहीं हैं। यहाँ प्रयोजनभूत की बात लेनी है, भाई ! यहाँ सात तत्त्वों में प्रयोजनभूत की बात लेनी है। व्यवहार परन्तु उसका प्रयोजनभूत व्यवहार। समझ में आया ? हैं !

मुमुक्षु :- ... काम नहीं ?

उत्तर :- उसका यहाँ काम नहीं।

कहते हैं, अपने आत्मा की - शुद्ध स्वभाव के सन्मुख की अन्तर प्रतीति - निश्चय श्रद्धा हुई, तब उसे जीव के भेदों की ऐसी श्रद्धा का शुभराग होता है। इस प्रकार का ज्ञान का

क्षयोपशम होता है, ऐसा एक परसन्मुख का विकल्प होता है।

‘बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा (इस प्रकार) जीव तीन प्रकार के हैं...’ ऐसा यह माने। अब तीन कैसे होते हैं – यह माने ? ‘(देह-जीव को) शरीर और आत्मा को (एक गिने)...’ शरीर की क्रिया हो, वह आत्मा करता है अथवा शरीर है तो आत्मा है, शरीर है तो आत्मा है – इस प्रकार शरीर को ही आत्मा मानता है। यह वाणी है तो आत्मा है – इस प्रकार वाणी को आत्मा मानना है। सब जड़ को (आत्मा मानता है)। कर्म है तो आत्मा है, वह जड़ को आत्मा मानता है। बहिर-जीव-स्वभाव के अतिरिक्त बहिर्भाव-पुण्य-पाप शरीर, कर्म सब बहिर्भाव है। समझ में आया ? यह उसका अन्तरभाव नहीं। जीव का अन्तर्भाव तो ज्ञानानन्द शुद्ध स्वभाव है; बहिर्भाव पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति का शुभपरिणाम या हिंसा, झूठ के अशुभ (परिणाम) या कर्म, शरीर अजीव यह सब बहिर्भाव हैं। इस बहिर्भाव को अपना माने, यह मेरा – जीव का है – ऐसा माने, उसे बहिरात्मा – मिथ्यादृष्टि जीव कहा जाता है। अर्थात् क्या कहा ? सम्यग्दृष्टि को, दूसरे जीव, शरीर और कर्म मेरे, पुण्य-पाप के भक्ति भाव मेरे ऐसा माननेवाले हों, उसे व्यवहार समकित के विषय में, वह बहिरात्मा है – ऐसा उसे मानना चाहिए। समझ में आया ? हैं ?

मुमुक्षु :- बहुत स्पष्टता हो गयी।

उत्तर :- बहुत स्पष्टता हो गयी, कहते हैं। उसके लिए तो यह सब किया है। (सब लेने का) कहते थे तो फिर एक बार लेना था, लेते हैं, चलो ! नया-नया कुछ लेना न ! कहो, समझ में आता है या नहीं ? यह पढ़ा था ? पहले पूरा पढ़ा था ? यह (छहढाला) पढ़ी थी या नहीं ? घर में नहीं ? है तो अवश्य, कहते हैं। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- धीरे-धीरे...

उत्तर :- यह धीरे-धीरे तो चलता है, देखो न !

बहिरात्मा = बहिर्-आत्मा – ऐसा शब्द पड़ा है। जीव के तीन प्रकार में – प्रयोजनभूत तत्त्व के प्रकार में एक बहिरात्मा है। आत्मा तो सही, परन्तु वह आत्मा, पुण्य और पाप के परिणाम को, विकार को अपना मानता है, उनसे अपने को लाभ मानता है; देह की क्रिया को,

बाहर के पैसे-धन से अपने को लाभ माने - ऐसे जीव को बहिरात्मा-मिथ्यादृष्टि-तत्त्वमूढ़ा अर्थात् तत्त्व का मूढ़ जीव है, उसे बहिरात्मा जानना चाहिए। सम्यग्दृष्टि को व्यवहार समकित में, व्यवहारज्ञान में उसे बहिरात्मा के रूप में मानना चाहिए। कहो, यह कोई कहता है, अपने को पर का क्या काम ? भाई ! यहाँ पर की बात नहीं। ऐ..ई.. ! दूसरे आत्मा के तीन प्रकार में किसमें है - ऐसी मान्यता व्यवहार समकित के विषय में आती है। भाई ! देखो न ! कैसा बनाया है !

शरीर और आत्मा को एक माननेवाले अर्थात् शरीर, उसकी क्रिया - यह शरीर की क्रिया, यह वाणी की क्रिया - यह आत्मा की है, आत्मा है तो शरीर चलता है, आत्मा है तो वाणी बोली जाती है - ऐसा माननेवाले उस जड़ को ही आत्मा मानते हैं, देह को ही आत्मा मानते हैं। जो बहिर्मुख विकार है, उसे ही आत्मस्वभाव मानते हैं। आत्मभाव, देह को आत्मा माने और पुण्य-पाप को आत्मभाव माने; अर्थात् आत्मा को - आत्मभाव को पर से अपने को मानता है। समझ में आया ? ऐसे जीवों को भगवान ने मिथ्यादृष्टि कहा है। वे जैन में हो या अन्य में हो, बाड़ा (संप्रदाय) के साथ यहाँ सम्बन्ध नहीं है, भाई ! यह कहाँ बाड़ा की बात है ? यह तो भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ का कथन है। इसलिए नहीं कहा ? 'कहे जिन तिनको...' भगवान ने ऐसा कहा है। ऐसे जीवों को भगवान ने बहिरात्मा कहा है।

जो जीव, शरीर की क्रिया मुझसे होती है, शरीर का आत्मा, शरीर है तो मैं हूँ, शरीर साधन होवे तो धर्म होता है, शरीर निरोग होवे तो धर्म होता है, शरीर रोगवाला होवे तो आत्मा को नुकसान होता है - ऐसा माननेवाले सब शरीर को ही आत्मा माननेवाले हैं, भाई ! शरीर अच्छा हो तो पर की दया पलती है, लो ! धूल भी नहीं, सुन न अब। शरीर तो मिट्टी-जड़ है, वह तो धूल है, अजीव है। वह अजीवतत्त्व है। अजीव के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों अजीव हैं। द्रव्य अर्थात् रजकण; गुण अर्थात् उसके रंग, गन्ध, रस, स्पर्श और अवस्था (अर्थात्) यह अवस्था दिखती है, वह तीनों अजीव हैं। इस अजीव की कोई भी शक्ति या पर्याय मेरी है अथवा मुझसे होती है अथवा वह मेरे अस्तित्व में है अथवा उसके अस्तित्व के कारण मैं हूँ (-ऐसा माननेवाले बहिरात्मा हैं।) 'तन उपजत' - एक (छन्द) में आया था न ? भाई ! देह उत्पन्न

हुआ तो मैं उत्पन्न हुआ; देह मर गया तो मैं मर गया – ऐसे देह के – अजीव के तत्त्व को जीव माननेवाला बहिरात्म जीव है, मिथ्यादृष्टि है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, व्यवहार समकित में ऐसे बहिरात्मा को बहिरात्म रूप से श्रद्धा करना चाहिए। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- तुमने कब पढ़ा है ? अभी-अभी ही थोड़े निवृत्ति हुए हो। थोड़ा कहा, अभी तो इसे मदद करनी, उसको करानी। (कहते हैं) भाईयों को मदद करनी, पहले करनी, होशियार व्यक्ति हो तो काम में जहाँ-जहाँ लगा देना। 'पोरबंदर' में पहुँच जाए या नहीं ? काका चलो, गौशाला में ! यह गौशाला के अधिपति कहलाते हैं। यह तो गत काल की अपेक्षा से बात है। आहा.हा.. !

वह बहिरात्मा कैसा है ? '(तत्त्वमुधा) यथार्थ तत्त्वों से अज्ञान अर्थात् (तत्त्वमूढ) मिथ्यादृष्टि है।' मूढ अर्थात् मूर्ख है। वह तत्त्व का मूर्ख है। जीव को जीव नहीं मानता, पुण्य-पाप को पुण्य-पाप का आस्रव नहीं मानता; शरीर को अजीव नहीं मानता – वे सब तत्त्व में मूर्ख हैं। ऐसे तत्त्व में मूर्ख जीवों को बहिरात्मा रूप से समकित व्यवहार समकित में उन्हें मानता है। कहो, समझ में आया ?

अब, आत्मज्ञानी है न ? अन्तिम शब्द है न ? 'उत्तम मध्यम जघन त्रिविध के अन्तर आत्म ज्ञानी।' वहाँ से शुरू किया है। आत्मज्ञानी जीव अर्थात् 'आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानकर यथार्थ निश्चय करनेवाला...' इसलिए पहले आया था, वहाँ। परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि भली है। आया था न ? आत्मा का ज्ञान है कि शरीर, वाणी मैं नहीं; पुण्य-पाप का राग होता है, वह भी मैं नहीं, वह तो विकार है। आत्मा का ज्ञान – आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसका भान है – ऐसा आत्मज्ञानी। पर से भिन्न जानकर 'निश्चय करनेवाला अन्तरात्मा...' वह अन्तरात्मा कहलाता है, देखो ! अंतर स्वरूप जैसा अन्दर है, उसे माननेवाला, वह अन्तरात्मा है। पुण्य-पाप विकार, शरीर आदि बहिर् है, उन्हें आत्मा माननेवाला बहिरात्मा है। सम्यग्दृष्टि को ऐसे को बहिरात्मा रूप से जानना; और पुण्य-पाप, देह रहित आत्मा है – ऐसा माननेवाला आत्मज्ञानी है। उस आत्मज्ञानी जीव को व्यवहार श्रद्धा में आत्मज्ञानी रूप से अन्तरात्मारूप

मानना। समझ में आया ? पर के लिये यहाँ बात नहीं है। इसकी-अपनी आत्मा की पहिचान में ऐसी चीज़ व्यवहार में आती है। समझ में आया ? कोई कहे कि हमें पर का क्या काम ? यहाँ पर की बात कहाँ है ? अपनी निश्चय श्रद्धा में, व्यवहार श्रद्धा के भाव में जो आत्मा की स्थिति है, उसको विपरीत न मान ली जाए; है - ऐसी मानना, इसके लिए व्यवहार समकित कहा गया है। अपने लिये है; पर के लिये यहाँ कहाँ बात है ? समझ में आया ?

इस अन्तरात्मा - आत्मज्ञानी के तीन प्रकार हैं। 'उत्तम, मध्यम और जघन्य - ऐसे तीन प्रकार के हैं।' इन तीन प्रकारों में 'अन्तरंग और बहिरंग इन दो प्रकार के परिग्रह से रहित (शुद्ध उपयोगी) शुद्ध उपयोगी (निजध्यानी) आत्मध्यानी (मुनि) दिगम्बर मुनि, उत्तम अन्तरात्मा है।' इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को व्यवहार समकित में ऐसे मुनि को उत्तम आत्मा-अन्तरात्मा मानना। कैसा ? उन्हें बाह्य और अन्तरंग परिग्रह का त्याग होता है। बाहर में एक वस्त्र का धागा नहीं होता; अन्तर (में) तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव होता है - ऐसे संग रहित... अन्तर में राग का संग नहीं, बाहर में परिग्रह का - वस्त्र-पात्र का संग नहीं परिग्रह (नहीं), एक शुद्धोपयोगी, शुद्ध परिणामी, शुद्ध उपयोगवाला। इस शुद्धोपयोग को शुद्ध परिणाम भी कहा है, भाई ! यह दोपहर में कहेंगे। उसमें गाथा आती है न ? उसमें अनन्त शुद्धोपयोग का शुद्ध परिणाम ले लिया है। शुद्ध परिणाम, यह तो शुद्ध परिणाम ही है। समझ में आया ?

शुद्धोपयोगी अर्थात् जिसके परिणाम शुद्ध है। पुण्य-पाप रहित शुद्ध परिणाम और शुद्ध उपयोग है। बाह्य त्याग है; अभ्यन्तर राग का त्याग है। अन्दर आत्मा के व्यापार में वह त्याग कहा। अब यहाँ अस्ति से क्या है ? आत्मा शुद्ध स्वभाव की रमणतावाला जीव है, वह निजध्यानी आत्मा के ध्यान में आत्मा को ध्येय में लेकर ध्यान करता है। विकल्प आदि का नहीं, पर का नहीं - ऐसे आत्मध्यानी मुनि - दिगम्बर मुनि होते हैं। बाह्य में दिगम्बर होते हैं, अभ्यन्तर में तीन कषाय का अभाव होता है। ऐसे आत्मा को उत्तम अन्तरात्मा, सम्यग्दृष्टि जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन की भूमिका में व्यवहार समकित के विषय में ऐसे को उत्तम अन्तरात्मा पहिचानकर मानना चाहिए। समझ में आया ? इस व्यवहार सम्यग्दर्शन के विषय में एक अन्तरात्मा कहा। विशेष व्याख्या करेंगे। (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत २४९२, माघ शुक्ल १२, बुधवार

दि. २-२-१९६६, गाथा ४, ५ प्रवचन नं.-१५

‘दौलतरामजी’ कृत (छहढाला की तीसरी ढाल की) चौथी गाथा का भावार्थ है। अधिकार क्या चलता है ? कि यह आत्मा, शरीर और पुण्य-पाप के राग से भिन्न (है)। ऐसे आत्मा की श्रद्धा-निश्चयसम्यग्दर्शन होता है, उसे इस व्यवहार सम्यग्दर्शन का नव तत्त्व के भेदवाला विषय उसे श्रद्धा में होता है। पुण्य-पाप के शुभ-अशुभभाव से और कर्म, शरीर से रहित निश्चय आत्मा का भान होता है, परद्रव्य से भिन्न-उसमें यह सब आ गया। आत्मा शुद्ध निर्विकल्प आनन्द की अन्तरदृष्टि अनुभव की होती है, उसे निश्चयसम्यग्दर्शन - सच्चा सम्यग्दर्शन कहा जाता है। उसे यह सात तत्त्वों के भेदवाली श्रद्धा (होती है), उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन की व्याख्या चलती है।

‘भावार्थ - जीव (आत्मा) तीन प्रकार के हैं - (१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा।’ यह व्यवहार समकित के विषय की बात चलती है। व्यवहार समकित में, बहिरात्मा कैसा होता है ? - उसे भलीभाँति जानना चाहिए। (जो) शरीर और राग को अपना स्वरूप मानता है, वह बहिरात्मा-मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी है, उसे उस प्रकार से जानना चाहिए। बाद में आगे कहेंगे - ऐसा बहिरात्मस्वरूप जानकर, उसे जानकर हेय करना चाहिए। समझ में आया ? जो कोई शरीर की क्रिया को आत्मा माने; राग-दया, दान, व्रतादि के शुभाशुभभाव को आत्मा माने, उसने जड़ को, विकारी को ही आत्मा माना है, वह बहिरात्म बुद्धि-मिथ्यादृष्टि हैं। उस मिथ्यादृष्टि के भाव को जानकर तजना - ऐसा आगे आयेगा। उसे जानकर बहिरात्मभाव छोड़ना।

अन्तरात्मा और परमात्मा। जैसे इस शरीर और आत्मा को एक मानता है, वह बहिरात्मा है। ‘उसे अविवेकी अथवा मिथ्यादृष्टि भी कहते हैं।’ तत्त्वमूढ़ा कहा था न ? जिसे आत्मा

आनन्दस्वरूप का ज्ञान (नहीं) है; रागादि दुःखरूप, शरीरादि पररूप है – ऐसा जिसे अन्तर में भान नहीं और पर को अपना स्वरूप मानता है, उसे बहिरात्मा कहते हैं।

‘जो शरीर और आत्मा को अपने भेदविज्ञान से भिन्न-भिन्न मानते हैं...’ अपना आत्मस्वभाव शुद्ध परम आनन्द है; पुण्य-पाप का भाव विकार है; कर्म-शरीर अजीव-जड़ है – ऐसा जड़ से, विकार से आत्मा को भिन्न अनुभव करते हैं, भिन्न जानते हैं, उन्हें अन्तरात्मा-सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। समझ में आया ? उस ‘अन्तरात्मा के तीन भेद हैं...’ उस अन्तरात्मा के तीन प्रकार हैं। ‘उत्तम-मध्यम और जघन्य। उनमें अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित...’ एकदम दिगम्बर हो, जिन्हें बाह्य वस्त्रादिक का कुछ भी परिग्रह नहीं हो; अभ्यन्तर परिग्रह भी नहीं हो। यहाँ सातवे गुणस्थान की बात है। शुद्धोपयोग लिया है न ?

मुमुक्षु :- व्यवहार तत्त्व मात्र जानना...

उत्तर :- अकेला व्यवहार शून्य कहलाता है। निश्चय आत्मा अन्तरात्मा शुद्ध स्वरूप निर्विकल्प, रागरहित, उसके अन्तर निश्चयसम्यग्दर्शन बिना उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। (–ऐसा कहते हैं कि) व्यवहार सम्यग्दृष्टि को जघन्य कहा जाता है या नहीं ?

आत्मा अन्तर निराकुल आनन्दस्वरूप की सत्ता का स्वभाव अर्थात् कर्म, शरीर ये अजीव हैं, इनसे भिन्न और पुण्य-पाप का भाव आस्रवभाव है, उनसे स्वभाव भिन्न है। अजीव से जीवतत्त्व भिन्न और विकारीभाव से उसका शुद्ध स्वभाव भिन्न है – ऐसे अन्तर आत्मा में अन्तरदृष्टि, निर्विकल्प अनुभवज्ञान में हुए बिना इसे निश्चयसम्यग्दर्शन-सच्चा सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। समझ में आया कुछ ? और सच्चे सम्यग्दर्शन बिना उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। सच्चे में (निश्चयसम्यग्दर्शन सहित) व्यवहार सम्यग्दर्शनवाला अन्तरात्मा को (अर्थात्) बाह्य (अभ्यन्तर) परिग्रह रहित शुद्धोपयोगी जीव है, उसे उत्तम अन्तरात्मा (मानता है)। व्यवहार समकिती, निश्चय सम्यग्दृष्टि सहित ऐसे को – शुद्धोपयोगी जीव को उत्तम अन्तरात्मा मानता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- किसे ? व्यवहार होता नहीं, फिर प्रश्न कहाँ है ? जघन्य, मध्यम व्यवहार की बात ही नहीं है।

यहाँ तो आत्मा के भानपूर्वक के शुद्ध के तीन प्रकार हैं। व्यवहार समकितवाला ऐसा मानता है। व्यवहार समकित (सहित) निश्चय समकित तो है। व्यवहार में मानता है तो क्या आपत्ति है ? - ऐसा वह कहता है... परंतु व्यवहार में माने क्या ? पर को... पर के स्वरूप को व्यवहार में माने क्या ? कि जिसे शुद्धोपयोगरूपी आत्मध्यान, ज्ञान वर्तता है, उसे वह मध्यम अन्तरात्मा रूप से व्यवहार से परद्रव्य है, इसलिए उसे माने। समझ में आया ?

‘अन्तरंग और बहिरंग - ऐसे दो प्रकार के परिग्रह रहित...’ अन्तर आत्मा में तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव और आत्मा का ध्यान, आनन्द जिसे प्रकट हुआ है; बाहर में वस्त्र का तंतु-धागा भी नहीं - ऐसे **‘सातवें से बारहवें गुणस्थान में वर्तते शुद्धोपयोगी और...’** आत्मध्यान में मस्त हैं, अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में (मस्त हैं) - ऐसे **‘दिगम्बर मुनि उत्तम अन्तरात्मा हैं।’** समझ में आया ? ऐसा सम्यग्दृष्टि-निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव, व्यवहार समकित में ऐसे भेद को इस प्रकार से मानता और जानता है - ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! स्पष्ट ही है, भाई !

सम्यग्दृष्टि जीव को अपने आत्मा के शुद्धपने का भान अनुभव की दृष्टि में वर्तता है। ऐसा निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव, व्यवहार समकित में अर्थात् शुभ विकल्प में, उस प्रकार के क्षयोपशम ज्ञान में (ऐसा जानता है)। समझ में आया ? वह अन्तरात्मा को ऐसा मानता है कि जो आत्मध्यान-ज्ञान में- आनन्दस्वरूप में लीन हैं; बाह्य दिगम्बर अवस्था है, अन्तर में आनन्द में- शुद्ध में लीन हो ये हैं, उन्हें व्यवहार समकित की श्रद्धा में उत्तम अन्तरात्मा के रूप में स्वीकार करता है। वहाँ से (सातवे से) लेकर बाहरवें गुणस्थान तक उत्तम अन्तरात्मा है - ऐसा व्यवहार समकित में, निश्चय सम्यग्दृष्टि स्वीकार करते हैं। कहो, यह तुमने वहाँ पढ़ा है या नहीं ? यह तो स्पष्ट बात है, हाँ ! बहुत स्पष्ट की है। शुद्धोपयोग में रमनेवाले दिगम्बर मुनि होते हैं। अन्तर शुद्धोपयोग आनन्दकन्द में रमनेवाले होते हैं, लीन होते हैं, वे सातवें से बारहवें (गुणस्थान) तक (होते हैं)। उन्हें उत्तम अन्तरात्मा कहा जाता है।

मध्यम और जघन्य अन्तरात्मा तथा सकल परमात्मा
 मध्यम अन्तर-आतम हैं जे देशव्रती अनगारी;
 जघन कहे अविरत-समदृष्टि, तीनों शिवमग-चारी।
 सकल निकल परमातम द्वैविध तिनमें घाति निवारी;
 श्री अरिहन्त सकल परमातम लोकालोक निहारी॥ॡ॥

अन्वयार्थ :- (अनगारी) छठवें गुणस्थान के समय अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह रहित यथाजातरूपधर-भावलिङ्गी मुनि मध्यम अन्तरात्मा हैं तथा (देशव्रती) दो कषाय के अभाव सहित ऐसे पंचम गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि श्रावक (मध्यम) मध्यम (अन्तरआतम) अन्तरात्मा (हैं) हैं और (अविरत) व्रतरहित (सम्यग्दृष्टि) सम्यग्दृष्टि जीव (जघन) जघन्य अन्तरात्मा (कहे) कहलाते हैं; (तीनों) यह तीनों (शिवमगचारी) मोक्षमार्ग पर चलनेवाले हैं। (सकल निकल) सकल और निकल के भेद से (परमातम) परमात्मा (द्वैविध) दो प्रकार के हैं (तिनमें) उनमें (घाति) चार घातिकर्मों को (निवारी) नाश करनेवाले (लोकालोक) लोक तथा अलोक को (निहारी) जानने-देखनेवाले (श्री अरिहन्त) अरहन्त परमेष्ठी (सकल) शरीरसहित (परमातम) परमात्मा हैं।

भावार्थ :- (१) जो निश्चयसम्यग्दर्शननादि सहित हैं; तीन कषाय रहित, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म को अंगीकार करके अंतरंग में तो उस शुद्धोपयोगरूप द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं, किसी को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष नहीं करते, हिंसादिरूप अशुभोपयोग का तो अस्तित्व ही जिनके नहीं रहा है - ऐसी अन्तरंगदशा सहित बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं और छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान के समय अट्टाईस मूलगुणों का अखण्डरूप से पालन करते हैं वे, तथा जो अनन्तानुबन्धी एवं अप्रत्याख्यानीय ऐसे दो कषाय के अभाव सहित सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं वे मध्यम अन्तरात्मा हैं अर्थात् छठवें और पाँचवे गुणस्थानवर्ती जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं।*

* सावयगुणेहिं जुत्ता, परत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
 श्रावकगुणैस्तु युक्ताः प्रमत्तविरताश्च मध्यमाः भवन्ति॥

(२) सम्यग्दर्शन के बिना कभी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता; जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं है वह जीव बहिरात्मा है।

(३) पमरात्मा के दो प्रकार हैं - सकल और निकल। (१) श्री अरिहंतपरमात्मा वै १सकल (शरीरसहित) परमात्मा हैं (२) सिद्ध परमात्मा वे २निकल परमात्मा हैं, वे दोनों सर्वज्ञ होने से लोक और अलोक सहित सर्व पदार्थों का त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण स्वरूप एक समय में युगपत् (एकसाथ) जानने-देखनेवाले, सबके ज्ञाता दृष्टा हैं, इससे निश्चित होता है कि - जिसप्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान व्यवस्थित है, उसीप्रकार उनके ज्ञान के ज्ञेय-सर्वद्रव्य-छहों द्रव्यों की त्रैकालिक क्रमबद्ध पर्यायें निश्चित-व्यवस्थित हैं; कोई पर्याय उल्टी-सीधी अथवा अव्यवस्थित नहीं होती, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव मानता है। जिसकी ऐसी मान्यता (-निर्णय) नहीं होती उसे स्व-पर पदार्थों का निश्चय न होने से शुभाशुभ विकार ओर परद्रव्य के साथ कर्ताबुद्धि-एकताबुद्धि होती ही है। इसलिये वह जीव बहिरात्मा है।

अब, 'मध्यम और जघन्य अन्तरात्मा और सकल परमात्मा।'

मध्यम अन्तर-आतम हैं जे देशव्रती अनगारी;

जघन कहे अविरत-समदृष्टि, तीनों शिवमग-चारी।

सकल निकल परमातम द्वैविध तिनमें घाति निवारी;

श्री अरिहन्त सकल परमातम लोकालोक निहारी॥५॥

'(अनगारी) छठवे गुणस्थान के समय अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित...'
सच्चे मुनि कैसे होते हैं ? कि अभ्यन्तर में तो आनन्दादि का अनुभव तीन कषाय रहित हुआ हो

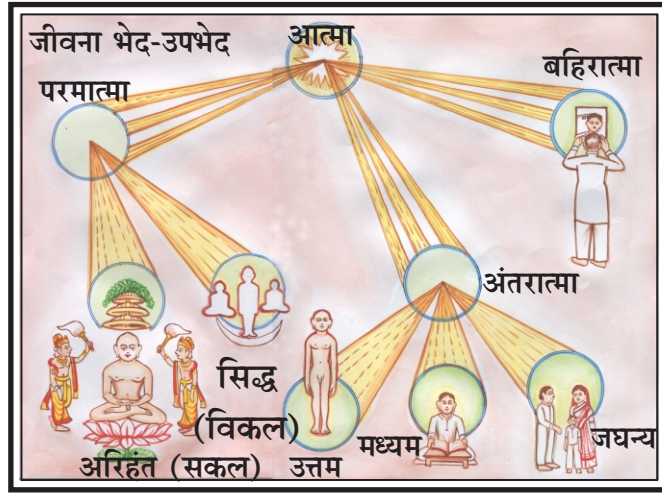
अर्थ : श्रावक के गुणों से युक्त और प्रमत्तविरत मुनि मध्यम अन्तरात्मा हैं।

(स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा - १९६)

१ म = सहित, कल = शरीर; सकल अर्थात् शरीरसहित।

२ नि = रहित, कल = शरीर; निकल अर्थात् शरीररहित।

और बाहर में 'यथाजातरूपघर...' जैसा माता ने (जन्म दिया) ऐसा नग्न दिगम्बर लिंग। अन्तर में तीन कषाय के अभाव का आनन्द सहित का अनुभव - ऐसे भावलिंगी मुनि मध्यम अन्तरात्मा हैं। ऐसे भावलिंगीमुनि मध्यम (अन्तरात्मा हैं)। उत्तम (अन्तरात्मा) सातवें से गिने हैं। इन छठवें और पाँचवें को मध्यमवर्ती कहते हैं। चौथे को जघन्य कहेंगे। कुछ समझ में आया ? अर्थात् चौथे से बारहवें तक अन्तरात्मा होते हैं। उनके तीन भेद किये हैं। सातवें से बारहवें तक उत्तम; छठवां और पाँचवां मध्यम; चौथा गुणस्थान जघन्य हैं। हैं तो तीनों मोक्षमार्गी - शिवमगचारी। आत्मज्ञानी जीव, दूसरे को सम्यग्दृष्टि चौथे (गुणस्थानवाले को) जघन्यरूप अंतरात्मा से व्यवहार समकित में उन्हें जानता है।



आत्मज्ञानी जीव, मुनि को - भावलिंगी सन्त को, तीन कषाय के अभाव का आनन्द, शान्ति प्रगटे हैं, बाहर में नग्न लिंग है परन्तु है शुभोपयोगी। शुभ विकल्प है, इसलिए उन्हें निश्चय आत्मज्ञानी मध्यम अन्तरात्मा के रूप में व्यवहार समकित में स्वीकार करता है। समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म, इसमें कितने पहलू याद रखने ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- सब एक हैं न ? अन्तरात्मा हैं न ? सब शुद्ध उपयोग में हैं न ? समझ में आया ?

'तथा दो कषा के अभाव सहित...' श्रावक। सच्चे श्रावक कैसे होते हैं ? आत्मा के अनुभव सहित जिसे दूसरे दो कषायों का अभाव होवे - ऐसे दो कषाय का अभाव अर्थात् अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानी, उनका अभाव (होवे), उसे श्रावक कहते हैं। 'ऐसे पंचम

गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि श्रावक (मध्यम) अन्तरात्मा है...’ निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव दूसरा पांचवें गुणस्थानवाला श्रावक, दो कषाय की अभाववाला; जिसे आत्मा की शान्ति प्रकट हुई है और बारह व्रत का विकल्प आदि होता है - ऐसे श्रावक को मध्यम अन्तरात्मा के रूप में व्यवहार समकित में जानता और मानता है। कहो, भाई ! तुम तीनों लोग यहाँ उपस्थित हो न ! कहो, इसमें समझ में आया ? यह तो निश्चय सहित व्यवहार में ऐसा माने तो व्यवहार कहलाता है और सामनेवाले को वह व्यवहार में ऐसा मानता है। सामनेवाले की ऐसी अवस्था होती है। सातवें से बारहवें गुणस्थान तकको उत्तम अन्तरात्मा माने; छठवेंवाले को शुभोपयोग में हो और अन्तर में तीन कषाय का अभाव है; आनन्द शुद्ध निश्चयसम्यग्दर्शन सहित है, उसे भी व्यवहार समकित में विकल्पादि होते हैं। ऐसे जीव को निश्चय-सम्यग्दृष्टि, व्यवहार समकित में मध्यम अन्तरात्मा के रूप में स्वीकार करता है। समझ में आया ? थोड़े में बहुत भरा है, हाँ ! ‘दौलतराम’... ‘दौलतराम’ ! गृहस्थ थे, दिगम्बर गृहस्थ ! गागर में सागर छहढाला ! गागर में सागर भर दिया है। पहले के श्रावक भी ऐसे थे। ऊँचे श्रावक, ऊँचे धर्मात्मा भानवाले थे, हाँ ! आहा..हा.. ! क्या कहते हैं ?

‘और व्रत रहित सम्यग्दृष्टि जीव...’ जिसे जरा भी व्रत नहीं है, परन्तु निश्चय सम्यग्दृष्टि है - ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि को, निश्चय सम्यग्दृष्टि... निश्चय सम्यग्दृष्टि अर्थात् चौथे (गुणस्थान)वाला, पाँचवेवाला, छठवेवाला, भाई ! लो ! फिर इसकी और से भेदवाला करना चाहिए न ? चौथे गुणस्थानवाला निश्चय सम्यग्दृष्टि, पाँचवेवाला निश्चय सम्यग्दृष्टि या छठवेवाला सम्यग्दृष्टि। सातवेंवाला शुद्धोपयोग में है - ऐसा निश्चय चौथे, पाँचवे और छठवें में (वर्तता) निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव; जो चौथे, पाँचवे, छठवेवाला हो, वह व्यवहार में अविरति सम्यग्दृष्टि - जो व्रतरहित सम्यग्दृष्टि है, उसे जघन्य अन्तरात्मा के रूप में व्यवहार समकित में स्वीकार करता है। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

छठवें गुणस्थानवाले मुनि हों, जिन्हें मध्यम अन्तरात्मा कहा, वे मुनि अपने आनन्द के शुद्धभाव में तीन कषाय रहित वर्तते हैं - ऐसे जीव दूसरे मुनि को शुद्धोपयोग-सातवें से बारहवें तकके को उत्तम अन्तरात्मा (के रूप में) स्वीकारते हैं। छठवें गुणस्थानवाले दूसरे मुनि हों, आतमध्यानी-ज्ञानी (हों), परन्तु वर्तमान में शुभ उपयोग में वर्तते हों, उन्हें मध्यम

अन्तरात्मा स्वीकारते हैं और समकित्ती व्रत रहित हों, उसे वे मुनि भी जघन्य अन्तरात्मा के रूप में स्वीकारते हैं। व्यवहार सम्यग्दर्शन में (ऐसा स्वीकारते हैं)। इसमें समझ में आता है या नहीं ? यह रात्रि में पूछे तो आयेगा या नहीं ? बराबर आयेगा, कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें ?

‘यह तीनों मोक्षमार्ग पर चलनेवाले हैं।’ सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में व्रत रहित हो, व्रत न हो, प्रत्याख्यान (त्याग) न हो परन्तु निश्चयसम्यग्दर्शन है, वह अविरति सम्यग्दृष्टि शिव-मोक्षमार्ग में है। देखो ! स्वयं शिवमार्ग में है, मोक्षमार्ग पर चलता है, भले अभी चारित्र नहीं है, तथापि मोक्षमार्ग में चलता है। वह मोक्षमार्ग में है; और राग को पुण्य को अपना माने, देहादिक को अपना माने, वह मिथ्यादृष्टि है, वह बन्धमार्ग में चलता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव दूसरे बहिरात्मा को बन्धमार्ग में चलनेवाले को इसप्रकार बहिरात्मा (के रूप में) स्वीकार करता है। समझ में आया ? स्पष्टीकरण बहुत किया है।

परद्रव्य से भिन्न कहा था या नहीं ? ए.. देवानुप्रिया ! उसमें कहा था न ? फिर इन नौ की बात की है या नहीं ? उसके साथ इस तुलना से उन्होंने कहा है या नहीं ? यह तो हम जरा विस्तार करते हैं। भाई ! देखो !

यह आत्मा पुण्य-पाप के शुभ-अशुभरागरहित, देह रहित (है) - ऐसी आत्मा की निश्चय सम्यग्दृष्टि (सहित) जीव भी मोक्षमार्ग में है और गृहस्थाश्रम का त्याग करके कोई मुनि होकर बैठे, परन्तु बाह्य शरीर की क्रिया मेरी है और दया, दान का परिणाम मुझे लाभदायक है (-ऐसा मानता है तो) वह बहिरात्मा है। वह मोक्षमार्ग में नहीं; वह बन्धमार्ग में है। यह रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है न ? गृहस्थों मोक्षमार्ग - वहाँ भी ऐसा कहा है, भाई ! आया, ठीक ! गृहस्थी भी मोक्षमार्ग में है। लो, इसके साथ रखा ! रत्नकरण्डश्रावकाचार का शब्द प्रयोग किया लगता है न ? समन्तभद्राचार्य ! गृहस्थ भी आत्मदृष्टि सहित... उसमें विशेषता तो यह लेंगे कि सम्यग्दृष्टि को क्या करना ? कि बहिरात्मा को जानकर तजना। तजना अर्थात् श्रद्धामें से छोड़ना। यह व्याख्या लेंगे। बाहर से छोड़ने-बोड़ने की व्याख्या नहीं। समझ में आया ?

जो जीव, पुण्य-पाप के भाव से धर्म माने... क्योंकि स्वभाव शुद्ध है, इसने अशुद्ध से (धर्म) माना... और जड़ को 'मेरा द्रव्य' माने तो द्रव्य और भाव दोनों की भूल है। ऐसा जो मिथ्यादृष्टि जीव बहिरात्मा बाह्य त्याग में वर्तता होवे.. समझ में आया ? और कदाचित् पंचमहाव्रत का विकल्प वर्तता हो, परन्तु वह बहिरात्मा है - मिथ्यादृष्टि है; बन्धमार्ग में वर्तता है। सम्यग्दृष्टि उसे ऐसा मानता है।

सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में व्रतरहित हों, बाह्य त्याग न हो, अन्दर आसक्ति का (चारित्र्यदोषरूप) तीन कषाय का भाव हो, तो भी चौथे गुणस्थानवाला सम्यग्दृष्टि, पाँचवेवाला, छठवेंवाला व्यवहार समकित में उसे मोक्षमार्गी है - ऐसा स्वीकार करता है। समझ में आया ?

चौथे गुणस्थानवाला शिवमार्गी, व्यवहार समकित में उस बहिरात्मा को बन्धमार्गी स्वीकार करता है और सम्यग्दृष्टि जीव को, मोक्षमार्गी है - ऐसा व्यवहार समकित में (स्वीकार करता है), क्योंकि परद्रव्य है न ? और पाँचवे गुणस्थानवाला धर्मात्मा दो कषाय के अभाववाले को मध्यम अन्तरात्मा के रूप में, मोक्षमार्ग रूप में समकित उसे स्वीकार करता है। छठवें गुणस्थानवाले भावलिङ्गी मुनि, (जिन्हें) आत्मश्रद्धा-ज्ञान और शान्ति प्रगटी है, परन्तु अभी शुभ उपयोग है, ऐसे मुनि, सामने गृहस्थाश्रम में रहनेवाले, दो कषाय के अभाववाले श्रावक को व्यवहार समकित में मध्यम अन्तरात्मा के रूप में स्वीकार करते हैं और गृहस्थाश्रम में अविरत सम्यग्दृष्टि हो, वह भी मोक्षमार्गी है - ऐसा छठवें गुणस्थानवाले शुभोपयोग में व्यवहार समकित में वह भी मोक्षमार्गी है - ऐसा (स्वीकार करते हैं)। छठवेंवाला चौथेवाले को व्यवहार से व्यवहार समकित के विषय में, वह निश्चयमोक्षमार्ग में है - ऐसा स्वीकार करता है। समझ में आया ? पुस्तक ली है या नहीं ?

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा - यह व्यवहार सम्यग्दर्शन का विषय है। किसे ? अन्तरात्मा को। यहाँ परमात्मा की बात नहीं है, बहिरात्मा की बात नहीं है। अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि, फिर चौथे, पाँचवे, छठवे (हों), सातवे शुद्धोपयोग है (-ऐसे) अन्तरात्मा को शुद्ध सम्यग्दर्शन की प्रतीति और अनुभववाले को (अर्थात्) चौथे, पाँचवे, छठवें

(गुणस्थानवाले को), दूसरे जीव राग को, पुण्य को धर्म माननेवाले ऐसे बहिरात्मा को सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा, बहिरात्मा के रूप में व्यवहार समकित में स्वीकार करता है। और चौथे गुणस्थानवाला व्रतरहित हो, अविरति हो तो वे अन्तरात्मा चौथे, पाँचवे, छठवेंवाले उसे मोक्षमार्ग में - शिवमार्ग में चलता है - ऐसा व्यवहार समकित में स्वीकार करते हैं। समझ में आया ? उसकी बात चलती है या नहीं ? भेद की बात चलती है।

अभेद में तो आत्मा की दृष्टि, अनुभव हुआ, निश्चय वह अन्तरात्मा है। उसे फिर किसी को तीन कषाय रहे हों, किसी को दो रहे हों, किसी को एक रहा हो, परन्तु है वह अन्तरात्मा। वह अन्तरात्मा सामनेवाले जीवतत्त्व के तीन प्रकार (स्वीकारता है)। वह व्यवहार में जीवतत्त्व की श्रद्धा करता है न ? किसकी करता है ? अन्तरात्मा निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव, उसके व्यवहार में जीव के तीन प्रकार का स्वीकार करता है। यहाँ प्रयोजनभूत की ही बात है, दूसरे अमुक भेद और अमुक भेद की बात यहाँ नहीं है।

सम्यग्दृष्टि जीव-निश्चय सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा, फिर चौथे, पाँचवे, छठवें (गुणस्थानवाला) चाहे जो हो, सामनेवाले जीव की पर्याय के तीन प्रकारों का (स्वीकार करता है)। द्रव्य तो द्रव्य है, परन्तु उसकी पर्याय में एक बहिरात्मा पुण्य को, विकल्प को देह की क्रिया को अपनी मानता है - उसे जीव के एक बहिरात्मा भाग (भेद)के रूप में स्वीकार करता है। यहाँ जीवतत्त्व की बात चलती है या नहीं ? समझ में आया ? और यह अन्तरात्मा दूसरा जो जीव है जो निश्चय सम्यग्दृष्टि है और अन्दर व्रतरहित है; व्रतरहित है, उसे निश्चय अन्तरात्मा, व्यवहार समकित में उसे मध्यम अन्तरात्मा के रूप में दूसरे श्रावक को स्वीकार करता है। जीव के ऐसे तीन भेद में इस प्रकार स्वीकार करता है। बहिरात्मा को बहिरात्मा के रूप में, जघन्य अविरत सम्यग्दृष्टि को शिवमार्गी रूप से - जघन्य अन्तरात्मा रूप से - श्रावकको मध्यम अन्तरात्मारूपसे, शिवमार्गीरूपसे व्यवहार समकितमें स्वीकार करता है और छठवें गुणस्थानवाला था पाँचवे, चौथेवाला अन्तरात्मा, सामनेवाले जीवको छठवें गुणस्थानमें हो उसे मध्यम अन्तरात्मारूपसे जीव के तीन भेदमें से इस भेदवाला स्वीकार करता है। आहा..हा..! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- बहिरात्मा को स्वीकार करना ?

उत्तर :- कहा न, बहिरात्मा को स्वीकारता है। राग-द्वेष को 'मेरा' मानता है, यह स्वीकार, उसे स्वीकार करना या नहीं ? निश्चय नहीं, वहाँ व्यवहार कहाँ से आया ? इसके लिए तो यह स्पष्टीकरण चलता है। कहो, समझ में आया इसमें ? आहा..हा.. ! मूल ज्ञान का ही पूरा विवाद उठा, तत्त्व का ज्ञान।

यहाँ तो 'दौलतरामजी' छहढाला में ऐसा कहते हैं कि जीव के तीन प्रकार के भेद हैं - बहिरात्मा, अन्तरात्मा (और परमात्मा)। अन्तरात्मा के (दो) भेद-मध्यम और उत्कृष्ट। इस मध्यम में छठवे (गुणस्थानवाले), तक लिये हैं और उत्कृष्ट में सातवें से बारहवें (तक) ये सब भेद लिये। जीव की पर्याय के इन भेदों को सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा व्यवहार समकित में इस प्रकार से स्वीकार करता है। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

'यह तीनों मोक्षमार्ग पर चलनेवाले हैं।' ऐसा स्वीकार करता है। छठवें गुणस्थानवाले मुनि अपने आत्मदर्शन के भानसहित शुभ-उपयोग में हो तो उनके व्यवहार समकित में, चौथे गुणस्थानवाले व्रत रहित को भी मोक्षमार्ग में है - ऐसा स्वीकार करते हैं। आहा..हा.. ! स्वयं मोक्षमार्ग में है (और) इसे मोक्षमार्ग में स्वीकार करते हैं, इसे भी मोक्षमार्ग में स्वीकार करते हैं। भले इसकी हृद में तारतम्यता में अन्तर है। समझ में आया ? भाई ! इस 'परमात्मप्रकाश' में नव तत्त्व, छह द्रव्य की व्याख्या व्यवहारमोक्षमार्ग में आयी थी। समझ में आया इसमें ?

दिगम्बर गृहस्थ हो या दिगम्बर मुनि हो, उन्होंने तो परंपरा सनातन वीतरागमार्ग जैसा था, वैसा ही खड़ा रखा है, कुछ परिवर्तन नहीं। अनादि का वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग... यह दिगम्बर श्रावक हो या दिगम्बर मुनि हो, उन्होंने वही मार्ग खड़ा रखा है, किंचित् भी परिवर्तन नहीं होने दिया है। वर्तमान में (तो) बहुत गड़बड़ है।

आहा..हा.. ! तीनों शिवमगचारी मोक्ष के मार्ग (पर) चलनेवाले हैं। आहा..हा.. ! छठवें गुणस्थानवाला अन्तरात्मा, चौथे गुणस्थानवाले अन्तरात्मा को - सम्यग्दृष्टि को मोक्षमार्ग में चलनेवाला स्वीकार करता है। समझ में आया ? इसीतरह पंचम गुणस्थानवाला श्रावक अन्तरात्मा, चौथे गुणस्थानवाले को मोक्षमार्गी के रूप में स्वीकार करता है। भले ही तारतम्यता में अन्तर है, परन्तु उसे स्वीकार करता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? चौथे

गुणस्थानवाला अन्तरात्मा, छठवेंवाले को मध्यम अन्तरात्मा के रूप में, जीव की पर्याय के भेद में ऐसी जीव की पर्याय इसकी है – ऐसा वह स्वीकार करता है। समझ में आया ? समझ में आता है या नहीं ? आता है ? अच्छा।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- अधिक तो भगवान कर सकें, अपने को कितना आता है ? अपने को कुछ आता है ? अपने में जितना हो, उस अनुसार होता है। इसका विस्तार तो अपार है। वस्तु की शक्ति अपार... अपार.. अपार.. (है)। आहा..हा... !

अब, तीसरा भेद सकल निकल। किसका ? जीवतत्त्व का। अन्तरात्मा का हो गया – जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। समझ में आया ? अब, जीव का तीसरा एक भेद। एक बहिरात्मा; एक अन्तरात्मा और (एक) परमात्मा – यह जीव की पर्याय के भेद हैं। ऐसा व्यवहार सम्यग्दृष्टि जीव उसके विषय में तीसरे सकल परमात्मा और निकल परमात्मा को पररूप से कैसा स्वीकार करता है – इसकी व्याख्या है। समझ में आया ?

‘(सकल निकल) सकल और निकल के भेद से परमात्मा के दो प्रकार हैं। उनमें चार घातिकर्मों को नाश करनेवाले लोक तथा अलोक को जानने-देखनेवाले अरिहन्त परमेष्ठी शरीरसहित परमात्मा हैं।’ लो, क्या कहते हैं ? निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरात्मा – चौथे, पाँचवे, छठवें गुणस्थानवाला अन्तरात्मा-निश्चय भानवाला, व्यवहार समकित में जीव की एक बहिरात्म पर्याय, एक अन्तरात्म पर्याय, एक परमात्म पर्याय (स्वीकार करता है)। यह पर्याय की बात चलती है या नहीं ? वह अपने व्यवहार समकित के विषय में परमात्मा की पर्याय ऐसी स्वीकार करता है कि एक परमात्मा शरीरसहित हैं, चार घातिकर्मों का नाश हुआ है, केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को जानते हैं। है न ? घातिकर्मों का नाश किया है। हुआ है, उसे (नाश किया – ऐसा) निमित्त से कथन किया है। लोक-अलोक को (जानते-देखते हैं)। यह पहले घातिकर्मों से बात की। चार कर्मों का नाश हुआ है, लोकालोक को जानने की शक्ति की व्यक्तता प्रकट हुई है, वे अरिहन्त परमेष्ठी शरीरसहित हैं। कल अर्थात् शरीर। कल अर्थात् शरीरसहित परमात्मा हैं। उन्हें निश्चय सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा जीव, व्यवहार समकित में उन्हें

परमात्मा स्वीकार करता है। वह दूसरे को परमात्मा स्वीकार नहीं करता है। समझ में आया ? आहा..हा... !

एक समय में लोकालोक को जाने। एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में परमेश्वर अरिहन्त प्रभु, लोक और अलोक को एक समय में तीन काल- तीन लोक जैसे हैं, वैसे जाने। उन्हें सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा जीव, व्यवहार समकित में, सकल परमात्मा ऐसे होते हैं - ऐसी उनकी प्रतीति व्यवहार समकित में होती है, उसका ज्ञान ऐसा वर्तता है। आहा..हा... ! कहो, भाई ! कितने दिन से कहते थे न कि यह पढो.. पढो। यह बहुत पढ़ा गया। 'परमात्मप्रकाश' में बहुत चला। इसमें समझ में आया ?

'भावार्थ :- (१) जो निश्चयसम्यग्दर्शन सहित है...' पाँचवी गाथा का भावार्थ है न ? निश्चय अर्थात् आत्मा का शुद्ध दर्शन, शुद्ध ज्ञान और शुद्ध चारित्र सहित है। **'तीन कषाय रहित...'** है। यह शुद्धोपयोगी मुनि की व्याख्या करते हैं। समझ में आया ? जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र - आत्मा की श्रद्धा, आत्मा का ज्ञान और आत्मा का चारित्र (प्रकट हुआ है), तीन कषाय रहित है - ऐसा हो उसे तीन कषाय रहित (अवस्था) होती है - ऐसा (कहते हैं)। **'शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार...'** किया है। शुद्ध उपयोगरूप मुनिधर्म है। पंच महाव्रत, अट्टाइस मूलगुण आदि विकल्प तो आस्रवतत्त्व है। **'शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार...'** किया है। **'अन्तरंग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं...'** समझ में आया ?

'किसी को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष नहीं करते...' यह ठीक है और यह अटीक है - ऐसा मानकर राग-द्वेष नहीं करते। समझ में आया ? निश्चय सहित है, हाँ ! मुनिधर्म अंगीकार किया है, तथापि वर्तमान में छठवें गुणस्थान में वर्तते हैं - ऐसा कहते हैं... परन्तु शुद्धोपयोग अंगीकार किया है - ऐसा कहा न ? अंगीकार किया है और वह वर्तता है ऐसा। धर्म तो शुद्धोपयोग ही अंगीकार किया था।

अब (कहते हैं) **'हिंसादिरूप अशुभपयोग का तो जिन्हें अस्तित्व ही नहीं रहा है...'** भाई ! शुद्धोपयोग अंगीकार किया था और फिर यहाँ वापस छठवां गुणस्थान लेना है। पहले

मुनिपना अंगीकार करे, तब शुद्धोपयोग (होता है)। पंच महाव्रत, अट्टाईस मूलगुण तो विकल्प-राग है। शुद्धोपयोग अंगीकार करते हैं, परन्तु जब उसमें स्थिर नहीं हो सकें, उस गुणस्थान की अभी बात करते हैं। उन्हें हिंसादि, झूठ, चोरी, विषय, भोग (ऐसे) अशुभोपयोग का तो अस्तित्व ही जिनके नहीं रहा है। 'ऐसी अन्तरंग अवस्था सहित...' अन्तरंग अवस्था सहित 'बाह्य दिग्म्बर सौम्यमुद्राधारी हुए है...' बाहर में नग्न दिग्म्बर - वस्त्र का धागा नहीं। कैसे ? सौम्यमुद्रा शान्त... शान्त... शान्त... शान्त... उपशमरस के ढाले में ढल गये हैं।

'छठवें प्रमत्तसंयत्त गुणस्थान के काल में अट्टाईस मूलगुणों का अखण्डित रूप से पालन करते हैं...' समझ में आया ? जो मुनि के अट्टाईस मूलगुण हैं - वस्त्ररहितपना, खड़े-खड़े आहार लेना, एक जगह आहार लेना, अपने लिए बनाये चौके का आहार न लेना... उनके लिए बनाया आहार नहीं लेते - ऐसा उन्हें अट्टाईस मूलगुण का सही व्यवहार होता है। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य होते हैं, उनके साथ ऐसा सही व्यवहार होता है।

'वे तथा जो अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानीय - ऐसे दो कषाय के अभाव सहित सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं...' यहाँ मध्यम की बात है न ? समझ में आया ? 'वे मध्यम अन्तरात्मा है।' छठवें और पाँचवेवाले... 'अर्थात् छठवें और पाँचवे गुणस्थान वर्ती जीव मध्यम अन्तरात्मा है।' समझ में आया ? यह 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' का आधार दिया है। ऐसे मध्यम अन्तरात्मा को, जैसी उसकी स्थिति है, उस प्रकार अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि, व्यवहार समकित में स्वीकार करता है। ओ..हो..हो...! 'दौलतरामजी' ने 'छहढाला' हिन्दी में बनाई है, परन्तु इसमें कितना भरा है ! पहले के पण्डित तो बहुत (विचक्षण थे)। जो परम्परा की रीति, मार्ग था, उसे ही स्वयं ने कहा है। हैं !

मुमुक्षु :- ... अर्थ अलग कर डाले।

उत्तर :- अर्थ अलग कर डाले। बात बदल डाली, क्या हो ? सर्वज्ञ रहे नहीं, देवों की उपस्थिति नहीं, चार ज्ञान आदि पूरा ज्ञान विशेष प्रकट होने की योग्यता नहीं। परिवर्तन हो गया है, परन्तु (जो) यथार्थ है, वह तो यथार्थ ही रहेगा; उसमें कोई परिवर्तन नहीं होगा। उसमें कुछ परिवर्तन होता है ?

‘(२) सम्यग्दर्शन के बिना कभी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता...’ आत्मा के शुद्धस्वभाव के अनुभव की दृष्टि – सम्यग्दर्शन के बिना कभी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। यह सम्यग्दर्शन न हो, वहाँ दया, दान, व्रत के चाहे जितने परिणाम हों तो वे सब बन्ध के भाव में (है, वे) मोक्षमार्ग में है नहीं। समझ में आया ? ‘जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं है, वह जीव बहिरात्मा है।’ वह तो पुण्य और पाप को अपना मानता है। जो विभाव है, उसे स्वभाव मानता है और जड़ की क्रिया है, वह आत्मद्रव्य की है – ऐसा मानता है। समझ में आया ? ऐसा बहिरात्मा है। उसे बहिरात्मा के रूप में सम्यग्दृष्टि स्वीकार करता है।

‘परमात्मा के दो प्रकार हैं - सकल और निकल। (१) श्री अरिहन्त परमात्मा सकल (शरीरसहित)...’ कल अर्थात् शरीर... ‘परमात्मा हैं।’ देखो ! अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि, परमात्मा शरीरसहित हों, उन्हें व्यवहार समकित में स्वीकार करता है। तब शरीरसहित परमात्मा अभी कहीं है या नहीं ? पाँचवें काल का सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा जीव, व्यवहार समकित में शरीरसहित परमात्मा को, परमात्मा को जीव की पर्याय उत्कृष्ट परिणामी है – ऐसे व्यवहार समकित में स्वीकार करता है। तब शरीरसहित परमात्मा को अन्तरात्मा स्वीकार करता है तो शरीरसहित परमात्मा कही है या नहीं ? समझ में आया ? महाविदेहक्षेत्र में केवली भगवान ‘सीमन्धर प्रभु’ बिराजमान हैं, वे सकल परमात्मा – शरीरसहित परमात्मा हैं। ऐसा अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि जीव, व्यवहार समकित में सकल-शरीरसहित परमात्मा बिराजमान हैं (– ऐसा स्वीकार करता है।) क्योंकि शरीरसहित हैं, वे मुक्ति में नहीं है। शरीरसहित है तो मुक्ति में नहीं है तो कहीं होंगे या नहीं ? तो महावदेह में है – ऐसा समकिति है, (वह) स्वीकार करता है। समझ में आया ? आहा..हा... ! यह एकबार मध्यस्थ होकर पढ़े तो इसे पता चले। यह ‘छहढाला’ पढ़कर बहुत छापी होगी।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- अब यहाँ सुनने आये न ! मुख्य तो यह लाभ का कारण है, वह तो ठीक अब। कहो, इसमें समझ में आया ?

‘अरिहन्त परमात्मा सकल (शरीरसहित) परमात्मा हैं...’ वे हैं – ऐसा इस पर वजन

आया न ? वे हैं, उन्हें सम्यग्दृष्टि जीव, व्यवहार समकित में, शरीरसहित परमात्मा किसी क्षेत्र में है, उन्हें वह स्वयं वर्तमान में भी मानता है। कहो, ठीक है या नहीं ?

अब, '(२) सिद्ध परमात्मा...' यह अभी आया नहीं, परन्तु इसका स्पष्टीकरण बाद में करेंगे। अब बाद में आयेगा। 'सिद्ध परमात्मा, वे निकल परमात्मा हैं।' यह बाद की गाथा में आयेगा। समझ में आया ? 'ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्म-मल, वर्जित सिद्ध महंता;...' (चलती गाथा में) शब्द पड़ा है, कौन है - इसकी व्याख्या नहीं। यह तो मात्र निकल शब्द पड़ा है न, इतनी व्याख्या (की है)। निकल शब्द पड़ा है, उसकी व्याख्या की है। निकल की व्याख्या छठवें (श्लोक) के मूल पाठ में आयेगी।

निकल अर्थात् शरीररहित परमात्मा... तो कही है या नहीं ? शरीररहित परमात्मा, आठ कर्मों का नाश है और पूर्ण लोकालोक को जानते हैं। समझ में आया ? महंता है, वे पूज्य हैं। अर्थ में महान करेंगे, दूसरे में पूज्य लिखा है। महापूज्य हैं - ऐसे सिद्ध परमात्मा शरीररहित त्रिकाल ज्ञानी हैं। शरीररहित हैं और त्रिकाल (का) ज्ञान है। कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं और तीन काल - तीन लोक का - लोकालोक का जिन्हें ज्ञान वर्तता है। ऊपर कहा है तो इसमें (भी) आ गया। समझ में आया ?

ऐसे शरीररहित परमात्मा, 'वे दोनों सर्वज्ञ होने से लोक और अलोक सहित सर्व पदार्थों का त्रिकालवर्ती...' सर्व पदार्थों का त्रिकाल में वर्तनेवाला 'सम्पूर्ण स्वरूप एक समय में युगपत् (एकसाथ) जानने-देखनेवाले सबके ज्ञाता-दृष्टा हैं।' ऐसा सम्यग्दृष्टि - निश्चय सम्यग्दृष्टि, व्यवहार समकित में, परमात्मा ऐसे हैं (- यह स्वीकार करता है)। दो प्रकार के - सकल (और) निकल। शरीरसहित केवलज्ञानी और एक शरीररहित केवलज्ञानी। वे तीन काल-तीन लोक को एक समय में पूर्ण यथार्थ जानते हैं। उसमें कुछ आगे-पीछे (जानते नहीं)। एक समय में जानना, उसमें आगे-पीछे कहाँ आया ? समझ में आया ?

केवलज्ञान जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे - जो-जो सर्वज्ञ ने देखा, तदनुसार होगा - ऐसे सर्वज्ञ को, अन्तरात्मा, सकल परमात्मा और निकल परमात्मा - जीव की ये दो प्रकार की परमात्मा की पर्याय (जानता है)। अन्तरात्मा और बहिरात्मा की पर्याय

हुई। परमात्मा की पर्याय को व्यवहार समकित में, उस पर्याय को, जीव की पर्याय ऐसी होती है, जीव की पर्याय ऐसी और इतनी बड़ी होती है, उसे व्यवहार समकित में, निश्चय समकिति स्वीकार करता है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- परद्रव्य है न ? व्यवहार नहीं। निश्चय है, इसलिए व्यवहार है। वह परद्रव्य है न ? वह कहाँ स्वद्रव्य है ? परद्रव्याश्रित व्यवहार, स्वद्रव्याश्रित निश्चय-यह सिद्धान्त है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वरूप के आश्रय से दृष्टि करे, वह निश्चय, उसमें जो नव तत्त्व के भेदवाला (ज्ञान करे), उसमें यहाँ तो जीव के तीन प्रकार की पर्यायवाले (जीवतत्त्व की बात चलती है)। उसमें भी परमात्म पर्याय के दो प्रकार हैं - ऐसी पर्यायवाले जीव की पर्याय - ऐसा स्वीकार करता है। अर्थात् व्यवहार समकित में उसका स्वीकार आता है। आहा..हा... ! भगवान आत्मा को एक समय की पर्याय में सब क्रमबद्ध जानता है। ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायों का एक गुण है, ऐसे-ऐसे अनन्त गुणों का एक द्रव्य है। इसलिए सारा द्रव्य भी क्रमबद्ध को जानने की शक्तिवाला; गुण भी क्रमबद्ध को (जानने की शक्तिवाला) और पर्याय भी क्रमबद्ध को (जानने की शक्तिवाली है)। ऐसा पूरा द्रव्य प्रतीति में लिया, वह तो निश्चय (समकित) है। उसकी यह एक-एक समय की परमात्मा की पर्याय को श्रद्धा में ली, उसे व्यवहार (कहते हैं)। समझ में आया ?

‘सर्व पदार्थों का त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण स्वरूप एक समय में...’ भगवान ज्ञान में (जानते हैं)। अनन्त काल में कौनसी अवस्था होगी - यह भगवान के ज्ञान में अभी आ गयी है; अनन्त काल पहले हो गयी, वह भगवान के ज्ञान में अभी आ गयी है। भगवान के ज्ञान में ऐसा नहीं है कि वहाँ ऐसा संयोग आयेगा तो ऐसी होगी और दूसरा संयोग आयेगा तो ऐसी होगी। ऐसा भगवान के ज्ञान में नहीं होता। समझ में आया ?

भगवान अरिहन्त और सर्वज्ञ सिद्ध - दोनों सर्वज्ञ। एक सर्व-ज्ञ- सर्वज्ञ हुआ न ? सर्वज्ञ कहा न ? सर्व-ज्ञ... लोकालोक सब को जाना। सबको जाना तो एक समय में न ? एक समय

में सैकेण्ड के असंख्य भाग में। सर्वज्ञ - ऐसा सब एक समय में जानते हैं। उसमें यह यहाँ होगा, तब ऐसा होगा और ऐसा होगा - ऐसा कुछ उसमें है नहीं। समझ में आया ? सर्वज्ञ - ऐसा कहा न ? लोकालोक को जानते हैं - यह बात तो पहले आ गयी। 'सकल परमात्मा, लोकालोक निहारी -' ऐसा शब्द पड़ा है न ? क्या कहा ? 'लोकालोक निहारी-' जानने-देखनेवाले। निहारी का अर्थ देखनेवाले, निहारनेवाले। लोकालोक को निहारनेवाले (हैं)। सकल या निकल परमात्मा, अहिन्त या सिद्ध लोकालोक को निहारनेवाले, निहारनेवाले हैं। लोकालोक को एक समय में निहारते हैं। निहारने में जानना-देखना दोनों (आ गये) समझ में आया ? देखो न ! यह भाषा प्रयोग की है। समझ में आया ?

एक सैकेण्ड के असंख्यात् भाग में केवली परमात्मा अरिहन्त भगवान बिराजमान हैं या सिद्ध भगवान, एक सैकेण्ड के असंख्यातवें भाग में तीन लोक - तीन कालवर्ती सर्वज्ञ एक समय में - निहारी - देखते जानते हैं। यहाँ देखते-जानते हैं। वस्तुतः तो उनकी पर्याय देखती-जानती है, इतनी ही वह पर्याय है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? उसमें आगे-पीछे किस प्रकार हो ? ऐसा तो सम्यग्दृष्टि जीव-निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव, व्यवहार समकित में सकल-निकल परमात्मा को लोकालोक को एक साथ एक समय में देखनेवाले को इस प्रकार जाने, उसे व्यवहार समकित का विषय कहा जाता है। वहाँ पूर्ण आपत्ति हो, उसे निश्चय का भान नहीं हो सकता। आहा..हा... ! कठिन बात है। कहो, इसमें समझ में आया या नहीं ?

मुमुक्षु :- बड़ा...

उत्तर :- बड़ा कहाँ है ? उसकी एक समय की पर्याय की ऐसी (ताकत है), जानने को, व्यवहार ज्ञान के जानने की ऐसी ताकत है। वह श्रद्धा की पर्याय नहीं है। साथ में विकल्प है, परन्तु वह ज्ञान का इस सम्बन्धी का पर को जानने की एक समय की पर्याय का विकल्प सहित की पर्याय की इतनी ताकत है। समझ में आया ? आहा..हा... ! एक समय में भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द निर्विकल्प, वह तो पूरा द्रव्य, अनन्त पर्याय का गुण और अनन्त गुणों का एकरस महान आत्मा एक अभेद वस्तु-एकाकार वस्तु है, जिसमें अनन्त गुण का भेद, जिसमें अनन्त पर्याय का भेद (होने पर) भी वह वस्तु अभेद है। उसकी एकपने की एकाग्रता से श्रद्धा... एकाग्रता कहो या एक में अग्र कहों। एकाग्रता - एक स्वरूप में अग्र होकर, मुख्य

रखकर अनुभव हुआ, उसे निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं। अब सामने जो व्यवहार है, उसमें एकपना नहीं वहाँ अनेकपना है। भाई ! उसमें जीव के तीन प्रकार वर्णन किये हैं। व्यवहार समकित के विषय में जीव की पर्याय के (तीन प्रकार वर्णन किये) – एक बहिरात्म पर्याय; अन्तरात्म पर्याय के भेद – जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट। जघन्य पर्याय चौथे से, मध्यम पाँचवे-छठवे की, उत्कृष्ट सातवें से बारहवें(तक)। इस पर्याय का इस प्रकार से उसका ज्ञान – परलक्ष्यी ज्ञान (होता है), उसे श्रद्धा क्यों कहा ? श्रद्धा व्यवहार; वरना वह श्रद्धागुण की पर्याय नहीं है, वह तो ज्ञान का उघाड़ है और विकल्प पर्याय है। ऐसी दो बात है। परलक्ष्यी ज्ञान का उघाड़ है और एक प्रकार के विकल्प का भाग है, उसे व्यवहार समकित कहते हैं। नहीं उसे (कहते हैं)। ऐसी एक निमित्तता पर्याय की ताकत में ऐसा जानना (होता है)। इतनी ताकत है, इस कारण उसे व्यवहार कहा गया है। द्रव्य की श्रद्धा की ताकत महान... कि जिसके गुण में अनन्त केवलज्ञान पड़ा है, अनन्त यथाख्यातचारित्र-पूर्ण चारित्र जिसके चारित्रगुण में पड़ा है – ऐसे अनन्त गुण को एकरूप से प्रतीति (की), वह तो निश्चय वस्तु हो गयी। समझ में आया ? आहा..हा.. !

यह जीव की पर्याय के भेद – बहिरात्मा, अन्तरात्मा यह पर्याय कही न ? जीव की पर्यायें। वह (जीव) तो द्रव्यस्वरूप से है, उसकी यह पर्यायें। बहिरात्मा – शरीर से आत्मा एक है कहो या राग से एक है – ऐसा माननेवाले जीव की एक बहिरात्म पर्याय है। उसे व्यवहार समकित में उसका ज्ञान ऐसा स्वीकार है। परलक्ष्यी ज्ञान वह आत्मज्ञान नहीं, भाई ! वह ऐसा (बहिर्मुख) ज्ञान है। आत्मज्ञान यहाँ का ऐसा (अन्तर्मुख) ज्ञान है। अन्तरात्मा चौथेवाला, पाँचवेवाला मध्यम, छठवेवाला मध्यम, चौथेवाला जघन्य; सात से (बारहवे तक) उत्तम – उन्हें उस प्रकार से स्वीकार करता है। ज्ञान का भाग – क्षयोपशम उस प्रकार स्वीकार करता है। परमात्मा – शरीरसहित केवलज्ञानी, लोकालोक को निहारनेवाले ऐसे भी हैं; शरीररहित परमात्मा (भी) लोकालोक को निहारनेवाले हैं। शरीर गया, इसलिए केवलज्ञान चला गया – ऐसा नहीं है। यह शरीर और इन्द्रियाँ क्या जानते हैं ? वह शरीर, इन्द्रियों के बिना लोकालोक को जानते हैं। यहाँ केवलज्ञान में लोकालोक को शरीर, इन्द्रिय बिना जानते हैं। मात्र-चार अघातिकर्मों को निमित्तपना बाकी है, इसलिए उनकी पर्याय में,

दूसरी पर्याय में निर्मलता कम है। यह पर्याय तो पूर्ण है। ज्ञान, दर्शन की पर्याय पूर्ण है। समझ में आया ? ऐसे शरीरसहित परमात्मा, शरीररहित परमात्मा लोकालोक को निहारनेवाले, एक समय में निहारनेवाले... उसमें समयभेद नहीं है। एक समय में (जानते हैं) इसलिए आगे-पीछे कुछ नहीं हो सकता। एक समय में पूरा, एक समय में पूरा... पूरे में अब क्या कहना ? पूरा अर्थात् जैसे ऐसा पड़ा है, पूरा लोकालोक पर्याय सहित जैसा है, वैसा एक समय में जानते हैं। ऐसे परमात्मा को अन्तरात्मा, व्यवहार समकित के विषय में, उसके ज्ञान के उघाड़ में - परलक्ष्यी उघाड़ में - विकल्पसहित में ऐसा जानते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? यह पुस्तक तो तुम्हारे हाथ में है, है या नहीं लड़कों ? कौन है यह ? है या नहीं इसमें ? लड़कों को भी तैयार होना पड़ेगा या नहीं ? यह सब वृद्ध तो एक के बाद एक चले जायेंगे। आहा..हा... !

अद्भुत वर्णन किया है, हाँ ! यह विस्तार तो व्याख्यान के समय होता है, पढ़ते समय इतना सब स्पष्ट नहीं होता। हमारे तो 'हीराजी महाराज' कहते थे, तू अकेला बैठकर पढ़ता है, तू कहे, मेरे पढ़ना नहीं, मुझे व्याख्यान नहीं करना... परन्तु ऐसा रहने दे। 'हीराजी महाराज' बेचारे बहुत भद्र थे। तू पढ़ - तुझे पढ़ते-पढ़ते खिलेगा, ख्याल आयेगा - ऐसा कहते थे। बहुत भद्र थे, वस्तु (वस्तुस्वरूप) का पता नहीं, (था)। एक ओर बैठे-बैठे मेरा करूँ मेरा करूँ - ऐसा रहने दे। तू पढ़, लोग बहुत चाहते हैं। यह पढ़ते-पढ़ते ख्याल आयेगा, तर्क खिलेंगे, ऐसा होगा (-ऐसा कहते थे)। ऐ..ई.. ! अपनी एकाग्रता है या नहीं ? इसलिए जब समझाना होता है न, तब उसकी स्पष्टता ख्याल में अधिक आती है, ऐसा। स्पष्टता अधिक आती है। अकेला समझना हो तो उसे क्या इतनी बात है।

'सम्पूर्ण स्वरूप एक समय में...' एक समय में। एक समय होता है न ? केवली को एक समय है। 'युगपत् (एकसाथ) जानने-देखनेवाले सबके ज्ञाता-दृष्टा हैं; इससे निश्चित होता है कि जिस प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान व्यवस्थित हैं...' व्यवस्थित अर्थात् एक समय है, एक समय में सब एकसाथ जानते हैं। 'उसी प्रकार उनके ज्ञान के ज्ञेय-सर्व द्रव्य छहों द्रव्यों की त्रैकालिक क्रमबद्ध पर्यायें निश्चित - व्यवस्थित है...' पर्याय व्यवस्थित... एक समय में सब जाने तो वहाँ भी सब (व्यवस्थित) है। एक समय में जानते हैं, एक समय में पूरा जानते

हैं, उसमें पूरा अर्थात् सम्पूर्ण; उसमें उल्टा-सीधा रहा कहाँ ? हो भी कैसे ? यहाँ एक समय में पूरा ऐसा (जानते हैं) । यहाँ एक समय में पूरा (ज्ञान), एक समय में ज्ञेय पूरा, बस ! ऐसा है । उसमें फिर यहाँ होगा और यहाँ नहीं होगा - इस बात की - शंका का स्थान भी कहाँ है ? जगत को बहुत कठिन (पड़ता है) ।

मुमुक्षु :- ... पास जाए तो अच्छा हो जाता है ।

उत्तर :- अरे.. ! मर जाए । कहो, समझ में आया ?

‘ और कोई पर्याय उलटी-सीधी अथवा अव्यवस्थि नहीं होती - ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव मानता है... ’ एक समय का ज्ञान, एक समय की पूरी अवस्था, एक समय की पूर्व वर्तमान, ऐसा । भूत भी है, परन्तु वर्तमान योग्यता है न द्रव्य में ? सम्पूर्ण लोकालोक को केवलज्ञान एक समय में जाने तो पूरे लोकालोक में एक समय में निमित्त होने की ताकत है या नहीं ? वर्तमान, हाँ ! केवली को यहाँ एक समयकी पूर्ण पर्याय प्रकट हुई तो एक समय में लोकालोक निमित्त है या नहीं ? या भविष्य में होगा, वह निमित्त भविष्य में होगा, यहाँ एक समय की पर्याय में लोकालोक एक समय में निमित्त है, बस ! पूरा हो गया, समाप्त हो गया । समझ में आया ? वर्तमान पूरा निमित्त है या (नहीं) ? वर्तमान का निमित्त है और भूत-भविष्य का होगा, तब निमित्त होगा ? समझ में आया ? भगवान के ज्ञान में एक समय में वर्तमान लोकालोक निमित्त है, बस ! हो गया । यहाँ पूरा और वहाँ भी पूरा । पूरा हो गया । समझ में आया ?

‘ जिसे ऐसी मान्यता (-निर्णय) नहीं होती, उसे स्व-पर पदार्थों का निश्चय न होने से... ’ वहाँ कर्ताबुद्धि है न ? जानना ही है, यहाँ जानना ही है, उसे जानना ही है । जैसा है, वैसा जानना । यहाँ भी जैसा है, वैसा जानना है ; करना है या बदलना है - ऐसा कुछ है नहीं । ‘ पदार्थ का निश्चय न होने से शुभाशुभ विकार और परद्रव्य के साथ कर्ताबुद्धि एकताबुद्धि होती है... ’ उसे होती ही है । सर्वज्ञ का जानने का ऐसा स्वभाव है, इसके अतिरिक्त दूसरा स्वभाव नहीं होता - ऐसा नहीं माननेवाले को शुभाशुभ विकार की एकताबुद्धि होती ही है । ‘ इसलिए वह जीव बहिरात्मा ही है । ’ उसे सम्यग्दृष्टि इस प्रकार से स्वीकार करता है । उस व्यवहार समकित अथवा पर सम्बन्धी के ज्ञान के क्षयोपशम की ऐसी मर्यादा ही है । विशेष कहेंगे...

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

निकल परमात्मा का लक्षण तथा परमात्मा के ध्यान का उपदेश

ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्मकल-वर्जित सिद्ध महन्ता;
 ते हैं निकल अमल परमात्म भोगैं शर्म अनन्ता।
 बहिरात्मता हेय जानि तजि, अन्तर आत्म हूजै;
 परमात्मको ध्याय निरन्तर जो नित आनन्द पूजै॥६॥

अन्वयार्थ :- (ज्ञानशरीरी) ज्ञानमात्र जिनका शरीर है ऐसे (त्रिविध) ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म तथा औदारिक शरीरादि नोकर्म, ऐसे तीन प्रकार के (कर्ममल) कर्मरूपी मेल से (वर्जित) रहित, (अमल) निर्मल ओर (महन्ता) महान (सिद्ध) सिद्ध परमेष्ठी (निकल) निकल (परमात्म) परमात्मा हैं। वे (अनन्ता) अपरिमित (शर्म) सुख (भोगैं) भोगते हैं। इन तीनों में (बहिरात्मता) बहिरात्मपने को (हेय) छोड़ने योग्य (जानि) जानकर और (तजि) उसे छोड़कर (अन्तर आत्म) अन्तरात्मा (हूजै) होना चाहिए और (निरन्तर) सदा (परमात्मको) (निज) परमात्मपद का (ध्यान) ध्यान करना चाहिए; (जो) जिसके द्वारा (नित) अर्थात् अनन्त (आनन्द) आनन्द (पूजै) प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ :- औदारिक आदि शरीररहित शुद्ध ज्ञानमय, द्रव्य-भाव-नोकर्म रहित, निर्दोष और पूज्य सिद्ध परमेष्ठी 'निकल' परमात्मा कहलाते हैं; वे अक्षय अनन्तकाल तक अनन्त सुख का अनुभव करते हैं। इन तीन में बहिरात्मपना मिथ्यात्वसहित होने के कारण हेय (छोड़ने योग्य) है, इसलिये आत्महितैषियों को चाहिए कि उसे छोड़कर, अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि बनकर परमात्मपना प्राप्त करें; क्योंकि उससे सदैव सम्पूर्ण और अनन्त आनन्द (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

वीर संवत २४९२, महा सुद १३, गुरुवार

दि.३-२-१६९६, गाथा ६, ७, ८ प्रवचन नं.-१६

‘दौलतरामजी ’ कृत छहढाला की तीसरी ढाल का पाँचवा श्लोक पूरा हुआ। (अब) छठवां। ‘निकल परमात्मा का लक्षण...’ अर्थात् शरीररहित सिद्धभगवान का लक्षण... ‘परमात्मा के ध्यान का उपदेश।’

ज्ञानशरीरी त्रिविध कर्मकल-वर्जित सिद्ध महन्ता;
ते हैं निकल अमल परमात्म भोगें शर्म अनन्ता।
बहिरात्मता हेय जानि तजि, अन्तर आत्म हूजै;
परमात्मको ध्याय निरन्तर जो नित आनन्द पूजै॥६॥

क्या अधिकार चलता है ? व्यवहार समकित में नव तत्त्व में जीवत्व की व्याख्या चलती है। इतना सब याद किसे रहे ? व्यवहार समकित में सात तत्त्व जो श्रद्धारूप से, भेदरूप से सात तत्त्व है, उनमें जीवतत्त्व की (व्याख्या चलती है)। व्यवहार समकित में, निश्चय समकितवन्त किस प्रकार सात को जानता-मानता है ? कि ऐसे तत्त्व को जाने-माने, उसे व्यवहार समकित का विषय कहा जाता है।

जीव की पर्याय में बहिरात्मा और अन्तरात्मा की बात आ गयी। जीवतत्त्व की तीन प्रकार की पर्याय है। - एक बहिरात्मा; एक अन्तरात्मा और एक परमात्मा। निश्चय से आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को अभेद दृष्टि में निश्चयसम्यग्दर्शन के काल में (लिया है), उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन में जीवतत्त्व की ऐसे तीन प्रकार की पर्यायें, उसके समकित के विषय में श्रद्धा में होती है। समझ में आया ? उसमें बहिरात्मा की बात आ गयी, अन्तरात्मा की आ गयी; परमात्मा के एक भाग (भेद) की बात आ गयी - शरीरसहित अरिहन्त भगवान की बात आ

गयी। अब, दूसरे परमात्मा की बात आती है।

‘ (ज्ञानशरीरी)...’ इतना अन्तर ढाला। अरिहन्त को शरीर होता है न ? और केवलज्ञानी होते हैं (जो) लोकालोक को जानते हैं। ऐसे अरिहन्त को, सम्यग्दृष्टि व्यवहार समकित में उन्हें भलीभाँति पहिचानकर जानता है। सशरीरी अरिहन्त को (इस प्रकार जानता है)। अब, अशरीरी सिद्ध को (जानता है), इसलिए ‘ ज्ञानशरीरी’- यह शब्द प्रयोग किया है। सिद्धभगवान को यह (जड़) शरीर नहीं होता; ज्ञानशरीर होता है, अकेला चैतन्य। वे ‘ (त्रिविध)...’ अर्थात् वे ज्ञानशरीरी (सिद्ध) ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं। ज्ञानशरीरी सिद्ध भगवान ‘ रागादि भावकर्म...’ रहित हैं। ‘ और औदारिक शरीरादि नोकर्म, इन तीन प्रकार के (कर्म मल) कर्मरूपी मैल...’ दोष से रहित हैं। कर्ममल-दोष। कर्मरूपी मैल इन सिद्धभगवान को नहीं होता। अकेला ज्ञानस्वरूप केवलज्ञानघन पूरा आत्मा है, उसे यह शरीर नहीं होता और कर्म का मैल भी नहीं होता; इसलिए कर्म के मैल से अर्थात् दोष से रहित ‘ (अमल) निर्मल हैं,...’ अर्थात् निर्दोष हैं।

‘ (महंता) महान,...’ सिद्ध हैं। अरिहन्त से भी वे सिद्ध महान हैं। आठ कर्म नाश हुए हैं। अरिहन्त को चार (कर्म) नाश हुए हैं। ‘ वे महान सिद्ध परमेष्ठि (निकल)...’ अर्थात् शरीररहित ‘ परमात्मा हैं...’ उन्हें सम्यग्दृष्टि को भलीभाँति जानकर पहिचानना चाहिए। ‘ वे (अनंता) अपरिमित (शर्म) सुख भोगते हैं।’ देखो ! यहाँ बात ही यह ली है। सिद्ध, अनन्त आनन्द को भोगते हैं। सिद्ध क्या करते हैं ? कि अनन्त लोकालोक को जानते हैं, इसलिए उन्हें सुख है - ऐसा नहीं; वे तो अपने अनन्त आनन्द का ही अनुभव करते हैं। समझ में आया ?

‘ (अनंत) ’ अर्थात् अपरिमित ‘ सुख को भोगते हैं।’ सिद्ध परमात्मा आनन्द को भोगते हैं। केवली आनन्द को भोगते हैं, परन्तु अभी उन्हें थोड़ा मैल बाकी है; भावकर्म-राग-द्वेष नहीं, परन्तु दूसरे भावकर्म के उदयभाव का जरा सा अंश है, इसलिए अत्यन्त अनन्त आनन्द और अव्याबाध सुख को सिद्ध परमात्मा भोगते हैं, उन्हें निकल परमात्मा - शरीररहित परमात्मा, सम्यग्दृष्टि को व्यवहार (समकित में) उन्हें भलीभाँति पहिचानकर मानना चाहिए।

‘इन तीनों में बहिरात्मपने को छोड़ने योग्य जानकर...’ जानकर। देखो ! बहिरात्मा अर्थात् शरीर और रागादि मेरे हैं – ऐसी बहिरात्मबुद्धि, ऐसी बहिरात्मबुद्धि को बहिरात्मा है, उसे जानना चाहिए। ‘छोड़ने योग्य जानकर और उसे छोड़कर...’ देखा ? हेय जानकर छोड़ने योग्य है। अपने को भी बहिरात्मपना छोड़ने योग्य है, वह तो सम्यग्दृष्टि है, इसलिए... परन्तु जो बहिरात्मा जीव है, उसे भी श्रद्धा में यह बहिरात्म ठीक नहीं है – ऐसा छोड़ने योग्य है। समझ में आया ?

जो कोई पुण्य में धर्म माननेवाले, पाप से सुख माननेवाले, शरीर की क्रिया से आत्मा को (लाभ) माननेवाले हैं, वे सब बहिरात्मा हैं। (जो) आत्मा का स्वभाव नहीं है, उससे विपरीत विकार और अजीवतत्त्व में अपनापन माननेवाले जीवों को श्रद्धामें से छोड़ने योग्य है। वह बहिरात्मपना है, वह व्यवहार से भी आदरणीय नहीं है।

मुमुक्षु :- .. देह...

उत्तर :- इस देह में सब आ गया। देह अर्थात् शरीर और अन्दर कार्मणदेह, उसमें विकारी परिणाम – यह सब आ गया। समझ में आया ?

‘अन्तरात्मा होना चाहिए...’ देखो ! बहिरात्मा छोड़कर अन्तरात्मा (होना चाहिए) आत्मा, पुण्य-पाप से रहित चीज़ है, शरीरादि रहित है – ऐसे आत्मा की अन्तरात्मदशा प्रकट करनी चाहिए। देखा ? बहिरात्मा को छोड़ना, अन्तरात्मा को प्रकट करना ‘और (निरन्तर) परमात्मपद का ध्यान करना चाहिए...’ यह परमात्मा का ध्यान (अर्थात्) अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा। समझ में आया ? हमने तो ‘निज’ शब्द डाला है। मूल तो अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा का ध्यान करना। इन तीन के अन्दर की यह दो व्याख्या है। समझ में आया ? यह तो हमने यहाँ ‘निज’ शब्द डाला है, वरना कहनेवाले का आशय तो जीव की तीन प्रकार की पर्याय है – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। उस बहिरात्मा की पर्याय छोड़कर, अन्तरात्मा होकर, परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। कहो, समझ में आया ?

इन अरिहन्त और सिद्ध – दो परमात्मा को ध्यान में लेकर एकाग्र होना चाहिए। अर्थात् इसका अर्थ यह हुआ कि स्वरूपसन्मुख की एकाग्रता करना, वह अरिहन्त और परमात्मा का

ध्यान कहलाता है। समझ में आया ? 'जिसके द्वारा...' उस परमात्मा का ध्यान करने से ' (नित्य) अर्थात् अनन्त आनन्द प्राप्त किया जाता है।' लो ! उनका ध्यान करने से। देखो ! कषाय - पुण्य-पाप के विकल्प का नहीं... बहिरात्मा को छोड़ दिया। अन्तरात्मा स्वयं ज्ञानानन्द होकर पूर्ण परमात्मा का ध्यान करना अर्थात् स्वभावसन्मुख की उग्र एकाग्रता करना। समझ में आया ? पुण्य-पाप के विकल्प, शरीरादि मेरे नहीं है - इस प्रकार बहिरात्मपना छोड़कर, अन्तरात्मा अर्थात् शुद्ध ज्ञायकमूर्ति (आत्मा) है, उसका भान करके और परमात्मा... पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए आत्मा का ध्यान करना। उस पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति के लिए आत्मा की शुद्धता का उग्रपने पुरुषार्थ करना। स्वभाव में उग्र पुरुषार्थ करना, वह परमात्मा का ध्यान कहलाता है।

'जिसके द्वारा (नित्य) अर्थात् अनन्त आनन्द प्राप्त किया जाता है।' देखो ! ऐसा आनन्द प्रकट होता है कि सादि-अनन्त-नित्य अनन्त आनन्द (रहता है)। नित्य का अर्थ अनन्त किया है। अनन्त अर्थात् अन्त न आवे। ऐसा अनन्त आनन्द; वर्तमान (में) भी अनन्त और अनन्त अर्थात् अन्त न आवे ऐसा नित्य आनन्द- ऐसा। समझ में आया ? आत्मा के आनन्दस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान करके, उसमें लीन होने से, उसे परमात्मा का ध्यान किया कहा जाता है। उसे अनन्त अर्थात् जिस आनन्द की प्राप्ति होने पर अनन्त आनन्द होता है और अनन्त अर्थात् अन्त यानी नाश न हो - ऐसे आनन्द की प्राप्ति आत्मा को आत्मा के शुद्धस्वरूप के ध्यान से होती है। समझ में आया ? देखो ! इसमें शुभाशुभपरिणाम का ध्यान करना छोड़ने की बात कही। शुभपरिणाम से आगे बढ़ते हैं (और) परमात्मा होते हैं - ऐसा है नहीं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- नाश नहीं, काल अर्थात् नाश नहीं, अनन्त अर्थात् वर्तमान में अमाप आनन्द, ऐसा। पहले 'अपरिमित' शब्द आ गया था न ? समझ में आया ? उसमें अनन्ता का अर्थ किया था। अनन्ता का अर्थ ही अपरिमित किया था। देखो ! है न शब्दार्थ में ? अनन्ता का अर्थ अपरिमित किया था। 'भोगें शर्म अनन्ता-' फिर कहा कि 'जो नित आनन्द पूजै-' प्रकट करे,

उसमें ऐसा लिया है। नित्य आनन्द प्रकट होता है अर्थात् आनन्द, ऐसे आत्मा के स्वरूप का ध्यान, शुद्ध अखण्ड आनन्द का ध्यान करने से नित्य आनन्द रहता है। कैसा ? अपरिमित आनन्द प्रकट होता है और नित्य रहता है - ऐसे आनन्द की प्राप्ति उसे होती है। कहो, इसमें समझ में आया ? बहुत से कहते हैं कि अमुक नवकार का ध्यान करना और अमुक करना - वह नहीं। ये तो अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा हैं; पूर्णानन्द पूर्ण ध्येय पूर्ण प्रगट हुआ, उसका अन्तर में ध्यान करने से उन्हें नित्य आनन्द की अवस्था प्रकट होती है।

‘भावार्थ :- औदारिक आदि शरीररहित शुद्ध ज्ञानमय...’ भगवान सिद्ध परमात्मा हैं। वे ‘द्रव्यभाव-नोकर्म रहित, निर्दोष और पूज्य सिद्ध परमेष्ठी...’ सिद्ध भगवान अत्यन्त निर्दोष हैं, उन्हें कुछ भी अंशमात्र भी दोष नहीं रहा है और ‘निकल... पूज्य सिद्ध परमेष्ठी निकल...’ अर्थात् शरीररहित हैं, उन्हें, ‘परमात्मा कहा जाता है। वे अक्षय अनन्त काल तक अनन्त सुख का अनुभव किया करते हैं।’ भविष्य में अक्षय अर्थात् काल का क्षय नहीं हो - ऐसा अक्षय अनन्त काल, अक्षय अनन्त काल... ऐसा। ‘अनन्त सुख का अनुभव किया करते हैं।’

‘इन तीन में बहिरात्मपना मिथ्यात्वसहित होने के कारण हेय (छोड़ने योग्य) है।’ समझ में आया ? पुण्य-पाप से धर्म मानना, वह छोड़ने योग्य हैं। ‘इसलिए आत्महितेषियों को चाहिए कि उसे छोड़कर अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि) बनकर...’ अन्तरात्मा बनकर - शुद्ध चैतन्यमूर्ति की श्रद्धा-सम्यग्दर्शन, ज्ञान प्रकट करके ‘परमात्मपना प्राप्त करें...’ अरिहन्त और सिद्ध होना चाहिए। इन तीन में तीन की बात की। बहिरात्मपना छोड़कर, अन्तरात्मा प्रकट करके और परमात्मा प्रकट करना। ‘परमात्मपना प्राप्त करना चाहिए।’

‘क्योंकि उससे सदैव सम्पूर्ण और अनन्त आनन्द (-मोक्ष) की प्राप्ति होती है।’ पूर्ण आनन्द की, अपरिमित आनन्द की और अनन्त अर्थात् नाश न हो - ऐसे आनन्द की सिद्ध भगवान को प्राप्ति होती है। कहो, इसमें समझ में आया ? छहढाला तो बहुत-सों को कण्ठस्थ होगी। यह तो बहुतों ने पढ़ी होगी न ? यह छठवी गाथा (पूरी) हुई।

अजीव-पुद्गल, धर्म और अधर्मद्रव्य के लक्षण तथा भेद
 चेतनता बिन सो अजीव है, पंच भेद ताके हैं;
 पुद्गल पंच वरन-रस, गंध-दो फरस वसू जाके हैं।
 जिय पुद्गलको चलन सहाई, धर्मद्रव्य अनरूपी;
 तिष्ठत होय अधर्म सहाई जिन बिन-मूर्ति निरूपी॥७॥

अन्वयार्थ :- जो (चेतनता-बिन) चेतना रहित है, (सो) वह (अजीव) अजीव है; (ताके) उस अजीव के (पंच भेद) पाँच भेद हैं; (जाके पंच वरन-रस) जिसके पाँच वर्ण और रस, दो गन्ध और (वसू) आठ (फरस) स्पर्श (हैं) होते हैं वह पुद्गलद्रव्य है। जो (जिय) जीव को (और) (पुद्गल को) पुद्गल को (चलन सहाई) चलने में निमित्त (और) (अनरूपी) अमूर्तिक है, वह (धर्म) धर्मद्रव्य है। तथा (तिष्ठत) गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम को प्राप्त (जीव और पुद्गल को) (सहाई) निमित्त (होय) होता है, वह (अधर्म) अधर्मद्रव्य है (जिन) जिनेन्द्र भगवान ने उस अधर्मद्रव्य को (बिन-मूर्ति) अमूर्तिक, (निरूपी) अरूपी कहा है।

भावार्थ : जिसमें चेतना (ज्ञान-दर्शन अथवा जानने-देखने की शक्ति) नहीं होती, उसे अजीव कहते हैं। उस अजीव के पाँच भेद हैं - पुद्गल, धर्म, ^१अधर्म, आकाश और काल। जिसमें रूप, रस, गंध, वर्ण और स्पर्श होते हैं उसे पुद्गलद्रव्य कहते हैं। जो स्वयं गति करते हैं - ऐसे जीव और पुद्गल को चलने में निमित्तकारण होता है, वह धर्मद्रव्य है; तथा जो स्वयं (अपने आप) गतिपूर्वक स्थिर रहे हुए जीव और पुद्गल को स्थिर रहने में निमित्तकारण है, वह अधर्मद्रव्य है। जिनेन्द्र भगवान ने इन धर्म, अधर्म द्रव्यों को, तथा जो आगे कहे जायेंगे, उन आकाश और कालद्रव्यों को अमूर्तिक (इन्द्रिय-अगोचर) कहा है॥७॥

१. धर्म और अधर्म से यहाँ पुण्य और पाप नहीं, किन्तु छह द्रव्यों में आनेवाले धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक दो अजीवद्रव्य समझना चाहिए।

अब, 'अजीव-पुद्गल, धर्म, अधर्मद्रव्य के लक्षण तथा भेद।' इसे श्रद्धा में अजीवतत्त्व कैसे लेना चाहिए ? निश्चय में तो आत्मा ज्ञायकस्वरूप शुद्ध आनन्द की प्रतीति में, व्यवहार समकित में जीव की पर्याय की श्रद्धा की बात की। अब अजीव की श्रद्धा की बात करते हैं।

चेतनता बिन सो अजीव है, पंच भेद ताके हैं;

पुद्गल पंच वरन-रस, गंध-दो फरस वसू जाके हैं।

जिय पुद्गलको चलन सहाई, धर्मद्रव्य अनरूपी;

तिष्ठत होय अधर्म सहाई जिन बिन-मूर्ति निरूपी॥७॥

बस ! ऐसी इसकी संक्षिप्त ही व्याख्या है। 'जो (चेतनता-रहित) चेतना रहित...' है। जिसमें जानना और देखना - यह पाँच द्रव्यों में नहीं है। यह शरीर, वाणी, कर्म, जड़-पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, (काल) में जानना-देखना नहीं है। जिसमें जानना-देखना नहीं है, वे जानने-देखने में सहायक होते हैं या नहीं ?

मुमुक्षु :- सहायक होने में क्या बाधा है ?

उत्तर :- सहायक होने में क्या बाधा आती है ? धूल भी सहायक नहीं है। यह तो उसे निमित्त कहा जाता है, सहायक-फहायक है नहीं। निमित्त की अपेक्षा से सहायक कहो; जैसे अधर्मास्तिकाय को निमित्त कहेंगे वैसे। तथापि वह सहायक है नहीं; उसके द्वारा ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो ज्ञान द्वारा, जिसमें ज्ञान भरा हो, उसके द्वारा होता है। इन्द्रियां तो पुद्गल हैं, उनमें ज्ञान कहाँ है ? मन में ज्ञान कहाँ है ? आँखों में ज्ञान कहाँ है ? वह तो जड़ है। चेतनबिन कहा न ?

मुमुक्षु :- आँखे कौन ?

उत्तर :- आँखें कौन ? आत्मा की आँखे या यह आँखे ? आँखे तो जड़ है। आँखे जड़ रहित हो, निमित्त रहित हो तो केवलज्ञान हो जाए। समझ में आया ?

'चेतनता रहित है, वह अजीव है; उस अजीव के पाँच भेद हैं।' अब, पुद्गल की व्याख्या

करते हैं, हाँ ! 'जिसके पाँच वर्ण...' है। देखो ! इस पुद्गल में पाँच वर्ण हैं। वहाँ चेतना नहीं है, तब है क्या अब ? - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आत्मा के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों में चेतना - जानना-देखना-ऐसी चेतना नहीं है। तब है क्या है अब, (चेतना) नहीं है तब ? कि पुद्गल में तो पाँच वर्ण हैं। काला, लाल, हरा, पीला आदि वर्ण। 'पाँच रस...' है। खट्टा, मीठा आदि (रस) पुद्गल में है, हाँ ! आत्मा में नहीं। 'दो गन्ध...' है और पुद्गल में 'आठ स्पर्श...' है। आत्मा में नहीं। आत्मा, चेतनासहित है, यह (पुद्गल) चेतनारहित है। 'वह पुद्गलद्रव्य...' जानो। सम्यग्दृष्टि को, व्यवहार समकित में उसे पुद्गलद्रव्य - चेतनारहित अजीव चीज़ की पुद्गलद्रव्य, वर्णवाली है, उसे पुद्गल द्रव्य जानना। समझ में आया ?

'जीव को और पुद्गल को...' देखो ! अब धर्मास्तिकाय की बात करते हैं, परन्तु उसकी विशेषता है। वह धर्मास्तिकाय, (जब) जीव और पुद्गल चलते हैं... चलते हैं - चलन... चलन, चलते हैं, उन्हें सहायक है। समझ में आया ? इसलिए पाठ में ही उन्होंने रख दिया - 'लिन सहाई...' समझ में आया ?

क्या कहा ? चौदह ब्रह्माण्ड में एक धर्मास्तिकाय एक अरूपी द्रव्य है। व्यवहार समकित में उसकी इसे श्रद्धा करनी चाहिए अर्थात् उसका ज्ञान करना चाहिए। वह धर्मास्तिकाय कैसा है ? जीव और पुद्गल स्वयं स्वतः चलन करें... चलन करें.. चलन करे... अर्थात् गति करते हैं, उन्हें वह सहायक अर्थात् निमित्त होता है। समझ में आया ? कहो, है या नहीं इसमें ? बलजोरी से गति कराता है ? इसलिए तो यह शब्द प्रयोग किया है। जीव और पुद्गल चलन... चलन... सहाई... चलने में अर्थात् जीव और पुद्गल स्वयं गति करे, तब उन्हें सहायक



अर्थात् दूसरा द्रव्य है, उसे सहायक कहा है, अर्थात् निमित्त कहा जाता है। कहो, समझ में आया ?

‘और अमूर्तिक है...’ उस धर्मास्तिकाय में वर्ण, गन्ध (नहीं है)। (पुद्गल में) वर्ण, गन्ध सिद्ध किया न ? पुद्गल में पाँच वर्ण आदि सिद्ध किये तो इसमें (धर्मास्तिकाय में) वे हैं नहीं, अमूर्तिक है, वह धर्मद्रव्य है, उसे धर्मास्तिकाय द्रव्य जानना चाहिए।

‘(तिष्ठत)...’ जीव और पुद्गल को.. देखा ? तिष्ठत है न ? तिष्ठत सहाई निमित्त। वह (धर्मास्ति) चलन सहाई था, यह तिष्ठत सहाई है। जीव और पुद्गल स्वयं ठहरें, स्थिर हों... तिष्ठत का अर्थ वह गति करके स्थिर हुआ न - इसका अर्थ ? कैसी संक्षिप्त भाषा में बहुत रख दिया है, हाँ !

जीव और पुद्गल ऐसे गति करके तिष्ठत... तिष्ठत - ठहरें। धर्मास्तिकाय का दृष्टान्त दिया है न ? मछली को जैसे पानी (है, वैसे)। मछली गति करे तो पानी उसे निमित्त कहलाता है; वैसे ही जीव और पुद्गल गति करे तो धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है। चलन सहाई। जैसे मछली चले तो पानी निमित्त कहलाता है, वैसे ही जीव और पुद्गल चले (तो) उसे धर्मास्तिकाय निमित्त कहलाता है। वह धर्मास्तिकाय इस प्रकार निमित्त है। ऐसा ही दृष्टान्त ‘इष्टोपदेश’ में दिया है - ‘धर्मास्तिकायवत्’। जितने सब निमित्त हैं, वे धर्मास्तिकायवत् हैं। चलन सहाई...। प्रत्येक पदार्थ स्वयं स्वतः परिणमन करते हैं, तब जो दूसरी चीज़ होती है, उसे निमित्त कहा जाता है यह सब धर्मास्तिकायवत् निमित्त हैं - ऐसा ‘इष्टोपदेश’ में सिद्ध किया है। पाँचो गाथा में बहुत चर्चा हो गयी है। समझ में आया ? आत्मा स्वयं समझे... चलन सहाई... ऐसे समझे तब गुरु को निमित्त कहा जाता है। उसका न्याय यह दिया है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- चलने में धर्मास्तिकाय की आवश्यकता पड़ती है।

उत्तर :- आवश्यकता पड़ने की कहाँ बात है ? आवश्यकता पड़ने की बात आयी ? चलन-निमित्त सहाई, तिष्ठत सहाई - ऐसा है। यहाँ का वजन है, या वहाँ का है ? वजन कहाँ का है ? कि चले, उसे निमित्त; स्थिर (होवे) उसे निमित्त (है)। जाने, उसे निमित्त। ए... देवानुप्रया ! यह पण्डित रहे। करे या नहीं अर्थ ? करेंगे या नहीं ? कहो, इसमें समझ में

आया ? यह तो शब्द के न्याय से (कहते हैं)। समझ में आया ? बस ! धर्मास्तिकायवत् निमित्त जानना। समझ में आया ?

एक परमाणु को, दूसरा परमाणु भी स्वयं परिणता है, तब दूसरे को निमित्त कहा जाता है। यहाँ चारपने परिणमित, तब दूसरा चार था, उसे निमित्त कहा जाता है – धर्मास्तिकायवत्। परिणमे उसे निमित्त, हो, उसे निमित्त अवस्था हो, उसे वह अस्तिरूप निमित्त होता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यहाँ तो कहते हैं कि उसके परिणमन बिना उसे चले नहीं, – ऐसा कहते हैं। ज्ञानगुण है न ? उसे गुण के वर्तमान परिणमन बिना उसकी पर्याय चले नहीं – ऐसा कहते हैं। क्या कहा ? अन्दर ज्ञानगुण है न ? उसके परिणमन बिना उस गुण को चले नहीं। वह परिणमन करे तब, ज्ञान का परिणमन करे तब गुरु को – जैसे चलन सहाई कहा – ऐसे (गुरु को) ज्ञान में निमित्त कहा जाता है। पहले-बाद की बात नहीं है। यह भी और यह भी होता है, बस ! इतनी बात है। समझ में आया ? देखो न ? बात भी कितनी रखी है ! स्वयं ही संक्षिप्त में रखी है। समझ में आया ? इन्होंने संक्षिप्त में सब न्याय लगभग संक्षेप में ख्याल में आ जाए – इस (प्रकार से) रखे हैं। समझ में आया ?

अधर्मास्तिकाय, वह गतिपूर्वक स्थिति (करने में निमित्त है)। तिष्ठत है न ? 'तिष्ठत' शब्द पड़ा है न ? जैसे, मनुष्य चलता हो और थकान लगी हो और वृक्ष हो वहाँ जाकर बैठता है। वह वृक्ष उसे बैठने को नहीं कहता है। वृक्ष कहते हैं ? (जिसे) बैठना हो, उसको वृक्ष निमित्त है। इसी प्रकार जो गति करते हुए स्थिर होता है, उसे अधर्मास्तिकाय निमित्त है। ऐसे नहीं जानता था और (अब) जानता है, उसे (गुरु आदि) निमित्त है। यह तो अभी 'इष्टोपदेश' में बहुत आयेगा। समझ में आया ? यही 'इष्टोपदेश' कहलाता है। इसे प्रिय उपदेश और सत्य उपदेश इसका नाम है। इससे होता है और उससे होता है – यह इष्टोपदेश है नहीं। देखो न, पूज्यपादस्वामी कहते हैं।

मुमुक्षु :- वृक्ष आया न ?

उत्तर :- वृक्ष कहाँ आया है ? वृक्ष पड़ा है।

मुमुक्षु :- वृक्ष आकर्षण करता है न ?

उत्तर :- कौन आकर्षण करे ? धूल आकर्षण करे ? चलता हो, उसे रोकता है कि खड़ा रहे, मैं वृक्ष हूँ ? वृक्ष देखकर खड़ा रहे तो निमित्त कहलाता है, न खड़ा रहे तो चलता होता है; चलता है तो धर्मास्तिकाय निमित्त कहलाता है, स्थिर होवे तो अधर्मास्तिकाय (निमित्त कहलाता है)। इसलिए वृक्ष का दृष्टान्त (दिया है)। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- परन्तु यह वस्तु की स्थिति ऐसी है। उसमें दूसरी उल्टी-सीधी प्रस्तुति कैसे करे ? समझ में आया ? इस 'नित वर्तना' में जरा शंका पड़ी थी तो पण्डितजी को पूछ के देखा कि नियत वर्तना अर्थात् वर्तना ऐसा आता है या नियत वर्तना - ऐसा आता है ? शब्द में जरा नित्य वर्तना आया है न ? अब आयेगा। इस काल को भी स्वतन्त्र सिद्ध करना था। समझे न ? यहाँ तो अभी अधर्मास्तिकाय को सिद्ध करते हैं।

इस व्यवहार श्रद्धा में ऐसे उसे मानना चाहिए। व्यवहार श्रद्धा में गड़बड़ करे कि इसके कारण यह (-तो) उसकी व्यवहार श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है - ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया ? धर्मास्तिकाय के बिना सिद्ध भगवान को वहा (लोकाग्र में) रहना पड़ा - ऐसा नहीं होता, यह कहते हैं। वे तो चलन, स्वयं परिणमन करे - गति करे तो उसे निमित्त कहते हैं। गति नहीं तो वे तिष्ठ-गतिपूर्वक स्थिर हो गये, (उसमें) अधर्मास्तिकाय निमित्त है। यहाँ लेना चाहिए या (दूसरी ओर से) लेना चाहिए ? जिसकी बात चले, उससे लेना चाहिए या जिसके साथ है, उससे-संयोग से बात लेनी चाहिए ? स्वभाव से बात लेनी चाहिए, संयोग से बात नहीं ली जाती; संयोग बाद में सिद्ध होता है। बाद में अर्थात् भले साथ हो (परन्तु बाद में सिद्ध होता है)। समझ में आया ?

जीव स्वयं गति-चलन करे तो धर्मास्तिकाय निमित्त है। वहाँ अधर्मास्तिकाय नहीं ? वह स्वयं चले तो धर्मास्तिकाय को निमित्त कहना; स्थिर होवे तो अधर्मास्तिकाय को (निमित्त कहा जाता है)। उसमें वजन उसकी ओर का (स्वभाव का) आया या वहाँ का (-निमित्त

का) आया ? समझ में आया या नहीं ? आत्मा की निश्चय सम्यग्दृष्टि में व्यवहार सम्यग्दर्शन में उसे छहद्रव्य की ऐसी श्रद्धा-जैसा है, वैसा होना चाहिए - ऐसा कहते हैं। जैसा है, उससे आगे-पीछे करे तो उसे व्यवहार का ठिकाना नहीं है। समझ में आया ?

गतिपूर्वक स्थिति ' (तिष्ठत)... ' शब्द है, इसलिए ' गतिपूर्वक स्थिति ' यह भलीभाँति अर्थ किया है। ' जो गतिपूर्वक स्थिति परिणाम को... ' परिणाम अर्थात् वह पर्याय है न ? ' प्राप्त... ' होता है। ' (जीव और पुद्गल को) (सहाई -)... ' बस ! तिष्ठत सहाई, तिष्ठत-सहाई। खड़ा (स्थिर) हो, उसे अधर्मास्तिकाय सहाई होता है, तो वजन कहाँ आया ? खड़े रहनेवाले (पर आया)। ऐसे जाननेवाले को वाणी निमित्त होती है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- व्यवहार तो झूठा कहा।

उत्तर :- किसने झूठा कहा ? वस्तु, व्यवहार से व्यवहार नहीं ? निमित्त नहीं ? निमित्त वस्तु नहीं ? परन्तु निमित्त कब कहलाता है ? यहाँ निश्चय (उपादान) हो, तब अन्य को निमित्त कहते हैं - ऐसी बात अभी चलती है न ! यहाँ तो भाई ! भगवान का काँटा (धर्म काँटा) है। समझ में आया ? उसके व्यवहार में भी जिस प्रकार से भेदरूप से तत्त्व का जो स्वरूप है, उसे उस प्रकार से इसे मानना चाहिए।

' वह अधर्मद्रव्य है। जिनेन्द्र भगवान ने इस अधर्मद्रव्य को... ' और धर्मादि सब को-ऐसा लेना। ' जिनेन्द्र भगवान ने इस अधर्मद्रव्य को (बिनमूरति) अमूर्तिक कहा है। ' कहो, समझ में आया ? धर्म (द्रव्य में) ' अनरूपी ' आया था न ? अनरूपी। समझे ? जिय-पुद्गल को चलन सहाई, धर्मद्रव्य अनरूपी; ' तिष्ठत होई अधर्म सहाई, जिन बिनमूर्ति निरूपी। ' दोनों को कहा है।

' भावार्थ :- जिसमें चेतना (ज्ञान, दर्शन अथवा जानने-देखने की शक्ति) नहीं होती... ' कहो, इन आँख में, जीभ में, शरीर में, इस लकड़ी में, वाणी में जानने-देखने की शक्ति नहीं है। उसे ' अजीव कहते हैं। ' कहो, ठीक है ? देखो ! यह घड़ी चलती है या नहीं ? (जो) चलती है, वह जीव है या अजीव ? लो, चलती है या नहीं ? एक व्यक्ति कहता था, पुराना व्यक्ति था, था युवा। वह कहता था - यह गति करती है, वह जीव है। हिले-चले वह

जीव किसने कहा ? चेतनावाला, वह जीव; ज्ञान-दर्शन स्वभाववाला, वह जीव और ज्ञानदर्शन स्वभावरहित, वह अजीव है।

वह तो कहता था - मिल में एन्जिन है, वह भी जीव है। वह मिल में नौकर था। उसके बहनोई सेठ थे। वह कहता - देखो ! एन्जिन चलता है, वह जीव है, वे मानते। 'खस' में नया एन्जिन बना न ? 'बोटाद' से 'खस'। हम एक बार निकले थे। एक बाई लेकर नलिया लेकर आयी थी। धूप डालकर। गाड़ी चलती थी और वह धूप करती थी। नयी गाड़ी चली न ? 'बोटाद' से 'खस' की ओर निकली न ? हम ठीक उस समय विहार करके निकले थे। 'बोटाद' से 'खस' आते होंगे। समझे न ? वहाँ एक बाई धूप देती थी। मूढ़ किसे कहते हैं ? यह गति, इतने लाखों मण को चलावे, वह कहीं देवी बिना चलावे ? लाखों मण के डिब्बे धड़धड़ट चले... समझे न ? यह तो नजरों से देखा है, हाँ ! सब नमूने एक-एक ! रेल निकलती है न ? 'बोटाद' से 'खस' के समीप... वहाँ आगे रेल हो, वहाँ वह बाई ऐसा करती थी। नलिये में डालकर, नलिया लम्बा होता है न ? उसमें अग्नि डालकर उसमें धूप डाली। मूढ़ वे कहीं अलग बसते होंगे ? गाँव में ऐसे के ऐसे बसते हैं।

मुमुक्षु :- शक्ति का प्रयोग करे न !

उत्तर :- शक्ति कौन सी ? ज्ञानशक्ति या जड़शक्ति ? आहा..हा.. !

'उसे अजीव कहते हैं। इस अजीव के पाँच भेद हैं।' समझ में आया ? 'पुद्गल, धर्म...' यह धर्मास्ति, अधर्मास्ति... वे पुण्य-पाप नहीं लेना, हाँ ? नीचे (मूल पुस्तक में फूटनोट में) स्पष्टीकरण किया है। यह लिखनेवाला 'प्रमुख' है न ? पहले से स्पष्टीकरण किया है। करनेवाले, हाँ ! यह पुरानी पुस्तक है, इसमें स्पष्टीकरण है। दिगम्बर की ओर से छपा है उसमें। समझ में आया ? धर्म और अधर्म, वह पुण्य-पाप नहीं लेना। धर्म-अधर्म वे नहीं लेना। यहाँ तो धर्म-अधर्म दो द्रव्य है। भगवान ने जगत में देखे हुए अरूपी (द्रव्य है)। चौदह ब्रह्माण्ड अनुसार, चौदह राजू(लोक) अनुसार व्यापक (द्रव्य हैं)।

'... आकाश और काल, जिसमें रूप, रस, गन्ध, वर्ण और स्पर्श होते हैं, उसे पुद्गलद्रव्य कहते हैं। जो स्वयं गति करते हैं...' चलन सहाई-ऐसा। 'ऐसे जीव और

पुद्गलों को चलने में...' सहाई अर्थात् निमित्तकारण है। बस ! हो गया। सहाई शब्द से ही वहाँ निमित्त है। इसलिए सहाई की स्पष्टता व्याख्या लेनी होवे तो धर्मास्तिकाय को सहाई कहा है। उसका अर्थ हो गया कि निमित्त है। समझ में आया ? दूसरी चीज़ साथ में एक निमित्त होती है - ऐसा।

स्वयं गतिपूर्वक स्थिर रहे हुए... तिष्ठत है न ! तिष्ठत है। जो जीव और पुद्गल खड़े रहते हैं, इसलिए खड़े रहने का अर्थ हुआ कि पहले चलते थे। 'जीव और पुद्गल को स्थिर रहने में जो निमित्तकारण है, वह अधर्मद्रव्य है। जिनेन्द्र भगवान ने इन धर्म-अधर्मद्रव्य को तथा जो आगे कहें जाएँगे उन...' सबको - ऐसा समुच्चय ले लिया। 'आकाश और काल द्रव्य को अमूर्तिक (इन्द्रिय-अगोचर) कहा है।' इन्द्रियों से ज्ञात हों - ऐसे नहीं हैं, ज्ञानगम्य है; अतीन्द्रिय ज्ञानगम्य हैं। ऐसे चार अरूपी हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल। एक पुद्गल रूपी है, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवाला है। उसे पहिचान भलीभाँति श्रद्धान करना चाहिए, पुद्गल को पुद्गलरूप से मानना चाहिए; पुद्गल की पर्याय को पुद्गल की पर्यायरूप से मानना चाहिए और पुद्गल के गुणों को पुद्गल के गुणरूप से मानना चाहिए। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ... निश्चय तो...

उत्तर :- परन्तु साथ में वैसा निश्चय होता है। वीतराग होने के बाद ऐसा ज्ञान और ऐसा विकल्प नहीं होता; पूर्ण हो गया उसे समाप्त हो गया। नीचे (की भूमिका में) ऐसे विकल्प, ज्ञान अपूर्ण है, पूर्ण नहीं हुआ इसलिए उसे वह अवस्था (होती है)। चारित्र पूर्ण हुआ नहीं। यह चारित्र पूर्ण अखण्ड हो जाए तो फिर यह भाव नहीं रहता। ऐसा व्यवहार भाव, निश्चयसम्यग्दर्शन हो तब छह द्रव्य की श्रद्धा का, जीव-अजीवतत्त्व का विकल्प - जैसा स्वरूप है, वैसी श्रद्धा का ज्ञान होता है, उस सम्बन्धी का ज्ञान होता है और उस सम्बन्धी का विकल्प भी होता है। समझ में आया ?

अन्यमति ऐसा जमा दे कि अकेला आत्मा... अकेला आत्मा... ऐसा नहीं चलता - यह कहते हैं। एक आत्मा ! परन्तु उस आत्मा के साथ उसे व्यवहार के ऐसे छह द्रव्यों की श्रद्धा उसे

होती है। छह द्रव्यों की श्रद्धा नहीं, उसे अकेला निश्चय आत्मा अखण्ड एकरूप है, उसकी श्रद्धा उसे हो नहीं सकती। समझ में आया या नहीं ? एक समय की ज्ञान की पर्याय में छह द्रव्यों को श्रद्धा करने की – जानने की ताकात है, विकल्पसहित। समझ में आया ? ऐसी जिसे मान्यता नहीं, उसे अखण्ड एक समय में पूर्ण अनन्त गुण का पिण्ड ऐसा आत्मद्रव्य, जिसमें ऐसी अनन्त-अनन्त पर्याय का रस पड़ा है – ऐसा आत्मद्रव्य है। उसे ऐसे छह द्रव्यों का श्रद्धान होता है, (मात्र अकेले) आत्मद्रव्य की श्रद्धा होती नहीं। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- मेंढ़क को पता है ?

उत्तर :- हाँ, मेंढ़क को पता है। मेंढ़क भी भलीभाँति जानता है। आत्मा आनन्दस्वरूप है। उस आनन्द में भान है कि यह आत्मा है। इस आत्मा से विरुद्ध, वह आत्मा नहीं है। उसे श्रद्धा में-ज्ञान में आ गया है और यह विकल्प उत्पन्न होता है, वह दुःख है, यह आनन्द नहीं है। यह आनन्द है, वैसी मीठास नहीं है, उससे विपरीत है। इसलिए उससे विपरीत भाव आस्रव की श्रद्धा, आस्रव और बन्धभाव की (श्रद्धा) उसे आ गयी है। आनन्द है, वह अल्प है और पूरी चीज आनन्द है, उस आनन्द की वृद्धि चाहता है, वह संवर और निर्जरा है, पूर्ण करना चाहता है, वह मोक्ष है।

मुमुक्षु :- ... जीव के भेद...

उत्तर :- यह भेद उसमें आ गये। ज्ञान रहित, वह पुद्गल अथवा पाँच द्रव्य हैं। यह उसमें आ गया। कहा न ? भेद कहाँ उसमें कहे ? उसमें भी यह कहाँ आया ? यहाँ तो क्या कहा ? 'चेतनता बिन सो अजीव है।' इतनी बात ली है। उन्होंने प्रयोजनभूत की ही बात ली है। समझ में आया ? यह गुणी और यह गुणवाला... यह गुण और यह गुणवाला... बस ! इतनी बात। समझ में आया ? यह प्रयोजनभूत है। बाकी सब बातें चाहे जितनी गहो, उसके साथ कुछ (सम्बन्धनहीं है)। घड़ा क्यों हुआ कैसे हुआ ? (-उसका काम नहीं है)। परन्तु मिट्टी द्रव्य है और वर्ण, गन्ध, रस। उसके गुण हैं और उन गुण की पर्याय है, वह घड़ा है। समझ में आया ? वह घड़ा कहीं कुम्हार की पर्याय है – ऐसा नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया ?

यह अजीवतत्त्व में ऐसा आ जाता है। चेतनरहित चीज – ऐसे अजीव हैं। वह द्रव्य, गुण

और पर्याय तीनों अजीव हैं। उनमें-तीनों में कहीं चेतन का अंश नहीं है, इसलिए उनके विरुद्ध के वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्शवाला, वह पुद्गल है और उसके अतिरिक्त धर्मास्तिकाय में एक ही गुण वर्णन करके, गति करे उसमें धर्मास्तिकाय निमित्त है, बस ! एक गुण से उसका वर्णन कर दिया। उस गुण का धारक पूरा गुणी है और तिष्ठत - अधर्मास्तिकाय। ठहरते हैं, (उसमें) निमित्त है, वह अधर्मास्तिकाय। अकेले एक गुण से उसका वर्णन किया है। समझ में आया ? यह सात (गाथा पूर्ण) हुई। (अब) आठवीं।

आकाश, काल और आस्रव के लक्षण अथवा भेद

सकल द्रव्यको वास जासमें, सो आकाश पिछानो;

नियत वर्तना निशिदिन सो, व्यवहारकाल परिमानो।

यों अजीव, अब आस्रव सुनिये, मन-वच-काय त्रियोगा;

मिथ्या अविरत अरू कषाय, परमाद सहित उपयोगा॥८॥

अन्वयार्थ :- (जासमें) जिसमें (सकल) समस्त (द्रव्यको) द्रव्यों का (वास) निवास है, (सो) वह (आकाश) आकाशद्रव्य (पिछानो) जानना; (वर्तना) स्वयं प्रवर्तित हो और दूसरों को प्रवर्तित होने में निमित्त हो, वह (नियत) निश्चय कालद्रव्य हैं; तथा (निशिदिन) रात्रि, दिवस आदि (व्यवहारकाल) व्यवहार काल (परिमानो) जानो। (यों) इस प्रकार (अजीव) अजीवतत्त्व का वर्णन हुआ। (अब) अब (आस्रव) आस्रवतत्त्व (सुनिये) सुनो। (मन-वच-काय) मन, वचन और काया के आलम्बन से आत्मा के प्रदेश चंचल होनेरूप (त्रियोगा) तीन प्रकार के योग तथा मिथ्यात्व, अविरत, कषाय (अरू) और (परमाद) प्रमाद (सहित) सहित (उपयोग) आत्मा की प्रवृत्ति वह (आस्रव) आस्रवतत्त्व कहलाता है।

भावार्थ :- जिसमें छह द्रव्यों का निवास है, उस स्थान को +आकाश कहते हैं। जो

+ जिस प्रकार किसी बरतन में पानी भरकर उसमें भस्म (राख) डालीजाये तो वह समा जाती है; फिर उसमें शर्करा डाली जाये तो वह भी समा जाती है; फिर उसमें सुइयाँ डाली जायें तो वे भी समा

अपनेआप बदलता है तथा अपनेआप बदते हुए अन्य द्रव्यों को बदलने में निमित्त है, उसे *‘निश्चयकाल’ कहते हैं। रात, दिन, घड़ी, घण्टा आदि को ‘व्यवहारकाल’ कहा जाता है - इस प्रकार अजीवतत्त्व का वर्णन हुआ। अब, आस्रवतत्त्व का वर्णन कहते हैं। उसके मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग - ऐसे पाँच भेद हैं।८॥

(आस्रव और बन्ध दोनो में भेद :- जीव के मिथ्यात्व-मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम, वह भाव-आस्रव है और उन मलिन भावों में स्निग्धता, वह भाव-बन्ध है।)

आठवीं (गाथा)। ‘आकाश...’ की व्याख्या, ‘काल...’ की व्याख्या ‘और आस्रव के लक्षण तथा भेद’ की व्याख्या करेंगे।

सकल द्रव्यको वास जासमें, सो आकाश पिछानो;
नियत वर्तना निशिदिन सो, व्यवहारकाल परिमानो।
यों अजीव, अब आस्रव सुनिये, मन-वच-काय त्रियोगा;
मिथ्या अविरत अरू कषाय, परमाद सहित उपयोगा॥८॥

‘सकल द्रव्य को वास...’ देखा ? इनकी भाषा तो देखो ! ‘जास में’ बाद में लिया, ‘यों अजीव...’ बस, यह अजीव। पहले जीव का तीन प्रकार से वर्णन किया - बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा - इस पर्याय को इसे जानना। अजीव को इस प्रकार जानना। बहिरात्मा में उस जीव को छोड़ने को कहा था, उसकी एकत्वबुद्धि छूट गयी है। इतना उसने (कहा)। दूसरे

जाती हैं; उसी प्रकार आकाश में भी मुख्य अवगाहन-शक्ति है; इसलिये उसमें सर्व द्रव्य एकसाथ रह सकते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को रोकता नहीं है।

* अपनी-अपनी पर्यायरूप से स्वयं परिणमित होते हुए जीवादिक द्रव्यों के परिणामन में जो निमित्त हो उसे कालद्रव्य कहते हैं। जिसप्रकार कुम्हार के चाक को घूमने में धुरी (कीली)। कालद्रव्य को निश्चयकाल कहते हैं। लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य (कालणु) हैं। दिन, घड़ी, घण्टा, मास-उसे व्यवहारकाल कहते हैं। (जैन सि. प्रवेशिका)

बोल थे। यहा इन्होंने आस्रव में विशेष प्रकार से सब वर्णन करके आस्रव का वर्णन किया है। कोई कहे कि बहिरात्मा में आस्रव का वर्णन आ गया था, अंतरात्मा में संवर, निर्जरा आ गया था, मोक्ष में (परमात्मा का) आ गया था। तो कहते हैं नहीं; उसका सामान्यरूप से (वर्णन था), मात्र एकत्वबुद्धि का त्याग, एकत्वबुद्धि का अभाव और पूर्ण ज्ञान की अवस्था – इतनी बात जीव की पर्याय का वर्णन बताने को वहाँ आयी थी।

यहाँ पर 'यो अजीव अब आस्रव सुनिये, मन-वच काय त्रियोगा।' मन-वचन और काया का कम्पन-योग है, वह भी आस्रव है। यह सब बात यहाँ आस्रवतत्त्व में विस्तार से वर्णन की है। समझ में आया ? 'मिथ्या अविरत अरू कषाय, परमाद सहति उपयोगा।' पाँचो ही लिये। मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग – पाँच है न ? आस्रव पाँच हैं या नहीं ? समझ में आया ? 'उपयोग-' लिया न ? उसकी प्रवृत्ति – जीव की प्रवृत्ति यहाँ लेनी है – ऐसा कहकर यह कहते हैं कि यह आस्रव कहीं कर्म के कारण नहीं है। है इसमें ? निकलता है इसमें ? देखो न ! 'परमाद सहित उपयोगा...' (कहा है)। ऐ.. देवानुप्रिया ! है या नहीं इसमें ? कि कर्म से – इसमें खींच खींचकर निकालते हैं ? कर्म तो अजीव में डाल दिया, अजीव की पर्याय में डाल दिया। अजीव की पर्याय हैं – ऐसी उसकी श्रद्धा करनी चाहिए। वर्ण, गन्ध स्पर्शवाली पर्याय, यह पुद्गल, यह पुद्गल की पर्याय है – ऐसी श्रद्धा करनी चाहिए। यहाँ तो आत्मा की – आस्रव की पर्याय (की बात करते हैं)। समझ में आया ? थोड़े में बहुत भर दिया है, हाँ ? एक-एक शब्द ऐसा प्रयोग किया है कि पूरा करता है।

'(जासमें) जिसमें...' जासमें अर्थात् आकाश में। भगवान द्वारा देखा हुआ लोकालोक व्यापक आकाश अरूपी पदार्थ है। 'जिसमें सर्व द्रव्यों का निवास है...' परन्तु द्रव्य उसमें रहे हैं, वहाँ से सिद्ध किया है, हाँ ! समझ में आया ? द्रव्य उसमें रहे हैं, उसे आकाश निमित्त है। समझ में आया ? इसमें है या नहीं ? देखो न इसमें ? यह तो पहली-पहली बार पढी जाती है तो इसे अभी ख्याल में लेना चाहिए न ! यह तो बहुत सादी चीज है। कितनी हजार छप गयी है न यह ? चौदह हजार तो हिन्दी में (छपी), मराठी में सत्र हजार, अपनी गुजराती ? गुजराती एक हजार ही ? लड़कों को सबको ध्यान रखना पड़ेगा या नहीं ? कोई सिखाता है या नहीं ? तो मास्टर-वास्टर है नहीं। (एक) मास्टर थे, वे बेचारे चले गये। कोई सिखाते नहीं, सब

भटकते हैं। यहाँ पाँच घण्टा, आधा घण्टा, एक घण्टा पढ़ानेवाला न हो तो भटकते ही है न, दूसरा क्या ? थोड़ा समय हो तो यह भटकने का काम करते हैं। समझ में आया ? क्या कहा ?

यह तो उनकी रचित रचना में संक्षिप्त में कैसी शैली भर दी है ! यह भी ऐसी सादी हिन्दी में श्लोक ! हिन्दी में भी बहुत बात रख दी है। कहते हैं, आकाश नामक पदार्थ है, जिसमें छह द्रव्यों का वास है, वास। वास - जैसे घर में वास होता है न ? ऐसे (ही) आकाश में छह द्रव्यों का वास है। समझ में आया ? 'वह आकाशद्रव्य जानना।' उसे जानना। आकाश लोकालोक व्यापक अरूपी है। उसमें यह (द्रव्य) रहे हुए हैं - ऐसा जानना। समझ में आया ?

अब काल। ' (वर्तना)... वर्तना नियत। ' यह काल के लिये दिया। वर्तना नियत... वर्तना हे जिसे निश्चय - ऐसा कालद्रव्य है। वर्तना उसका गुण है - ऐसा कालद्रव्य है। इसलिए फिर उसमें से (ऐसा कहा कि) जो वर्ते, उसको निमित्त कहा जाता है। समझ में आया ? वर्तना, वह अपना गुण है, उस प्रकार का। स्वयं परिणमता है न ? और जो वर्तता है अर्थात् परिणमता है, उसको निमित्त है। निमित्त नहीं - ऐसा नहीं है और निमित्त न हो तो न परिणम - ऐसा यहाँ नहीं है। परिणमता है, वह भी है और सामने निमित्त भी है।

प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपनी गुण-पर्यायरूप स्वकाल में परिणमता है, तब एक वर्तना-वर्तना का निमित्तरूप और स्वयं वर्तना गुणवाला एक कालद्रव्य है। यहाँ सभी द्रव्यों का एक ही गुण से वर्णन किया है। धर्म-गति, (अधर्म) तिष्ठत - (स्थिर होना) वर्तमान बसना। समझ में आया ? और अरूपी तो साथ ले लिया है, वरना प्रत्येक द्रव्य में है अनन्त गुण। स्वयं पलटे, वर्तना वर्ते और दूसरे को पलटने में निमित्त हो, वह नियत है। 'नश्चिय कालद्रव्य है...' वह निश्चय कालद्रव्य है। कोई कालद्रव्य को उपचारिक मानता है - ऐसा नहीं है, यह सिद्ध करना है।

व्यवहार समकित में भी निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव, काल सहित (छह) द्रव्यों को मानता है। समझ में आया ? एक सम्प्रदाय कालद्रव्य को नहीं मानता (-ऐसा कहते हैं)। वह मिथ्या बाद है। समझ में आया ? वर्तनेवाला स्वभाव पुरुषार्थ जीव को हो या उल्टा पुरुषार्थ हो,

उसमें ँक दूसरी चीज़ निमित्त है। स्वकाल का परिणमन है तो परकाल वस्तु ँक ँसा द्रव्य है, वह उसे निमित्त पर्याय होती है। समझ में आया ? यह तो गृहस्थाश्रम में रहे हुए 'दौलतराम' पण्डित ने बनायी है। लो ! इसे भी कितने ही मिथ्या सिद्ध करते होंगे। अभी तो क्या हो ? बेचारे लोगों को अभ्यास नहीं होता, सेठियों को फुरसत नहीं मिलती, फुरसतवालों को अभ्यास नहीं होता, वे फुरसत में नहीं मिलते। इसलिए फिर सिर पर कोई धनीघोर (मालिक) नहीं है; इसलिए जो जैसा चलावे वैसा चला। यहाँ तो कहते हैं भाई ! भगवान का मार्ग है, वह प्रत्येक पदार्थ को स्वयं सिद्ध स्वतन्त्र सिद्ध करके, निमित्त क्या है – उसका ज्ञान कराता है। समझ में आया ? फिर ईश्वर निमित्त है, कर्ता; उसमें इन लोगों ने विवाद किसलिए उठाया ? ँसा है ही नहीं। वस्तु ही स्वयं से – द्रव्य-गुण-पर्याय अकृत्रिम चीज स्वयं से है। मात्र दूसरी चीज.. है। स्वयं स्वतः परिणमति है, उसमें निमित्त ँक चीज है, बस ! उसके कारण है, ईश्वर के कारण जगत है – ँसा नहीं। इसी तरह उस निमित्त के कारण ये द्रव्य है – ँसा नहीं। समझ में आया ?

वस्तु है, वह प्रत्येक अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से है। वह उपादान (है) उसमें (साथ में) ँक दूसरी चीज है। ँसा वस्तु का स्वरूप ही है। उसमें किसी ने किया है और दूसरे प्रकार से कहा है, (अर्थात्) नहीं है, उस प्रकार से कहा है – ँसा नहीं है।

मुमुक्षु :- पहले कहा या पहले जाना है ?

उत्तर :- जाना, तब कहा है। जाननेवाले और कहनेवाले तो अनादि से चले आ रहे हैं। कहा और जाना नहीं, जाना और कहा। जाने बिना कहे कहाँ से ? कहा वैसा उन्होंने जाना है। अर्थात् क्या कहते हैं ? अनेकान्त कहा है, वैसा उन्होंने ने जाना है। नियत उसे मिथ्यादृष्टि कहा है – ँसा वे कहते हैं। अरे.. ! भगवान ! आत्मा की भी बहिलाही है न ! भगवान ने जैसी द्रव्य की व्यवस्था है, वैसी कही है; कही है, वैसी जानी है। ँसा इन्होंने कहा, भाई ! परन्तु जैसी है, वैसी जानी है; जानी है वैसी कही है। (तो कहते हैं) ँसा नहीं, इसमें आपत्ति आती है। जानी है। तीनकाल का जिस प्रकार से है, उसे भगवान जानते हैं। यह तो द्रव्य में नियत-अनियत पर्याय हो – ँसा भगवान ने कहा है, ँसा भगवान ने फिर जाना है – ँसा आया है। आया है न ?

आहा..हा..! समझ में आया ? इस प्रकार समझे तो सब विवाद समाप्त हो जाए – ऐसा लिखा है, नहीं ? अन्त में ऐसा लिखा है न ? अरे..! भगवान ! बापू ! परन्तु किस प्रकार स्वीकारे ? ख्याल में, भाव में यह बात ऐसी है – ऐसा भासन होना चाहिए या नहीं ? या ऐसे का ऐसा मान लेना ? परन्तु ऐसे बात जमेगी कैसे ?

मुमुक्षु :- दूसरे कहते हैं, उस प्रकार माने तो विवाद बन्द हो।

उत्तर :- नहीं, यह नहीं। दूसरों का मिथ्या है, कारण कि भगवान ने नियत को मिथ्यादृष्टि कहा है। नियत को मिथ्यादृष्टि कहा और तुम नियत का... परन्तु कहा नहीं; तुम्हें पता नहीं। वह तो स्वभाव, पुरुषार्थ नहीं माननेवाले, अकेले नियत माननेवालों को (मिथ्यादृष्टि कहा है)। वहाँ विधि और कारण कहा है, ऐसा वहाँ कहते हैं, परन्तु स्वभाव, पुरुषार्थ, सर्वज्ञ एक समय में तीन काल का ज्ञान – यह नियतवाला कहाँ मानता है ? समझ में आया ? एक समय में, एक समय में केवलज्ञान एक समय में लोकालोक निमित्त। वर्तमान निमित्त एक समय में, भविष्य में पर्याय होगी – ऐसा नहीं। इसका अर्थ यह हो गया कि द्रव्य में जिस समय वह पर्याय होनी है – ऐसा क्रम ही उसमें – उसकी शक्ति में पड़ा ही है। द्रव्य भी क्रमबद्ध पर्याय हो – ऐसा द्रव्य है, गुण भी क्रमबद्ध (पर्याय) हो – ऐसे है; पर्याय तो क्रमसर होती है। एक समय में यहाँ जैसा जाना, वैसा एक समय में यह सब उसे ख्याल में आ जाता है। समझ में आया ? भविष्य में होगी या हुई – ऐसा नहीं। इसमें कुछ समझ में आया ? क्या कहा, समझ में आया ?

एक समय में केवलज्ञान पर्याय है, उसे लोकालोक के वर्तमान समस्त द्रव्य निमित्त होते हैं। वर्तमान निमित्त होते हैं। वर्तमान निमित्त किस प्रकार होंगे ? वर्तमान में भूत- भविष्य की पर्याय नहीं है, परन्तु भूत- भविष्य की पर्याय क्रमसर जो द्रव्य में होनेवाली है और हो गयी है, उसकी योग्यता द्रव्य में वर्तमान में पड़ी है। भाई ! समझ में आया ? हो गयी और होगी, व्यवस्थित जो हुई और होगी – उसकी योग्यता द्रव्य में पड़ी है, गुण में पड़ी है; प्रकट यह है। इस प्रकार उसके निमित्त पूरे केवलज्ञान में (होता है)। एक समय में (वहाँ) और यहाँ एक पूरा (केवलज्ञान)। एक समय में पूरा निमित्त है। भविष्य में होगा न – यह प्रश्न ही नहीं है।

द्रव्य की शक्ति भी ऐसी है, गुण की शक्ति भी ऐसी है और पर्याय की शक्ति की व्यक्तता भी इस प्रकार है। इस तरह एक समय में भगवान के ज्ञान में आ जाता है। समझ में आया ? व्यवहार रूप से जाना है। एक समय का ज्ञान है – ऐसा ज्ञान ने स्वयं जाना है। इस प्रकार यह एक जाना, इसलिए निमित्तरूप से इसमें निमित्त में उसकी स्थिति ही ऐसी है, दूसरी स्थिति हो नहीं सकती; परन्तु अब क्या हो ? यह कोई जबरदस्ती से (मन में) बिठा दे – ऐसा है ? न्याय से ज्ञान की सम्यक् युक्ति द्वारा यह यदि ख्याल में आवे तो आ सकात है, वरना तो इस बात की कोई समझ नहीं मिलती। समझ में आया ?

एक कालद्रव्य निश्चय स्वयं वर्तता है। एक दूसरा वर्तता है, वर्तता है, वर्तता है समय-समय, उसे यह एक निमित्त है। वर्तता है, उसे निमित्त है। 'और (निशि-दिन) व्यवहार काल...' है। रात्रि, दिन, पहर – यह ऐसे बहुत समयों को इकट्ठा किया न ? यह व्यवहार काल है। यह व्यवहारकाल ' (परिमानो) ' अर्थात् 'जानो। इस प्रकार अजीवतत्त्व का वर्णन हुआ।' समझ में आया ?

'अब, आस्रवतत्त्व सुनो। मन-वचन और काया के अवलम्बन से आत्मा के प्रदेश चंचल होनेरूप (त्रियोग) तीन प्रकार का योग...' यह अन्तिम को पहले लिया। यहाँ तो पद्य है न ? पद्य की शैली रचना में होनी चाहिए न ? वरना योग है, वह अन्तिम है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग – ये पाँच आस्रव हैं। उनमें योग को पहले (लिया है)। शास्त्र में भी 'योगास्रवाः' – ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में कहा है न ? भाई ! इसलिए यहाँ पहले वह बात ही आयी है। समझ में आया ? 'योगास्रवाः' – फिर उसके अन्तरभेदों में सब डालते हैं। समझ में आया ?

'मन-वचन और काया के अवलम्बन से...' यह जड़ का अवलम्बन, हाँ ! निमित्त। जो अन्दर आत्मा के प्रदेश कंपते हैं, उसे योग कहते हैं। यह योग तीन प्रकार का योग है, क्योंकि मन को जड़ का अवलम्बन निमित्त होता है, उस समय के कम्पन को मनयोग कहते हैं। वाणी के परमाणुओं का अवलम्बन निमित्त हो, उस समय के आत्मप्रदेशों के (कम्पन को) वचनयोग कहते हैं। देह का अवलम्बन निमित्त हो, प्रदेश का कम्पन तो कम्पनरूप ही है,

परन्तु जिस प्रकार का निमित्त है, उस अपेक्षा से कम्पन को उस प्रकार का योग कहा जाता है। यह योग, आस्रव है। समझे न ? यह नये (कर्म) परमाणु आने में निमित्त है। इस आस्रव को भलीभाँति जानना चाहिए।

‘मिथ्यात्व...’ यह बड़ा आस्रव है। विपरीत मान्यता, विपरीत अभिनिवेश, विपरीत अभिप्राय। सुख जड़ में, सुख पुण्य में, सुख पाप में (हैं)। यह विपरीत मिथ्यात्व, विपरीत अभिप्राय है। प्रतिकूलता में दुःख है... समझ में आया ? यह मिथ्यात्व अभिप्राय है, यह आस्रव है, नये बन्धन का कारण है। इसे भलीभाँति पहिचानना चाहिए।

‘(अविरत)...’ अत्यागभाव। तीन कषाय आदि होते हैं। अन्दर राग की तीव्र आसक्ति है, वह भी आस्रव है। उससे नये आवरण आते हैं। इसमें कर्म की बात नहीं ली है, हाँ ! यह अपने परिणाम, उपयोग उस प्रकार का है, उसे आस्रव कहते हैं। आहा..हा.. ! यह तो फिर निमित्त हो, उसका (ज्ञान करायें) यह तो जड़ की पर्याय का निमित्त है। समझ में आया ? और ‘कषाय...’ क्रोध, मान, माया, लोभ – यह कषाय है, वह आस्रव है। जीव की उपयोग प्रवृत्ति है, जीव के उपयोग की प्रवृत्ति है अर्थात् आत्मा के प्रदेश की इस प्रकार की प्रवृत्ति के ये सब परिणाम हैं। ‘और प्रमाद...’ प्रमाद होना। कषाय जाने के बाद भी थोड़ा प्रमाद रहता है। वह भी आस्रव है।

यह ‘आस्रवसहित आत्मा की प्रवृत्ति...’ देखो ! आत्मा की प्रवृत्ति अर्थात् अन्दर उपयोग प्रवृत्ति में जुड़ा, ‘उसे आस्रवतत्त्व कहा जाता है।’ इस प्रकार आस्रवतत्त्व को जानना चाहिए। कर्म के कारण आस्रव (होता है) – ऐसा नहीं जानना चाहिए। स्वभाव, वह आस्रव है – ऐसा नहीं है। इस प्रकार से आत्मा के निमित्त के लक्ष्य में जुड़ने से जो मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग के परिणाम होते हैं, उसे आस्रव कहते हैं। जैसे छलनी द्वारा पानी आता है न ? ऐसे ही इस आस्रव द्वारा नये कर्म आते हैं। इसलिए इस आस्रवतत्त्व को, जैसा है वैसा पहिचानकर, श्रद्धान करना चाहिए। इस व्यवहार समकित के विषय में यह आता है।

(विशेष कहेंगे)।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



वीर संवत २४९२, माघ शुक्ल १४, शुक्रवार

दि.४-२-१९६६, गाथा ८ से १०, प्रवचन नं.-१७

‘छहढाला’ (तसरी ढाल की) आठवीं गाथा का भावार्थ। इस सम्यग्दर्शन – व्यवहार सम्यग्दर्शन का विषय छह द्रव्य हैं, उसकी व्याख्या चलती है। निश्चयसम्यग्दर्शन हो, वहाँ उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन ऐसा होता है – उसका वर्णन करते हैं। समझ में आया ? उसमें अर्थ किया और थोड़ा भावार्थ (लेते हैं)। पहली आकाशद्रव्य की व्याख्या आयी न ? ‘सकलद्रव्य को वास जासमें, सो आकाश पिछानो;...’ जो आकाश नामक सर्वव्यापक पदार्थ है, उसमें सब द्रव्य रहे हुए हैं। उसे सम्यक्-व्यवहार सम्यक् में भलीभाँति जानकर श्रद्धान करना चाहिए।

‘भावार्थ :- जिसमें छह द्रव्यों का निवास है, उस स्थान को आकाश कहते हैं।’ नीचे दृष्टान्त दिया है – जैसे पानी में भस्म डाले तो वह समा जाती है। फिर उसमें चीनी डाले वह (भी) समा जाती है; सुई डाले वह (भी) समा जाती है। यह दृष्टान्त हिन्दी में (दिया है) यह सब दृष्टान्त हिन्दी में दिये हैं। यह नीचे उसका कथन है। उसे आकाश मानना चाहिए।

‘जो अपनेआप बदलता है तथा अपनेआप बदलते हुए अन्य द्रव्यों को बदलने में निमित्त है, उसे निश्चय काल कहते हैं।’ कालद्रव्य है, उसके असंख्य प्रदेश हैं (असंख्य कालाणु हैं)। जैसे कुम्हार के चाक को लोहे की कीली होती है; वैसे जगत के प्राणी को – जड़-चैतन्य को परिणमन में कालद्रव्य का निमित्त है। कुम्हार का चाक चलता है न ? उसमें नीचे कीली निकले न ? कीली होती है न कीली ? यह कालद्रव्य दूसरे द्रव्यों को परिणमन में निमित्त है। परिणमते तो वे स्वयं अपनेआप। इस प्रकार भगवान द्वारा देखे हुए छह द्रव्य नहीं मानते। श्वेताम्बर कालद्रव्य नहीं मानते। यहाँ कहते हैं कि व्यवहार समकित में छह द्रव्य इस प्रकार है, उसमें कुछ (लोग) काल द्रव्य को मानना चाहिए; नहीं माननेवाले को व्यवहार

समकित में भी भूल है। समझ में आया ? 'रात-दिन, घड़ी, घण्टा आदि को व्यवहारकाल कहा जाता है। इस प्रकार अजीवतत्त्व का वर्णन पूरा हुआ।'

अब, आस्रवतत्त्व का वर्णन करते हैं। उसके मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग – ऐसे पाँच भेद हैं। आस्रव और बन्ध-दोनों में भेद है। क्या है ? कि, 'जीव के मिथ्यात्व-मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम, वह भाव-आस्रव है और उन मलिन भावों में स्निग्धता, वह भावबन्ध है।' यह जरा भेद डालकर समझाया है। यह आठवीं गाथा (पूरी) हुई। अब नौवीं।

आस्रवत्याग का उपदेश और बन्ध, संवर, निर्जरा का लक्षण

ये ही आतमको दुःख-कारण तातैं इनको तजिये;
जीवप्रदेश बन्धै विधि सों सो, बंधन कबहुँ न सजिये।
शम-दम तैं जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरिये;
तप-बल तैं बिधि-झरन निरजरा, ताहि सदा आचरिये॥९॥

अन्वयार्थ :- (ये ही) यह मिथ्यात्वादि ही (आतमको) आत्मा को (दुःखकारण) दुःख का कारण हैं (तातैं) इसलिये (इनको) इन मिथ्यात्वादि को (तजिये) छोड़ देना चाहिए (जीवप्रदेश) आत्मा के प्रदेशो का (विधि सो) कर्मों से (बन्धै) बँधना वह (बंधन) बन्ध (कहलाता है,) (सो) वह (बन्ध) (कबहुँ) कभी (न सजिये) नहीं करना चाहिए। (शम) कषायों का अभाव (और) (दम तैं) इन्द्रियों तथा मन को जीतने से (कर्म) कर्म (न आवैं) नहीं आये वह (संवर) संवर तत्त्व है; (ताहि) उस संवर को (आदरिये) ग्रहण करना चाहिए। (तपबल तैं) तप की शक्ति से (विधि) कर्मों का (झरन) एकदेश खिर जाना सो (निरजरा) निर्जरा है। (ताहि) उस निर्जरा को (सदा) सदैव (आचरिये) प्राप्त करना चाहिए।

भावार्थ :- (१) यह मिथ्यात्वादि ही आत्मा को दुःख का कारण है, किन्तु पर पदार्थ दुःख का कारण नहीं हैं; इसलिये अपने दोषरूप मिथ्याभावों का अभाव करना चाहिए। स्पर्शों के साथ पुद्गलों का बन्ध, रागादि के साथ जीव का बन्ध और अन्योन्य-अवगाह वह

पुद्गल-जीवात्मक बन्ध कहा है। (प्र.सार गाथा १७७।) रागपरिणाममात्र ऐसा जो भावबन्ध है वह द्रव्यबन्ध का हेतु होने से वही निश्चयबन्ध है जो छोड़ने योग्य है।

(२) मिथ्यात्व और क्रोधादि रूप भाव-उन सबको सामान्य रूप से कषाय कहा जाता है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, देहली पृष्ठ ४०) ऐसे कषाय के अभाव को शम कहते हैं। और दम अर्थात् जो ज्ञेय-ज्ञायक, संकर दोष टालकर, इन्द्रियों को जीतकर, ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक (पृथक्, परिपूर्ण) आत्मा को जानता है उसे - निश्चयनय में स्थित साधु वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं। (समयसार गाथा ३१)।

स्वभाव-परभाव के भेदज्ञान द्वारा द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा उनके विषयों से आत्मा का स्वरूप भिन्न है - ऐसा जानना उसे इन्द्रिय-दमन कहते हैं। परन्तु आहारादि तथा पाँच इन्द्रियों के विषयरूप बाह्य वस्तुओं के त्यागरूप जो मन्दकषाय है उससे वास्तव में इन्द्रिय-दमन नहीं होता, क्योंकि वह तो शुभराग है, पुण्य है, इसलिए बन्ध का कारण है - ऐसा समझना।

(३) शुद्धात्माश्रित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही संवर है। प्रथम निश्चयसम्यग्दर्शन होने पर स्वद्रव्य के आलम्बनानुसार संवर-निर्जरा प्रारम्भ होती है। क्रमशः जितने अंश में राग का अभाव हो, उतने अंश में संवर-निर्जरारूप धर्म होता है। स्वोन्मुखता के बल से शुभाशुभ इच्छा का निरोध सो तप है। उस तप से निर्जरा होती है।

(४) संवर :- पुण्य-पापरूप अशुद्ध भाव (आस्रव) को आत्मा के शुद्धभाव द्वारा रोकना सो भावसंवर है और तदनुसार नवीन कर्मों का आना स्वयं-स्वतः रूक जाये तो द्रव्यसंवर है।

(५) निर्जरा :- अखण्डानन्द निज शुद्धात्मा के लक्ष से अंशतः शुद्धिकी वृद्धि और अशुद्धि की अंशतः हानि करना सो भाव-निर्जरा है; और उस समय खिरने योग्य कर्मों का अंशतः छूट जाना सो द्रव्यनिर्जरा है। (लघु जैन सि.प्र.पृष्ठ ४५-४६ प्रश्न १२१)

(६) जीव-अजीव को उनके स्वरूप सहित जानकर स्व तथा पर को यथावत् मानना, आस्रव को जानकर उसे हेयरूप, बन्ध को जानकर उसे अहितरूप, संवर को पहिचानकर

उसे उपादेयरूप तथा निर्जरा को पहिचानकर उसे हित का कारण मानना चाहिए* (मोक्षमार्ग प्र.अ. ९, पृष्ठ ४६९)

‘आस्रव त्याग का उपदेश और बन्ध, संवर, निर्जरा का लक्षण।’ देखो ! यह तो अभी नौ तत्त्वों को जैसा है, ऐसा मानना तो व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण है। निश्चय में तो आत्मा निर्विकल्प शुद्ध अखण्डानन्द की प्रतीति अनुभव में होना, (वह निश्चयसम्यग्दर्शन है)।

मुमुक्षु :- आत्मा शुद्ध है - ऐसा तो मानता है।

उत्तर :- शुद्ध क्या माने ? धूल में कहाँ से माने ? यह सब व्यवहार, उसे विकल्प में ऐसा होता है। ऐसा व्यवहार न हो, वहाँ निश्चय यथार्थ नहीं होता। निश्चय हो, तब उसे ऐसा व्यवहार होता है - ऐसा सिद्ध करते हैं। आगे बाद करते हैं न ! अभी तो बहुत बात बाकी है।

* आस्रव आदि के दृष्टांत :-

- (१) आस्रव :- जिस प्रकार किसी नौका में छिद्र हो जाने से उसमें पानी आने लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वादि आस्रव के द्वारा आत्मा में कर्म आने लगते हैं।
- (२) बन्ध :- जिस प्रकार छिद्र द्वारा पानी नौका में भर जाता है, उसी प्रकार कर्मपरमाणु आत्मा के प्रदेशों में पहुँचते हैं (एक क्षेत्र में रहते हैं)।
- (३) संवर :- जिस प्रकार छिद्र बन्ध करने से नौका में पानी का आना रुक जाता है, उसी प्रकार शुद्धभावरूप गुप्ति आदि के द्वारा आत्मा में कर्मों का आना रुक जाता है।
- (४) निर्जरा :- जिस प्रकार नौका में आये हुए पानी में से थोड़ा (किसी बरतन में भरकर) बाहर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार निर्जरा द्वारा थोड़े-कर्म आत्मा से अलग हो जाते हैं।
- (५) मोक्ष :- जिस प्रकार नौका में आया हुआ सारा पानी निकाल देने से नौका एकदम पानी रहित हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा में से समस्त कर्म पृथक् हो जाने से आत्मा की परिपूर्ण शुद्ध अवस्था (मोक्ष अवस्था) प्रगट हो जाती है अर्थात् आत्मा मुक्त हो जाता है ॥९॥

समझ में आया ?

आत्मा शुद्ध चिदानन्द ज्ञायकस्वरूप है - ऐसा अन्तर निर्णय अनुभव में सम्यक् प्रतीति होने पर भी, साथ में जब तक वीतराग न हो, तब तक ऐसे सात तत्त्व के वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा, उपादान निमित्त आदि भलीभाँति मानना चाहिए। आगे अभी देव-शास्त्र-गुरु की बात कहेंगे। नौवीं गाथा -

ये ही आत्मको दुःख-कारण तातैं इनको तजिये;
जीवप्रदेश बंधै विधि सों सो, बंधन कबहुँ न सजिये।
शम-दम तैं जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरिये;
तप-बल तैं बिधि-झरन निरजरा, ताहि सदा आचरिये॥९॥

यह आस्रव छोड़ने योग्य है - ऐसा इसे मानना चाहिए। प्रत्येक शब्द में... प्रत्येक में अन्तर डाला है। मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यता, व्यवहार आदि की विपरीत मान्यता 'आत्मा को दुःख का कारण है।' यह सब मिथ्यात्व आदि दुःख के कारण हैं। आस्रव दुःख का ही कारण है। दुःख का कारण संयोग नहीं है। समझ में आया ? प्रतिकूलता, शरीर में रोग, निर्धनता और नरक में संयोग का दुःख... नरक में संयोग है, वह दुःख नहीं है। यह मिथ्यात्वादि दुःख के कारण तो इन्हें भगवान ने कहा है। इसके बदले संयोग को दुःख का कारण माने तो इस आस्रवतत्त्व का इसे पता नहीं है। समझ में आया ?

विपरीत मान्यता और राग-द्वेष के परिणाम, यह दुःख के कारण हैं; स्वभाव आनन्द का कारण है, यह विभाव दुःख का कारण है; संयोग दुःख का कारण नहीं है। नरक का संयोग आया, पशु (गति) में प्रतिकूलता आयी या मनुष्य में बिच्छु काटे, सर्प काटे - यह दुःख का कारण नहीं है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- ... याद नहीं रहता...

उत्तर :- यह क्या कहा ? दो बार कहा न ? दूसरा घोलन हो गया है, इसलिए (यह) याद नहीं रहता - ऐसा कहते हैं। समझ में आया या नहीं ?

मिथ्याश्रद्धा - विपरीत मान्यता कि यह प्रतिकूलता मुझे दुःख का कारण है, यह विपरीत मान्यता और राग-द्वेष, वह दुःख का कारण है। क्या कहा न पहले ? पढ़ा, इसमें है या नहीं ? ऊपर से नहीं, अन्दर से... है ? 'यह मिथ्यात्वादि ही आत्मा को दुःख का कारण है।' यह कारण है। प्रतिकूल संयोग, शरीर में रोग - पैर चले नहीं - यह दुःख का कारण नहीं है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- जीव को ?

उत्तर :- जीव को। यह क्या जड़ को है ? कहो, समझ में आया ? लड़के प्रतिकूल हो जाएँ, लड़के अलग हो जाएँ, बंटवारा हो जाए, इसलिए दुःख का कारण है - ऐसा नहीं है, यह यहाँ तो कहते हैं। विपरीत मान्यता (कि) मुझे ऐसा हुआ, मुझे ऐसा हुआ तथा राग और द्वेष के भाव, दुःख का कारण है। क्यों भाई ! विपरीत मान्यता, (जो शुभभाव है)। वह धर्म है अथवा वह मुझे ठीक है, पाप में मुझे मज़ा आता है - ऐसा मिथ्यात्वभाव दुःख का कारण है। सर्प काटे, बिच्छु काटे, सिर पर छूरे पड़े... सिर पर से समझे न ? बड़ा पचास-सौ मण का क्या कहलाता है ? कैची पड़े... सिर पर कोई घन मारे, वह दुःख का कारण नहीं है। सिर पर कोई घन मारे ऐसे सिर में वह दुःख का कारण नहीं है।

मुमुक्षु :- मारे, यह दुःख का कारण नहीं ?

उत्तर :- नहीं, कौन मारता है ? मारता नहीं इसे छूता भी नहीं। छुरा मारा, यह दुःख का कारण नहीं है। परन्तु मारा कहाँ है ? छुरा तो वहाँ शरीर के पास घूमता है, इसे छूता कहाँ है ? इसे स्पर्शित है मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेषभाव। वह इसे दुःख का कारण है। कहो, समझ में आया ? अग्नि में हाथ डाला, वह अग्नि दुःख का कारण नहीं है। गर्म उबलते हुए पानी और तेल की कड़ाई में मनुष्य को डाला, वह दुःख का कारण नहीं है; दुःख का कारण अन्दर में मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेषभाव खड़ा करता है, वह है। मुझे ऐसा हुआ इसे ऐसा हुआ, यह मुझे हुआ - ऐसी मिथ्या मान्यता और राग-द्वेष का भाव करता है, वह दुःख का कारण है।

मुमुक्षु :- बहुत कठिन...

उत्तर :- परन्तु है या नहीं इसमें ? तुम्हारे हाथ में तो यह (पुस्तक) दी है। समझ में

आया ? क्या कहा ?

‘ये ही आतमको दुःख-कारण-’ ये ही आत्मा को दुःख का कारण है - ऐसा है न ? विपरीत श्रद्धा और राग-द्वेष के परिणाम, हर्ष-शोक के भाव, आस्रव है, वे जीव को दुःख का कारण है। स्वभाव दुःख का कारण नहीं है; संयोग दुःख का कारण नहीं है, परन्तु लड़का अच्छा हुआ हो और फिर समान हिस्सा नहीं दे, सँभाले नहीं तो दुःख होता है या नहीं ? वह दुःख का कारण है या नहीं ? कहो, इसमें समझ में आया ?

मुमुक्षु :- लड़का...

उत्तर :- इसे लड़का ही नहीं है परन्तु व्यर्थ में मान बैठा है, मूढ़। लड़का तो दूसरा कहीं का जीव है, वह उसका जीव है; उसके रजकण कहीं के हैं - उसमें तेरा लड़का कहा आया ?

मुमुक्षु :- परन्तु यह राग...

उत्तर :- यह राग मार डालता है। यहीं कहते हैं। यह राग करता है, और दोष निकालता है किसी और का। क्या (कहा) ? राग करता है, द्वेष करता है और दोष निकालता है किसी और का (अन्य का) है। कहते हैं, मूढ़ है। तुझे आस्रवतत्त्व का पता नहीं है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- भूल जाते हैं। वह उल्टा रस चढ़ गया है। ‘क्षत्रिय का रंग चढ़ा है, उतरता नहीं।’ वह नहीं (मिला) था एक बार ? वह रंग ऐसा चढ़ा सवेरे से शाम तक और पूरी जिन्दगी और अनन्तकाल से (चढ़ा हुआ है)। आहा..हा..! दुःख का कारण कौन हो ? कि जिसमें - आत्मा में आनन्द है, उस आनन्द की उल्टी अवस्था दुःख का कारण होती है। प्रतिकूल अवस्था - जड़ की या पर की प्रतिकूल अवस्था दुःख का कारण कैसे हो ? न्याय समझ में आता है कुछ ? परवस्तु की प्रतिकूलता तो मानी है। प्रतिकूलता क्या ? अपने आनन्द की प्रतिकूलता; आनन्दस्वरूप है, उसकी प्रतिकूलता अर्थात् विपरीतता - ऐसा मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेष, यह दुःख का कारण है। समझ में आया ? नरक के बाह्य संयोग या स्वर्ग के या दरिद्रता के या निर्धनता के, कुँवारेपन के या सन्तानहीनता के या सिर पर पचास मण का भार पड़ा और पैर,

शरीर दब गया... हाय... हाय... अब ? मोटर में... लगता है, लो न ! देखो न ! अभी हुआ न ? कहते हैं, आज रात्रि में ही यहाँ हुआ, एक व्यक्ति मर गया। एक को यहाँ लाये थे। यह दुःख, मोटर फटी और उस पर पेट्रोल पड़ा, इसलिए दुःख का कारण है – ऐसा नहीं है।

परवस्तु – परपदार्थ तो भिन्न है। भिन्न है, वह दुःख का कारण कैसे होगा ? इसमें – इसके अस्तित्व में, इसकी सत्ता में, इसके होनेपने में कुछ हो तो दुःख का कारण हो। क्या कहा ? जो इसमें नहीं है, वे चीज़े इसे दुःख का कारण कैसे हो ? इसमें कुछ समझ में आया ? आत्मा में कर्म नहीं, शरीर नहीं; प्रतिकूल-अनुकूल चीज़े आत्मा में नहीं। जो चीज़े आत्मा में नहीं हैं, वे इसे प्रतिकूल कैसे हो ? आत्मा में आनन्द है, उस आनन्द की उल्टी अवस्था स्वयं अपने अस्तित्व में – सत्ता में करता है। क्या कहा ?

इसके अस्तित्व में होवे तो दुःख का कारण हो, इसके अस्तित्व में हो तो आनन्द का कारण हो। समझ में आया ? इसके नित्य अस्तित्व में तो अतिन्द्रिय आनन्द है, अतः यह अतीन्द्रिय आनन्द का कारण होता है और इसके अस्तित्व में आनन्द को भूलकर विपरीत श्रद्धा करता है (कि) इस पुण्य से मुझे ठीक पड़ता है, पाप से मज़ा आता है; प्रतिकूल ठीक नहीं है, अनुकूल ठीक है – ऐसी मान्यता खड़ी करता है। यह मान्यता इसकी सत्ता में खड़ी करता है। सत्ता अर्थात् इसके क्षेत्रमें, इसके भावमें, इसके अस्तित्वमें यह भाव खड़ा करता है। इसके अस्तित्व में भाव खड़ा करता है, वह दुःख का कारण होता है। पर के अस्तित्व में हो तो इसे दुःख का कारण कहाँ से होगा ? समझ में आया इसमें ? हैं ! समझ में आया या नहीं ?

स्वयं असंख्य प्रदेशी, अनन्त गुण का धाम है औ इसकी वर्तमान अवस्था – यह इसका अस्तित्व द्रव्य-गुण और पर्याय। इसका अस्तित्व इन तीन में है। अब तीन में – अस्तित्व में इसे आनन्द और दुःख का कारण इसके अस्तित्व में होता है। ठीक है ?

मुमुक्षु :- वस्तु को ग्रहण करता है...

उत्तर :- व्यर्थ (ही) मूढ़ होकर मानता है। मानता है, ग्रहण करता है कब ? ग्रहण कब कर सकता है ? मानता है। यही कहते हैं न ? यह मेरा है, यह मैंने ग्रहण किया है, यह मैंने छोड़ा है – ऐसी मान्यता, इसे दुःख का कारण है। वस्तु कब पकड़ सकता है ? पर तो पर है।

आत्मा कहाँ पर को पकड़ता है ? और पर को छोड़ता है ? पर (चीज़) तो पृथक् ही पड़ी है। पर के अस्तित्व में आत्मा का अस्तित्व है ? अपने अस्तित्व में - अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अस्तित्व में दूसरे द्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का अस्तित्व नहीं है। कहो, सिद्धान्त बराबर है ? क्या कहा ?

इस आत्मा के चार बोल - द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव। द्रव्य अर्थात् गुणपर्याय का पिण्ड; क्षेत्र अर्थात् इसकी चौड़ाई; काल अर्थात् वर्तमान अवस्था; भाव अर्थात् इसकी शक्ति। इसके अस्तित्व में इसे आनन्द और दुःख होता है। इसकी अस्ति में न हो, वह दूसरी चीज़ आनन्द और दुःख का कारण नहीं हो सकती। समझ में आया ? अब इसे अस्तित्व में - भाव में - द्रव्य में आनन्द है, तो उसका कारण अन्दर पर्याय से करे तो पर्याय में आनन्द आवे। इसके अस्तित्व में - द्रव्य में और भाव में तो आनन्द पड़ा है। इसके क्षेत्र की चौड़ाई में भी उतना चौड़ा आनन्द पड़ा है। ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द जिसके अस्तित्व में है, उसे कारण बनावे तो पर्याय में आनन्द हो और पर का लक्ष्य करके, 'यह मुझे ठीक नहीं है' - ऐसा कारण बनावे तो यह भाव इसे मिथ्यात्व राग-द्वेष दुःख का कारण है। कहो, भाई ! कहो, समझ में आता है या नहीं ? ऐ..ई ! लड़को ! इसमें समझ में आता है या नहीं ? आहा..हा.. !

जिसकी सत्ता में जो हो, वह उसे दुःखरूप या सुखरूप होता है - यह सिद्धान्त। जिसमें जो नहीं, वह नहीं; इसमें नहीं, वह नहीं, यह नहीं वह दुःखरूप-सुखरूप कैसे होगा ? इसमें वह है नहीं। आहा..हा.. ! आत्मा में कर्म नहीं। आत्मा में इसे (शरीर को) चोंट लगे, हथियार या अग्नि आत्मा में नहीं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- असाता का उदय,

उत्तर :- असाता का उदय जड़ में रहा है, आत्मा में कहाँ आया है ? समझ में आया या नहीं ? पेन्सिल लगी, उसमें असाध्य हो गया, वह कहाँ हो गया ? कौन हो गया ? वह तो पर्याय में हो गयी थी। अपने अस्तित्व में खाली हुआ था। पर के कारण हुआ था ? पेन्सिल के कारण हुआ था ? क्या कहलाती है वह ? पेन्सिल। कहो, समझ में आया ? कोई भी वस्तु, यथार्थ क्या है - उसका निर्णय करना चाहिए। ऐसा का ऐसा गड़बड़-वाला मानना - ऐसा

नहीं होना चाहिए। उसका निर्णय (यथार्थ चाहिए)। जो चीज़ आत्मा है, उस आत्मा में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चार है। द्रव्य अर्थात् तो शुद्ध पूरा शक्ति का पिण्ड; गुण अर्थात् शक्ति; क्षेत्र अर्थात् चौड़ाई - अवगाहन है, काल अर्थात् उसकी अवस्था। अब इन चार में अवस्था में हो, उसे सुख-दुःख होता है। नित्य-आनन्द है, वह गुण में है और उसका आश्रय करे तो पर्याय में आनन्द होता है। उस पर्याय में, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में तो कुछ है नहीं; पर्याय में पर की प्रतिकूलता देखकर मुझे ऐसा हुआ - ऐसी मिथ्या श्रद्धा, राग-द्वेष भाव इसकी अवस्था में हो, वह दुःखरूप और दुःख का कारण है। कहो, भाई ! निमित्त उड़ गया इसमें। भाई ! अरे... ! भगवान ! वह तो धर्मास्तिकायवत् निमित्त है, सुन न ! पूज्यपादस्वामी का 'धर्मास्तिकायवत्' - एक ही शब्द महासिद्धान्त है। सबकी हड्डियाँ एक शब्द में है। तेरी पर्याय से तुझे सुख-दुःख होता है या दूसरी चीज़, दूसरे की पर्याय (से) तुझे सुख-दुःख (का कारण) होती है ? समझ में आया ? आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- यह बात सुनी वहाँ तो..

उत्तर :- फिर बाहर फिर क्या हो गया वापस ? भूल जाने का होगा ? नींद में कोई कहे कि जमु... तो कहता है - हं... ! ऐसा हो जाता है। तीन काल में देखा नहीं। लो ! नाम दिया, इस शरीर का नाम दिया। (नाम) किसे कहना ? इस अंगुली को ? इसे ? किसे कहना इसमें ? पूरे को कहना परन्तु पूरा शरीर है। पूरा कहो तो शरीर है, यह कहो तो कान है, यह कहो नाक है, यह कहो तो आँख है, यह कहो तो चमड़ी है। इसमें किसे कहना - जमुभाई ! कल्पित खड़ा किया, (उसे) भी हूँकार में हकार आ जाता है। यह (आत्मा) तो विद्यमान चीज़ है। समझ में आया ? आहा..हा.. !

यह सर्वज्ञ भगवान कहते हैं, वे यह तत्त्व है। इन तत्त्वों को इस प्रकार न माने तो उसके व्यवहार सम्यग्दर्शन में भूल है - ऐसा कहते हैं। आहा..हा.. ! समझ में आया ? आस्रव अर्थात् मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेषभाव-शुभाशुभभाव, वह दुःख का कारण है - ऐसा न मानकर... इसलिए तो शब्द लिया। 'ये ही-' ऐसा शब्द लिया है। है ? 'ये ही आत्मको दुःख कारण -' ऐसा शब्द लिया है। अर्थात् निश्चय से यही दुःख का कारण है - प्रतिकूल-अनुकूल संयोग

परसत्तामें रहे हैं, वे दुःखके कारण नहीं है – ऐसा सम्यग्दृष्टि व्यवहार समकित में भी ऐसा मानता है। निश्चय समकित में तो आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति, अनुभव और श्रद्धा है। समझ में आया ? आहा..हा..! बहुत विवाद परंतु... समझ में आया ?

मिथ्यात्वादि दुःख का कारण है, अर्थात् वे दुःखरूप है, उसे दुःख का कारण कहा है। दुःखरूप ही वह है; फिर दुःख दूसरा और दुःख का कारण दूसरा ऐसा है नहीं। यह कारण और रूप – कारण और कार्य स्वयं एक ही है – ऐसा कहते हैं। क्या कहा ? ‘**ये ही आतमको दुःख का कारण -**’ तो दुःखरूप फिर दूसरी चीज़ होगी और दुःख का कारण दूसरी (चीज) होगी ऐसा है नहीं। आहा..हा..! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड कुण्ड है। उसमें विपरीत श्रद्धा-विपरीत मान्यता और राग-द्वेष, यह स्वयं ही दुःखरूप कहो या दुःख का कारण कहो। इसलिए यहाँ कारण रखा है। इसलिए दूसरी कोई चीज़ दुःखरूप है – ऐसा तो आता नहीं। दुःखरूप यह है और दुःख का कारण दूसरा कहलाये, (-ऐसा नहीं है)। भाई ! यह अवस्था दुःखरूप और दुःख का कारण दूसरा ? तभी यहाँ रखा है कि यही दुःख का कारण है – ऐसा शब्द रखा है। क्या कहा ?

कोई ऐसा कहे कि आस्रव दुःखरूप है। तब तो फिर उसे ऐसा लगता है कि कारण (दुःखकारण) फिर दूसरा होगा। यहाँ तो कहते हैं – ‘**ये ही आतमको दुःख का कारण -**’ उनके शब्दों में तो बहुत सूक्ष्मता भरी है, हाँ ! पण्डित है न ! पूर्व के शास्त्रानुसार बात को रखते हैं। समझ में आया ? जमैया लगा, वह दुःख का कारण नहीं है; उसमें द्वेष हुआ, वह दुःख का कारण और दुःखरूप है। समझ में आया ? स्त्री-पुत्र प्रतिकूल बोले (कि) बैठ जाओ अब, अबतक बहुत मूर्खता की है, कब तक करनी है ? (ऐसे) स्त्री-पुत्र कहे, (तो) वे शब्द दुःख का कारण नहीं है; वैसे ही उनका आत्मा और उनका शरीर दुःख का कारण नहीं है। उस समय ‘तिष्ठित हुआ’ यह ऐसा करता है, वह ऐसा करता है – वह ऐसा करता है – वह तो परवस्तु है, उसमें तुझे क्या है ? ऐसी मिथ्या मान्यता और राग-द्वेष का भाव, वह दुःखरूप है। कहो, भाई ? यह तो समझ में आता है या नहीं ?

यह तो दो और दो = चार जैसी बात है, परन्तु लोगों को कुछ विचार ही नहीं होता, मंथन

नहीं होता, मनन नहीं होता। ऐसे के ऐसे अन्धेरे-अन्धेरे में गाड़ी हाँकते जाते हैं। खड्डे में पड़ती है या कहाँ पड़ती है – इसका उन्हें कुछ पता नहीं मिलता। आहा..हा..! कहो, इसमें समझ में आया ? कहो, भाई ! यह अच्छा लड़का हुआ, कमाया और इसकी पढ़ाई में पचास हजार खर्च किये, अलग हुआ एकदम... एक पाई नहीं देता, लो ! वह ऊपर से बोले कि क्या है ? तुमने हमें जन्म दिया है ? तुम्हारी रमण की वासना में हमारा जन्म हो गया। क्या है ? कहते हैं, यह दुःख का कारण नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया ? कारण ? कारण समझ में आया ?

तूने मिथ्याभाव और राग-द्वेष उत्पन्न किये हैं, (वे ही दुःख के कारण हैं)। यह चीज़ (पर चीज़) कोई दुःख का कारण नहीं है। ऐसे समय में (दुःख) नहीं होता ? लड़के ऐसा बोले ? लड़का बोले, वह तो जड़ की पर्याय है। उसका आत्मा है, वह राग करता है, दूसरा करे क्या ? द्वेष करता है। वह तो उसमें रहा। समझ में आया ? तुमने हमें उत्पन्न नहीं किया। हम तो तुम्हारी वासना की वृत्ति में हमारा आत्मा आ गया और हम हमारे कारण से हो गये, तुम्हारे कारण से नहीं। हाय... हाय... ! मार डाला यह तो ! भाई ! ऐसा बोलनेवाला है, हाँ ! व्यर्थ का दृष्टान्त दिया है – ऐसा नहीं है। (ऐसा) बनता है और यह बना हुआ है। यह घर की बात नहीं है। जो कुछ कहा जाता है, वह बनी हुई, सुनी हुई सही कही जाती है। भाई ! तुम तो व्यापार और धन्धे में पूरी जिन्दगी फँस गये, इसलिए तुम्हें पता भी नहीं होगा कि जगत में क्या होता है ?

यह तो हमने ठीक से सुना है। एक लड़के ने उसके पिता से कहा। हाय... हाय.. ! क्या शुरू हो गए हो ? एक पाई नहीं देंगे। (तुमने) कब दी है ? हमें उत्पन्न कब किया है तुमने ? तुम्हारे लिये किया है। तुम अभी तुम्हारी ममता से कहते हो। भाई ! तुम्हें पता भी नहीं होगा। यह संयोग दुःख के कारण नहीं हैं। यह तो ऊँचे से ऊँचा अन्तिम दुःख का दृष्टान्त दिया; यह दुःख का कारण नहीं है। मूढ़ व्यर्थ में मानता है। ऐ... मुझे ऐसा कहा... परन्तु तू कब उसका पिता था ? और वह कब तेरा पुत्र था ? व्यर्थ में तूने माना और फिर (कहता है कि) ऐसा होता है ? यह तो तूने राग के कारण दुःख माना। ठीक होगा ? भाई ! क्या होगा यह ?

‘इसलिए इन मिथ्यात्वादि भावों को छोड़ देना चाहिए।’ देखो ! इन्हें छोड़ना है। प्रतिकूलता आवे और वे बोलते बन्द होवे, ‘छोड़ दे’ बोलना- ऐसा नहीं। क्या कहा ? तुझे छोड़ देना चाहिए, मिथ्या श्रद्धा और राग-द्वेष के भाव तुझे दुःखरूप है, तूने किये हैं, तुझसे हुए हैं, तुझमें हुए हैं; इसलिए तुझे उन्हें छोड़ देना चाहिए। दूसरा छोड़े या बोलते बन्द हो तो तुझे हर्ष (सुख) आवे... सुन न ! बोलते बन्द हो, वह तो उसके कारण है, परन्तु तुझे क्या है ? समझ में आया या नहीं ? ‘इन मिथ्यात्वादि को छोड़ देना चाहिए।’ लडके अच्छे हों, उन्हें सूझे, हाँ ! बापू... बापू... ! प्रतिकूलता न होवे और ऐसा कहे, वह भी दुःख का कारण नहीं। बापूजी... बापूजी... ! यह भी सिर पर हाथ फेरते। ऐसे निकलते और हमने देखते न ! यहाँ निकलते न ? सिर पर रखे। यहाँ जाते हों, तब देखते। हमने सब नजरो से देखा है, हाँ ! लडके बड़े हुए तो समान मानना चाहिए न ! हम पिता है.. ऐसे। तुम मित्र हो गये अब बड़े हुए। अब तुम्हें स्वतन्त्रता की छूट है ऐसे। यहाँ एक बार देखा था। वह सुख का कारण नहीं है। संसारसुख का, हाँ ! वह संसारसुख का कारण नहीं है। कल्पना की कि यह मुझे ठीक है। कल्पना तो राग है। उसे सुख का कारण माना है, वह दुःख है। प्रतिकूलता होवे... आहा..हा.. !

बड़ा राजा हो, रानियां हों, राजपूतानी भी बड़े घर से आयी हो न ? वह भी पाँच-दस लाख का जागीरदार हों, यहाँ पचास लाख का हो। धीरे से कहे, हम राजपूतानी हैं, पता है न ? दरबार ! काली नागिन हो वह। समझ में आया ? भाई ! काली नागिन, हाँ ! ऐसा करके (कहे)। ध्यान रखना, दरबार ! हम भी राजपूतानी हैं, हाँ ! उसमें तो कितना भरा हो ! वहाँ उसे ऐसा (होवे कि) हाय... हाय... ! यह ? परन्तु वह तुझे दुःख का कारण कहाँ है ? तूने माना था कि यह मेरी प्रिया-अर्धांगिनी थी। (तेरी) मान्यता थी। उस मान्यता में तुझे चोट लगी। हैं ! यह संसार का सब आलेख ! संसार ऐसा है।

‘इन मिथ्यात्वादि को छोड़ देना चाहिए।’ है न ऐसा ? छोड़ना इन्हें। तूने विकारीभाव किये हैं। मिथ्या श्रद्धा, राग-द्वेष यह तुझे दुःख का कारण है; इसलिए छोड़ देना चाहिए। उसे छोड़ना चाहिए। वह कैसे छूटे ? यह प्रश्न अभी नहीं है। यहाँ तो अभी साधारण तत्त्व की व्याख्या चलती है न !

‘आत्मा के प्रदेशों का (विधिसों)...’ विधि है न ? विधि अर्थात् कर्म। ‘कर्मोंसे बंधना, वह बन्ध (कहलाता है)।’ द्रव्यबन्ध की व्याख्या ली है। समझ में आया ? द्रव्यबन्ध की व्याख्या ली है। बहुत जगह बन्ध में द्रव्यबन्ध की ही व्याख्या आती है। आत्मा सर्वत्र आता है। आत्मा में जो रजकण का बन्ध होता है, कर्म का बन्ध (होता है), वह आस्रव से बन्ध होता है। यह बन्ध है, वह कर्म के रजकण एक प्रदेश में होते हैं। ‘वह बन्ध कहलाता है।’

‘यह बन्ध कभी भी नहीं करना चाहिए।’ अर्थात् बन्ध में निमित्तपना नहीं करना चाहिए। इसके बदले बन्ध नहीं करना चाहिए – ऐसा कहा गया है, क्योंकि बन्ध का कारण आस्रव है; इसलिए बन्ध नहीं करना चाहिए, इसका अर्थ कि आस्रव नहीं करना चाहिए, तो बन्ध नहीं होगा। ‘वह (बन्ध) (कबहुं)...’ शब्द है न ? ‘कबहुं न सजिये-’ अबन्धस्वरूपी भगवान आत्मा... ! आत्मा तो अबन्धस्वभावी चैतन्यमूर्ति है। उसके भान द्वारा ऐसे बन्ध को किसी समय भी ‘सज’ न करना, अर्थात् बाँधना नहीं – नहीं करना चाहिए। यह बन्ध की व्याख्या हुई। इन नौ की व्याख्या ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में आती है न ? अमुक यह है – बन्ध अहित है, निर्जरा हितकारण है, मोक्ष है, वह परमहित है। सब आता है न ? उसी शैली से यहाँ वर्णन किया है।

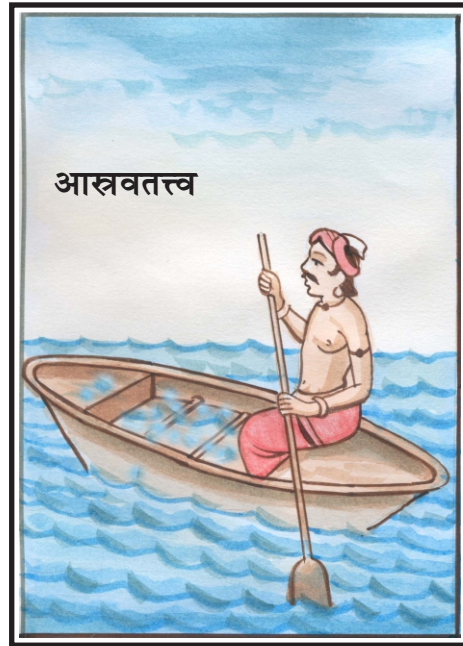
अब संवर की व्याख्या। ‘कषायों का अभाव...’ कषाय में मिथ्यात्वादि सब आ गया। इन्द्रियों का और मन का जीतना। इन्द्रियों और मन की ओर के झुकाव का वापस मोड़ना और कषायों का अभाव। ‘... जीतने से कर्म नहीं आवे...’ इससे आवरण नहीं आते। ‘वह संवरतत्त्व है...’ कर्म नहीं आवे, वह संवरतत्त्व है – ऐसे द्रव्यसंवर की व्याख्या की है। समझ में आया ? पहले में द्रव्यबन्ध की व्याख्या की थी; उसमें (आस्रव में) भाव आस्रव से बात की थी, भाव आस्रव से। यहाँ भी द्रव्यकर्म अर्थात् द्रव्यसंवर (से बात की है)।

भावसंवर होने पर आत्मा में... यहाँ ऐसा कहा न ? कषायों का अभाव होने पर, अविकारी स्वभाव के आश्रय से कषाय का अभाव होने पर इन्द्रियों की ओर का झुकाव घटने से अतीन्द्रिय की ओर आने पर उसे भाव नहीं होते, इसलिए कर्म नहीं आते। उसमें कर्म नहीं आते, इसलिए यहाँ भावसंवर हुआ। कर्म नहीं आये, वह द्रव्यसंवरतत्त्व है। कहो, समझ में आया ?

‘उस संवर को ग्रहण करना...’ उस संवर को ग्रहण करना। आस्रव को छोड़ना कहा था न ? आस्रव छोड़ना कहो या संवर ग्रहण करना कहो – दोनों एक बात है। शुद्धस्वरूप का आश्रय करके कषाय और इन्द्रियों का दमन करना अर्थात् दमन होता है, उसे संवर कहते हैं और उससे विरुद्ध को आस्रव (कहते हैं)। आस्रव को छोड़ना और संवर को ग्रहण करना, सब एक ही हुआ। आस्रव का व्यय करना और संवर का उत्पाद करना, संवर उत्पन्न करना। संवर आदर करने योग्य है; आस्रव आदर करने योग्य नहीं है – ऐसा कहा है। देखा ? समझ में आया ? फिर शुभ या अशुभ; शुभ हो या अशुभ हो। पुण्य परिणाम – आस्रव छोड़ने योग्य है – ऐसा कहा है। ‘संवर ग्रहण करना चाहिए।’ यह संवर की व्याख्या हुई।

अब, ‘तप की शक्ति से कर्मों का (झरना)...’ कर्मों का झरन (कहकर) यहाँ पर से निर्जरा की बात ली है। समझ में आया ? तप की शक्ति अर्थात् आत्मा की शुद्धता के प्रतपन द्वारा... भगवान आत्मा परम शुद्धस्वभाव की एकाग्रता द्वारा प्रतपन होना, उग्रता, आत्मा की अवस्था में शोभा होना, उसके द्वारा... यह भावतप हो गया, भावनिर्जरा हो गई; कर्मों का झरना, वह द्रव्यनिर्जरा हुई। ‘एकदेश खिर जाना...’ एकदेश खिर जाना। समझे न ? निर्जरा है न ?

इसमें दृष्टान्त दिया है। है न इसमें ? सब दृष्टान्त दिये हैं, हाँ ! अजीव में कहा है न ? उसमें वर्ण में पाँच-पाँच डाले हैं, देखो ! आकाश है न ? लोकाकाश। एक-एक को स्पर्शना; आँख रखी, उसमें पाँच वर्ण रखे हैं। समझे न ? यहाँ कषाय का सब रखा है। मीठे में आम रखा है; चटपटे में मिर्च रखी है। यहाँ सब हूँ, एक-एक जो है न ? ये सब रखे हैं, हाँ ! कड़वे में कोई कड़वी चीज़ रखी है; खट्टे में नीबू आदि रखे हैं; गर्म में कोई उष्ण रखा है; ठण्डे में बर्फ रखा लगता है। प्रत्येक में



अलग-अलग चीज़ रखी है। यह सब वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श है, यह जड़ के स्वभाव हैं - ऐसा बताया है। उनसे हटकर और आत्मा में अन्तर अनुभव की दृष्टि द्वारा शुद्धता द्वारा (अन्दर स्थिर होना), वह तप कहलाता है शुद्धता द्वारा तप, हाँ ! उससे कर्मों का झरना, कर्मों का खिरना। यह भी दृष्टान्त दिया है, हाँ !

आस्रवतत्त्व, देखो ! जहाज है न ? जहाज, देखो जहाज ! उसमें पानी आता है, देखो ! पानी आता है - ऐसा दृष्टान्त दिया है। फिर इस ओर ऐसा दिया, देखो ! बन्ध तत्त्व। अटकता है, पानी आकर उसमें अटकता है, देखो ! भर जाता है, देखो ! इसे बन्धतत्त्व का दृष्टान्त दिया है। इसमें संवर तत्त्व।



रोका है, देखो ! यहाँ रोका है। नीचे हाथ रखकर पानी आना रोकता है; और यह निर्जरा। थोड़ा पानी खाली करता है, देखो ! ऐसे अन्दर से निकालता है। जहाजमें से थोड़ा-थोड़ा पानी निकालता है। यह पाठ में दृष्टान्त दिया है। साधारण व्यक्ति को ख्याल आवे। हमने नयी छपाई है, उसमें होगा न ? परन्तु ऐसा स्पष्ट नहीं छपा है। नयी है न नयी ? है न ? नयी में यह सब है, यह रहा। इसमें है, परन्तु स्पष्ट नहीं है। कहो, इसमें समझ में आया ?

‘उस निर्जरा को सर्वदा प्राप्त करनी चाहिए।’ लो ! ठीक ! ‘उस निर्जरा को सर्वदा प्राप्त करनी चाहिए।’ शुद्धता, उग्रता सर्वदा करनी चाहिए। आत्मा के अखण्ड शुद्धस्वभाव आनन्द की ओर की एकाग्रता बारम्बार करनी चाहिए, उसे निर्जरा कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें ?

‘भावार्थ - (१) यह मिथ्यात्वादि ही आत्मा को दुःख का कारण है, किन्तु परपदार्थ दुःख का कारण नहीं है...’ देखो ! है न ? यह स्त्री, पुत्र, निर्धनता, अविवाहितपना, गरीबी - यह दुःख का कारण नहीं है।

मुमुक्षु :- सुख का कारण तो है न ?

उत्तर :- सुख का कारण फिर कब कहा ? समझ में आया ? यह तो मूढ़ कल्पना से मानता है कि मुझे सुख है। सुख का निमित्त कहा, परन्तु यह माने तब न ? दुःख माने तो दुःख का निमित्त कहा जाता है; इसलिए वास्तव में तो यहाँ उपादान को सिद्ध किया है। समझ में आया ? उससे सुख माना तो सुख की कल्पना भी दुःख है, यह तो उसमें दुःख का निमित्त हुआ। सुख की कल्पना तेरी है। प्रतिकूलता में दुःख का कारण तो तेरा है। वह तो उसके अस्तित्व में है; तेरे अस्तित्व में कहाँ है ? भाई ! अद्भुत बात। परन्तु यह। लड़का अच्छा हो और ऐसे मीठास लगे। कहते हैं कि उसके कारण मीठास नहीं लगती; इसे स्वयं के राग की मीठास लगती है।

मुमुक्षु :- ... मीठा लगता है...

उत्तर :- ऐसा अर्थात् क्या परन्तु ? परन्तु मीठा कब हो ? यह फिर ठीक कहता है। मीठी कहना किसे ? परवस्तु में कल्पना करके ऐसी दृढ़ आस्था हो गयी है कि मानो यह मीठास है, इसलिए ऐसा होता है; यह प्रतिकूल है, इसलिए ऐसा होता है। ऐसा इसे दृढ़ हो गया है। वहाँ

प्रतिकूल-अनुकूल कहाँ है ? वह तो है वह है। है, बस ! इतना एक है। क्या (है) ? आत्मा है, शरीर है। अब है, उसमें यह अच्छा-ऐसा कहाँ से आया ? वह तो ज्ञेय है। उसकी कल्पना में ऐसी भाषा और ऐसा मान और ऐसा होवे (तो अच्छा) यह तो इसने कल्पना की है, वस्तु में है नहीं। आहा..हा..! समझ में आया ?

‘इसलिए अपने दोषरूप मिथ्याभावों का अभाव करना चाहिए।’ दोष स्वयं उत्पन्न करता है, वह भाव को छोड़ना चाहिए। ‘स्पर्शों के साथ पुद्गलों का बन्ध...’ तीन बन्ध की व्याख्या करते हैं। ‘प्रवचनसार’ में है न ? ये परमाणु-परमाणुं एकत्रित हों, उसे द्रव्यबन्ध कहा जाता है। ‘रागादि के साथ जीव का बन्ध और अन्योन्य-अवगाह...’ रागादि के साथ जीव का बन्ध (अर्थात्) राग के साथ में, यह शुद्ध स्वभाव, राग के साथ में एकत्व हो, वह भावबन्ध; परमाणु-परमाणु रजकण ऐसे स्पर्श से एकत्रित हों, वह द्रव्यबन्ध (है)। आत्मा शुद्धस्वभाव है, वह पुण्य-पाप के विकार से एकत्व हो, वह भावबन्ध है। समझ में आया ? ‘अन्योन्य-अवगाह, वह पुद्गल-जीवात्मक बन्ध कहा है।’ जीव और पुद्गल एक प्रदेश में इकट्ठे रहना, वह उभयबन्ध है।

‘राग परिणाममात्र ऐसा जो भावबन्ध है, वह द्रव्यबन्ध का हेतु होने से...’ वस्तुतः तो विकारी परिणाम, वह भावबन्ध है। वह जड़-द्रव्यबन्ध का हेतु होने से ‘वही निश्चय बन्ध है, जो छोड़ने योग्य है।’ निश्चय बन्ध छोड़ने (योग्य) है - इस प्रकार पाठ में छोड़ने को कहा है न ? निश्चय बन्ध छूटने से द्रव्यबन्ध नहीं होता।

‘(१) मिथ्यात्व और क्रोधादिक भाव...’ क्रोधादि में मानादि, लोभादि आ गये। ‘उन सबको सामान्यरूप से कषाय कहा जाता है।’ इन्हें कषाय कहते हैं। देखो ! ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में कहा है। मिथ्यात्व को भी कषाय कहते हैं। ‘ऐसे कषाय के अभाव को शम कहते हैं।’ लो ! समझ में आया ? शम अर्थात् आत्मा का शुद्ध स्वभाव, उसकी श्रद्धा और शान्ति का नाम शम (है)। वह मिथ्यात्व और कषाय के अभाव से होता है।

‘दम अर्थात् जो ज्ञेय-ज्ञायक का संकर दोष...’ जो (समयसार की) ३१ वीं गाथा में वर्णन किया है। ज्ञेय वस्तु और ज्ञायक आत्मा, उसे ‘संकर दोष टालकर...’ अर्थात् दो का

एकपना टालकर ' (इन्द्रियो को) जीतकर, ज्ञान स्वभाव द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक (पृथक् परिपूर्ण) आत्मा को जानता है, उसे निश्चयनय में स्थित साधु वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं।' अर्थात् यहाँ तो दम की व्याख्या (की है।) आत्मा, खण्ड-खण्ड इन्द्रिय, उसके विषय और जड़ इन्द्रियों से विमुख होकर अतीन्द्रिय स्वभाव में एकत्व हो, उसने इन्द्रियों का दमन किया - ऐसा कहा जाता है। भावेन्द्रिय जो खण्ड-खण्ड है, एक-एक विषय को जाननेवाली, जो विषय हैं - ऐसे खण्ड-खण्ड का लक्ष्य छोड़कर, अखण्ड ज्ञायक अतीन्द्रिय पर दृष्टि करके और खण्ड-खण्ड इन्द्रियों को जीते, उसने इन्द्रियों को जीता, उसने दम किया, दमन किया - ऐसा कहा जाता है। कहो, समझ में आया ? 'समयसार' ३१ वीं गाथा है।

'स्वभाव-परभाव के भेदज्ञान के बल द्वारा द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उनके विषयों से आत्मा का स्वरूप भिन्न है - ऐसा जानना...' उसकी व्याख्या है। 'उसे इन्द्रियदमन कहते हैं परन्तु आहारादि तथा पाँच इन्द्रियों के विषयरूप बाह्य वस्तु के त्यागरूप जो मन्द कषाय है, उससे वास्तव में इन्द्रियदमन नहीं होता...' शरीर, आहारादि या इन्द्रियाँ मन्द होने से इन्द्रियों का दमन नहीं होता। शरीर, आहार, इन्द्रियाँ मन्द होने से कहीं इन्द्रियों का दमन नहीं होता - एक बात; और राग की मन्दता होने से भी इन्द्रियों का दमन नहीं होता - दो बात। क्या कहा ? आहारादि और पाँच इन्द्रियों के विषय, उस बाह्य वस्तु का त्याग अथवा घटना-कम होना, वह दमन नहीं है - एक बात। और उसमें होनेवाली मन्द कषाय भी दमन नहीं है। समझ में आया ? यहाँ संवर लिया है न ?

'शम-दमतेँ जो कर्म न आवै -' समताभाव और दमन का अर्थ - संयोग छूटे या इन्द्रियाँ कमजोर पडी, शरीर कमजोर पड़ा या आहार नहीं आया और आहार नहीं लिया - यह दमन नहीं है; यह तो जड़ की पर्याय हुई। उसके सम्बन्ध में कुछ राग की मन्दता की, शुभभाव (हुआ), वह भी इन्द्रियदमन नहीं है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- .. न खाना ...

उत्तर :- नहीं, नहीं आहार ऊपर नहीं, वह दमन नहीं - ऐसा कहते हैं। वह तो जड़ की पर्याय है। उसमें दमन क्या करना ? उसमें कहाँ दमन करना है ? शरीर को कमजोर करना तो

शरीर की पर्याय है। उसमें आत्मा ने क्या दमन किया ? इन्द्रियाँ कमजोर पड़ी, क्षीण हुई – उसमें इसने दमन क्या किया ? वह तो जड़ की पर्याय हुई और उसके सम्बन्ध में कहीं राग की मन्दता की, आहार-पानी का मन्द भाव हुआ, वह कहीं दमन नहीं है; वह तो पुण्यभाव है। समझ में आया ? संवरभाव नहीं है। यहाँ संवरभाव कहना है न ! कपड़ा पहिनते और आधा खुला रखते, पहले नहीं करते थे ?

मुमुक्षु :- ... मीठा नहीं खाये.

उत्तर :- हाँ, मीठा नहीं खाये। दूसरी मीठास होवे तो मीठा नहीं खाना। (-लोग ऐसा कहते हैं)। आहा.. ! मीठे के त्यागी... आहा.. हा... ! वास्तविक मीठे के त्यागी अन्दर के।

‘...वास्तव में इन्द्रियदमन नहीं होता क्योंकि वह तो शुभराग है, पुण्य है; इसलिए बन्ध का कारण है...’ बन्ध का कारण हो, उसे दमन नहीं कहा जाता। जिसमें बन्ध का अभाव हो, उसका नाम संवर है। आस्रव, बन्ध का कारण है न ? आस्रव का अभाव होने का नाम संवर है। कषाय का मन्दपना या शरीर का मन्दपना हो जाना, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाना, वह कहीं दमन नहीं है; दमन तो संवरभाव है। राग की मन्दता और पर से हटकर स्वभावसन्मुख की एकाग्रता से जितना संवरभाव होता है, उसमें बन्ध का कारण रुकता है; इसलिए उसे संवर कहते हैं। समझ में आया ?

‘शुद्धात्माश्रित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही संवर है।’ अब अस्ति से विशेष स्पष्टीकरण करते हैं। शुद्धात्मा ज्ञायकस्वरूप आत्मा, पूर्णानन्द के आश्रय से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र जो शुद्धपर्याय (प्रकट हो), वह संवर है। ‘प्रथम निश्चयसम्यग्दर्शन होने पर स्वद्रव्य के अवलम्बानुसार...’ अपना चैतन्य भगवान, उसे शुद्धता का जितना अवलम्बन हो, ‘उसके अनुसार संवर-निर्जरा प्रारम्भ होती है।’ निमित्त के अनुसार देह की मन्दता, इन्द्रियों का दमन या उसके अनुसार या राग की मन्दता के अनुसार संवर प्रारम्भ नहीं होता। इस तरह से संवर-निर्जरा प्रारम्भ नहीं होती। समझ में आया ?

‘क्रमशः जितने अंश में राग का अभाव हो, उतने अंश में संवर-निर्जरारूप धर्म होता है।’ निमित्त में अन्तर पड़े, या विकार में तीव्र में से मन्द का अन्तर पड़े, वह कहीं शुद्धता का

कारण नहीं है। वह संवर-निर्जरा का कारण नहीं है। जिसमें बन्ध रुके, (वह संवर है)। वह तो शुभाशुभभाव रहित हो, तब रुकता है। शुभाशुभभावरहित कब होता है ? कि स्वभाव का आश्रय करके शुद्ध श्रद्धा ज्ञान और शान्त करे, अर्थात् आंशिक स्वभाव की शुद्धि हो, वह संवर-निर्जरा की शुरुआत है। समझ में आया ?

‘स्वसन्मुखता के बल से शुभाशुभ इच्छाओं का निरोध, वह तप है।’ तप की व्याख्या की है। इच्छा निरध तप: कहलाता है न ? तो इच्छा-निरोध तो नास्ति से हुआ। अस्ति से अपने में और अपने में होना चाहिए न ? शुद्ध पवित्र स्वरूप है, उसके सन्मुख होकर जितनी शुद्धता की उग्रता प्रकट हो, उसे तप कहा जाता है, उस तप से निर्जरा होती है। उपवास आदि तप से निर्जरा-बिर्जरा नहीं होती। परलक्ष्य से जितनी राग की मन्दता की क्रिया होती है, वह सब निर्जराभाव नहीं है; वह त बन्धभाव के कारणरूप आस्रवभाव है। शुद्धस्वभावस्वरूप चैतन्य के आश्रय से जितना शुद्धता का पवित्र भाव प्रकट होता है, वह संवर-निर्जरा का कारण है। वह निर्जरा का कारण अर्थात् शुद्धता बढ़ी। निर्जरा का कारण कहो या निर्जरारूप कहो। समझ में आया ? संवर की व्याख्या आ गयी है।

‘पुण्य-पापरूप अशुद्ध भाव (आस्रव) को आत्मा के शुद्धभाव द्वारा रोकना, वह भाव संवर है और तदनुसार नवीन कर्मों का आना स्वयं-स्वतः रुक जाए सो द्रव्य संवर है।’ यह भाव और द्रव्य (संवर) की व्याख्या की।

‘अखण्डानन्द निज शुद्धात्मा के लक्ष्य के बल से अंशतः शुद्धि की वृद्धि और अशुद्धि की अंशतः हानि करना, वह भाव निर्जरा है...’ शुद्धि बढ़ना। ‘और उस समय खिरने योग्य कर्मों का अंशतः छूट जाना, वह द्रव्यनिर्जरा है। (लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, पृष्ठ ६८-६९ प्रश्न १२१)’

‘जीव-अजीव को उसके स्वरूपसहित जानकर स्व तथा पर को यथावत् मानना, आस्रव को जानकर उसे हेयरूप मानना...’ यह स्पष्टीकरण किया है। ऊपर जो बात पाठ में की थी न ! (उसका स्पष्टीकरण है)। इसे मोक्षमार्ग प्रकाशक का आधार देकर (स्पष्ट करते हैं)। यह ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में है। ‘जीव-अजीव को उसके स्वरूपसहित...’ स्वरूपसहित, ऐसा। जीव-अजीव द्रव्य, उसका स्वरूप-गुण-स्वभाव; उस ‘सहित

पहिचानकर स्व तथा पर को यथावत् मानना...’ यह जीव-अजीव की मान्यता कहलाता है। ‘आस्रव को जानकर उसे हेयरूप जानना...’ इसमें छोड़ने योग्य कहा था न ? पुण्य-पाप के भाव, जो दुःख के कारण हैं, उन्हें पहिचानकर, उन्हें हेयरूप जानना।

‘बन्ध को जानकर उसे हेयरूप मानना...’ बन्ध को तजना - ऐसा कहा था। उसे अहितरूप जानना। ‘संवर को पहिचानकर उसे उपादेयरूप मानना...’ ‘संवर आदरिये’ - ऐसा था न ? इसमें आया था - ‘संवर आदरिये।’ ‘निर्जरा को पहिचानकर उसे हित का कारण मानना चाहिए।’ आत्मा में जितनी शुद्धि स्वभाव की - शुद्धि की वृद्धि हो, उसे हित का कारण मानना - ऐसा ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में ‘टोडरमलजी’ ने कहा है। आस्रव का दृष्टान्त नीचे दिया है, वे सब तो आ गये। कहो, समझ में आया ? यह नौवीं गाथा (पूर्ण) हुई।

मोक्ष का लक्षण, व्यवहारसमकित का लक्षण तथा कारण

सकल कर्मतैं रहित अवस्था, सो शिव सुखकारी;

इहि विध जो सरधा तत्त्वनकी, सो समकित व्यवहारी।

देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयादुत सारो;

येहु मान समकितका कारण, अष्ट-अंग-जुत धारो॥१०॥

अन्वयार्थ :- (सकर कर्मतैं) समस्त कर्मों से (रहित) रहित (थिर) स्थिर-अटल (सुखकारी) अनन्त सुखदायक (अवस्था) स्थिति-पर्याय - सो (शिव) मोक्ष कहलाता है। (इहि विध) इस प्रकार (जो) जो (तत्त्वनको) सात तत्त्वों के भेद सहित (सरधा) श्रद्धा करना सो (व्यवहारी) व्यवहार (समकित) सम्यग्दर्शन है। (जिनेन्द्र) वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी (देव) सच्चे देव (परिग्रह बिन) चौबीस परिग्रह से रहित (गुरु) वीतराग गुरु (तथा) (सारो) सारभूत (दयाजुत) अहिंसामय (धर्म) जैनधर्म (येहु) इन सबको (समकितको) सम्यग्दर्शन का (कारण) निमित्तकारण (मान) जानना चाहिए। सम्यग्दर्शन को उसके (अष्ट) आठ (अवगुत) अंगो सहित (धारो) धारण करना चाहिए।

भावार्थ :- मोक्ष का स्वरूप जानकर उसे अपना परमहित मानना चाहिए। आठ कर्मों

के सर्वथा नाश पूर्वक आत्मा की जो सम्पूर्ण शुद्ध (पर्याय) प्रकट होती है उसे मोक्ष कहते हैं। वह अवस्था अविनाशी तथा अनन्त सुखमय है; - इस प्रकार सामान्य और विशेषरूप से सात तत्त्वों की अचल श्रद्धा करना उसे व्यवहार समकित (सम्यग्दर्शन) कहते हैं। जिनेन्द्रदेव, वीतरागी (दिगम्बर जैन) गुरु, तथा जिनेन्द्रप्रणीत अहिंसामय धर्म भी उस व्यवहार सम्यग्दर्शन के कारण है अर्थात् इन तीनों का यथार्थ श्रद्धान भी व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है उसे निम्नोक्त आठ अंगों सहित धारण करना चाहिए। व्यवहार समकित का स्वरूप पहले, दूसरे तथा तीसरे छंद के भावार्थ में समझाया है। निश्चय समकित के बिना मात्र व्यवहार को व्यवहार समकित नहीं कहा जाता॥१०॥

‘मोक्ष का लक्षण...’ अन्तिम रहा। सात तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा व्यवहार समकित है - ऐसा कहना है न ? ये तत्त्व आ गये - जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। अब इसमें मोक्ष आया। ‘व्यवहार समकित का लक्षण...’ सब इकट्ठा किया और देव-गुरु-शास्त्र इसमें रखेंगे न ? ‘तथा कारण।’

सकल कर्मतैं रहित अवस्था, सो शिव सुखकारी;

इहि विध जो सरधा तत्त्वनकी, सो समकित व्यवहारी।

देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयादुत सारो;

येहु मान समकितका कारण, अष्ट-अंग-जुत धारो॥१०॥

‘सकल कर्मतैं रहित अवस्था...’ अवस्था, हाँ ! सिद्ध-मोक्ष एक अवस्था है - ऐसा सिद्ध करना है। ‘इहि विधि जो सरधा तत्त्वनकी सो समकित व्यवहारी।’ लो, यह अभी व्यवहार समकित; (यदि) निश्चय समकित होवे तो। समझ में आया ? आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति अखण्डानन्द है - ऐसे पुण्य-पाप के राग से भिन्न करके आत्मा के अनुभव में प्रतीति (होना), वह निश्चय समकित है। वह निश्चय समकित हो, वहाँ उसे ऐसा व्यवहार समकित होता है। ऐसा व्यवहार (समकित) होना चाहिए - ऐसा कहते हैं।

‘(सकल कर्मतैं) समस्त कर्मों से (रहित)...’ आठों कर्मों से रहित अर्थात् उन्हें अब

वापस जन्म लेना पड़े या अवतार लेना पड़े - ऐसा नहीं होता। सकल कर्मों से रहित 'थिर अर्थात् अविनाशी (सुखकारी) अनन्त सुखदायक...' नाश न हो - ऐसा सुखदायक '(हालत-पर्याय), वह मोक्ष कहलाता है।' देखो ! मोक्ष, आत्मा की एक पर्याय है। मोक्ष गुण नहीं है, द्रव्य नहीं है, आत्मा की पूर्ण अशुद्ध अवस्था, वह संसार; शुद्धता की अपूर्ण अवस्था, वह मोक्ष का मार्ग और पूर्ण शुद्ध अवस्था, वह मोक्ष; यह सब पर्यायें हैं। अभी तो समकित पर्याय में लोगो को विवाद उठता था। समकित गुण है या पर्याय ? तुम पर्याय कहते हो, परन्तु विचारकर लिखो, वह तो गुण है - ऐसा लेख आया था।

यहाँ तो कहते हैं - मोक्ष अवस्था है। मोक्ष, पर्याय है न ? और मोक्षमार्ग क्या है ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र क्या है ? गुण है या पर्याय है ? पर्याय है। सम्यग्दर्शन पर्याय है, सम्यग्ज्ञान पर्याय है, चारित्र पर्याय-अवस्था है; गुण तो त्रिकाल है। गुण प्रकट नहीं होते; प्रकट हो वह पर्याय, टिके वह गुण। समझ में आया ? आहा..हा.. ! अनन्त गुण सहित का टिकना, वह द्रव्य। एक-एक शक्ति-गुण का टिकना, वह गुण और प्रकट होना, वह पर्याय। उत्पाद-व्यय होना वह पर्याय तो प्रकट है। मोक्ष अवस्था कहीं अनादि से प्रकटी हुई नहीं थी। समझ में आया ? इसलिए कहते हैं - अटल अविनाशी अनन्त सुखदायक की अवस्था को भगवान, मोक्ष कहते हैं, वह मोक्ष कहलाता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को व्यवहार समकित से उसे भलीभाँति मानना चाहिए। 'इस प्रकार जो सात तत्त्वों के भेद सहित...' यह सात भेद हैं न ? 'श्रद्धा करना, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है।' कहो, समझ में आया ?

'वीतराग-सर्वज्ञ और हितोपदेशी सच्चे देव...' उन्हें व्यवहार समकित में श्रद्धा चाहिए। जिनेन्द्रदेव वीतराग-सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें एक समय में तीन काल, तीन लोक का ज्ञान है। ऐसे सर्वज्ञ प्रभु वीतराग हित के उपदेशक हैं। यह अरिहन्तरूप से लिया है। सच्चे देव अकेले सामान्य उपदेश बिना लो तो सिद्ध भी देव में आ जाते हैं। वीतराग-सर्वज्ञ अरिहन्त, वीतराग सर्वज्ञ पूर्णस्वरूप सिद्ध - ये सच्चे देव हैं, उन्हें इस प्रकार मानना, वह व्यवहार समकित का विषय है।

'(परिग्रह बिन) २४ परिग्रह से रहित वीतराग गुरु...' दिगम्बर गुरु, जिन्हें २४ प्रकार के परिग्रह में एक (भी) नहीं होता। जिन्हें अन्तर में तीन कषाय का अभाव हुआ, वह भाव

(लिंग); बाह्य में वस्त्र का एक तंतु नहीं होता, वस्त्र का तंतु भी नहीं होता - ऐसे गुरु को जैनदर्शन में निर्ग्रथ गुरु (कहते हैं)। व्यवहार समकित के कारण में उन्हें - देव-गुरु को गिना गया है। समझ में आया ? जिसके गुरु में भूल है, वस्त्र-पात्र सहित को गुरु माने (उन्हें) निर्ग्रथ गुरु माने, उन्हें साधु माने, उसे तो अभी व्यवहार समकित में भूल है। समझ में आया ? ए... देवानुप्रिया !

मुनि, दिगम्बर मुनि-आत्मा के तीन कषाय का नाश (हुआ है)। उसमें बाह्य में २४ प्रकार का परिग्रह (नहीं); वस्त्र का एक तंतु, धागा नहीं होता। उसे यहाँ निर्ग्रथ गुरु, मोक्षमार्ग में समकित के निमित्तकारणरूप से उन्हें कहा गया है। उन्हें इस प्रकार से जानना-मानना चाहिए।

‘(तथा) सारभूत अहिंसामय जैनधर्म...’ लो ! सारभूत अहिंसा ऐसा धर्म, रागरहित आत्मा का धर्म। ‘(येहु) इन सबको सम्यग्दर्शन का निमित्तकारण जानना चाहिए।’ समझ में आया ? सम्यग्दर्शन का निमित्तकारण, हाँ ! व्यवहार समकित का निमित्तकारण। ‘सम्यग्दर्शन को उसके आठ अंगो सहित धारण करना चाहिए।’ लो ! फिर वह सम्यग्दर्शन (इस प्रकार धारण करना चाहिए)। यह सब व्यवहार समकित कहा। सात तत्त्व की श्रद्धा, सच्चे देव, सच्चे गुरु, सच्चे अहिंसा धर्म को श्रद्धा करना, वह व्यवहार समकित है। उसे आठ अंग सहित धारण करना चाहिए। (विशेष कहेंगे...) (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



तीन काल और तीन लोकमें शुद्ध निश्चयनसे ज्ञान-रस और आनन्द-कन्द प्रभु केवल मैं हूँ। ‘ऐसा हूँ’ - ऐसी दृष्टि ही आत्म-भावना है। मैं ऐसा हूँ तथा सभी जीव भी भगवत्स्वरूप है, परमात्मस्वरूप सभी जीव हैं, - वस्तुदृष्टिसे सभी जीव ऐसे हैं - ऐसे आत्माका अनुभव होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान है और उसमें स्थिर होना चारित्र है। इस प्रकार मन-वचन-कायासे व कृत-कारित-अनुमोदनासे निरंतर याने कि अन्तर डाले बिना - यह भावना भाना कर्तव्य है ‘कि समस्त जीव ऐसे (परमात्मस्वरूप) ही हैं’ इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी करने योग्य माने तो वह आत्मा का अनादर है।

(परमागमसार - २७०)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्ण १, रविवार

दि.६-२-१९६६, गाथा १० से १२, प्रवचन नं.-१८

यह श्री 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। तीसरी ढाल की १० वीं गाथा का भावार्थ है। इसमें ५८ पृष्ठ हैं। अर्थ आ गया है, भावार्थ बाकी है। देखो ! क्या कहते हैं ? देखो ! भावार्थ है। इसमें क्या अधिकार है ? कि यह आत्मा है न ? देह से भिन्न आत्मा है। इस आत्मा का अन्तर में वस्तु स्वरूप ऐसा है कि अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द, ज्ञान और शान्ति भरी है। इस देह में आत्मा है न ? यह देह तो जड़ मिट्टी, जड़ है, धूल है। इसमें रहा हुआ आत्मतत्त्व है, उसमें अनन्त शान्ति, अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान, दर्शन और बल भरा हुआ तत्त्व है। इस तत्त्व का अन्तर में सम्यग्दर्शन प्रकट करके और शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ - ऐसा अन्तर में विश्वास में लाकर उसकी ओर का प्रयत्न करना, जो शुद्धता भरी है, उसे प्रकट करना, इसका नाम आत्मतत्त्व की श्रद्धा, आत्मतत्त्व का मोक्षमार्ग है और पूर्ण शुद्धता प्रकट हो, उसे मोक्ष कहते हैं। इस दुनिया की शिक्षा से यह अलग शिक्षा है। इसने अनन्त काल में यह नहीं किया है।

यहाँ यह पहली बात आयी है। देखो ! 'मोक्ष का परम स्वरूप पहिचानकर, उसे अपना परमहित मानना...' यह आत्मा है; यह देह तो जड़ है छूट जाती है, उसे पता है कि यह कोई आत्मा नहीं है। अन्दर कर्म जिसे कहते हैं - आठ कर्म; जिसे प्रारब्ध कहते हैं, वह भी जड़ कर्म है, वह कोई आत्मा नहीं है। उसमें पुण्य और पाप के भाव शुभ-अशुभरागादि होते हैं, वह तो विकार है। उस विकार से रहित आत्मा की चीज़ शुद्ध है। उसका भान करके उसकी पूर्ण आनन्द अवस्था आत्मा में प्रकट करने को मोक्ष अवस्था कहते हैं। वह जीव को परमहित है। उस हित का कारण वह आनन्द है।

आत्मा के स्वभावमें से शुद्धता प्रकट करके, परम अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा की वर्तमान अवस्था में, स्वभाव में है, वैसी वर्तमान अवस्था में अन्तर्मुख के स्वभाव का ध्यान

करके पूर्णानन्द की प्राप्ति करना, वह जीव का सुखरूप परम ध्येय और हित है। समझ में आया ? इसके बिना सब धूलधाणी है। भाई ! आत्मा अन्दर में सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में तीन लोक – तीन काल का ज्ञान, आत्मा के ज्ञान में परम ज्ञान होने पर सब ज्ञात हो गया। ऐसे भगवान परमेश्वर ने जो आत्मा और उसकी जो मोक्ष अवस्था देखी, जानी और कही; वह इस जगत को आत्मा की अवस्था परम हितकर है – ऐसा इसे जानना चाहिए।

पुण्य-पाप के भाव आदि हो, वह हितकर नहीं; यह बाह्य की संयोगी चीज़ें – यह धूल-पैसा, स्त्री-पुत्र-परिवार तो पर है; ये कहीं हितकर नहीं है। आत्मा में, आत्मा और जड़ दो पृथक् हैं – ऐसा जानना और जानकर स्वयं अपने लिये प्रयास करना तथा पर को जानकर उससे उदास होना। ऐसा जड़ और आत्मा का दो का ज्ञानपने में ज्ञानपने का यह प्रयोजन है। फिर आत्मा में पुण्य और पाप के भाव शुभ-अशुभभाव हों, वह आस्रव है, वे अहितकर हैं। वे अहितकर है; आदरणीय नहीं, क्योंकि पुण्य और पाप के भाव दुःखरूप है। कठिन बात ! वे दुःखरूप है; संयोग दुःखरूप नहीं, बाहर के पदार्थ दुःखरूप नहीं। आत्मा अपने आनन्दस्वरूप को भूलकर, जितना पुण्य और पाप का शुभ और अशुभ का भाव करे, (वह दुःखस्वरूप है)। यह अपने ऊपर आ गया है। समझ में आया ? आस्रव दुःखकारी आया था न ? 'ये ही आतम को दुःखकारण तातैं इनको तजिये;...' नौवीं गाथा में है न ? 'ये ही आतम को दुःखकारण तातैं इनको तजिये;...' आत्मा में जो शुभ और अशुभभाव-विकार होता है, वह दुःख का कारण है, बाह्य चीज़ दुःख का कारण नहीं है। यह शरीर, पैसा सुख का कारण भी नहीं है और दुःख का कारण भी नहीं है।

आत्मा में अतन्द्रिय आनन्द (भरा है)। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। सत् अर्थात् शाश्वत ज्ञान और आनन्द का भण्डार आत्मा है। उसका इसने अनन्त काल में पता नहीं किया है। उसका पता करके, उसके ज्ञान में जो कुछ विपरीत पुण्य और पाप के भाव होते हैं; उन्हें इसे दुःख का कारण जानना चाहिए। दुःख का कारण जाने तो उन्हें छोड़े और आत्मा परमानन्द की मूर्ति है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करे तो यह संवर (होवे और) वह सुखरूप है, वह उपादेय है, ग्रहण करने योग्य है (- ऐसा माने) तो उसे शुरू करें और पूर्व के कर्म तथा अशुद्धता को

मिटाने को शुद्धता की एकाग्रता करे, उसे निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा हित का कारण है और पूर्ण शुद्धि परमहित है।

मुमुक्षु :- ऐसी स्पष्ट...

उत्तर :- ऐसी स्पष्ट है न ? देखो न ! अपने आ गया है या नहीं ? भाई ! इन्हें तो पूरा कण्ठस्थ हैं। यह इनके लिए तो शुरू की थी परन्तु पन्द्रह दिन विलंब से आये। यहाँ हमारे तो समय पर चलता है। यह कह गये थे कि इस पर व्याख्यान करना। इन्होंने कहा था या नहीं ? और (दूसरी एक बिहन) कह गयी थी कि 'छहढाला' पर व्याख्यान करे तो ठीक। यहाँ हमारे तो समय हो गया था, इसलिए हमने तो शुरू कर दिया। कहो, समझ में आया इसमें ?

भगवान आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द की कतली है। कैसे बैठे ? आनन्द कहीं बाहर में नहीं है। पैसे में, धूल में, स्त्री, पुत्र, परिवार, प्रतिष्ठा, हजीरा... हजीरा अर्थात् यह मकान - इनमें कहीं सुख नहीं है तथा ये सुख का निमित्त भी नहीं है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, पूर्णानन्दस्वरूप है। उसका विश्वास करके, पूर्ण मोक्ष की अवस्था प्रकट करना - इसका नाम परम हित है। कहो, समझ में आया ? इस 'मोक्ष का स्वरूप पहिचानकर, उसे अपना परमहित मानना...'

'आठ कर्मों का सर्वथा नाश होने पूर्वक आत्मा की जो सम्पूर्ण शुद्ध अवस्था...' देखो ! अवस्था है। मोक्ष, आत्मा की एक अवस्था है; मोक्ष, वह गुण नहीं है। आत्मा में गुण तो पूर्ण-पूर्ण आनन्द मोक्षस्वरूप ही पड़ा है। शक्तिरूप से आत्मा आनन्द है, आनन्द है, वह तो त्रिकाल मुक्तस्वरूप ही है। उसकी आनन्द अवस्था प्रकट करने का नाम मोक्ष कहा जाता है। मोक्ष कहीं दूसरी चीज़ नहीं है। इसलिए तो कहा है न, भाई ! इसमें आया था न ! 'सकल कर्म तैं रहित अवस्था...' यह अवस्था है, गुण नहीं। 'सो शिव, थिर सुखकारी।' क्या कहा ? आत्मा में कर्म का नाश करके पमरानन्द की पूर्ण अवस्था प्रकट करना, वह स्थिर अर्थात् अविनाशी (मोक्ष अवस्था हैं)। देखो ! '... अवस्था अविनाशी और अनन्त सुखमय है।' वही आत्मा की पूर्ण आनन्द अवस्था अविनाशी अर्थात् स्थिर रहनेवाली है। यह सब (बाहर का) स्थिर नहीं है, कहते हैं। संवर-निर्जरा एक समय की अमुक पर्याय है। यह (-मोक्ष अवस्था) तो

फिर ऐसी की ऐसी स्थिर रहेगी। इसलिए 'स्थिर' शब्द का प्रयोग किया है।

पुण्य-पापभाव तो दुःखरूप अस्थिर है, बाह्य संयोग अस्थिर हैं, मोक्ष का मार्ग भी स्थायी नहीं रहता; वह तो मोक्ष हो तब तक थोड़े काल रहता है। मोक्ष हो तो वह ऐसा का ऐसा स्थिर रहता है। आत्मा की शुद्ध आनन्द अवस्था प्रकट होने पर वह अवस्था स्थिर (रहती है)। जब से प्रकट हो, वह अनन्त काल वह अवस्था रहती है। स्थिर और अनन्त सुखमय, फिर है न ? पाठ में ही यह सब है। देखो ! स्थिर सुख... इसका अर्थ यह किया कि 'शिव थिर सुखकारी।' कल्याणस्वरूप और सुख का कारण तथा अविनाशी। एक मोक्ष अवस्था ही आत्मा को प्रकट करने योग्य है, अन्य कुछ करने योग्य नहीं है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

'इस प्रकार सामान्य और विशेषरूप से सात तत्त्वों की अचल श्रद्धा करना, उसे व्यवहार समकित (सम्यग्दर्शन) कहते हैं।' क्योंकि आत्मा अनन्त आनन्दादि स्वरूप महान अनन्त गुण का पुंज है। उसका अन्दर निर्विकल्प-रागरहित-आत्मा के अनुभव की श्रद्धा करना, अनुभव करके श्रद्धा करना - इसका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है, इसका नाम सच्चा सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा तीर्थकरदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वर जिनवर ने ऐसा कहा है कि भाई ! अन्दर आत्मा पूर्ण आनन्द और शान्ति का सागर है न ? ऐसे आत्मा की अन्तर्मुख होकर, स्वसन्मुख होकर, पर से विमुख होकर स्वभाव की सन्मुखता की, रागरहित वीतरागी श्रद्धा स्वभाव में करने का नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है। वह सच्चा दर्शन है, वह मोक्ष का कारण है, संवर-निर्जरा रूप है और सुख रूप है। वह निश्चय सम्यग्दर्शन मोक्ष का कारण है, संवर-निर्जरारूप है, वर्तमान सुखरूप है। समझ में आया ? उसके साथ वह सात तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा है, यह शुभरागरूप है, विकल्परूप है, निमित्तरूप-निश्चयमोक्षमार्ग को निमित्तरूप है; बन्ध का कारण है; वस्तुतः तो यह दुःखरूप है, तथापि निश्चयसम्यग्दर्शन के भान में इसे ऐसे सात तत्त्वों के भेद का विकल्प सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित तत्त्वों का (भेदरूप विकल्प होता है)। सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित तत्त्व; अज्ञानियों द्वारा कथित नहीं। परमेश्वर वीतरागदेव, जिसने एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल - तीन लोक जाने हैं - ऐसे भगवान द्वारा कथित जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष की - सात तत्त्वों

की व्यवहार से अचल श्रद्धा करने का नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन है, अर्थात् इसका नाम शुभ उपयोग है। तात्पर्य यह कि निश्चयसम्यग्दर्शन तो शुद्ध परिणति है; जबकि यह व्यवहार सम्यग्दर्शन, अशुद्ध-शुभरागरूप परिणति-पर्याय है। आहा..! कितना भरा है ! गागर में सागर भर दिया है, लो ! समझ में आया ?

कहते हैं, 'जिनेन्द्रदेव, वीतरागी (दिगम्बर जैन) गुरु...' सन्त 'तथा जिनेन्द्र प्रणीत अहिंसामय धर्म...' यह भी व्यवहार सम्यग्दर्शन का कारण अर्थात् तीनों का यथार्थ श्रद्धान, 'इन तीनों का यथार्थ श्रद्धान भी व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है।' यह निश्चय आत्मा का भान, सम्यक् होवे, तब व्यवहार सम्यग्दर्शन में ऐसा शुभराग उसे होता है। सच्चे सर्वज्ञदेव, निर्ग्रन्थ वीतरागी दिगम्बर भावलिंगी मुनि और बाह्य नग्न द्रव्यलिंग तथा बाह्य में अहिंसा धर्म जो भगवान परमेश्वर ने कहा कि रागरहित अवस्था-अहिंसा की उत्पत्ति हो, उसे भगवान ने धर्म कहा है। ऐसे देव-गुरु और धर्म की श्रद्धा हो, उसे शुभरागरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन (कहा जाता है)। अशुद्ध परिणति को अनुकूल निमित्त-निश्चयसम्यग्दर्शन में ऐसा अनुकूल निमित्त व्यवहार से देखकर उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है। समझ में आया ?



मुमुक्षु :- व्यवहार मार्ग अलग...

उत्तर :- यह पूरा अलग ही अर्थ करते हैं। यह 'नियत को हेतु' - निमित्त कहते हैं। व्यवहारनय से निमित्त है, व्यवहारनय से साधन है, व्यवहारनय से कारण है; वस्तुतः वह नहीं है। वे तो व्यवहार से निश्चय होता है - ऐसा कहते हैं - यह बात ही मिथ्या है। निर्विकल्प भगवान आत्मा की श्रद्धा, राग-व्यवहार हो तो उससे होती है - ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया ? इसलिए नियत (का) हेतु कहा न ? निमित्त कहा है। नियत का निश्चय का हेतु-कारण (कहा है)। कारण, अर्थात् व्यवहार कारण है। व्यवहार कारण का अर्थ निमित्त की

ऐसी अनुकूलता, सच्ची सम्यग्दर्शन अवस्था हो, वहाँ उसे ऐसे ही व्यवहार के विकल्प शुभरागरूप उसकी अवस्था में होते हैं; इस कारण उसे व्यवहार कहा है; वास्तव में वह सम्यग्दर्शन है ही नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन, श्रद्धागुण की पर्याय है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन उस श्रद्धा गुण की पर्याय नहीं है; यह तो शुभराग है। यह सब समझना ! लोगों को व्यापार के कारण, खाने-पीने और पाप करने की आड़ में फुरसत नहीं मिलती। भाई ! फुरसत नहीं मिलती। (यह भाई) अभी लिखते हैं। लिखकर फिर किसे भेजना है ? कहो, समझ में आया ?

भगवान आत्मा अकेला चैतन्य पिण्ड और आनन्द का रस, पूर्ण सामान्य एक स्वरूप की अन्तर्मुख की सम्यग्दृष्टि हो, उसे निश्चय सत्यदृष्टि कहते हैं; उसे संवर-निर्जरा कहते हैं। उसमें साथ में ऐसा भाव (होता है)। सच्चे सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कथित सात तत्वों के भेदवाला श्रद्धा भाव व्यवहार से अनुकूल देखकर, पूर्ण वीतरागता नहीं है, इसलिए ऐसा शुभराग अशुद्धपरिणतिरूप होता है। उसे निमित्तरूप से निश्चय का निमित्तरूप से कारण कहा जाता है। समझ में आया ?

‘उसे निम्नोक्त आठ अंगों सहित धारण करना चाहिए। व्यवहार समकिति का स्वरूप पहले, दूसरे तथा तीसरे छन्द के भावार्थ में समझाया है। निश्चय समकित के बिना...’ अर्थात् आत्मा (की) निश्चय निर्विकल्प श्रद्धा के भान बिना मात्र ‘व्यवहार को व्यवहार समकित नहीं कहा जाता।’ माल के बिना थेली किसकी ? ऐसा नहीं कहा जाता। यह थेली किसकी ? चावल की, गेहूँ की या दाल की ? माल डाले तब कहा जाता है कि यह चावल की थेली है। थेली तो थेली है। समझ में आया ? ऐसे निश्चय समकित माल हो तो उसकी निमित्त थेली वह व्यवहार समकित उसे कहा जाता है। ऐसी बात है। समझ में आया ? माल के बिना थेली कहना किसे ? वह तो अकेली बोरी (थेली) कहलाती है। बोरी, चावल की थेली, दाल की थेली, शक्कर की थेली किसे कहना ? माल के बिना अकेली बोरी कहलाती है। कहो समझ में आया इसमें ? यह तो इन भाई को पूरा कण्ठस्थ है। बहुत वर्षों से इन्हे... है। कितनी बिक्री हुई। इन्होंने कितनी बेची ? पन्द्रह हजार विक्रय हुई है। अब यह व्याख्यान हुआ। समझ में आया ? यह होता है न, यह पूरा व्याख्यान होता है। देखो न ! यह अठारहवां व्याख्यान है।

पोष कृष्ण दशमी, रविवार को शुरु किया है। यह रविवार आया, बाईस दिन हुए न ? उनमें तीन दिन बन्द था। कहो, समझ में आया ?

भगवान आत्मा, जिसमें माल... माल... माल... भरा है। आत्मा में अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन... एक-एक गुण अनन्त-अनन्त प्रभुता, अनन्त स्वच्छता, अनन्त विभुता, अनन्त कार्य हो वैसा कारण, अनन्त कारण हो, वैसी करणरूप शक्ति (पड़ी है)। समझ में आया ? ऐसे अनन्त-अनन्त गुण। परन्तु जिसका स्वभाव उसे अन्त क्या कहना ? ऐसा भगवान, वस्तु आत्मा में ऐसा अनन्त स्वभाव भाव अनन्त माल पड़ा है। उसकी अन्तर में पर से विमुख होकर; पर की, रागादि की उपेक्षा करके शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा अर्थात् उस पर दृष्टि करके और एकत्वबुद्धि में आत्मा की दृष्टि, अनुभव होना, उसे सच्चा समकित-मोक्ष का साक्षात् कारण - वह स्वयं ही मोक्षमार्ग है। उसमें व्यवहार समकित होता है, साथ में होता अवस्थ है; पूर्ण वीतराग न हो, (तब) भगवान द्वारा कथित छह द्रव्य, भगवान परमेश्वर द्वारा कथित नौ तत्त्व, उसके व्यवहार के भेद, उसकी श्रद्धा में शुभराग में आते हैं; इस कारण उसे व्यवहार कारण के रूप से कहा जाता है; परन्तु निश्चय न हो, उसे व्यवहार किसका ? जहाँ वस्तु ही नहीं है, वहाँ व्यवहार कहना किसे ? यह बात करते हैं।

मुमुक्षु :- ... व्यवहार...

उत्तर :- व्यवहार, परन्तु किसका व्यवहार ? माल के बिना व्यवहार किसका ? पहली वस्तु ही यह है। चैतन्य ज्ञायकमूर्ति आनन्द के स्पर्श बिना, उसके स्पर्श बिना, वह आये बिना इसे व्यवहार कहे कौन ? जाने कौन ? समझ में आया ? कठिन, सूक्ष्म बात। यह अभी बड़ा विवाद है न ? व्यवहार करते-करते (निश्चय) होगा... प्रथम चौथे, पाँचवे, छठवें, सातवें में व्यवहार फिर आठवें में निश्चय (होता है)। अरे... भगवान ! अरे.. ! स्वयं भगवान आत्मा न हो, (वहाँ) दूसरा व्यवहार आया कहाँ से ? समझ में आया ?

समकित के पच्चीस दोष तथा आठ गुण

वसु मद टारि निवारी त्रिशठता, षट् अनायतन त्यागो;

शंकादिक वसु दोष बिना, संवेगादिक चित्त पागो।

अष्ट अंग अरु दोष पचीसों, तिन संक्षेपै कहिये;
बिन जानेतैं दोष गुननको, कैसे तजिये गहिये॥११॥

अन्वयार्थ :- (वसु) आठ (मद) मद का (टारि) त्याग करके, (तिरसठता) तीन प्रकार की मूढता को (निवारि) हटाकर, (षट्) छह (*अनायतन) अनायतनों का (त्यागो) त्याग करना चाहिए। (शंकादिक) शंकादि (वसु) आठ (दोष बिना) दोषों से रहित होकर (संवेगादिक) संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम में (चित) मन को (पागो) लगाना चाहिए। अब समकित के (अष्ट) आठ (अंग) अंग (अरू) और (पचीसों दोष) पच्चीस दोषों को (संक्षेपै) संक्षेप में (कहिये) कहा जाता है। क्योंकि (बिन जाने तैं) उन्हें जाने बिना (दोष) दोषों को (कैसे) किस प्रकार (तजिये) छोड़े और (गुननको) गुणों को किस प्रकार (गहिये) ग्रहण करें ?

भावार्थ :- आठ मद, तीन मूढता, छह अनायतन (अधर्मस्थान) और आठ शंकादि दोष :- इस प्रकार समकित के पच्चीस दोष हैं। संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम सम्यग्दृष्टि को होते हैं। समकित के अभिलाषी जीव को समकित के इन पच्चीस दोषों का त्याग करके उन भावनाओं में मन लगाना चाहिए। अब समकित के आठ गुणों (अंगो) और पच्चीस दोषों का संक्षेप में वर्णन किया जाता है; क्योंकि जाने और समझे बिना दोषों को कैसे छोड़ा जा सकता है, तथा गुणों को कैसे ग्रहण किया जा सकता है ?॥११॥

अब 'समकित के पच्चीस दोष तथा आठ गुण' कहते हैं। देखो !

वसु मद टारि निवारी त्रिशठता, षट् अनायतन त्यागो;
शंकादिक वसु दोष बिना, संवेगादिक चित्त पागो।
अष्ट अंग अरु दोष पचीसों, तिन संक्षेपै कहिये;
बिन जानेतैं दोष गुननको, कैसे तजिये गहिये॥११॥

* अन + आयतन = अनायतन = धर्म का स्थान न होना।

यह व्यवहार समकित के दोष की बात है, हाँ ! निश्चय तो आत्मा की प्रतीति-सम्यग्दृष्टि हुई, वह निश्चय है। उसके साथ ऐसे दोषरहित व्यवहार सम्यग्दर्शन का विकल्प-शुभराग यथार्थ होना चाहिए। कहो, समझ में आया इसमें ? यह व्यवहार समकित की बात है। निश्चय तो अकेला अभेद है।

‘आठ मद का त्याग करके...’ देखो ! व्यवहार समकित में भी आठ मद का त्याग होता है। जहाँ भगवान आत्मा अखण्ड परिपूर्ण अनन्त-अनन्त केवलज्ञान और आनन्द की खान का सागर जहाँ प्रतीति में लिया, उसे कल्प में अल्पज्ञान या बाहर की चीज़ का अभिमान नहीं होता। समझ में आया ? समकित चक्रवर्ती छह खण्ड के राज्य में पड़ा हो, जिसके घर में छियानवै हजार पद्मनी जैसी रानियाँ हों, छह खण्ड का राज्य हो, सोलह हजार देव तो जिसकी सेवा-तैनाती में खड़े हों; सम्यग्दर्शन (सहित हों)। हम इस प्रजा से, दूसरे से इस ऋद्धि से अधिक हैं – ऐसा उसे अभिमान नहीं होता। आहा..हा... !

‘बसु मद...’ आठ मद। स्पष्टीकरण आयेगा। उन्हें टाले। मद नहीं होता; सम्यग्दृष्टि को व्यवहार समकित में पर का मद नहीं होता। आहा..हा... ! जिसने परमेश्वर का पहलू देखा, परमेश्वर भगवान आत्मा के पक्ष में चढ़ा, अब उसे कमी क्या है कि फिर बाहर के किसी अल्पज्ञान में, जाति, कुल में उसे अभिमान हो ? नहीं होता – ऐसा कहते हैं। जिसका मक्खन जैसा कलेजा नरम.. नरम... नरम... नरम... नरम होता है। समझ में आया ? आठ मद को टालकर ‘तीन प्रकार की मूढ़ता को हटाकर...’ इसका स्पष्टीकरण करेंगे, हाँ ! देव-गुरु और धर्म की मूढ़ता नहीं होती। आत्मा का भान है, वहाँ उसे ऐसे व्यवहार में मूढ़ता नहीं होती। सच्चे सर्वज्ञ परमेश्वर देव के अतिरिक्त दूसरे को व्यवहार में नहीं मानता। व्यवहार में (नहीं मानता); निश्चय में तो आत्मदेव माना है। आहा..हा.. !

निर्ग्रन्थ गुरु दिगम्बर मुनि आत्मज्ञानी-ध्यानी संवर-निर्जरा की उत्कृष्ट अवस्था से परिणमित (होते हैं)। समझ में आया ? उसमें उसे उलझन नहीं होती कि यह गुरु होंगे या दूसरे गुरु होंगे ? निर्ग्रन्थ गुरु मोक्ष के मार्ग में (होते हैं)। उन्हें वह स्वीकार करता है और धर्म-अहिंसा। राग की उत्पत्ति मात्र हिंसा (है)। राग की अनुत्पत्ति वह अहिंसा है। उसमें उसे मूढ़ता नहीं होती कि यह सब ऐसी दया पालते हैं और ऐसा यह करते हैं, उन्हें कुछ अहिंसा का लाभ

होगा या नहीं ? वह ठीक से समझता है। समझ में आया ? आहा..हा... ! इन तीन मूढ़ता को हटाकर।

‘छह अनायतन...’ धर्म के अस्थान – धर्म के स्थान नहीं। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और उनके माननेवाले सेवक। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और उन्हें माननेवाले उनके सेवक। ये तीन धर्म के अस्थान हैं। ये धर्म में निमित्त भी नहीं है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- ... कुल हो ?

उत्तर :- वह व्यवहार साधारण हो, उसकी बात नहीं है। यह पहले से बचाव नहीं होता। समझ में आया ? निश्चय में उसे ऐसा स्पष्ट व्यवहार होता है। सहज कोई साधारण मद आदि दोष हों – वह बात नहीं है। पहले से बचाव नहीं होता। समझ में आया ?

(छह अनायतनों का) ‘त्याग करना चाहिए।’ समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि जीव को व्यवहार समकित में भी कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और उनके माननेवालों को धर्म में निमित्तरूप से भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। (वे) धर्म के स्थान ही नहीं हैं। यह बात जगत को कठोर (लगती) है। उसका व्यवहार ऐसा होता है। निश्चयसम्यग्दर्शन हो, उसे ऐसा व्यवहार होता है। उसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का अनुमोदन नहीं होता; उनके माननेवालों का अनुमोदन नहीं होता। समझ में आया ? अभी तो बहुत परिवर्तन-परिवर्तन हो गया है। लोग मानते हैं और ऐसा होता है।

‘शंकादि आठ दोषों से रहित होकर...’ लो ! समझ में आया ? शंका, कांक्षा आदि है न ? समकित के आठ गुण हैं, उनसे विपरीत आठ दोष हैं; उनका उसे त्याग होता है। ‘संवेग अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम में मन को लगाना चाहिए।’ जिसे विकल्प में भी आत्मा के स्वभाव की तरफ का वेग हो, अकषाय भाव की अनुकम्पा हो। समझ में आया ? और विकल्प हो। अकषाय भाव की अनुकम्पा (होती है)। किसी प्राणी को दुःखी देखकर अनुकम्पा होती है, आस्तिक्यता होती है – यह सब व्यवहार है, हाँ ! प्रशम है और कषाय की मन्दता है। उसमें उसे चित्त को लगाना चाहिए।

‘अब समकित के आठ अंग और जो पच्चीस दोष हैं, उन्हें संक्षेप में कहा जाता है,

क्योंकि (बिना जानेतैं) उन्हें जाने बिना दोषों को किस प्रकार छोड़े... 'जाने बिना, यह दोष है - यह सर्प है या बिच्छु है - यह जाने बिना किस प्रकार छोड़ना ? - इसी प्रकार दोष को जाने बिना दोष छूटेंगे किस प्रकार ? 'और गुणों को किस प्रकार ग्रहण करे ?' देखो ! ग्रहण-त्याग है न ? ग्रहण-त्याग है न ? विकल्प है अवश्य न ? दोष को जाने बिना छोड़ना क्या ? और गुणों को जाने बिना गुण ग्रहण करना क्या ? अन्दर में व्यवहार समकित की बात है न ? निश्चय स्वरूप में तो कुछ ग्रहण-त्याग है नहीं। यह तो (जिसे) अखण्ड ज्ञानमूर्ति चिदानन्द की अन्तर प्रतीति, अनुभव हो, उसे ग्रहण-त्याग नहीं होता, वह तो विकल्प रहित बात है। इस व्यवहार समकित में ऐसा विकल्प होता है कि ऐसे दोष छोड़ना चाहिए और ऐसे गुण ग्रहण करना चाहिए - ऐसा भाव व्यवहार समकित में होता है।

'भावार्थ :- आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन...' अन-आयतन। आयतन अर्थात् स्थान-घर होता है। अ अर्थात् नहीं। वह धर्म का घर नहीं, धर्म का स्थान नहीं। 'और आठ शंकादि दोष - इस प्रकार समकित के पच्चीस दोष हैं। संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य और प्रशम सम्यग्दृष्टि को होते हैं। समकित के अभिलाषी जीव को समकित के इन पच्चीस दोषों को त्याग करके उन भावनाओं में मन लगाना चाहिए।' पाठ में था न ? 'चित्त पागो।' है न ? 'संवेगादिक चित्त पागो। अब समकित के आठ गुण (अंगो)...' निःशंक आदि 'और पच्चीस दोषों का वर्णन किया जाता है, क्योंकि जाने और समझे बिना दोषों को कैसे छोड़ा जा सकता है तथा गुणों को कैसे ग्रहण किया जा सकता है ?' लो ! बारहवीं गाथा।

समकित के आठ अंग (गुण) और शंकादि आठ दोषों का लक्षण

जिन वचमें शंका न धार वृष, मव-सुख-वांछा भानै;
 मुनि-तन-मलिन न देख धिनावे, तत्त्व-कुतत्त्व पिछानै।
 निज गुण अरु पर औगुण ढाके, वा निजधर्म बढ़ावै;
 कामादिक कर वृषतैं चिगते, निज-परको सु दिढावै॥१२॥

गाथा १३ (पूर्वार्ध)

धर्मी सों गौ-वच्छ-प्रीति सम, कर जिनधर्म दिपावै;

इन गुणतैं विपरीत दोष वसु, तिनकों सतत खिपावै।

अन्वयार्थ :- १ - (जिन वचमें) सर्वज्ञदेव के कहे हुए तत्त्वों में (शंका) संशय-सन्देह (न धारण) (धारण नहीं करना) (सो निःशंकित अंग है); २ - (वृष) धर्म को (धार) धारण करके (भव-सुख-वांछा) सांसारिक सुखों की इच्छा (भानै) न करे (सो निःकांक्षित अंग है); ३ - (मुनि-तन) मुनियों के शरीरादि (मलिन) मैले (देख) देखकर (न चिनावै) धृणा न करना (सो निर्विचिकित्सा अंग है) ४ - (तत्त्व-कुतत्त्व) सच्चे और झूठे तत्त्वों को (पिछानै) पहिचान रखे (सो अमूढ दृष्टि अंग है); ५ - (निजगुण) अपने गुणों को (अरु) और (पर औगुण) दूसरे के अवगुणों को (ढाके) छिपाये (वा) तथा (निजधर्म) अपने आत्मधर्म को (बढ़ावै) बढ़ाये अर्थात् निर्मल बनाए (सो उपगूहन अंग है); ६ - (कामादिक कर) काम-विकारादि के कारण (वृषतैं) धर्म से (चिगते) च्युत होते हुए (निज-परको) अपने को तथा पर को (सु दिढावै) उसमें पुनः दृढ करे (सो स्थितिकरण अंग है)। ७ - (धर्मी सों) अपने साधर्मिजनों से (गौ-वच्छ-प्रीति सम) बछड़े पर गाय की प्रीति समान (कर) प्रेम रखना (सो वात्सल्य अंग है) और (जिनधर्म) जैनधर्म की (दिपावै) शोभा में वृद्धि करना (सो प्रभावना अंग है)। (इन गुणतैं) इन (आठ) गुणों से (विपरीत) उल्टे (वसु) आठ (दोष) दोष हैं, (तिनको) उन्हें (सतत) हमेशा (खिपावे) दूर करना चाहिए।

भावार्थ :- (१) तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है तथा अन्य नहीं है तथा अन्य प्रकार से नहीं है, - इस प्रकार यथार्थ तत्त्वों में अचल श्रद्धा होना सो निःशंकित अंग कहलाता है।

टिप्पणी :- अत्रती सम्यग्दृष्टि जीव भोगों को कभी भी आदरणीय नहीं मानते; किन्तु जिसप्रकार कोई बन्दी कारागृह में (इच्छा न होने पर भी) दुःख सहन करता है, उसीप्रकार वे अपने पुरुषार्थ की निर्बलता से गृहस्थ अवस्था में रहते हैं, किन्तु रुचिपूर्वक भोगों की इच्छा नहीं करते; इसलिये उन्हें निःशंकित और निःकांक्षित अंग होने में कोई बाधा नहीं

आती।

(२) धर्म सेवन करके उसके बदले में सांसारिक सुखों की इच्छा न करना उसे निःकांक्षित अंग कहते हैं।

(३) मुनिराज अथवा अन्य किसी धर्मात्मा के शरीर को मैला देखकर धृणा न करना उसे निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं।

(४) सच्चे और झूठे तत्त्वों की परीक्षा करके मूढ़ताओं तथा अनायतनो में न फँसना वह अमूढ़दृष्टि अंग है।

(५) अपनी प्रशंसा करानेवाले गुणों को तथा दूसरे की निंदा करानेवाले दोषों को ढकना और आत्मधर्म को बढ़ाना (निर्मल रखना) सो उपगूहन अंग है।

टिप्पणी :- उपगूहन का दूसरा नाम 'उपबृहण' भी जिनागम में आता है; जिससे आत्मधर्म में वृद्धि करने को भी उपगूहन कहा जाता है। श्री अमृतचन्द्रसूरी ने अपने पुरुषार्थसिद्धयुपाय के २७ वें श्लोक में भी यही कहा है :-

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।

परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृहणार्थम्॥२७॥

(६) काम, क्रोध, लोभ आदि किसी भी कारण से (समकित और चारित्र से) भ्रष्ट होते हुए अपने को तथा पर को पुनः उसमें स्थिर करना स्थितिकरण अंग है।

(७) अपने साधर्मी जन पर बछड़े से घ्यार रखनेवाली गाय की भाँति निरपेक्ष प्रेम रखना सो वात्सल्य अंग है।

(८) अज्ञान-अन्धकार को दूर करके विद्या-बल-बुद्धि आदि के द्वारा शास्त्र में कही हुई योग्य रीति से अपने सामर्थ्यानुसार जैनधर्म का प्रभाव प्रकट करना वह प्रभावना अंग है।

इन अंगो (गुणों) से विपरीत १-शंका, २-कांक्षा, ३-विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, ५-अनुपगूहन, ६-अस्थितिकरण, ७-अवात्सल्य और ८-अप्रभावना - यह समकित के आठ दोष हैं, इन्हें सदा दूर करना चाहिए। (१२-१३ पूर्वार्द्ध)

‘समकित के आठ अंग (गुण) और शंकादि आठ दोष...’ यह व्यवहार समकित की बात चलती है, हाँ ! निश्चय में समकित में भेद नहीं है। यह तो भेदवाली श्रद्धा में ऐसे भेद-दोष हों उन्हें छोड़ना चाहिए। नहीं होना चाहिए।

जिन वचमें शंका न धार वृष, मव-सुख-वांछा भानै;
मुनि-तन-मलिन न देख धिनावे, तत्त्व-कुतत्त्व पिछानै।
निज गुण अरु पर औगुण ढाके, वा निजधर्म बढ़ावै;
कामादिक कर वृषतैं चिगते, निज-परको सु दिढावै॥१२॥

गाथा १३ (पूर्वार्ध)

धर्मी सों गौ-वच्छ-प्रीति सम, कर जिनधर्म दिपावै;
इन गुणतैं विपरीत दोष वसु, तिनकों सतत खिपावै।

‘सर्वज्ञदेव के कथित तत्त्वों में संशय-संदेह धारण नहीं करना...’ लो ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- संदेह अर्थात् क्या ?

उत्तर :- संदेह नहीं करना कि ऐसा होगा या नहीं ? भगवान के कहे तत्त्व ऐसे होंगे या नहीं ?

मुमुक्षु :- ऐसे के ऐसे मान लेना ?

उत्तर :- हाँ, समझकर ऐसे के ऐसे मान लेना। समझने के लिए आशंका होती है, परन्तु इन भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर जिनवरदेव एक समय में त्रिकाल (के ज्ञाता) परमेश्वर ने जो कहा, उसमें उसे शंका नहीं होती। सर्वज्ञ परमेश्वर ने तीन काल - तीन लोक जाने हैं। समझ में आता है ? बाहर की बात अभी यह सब चन्द्र-फन्द्र का आता है, वह सब गौण कर डाले, उसमें कुछ दूसरा होगा ? उसमें शंका नहीं करे। समझ में आया ? अभी तो बहुत धमाल चली है न ? हमें पक्रित को पूछना पड़ा था। कितना लम्बा कहे और कितना कहे ? क्या कहते हैं ? उसके

साथ कुछ मेल नहीं है।

‘सर्वज्ञदेव द्वारा कथित तत्त्वों में...’ भगवान के द्वारा कथित छह द्रव्य, परमेश्वर द्वारा कथित छह द्रव्य अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्तिकाय (एक) अधर्मास्तिकाय और आकाश - इनके अन्तरभेद के रूप में नव तत्त्व, यह भगवान ने कहे हैं। इनमें उसे सदेह नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञपद आत्मा ही प्रतीति में आया है, उसे दूसरे सर्वज्ञ द्वारा कथित तत्त्व, उसके ज्ञान में भले प्रत्यक्ष न भासे, परन्तु उनकी शंका का स्थान नहीं होता। समझ में आया ? ‘(निःशंकित अंग है)।’ इसका नाम निःशंकित अंग है - समकित का पहला व्यवहार अंग है। समझ में आया ? व्यवहार की बात है, हाँ ! निश्चय के आये हुए शास्त्र में, वहाँ ‘समयसार’ में। वहाँ आठ निश्चय (अंग) आये हैं, आत्मा के अन्दर में। यह तो जिनवचन में शब्द पड़ा है न ? परवचन/परवस्तु ली है न ? आत्मा में अन्दर निःसंदेह, निःशंक हो जाना। वहाँ ‘समयसार’ में यह बात है, हाँ !

(दूसरा) निःकांक्षित अंग है। उसे कांक्षा-इच्छा नहीं होती। शंका नहीं होती। समझ में आया ? निःशंक... निःशंक। माँ की गोद में पड़ा हो, उसे शंका नहीं होती है। क्यों होगी ? कोई मारने आयेगा तो मुझे बचायेगी या नहीं बचायेगी ? सर्वज्ञ की वाणी, परमात्मा ने कहा है, बहुत प्रकार का गंभीर तत्त्व है, गहरा है; बहुत अपेक्षाओं वाला है - ऐसा जानकर उसमें शंका नहीं करता। परमेश्वर वीतरागदेव त्रिलोकनाथ, जिन्होंने एक सेकेण्ड के असंख्यातवें भाग में परमेश्वर ने तीन काल - तीन लोक प्रत्यक्ष वीतराग भाव से देखा है। समझ में आया कुछ ? ऐसे वीतराग परमेश्वर द्वारा कथित तत्त्वों को पहिचानना तो सही ? समझ में आता है न ? पहिचानकर शंका नहीं करना। निःशंक रूप से परमेश्वर कहते हैं, उसे आत्मा के भानसहित में व्यवहार में मानना। समझ में आया ?

‘निःकांक्ष धर्म को धारण करके (भव-सुख-वांछा) सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं करे...’ देखो ! सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव, व्यवहार धर्म में भी धर्म को धारण करके भवसुख की वांछा (नहीं करता)। समझ में आया ? (उसे) भव सुख (की) वांछा नहीं होती। देखो ! ‘वृष, भव-सुख वांछा भानै;...’ भव के सुख की वांछा का नाश करे। देखो ! आहा..हा... !

भवसुख वांछा.. भवसुख की वांछा, ऐसा। जहाँ आत्मा के आनन्द की प्रतीति और भान हुआ है - ऐसा जीव व्यवहार में भी भवसुख की वांछा, संसार-सुख की इच्छा नहीं करता। कहो !

मुमुक्षु :- धर्म करने का प्रयोजन क्या ?

उत्तर :- धर्म करने का प्रयोजन अन्दर शुद्धता प्रकट करना वह (है)। धर्म करने का प्रयोजन स्त्री, पुत्र मिलना यह है ? धर्म करे तो सुखी होगा। पुत्र और पैसा और धूल मिले वह... ? मिलती कब है ? इसके पास तो ममता मिलती है।

यहाँ तो कहते हैं, भव की इच्छा में भव में सुख ही नहीं है। उसकी वांछा ही नहीं होती। देखो ! चारों गतियों में दुःख में है, उसके बदले सुख की इच्छा करे - स्वर्ग में जाऊँ, देव होऊँ, ऐसा करूँ - ऐसी वांछा भानै - नष्ट करे। यह वांछा नहीं होती। आहा..हा... ! समझ में आया ? भले उसे पुण्य भाव हो जाए और स्वर्गादि मिले परन्तु उसकी वांछा नहीं है। समझ में आया ? यहाँ तो जहाँ-तहां मन्त्रत में भगवान के नाम से भगवान को मानना है - लड़का होगा तो ऐसा चढ़ाऊँगा, अमुक होगा तो ऐसा करूँगा, केसर चढ़ाऊँगा, बहुत केसर... बालक होगा तो केसर चढ़ाऊँगा। करोड़ रूपयेवाले को लाख का केशर चढाना होवे तो क्या ? धूल में भी नहीं। महा शंकावाला है, कहते हैं। उसे आत्मा का भान नहीं है। वीतरागदेव का धर्म कैसा है ? उसका उसे पता नहीं है। आहा..हा... ! समझ में आया ? लो ! यहाँ मांगलिक सुने तो स्वस्थ रहेंगे; विवाह किया है, वे ऐसे के ऐसे अच्छे रहेंगे, ऐसे रहेंगे, वैसे रहेंगे।

मुमुक्षु :- परन्तु वह मांगलिक सुने किसलिए ?

उत्तर :- वह तो शुभभाव के लिये है। एक शुभभाव होता है। शुभभाव, बस ! उसमें ऐसी वांछा नहीं होती कि नवदंपति सब अच्छा रहे, अपना सब सुख ठीक रहे - ऐसी समकिति को व्यवहार समकित में भी भव के सुख की वांछा नहीं होती। आहा..हा... ! यह तो कितने सुरधन और माता और .. तावड़ी... तावड़ी है। तावड़ी आती है, मुफ्त में शब्द नहीं आता। हजारों तावड़ी, तावड़ी, माता है, वहाँ हजारों तावड़िया पड़ी होती है। देवी के पास। तावड़ी मानते हैं, मूर्ख.. ! मूर्खों के गाँव कहीं अलग होंगे ? भाई ! मूर्खों के गाँव कहीं अलग होंगे ? हर गाँव में (मूर्ख) पड़े होते हैं।

मुमुक्षु :- नयी या पुरानी ?

उत्तर :- नयी, उसे नयी चढ़ाते हैं। हजारों पड़ी है, रास्ते में हजारो (पड़ी है)। किस जगह है ? कुछ पता है ? कहीं आता है। यहाँ तो बहुत घूमे है न ! हजारों तावड़ियों के ढेर। ऐसे आते है, ऐसे। कितनी तावड़ियों के ढेर हैं ! पचास-पचास हजारों तावड़ियों के ऐसे बड़े ढेर के ढेर (पड़े होते हैं)। दुनिया को क्या है ? रोटियों के भिखारी..., तावड़िया चढ़ाएँगे तो अपने को रोटी-बोटी ठीक से मिलेगी। भिखारी है।

वीतराग परमेश्वर को माननेवाले सर्वज्ञदेव को माननेवाले को ऐसी वांछा नहीं होती। समझ में आया ? आहा..हा... ! कहा नहीं था ? हम (संवत्) २००६ में 'सरा.. सरा' गये थे। 'सरा' में उपाश्रय में उतरे थे, लोगों को प्रेम तो था न ! भले बदल डाला, परन्तु सबको पूर्व का प्रेम था न ! ढाल-बैण्ड लाकर सामने अगवानी की, उपाश्रय में उतरे, हाँ ! नाम बड़ा इसलिए लोग उपाश्रय में तो समाते नहीं थे; बड़ी पाठशाला थी, बहुत लोग एकत्रित हुए थे। (वहाँ से) वापस लोटे, उनका एक व्यक्ति प्रमुख है। (वह कहने लगा), माता है, दो हजार रुपये देती है, उसे मांगलिक सुनाओ। मैंने कहा - कोई वृद्ध... सेठानी होगी। बारह महीने दो हजार देती होगी, लाओ न मांगलिक सुनायें कहाँ इन्कार करुं। व्याख्यान बहुत दूर था। इस किनारे नदी और उस किनारे उपाश्रय; इसलिए बीच में आता था। अपने को पता नहीं, जब वहाँ आये तो मेलड़ी माता। मेलड़ी माता सत्य है, अन्दर गये, मैंने कहा अपने को तो अब जरूर देखना। अन्दर गये तो उसके लकड़ी के होते हैं न ? उसके उपर हाथ रखा। ऊपर हाथ रखा। महाराज ! इसे मांगलिक सुनाओ। उसे ऐसा कि महाराज का मांगलिक हो तो दो हजार के पाँच हजार हो जाएँ। महाराज का मांगलिक अलग प्रकार का है, परन्तु मूर्ख यह क्या है परन्तु यह ? यह जैन में नहीं होता, कहा। ऐसी लकड़ी को मांगलिक सुनाना, किसे सुनाना इसमें ?

मुमुक्षु :- मेलड़ी माता के स्थान में ?

उत्तर :- हाँ, उसके स्थान में बड़ा मकान है। 'दोशी परिवार' में उसे मानते हैं। स्थानकवासी, मेलड़ी माता को मानते हैं, उसे धून्ते हैं, उसे मानते हैं। प्रौषध करनेवाले, सामायिक करनेवाले... उनकी कुलदेवी, उन्हें मेरा विश्वास था न ! महाराज का मांगलिक

(अर्थात्) आहा..हा...! उन लोगों को देखो न कितना है ! भले सम्प्रदाय छोड़ दिया परन्तु उसकी महिमा तो अपार लगती है। इसलिए महाराज मांगलिक सुनाये तो सुनेंगे... परन्तु किसे सुनाना ? बापा ! अरे..! ऊपर से देव उतरे तो धर्मी जीव उन्हें नहीं चाहता। क्या बोलते हो ? मैंने उन्हें ऐसा कहा, हाँ ! देव ऊपर से उतरे और कहे कि तुम्हें यह दूँ, क्या बात (करते) है ? सुने फिर हाँ ! ऐसा नहीं कि महाराज झूठ कहते हैं। द्वेष नहीं, अरुचि नहीं। रात्रि में वापस एकत्रित हुए तब कहा – महाराज ! ऐसा हमें पता नहीं, हाँ ! ऐसा हमें पता नहीं, बापू ! धर्म दूसरी बात है, बापा ! यह सामायिक, प्रौषध करनेवाले जैन ऐसी मेलड़ियों को मानते हैं। हम धर्मी है, बापा ! यह तो तू धर्म को लजाता है। परन्तु वस्तु का पता नहीं है। यह तो निश्चय के बिना भी व्यवहार का ठिकाना नहीं है। देव ऊपर से उतरे तो भी तू क्या कर सकता है ? मेरे पुण्य के बिना पाई मिले – ऐसा नहीं है और असाता का उदय होवे तो तू इन्द्र आवे तो तीन काल में रोक सके – ऐसा नहीं है। मेरी शान्ति और प्रतीति तो मेरे पास है। मुझे क्या करना है देव का ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- देव होवे तो रूपये दे।

उत्तर :- धूल (भी) रूपये नहीं देता। अभी कहा न ? फिर भी यह तो बेचारा स्पष्ट कहता है। 'राजकोट' में है न ? (एक भाई की) बहु के पास देव आता है, कोई देवी आती है, परन्तु नाम स्पष्ट नहीं कहती। अपने (एक भाई: है न ? उनका एक मुनीम है। एक देवी आती है। सो। दौ सौ, तीन सो रूपये छोड़ जाती है। वैसे दिखायी नहीं देती। अभी तक पन्द्र-सोलह हजार रूपये हुए हैं। ऐसा कह जाती है कि तीनसो पड़े हैं, दो सो पड़े हैं; इसलिए उन्हें उठाकर फिर बैंक में जमा कर आवे, फिर वह नहीं ले जाती। सोलह हजार हुए हैं, अभी यहाँ आये थे, तब कहते थे कि सोलह हजार हुए हैं, परन्तु वह स्पष्ट कहते हैं कि देखो ! हम तो दिगम्बर जैन हैं और परमेश्वर को माननेवाले हैं; हम (अन्य) किसीको नहीं मानते, तू पैसे रख तो भी हम नहीं मानते – ऐसा कहते हैं। वह पूछे – कौन है तू ? तो बोलते हैं, अम्बाजी। अम्बाजी (न हो) परन्तु कोई पूर्व का प्रेम होता है। पैसा छोड़ जाती है, दो सौ, पचास, सो, तीन सो, पाँच सो। गद्दे में पाँच सो हैं, देखो ! ऐसा कहे (और निकले)। अभी तक सोलह हजार हुए हैं। बैंक में रखे हैं। वह कहते हैं, एक बार पैसे रखे और मैंने नहीं लिये तो ले गयी, इसलिए रखते ही

साथ ले लूं। बैंक में रख आऊँ, परन्तु स्पष्ट बात करती है, हम मानते नहीं, हाँ ! तेरे पैर नहीं पड़ते – ऐसा कहते हैं, भाई ! हाँ ! हम किसीके पैर नहीं पड़ते, वीतराग परमेश्वर के अलावा; वीतरागदेव के गुरु-सन्त और परमात्मा के अलावा हम किसी के पैर नहीं पड़ते। तू कौन है ? कहे, तो भी हम पैर पड़नेवाले नहीं हैं। यों पैसेवाले हैं, वैसे अभी साधारण नौकरी करते हैं। उनकी लड़की 'भोपाल' में है। अरे..! देव होवे तो भी क्या ? क्या दे देगा हमें ? धर्मी को, जिसे आत्मा की श्रद्धा है...

मुमुक्षु :- नगद दे...

उत्तर :- परन्तु नगद देकर आत्मा को क्या हुआ ? उसने क्या किया ? वह तो पुण्य था। पुण्य होवे तो वह आता है। इसके पुण्य बिना वह आता नहीं। तीनकाल में आ नहीं सकता। यहाँ पुण्य होवे तो आता है। (हमें) पुण्य भी नहीं चाहिए तो फिर तेरे पैसे हमें कहाँ चाहिए है ? धर्मी की ऐसी श्रद्धा अन्दर होती है। यह तो लालापेठा ठिकाने बिना के। ऐसा कहते हैं, भगवान को माननेवाले और माने ऐसे ठिकाने बिना के हो उन्हे, आहा..हा...! आदर करते हैं, हाँ ! प्रेम से, घर ले गये। महाराज ! फिर से पधारना – ऐसा कहते। बेचारें भले भोले लोग। यह वीतराग का मार्ग क्या है और परमेश्वर ने आत्मा क्या कहा ? आत्मा। उसका पता नहीं मिलता, उसे व्यवहार धर्म का तो ठिकाना नहीं मिलता। भाई !

इस (भाई के) पैसे ले गये। नहीं कहा ? चार हजार रुपये गये हैं। कितने ? चालीस हजार। यह परदावाला नहीं ? यह कहे कि, मैंने मकान लिया, वह शंकास्पद था परन्तु मैंने तो लिया, परन्तु माल चला जाता है। अलमारी में माल भरा हो, वह चला जाता है। रोटी, दाल, चावल किये हो वह चला जाए। अलमारी में, वह क्या कहलाता है लोहे का ? स्टील के बर्तन तीन-तीन हजार के भरे हों, वे चले जाते हैं। चालीस हजार का गया। बाद में मकान बेच दिया। क्या है यह कुछ पता नहीं, कुछ पता नहीं चलता; चला जाता है – यह सत्य है। जिसने मकान लिया, उसे कुछ नहीं होता, उसे कुछ जाता नहीं; इसलिए पाप का उदय हो, उसका जाता है। इसमें दूसरा कौन करे ? व्यर्थ का भ्रम करता है। यह बात सत्य है, इसके चालीस हजार गये हैं, हाँ ! यह कहता था। समझ में आया ?

धर्मी जीव, पर की कांक्षा करता ही नहीं। ऐसा रोग मिट जाए तो इसे मानूँ; इसका ऐसा होवे तो मानूँ – ऐसा भ्रम अज्ञानी को होता है। व्यवहार धर्म में निश्चय समकिति को ऐसा न होवे तो बेवजह व्यवहार धर्मवाले को होता नहीं। निश्चय के बिना भी व्यवहार धर्मवाले को ऐसी कांक्षा नहीं होती समझ में आया ?

‘(भव-सुख-वांछा)...’ देखो ! यहाँ तो पूरी गति की ही बात की है। देव के सुख की ही इच्छा नहीं। देव के सुख की... यहाँ के वर्तमान की पैसे की (बात) तो कहाँ रही ? ऐसी वांछा सम्यग्दृष्टि को व्यवहार में नहीं होती। आहा..हा... ! बहुत बदल गया, बहुत मान्यता चलती है न ? महावीरजी में चलती है न ? भाई ! महावीरजी में, पदमपुरी.. लोग धुने और वह जाए। यह जैन के नाम से वीतराग परमेश्वर में ऐसे वाड़ा (सम्प्रदाय) चलते हैं। परमेश्वर, जिन्हें सौ इन्द्र तो पूजते हैं। जिनके जन्म के पहले माता के पेट को साफ करने इन्द्र आते हैं – ऐसे जो भगवान, ऐसे तीर्थंकर उन्हें जब सर्वज्ञपना हुआ और जब (केवल) ज्ञान हुआ और उपदेश किया – ऐसे परमेश्वर को माननेवाले को ऐसी कांक्षा नहीं होती। देखो ! भव सुख की वांछा कही है, हाँ !

‘मुनियों के शरीर इत्यादि मलिन देखकर...’ इत्यादि कहा है। ‘(मुनि तन)’ ... सच्चे दिगम्बर मुनि होते हैं। उन्हें आत्मध्यान, ज्ञान, आनन्द का अन्दर अनुभव होता है। शरीर में नहाना-धोना नहीं होता; मलिन शरीर भी हो परन्तु धर्मी को उसकी मलिनता देखकर धृणा नहीं करना... ग्लानि नहीं होती। शरीर की स्थिति ऐसी है। शरीर अशुचि से भरा हुआ है। मुनि तो आत्मा की देखभाल करनेवाले हैं, उन्हें कहीं शरीर की देखभाल नहीं होती। इसी तरह कोई विष्टा का ढेर देखे, सड़ा हुआ कुत्ता-बिल्ली देखे तो धृणा नहीं आती। वह तो परमाणुओं की पर्याय है, उसमें किसकी ग्लानि करनी ? समझ में आया ? शरीर सड़ता है न ? बड़ा भाठा होता है न, वह क्या कहलाता है ? फोड़ा... फोड़ा... फोड़ा दुर्गन्धित होता है, सड़ता है... परन्तु वह तो परमाणुओं की पर्याय है। उसे ऐसा देखकर धृणा-ग्लानि न करे। समझ में आया ?

एक सेठ को ऐसा फोड़ा हुआ... ऐसी गन्ध दे। किस प्रकार खाना ? शेरो करे, एकदम

उतारे। वरना सड़ गया इसलिए इतनी गन्ध मारे। एकदम शेरों करके मुँह में डाल दे, वरना उल्टी होजाए। यह शरीर की दशा (है), बापू ! यह तो परमाणु-मिट्टी है। उसकी पर्याय कैसी होगी – यह किसी के आधार से नहीं है। धर्मी जीव को उसकी धृणा नहीं हो सकती। समझ में आया ? एक गधा दुर्गन्धित सड़ा हुआ, हाँ ! रात्रि में मरने की तैयारी। ऐसे शरीर गन्ध मारता है। यह सब सड़ गया था। ऐसा सड़ा हुआ तो ऐसे गन्ध मारे, हाँ ! साथवाले कहने लगे – मांगलिक सुनाओ, महाराज ! तो सुनाया।

‘(तत्त्व-कुतत्त्व) सच्चे और झूठे तत्त्वों की पहिचान रखे, वह अमूढ़ दृष्टि...’ उलझता नहीं, सम्यग्दृष्टि उलझता नहीं; निःशंक निमूढ़ होता है। निमूढ़-अमूढ़ समझ में आता है ? भगवान के द्वारा कथित सच्चे तत्त्व और उनसे विरुद्ध अज्ञानीयों के द्वारा कथित (मिथ्यातत्त्व)। परमेश्वर वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कथित तत्त्व, उनसे विरुद्ध अज्ञानीयों द्वारा कथित तत्त्व-दोनों को जानता है कि इसमें बड़ी भूल है। उलझता नहीं है। अज्ञानी तत्त्ववाले गुरु आदि हों, (उन्हें) हाथी के ओहदे पूजे, राजा पूजे, देव पूजे तो (ज्ञानी को) ऐसा नहीं लगता कि इसमें कुछ होगा ! यह क्या है ? यह सब तो पुण्य के ठाठ हैं, इसमें धूल में क्या आया ? सच्चे-खोटे तत्त्व की पहिचान में धर्मी उलझता नहीं है, भाई ! प्रवीण होता है – ऐसा कहते हैं। लिया या नहीं ? ‘तत्त्वों की (पीछानै)...’ पीछाने (अर्थात्) प्रवीण होता है उसमें होशियार होता है। सम्यग्दृष्टि, मिथ्या-सच्चे तत्त्वों में उलझता नहीं है। समझ में आया ? कुतत्त्व के माननेवाले की इज्जत देखे, बड़ी सभा देखे, ओहो..हो.. ! बड़े-बड़े राजा मानते हैं, इसलिए कुछ होगा ? अब राजा माने या देव माने – उसमें क्या है ? देव भी मानते हैं। ऐसे मूढ़ देव नहीं होते ? समझे न ?

जिसे सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग परमात्मा द्वारा कथित आत्मा की श्रद्धा हुई है, उसे व्यवहार श्रद्धा में कुतत्त्व और सुतत्त्व की शंका नहीं होती; उलझन में नहीं आता कि इसमें क्या निर्णय करना ? एक ऐसा कहता है, एक ऐसा कहता है, वे कहते हैं कि व्यवहार से होता है, वे कहते हैं कि निश्चय होवे तो व्यवहार को व्यवहार कहा जाता है। अरे.. ! परन्तु यह क्या होगा ? भगवान ! निर्णय करना चाहिए प्रभु ! बापू ! अनन्तकाल में ऐसा मनुष्यपना मिला है; आँखे बन्द हो जाएगी (और) कहाँ चला जाएगा, बापा ! कोई शरण नहीं है, कोई शरण नहीं है।

समझ में आया ? वीतराग परमेश्वर द्वारा कथित तत्त्वों में, किसके कुतत्त्व है और भगवान के सुतत्त्व क्या हैं ? (उसमें) उलझन में नहीं पड़ता; तुलना करके भलीभाँति पहिचान करता है। समझ में आया ?

‘(निज गुण) अपने गुणों को और दूसरे के अवगुणों को छिपावे...’ आहा..हा... ! क्या कहते हैं ? अपने गुण प्रकट हुए हों, उन्हें बाहर प्रसिद्ध करने का ढिंढोरा नहीं पीटता। आहा..हा... ! ऐ..ई.. ! समझ में आया ? क्या काम है ? दुनिया माने तो गुण की शुद्धि बढ़ती है ? तथा न माने और निन्दा करे तो कोई गुण की शुद्धि घट जाती है ? भाई ! समझ में आया ? आहा..हा... ! अपने गुणों को ढँकता है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? जो गुण प्रकट हुए हों, उनकी प्रसिद्धि होवे तो ठीक, दुनिया माने तो ठीक, दुनिया को अधिक पता लगे तो ठीक – ऐसी भावना उसे नहीं होती है। (प्रसिद्धि होने से) क्या लाभ है ? और दुनिया स्वीकार न करे, इसमें उसे क्या नुकसान है ? आहा..हा... ! समझ में आया ?

‘और दूसरे के अवगुणों को...’ जगत के अवगुण हैं, उन्हें बाहर प्रसिद्ध करूँ तो उसकी अवहेलना होगी – ऐसी इच्छा आगुसे नहीं होती है। उसके अवगुण बाहर प्रकट हो तो यह तो पाप का उदय होगा तो लोग उसका अनादर करेंगे; वरना अवगुण बाहर प्रसिद्ध हों और फिर भी उसका पुण्य होगा तो लोग उसका आदर करेंगे। तुझे क्या काम है ? ऐ... यह प्राणी ऐसा है, यह प्राणी ऐसा है... समझ में आया ? दूसरे के अवगुण बाहर प्रकट करने से तुझे क्या लाभ है ? तेरे गुण बाहर प्रसिद्ध न होवे तो तुझे क्या नुकसान है ? और दूसरे के अवगुण दुनिया न जाने तो तुझे क्या नुकसान है ? आहा..हा... ! देखो न ! व्यवहार समकित में भी कितनी बात है ?

मुमुक्षु :- किसकी बात करते हो ?

उत्तर :- आत्मा की। किसकी बात करते हैं यह ? यह किसके आत्मा के लिए बात चलती है ? किसके लिए बात चलती है ?

मुमुक्षु :- बात किसकी है ?

उत्तर :- बात आत्मा की। समझ में आती है ? आहा..हा... ! पहले तुम्हारी लड़की नहीं आयी थी ? जातिस्मरणवाली यहाँ आयी थी न ? अब आयेगी। उसे कहते तो हैं, लावे तब

सही। उसकी फिर सेवाचाकरी करनी पड़े न ? थोड़ा-बहुत रखना पड़ता होगा न ? यह सब लोग देखना चाहते हैं। इस (भाई के) घर से कहते थे, लो, मुम्बई जानेवाले हैं ? परन्तु लड़की ? यहाँ आवे न, होगा या नहीं ? यहाँ तुम्हारी बड़ी बहिन नहीं ? यह लोग अधिक आये तो देखेंगे या नहीं ? लोग आयेंगे तो देखेंगे तो सही न ! उसके लिये तो पहले से कहा था। तुम्हारा घर नहीं ? बड़ी बहिन का नहीं ? मुझे तो दूसरा कहना था। उसकी थोड़ी बाहर प्रसिद्धि हुई तो लोगों में ऐसा हो गया कि आहा..हा..हा... ! समझ में आया ? फिर मैंने एक बहिन से कहा कि बहिन ! यह तुम्हारी बात कहाँ ? और वह कहाँ ? (तो कहा कि) बाहर प्रसिद्धि का क्या काम है ? आहा..हा... ! उस समय की शैली देखी होवे तो पता चले। समझ में आया ? परन्तु बाहर क्या है ? दुनिया माने या लोग पहिचाने, उसका हमें काम क्या है ? समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि उसे इस प्रकार का विकल्प नहीं होता। अपने गुण प्रसिद्ध करना और दूसरे के अवगुण ढांकना; प्रसाद्ध नहीं करना। प्रसिद्ध करके (उसे) क्या नुकसान ? तुझे क्या लाभ ? समझ में आया ? यह समकित का गुण है। समझ में आया ? दूसरे बोल विशेष है, वे कहेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



डॉ. गींगुली :- आत्मज्ञान होने पर तो ये व्रतादि राग हैं - ऐसा भासित होता है, परन्तु आरंभमें आत्मज्ञान तो शीघ्र ही नहीं होता न ?

पू. गुरुदेव श्री :- शीघ्रका अर्थ - इसका अभ्यास करना चाहिए । राग क्या है, आत्मा क्या है, मैं त्रिकाल टिकने वाली वस्तु कैसी हूँ (आदिका) अभ्यास कर-ज्ञानकर, रागसे भिन्न आत्माका अनुभव करना - यह पहली बात है । आत्माको जाने बिना इसके सभी क्रिया-कांड अरण्य-रोदनसमान है । अन्तरमें आत्मा आनन्द-स्वरूप भगवान चैतन्य-तेजका पुँज प्रभु है । उसका ज्ञान न हो, अन्तर दशाका वेदन न हो, तब तक अज्ञानीके सभी क्रिया-कांड झुठे हैं । सम्यक्दर्शन प्राप्त करना दुर्लभ है, सर्वप्रथम सम्यक्दर्शन प्राप्त करनेका ही प्रयत्न होना चाहिए।

(परमागमसार - २६२)

वीर संवत २४९२, माध कृष्ण २, सोमवार

दि.७-२-१९६६, गाथा १२, १३, प्रवचन नं.-१९

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। इसकी तीसरी ढाल चलती है। उसकी १२वीं गाथा है (और) १३ वीं आधी है। क्या कहते हैं ? पहले बात आ गयी है कि परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि। 'भला है, ...' आया है पहले। यह निश्चयसम्यग्दर्शन की व्याख्या की। निश्चय अर्थात् सच्चा-सत्यदर्शन। आत्मा परद्रव्य अर्थात् शरीर, कर्म, वाणी, पुण्य-पाप के विकल्प-रागादि से भिन्न आत्मतत्त्व है। ऐसे आत्मा की अन्तर में स्वभावसन्मुख की, अन्तर्मुखी अनुभवदृष्टि करना - इसका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन (कहते हैं)। वहाँ से धर्म की प्रथम शरुआत होती है। वह मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है। आगे आयेगा न ? मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है। कुछ समझ में आया ?

आत्मा आनन्द ज्ञायक चैतन्यस्वरूप, उसकी शान्ति, उसमें - आत्मा में वतीरागता भरी है, उसे अन्तर दृष्टि में वीतराग दृष्टि द्वारा वस्तु के स्वरूप का निःशंकरूप से अनुभव में प्रतीति करने का नाम सम्यग्दर्शन - निश्चय सत्यदर्शन कहा जाता है। उसके साथ व्यवहार समकित होता है। यह निश्चयसम्यग्दर्शन हो, वहाँ व्यवहार सम्यग्दर्शन शुभविकल्प-रागरूप होता है। देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, नव तत्त्व के भेदवाली श्रद्धा, यह श्रद्धा का भाव भेदवाला, रागवाला है; इस कारण इसे व्यवहार श्रद्धा कहा जाता है। निश्चयसम्यग्दर्शन आत्मा का भान, अनुभव-दृष्टि होवे तो उस व्यवहार समकित को उपचार से समकित कहा जाता है।

मुमुक्षु :- आगे-पीछे चलता है।

उत्तर :- आगे-पीछे की बात ही नहीं है। अआगे-पीछे क्या होता है ? इसीलिए तो इसमें पहली यह बात की और फिर यह बात करते हैं। शैली ऐसी ली है। पहली निश्चय और बाद में व्यवहार की बात ली है और फिर लिया मुख्य उपचार। पीछे है न श्लोक में ? मुख्य-उपचार।

वहाँ भी मुख्य अर्थात् निश्चय और उपचार अर्थात् व्यवहार, भाषा ऐसी ली है। समझ में आया ?

आत्मा अन्दर शान्त वीतरागी स्वभाव, उसे इस पुण्य-पाप के विकल्प से अथवा व्यवहार से भी आत्मा प्राप्त हो - ऐसा वह नहीं है। यह तो दोपहर में बहुत आया था। सूक्ष्म बात है, भाई ! यह अनन्त काल के जन्म-मरण के नाश का उपाय, उसकी सीडी - पहला ही सोपान उत्तम है। जिसके समकित बिना उसका ज्ञान और सभी क्रिया निरर्थक है।

मुमुक्षु :- दुःख का कारण है।

उत्तर :- हाँ दुःख का कारण कहा (है)। निरर्थक कहा परन्तु सार्थक है, दुःखरूप है। निरर्थक अर्थात् उसमें प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। व्यवहार शास्त्र का ज्ञान, व्यवहार नव तत्त्व की श्रद्धा, व्यवहार पंच महाव्रत के परिणाम - यह आत्मा के सम्यग्दर्शन के लिये बिलकुल कार्यगत नहीं है। समझ में आया ? परन्तु यह व्यवहार, निश्चय आत्मा का भान होने पर पूर्ण वीतराग न हो, वहाँ ऐसा व्यवहार आता है। उसकी मर्यादा में ऐसे शुभयोग की स्थिति होती है, उसे व्यवहार समकित कहते हैं; परन्तु यह व्यवहार समकित है, इससे निश्चय समकित है - ऐसा नहीं है तथा व्यवहार समकित है, उससे निश्चय उत्पन्न हुआ है - ऐसा नहीं है। वास्तव में व्यवहार समकित और व्यवहार श्रद्धा या व्यवहार ज्ञान या पंच महाव्रत के परिणाम - ये तीनों दुःखरूप हैं। जिसे व्यवहाररत्नत्रय कहते हैं, उसे दुःखरूप कहा है। आहा..हा... ! कल आया था। उससे आत्मा का कार्य बिलकुल नहीं है।

मुमुक्षु :- अज्ञानी को ऐसा है।

उत्तर :- ज्ञानी को भी ऐसा है। अज्ञानी को क्या, ज्ञानी को भी यह है। इससे आत्मा का कार्य नहीं होता।

निर्विकल्प निरपेक्ष भगवान् आत्म का अन्तर में अनुभव, विकल्प के व्यवहार की अपेक्षा बिना की दृष्टि होती है, तब उसकी भूमिका में वह व्यवहार दुःखरूप मानता है, उसे यहाँ व्यवहाररत्नत्रय या निमित्तरूप कहा जाता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? कहो, भाई ! ऐसे व्यवहार समकित के आठ गुण हैं और उनमें उसके आठ दोषों का त्याग है।

पहला निःशंक कहा, निःशंक। जैन वचन में निःशंक। स्वरूप की दृष्टि, अनुभव तो है।

सर्वज्ञ-कथित वीतराग मार्ग में व्यवहार में भी सम्यग्दृष्टि निःशंक है, शंका नहीं। शुभविकल्प की मर्यादा में व्यवहार में उसे शंका नहीं है; महा अचल दृढ़ है।

निःकांक्ष - समकित दृष्टि दूसरे को नहीं इच्छता। दूसरे धर्म के भाव को नहीं इच्छता। दूसरे धर्म में कुछ होगा - ऐसी कांक्षा उसे नहीं होती। इस व्यवहार समकित में इतनी अटल दृढ़ता होती है। निश्चयसम्यग्दर्शन हो, वहाँ की बात है, भाई ! आहा..हा... ! निःशंक और निःकांक्ष (हुए)।

निर्विचिकित्सा - मुनियों का शरीर मलिन देखकर उसकी धृणा नहीं होती - ऐसा भाव। संतो के शरीर की अवस्था ही ऐसी होती है। समझ में आया ? महामुनि हों, शरीर काला हो, कुबड़ा हो, शीतला निकली हो, ... हों। समझ में आया ? आत्मा की दृष्टि, जिसे अन्तरदृष्टि सम्यक् हुआ है, उसे व्यवहार समकित में भी, ऐसे मुनि या धर्मात्मा धर्मी हों, दूसरे सम्यग्दृष्टि धर्मी हों, पुण्य कम हो, शरीर काला हो, कुबड़ा हो, .. निकले हों (और) स्वयं सुन्दर हो .. समझ में आया ? ऐसे दांत बाहर निकले हों, दाढ़ ऐसी हो, ऐसा निकला हो - ऐसा सब हो। आहा..हा... ! उस (उसकी) धृणा नहीं होती। यह देह की स्थित हैं। सम्यग्दृष्टि अपने साधर्मी जीव में समकित जीव में भी ऐसा देखता है, उसका इसे तिरस्कार या धृणा नहीं होती। यह तो पाप के प्रकार हैं। पुण्य का प्रकार ऐसा हो। सम्यग्दृष्टि निश्चय में, व्यवहार सम्यग्दर्शन में धर्म को प्राप्त जीव के शरीर की अवस्था ऐसी हो, इसकी उसे धृणा नहीं होती। समझ में आया ? हम महारूपवान हैं, सुन्दर हैं, दूसरे से अधिक बड़े हैं और यह धर्मात्मा है, इसे पुण्य कम है, कुछ ठिकाना नहीं है - ऐसा उसे नहीं गिनता। समझ में आया ? यह तो व्यवहार सम्यग्दर्शन में (ऐसा जानात है) कि जो पुण्यबन्ध का कारण है, कि जो निश्चय अनुभव की दृष्टि होवे, वहाँ (ऐसा होता है)। समझ में आया ? आहा..हा... !

सच्चे और मिथ्या तत्त्वों की पहिचान में उलझता नहीं है। है न ? उलझन नहीं। सत्य तत्त्व है, सूक्ष्म में भी कही फर्क पड़े तो सम्यग्दृष्टि व्यवहार में उलझता नहीं। निश्चय में तो नहीं, व्यवहारमें भी उलझे नहीं - ऐसी उसके अन्तर में अमूढ़ता होती है। आहा..हा... ! समझ में आया ? यह कैसे होगा ? ऐसा कुछ होगा ? इसमें कुछ मार्ग होगा, (ऐसा) उसे नहीं होता, उलझन नहीं होती। कोई अन्य के देव-गुरु-धर्म की प्रभावना वर्ते, बाहर में बहुत बहुमान वर्ते,

देव उसके पास आते हों (तो भी) शंका नहीं पड़ती। उसे मूढ़ता नहीं होती कि इसमें कुछ होगा ? धर्मात्मा के पास देव भी नहीं आते हैं। ... समझ में आया ? यह ऐसी बात है। धर्मी जीव के पास देव भी नहीं आते, अधर्मी के पास बाहर के पुण्य के कारण देव आते हों, उसकी बाहर में जोरदार प्रभावना दिखती हो, राजा-महाराजा (उसे) मानते हों - उसमें कोई तत्त्व होगा ? ऐसा शंकाशील नहीं होता। समझ में आया ? यह चार हुए। पाँचवां कहा था।

अपने गुणों को ढाँके। आहा..हा... ! धर्मात्मा अपने गुणों को बाहर प्रसिद्ध करके पुकारता नहीं है। समझ में आया ? अपनी शक्ति का जो स्वभाव, भान हुआ, अनेक गुण प्रकट हुए हैं, उनकी प्रसिद्धि करूँ तो मुझे ठीक लगेगा - ऐसा भाव उसे नहीं होता। आहा..हा... ! समझ में आया ? गुणों को ढाँकता है अथवा दूसरे के अवगुणों को (ढाँकता है)। धार्मिक साधर्मी जीव होवे, उसमें कोई साधारण दोष आदि (देखे तो) व्यवहार में भी सम्यग्दृष्टि जीव के कोई ऐसा व्यवहार आदि अवगुण होवे तो ढाँकता है, बाहर प्रसिद्ध नहीं करता है। देखो ! इसे ऐसा हुआ, ऐसा हुआ। समझ में आया ? मिथ्यादृष्टि के तत्त्व की विपरीत बात करता है - यह कहीं दूसरे के अवगुण खोलने की बात नहीं है, यह तो तत्त्व से विरुद्ध है, उसके विरुद्ध तत्त्व की श्रद्धा की बात करता है। समझ में आया ? परन्तु धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि जीव का कोई साधारण प्रकृति का फर्क हो, अमुक हो, फिर भी भानवाला जीव है, ऐसों के व्यवहार समकिति जीव, निश्चयवाला ऐसे व्यवहार के अवगुण को ढाँकता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? प्रकट नहीं करता। धर्म की निन्दा हो जाएगी। धर्मात्मा है, सम्यग्दृष्टि है, अनुभव है और व्यवहार के किसी परिणाम में सहज बाहर में अन्तर दिखे, शरीरादि की कोई चेष्टा (ऐसी हो, उसे) ढाँकता है; लोक में धर्म की निन्दा होगी। समझ में आया ?

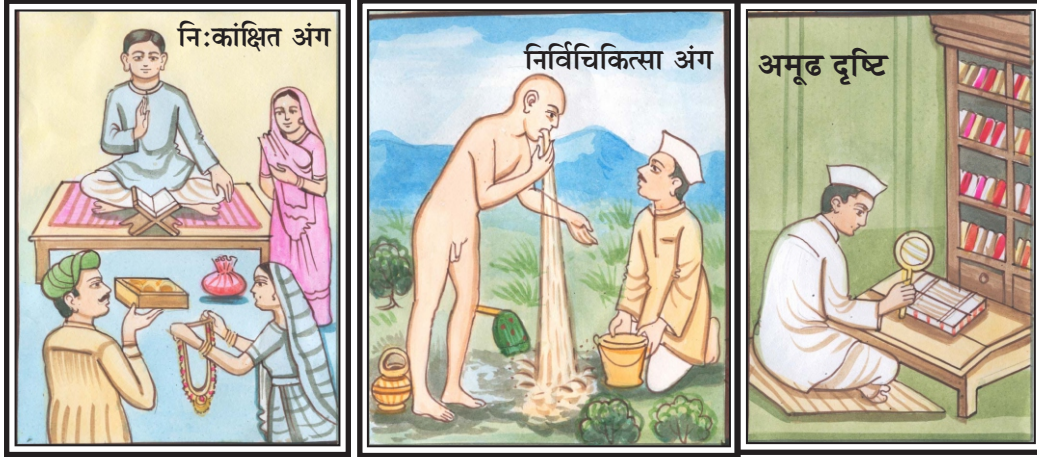
बापू ! जैनमार्ग तलवार की धार जैसा है, परन्तु तलवार की धार अर्थात् ? कठिन, ऐसा नहीं। यहाँ एक दृष्टान्त दिया है न ? रत्नकरण्डश्रावकाचार में तलवार और जल का दृष्टान्त दिया है। तलवार की धार का जल होता है न ? जल अर्थात् पानी पिलाया हो न ? तेज... तेज... चाहे जैसा प्रकार हो तो भी वह तेज बदलता नहीं। रत्नकरण्डश्रावकाचार में यह दृष्टान्त दिया है। समझ में आया ? जैसे तलवार का पानी हो, अन्दर पानी पिलाया होवे न ? सूक्ष्मधार। वह किसी से घिसती नहीं है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का पानी - तेज व्यवहार में समकित में भी

किसी से नष्ट नहीं होता। समझ में आया ? अवगुण की प्रशंसा नहीं करता। दूसरे के, धर्मीजीव के, हाँ ! अज्ञानी की तत्त्व से विरुद्ध (ता) होवे तो यह बात स्पष्ट करे कि यह श्रद्धा मिथ्यात्व है, यह श्रद्धा अज्ञान है। उसे फिर छुपावे और कुछ न कहे तब तो उसकी बात कहने का अन्त नहीं आवे, ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया ? जिसकी दृष्टि ही मिथ्यात्व है और जिसका आचरण ही मिथ्या है – ऐसों की बात को स्पष्ट करे कि इसकी दृष्टि मिथ्या है, इसका मिथ्यात्वभाव है, श्रद्धाभाव विपरीत है; वीतराग मार्ग है, उसे मानता नहीं – यह तो स्पष्ट करे। धर्मी जीव, सम्यग्दृष्टि के व्यवहार में कोई अवगुण हो तो उसे ढँकता है। यह उपगूहन का (स्वरूप) कहा।

अब, 'अपने आत्मधर्म को बढ़ावे...' एक में दो डाले हैं। उपबृहण। यह पाँचवां बोल है न, यह दो है। उपगूहन है और उपबृहण है। इसलिए यह कहा। अपने धर्म को बढ़ावे। अन्तर में अपनी आत्मा की शुद्धि को बढ़ावे। उपगूहन और उपबृहण दो शब्द हैं। अवगुण को ढँकना और गुण की वृद्धि करना। एक लाईन में दो गुण डाल दिये हैं। भाई ! उपगूहन है और यह निजधर्म उपबृहण डाल दिया है, स्वयं ने डाल दिया है। मूल में ही पाठ है। अपनी शुद्धि में वृद्धि हो यह बात रखे, दुनिया के साथ काम नहीं है। दुनिया कैसे देखती है, कैसे मानती है ? – उसके साथ इसे काम नहीं है। समझ में आया ? 'निर्मल बनावे...' उपगूहन है – ऐसा कहकर, उपबृहण डाल दिया। इसमें दो डाल दिये हैं।

'काम विकार आदि कारणों से धर्म से च्युत होते हुए...' काम-विकार अर्थात् किसी प्रकार की इच्छा की तीव्रता में आ जाए, विषय-वासना का प्रकार आदि (आ जाए तो) उससे (धर्म से) च्युत नहीं होते; अपने को और पर को दृढ़ करें। इसमें दृष्टान्त दिया है। ऐसे दृष्टान्त हैं। निःशंक में लकडहारे का दृष्टान्त दिया है। सिर पर भार भरा है। निःकांक्षित में यह दिया है। यह शास्त्र रखे है, ठीक ! निःशंकता अर्थात् ? निःकांक्ष - सर्प निकाला; सर्प के बदले यह निकाला लगता है, फुलमाला निकली है न भाई ने ? निर्विचिकित्सा में तो साधु

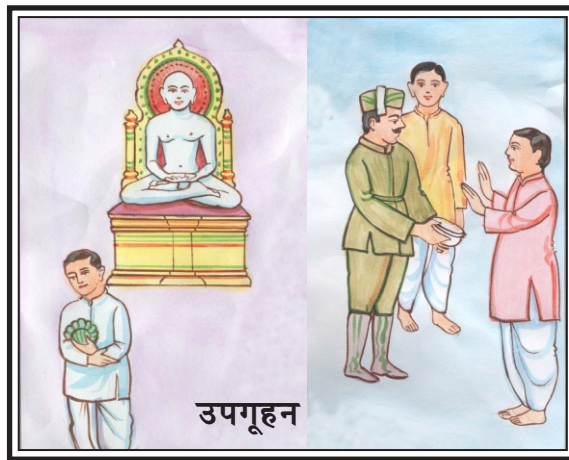




वमन करते हैं और समकिति देखता है, वह शान्ति रखता है और वहाँ तत्त्व की अमूढदृष्टि की है। यहाँ उपगूहन किया है। ढँकता है। कोई चोर हो, ऐसा धर्मी हो उसने किया हो तो उसे जाने दे, (माफ) करे। समझ में आया ?

कामादिक अर्थात् इच्छा आदि। कोई राग के लोभ की वृत्ति आदि हुई, स्वयं को भी उस प्रकार का हुआ, व्यवहार का हाँ ! निश्चय में तो भान सम्यक् निश्चय निर्विकल्प है। व्यवहार के विकल्प में स्वयं उसे जाने से रोके, अपने को स्थिर करे और पर को भी स्थिर करे। धर्मी जीव हो, उसे भी कोई अस्थिरता आदि की लोभादिक की वृत्ति का भाव आया हो तो उसे समझावे।

निश्चय सम्यग्दृष्टि है, उसे व्यवहार में ठिकाने लगावे - दृढ़ करे, वह स्थितिकरण अंग है।



‘धर्मी सों गौ-वच्छ प्रीति सम...’
देखो ! इसमें भी दृष्टान्त दिया है, हाँ !
देखो ! गाय और बछड़ा। सम्यग्दृष्टि जीव दूसरे सम्यग्दृष्टि जीव को, बछड़े के प्रति जैसे गाय को प्रेम होता है, ऐसा उसे



प्रेम होता है। समझ में आया ? द्वेष नहीं होता कि यह मुझसे बढ़ गया। मुझसे ऐसा हुआ, मेरे तो अमुक है और इसे तो अवधिज्ञान हो गया और यह तो महिमामण्डित हो जाएगा, दुनिया में कीर्ति बढ़ जाएगी। समझ में आया ? और मैं तो इससे पहले समकृति था। समझ में आया ? ऐसा उसे नहीं होता, प्रेम होता है। जैसे बछड़े के प्रति गाय

को प्रेम है। गाय को बछड़े (के पास से) कुछ लेना है ?

मुमुक्षु :- ... पुत्र ...

उत्तर :- परन्तु पुत्र अर्थात् क्या ? पैर दबायेगा ? घास लायेगा ? पानी लायेगा ? बछड़ा क्या करेगा ? हैं !

मुमुक्षु :- ... स्पर्धक ...

उत्तर :- स्पर्धक तो भी उसे क्या मदद करेगा ? वह मदद क्या करेगा ? फिर भी उसे (बछड़े) के प्रति प्रेम है। इसी तरह दूसरे धर्मात्मा जीव इस आत्मा को कुछ नहीं करते हों परन्तु उनके प्रति इसे प्रेम होता है। निश्चय का भान है, व्यवहार में कोई (दोषादि) हों तो भी उसका प्रेम है। जैसे, माँ को पुत्र के प्रति प्रेम है, वैसा प्रेम इसे होता है। साधर्मी को पारस्परिक प्रेम होता है आपस-आपस में द्वेष, ईर्ष्या नहीं होती। समझ में आया ?

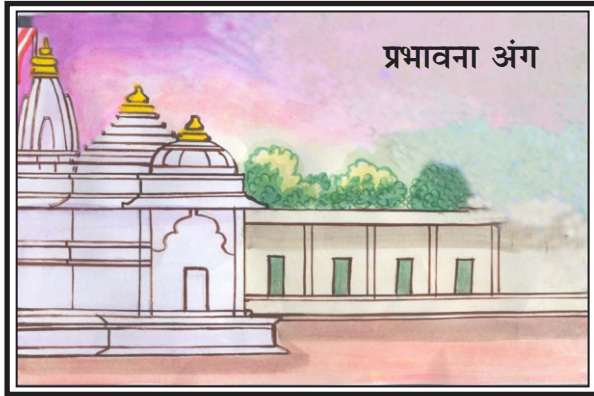
मुमुक्षु :- पुत्र आज्ञाकारी होवे तो प्रेम होता है।

उत्तर :- माँ को प्रेम होता ही है। काट दिया। दो लड़कों का दृष्टान्त नहीं दिया था ? एक अपना पुत्र था, वह अधिक सौतन के पास रहता था। अब विवाद उत्पन्न हुआ। वह कहे कि मेरा लड़का.. यह कहे मेरा लड़का। कोर्ट में ले गये। कोर्ट में कहे - अब किसका करना ? जज ने हुकम दिया - करो दो टुकड़े, आधा-आधा दे दो। जिसका लड़का था, वह कहने लगी - रहने

दो, उसे मारना रहने दो - लगी अन्दर से। जज ने हुकम दिया कि इसे दे दो, इसका लड़का है। समझ में आया ? दूसरी थी, वह ऐसी की ऐसी खड़ी रही। (यह कहने लगी) - इसे मारना नहीं, उसे दे दो। समझ में आया ? अन्दर में प्रेम है। अरे..! मेरा लड़का भले ही वह ले जाए परन्तु मारे नहीं, उसे मारना नहीं, हाँ ! आहा..हा...! समझ में आया ? उसे प्रेम होता है। समझ में आया ?

इस प्रकार साधर्मी सम्यग्दृष्टि जीव के प्रति समकिति को गौ-वत्सल की तरह प्रेम होता है। समझ में आया ? यह क्या कहा ? 'अपने साधर्मीजनों से बछड़े पर गाय की प्रीति समान प्रेम रखना...' यह वात्सल्य अंग है। ऐसा न बढ़ जाए कि मैं समकिति हूँ, यह भी समकिति है। मेरे पास पचास लाख की पूँजी है, मैं खर्च करता हूँ, यह तो खर्च भी नहीं करता। स्त्री-स्त्री होती है, आदमी-आदमी होवे तो यह तो कुछ खर्च नहीं करता और यह अधिक गिना जाता है। ऐसा नहीं होता। एक बड़ा करोड़पति गृहस्थ होवे, दूसरा समकिति साधारण होवे। वह पचास लाख खर्च करता हो, यह खर्च न करता हो, बापा ! खर्च करने की क्रिया तो मन्दराग की है; इस कारण कहीं मैं अधिक हूँ और तुम कम हो - ऐसा नहीं है। ऐसा जानकर उसका प्रेम नहीं छोड़ता - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? (ऐसा) वात्सल्य अंग है।

'जैनधर्म की शोभा में वृद्धि करना...' प्रभावना करना। परन्तु आत्मा की निश्चय प्रभावना का भान है, निर्विकल्प सम्यग्दर्शन है, उसके साथ ही यह बात है, हाँ ! अकेला मात्र शुभराग होवे तो पुण्य बाँधे, (उससे) आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता। समझ में आया ? आत्मा की निश्चय अनुभव-दृष्टि बिना ऐसे अकेले आठ बोल हो, उसे आत्मा का कुछ लाभ नहीं होता। राग मन्द हो तो कदाचित् मिथ्यादृष्टि सहित पुण्य बाँधता है, मिथ्यात्व सहित..। अन्दर रस तो उत्पन्न हुआ है, यह और यह और यह मीठास (पड़ी है)। मिथ्यात्व सहित पुण्य बाँधता है, उसमें आत्मा



का कार्य जरा भी सिद्ध नहीं होता। समझ में आया ? यह तो निश्चय सम्यग्दृष्टिवन्त को ऐसा प्रभावना का व्यवहार होता है, भाव आता है तो भी समझता है कि शुभभाव से मुझे कुछ कार्य सिद्ध होता है - ऐसा नहीं है। मेरा कार्य शुभभाव से सिद्ध होता है - ऐसा नहीं है और मुझे शुभभाव आया, इसलिए मेरे भाव से दूसरे को कार्य सिद्ध होगा - ऐसा भी नहीं है। आहा..हा... ! भाई ! इतने अधिक पहलू हैं। सत्य के पक्ष में चढ़ना अलौकिक बात है, भाई !

गृहस्थ समकित्ती हो, करोड़पति हो तो दो लाख एकदम निकाल दे लो ! दूसरे से कहे - तुम चन्दा भरो तो कहे - हमारे पास पाँच रुपये हैं, पाँच रुपये, भाई ! उसकी अधिकाई नहीं दिखती इसे। उसका प्रेम है। आहा..हा... ! मेरा साधर्मी भाई है। बाहर के कम-ज्यादा आचरण पर उसका अप्रेम हो जाए या प्रेम घटे - ऐसा नहीं होता। आहा..हा... ! वीतराग मार्ग अन्तर दृष्टिपूर्वक उसके व्यवहार की कितनी उज्ज्वलता होती है - यह बात तो यथार्थ भान करे, उसे समझ में आये - ऐसा है। समझ में आया ? 'शोभा में वृद्धि करना।'

'इन गुणों से उल्टे आठ दोष हैं...' इनसे उल्टे आठ दोष हैं। उन दोषों को सर्वथा दूर करना चाहिए। बस ! जैसे निःशंक है तो शंका नहीं करना - ऐसे सामने आठ ले लेना। भावार्थ में साधारण कहा है, देखो !

'भावार्थ :- (१) तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य नहीं है तथा अन्य प्रकार से नहीं है - इसप्रकार यथार्थ तत्त्वों में अचल श्रद्धा होना, सो निःशंकित अंग कहलाता है। अत्रती सम्यग्दृष्टि जीव भोगों को कभी भी आदरणीय नहीं मानते...' यहाँ अब निःकांक्ष में लेना है। समझ में आया ? अत्रती सम्यग्दृष्टि कभी भी भोगों को आदरणीय नहीं मानते। कोई कहे कि सम्यग्दृष्टि है और यह छियानवें हजार स्त्रियों से विवाह करे, भोग करे तो उसे इसकी इच्छा होगी ? नहीं, नहीं, भाई ! इच्छा नहीं है, आदर नहीं है। सम्यग्दृष्टि (चक्रवर्ती) को छियानवें हजार अप्सरा जैसी स्त्रियाँ होती है, करोड़ों इन्द्राणियाँ होवे (तो भी) आदर नहीं है। अरे.. ! हमारा आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु, अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द का नाथ चैतन्य प्रभु के आनन्द के समक्ष जगत में आनन्द है कहाँ कहीं ? समझ में आया ? ऐसे आनन्द में जरा विकल्प उत्पन्न होता है, वह दुःख लगता है, उसे आदर नहीं है, भोग का आदर नहीं है।

आहा..हा... !

‘जिस प्रकार कोई बन्दी कारागृह में (इच्छा न होने पर भी) दुःख सहन करता है...’ करता है न बन्दी ? ‘उसी प्रकार वे अपने पुरुषार्थ की निर्बलता से गृहस्थाश्रम में रहते हैं, किन्तु रुचिपूर्वक भोगों की इच्छा नहीं करते; इसलिए उन्हें निःशंकित और निःकांक्षित अंग होने में कोई बाधा नहीं आती।’ ऐसा। कुछ होगा, इसमें कुछ होगा, भोग में कुछ सुख होगा ? यह भोग करते हैं, इसलिए इसमें कुछ सुख होगा ? समझ में आया ? ऐसा है नहीं। यह भोग करते हैं, इसलिए कुछ सुख मानते होंगे ? भोग करते हैं, भोग को प्राप्त करना चाहते हैं – इसलिए उन्हें कुछ उसकी इच्छा होगी ? नहीं, भाई ! आहा..हा... !

दो बातें की – यह भोग भोगते हैं तो सुख मानते होंगे न ? उसके बिना कोई भोगता है ? बिलकुल नहीं। (वे) निःशंक है कि मेरा आनन्द मुझसे है। यह राग की वृत्ति आती है, हटती नहीं; हटती नहीं, इसलिए उपसर्ग की तरह उसे भोगते हैं – ऐसा दिखता है। वस्तुतः यह दुःख लगता है। आहा..हा... ! इस इन्द्राणी के भोग के राग में ज्ञानी को दुःख लगता है। मिथ्यादृष्टि छटपटाता है, कहीं प्राप्त करूँ, कुछ प्राप्त करूँ, कोई मान, कोई सम्मान, कुछ अधिकता, कुछ कीर्ति (प्राप्त करूँ – ऐसे छटपटाता है)। समझ में आया ? यह मिले हैं न ? तुम सुखबुद्धि बिना भोगते हो ? बापा ! यह बात रहने दे। समझ में आया ? कहते हैं कि शंका नहीं है कि उसमें सुखबुद्धि होगी या नहीं ? नहीं, सुख बुद्धि नहीं है; और भोगते हैं, इसलिए इच्छा होगी या नहीं ? आहा..हा... !

मुमुक्षु :- अज्ञानी को इच्छा रहती है ?

उत्तर : अज्ञानी को रहती ही है, उसमें सुखबुद्धि ही है। अन्दर सुखबुद्धि मिठास पड़ी ही है। वह प्रतिक्षण राग की मिठास में ही खिंचता है। समझ में आया ? चैतन्य आनन्दगोला है, उसका तो भान हुआ नहीं है। अतीन्द्रिय आनन्द तो दृष्टि में, प्रतीति में भान होकर आया नहीं है; इसलिए बाहर में से उसके छटपटाना हटता ही नहीं। मिठास... मिठास... दुनिया माने, दुनिया आदर करे, दुनिया बड़ा कहे, दुनिया में प्रसिद्ध होऊँ, दूसरों से कुछ ठीक गिना जाऊँ – ऐसी मिथ्यात्व की मिठास अन्दर पड़ी ही होती है। कहो, समझ में आया इसमें ? समकित अर्थात्

बापू ! ओहो..हो... ! सिद्ध का पुत्र हो गया। समझ में आया ?

कहते हैं, उसे शंका नहीं करना, उसे शंका नहीं कि यह भोगते हैं, इसलिए सुख होगा। निःकांक्षित इच्छा भी (आयी), भोगने की इच्छा – एक वृत्ति आयी, इसलिए उसकी इच्छा है – ऐसा नहीं है। इच्छा की इच्छा नहीं है। भावना तो अन्तर अनाकुल आनन्द में है। आहा..हा... ! समझ में आया ? यह धर्मी का खेल धर्मी ही जानता है। अज्ञानी-ऊपरीतौर से माननेवाले को उसका पता नहीं चलता। ऊपरीतौर से माननेवाला – देखनेवाला, उपर से देखनेवाला... उसे पता नहीं चलता कि उसका अन्दर हृदय क्या है ? समझ में आया ?

‘धर्म सेवन करके उसके बदले में सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं करना...’ इसमें ढाला अवश्य, परन्तु विशेष दूसरा अलग किया। ‘उसे निःकांक्षित अंग कहते हैं।’ धर्म का सेवन करे – दया, दान, भक्ति आदि के परिणाम करे, उससे कुछ संसार का – देव का सुख आदि (मिले – ऐसी वांछा नहीं होती) हैं ?

मुमुक्षु :- स्वर्ग में जाऊँगा।

उत्तर :- स्वर्ग में, धूल में क्या है ? उसकी इच्छा नहीं होती, कांक्षा नहीं; कांक्षा छूट गयी। आहा..हा... ! अरे.. ! अतीन्द्रिय आनन्द की मिठास के स्वाद के समक्ष, आत्मा का अतीन्द्रिय सन्तोष, जिसकी स्वर्ग के इन्द्रों के पास गन्ध भी नहीं मिलती, उसके सुख में, हों ! समझ में आया ? यह (धर्म) सेवन के बदले में (सांसारिक सुख की) इच्छा नहीं करता। निःकांक्षित.. निःकांक्षित है। इसके एवज में न ले, एवज अर्थात् बदले में। एवज... एवज।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- हाँ एवज में रखे, कोई काम करे तो बदले में उसका हेतु दूसरा गहरा होता है। समझ में आया ? वह सम्यग्दृष्टि को नहीं होता है। उनको तो गहरा अभिप्राय ही उसमें अन्दर ऐसा होता है, बदले में कुछ प्रतिफल मिले, यह करूँ इसका कुछ प्रतिफल मिले, या वर्तमान में या लोक में या पैसे का, कीर्ति या परलोक में एवज... एवज... प्रतिफल, भाई ! आहा..हा... ! कुछ बोलते हैं, प्ररूपण करते हैं, कुछ दुनिया को कहते हैं, उसका कुछ प्रतिफल... प्रतिफल चाहिए या नहीं ? लोग अच्छा कहे, दुनिया में प्रसिद्ध होवे। (इस प्रकार) अज्ञानी को प्रतिफल

लेने की इच्छा मिटती नहीं है, ज्ञानी को बदले में कुछ लेने की इच्छा नहीं है। आहा..हा... !
अद्भुत बात, भाई ! समझ में आया ?

‘(३) मुनिराज अथवा अन्य किसी धर्मात्मा के शरीर को मैला देखकर धृणा नहीं करना, (उसे निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं।)’

‘(४) सच्चे और झूठे तत्त्वों की परीक्षा करके मूढ़ताओं और अनायतनों में न फँसना...’ अनायतन अर्थात् कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को (और उन्हें) माननेवालों में न फँसना, वह अमूढ़दृष्टि अंग है।

‘(५) अपनी प्रशंसा करनेवाले गुणों तथा दूसरों की निन्दा करनेवाले दोषों को ढंकना और आत्मधर्म को बढ़ाना (निर्मल रखना-दूषित न होने देना), वह उपगूहन अंग है। उपगूहन का दूसरा नाम उपबृहण...’ (है) उसमें वह आ गया। ‘जिनागम में आता है। जिसमें आत्मधर्म की वृद्धि करने को भी उपगूहन कहा जाता है।’ उसमें पाठ में आ गया है, हाँ ! ‘श्री अमृतचन्द्रसूरी ने अपने पुरुषार्थसिद्धियुपाय के २७ वें श्लोक में भी वही कहा है।’

‘(६) काम, क्रोध, लोभ इत्यादि किसी भी कारण से (समकित और चारित्र से) भ्रष्ट होते हुए अपने को तथा पर को पुनः उसमें स्थिर करना, वह स्थितिकरण अंग है।’ समझ में आया ? यह उपगूहन की गाथा है, उसका अर्थ आ गया है। अपने स्वरूप में किञ्चित् रागादि विशेष हो जाते हो, उसे वापस हटाना। दूसरे जीव धर्मात्मा-धर्मी हों... देखो ! देखो ! इसमें तो किसी को उठाया है, ऊँचा (किया है)। स्थिति करे, स्थितिकरण। सम्यग्दृष्टि जीव, सम्यग्दृष्टि जीव को... सम्यग्दृष्टि जीव को, हाँ ! उसमें कोई साधारण अस्थिरता होवे तो उसे स्थिर करे। समझ में आया ?

‘(७) अपने साधर्मि पर, बछड़े से प्यार रखनेवाली गाय की भाँति निरपेक्ष प्रेम रखना, वह वात्सल्य अंग है।’ प्रेम के बदले में कुछ लेना है (-ऐसा नहीं)। (हम) तुम्हें प्रेम करते हैं तो तुम भी



कभी किसी बुरे वक्त में काम आओगे या नहीं ? धूल में भी काम नहीं आता, व्यर्थ में मूढ़ मानता है। ऐसी अज्ञानी को कुछ करते समय गहरी अभिलाषा होती है कि इससे ऐसा होगा, इससे ऐसा मिलेगा। धर्मी निरपेक्ष प्रेम करके प्रेम करता है। प्रेम में कोई अपेक्षा नहीं होती। (कुछ) लेने की, कीर्ति की, बड़प्पन की, यह मुझे अच्छा कहे - ऐसी अपेक्षा उसे नहीं होती।

‘(८) अज्ञान-अन्धकार को हटाकर...’ प्रभावना की बात है न ? ‘विद्या, बल आदि के द्वारा शास्त्र में कही हुई यग्य रीति से अपनी सामर्थ्य-अनुसार जैनधर्म का प्रभाव प्रकट करना...’ समकिति-निश्चय सम्यग्दृष्टि की बात है। उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन में ऐसा विकल्प होता है, तो भी उसे वह बन्ध का कारण मानता है। आहा..हा... ! अद्भुत बात, भाई ! उस विकल्प से मेरे स्व-आत्मा का कार्य होगा - ऐसा नहीं मानता। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दृष्टि को स्थितिकरण कराता है, मिथ्यादृष्टि को.. ?

उत्तर :- मिथ्यादृष्टि स्थिर हुआ ही नहीं है, वहाँ क्या स्थिति करे ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह तो वस्तु समझावे, वह तो समझने का प्रसंग है, उसकी बात ली है। यहाँ उसकी बात नहीं है। यहाँ तो जो धर्म समझा है, उससे अस्थिर होवे, उसे किसी व्यवहार में (अस्थिरता होती है), निश्चय में दृष्टि यथार्थ हैं, जरा सा फर्क होवे तो उसे स्थिर करता है। समझ में आया ? ‘अपने सामर्थ्यानुसार जैनधर्म का प्रभाव प्रकट करना, वह प्रभावना अंग कहलाता है।’ यह विकल्प, अकेला शुभविकल्प है। कितने ही लोग तो ऐसे व्यवहार को ही अकेला धर्म मानकर बैठे हैं। लो, यह (भाई) कहते हैं - बहुधा (ऐसा है)। इन्होंने तो बहुत देखा है और बहुत सुना है न ? बहुधा, इस निश्चय समकित के बिना ऐसे किसी साधारण व्यवहार से धर्म मानकर पड़े हैं। उन्हें तो आत्मा का किंचित् भी लाभ नहीं है। समझ में आया ? परन्तु निश्चय सम्यग्दृष्टिवंत को भी ऐसे आठ प्रकार के विकल्प, शुभयोग होते हैं। समझ में आया ? उसे निमित्तरूप से कहा जाता है। अपने शुद्धस्वरूप में निमित्त है, परन्तु निमित्त है, इसलिए कार्य हुआ है - ऐसा नहीं है। मेरी शुद्धि में उनके कारण वृद्धि होगी - ऐसा नहीं है। आहा..हा... ! अद्भुत बात भाई ! समझ में आया ?

‘इन अंगो (गुणों) से विपरीत (१) शंका, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा (४) मूढदृष्टि (५) अनुपगूहन, (६) अस्थितिकरण, (७) अवात्सल्य और (८) अप्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ दोष हैं, इन्हें सदा दूर करना चाहिए।’

लो, अब गाथा १३ का उत्तरार्द्ध।

छन्द १३ (उत्तरार्द्ध)

मद नामक आठ दोष

पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय न तौ मद ठानै;
मद न रूपकौ मद न ज्ञानकौ, धन बलकौ मद मानै॥१३॥

छन्द १४ (पूर्वार्द्ध)

तपकौ मद न मद जु प्रभुताकौ, करै न सो निज जानै;
मद धारै तो यही दोष वसु समकितकौ मल ठानै।

अन्वयार्थ :- (जो जीव) (जो) यदि (पिता) पिता आदि पितृपक्ष के स्वजन (भूप) राजादि (होय) हों (तौ) तो (मद) अभिमान (न ठानै) नहीं करता (यदि) (मातुल) मामा आदि मातृपक्ष के स्वजन (नृप) राजादि (होय) हों तो (मद) अभिमान (न) नहीं करता; (ज्ञानकौ) विद्या का (मद न) अभिमान नहीं करता; (धनकौ) लक्ष्मी का (मद मानै) अभिमान नहीं करता; (बलकौ) शक्ति का (मद मानै) अभिमान नहीं करता; (तपकौ) तप का (मद न) अभिमान नहीं करता; (जु) और (प्रभुताकौ) ऐश्वर्य, बड़प्पन का (मद न करै) अभिमान नहीं करता (सो) वह (निज) अपने आत्मा को (जानै) जानता है। (यदि जीव उनका) (मद) अभिमान (धारै) रखता है तो (यही) ऊपर कहे हुए मद (वसु) आठ (दोष) दोषरूप होकर (समकितकौ) समकित को सम्यक्दर्शन को (मल) दूषित (ठानै) करते हैं।

भावार्थ :- पिता के गोत्र को कुल और माता के गोत्र को जाति कहते हैं। (१) पिता

आदि पितृपक्ष में राजादि प्रतापी पुरुष होने से (में राजकुमार हूँ आदि) अभिमान करना सो कुल-मद है। (२) मामा आदि मातृपक्ष में राजादि प्रतापी पुरुष होने का अभिमान करना सो जाति-मद है। (३) शारीरिक सौन्दर्य का मद करना सो रूप-मद है। (४) अपनी विद्या का अभिमान करना सो ज्ञान-मद है। (५) अपनी धन-सम्पत्ति का अभिमान करना सो धन-मद है। (६) अपनी शारीरिक शक्ति का गर्व करना सो बल-मद है। (७) अपने व्रत-उपवासादि तप का गर्व करना सो तप-मद है। (८) अपने बड़प्पन और आज्ञा का गर्व करना सो प्रभुता-मद है। कुल, जाति, रूप, ज्ञान, धन, बल, तप और प्रभुता यह आठ मद-दोष कहलाते हैं। जो जीव इन आठ का गर्व नहीं करता वही आत्मा का ज्ञान कर सकता है। यदि उनका गर्व करता है तो यह मद सम्यग्दर्शन के आठ दोष बनकर उसे दूषित करते हैं। (१३ उत्तरार्द्ध तथा १४ पूर्वार्द्ध)

मद नहीं करना, मद। सम्यग्दृष्टि, निश्चय सम्यग्दृष्टिवन्त (को) व्यवहार के विकल्प में भी ऐसे जाति, कुल आदि का मद नहीं होता।

छन्द १३ (उत्तरार्द्ध)

मद नामक आठ दोष

पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय न तौ मद ठाने;
मद न रूपकौ मद न ज्ञानकौ, धन बलकौ मद मानै॥१३॥

छन्द १४ (पूर्वार्द्ध)

तपकौ मद न मद जु प्रभुताकौ, करै न सो निज जानै;
मद धारै तो यही दोष वसु समकितकौ मल ठानै।

‘यदि पिता आदि पितृपक्ष के लोग राजा आदि हों...’ अरबोंपति सेठ हों, उनका मैं पुत्र हूँ – इस प्रकार समकित्ती को पिता के कुल के पक्ष का मद नहीं होता। आहा..हा..! किसका मद ? बापू ! जहाँ पूर्णानन्द प्रभु दृष्टि में आया, वह पूर्ण प्रकट नहीं हुआ, तब तक नरम...

नरम... नरम... (होता है)। जहाँ मेरी परमात्म अवस्था पूर्ण है, वह प्रकट नहीं हुई, मैं किसका अभिमान करूँ ? समझ में आया ?

‘स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा’ में तो लिया है कि सम्यग्दृष्टि को अनन्तानुबन्धी का अभाव और मिथ्यात्व का नाश होकर (आत्मा का) अनुभव हुआ है, वह आत्मा को परमात्मा की अपेक्षा से – धर्मात्मा अधिक होने की अपेक्षा से अपने को तुच्छ मानता है। आहा..हा... ! कहाँ वह परमेश्वर अवस्था, कहाँ वह सन्तों का चारित्र-वीतरागी आनन्द की अवस्था (और) कहाँ मेरी अल्प अवस्था ! समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवाला पाँचवे – छठवेंवाले की अधिकता, शान्ति देखता है और केवली की पूर्ण शान्ति, वीतरागता देखता है। आहा..हा.. ! उसे-स्वयं को तुच्छ जानता है कि हम कहाँ हैं ? अरे.. ! यह बात कहाँ है ? दृष्टि में प्रभुता बसी होने पर भी, समकित्ती पर्याय में तुच्छपना मानता है। किस अपेक्षा से ? अरे.. ! कहाँ केवलज्ञान, कहाँ एक समय में अतीन्द्रिय आनन्द का उछाला ! पूर्ण अनन्त आनन्द का (उछाला) ! वह अवस्था कहाँ और यह कहाँ ! केवली का अतीन्द्रिय आनन्द का ढेर ज्ञान में देखता है न ! पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द ! किसका मद करे ? हमारे पिता... पिता ही तेरा नहीं है। पिता कैसा ? कर्म के निमित्त से शरीर और शरीर के निमित्त से पिता कहा है, वह आत्मा को नहीं हो सकता। उसका मद नहीं हो सकता। समझ में आया ?

मुमुक्षु:- आप किस दुनिया की बात करते हो ?

उत्तर :- आत्मा की दुनिया की। यहाँ तो जरा एक भाई अच्छा होवे, वहाँ महिमागान करता है, स्त्री जरा अच्छी होवे तो हमारी बहु अमुक (है), हमारे भाई को (एक) हजार का वेतन है... परन्तु तुझे क्या है ? साथ न हो, देता न हो, लेना-देना (न हो), गौरव ले, अभिमान ले, बस ! अभिमान, अभिमान ले, बस ! हमारे साले की बहु ऐसी है, हमारे अमुक की बहु (ऐसी है)। जगत के जड़ के फल का अभिमान क्या ? कहते हैं – वह तो कर्म की सामग्री है। जिसे धर्म सामग्री का भान हुआ उसे कर्म-सामग्री का अभिमान क्या ? – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

पिता बड़ा राजा आदि हो; (परन्तु) मद नहीं करता। लड़के का आता होगा या नहीं ?

भाई ! लड़के का। वह इसमें आ जाता है। लड़का बहुत अच्छा तैयार हुआ हो... ऐसा नहीं आता, उसका क्या कारण है ? लड़का और पिता अलग नहीं होते, पिता और सब शामिल होते हैं इसलिए इसमें (नहीं आया होगा) भाई ! बात समजाने के लिये तो सब आती है या नहीं ? ऐ...ई... ! कारण किबात ऐसी है कि पिता और पुत्र अलग नहीं पडते, इसलिये वह बात इसमें नहीं लेते। लड़का (आगे) बढ गया हो तो पिता को उसका मद होता है - यह बात इसमें नहीं लेते। समझ में आया ? यहाँ तो उसका पिता (लिया है)। ऐसे कुल में जन्म हुआ। अरे.. ! बापू ! किसका कुल ? कुल किसका ? यह तो कर्म की सामग्री का कुल है। समझ में आता है ? आहा..हा... !



आत्मा का कुल - तीर्थकर की जाति का मार्गानुसारी आत्मा है। 'आनन्दघनजी' कहते हैं न ? हम तो तीर्थकर के मार्गानुसारी हैं। समझ में आया ?

'धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंगशुं, भंग मा पड़शो हो प्रीत जिनेश्वर,

बीजो मन मन्दिर आणु नहीं, ए हम कुलवट रीत जिनेश्वर,

धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंगशुं।'

धर्म जिनेश्वर। 'आनन्दघनजी' गाते हैं न ?

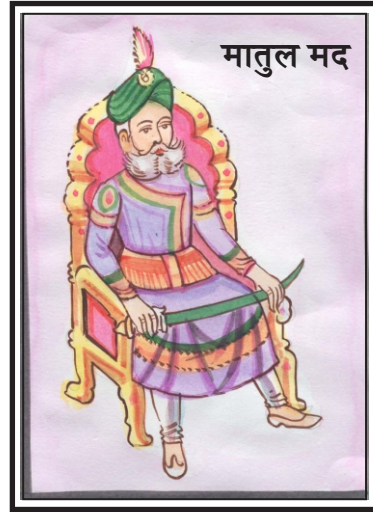
'धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंगशु, भंग मा पड़शो रे नाथ प्रीत प्रभुजी,

बीजो मन मन्दिर आणु नहीं, '

प्रभु ! आप मार्गानुसारी धर्म, सर्वज्ञ तीर्थकरने लिया उस मार्ग को हम नहीं छोड़ेंगे। 'बीजो मन मन्दिर आणु नहीं - ' समझे ? 'यह हम कुलवट रीत...' यह तो हमारे चैतन्य के

कुल के वट की रीत है। तीर्थकर का आत्मा जिस कुल का है, उस कुल के हम आत्मा हैं। आहा..हा...! समझ में आया ? वह तो हमारा कुल है। तीर्थकर का कुल (हमारा कुल है)। भाई ! आहा..हा...! यह हम कुलवट रीत। हमारे कुल का वट, अब दूसरा आने नहीं देंगे, प्रभु ! हमारे स्वरूप के अतिरिक्त दूसरे की अधिकता धर्मी नहीं आने देता। पिता का अभिमान नहीं होता।

‘(मातुल) मामा...’ माँ बड़े ननिहाल की हुई हो, राजा की पुत्री हो, उसकी माँ अरबोंपति की पुत्री हो.. हमारी माँ आहा..हा...! अरे..! माँ तेरी कब थी ? समझ में आया ? मीठास लेने के लिए कहीं न कहीं अन्दर गहरा खिंचता है। मिथ्यादृष्टि को मीठास वेदन करनी है न ? हमारे मामा ऐसे... हमारे मामा ऐसे, हों ! उनकी बहिन हमारी माँ ! ओ..हो...! यह कर्म की सामग्री का अभिमान - मद समकित्ती को नहीं होता। आहा..हा...! समझ में आया ?



‘विद्या का (मद न) घमण्ड...’ कुछ पढ़ा हो, कुछ दूसरो से अधिक आता हो तो अन्दर से घमण्ड.. घमण्ड



होता है। ‘ओछु पात्र ने अदकुं भण्यो, वढकणी बहुए दीकरो जण्यो’ -तुम्हारे यहाँ ऐसा आता है ? आता होगा, तुम्हें पता नहीं। दूसरे प्रकार से - चूल्हे में चारों ओर राख ही होती है - ऐसी कहावत आती ही होगी। कम पात्र हो और अधिक पढ़ा, उसकी माँ हो झगड़ालू और झगड़ालू और झगड़ालू माँ ने पुत्र पैदा किया; एक तो झगड़ालू का पुत्र, इसलिए जहाँ-तहाँ झगड़ा-झगड़ा करे, शरारत ही (करे) आहा..हा...! कहते हैं - कुछ पढ़ा हो (तो) बस ! ऐसा नहीं होता, धर्मात्मा का अनादर करता है, धर्मी का अनादर करता है। ऐ... तुम्हें नहीं

आता। समझ में आया ?

यह विद्या का मद ज्ञानी को नहीं होता। आहा..हा... ! चौदह-चौदह पूर्व प्रकट हुए हों, परन्तु कहाँ केवलज्ञान और कहाँ चौदह पूर्व ! यह तो अनन्तवें भाग का अंश है। समझ में आया ? जिन्हें अन्तर्मुहूर्त में चौदह पूर्व की लब्धि प्रकट होती है, तो भी केवलज्ञान के तो अनन्तवें भाग है। किसका विद्याभिमान करे ? कितनी पढ़ाई अब ? अभी की पढ़ाई तो क्या थी ? समझ में आया ? आहा..हा... ! विद्या का मद-घमण्ड... घमण्ड लिखा है न ? घमण्ड.. हम पढ़े हैं, हमे आता है, हमारे सामने कोई खड़ा नहीं रह सकता। घमंड नहीं होता। यह तो पिघला होता है, समकिति अन्दर स्थिर होता है। आहा..हा... !

‘लक्ष्मी का अभिमान...’ नहीं करता। अरबोंपति हो, बड़ा राजा (या) इन्द्र हो या बाहर का वैभव (हो), छह खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती... भरत चक्रवर्ती... हमारे अन्तर वैभव के समक्ष, यह जड़ का वैभव हमारा नहीं है, भाई ! आहा..हा... ! भरत को छह खण्ड का वैभव, हाँ ! समकिति घर में वैरागी। उदास... उदास... उदास... (है)। उसे - आत्मदृष्टि की सम्पत्ति के स्वामी को ऐसा लक्ष्मी का अभिमान नहीं होता। लाओ, हम बैठें, भरो, जो संख्या तुम भरो उससे मैं अधिक भरूँ। होता है या नहीं ? क्या है ?

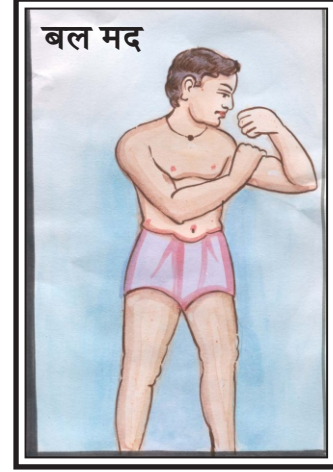


मुमुक्षु :- पैसे का ज़ोर।

उत्तर :- पैसे का जोर या आत्मा का ज़ोर है ? उसमें जोर किसका लेना ? धूल का जोर ? आहा..हा... ! यह तो वीतराग मार्ग है, बापा ! पिघला कर पिघलाकर राग को पिघलाकर अन्दर स्थिर होना, यह मार्ग है। समझ में आया ? धन का मद - अभिमान।

‘बल का मद...’ शक्ति... शक्ति। शरीर की, हाँ ! हमारी शरीर शक्ति (ऐसी है कि) बैल को खड़ा रखते हैं - इतनी हमारी शक्ति है। मोटर को खड़ा रखूँ तो भी क्या है ? वह तो

जड़ की - धूल की शक्ति है। समकिति को शारीरिक बल का अभिमान नहीं है। समझ में आया ? नेमिनाथ भगवान और श्रीकृष्ण के बीच चर्चा हुई थी। तब नेमिनाथ बोले थे, परन्तु वह अन्दर (अभिमान) नहीं था। आहा..हा... ! समझ में आया ? ज्ञानी का हृदय परखना बहुत कठिन है। परीक्षा में बैठे, सब राजा बैठे हुए, सब महिमा करने लगे। कोई कहे - इसका जोर... कोई कहे इसका जोर.. कोई कहे पाण्डवों का जोर.. कोई कहे वासुदेव का जोर.. वासुदेव के पिता का (जोर), बहुत गुणगान किये। एक व्यक्ति बोला कि देखो ! तीन ज्ञान के स्वामी भगवान बिराजमान हैं। वे तो बोलते नहीं एक तरफ बैठे हों, सब राजा बैठे हुए, नेमिनाथ तीन ज्ञान के स्वामी बैठे हुए। गृहस्थाश्रम में (थे)। तुम सब अन्य-अन्य कहते हो, परन्तु ये भगवान तीन ज्ञान के स्वामी हैं, ये सबसे बड़े हैं, सबसे बलवान हैं।



मुमुक्षु :- किसके ?

उत्तर :- शरीर का। यहाँ तो शरीर की बात है। आत्मा की बात कहाँ है ? उनका शारीरिक बल इतना था। समझ में आया ? तब फिर श्रीकृष्ण कहने लगे - हम (परीक्षा) कर लें। भाई ! तुम तो बड़े हो और तुम्हारे साथ कुछ हो ? पैर नीचे रखता हूँ, इसे जरा ऊँचा करो। भगवान तीन ज्ञान के स्वामी, क्षायिक समकिति नेमिनाथ प्रभु गृहस्थाश्रम में थे। यह सब बात चली है, तब कहते हैं - लाओ न, एक विकल्प ऐसा आया, बस ! यह सब इतने लोग एकत्रित (हुए है)। वह कहे कि उसका मान, पाण्डवों ने ऐसा किया, अमुक ने ऐसा किया, वासुदेव ने तो बहत्तर हजार स्त्रियों से विवाह किया। यह वासुदेव के पिता बहुत बड़े थे। सबके गुणगान करते-करते (बात करते थे)। फिर स्वयं इतना बोले, हम दोनों करते हैं, बड़े भाई तुम्हारे साथ मेरे नहीं होता। ओ..हो..हो... ! तुम बड़े कहलाते हो। अरे.. ! तीर्थकर तीन लोक के नाथ, जिनके इन्द्र तलवे चाटे... बड़े (भाई) तुमसे हमें नहीं होता, हाँ ! आहा..हा... !

यह पैर नीचे रखा है। देखो ! यह सिंहासन है और पैर नीचे रखता हूँ, इसे जरा ऊँचा

करो। लिपटकर लटक गया तो भी पैर ऊँचा नहीं हुआ। अभिमान नहीं, हों ! ऐसी बाहर क्रिया हुई, इसलिए वहाँ ऐसा हुआ और वहाँ इच्छा है या आकांक्षा है – ऐसा नहीं है और बल बताना है – ऐसा नहीं है। एक प्रसंग ऐसा बन गया, एक विकल्प आ गया। आहा..हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- यह झुकाने की बात आयी।

उत्तर :- यह होनी थी, वह आयी। अन्दर में कुछ नहीं है।

मुमुक्षु :- अंगुली की बात नहीं आयी, पैर के अंगुठे की बात...

उत्तर :- अंगुली कहे तो भी वह है। समझ में आया ?

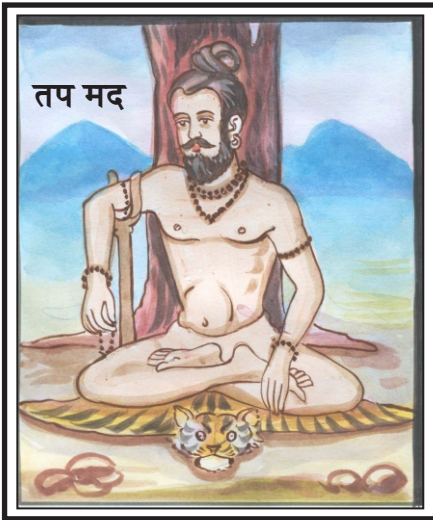
भरत चक्रवर्ती ने अंगुली की थी, लो न। भरत चक्रवर्ती का शारीरिक बल बहुत था; फिर रात्रि में घूमने निकले, उसमें कोई कहता है – यह भरत चक्रवर्ती अपनी सब प्रजा के कारण निभता (जिन्दा) है, अकेला क्या कर (सकता) था। इनका कितना बल ? भरत ने सुना, घर आये, सबको कहा कि भाई ! यह मेरी अंगुली टेडी हो गयी है, सीधी करो। सभी लगे, बड़े-बड़े योद्धा (इकट्टे हुए), तब कहा तुम छियानवें करोड़ पैदल सैनिक एकत्रित होओ और एक सोने की लम्बी जंजीर बनाओ, उसे यहाँ लगाओ और छियानवें करोड़ (उसे) खींचो तो (अंगुली) सीधी होगी। छियानवें करोड़ सैनिक और इतनी लम्बी सोने की जंजीर खिंचे परन्तु (कुछ नहीं हुआ)। (फिर) स्वयं ने जरा ऐसे करके छोड़ दिया तो सभी धरती पर गिर पड़े ! अरे.. ! भगवान ! तुमने यह क्या किया ? कोई कहता था कि हमारा बल नहीं है, इस प्रधान और दीवान के बल से निभते (टिकते) हैं। बापू ! रहने दे, भाई ! ऐसा रहने दे, बापा ! हम कुदरत के पुरुष हैं, हम कुदरत के पुरुष हैं। कुदरत से हम बड़े होकर आये हैं और बड़े शरीर में है, उस कुदरत से हम हैं; तुम्हारे किये हुए नहीं। सबको कौन समझाये ? देखो ! बापा ! शरीर की ऐसी ताकत है, हाँ ! राग करते हैं – ऐसा बताया, वहाँ अन्दर इच्छा नहीं, हों ! सम्यग्दृष्टि है।

मुमुक्षु :- दृष्टान्त ऐसा देते हैं...

उत्तर :- इसीलिए तो यहाँ ऊपर कहा था। निःकांक्ष में नहीं कहा था ? निःशंक और निःकांक्ष में कहा था कि भोग की इच्छा दिखने पर भी इच्छा नहीं है। भोग को प्राप्त करने की

इच्छा होती है तो भी अन्दर गहराई में प्राप्त करने की इच्छा नहीं है। इस गज के नाप बहुत कठिन है. समझ में आया ?

बल का – शक्ति का मद सम्यग्दृष्टि को नहीं होता। दूसरों के साथ क्या कहलाता है वह ? स्पर्धा...स्पर्धा... स्पर्धा... कहलाती है न ? स्पर्धा में खड़ा नहीं रहता कि हमारा बल है, देख लो ! यह वह किया तो भी अन्दर नहीं है, हों ! यह तो प्रसंग ऐसा बना। सभा भरी थी, हजारों राजा (बैठे थे)। नेमिनाथ भगवान तीन ज्ञान के स्वामी और शरीर छोटा; 'श्रीकृष्ण' आदि से छोटे थे। छोटे नहीं थे, वे बड़े थे। समझ में आया ? राजा का पुत्र छोटा नहीं कहलाता। साँप का छोटा बच्चा वह छोटा नहीं कहलाता फणिधर हो, क्या कहलाता है, वह साँप का बच्चा ? अभी एक बच्चा निकला था। निकला नहीं था अपने बाहर ? नहीं ? बाहर दरवाजे के पास था। ऐसे उस दिशा में जाकर आते थे। इतना बच्चा। किसी को मार डालेगा – ऐसे उछाले मारता था। एक कणबी कोई खड़ा था। वह छोटा बच्चा तो भी साँप का। समझ में आया ? इसी प्रकार धर्मात्मा भी केवली के पुत्र हैं, कहते हैं। उनके बाहर का बल भी पुण्य के कारण इतना होता है। समकित प्रकट हुआ, उसकी बात है, हों ! कहते हैं, इसका उसे अभिमान नहीं होता।



तप का अभिमान नहीं होता। देखो ! हम अष्टमी करते हैं, उपवास करते हैं, महीने-महीने के करते हैं और यह तो एक बार खाता है तो उ..उ.. हो जाता है। समझ में आया ? एक दिन में एक बार छोड़ना होवे तो छोड़ नहीं सकता और हम तो आठ-आठ दिन के (उपवास करते हैं)। यह अभिमान समकित को नहीं होता। यह तो जड़ की क्रिया है और राग मन्द हो तो पुण्य है, उसका अभिमान क्या ? आहार नहीं हुआ, यह तो जड़ नहीं आया। उसे तप का मद नहीं होता।

एश्वर्य - बड़ापन - सेठपने का मद 'घमण्ड नहीं करता।' समझ में आया ? परन्तु आत्मा के बडप्पन के आगे दूसरे का घमण्ड क्या ? धूल का... आहा..हा...! अपने आत्मा को पहिचानता है... लो ! वजन यहाँ आया। 'प्रभुताकौ मद न करे, निज जाने...' आत्मा का ज्ञान करके आनन्द से जानता है।



आहा..हा...! अन्तर में आनन्द की वीणा बजती है, उसे बाहर का अभिमान क्या ? बापू ! आहा..हा...! समझ में आया ? वह, अपने आत्मा को आनन्दमय है, उसे पहिचानता है। शुद्ध आनन्दमय, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप ही मैं हूँ - ऐसा पहिचानता है। इस कारण उसे आठ प्रकार का मद नहीं होता है।

'यदि जीव उनका अभिमान रखता है तो ऊपर कहे हुए मद आठ दोष रूप होकर समकित-सम्यग्दर्शन को दोष करते हैं।' लो ! यदि करे तो वह समकित में मैल है। समझ में आया ? इसलिए ज्ञानी ऐसा नहीं करते। (विशेष कहेंगे) (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



पवित्र-वस्तु अपवित्र रूपसे परिणमित हो तो वह उसकी शोभा नहीं। वस्तु अकषाय स्वरूप है, उसका अकषाय-भावरूप परिणमित होना वही उसकी शोभा है। एकरूपता जिसमें है - ऐसी वस्तु रागादि रूप परिणमित हो तो वह विविध रूपता है, जिससे वह अशोभनीय है। चैतन्यका जो त्रिकाली स्वरूप है उसका विचार करें तो एकरूपता ही शोभनीय है। सुन्दर वस्तु है, सो सुन्दर रूपसे परिणमित हो तो ही शोभा है। सत्शाश्वत-ज्ञान और आनन्द-स्वरूप भगवान एकरूपकतामें रहे - वही उसकी शोभा है। (वस्तु) राग रहित निर्विकल्प स्वरूप है, अतः निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रमय एकरूपता ही उसकी शोभा है।

(परमागमसार-३५८)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ३, मंगलवार

दि.८-२-१९६६, गाथा १४, १५, प्रवचन नं.-२०

छन्द १४ (उत्तरार्द्ध)

छह अनायतन तथा तीन मूढता दोष

कुगुरु-कुदेव-कुवृष सेवककी नहिं प्रशंस उचरै है;

जिनमुनि जिनश्रुत विन कुगुरादिक, तिन्हें न नमन करे है॥१४॥

अन्वयार्थ :- (सम्यग्दृष्टि जीव) (कुगुरु-कुदेव-कुवृष सेवककी) कुगुरु, कुदेव और कुधर्म-सेवक की (प्रशंस) प्रशंसा (नहिं उचर है) नहीं करता। (जिन) जिनेन्द्रदेव (मुनि) वीतरागी मुनि (और) (जिनश्रुत) जिनवाणी (विन) के अतिरिक्त (जो) (कुगुरादि) कुगुरु, कुदेव, कुधर्म हैं (तिन्हें) उन्हें (नमन) नमस्कार (न करै हैं) नहीं करता।

भावार्थ :- कुगुरु, कुदेव, कुधर्म; कुगुरु सेवक, कुदेव सेवक तथा कुधर्म सेवक, - यह छह अनायतन (धर्म के अस्थान) दोष कहलाते हैं। उनकी भक्ति, विनय और पूजनादि तो दूर रही, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उनकी प्रशंसा भी नहीं करता; क्योंकि उनकी प्रशंसा करने से भी समकित में दोष लगता है। सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्रदेव, वीतरागी मुनि और जिनवाणी के अतिरिक्त कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रादि को (भय, आशा, लोभ और स्नेह आदि के कारण भी) नमस्कार नहीं करता, क्योंकि उन्हें नमस्कार करने मात्र से भी समकित दूषित हो जाता है। कुगुरु-सेवा, कुदेव-सेवा तथा कुधर्म-सेवा - यह तीन भी समकित के मूढता नामक दोष हैं॥१४॥

अब, 'छह अनायतन दोष और तीन मूढता दोष' (कहते हैं।) चौदहवीं (गाथा का) आधा भाग।

कुगुरु-कुदेव-कुवृष सेवककी नहिं प्रशंस उचरै है;

जिनमुनि जिनश्रुत विन कुगुरादिक, तिन्हें न नमन करे है॥१४॥

सम्यग्दृष्टि, महान अलौकिक आत्मा के अन्तर का भान (हुआ है), सम्यक् चैतन्यमूर्ति की जहाँ अन्तर में प्रतीति और भान हुआ है, उस निश्चयसम्यग्दर्शन में, उसे व्यवहार में ऐसे पच्चीस दोष आदि नहीं होते। जहाँ वीतरागभाव ही दृष्टि में अधिकपने भासित हुआ-ऐसे धर्मों को रागादि और राग के फल में, जो कि मिथ्यादृष्टि आदि होते हैं, उनकी उसे सेवा और प्रशंसा नहीं हो सकती - यह बात करते हैं। देखो !

'(कुगुरु कुदेव कुवृष सेवककी) कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरु सेवक, कुदेव सेवक और कुधर्म सेवक की प्रशंसा नहीं करता।' जिसे आत्मा के शान्त अविकारी धर्मका भान है, वह (जो) उस विकारी अवस्था में धर्म मानता है, वह वास्तविक नव तत्त्व से विरुद्ध जिसकी दृष्टि है - ऐसे कुदेव-कुगुरु और कुशास्त्र तथा उनके माननेवालो की प्रशंसा उसे कैसे होगी ? जैसा आत्मा का स्वरूप शुद्ध, आनन्द और ज्ञायकमूर्ति है, एक समय की पर्यायवाला और त्रिकाल द्रव्यवाला - ऐसा जिसे वास्तविक अन्तर दृष्टि में भासित हुआ है - वह निश्चय सम्यग्दृष्टि, व्यवहार में भी कुगुरु-कुदेव की सेवा नहीं करता अथवा प्रशंसा नहीं करता। सेवा तो ठीक, परन्तु प्रशंसा नहीं करता - यहाँ तो ऐसा कहते हैं। 'नहि प्रशंस उचरै...' समझ में आया ?

मुमुक्षु :- लौकिक में मेल रखना अच्छा।

उत्तर :- लौकिक के साथ मेल रखता ही नहीं। उसे कोई मेल है ही नहीं। कोई राजादि हो, उनसे हाथ जोड़कर लौकिक बात करे, वह अलग बात है। धर्मबुद्धि से कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और उनके माननेवालों की (प्रशंसा नहीं करता कि) तुम बहुत अच्छा करते हो, अच्छी संगत करते हो, सत् समागम ठीक करते हो। हम सदा पढ़ते सत् समागम करते हैं, विपरीत

शास्त्र पढ़ते (हैं), उन्हें कहे ठीक, तुम इतना तो करते हो, सम्यग्दृष्टि ऐसी प्रशंसा (नहीं करता)। मिथ्या शास्त्र के पढ़नेवाले, मिथ्या देव को माननेवाले, मिथ्या गुरु को माननेवाले तथा मिथ्या देव-गुरु और शास्त्र (ऐसे) छह की प्रशंसा नहीं करता है।

‘जिनेन्द्रदेव, वीतरागी मुनि...’ दिगम्बर सन्त, आत्मज्ञानी भावलिंगी सन्त और ‘जिनवाणी...’ देखो ! वीतराग की वाणी, सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कही गई वाणी, उस परम्परा से जो वीतराग की वाणी आयी हो, इसके अतिरिक्त ‘कुगुरु, कुदेव, कुधर्म को नमस्कार नहीं करता।’ समझ में आया ? पहले में प्रशंसा नहीं करता – ऐसा कहा; उन्हें नमस्कार नहीं करता – ऐसे दो बोल है। समझ में आया ? जिसे माल संभालना हो, उसकी यह बात है। माल प्रकटा है, आत्मा आनन्द और ज्ञायकमूर्ति की दृष्टि में जिसे वह माल संभालना है, उसके व्यवहार में भी ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को (वह) धर्मबुद्धि से नमन नहीं करता। समझ में आया ? यह छह अनायतन धर्म के दोष कहलाते हैं। उनकी भक्ति, विनय और पूजन इत्यादि तो दूर रहा, परन्तु सम्यग्दृष्टि उनकी प्रशंसा भी नहीं करता। जगत के साथ मिलनसार न हो ऐसा हो जाए – ऐसी बात है।

पूर्णानन्द प्रभु, एक समय में अखण्ड आत्मा जिसकी एक समय की पर्याय में तीन काल- तीन लोक का जानना होता है – ऐसी पर्याय के अनन्त पर्याय का स्वामी द्रव्य, उसकी जिसे अन्तर में – अनुभव में सम्यक् प्रतीति हुई है, वह ऐसे अज्ञानी-जिन्हें अभी द्रव्य अखण्ड क्या है, (यह पता नहीं है।) खण्ड माने, अनेक न माने सब होकर एक ही माने, अनेक प्रकार के व्यवहार के विकल्प आदि से धर्म माने – ऐसे जीव की धर्मी भक्ति, बहुमान, विनय, पूजन इत्यादि तो दूर रहा (परन्तु) प्रशंसा (भी) नहीं करता।

मुमुक्षु :- सम्यग्दर्शन होने के बाद न ?

उत्तर :- बाद की बात है, परन्तु पहले उसकी श्रद्धा सच्ची होनी चाहिए या नहीं ? पहले भी वह सच्ची श्रद्धा करने के लिए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा (करना)। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा छोड़नी चाहिए या नहीं ? पहले छोटे बिना इसे स्वद्रव्य की श्रद्धा कैसे होगी ? वस्तुतः तो पहले ऐसा विकल्प है। इसीलिए कहा न – ‘त्याग वैराग्य न चित्त में’ तो

इसका अर्थ यह है। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र, नव तत्त्व से विरुद्ध मान्यतावाले, ऐसों की श्रद्धा, राग की तीव्रतामें से नहीं हटे और मन्दराग न हो तो उसे आत्मदर्शन नहीं होता, तथापि उससे आत्मदर्शन नहीं होता। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- समन्वय रखना चाहिए...

उत्तर :- विरोध किसने किया ? यह प्रश्न किसने किया ? विरोध तो किसी के प्रति नहीं है। विरोध का प्रश्न क्या ? किसी व्यक्ति के प्रति विरोध होता है ? सबके साथ प्रेम होता है। 'तत्त्वेषु मैत्री, गुणेषु प्रमोदम्, किलेषु कृपा करत्वम्।' और बहुत विपरीत हो, उसके प्रति मध्यस्थता ही आती है। व्यक्तिगत विरोध किसी के प्रति नहीं होता। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि उसकी अनुकूलता का आदर और विनय और भक्ति (न करे)। तुम बहुत अच्छे है, तुम ठीक हो, तुम भी धर्म का अच्छा काम करते हो - ऐसी प्रशंसा नहीं करे। पूरी बात ही अलग होती है। उल्टे रास्ते खिंच गया हो, परन्तु सुल्टे रास्ते जानेवाले उल्टे रास्तेवाले की प्रशंसा किस प्रकार करें ? समझ में आया ? न्याय से भी बात है न ?

सर्वज्ञ परमात्मा और महा सन्त... लो न ! 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' बिराजमान हों और उनसे विरुद्ध मान्यतावाले जीव हों, उनका भी आदर करे और इनका भी आदर करे, उनके भी पैर लगे और इनके भी पैर लगे - इसका क्या अर्थ हुआ ? यह तो तत्त्व का विरोध हुआ। समझ में आया ? यह तत्त्व का विरोध है। सामनेवाले के लिये नहीं, स्वयं की श्रद्धा में निश्चय भान में व्यवहार में विरुद्ध श्रद्धा नहीं होती, इसके लिये यह बात है; दूसरे व्यक्ति के लिये बात नहीं है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- मध्यस्थता...

उत्तर :- हाँ; मध्यस्थ हो जाना। दोनों को (समान माने तो) मिथ्या मूढ़ है। जहर और अमृत दोनों को समान (माने) वह तो मूढ़ है, मिथ्या मूढ़ है। (उसे) विवेक का भान नहीं होता। खाने के लिए विष्टा भी सच्ची और अमृत भी सच्चा - ऐसा होता है ?

मुमुक्षु :- जानना चाहिए... !

उत्तर :- जानना तो यथार्थ जानना चाहिए, जानने में कहाँ प्रश्न है ?

‘क्योंकि उनकी प्रशंसा करने से सम्यक्त्व में दोष लगता है।’ यह व्यवहार समकित की बात चलती है, हों ! जिनेन्द्रदेव, परमेश्वर पूर्ण परमात्मा, वीतराग मुनि – ऐसा लिया। देखो ! अन्दर में जिनका राग टल गया। तीन कषाय टली है और भावलिङ्गी मुनि हुए हैं, बाह्य में नग्न द्रव्यलिङ्गी है।

मुमुक्षु :- दोष ...

उत्तर :- दोष में दोष करे तो दोष है, यह बात है। दोष है, वह तो निश्चय की अपेक्षा दोष है, परन्तु अशुद्धता टलने की अपेक्षा से यह व्यवहार से लाभ है। समझ में आया ? कुदेव-कुगुरु से छूटता है न ? इतनी अपेक्षा से उसे व्यवहार से लाभ भी कहा जाता है। निश्चय से लाभ नहीं है; निश्चय से बन्ध का - दुःख का कारण है, परन्तु जो तीव्र मिथ्यात्व आदि का पोषण करने की अपेक्षा ऐसे जो मन्द रागादि होते हैं, उमें उसे मन्द बन्ध पड़ता है, पहले में तीव्र में कठोर बन्ध पड़ता है - इस अपेक्षा से अन्तर है। बन्ध की अपेक्षा से निश्चय में आदरणीय नहीं है, यह अलग बात है। यह तो व्रत ले, उनमें अतिचार टाले। व्रत है, वह विकल्प है; विकल्प है, वह दोष है। यह तो दोष में दोष कहा न, इसलिए (स्पष्ट किया)।

वस्तुतः तो जहाँ आत्मदर्शनपूर्वक स्वरूप की स्थिरता है, वहाँ बारह व्रत का विकल्प आता है, परन्तु विकल्प है, वह वास्तव में तो दोष है, बन्ध का कारण है, परन्तु उसकी मर्यादा-प्रमाण जो मन्दता है, उससे विरुद्ध हो तो उसे टालना चाहिए- ऐसा कहते हैं। समझ में आया या नहीं ? व्रत को अनाचार रूप से नहीं करना, अतिचार टालना - इसका अर्थ क्या है ? जो मन्द दोष है, उसमें से तीव्र दोष नहीं होना चाहिए - ऐसा उसका अर्थ है।

वीतराग देव परमेश्वर सर्वज्ञ देव... अरे... ! जिसे सर्वज्ञ देव का वस्तु का स्वरूप अन्तरदृष्टि में जँचा, उसे सर्वज्ञ देव ही विकल्प में, प्रतीति में होते हैं। निश्चय में स्व आत्मा; व्यवहार में विकल्प में भगवान परमेश्वर। समझ में आया ? और या वीतराग मुनि। वीतराग दृष्टि हुई है, वीतरागभाव का आदर हुआ है तो विकल्प में भी वीतरागी मुनि का ही आदर

व्यवहार से होता है।

‘जिनवाणी...’ वीतराग की वाणी परमेश्वर द्वारा कथित। अन्दर गड़बड़ करके विपरीत कहा हो, वह जिनवाणी नहीं है। जिसमें परमेश्वर सर्वज्ञ देव ने वीतरागता की स्थिति की स्थापना की है, वीतरागता की शुद्धि बताई है, वीतरागता की वृद्धि कही है – ऐसी वीतराग की वाणी होती है। समझ में आया ? ऐसी वीतराग की वाणी के अतिरिक्त ‘कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र इत्यादि को (भय, आशा, लोभ और स्नेह इत्यादि से भी) नमस्कार नहीं करता।’ समझ में आया ? जिसे अभी व्यवहार का ठिकाना नहीं, उसे निश्चय तो होता नहीं, ऐसा कहते हैं, परंतु जिसे निश्चय होता है, उसे व्यवहार ऐसा होता है; उसे मिथ्या व्यवहार नहीं होता। समझ में आया ?

भय से, यदि यहाँ नहीं करूँ तो मेरी नौकरी छूट जाएगी या अमुक होगा या पालन-पोषण (नहीं रहेगा), परिवार को आधार नहीं रहेगा – इस भय से भी सम्यग्दृष्टि ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की विनय, आदर नहीं करता। आशा से – कुछ लाभ होगा; लोभ से – लड़के-लड़कियों का विवाह होगा अथवा विवाह आदि प्रसंग होंगे अथवा प्रेम से भाई-बन्धु रूप से – ऐसे प्रेम से भी उन्हें नमस्कार नहीं करता।

‘क्योंकि उन्हे नमस्कार करने मात्र से भी समकित दूषित हो जाता है। अर्थात् कुगुरु-सेवा, कुदेव-सेवा तथा कुधर्म-सेवा - यह तीन भी समकित के मूढ़ता नामक दोष हैं।’ लो ! मूढ़ता के दोष हैं; अमूढ़पने में ये दोष नहीं हो सकते।

अब, यहाँ कहते हैं – समकित की महिमा। ओ..हो...! सम्यग्दर्शन अर्थात् आहा..हा... ! लोगों को महिमा ही नहीं है, क्या सम्यग्दर्शन है !

अव्रति सम्यग्दृष्टि की देवों द्वारा पूजा और गृहस्थपने में अप्रीति

दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यग्दरश सजैं हैं;

चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजैं हैं।

गेही, पै गृहमें न रचैं ज्यों, जलतैं भिन्न कमल हैं;

नगरनारिकौ प्यार यथा, कादेमें हेम अमल है॥१५॥

अन्वयार्थ :- (जे) जो (सुधी) बुद्धिमान पुरुष (उपर कहे हुए) (दोष रहित) पच्चीस दोष रहित (तथा) (गुणसहित) निःशंकादि आठ गुणों सहित (सम्यग्दर्शन) सम्यग्दर्शन से (सजैं हैं) भूषित हैं (उन्हें) (चरितमोहवश) अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्रमोहनीय कर्म के उदयवश (लेश) किंचित् भी (संजम) संयम (न) नहीं है (पै) तथापि (सुरनाथ) देवों के स्वामी इन्द्र (उनकी) (जजैं हैं) पूजा करते हैं; (यद्यपि वे) (गेही) गृहस्थ हैं (पै) तथापि (गृहमें) घर में (न रचैं) नहीं राचते (ज्यों) जिस प्रकार (कमल) कमल (जलतैं) जल से (भिन्न) भिन्न है, (तथा) (यथा) जिस प्रकार (कादेमें) कीचड़ में (हेम) सुवर्ण (अमल है) शुद्ध रहता है, (उसी प्रकार उनका घरमें) (नगरनारिकौ) वेश्या के (प्यार यथा) प्रेम की भाँति (प्यार) प्रेम (होता है)।

भावार्थ :- (जो विवेकी पच्चीस दोष रहित तथा आठ अंग (आठ गुण) सहित सम्यग्दर्शन धारण करते हैं उन्हें, अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के तीव्र उदय में युक्त होने के कारण, यद्यपि संयमभाव लेशमात्र नहीं होता; तथापि इन्द्रादि उनकी पूजा (आदर) करते हैं। जिस प्रकार पानी में रहने पर भी कमल पानी से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि घर में रहते हुए भी गृहस्थपने में लिप्त नहीं होता, उदासीन (निर्मोह) रहता है। जिस प्रकार श्वेध्या का प्रेम मात्र पैसे में ही होता है, मनुष्य पर नहीं होता; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का प्रेम समकित में ही होता है, किन्तु गृहस्थपने में नहीं होता। तथा जिस प्रकार सोना कीचड़ में पड़े रहने पर भी निर्मल रहता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थदशा में रहने पर भी उसमें

१ यहाँ वेश्या के प्रेम से मात्र अलिप्तता की तुलना की गई है।

ललत नहीं होता, क्यौंकि वह उसे २त्याज्य (त्यागने योग्य) मानता है।३

अव्रती सम्यग्दृष्टि की देवों द्वारा पूजा और गृहस्थपने में अप्रीति
 दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यग्दरश सजै हैं;
 चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं।
 गेही, पै गृहमें न रचैं ज्यों, जलतैं भिन्न कमल हैं;
 नगरनारिकौ प्यार यथा, कादेमें हेम अमल है॥१५॥

तीन तो दृष्टान्त दिये हैं। देखो ! भाषा मात्र शुद्धि प्रयोग की है। समझ में आया ? पाठ में 'सुधी' है। सम्यग्दर्शन ही 'सुधी' है। सुधी अर्थात् सच्ची बुद्धिवाला है। समझ में आया ? और वह साध्य में है, बाकी सब असाध्य में है।

आत्मा चैतन्य ज्योत भगवान पूर्णानन्द का जहाँ भान (हुआ), भले गृहस्थाश्रम में चक्रवर्ती का राज्य हो, समझ में आया ? बहुत भोग हों, यह अभी कहेंगे... और विषयासक्त भी हो। आसक्त, हाँ ! रुचि अलग और आसक्त अलग (वस्तु है), तथापि आत्मा अन्दरमें उस विकल्प से पार निर्विकल्प भगवान आत्मा की दृष्टि-अनुभवदृष्टि हुई है – ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव को... कहते हैं, हम बुद्धिमान कहते हैं। वह बुद्धिमान है। कहो, समझ में आया ? कम जाना या बाहर का अधिक जाना, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। आहा..हा... !

'(सुधी) बुद्धिमान पुरुष (ऊपर कहे हुए) (दोष रहित)' ऊपर कौन कहें ? पच्चीस दोष कहें न ? ऐसे 'पच्चीस दोष रहित (और) निःशंकादि आठ गुण सहित,...' उसके सामने (आठ गुण) शंकादि दोष रहित और निःशंकादि गुण सहित... 'सम्यग्दर्शन से (सजै है)

-
- २ विषयासक्तः अपि सदा सदा सर्वारम्भेषु वर्तमान अपि।
 मोहविलास एषः इति सर्व मन्यते हेयं।३४१। (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा)
३. रोगी को औषधि सेवन और बन्दी को कारागृह भी इसके दृष्टान्त हैं।

भूषित है...' सम्यग्दर्शन से भूषित है। उस सम्यग्दर्शन के आभूषण से जो सज्जित है। आहा..हा...! समझ में आया ?

'(उन्हें) चारित्रमोहवश...' यह शब्द पड़ा है। कर्म के कारण नहीं परन्तु 'अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के वश...' समझ में आया ? दूसरी चौकड़ी का उदय है, उसके यह आधीन हो गया है, वश है। भाई ! चारित्रमोह का उदय है, उसमें यह वश, आधीन हो गया है। आधीन होता है, हों ! स्वयं से, पर से नहीं; इस कारण इतनी भाषा प्रयोग की है। देखो ! कितनी विवेक की भाषा है। कर्म के कारण आरम्भ में पड़ा है और विषयों की आसक्ति में पड़ा है - ऐसा नहीं है। आत्मा के आनन्द की रुचि है, विषयों में आनन्द नहीं मानता; आरम्भ में आरम्भ है, वह ठीक करता हूँ - ऐसी रुचि नहीं है। हिंसा, झूठ, विषय आदि व्यापार धन्धा, बड़ा करोड़ों-अरबों का धन्धा हो, समकित्ती को...

मुमुक्षु :- धन्धा कर सकता है ?

उत्तर :- धन्धा होता है, अर्थात् उसके पास होता है - यहाँ तो ऐसा बताना है। हें ? उसके पास दिखता है कि यह महाधन्धा, ऐसा व्यापार करता है। जहाज आदि का बड़ा व्यापार हो, समझ में आया ? परन्तु आत्मा के स्वरूप के आनन्द के प्रेम के समक्ष कोई प्रेम लूट नहीं जाता, किसी चीज़ में प्रेम नहीं आता। समझ में आया ? आहा..हा... !

'अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्रमोहनीय कर्म के उदयवश...' समझ में आया ? 'तीव्र' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। भावार्थ में 'तीव्र' शब्द का प्रयोग किया है। वश है। मूल तीव्र है। तीव्र का अर्थ क्या ? अभी पाँचवा आदि (गुणस्थान) नहीं आया है। भावार्थ में तीव्र (शब्द) प्रयोग किया है न ? मूल पाठ में भी प्रयोग किया है। तीव्र का अर्थ कि उसे जरा भी मन्द (नही), पंचमगुणस्थान के योग्य जो चाहिए, वैसा भी अभी नहीं हुआ। कुछ एसी योग्यता (चाहिए, वह नहीं है)। अप्रत्याख्यान दूसरी चौकड़ी के उदय में अत्यन्त जूड़ गया है, वश है। वश है, वह सम्यग्दर्शन का दोष नहीं है; वह चारित्रदोष है। दोनों कठोर (है)। आसक्ति और रुचि दोनों में बड़ा अनन्तगुना अन्तर है। समझ में आया ?

विषयों की रुचि, वह मिथ्यात्व है और विषयों की आसक्ति, वह चारित्रदोष है - दोनों

पूरी अलग चीज़ है। बाह्य विषयों का त्यागी हो और अन्दर गहरे राग की रुचि पड़ी है, वह उसे विषय की ही रुचि है, क्योंकि राग का फल ही विषय है और उनका भोक्तापन है। समझ में आया ? जहाँ भगवान आत्मा के आनन्द की रुचि नहीं है और जिसके राग के, शुभराग की, एक मन्द राग की भी रुचि और प्रेम है, उसे राग के फलरूप विषय (मिले), उनका उसे अन्दर प्रेम है ही, उसे विषय नहीं छूटे हैं। उसे राग का प्रेम है। राग तो परवस्तु के लक्ष्य से हुआ है और राग के फल में परविषय मिलते हैं। समझ में आया ? (ज्ञानी) राग से भिन्न आत्मा के भान में सज्जित हुआ है।

दूसरे ऐसा कहे कि यह श्रीखण्ड, पुड़ी खाता है, हम रोटी खाते हैं, भाई ! यह समकित्ती और सदा हलुआ-पुड़ी उड़ाता है और हम रोटी खाते हैं, छाछ-पानी और दो-तीन ऐसे खाते हैं। अब, सुन न भाई ! जिसे राग के विकल्प का प्रेम और रस का भोग है, उसे बाह्य त्याग में चाहे जितना त्याग वर्तता हो, समझ में आया ? उसे मिथ्यादृष्टि का ही भोग है और आत्मदर्शन की दृष्टि में संयोग की क्रिया कोई अघाति के कारण बहुत बन जाए और घातिकर्म के उदय के वश होने से आसक्ति भी हो, तथापि वह चारित्रदोष है, अति अल्प दोष है, महान अल्प दोष है। आहा..हा... ! इन दोनों का अन्तर (भेद) करना जगत को (कठिन पड़ता है)। स्व और पर विवेक (चाहिए)। समझ में आया ?

कितने ही इसके बहाने ऐसा कहते हैं कि देखो ! समकित्ती को भी ऐसे भोग होते हैं न ! अमुक होता है न ! हमें चारित्रमोह का उदय है, इसलिए यह है... ! मर जाएगा। अन्दर मीठास पड़ी है और तू चारित्रमोह के उदय के वश कहता है... (मर जाएगा)। समझ में आता है ? इस तरह कीर्ति, विषय-भोग आने पर अन्दर में गुदगुदी (होने लगती है), अन्दर मीठास आती है। वह मीठास मिथ्यात्व की मीठास है। वह भले ही बाहर में बहुत अधिक त्याग हो। भाई !

मुमुक्षु :- एक को अल्पदोष है और एक को महादोष है ?

उत्तर :- एक को अल्पदोष है और एक को महा मिथ्यात्व का दोष है। एक ही घर में रहनेवाले करोड़पति के दो लड़के हों, लो ! यह कोई कहता था कि सम्यग्दृष्टि का पक्षपात है, भेदभाव करते हो, (-एसा कहता था), परन्तु कुछ भान नहीं है। बापू ! सम्यग्दर्शन अर्थात्

क्या ? भाई ! वह तो परमात्मा का पुत्र हो गया। अब उसे परमात्मा का उत्तराधिकार लेने की तैयारी है। आहा..हा... ! केवलज्ञान ! वह आगे कहेंगे, देखो ! सम्यग्दर्शन तो मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है। मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी। वह १७ वें श्लोक में है, इसका अंतिम श्लोक है न ! तीसरी (ढाल का)।

**मोक्षमहलकी प्रथम सीढ़ी, या विन ज्ञान चरित्रा;
सम्यक्ता न लहे, सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा।**

पवित्रता... पवित्रता... पवित्रता... आहा..हा... ! अरे.. ! भाई ! कहते हैं कि, चारित्रमोह के अन्तर उदय के वश पड़ा होने पर भी 'जरा भी संयम नहीं...' जरा भी... भाषा कैसी प्रयोग की है ? लेश भी संयम नहीं है। आहा..हा... ! अरे.. ! संयम नहीं, अस्थिरता का नहीं, बाकी पूरे लोकालोक का संयम (है) दृष्टि में निषेध हो गया है। समझ में आया ? यह बात इसके लिए तो यहाँ कहते हैं।

'जरा भी संयम नहीं है तो भी (सुरनाथ)...' देवों के इन्द्र। इन्द्र आकर सेवा करते हैं। इसमें लिखा है, हाँ ! चित्र में किया है, चित्र में किया है। चित्र सब बनाये हैं। यह चित्र बनाया है, देखो ! समकिती बैठा है, वस्त्र पहिने हुए हैं, हाँ ! है इसमें ? इन्द्र आकर हाथ जोड़ता है, देखो ! ओ..हो... ! धन्य अवतार... धन्य अवतार... धन्य अवतार ! भव का किया अभाव, धन्य अवतार तेरा.. ! भव का किया अभाव, यह तेरा अवतार। आहा..हा... ! समझ में आया ? लो, यह इन्द्र तो तीन ज्ञान का स्वामी है, समकिती है तो भी... आहा..हा... ! मनुष्यपने में जो आत्मदर्शन को प्राप्त हुए, (उन्हें धन्य है)। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन (प्राप्त करने के बाद) जरा भी संयम न हो। अज्ञानी (कहता है) हम तो रूखा खाते हैं, छाछ पीते हैं, दो द्रव्य कम करते हैं, नीचे सोते हैं, चदर में सोते हैं, क्या है तेरे ? और यह तो ऐसा करता है, अमुक करता है।



एक बार नहीं कहा था ? बहुत वर्ष पहले (एक भाई ने) पूछा था। महाराज ! यह सब दो-दो गद्दो रेशम के गद्दों पर सोते हैं और तुम कहते हो कि निर्जरा होती है, उसे धर्म होता है। कहा-सोने से धर्म होता है - ऐसा कहा था ? और हम यहाँ नीचे सोते हैं, गद्दा पुराना हो, (तो तुम कहते हो) तुम मिथ्यादृष्टि हो, तुम्हें इसमें गृद्धि है। भाई ! (एक भाई ने) पूछा था। पहले से होशियार व्यक्ति है। इस तरह बुद्धि में पहले से तर्क (करता है)। कहा - बापू ! वह दो गद्दों पर नहीं सोता; वह तो आत्मा के आनन्द में पड़ा है; उसे बाहर की आसक्ति भले हो, परन्तु अन्दर रुचि नहीं है। तीन काल-तीन लोक की रुचि एकदम उड़ गई है ! एक समय में उड़ गयी है। जहाँ आनन्द का प्रेम जगा, अनुभव (हुआ तो) एक समय में तीन काल-तीन लोक दृष्टिमें से छूट गया है। अज्ञानी बाहर से हजारों रानियों का त्याग करके, बाहर से खाता-पीता न हो और कम खाता हो और कम बोलता हो तथा किसी की प्रकृति ऐसी हो कि धीमे धीमे बोलने का होता हो, इससे कोई वस्तु है नहीं। समझ में आया ?

जिसे भगवान आत्मा नजर में नहीं पड़ा है और राग व पुण्य के वर्तन में जिसकी बुद्धि - एकत्व वर्तती है - ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि को इन्द्र आकर पूजते हैं। लो, वह अविरति है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? बहुमान देते हैं कि ओ..हो... ! तुमने मनुष्यपने में ऐसा काम किया। हम तो देव हैं, भगवान का योग था, हमें तो धर्म प्राप्त हुआ। तुम... आहा..हा... ! साधर्मी के रूप में उन्हे बहुत प्रेम आता है। समझ में आया ? अरे.. ! ऐसे माँस के पिण्ड में आत्मा को जाना, ऐसे शरीर में रोग और ऐसे में (तुमने आत्मा को जाना)। हम तो वैक्रियक शरीर के स्वामी, पूर्व का पुण्य भी बहुत, और हम तो पवित्रता लेकर आये हैं। देखो न ! फिर शब्द कैसा प्रयोग किया है !

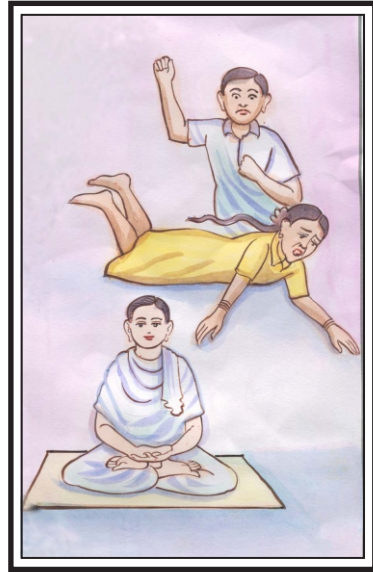
‘ चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं। ’ फिर भी देवों के स्वामी इन्द्र, जजै अर्थात् पूजा करते हैं अर्थात् बहुमान करते हैं। बहुमान करते हैं, ओ..हो.. ! अरे.. ! अछूत हो और आत्मज्ञान हो, अछूत ! आत्मदर्शन (होवे) और अछूत हो। घर में कुछ न हो, स्त्री काली कुबड़ी हो, लड़के का ठिकाना न हो... रहने के लिए बंगला तो कहाँ से हो ? साँठे (सूखी घास) हो, ले। थोड़ा ऐसा साँठे और थोड़ा ऐसे साँठे। ऊपर से बिच्छु गिरते हों। (इन भाई के वहाँ) बैठे थे और एक बार बिच्छु गिरा। (एक भाई) और हम तो बैठे थे और पढ़ते थे तो बीच

में बिच्छु गिरा। लो ! इतना बड़ा, हाँ ! चीड़िया जैसा (बड़ा)। एक बार मैं कमरे में खुल्ला बैठा था और ऊपर से ऐसे गिरा। इतना (बड़ा) बिच्छु। क्योंकि पुराना मकान है न ! दो बिच्छु। (मकान) बहुत पुराना न ! यह तो अभी दिखता भी ठीक है, वहाँ तो कोर्ट थी। (बाकी) तो समझने जैसा है। हमने एक मकान देखा था। वहाँ उतरे थे न ? 'मोरबी' के इस ओर एक मकान था। वेला, वेला के मकान में उतरे थे। मकान समझने जैसा था। वह तो एकबार यह हो और एकबार वह हो। वहाँ 'सरा' गये थे न, 'सरा' ? सूखी घास अभी अन्दर से कुछ गिरेगा, ऐसा सब (था)। सम्यग्दृष्टि को बाहर में ऐसा भी होता है। देव आकर पूजता है, बहुमान करता है - ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा..हा... ! बाहर के संयोग की अपेक्षा नहीं है।

जिसे अकेला चिदानन्द स्वभाव रुचिकर हुआ है, जिसने भव का अभाव किया है, उसे अब भव नहीं है। यह तो थोड़ा राग (होवे और) एक-दो (भव होवे, वह अलग बात है)। समझ में आया ? यह सम्यग्दर्शन की महिमा कहते हैं। सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या और उसकी महिमा अर्थात् क्या ? उसका स्वरूप क्या ? समझ में आया ? 'इन्द्र (जजें हैं)।'

'गृहस्थ हैं...' देखा ? गृहस्थ में रहते हैं। स्त्री-पुत्र हों, परिवार हों... समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि हो। स्त्री हो, पुत्र हो, परिवार हो, व्यापार हो, धन्धा हों। देखो ! गृहस्थ है न ? 'गृहस्थ हैं, तथापि घर में नहीं राचते।' अन्दर राग में जरा भी रुचि नहीं है। आहा..हा... ! यह समझ में आता है ? सम्यग्दर्शन में स्व-पर का विवेक हुआ है, इसलिए पर का प्रेम, अपने से भिन्न में प्रेम अन्दर से उड़ गया है, सम्पूर्ण लोक का प्रेम उड़ गया है।

स्व-पर का ज्ञान है न ? स्वपर किसे कहना ? भगवान आत्मा अनाकुल शान्तरस का स्वरूप, वह स्व और विकल्प से लेकर और पुण्य-पाप से लेकर पूरी दुनिया, वह पर (है)। आहा..हा... ! अन्तरमें से



लोकालोक का त्याग दृष्टिमें से हो गया है और भगवान परमात्मा अनन्त... अनन्त केवलज्ञान का कन्द भगवान आत्मा अन्दर में आ गया है, परन्तु अस्थिरता में गृहस्थाश्रममें रहते हैं। समझ में आया ? अतः कहते हैं – गृहस्थ में हो। आदमी हो तो स्त्री भी हो और स्त्री हो तो उसका पति भी हो, पुरुष भी हो, परन्तु राचते नहीं। समझ में आया ? अरे.. ! हमारा आनन्द जहाँ देखा, उस घर में हम जाना चाहते हैं या उसमें आना चाहते हैं। कुछ समझ में आया ? आहा..हा... !

‘नहीं राचते...’ गृहस्थाश्रम में कहीं उनका दिल नहीं ठहरता, कहीं मन नहीं लगता। ठहरा है, वहाँ से नहीं हटता। समझ में आया ? आठ वर्ष की बालिका सम्यग्दृष्टि हो, आठ वर्ष की कन्या ! समझ में आया ? निर्विकल्प दृष्टि, अनुभव (हुआ हो), घर में उसके मात-पिता भी कहें – लड़की ! धन्य है तुझे ! तेरे अवतार को धन्य है ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- हमें सुनकर प्रसन्न रहना न ?

उत्तर :- सुनकर प्रसन्न रहना अर्थात् ? समझना, उसे समझना। अर्थात् क्या ? उसका स्पष्टीकरण करो तो कहें। समझ में आया ?

‘नहीं राचते। जिस प्रकार...’ अब तीन दृष्टान्त देते हैं। आहा... ! बाहर का दूसरा कोई त्याग नहीं – ऐसा कहते हैं और अभी राग भी आसक्ति का, विषय और भोग का वर्तता है। अन्दर दृष्टि में ठहर गये हैं। कहीं रस नहीं है, रस नहीं है। किसकी तरह ? ‘कमल पानी से भिन्न रहता है...’ दृष्टान्त देते हैं। कमल और जल। कमल और जल दोनों अत्यन्त भिन्न है। इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान, आत्मदर्शी उसे और यह सब बाह्य चीजें अत्यन्त भिन्न भासित होती हैं। जिसे भिन्न भासित हुआ, उसमें अहंपना कैसे आये ? जिसमें स्वभासित हुआ, उसमें उसकी अन्तर की महासत्ता का अस्तित्वपना कैसे छूटे ? समझ में आया ?

‘कमल जल से भिन्न...’ है न ? शास्त्र में दृष्टान्त दिया है न ? ऐसे पानी छुआ हुआ दिखता है, कमल को स्पर्शित (दिखता है), उस कमल के रोम ऐसे होते हैं न ! कि पानी उसे छूता ही नहीं, छूता ही नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? इसी प्रकार चैतन्य सम्यग्दृष्टि जीव को... उसमें नहीं आता ? ऐसे साधारण भाषा नहीं आती ? तुम नहीं बोलते ? ‘सम्यग्दृष्टि जीवड़ो करे कुटुम्ब प्रतिपाल’ – यह सब बोलते थे या नहीं ? ‘सम्यग्दृष्टि जीवड़ो करे कुटुम्ब

प्रतिपाल, अन्तरंग से न्यारो रहें ज्यों धाउ खीलावे बाल' - यह बालक मेरी जंघा का नहीं, मैं तो उसकी पालक हूँ, मुझे बीस-पच्चीस (रुपये) जो देना हो वे दें। बड़ा होगा तो यह मेरा पोषण करेगा - ऐसा वह नहीं मानती, फिर भी पुत्र को जैसे संभाले उसी प्रकार नहलाती, धुलाती, खिलाती, सुलाती, खेल कराती है। समझ में आया ? अन्दर में कुछ नहीं होता। मेरा लड़का ही नहीं है न ?



आहा..हा... ! फिर बोलती भी है बेटा ! तुझे कैसा है ? पुत्र ! मेरा ऐसा है। ऐसा कहती है या नहीं ? अन्दर में कुछ लेना देना नहीं होता। समझ में आया ? 'धाउ खिलावे बाल' ऐसे सम्यग्दृष्टि जगत के खेल में खड़ा दिखे, (फिर भी) अन्दर में उसे खेल का प्रेम नहीं है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

'कीचड़ में सुवर्ण...' इस कीचड़ में सुवर्ण सो वर्ष रहे (तो भी) उसे जंग नहीं लगती, हजारों वर्ष रहे तो भी जिसे एक समय कीचड़ नहीं लगता, उसे कभी नहीं लगता। सोना कीचड़ में पड़ा (हो), कैसा चिकना कीचड़, हाँ ! ऐसा समुद्र का... आता है न ? क्या कहलाता है वह ? सीमेन्ट। ऐसा कीचड़। उस कीचड़ में पड़ा हो परन्तु सोने को कोई जंग लगता होगा ? भाई ! आहा..हा... ! ऐसे जहाँ आत्मा की दृष्टि-निर्विकल्प सम्यग्दर्शन भान हुआ (तो) कहते हैं, कीचड़ में जैसे सोना शुद्ध रहता है, वैसे प्रत्येक प्रसंग में संसार में रहने पर भी उसे लेप नहीं लगता। कहो, समझ में आया ?

'समयसार नाटक' में तो एक जगह बहुत कहा है। चलता है तो कहते हैं कि वह स्वयं स्थिर है बोलता है तो कहते हैं कि मौन है। ऐसा आता है न ? एक जगह आता है। समझ में आया ? वह विकल्प आता है, वह खिर जाता है। आहा..हा... ! अज्ञानी बाह्य त्याग करके बैठा हो, उसमें उसे अन्दर में राग के प्रेम में पड़ा (है), उसे समय-समय अनन्त संसार बढ़ता जाता है। अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व। मिथ्यात्व के साथ सम्बन्ध करनेवाली अनन्तानुबन्धी, वह पुष्ट

होती है, और संसार दूसरा कहाँ है ?

जैसे, कीचड़ में सोना शुद्ध रहता है, वैसे सम्यग्दृष्टि को गृहस्थाश्रम में भी लेप नहीं लगता। ' (उसी प्रकार वे घर में) नगरनारिकौ) वैश्या के (प्यार यथा)... ' देखो ! दृष्टान्त दिया। दृष्टान्त में क्या ? वैश्या का प्यार। वैश्या को पैसे की सोबत है। पैसा देनेवाला एक अछूत आवे तो भी रमे, परन्तु गहराई में उसे प्रेम नहीं है। यह तो एक दृष्टान्त दिया है, हाँ ! वह कहेंगे। वैश्या का प्रेम मात्र पैसे में होता है। समझ में आया ? उसे मनुष्य के प्रति प्रेम नहीं होता, यह मनुष्य जो आया, उसके प्रति प्रेम नहीं होता, उसे पैसे के प्रति (प्रेम) है। वैसे ही धर्मी को आनन्द के प्रति प्रेम है। अतीन्द्रिय आनन्द का प्रेम है; जगत की किसी चीज में रुचि नहीं है। समझ में आया ? नीचे स्पष्टीकरण किया है, हाँ ! 'यहाँ वैश्या के प्रेम से मात्र अलिप्तता की तुलना की गयी है।' (किसी को ऐसा लगे कि) ऐसी उपमा क्यों दी ? ऐसी उपमा क्यों दी ? उपमा में सिद्धान्त सिद्ध करना है। वैश्या, पैसे देनेवाला हो (और) तीन हजार दे तो अछूत होवे तो उसके साथ रमती है। उसे है कुछ ? रमती है तो प्रेम किसका है ? अछूत का है ? मनुष्य का है ? यह दृष्टान्त है। वैसे ही ज्ञानी को आत्मा के आनन्द के समक्ष अन्य में कहीं प्रेम नहीं आता, कहीं मन नहीं ठहरता, मन कहीं विश्राम नहीं पाता। आहा..हा... ! समझ में आया ?

'नगरनारि...' नगरनारी कहलाती है, क्योंकि किसी एक घर की नारी नहीं, ऐसा। भाषा ऐसी प्रयोग की है न ! नगरनारी अर्थात् जो कोई मनुष्य आवे उसकी स्त्री, ऐसा। उसकी तरह प्यार-प्रेम है; उसकी तरह प्रेम होता है। जैसे उसे अन्दर में प्रेम नहीं है; वैसे ही धर्मात्मा को परिवार में, शरीर में, कर्म में (प्रेम नहीं है)। बाहर से देखो तो ओ..हो..हो... ! ऐसे घर में करोड़ों का, अरबों का खर्च होता हो, घर में पुत्र का विवाह होता हो... समझ में आया ? ऐसे गहने पहनकर स्वयं बैठा हो, गहने अन्य को (पहनाये) हों, घुड़सवार, हाथी (हों)... चक्रवर्ती को चौरासी लाख हाथी (होते हैं)। उसका-चक्रवर्ती का स्वयं का विवाह हो, तब कितना होगा ? अथवा पुत्र का विवाह हो, उसे कितना वैभव होगा ? समझ में आया ? यह तो अघाति के उदय का संयोग है। स्वरूप और राग के बीच भेद पड़ गया है। राग और स्वभाव के बीच भेद पड़ गया है, भेद पड़ गया है। भेद हुआ, वह अब अभेद नहीं होगा - ऐसा कहते हैं।

जहाँ राग और पर के प्रति भेदज्ञान हुआ, उसे बाहर की चीज लाख, करोड़ हो और कदाचित् आसक्ति भी हो, परन्तु उस आसक्ति और पर से जिसे अन्दर भेद पड़ गया है। समझ में आया ?

‘भावार्थ - जो विवेकी २५ दोष रहित...’ यह २५ दोष कहे न ? ‘और अंगरूप आठ गुण सहित सम्यग्दर्शन धारण करता है, उसे अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के तीव्र उदय में जुड़ने से...’ ऐसा शब्द इसमें है। यह बात अपेक्षा से है। ‘यद्यपि संयमभाव लेशमात्र भी नहीं होता...’ ऐसा सिद्ध करना है। संयम का अंश भी नहीं है, उसमें अप्रत्याख्यान की तीव्रता है - ऐसा कहना है। ‘तथापि इन्द्र इत्यादि...’ इन्द्र इत्यादि, हाँ ! इन्द्र बड़ा हो, यह तो दृष्टान्त में दिया है। ‘सुरनाथ जजै हैं।’ दृष्टान्त में इन्द्र दिया, परन्तु बड़ा नगरसेठ अरबपति (होवे, वह आकर पूजते हैं)। समझ में आया ? आहा..हा... ! एक अछूत की लड़की अनुभव पाकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुई हो और उसे पता चले तो अरबोंपति (वहाँ जाए)। ओ..हो... ! माता ! वह वापस विवाह करनेवाली हो, हाँ ! भाई !

‘अगम प्याला पिओ मतवाला, चिन्ही अध्यात्म वासा,

आनन्दघन चेतन वहै खेले, देखे लोक तमासा।’

कहते हैं, उसे इन्द्र आदि से लेकर (सभी नमस्कार करते हैं)। इन्द्र (कहकर) बड़ी से बड़ी बात की है। गाँव का नगरसेठ हो, राजा हो, दीवान हो... समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को आदर करते हैं, बहुमान देते हैं। धन्य... धन्य... ! ऐसा सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है। समझ में आया ? थोड़े में बहुत भर दिया है न !

‘जिस प्रकार पानी में रहने पर भी कमल पानी से अलिप्त रहता है...’ लिप्त नहीं होता। ‘उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि घर में रहते हुए भी गृहस्थपने में लिप्त नहीं होता, निर्मोह (उदासीन) रहता है।’ निर्मोह रहता है। आहा..हा... ! नारियल की काचली में गोला पृथक् रहता है, उसी प्रकार पृथक् गोला रहता है, कहते हैं।

‘जिस प्रकार वेश्या का प्रेम मात्र पैसे से ही होता है, मनुष्य पर नहीं होता; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का प्रेम समकित में ही होता है, किन्तु गृहस्थपने में नहीं होता।’ ऐसा कहते हैं।

‘जिस प्रकार सोना कीचड़ में पड़े रहने पर भी निर्मल और पृथक् ही रहता है...’ भिन्न और निर्मल दोनों। ‘उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थदशा में रहने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता क्योंकि वह उसे त्याज्य मानता है।’ हेय मानता है, छोड़ने योग्य मानता है। छोड़ने योग्य माने, उसका प्रेम क्या ? समझ में आया ? नीचे ‘स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा’ की गाथा (दी है)।

विषयासक्तः अपि सदा सर्वारम्भेषु वर्तमानः अपि;

मोहविलासः एषः इति सर्व मन्यते हेयं॥३१४॥

देखो ! यह ‘स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा’ की गाथा है। सम्यग्दृष्टि जीव, विषयासक्त होने पर भी ‘सदा सर्वारम्भेषु’ वह जीव ‘सर्वारम्भेषु’ समस्त प्रकार के जो संसार के आरम्भ हैं, उसके योग्य, हाँ ! ‘वर्तमानः अपि’ वर्तमान में वर्तने पर भी, ‘मोहविलासः एष’ यह तो मोह का विलास है; मेरा नहीं। समझ में आया ? यह मेरा स्वरूप नहीं ‘इति सर्व मन्यते हेयं’ समझ में आया ? क्या अर्थ किया है इसमें ? मोहविलास। ३१४ है न ? मोहविलास। मोहनीयकर्मविलास। ‘विलसनम्’ वह चेष्टा है; मेरा स्वरूप नहीं।

‘सर्व विषयादिकर्म हेयं त्याज्यं मन्यते प्रत्यक्ष मोहविलास मोहनीयकर्म विलास विलसनम् चेष्टा।’ मेरी चेष्टा नहीं, आत्मस्वभाव की चेष्टा नहीं। समझ में आया ? ‘पुत्र कलत्र शरीर धनधान्य सुवर्ण गृहादि परद्रव्यं सर्ववस्तु त्याज्य मन्यते, जानाति मन्यते। सदा निरंतरो विषयासक्तोपि।’ देखो ! यहाँ ‘सदा’ डाल दिया है। पाठ में सदा है न ? ‘इन्द्रियाणां विशेषो आसक्ति प्रीतिगतोऽपि... विरक्तसन् सर्व हेयं परवस्तु त्याज्यं’ – जहाँ स्व और पर का विवेक है और पर का विवेक न हो, उसे पर का प्रेम होता है। जहाँ पर और स्व का विवेक हुआ, वहाँ स्व के प्रेम में पर का विवेक कैसे रहे ? तो उसे स्व और पर का अन्तर में विवेक नहीं हुआ। ‘सर्व आरम्भेषु असिमसिकृषिपशुपालनादि वर्तमानोऽपि’ – पशुपालन आदि सब कहा। ‘सर्व व्यापारकरोऽपि सर्वहेयं भरत चक्रीवत् मन्यते।’ दृष्टान्त दिया है। ‘भरत’ चक्रवर्तीवत् मानते हैं। क्या कहते हैं ? ‘अपिशब्दा सर्वआगमनेषु’ प्रवर्तमान कहा, परन्तु ‘विरक्ततएव सर्वहेयं मन्यते’ प्रवर्तमान कहा परन्तु फिर विरक्त लेना – ऐसा कहते हैं, ऐसी गुलांट खाता है। समझ में आया ? देखो ! उसका दृष्टान्त दिया है।

‘धात्रिबालासतिनाथपद्मिनीजलबिन्दुवत’ ऐसा दृष्टान्त दिया है। धात्रि समझे न ? माता, सती, नाथ, पद्मिनी, जलबिन्दुवत्... ‘आभासम भुंजनम् राज्यं...’ बाहर से भोक्ता दिखता है। ठीक... ठीक... टीका की है। यह गाथा है।

जिसे छोड़ने योग्य माने... हाथ में सर्प पकड़ा है, वह कहीं प्रेम से (पकड़ा) नहीं है, छोड़ने के लिये हैं। ओ..हो... ! जिसे आत्मा के आनन्द की प्रेम - रुचि हुई, उसे आसक्ति आदि समस्त चीजे छोड़ने योग्य है; इस कारण उसे उनका लेप नहीं लगता। समझ में आया ? अब, उसकी महिमा कहेंगे। वह जीव कहाँ-कहाँ नहीं उत्पन्न होता - यह बात करेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



आचार्यदेव कहते हैं कि अनेक प्रकारके शुभ विकल्प करनेसे कोई कार्यसिद्धि तो होती नहीं। कार्यसिद्धि तो अनंत-अनंत आनन्दके सागर-ऐसे आत्माकी ओर ढलनेसे ही होती है। उधर क्यों नही झुकता ? अनेक प्रकार के शुभ विकल्पोंकी क्रियामें जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है, वैसे स्वानुभवरूपी कार्यको सिद्ध करनेसे भ्रष्ट होता जाता है। प्रथम आत्माका निर्णय करके स्वानुभवका प्रयत्न करना चाहिए। जो ऐसा नहीं करता, और शुभ विकल्पों में आगे बढ़ता जाता है, वह स्वानुभव-मार्गसे भ्रष्ट होता जाता है। अशुभकी ओर जानेकी तो बात है ही नहीं। श्रीमद् राजचंद्रजी भी कहते हैं कि ‘केवल वांचन ही करते रहनेसे चिन्तन शक्ति घटती है’ उसी प्रकार जैसे केवल शुभविकल्पों और क्रियाकाण्डमें बढ़ते जाते हैं, वैसे ही स्वानुभव - मार्गसे भ्रष्ट होते जाते हैं। सर्व शास्त्रबोधका सार तो आत्मानुभव करना है। बारह अंगमें भी आत्मानुभूति ही करनेका निर्देश है।

(परमागमसार-२८६)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ४, बुधवार

दि.९-२-१९६६, गाथा १५ से १७, प्रवचन नं.-२१

तीसरी ढाल की पन्द्रहवीं गाथा चली न ? देखो ! अन्त में उसमें कहा कि जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव, भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कथित छह द्रव्यों और नौ तत्त्वोंमें से अपनी आत्मा एक स्वरूप अनन्त गुण का पिण्ड, उसे राग से भिन्न करके, अन्तर अनुभव में प्रतीति करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन-धर्म की पहली सीडी है। यह अभी १७ (वीं गाथा में) आयेगा। समझ में आया ? इस सम्यग्दर्शन प्राप्त (हुए जीव को) चारित्रमोह के उदय के वश होनेवाले विषयासक्ति-भोगासक्ति आरम्भ के परिणाम होने पर भी, उस सम्यग्दृष्टि को देव के इन्द्र भी उसका आदर करते हैं। समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म। ऐसा विषय कषाय, ऐसे तीन कषाय के परिणाम सम्यग्दृष्टि को होते हैं; इसलिए उसके आधीन विषय की आसक्ति होती है और आरम्भ-परिग्रह भी अन्दर तीन कषाय परिणाम बहुत होते हैं। तीन कषाय के (परिणाम हो) तो भी अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का भाव नहीं है; इसलिए उस विकार का स्वामीपना नहीं है और अनन्त गुणों का चैतन्य पिण्ड, सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कहा, देखा हुआ ऐसा आत्मा, उस आत्मा को अन्दर में दर्शन-श्रद्धा निर्विकल्प प्रतीति में लेने से अनन्तानुबन्धी का अभाव होने से उसे आत्मा की शान्ति और आनन्द के अनुभव में, तीन कषाय के वश होने पर भी, देव उसे पूजते हैं - ऐसा इस सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है।

मुमुक्षु :- पहले में पहला धर्म यह।

उत्तर :- पहले में पहला धर्म यह। यह इसमें अभी कहेंगे। सम्यग्दर्शन क्या है ? वह चीज क्या कहलाती है ? जैन के अलावा अन्यमति में तो यह बात तो तीन काल - तीन लोक में कहीं नहीं हो सकती।

सम्यग्दृष्टि, कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को तो अभ्यन्तर में किसी प्रकार नहीं मानता, उनका

आदर नहीं करता, उनका विनय नहीं करता, उनका बहुमान नहीं करता। यह तो व्यवहार सम्यग्दर्शन में (ऐसा होता है)। निश्चयसम्यग्दर्शन में तो आत्मा एक स्वरूप अखण्ड आनन्द अनन्त गुणस्वरूप एकरूप, हाँ ! उसकी अन्तर में निर्विकल्प-रागरहित की अनुभव होकर प्रतीति (हुई, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है)। उसके साथ व्यवहार समकित में कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का आदर नहीं करता, सेवन नहीं करता, बहुमान नहीं करता। उनका बहुमान उसे अन्तर में नहीं होता। समझ में आया ? ऐसे जीव को...

यहाँ तो ऐसा कहा न ?

**दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यग्दर्श सजैं हैं;
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजैं हैं।**

परन्तु अन्याय नहीं होता, हाँ ! उसे अन्याय के ऐसे कर्तव्य नहीं होते। यह अनन्तानुबन्धी गया है, इस कारण आत्मदर्शी को अनन्तानुबन्धी के योग्य जो अन्याय के कार्य (हों) - ऐसे कार्य उसे नहीं होते। 'भावदीपिका' में 'दीपचन्दजी' ने इसका बहुत विस्तार लिया है। समझ में आया ?

'चरितमोहवश लेश...' जो संयम के स्थान कहलाते हैं, संयम के स्थान, हाँ ! दूसरी कषाय का, तीसरी कषाय का अभाव होकर जो संयम-स्थान कहलाते हैं, वह संयम-स्थान इसे नहीं है, परन्तु स्वरूप में दृष्टिपूर्वक स्वरूपाचरण है, वह यहाँ नहीं लिया है, क्योंकि संयम का वजन आगे लेंगे। चारित्र के भाग में संयम का वजन देंगे। वहाँ स्वरूपाचरण अर्थात् संयम का स्वरूपाचरण कैसा होता है ? - उसकी व्याख्या आगे करेंगे। यहाँ संयम का स्थानरूपी संयम नहीं है, उसे स्वरूपाचरण नहीं कहा है, इतना यहाँ कहा जाता है।

मुमुक्षु :- सीताजी को अन्याय नहीं हुआ ?

उत्तर :- वह अन्याय नहीं है। उन्हें लोक की लाईन में अभी उतना राग था। उस राग के कारण लौकिक इतना होता है। ज्ञान में आनन्द का अनुभव वर्तता है। अरे... ! इस आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द... सम्यग्दर्शन में हाँ ! इस कारण उन्हें कहीं आनन्द का सन्तोष हो - ऐसी

उन्हें प्रीति और रुचि नहीं होती। यह बात है जरा। समझ में आया ?

कहते हैं, 'सुरनाथ जजै हैं...' परन्तु इससे कहीं उसमें उसे गृद्धि है, एकाकार है, उसमें - विषय-भोग में (तन्मय है - ऐसा नहीं है)। ऐसा लोग कहते हैं न कि हमारे क्रम में आया होवे तो ? भाई ! ऐसा नहीं होता प्रभु ! जिसे क्रम में आया हो - ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी मिट गये होते हैं। इसमें समझ में आया ? जिसे, क्रम में आयी हुई बात (है) - ऐसा जो मानता है, उसे तो मिथ्यात्व अर्थात् भ्रम और अनन्तानुबन्धी मिट गया है। समझ में आया ? उसे आत्मा का अनुभव, प्रतीति और आत्मा का आनन्द आया है। उस आनन्द के समक्ष यह क्रमबद्ध आवे, उसे जानता है - ऐसा कहा जाता है।

अज्ञानी होकर (ऐसा कहे कि) हमारे क्रम में ऐसा आना था (तो यह ठीक नहीं है)। यह देखो ! समकिति को संयम नहीं है, इसलिए हमारे भी ऐसा तीव्र असंयम होवे या ऐसा होवे तो क्या बाधा ? ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता। सम्यग्दर्शन में तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की दृष्टि वर्तती है। समझ में आया ? यह तो जरा विचार क्या आया ? कि लेश संयम नहीं है, इसलिए कोई (ऐसा कहे कि) ऐसा हमारे क्रम में ऐसे परस्त्री के भोग आये... समझ में आया ? मांस खाने की क्रिया या ऐसी होवे तो (वह कहे) क्रम में (होती है), नहीं समझता, उस वस्तु को नहीं समझता। समझ में आया ?

जिसे क्रमबद्धपर्याय का निश्चय हुआ है... यहाँ तो क्रमबद्ध के नाम से स्वच्छन्द सेवन करता है, इस बहाने (सेवन करे) ऐसा नहीं होता (- यह कहना है)। समझमें आया ? क्रमबद्ध में यह नहीं होता, यह मेरा (कहना है)। अभी तो यह सिद्ध करना है। सम्यग्दर्शन में, क्रमबद्ध में सम्यग्दर्शन आ जाता है। समझ में आया ? जो देहादि की या स्व की क्रमसर पर्याय होती है - ऐसा जिसे अन्तर्मुख में अनुभव में निर्णय होता है, उसे आत्मा के आनन्द का अनुभव होता है। उसे क्रम(सर) हो, उसका यह जाननेवाला होता है। उसकी मर्यादा ऐसी होती है। समझ में आया ? ऐसी बात है, भाई !

मुमुक्षु :- आनन्द का अनुभव हुआ, वही क्रमबद्ध को मानता है न ?

उत्तर :- वही क्रमबद्ध को मानता है, दूसरा नहीं मानता। क्यों ? क्योंकि उसे राग और

पर की क्रिया की कर्तापने की बुद्धि छूट गयी है। उसे वह बुद्धि घुसी है ज्ञान और आनन्द में। आहा..हा... ! वह अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप भगवान और अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु आत्मा, उसके अनुभव में वह क्रमबद्ध का जाननेवाला रहता है। उसे भले लेश संयम न हो तो भी उसे सम्यग्दर्शन और आनन्द का भान है और असंयम में वर्तता होता है, उसके क्रम में वह भाव आया है। समझ में आया ? तथापि उसे देव, देवो के इन्द्र भी जिसे साधर्मी के रूप में बहुमान देते हैं। ओ..हो... ! हम देवरूप से आये, परन्तु मनुष्यपने में प्राप्त ऐसे रोग का शरीर, मेला, ऐसा शरीर, उसके अन्दर ऐसा काल, उसमें तू यह आत्मदर्शन को प्राप्त हुआ। ओ..हो... ! उसे बहुमान देते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? यह महान कीमती चीज़ की बात करते हैं। आहा..हा... !

कहते हैं, गृहस्थ में रहने पर भी जल से भिन्न कमल (जैसे होता है वैसे) उसका उसे लेप नहीं है, लेप नहीं है। आहा... ! जिसने अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द के चैतन्य के दरबार खोले हैं, उसे इस विकल्प में प्रेम कहाँ है ? समझ में आया ? असंयम है, हाँ ! परन्तु उस असंयम में उसे रस, प्रेम नहीं है। क्या करे, आ जाता है, स्थिरता नहीं है, इसलिए सहन करता है, बेगार की तरह (सहन करता है)। समझ में आया ?

कहते हैं, 'नगरनारी का प्यार...।' जैसे बाहर वैश्या का प्यार दिखता है (परन्तु) अन्दर में नहीं। कुछ नहीं, कुछ नहीं; केवल पैसे का प्रेम है, उसका (प्रेम) नहीं। वैसे ही धर्मी को आत्मा के आनन्द के प्रेम के समक्ष गृहस्थाश्रम में होने पर भी पर में रुचि नहीं है।

'हेम अमला' जैसे कीचड़ में सोना है; वैसे भगवान आत्मा देह, वाणी.. देखो ! देह, वाणी की अस्ति है, हाँ ! देह है, कर्म है, वाणी है, पुण्य-पाप के विकल्प भी हैं, यह सब अस्ति रखकर, उनसे रहित चिदानन्द के अनुभव की दृष्टि हुई। अकेला ऐसा कहे कि आत्मा एक ही है और दूसरा कुछ है नहीं - वह तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन का पता नहीं है। समझ में आया ? आहा..हा... ! यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा है, उसके अन्त गुण हैं, उनकी अनन्त पर्याय हैं। उसमें विकार की अवस्था भी है, उसे संयोग में शरीर, कर्म आदि सब है। ये है, उसमें अकेला आत्मा निकाला। अन्य (संयोगो को) रखा है, उड़ा नहीं दिया है।

मुमुक्षु :- कीचड़ में सोना ?

उत्तर :- हाँ, कीचड़ में कीचड़ है, कीचड़ है, सोना भी है - ऐसा कहते हैं। इसी तरह सम्यग्दृष्टि को पुण्य-पाप के भाव हैं, शरीरादि है, स्त्री आदि हैं, भोगादि की वासना है। आहा..हा... ! परन्तु उस कीचड़ में जैसे सोना छूता नहीं है, सोने को जंग नहीं लगता है; वैसे ही अन्तर दृष्टि चैतन्य पर सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा, सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा के पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द पर दृष्टि होने से उसे इस विषय-वासनादि होने पर भी लेप नहीं है। है अवश्य, हाँ ! है, उसकी बात है। सब उड़ गया, हो गया जाओ, अकेला आत्मा (है- ऐसा नहीं)। सम्यग्दर्शन हुआ तो फिर अकेला आत्मा (ही है), दूसरा कुछ नहीं - ऐसा नहीं है - ऐसी बात करते हैं, भाई ! वह असंयम है - ऐसा सिद्ध करके, सम्यग्दर्शन-आत्मभान हुआ, इसलिए उसे अब दूसरा कुछ नहीं रहा, असंयमभाव नहीं रहा, विषयवासना नहीं रही, विकल्प में आरम्भ का भाव ही नहीं, शरीर के संयोग का सम्बन्ध ही नहीं, बाह्य वस्तु ही नहीं - ऐसा नहीं है। आहा..हा... ! समझ में आया ? सब चीज़ हो और स्वयं भी अन्दर दूसरा अलग है; उस अलग के भान में अलग चीज़ में उसे एकत्व नहीं होता - ऐसा कहते हैं।

नीचे अन्तिम दृष्टान्त दिया है न ? रोगी को औषधि सेवन। समझ में आता है ? रोगी, औषधि सेवन करता है, परन्तु प्रेम होगा ? रहो सदा औषधि (ऐसा होगा) ? रोग सदा रहना और औषधि सदा (रहना), (डॉक्टर को) बारम्बार बुलाना, (लोग) देखने आवे - ऐसा होगा ? धर्मी को उस रोग की तरह जैसे रोगी औषधि मानता है - ऐसे रागादि की वासना में, वह संयोग में दिखता है। उसे अन्दर में भावना नहीं होती।

कैदी को कारागृह - दूसरा दृष्टान्त दिया है न ? नीचे है न ? भाई ! कैदी को कारागृह। आहा..हा... ! जैसे कैदी कारागृह में पड़ा है, वैसे धर्मी को ये पुण्य-पाप के विकल्प, शरीर, वाणी - इन सब कारागृह में स्वयं भिन्न कैदी है। उनका उसे उत्साह नहीं है। कारागृह का उत्साह होगा कि इसमें रहूँ ? लम्बा काल बड़े तो ठीक ? गरीब मनुष्य को रोटियाँ नहीं मिलती हो तो ऐसा होता होगा कि यहाँ रहे, बाहर रोटियाँ नहीं मिलती। ऐसे कैदी को कारागृह में प्रेम नहीं होता। कारागृह कहा है न ? साधारण जेल नहीं। समझ में आया ? कठोर जेल, मजदूरी

कराकर दम निकाल दे। यह उस काठिया को बैठा दे - ऐसा नहीं है वहाँ। बंदीखाने ना मत करो, जैसे केदी को उत्साह नहीं है वैसे। भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप अनन्त गुण का पिण्ड, अनन्त गुण... अनन्त गुणरूप एक है। अकेला एक है - ऐसा नहीं है। समझ में आया ? ऐसे आत्मा के भान में, वह गृहस्थाश्रम में आसक्त नहीं होता, क्योंकि उसे कारागृह समान, रोग की औषधि समान मानता है।

समकित की महिमा, सम्यग्दृष्टि के अनुत्पत्ति स्थान तथा सर्वोत्तम सुख और सर्व धर्म का मूल

प्रथर नरक विन षट् भू ज्योतिष वान भवन षंड नारी;
थावर विकलत्रय पशुमें नहिं, उपजत सम्यक् धारी।
तीन लोक तिहुँकाल माँहि नहिं, दर्शन सो सुखकारी;
सकल धर्मको मूल यही, इस विन करनी दुखकारी॥१६॥

अन्वयार्थ :- (सम्यक्धारी) सम्यग्दृष्टि जीव (प्रथर नरकविन) पहले नरक के अतिरिक्त (षट् भू) शेष छह नरकों में - (ज्योतष) ज्योतिषियों देवों में, (वान) व्यंतर देवों में, (भवन) भवनवासी देवों में (षंड) नपुंसको में, (नारी) स्त्रियों में, (थावर) पाँच स्थावरों में, (विकलत्रय) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय जीवों में तथा (पशु में) कर्मभूमि के पशुओं में (नहिं उपजत) उत्पन्न नहीं होते। (तीनलोक) तीनलोक (तिहुकाल) तीनकाल में (दर्शन सो) सम्यग्दर्शन के समान (सुखकारी) सुखदायक (नहिं) अन्य कुछ नहीं है, (यही) यह सम्यग्दर्शन ही (सकल धर्म को) समस्त धर्मों का (मूल) मूल है; (इस विन) इस सम्यग्दर्शन के बिना (करनी) समस्त क्रियाएँ (दुखकारी) दुःखदायक हैं।

भावार्थ :- सम्यग्दृष्टि जीव आयु पूर्ण होने पर जब मृत्यु प्राप्त करते हैं तब दूसरे से सातवें नरक के नारकी, ज्योतिषी व्यन्तर, भवनवासी, नपुंसक, सब प्रकार की स्त्री,

ऐकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कर्मभूमि के पशु नहीं होते; (नीच फलवाले, विकृत अंगवाले, अल्पायुवाले तथा दरिद्री नहीं होते) विमानवासी देव, भोगभूमि के मनुष्य अथवा तिर्यच ही होते हैं। कर्मभूमि के तिर्यच भी नहीं होते। कदाचित् *नरक में जायें तो पहले नरक से नीचे नहीं जाते। तीनलोक और तीनकाल में सम्यग्दर्शन के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्मों का मूल है। इसके अतिरिक्त जितने क्रियाकाण्ड हैं वे दुःखदायक हैं।

अब इस समकित की महिमा और सम्यग्दृष्टि के अनुत्पत्ति के स्थान, सम्यग्दृष्टि कहाँ- कहाँ नहीं उत्पन्न होता, (वह कहते हैं)। यहाँ तो ऐसा है परन्तु अब भविष्य में भी कहाँ-कहाँ नहीं उत्पन्न होता - ऐसी बात करते हैं, भाई ! क्या कहा ? आत्मा की अन्तरदृष्टिवन्त सम्यग्दृष्टि को अभी यहाँ भी पर की एकत्वबुद्धि नहीं है। वस्तु सब है, परन्तु अब मरने के बाद अब भविष्य में भी उसे ऐसे स्थान नहीं होते, उसका ऐसा पुण्य साथ होता है, कहते हैं। पवित्रता तो ऐसी है; अब उसके साथ सम्यग्दृष्टि को पुण्य भी ऐसा होता है कि भविष्य में वह अमुक स्थान में उत्पन्न नहीं होता। आहा... ! और 'सर्वोत्तम सुख तथा सर्वधर्म का मूल-' इन चार का इसमें वर्णन करते हैं।

प्रथर नरक विन षट् भू ज्योतिष वान भवन षंड नारी;
थावर विकलत्रय पशुमें नहिं, उपजत सम्यक् धारी।

* ऐसी दशा में सम्यग्दृष्टि प्रथम नरक के नपुंसको में भी उत्पन्न होता है; उनसे भिन्न अन्य नपुंसकों में उसकी उत्पत्ति होने का निषेध है।

टिप्पणी :- जिस प्रकार श्रेणिक राजा सातवें नरक की आयु का बन्ध करके फिर समकित को प्राप्त हुए थे, उससे यद्यपि उन्हें नरक में तो जाना ही पड़ा किन्तु आयु सातवें नरक से घटकर पहले नरक की ही रही। इस प्रकार जो जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पूर्व तिर्यच अथवा मनुष्य आयु का बन्ध करते हैं वे भोगभूमि में जाते हैं किन्तु कर्मभूमि में तिर्यच अथवा मनुष्यरूप में उत्पन्न नहीं होते।

तीन लोक तिहूँकाल माँहि नहिं, दर्शन सो सुखकारी;

सकल धर्मको मूल यही, इस विन करनी दुखकारी॥१६॥

देखो ! इसमें विशेष क्या कहते हैं ? ये सब स्थान हैं। कितने ही ऐसा कहते हैं कि कुछ नहीं है, यह सब कुछ नहीं है; एक ही आत्मा... एक ही आत्मा, सब कुछ नहीं है - ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

प्रथर नरक विन षट् भू ज्योतिष वान भवन षंड नारी;

थावर विकलत्रय पशुमें नहिं, उपजत सम्यक् धारी।

सम्यक्धारी, अभी सम्यग्दर्शन हुआ, फिर भी अभी उसे भव होते हैं। सम्यग्दर्शन हो गया, इसलिए अब भवमुक्त हो गया, आत्मानुभव हुआ इसलिए हो गया, इसलिए जाओ, अनन्त में अनन्त मिल गया - ऐसा नहीं है। उसे (-ऐसा कहनेवाले को) कुछ भान नहीं है। उसे भान ही नहीं है - आत्मा क्या ? सम्यग्दर्शन क्या ? बस ! हो गया, आत्मा का साक्षात्कार हुआ तो सबमें मिल गया, उसे फिर बाद में दो क्या और अनुभव क्या और यह क्या ?

यहाँ तो वहाँ तक कहते हैं कि अनुभव उपरान्त उसे असंयम भाव है और असंयम में ऐसा अशुभ असंयम होने पर भी, उसे ऐसा अशुभ असंयम होने पर भी उसकी वासना में ऐसा शुभभाव होगा कि जिसमें वैमानिक स्वर्ग आदि में जाए - ऐसा जिसका पुण्य होता है। सम्यग्दृष्टि हुआ, इसलिए उसे इस भव में मोक्ष हो जाए, फिर दूसरा कुछ नहीं, उसे भव-भव कुछ नहीं - ऐसा नहीं है, यह सिद्ध करते हैं।

तीन लोक तिहूँकाल माँहि नहिं, दर्शन सो सुखकारी;

सकल धर्मको मूल यही, इस विन करनी दुखकारी॥

‘(सम्यक्त्व धारी) सम्यग्दृष्टि जीव (प्रथम नरक विन)’ ऐसा कहकर सात नरक सिद्ध किये। सात नारकी (नरक) हैं, गति सात नारकी हैं; नीचे नारकी के सात स्थान हैं। अधोलोक है; कुछ नहीं (है) - ऐसा नहीं है। उसमें ‘पहले नरक के अतिरिक्त शेष छह नरकों में...’ नहीं उपजता। समझ में आया ? पहली नरक में जाता है। आयु बँध गयी हो, सम्यग्दर्शन के

पहले आयु बंध गयी हो (तो)। सम्यग्दर्शन (होने के) बाद (नरक की) आयु नहीं बँधती। यहाँ तो समुच्चय बात की है न ? सम्यग्दृष्टि को आत्मदृष्टि हुई, अनुभव हुआ, तथापि उसे असंयम भाव आदि रहा; अब उसे असंयम होने पर भी उसे पुण्य ऐसा बँधेगा... समझ में आया ? कि वह छह नरको में तो नहीं ही जाएगा। पहली नरक में (जा सकता है, यदि पूर्व आयु बँध गई होवे तो।)

‘ज्योतिषी देवों में...’ नहीं जाता। ज्योतिष देव सिद्ध किये। ज्योतिष देव है। समझ में आया ? वह ज्योतिष में उत्पन्न नहीं होता। कोई कहे कि वह तो समकित है, देव में जाए। देव में जाता है परन्तु ज्योतिष में नहीं जाता। ‘व्यंतरदेवों में...’ नहीं जाता। नीचे व्यन्तरदेव की भूमि है। यह ज्योतिषदेव है, उसमें नहीं जाता। ‘भवनवासी देवों में...’ नहीं जाता। समझ में आया ? ‘नपुंसकों में...’ पहले नरक में नपुंसक होता है, इसके अतिरिक्त स्त्री-पुरुष (मनुष्य) नपुंसक में नहीं जाता।

मुमुक्षु :- पहली नरक में जाता है...

उत्तर :- पहली नरक की आयु बँध गयी। कहा न ? पहले आयु बँध गई। पहले नरक और तिर्यञ्च की आयु बँध गयी हो... समझे न ? तिर्यञ्च की बँध गई हो तो भोगभूमि में जाता है। नरक की आयु बँध गई हो तो पहली नरक में जाता है। बँध गई हो, उसकी बात है। समकित के पहले मनुष्य की आयु बँध गयी हो तो वह भोगभूमि में जुगलिया में उत्पन्न होता है। मनुष्य और तिर्यञ्च समकिति ने पहले आयु न बाँधी हो तो स्वर्ग में ही जाते हैं – यह बात अभी अधिक सिद्ध करनी है। वैमानिक में जाता है। यहाँ नपुंसक से इनकार करते हैं तो वे कौनसे नपुंसक ? स्त्री-पुरुष के नपुंसक, मनुष्य और तिर्यञ्च के नपुंसक। समझ में आया ? नरक का नपुंसक होता है – यह बात तो पहले कही है। ओहो..हो... ! कितनी बात सिद्ध करते हैं !

तीन वेद है, इतने देवों के स्थान हैं, इतनी नारकी के स्थान हैं, उसमें वह पहले नरक में जाता है, छह में नहीं जाता। देव के इतने स्थान – ज्योतिष, भवनपति और व्यन्तर में नहीं जाता। मनुष्य में तीन वेद है – स्त्री, पुरुष और नपुंसक; तो वह नपुंसक में अवतरित नहीं होता। समझ

में आया ?

मुमुक्षु :- स्त्री में नहीं अवतरित होता ?

उत्तर :- वह तो बाद में कहेंगे। यहाँ तो पहले यह (कहते हैं)।

अब ' (नारी) स्त्रियों में...' अवतरित नहीं होता। समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्री नहीं होता। वैमानिक देव में भी इन्द्राणी नहीं होता। यह सब स्थान है, उनके योग्य परिणाम समकृति को ऐसे ही होते हैं। उसकी विधि, रीति कहते हैं। समझ में आया ? उसे नव तत्त्व का, जैसा है वैसा यथार्थ ज्ञान होता है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... ! स्त्री में उत्पन्न नहीं होता। इन्द्राणी भी स्त्री होती है, वह मिथ्यादृष्टि हो, वह होती है, फिर भले वहाँ समकृत प्राप्त करे और एकावतारी हो। सौधर्म देवलोक की 'शची' इन्द्राणी है, वह एकावतारी है, परन्तु यहाँ से उत्पन्न होती है, तब मिथ्यात्व लेकर उत्पन्न हुई है। यह सब अस्तित्व है। इस अस्तित्व में इतना अस्तित्व पूरा आत्मा पूर्ण अस्तित्व को अन्तर (में) स्वीकारा, उसे अभी असंयम का अस्तित्व होने पर भी, उसे ऐसे अमुक-अमुक अस्तित्व में उपजना नहीं होता - ऐसा यहाँ सिद्ध करते हैं। आहा..हा... !

मूढ़ है, मूढ़ हो जाएगा मूढ़। विकल्प तोड़ो, विकल्प तोड़ो... क्या विकल्प तोड़े ? वस्तु क्या है ? अस्ति क्या अस्ति ? एक समय में अनन्त गुण का पिण्ड भगवान एक-एक आत्मा अखण्ड है कौन ? विकल्प तोड़ डालो, विकल्प घटा डालो। बस ! किसका विकल्प घटे ? नास्ति हो जाएगा। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- समीप में है।

उत्तर :- समीप में है ? यह 'रजनीश' न ? हाँ ! वह गप्पेगप्प मारता है। बेचारों जैन भ्रम में पड़े हैं, कितने ही बेचारों को भान नहीं होता। अकेले वेदान्त... वेदान्त पढ़े हुए को बेचारों को बातें अच्छी लगती है। अत्यन्त मूढ़ता की बात है। वीतरागदर्शन से एक-एक बात एकदम उल्टी है; सब एकदम उल्टी (बात है)।

यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो सब देखा, सर्वज्ञ ने सब देखा, उसमें सर्वज्ञस्वभाव आत्मा

की प्रतीतिवाले को इन सब स्थानों में ऐसा स्थान नहीं होता। उसे निर्विकल्प अवस्था प्रकटी है इसलिए। परन्तु फिर भी अभी विकल्प है। ऐसा नहीं है कि सब एक हो गया है। समझ में आया ? ऐसा कहते हैं न कि ईशु, महावीर, बौद्ध और गांधी सब एक ही है। महा मूढ़ है। आहा..हा..! बहुत होते हैं, बहुत देखे हैं न ? वहाँ आया था न ? उसका व्यक्ति है। 'मल्हारगढ़' पुस्तक लेकर आया था न ? महाराज ! यह देखो ! हमने कहा - गृहीत (मिथ्यादृष्टि का) हम नहीं पढ़ते हैं। उसे जरा अच्छा नहीं लगा। यह सब मिथ्यात्व की पुस्तकें हैं, सब मिथ्यात्व की पुस्तकें हैं, कहा। 'मल्हारगढ़' लाया था। उसका एक व्यक्ति दाढ़ीवाला था। नहीं आया था ? अभी जैन में रहनेवालों को जैन का पता नहीं होता।

मुमुक्षु :- लौकिक बाते करते हैं।

उत्तर :- लौकिक बात नहीं, वे बाते लोकोत्तर करें, लौकिक तुम्हारे जैसी नहीं होती। बेचारे लोग उसमें उलझते हैं न ? ऐसा बस ! महावीर-कथित विचार छोड़ देना, बौद्ध-कथित विचार छोड़ देना, तब वे कहें - ओ..हो...! अपने भी 'कानजीस्वामी' कहते हैं कि विकल्प छोड़ देना। सब लगता है एक, हाँ ! 'श्रीमद्' भी ऐसा कहते हैं कि विकल्प छोड़ देना। समझ में आया ? कुछ पता नहीं।

यहाँ तो सर्वज्ञ परमेश्वर ने अनन्त द्रव्य देखे हैं। उनमें से यह एक भगवान द्रव्य पूरा-पूर्ण अखण्ड एक द्रव्य है। ऐसे अखण्ड अनन्त आत्मा हैं। ऐसे एक अखण्ड आत्मा के भानसहित होने पर भी अभी उसका खण्डपना पर्याय में बाकी है। आहा..हा...! उस खण्ड में भी, वह असंयम के वश होने पर भी उसे ऐसा शुभभाव आवे, तब आयु बँधती है; अशुभभाव के काल में आयु नहीं बँधती - ऐसी उसकी मर्यादा है। आहा..हा...! समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि युद्ध में हो (-ऐसे) अशुभभाव के समय आयु नहीं बँधती - ऐसी उसकी मर्यादा है। समझ में आया ? आहा..हा...! यह वस्तु की स्थिति की मर्यादा ही ऐसी है।

कहते हैं, वह स्त्री में उत्पन्न नहीं होता। समझ में आया ? 'पाँच स्थावरों में...' पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु (वनस्पति) वस्तु है, हाँ ! पाँच स्थावर जीव हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति अनन्त जीव हैं। उन अनन्त जीवों में सम्यग्दृष्टि - राग और पर से भिन्न हुई अवस्था - उसमें नहीं उत्पन्न होता। उत्पन्न अवश्य होगा, अभी भव बाकी है इसलिए, परन्तु कहाँ ?

वैमानिक स्वर्ग में, पुरुषवेद में, मनुष्य-तिर्यञ्च की आयु बँध गयी हो तो भोगभूमि में जुगलिया में उत्पन्न हो, वह अलग बात है। समझ में आया ?

‘द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों में...’ उत्पन्न नहीं होता। यह सब कितना विचार माँगते हैं ? ‘कर्मभूमि के पशुओं में उत्पन्न नहीं होता।’ इसलिए स्पष्टीकरण किया। क्यों ? समझ में आया ? कि सम्यग्दृष्टि के पहले यदि तिर्यञ्च की आयु बँध गयी हो तो भोगभूमि में (उत्पन्न होता है)। यह भोगभूमि सिद्ध की। जुगलिया है, कितनों की तीन पत्न्य की लम्बी आयु है। समझ में आया ? तीन कोष के... तीन कोष के ऊँचे (लम्बे) न ? है। इस सम्यग्दृष्टि को पहले से पशु की आयु बँध गयी हो तो वहाँ जाता है। कर्मभूमि के पशु में नहीं जाता। आहा..हा... ! समझ में आया ?

‘तीन लोक, तीन काल में सम्यग्दर्शन के समान दूसरा कोई सुखदायक नहीं है...’ आहा..हा... ! तीन लोक और तीन काल में... कितना वजन है।

तीन लोक तिहूँकाल माँहि नहिं, दर्शन सो सुखकारी;

सकल धर्मको मूल यही, इस विन करनी दुखकारी।

इसके बिना क्रिया - पंच महाव्रत, दया, दान, व्रत, भक्ति, शास्त्र का ज्ञान, सम्यग्दर्शन के बिना शास्त्र का पठन, यह सब क्रियाकाण्ड दुःखकारी है। यहाँ करनी दुःखकारी आयी है, अपने तीनों दुःखकारी आया था, ‘परमात्मप्रकाश’ समझ में आया ? आहा..हा... ! भगवान् आत्मा पूर्ण सर्वज्ञसवभावी है - ऐसी जहाँ अन्तर दृष्टि और अनुभव हुआ, कहते हैं - उस सम्यग्दर्शन के समान सुखकारी जगत में कोई नहीं है। देखो ! सुखकारी (अर्थात्) किसका सुख ? आत्मा के आनन्द (जैसा) सुखकारी दूसरा कोई नहीं है। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु :- संयोगी सुख होगा न उसमें ?

उत्तर :- कहा है धूल में ? यह बात तो की (है)। संयोग का सुख है या नहीं उसे ? यह स्त्री, पुत्र, असंयम में पड़ा है वह। उसमें सुख माने तो सम्यग्दर्शन कहाँ है ? यह बात तो पहले हो गयी। होता है, दिखता है कि देखो, स्त्री के साथ बैठा है। अन्दर में लेश स्पर्शता नहीं है। वह तो कीचड़ में सोना कहा न ? इन ९६ हजार इन्द्राणी के वृन्द में समकिती बैठा हो, उनके साथ

बात करता हो, खिलखिलाकर हँसता हो, यह करता हो; अन्दर में कुछ लेना-देना नहीं है। यह वह बात। समझ में आया ?

मिथ्यादृष्टि त्यागी, ब्रह्मचारी, बाल ब्रह्मचारी हो और पूरी जिन्दगी स्त्री का सेवन (न किया हो)... समझ में आया ? पंच महाव्रत धारण किये हों, भगवानने कहा हो वैसा व्यवहार, हाँ ! पंच महाव्रत भगवान ने कहे वे, और नग्न दिगम्बर हुआ हो... समझ में आया ? परन्तु अन्तर में भेद - राग और पर से भेदज्ञान नहीं हैं, इस कारण दो भेद नहीं, वे दो एक है। अनेक को अनेक रूप न मानकर, अनेक को एकरूप अन्तर प्रतीत में अनुभव करता है। मूढ़ है, कहते हैं। उसे कोई त्याग नहीं है, कहते हैं। ठीक ! क्या हो गया परन्तु इसमें ? वह क्रिया तो देह की है। आहा..हा... !

भगवान आत्मा, राग और पर की पर्याय से अत्यन्त भिन्न (है)। समस्त वस्तुये हैं, होने पर भी उनके अस्तित्व में यह नहीं और इसके अस्तित्व में वे नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? लोगों को भी वह बाहर की महिमा लगती है, हाँ ! बाह्यत्याग होवे, भाई ! (सम्यग्दृष्टि को) भव ही नहीं है। यह भव और भव के भाव का आदर नहीं है। अब प्रश्न कहाँ ? कहो, अकेला भव रहित स्वभाव का आदर है, कहो ! फिर भी कमजोरी के कारण ऐसा कोई राग आवे तो उसे भव रहता अवश्य है, इसीलिए तो कहा है। समझ में आया ? कहेंगे, कोई स्वर्ग में जाता है, कोई मोक्ष में जाता है। यहाँ तो स्वर्ग में ही जाता है। यहाँ तो आगे बढ़े हुए की बात नहीं करनी है न ? चौथे (गुणस्थानवाले) की बात करनी है। समझ में आया ?

‘सम्यग्दर्शन जैसा सुखदायक दूसरा कुछ नहीं है...’ दूसरा कुछ नहीं है - इसका अर्थ क्या है ? कि चारित्र सुखदायक नहीं या सम्यग्ज्ञान (सुखदायक नहीं) - ऐसा नहीं लेना। यहाँ तो सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त दूसरी चीज़ों (की बात है)। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सुखदायक है ही। वे सुखदायक नहीं है - ऐसा नहीं है। यहाँ तो तीन में पहली चीज़ तो सम्यग्दर्शन है, उसके अतिरिक्त दूसरी कोई भी चीज़ हो - दया, दान, व्रत का भाव शुभ महाव्रत के परिणाम, बालब्रह्मचारी, बाह्य क्रियाकाण्ड, लाखों स्त्रियाँ छोड़कर, हजारों रानियाँ छोड़कर, बाह्य त्यागी हुआ हो तो भी अन्दर आत्मदर्शन क्या है - उसका भान नहीं है तो वह

मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दर्शन जैसा कोई सुख नहीं है और (मिथ्यादर्शन) जैसा दुःख नहीं है। मिथ्यादर्शन जैसा दुःख नहीं है। वह दुःखी है। आहा..हा...! अनाकुल भगवान आत्मा आकुलता की अस्ति से भिन्न है। ऐसे अनाकुल तत्त्व के भान बिना अकेली आकुलता के साथ एकता है, वह दुःखी है और आकुलता तथा अनाकुलता का भेद-भान है, उसके जैसा कोई सुखी नहीं है – ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- सुख के लिए पैसे का पूछता है।

उत्तर:- पैसे का पूछता है। दुनिया में तो यही पूछे न ? कितने पैसे हैं ? धूल है ? यह है ? यहाँ तो कहते हैं कि भाई ! तेरे विकल्प उत्पन्न होते हैं, वह दुःखदायक है। सम्यग्दृष्टि को विकल्प तो इस पुण्यबन्ध के कारण भाव आये, वह भाव दुःखदायक है। आते हैं, होते हैं परन्तु दुःखदायक है। समझ में आया ? ओ..हो..हो...!

‘सम्यग्दर्शन के समानसुखदायक...’ सुख करनेवाला ‘अन्य कुछ नहीं है...’ कुछ नहीं है, इसलिए सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की बात कहेंगे। यह तो विशेष है, वह तो महासुखदायक है, वह तो विशेष कहेंगे। समझ में आया ? यह तो सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त की क्रिया पुण्य-पाप के परिणाम, दया, दान, व्रत, भक्ति के (परिणाम) या बाहर के संयोग – ये सब सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त अन्य में कहीं सुख नहीं है – ऐसा कहना है, हाँ !

‘यह सम्यग्दर्शन ही समस्त धर्मों का मूल है...’ समस्त धर्म अर्थात् ? अज्ञानियों के द्वारा कथित धर्म, वह (नहीं)। आत्मा... भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने अनन्त आत्मा देखे, उनमें से यह एक आत्मा, उसकी जो श्रद्धा-ज्ञान, शान्ति, आनन्द, क्षमा आदि के अनन्त धर्म, उनमें यह सबका मूल है। सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। आत्मा की समस्त निर्मल पर्यायें, क्षमा, शान्ति, निर्मानता, निर्लोमता, अमानपना... समझ में आता है ? इत्यादि-इत्यादि निश्चय समिति-गुप्ति इत्यादि जो जीव की धर्म पर्यायें उनमें सबका मूल यह सम्यग्दर्शन है, क्योंकि पूरा आत्मा प्रतीति में, अनुभव में लिये बिना उसमें शक्ति की व्यक्ति का कारण तो यह है। समझ में आया कुछ ?

‘यह सम्यग्दर्शन ही समस्त धर्मों का मूल है...’ सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कथित आत्मा,

उसका जो सम्यग्दर्शन, उसकी समस्त भगवान के द्वाराकथित निश्चय धर्म की पर्यायों में मूल तो यह है। इसके बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता; इसके बिना चारित्र नहीं होता, इसके बिना क्षमा आदि (नहीं होते)। निर्मान, ऐसे शान्ति दिखे, प्रकृति शान्त... शान्त... यह सब शान्ति सम्यग्दर्शन के बिना झूठी है। समझ में आया ? आहा..हा... ! इसके बिना... लो, यह तो स्वयं कहते हैं।

‘इस सम्यग्दर्शन के बिना समस्त क्रियायें दुःखदायक है...’ समझ में आया ? एक सम्यग्दर्शन आत्मा की निर्विकल्प अनुभव दृष्टि के बिना जितनी शास्त्र के पढ़ने की क्रिया, दया, दान, व्रत, भक्ति की क्रिया, पूजा की क्रिया, भानरहित अन्तर ध्यान की क्रिया, सम्यग्दर्शनरहित ध्यान की क्रिया दुःखदायक है। समझ में आया ? यह भी ऐसा ध्यान तो करे न ? किसका ध्यान ? वस्तु के भान बिना ध्यान कहाँ आया तेरा ?

मुमुक्षु :- मस्ती (का आनंदानुभव) तो करता है।

उत्तर :- मस्ती करता है अज्ञान की। आर्तध्यान हो, आर्तध्यान, उसकी मस्ती होती है। ऐसे बहुत बाबा होते हैं मस्त.. मस्त ऐसे मानो। हों मूढ़ मिथ्यादृष्टि ! आहा..हा... !

‘इस सम्यग्दर्शन के बिना...’ समस्त क्रियाओं में क्या बाकी रहा ? दया, दान, शास्त्र-स्वाध्याय, धर्मकथा, मन्दिर बनाने का भाव... मन्दिर तो पर वहाँ रह गया, भाई ! क्या हुआ यह ? आहा..हा... ! भाई ! जिसका मूल नहीं, उसके वृक्ष फूले-फले हैं - ऐसा कैसे कहना ? ‘मूलं नास्ति कुतो शाखा’ - जहाँ पहली वस्तु ही क्या है ? एक भगवान पूर्णानन्द एक-एक आत्मा भिन्न, उसका अन्तर में भान नहीं - ऐसे अनन्त परमात्मा-आत्मा भिन्न-भिन्न सब स्वतन्त्र है। समस्त आत्मायें परमात्मा हो सकते हैं। एक नहीं, हाँ ! एक हो सके नहीं, तीन काल में कभी एक नहीं होते। आहा..हा... ! ऐसे आत्मा के भान बिना समस्त क्रियायें दुःखदायक है, दुःख की दाता है। पुण्य भाव करे, वह दुःख का दाता है - ऐसा कहा, लो ! ऐसा कहा या नहीं इसमें ? व्रत के परिणाम, पंच महाव्रत के परिणाम दुःख के देनेवाले हैं - ऐसा कहते हैं, लो !

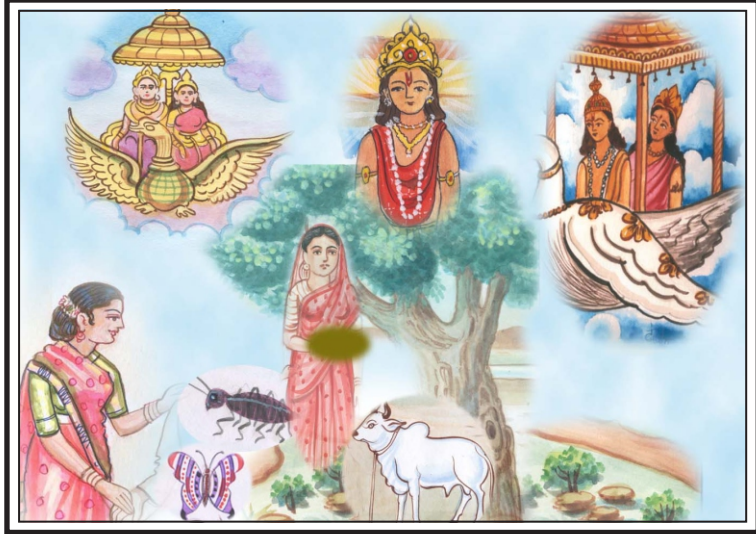
मुमुक्षु :- शास्त्र का ज्ञान तो सुख देनेवाला है न ?

उत्तर :- सब दुःख का देनेवाला है। उसके कारण धर्म होता होगा ? अरे.. ! भगवान ! पूरा आत्मा प्रभु पड़ा रहा, पूरी अस्ति पड़ी रही। अस्ति – महातत्त्व भगवान पूरा आत्मतत्त्व क्या है ? उस बिना की सब बातें दुःखदायक हैं, कहते हैं।

‘सम्यग्दृष्टि जीव आयु पूर्ण होने पर जब मृत्यु...’ मृत्यु अर्थात् समझाना क्या ? देह छूटे, उसका नाम मरे। आत्मा मरता कहाँ है ? समझाने की शैली क्या होगी ? परन्तु उसे अभी देह होता है, वह देह छूटता है – ऐसा सब सिद्ध करना है। ‘तब दूसरे से सातवें नरक का नारकी...’ उसमें नहीं जाता। ‘ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी, नपुंसक...’ पहले नरक के नपुंसक के अतिरिक्त ‘समस्त प्रकार की स्त्री...’ समस्त प्रकार की स्त्री में नहीं जाता।

इसमें चिह्न किया है, नहीं ? देखो ! यह सब किया है, हों ! देखो ! गति बनायी है। छह नरक लिये हैं। यह लिखा है, क्या कहलाता है ? ज्योतिषी। यह चन्द्र ज्योतिषी (देव) है। यह

व्यंतर, स्थावर सब अलग-अलग लिये हैं। यह तो ठीक, यहाँ देखो ! मोक्ष का महल लिया, देखो ! सीढ़िया ! सम्यग्दर्शन पहली सीढ़ी ली है। और यहाँ उस नपुंसक को कहाँ लिया है ? यह रहा, देखो ! नपुंसक। एक ने स्त्री का वेष पहिना है, परन्तु है



नपुंसक वह ढोल बजाता है। ऐसे नपुंसक भी अभी होते हैं। स्वयं (नपुंसक), हो परन्तु फिर स्त्री के वस्त्र पहिनता है, ऐसे ढोल बजाता है, देखो ! यह बजाता है। समझे न ? मनुष्य के नपुंसक में उत्पन्न नहीं होता – ऐसा बताना है। समझ में आया ?

‘एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कर्मभूमि के पशु नहीं होते...’ अर्थात् पहले (आयु) बँध (गयी होवे तो) भोगभूमि के होते हैं। ‘(नीच फलवाले, विकृत अंगवाले, अल्पायुवाले तथा दरिद्री नहीं होते);...’ समझ में आया ? ‘विमानवासी देव, भोगभूमि के मनुष्य अथवा तिर्यञ्च होते हैं।’ विमानवासी देव होते हो या आयु बँध गयी होवे तो भोगभूमि के मनुष्य अथवा तिर्यञ्च होते हैं। ‘कर्मभूमि के तिर्यञ्च भी नहीं होते। कदाचित् नरक में जाँँ तो पहले नरक से नीचे नहीं जाते। तीन लोक और तीन काल में सम्यग्दर्शन के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्मों का मूल है।’ भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कथित समस्त धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, उत्तम क्षमा आदि परमात्मा के द्वारा कथित, हाँ ! इन सबका मूल सम्यग्दर्शन है। ‘इसके बिना जितने क्रियाकाण्ड है, वह सब दुःखदायक होते हैं।’ नीचे स्पष्टीकरण किया है। ठीक, बात हो गयी है। कहो, समझ में आया ?

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान चारित्र का मिथ्यापना

मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;

सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।

‘दौल’ समझ सुन चेत सयाने, कालवृथा मत खोवै;

यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै॥१७॥

अन्वयार्थ :- (यह सम्यग्दर्शन) (मोक्षमहलकी) मोक्षरूपी महल की (परथम) प्रथम (सीढी) सीढी है; (या बिन) इस सम्यग्दर्शन के बिना (ज्ञान चरित्रा) ज्ञान और चारित्र (सम्यक्ता) सच्चाई (न लहै) प्राप्त नहीं करते; इसलिये (भव्य) है भव्य जीवो ! (सो) ऐसे (पवित्रा) पवित्र (दर्शन) सम्यग्दर्शन को (धारो) धारण करो। (सयाने ‘दौल’) हे समझदार दौलतराम ! (सु) सुन, (समझ) समझ और (चेत) सावधान हो, (काल) समय

को (वृथा) व्यर्थ (मत खोवै) न गँवा; (क्योंकि) (जो) यदि (सम्यक्) सम्यग्दर्शन (नहिं होवै) नहीं हुआ तो (यह) यह (नर भव) मनुष्य पर्याय (फिर) पुनः (मिलन) मिलना (कठिन है) दुर्लभ है।

भावार्थ :- यह १सम्यग्दर्शन ही मोक्षरूपी महल में पहुँचने की प्रथम सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन न हो तब तक ज्ञान वह मिथ्याज्ञान और चारित्र वह मिथ्याचारित्र कहलाता है। सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र नहीं कहलाते। इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी को ऐसा पवित्र सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिए। पण्डित दौलतरामजी अपने आत्मा को सम्बोधकर कहते हैं कि - है विवेकी आत्मा ! तू ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन के स्वरूप को स्वयं सुनकर अन्य अनुभवी ज्ञानियों से प्राप्त करने में सावधान हो; अपने अमूल्य मनुष्यजीवन को व्यर्थ न गँवा। इस जन्म में ही यदि समकित प्राप्त न किया तो फिर मनुष्यपर्याय आदि अच्छे योग पुनः पुनः प्राप्त नहीं होते।

तीसरी ढाल का सारांश

आत्मा का कल्याण सुख प्राप्त करने में हैं। आकुलता का मिट जाना वह सच्चा सुख है; मोक्ष ही सुखरूप है; इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी को मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करना चाहिए।

निश्चयसम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र- इन तीनों की एकता सो मोक्षमार्ग है। उसका कथन दो प्रकार से है। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो वास्तव में मोक्षमार्ग है, और व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु वास्तव में बन्धमार्ग है; लेकिन निश्चयमोक्षमार्ग में सहचर होने से उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है।

आत्मा की परद्रव्यों से भिन्नता का यथार्थ श्रद्धान सो निश्चयसम्यग्दर्शन है और परद्रव्यो

१ सम्यग्दृष्टि जीवकी, निश्चय कुगति न होय।

पूर्वबन्ध तें होय तो सम्यक् दोष न कोय।।

से भिन्नता का यथार्थ ज्ञान सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है। परद्रव्यों का आलम्बन छोड़कर आत्मस्वरूप में लीन होना सो निश्चय सम्यक्चारित्र है। तथा सातों तत्त्वों का यथावत् भेदरूप अटल श्रद्धान करना सो व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहलाता है। यद्यपि सात तत्त्वों के भेद की अटल श्रद्धा शुभराग होने से वह वास्तव में सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु निम्न अवस्था में (चौथे, पामचवें और छठे गुणस्थान में) निश्चय समकित के साथ सहचर होने से वह व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है।

आठ मद, तीन मूढता, छह अनायतन और शंकादि आठ-यह सम्यक्त्व के पच्चीस दोष हैं, तथा निःशंकितादि आठ समकित के अंग (गुण) हैं; उन्हें भलीभाँति जानकर दोष का त्याग तथा गुण का ग्रहण करना चाहिए।

जो विवेकी जीव निश्चय सम्यक्त्व को धारण करता है उसे जब तक निर्बलता है तब तक; पुरुषार्थ की मन्दता के कारण यद्यपि किञ्चित् संयम नहीं होता, तथापि वह इन्द्रादि के द्वारा पूजा जाता है। तीन लोक और तीन काल में निश्चय समकित के समान सुखकारी अन्य कोई वस्तु नहीं है। सर्व धर्मों का मूल, सार तथा मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी यह समकित ही है; उसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते किन्तु मिथ्या कहलाते हैं।

आयुष्य का बन्ध होने से पूर्व समकित धारण करनेवाला जीव मृत्यु के पश्चात् दूसरे भव में नारकी, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी, नपुंसक, स्त्री, स्थावर, विकलत्रय, पशु, हीनांग, नीच गोत्रवाला, अल्पायु तथा दरिद्री नहीं होता। मनुष्य और तिर्यच सम्यग्दृष्टि मरकर वैमानिक देव होता है देव और नारकी सम्यग्दृष्टि मरकर कर्मभूमि में उत्तम क्षेत्र में मनुष्य ही होता है। यदि सम्यग्दर्शन होने से पूर्व- १ देव, २ मनुष्य, ३ तिर्यच या ४ नरकायु का बन्ध हो गया हो तो, वह मरकर १ वैमानिक देव, २ भोगभूमि का मनुष्य; ३ भोगभूमि का तिर्यच अथवा ४ प्रथम नरक का नारकी होता है। इससे अधिक नीचे के स्थान में जन्म नहीं होता। - इस प्रकार निश्चयसम्यग्दर्शन की अपार महिमा है।

इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी को सत्शास्त्रों का स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा, सत्समागम तथा यथार्थ तत्त्वविचार द्वारा निश्चयसम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि यदि इस मनुष्यभव में निश्चय समकित प्राप्त नहीं किया तो पुनः मनुष्यपर्याय प्राप्ति आदि का सुयोग मिलना कठिन है।

अब, 'सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र का मिथ्यापना।'

मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।
'दौल' समझ सुन चेत सयाने, कालवृथा मत खोवै;
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै॥१७॥

'मोक्षमहलकी परथम सीढी या बिन ज्ञान चरित्रा; या बिन ज्ञान चरित्रा।' नाम तो दिया, हाँ ! मोक्षमहल की प्रथम सीढी-सौपान-सीढी यह है। पहले सोपान नहीं हो तो दूसरा सोपान नहीं होता - ऐसा कहते हैं।

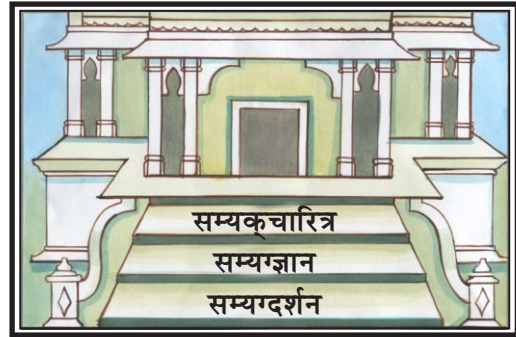
मुमुक्षु :- चारित्र है, इसलिए सम्यग्दर्शन ही होगा।

उत्तर :- परन्तु चारित्र कहाँ ? चारित्र हो वहाँ सम्यग्दर्शन होता ही है (- ऐसा कहते हैं), परन्तु वह चारित्र था कब ? पंच महाव्रत के परिणाम, दया, दान, अहिंसा - यह सब विकल्प तो शुभभाव है। वह चारित्र कैसा ? समझ में आया ?

'मोक्षरूपी महल की पहली (सीढी) सोपान है...' पहली ही सीढी यह है। अभी जहाँ पहली सीढी ही हाथ नहीं आयी, वह मोक्ष में चढ़ने लगे (- ऐसा नहीं हो सकता)। समझ में आया ? पहली सीढी (आयी न हो और) छलांग लगाकर दूसरी, तीसरी (सीढी पर) जाए तो ? परन्तु (ऐसा) होता ही नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना कोई ज्ञान भी सच्चा नहीं होता और व्रत भी सच्चे नहीं होते। मिथ्याज्ञान पुण्यबन्ध का कारण दुःखदायक हो सकता है। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- छलांग लगाकर चढे।

उत्तर :- यह होता ही नहीं। वह चढ ही नहीं सकता। यह ख्याल है, दिमाग में तो



ख्याल था।

‘इस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र... मोक्षरूपी महल की पहली सीढ़ी है...’ यहाँ तो ऐसा सिद्ध करते हैं। पूर्णानन्द की आत्मा की प्राप्तिरूप मोक्ष; मोक्ष अर्थात् पूर्ण शुद्धता। अवस्था-पर्याय है। मोक्ष, वह पर्याय है।

मुमुक्षु :- इसमें बड़ा महल बताया है।

उत्तर :- हाँ कहा न। बड़े महल की पर्याय है, निर्मल पर्याय है। मोक्ष, वह कोई गुण नहीं, द्रव्य नहीं; आत्मा की पूर्ण निर्मल शुद्ध आनन्द अवस्था है, पर्याय है, हालत है - उसका नाम मोक्ष है। उस मोक्षमहल की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन संवर-निर्जरास्वरूप है। लो ! समझ में आया ? उसका लक्ष्य ठेठ है। सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य पूर्ण शुद्ध और आनन्द प्रकटने के लिए है और उसके बिना पूर्ण शुद्ध की श्रेणी की धारा कहाँ से चलेगी ? समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को बीच में राग हो, आस्रव हो, पुण्य हो, छठवें गुणस्थान में मुनि को, सच्चे सम्यग्दर्शनसहित को व्रत भी आते हैं, परन्तु वह आस्रव है, उसमें उसकी बुद्धि स्थिर नहीं होती ! उसकी तो शुद्धता... पूर्ण शुद्धता उस शुद्धता के अंश बढ़ते जाते हैं, परन्तु उस शुद्धता के अंश पर्याय बढ़े और पूर्ण शुद्ध हो उसकी शुरुआत की शुद्धता सम्यग्दर्शन से होती है; उसके बिना शुद्धता (पूर्ण नहीं होती)। वह शुद्धता, हाँ ! शुभभाव की शुद्धता नहीं। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- शुभभाव...

उत्तर :- नहीं, नहीं; शुभभाव पहली सीढ़ी का फल नहीं है और शुभभाव का यह फल नहीं है। कहो, समझ में आया ?

यह चैतन्य गोला अनन्त गुणों का पिण्ड शुद्ध आनन्दकन्द है, जिसकी शक्ति में अनन्त परमात्मा पड़े हैं, एक आत्मा में ! ऐसे अनन्त आत्मा के परमात्म स्वरूप की दृष्टि बिना, कहते हैं, पूर्ण परमात्मा ऐसी मोक्षगति की श्रेणी उसके बिना इसका सब मिथ्या है। पहली श्रेणी ही यह है।

‘इस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र...’ क्या भाषा ली है ? देखो ! ‘सच्चाई प्राप्त नहीं करते...’ मिथ्यापना भले पावें। झूठा ज्ञान और चारित्र। समझ में आया ? चाहे

जितना पढ़ा हो, ग्यारह अंग और नौ पूर्व (पढ़ा हो) हजारों-लाखों लोगों को रंजन करता हो। ओ..हो..हो... ! क्या पढ़ाई और क्या इसका ज्ञान ! धारावाही ! बिना पुस्तक दो-दो, पाँच-पाँच घण्टे मुँह से बात करे, परन्तु सम्यक् भान, अन्तरदृष्टि के इस भान बिना वह समस्त ज्ञान सच्चेपन को प्राप्त नहीं होता। लो !

‘और चारित्र...’ सम्यग्दर्शन के बिना पाँच महाव्रत धारे, नग्न दिगम्बर हो जाए, मुनि, हाँ ! द्रव्यलिंगी, द्रव्य समकित और द्रव्य चारित्र। द्रव्य समकित अर्थात् उसकी व्यवहार श्रद्धा हो - देव-शास्त्र-गुरु की (श्रद्धा हो) निश्चय बिना, हाँ ! यह सब उसके सच्चेपने को प्राप्त नहीं होता। समझ में आया ? आहा..हा... ! ऐसा कहा कि सम्यग्दर्शन हो तो फिर ज्ञान-चारित्र भी होता है। ऐसा साथ कहा न ? परन्तु उसके बिना ज्ञान-चारित्र नहीं होते अर्थात् सत्य नाम नहीं पाते, सब मिथ्या।

‘इसलिए हे भव्य जीवो ! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो...’ देखो ! प्रथम में प्रथम भगवान आत्मा नव तत्त्व में अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य-पाप से भिन्न ऐसा पूर्ण अखण्ड आत्मा, एकरूप अपने अभेद द्रव्य की श्रद्धा प्रथम में प्रथम प्रकट करो। इस पवित्र श्रद्धा के बिना धर्म का एक कदम भी नहीं होगा। समझ में आया ? आहा..हा... ! थोड़े में भी बहुत भर दिया है। ‘हे भव्यजीवों !’ भाषा ऐसी ली है न ? अभव्य नहीं लिये। ‘धारो भव्य पवित्रा’ अभव्य को नहीं होता, इसलिए भव्य लिया है। देखो ! जगत में अभव्य जीव हैं - यह सिद्ध करते हैं। कभी-भी मुक्ति प्राप्ति नहीं करें - ऐसे अभव्य जीव जगत में अनन्त हैं। अनादिकाल के हैं और (अनन्त काल) रहेंगे। तब भव्य नाम आया न ? हे भव्य ! छाँटकर कहा, उन अभव्योंमें से निकालकर कहा। समझ में आया ? आहा..हा... ! और जीव के दो भाग ? भव्य और अभव्य... (फिर इसमें) विवाद। अज्ञानी को तो क्षण में और पल में आपत्ति (होती है)। दो भाव हैं, दो भाव।

हे भव्य ! ‘ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो।’ ऐसी सिफारिश की है। अब, वे एक सिफारिश स्वयं को करेंगे और दूसरों को करेंगे। यह एक शैली बाकी है।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ५, गुरुवार

दि. १०-२-१९६६, गाथा- १७, प्रवचन नं.- २२

‘छहढाला’ की तीसरी ढाल है, उसकी आखिरी की १७वीं गाथा है। है न ?

मोक्षमहलकी प्रथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;

सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।

‘दौल’ समझ सुन चेत सयाने, कालवृथा मत खोवै;

यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै॥१७॥

उसका अर्थ, उसका अन्वयार्थ है न ? देखो ! क्या कहते हैं ? ‘(यह सम्यग्दर्शन ही) (मोक्षमहल की) मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढी है;...’ देखो ! पहली बात यह आई। सम्यग्दर्शन – पहली सीढी तो यह है। आत्मा में अन्दर आनंद शुद्ध पडा है, वह पूर्ण आनंद की प्राप्ति होना उसका नाम मोक्ष है। पूर्ण अतीन्द्रिय आनंद आत्मा में अंदर पडा है, उसकी पर्याय में-अवस्था में पूर्ण आनंद प्राप्त होना, उसका नाम मोक्ष (है)। उस मोक्षमहल की प्रथम सीढी-सोपान सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष की शुरुआत भी होती नहीं। क्योंकि मोक्षमार्ग में पहले तो सम्यग्दर्शन है।

‘मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढी है; (या बिन) इस सम्यग्दर्शन के बिना...’ सम्यग्दर्शन क्या (है) ? वह बात चली है, पहले आ गई है। परद्रव्य से भिन्न... वह आ गया है न ? परद्रव्य से भिन्न आत्मा की रुचि भली है। भगवान आत्मा शरीर, कर्म, पुण्य और पाप का विकारी भाव से भिन्न अपना स्वरूप शुद्ध आनंदकंद है, उसकी अंतर में दृष्टि होन। उसका नाम सम्यग्दर्शन पहले कहने में आया है। समझ में आया ?

परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि। आत्मा अर्थात् ज्ञानानन्द शुद्ध आनंदस्वरूप आत्मा है,

(उसकी) परद्रव्य से भिन्न और पुण्य-पाप का भाव जो आस्रव होता है उससे भी भिन्न अपना आत्मा आनंद और ज्ञायकस्वरूप है, उसका अंतर में भान होकर प्रतीत होना, उसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन के बिना उसका ज्ञान हो या वर्तन आदि हो, वह सब मिथ्या है - यह कहते हैं, देखो ! 'छहढाला' यह तो सादी हिन्दी भाषा है। 'दौलतराम' कृत 'छहढाला' है। समझ में आया ?

'इस सम्यग्दर्शन के बिना...' अपना आत्मा शुद्ध चैतन्य ज्ञानानंदस्वरूप है, उसका अंतर में अनुभव हुए बिना, उसका सम्यग्दर्शन-अंतर में प्रतीत हुए बिना कोई 'ज्ञान और चारित्र सच्चाई प्राप्त नहीं करते;...' चाहे जितना पढ़ा हो परंतु सम्यग्दर्शन बिना वह ज्ञान, ज्ञान कहने में आता नहीं। समझ में आया ? अनंतकाल में यह क्या चीज है, वह उसने यथार्थपने सुनी नहीं। सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा को जो एक समय में तीन काल तीन लोक देखने में आये ऐसे केवली परमात्मा ने आत्मा का स्वरूप ऐसा देखा कि, पुण्य-पाप का विकारी भाव होता है, उससे भिन्न देखा है।

मुमुक्षु :- किसको ?

उत्तर :- आत्मा को। पर के आत्मा को भी (ऐसा देखा है)। समझ में आया ? ऐसे आत्मा में... रात को सब प्रश्न चले थे उसका अर्थ एक ही है, 'भूदत्थमस्सिदो खलु'। वह बात विशेष चलेगी, लेकिन अभी नहीं। समझ में आया ? वह जब चलेगी तब चलेगी। आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, उसका ज्ञान होना, वही सब का सार है। क्रमबद्ध का, व्यवस्थित पर्याय होना, सर्वज्ञ ने देखा ऐसा होना, सब का एक ही लक्ष्य और एक ही स्वरूप है। समझ में आया ?

चैतन्य भगवान आत्मा चैतन्य ज्ञायक सूर्य है। ज्ञायक सूर्य आत्मा (है), उसमें शुभाशुभभाव उठते हैं, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध का भाव (होता है), वह भी आस्रवतत्त्व है, वह आत्मा में नहीं है। समझ में आया ? वस्तु स्वभाव में नहीं है। ऐसा आत्मा का अंतर में स्वलक्ष्य करके त्रिकाली ज्ञायकभाव का राग से रहित होकर, स्वभाव में एकत्व होकर अनुभव में प्रतीत करनी वही अनंत-काल में नहीं प्राप्त की ऐसी सम्यग्दृष्टि है। इस

सम्यग्दर्शन के बिना चाहे जितना ज्ञान करे, चाहे जितना व्रत, तप करे.. तो कहते हैं कि, इसके बिना 'ज्ञान और चारित्र (सम्यक्ता) प्राप्त नहीं करते;...' सच्चापना उसे मिलता नहीं, सच्चाई की छाप उसे मिलती नहीं।

मुमुक्षु :- क्यों नहीं मिलती ?

उत्तर :- झूठा है, प्रतीत में तत्त्व ही झूठा है जो वस्तु ज्ञायक चिदानंद है, उसका तो भान है नहीं, तो ज्ञान तो उसका करना है। पर का ज्ञान नहीं (करना) है। समझ में आया ? आत्मा में ज्ञान है, आनंद है, श्रद्धा है, शांति आदि अनंत गुण हैं। जब उसकी प्रतीति हुई तो ज्ञान, ज्ञान कहने में आता है और उसका भान हुआ तो ज्ञान के पश्चात् स्वरूप में स्थिरता (हो), अंतर आनंद में स्थिर हो, उसे चारित्र कहते हैं लेकिन सम्यग्दर्शन ही नहीं है, क्या चीज़ है, उसकी ही उसे खबर नहीं।

कहते हैं कि, 'इस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र सच्चाई प्राप्त नहीं करते;...' उसे सम्यक्ता लागू नहीं होती। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं कहने में आता है। समझ में आया ? क्योंकि मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है। उसमें कहा है न ? उसमें लिखा है, देखो ! बड़ा महल है न ? महल है, देखो ! पहले सम्यग्दर्शन है, बाद में सम्यग्ज्ञान है, बाद में सम्यक्चारित्र है। देखो, है ? महल में चढ़ने की सीढ़ी बनाई है। सीढ़ी में पहले सम्यग्दर्शन लिया है।

मुमुक्षु :- पुण्य क्यों नहीं लिया है ?

उत्तर :- पुण्य क्या है, पुण्य तो विकार है। समझ में आया ? पुण्य की प्रतीति, आत्मा की प्रतीति करने से पुण्य का भाव मेरे में नहीं है - ऐसी प्रतीति आती है। पुण्यतत्त्व भिन्न है, नव तत्त्व में पुण्यतत्त्व भिन्न है। आत्मतत्त्व भिन्न है, बंधतत्त्व भिन्न है, संवर, निर्जरातत्त्व भिन्न हैं। पहली सीढ़ी यह ली है। थोड़े छोटे अक्षर हैं। महल लिया है न ? देखो न ! मोक्षमहल... मोक्षमहल की प्रथम (सीढ़ी)।

अंतर भगवान आत्मा... ! क्रमबद्ध में भी वह आता है। क्रमबद्ध का ज्ञान करनेवाला कौन ? आत्मा। आत्मा का ज्ञान हुए बिना क्रमबद्ध का ज्ञान उसे यथार्थ होता नहीं। दर्शन बिना

ज्ञान यथार्थ नहीं होता – ऐसा कहा। समझ में आया ? मूल चीज़ की खबर नहीं और अनादि से ऐसे ही चलता है। कहते हैं कि, सम्यक् आत्मा के अंतरबोध बिना दया, दान का विकल्प जो राग आता है, वह भी पुण्यबंध का कारण है। ऐसा सम्यग्दर्शन हो तो भान, ज्ञान होता है, नहीं तो ज्ञान सच्चा होता नहीं। समझ में आया ?

‘हे भव्य जीवो !’ देखो ! अब स्वयं संबोधन करते हैं। ‘दौलतरामजी’ स्वयं अपने को (संबोधन करते हैं)। (हिन्दी में) पोते नहीं बोलते ? ‘दौलतरामजी’ अपने को संबोधन करते हैं और दूसरों को भी संबोधन करते हैं। ‘हे भव्य जीवो ! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो...’ है ? यह तो सादी हिन्दी भाषा में है। हिन्दी भाषा (में) यह ‘छहढाला’ है। ‘छहढाला’ है, साधारण हिन्दी भाषा में है, लेकिन गागर में सागर भर दिया है। सारे जैनदर्शन का सार गागर में भर दिया है।

कहते हैं कि, ‘पवित्र सम्यग्दर्शन...’ पवित्र क्यों लिया है ? निश्चय है इसलिए। व्यवहार सम्यग्दर्शन है, वह विकल्प है, राग है। निश्चयसम्यग्दर्शन है, वहां व्यवहार होता है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नव तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा होती है लेकिन वह राग है। राग है, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है; पवित्र सम्यग्दर्शन नहीं। पवित्र सम्यग्दर्शन तो भगवान आत्मा, विकल्प जो शुभ-अशुभराग है, उससे हटकर स्वयं की अखंड आनंदमय ज्ञायकमूर्ति है, उसका अंतर में ज्ञान करके प्रतीत करनी, अनुभव में भास होकर प्रतीत करनी, उसका नाम पवित्र सम्यग्दर्शन कहने में आता है।

इसलिए लिया है, देखो ! ‘हे भव्य जीवो ! ऐसे...’ ऐसे अर्थात् उपर कहा ऐसे सम्यग्दर्शन को – परद्रव्य से भिन्न अपने स्वरूप का ज्ञान। ‘पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो...’ समझ में आया ? ‘धारण करो...’ अर्थात् तुमसे प्रकट होता है। कर्म से, कर्म निकले तो धारण होता है और उसके पुरुषार्थ बिना धारण होता है – ऐसा नहीं। समझ में आया ?

पर्याय व्यवस्थित है, सर्वज्ञ ने देखी है तो पुरुषार्थ बिना व्यवस्थित का ज्ञान किसने किया ? यह आत्मा शुद्ध अखंड ज्ञान है – ऐसा अंतरबोध हुए बिना प्रतीत कहाँ से आयेगी ?

और पुरुषार्थ बिना स्वभाव का निर्णय कहाँ से होगा ? पुरुषार्थ से होता है, कर्म से नहीं। समझ में आया ?

कहते हैं कि, 'हे भव्य जीवो ! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो...' अपने आप ही प्रकट होगा, जब काललब्धि आयेगी, भगवान ने देखा होगा तब होगा - ऐसा यहाँ नहीं कहा है।

मुमुक्षु :- दूसरी जगह पर कहा है।

उत्तर :- दूसरी जगह पर दूसरी बात है। वहाँ कहा है कि, ऐसा आत्मा जब तुम्हारी दृष्टि में आयेगा तो भगवान ने ऐसा देखा है। तुम्हारा पुरुषार्थ संयोग से, विकार से हटकर अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से स्वभाव का भान हुआ तो उसी समय में सम्यग्दर्शन पर्याय होनेवाली थी, वही भाव था, वही कर्म का अभाव समय में है - ऐसा भगवानने देखा है। परंतु कर्ता कौन है ? भगवान करते हैं या तुम करते हो ? तुम्हारे श्रद्धागुण की पर्याय तुम करते हो या भगवान करते हैं ? भगवान तो सर्वज्ञ हैं, वे तो पर हैं। भगवान (अन्य के) आत्मा के कर्ता नहीं। जैसे जगत का कोई ईश्वरकर्ता नहीं है, ऐसे आत्मा के श्रद्धागुण की पर्याय के कर्ता भगवान नहीं है। भगवान तो जाननेवाले हैं। इस कारण से कहते हैं, भाई ! कर्ता होकर तुम धारण करो, ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! बहुत थोड़े शब्दों में बहुत भर दिया है। 'दौलतरामजी' पंडित। पहले के पंडित ने बहुत अच्छी बात (कही है), गागर में सागर भर दिया है।

भगवान आत्मा की सम्यक् प्रतीति, पवित्रता धारण करो। देखो ! यहाँ से पवित्रता शुरू होती है। राग नहीं, पुण्य नहीं, विकल्प नहीं, शुभभाव नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! अब कहते हैं, ऐसा पवित्र सम्यग्दर्शन तुमने अनंतकाल में प्राप्त नहीं किया। उसके बिना - आत्मज्ञान बिन अंतर बार सब बाते की। समझ में आया ? 'मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रैवेयक उपजायो, पर आत्मज्ञान बिन...' वह भी 'दौलतरामजी' (कहते हैं)। आगे आयेगा न ? आगे। इसमें आगे आयेगा। कहाँ है ? कौन-सी (गाथा) है ? कौन-सी (गाथा की) पंक्ति है ? ज्ञान में होगी। इस (चौथी) ढाल में होगी। चौथी ? देखो ! वही (गाथा) आयी। देखो ! पाँचवी (गाथा) है। देखो ! चौथी ढाल, पाँचवा श्लोक। इसी में है, देखो ! तीसरी (ढाल का)

अंतिम श्लोक चल रहा है, इसके बाद की चौथी (ढाल)। तीसरी ढाल का अंतिम श्लोक चल रहा है और सम्यग्ज्ञान चलेगा, उसकी यह पंक्ति है। पाँचवी है, देखो ! पाँचवी।

‘कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;...’ ९९ पन्ना है। ‘कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;...’ करोड़ जन्म तप करो, करोड़ वर्ष के करो और करोड़ भव करो लेकिन आत्मा ज्ञान चिदानंदमूर्ति के आनंद का स्वाद आये बिना, कर्म झरै (नहीं)। ‘ज्ञानीके छिनमें त्रिगुप्ति तैं सहज टरै ते।’ सम्यग्ज्ञानी-आत्मज्ञानी अंतर आत्मा में विकल्प से रहित होकर अंतर ध्यान में अंतर्मुहूर्त रहें तो भी जो करोड़ भव में करोड़ वर्ष तप करें उससे जो कर्म खिरते हैं, इससे अनंतगुने कर्म सम्यग्दृष्टि को झरते हैं।

‘मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो; पै निज आत्मज्ञान बिना,...’ ‘पै निज आत्मज्ञान’ पै निज आत्म, हाँ ! भगवान का ज्ञान भगवान के पास है। निज आत्मज्ञान बिना ‘सुख लेश न पायो।’ यह तो ज्ञान का अधिकार है। यह चल रहा है, वह दर्शन का अधिकार है। दर्शन के बाद ज्ञान अधिकार है। यह चल रहा है, वह दर्शन का अधिकार है। दर्शन के बाद ज्ञान अधिकार में यही ज्ञान लेंगे। ज्ञान यानी आत्मज्ञान। दर्शन जैसे आत्मा का दर्शन, वैसे ज्ञान भी आत्मा का ज्ञान; पर के ज्ञान की बात यहाँ नहीं है। आत्मा का ज्ञान हुए बिना अनंत बार मुनिव्रत धारण किया। उपर कहा न ? ‘ग्रीवक उपजायो’ उत्तम ग्रैवेयक हैं, वहाँ जन्म धारण किया लेकिन आत्मज्ञान बिना सुख लेश (न पायो)। एक सम्यग्दर्शन, ज्ञान बिना आनन्द के एक अंश का अनुभव उसे हुआ नहीं, उसके बिना उसे धर्म हुआ नहीं। समझ में आया ? वह बाद में कहेंगे। यह तो तीसरी (ढाल चल रही है)।

‘हे समझदार दौलतराम !’ स्वयं अपने को कहते हैं। ‘दौलतरामजी’ अपने को कहते हैं, देखो ! हे (सयाने) सयाने... सयाने। ‘हे समझदार दौलतराम ! (सुन-सुन)...’ स्वयं को कहते हैं, सुन ! और दूसरे को भी कहते हैं, सुन ! है ‘दौलतराम’ ! यह दौलत, आत्मा का आनन्दराम, अंतर में अंतर संपदा (है)। अंतर अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनंद शांति आत्मा में पड़ी है। ऐसी दौलत का राम-आत्मा, आत्माराम दौलतराम है। हे दौलतराम ! समझदार ‘दौलतराम’। ऐसी भाषा ली है। सयाने हो, भैया ! तुम तो सयाने आत्मा हो। विकार

और पर से प्रभु ! विवेक करनेवाले समझदार हो, तुम मूढ नहीं हो। तेरी चीज़ ऐसी है – ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? अरे.. ! प्रभु ! तुम तो सयाने हो न ! समझदार हो न ! तेरे आत्मा में आनंद है और पुण्य-पाप का विकार दुःखरूप है, उससे भिन्न ऐसे तुम समझदार हो। कहते हैं कि 'दौलतराम' सुन ! हम तुमको कहते हैं, आत्मा को आत्मा कहते हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा... आत्मा को संबोधन करता है। हे आत्मा ! तेरा स्वरूप देह, वाणी, मन, कर्म और विकार से भिन्न है, ऐसा तुम सम्यग्दर्शन धारण करो, ऐसे तुम सयाने हो, तुम विवेकी हो, तुम समझदार हो – ऐसा आत्मा को कहते हैं। सुन, समझ। अंतर में सुन और समझ और चेत। तीन शब्द लिये हैं। सुन, समझ (और) चेत, तीन शब्द लिये हैं। यह तो हिन्दी भाषा सादी है न ? क्यों ? भाई ! यह मास्टरजी जैसी सूक्ष्म भाषा नहीं है।

कहते हैं कि, हे प्रभु ! आत्मा सुन ! मात्र सुन ऐसा नहीं, समझ और सावधान होओ। समझ और सावधान होओ, देखा ! वहाँ मोह का अभाव दिखाते हैं। आहा... ! तेरी चीज़ तेरे पास है। हिरन की नाभि में कस्तूरी है, ढूँढता है बाहर। ऐसे भगवान आत्मा में अंतर में आनंद, शांति आदि जो सर्वज्ञ परमेश्वर ने प्रकट किया, वह सब आत्मा में हैं। समझ में आया ? कहते हैं कि हे सयाने ! सुन, समझ, सावधान हो। 'समय को व्यर्थ न गँवा;...' आहा..हा... ! काल वृथा मत गँवा, भगवान ! अनंत काल में मुश्किल से समय मिला है, अनंत काल के परिभ्रमण में भटकते-भटकते मुश्किल से मनुष्य का देह अल्पकाल के लिये मिला है। ऐसे काल में प्रभु ! तुम व्यर्थ काल मत गँवा – ऐसा आत्मा को कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

सबको कहते हैं, अरे... ! आत्मा ! अनादि काल से प्रभु ! तुम भटक रहे हो, भगवान ! चार गति में चौरासी (लाख योनि के) अवतार में तुझे मुश्किल से मनुष्यदेह मिला। उस मनुष्यदेह में सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव त्रिलोकनाथ जो आत्मा कहते हैं, उसे सुन। आहा.. ! आत्मा को सुन – ऐसा कहा। भगवान आत्मा ज्ञान का सूर्य आनंदमूर्ति है, उसे तू समझ। उसमें विकार है नहीं, शरीर, कर्म उसमें है नहीं। भगवान ! तेरा समझने का काल है। आहा..हा... ! कितना संबोधन किया है ! गृहस्थाश्रम में रहते थे। गृहस्थाश्रम में थे या नहीं ? स्त्री-पुत्र सब

थे, हो, वे उनके पास रहे, वे कहाँ घुस गये हैं ? आत्मा में कहाँ घुस गये हैं ? वे उनमें हैं, देह देह में है, स्त्री स्त्री में है, पैसा-पैसा धूल में है, पैसा धूल और धूल में है, आत्मा में कहाँ घुस गया है ? समझ में आया ? गृहस्थाश्रम में कहते हैं, भाई ! गृहस्थाश्रमी पैसेवाले को ऐसा कहते हैं ? धूल कहाँ उसकी है ? धूल तो जड़ की है। वह तो मिट्टी है, अजीवतत्त्व है। अजीव से तेरी चीज तो भिन्न है। अजीव की ममता करता है उससे भी तेरी चीज भिन्न है। वह बात तो यहाँ कहते हैं, तू एकबार बात सुन ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा, अजीवतत्त्व से तो तेरी चीज भिन्न है और अजीव पर तू ममता करता है कि, मेरा है, ममता करता है, उस ममता से भी तेरी चीज भिन्न है। ममता तो विकार है, आस्रवतत्त्व है। आस्रवतत्त्व जीवतत्त्व नहीं होता। समझ में आया ? क्या करे ? ऐसे ही काल गँवाता है। मूढपने अनंत काल गँवाया।

कहते हैं कि, हे सयाने ! समय व्यर्थ न गँवा। आहा..हा... ! तेरे एक-एक समय की कीमत है, प्रभु ! अनंत काल में महा कौस्तुभमणि मिलना भी सुलभ है लेकिन ऐसा मनुष्यदेह, उसमें ऐसा आत्मा का भान करने का अवसर महा महा दुर्लभ है। समझ में आया ? नववीणैवेयक अनंत बार गया तो भी उसने आत्मा का ज्ञान किया नहीं। ज्ञान करने का तेरा अवसर है - ऐसा कहते हैं। देखो ! आ..हा.. !

‘व्यर्थ न गँवा;...’ ऐसा नहीं कहते हैं कि, अभी हमारी काललब्धि परिपक्व नहीं हुई तो क्या करें ? ए..ई.. ! जब काललब्धि होगी, तब पुरुषार्थ होगा... भगवान ने देखा होगा तब होगा - ऐसा नहीं कहते हैं। समझ में आया ? भगवानने देखा ऐसा होगा - ऐसा जिसने माना और काललब्धि है, उसका जिसे ज्ञान होता है उसे आत्मा में पुरुषार्थ करके (निर्णय) होता है। काल व्यर्थ न गँवा, प्रभु ! काल व्यर्थ न गँवा। आहा..हा... ! भाई ! आत्मा को समझने का, प्रतीत करने का, श्रद्धा करने का तेरा काल है। देखो ! वही कहते हैं। तुझे क्षयोपशम है (परंतु) क्षयोपशम का ज्ञान तुम पर की ओर लगाते हो। तेरा क्षयोपशम तो है (लेकिन) पर में लगाते हो, वह तेरा काल व्यर्थ हो रहा है। लगा... आत्मा में। आहा..हा... ! समझ में आया ?

‘समय को व्यर्थ न गँवा;...’ गजब बात कही है। काल को निरर्थक मत छोड़, सार्थक

कर दे। भगवान शुद्ध चैतन्यमूर्ति तुम हो न ! सावधान होकर अंतर में प्रतीत कर, सावधान होकर श्रद्धा कर; काल को वृथा मत गँवा। ‘(क्योंकि)...’ क्योंकि कहते हैं न ? ‘यदि सम्यग्दर्शन नहीं हुआ...’ देखो ! आत्मदर्शन-देह, वाणी, मन, कर्म, धूल से भिन्न, पुण्य-पाप का विकल्प जो दया, दान, काम, क्रोध शुभाशुभभाव आस्रव से भिन्न, ऐसे आत्मा का अंतर में सम्यग्दर्शन नहीं हुआ तो तेरा परिभ्रमण नहीं मिटेगा। आहा.. ! भाई !

क्या परपदार्थ तुझे काम आते हैं ? और परपदार्थ को तुम काम आते हो ? क्या पुण्य-पाप के विकार तेरे काम आते हैं ? वह तो विकार है। भगवान आत्मा अनंत-अनंत शांतरस, आनंदकंद प्रभु आत्मा हे, उसे काम में ले - ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आता है ? समझ में आया ? आ..हा... ! यह आपके लिये हिन्दी चलती है, नहीं तो गुजराती में चलता था। हमें बहुत हिन्दी नहीं आती है, साधारण-साधारण चलती है। समझ में आया ?

भगवान ! यहाँ तो आत्मा को भगवान कहकर ही बुलाते हैं। ‘समयसार’ में ‘आस्रव अधिकार’ में ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ महाराज दिगम्बर संत दो हजार वर्ष पहले जंगल में रहनेवाले (थे), उनके बाद ‘अमृतचंद्राचार्य’ हुए। आज से नौसो वर्ष पहले (हुए)। ‘कुन्दकुन्दाचार्यदेव’ के बात ११०० वर्ष बाद हुए। जंगल में रहनेवाले आत्मध्यान में, आनंद में मस्त ‘अमृतचंद्राचार्यदेव’ दिगम्बर मुनि उन्होंने ने ताडपत्र पर टीका लिखी। वे कहते हैं कि, अरे.. ! भगवान आत्मा ! एसा कहते हैं। ‘आस्र अधिकार’ की ७२ गाथा है न ? हे भगवान आत्मा ! आहा..हा... ! जैसे माता बालक को झुले में झुलाती हो, तब माता कहती है - सयाना है, मेरा बेटा होशियार है। वैसे आचार्यदेव आत्मा को कहते हैं। दिगंबर मुनि वनवास में रहनेवाले ९०० वर्ष पहले टीका बनाई। कहते हैं कि, अरे... ! भगवान आत्मा ! पुण्य-पाप का विकार तो प्रभु आस्रव है न ! वह तो दुःखदायक है न ! वह तो अशुचि है न ! वह तो जड़ है न ! तुम तो चैतन्य हो न ! तुम तो आनंद हो न ! तुम तो विकार से रहित चेतन हो न ! आहा..हा... ! ऐसा संबोधन करके जगाते हैं। उसकी माता गाना गाकर झूले में सुलाती है। यहाँ भगवान आत्मा को आचार्य, संतो, ज्ञानी जगाते हैं, जाग.. ! तुम कौन हो ? समझ में आया ?

अरे... ! सम्यग्दर्शन, ऐसा भान... ‘श्रेणिक राजा’। इसमें आ गया था, कल नहीं लिया

था। पहले सातवी नरक का आयुष्य बाँधा था। ८२ वे पत्रे पर नीचे है। 'जिस प्रकार श्रेणिक राजा सातवें नरक की आयु का बंध करके फिर समकित को प्राप्त हुए थे,...' 'श्रेणिक' राजा, हजारो रानियां थी, राजपाट बडा था। महासुंदर शरीर था, 'चेलना' जैसी धर्मी रानी थी। ऐसे जीव को सम्यग्दर्शन, आत्मा का भान हुआ। भगवान तीर्थकरदेव त्रिलोकनाथ 'महावीर' भगवान के समवसरण में क्षायिक समकित हुआ। कहते हैं कि पहले सातवें नरक का आयुष्य बाँध गया था। मिथ्यादृष्टि में मुनि की अशातना की थी। बाद में आत्मा का भान (हुआ कि), आत्मा अखंड आनंद ज्ञाता-दृष्ट (स्वरूप है)। वह राग, विकल्प उठता है, उसका भी करनेवाला नहीं। आत्मा में उसका संबंध है ही नहीं। ऐसा क्षायिक समकित हुआ तो भी 'उन्हें नरक में तो जाना ही पडा था किन्तु आयु सातवें नरक से घटकर पहले नरक की ही रही।' पहली नरक की रह गई। सम्यग्दर्शन प्राप्त किया तो पहले जो सात नरक का आयुष्य बाँधा था उसे तोड़कर पहली नरक में जाना पडा। चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में अभी पहली नरक में है।

नीचे सात नरक है न ? सात नरक है। उसमें पहली नरक में (गये हैं)। भगवान के पास उन्होंने क्षायिक समकित पाया था। 'श्रेणिक' राजा। त्याग नहीं किया था, व्रतादि नहीं थे, आत्मभान हुआ। सम्यग्दर्शन जो अनंत काल में प्राप्त नहीं किया, ऐसा प्राप्त किया। गृहस्थाश्रम में राजपाट में रहने पर भी, आत्मा का अंतर अनुभव होने से सातवी नरक का आयुष्य जो पहले मिथ्यादृष्टि में बाँधा था, (उसे) तोड़कर पहली नरक में चौरासी हजार (वर्ष का रह गया)। गति नहीं फिरती, स्थिति (फिर गई)। समझ में आया ? लड्डु बनाया हो, चूरमा का लड्डु। जो बन गया उसमें से गुड़, आटा निकालकर दूसरा पकवान नहीं होता, वह तो उसे खाना ही पडेगा। थोडे समय ऐसा ही रहेगा तो घी, गुड़ सूक जायेगा, लेकिन उसमें से घी निकालकर पूडी बनाये - ऐसा नहीं बनता। उसी प्रकार एकबार गति का आयुष्य बाँध गया तो गति नहीं फिरती, लेकिन आत्मा के भान द्वारा स्थिति लंबी थी उसे तोड़ दी। पहली नरक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में है, परंतु सम्यग्दर्शन है।

सज्जाय आती है। किसमें आता है ? 'बाहिर नारकी कृत दुःख भोगत, अंतर सुख की गटागटी'। सर 'हुकमीचंद' यहाँ पहली बार आये थे, तब यह बोले थे। शेठ आये थे न ? वे

पहले बोले थे। क्या ? 'बाहिर नारकी कृत दुःख भोगत, अंतर सुख की गटागटी' सम्यग्दर्शन है तो नरक में नारकी होने पर भी (सुख भोगते हैं)। सम्यग्दर्शन क्या चीज है, उसकी दुनिया को खबर नहीं। 'श्रेणिक' राजा नरक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में हैं, २५०० हजार वर्ष गये, २५०० वर्ष गये और साढे इक्यासी हजार वर्ष बाकी हैं। बाद में पहले तीर्थकर होंगे। आगामी काल में जगतगुरु त्रिलोकनाथ जैसे 'महावीर' भगवान हुए, वैसे होंगे। एक सम्यग्दर्शन का प्रताप !! समझ में आया ? सम्यग्दर्शन क्या है, उसकी जगत को खबर नहीं। इसके बिना ज्ञान और व्रत बिना अंक के शून्य हैं। समझ में आया ? वह तो पहले कहा। सातवी नरक की (स्थिति तोड़कर) पहली नरक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में गये। वहाँ भी आनंद है। बाहर में दुःख है, अंदर में राग से भिन्न आत्मा का भान है न, नरक में भी ! नरक में यानी नारकी, आनंद आनंद का वेदन करते हैं। ओ..हो...हो... ! नरक में नारकीपने होने पर भी सम्यग्दृष्टि को आनंदरस का वेदन है।

कहते हैं कि, 'यदि सम्यग्दर्शन नहीं हुआ तो यह मनुष्य पर्याय पुनः मिलना दुर्लभ है।' आहा..हा... ! भगवान आत्मा को कहते हैं कि, है आत्मा ! दुनिया की बात छोड़ दे। दुनिया दुनिया में रही। तेरे आत्मा का भान कर ले, नहीं तो ऐसा मनुष्यदेह पाना दुर्लभ... दुर्लभ... दुर्लभ है। समझ में आया ? शास्त्र में तो बहुत दृष्टांत दिये हैं। चिंतामणि रत्न। हाथ में हो और वह समुद्र में चला जाये। जाने के बाद वह पाना मुश्किल है। रत्न समुद्र के तलवे में चला गया, कहाँ से मिलेगा ? ऐसा मनुष्यदेह फिर मिलना बहुत कठिन है। यदि आत्मदर्शन नहीं किया तो तेरा सब व्यर्थ है। पाँच-पचास लाख, करोड-दो करोड पैदा किये हो या त्यागी होकर व्रत और नियम धारण किये हो परंतु सम्यग्दर्शन बिना तेरा मनुष्यदेह व्यर्थ है। ऐसा कहते हैं। देखो ! देखो ! 'दौलतरामजी' तीसरी ढाल की अंतिम गाथा (में ऐसा कहते हैं)। 'यह (नर भव) मनुष्य पर्याय पुनः मिलना दुर्लभ है।' थोडा भावार्थ लिया है। भावार्थ लिया है न ?

'भावार्थ :- यह सम्यग्दर्शन ही...' (मूल पुस्तक में) नीचे (फूटनोट में) लिखा है।

सम्यग्दृष्टि जीवको, निश्चय कुगति न होय।
पूर्वबन्ध तें होय तो सम्यक् दोष न कोय।।

आत्मा सम्यग्दर्शन हुआ। कदाचित् उसको कुगति तो नहीं होती, परंतु पूर्व का बंध हो गया हो तो सम्यक् दोष नहीं होता, उसे सम्यग्दर्शन में दोष लगता नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! 'परमात्मप्रकाश' में कहा है, सम्यग्दर्शन सहित नरक में जाना अच्छा है, लेकिन मिथ्यादृष्टि सहित स्वर्ग में जाना बुरा है। स्वर्ग में देव, देवियां लाखों, करोड़ों, अरबों वर्ष आत्मा के सम्यग्दर्शन बिना मिथ्याश्रद्धा करके चला भी गया (तो भी) तेरा स्वर्ग दुःखरूप है। सम्यग्दर्शन आत्मा का भान करके नरक में गया तो भी वहाँ सुखरूप है। वहाँ से निकलकर 'श्रेणिक' राजा तीर्थकर होंगे। समझ में आया ? 'श्रेणिक' राजा उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में जायेंगे। नरक से सीधे निकलकर, सीधे निकलकर तीर्थकर होंगे। तीन ज्ञान लेकर तो पहली नरक से आयेंगे और क्षायिक समकित तो साथ है। भान... भान... भान... (है)। राग नहीं, शरीर नहीं, दौलत नहीं, यह जन्म है, वह मेरा नहीं। माता के पेट में आया, वह जन्म मेरा नहीं, माता मेरी नहीं है; मैं तो आनंदकंद शुद्ध चैतन्य हूँ। माता के पेट में आयेंगे तो भी ऐसा भान रहेगा। आहा..हा... ! समझ में आया ?

'सम्यग्दर्शन ही मोक्षरूपी महल में पहुँचने की प्रथम सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन न हो, तब तक ज्ञान वह मिथ्याज्ञान...' देखो ! समझ में आया ? सर्वज्ञ भगवान ने कहा ऐसा आत्मा। परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव भगवान ने ऐसे अनंत आत्मा देखे हैं। त्रिलोकनाथ परमेश्वर कहते हैं, वर्तमान में भी महाविदेहक्षेत्र में 'सीमंधर' परमेश्वर मनुष्यदेह में बिराजमान हैं। एक करोड़ पूर्व का आयुष्य है, पांचसो धनुष का ऊँचा देह है। दो हजार हाथ ऊँचा। महाविदेहक्षेत्र में भगवान बिराजते हैं। इस जमीन पर महाविदेहक्षेत्र में मनुष्यदेह में बिराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र दूर है। महाविदेहक्षेत्र दूर है, बहुत दूर है। यह भरतक्षेत्र है न ? उससे बहुत दूर है। जमीन पर है, बहुत दूर है, हजारों योजन दूर है। वहाँ भगवान वर्तमान में बिराजते हैं। 'सीमंधर' तीर्थकरदेव। णमो अरिहंताणं पद में बिराजते हैं। चौबीस तीर्थकर णमो सिद्धाणं में बिराजते हैं। चौबीस तीर्थकर तो सिद्धपद में हैं, सिद्ध में बिराजते हैं, उनको शरीर नहीं है। यहाँ थे तब शरीर था। अब सिद्ध हो गये। भगवान बिराजते हैं तो शरीर है, वाणी भी है, उपदेश होता है, सो-सो इन्द्र की उपस्थिति है, समवसरण में उपस्थिति है। भगवान की दिव्यध्वनि ॐकार निकलता है और

वर्तमान मनुष्यक्षेत्र में इन्द्रों आदि को सुनाते हैं। समझ में आया ? वे भगवान कहते हैं कि, भाई ! भगवान ने कहा वही सब ज्ञानी कहते हैं।

‘इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन न हो, तब तक ज्ञान वह मिथ्याज्ञान...’ है। आहा..हा... ! शास्त्र का पढ़ना, ग्यारह अंग का पढ़ना, नव पूर्व का पढ़ना, सब आत्मदर्शन शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान, आनंद की अंतर प्रतीत, भान बिना वह सब ज्ञान मिथ्याज्ञान है। है न ? ‘और चारित्र वह मिथ्याचारित्र कहलाता है।’ आत्मा ज्ञाता-दृष्टा का अनुभव अंतर दृष्टि बिना बाहर का क्रियाकांड मिथ्याचारित्र कहलाता है। वह चारित्र सम्यक् है नहीं। ‘सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र नहीं कहलाते।’ अस्ति-नास्ति की है।

आत्मदर्शन अनुभव बिना, आत्मज्ञान ज्ञाता-दृष्टा के अनुभव बिना जो कोई क्रियाकांड होता है, उसको भगवान चारित्र कहते नहीं। ‘इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी को...’ प्रत्येक आत्मार्थी को, प्रत्येक जीव को-आत्मार्थी को ‘ऐसा पवित्र सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिए। पंडित दौलतरामजी अपने आत्मा को संबोधन करके कहते हैं कि-हे विवेकी आत्मा !’ देखो ! सयाना कहा है न ? सयाना। ‘हे विवेकी आत्मा ! तू ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन के स्वरूप को स्वयं सुनकर...’ स्वयं सुनकर। कोई सुनाये ऐसा नहीं, तू स्वयं सुनकर - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- कोई सुनानेवाले हो तो सुने न ?

उत्तर :- कहते हैं कि, धर्मात्मा ज्ञानी के पास आत्मा के सम्यग्दर्शन का स्वरूप स्वयं सुनकर, तू सुनकर। दूसरे ने कहा और दूसरे ने (सुन) लिया, ऐसा नहीं। ‘स्वयं सुनकर अन्य अनुभव ज्ञानियों से प्राप्त करने में...’ प्राप्त करने में ‘सावधान हो;...’ दो बात कही है। दो शब्द हैं न ? सुन, समझ और सावधान हो (ऐसे) तीन शब्द हैं न ? बहुत थोड़े शब्द में बहुत भर दिया है। समझ में आया ?

‘अपने अमूल्य मनुष्यजीवन को व्यर्थ न गँवा।’ मनुष्यदेह कीमत से नहीं मिलता। एक अरब रूपयें देने से ऐसी आँख मिलती है ? नाखून का एक टूकड़ा भी करोड़ रूपयें दे तो

(भी) नया नहीं मिलता। अनंतकाल में ऐसा देह मिला, यदि आत्मा का भान नहीं किया तो व्यर्थ है – ऐसा कहते हैं। ओ..हो..हो... !

मुमुक्षु :- रूपये नहीं मिले तो व्यर्थ है।

उत्तर :- रूपये तो बहुत मिला है, धूल में क्या है ? भाई ! उनके पास रूपये हैं। पुत्र के पास दो करोड़ रूपये हैं। काम नहीं आते ? क्या है ? समझ में आया ? उसके पुत्र के पास दो करोड़ हैं।

मुमुक्षु :- उसे क्या काम आते हैं ?

उत्तर :- बाप तो कहलाता है या नहीं ? पिता तो कहने में आता है या नहीं ? भले ही पुत्र पैसा नहीं देता हो।

मुमुक्षु :- तीन-चार साल से छोड़ दिया है।

उत्तर :- छोड़ दिया तो क्या करे ? पहले से छोड़ दिया है, लिखकर दिया है, तुम अलग और हम अलग। वैसे भी भिन्न ही है, एक कौन है ? कल्पना की कल्पना है। धूल में है क्या ? पाँच करोड़ हो या दस करोड़ हो, मिट्टी-धूल है। आत्मा को कहाँ काम आती है ? आत्मा के सुख में वह चीज़ कहाँ मदद करती है ? वह तो मिट्टी है, धूल है, अजीवतत्त्व है। अजीव में सुख है ? अजीव धूल में सुख है ? ऐ..ई... !

मुमुक्षु :- लड़के को बड़ा किया।

उत्तर :- लड़के को बड़ा किया ? धूल में भी बड़ा नहीं किया। वह तो उसके आयुष्य के कारण बड़ा हुआ है। समझ में आया ?

कहते हैं, अरे... ! 'अमूल्य मनुष्यजीवन को व्यर्थ न गँवा। इस जन्म में ही यदि समकित प्राप्त नहीं किया तो फिर मनुष्यपर्याय आदि अच्छे योग पुनः पुनः प्राप्त नहीं होते।' मनुष्यदेह वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ की यथार्थ वाणी... समझ में आया ? ऐसा प्राप्त होना अनंत काल में महामुश्किल है। तीसरी ढाल (समाप्त) हुई। सारांश में है वह सब आ गया है। चौथी ढाल लो, चौथी।

चौथी ढाल

सम्यग्ज्ञान का लक्षण और उसका समय

(दोहा)

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान,
स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भान॥१॥

अन्वयार्थ :- (सम्यक् श्रद्धा) सम्यग्दर्शन (धारि) धारण करके (पुनि) फिर (सम्यग्ज्ञान) सम्यग्ज्ञान का (सेवहु) सेवन करो; (जो सम्यग्ज्ञान) (बहु धर्मजुत) अनेक धर्मात्मक (स्व-पर अर्थ) अपना और दूसरे पदार्थों का (प्रगटावन) ज्ञान कराने में (भान) सूर्य के समान है।

भावार्थ :- सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान को दृढ़ करना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य समस्त पदार्थों को तथा स्वयं अपने को यथावत् दर्शाता है, उसी प्रकार जो अनेक धर्मयुक्त स्वयं अपने को (आत्मा को) तथा पर पदार्थों को* ज्यों का त्यों बतलाता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

‘सम्यग्ज्ञान का लक्षण और उसका समय।’ समझ में आया ? सम्यग्दर्शन की व्याख्या कही। अब चौथी ढाल में सम्यग्ज्ञान की व्याख्या चलती है। सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान का विशेष आराधन करना कि जिससे ज्ञान की बहुत निर्मलता हो। इसलिए दर्शन के बाद यहाँ ज्ञान का अधिकार लिया है। मोक्षमार्ग में भी तीन लिये हैं न ? ‘सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग’ ‘उमास्वामी’।

दो हजार वर्ष पहले ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ महाराज दिगम्बर संत प्रभु थे, महान मुनि थे। वे भगवान के पास गये थे। ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ दो हजार वर्ष पहले ‘वंदेवास’ है ना ? ‘वंदेवास’

* स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। (प्रमेयरत्नमाला, प्र.उ.सूत्र-१)

गाँव है। वहाँ से पाँच मील 'पोन्नुर हिल' है, 'मद्रास'। वहाँ दिगम्बर मुनि दो हजार वर्ष पहले रहते थे। वहाँ से भगवान के पास गये। 'सीमंधर' भगवान अभी बिराजते हैं, उस समय भी बिराजते थे। बहुत बड़ा आयुष्य है न ? वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे और वहाँ से आकर 'समयसार', 'प्रवचनसार', 'नियमसार' ताड़पत्र में लिखे हैं। महासंत ! 'पोन्नुर हिल', 'मद्रास' से ८० माईल दूर है। पर्वत है। हम दो बार गये हैं, पूरा संघ साथ में था। 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने भगवान के पास (सुनकर) यहाँ शास्त्र बनाये। वे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन होने के बाद सम्यग्ज्ञान का आराधन करना चाहिए।

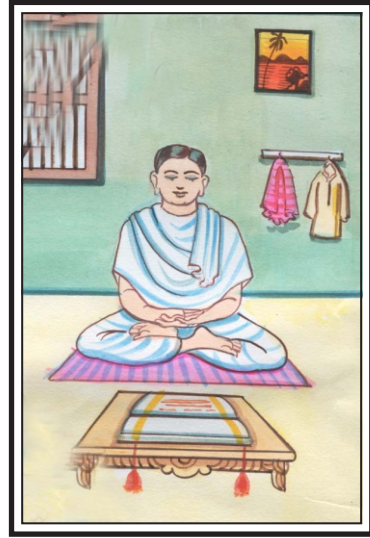
(दोहा)

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान,
स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भाना॥१॥

प्रगटावन सूर्य है। सच्चे आत्मदर्शनपूर्वक ज्ञान का भानु सूर्य है। अंतर सूर्य चैतन्य भगवान। अनंत धर्मयुक्त, ऐसा लेंगे। देखो ! 'सम्यग्दर्शन धारण करके...' पहले सम्यग्दर्शन बाद में ज्ञान, हाँ ! सम्यग्दर्शन न हो और मात्र ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते नहीं।

'(बह धर्मजुत) अनेक धर्मात्मक...' कहते हैं कि, ज्ञान में अनेक धर्मयुक्त आत्मा और अनेक स्वभावयुक्त जड़, उसका ज्ञानसूर्य में भान होता है। अनंत धर्मयुक्त आत्मा, अनंत गुण(स्वरूप) आत्मा। भगवानआत्मा जितने सिद्ध में अनंत गुण प्रकट हुए, वे सब अनंत गुण यहाँ आत्मा में हैं। ऐसे अनंत गुण का ज्ञान-बोध कराते हैं। विशेष लेना है न ? भाई ! दर्शन अभेद था न ? विस्तार करते हैं। ज्ञान स्वपरप्रकाशक (है), ऐसे लेना है न ? देखो !

'सम्यग्ज्ञान का सेवन करो;...' क्यों ? '(जो सम्यग्ज्ञान) अनेक धर्मात्मक (स्वपर अर्थ) अपना और



दूसरे पदार्थों का ज्ञान कराने में सूर्य के समान है।' क्या कहते हैं ? सम्यग्दर्शन में तो अपने आत्मा की प्रतीत होती है, उसमें भेद नहीं होता। मैं आत्मा हूँ, उसमें आनंद है, उसमें ज्ञान है – ऐसा भेद सम्यग्दर्शन में नहीं होता। समझ में आया ? आहा..हा... ! सम्यग्दर्शन में अखंडानंद भगवान आत्मा अनंत गुणरूप एकस्वरूप, अनंत गुणरूप एकरूप (है) – ऐसी अंतर में निर्विकल्प प्रतीति होनी, उसमें भेद नहीं आता कि, यह ज्ञान है, यह आत्मा है और यह आनंद है, और यह आत्मा है – ऐसा भेद नहीं। ऐसी अंतर प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहा.. !

सम्यग्ज्ञान, आत्मा में अनंत गुण हैं – ऐसा सम्यग्ज्ञान में ज्ञात होता है। समझ में आया ? सर्वज्ञ परमेश्वर ने एक आत्मा में अनंत गुण देखे हैं। कहा था न ? बहुत बार कहते हैं। आकाश के प्रदेश हैं न आकाश के प्रदेश ? अमाप अमाप आकाश है न ? लोक के बाहर चारों ओर (आकाश है)। अमाप अनंत प्रदेश। अनंत प्रदेश से (अनंतगुने) गुण एक आत्मा में हैं। भगवान जाने, अपने को पता नहीं, अपने तो आत्मा को मानो। ऐसा कहते हैं कि, (ऐसा मानना उसे) मानना नहीं कहते। जिसे आत्मदृष्टि हुई, उसके ज्ञान में आत्मा अनंतगुणमय है – ऐसा नहीं। अनंत गुण है। आहा..हा... ! सर्वज्ञ परमेश्वर के अलावा, वीतराग तीर्थकरदेव के अलावा.. बराबर हिन्दी नहीं आती, शब्द में थोडा फर्क पड जाता है। भगवान के अलावा यह बात दुनिया में, ओर कहीं नहीं है। परमेश्वर वीतराग तीर्थकरदेव के कथन के अलावा यह बात तीनकाल, तीनलोक में अन्यत्र कहीं दूसरे में होती नहीं। समझ में आया ?

इसलिए 'दौलतरामजी' कहते हैं कि, सम्यग्ज्ञान... कैसे लिखा है, देखा न ! '(बहु धर्मजुत)...' समझ में आया ? 'अनेक धर्मात्मक अपना और दूसरे पदार्थों का ज्ञान कराने में सूर्य के समान है।' समझ में आया ? जो ज्ञान-दर्शन-प्रतीति हुई उसमें यह अनंत गुणमय आत्मा है – (ऐसा भान हुआ)। एक एक ज्ञान में अनंत पर्याय होने की ताकत है। एक एक गुण में अनंती सामर्थ्यता है। एक एक ज्ञानगुण में अनंत पर्याय जो केवलज्ञान उपन्न होता है, केवलज्ञान, ऐसे केवलज्ञान की जो अनंती पर्याय हैं, वह ज्ञानगुण में पड़ी है। ऐसा-ऐसा अनंत गुणमय आत्मा है – ऐसा सम्यग्ज्ञान ज्ञान कराता है। समझ में आया ? अज्ञानी कहते हैं कि, एक आत्मा करो, आत्मा करो। लेकिन आत्मा क्या ? आत्मा है कौन ? और उसमें गुण कितने हैं ? जितने गुण हैं उतनी उसकी पर्याय होती हैं, अवस्था होती हैं। ऐसा भान हुए बिना उसका

सम्यग्ज्ञान होता नहीं। समझ में आया ? अच्छी बात कही है, देखो ! यहाँ लिखा है।

‘स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भान।’ आहा..हा... ! यह वाचाज्ञान की बात नहीं है। अंतरज्ञान, जिसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं, जो दर्शनपूर्वक हुआ तो वह ज्ञान आत्मा में अनंत गुण हैं – ऐसा बताता है और वह ज्ञान परमाणु आदि अनंत जड़ पदार्थ हैं, उसमें भी अनंत गुण हैं – ऐसा वह ज्ञान बताता है। एक एक जड़ परमाणु है, वह मिट्टी है न ? बहुत रजकण इकट्ठे हुए हैं। जड़ है, मिट्टी-धूल है। एक-एक परमाणु में... एक-एक कहते हैं, क्या कहते हैं ? प्रत्येक परमाणु में अनंत गुण हैं, अनंतानंत। जितने जीव में हैं, उतने उसमें हैं। इसमें ज्ञान और आनंद है, ऐसा उसमें नहीं है, लेकिन संख्या से इतने हैं। इतने गुण को सम्यग्ज्ञान बताता है – ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- उसका नाम ज्ञान कहते हैं ?

उत्तर :- उसका नाम ज्ञान। आहा.. ! ज्ञान हो गया, लेकिन क्या ज्ञान हुआ ? अंदर कुछ जानने में आता था। लाल-पीला दिखता था। ध्यान... ध्यान... ध्यान... किसका ध्यान ? खरगोश के सिंग ? खरगोश होता है न ? उसे सिंग नहीं होते। ऐसे आत्मा क्या चीज़ है ? एक समय में अनंतगुणमय अनंत धर्मस्वभाव और अनंती पर्यायमय – ऐसा ज्ञान नहीं हुआ तो उसे ज्ञान ही नहीं कहते। समझ में आया ? देखो !

अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रभुत्व, स्वच्छता ऐसे अनंतगुण, संख्या से अनंत गुण। द्रव्य एक, गुण अनंत। द्रव्य एक-वस्तु एक, गुण अनंत। कितने अनंत ? कि, आकाश के प्रदेश से अनंतगुणे। ऐसे-ऐसे अनंत गुण परमाणु में हैं। सम्यग्ज्ञान अपने अनंत गुण का और परमाणु के अनंत गुण का बोध कराता है। समझ में आया ? ओ..हो..हो... ! ‘अनेक धर्मात्मक (स्व-पर अर्थ) अपना और दूसरे पदार्थों का ज्ञान कराने में सूर्य समान है।’ चैतन्य का अंदर ज्ञान स्व का और पर का, सूर्य समान है। बाहर का सूर्य तो धूल है।

भावार्थ :- ‘सम्यग्दर्शनसहित सम्यग्ज्ञान को दृढ करना चाहिए।’ सम्यग्दर्शनसहित, हाँ ! उसके बिना ज्ञान होता नहीं। ‘सम्यग्ज्ञान को दृढ करना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य समस्त पदार्थों को तथा स्वयं अपने को यथावत् दर्शाता है, ...’ देखो ! सूर्य अपने को दिखाता है,

सूर्य पर को दिखाता है। 'उसी प्रकार जो अनेक धर्मयुक्त स्वयं अपने को...' अनेक गुणयुक्त अपने को और अनेक गुणयुक्त परपदार्थों को 'ज्यों का त्यों बतलाता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।' आहा..हा... ! अभेददृष्टिपूर्वक ज्ञान में सब भेद जानने में आते हैं। स्व-पर का भेद, राग को जानना, पुण्य को जानना, पुण्य है, राग है, पुण्य को जानना। ज्ञान जानता है कि, यह पुण्य है, पाप है। आत्मा में अनंत गुण हैं; पर में अनंत गुण हैं। ऐसा सम्यग्ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है, उसको सम्यग्ज्ञान-मोक्ष के मार्ग का दूसरा भाग कहते हैं। पहला सम्यग्दर्शन, बाद में सम्यग्ज्ञान। उसकी विशेष बात कहेंगे...

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



व्यवहारनय उपचरित अर्थको बतानेवाला होनेसे अभूतार्थ है। सम्यग्दर्शनके विषयभूत त्रिकाली ज्ञायकभावरूप अभेदमें भेद नहीं होने पर भी व्यवहारनय उसमें भेद बतलाता है, अतः उसे असत्यार्थ कहनेमें आता है। व्यवहारनय त्रिकाली ज्ञायक-भावको छोड़कर ज्ञायकभावमें नहीं है ऐसे भेदोंको - पर्याय आदिको प्रकट करता है, इसीलिए अभूतार्थ है। पर्यायको गौण कर, व्यवहार रूप बतलाकर, व्यवहारको झूठा बतलाया है।

(परमागमसार-३४०)



जैसे घने धुँकी आड़में चूल्हे पर रखा हुआ लापसीका भगोना (तपेली) नहीं दिखता, वैसे ही पुण्य-पापके प्रेमरूपी धुँकी आड़में ज्ञायकभाव दिखाई नहीं देता। पर्यायबुद्धि वालेको रागमें रस है - रुचि है, जससे अन्तरमें विराजमान सकल-निरावरण वीतराग मूर्ति ढकी रह जाती है। प्रबल कर्मके संयोगसे ज्ञायक-भाव तिरोभूत हो जाता है। तो भी ज्ञायक-भाव तो ज्ञायक भाव ही है, वह तिरोभूत नहीं होता। परन्तु प्रबल रागके संयोगसे अर्थात् रागकी रुचि और प्रेमके कारण ज्ञायक-भाव नहीं दिखाई देता, जिससे तिरोभूत हुआ है।

(परमागमसार-३४१)

વીતરાગ સત્સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ
ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧ અધ્યાત્મિકપત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૦૨ અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૦૩ આત્મયોગ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૯૬, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૦૪ અનુભવ સંજ્ઞવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વચનામૃતોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૦૫ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૬ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૭ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૮ અધ્યાત્મ પરાગ	-
૦૯ બીજુ કાંઈ શોધમા (પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	-
૧૦ બૃહદ્ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો)	-
૧૧ બૃહદ્ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો)	-
૧૨ ભગવાન આત્મા (દ્રષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	-
૧૩ દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત	૦૨-૦૦
૧૪ દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ (ભાગ-૩) (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાની તત્ત્વચર્યા)	૦૪-૦૦
૧૫ દસ લક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૧૬ ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૧૭ દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પત્રાંક-૧૬૬, ૪૪૯, અને ૫૭૨ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા પ્રવચનો)	૧૦-૦૦
૧૮ ગુરુ ગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ)	૦૫-૦૦
૧૯ ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સૌગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૦	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૧	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૨) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૨	જિજ્ઞાસાસણં સલ્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૨૩	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૪	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) (પરમાગમસારમાંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૫	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) (પરમાગમસારમાંથી કમબદ્ધ પર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૨૬	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૭	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૮	કમબદ્ધપર્યાય	-
૨૯	મુમુક્ષતા આરોહણ કમ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૩૦	નિર્ભાત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૩૧	પરમાત્માપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૩૨	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત)	૧૧-૨૫
૩૩	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૩૪	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૩૫	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૩૬	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૪) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૩૭	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૩૮	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૨) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	-
૩૯	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્યભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૪૦	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૪૧	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૮૫-૦૦

૪૪	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૫	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૫) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૭	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૬) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૭) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૪૯	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૮) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૯) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૦) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૩	પ્રવચનસાર	અનુપલબ્ધ
૫૪	પ્રચારિસ્તકાય સંગ્રહ	અનુપલબ્ધ
૫૫	પદ્મનંદીપંચવિશતી	-
૫૬	પુરુષાર્થ સિદ્ધિ ઉપાય	અનુપલબ્ધ
૫૭	રાજ હૃદય (ભાગ-૧) (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૮	રાજ હૃદય (ભાગ-૨) (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૯	રાજ હૃદય (ભાગ-૩) (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૦	રાજહૃદય (ભાગ-૪) ('શ્રીમદ્ રાજયંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૬૧	સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી કુલ્લક)	૧૫-૦૦
૬૨	જ્ઞાનામૃત્ત (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃત્તો)	૦૬-૦૦
૬૩	સમ્યગ્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ પદનો પત્ર (શ્રીમદ્ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૪	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦, ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૫	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજી સ્વામીના નાઈરોબીમાં સમયસાર પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૬૬	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત સુવિધિ લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫-૦૦
૬૭	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૮	સમક્તિનું બીજ (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્યુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રાંક ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૬૯	તત્વાનુશીલન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વિવિધ લેખ)	-

૭૦	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃત્તોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૭૧	વચનામૃત્ત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં બહેનશ્રીના વચનામૃત્ત પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૭૨	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૧)	-
૭૩	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૨)	-
૭૪	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૩)	-
૭૫	વચનામૃત્ત પ્રવચન (ભાગ-૪)	-
૭૬	યોગસાર	અનુપલબ્ધ
૭૭	ધન્ય આરાધક	-
૭૮	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૪) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત્ત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૭૯	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૫) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત્ત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૮૦	છ ઢાળા પ્રવચન (ભાગ-૧)	૨૦-૦૦
૮૧	છ ઢાળા પ્રવચન (ભાગ-૨)	૨૦-૦૦
૮૨	છ ઢાળા પ્રવચન (ભાગ-૩)	૨૦-૦૦
૮૩	મુક્તિનો માર્ગ (સત્તા સ્વરૂપ ગ્રંથ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચન)	૨૦.૦૦
૮૪	રાજહૃદય (ભાગ-૫) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૫	રાજહૃદય (ભાગ-૬) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૬	રાજહૃદય (ભાગ-૭) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૭	રાજહૃદય (ભાગ-૮) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૮	રાજહૃદય (ભાગ-૯) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૯	રાજહૃદય (ભાગ-૧૦) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૯૦	રાજહૃદય (ભાગ-૧૧) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૯૧	રાજહૃદય (ભાગ-૧૨) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૯૨	રાજહૃદય (ભાગ-૧૩) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૯૩	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૬) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત્ત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૯૪	અનુભવપ્રકાશના કિરણો (ભાગ-૧) ('અનુભવપ્રકાશ' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦

**श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)**

ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१ अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	-
०२ आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-४६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
०३ अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृतोंका संकलन)	१५०-००
०४ आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०-००
०५ आत्मअवलोकन	-
०६ बृहद द्रव्यसंग्रह	अनुपलब्ध
०७ द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग-पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्वचर्चा)	३०-००
०८ दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०९ दंसणमूलो धम्मा (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
१० धन्य आराधना (श्रीमद राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	-
११ दिशा बोध (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१२ धन्य पुरुषार्थी	-
१३ धन्य अवतार	-
१४ गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन द्वारा गुरु भक्ति)	१५-००
१५ गुरु गिरा गौरव	-
१६ जिणसासनं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
१७ कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३, ३३२, ५१०, ५२८, ५३७ एवं ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१८ कहान रत्न सरिता (परमागमसारके विभिन्न वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	३०-००
१९ मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
२० मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	-
२१ मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन)	१०-००
२२ निर्भात दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
२३ परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत)	-
२४ प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
२५ परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००

२६	प्रवचन नवनीत (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२७	प्रवचन नवनीत (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२८	प्रवचन नवनीत (भाग-३) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ नय के खास प्रवचन)	२०-००
२९	प्रवचन नवनीत (भाग-४) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ शक्ति के खास प्रवचन)	२०-००
३०	प्रवचन सुधा (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३१	प्रवचन सुधा (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३२	पथ प्रकाश	२०.००
३३	प्रवचनसार	अनुपलब्ध
३४	प्रंचास्तिकाय संग्रह	अनुपलब्ध
३५	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
३६	ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत)	-
३७	सम्यग्दर्शनके सर्वोत्कृष्ट निवासभूत छ पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद् रादचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
३८	सिद्धिपका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से पत्रांक-१४७,१९४, २००,५११,५६० एवं ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
३९	सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	४०-००
४०	समयसार नाटक	अनुपलब्ध
४१	समयसार कलश टीका	अनुपलब्ध
४२	समयसार	अनुपलब्ध
४३	स्मरण संचिका	२०.००
४४	स्वरूप भावना (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-९१३, ७१० एवं ८३३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)	२०-००
४५	तत्त्वानुशीलन (भाग-१,२,३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
४६	तत्थ्य	अनुपलब्ध
४७	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृतोंका संकलन)	१०-००
४८	वचनामृत रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके नार्डौबीमें हुए प्रवचन)	२०-००
४९	भगवान आत्मा	२०.००
५०	जिन प्रतिमा जिन सारखी	२०.००
५१.	छः ढाला प्रवचन (भाग-१)	२०.००
५२.	छः ढाला प्रवचन (भाग-२)	२०.००
५३.	छः ढाला प्रवचन (भाग-३)	२०.००
५४.	प्रवचनसुधा (भाग-६)	३०.००

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१ प्रवचनसार (गुजराती)	१५००	३१ निर्भूत दर्शननी केडीए (गुजराती)	५०००
०२ प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००	३२ निर्भूत दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७५००
०३ पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००	३३ गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००
०४ पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००	३४ गुरुगुण संभारणा (हिन्दी)	७५००
०५ समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००	३५ जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
०६ अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००	३६ जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
०७ अनुभव प्रकाश	२१००	३७ द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
०८ परमात्मप्रकाश	४१००	३८ दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
०९ समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००	३९ धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
१० आत्मअवलोकन	२०००	४० धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
११ समाधितंत्र (गुजराती)	२०००	४१ प्रवचन नवनीत भाग-१-४ (गुजराती)	५८५०
१२ बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००	४२ प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	२३००
१३ मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर प्रवचन) (गुजराती)	१०००	४३ पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
१४ योगसार	२०००	४४ पथ प्रकाश (हिन्दी)	५००
१५ अध्यात्मसंदेश	२०००	४५ प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
१६ पद्मनंदीपंचविंशती	३०००	४६ प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
१७ समयसार	३१००	४७ विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
१८ समयसार (हिन्दी)	२५००	४८ विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
१९ अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००	४९ भगवान आत्मा (गुजरात)	२०००
२० द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००	५० भगवान आत्मा (हिन्दी)	१५००
२१ द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	७६००	५१ सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
२२ पुरुषार्थसिद्धिउपाय (गुजराती)	६१००	५२ सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
२३ क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००	५३ तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
२४ अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००	५४ तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
२५ धन्य अवतार (गुजराती)	३७००	५५ बीजुं काई शोध मा (गुजराती)	४०००
२६ धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००	५६ दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
२७ परमामगसार (गुजराती)	५०००	५७ मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
२८ परमामगसरा (हिन्दी)	४४००	५८ मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
२९ वचनामृत प्रवचन भाग-१-२-३-४	५०००	५९ अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
३० अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००	६० अमृत पत्र (हिन्दी)	२५००
		६१ परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
		६२ परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	४०००
		६३ आत्मयोग (गुजराती)	१५००

६४ आत्मयोग (हिन्दी)	३०००	१०० द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-२) (गुजराती)	१०००
६५ अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००	१०१ राज हृदय (भाग-१) (गुजराती)	१५००
६६ अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००	१०२ राज हृदय (भाग-२) (गुजराती)	१५००
६७ ज्ञानामृत (गुजराती)	३५००	१०३ राज हृदय (भाग-३) (गुजराती)	७५०
६८ ज्ञानामृत (हिन्दी)	१५००	१०४ अध्यात्मसुधा (भाग-१) (गुजराती)	१०००
६९ वचनामृत रहस्य (गुजराती)	१०००	१०५ अध्यात्मसुधा (भाग-२) (गुजराती)	१०००
७० वचनामृत रहस्य (हिन्दी)	१०००	१०६ अध्यात्म सुधा (भाग-३) (गुजराती)	१०००
७१ दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३५००	१०७ अध्यात्म सुधा (भाग-४) (गुजराती)	७५०
७२ कहान रत्न सरिता (भाग-१)	१०००	१०८ अध्यात्म सुधा (भाग-५) (गुजराती)	७५०
७३ कहान रत्न सरिता (भाग-२)	१०००	१०९ गुरु गिरा गौरव (भाग-१) (गुजराती)	
७४ कुटुम्ब प्रतिबंध (गुजराती)	१५००	(धारावाही प्रवचन)	१०००
७५ कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी)	२५००	११० गुरु गिरा गौरव (भाग-२) (गुजराती)	
७६ सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (गुजराती)	१५००	(धारावाही प्रवचन)	७५०
७७ सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी)	२०००	१११ मुक्तिनो मार्ग (गुजराती)	१०००
७८ गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३५००	११२ प्रवचन नवनीत (भाग-१) (हिन्दी)	१०००
७९ समयसार दोहन (गुजराती)	७५०	११३ प्रवचन नवनीत (भाग-२) (हिन्दी)	१०००
८० समकितनुं बीज (गुजराती)	१०००	११४ प्रवचन नवनीत (भाग-३) (हिन्दी)	१०००
८१ स्वरूपभावना (गुजराती)	१०००	११५ प्रवचन नवनीत (भाग-४) (हिन्दी)	१०००
८२ स्वरूपभावना (हिन्दी)	१०००	११६ धन्य आराधक (गुजराती)	७५०
८३ सुविधि दर्शन (गुजराती)	१०००	११७ छः ढाला प्रवचन (गुजराती) (भाग-१)	१०००
८४ सुविधिदर्शन (हिन्दी)	१९००	११८ छः ढाला प्रवचन (गुजराती) (भाग-२)	१०००
८५ आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	१२५०	११९ छः ढाला प्रवचन (गुजराती) (भाग-३)	१०००
८६ प्रवचन सुधा (भाग-१) (गुजराती)	१४००	१२० जिन प्रतिमा जीनि सारखी	५००
८७ प्रवचन सुधा (भाग-२) (गुजराती)	७५०	१२१ स्मरण संचिका	१५००
८८ प्रवचन सुधा (भाग-३) (गुजराती)	१०००	१२२ दंसण मूलो धम्मो	३५००
८९ प्रवचन सुधा (भाग-४) (गुजराती)	१०००	१२३ प्रवचन सुधा (भाग-१) हिन्दी	१०००
९० प्रवचन सुधा (भाग-५) (गुजराती)	१०००	१२४ प्रवचन सुधा (भाग-२) हिन्दी	१०००
९१ प्रवचन सुधा (भाग-६) (गुजराती)	१०००	१२५ प्रवचन सुधा (भाग-३) हिन्दी	१०००
९२ प्रवचन सुधा (भाग-७) (गुजराती)	७५०	१२६ प्रवचन सुधा (भाग-४) हिन्दी	१०००
९३ प्रवचन सुधा (भाग-८) (गुजराती)	७५०	१२७ प्रवचन सुधा (भाग-५) हिन्दी	१०००
९४ प्रवचन सुधा (भाग-९) (गुजराती)	७५०	१२८ प्रवचन सुधा (भाग-६) हिन्दी	१०००
९५ प्रवचन सुधा (भाग-१०) (गुजराती)	७५०	१२९ धन्य पुरुषार्थी (गुजराती)	१५००
९६ प्रवचन सुधा (भाग-११) (गुजराती)	७५०	१२८ धन्य पुरुषार्थी (हिन्दी)	६५००
९७ कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१ (गुज.)	१०००	१२९ छः ढाला प्रवचन (हिन्दी) (भाग-१)	१०००
९८ कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२ (गुज.)	१०००	१३० राज हृदय (भाग-४) (गुजराती)	५००
९९ द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-१) (गुजराती)	१०००	१३१ राज हृदय (भाग-५) (गुजराती)	५००
		१३२ राज हृदय (भाग-६) (गुजराती)	५००

૧૩૩ રાજ હૃદય (ભાગ-૭) (ગુજરાતી)	૧૫૦
૧૩૪ રાજ હૃદય (ભાગ-૮) (ગુજરાતી)	૧૫૦
૧૩૫ રાજ હૃદય (ભાગ-૯) (ગુજરાતી)	૧૫૦
૧૩૬ રાજ હૃદય (ભાગ-૧૦) (ગુજરાતી)	૧૫૦
૧૩૭ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૬) (ગુજરાતી)	૧૫૦
૧૩૮ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૭) (ગુજરાતી)	૧૫૦
૧૩૯ અનુભવપ્રકાશના કિરણો (ભાગ-૧) (ગુજ.)	૧૦૦
૧૪૦ છહઢાલા પ્રવચન ભાગ-૧	૪૫૦૦
૧૪૧ છહઢાલા પ્રવચન ભાગ-૨	૪૫૦૦

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

छहढाला प्रवचन

(भाग-२)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के

'छहढाला' ग्रन्थ पर के प्रवचन

(ढाल ४, ५ और ६)

प्रकाशक

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट / श्री सत्सुख
प्रभावक ट्रस्ट ५८०, जूनी माणेकवाडी,
भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) २४२३२०७ / २५१५००५

गुरु गौरव

श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन साहित्य केन्द्र,
पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ .

श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान जैन ट्रस्ट

विमलांचल, हरिनगर, अलीगढ .

फौन : (०५७१) २४१००१०/११/१२

श्री श्रीमजीभाई गंगर (मुंबई) : (०२२) २६१६१५९१

श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाटा) : (०३३) २४७५२६९७

प्रथमावृत्ति : प्रत : १०००

द्वितीय आवृत्ति : प्रत : ५००, असाढ़ वद १, (महावीर भगवानकी दिव्यध्वनि छूटनेका दिन।)

दि. १३-७-२०१४

पृष्ठ : ८ + ५७२ = ५८०

लागत मूल्य : २३५/-

विक्री मूल्य : २०/-

टाईप सेटिंग :

पूजा इम्प्रेसन्स

प्लोट नं.१९२४-बी,

६, शान्तिनाथ बंगलोझ,

शशीप्रभु मार्ग, रुपाणी सर्कल के पास

भावनगर-३६४००१

फोन : ९७२५२५११३१

मुद्रक :

भगवती ओफसेट

१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड,

बारडोलपुरा

अहमदाबाद

फोन : ९८२५३२६२०२

प्रकाशकिय

संसार परिभ्रमण में जन्म-मरण कर रहे ऐसे जीव निरंतर मानसिक एवं शारीरिक ताप से तप्तयमान हो रहे हैं। अनंतकाल बीता फिर भी जीव को इस दुःख से मुक्त होने का उपाय प्राप्त नहीं हुआ, अतएव अनिच्छासे भी दुःखी हो रहा है। सुख की वांछा में भटक रहे जीव निरंतर दुःख प्राप्ति के उपाय का ही सेवन कर रहा है। यह एक वास्तविकता है। जीव को दुःख उत्पन्न होने का कारण क्या है इसकी भी खबर नहीं है तो उसे मुक्त कैसे होना उसके उपाय की तो सूझ कहाँ से होगी ? ऐसी एक विकट परिस्थिति में जगत के सर्व जीव काल व्यतीत कर रहे हैं।

दुःख को ही सुख मानकर सेवन करता ऐसा यह जीव दुःख के उपाय को ही साधता है। सुख का वास्तविक स्वरूप क्या ? दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या ? सुख कैसे प्रगट हो ? इत्यादि विषय से अनभिज्ञ, इस विषय की अंधकारमय परिस्थिति में कोई महाभाग्य से, महापुण्योदय से, किसी मंगल घडी में, दुःख से मुक्त कैसे होना और शाश्वत सुख कैसे प्राप्त करना उस पर प्रकाश डालने, उस उपाय को जगत समक्ष दर्शाने एक दिव्य आत्मा का आगमन इस भरतक्षेत्र में हुआ। जैसे सूर्यप्रकाश होने पर अंधकार रहता नहीं, वैसे वह दिव्य दैदीप्यमान, जाज्वल्यमान, अंतर-बाह्य पवित्रता के पूंज स्वरूप, अनेकानेक दिव्यगुणों से विभूषित आत्मा के आगमन से सुख कैसे प्रगट हो उसका उपाय दर्शाकर दुःखी जीवों की दरिद्रता को मिटाकर, शाश्वत सुख संपत्ति प्रदान की। ऐसे हम सबके तारणहार, जगत उद्धारक, मोक्षमार्ग शिरोमणी, पुरुषार्थ के धनी, सुख-संपत्ति दातार, इस काल का अचम्भा ऐसे पूज्य गुरुदेवश्री के चरणों में अत्यंत विनम्रभाव से वंदन हो।

पूज्य गुरुदेवश्री के ज्ञान-ध्यानमय जीवन का एक मुख्यभाग है - प्रवचन। पूज्य गुरुदेवश्री ने वस्तुस्वरूप स्पष्ट करके तत्संबंधित सुख-दुःख की विकट समस्या का उपाय दर्शाया। आपश्री के प्रवचनों का श्रवण करना, वांचन करना यह जीवन की अचिंत्य और सुमंगल घडी है। इन प्रवचनों का प्रकाशन होना, घर-घर में जीनवाणी का स्वाध्याय हो, मूल मोक्षमार्ग शाश्वत अखण्डरूप से विद्यमान रहे इस हेतु से पूज्य गुरुदेवश्री के सभी प्रवचन शब्दशः प्रकाशित हो, ऐसी प्रत्यक्ष बोधस्वरूप, पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनमर्म प्रकाशक, करुणासागर पूज्य भाईश्री शशीभाई की मंगल, पवित्र, लोकोत्तर

भावना के फल स्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ 'छहढाला प्रवचन' (भाग-१ और २) प्रकाशित करते हुए वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर गौरवान्वित हो रहा है।

'छहढाला प्रवचन' (भाग - १ और २में) प्रत्येक भाग में तीन ढाल पर के प्रवचनों का समावेश किया गया है। साथ ही ग्रन्थकर्ता श्री दौलतरामजी द्वारा रचित गाथाओं एवं उसकी हिन्दी टीका भी दी गई है। कविवर श्री दौलतरामजी का संक्षिप्त जीवन परिचय अन्यत्र दिया गया है, जिसे वहाँ से पढ़ने की पाठकवर्ग को विनंती है। प्रथम ढाल में ग्रन्थकर्ता कविवर श्री दौलतरामजी ने संसार परिभ्रमण का स्वरूप, चार गति में जीव ने कैसे-कैसे दुःख सहन किये उसका वर्णन किया है। तत्पश्चात् दूसरी ढाल में संसार परिभ्रमण का कारण, सात तत्त्व की विपरीत श्रद्धा, उसके नाश का उपाय इत्यादि विषय का सरल एवं स्पष्ट भाषा में वर्णन किया है। पूज्य गुरुदेशी प्रवचनों में अनेकबार फरमाते थे कि, यह तो गागर में सागर भर दिया है।

जैन सम्प्रदाय में छहढाला की कृति लोकप्रिय है। बहुत से जैनी इस कृति को मुखपाठ करते हैं, परन्तु परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी फरमाते हैं कि, 'शास्त्र में मार्ग कहा है परन्तु मर्म तो ज्ञानी के हृदय में रहा है।' तदनुसार पूज्य गुरुदेशी ने कविवर के हृदय में रहे भावों को स्पष्ट कर मोक्षमार्ग का उद्योत करके महान अविस्मरणीय उपकार किया है। पूज्य गुरुदेशी के प्रवचन यह मात्र कोई वचनश्रृंखला नहीं है अपितु उसमें निहित मोक्षमार्ग को यदि जीव हृदयगत करे तो आत्मकल्याण हो जाये ऐसा प्रबल निमित्तत्व इसमें रहा है। इसलिए प्रस्तुत प्रवचन जीव के कल्याणार्थ हैं, इस उद्देश्य से उसका वांचन, स्वाध्याय अवधारण आदि किया जाये ऐसी भावना है।

मूल कृति छहढाला सचित्र होने से प्रस्तुत प्रवचनों में जहाँ - जहाँ पूज्य गुरुदेशीने चित्रों को देखकर उसका उल्लेख किया है वहाँ-वहाँ उस चित्र को दिया गया है। तदुपरांत पूज्य गुरुदेशी ने जहाँ जिस प्रकार के दृष्टान्त दिये हैं उसके भी कुछएक चित्र दिये गये हैं। पूज्य गुरुदेशी के प्रवचनों का भाव एवं भाषाप्रवाह यथावत् बना रहे उसका यत्किंचित् प्रयत्न किया गया है। कोई-कोई जगह में श्रोतागणमें से कोई बात की गई हो या पूछने में आयी हो वह स्पष्ट सुनने में नहीं आयी है वहाँ डोट-डोट करके जगह छोड़ दी गई है। जहाँ जरूरत लगी वहाँ वाक्यरचना पूर्ण करने हेतु कोष्ठक भरे गये हैं। व्यक्तिगत नाम का सम्बोधन कहीं भी लिया नहीं गया है। प्रत्येक भाग में दो ढाल के प्रवचन लिये गये हैं।

प्रस्तुत प्रवचनों को फिर से एकबार सुनकर जाँच लिये गये हैं, ताकि कोई क्षति रह न जाये।

जीनवाणी प्रकाशन का कार्य अति गम्भीर कार्य है ऐसी जागृतिपूर्वक बारीकी से जाँच कर प्रकाशन करने का प्रयत्न किया है, फिर भी कहीं अजागृतिवश या अगम्भीरतावश कोई क्षति या भूल रह गई हो तो जीनवाणी माता की हृदयपूर्वक क्षमायाचना करते हैं। तथा पाठकवर्ग से भी विनंती है की यदि कोई क्षति ध्यान पर आये तो उसे अवश्य बताए।

प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशन के प्रसंग पर कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी, प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबहन, पुरुषार्थ मूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी को स्मरण में लेकर उनके चरणों में वंदन करते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के अपूर्व प्रवचन प्रकाशित हो ऐसी जिनकी मंगलभावना है, ऐसे सौम्यमूर्ति, निष्कारण करुणाशील, ज्ञानीपुरुषों के हृदय प्रकाशक पूज्य भाईश्री शशीभाई के उपकार को हृदयगत कर उनके चरणों में वंदन करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की प्रवचन गंगा में स्नानकर मिथ्यात्वरूपी मलिनता को धोकर, निर्मल पवित्र परिणति अंगीकार करें, ऐसी भावना के साथ विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

पण्डित दौलतराम - संक्षिप्त जीवनवृत्त

प्रस्तुत कृति 'छहढाला' के रचनाकार पण्डित दौलतराम का जन्म विक्रम संवत् १८५५ (सन् १७९८ ईसवी) में, अलीगढ़-हाथरस के मध्य स्थित 'सासनी' ग्राम में हुआ था। आपके पिताश्री का नाम 'टोडरमल' था। आप पल्लीवाल जाति के नररत्न थे एवं आपका गोत्र 'गंगोरीवाल' अथवा 'गंगटीवाल' था। कविवर के पिता, अपने छोटे भाईश्री चुन्नीलाल के साथ हाथरस में कपड़े का व्यापार करते थे।

कविवर दौलतराम की शिक्षा एवं शिक्षा गुरु के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है, पर इतना निश्चित है कि ये संस्कृत / प्राकृत भाषाओं के मर्मज्ञ मनीषी थे। आपके द्वारा रचित ग्रन्थों में उपलब्ध जिन-सिद्धान्तों की गम्भीरता, इस बात का ज्वलन्त प्रतीक है।

आपका विवाह सेठ चिन्तामणि जैन, छिपैटी, अलीगढ़ की सुपुत्री से हुआ था। आपके बड़े पुत्र टीका राम का जन्म विक्रम सम्वत् १८८३ और छोटे पुत्र का जन्म विक्रम सम्वत् १८८६ में हुआ था। आपके बड़े पुत्र लश्कर में रहते थे। आपके छोटे पुत्र के सन्दर्भ में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है।

कविवर दौलतराम, हाथरस में अपने पिता और चाचा के साथ कपड़े के व्यापार में सहयोग करते थे परन्तु स्वाध्यायप्रेमी होने के कारण यदा-कदा समय निकालकर शास्त्रों के अध्ययन-मनन में लीन हो जाया करते थे। एक बार की बात है कि वे हाथरस के जिनमन्दिर में गोम्मटसार का स्वाध्याय कर रहे थे। उसी समय मथुरा के प्रसिद्ध सेठ मणिरामजी जिनदर्शन हेतु वहाँ पधारे। वे उनके स्वाध्याय से अत्यधिक प्रभावित हुए और उनसे हाथरस छोड़कर मथुरा चलने का आग्रह करने लगे। पण्डित दौलतराम उनके साथ मथुरा चले गये और कुछ समय वहाँ बड़े आनन्द से रहे भी, परन्तु सम्भवतया सेठजी के वैभव की चकाचौंध में उनका मन नहीं लगा; अतः वे वहाँ से वापस अपने घर आ गये।

घर आने के बाद उन्होंने पुनः आजीविका के सम्बन्ध में सोचा और अलीगढ़ जाकर छींट छापने का कार्य करने लगे। प्रतीत होता है कि वे आजीविका की ओर से निश्चिन्त नहीं थे और उनकी आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं थी, अतएव उन्हें अपने जीवन में बार-बार इधर से उधर होना पड़ रहा था, किन्तु साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि उनकी अद्यात्मरुचि अत्यन्त प्रबल थी; अतः वे इन उदयाधीन परिस्थितियों से विशेष आकुलित भी नहीं होते थे। कहा जाता है कि जिस समय वे छींट छापने का कार्य

करते थे, उस समय अपने समीप एक चौकी पर कोई प्राकृत या संस्कृत भाषा का शास्त्र विराजमान कर लेते थे और छींट छापते हुए उसकी गाथाएँ या श्लोक भी याद करते जाते थे। उनकी स्मरणशक्ति एवं रुचि इतनी प्रबल थी कि वे एक दिन में साठ-सत्तर गाथाएँ या श्लोक कण्ठस्थ कर लेते थे।

कविवर दौलतराम के जीवन का यह प्रसंग आत्महित के अभिलाषियों द्वारा बारम्बार विचार करने योग्य है क्योंकि इससे व्यर्थ के आर्तध्यान आदि विकारों से बचकर अधिक से अधिक समय तत्त्वाभ्यास करने की मंगल प्रेरणा प्राप्त होती है।

अलीगढ़ के बाद कविवर दौलतराम, दिल्ली आकर रहने लगे। दिल्ली में उन्हें विशिष्ट स्वाध्यायी एवं अद्यात्मरुचिसम्पन्न साधर्मियों का ऐसा सुन्दर समागम मिला कि वे सभी चिन्ताएँ भूल गये और फिर वहाँ से अन्यत्र कहीं नहीं गये; जीवन के अन्तिम समय तक वहीं रहे। आपने विक्रम सम्वत् १९०१ में माघ कृष्णा चतुर्दशी को दिल्ली के अनेक साधर्मि बन्धुओं के साथ तीर्थराज सम्मेदशिखर की यात्रा भी की थी।

कविवर पण्डित दौलतराम ने लगभग ६८ वर्ष की उम्र में, मार्गशीर्ष कृष्णा अमावस्या, विक्रम सम्वत् १९२३ को (०७ दिसम्बर १८६६, शुक्रवार) मध्याह्न में समाधिपूर्वक शरीर त्याग दिया। यह भी कहा जाता है कि उन्हें अपनी मृत्यु का छह दिन पूर्व ही आभास हो गया था और उन्होंने सबसे क्षमायाचना करके समाधिभाव धारण कर लिया था।

(मंगलायतन द्वारा प्रकाशित 'छहढाला', पुस्तकमें से साभार उद्धृत)

विषयानुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	दिनांक	गाथा	पृष्ठ नंबर
चौथी ढाल			
२३	११-०२-१९६६	१, २	००१
२४	१२-०२-१९६६	३, ४	०२१
२५	१३-०२-१९६६	४, ५	०४१
२६	१५-०२-१९६६	५, ६	०६०
२७	१६-०२-१९६६	७, ८	०८०

२८	१७-०२-१९६६	८	१०१
२९	१८-०२-१९६६	९	११९
३०	१९-०२-१९६६	९	१३९
३१	२०-०२-१९६६	९	१५८
३६	२५-०२-१९६६	९ से ११	१७५
३७	२६-०२-१९६६	११ से १४	१९७
३८	२७-०२-१९६६	१५	२२१
पाँचवीं ढाल			
३९	०१-०३-१९६६	१, २, ३	२४५
४०	०२-०३-१९६६	३, ४, ५	२६४
४१	०३-०३-१९६६	५, ६, ७	२८५
४२	०४-०३-१९६६	८, ९, १०	३०४
४३	०५-०३-१९६६	१०, ११	३२५
४४	०६-०३-१९६६	११, १२, १३	३४५
४५	०७-०३-१९६६	१३	३६५
४६	०९-०२-१९६६	१४, १५	३८३
छठवीं ढाल			
४७	१०-०३-१९६६	१ से ४	४०५
४८	११-०३-१९६६	५, ६, ७	४३०
४९	२१-०३-१९६६	८	४५६
५०	२२-०३-१९६६	८, ९	४७२
५१	२३-०३-१९६६	९	४८९
५२	२४-०३-१९६६	१०	५०५
५३	१२-०३-१९६६	११, १२, १३	५२२
५४	१३-०३-१९६६	१३, १४	५४३

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ६, शुक्रवार
दि.११-२-१९६६, गाथा १, २, प्रवचन नं.-२३

चौथी ढाल

‘दौलतरामजी’ कृत ‘छहढाला’ है। चौथी ढाल चलती है। ‘सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अंतर।’ पहले क्या कहा ? प्रथम में प्रथम तो सम्यग्दर्शन प्रकट करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान होता नहीं और सम्यग्ज्ञान बिना व्रत, तप, चारित्रि सच्चा होता ही नहीं, झूठा होता है।

मुमुक्षु :- झूठा तो झूठा है तो सही न ?

उत्तर :- झूठा है। झूठे में आत्मा को क्या लाभ है ? वह तो कहा सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान, चारित्रि मिथ्या है, वह तो पहले कहा। वह श्लोक आ गया न ? कहाँ आया था ? अंतिम आया न ?

**मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।**

यह सादी हिन्दी भाषा में है। ‘दौलतरामजी’ बड़े पंडित हो गये हैं। कहते हैं कि, जिसे मोक्ष चाहिए, उसकी बात है। जिसे संसार चाहिए, पुण्य-पाप का बंध और पुण्य-पाप का फल (चाहिए तो) वह बात तो हमारे पास नहीं है। वह बात तो अनादि काल से करते आये हैं। पुण्य-पाप करते हैं और पुण्य-पाप का फल चार गति में भोगते हैं। वह तो अनादि काल की बात है। वह कोई नवीन, अपूर्व बात नहीं। जिसे आत्मा की परमानंद अवस्था ऐसे मोक्ष की अभिलाषा है, ऐसे मोक्षमहल की प्रथम सीढी सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन बिना सब ज्ञान, व्रत, तप, चारित्रि आदि करे, वह सब मिथ्या है, सच्चा हीं है, उससे आत्मा का कोई कल्याण नहीं है।

कहा कि, 'या बिन ज्ञान चरित्रा; सम्यक्ता न लहैं।' है न ? सम्यक् आत्मा का भान एक सैकेन्ड के असंख्य भाग में आत्मा निर्विकल्प आनंदकंद शुद्ध है। वह अपने से, कोई दूसरे से प्राप्ति होती नहीं। शास्त्र से प्राप्ति नहीं होती, गुरु से प्राप्ति नहीं होती, तीर्थकर से प्राप्ति नहीं होती, ऐसी चीज़ है। अपना निज स्वरूप... वह तो पहले तीसरी ढाल में कहा न ? आत्मा पर का तो लक्ष्य छोड़ दे लेकिन अपने में जो पुण्य-पाप का भाव होता है, शुभ-अशुभ, दया, दान, काम, क्रोध (के) शुभाशुभभाव की भी रुचि, लक्ष्य छोड़ दे और अपना आत्मा अनंत गुणस्वरूप और मैं गुणी और अनंतगुण मेरे में हैं - ऐसा भेद का विकल्प भी छोड़ दे। समझ में आया ?

भगवान आत्मा ! भाई ! यह अपूर्व बात है। अनंत काल में उसने किया नहीं। कभी सुनी नहीं और कभी किया नहीं, परिचय किया नहीं, आदर किया नहीं, अभ्यास किया नहीं, अनुभव तो किया (है ही) नहीं। ऐसा भगवान आत्मा अपना निज आत्मा। पहले कहा था न ? समझे ? दोपहर में 'परमात्मप्रकाश' में भी आया था। निज शुद्धात्मा। अनंत अनंत शांतरस से भरा आत्मा, उसको गुण और गुणी (अर्थात्) मैं आत्मा गुणी हूँ-गुण का धरनेवाला (हूँ) और ज्ञान, दर्शन, आनंद मेरे में गुण हैं - ऐसा भेद का विकल्प भी जहाँ काम नहीं करता। ऐसा भेद का विकल्प है, वह भी राग है तो दूसरे तो उसमें कहाँ काम आते हैं ? समझ में आया ?

कहते हैं कि, ऐसे आत्मा में प्रथम में प्रथम मोक्ष की पहली सीढ़ी, अंतर्मुख आत्मा में सम्यग्रदर्शन प्रकट करके बाद में सम्यग्ज्ञान का आराधन करना। ऐसा यहाँ 'दौलतरामजी' 'छहढाला' में प्रथम सम्यग्दर्शन की बात, करके सम्यग्ज्ञान की बात करते हैं। यह तो सादी भाषा है।

मुमुक्षु:- ...

उत्तर :- आये न आये, उसका कुछ नहीं। २२ दिन (गुजराती में) चला अब थोड़ा यह भी चले न ? उन्होंने हिन्दी में कहा था, भाई ने तो पूरा हिन्दी में (लेने का) कहा था। अब थोड़ा चलने दो, कैसा चलता है, देखो तो सही। समझ में आता है ?

मुमुक्षु :- जब सूक्ष्म बात आयेगी तो बदलेंगे।

उत्तर :- वह कैसे मालूम पडे कैसा होगा ?

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अन्तर

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ,
लक्षण श्रद्धा जान, दुहूमें भेद अबाधौ।
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई;
युगपत् होते हू, प्रकाश दीपकतैं होई॥२॥

अन्वयार्थ :- (सम्यक् साथै) सम्यग्दर्शन के साथ (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (होय) होता है (पै) तथापि (उन दोनोंको) (भिन्न भिन्न) (अराधौ) समझना चाहिए; क्योंकि (लक्षण) उन दोनों के लक्षण (क्रमशः) (श्रद्धा) श्रद्धा करना और (जान) जानना है तथा (सम्यक्) सम्यग्दर्शन (कारण) कारण है और (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान (कारज) कार्य है। (सोई) यह भी (दुहूमें) दोनों में (भेद) अन्तर (अबाधौ) निर्बाध है। (जिस प्रकार) (युगपत्) एकसाथ (होते हू) होने पर भी (प्रकाश) उजाला (दीपकतैं) दीपक की ज्योति से (होई) होता है उसी प्रकार।

भावार्थ :- सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यद्यपि एकसाथ प्रकट होते हैं तथापि वे दोनों भिन्न-भिन्न गुणों की पर्यायें हैं। सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय है और सम्यग्ज्ञान ज्ञानगुण की शुद्धपर्याय है। पुनश्च, सम्यग्दर्शन का लक्षण विपरीत अभिप्राय रहित तत्त्वार्थश्रद्धा है और सम्यग्ज्ञान का लक्षण संशय* आदि दोष रहित स्व-पर का यथार्थतया निर्णय है - इस प्रकार दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

तथा सम्यग्दर्शन निमित्तकारण है और सम्यग्ज्ञान नैमित्तिक कार्य है - इस प्रकार उन

* संशय, विमोह, (विभ्रम-विपर्यय) अनिर्धार।

दोनों में कारण-कार्यभाव से भी अन्तर है।

प्रश्न :- ज्ञान-श्रद्धान तो युगपत् (एकसाथ) होते हैं, तो उनमें कारणकार्यपना क्यों कहते हो ?

उत्तर :- 'वह हो तो वह होता है' - इस अपेक्षा से कारण-कार्यपना कहा है। जिसप्रकार दीपक और प्रकाश दोनों युगपत् होते हैं तथापि दीपक हो तो प्रकाश होता है इसलिये दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। उसी प्रकार ज्ञान-श्रद्धान भी हैं। (मोक्षमार्गप्रकाशक (देहली) पृष्ठ १२६)

जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तक का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता - ऐसा होने से सम्यग्दर्शन वह सम्यग्ज्ञान का कारण है।X

यहाँ तो कहते हैं कि, 'सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अंतर।' पहले में पहले सम्यग्दर्शन। अपने स्वभाव में अनुभव में प्रतीत करनी वह पहली सीढ़ी, धर्मकी पहली रुचि, वह पहली शुरुआत होती है, वहाँ से धर्म की शुरुआत होती है। बाद में सम्यग्ज्ञान का अंतर आराधन करना, ऐसा 'अमृतचंद्राचार्य' भी 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' में कहते हैं। नीचे श्लोक दिया है।

X पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बौधस्य।

लक्षणभेदेन यतो, नानात्वं संभवत्यनयोः॥३२॥

सम्यग्ज्ञानं कार्यं समकितं कारणं वदन्ति जिनाः।

ज्ञानाराधनमिष्टं समवकितानन्तरं तस्मात्॥३३॥

कारणकार्यविविधानं, समकालं जायमानयोरपि हि।

दीपप्रकाशयोरपि, समवकितज्ञानयोः सुघटम्॥३४॥

(श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव रचित पुरुषार्थसिद्धि उपाय)

सडुडु सलथै ऑलन हुडु, डै डुडुन अरलधु,
लकुषण शुरडुडल ऑलन, दुहुडुडु डुडु अडलधु।
सडुडु कलरण ऑलन, ऑलन कलरऑ है सुडुई;
डुगडुतु हुते हु, डुरकलश डुडुडुकतुडु हुडुई॥२॥

‘सडुडु सलथै ऑलन हुडु, डै डुडुन अरलधु;...’ है ? दुूसरल शलुक है। कलसुी डुडु डुडुलल ललखल है, कलसुी डुडु दुूसरल है। कुडुल कलहुते हैं ? डुखु ! शडुडुलरुथु। ‘सडुडुडुडुन कुसलथ सडुडुऑलन हुतल है।’ ऑलन आगु-डुडुखु हुतल नहुी। आतुडुल, अडुनल शुडुडु डुरडुनलनुडुडुतुडु आतुडुल, उसकल अनुतर डुन, डुडुलु सडुडुडु हुआ उसकु सलथ हुी उसकुी सडुडुऑलन कुी कलरण सलथ हुी हुतुी है, डुरकडु हुतुी है। सडुडुडु डुडु आडुल ? उसकु सलथ ऑलरलतुर नहुी हुतल। सुवरुडुलऑरण हुतल है, लुकलन ऑलरलतुर ऑल सुडुडुडु आडुल है, वल आगु डुडुकलर डुहुत डुरुषलरुथु कलरते है, डुलडु डुडु डुडुते हैं। डुडुलु सडुडुडुडुन कु सलथ तु सडुडुऑलन तु हुतल हुी है।

‘तथलडुडु (उन दुुनुु कुु) डुडुन डुडुन सडुडुऑलन ऑलललु;...’ डुखु ! डुगवलन आतुडुल, उसकल ऑलन कलरकु डुरतुीत (कलरनुी), ऑललु सलडुनलनुडु ऑलन कुी डुलत ऑलतुी हु तु डुडुलु ऑलन आतल है और सडुडुडुडुन-ऑलन कुी डुलत ऑलतुी है तु डुडुलु सडुडुडुडुन हुतल है। सडुडुडु डुडु आडुल ? अडुनल डुडु सडुडुडुडुन हुआ तु डुलडु डुडु ऑलन कल आरलधुन कलरु कुडुललु कल ‘उन दुुनुु कुु लकुषण...’ शुरडुडुल कलरनल और ऑलननल-डुडु दुु लकुषण डुडुनल हैं। अडुनल नलऑ सुवरुडु (उसकुी) शुडुडु शुरडुडुल-डुरतुीत कलरनुी, वल शुरडुडुल लकुषणवलल सडुडुडुडुन है। ऑलन कलरनल वल ऑलनडुनल लकुषणवलल है। दुुनुु कुु लकुषण डुडुनल हैं। सडुडुडु डुडु आडुल ? कुडुललु कल दुु गुण कुी दुु डुरलडुडुल हैं। सडुडुडुडुन शुरडुडुलगुण कुी डुरलडुडुल है और सडुडुऑलन ऑलनगुण कुी नलरुडुल डुरलडुडुल है, दुु डुरलडुडुल डुडुनल हैं। दुु गुण डुडुनल हैं तु दुु डुरलडुडुल डुडुनल हैं। ‘उन दुुनुु कुु लकुषण शुरडुडुल कलरनल और ऑलननल है...’ ऑलननल कलसकल ? नलऑ सुवरुडुल कल। उसडुडु वलशुष ऑलन कल अडुडुलस ऑललुगल।

‘तथल सडुडुडुडुन कलरण है और सडुडुऑलन कलरुडु है।’ ऑल सडुडुडुडुन डुरगडु हु तु सडुडुडुडुन कलरण है और अडुनल सडुडुऑलन कलरुडु है। एक सडुडु डुडु सलथ डुडु उतुडुन हुतल है,

फिर भी उनमें कारण-कार्य का एक समय में भी भेद कहने में आता है। समझ में आया ? आहा..हा... ! 'सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है।' उसका अर्थ - अपना निजानंद प्रभु, उसकी अंतर में अनुभव में प्रतीत नहीं हुई तो उसे ज्ञान होता नहीं। प्रतीत आयी तो बाद में साथ में ज्ञान उत्पन्न हुआ उसे कार्य कहने में आता है। किसका कार्य ? सम्यग्दर्शन का कार्य। आत्मा का कार्य नहीं ? ऐ..ई.. ! क्या कहते हैं समझ में आया ?

आत्मा... है तो सम्यग्दर्शन एक कार्य और सम्यग्ज्ञान भी कार्य है। किसका (कार्य है) ? आत्मा का। आत्मा से देह, वाणी, मन, जड़ भिन्न, कर्म भिन्न, जुदा, पुण्य-पाप का भाव होता है, वह भी विकार भिन्न है। भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञानानंद की प्रतीत (हुई), वह है तो आत्मा का कार्य, पर्याय है इसलिए। और साथ में सम्यग्ज्ञान हुआ निज का बोध हुआ कि, आत्मा अनंत गुणमय है, शुद्ध है, निर्मल है... समझ में आया ? यह ज्ञान, है तो आत्मा का वर्तमान कार्य लेकिन दो पर्याय के बीच में सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। सम्यग्दर्शन पर्याय है। समझ में आया ? यह सूक्ष्म नहीं आया ?

आत्मा... अरे.. ! आत्मा क्या चीज़ है ? उसकी खबर नहीं। अनंत काल में उसने उसको जाने बिना सब किया। कोटि जन्म तप किया, भक्ति की, पूजा की, दान-दया अनंत बार किये, उसमें कुछ आत्मा का लाभ हुआ नहीं। पुण्यबंध हो जाये, स्वर्गादि मिल जाये (और) चार गति में भटके।

मुमुक्षु :- पूजा करे और चार गति में भटके ?

उत्तर :- शुभभाव है न ? पुण्यबंध होता है। आत्मदर्शन, आत्मज्ञान बिना उसे मात्र पुण्यबंध होता है। मिथ्यादृष्टि तो साथ में है, सम्यग्दर्शन तो है ही नहीं। समझ में आया ? बात तो ऐसी है, भैया ! सूक्ष्म है। पहले आ गया न ? आगे थोडा आयेगा। कोटि जन्म तप तपे तो भी आत्म का लाभ होता नहीं सम्यग्दर्शन बिना आत्मा क्या चीज़ है, उसके अनुभव बिना, किसमें स्थिर होना ? उस चीज़ का पता लगे बिना चारत्रि आया कहाँ से ? समझ में आया ? बाहर की क्रिया तो शुभविकल्प है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव तो शुभराग है, पुण्य है, लेकिन आत्मदर्शन नहीं है तो पुण्य का फल क्या ? मिथ्यात्वसहित पुण्य का फल स्वर्ग आदि

मिलेंगे। जन्म-मरण का नाश तीनकाल तीनलोक में नहीं होगा - ऐसा कहते हैं। ये क्या कहते हैं ? 'दौलतरामजी' कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- मंद मिथ्यात्व होता है न ?

उत्तर :- मंद मिथ्यात्व होता है, उसका अर्थ क्या ? अभाव नहीं होता। मंद-तीव्र तो कर्म है, अनादि की चीज़ है, अनादि की चाल है। दिगम्बर जैन साधु होकर नौवे ग्रैवेयक अनंत बार गया, मिथ्यादृष्टि, हाँ ! मंद मिथ्यात्व था, अनंतानुबंधी कषाय भी मंद थी, नहीं तो उपर (के स्वर्ग में) जाये नहीं। (अनंतानुबंधी का) अभाव नहीं (हुआ था)। आत्मा के दर्शन बिना मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी का अभाव नहीं होता। बहुत (सूक्ष्म) बात (है)। समझ में आया ?

वह कहते हैं, ज्ञान, अपने शुद्धस्वरूप की प्रतीत, भान, दर्शन हुआ तो वह आत्मा का ही कार्य है, लेकिन सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान होता है, उन दोनों के बीच सम्यग्दर्शन कारण (है) और सम्यग्ज्ञान कार्य (है)। समझ में आया ? अंतर की चीज़ बिना बाह्य से आत्मा में कुछ लाभ होता नहीं। यह कहते हैं - 'सम्यग्ज्ञान कार्य है। यह भी दोनों में अन्तर निर्बाध है।' अंतर दो प्रकार का कहा। कौन-से दो प्रकार ? एक तो सम्यग्दर्शन लक्षण श्रद्धा है, सम्यग्ज्ञान का लक्षण जानना है - ये दो भेद हुए। और दूसरा सम्यग्दर्शन कारण है, सम्यग्ज्ञान कार्य है - ये दूसरा भेद हुआ। समझ में आया ? आहा.. ! 'अन्तर निर्बाध है।' दोनों में अंतर निर्बाध है, दोनों में निश्चित ही अंतर है। समझ में आया ? निर्बाध है या नहीं ?

'(जिसप्रकार) (युगपत्) एकसाथ होने पर भी,..' दृष्टान्त देते हैं। वह 'अमृतचंद्राचार्यदेव' का दृष्टान्त है। ९०० वर्ष पहले दिगम्बर संत 'अमृतचंद्राचार्यदेव' हुए। इस और टीका है। उसमें है, श्लोक है, ३२-३३-३४ श्लोक है। नीचे संस्कृत है, वह 'अमृतचंद्राचार्यदेव' का है, 'पुरुषार्थसिद्धियुपाय'। 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज के शास्त्र की जो टीका बनाई है (वे) 'अमृतचंद्राचार्यदेव' दिगम्बर संत वनवासी जंगलवासी थे, उनके 'पुरुषार्थसिद्धियुपाय' में वह श्लोक है। पहले (सम्यक्) दर्शन का आराधन होने के बाद सम्यग्ज्ञान का आराधन करना। समझ में आया ? उसमें कारण-कार्य का दृष्टान्त है। देखो !

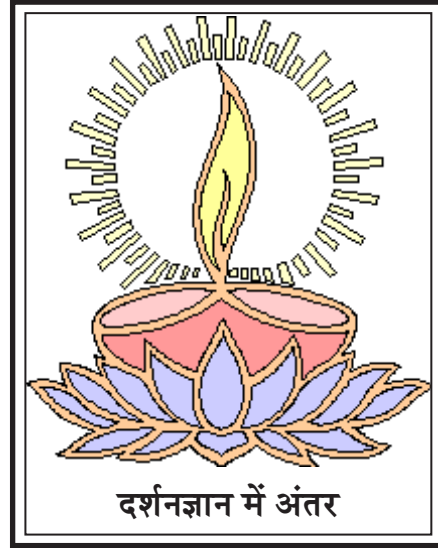
३४ (गाथा में) है।

कारणकार्यविविधानं, समकालं जायमानयोरपि हि।

दीपप्रकाशयोरपि, समवकितज्ञानयोः सुघटम्॥३४॥

३४ (गाथा में) है। 'प्रकाश दीपक की ज्योति से होता है उसी प्रकार...' देखो ! दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। है साथ में। दीपक और प्रकाश है साथ में लेकिन दीपक कारण है, उजाला-प्रकाश कार्य है। एकसाथ में दोनों कारण-कार्य रहते हैं। समझ में आया ? पूर्व की पर्याय को कारण कहते हैं, पीछे की पर्याय को कार्य कहते हैं। ऐसा भी है और वर्तमान भी दर्शन कारण, सम्यग्ज्ञान कार्य - ऐसा युगपद् कारण-कार्य भी है। वीतराग की शैली समझनी चाहिए। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ... प्रकाश को कारण और दीपक को कार्य कहाँ...



उत्तर :- नहीं, नहीं, नहीं। प्रकाश कारण और दीपक कार्य, ऐसा नहीं। साथ में है फिर भी दीपक मुख्य वस्तु है। (दीपक) हो तो (प्रकाश) होता है। दीपक हो तो प्रकाश होता है। प्रकाश हो तो दीपक है, ऐसा नहीं। दीपक है तो प्रकाश है। आगे लेंगे। समझ में आया ? दीपक बिना प्रकाश कैसा ? प्रकाश है, दीपक नहीं ! साथ में है फिर भी दीपक है तो प्रकाश है, ऐसा है। कारणपना दीपक में है। समझ में आया ?

ऐसे विशिष्ट कारणपना सम्यग्दर्शन में है। विशिष्ट कारण-सम्यग्दर्शन अखंड पूर्णानंद प्रभु की अंतर में विकल्प रहित श्रद्धा होना वह दर्शन है तो ज्ञान कार्य कहने में आता है। आहा..हा... ! युगपद् साथ में होने परभी, कारण-कार्य साथ में भी होता है। समझ में आया ? एकान्ती अज्ञानी तो कारण-कार्य साथ में मानता नहीं, एकान्त मानता है (कि), साथ में नहीं, आगे-पीछे होता है। आगे-पीछे एकान्त मानना और साथ में नहीं मानना, एकान्त साथ में

मानना और आगे-पीछे नहीं मानना। पूर्व की पर्याय कारण और उत्तर पर्याय कार्य – ऐसा भी शास्त्र में (आता) है। समझ में आया ?

ज्ञान के तीन भेद-दोष है न ? कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास, स्वरूपविपर्यास। ये तीन दोष अज्ञान में है। अज्ञानी जानता तो है कि, आत्मा है, लेकिन उसके कारण में विपर्यास होता है कि, आत्मा का कर्ता कोई ईश्वर है या सर्वव्यापक कोई ब्रह्म है। समझ में आया ? ऐसा माननेवाला कारणविपर्यास में मिथ्यादृष्टि है, वह आत्मा को मानता नहीं। समझ में आया ? आत्मा को माने लेकिन आत्मा का कारण ऐसा माने कि, कोई ईश्वर (कारण है) या सर्वव्यापक ब्रह्म है – ऐसा माननेवाला कारणविपर्यास मिथ्यादृष्टि है। उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। समझ में आया ?

भेदाभेद विपर्यास आता है। जगत में कोई ब्रह्म है, उसके साथ आत्मा अभेद है- ऐसा मानना, वह मिथ्यात्व है। समझ में आया ? आत्मा में सर्वथा गुण-गुणी भेद है – सर्वथा भेद है – ऐसा मानना भी मिथ्याज्ञान है। ज्ञान के बहुत भेद है, लेकिन जिसे समझने की जरूरत लगी हो, उसकी बात है कि नहीं ? समझ में आया ? अनादिकाल से मिथ्याज्ञान में भी भूल है। समझ में आया ?

‘टोडरमलजी’ ने ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में कहा है कि, मिथ्यादर्शन है तो मिथ्याज्ञान है। दर्शन के कारण ही मिथ्याज्ञान हुआ, उसमें ज्ञान में क्या दोष आया ? समझ में आया ? तो कहा कि, ज्ञान, अपना प्रयोजन सिद्ध करना है उसका तो ज्ञान करता नहीं और वह ज्ञान अप्रयोजनभूत बात का ज्ञान करता है। अपना प्रयोजन सिद्ध होता है ऐसा ज्ञान, आत्मा का (और) जड़ का भेदज्ञान तो करता नहीं और वह ज्ञान अप्रयोजनभूत सब बात (जानता है)। कथा-वार्ता, शास्त्र की बात का ज्ञान कर ले, अप्रयोजन को जाने और प्रयोजन को नहीं जाने, वही ज्ञान का दोष है। समझ में आया ? वास्तविक आत्मा और जड़ से भिन्न क्या चीज़ है ? उसको तो ज्ञान जाने नहीं और ज्ञान दूसरी बात बहुत जाने। वार्ता, कथा, शास्त्र, जगत के अनेक प्रकार (जाने)। वह तो अप्रयोजनभूत है, उसमें कोई आत्मा की सिद्धि है नहीं। समझ में आया ? वह कहते हैं, देखो ! सम्यग्ज्ञान भिन्न है। उसका विपर्यास-विपरीत कारण रहित,

भेदाभेद रहित, स्वरूप विपर्यास रहित जो ज्ञान होता है, उसे सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान कहने में आता है।

‘भावार्थ :- सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यद्यपि...’ यद्यपि अर्थात् जो कि। **‘एकसाथ प्रकट होते हैं...’** प्रकट तो एकसाथ होते हैं। भावार्थ है न ? भावार्थ। इस और है, ९४ पन्ना है। **‘सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यद्यपि एकसाथ ही प्रकट होते हैं...’** अंतर आत्मभान होने के समय दर्शन-ज्ञान एकसाथ (प्रकट होते हैं) **‘तथापि वे दोनों भिन्न भिन्न गुणों की पर्यायें हैं।’** गुण की पर्याय, ये सब कहाँ सीखना ?

आत्मा में दर्शनगुण-श्रद्धागुण त्रिकाल है और ज्ञानगुण त्रिकाल है। दो गुण हैं, ऐसे अनंत गुण हैं। अकेला आत्मा आत्मा करे, ऐसे नहीं चलता। अनंत गुण है, उसमें एक श्रद्धागुण है, एक ज्ञानगुण है। सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की सच्ची पर्याय है और ज्ञानगुण की सम्यग्ज्ञान सत्य पर्याय है। दो गुण की दो पर्याय हैं, दोनों भिन्न हैं। पर्याय जाननी नहीं, गुण जानना नहीं और आत्मा का ज्ञान हो जाये, ऐसे नहीं होता - ऐसा कहते हैं।

सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय है। समझ में आया ? आत्मा है, उसमें श्रद्धागुण त्रिकाल है, श्रद्धागुण त्रिकाल है। उसमें पुण्य से धर्म होता है, पाप में मजा आता है, देह की क्रिया मैं कर सकता हूँ, सुख आत्मा में नहीं, पर में है - ऐसी विपरीत मान्यता है, वह त्रिकाल श्रद्धागुण की विपरीतपर्याय है, अशुद्धपर्याय है। कहो, समझ में आया ? और सम्यग्दर्शन की पर्याय जो सच्चीपर्याय है वह श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय है। समझ में आया ? वह पर्याय है, गुण नहीं, गुण तो त्रिकाल है।

मुमुक्षु :- अशुद्ध सम्यग्दर्शन...

उत्तर :- अशुद्ध सम्यग्दर्शन का किसने कहा ?

श्रद्धागुण आत्मा में त्रिकाल है। आत्मा त्रिकाल है ऐसे गुण भी त्रिकाल है। उसकी मिथ्यापर्याय जो श्रद्धा होती है (अर्थात्) राग से मुझे धर्म होगा, परमार्थ धर्म-निश्चय आत्मा का धर्म (होगा); पर से मेरा कल्याण होगा, मेरे से पर का कल्याण होगा। ऐसी मान्यता। आत्मा में सुख नहीं लेकिन पर में सुख है, राग, धूल में - पैसे में सुख है, ऐसी अंतर मान्यता

जो है, यह मान्यता आत्मा के श्रद्धागुण की विपरीत पर्याय, अशुद्धपर्याय है, मलिनपर्याय है, दुःखरूप अवस्था है। अब आगे शुद्धपर्याय कहते हैं।

‘सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की शुद्ध पर्याय है...’ सम्यग्दर्शन क्या है ? आत्मा त्रिकाल है। श्रद्धागुण भी त्रिकाल है। उसकी वर्तमान क्षणिक एक समय की श्रद्धागुण की सम्यक्-सत्य शुद्धपर्याय है। वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन शुद्ध अवस्था है, शुद्ध अवस्था है, पवित्र अवदशा है, निर्मल अवदशा है, आनंद अवदशा के साथ पर्याय प्रकट होती है। आहा..हा... ! कहो, समझ में आया ? क्या कहा ? पहले जैसे नहीं कहा।

मुमुक्षु :- ऐसा करे तो ऐसे के ऐसे करे तो ऐसे उसमें मेल न हुआ।

उत्तर :- इसमें तो अभेद कहना है, इसलिये विस्तार नहीं आया। पहले तो भेद कहना था न ? (इसलिये विस्तार आया था)।

आत्मा वस्तु... वस्तु अनादि अनंत (है) उसमें श्रद्धागुण भी अनादि अनंत है। उसका अंतर में अनुभव करके, रागरहित होकर... राग है सही, संयोग है, कर्म है, निमित्त है, उसकी दृष्टि हटाकर अपने आत्मा में एकरूप अभेद श्रद्धा करना, अभेद आत्मा की अंतर निर्विकल्प श्रद्धा करना। वह श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय, प्रकट पर्याय को शुद्ध कहते हैं, वहाँ से मोक्ष का मार्ग शुरू होता है। कहो, समझ में आया ? श्रद्धा ऐसा मानती है कि, मैं परिपूर्ण हूँ, मेरे में आनंद है। ठीक ! सम्यग्दर्शन की पर्याय ऐसा मानती है। यह तो ज्ञान के साथ की बात है। मैं परिपूर्ण हूँ उसमें तो ज्ञान आ जाता है। मैं परिपूर्ण हूँ, मैं शुद्ध हूँ, अबेद हूँ, एक हूँ – ऐसी श्रद्धागुण की पर्याय सारे आत्मा को भूतार्थ एक स्वभाव को मानती है। आहा..हा... ! कठिन बात है, भाई ! मूल बात ही (रही नहीं), एक अंक के बिना की सभी बातें, एक क्या है उसे भूल गये। जो अनंत काल में प्रकट नहीं किया और जो प्रकट करने से ही जन्म-मरण का नाश होता है, ऐसा सम्यग्दर्शन उसको कहते हैं।

क्या सम्यग्दर्शन की पर्याय परसन्मुख की प्रतीत करने से होती है ? सम्यग्दर्शन शुद्ध पर्याय है। किसकी ? आत्मा की। और श्रद्धागुण किसका है ? आत्मा का। आत्मा का श्रद्धागुण और आत्मा के सन्मुख की पर्याय बिना सम्यग्दर्शन की पर्याय कहाँ से होती है ? समझ में

आया ? क्या कहा ? श्रद्धा और आत्मा। आत्मा वस्तु और श्रद्धागुण। वह तो अपना निज स्वरूप है। अपना निज स्वरूप है, उसके सन्मुख दृष्टि हुए बिना उसकी श्रद्धा और उसके ज्ञान की शुद्धपर्याय कहाँ से होगी ?

जिसमें शुद्ध श्रद्धाशक्ति पडी है और शुद्ध द्रव्य है, उसकी अंतर प्रतीत किये बिना शुद्धपर्याय कहाँ से होगी ? क्या रागमें से आती है ? निमित्तमें से आती है ? परमें से आती है ? पर में श्रद्धागुण है ? आत्मा का श्रद्धागुण राग में है ? आत्मा का श्रद्धागुण निमित्त में है ? आत्मा का श्रद्धागुण देव-गुरु-शास्त्र में है ? आत्मा का श्रद्धागुण क्या मंदिर में है ? आत्मा का श्रद्धागुण क्या 'सम्मोदशिखर' में है ? कहाँ है ? कहते हैं कि, भगवान आत्मा, जिसमें श्रद्धागुण त्रिकाल ध्रुव पडा है, उसकी और अंतर सन्मुख होकर, है उसमें से पर्याय प्रकट हो, उसका नाम श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय कहने में आती है। आहा..हा... !

अरे.. ! उसके निजघर की बात कभी सुनी नहीं। परघर की बात अनादि काल से (सुनी है।) यहाँ तो परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ वीतराग समवसरण में सो इन्द्रों की उपस्थिति में भगवान की दिव्यध्वनि आती थी। अरे.. ! आत्मा ! वही यहाँ संत कहते हैं, उसी परम्परा से 'दौलतरामजी' ने ढाल बनाई है। घर की कल्पना से नहीं बनाया। भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर सर्वज्ञदेव, जिनको एक सैकेन्ड के असंख्य भाग में तीनकाल-तीनलोक जानने में आये, ऐसे परमेश्वर के मुख से दिव्यध्वनि निकली। दिव्यध्वनि। दिव्य अर्थात् प्रधान आवाज। ॐ आवाज निकली।

सो इन्द्रों की उपस्थिति में (निकली)। शक्रेन्द्र, ईशान इन्द्र आदि स्वर्ग के इन्द्र भी उपस्थित थे। गणधर-सन्तों के नायक गणधर की उपस्थिति में भगवान की वाणी में ऐसा आया। समझ में आया ? कि, तेरी सम्यग्दर्शन की पर्याय कहाँ से आती है ? किस खान में पडी है ? क्या राग-विकल्प उठते है उसमें गुण है कि उसमें से पर्याय आती है ? शरीर में श्रद्धागुण है कि उसमें से पर्याय आती है ? श्रद्धागुण का सम्यक् परिणामन (होना), उसका नाम शुद्धपर्याय सम्यग्दर्शन है। आहा..हा... ! समझ में आया या नहीं ? आहा..हा... ! बडी सूक्ष्म बात है।

जिसमें पड़ा है, कोठी में अनाज पड़ा हो तो कोठीमें से निकले। खाली हो तो कहाँ से निकले ? कुएँ में... आपके यहाँ कहाँ से पानी आता है ? कुएँ में ? ठीक ! भगवान यहाँ तो कहते हैं, भाई ! जिसमें हो उसमें से निकले। प्राप्त की प्राप्ति है। है उसमें से आता है। कुएँ में पानी हो तो अवेडा। अवेडा क्या कहते हैं ? अवेडा कहते हैं ? बाहर निकलाता है न ? बाहर थोड़ा होज होता है ना ? और पशु पीते हैं। पशु को पीने को कुएँमें से बाहर निकालते हैं न ? हमारे यहाँ अवेडा कहते हैं। अवेडा। कुएँ में है उसमें से पानी निकालकर, कूंडु होती है कुंडी में (भरते है)। कुएँ में है वह कुंडी में आता है या कुएँ में नहीं है और कुंडी में आता है ?

वैसे भगवान आत्मा अन्तर अनन्त गुण का बड़ा कुआ है। ऐसी अनंत गुण की थैली आत्मा है। गुण की थैली। आहा..हा... ! पैसे की थैली में अज्ञानी को गुदगुदी हो जाती है। हीरा, माणेक भरे हो तो आ..हा..हा... ! (हो जाता है)। मूढ है, धूल में क्या है ? ऐ...ई... ! धूल में आत्मा कहाँ आया ? उससे आत्मा में क्या लाभ हुआ ? धूल धूल का काम करे, आत्मा भिन्न है।

यहाँ तो यह बताना है कि, आत्मा का सम्यग्दर्शनरूपी कार्य, वह कार्य जिसमें श्रद्धागुण पड़ा है और श्रद्धागुण का धरनेवाला आत्मा है, उससे वह कार्य होता है, दूसरे से होता नहीं। भाई ! क्या सुन रहे हो ? पहले न कहते थे। सुनते हैं और होता है, ऐसा आप कहते थे। (गुरु से होता है), ऐसा कहते थे। (वह) विपरीत था। समझ में आया ? क्या तुम्हारी श्रद्धापर्याय जो अवस्था है, वह गुरु में रहती है ? भगवान में रहती है ? तेरा गुण क्या भगवान में रहता है ? तेरा गुण तो तेरे आत्मा में अंदर है।

मुमुक्षु :- मदद करे... मदद।

उत्तर :- मदद कैसी ?

भगवान आत्मा एक समय में पूर्ण गुण से भरा, जो शक्ति है उसमें से श्रद्धा आती है। उसका अंतरलक्ष्य करने से पर्या प्रकट होती है। बस ! दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। यहाँ तो सम्यग्दर्शन का कारण ही सारा द्रव्य है। भूतार्थ वस्तु कारण है, दूसरा कोई कारण है नहीं। ऐसी सम्यग्दर्शन की पर्याय है। तब सम्यग्दर्शन को कारण कहने में आता है और बाद में साथ में

सम्यग्ज्ञान हो, उसे कार्य कहने में आता है। है तो एकसाथ-युगपत्। उसमें कारण-कार्य का भाव कहने में आता है। समझ में आया ? देखो !

‘सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय है, और सम्यग्ज्ञान ज्ञानगुण की शुद्धपर्याय है।’ देखो ! तीसरी पंक्ति है। पंक्ति कहते हैं न ? लाईन, तीसरी लाईन है, देखो ! ९५ (पन्ना) है न ? ९५ पन्ना है। सम्यग्ज्ञान। आत्मा में ज्ञान, सारे चैतन्य में केवलज्ञान भरा है। केवलज्ञान अर्थात् केवलपर्याय नहीं। केवल-ज्ञान, एक ज्ञान, एक ज्ञान, एक ज्ञान त्रिकाल। द्रव्य त्रिकाल, ज्ञानगुण त्रिकाल। द्रव्य त्रिकाल, ज्ञानगुण त्रिकाल। उसके लक्ष्य से वर्तमान क्षणिक पर्याय उत्पन्न हो उसका नाम सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यग्ज्ञान ज्ञानगुण की पर्याय है। सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की पर्याय है, एक समय में साथ में उत्पन्न होती हैं फिर भी श्रद्धागुण को कारण और ज्ञान को कार्य कहने में आता है। समझ में आया ? क्यों (भाई) ? वह तो वकील है, वकील। दिमागवाला है न ? एल.एल.बी. पास हुआ है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- पैसा...

उत्तर :- पैसे का क्या काम है ? उसके पिताजी कहते हैं कि, भाई पैसा नहीं कमाता है। यहाँ आत्मा की पर्याय कमाने दो न, भैया ! बाहर कमा कौन सकते हैं ? पूर्व का पुण्य हो तो आता है, पुण्य नहीं हो तो लाख करोड (कुछ भी करो पैसा मिलता नहीं) । ‘ हुन्नर करो हजार, भाग्य बिन मेले नहीं कोढ़ी ’ एस पैसा भी मिले नहीं। समझ में आया ? कहो, बराबर होगा या नहीं ? भाई !

कहते हैं, ‘पुनश्च सम्यग्दर्शन का लक्षण...’ देखो ! ‘सम्यग्दर्शन का लक्षण विपरीत अभिप्रायरहित तत्त्वार्थश्रद्धा है...’ देखो ! दोनों के लक्षण भिन्न हैं। भगवान आत्मा की श्रद्धागुण की जो पर्याय सम्यक् पर्याय हुई, जो शांति, आनंद के साथ पर्याय हुई, जो मोक्ष की पहली सीढ़ी है, मोक्ष की पहली सीढ़ी है, उसका लक्षण क्या ? विपरीत अभिनिवेश-विपरीत अभिप्राय रहित तत्त्वार्थश्रद्धान। उसमें सात तत्त्व की विपरीत श्रद्धा किंचित् रहती नहीं। सात तत्त्व, हाँ ! अज्ञानी अकेला आत्मा... आत्मा करे - ऐसा नहीं।

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग, जिनके मुख में सात तत्त्व आये, सात में

जीव और अजीव दो द्रव्य हैं। जीव और अजीव दो द्रव्य हैं और पाँच उसकी पर्याय हैं। पर्याय। सामान्य और विशेष। जीव और अजीव सात तत्त्व में दो पदार्थ हैं और पाँच उसकी विशेष... विशेष... दशा-अवस्था-हालत है। ऐसा सामान्य-विशेष मिलकर सात तत्त्व होते हैं। सामान्य-विशेष में विपरीत श्रद्धा बिना जो यथार्थ श्रद्धा है, उसे भगवान तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं। समझ में आया ? सामान्य और विशेष दूसरे में कहाँ है ? भाई ! ये सामान्य-सामान्य कहते हैं। सामान्य के साथ विशेष पर्याय है। श्रद्धा करना वह विशेष है, सम्यग्ज्ञान विशेष है; द्रव्य नहीं, गुण नहीं। आहा..हा... !

सात तत्त्व में आस्रव में पुण्य-पाप समा जाते हैं, तो नव कहते हैं। सात में भी जीव और जड़ दो पदार्थ सामान्य वस्तु (हैं) और उसमें उसकी पाँच पर्याय हैं। आस्रव, बंध, आस्रव में पुण्य-पाप आया। वह जीव की विकारी पर्या है। जड़ में जड़ की (पर्याय है)। औरसंवर, निर्जरा, मोक्ष जीव की निर्मल पर्याय विशेष है, निर्मल पर्याय विशेष है। संवर, निर्जरा शुद्धपर्याय अपूर्ण है, मोक्षपर्याय शुद्धपर्याय पूर्ण है। ऐसे सात तत्त्व जैसे हैं, ऐसी विपरीत श्रद्धा रहित, विपरीत अभिप्राय रहित श्रद्धा करनी, उसका नाम तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन का लक्षण बताते हैं न ? सम्यग्ज्ञान कालक्षण दूसरा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

‘और सम्यग्ज्ञान का लक्षण...’ देखो ! ‘संशय आदि दोष रहित...’ यह दूसरा लक्षण (है)। नीचे (फूटनोट में) है। ‘संशय, विमोह, अनिर्धार।’ है ? नीचे है, पहली पंक्ति है। संशय-सम्यग्ज्ञान में संशय नहीं होता। क्या (कहा) ? यह चांदी होगी या शीप ? शीप है या चांदी है ? मुझे पता नहीं। समझ में आया ? कुछ मालूम नहीं वह अनध्यवसाय है। यह तो चांदी को शीप मानना, शीप को चांदी ही मानना वह विपर्यास है। संशय (अर्थात्) कुछ होगा। होगा, अपने को कुछ मालूम नहीं। वह संशय है। ज्ञान में ऐसा संशय नहीं। विमोह नाम विभ्रम-विपर्यास नहीं और अनिर्धार अनध्यवसाय नहीं। वह तो अर्थ किया है, विमोह की व्याख्या की है। कोष्टक में शब्द हैं न ? विमोह अर्थात् विभ्रम और विपर्यय।

देखो ! सम्यग्ज्ञान कैसा होना चाहिए ? जिसमें संशय नहीं (होता)। क्या है ? हमने

आत्मा जाना है या नहीं जाना इसकी हमें खबर नहीं। लो, मूढ है। समझ में आया ? हमारे आत्मा में सम्यग्दर्शन हुआ है या नहीं हमें मालूम नहीं पडता। (ऐसा) ज्ञान में संशय (होना)। यह संशय तो अज्ञान है। अज्ञान में सम्यग्ज्ञान होता नहीं। सम्यग्ज्ञान नहीं है, वहाँ सम्यग्दर्शन है ही नहीं। समझ में आया ? क्या कहा ? संशय... संशय। दो कोटि का ज्ञान। शीप है या सोना ? शीप है या सोना ? शीप है या चांदी ? हमें क्या पता ? हमारे अनंत भव जन्म-मरण भगवान् देखे होंगे तो हमें क्या पता ? मूढ है। तेरा ज्ञान ही अज्ञान है। समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान में संशय नहीं होता। मेरे अनंत भव होंगे ? समझ में आया ? तो सम्यग्ज्ञान है ही नहीं। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन के साथ होता है। सम्यग्ज्ञान में संशय होता नहीं। क्या होगा ? भगवान् ने हमारे अनंत भव देखे होंगे... समझ में आया ? मूढ है। तेरा ज्ञान ही अज्ञान है, तेरी श्रद्धा ही मिथ्यात्व है। भगवान् की श्रद्धा तुने की ही नहीं। ऐ..ई.. !

मुमुक्षु :- द्रव्यलिंगी मुनि..

उत्तर :- द्रव्यलिंगी मुनि को अन्दर तीनों होते हैं। संशय में थोडा स्पष्ट करते हैं न। समझ में आया ? ये ज्ञान के दोष हैं। जहाँ संशय है, वहाँ सम्यग्ज्ञान नहीं तो जहाँ सम्यग्ज्ञान नहीं है। वहाँ सम्यग्दर्शन भी नहीं है। सम्यग्दर्शन है, वहाँ सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्ज्ञान है, वहाँ संशय नहीं होता। समझ में आया ? यह तो समझ में आता है या नहीं ? भाई ! थोडा... थोडा। ठीक है। आज तो बहुत सूक्ष्म बात आयी है। 'कलकत्ता' में व्यापार में सब समझ में आता है, ये तो कभी-कभी सुनने मिलता है। आहा..हा... ! अरे.. ! भगवान् ! तेरे घर की तेरी बात है, यह तो तेरे घर की बात है।

यहाँ तो कहते हैं कि, ज्ञान का दोष भिन्न है। दर्शन का गुण भिन्न है, ज्ञान का गुण भिन्न है। दर्शन (तो) विपरीत अभिप्राय रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान्, बस, इतना ! ज्ञान में संशय नहीं। संशय नहीं, संदेह नहीं। संदेह नहीं कि, मैंने आत्मा का ज्ञान किया है या मुझे उसका ज्ञान नहीं है ? यह तो संशय है। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है। ऐसा जहाँ ज्ञान में संशय है, वहाँ सम्यग्दर्शन है ही नहीं। सम्यग्दर्शन का कार्य सम्यग्ज्ञान है, उस सम्यग्ज्ञान में संशय होता ही नहीं। क्या कहा ? भाई ! क्या कहा समझे ?

भगवलन आतुल वसुतु अखंडलनंद प्रभु, उसकी प्रतीत-श्रद्धल सडुडु हुई तु सडुडुदर्शन डें कारण आतुल हुआ और कारण हुआ तु सडुडुदर्शन की परुडलड उसकी करुडु हुई। सडुडुदर्शन डें सरल आतुल ही प्रतीत डें-श्रद्धल डें आडल। ऐसी श्रद्धल के सलथ जो ज्ञलन हुआ उसडें संशड नहीं रहतल। सरल द्रवुड डवरहित है, सुवडलव डवरहित, रलगरहित है। रलग और विकलुड से रहित डेरल सरल आतुल है, ऐसे डब द्रवुड कु कारण डनलकर सडुडुदर्शन हुआ तु सडुडुज्जलन डें संशड नहीं। डेर अनंत डव हुंगे डल नहीं ? अनंत कडल, डव ही डेर डें नहीं है। आहल..हल... ! सडुडु डें आडल ? डव तु विकलर कल डल है, डव तु विकलर कल डल है। विकलर डेर डें नहीं - ऐसी दृष्टि हुकर तु सडुडुदर्शन हुआ है। डलई ! आहल..हल... ! डे थुडी सुकुषुड डलत आडुी है।

डुडुकुषु :- डहुत अच्छी आई... गुडरलती डें डिर से सुनलईणुगल।

उतुतर :- नल, हिनुदी डें ठीक कल रहल है। सेठ आडे हैं, सेठ थुडल सुने तु सही। डुशुकल से ललडे हैं, (डह डुडुकुषु) ललडे हैं। थुडी उदलरतल रखनी। डुरी जलंदगी डें अभी आडे हैं। डहल (एक डुडुकुषु) रहते हैं तु कलु, कलते हैं। इसललडे थुडल हिनुदी (ललडल), गुडरलती तु सडुडु नहीं। सडुडु डें आडल ? डह तु गुडरलती जैसी ही डलषल है। आडु जैसी हिनुदी डुलते हु, वैसी हडलरी हिनुदी नहीं है। सडुडु डें आडल ? डलई ! डे लुग हिनुदी डुले ऐसी हिनुदी नहीं है। डे लुग डब डुलते हैं, तड लगे कल गडडड जैसी लगतुी है। डहल तु सलधलरण कलडकलललड हिनुदी हुतल है। कलडकलललड। सडुडु डें आडल ? कडल कलहल ?

संशड। सडुडुज्जलन डें कडल कलहल ? देखु ! 'संशड आदल दुष रहलत सुव-डर कल डथलरुथतडल नलरुणड...' इसडें से अब नलकललनल है। कडल ? कल, सुव नलड आतुल। ज्जलनलनंदसुवरुड डें हूँ - ऐसी प्रतीत हुई, उसके सलथ ज्जलन हुआ और डर डहल तु सुव-डर है न ? दुु है न ? ज्जलन है कल नहीं ? अडनल ज्जलन हुआ तु उसके सलथ रलग, शरीर आदल अलुड है, डस इतनल। अनंत डव है - ऐसा रलग नहीं। अनंत डव है - ऐसा करुड नहीं। ज्जलन डें ऐसी डर की अस्तलतुवतल, रलग की और करुड की अस्तलतुवतल उसडें है, डेर डें नहीं। सुव कल और डर कल ऐसल नल:संशड ज्जलन (हुआ), उसे सडुडुज्जलन कलहते हैं। कडल आडल ? थुडी सुकुषुड (डलत) आडुी है तु थुडल अधलक (सुडुष्टीकरण) करेंगे। कडल कलहल ?

आत्मा अपना पूर्ण शुद्धस्वरूप श्रद्धा में सम्यक् में लिया तो उसके सम्यग्ज्ञान हुआ। श्रद्धा में तो अभेद है। अब ज्ञान में स्व-पर (है)। पहले आ गया था। उसमें ऐसा था न ? देखिये ! 'स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत' दूसरी पंक्ति।

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान,

स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भान॥१॥

नीचे भी 'प्रमेयरत्नमाला' का दिया है न ? 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं' भाई ! 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं' ठीक है ? अब उसमें से निकालना है। क्या निकालना है ? देखो ! स्व और पर। अपना आत्मा अभेद शुद्ध अखंड ज्ञान, दर्शन में प्रतीत हुआ तो उसके साथ ज्ञान (भी हुआ)। उसमें (-श्रद्धा में) तो अभेद की प्रतीत हुई। अब ज्ञान हुआ। सम्यग्दर्शन कारण, ज्ञान कार्य। निश्चय से तो आत्मा कारण है, ज्ञान कार्य है। लेकिन पर्याय में सम्यग्दर्शन कारण और ज्ञान कार्य। ये सम्यग्ज्ञान कैसा है ? संशय बिना का। यह स्व-पर का ज्ञान है। कैसा ? कि, स्व-में अखंड शुद्ध हूँ, मेरी इतनी निर्मल पर्याय प्रकट हुई है और मलिन आदि पर्याय अल्प है, कर्म का संबंध भी अल्प रहा। कैसा ? कि, मेरे अनंत भव हैं - ऐसा भाव नहीं। अनंत भव है - ऐसा कर्म का निमित्त नहीं। समझ में आया ?

अनंत भव का अभावस्वभावरूप भगवान आत्मा, यह आत्मा। देखो ! यहाँ सात तत्त्व की श्रद्धा में निकालते हैं। सम्यग्दर्शन में आत्मा की प्रतीति हुई, पर्याय में भान हुआ। साथ में ज्ञान ऐसा होता है - 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं।' स्व-में शुद्ध हूँ, मेरी पर्याय भी संवर, निर्जरा आदि शुद्ध हुई है और रागादि थोड़े हैं और कर्मादि हैं, उसका ज्ञान है। पर वह ज्ञान कैसा है ? कि, यह ज्ञान ऐसा मानता है कि, मुझे भव ही नहीं। स्वभाव में नहीं है तो मेरे भव नहीं है। अब रागादि अल्प रहे हैं, वह अनंत भव का कारण नहीं है। एकाद भव का कारण (है) लेकिन वह तो ज्ञान में पर का निश्चय आ गया। पर का निश्चय आ गया कि राग है, कर्म है, बस, इतना पर है, इतना। परंतु ये पर मेरे से पृथक् हैं। मुझे भव के अभाव भावरूप स्वभाव की प्रतीति हुई तो ज्ञान भी (ऐसा हुआ कि), मुझे भव है ही नहीं और अल्प रागादि है उसमें - राग में, पच्चीस-पचास भव कर दे, ऐसी राग की ताकत नहीं है। कर्म में निमित्त में भी पच्चीस-पचास भव कर

दे - ऐसी कर्म में-निमित्त में ताकत नहीं है। समझ में आया ? कठिन बात है, भाई ! ए..ई.. !

‘स्वापूर्वार्थ’ कहा न ? भाई ! वस्तु के ज्ञान में ऐसा आ गया। राग मेरा नहीं, कर्म मेरा नहीं, और (बाकी) रहा उसमें इतनी ताकत नहीं कि, मेरे में तीव्र विकार हो, उसमें निमित्त में ऐसी ताकात नहीं। समझ में आया ? अनंतानुबंधी का तीव्र राग है, उसमें निमित्त हो - ऐसा कर्म नहीं, यहाँ अनंतानुबंधी का विकार नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! कठिन बात है, भाई ! समझ में आया ? नयी (बात) आयी। भगवान... ! (बात तो) आते-आते आती है।

यहाँ ज्ञान का लक्षण संशयरहित। आत्मा का श्रद्धा का लक्षण विपरीत अभिप्रायरहित। विपरीत अभिप्रायरहित ऐसा भगवान आत्मा (है) - ऐसी श्रद्धा हुआ तो ज्ञान भी ऐसा हुआ। स्व का यथार्थ, पर का यथार्थ। यथार्थ अर्थात् राग है, इतना बंध का कारण है, लेकिन बंध का कारण कितना अल्प रहा है ? कि, अल्प एकाद भव आदि हो इतना बंध का कारण राग रहा है। कर्म भी इतने ही रहे हैं - ऐसी प्रतीत वर्तमान में है। भविष्य में कोई ऐसा आ जायेगा (तो) ? ऐसा है ही नहीं। मेरे इतने जोरदार कर्म आ जाये तो ? (ऐसा संशय होता है तो) मुझे सम्यक् ज्ञान ही नहीं है। ठीक है ? न्याय से है या नहीं ? लोजिक से है या नहीं ? आहा...हा... !

देखो ! क्या कहते हैं ? मात्र लक्षण का फर्क है, लेकिन स्व-पर का ज्ञान है। उसमें स्व की अंतर प्रतीति है। इसमें स्व-पर का ज्ञान (है)। ज्ञान में ऐसा नहीं आता है कि, इतना राग मेरा है कि जिसमें अनंत भव करने की ताकत है। ऐसा राग उसके पास है ही नहीं। और निमित्त में कर्म के - अजीव के संयोग में कर्म की ऐसी ताकात नहीं है - ऐसा मानते हैं कि, मेरे में तो यह है ही नहीं। मेरी चीज़ में तो नहीं है, किन्तु उसमें है - निमित्त होकर यहाँ अशुद्ध उपादान में तीव्र हो, ऐसी बात उसमें है नहीं, मेरे में है नहीं। समझ में आया ? यह बात नई निकली। देखो ! निकल जाये तो हिन्दी में निकल जाये। नहीं निकले तो गुजराती में भी नहीं निकले। कहो !

‘सम्यग्ज्ञान का लक्षण संशय...’ विमोह-विपरीत नहीं। देखो ! संशय नहीं, विपरीत नहीं। विपरीत-ऊलटा ज्ञान नहीं। जैसा है, वैसा ही उसका ज्ञान है। जैसा है वैसा ही है। विपरीत ज्ञान नहीं। विपरीत का अर्थ किया - विभ्रम और विपर्यय। समझे और तीसरा अनिर्धार है न

अनध्यवसाय। उसका अर्थ अनिर्धार। मुझे मालूम नहीं है, भैया ! मुझे अनंत भव होंगे या नहीं होंगे, मुझे मालूम नहीं पडता। ऐसा ज्ञान सम्यग्ज्ञानी का होता नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ज्ञान में इतनी ताकत है। अपना स्वरूप भव-विकाररहित का भान, श्रद्धा हुई, ज्ञान भी ऐसा हुआ कि, स्व तो विकाररहित, भवरहित, भव के भावरहित वस्तु है और थोडा राग रहा वह भी इतना रहा, भव के अभाव का श्रद्धा और ज्ञान हुआ तो राग इतना रह गया है कि, उसमें अनंत भव हो या अनंत जन्म-मरण हो - ऐसा राग या कर्म उसमें है नहीं। ऐसा स्वसहित पर की श्रद्धा, पर का ज्ञान सम्यग्ज्ञानी को संशयरहित, विपर्ययरहित, अनिर्धाररहित (होता है)। अनिर्धार रहित (अर्थात्) निर्धारित होता है। समझ में आया ? अरे.. ! भाई ! आत्मा की श्रद्धा और आत्मा का ज्ञान किसे कहते हैं ? ये लालापेठा है ? लोक में भी जो समझते हैं उसमें उसे संशय होता है ? बराबर है, हमारा ज्ञान बराबर है, हम बराबर जानते हैं (ऐसा कहते हैं)। जिसे व्यापार होता है, जिसकी वकालत हो, डोक्टर हो, बाहर का व्यापार हो, ये मकान का धंधा हो (उसमें) शंका होती है ? २२ मजले का मकान करते थे। (उनकी दुकान में पगला करने गये थे (तब कहते थे), ये हमारा २२ मजले का मकान का धंधा है, उसका नकशा है। नकशा दिखाते हैं, हमारे पास माल नहीं, नकशा बताते हैं। समझ में आता है ? उसे शंका होती है ? हम जो धंधा करते हैं उसमें बराबर फायदा करेंगे। (ऐसा) माने। फिर भी पुण्य हो तो आये, पुण्य नहीं हो तो न आये।

यहाँ तो भगवान आत्मा... देखो ! यहाँ सम्यग्ज्ञान-आत्मा का ज्ञान, उसका नाम ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान में तीन दोष है नहीं। 'स्व-पर का यथार्थतया निर्णय है - इस प्रकार दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।' इसलिए श्रद्धा का आराधन करके, सम्यग्ज्ञान का आराधन करना। यह इसका तात्पर्य है। विशेष कहेंगे...

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ७, शनिवार
दि.१२-२-१९६६, गाथा ३, ४, प्रवचन नं.-२४

‘दौलतरामजी’ कृत ‘छहढाला’ है। पंडित हुए हैं, दिगम्बर पंडित। करीब २०० वर्ष पहले (हुए हैं)। उन्होंने शास्त्रमें से संक्षिप्त में सार-सार न्याय निकालकर ‘छहढाला’ बनाई है। चौथी ढाल चलती है, सम्यग्ज्ञान की चलती है। देखो ! उन्होंने शास्त्रमें से निकाला है, अपने घर का कुछ नहीं है। जो संतो ने, मुनियों ने, ज्ञानियों ने जो बात शास्त्र में विस्तार से कही है, उसे संक्षेप में लिखा है। उसे ऐसा कहने में आता है कि गागर में सागर भर दिया। बहुत संक्षेप में बात है, लेकिन उसमें सार है। देखो ! क्या कहते हैं ? अपने यहाँ तक आया है।

सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान होता नहीं और चारित्र होता नहीं, यह बात पहले आ गई है। तीसरी ढाल में आया न ? तीसरी (ढाल)। ‘या बिन ज्ञान चरित्रा।’

**मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;
सम्यक्ता न लहैं, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।**

तीसरी ढाल का १७ वां श्लोक है। समझ में आया ? यह चीज़ क्या है ? अनंतकाल में समझ में आया नहीं। सम्यग्दर्शन बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान बिना व्रत और तप सच्चा होता नहीं। पुण्य बँध जाये, राग मंद हो (तो) पुण्य बँध जाये, उससे स्वर्गादि (मिले), पैसा मिले (परन्तु) आत्मज्ञान बिना जन्म-मरण का अंत नहीं आता। वह आगे कहेंगे। समझ में आया ? यह आत्मज्ञान सम्यग्दर्शन बिना होता नहीं। यह बात पहली (है)। सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना, सम्यग्दर्शन बिना सम्यग्ज्ञान और चारित्र को सम्यक्ता लागू होती ही नहीं। यह पहले कह गये हैं। सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, वह बात कह गये हैं।

अपना आत्मा परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि भली है। आया है या नहीं ? थोड़ी बात कंठस्थ

है, थोड़ी बात है, पूरी नहीं है। (हमारे इस भाई को) सारा कंठस्थ है। अपने प्रमुख है न ? (उनको) सारा कंठस्थ, सारा कंठस्थ (है)। समझ में आया ? पहले आ गया है। आत्मद्रव्य, परद्रव्य से भिन्न (है) यह पहले आ गया है। भगवान आत्मा..! आत्मा अर्थात् क्या ? उसमें अनंत ज्ञान, अनंत शांति, अनंत आनंद अंतर में पडा है। ऐसे आत्मा की परपदार्थ से भिन्न (रुचि)। शरीर से, कर्म से, पुण्य-पाप के भाव होते हैं वे विकार, आस्रव हैं उनसे भी भिन्न, अपना शुद्धस्वरूप का अंतर में सम्यग्ज्ञानपूर्वक अंतरदृष्टि होना। ज्ञानपूर्वक का अर्थ क्या ? अनुभवपूर्वक। अन्दर यह आत्मा ऐसा है। शुद्ध चिदानन्द स्वरूप (है), ऐसे भानपूर्वक प्रतीति होनी, उसका नाम सम्यग्दर्शन (है)। अनंतकाल में नहीं प्रकट की ऐसी चीज है। समझ में आया ? ऐसा सम्यग्दर्शन हो तो भी ज्ञान की आराधना भिन्न करनी चाहिए, यह बात चलती है।

सम्यग्दर्शन हो तो भी सम्यग्ज्ञान (की) नर्मलता विशेष करने के लिये शास्त्र का, तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए। ज्ञान तो आत्मा का है, लेकिन उस ज्ञान में निर्मलता लाने को सम्यग्दर्शन होने के बाद चारित्र और व्रत लेने से पहले, ऐसे सम्यग्ज्ञान का विशेष आराधन, सेवन पहले करना चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान होता नहीं और ज्ञान आया तो ज्ञान की आराधना विशेष करना।

अब, यहाँ कहते हैं, देखो ! सम्यग्दर्शन को कारण कहा है, सम्यग्ज्ञान को कार्य। कहते हैं कि, 'सम्यग्दर्शन निमित्तकारण है...' दूसरा पेरोग्राफ है। 'तथा सम्यग्दर्शन निमित्तकारण है...' यह बात थोड़ी सूक्ष्म है। आत्मा अंतर में पुण्य-पाप के भाव से भिन्न, शरीर से भिन्न, आत्मा आनंदस्वरूप है - ऐसी अंतर में प्रतीति सम्यग्दर्शन का होना, यह कारण है और साथ में सम्यग्ज्ञान होना, यह कार्य है। दोनों है तो पर्याय। आत्मा की सम्यग्दर्शन - धर्म की पहली पर्याय हो यह है तो पर्याय और साथ में ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी है तो पर्याय, लेकिन जैसे दीपक पहले होता है तो दीपक के पीछे प्रकाश-उसका कार्य उत्पन्न (होता है)। वैसे उत्पन्न तो साथ में होता है, परंतु दीपक को कारण कहते हैं और प्रकाश को कार्य कहते हैं। ऐसे भगवान आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप के अनुभव में प्रतीत करने के साथ ज्ञान उत्पन्न होता है, परंतु उस ज्ञान को कार्य कहते हैं और दर्शन को कारण कहते हैं।

मुमुक्षु :- ज्ञान साध्य...

उत्तर :- साध्य-साधन का यहाँ काम नहीं है। यहाँ तो कारण की बात है।

‘सम्यग्दर्शन निमित्तकारण है...’ इस पर वजन है। सुनो ! आत्मा में... पर्याय तो आत्मा की दोनों हैं, एक पर्याय को कारण कहा और दूसरी पर्याय को कार्य कहा। क्यों कहा ? उसका स्पष्टीकरण चलता है। बहुत सूक्ष्म (है)। अनंत काल में अनंत भव हुए, नरक के अनंत, पशु के अनंत, मनुष्य में भी अरबोंपति अनंतबार हुआ और भिखारी भी अनंत बार हुआ, वह कोई नयी चीज़ नहीं है और स्वर्ग में भी अनंतबार उत्पन्न हुआ, नौवीं ग्रैवेयक भी अनंतबार सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना (गया)। यह बाद में आयेगा। ‘कोटी जन्म तप तपै’ परंतु आत्मज्ञान बिना जन्म-मरण का नाश होता नहीं।

कहते हैं कि, पहले सम्यग्दर्शन को निमित्तकारण कहा। क्यों ? कि, वह है तो अपनी पर्याय और ज्ञान भी अपनी पर्याय है, तो पर्याय-पर्याय में कारण कार्य कहना, सम्यग्दर्शन की पर्याय निमित्तकारण है, ज्ञान की पर्याय नैमित्तिक कार्य है। क्या कहा, समझ में आया ? भगवान आत्मा शुद्ध चिदानंद का सम्यग्दर्शन गृहस्थाश्रम में भी होता है। राजपाट हो, ‘भरत’ चक्रवर्ती को ९६ हजार स्त्री और ९६ करोड़ सैनिक। वह हमारी चीज़ नहीं, हमारी चीज़ तो अन्तरमें है। उसमें अनंत आनंद और अनन्त ज्ञान भरा है। ऐसा अंतर में अनुभव में प्रतीत हुई, तो कहते हैं कि, वह प्रतीति है तो आत्मा की पर्याय। पर्याय समझते हो ? पर्याय सुनी न हो। अवस्था। आत्मा त्रिकाली वस्तु है। ज्ञान, आनंद आदि त्रिकाली गुण हैं और यह सम्यग्दर्शन उसकी वर्तमान हालत-पर्याय है। क्यों, बराबर है ? युवान के पास तो हाँ कहलावे और क्या करे ? कैसे है ?

भगवान आत्मा... ! यह (शरीर) तो रजकण जड़ मिट्टी है। अंदर शुभ-अशुभभाव होता है वह तो विकार, बंध कारण है। उससे भिन्न भगवान आत्मा का अन्तर में अनुभव करके सम्यग्दर्शन करना। वह सम्यग्दर्शन है तो आत्मा की अवस्था। अवस्था (अर्थात्) पर्याय, कार्य, अवस्था। परंतु सम्यग्दर्शन की पर्याय को कारण कहा। तो क्या कारण ? उपादान कारण है ? उपादानकारण क्या ? उपादानकारण तो आत्मद्रव्य है, उसमें से सम्यग्दर्शन

पर्याय उत्पन्न होती है और सम्यग्ज्ञान की पर्याय भी आत्मद्रव्य की उपादान-मूल कारण से पर्याय उत्पन्न (होती है)। आत्मद्रव्यमें से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान (की) पर्याय होती हैं। समझ में आया ?

ये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान धर्म की अवस्था रागमें से, कर्ममें से, शरीरमें से, परमें से नहीं आती है। सम्यग्दर्शन पर्याय और सम्यग्ज्ञान अवस्था आत्मा वस्तु है, उसमें से आती है। जिसमें पानी भरा है। उसमें से प्रवाह आता है। प्रवाह। भगवान आत्मा में अनंत ज्ञान, अनंत श्रद्धा की शक्ति आदि अन्दर में पडी है। समझ में आया ? उसमें से सम्यग्दर्शन की (पर्याय उत्पन्न होती है)। सम्यग्दर्शन का उपादानकारण द्रव्य है। उपादान समझे ? मूल कारण। और सम्यग्ज्ञान जो उत्पन्न हुआ, आत्मा क्या ? आत्मा ज्ञानमय, अनंत आनंदमय शुद्ध (है), ऐसा भान (हुआ वह) सम्यग्ज्ञान, इस सम्यग्ज्ञान का उपादानकारण तो आत्मा का ज्ञानगुण है, आत्मा है। दोनों एक ही बात है। उसमें से सम्यग्ज्ञान की पर्याय आती है। सम्यग्ज्ञान की पर्याय राग में से नहीं आती, पूर्व की पर्यायमें से नहीं आती। क्या पूर्व पर्याय... इसमें कितना समझना ? समझ में आया ? संसार में पाप के लिये कितना समझता है ? पाप के लिये पाप है ? क्या है उसमें ? पाप है ? ये सब मकान बनाना, दो-पाँच करोड कमाना अकेला पाप है।

मुमुक्षु :- सुख है।

उत्तर :- दुःख है, धूल में सुख है ? उसे पैसेवाले को सुखी मानना है। समझ में आया ? दुःख है, बिलकुल दुःख है। परपदार्थ की ममता-यह मेरा, मैं उसका यह मिथ्यात्वभाव है; साथ में राग और आकुलता होती है। वह दुःख है। क्या करे ? अनंतकाल में अपनी चीज़ में आनंद है (उसे जाना नहीं)। आगे कहेंगे। 'ज्ञान समान न आन जगत में' यह आथा है। दूसरे में सुख नहीं है। समझ में आया ? चौथी गाथा में आयेगा। 'ज्ञान समान न आन जगत में सुखको कारन,...' चौथी गाथा है न ? भाई ! चौथी (गाथा है)। इसमें ९८ (पन्ना) है। अपने दूसरी (गाथा) चलती है। समझ में आता है ? चौथी में है।

ज्ञान समान व आन जगत में सुखको कारन,
इहि परमामृत जन्मजरामृति रोग निवारन।

समझ में आया ? दुनिया में, पैसे में, धूल में कोई सुख नहीं है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- कब ?

उत्तर :- अभी। कब क्या ?

‘ज्ञान समान न आन जगत में सुखको कारन,...’ यह ज्ञान कौन ? आत्मा का ज्ञान। आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उसका ज्ञान, इसके समान जगत में सुख का कारण और कोई नहीं। क्या आया ? पुण्यभाव उत्पन्न होता है, वह भी सुख का कारण नहीं – ऐसा बताते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... ! यह तो सादी भाषा में हिन्दी में ‘दौलतरामजी’ ने ‘छहढाला’ बनाई। उसका भी अभ्यास नहीं, विचार नहीं, मनन नहीं और आत्मा को कल्याण हो जाये, कहाँ से कल्याण होगा ? सत्य के भान बिना और सत्य की पहिचान बिना कभी कल्याण होता नहीं।

कहते हैं कि, आत्मा में जो शुद्धस्वभाव की श्रद्धा हुई, वह सम्यग्दर्शन (है)। उसे निमित्तकारण कहा, क्योंकि पर्याय है। और ज्ञान जो प्रकट हुआ वह भी है तो आत्मा की अवस्था, परंतु (श्रद्धा की पर्याय को) निमित्त (कहा) तो (ज्ञान की पर्याय को) नैमित्तिक (कहा)। समझ में आया ? कार्य को नैमित्तिक (कहा), कारण को निमित्त (कहा)। क्योंकि उपादान कारण तो है नहीं। दर्शनपर्याय में से ज्ञानपर्याय आती है – ऐसा है नहीं। भगवान आत्मा में अंदर श्रद्धागुण त्रिकाल पडा है उसमें से श्रद्धापर्याय अंतरदृष्टि करने से आती है और ज्ञानपर्याय अंदर ज्ञानगुणमें से सम्यग्ज्ञान पर्याय आती है। यहाँ ज्ञान का मूल कारण सम्यग्दर्शन नहीं है। ज्ञान का मूल कारण तो आत्मद्रव्य है, परंतु सम्यग्दर्शन को कारण कहा वह निमित्तकारण है। निमित्तकारण (अर्थात्) सहचर-साथ में है। निमित्तकारण सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उसका नैमित्तिक कार्य। है तो दोनों पर्याय, दो हालत, दो दशा। भाई ! क्या करना ? भाषा कोई भी हो लेकिन भाव तो जो है, वही आये न। भाव क्या उसमें दूसरा आता है ?

मुमुक्षु :- ... जो पर्याय में हुआ वह उपादान है न ?

उत्तर :- उपादान की अनंती पर्याय (है), उसमें से एक पर्याय को निमित्त और दूसरे को

नैमित्तिक – ऐसा कहने में आता है। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- मात्र कहने के लिए है ?

उत्तर :- नहीं, ऐसा है। मात्र कहने के लिये नहीं है। कोई गुण की पर्याय अन्य कोई गुण का उपादान नहीं है, वह बात बतानी है। क्या (कहा) ? आत्मा वस्तु है, उसमें अनंत गुण पडे हैं। उसका भान होकर दर्शन-ज्ञान हुआ तो एक पर्याय का दूसरी पर्याय मूल कारण नहीं। ऐसे एक गुण का दूसरा गुण मूल कारण नहीं। मूल कारण नहीं है और उसे कारण कहना, वह तो निमित्तकारण (हो गया)। जिसे आत्मा का सुख चाहिए उसे समझना पडेगा। चार गति में भटकना हो (तो) भटकते तो हैं, उसमें नयी क्या चीज़ है ? चौरासी के अवतार में अनादि से भटकता है। नरक, निगोद, स्वर्ग, सेठई सब भटकने का पंथ, परिभ्रमण का (कारण) है। उसमें कोई आत्मा धर्म नहीं है। आहा..हा... !

कहते हैं, 'सम्यग्दर्शन निमित्तकारण है...' क्यों ? कि, आत्मा की सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दो अवस्था हैं। दो अवस्था का मूल कारण तो आत्मा है। एक पर्याय को कारण कहा और दूसरी पर्याय को कार्य कहा, वह निमित्तकारण और निमित्त कार्य की अपेक्षा से कहा है। 'इस प्रकार इन दोनों में कारण-कार्यभाव से भी अन्तर है।' दर्शन है वह श्रद्धा से ही प्राप्त होता है और ज्ञानगुण से प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान दर्शनपर्याय से उत्पन्न होता है – ऐसा नहीं। आहा..हा... !

वैसे ही सम्यक्चारित्र भी दर्शन है, ज्ञान है उसमें से उत्पन्न नहीं होता। सम्यक्चारित्र वीतराग अवस्था, आत्मा अंतर में एकाग्र होकर अंतर आत्मा में वीतरागता नाम का चारित्रगुण पडा है, उसमें एकाग्र होकर वीतराग पर्याय का उपादानकारण आत्मा है, परन्तु चारित्र को कार्य कहते हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान को कारण कहते हैं। यह आता है, आया है कहीं पर ? कहाँ ? नहीं, पता नहीं है। 'समयसार' में बंधकारण, 'बंध अधिकार' में आया है। 'समयसार' में 'बंध अधिकार'। सम्यग्दर्शन-ज्ञान कारण और सम्यक्चारित्र कार्य। समझ में आया ? यहाँ तो अपने दर्शन और ज्ञान के साथ बात लेनी है। समझ में आया ? बंध... बंध (अधिकार) न ? 'अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि (वह) निश्चयचारित्र के कारणरूप

ज्ञान-श्रद्धान से शून्य है।' २७३ गाथा है। 'समयसार' 'बंध अधिकार' की २७३ (गाथा है)। क्या कहते हैं उसमें ?

शील पालता है, तप करता है, गुप्ति पालता है, समिति पालता है और महाव्रत पालता है, फिर भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान के कारण बिना चारित्रपना उसे होता नहीं। २७३ गाथा है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी। दृष्टि में मिथ्यात्व है, आत्मा की श्रद्धा नहीं, और अज्ञान है-आत्मा का ज्ञान नहीं है तो उसके जो पंच महाव्रतादि परिणाम हैं, वे ज्ञान-श्रद्धा से शून्य हैं। निश्चयचारित्र का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान। निश्चय स्वरूप की रमणता, आनंद की रमणता-चारित्र का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान (है)। यह कारण नहीं है तो सब शून्य है। वहाँ सम्यक्चारित्र का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान को कहा। यहाँ सम्यग्ज्ञान का कारण सम्यग्दर्शन कहा। आहा..हा... ! समझ में आता है ? यहाँ तो बहुतबार आ गया है, चौदह बार प्रवचन हो चुके हैं। यह 'समयसार' तो सभा में (चौदह बार) पढा है। यहाँ बहुत बार पढा है। इसलिए बहुत लोगों को याद है - ऐसा कहने का आशय है। समझ में आया ? चौदहवीं बार पढते हैं। यहाँ (एक मुमुक्षु) थे न ? 'जयपुर' वाले हैं न ? आसो कृष्णपक्ष १०, (संवत्) २०१८ की साल। आखिर में चौदहवीं बार शुरू किया था। यहाँ मकान का वास्तु था न ? २०१८ की साल, आसो कृष्णपक्ष। हमारी, आप की कार्तिक वदी कहते हैं। दसमी के दिन चौदहवीं बार शुरू किया था। (एक मुमुक्षु ने) उसमें चौदह हजार दिये थे न ? चौदहवीं बार 'समयसार' चलता है तो चौदह हजार देते हैं। यहाँ थे न ? 'जयपुर' वाले हैं। जोहरी। चौदह बार तो सभा में पूरे शास्त्र कास्पष्टीकरण चला है।

वहाँ ऐसा कहा कि, आत्मा में जब तक सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं होता, तब तक व्रतादि की क्रिया चारित्र को प्राप्त होती नहीं, क्योंकि चारित्र का मूल कारण सम्यक् शांति का (कारण), चारित्र अर्थात् वीतराग आनंद, वीतराग आनंद का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं है तो चारित्र होता नहीं। वहाँ चारित्र में सम्यग्दर्शन ज्ञान को कारण कहा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान निमित्तकारण है और चारित्र नैमित्तिक कार्य है। कठिन बात है, भाई ! तत्त्व का अभ्यास (कठिन बहुत है)। अनंत काल में मेरी चीज़ को लाभ कैसे हो - ऐसी दरकार से कभी किया ही नहीं। अंधश्रद्धा, अज्ञानपने अनंतकाल गँवाया। समझ में आया ? 'छहढाला' में इसी में पहले कहा था न ? पहली ढाल में ही नरक के दुःख का वर्णन किया है। बहुत नरक का दुःख है। ओ..ह..हो... !

भगवान ! तेरे आत्मा की अंतरदृष्टि के भान बिना तूने अनन्तबार नरक में इतना दुःख सहन किया। पहली ढाल में आया है। नरकयोनि नीचे है। सात नरक है, नीचे सात पाताल हैं। समझ में आया ? हंबग नहीं है। प्रत्येक नरक में आत्मदर्शन बिना, सम्यग्दर्शन बिना अनंतबार उत्पन्न हुआ। आहा..हा...! पहले आया या नहीं ? उसमें नारकी के बहुत दृष्टान्त दिये हैं। देखो ! वहाँ भी कहा था। (दूसरी गाथा में लिखा है)।

जे त्रिभुवन में जीव अनन्त, सुख चाहें दुःखतैं भयवन्त;

तातैं दुःखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरु करुणा धार॥२॥

देखो ! अन्दर नरक में बहुत दृष्टान्त दिये हैं। नरक का दृष्टान्त (है), देखो ! नारकी को मारते हैं। उसे शिक्षा देते हैं। समझ में आया ? पहली ढाल में है। इसमें है। नारकी है न नारकी ? मारता है। तीसरा पन्ना, हिन्दी में तीसरा पन्ना है। देखो ! चार गति के चित्र दिये हैं। समझ में आया ? देखो ! चार गति दी हैं। इस और लकडीवाला (है वह) मनुष्य है। इस और देव है, इस ओर पशु है, इस ओर नारकी है। चारों दिये हैं। चार गति में सम्यग्दर्शन बिना अनंतबार चक्कर खाया। समझ में आया ? सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना चारों गति में (गया)। स्वर्ग भी अनंत बार मिला। पहली बार नहीं है। देखो ! स्वर्ग में देव लिया है। वहाँ देव में भी अनन्त बार गया। पुण्य किया, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा शुभभाव है, पुण्य होता है, पुण्य होता है, उससे स्वर्ग मिलता है; जन्म-मरण नहीं मिटते। पापमें से निकलकर स्वर्ग में आया इतना हुआ। फिर वहाँ से निकलकर चार गति में भटकेगा। समझ में आया ?

आत्म सम्यग्दर्शन के बिना, अंक बिना शून्य, शून्य की कीमत है नहीं। इसलिए यहाँ पहली नरक के दुःख का बहुत वर्णन किया है। खाता है, मारता है, देखो ! बहुत दुःख बताये हैं। पराधीन। सिंह मृग को खाता है, देखो ! बैल को काटते हैं। बहुत दृष्टान्त दिये हैं। समझ में आया ? नरक में आत्मा के भान बिना अनन्त बार ऐसा दुःख पाया।

कहते हैं, 'प्रश्न :- ज्ञान-श्रद्धान तो (युगपत्) एकसाथ होते हैं, तो उनमें कारण-कार्यपना क्यों कहते हो ?' यह बात अपने कल आ गई है।

'उत्तर :- वह हो तो वह होता है।' दीपक हो तो प्रकाश होता है, सम्यग्दर्शन हो तो ज्ञान

होता है। 'इस अपेक्षा से कारण-कार्यपना कहा है। जिस प्रकार दीपक और प्रकाश दोनों युगपत् होते हैं, तथापि दीपक हो तो प्रकाश होता है इसलिए दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। उसी प्रकार ज्ञान-श्रद्धान भी हैं।' 'मोक्षमार्गप्रकाशक' 'दिल्ली' से छपा है ना ?

'जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता, तब तक का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता।' चाहे सो शास्त्र पढ ले, सीखे परन्तु अन्तर अनुभव दृष्टि करके आत्मा आनन्दमय है - ऐसा अनुभव, प्रतीत न हो। तब तक सब ज्ञान मिथ्याज्ञान है। समझ में आया ? अब ज्ञान की बात करते हैं। देखो, तीसरा श्लोक। ९६ पत्रा।

सम्यग्ज्ञान के भेद, परोक्ष और देशप्रत्यक्ष के लक्षण

तास भेद दो हैं, परोक्ष परतछि तिन मांही;

मति श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मनतैं उपजाहीं।

अवधिज्ञान मनपर्जय दो हैं देश-प्रतच्छा;

द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिये जानै जिय स्वच्छा॥३॥

अन्वयार्थ :- (तास) उस सम्यग्ज्ञान के (परोक्ष) परोक्ष और (परतछि) प्रत्यक्ष (दो) दो (भेद हैं) भेद हैं; (तिन मांही) उनमें मति श्रुत मतिज्ञान और श्रुतज्ञान (दोय) यह दोनों (परोक्ष) परोक्ष ज्ञान हैं। (क्योंकि वे) (अक्ष मनतैं) इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से (उपजाहीं) उत्पन्न होते हैं। (अवधिज्ञान) अवधिज्ञान और (मनपर्जय) मनःपर्यय ज्ञान (दो) यह दोनों ज्ञान (देश-प्रतच्छा) देशप्रत्यक्ष। (हैं) हैं; (क्योंकि उन ज्ञानों से) (जिय) जीव (द्रव्य क्षेत्र परिमाण) द्रव्य और क्षेत्र की मर्यादा (लिये) लेकर (स्वच्छा) स्पष्ट (जानै) जानता है।

भावार्थ :- इस सम्यग्ज्ञान के दो भेद हैं - (१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष; उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं, क्योंकि वे दोनों ज्ञान इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से वस्तु को

१. जो ज्ञान, इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से वस्तु को अस्पष्ट जानता है, उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं।

अस्पष्ट जानते हैं। सम्यक्मतिश्रुतज्ञान स्वानुभवकाल में प्रत्यक्ष होते हैं, उनमें इन्द्रिय और मन निमित्त नहीं हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान २देशप्रत्यक्ष हैं, क्योंकि जीव इन दो ज्ञानों से रूपी द्रव्य की द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की मर्यादापूर्वक स्पष्ट जानता है।

‘सम्यग्ज्ञान के भेद, परोक्ष और...’ प्रत्यक्ष। आत्मा का सम्यग्दर्शन जो हुआ उसके साथ सम्यग्ज्ञान, ज्ञान के भेद (बताते हैं)।

तास भेद दो हैं, परोक्ष परतछि तिन मांही;

मति श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मनतैं उपजाहीं।

अवधिज्ञान मनपर्जय दो हैं देश-प्रतच्छ्रा;

द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिये जानै जिय स्वच्छ्रा॥३॥

क्या कहते हैं ? आत्मा में आत्मा की सम्यक्दृष्टि का भान होने पर जो सम्यग्ज्ञान होता है, धर्मी को-अंतरदृष्टिवंत को-आत्मा के दर्शनवंत को। गृहस्थाश्रम में हो या त्यागी हो, आत्मदर्शन हो (तब) साथ में ज्ञान होता है उस ज्ञान के भेद की बात भगवान, आचार्य ने जो कहे हैं, वह ‘दौलतरामजी’ कहते हैं। अपने घर की बात नहीं कहते।

‘उस सम्यग्ज्ञान के परोक्ष और प्रत्यक्ष दो भेद हैं;...’ सम्यग्ज्ञान के दो भेद। एक प्रत्यक्ष, एक परोक्ष। ‘(तिन मांही) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान यह दोनों परोक्षज्ञान हैं।’ यहाँ पहली बात व्यवहार से कही है। आत्मा में मति और श्रुत (ज्ञान) होता है, उसमें इन्द्रिय और मन का निमित्त है। आत्मा का अन्दर अनुभव होता है। उसमें निमित्त नहीं है। ‘तत्त्वार्थसूत्र’ में और व्यवहार शास्त्र में वेदन की बात नहीं की है। समझ में आया ?

२. जो ज्ञान, रूपी वस्तु को द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की मर्यादापूर्वक स्पष्ट जानता है उसे, देशप्रत्यक्ष कहते हैं।

आत्मा गृहस्थाश्रम में भी हो, अन्तर में आत्मज्ञान हुआ है, आत्मदर्शन हुआ है तो जब आत्मा अपने स्वरूप में ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान के भेद को दूरकर, अंतर अनुभव में होता है, तब अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन के काल में यह मति-श्रुत (ज्ञान) प्रत्यक्ष हो जाता है। समझ में आया ? बाकी के काल में मति-श्रुत पर का ज्ञान करता है। वह परोक्ष है। आहा..हा... !

वस्तु चैतन्यसूर्य... इन्द्रिय, मन से प्रत्यक्ष धूल लगता है। यह तो बाहर की वस्तु है। यह जानने में आता है। इन्द्रिय और मन के निमित्त से (पर जानने में आता है)। इससे तो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श जानने में आता है, उससे आत्मा जानने में आता है ? इन्द्रिय और मन के निमित्त से क्या आत्मा जानने में आता है ? इस आँख के द्वारा रूप को देखे। क्या आँख के द्वारा आत्मा को देखता है ? समझ में आया कि नहीं ?

अन्तर में आत्मा का दर्शन हुआ तो अंतरज्ञान में स्व को पकडकर, शांति के वेदन के काल में सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान, पाँचवे गुणस्थान में भी मति-श्रुत का ज्ञान, स्व के अनुभवकाल में स्व की अपेक्षा प्रत्यक्ष हो जाता है। समझ में आया ? आँख बन्द करे तो अंधेरा दिखे। वस्तु के भान बिना कैसे दिखाई दे ? कहा था न ? एक बच्चे की बात कही थी न ? अब दस साल का हुआ है, पहले सात साल का था। 'जामनगर'। महाराज ! आप कहते हो कि, आत्मा देखो। तो हम आँख बन्द करते हैं तो अंधेरा दिखता है। समझे ? वह लडका अब दस साल का हो गया। बहुत प्रश्न करता था, 'आत्मसिद्धि' का प्रश्न किया था। महाराज ! 'आत्मसिद्धि' में १९वीं गाथा में ऐसा आता है कि, केवलज्ञानी छद्मस्थ का विनय करे। केवली विनय क्यों करे ? ऐसा प्रश्न किया था। अभी दस वर्ष हुए हैं, पहले सात साल का लडका था, तब ऐसा प्रश्न किया था।

महाराज ! आप कहते हो कि, अन्दर आत्मा को देखो। आत्मा है। (मैं) आँख बन्द करता हूँ तो अंधेरा दिखता है और बाहर देखते हैं तो यह धूल दिखती है। भाई ! सात साल का लडका पूछता था।

मुमुक्षु :- मा-बाप होशियार है।

उत्तर :- माँ-बाप नहीं, उसका चाचा होशियार है। माँ-बाप साधारण हैं। अब की बार

प्रेम हुआ। अबकी बार चार दिन 'जामनगर' रहे न ? तो सुना। ओ..हो... ! बात कुछ अलग है। उसका दादा वकील है, वह नहीं मानता था। पहली बार व्याख्यान में आया था, तब कहता था, आत्मा (है नहीं)। फिर (सुना तो कहा), बात कोई और है। लडका उसके चाचे के साथ पढ़ता था। पढ़ते-पढ़ते उसे यह विचार आये। ओ..हो... ! आत्मा-आत्मा कहते हो कि, आत्मा को देखो। क्या देखे ? आँख बंद करते हैं तो अंधेरा दिखता है, बाहर देखते हैं तो यह दिखता है। हमे क्या देखना ? मैंने कहा, भैया ! सुन ! सुन ! अंधेरा दिखता है, किसमें दिखता है ? क्या अंधेरे में अंधेरा दिखता है ? तूने कभी विचार किया है ? अंधेरा अंधेरे में दिखता है ? या अंधेरा चैतन्यप्रकाश में दिखता है ? चैतन्यप्रकाशमय है उसमें, यह अंधेरा है, मैं अंधेरा नहीं। समझ में आया ? लडका बहुत चालाक है। अबकीबार बहुत प्रश्न करता था, बहुत प्रश्न करता था। समकित कैसे प्राप्त हो - उसकी बात तो करते नहीं - ऐसा पूछा था। मैंने कहा, भाई ! वह बात तो बहुत बार आती है, तुझे याद नहीं रहती।

आत्मा वस्तु है, भाई ! अंधेरा दिखता है, वह अंधेरा कौन देखता है ? अंधेरा कौन देखता है ? अंधेरे को अंधेरा देखता है ? ज्ञान। अंदर ज्ञान है, उस ज्ञान की सत्ता की मौजूदगी में अंधेरा दिखता है। अंधेरे की मौजूदगी में अंधेरा नहीं दिखता। ज्ञान की मौजूदगी में अंधेरा दिखता है। ज्ञान की मौजूदगी आत्मा है, अंधेरा पर है। समझ में आया ? लेकिन कभी विचार करने का अवसर लिया ही नहीं। अनादि काल से ऐसा अंधेरा ही अंधेरा चला है। केवली कैसे विनय करे ? तेरी बात सच है। 'आत्मसिद्धि' की १९वीं गाथा में लिखा है - ऐसा कहकर पूछता था। चालाक लडका है। समझ में आया ? क्या कहते हैं ?

मति-श्रुतज्ञान दोनों परोक्ष है, यहाँ लिखा है। भावार्थ में लिखेंगे। लेकिन आत्मज्ञान के समय, अनुभव के समय वह ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है। क्यों ? कि, स्वआश्रयमें वेदन है, तब प्रत्यक्ष है। पराश्रय में ख्याल है तो परोक्ष हो गया। प्रत्यक्ष और परोक्ष, कहाँ माथापच्ची करनी ? संसार की माथापच्ची हो तो सब करे। पाँच-पचास हजार प्राप्त करने को कितनी महेनत करता है ? देश (छोडकर) परदेश जाये, महेनत करे, मजदूरी करे।

मुमुक्षु :- इन्द्रिय का ज्ञान प्रत्यक्ष होगा।

उत्तर :- धूल में भी होता नहीं। आत्मा का ज्ञान अपने से होता है, उसका नाम प्रत्यक्ष। इन्द्रिय और मन से पर का ज्ञान करे, वह तो परोक्ष है। इस आँख से रूप देखा तो रूप प्रत्यक्ष है ? वह तो परवस्तु है। यह शब्द परवस्तु है। देखो ! आत्मा का अंदर ज्ञान करके...

मुमुक्षु :- रूपये बैंक में रखे हो उसमें गलती होवे ?

उत्तर :- ज्ञान में ख्याल है कि, पाँच हजार रखे हैं। बस ! इतना ख्याल (है)। इस ख्याल में भूल नहीं। चीज रहे या नहीं, उसके अधिकार की बात है ? वे ऐसा कहना चाहते हैं कि, (पैसे) प्रत्यक्ष है न ? प्रत्यक्ष कहाँ है ? प्रत्यक्ष तो उस ज्ञान को कहते हैं, जिसमें पर का आश्रय नहीं हो। प्रत्यक्ष ज्ञान इसे कहते हैं कि, जिसमें पर का आश्रय हो नहीं। पर का ज्ञान करता है, उसमें तो इन्द्रिय का आश्रय है। प्रत्यक्ष कहाँ से आया ? वह कहते हैं, देखो ! नीचे स्पष्टीकरण आयेगा।

‘अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान यह दोनों देशप्रत्यक्ष हैं; (क्योंकि उन ज्ञानों से) जीव, द्रव्य और क्षेत्र की मर्यादा लेकर स्पष्ट जानता है।’

‘भावार्थ :- इस सम्यग्ज्ञान के दो भेद हैं - (१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं।’ नीचे स्पष्टीकरण है। ‘जो ज्ञान इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से वस्तु को अस्पष्ट जानता है...’ अस्पष्ट जानता है, इसलिये परोक्ष ज्ञान कहते हैं।

‘सम्यक्मतिश्रुतज्ञान स्वानुभवकाल में प्रत्यक्ष होते हैं, उसमें इन्द्रिय और मन निमित्त नहीं हैं।’ देखो ! इसमें से लिखा है। कोई कहते हैं, उसमें नहीं था। लेकिन उसमें है। निश्चय भाव उसमें है। यह व्यवहार से बात कही है। निश्चय से तो आठ वर्ष की बालिका हो, आठ वर्ष की लडकी, उसे सम्यग्दर्शन और धर्म की पली अवस्था प्रकट हो तो उसे भी अंतर में ध्यानकाल में अपने आत्मा का ज्ञान, आनंद का वेदन, राग और निमित्त की अपेक्षा बिना होता है, उसका नाम सम्यग्ज्ञान स्व की अपेक्षा से कहने में आता है। कठिन बात (है)। समझ में आया ?

‘सम्यक्मतिश्रुतज्ञान स्वानुभवकाल में...’ स्वानुभव अर्थात् आत्मा के आनंद के अनुभव के काल में। समझ में आया ? गृहस्थाश्रम में हो, राजपाट आदि हो लेकिन अंतर

सम्यग्दर्शन, आत्मा का भान हुआ है। जब ध्यान में बैठते हैं तो अंतर के अनुभव में सब भूल जाते हैं, रागादि भूल जाते हैं, शरीरादि सब भूल जाते हैं। अंतर आत्मा में ज्ञान एकाग्र हो जाता है। उसमें आत्मा के अनुभव में अतीन्द्रिय आत्मा के आनन्द का वेदन आना, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। सम्यग्दृष्टि पशु को भी इतना ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। भगवान के समय में समवसरण में पशु भी आते थे कि नहीं ? समवसरण में है या नहीं ? देखो न ! हाथी, वाघ, नाग, सब भगवान के समवसरण में आते थे। सुना है या नहीं ? असंख्य पशु अभी सम्यग्ज्ञानी हैं। अढाई द्वीप बहार स्वयंभूरमण समुद्र है न ? स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्य पशु श्रावक हैं। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने कहा है। असंख्य पशु हैं। यहाँ तो मनुष्य को भान नहीं होता है, वह तो पशु है। वह पूर्व का भान करके अंदर आ जाता है। सम्यग्ज्ञानी है। समझ में आया ? हजार-हजार योजन का मच्छ। चार हजार हाथ का लंबा शरीर। स्वयंभूरमण समुद्र अन्तिम है न ? असंख्य द्वीप-समुद्र हैं उसमें अन्तिम समुद्र है। उसमें असंख्य पशु, मगरमच्छ, मच्छी सम्यग्दृष्टि है, आत्मज्ञानी है। वह भी अंतर में ध्यान करके आत्मा का ज्ञान अनुभव में प्रत्यक्ष कर लेते हैं। समझ में आया ?

ज्ञान की अपनी पर्याय की ताकत कितनी है ? उसकी उसे खबर नहीं। समझ में आया ? दूसरा ज्ञान उसे कहाँ है ? मछली को व्यापार-धंधे का ज्ञान होता है ? मेंढक को सम्यग्ज्ञान होता है। कौए को, बंदर को, हाथी को (होता है)। असंख्य हैं, असंख्य समुद्र हैं। भगवान ने ज्ञान में - केवलज्ञान में सब देखा है। समझ में आया ? आत्मा दे देते हैं, ऐसा नहीं। हम तो अन्तर में आनंदमूर्ति आत्मा है, वहीं मैं आत्मा हूँ। रागादि, विकल्प उठते हैं, वह मैं नहीं। ऐसा भान पशु में भी है। हाथी है ना ? त्रिलोकमंडन हाथी। 'रावण' का हाथी था न ? चौरासी लाख हाथी थे, उसका अग्र था। त्रिलोकमंडन हाथी। जब 'रामचंद्रजी', 'लक्ष्मणजी' ने लंका पर विजय प्राप्त की तो हाथी को 'अयोध्या' घर ले आये। हाथी को 'अयोध्या' लाये हैं। देखो हाथी !

यहाँ 'राम', 'लक्ष्मण', 'शत्रुघ्न' और 'भरत' चारों दर्शन के लिये जाते हैं। देखो चार। आभूषण पहने हैं। 'भरत' को वैराग्य हुआ। 'रामचंद्रजी' का भाई। अंदर शांति वीतरागता हुई।

हाथी को भान हुआ। अरे... ! मैं तो उसका मित्र था। 'भरत' और मैं दोनों मित्र थे। ये 'भरत' राजकुमार हुआ, मैंने माया की तो हाथी हुआ। हाथी को जातिस्मरण हुआ। आहा..हा... ! है ? देखो ! आभूषण निकाल दिये। सब निकालकर अकेले (खडे हैं)। हमारा आत्मा पूर्व में 'भरत' के साथ मित्र था। अरे... ! आत्मा क्या किया ? मैं पशु हो गया। ऐसा आत्मज्ञान हुआ, जिसमें जातिस्मरण (हुआ)। वैराग्य... वैराग्य। अन्तिम में समाधिमरण करके स्वर्ग में गया।

'त्रिलोकमंडन' हाथी पहले 'रावण' का (था), वह मधुवनमें से मिला था। मधुवन है न ? उसमें से शोध करके हाथी मिला था। बडा जंगली हाथी। वह भी वैराग्य पाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। पन्द्रह-पन्द्रह दिन के बाद भोजन लेता है। किसी की दरकार नहीं। समझ में आया ? पशु भी आत्मज्ञान और आत्मदर्शन करते हैं। आत्मा है या नहीं ? पशु का शरीर तो भिन्न है, शरीर से क्या है ? यह तो मिट्टी है। ऐसा अनुभव मति-श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में भी प्रत्यक्ष आत्मा का अनुभव करते हैं। उस समय मति-श्रुत को प्रत्यक्ष कहने में आता है।

'अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान यह दोनों देशप्रत्यक्ष हैं;...' थोडा जानता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जाने, मर्यादापूर्वक जानता है। अब चौथी गाथा देखो। अपने चौथी गाथा आयी।

सकल-प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण और ज्ञान की महिमा

सकल द्रव्यके गुन अनंत, परजाय अनंता;

जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता।

ज्ञान समान न आन जगतमें सुखको कारन;

इह परमामृत जन्मजरामृति रोग निवारन॥४॥

अन्वयार्थ :- (जिस ज्ञानसे) (केवलि भगवन्ता) केवलज्ञानी भगवान (सकल द्रव्यके)

छहों द्रव्यों के (अनन्त) अपरिमित (गुण) गुणों को और (अनन्ता) अनन्त (परजाय) पर्यायों को (एकै काल) एक साथ (प्रगट) स्पष्ट (जानै) जानते हैं (उस ज्ञानको) (सकल) सकलप्रत्यक्ष अथवा केवलज्ञान कहते हैं। (जगत में) इस जगतमें (ज्ञान समान) सम्यग्ज्ञान जैसा (आन) दूसरा कोई पदार्थ (सुख कौ) सुख का (न कारन) कारण नहीं है। (इहि) यह सम्यग्ज्ञान ही (जन्मजरामृति-रोग-निवारन) जन्म, जरा (वृद्धावस्था) और मृत्युरूपी रोगों को दूर करने के लिये (परमामृत) उत्कृष्ट अमृत समान है।

भावार्थ - (१) जो ज्ञान तीनकाल और तीनलोकवर्ती सर्व पदार्थों (अनन्तधर्मात्मक सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को) प्रत्येक समय में यथास्थित, परिपूर्णरूप से स्पष्ट और एकसाथ जानता है उस ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। जो सकलप्रत्यक्ष है।

(२) द्रव्य, गुण और पर्यायों को केवली भगवान जानते हैं, किन्तु उनके अपेक्षित धर्मों को नहीं जान सकते-ऐसा मानना असत्य है। तथा वे अनन्त को अथवा मात्र अपने आत्मा को ही जानते हैं, किन्तु सर्व को नहीं जानते - ऐसा मानना भी न्यायविरुद्ध है। केवली भगवान सर्वज्ञ होने से अनेकान्त स्वरूप प्रत्येक वस्तु को प्रत्यक्ष जानते हैं।

(-लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न-८७)

(३) इस संसार में सम्यग्ज्ञान के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह सम्यग्ज्ञान ही जन्म, जरा और मृत्युरूपी तीन रोगों का नाश करने के लिये उत्तम अमृत समान है।

‘सकल प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण और ज्ञान की महिमा’ देखो !

सकल द्रव्यके गुण अनंत, परजाय अनंता;

जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता।

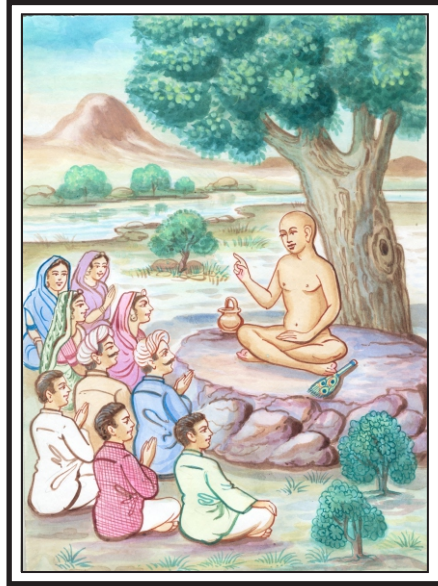
ज्ञान समान न आन जगतमें सुखको कारन;

इह परमामृत जन्मजरामृति रोग निवारन॥४॥

देखो ! जन्म-मरण, रोग के निवारण में आत्मज्ञान, ज्ञानस्वरूप एक कारण है। देखो !

इतना वजन दिया है। वजन देते हैं, क्या कहते हैं ? वजन कहते हैं ? जोर देते हैं। समझ में आया ? देखो, नीचे।

अन्वयार्थ :- ' (जिस ज्ञान से) केवलज्ञानी भगवान...' केवली परमात्मा को केवलज्ञान होता है। पहले सम्यग्दर्शन हुआ था, बाद में सम्यग्ज्ञान हुआ, और सम्यग्ज्ञान में आगे बढ़कर केवलज्ञान हुआ। यह केवलज्ञान, ज्ञान की पाँचवीं सम्यक् पर्याय है। यह पर्याय सम्यक्ज्ञान है। मति-श्रुत भी सम्यग्ज्ञान है, अवधि, मनःपर्यय भी सम्यग्ज्ञान है। अवधि से रूपी देखते हैं, मनःपर्यय से दूसरे के मन के भाव को देखते हैं। केवली तो तीन काल को देखते हैं। णमो अरिहंताणं। ये अरिहंत भगवान केवलज्ञानी हैं और सिद्ध भगवान केवलज्ञानी हैं।



अरिहंत भगवान महाविदेहक्षेत्र में बिराजते हैं। 'सीमंधर' परमात्मा जो यहाँ भगवान को स्थापित किये हैं, वे परमात्मा बिराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र में अभी अरिहंत हैं। वे भी केवलज्ञानी हैं। तीन काल, तीन लोक को जानते हैं। सिद्ध भगवान हुए। चौबीस तीर्थकर हैं, वे सिद्ध हो गये। उनको अभी शरीर नहीं है, अशरीरी हो गये। उपर लोकाग्र में बिराजते हैं। दोनों को केवलज्ञान है। कैसा केवलज्ञान है ?

' (सकल द्रव्य के) छहों द्रव्यों के...' देखो ! केवलज्ञानी भगवान ने सब द्रव्य अर्थात् भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं। उनके अपरिमित गुण देखे हैं। अनंतगुण ! और अनंती पर्याय। भगवान के ज्ञान में तीन काल तीन लोक सब प्रत्यक्ष दिखने में आया। यह केवलज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ? आत्मा का सम्यग्दर्शन और ज्ञान का अनुभव करते-करते उत्पन्न होता है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? देखो है न ?

‘एक साथ (प्रकट) स्पष्ट जानते हैं...’ ‘प्रकट’ शब्द पडा है न ? आत्मा में ज्ञान की इतनी ताकत है कि, इस ज्ञान का अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन-ज्ञान (हुआ), बाद में स्वरूप में स्थिरता-चारित्र अंदर में एकाग्रता (करते हैं तो) केवलज्ञान हो गया। एक सैकेण्ड के असंख्यवें भाग में भगवान तीन काल तीन लोक देखते हैं। समझ में आया ? सकलप्रत्यक्ष प्रकट केवलज्ञान है।

‘इस जगत में सम्यग्ज्ञान जैसा दूसरा कोई पदार्थ सुख का कारण नहीं है।’ देखो ! समझ में आया ? पुण्य-पाप का भाव है, वह सुख का कारण नहीं है - ऐसा उसमें आया। आहा..हा... ! क्या कहते हैं ? देखो ! ये तो ‘दौलतरामजी’ गृहस्थाश्रम में रहे, भगवान के ज्ञान का जो बोध हुआ उसे कहते हैं। ‘इस जगत में सम्यग्ज्ञान जैसा...’ अपने शुद्ध स्वरूप का - आत्मा का ज्ञान, दूसरा (ज्ञान) नहीं, शास्त्रज्ञान हो, ना हो, पर के ज्ञान के साथ संबंध नहीं। अपने आत्मा का अंतरज्ञान हुआ उसके समान, - ‘सम्यग्ज्ञान जैसा दूसरा कोई पदार्थ सुख का कारण नहीं है।’ आत्मा में सम्यग्ज्ञान ही समाधान और सुख का कारण है - ऐसा कहते हैं। स्त्री, कुटुंब, पैसा सुख का कारण नहीं है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- धूल में भी सुख नहीं है।

आत्मा का ज्ञान अन्तर में सम्यक् हुआ, उसके अलावा कोई सुख का कारण जगत में है नहीं - ऐसा भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर परमात्मा कहते हैं। कहो, भाई ! अच्छे पुत्र हो तो सुख का कारण है या नहीं ? नहीं ? आत्मा को पुत्र ही नहीं है। आत्मा का पुत्र क्या है ? उसने जन्म दिया है ? उसका आत्मा भिन्न है, उसका शरीर का रजकण भिन्न है, शरीर जड़ है। क्या आत्मा ने उसे उत्पन्न किया है ? आत्मा उत्पन्न करे-अज्ञान और राग-द्वेष। अथवा उत्पन्न करे-ज्ञान और आनन्द। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं... आहा..हा... ! एक आत्मा पर से निराला (है) - ऐसा ज्ञान हुआ तो इस ज्ञान के समान जगत में सुख का कारण कोई है नहीं। आनन्द की उत्पत्ति का कारण यह ज्ञान है।

दुनिया में भी जितनी समझ है, उतना उसे समाधान रहता है या नहीं ? वह तो संसार है, यह तो आत्मा की बात है। ओ..हो...! (इनका) शरीर भी मोटा है, पैसा भी बहुत है, भले ही लडके के पास है, लेकिन संतोष तो होता है न ? किसका लडका ? (इनका)। सूझन है, सूझन। शरीर में सूझन नहीं आती है ? सूझन आती है तो दुःख होता है और सूझन अन्दर में जाये तो... शरीर में सूझन होती है ना ?

आत्मा में शांति है। धूल में-पैसे में (नहीं है)। पुण्य-पाप का नया भाव करता है न ? वह भी विकार है, उसमें शांति-सुख नहीं है - ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! पूर्व के पुण्य के फल में तो सुख नहीं है, लेकिन वर्तमान नया पुण्य उत्पन्न करे, कषाय मंद (करे), दया, दान, भक्ति शुभराग है, उसमें भी सुख नहीं - ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहा..हा...! कैसे होगा ? भाई ! शरीर में रोग आता है उसके लिये नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि, भगवान आत्मा में अन्दर दल चैतन्यशांति पडी है, उसका जो ज्ञान है, उसके समान कोई सुख का कारण नहीं। तीन काल में कोई सुख का कारण नहीं। इन्द्र का अवतार या चक्रवर्ती का भव, सुख का कारण नहीं है। समझ में आया ? आ..हा...! क्या कहते हैं ? देखो ना ! 'दूसरा (कोई पदार्थ) सुख का कारण नहीं है।'

'यह सम्यग्ज्ञान ही (जन्म-जरा-मृति रोग...)' देखो ! 'जन्म, जरा...' अर्थात् '(वृद्धावस्था) और मृत्युरूपी रोगों को दूर करने के लिये...' ऐसा कहा। मृत्युरोग ऐसा कहा। 'दूर करने के लिये (परमामृत)...' परमामृत 'उत्कृष्ट अमृत समान है।' आत्मा अंतर में ज्ञान होना यह जन्म-जरा-मरण का नाश होने के महान उपाय है। आहा..हा...! शास्त्र की पढाई भी नहीं, दुनिया का ज्ञान भी नहीं। सब दुःख का कारण है। कहो, बराबर होगा यह ?

कहते हैं... आ..हा...! '(परमामृत)...' ऐसा शब्द पाठ में लिया है। 'दौलतरामजी' पंडित। परमामृत। भगवान आत्मा अन्तर अनाकुल आनन्दस्वरूप (है), उसका ज्ञान परम अमृत है कि, जिस ज्ञान से जन्म, जरा मृत्यु का रोग नाश का यह ज्ञान उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं। समझ में आया ? आत्मज्ञान-आत्मा का ज्ञान जन्म, जरा, मरण का नाश करनेवाला है - ऐसा कहते हैं। जिसने अन्तर आत्मा की कीमत की, ओ..हो...! मैं तो

परमस्वरूप परमात्मा हूँ। जैसे सिद्ध भगवान (है), 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' आता है न ? 'बनारसीदास' में आता है। 'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो, चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो, मोह महातम आत्म अंग, कियो परसंग महातम घेरो' अरे... ! मैं सिद्ध समान आत्मा (हूँ)। मैंने ही राग और विकल्प के साथ एकत्व करके दुःख को उत्पन्न किया। 'ज्ञानकला अब ऊपजी मोको, ज्ञानकला ऊपजी अब...' देखो ! 'बनारसीदास' गृहस्थाश्रम में रहते थे। पहले श्रृंगारी थे, महाभोगी, व्यभिचारी (थे)। बाद में आत्मधर्म पाया, सब पलट गया। समझ में आया ? 'ज्ञानकला ऊपजी अब मोकू' कहूँ गुं नाटक आगम केरो, याही परसाद सधै शिवमारग, वेगे मिटे घटवास वसेरो - इस घट में-मट्टी में बसना, वह सम्यग्ज्ञान द्वारा बसना छूट जायेगा। अब इसमें रहेंगे नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो...' मैं तो सिद्ध समान आत्मा हूँ - ऐसा सम्यग्दृष्टि पहले से ही मानते हैं। 'ज्ञानकला ऊपजी अब मोकू' - मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। मैं राग नहीं, पुण्य नहीं, शरीर नहीं। 'कहूँ गुण नाटक आतम केरो' मैं समयसार नाटक का वर्णन करूँगा। 'तास प्रसाद' सम्यग्ज्ञान का प्रसाद से। 'सधे शिवमारग' मोक्ष का मार्ग। 'वेगे मिटे घटवास वसेरो' - इस माँस में रहना, हड्डी में रहना, हमारे सम्यग्ज्ञान द्वारा इस घट में बसना बंद हो जायेगा। समझ में आया ? आहा..हा... ! समझे ?

मृति उसमें मृत्यु कहा है न ? जन्म, जरा, मृति शब्द इसमें लिखा है। दूसरे में मृत्यु शब्द है। ऐसा क्यो किया ? भाषा तो हिन्दी है न ? हिन्दी में क्यो (किया) ? मृति होना चाहिए न ? यह भाषा तो हिन्दी है न ? जन्म, जरा और मृत्यु - ऐसा जो रोग, वह आत्मज्ञान के द्वारा (मिटता है)। क्योंकि आत्मज्ञान परम अमृत है। अंतर स्वरूप का भान अमृत है, उससे सब जन्म, जरा, मरण का रोग नाश होता है। इसके अलावा दूसरा कोई उपाय है नहीं। विशेष कहेंगे...

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ८, रविवार
दि.१३-२-१९६६, गाथा ४, ५, प्रवचन नं.-२५

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। पहले के पुराने पंडित हैं। उन्होंने शास्त्र के अनुसार बनाया है। उसकी चौथी ढाल का चौथा श्लोक चलता है। हिन्दी में ९९ पन्ना है। ९९ को क्या कहते हैं ? ९९। देखो ! क्या कहा ? पहले दर्शन की व्याख्या कही। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान सच्चा होता नहीं और सम्यग्ज्ञान के बिना व्रत, तप चारित्र कभी कुछ सच्चा होता नहीं, झूठा है। पहले सम्यग्दर्शन की व्याख्या की। पहले आत्मा की प्रतीत अंतर में ऐसी लेनी चाहिए कि यह आत्मा, परद्रव्य से बिलकुल भिन्न-जुदा है। पर और आत्मा एक है ऐसी श्रद्धा करना। वह तो मिथ्यात्व है। समझ में आया ? शरीर, वाणी, यह जड़ मन, कर्म और आत्मा सब एक है ऐसी मान्यता तो अभेददृष्टि जड़ के साथ एक बुद्धि है। उसका नाम मिथ्यादृष्टि है। जड़ की क्रिया जड़ से होती है, आत्मा माने कि अपने से होती है तो जड़ और आत्मा दोनों को एक माना। आत्मा पर से भिन्न है - ऐसी दृष्टि हुई नहि। वह तो शरीर मे रूक गई। शरीर की क्रिया ऐसी हो, ऐसी हो, ऐसी हो। ये हमारे से होती है और उसमें हम हैं। शरीर की जड़ क्रिया में हम हैं, ऐसा माननेवाला शरीर से आत्मा भिन्न मानता नहीं। भिन्न माने बिना उसका सम्यग्दर्शन सम्यक्-सत्य नहीं होता। वह तो असत्यदृष्टि है।

मुमुक्षु :- जीव प्रेरणा तो करता है।

उत्तर :- कौन प्रेरणा करता है ? धूल में भी नहीं कर सकता। ये पक्षघात होता है। पक्षघात होता है, तब शरीर में आत्मा तो है। आत्मा देह का क्या कर सकता है ? मिट्टी है, यह तो जड़ अजीवतत्त्व है। भगवान ने तो कहा है कि, अजीवतत्त्व का द्रव्य-गुण-पर्याय अजीव में है। अजीवतत्त्व का द्रव्य-गुण-पर्याय... द्रव्य नाम वस्तु, गुण नाम शक्ति, पर्याय नाम अवस्था-हालत। जड़ का द्रव्य-गुण-पर्याय जड़ में है। वह अपने से है ऐसा मानना वह तो

जड़ को अपना आत्मा माना। वह दृष्टि तो मिथ्यात्व अज्ञान है; और पुण्य-पाप का विकल्प जो शुभ-अशुभभाव होता है, वह भी आस्रव है, वह भी आत्मा के स्वभाव से पर है। उसको भी अपना मानना वह मिथ्यादृष्टि है। उसे सम्यग्दर्शन है नहीं। सम्यग्दर्शन बिना उसे सत्यता प्रतीत होती नहीं।

परद्रव्य से भिन्न आत्मरुचि भला है, पहले आ गया न ? भगवान आत्मा परद्रव्य-शरीर, वाणी, कर्म और पुण्य-पाप का भाव, उससे भिन्न अपना अंतर में निर्विकल्प - राग के अवलंबन बिना पूर्ण स्वरूप की अंतर में प्रतीत-श्रद्धा, विश्वास, भान करके होना, उसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान सच्चा होता नहीं, उसका वर्तन भी सच्चा होता नहीं। आचरण-वर्तन, अनुष्ठान उसका सच्चा नहीं होता। सब झूठा वर्तन है।

कहते हैं कि, पहले सम्यग्दर्शन की व्याख्या कह गये हैं। अब उसके साथ सम्यग्ज्ञान (होता है), उसकी बात चौथी ढाल में चलती है। ज्ञान के पाँच भेद हैं। ज्ञान आत्मा का गुण है। उसकी पाँच भेद-पर्याय, पर्याय-अवस्था है। आत्मा त्रिकाल है, उसमें ज्ञानशक्ति-गुण त्रिकाल है। उसकी पाँच पर्याय-अवस्था है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल - ये पाँच आ गया। ये पाँच ज्ञान हैं ये ज्ञान ही आत्मा को सुख का कारण है - ऐसा चौथी (गाथा में) कहा, देखो !

सकल द्रव्यके गुन अनंत, परजाय अनंता;

जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता।

ज्ञान समान न आन जगतमें सुखको कारन;

इह परमामृत जन्मजरामृति रोग निवारन॥४॥

कितनी सादी हिन्दी भाषा ! परन्तु समझने की दरकार नहीं। सादी कहते हैं ? सादी... सादी सरल। हिन्दी में शंका हो जाती है कि, क्या हिन्दी है ? बहुत सरल भाषा है। सादी। क्या कहा ? देखो ! 'ज्ञान समान न आन, जगतमें सुखको कारन;...' ये पाँच ज्ञान कहे। इन पाँच ज्ञान में वास्तव में तो मति, श्रुत और केवल। तीन कारण हैं, भाई ! अवधि, मनःपर्यय तो एक

ऋद्धि है।

वास्तव में तो अन्तर में मति-श्रुतज्ञान आत्मा में पर का लक्ष्य छोडकर, शास्त्रज्ञान का भी लक्ष्य छोडकर, पुण्य-पाप के विकल्प का राग का भी लक्ष्य छोडकर ज्ञान का ज्ञान करना, अपने ज्ञानस्वरूप को स्वज्ञेय बनाकर अन्तरज्ञान करना वह पहले मतिज्ञान है। समझ में आया ? वह श्रुतज्ञान (है)। शास्त्र की भाषा है वह ज्ञान नहीं है, वह परवस्तु है। अपना आत्मा... उतना कहा न ? और पीछे भी आयेगा। समझ में आया ? पीछे आयेगा। 'आपो लख लीजे' छठी में आयेगा, छठी गाथा में आयेगा। 'संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लघ लिजे।' छठी में ऐसा आयेगा। आपो अर्थात् आत्मा।

भगवान आत्मा ज्ञान का समुद्र है। आहा..हा... ! इस ज्ञान का ज्ञान करना, ज्ञान का ज्ञान करना, उसका स्वसंवेदन में अपना ज्ञान का जानना, वेदन आना, उसका नाम मति और श्रुतज्ञान पहला कहते हैं। इस मति-श्रुतज्ञान के समान जगत में सुख का कोई कारण है नहीं। समझ में आया ? शरीर, वाणी, मन नहीं; पुण्य-पाप का शुभभाव - दया, दान, व्रत भाव हो, वह भी सुख कारण नहीं।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- धूल में सुख का फल है। क्या है ? पुण्य बँधे तो उससे पैसा मिले, धूल में सुख है ? ए..ई... ! पैसा मिले, दस-दस लाख का बडा मकान ! उसमें पंखे, धूल में भी सुख नहीं; अज्ञान है, दुःख है। पर मेरा है, यह मेरा है (मानता है वह) मूढ है। क्या वह चीज़ तेरी है ? तेरी हो तो दूर क्यों रहे ? तेरी हो तो तेरे आत्मा के साथ अन्दर घूस जाये।

मुमुक्षु :- मेरापना तो अन्दर में घूस गया है।

उत्तर :- घूस नहीं गया है, उसकी ममता रही है, अन्तर में नहीं घूस गई है। पर्याय में ममता रही है। वस्तु चिदानन्द भगवान आत्मा में तो ममता के परिणाम भी अन्दर नहीं घूस गये हैं। पर्याय में-अवस्था में विकार है। वह विकार भी आत्मा में नहीं है, यहाँ तो यह बताते है। परवस्तु तो नहीं, परन्तु विकल्प जो ममता है, वह भी चैतन्य में नहीं। ऐसी अन्दर में श्रद्धा करके आत्मा का ज्ञान करना। ममता का नहीं, पर का नहीं - ऐसा कहते हैं। देखो न ! उसने

कभी स्वयं की सम्हाल की नहीं। मूढ होकर अनंतर बार (भटका है) । पागल कहेंगे, अभी कहेंगे। करोडो भव में तप किया, व्रत लिया, शास्त्र पढ लिया लेकिन अपना आत्मा अन्दर ज्ञानस्वरूपी चैतन्य बिराजमान है उस ज्ञान का ज्ञान होने के अलावा कोई सुख का कारण है नहीं, लेकिन उसका ज्ञान कभी किया नहीं। समझ में आया ?

‘इहि परमामृत...’ इहि परमामृत। देखो ! यह तो परम अमृत है। आ..हा..हा... ! क्या ? आत्मा चैतन्यसूर्य भगवान है, उसका अन्दर में ज्ञान (होना अर्थात्) यह आत्मा ज्ञान(स्वरूप) है – ऐसा अन्तर में भान करना, यह परम अमृत है, परम अमृत है। इसके अलावा जगत में कोई अमृत है नहीं। आहा..हा... ! ‘जन्मजरामृति रोग निवारण।’ सम्यक् चैतन्य का अंतरज्ञान, आत्मा में अंतरज्ञान करना वह जन्म-जरा-मरण रोग का निवारण कारण है। समझ में आया ?

केवलज्ञान की बात की, उसकी भी श्रद्धा करनी चाहिए। केवलज्ञान एक समय में तीनकाल तीनलोक को देखता है। देखो ! भावार्थ है न ? भावार्थ। ९८ (पन्ना)। ‘(१) जो ज्ञान तीनकाल और तीनलोकवर्ती सर्व पदार्थों (अनंतधर्मात्मक...)’ धर्म अर्थात् स्वभाव। अनंत स्वभाव स्वरूप ‘(सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को) प्रत्येक समय में...’ प्रत्येक समय में केवलज्ञान तीनकाल तीनलोक को देखते हैं। एक समय में ! ‘यथास्थित, ...’ जैसा स्व और पर पदार्थ है ऐसा भगवान ज्ञान-केवलज्ञान एक समय में यथास्थित, यथास्थित (अर्थात्) जैसा है, जैसा है (वैसा जानते है)। तीनकाल तीनलोक के पदार्थ, द्रव्य-गुण-पर्याय, स्व-पर यथास्थित जैसे है (वैसे)। ‘परिपूर्णरूप से...’ ओ..हो... ! केवलज्ञान की अवस्था परिपूर्ण स्पष्ट (जानती है)। अन्दर में ‘प्रकट’ शब्द पडा है न ? ‘स्पष्ट और एकसाथ जानता है...’ आ..हा... ! अभी तो इसी में तकरार है न ? कि, केवलज्ञान जैसा निमित्त मिले वैसी पर्याय होती है, तब जाने।

मुमुक्षु :- ... निश्चित (पक्का) नहीं है।

उत्तर :- निश्चित नहीं हो तो केवलज्ञान कैसा ? केवलज्ञान में तो एक समय में तीनकाल तीनलोक में जहाँ-जहाँ जो अवस्था, ऊलटी अवस्था में निमित्त क्या है, क्षेत्र में क्या है, सब

भगवान पहले समय में तीनकाल देखते हैं। क्यों सेठ, बराबर है ? एकसाथ देखते-जानते हैं। अरिहंत का ज्ञान सैकेण्ड के असंख्य भाग में तीनकाल तीनलोक (जानता है)। ओ..हो... ! ऐसे ज्ञान का जिसे निश्चय हो, ऐसे केवलज्ञान का जिसे निश्चय हो, उसे परपदार्थ की अवस्था की कर्ताबुद्धि रहती नहीं। समझ में आया ? मैं पर का कर दूँ, भला कर दूँ, बिगाड दूँ, पर से मेरा सुधार हो जाये - ऐसी बुद्धि (रहती नहीं)। सर्वज्ञ पर्याय ने जैसा देखा है, ऐसा होता है - ऐसा माननेवाले को, सम्यग्ज्ञानी को मैं पर का कर दूँ और पर से मेरे में (कुछ) हो - ऐसी बुद्धि नष्ट हो जाती है। कहो, समझ में आया ?

वह आता है न ? 'भैया भगवतीदास' में। भैया ! 'जो जो देखी...' उसे बहुत याद रहता है, बहुत कंठस्थ है। बुद्धि बहुत है, हाँ ! बहुत कंठस्थ करता है। 'जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होंसी वीरा रे, अनहोनी कबहूँ न होसे, काहे होत अधीरा' 'भैया भगवतीदास', २५० वर्ष पहले हुए हैं। एक 'ब्रह्मविलास' पुस्तक है, उसमें लिखा है। उन्होंने 'ब्रह्मविलास' नाम का पुस्तक बनाया है, उसमें लिखा है। 'जो जो देखी वीतराग ने, ...' वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, जिनको एक समय में, एक सैकण्ड का असंख्य भाग, हाँ ! एक समय, उसमें तीनकाल तीनलोक जाना। 'जो जो देखी वीतराग ने, ते ते होंसी वीरा' हे वीर ! भगवान ने देखा है, वैसी पर्याय जगत में होगी। 'अनहोनी कबहूँ न होसी, काहे होत अधीरा' अरे.. ! मैंने ऐसा नहीं किया तो ऐसा हुआ। अरे.. ! क्या है ? जहाँ-जहाँ जड़ और चैतन्य की जिस समय जो अवस्था होनेवाली है व होगी - ऐसा में जाननेवाला हूँ, ऐसा निर्णय किये बिना सम्यक् केवलज्ञान का निर्णय उसे है नहीं। समझ में आया ? आहा.. !

धर्मी... धर्मी कहते हैं, लेकिन धर्म (क्या) ? आत्मा का धर्म ज्ञान और इस ज्ञान धर्म की पर्याय केवलज्ञान। केवलज्ञान पर्याय, और एक समय की पर्याय में भगवान तीनकाल तीनलोक देखते हैं। भगवान के ज्ञान में आगे-पीछे है नहीं। कहो, बराबर है ? भाई ! कठिन बात है। अरिहंत, अभी तो णमो अरिहंताणं पद की खबर नहीं है कि, अरिहंत का केवलज्ञान एक समय में तीनकाल तीनलोक देखते हैं। उसमें कोई परिवर्तन नहीं, तीनकाल में होता नहीं। ऐसे केवलज्ञान का अपने मति-श्रुतज्ञान में जो निश्चय करता है, उसे सुख आता है - ऐसा कहते हैं।

केवलज्ञान पूर्ण अवस्था है और उसका अवयव (मति-श्रुत-ज्ञान है)। केवलज्ञान अवयवी है, पूरी पूर्ण चीज है। और मति-श्रुतज्ञान उसका अवयव है। अवयव यानी अंश। जैसे सारा शरीर अवयवी है, हाथ-पैर आदि अवयव हैं। ऐसे केवलज्ञान एक समय की अवस्था तीनकाल तीनलोक देखे, (वह) अवयवी अर्थात् पूरी चीज़ है। मति-श्रुतज्ञान उसका अवयव है। सम्यग्दर्शन को... यहाँ सम्यग्दर्शन के बाद की बात ली है न ? सम्यग्दृष्टि को मति-श्रुतज्ञान, केवलज्ञान का अवयव अन्तर में ज्ञान से ज्ञान का भान होकर (प्रकट) हुआ है तो वह भी ऐसा जानता है कि, जब जैसा होनेवाला है, वैसा होगा; मैं किसी का कर्ता नहीं, मैं किसी के पास से अपनी शांति लेता नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! ये व्यापार और धंधा होशियार हो वह कर सकता है कि नहीं ? होशियार क्या है ?

यहाँ तो कहते हैं, भैया ! जिसे केवलज्ञान का निश्चय हुआ, उसे मति-श्रुतज्ञान अन्तर में, आत्मज्ञान में से प्रकट हुआ। ऐसे ज्ञान में केवलज्ञानी जैसा देखते हैं, वैसा मति-श्रुतज्ञान (स्व) और रागादि पर हैं, ऐसा जानता है, जानता है। ऐसे ज्ञान समान जगत में अन्य कोई सुख का कारण नहीं है। समझ में आया ? देखो ! सुख का कारण केवलज्ञान। केवलज्ञान का अंश मति और श्रुत, ये तीनों सुख के कारण हैं। इसके अलावा कोई सुख का कारण है नहीं।

‘(२) द्रव्य, गुण और पर्यायों को केवली भगवान जानते हैं,...’ भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर अनन्त पदार्थ, उसके अनन्त गुण और उसकी अनन्त अवस्था अर्थात् पर्याय (को जानते हैं)। ‘किन्तु उनके अपेक्षित धर्मों को नहीं जान सकते...’ वर्तमान में ऐसी कुछ बात चलती है न ? भगवान सबकुछ जाने, सबका जानते हैं। उसका कुछ अपेक्षित नहीं जानते हैं, ऐसा है नहीं। नहीं जाने, ऐसा भगवान में होता ही नहीं। सब सब (जानते हैं)। तीनकाल तीनलोक के अनन्तगुना होता, अनन्तगुना होता तो भी केवलज्ञानी जानते। समझ में आया ? ‘उनके अपेक्षित धर्मों को नहीं जान सकते-ऐसा मानना असत्य है।’ अपेक्षित अर्थात् ? ये छोटा-बड़ा, ऊंचा-नीचा कितना है, ऐसे धर्म हैं, वे सब अपेक्षित धर्म हैं, ये सब भगवान तो जानते हैं।

‘तथा वे अनन्त को अथवा मात्र अपने आत्मा को ही जानता है,...’ क्या कहते हैं ?

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि, अनन्त को जाने, सर्व को नहीं जाने। भगवान सर्वज्ञ अनन्त को जाने, सर्व को नहीं जाने। सर्व को जाने तो वहाँ अन्त आ जायेगा। आहा..हा... ! ऐसा है नहीं। अबी केवलज्ञान का निश्चय नहीं है, मति-श्रुतज्ञान का ठिकाना नहीं उसे दर्शन नहीं, ज्ञान नहीं तो चारित्र तो होता ही नहीं। **‘किन्तु सर्व को नहीं जानते-ऐसा मानना भी न्यायविरुद्ध है।’** भगवान तो तीनकाल तीनलोक को जानते हैं। (कोई) कहता है कि, सब को जाने तो ज्ञान में सब अनन्त आ गया, तो अनन्ता का ज्ञान हुआ, तो वहाँ अन्त आ गया या नहीं ? कहाँ से अन्त आया ? अनन्त को अनन्त जानते हैं। ऐसा मति-श्रुतज्ञान में निर्णय होता है। पहले सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में गृहस्थाश्रम में हो तो भी सम्यग्दर्शन में, मति-श्रुतज्ञान में ऐसा निश्चय होता है। इस ज्ञान के समान कोई सुख नहीं। ये ज्ञान, बाकी कोई बातें करने की यहाँ बात नहीं है। समझ में आया ?

‘केवलि भगवान सर्वज्ञ होने से अनेकान्तरूप...’ अनेकान्त अर्थात् अनन्त धर्म है (उन) सबको। **‘प्रत्येक वस्तु को प्रत्यक्ष जानते हैं।’** एक समय में तीनकाल तीनलोक को जानते हैं। केवलज्ञानी का मति-श्रुतज्ञानी पुत्र है। लघुनन्दन कहा या नहीं ? कहाँ कहा है ? भैया ! **‘भेदविज्ञान जग्यो जिनके घट।’** **‘बनारसीदास’** में आता है या नहीं ? समझ में आया ? **‘बनारसीदास’** में लघुनन्दन आता है। **‘ते जगमांही जिनेश्वर के लघुनन्दन।’** **‘बनारसीदास’** हुए न ? **‘समयसार नाटक’** (लिखा है)। सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि जिनेश्वर के लघुनन्दन हैं, छोटे पुत्र है। बड़े पुत्र संत, गणधर आदि आत्मानन्द में बहुत झूलनेवाला। समकिती भी भगवान के लघुनन्दन हैं, छोटे पुत्र हैं। ओ..हो..हो... ! समझ में आया ? **‘स्वार्थ के साचे’** ऐसा आता है न ?

‘भेदविज्ञान जग्यो जिनके घट... भेद विज्ञान जग्यो जिन के घट, शीतल चीत भयो जिम चंदन, केली करे शिवमारग मांही, जिनेश्वर के लघुनन्दन... जगमांही जिनेश्वर के लघुनन्दन’ आ..हा... ! देखो ! गृहस्थाश्रम में सम्यग्दृष्टि ऐसे होते हैं। समझ में आया ? भेदविज्ञान-राग पुण्य और पर से भिन्न आत्मा (है ऐसी) ग्रंथिभेद होकर **‘भेदज्ञान जग्यो जिनके घट, शितल चित्त भयो जिम चंदन’** समझ में आया ? मैं तो ज्ञान हूँ। गृहस्थाश्रम में हो, रागादि हो तो भी मैं जाननेवाला हूँ, मैं तो ज्ञान हूँ। गृहस्थाश्रम में हो, रागादि हो तो भी मैं जाननेवाला हूँ, मैं तो

जानन हूँ वही आत्मा हूँ। रागादि आत्मा नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? उनको लघुनंदन कहा।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- बहुत। गणधरो, तों हैं न ! कहा न, बीच में आ गया, आपने सुना नहीं। संतो, मुनियों आत्मज्ञान में मस्त। अतीन्द्रिय आनन्द में मस्त झुलनेवाले छठे-सातवें गुणस्थान में (झुलनेवाले) भावलिंगी संत बड़े पुत्र हैं, ये लघुपुत्र हैं। सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में रहते हो तो भी लघुनंदन हैं। समझ में आया ? 'बनारसीदास' कहते हैं। 'समयसार नाटक' उन्होंने बनाया है। ये 'समयसार नाटक' है न ? देखो ! (मंगलाचरण में) छठ्ठा श्लोक है।

भेदविज्ञान जग्यो जिन्हके घट,

सीतल चित्त भयो जिम चंदन।

गृहस्थाश्रम में भी देह, वाणी (है, वह) मैं नहीं। दया, दान, व्रत का विकल्प उठता है वह भी राग है, मैं नहीं।

केलि करै सिव मारग में,

जग माहिं जिनेसुरके लघु नंदन।

'बनारसीदास' देखो ! 'समयसार नाटक' (लिखा है)। पहले श्रृंगारी पुरुष थे। श्रृंगारी पुस्तक बहुत बनाये (थे), जब आत्मभान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ तो 'गोमती' नदी में डाल दिया। कल आया है। पुस्तक है या नहीं ? कहाँ है ? यहाँ होवे तो काम आये न। श्रृंगारी पुस्तक बनाये थे न ? पहले श्रृंगारी बहुत थे। बाद में आत्मज्ञान हुआ। संसार में रहने पर भी, स्त्री-पुत्र (होने पर भी) मैं आनन्दस्वरूपी आत्मा हूँ, मैं देह की क्रिया नहीं, जड़ नहीं, राग नहीं। ऐसा भान हुआ तो श्रृंगारी पुस्तक थे न ? (उसे) या... होम (कर दिया)। कल ही आया है, हाँ ! देखो, देखो भैया ! कल ही आया है। देखो, ये 'बनारसीदास' हैं। देखो ! ये पुस्तक समुद्र में डाल दिये। श्रृंगारी पुस्तक बनाये थे (उसे) जाकर (डाल दिया)।

भगवान आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर ने बनाये हुए शास्त्र, सन्तों ने शास्त्र कहे, उसमें आत्मा का

भान हुआ। विरुद्ध शास्त्र जो लिखे थे, (उन्हें) डाल दिया। समझ में आया ? ऐसा कल ही आया है, देखो ! 'दृष्टि बदलते ही महाकवि पंडित बनारसीदासजी ने अपनी विषयवर्धक नवरस रचना गोमती नदी में बहा दी।' ये कल ही आया है। सेठ ! कल आया है, कल। क्या कहते हैं ? 'सन्मति सन्देश' है न ? 'दिल्ली' से निकलता है। समझ में आया ? आहा..हा... ! गृहस्थाश्रम में हो लेकिन आत्मा की अन्त प्रतीत हुई तो कहते हैं।

सत्यसरूप सदा जिन्हगै,

प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन।

'सत्यसरूप...' ज्ञानानन्दस्वरूप का भान। आठ वर्ष की लडकी को भी होता है। भान करे तो। भान करे बिना सौ वर्ष की उम्र में मर जाये। समझ में आया ? 'सत्यसरूप सदा जिन्हकै, प्रगट्यौ अवदात...' अवदात अर्थात् निर्मल।

सांतदसा तिन्हकी पहिचानि,

करै कर जोरि बनारसि वंदन।

'बनारसीदास' कहते हैं, ऐसा सम्यग्ज्ञानी को मैं वंदन करता हूँ। समझ में आया ? भले गृहस्थाश्रम में हो लेकिन सम्यग्दर्शन और ज्ञान (हुआ है)। शांत... शांत... आत्मा में शांति बड़ी है, ऐसा सम्यग्ज्ञान हुआ तो कहते हैं कि, मैं उनको वंदन करता हूँ। बहुत अच्छा श्लोक बनाया है। 'समयसार नाटक' समझ में आया ?

'(२) इस संसार में सम्यग्ज्ञान के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है।' ये सम्यक् मति-श्रुतज्ञान, हाँ ! और केवलज्ञान। दोनों लेने, भाई ! समझ में आया ? सम्यग्दर्शन के बाद जो पाँच ज्ञान की बात कही, (उनमें से) मति-श्रुतज्ञान और केवलज्ञान। केवलज्ञान तो अनन्त आनन्द का कारण है परन्तु मति-श्रुतज्ञान भी सुख का कारण है। क्या हो ? जगत बोलता है तो बोलने दो, होता है तो होने दो, मेरे में क्या है ? मेरा कोई पर के साथ संबंध है नहीं। समझ में आया ? आत्मा ज्ञानस्वरूप का भान करके, अपने ज्ञान में शांति का वेदन करते हैं, उसे जन्म, जरा, मरण का नाश करने का उपाय हाथ लगा है। दूसरे को ज्ञान बिना जन्म-मरण मितते नहीं। समझ में आया ? अब पाँचवा श्लोक।

ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मनाश के विषय में अन्तर

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;

ज्ञानीके छिनमें, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।

मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायौ;

पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो॥५॥

अन्वयार्थ :- (अज्ञानी जीवको) (ज्ञान विना) सम्यग्ज्ञान के बिना (कोटि जन्म) करोड़ों जन्मों तक (तप तपैं) तप करने से (जे कर्म) जितने कर्म (झर) नाश होते हैं (ते) उतने कर्म (ज्ञानीके) सम्यग्ज्ञानी जीव के (त्रिगुप्ति तैं) मन, वचन और काय की ओर की प्रवृत्ति को रोकने से (निर्विकल्प शुद्ध स्वभाव से) (छिनमें) क्षणमात्रमें (सहज) सरलतासे (टरैं) नष्ट हो जातै हैं। (यह जीव) (मुनिव्रत) मुनियों के महाव्रतों को (धार) धारण करके (अनन्तबार) अनन्तबार (ग्रीवक) नववें ग्रैवेयक तक (उपजायो) उत्पन्न हुआ, (पै) परन्तु (निज आतम) अपने आत्मा के (ज्ञान विना) ज्ञान बिना (लेश) किंचित्मात्र (सुख) सुख (न पायो) प्राप्त न कर सका।

भावार्थ :- मिथ्यादृष्टि जीव आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के बिना करोड़ों जन्मो-भवों तक बालतपरूप उद्यम करके जितने कर्मों का नाश करता है उतने कर्मों का नाश सम्यग्ज्ञानी जीव स्वोन्मुख ज्ञातापने के कारण स्वरूपगुप्ति से-क्षणमात्र में सहज ही कर डालता है। यह जीव, मुनि के (द्रव्यलिंगी मुनि के महाव्रतों को धारण करके उनके प्रभाव से नववें ग्रैवेयक तक के विमानों में अनन्तबार उत्पन्न हुआ, परन्तु आत्मा के भेदविज्ञान (सम्यग्ज्ञान अथवा स्वानुभव) के बिना जीव को वहाँ भी लेशमात्र सुख प्राप्त नहीं हुआ।

‘ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मनाश के विषय में अन्तर।’ धर्मी-ज्ञान और अज्ञानी के कर्मनाश के विषय में अन्तर हैं।

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;

ज्ञानीके छिनमें, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।

मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायौ;

पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो॥५॥

‘सहज’ पर वजन है। देखो ! नीचे लिया है। नीचे हैं न ? देखो ! अज्ञानी मुनि। क्या है वह ? कमण्डल और पींछी हैं। कितने भव धारण किये हैं, ऐसा लिखते हैं। एक, दो, तीन, चार करते-करते अनन्त (भव किये)। नीचे हैं न ? आत्मा ज्ञान के भान बिना क्रियाकाण्ड इतनी की। ‘कोटी जन्म तप,’ यहाँ तो करोड़ भव लिखा है, लेकिन अनन्त भव लेना। समझ में आया ? ऐसे अनन्त भव किये, आत्मज्ञान बिना मुनिव्रत ले लिये। शास्त्रज्ञान किया, अठ्ठावीस मूलगुण पाले, पंच महाव्रत पाले। वह सब तो विकल्प, राग है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- पंचमकाल में तो...

उत्तर :- पंचमकाल में क्या ? पंचमकाल में क्या कीचड की सुखड़ी होती है ? सुखड़ी नहीं होती ? सुखड़ी। घी, गुड़ और आटा (मिलाकर बनाते हैं)। कोई घी के बदले पानी डालकर सुखड़ी बनाते हैं ? सुखड़ी.. सुखड़ी नहीं होती ? आप लोग क्या कहते हैं ? सुखड़ी कहते हैं न ? सुखड़ी में घी, आटा और गुड़ तीन आते हैं, या दूसरी (चीज़) आती है ? ऐसे आत्मा के मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन आते हैं। कोई लाख वर्ष पहले सुखड़ी बनाये तो भी घी, गुड़ और आटा (मिलाकर ही बनती थी और) अभी बनाये तो भी ये तीन (मिलाकर बनाते हैं)। ये तीन की दूसरी चीज हो जाती है ? लाख, करोड वर्ष पहले बनाये तो भी ये है, अभी बनाये तो भी ये है, गरीब बनाये तो भी वही है। भले थोडा घी डाले। लेकिन घी, गुड़ और आटा की सुखड़ी बनती है। पंचम काल में दूसरा धर्म और चौथे काल में दूसरा धर्म, ऐसा होता है ? समझ में आया ? सुखड़ी दूसरी नहीं होती, धर्म दूसरा नहीं होता। समझ में आया ?

कहते हैं, ‘कोटि जन्म तप तपैं,...’ देखो ! पहले दृष्टान्त लिया है न ? अनन्तबार मुनिपिना लिया और अनन्तबार शास्त्र का पढना भी किया परंतु आत्मज्ञान नहीं किया। आहा..हा...! देखो ! यह क्या कहते हैं ? ‘दौलतरामजी’ चौथी ढाल में पाँचवी गाथा में कहते हैं। ‘(ज्ञान बिना) सम्यग्ज्ञान के बिना करोडो जन्मों तक...’ करोडो भव, करोडो भव और

एक-एक भव करोड़-करोड़ पूर्व का। क्या कहते हैं ? एक एक भव करोड़ पूर्व का। बड़ा आयुष्य होता है न ? करोड़ पूर्व का एक (भव)। करोड़ पूर्व किसे कहते हैं ? वीतराग की बड़ी बात है। एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ छप्पन हजार करोड़ वर्ष जाये। उसे एक पूर्व कहते हैं। सत्तर लाख करोड़ छप्पन हजार करोड़ वर्ष का एक पूर्व ! ऐसे-ऐसे करोड़ पूर्व का भगवान का आयुष्य है। 'सीमंधर' भगवान महाविदेहक्षेत्र में (बिराजते हैं)। ऐसे करोड़ पूर्व का आयुष्य (लेकर) मनुष्य में अनन्तबार आया। करोड़ पूर्व ऐसे करोड़ों भव। क्या कहते हैं ?

करोड़ों भव (किये ऐसा कहा उसमें) उपरा-उपर मनुष्यभव आठ मिलते हैं। समझ में आया ? मनुष्यभव भी उपराउपर मिलता है। उपराउपर समझे ? एक के बाद दूसरा। (ऐसे) आठ भव मिलते हैं। आठ भव एकसरीखे मिले, या जैनकूल में अवतार मिले ऐसा भी नहीं। मनुष्यभव आठ उपराउपर मिले। उसमें कोई बार जब जैनकुल में जन्म लिया हो और करोड़ पूर्व का आयुष्य हो, तब करोड़ पूर्व में मास खमण - महिने-महिने के उपवास करने, पंच महाव्रत का पालना, ऐसा एक भव में करोड़ पूर्व में सत्तर लाख करोड़ छप्पन हजार करोड़ वर्ष ऐसा आठ वर्ष से त्याग करके करोड़ पूर्व तप करे। क्रियाकां, व्रत, नियम, तपस्या करोड़ भव (करे)। करोड़ भव कब आयेंगे ? उपराउपर मनुष्य तो होता नहीं। एक के बाद एक तो थोड़े ही होते हैं। इतने-इतने करोड़ भव... देखो !

'करोड़ों जन्मों तक तप करने से...' मुनिपना, व्रत लेने से। अकेले पंच महाव्रत। अन्दर आत्मज्ञान, आनन्द का भान नहीं, सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्ज्ञान नहीं। समझ में आया ? 'तप करने से जितने कर्म नाश होते हैं, उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी जीव के...' करोड़ों भव में, एक-एक भव में करोड़ों वर्ष। समझ में आया ? अज्ञानतप है। आत्मा क्या चीज है - (उसका ज्ञान नहीं)। जड़ का कर्ता नहीं, महाव्रत का राग का विकल्प उठता है वह भी पुण्यबन्ध का कारण (है)। उससे रहित आत्मा का अंतरज्ञान नहीं तो वह सब क्रियाकाण्ड, उसमें करोड़ों भव में और एक-एक भव में करोड़ों वर्षों में तप करते-करते सूख जाये (उसमें) उसके जितने कर्म खिरते हैं उससे अनन्तगुने कर्म सम्यग्ज्ञानी अन्तर में मनमें से विकल्प का लक्ष्य छोड़कर, अपने आत्मा का ज्ञान करके अन्तर में एकाग्र होता है तो उससे अनन्तगुने कर्म खिर जाते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... !

आत्मा वस्तु है स्वभाव के भान बिना अशुद्धता या कर्म टले कैसे ? बारह व्रत है या पंच महाव्रत है या तपस्या है, वह तो शुभराग विकल्प है। शुभराग है (तो) पुण्य बँध जाये, लेकिन निर्जरा हो जाये, धर्म होवे (ऐसा नहीं)। आत्मा अन्दर ज्ञानानन्दस्वरूप एक क्षण भी, एक क्षण मन के विकल्प की रुचि छोड़कर अंतरज्ञान में ज्ञान में ज्ञान का एकाग्र होना, ऐसे सम्यग्ज्ञानी एक क्षण में अनन्त कर्म की निर्जरा करते हैं। कहो, समझ में आया ? 'नाश होते हैं।'

'उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी जीव के मन, वचन और काय की और की प्रवृत्ति को रोकने से...' अर्थात् सम्यग्ज्ञान में पर की प्रवृत्ति का लक्ष्य छोड़कर, राग का भी लक्ष्य छोड़कर अपने स्वरूप में, ज्ञानानन्द में एकाकार होकर 'निर्विकल्प शुद्ध...' स्वात्मानुभव (करना)। राग, पुण्य विकल्प से रहित भगवान आत्मा का स्वानुभव '(छिन में)...' शुद्ध स्वानुभव। अशुद्ध का अनुभव, पुण्य-पाप का अनुभव तो अनादिकाल का है, वह कोई चीज़ नहीं, कोई धर्म नहीं। पुण्य-पाप का भाव जो शुद्धस्वरूप का अनुभव (होता) है। 'क्षणमात्र में सरलता से...' इतने शब्द हैं। (अज्ञानी) हठ से इतना करता है, मूल सच्ची निर्जरा होती नहीं। समझ में आया ? सम्यग्ज्ञानी सरलता से सहजपने हठ बिना, आग्रह बिना, कष्ट बिना स्वभाव में शुद्ध चैतन्य में एकाग्र होकर सरलता से, स्वभावपने दुःख का अथवा कर्म का नाश करते हैं। समझ में आया ?

'सहज' शब्द है। सहज अर्थात् सरलपने। सरलपने अर्थात् आत्मा के ज्ञान में आनन्द करते कष्ट सहना पड़े - ऐसा नहीं। कष्ट सहना पड़े, वह तो आर्तध्यान हुआ। अरे... ! यह कष्ट आया। वह तो आर्तध्यान है, वह धर्म नहीं; वह तो पापबंध का कारण है। ज्ञानस्वभाव शुद्ध चैतन्य की अंतर में दृष्टि से एकाग्र होकर सहजपने शांति के वेदन द्वारा पूर्व के अनन्त भव के कर्मों को नाश कर देते हैं। समझ में आया ? कहो, समझ में आता है या नहीं ?

मुमुक्षु :- अज्ञानी की आँख खोलते हैं।

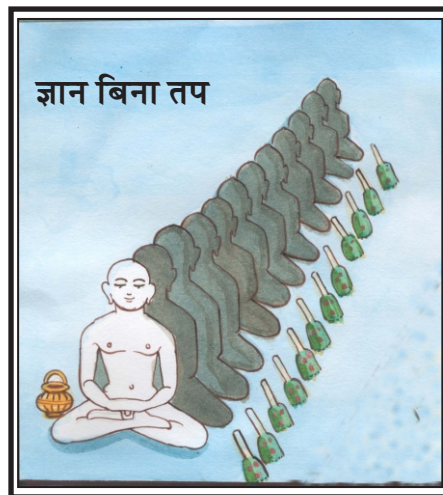
उत्तर :- बापू ! आत्मा का ज्ञान कर, इसके बिना तेरे कर्म नहीं खिरेंगे, ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! भाई ! भगवान ! तू जाग। तेरी जागृत अवस्था कर, प्रभु ! तेरी अन्तर की जागृत अवस्था बिना क्रियाकांड में तुझे कुछ लाभ नहीं होगा। आहा..हा... ! समझ में आया ?

‘(मुनिव्रत)...’ देखो ! आत्मज्ञान बिना, सम्यग्दर्शन बिना, आत्मा के निर्विकल्प राग रहित के अनुभव बिना ‘मुनियों के महाव्रतों को धारण करके...’ अनन्तबार महाव्रत धारण किये। वह तो पुण्य, राग है, विकल्प है, पुण्यबन्ध भाव है। आहा.. ! देखो ! ये ‘दौलतरामजी’ गृहस्थाश्रम में रहने पर भी सत्य वस्तु को प्रसिद्ध करते हैं, जाहिर करते हैं। भाई ! आत्मा अन्दर रागरहित पुण्यरहित (है ऐसा) ज्ञान (किये) बिना महाव्रत अनन्त बार धारण किये। समझ में आया ? एकदम आवेश में आकर मुनिपना ले लिया, पंच महाव्रत लिये और पंच महाव्रत में अट्ठाईस मूलगुण भी निरतिचार पाले, परन्तु वह तो राग है। आत्मा उससे पार है, उसका ज्ञान अन्दर नहीं हुआ। समझ में आया ?

भगवान आत्मा... ! विकल्प पुण्य-पाप, व्रतादि का विकल्प तो पुण्य है। हिंसा, जूठ का भाव तो पाप है। दोनों से (भिन्न होकर) आत्मा का अन्तर में ज्ञान का ज्ञान करना, आत्मा का ज्ञान करना, आत्मा के स्वसन्मुख होकर अपनी एकाग्रता करना, ऐसे ज्ञान से अनन्त कर्म झर जाते हैं। ऐसे ज्ञान बिना अनन्तबार मुनिव्रत धारण किये। नग्नपना मुनिव्रत, हाँ ! अनन्त बार नग्नपना धारण किया, पंच महाव्रत अट्ठाईस मूलगुण भी अनन्त बार (धारण किये)। उस ओर दृष्टान्त दिया है न ? एक सफेद शरीर किया है बाद में काला-काला करके उसकी परछाई की है। है या नहीं ? कहाँ है ? ये नहीं है मुनि ? देखो ना यह मुनि। यह एक (शरीर) और ऐसे-आसे अनन्त शरीर किये। देखो न, शरीर... शरीर... शरीर... शरीर... है या नहीं ? उसमें है ? एक, दो, तीन, चार इतने तो लिये हैं (ऐसे) अनन्त ले लेना।

मुमुक्षु :- अंधेरा है।

उत्तर :- वह अंधेरा नहीं है। शरीर, शरीर बनाया है। एक शरीर, दो शरीर, तीन शरीर ऐसे



अनन्त शरीर, मुनिव्रत लेकर अनन्त शरीर धारण किये। अनन्त बार मुनिपना (लिया)। है न ? देखो ! मोरपींछी भी है, यहाँ कमण्डल भी है - ऐसा अनन्त बार हुआ, लेकिन विकल्प का कर्ता मैं नहीं, देह की क्रिया का मैं करनेवाला नहीं। मैं तो चिदानन्द ज्ञानज्योति आनन्द हूँ, ऐसे सम्यक्ज्ञान बिना उसमें कोई लाभ हुआ नहीं। है या नहीं ? पुस्तक तो साथ में है। यहाँ का नहीं बनाया है, चित्र तो पहले से बने हैं। समझ में आया ?

‘मुनियों के महाव्रतों को धारण करके अनन्तबार...’ देखो ! एक बार नहीं। हजारों रानियों का त्याग कर दिया, अरबों रूपिये छोड़ दिए, बारह-बारह महिने के उपवास अनन्त बार किये परन्तु आत्मज्ञान नहीं किया। आत्मज्ञान बिना वह सब उसका संसार में गया। परिभ्रमण रहा, जन्म-मरण का नाश हुआ नहीं और गृहस्थाश्रम में रहे हो, हजारों रानियों का त्याग न हो, राग हो फिर भी रागरहित आत्मा का ज्ञान करने से अल्पकाल में वह कर्म का नाश करके, चारित्र लेकर मुक्ति को पायेगा। समझ में आया ?

‘अनन्तबार नववें ग्रैवेयक...’ नव ग्रैवेयक समझते हो ? अन्त में है। ये चौदह ब्रह्मांड-चौदहराजु (लोक) है न ? वह पुरुष के आकार से है। जैसा पुरुष है न ? पुरुष, उसके अनुसार आकार है। खडा पुरुष होता है, उसमें गला है, ग्रीव... ग्रीवा... ग्रीवा के स्थानमें नौ ग्रैवेयक हैं। देव की पृथिवी है। नव ग्रैवेयक यहाँ पर है। वहाँ प्रत्येक जीव अनन्तबार गया है। साधु होकर, दिगम्बर साधु होकर अनन्त बार गया; मिथ्यादृष्टि होकर, आत्मज्ञान पाये बिना (वहाँ गया)। आत्मज्ञान पाकर स्वर्ग में जाये वह तो अल्पकाल में मुक्ति पाये। आत्मज्ञान बिना, सम्यग्दर्शन बिना ऐसा मुनिव्रत अनन्तबार धारण किया। नौवीं ग्रैवेयक में उत्पन्न हुआ।

‘परन्तु (निज आतम) अपनसे आत्मा के ज्ञान बिना...’ देखो ! है न ? ‘पै निज आतमज्ञान बिना...’ इतना किया लेकिन आत्मा का ज्ञान नहीं किया।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- धूल में हो ? ज्ञान तो अन्तर में है। बाह्य क्रियाकांड से मिलता है ?

आत्मा, ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञान से ही वेदन में आता है, जानने में आता है। ऐसा ज्ञान, अनन्त बार नौवीं ग्रैवेयक गया लेकिन ऐसा ज्ञान किया नहीं। शास्त्र का ज्ञान किया। नव पूर्व पढ़

लिया, उसमें क्या आया ? समझ में आया ? दो बात कहते हैं। एक तो, अपने ज्ञान बिना। समझे ? शास्त्र का ज्ञान किया, ऐसा कहते हैं; और व्रतादि किये, दोनों बात ली है। भाई ! पंच महाव्रत, अष्टाईस मूलगुण भी लिये और शास्त्र का ज्ञान भी किया, दोनों बात आ गई।

‘मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजावे’ आत्मज्ञान बिन व्रत भी अनन्त बार लिये और निज आत्मज्ञान बिना शास्त्र का ज्ञान भी किया। समझ में आया ? आत्मज्ञान क्या करे ? शास्त्र तो कहते हैं कि, तेरे अन्दर देख। अन्तर में अनुभव कर, तेरा आत्मा अन्दर भगवान परमात्मा बिराजता है। तेरे स्वरूप में नजर डाल, उसमें से शांति मिले, उसका नाम ज्ञान कहते हैं। समझ में आया ?

‘(निज आतम) अपने आत्मा के ज्ञान बिना...’ दोनों बात कही है। व्रत भी लिये और आत्मा के ज्ञान बिना शास्त्र का ज्ञान भी किया। समझ में आया ? ‘श्रीमद्’ नहीं कहते ? ‘श्रीमद्’ कहते हैं कि नहीं ? ‘श्रीमद् राजचंद्र,’ सुना है न ?

यम नियम संजम आप कियो, पुनि त्याग बिराग अथाग लह्यो;
वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ आसन पद्म लगाय दियो।
जप भेद जपै तप त्योंहि तपे, उरसेंहि उदासी लही सबपे।
सब शास्त्रनके नय धारि हिये, मत मंडन खंडन भेद लिये;
वह साधन बार अनंत कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।

‘यम नियम संजम...’ यम (अर्थात्) पंच महाव्रत। नियम-अभिग्रह लिया। संयम लिया।

यम नियम संजम आप कियो, पुनि त्याग बिराग अथाग लह्यो;
वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ आसन पद्म लगाय दियो।
क्या है उसमें ? आत्मा क्या चीज है, ऐसे अंतरबोध बिना... कहते हैं,
वह साधन बार अनंत कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।

अब क्यों न बिचारत है मनसें, कछु और रहा उन साधनसे ?

बिन सद्गुरु कोई न भेद लहे, मुख आगल हैं कह बात कहे ?

समझ में आया ? २४ वर्ष की उम्र। २४ वर्ष की उम्र में भान हुआ (था)। गृहस्थाश्रम में थे। 'श्रीमद् राजचंद्र' को 'मुंबई' में लाखो रूपये का मोती का व्यापार था। समझ में आया ? लाखो रूपये का मोती का व्यापार। अन्दर में (भान है कि) मेरी चीज़ नहीं मेरी चीज़ तो मैं आत्मा हूँ, आनन्द हूँ। जैसे नारियेल में गोटा भिन्न रहता है... नारियेल होता है न ? नारियेल में टोपरे का गोटा भिन्न (है)। ऐसे सम्यग्ज्ञानी का आत्मा, राग और शरीरादि की क्रिया से अन्दर में भिन्न रहता है। आहा..हा... ! भाई !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- आत्मा बिना ज्ञान नहीं होता। देवानुप्रिया ! ऐसा कहते हैं कि, तूने ये सब तो किया, अनन्तबार साधन किये। 'सब शास्त्रनके नय धारि हिये, ...' शास्त्र पढ़े तो किसके पास पढ़े ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- बिन सद्गुरु अर्थात् ? उसका अर्थ क्या ? वे कहते हैं कि, विकल्प रहित तेरा आत्मा है ऐसा तूने बोध नहीं किया। समझ में आया ? ठीक पकडा। उसका अर्थ ये है। भगवान ! तेरी चीज़ तो अन्दर में अनाकुल आनंदमय प्रभु है न, भाई ! राग विकल्प दया, दान आदि का, हमें सुनने का विकल्प उठता है, वह विकल्प भी तेरी चीज़ तो अन्दर में अनाकुल आनंदमय प्रभु है न, भाई ! ऐसा उसको सुनाया तो समझे तो गुरुगम से समझा - ऐसा कहने में आता है। 'समझे नहीं गुरु बिना, ये ही अनादि स्थित।' ठीक !

'पावे नहि गुरुगम बिना, एही अनादि स्थित।' सत्ज्ञानी बिना सच्चा तत्त्व क्या है वह अन्तर में समझ में आता नहीं। अब ठीक न ? आहा..हा... ! अरे.. ! भगवान ! उसे मिले थे लेकिन उसे भान नहीं था। ग्यारह अंग में क्या नहीं आता ? ग्यारह अंग पढा। ग्यारह (अंग में) कितना है ? एक शास्त्र-एक आचारांग, एक आचारांग सूत्र है, उसमें अठारह हजार पद हैं।

एक पद में इक्यावन करोड श्लोक हैं। ऐसा कंठस्थ किया। ऐसे एक आचारांग से डबल सूयगडांग, उससे डबल ठाणांग (है)। डबल कहते हैं न ? दूना... दूगना। ऐसे ग्यारह अंग पढ़ डाले, पढ़ डाले। पढ़ा लेकिन क्या कहते हैं, अन्तर में आत्मज्ञान का पता लिया नहीं। भाई !

देखो ! भाषा क्या है ? देखो ! निज आत्मज्ञान, ऐसी भाषा है न ? 'पै निज आत्मज्ञान' ऐसा शब्द है। एक-एक शब्द में बहुत मर्म भरा है। निज आत्मज्ञान। भगवान का ज्ञान, ऐसा नहीं। गुरु का ऐसा नहीं, शास्त्र का ऐसा नहीं। समझ में आया ? 'पै...' परंतु एक 'निज आत्मज्ञान बिना...' भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु, चैतन्यसूर्य भगवान आत्मा है, ऐसा अन्तर में अंतर्मुख होकर आत्मा का ज्ञान किया नहीं। आहा..हा... ! तो 'सुख लेश न पायौ।' आत्मा का आनन्द, सम्यग्ज्ञान बिना आनन्द जो अतीन्द्रिय आनन्द आना चाहिए, वह पाया नहीं। उसका अर्थ क्या किया ? कि, पंच महाव्रतादि अनन्त बार लिया लेकिन दुःख भोगा, ऐसा कहते हैं। भाई ! ओ..हो..हो... ! थोड़े में कितना कहते हैं !!

लेश सुख न पाया। पंच महाव्रत पाले, ग्यारह अंग पढ़े तो सुख नहीं ? नहीं। क्योंकि परलक्ष्यी विकल्प है। आत्मा का नहीं (है), दुःख है, ऐसा कहा। ग्यारह अंग, नौ पूर्व का पढ़ना भी दुःख है। आत्मा के अंतरज्ञान बिना वह दुःख है। पंच महाव्रतादि, अठ्ठाईस मूलगुण भी दुःख है। आहा..हा... ! समझ में आया ? उसमें है या नहीं ? भैया ! निकालो। 'पै निज आत्मज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।' ऐसा है या नहीं ? सुख नहीं पाया तो क्या पाया ? दुःख। आहा..हा... ! वहाँ दुःख ही है। पंच महाव्रत, अठ्ठाईस मूलगुण का विकल्प उठता है वह दुःख है, राग है। ग्यारह अंग की पढाई परलक्ष्यी दुःख है, ऐसा कहते हैं। 'दौलतरामजी' ने श्लोक में ऐसा भर दिया है। समझ में आया ?

'पै निज आत्मज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।' अंश भी सुख नहीं (पाया) उसका अर्थ, मुनिव्रत लिया लेकिन अंश भी सुख नहीं। दुःख लिया, उसे दुःख का अनुभव था। आहा..हा... ! क्योंकि वह शुभराग, पुण्य की क्रिया, वह शुभभाव दुःख है, ऐसा कहते हैं। दौलत भरी है न ! यह 'दौलतरामजी' हैं। समझ में आया ? एक श्लोक में बहुत भरा है, हाँ !

ज्ञान बिना लेश, है न ? 'किञ्चित्मात्र सुख प्राप्त न कर सका।' थोड़ा सुख भी (नहीं), एक अंश भी सुख हो तो खलास हो गया। सम्यग्ज्ञान होकर अंश सुख हो वह पूर्ण सुख की प्राप्ति करेगा ही करेगा। चंद्र की दूज उगती है, वह पूर्णिमा होगी ही होगी। यहाँ तो दुःख लिया, ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द के ज्ञान बिना तेरा पंच महाव्रत का मुनिपना भी दुःखरूप है। समझ में आया ? ऐसा अनन्त बार किया लेकिन अंतर में आत्मज्ञान की दृष्टि और अनुभव में सुख है, वह कभी प्रकट किया नहीं, तो उसका परिभ्रमण कभी मिटा नहीं। (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



“आत्मा ज्ञानमात्र है” ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मा शरीररूप नहीं, वाणीरूप नहीं, पुण्यपापरूप नहीं और एक समयकी पर्याय मात्र भी नहीं है। “आत्मा ज्ञानमात्र है” यह कहनेका अर्थ है कि आत्मा ज्ञान-दर्शन, अकार्य-कारण, भावादि अनन्त शक्तिमय है। प्रभु ! तेरे घरकी क्या बात है ! तेरेमें अनन्त शक्तियाँ भरी हुयी हैं और एक-एक शक्ति अनन्त सामर्थ्यवान है, प्रत्येक शक्ति अनन्तगुणोंमें व्याप्त है। प्रत्येक शक्तिमें अन्य अनन्त शक्तिका रूप है, प्रत्येक शक्ति अन्य अनन्त शक्तियोंमें निमित्त है। ऐसी प्रत्येक शक्तिमें अनन्त पर्यायें हैं, वे पर्याये क्रमसे परिणमित होनेसे क्रमवर्ती हैं, तथा अनन्त शक्तियाँ एक साथ रहनेके कारण वे अक्रमवर्ती हैं। ऐसे अक्रमवर्ती और क्रमवर्ती गुण-पर्यायोंका पिण्ड - वह आत्मद्रव्य है। द्रव्य शुद्ध है, गुण भी शुद्ध है तथा उन पर दृष्टि करनेसे परिणमन भी शुद्ध ही होता है।

(परमागमसार-१६९)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष १०, मंगलवार
दि.१५-२-१९६६, गाथा ५, ६, प्रवचन नं.-२६

‘छहढाला’ की यह चौथी ढाल है। चौथी ढाल का पाँचवा श्लोक है, श्लोक कहते हैं ? क्या कहते हैं ? पाँचवा श्लोक चलता है। उसका भावार्थ, देखो ! भावार्थ आया न ? श्लोक आ गया। क्या कहा ? देखो !

कोटि जन्म तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरें जे;
ज्ञानीके छिनमें, त्रिगुप्ति तैं सहज टरें ते।
मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायौ;
पै निज आत्मज्ञान बिना, सुख लेश न पायो॥५॥

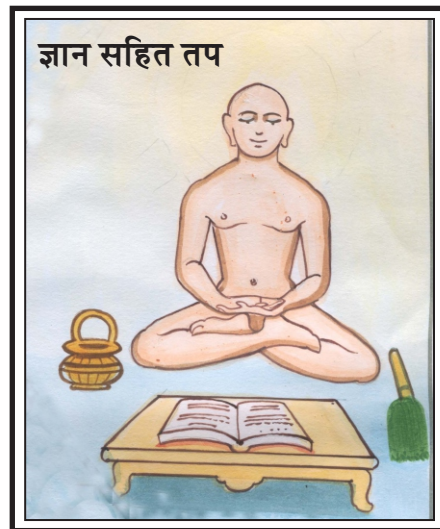
उसका भावार्थ लेते हैं। भावार्थ :- ‘मिथ्यादृष्टि जीव...’ अर्थात् अज्ञानी जीव ‘आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के बिना...’ क्या कहते हैं ? यह आत्मा अन्तर ज्ञानानंद स्वरूप है, शुद्ध आनन्द (स्वरूप है), उसके ज्ञान बिना अज्ञानी... देखो ! पाठ में अर्थ में अज्ञानी लिया है। समझ में आया ? पाठ में तो साधारण शब्द है, ‘ज्ञान बिन’, लेकिन अर्थ में स्पष्ट लिया है। यह आत्मा ग्यारह अंग अनन्त बार पढा और बालतप भी किया। आत्मा के ज्ञान बिना तप भी किया। दो बात चलती है, देखो !

‘आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के बिना करोड़ों जन्मो-भवों तक बालतपरूप उद्यम करके...’ मास-मासखमण उपवास का पारना किया। दो-दो महिने, बारह-बारह महिने का (किया), लेकिन वह तप करने पर भी... यहाँ तो ‘दौलतरामजी’ ऐसा कहते हैं कि, आत्मा ज्ञानस्वरूप के भान बिना वह करोड़ों भव के तप में भी उसे दुःख ही था। अनन्त भव में भी करोड़ों भव की बात करते हैं। अनन्त-अनन्त भव किये उसमें मनुष्यभव में, करोड़ों भव

मनुष्यभव में ऐसा किया कि, जिसमें मुनिव्रत धारण करके मास-मासखमण के उपवास, दो-दो महिने के अपवास (किये), ऐसे करोड़ों भव। आहा..हा... ! समझ में आया ? चार गति में भव तो अनन्त किये, वह भी बात नहीं है। मनुष्य के भव अनन्त किये, वह बात भी नहीं। मनुष्य में भी श्रावक व्यवहारव्रत नाम धारण करके उसके भी अनन्त भव किये, लेकिन नग्न दिग्म्बर मुनि होकर अनन्त बार मुनिपना का भव, करोड़ों भव किये, वह बात करते हैं। समझ में आया ?

आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य विकल्प से, पुण्य-पाप से रहित अपने शुद्ध आनन्द, ज्ञानस्वरूप (है), उसका अन्तर में ज्ञान-सम्यग्दर्शन, ज्ञान बिना उसने करोड़ों भव में करोड़ों वर्ष बहुत तपस्या की। उस तपस्या में आत्मा का आनन्द नहीं आया, क्योंकि वह तपस्या दुःखरूप है। समझ में आया ? देखो ! 'दौलतरामजी' क्या कहते हैं ? साधु होकर वह बालतप अनन्त बार किया, लेकिन आत्मा अन्दर पुण्य-पाप के राग से, शुभ-अशुभ विकल्प से रहित (है), ऐसे आत्मा का अन्तर ज्ञान बिना, ऐसी सम्यग्दर्शन की अवस्था बिना, ऐसा बालतप करोड़ों भव में, करोड़ों वर्षों तक किया (लेकिन उसमें) दुःख था; लेश सुख नहीं था। अन्तिम का शब्द है, भाई ! उसे जरा-सा भी सुख नहीं था; थोड़ा भी सुख नहीं था। समझ में आया ? एक बात।

कोई कहते हैं कि, आत्मा के भान बिना वह उपवास करे, दो-दो महिने, पाँच-पाँच महिने उपवास करे तो कुछ तो, थोड़ा तो धर्म होगा न ? धर्म हो तो सुख होना चाहिए। आत्मा का सुख होना चाहिए, ऐसा 'दौलतरामजी' कहते हैं, देखो ! ऐसा करोड़ों भव में करोड़ों वर्षों तपस्या की तो भी 'जितने कर्मों का नाश करता है, उतने कर्मों का नाश सम्यग्ज्ञानी जीव-' धर्मी जीव-सम्यग्ज्ञानी 'स्वोन्मुख ज्ञातापना के कारण...' शुद्धस्वरूप के अन्तर स्वसन्मुख, अपने ज्ञाता-दृष्टापने के कारण।



अज्ञानी परसन्मुख था। करोड़ों भव में करोड़ों वर्ष तप किया लेकिन उसका लक्ष्य पर की ओर था। मिथ्यादृष्टि है, स्वसन्मुख नहीं था। आहा..हा... ! समझ में आया ?

कहते हैं कि, भगवान आत्मा अपना ज्ञानस्वरूप सरोवर चिदानन्द प्रभु, उसके अन्तर स्वसन्मुख होकर जितने कर्म क्षणमात्र में खिरते हैं, उतने आत्मा के भान बिना अज्ञानी करोड़ों भव में तप करता है तो (भी) उतने कर्म खिरा सकता नहीं। परंतु उसे यहाँ आखिर में कहते हैं... देखो ! 'स्वरूपगुप्ति से - क्षणमात्र में सहज...' नाश करते हैं। हठ नहीं। वह (अज्ञानी) तो हठ से उपवास करता है। मुझे करना पड़े, ऐसे (भाव से करता है)। आत्मज्ञान नहीं, अंतरदृष्टि नहीं, अनुभव नहीं (है)।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूप (है), ऐसा अन्तर में आनन्द के बोध बिना, आनन्द के अंश के अनुभव बिना मिथ्याज्ञानी ऐसा सब करे (तो वह) एकान्त दुःखी है। समझ में आया ? दुःख में कर्म क्यों खिरे ? ज्ञानी आत्मा-सम्यग्दृष्टि अपने शुद्धस्वरूप के अन्तरसन्मुख होकर, अनत्र में ज्ञान में एकाकार होकर एक क्षण में स्वसन्मुख (होकर), परसन्मुखता से (जो) कर्म बंधे थे (उसे) स्वसन्मुख (रोकर) छोड़ देते हैं, छूट जाता है। समझ में आया ? अनन्तकाल में क्या चीज़ है (उसका) ख्याल नहीं (किया)। यह अर्थ 'दौलतरामजी' करते हैं। आहा..हा... ! एक बात (हुई)।

दूसरी (बात)। 'यह जीव, मुनि के (द्रव्यलिंगी मुनि के महाव्रतों को धारण...)' किये। अनन्तबार पंच महाव्रत (धारण किये)। सुनो ! उसमें है या नहीं ? 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ;' तो क्या कहते हैं ? 'पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।' उसका क्या अर्थ निकाला ? अन्तर आत्मा का सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (किये) बिना करोड़ों भव में, करोड़ों वर्ष व्रत लिये। पंच महाव्रत, अठ्ठाईस मूलगुण (का पालन किया)। वह पंच महाव्रत तो राग है, दुःखरूप है। क्या बराबर है ? वे क्या कहते हैं ? दुःख है ? महाव्रत दुःख है ? सिद्ध कर दो। महाव्रत दुःख है ?

मुमुक्षु :- आत्मज्ञान नहीं है तो दुःख है।

उत्तर :- आत्मज्ञानवाले को महाव्रत हो तो वह सुख है ? यहाँ वह कहते हैं। एक पंक्ति

में तो बहुत समा देते हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि, 'कोटि जन्म तप तपै,' और करोड़ों भव में मुनिव्रत अनन्त बार धारण किये, अनन्त बार मुनिव्रत धारण किये, पंच महाव्रत लिये। वह पंच महाव्रत का भाव है, (वह दुःख है)। आत्मज्ञान के बिना सुख न पाया। तुम उसमें से न्याय निकालो। पंच महाव्रत का परिणाम है, वह विकल्प, राग, है, वह दुःख है, ऐसा कहते हैं। अनन्तबार पंच महाव्रत लिये, लेकिन वह पंच महाव्रत शुभराग है, दुःख है। ऐसा मुनिव्रत अनन्तबार धारण करके भी क्या किया ?

'नववें त्रैवेयक तक के विमानों में अनन्तबार उत्पन्न हुआ, परन्तु आत्मा के भेदविज्ञान बिना...' पंच महाव्रत का परिणाम भी विकल्प अर्थात् राग है। सम्यग्दृष्टि मुनि को भी पंच महाव्रत का विकल्प आता है, वह भी राग है, दुःख है - ऐसा सिद्ध करते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? कठिन बात है, भाई ! उसे सादी भाषा में 'छहढाला' में ले लिया है। कोटि जन्म तप तपे और अनन्तबार मुनिव्रत धारण किये लेकिन लेश सुख न पाया। उसका अर्थ क्या हुआ ? भैया ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप चिदानन्द है, उका अन्तर ज्ञाता दृष्टा का भाव किये बिना, राग का परिणाम-महाव्रत का हो या तप का हो, वह सब राग दुःखरूप ही है। आहा..हा... ! समझ में आया ? बाहर की चीज़ तो दूर रह गई। क्या कहते हैं ? देखो ! 'पै निज आत्मज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।' अर्थात् अनन्तबार पंच महाव्रत लिया, अट्ठाईस मूलगुण मुनिव्रत का पालन किया तो वह व्रत दुःख है, आस्रव है, राग है। समझ में आया ? लेकिन उस विकल्प से, राग से भिन्न अपना निजानन्द भगवान आत्मा का अन्तर ज्ञान, दर्शन किये बिना, अन्तर में अंश भी आत्मा का सुख प्राप्त हुआ नहीं। ओ..हो..हो... ! एक शब्द, तो कितना (भरा है) ! गागर में सागर भर दिया है ! कंठस्थ है या नहीं ? थोडा-थोडा ? थोडा-थोडा। तुम्हारे चिरंजीवी को पूछते हैं कि, पिताजी को कंठस्थ है या नहीं ? थोडा-थोडा। थोडा याद है। समझ में आया ? यह तो हिन्दी भाषा, हिन्दी सादी भाषा है, चलती भाषा है। समझ में आया ? क्या कहा ? देखो !

मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायौ;
पै निज आतमज्ञान बिना , सुख लेश न पायो।

इसमें तो बहुत भर दिया है। समझ में आया ? क्योंकि भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु आत्मा है। इस अतीन्द्रिय आनन्द का स्वबोध अन्तर में हुए बिना अंश भी अन्तर में आनन्द आता नहीं। उसके अलावा बाह्य सन्मुख में पंच महाव्रत धारण करो, अठ्ठाईस मूलगुण धारण करो, क्रियाकाण्ड करो, तपस्या करो वह सब रागभाव दुःखरूप है। समझ में आया ? है उसमें से निकलता है या नहीं ? उसमें है या नहीं ? देखो !

मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायौ;
पै निज आतमज्ञान बिना , सुख लेश न पायो।

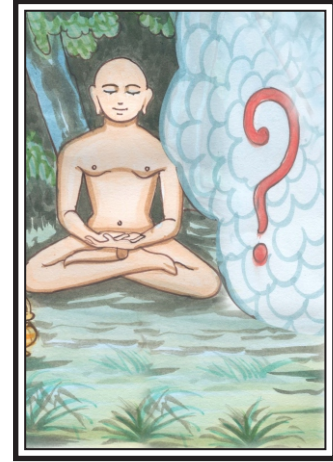
एक अंश भी सुख न मिला। उसका अर्थ क्या हुआ ? कि, आत्मसन्मुख अन्तर सम्यग्ज्ञान, दर्शन बिना इतने महाव्रत धारण किये, तपस्या करे तो भी उसे अंश सुख नहीं है अर्थात् दुःख है।

मुमुक्षु :- सुख भी नहीं और दुःख भी नहीं।

उत्तर :- ऐसा होता नहीं, बन सकता नहीं। या सुख, या दुःख। दो में से एक हो सकता है। सुख भी नहीं, दुःख भी नहीं (ऐसा तो) जड़ में होता है। जड़ को है, जड़ को। सुख भी नहीं, दुःख भी नहीं। आत्मा में या आनन्द आता है, या दुःख होता है। दो बात है। इस जड़ को दुःख है ? उसमें आनन्दगुण नहीं।

आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव पड़ा है, तो अतीन्द्रिय आनन्द की दृष्टि छोड़कर जितने क्रियाकाण्ड करने में आते हैं, वे सब दुःखरूप हैं - ऐसा कहते हैं। उसमें है ?

भैया ! उसका ऐसा अर्थ होता है ? आपके साथ उनसे हाँ बुलवाते हैं। होशियार आदमी के पास हाँ बुलवाते हैं कि, ऐसा अर्थ निकलता है या नहीं ? देखो ! 'पै निज आतमज्ञान बिना' -



ऐसे महाव्रत में भी, ऐसे व्रत और तप में भी लेश सुख न पाया। लेश-अंश भी नहीं। उसका अर्थ कि, दुःख पाया। उसमें से निकलता है न ? ये हमारे वकील है। वकील एल.एल.बी. पढ़ा है या नहीं ? लौकिक कानून (पढ़े)। ये भगवान के कानून समझने पड़ेंगे या नहीं ? आहा..हा... !

‘आत्मा के भेदविज्ञान बिना...’ अर्थात् चिदानन्द भगवान शुद्ध आनन्द है और विकल्प जो महाव्रत आदि का (है), व्रत या अव्रत दोनों, विकल्प जो उठते हैं वह दुःख है। इस दुःख से मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान किये बिना इतना-इतना क्रियाकांड करने में आया लेकिन उसे आत्मा का ज्ञान नहीं (हुआ) तो लेश अंश भी आत्मा आनन्द पाया नहीं। आनन्द नहीं पाया, इसका अर्थ हुआ कि, मात्र दुःख पाया। हुआ या नहीं ? भैया !

अव्रत का परिणाम है, वह तीव्र कषाय है, बहुत दुःख है। व्रत का परिणाम है वह राग है, मन्द कषाय है परन्तु है दुःख। आहा..हा... ! महाव्रत अर्थात् ये अज्ञानी लेते हैं, उसकी बात करते हैं। सच्चे है कहाँ ? वह तो बात करते हैं। अज्ञानी ने आत्मा के भान बिना अनन्तबार व्रत लिये और अनन्तबार लेता है। ले लो, हमें हिंसा नहीं करनी है, लेकिन वह तो विकल्प है। ऐसा लिया उसमें क्या आया ? वह तो राग है। आत्मा राग और विकल्प से रहित (है उसके) बोध बिना, आत्मज्ञान के बिना (सब दुःखरूप हुआ)। क्यों वकील उसमें से निकलता है ? बराबर है ? यह वकील है, वैष्णव वकील है। न्याय से समझना पड़ेगा या नहीं ? वीतराग परमेश्वर का मार्ग है।

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव परमेश्वर फरमाते हैं कि, एक समय में भगवान आत्मा आनन्द का कन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का रस है। उसका अंतर में स्वसन्मुख होकर सम्यग्ज्ञान किये बिना आत्मा का आनन्द आता नहीं और आत्मा के स्वसन्मुख हुए बिना परसन्मुख की जितनी क्रियाकांड तपस्या करता है, वह सब दुःख की अवस्था का अनुभव करता है। समझ में आया ? उस ‘जीव को वहाँ भी लेशमात्र सुख प्राप्त नहीं हुआ।’ ओहो..हो... ! आज मंगल दिन है। आज मंगलवार है या नहीं ? मंगल दिन, है देखो ! भगवान के २५०० वर्ष में आठ दिन है न ? और यह बात आई। भाई ! कितनी बात करते हैं !

आत्मा महावस्तु राग के एक विकल्प से पार है। शरीर, वाणी से तो पार, भिन्न है ही, परन्तु व्रत और तप का विकल्प उठता है कि, मैं ऐसा करूँ, तप करूँ वह भी राग है, उससे रहित भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा सच्चिदानन्द सिद्ध समान स्वरूप अन्तर में अन्तर स्वसन्मुख की दृष्टि-ज्ञान किये बिना परसन्मुख की क्रियाकाण्ड लाख, करोड भव (करे) तो यहाँ 'दौलतरामजी' कहते हैं कि, थोडा भी आत्मा के सुख का अंश उसे नहीं है। है तो उसे संसारी सुख तो दुःख ही है। भाई ! उसमें ऐसा क्या कि नहीं ? आहा..हा... !

इतना कहकर अब अभ्यास करने की थोड़ी प्रेरणा करते हैं। इतना ज्ञान-आत्मज्ञान और पर के ज्ञान दो में भेद है। आत्मदृष्टि और पर की दृष्टि में भेद है। आत्मचारित्र और पर का आचरण व्यवहार का भेद है, इतना बताया। आत्मज्ञान बिना शास्त्रज्ञान दुःखरूप है। आत्मदृष्टि बिना देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प दुःखरूप है। आत्मशांति की स्थिरता-चारित्र के बिना पंच महाव्रत का परिणाम भी दुःखरूप है। भैयाजी ! पहले यहाँ कभी आये थे या नहीं ? पहलीबार आये हो ? अच्छा !

'छहढाला'। 'छहढाला' का अर्थ किया है न ? उसमें कहीं किया है। ढाल... ढाल। अपने में बैरी-शत्रु विकार नहीं आये - ऐसी अपनी दृष्टि करना, उसका नाम 'छहढाला' है। ढाला... ढाला। कहीं लिखा है या नहीं ? पीछे है ? कहीं पर लिखा है। ढाल का अर्थ है कहीं पर, ये रहा देखो ! १८० पन्ना है। नीचे (फूटनोट में) है। 'इस ग्रन्थ में छह प्रकार के छन्द और छह प्रकार के प्रकरण हैं, इसलिये तथा जिस प्रकार तीक्ष्ण शस्त्रों के प्रहार को रोकनेवाली ढाल होती है, उसीप्रकार जीव के अहितकारी शत्रु-मिथ्यात्व, रागादि आस्रवों का तथा अज्ञानांधकार को रोकने के लिये ढाल के समान यह छह प्रकरण है;...' ढाल... ढाल। है ? १८० पन्ने पर है, नीचे है, नीचे। समझ में आया ? ढाल नहीं रखते ? लड़ाई करते समय हाथ में ढाल रखते हैं। (शत्रु का) शस्त्र नहीं आ जाये इसलिये (रखते हैं)। वैसे यह 'छहढाला' है। समझ में आया ? और आत्मा का दर्शन, आत्मा का ज्ञान और चारित्र हो, इसलिये यह 'छहढाला' है। पुस्तक रखा है या नहीं ? बहुत कठिन बात, भाई ! कभी अर्थ सुना नहीं हो। क्या सत्य है ? (मालूम नहीं)। ये पाँचवा श्लोक (समाप्त) हुआ।

ज्ञान के दोष और मनुष्यपर्याय आदि की दुर्लभता
 तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास करीजे;
 संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।
 यह मानुष पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवानी;
 इह विध गये न मिले सुमणि ज्यों उदधि समानी॥६॥

अन्वयार्थ :- (तातैं) इसलिये (जिनवर-कथित) जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए (तत्त्व) परमार्थ तत्त्व का (अभ्यास) अभ्यास (करीजे) करना चाहिए और (संशय) संशय (विभ्रम) विपर्यय तथा (मोह) अनध्यवसाय (अनिश्चितता) को (त्याग) छोड़कर (आपो) अपने आत्मा को (लख लीजे) लक्ष्य में लेना चाहिए अर्थात् जानना चाहिए। (यदि ऐसा नहीं किया तो) (यह) यह (मानुष पर्याय) मनुष्य भव (सुकुल) उत्तम कुल और (जिनवानी) जिनवाणी का (सुनिवौ) सुनना (इह विध) ऐसा सुयोग (गये) बीत जाने पर, (उदधि) सच्चे रत्न की भाँति (पुनः) (न मिले) मिलना कठिन है।

भावार्थ :- आत्मा और परवस्तुओं के भेदविज्ञान को प्राप्त करने के लिये जिनदेव द्वारा प्ररूपित सच्चे तत्त्वों का पठन-पाठन (मन) करना चाहिए; और संशय^१ विपर्यय^२ तथा अनध्यवसाय^३ इन सम्यग्ज्ञान के तीन दोषों को दूर करके आत्मस्वरूप को जानना चाहिए। क्योंकि जिसप्रकार समुद्र में डूबा हुआ अमूल्य रत्न पुनः हाथ नहीं आता उसीप्रकार मनुष्यशरीर, उत्तम श्रावककुल और जिनवचनों का श्रवण आदि सुयोग भी बीत जाने के बाद पुनः पुनः प्राप्त नहीं होते। इसलिये यह अपूर्व अवसर न गँवाकर आत्मस्वरूप की पहिचान (सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति) करके यह मनुष्य-जन्म सफल करना चाहिए।

१. संशय :- विरुद्धानेककटिस्पर्शज्ञान संशयः = 'इस प्रकार है अथवा इसप्रकार ?' - ऐसा जो परस्पर विरुद्धतापूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञान, उसे संशय कहते हैं।

२. विपर्यय :- विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः = वस्तुस्वरूप से विरुद्धतापूर्वक 'यह ऐसा ही है' - इसप्रकार एकरूप ज्ञान का नाम विपर्यय हैं। उसके तीन भेद हैं - कारणविपर्यय, स्वरूपविपर्यय तथा भेदाभेद विपर्यय। (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. १२३)

३. अनध्यवसाय : किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः = 'कुछ है' - ऐसा निर्णयरहित विचार अनध्यवसाय है।

‘ज्ञान के दोष और मनुष्यपर्याय आदि की दुर्लभता।’

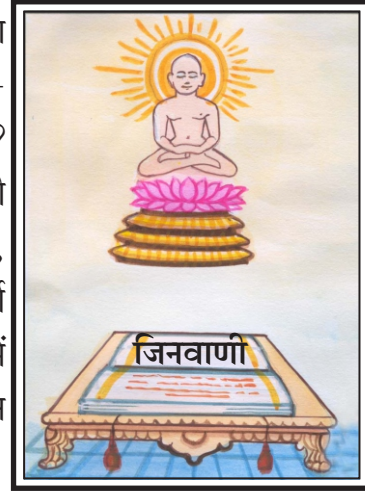
तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास करीजे;

संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।

यह मानुष पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवानी;

इह विध गये न मिले सुमणि ज्यों उदधि समानी॥६॥

बहुत मीठी भाषा है। मीठी और सरल है। हिन्दी भाषा तो (सरल है)। क्या कहते हैं ? देखो ! उसका शब्दार्थ-अन्वयार्थ है न ? (चित्र में) उपर ‘जिनवाणी’ लिखा है न ? एक अरिहंत भगवान बनाये हैं। भगवान के मुख से वाणी निकली, जिनवाणी। एक ओर ध्यान करते हैं। देखो ! संशय, विमोह का त्याग करके (आत्मध्यान करता है)। कुर्ता उतारकर ध्यान करता है। है न उसमें ? और नीचे उदधि में मणि गिरता है, बड़े समुद्र में मणि (गिरता है)। ऐसे तीन (चित्र लिये हैं)।



कहते हैं,

‘इसलिये...’ इसलिये क्या ? इसलिये माने क्या ? कि, अनंतबार आत्मा का ज्ञान और आत्मदर्शन-निर्विकल्पदृष्टि बिना, अनुभव बिना तुने पंच महाव्रत तप भी किये, (लेकिन) उसमें कुछ आत्मा का लाभ हुआ नहीं। उसमें कोई आत्मशांति मिली नहीं, आत्मा के कल्याण का रास्ता उसमें से निकला नहीं। वे सब तो दुःखमय भाव हैं। इसलिये - ऐसा (कहते हैं)। ‘तातैं’ शब्द है न ? ‘इसलिये’ इसलिये ‘(जिनवर-कथित)

जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए...’ भाषा देखो ! भगवान जिनेन्द्र परमेश्वर त्रिलोकनाथ सो इन्द्रों की उपस्थिति में भगवान की वाणी निकली। अनन्त तीर्थकर हुए, वर्तमान में महाविदेह में बिराजमान हैं, भविष्य में अनन्त होंगे। भरतक्षेत्र में, महाविदेहक्षेत्र में अनन्त तीर्थकर हुए, अनन्त होंगे। वर्तमान में २० बिराजते हैं। लाखों केवली बिराजते हैं। महाविदेह में लाखों केवली बिराजते हैं और तीर्थकर २० बिराजते हैं। क्योंकि वे पुण्यप्रकृतिवाले हैं न ?

ऐसे ‘जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए...’ ऐसा कहकर क्या कहते हैं ? वीतराग के अलावा जिसका कहनेवाला अज्ञानी है, जिसे सर्वज्ञपद नहीं है, तीनकाल का ज्ञान नहीं ऐसे अज्ञानी वे जो तत्त्व कहा, उसमें तो अज्ञान ही भरा है, मिथ्यात्व भरा है। उसमें कोई सार है नहीं। समझ में आया ? पहले यह निर्णय करना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान परमेश्वर ने कहा हुआ, सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा। ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ दिगम्बर महासन्त भगवान के पास गये थे, आठ दिन रहकर वहाँ से यह लाये। ऐसी सनातन वाणी, सनातन मार्ग ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ ने दुनिया को फरमाया। वही मार्ग चलता है।

वही कहते हैं, जिनेन्द्र कथित मार्ग। अज्ञानी ने अपनी कल्पना से कहा हो या अज्ञानी माने कि जगत में एक ही तत्त्व है, आत्मा भी एक ही है, दूसरा कोई है नहीं; लगाओ आत्मा का ध्यान। आत्मा का क्या लगा दे ? आत्मा क्या चीज़ है ? उसका द्रव्य अर्थात् वस्तु क्या ? उसका क्षेत्र अर्थात् क्षेत्र को क्या कहते हैं ? चौड़ाई। चौड़ाई क्या ? और उसमें शक्तियाँ-भाव कितने हैं ? और उसकी वर्तमान अवस्था क्या है ? ये चार बोल चाहिए - द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव। सर्वज्ञ भगवान के अलावा ऐसी चीज़ कहीं हो सकती नहीं। समझ में आया ?

प्रत्येक वस्तु में चार बोल हैं। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव। द्रव्य अर्थात् अपना गुण-पर्याय का पिंड, उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य माने ये पैसा नहीं, हाँ ! प्रत्येक पदार्थ में अनन्त शक्तियाँ हैं और वर्तमान अवस्था है, उसके पिंड को द्रव्य कहते हैं। उसकी चौड़ाई को क्षेत्र कहते हैं। उसकी त्रिकालशक्ति को गुण-भाव कहते हैं। वर्तमान हालत को, अवस्था को काल कहते हैं। आहा..हा... ! जिनवर भगवान ने ऐसा देखा है। जिनवर सर्वज्ञ के अलावा ऐसा कोई देख सके नहीं। समझ में आया ?

‘जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए परमार्थ तत्त्व...’ देखो ! तत्त्व है न ? अकेला आत्मा नहीं है, सात तत्त्व कहा है, भाई ! सातों तत्त्व हैं। ‘तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं’, ‘तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं’, ‘सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।’ ‘उमास्वामी’ का पहला सूत्र यह है। दूसरा सूत्र है, ‘तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं।’ तत्त्वार्थ-जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। सात तत्त्व है। जीव और अजीव दो पदार्थ है। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष उसकी पर्याय है। पर्याय अर्थात् अवस्था है, अवस्था अर्थात् हालत है। गुण तो त्रिकाल पडा है। सात तत्त्व में दो तत्त्व द्रव्य हैं, पाँच पर्याय हैं। भगवान के कहे अनुसार उसका निर्णय करना चाहिए। आहा..हा... ! समझ में आया ?

‘जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए परमार्थ तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए...’ कहते हैं, भैया ! अभ्यास करो। अनन्तकाल में ऐसा वास्तविक अभ्यास नहीं किया। वास्तविक अभ्यास नहीं किया। ऐसे तो ग्यारह अंग पढ लिये, नव पूर्व पढ लिये। पढ डाला। लेकिन उसमें क्या कहना है, ऐसे अपने चैतन्य का पता लिया न हीं। वही कहते हैं, देखो ! ‘परमार्थ तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए...’ कहते हैं, ‘संशय विपर्यय तथा अनध्यवसाय को छोड़कर...’ उसकी व्याख्या पीछे है। पीछे है, पिछले पन्ने पर है। ‘विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञान संशयः इस प्रकार है अथवा इसप्रकार ? ऐसा जो परस्पर विरुद्धतापूर्वक दो प्रकाररूप ज्ञान, उसे संशय कहते हैं।’ क्या होगा ? यह आत्मा एक होगा या अनेक होगा ? आत्मा में अनन्त गुण कहते हैं तो एक गुण होगा या अनन्त होंगे ? ऐसे संशय को अज्ञान कहते हैं।

भगवान इसे आत्मा कहते हैं। आत्मा को एक कहते हैं और गुण को अनन्त कहते हैं और क्षेत्र इतना। शरीर प्रमाण है। शरीर प्रमाण से क्षेत्र, भगवान आत्मा का क्षेत्र, द्रव्य वस्तु। उसमें गुण अनन्त (हैं)। ये क्या है ? अनन्त गुण होंगे या नहीं होंगे ? ऐसा संशय, वह अज्ञान अवस्था है। ऐसा संशय छोड़कर तत्त्व का अभ्यास करना - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- अभ्यास करने से शंका छूटती है या शंका छूटने से...

उत्तर :- संशय-शंका छोड़े तब उसे अभ्यास करने का मन होगा न ? शंका अर्थात् यह तत्त्व सच्चा लगता है। ऐसे। अभ्यास करने में संशय छोड यानी यह सच्चा होगा या ये असत्य

होगा ? ऐसा संशय छोड़कर अभ्यास करना, ऐसा कहते हैं। ये सच्चा होगा ? भगवान कहते हैं, आत्मा एक इतना है और गुण अनंत (हैं)। सर्व क्षेत्र में व्यापक नहीं है, इतने एक क्षेत्र में रहनेवाला (है)। क्षेत्र इतना (और) गुण अनन्त, कैसे रहते होंगे ? समझ में आया ?

भगवान कहते हैं, उसका सम्यक् अन्तर अभ्यास करे। वास्तविक मैं आत्मा हूँ। मैं आत्मा हूँ तो मैं अनन्त पदार्थ के बीच अपना अस्तित्व रखता हूँ। अनन्त पदार्थ से भिन्न अनन्त धर्म मेरे में हैं और इसके अलावा अनन्तगुने सामान्य, विशेष गुण अनन्त हैं। आहा..हा...! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- अनन्त द्रव्य में कोई (अन्य) द्रव्यरूप नहीं हो जाये ?

उत्तर :- किसी रूप नहीं होता। एक रजकणरूप आत्मा नहीं होता, दूसरे आत्मारूप आत्मा नहीं होता। क्या कहा ? एक अपना आत्मा दूसरे शरीर या कर्म या रजकणरूप से नहीं होता और एक आत्मा दूसरे आत्मारूप कभी तीनकाल में नहीं होता। तब आत्मा टिक सकता है, नहीं तो कहाँ से टिक सकता है ?

मुमुक्षु :- सिद्ध हो तब।

उत्तर :- अरे..! अभी। सिद्ध (बने तब) क्या, अनादि अनन्त (टिक रहा है)। समझ में आया ? अभी आत्मा कर्मरूप हुआ नहीं, अभी शरीररूप हुआ नहीं।

मुमुक्षु :- आत्मा को आठ कर्म हैं।

उत्तर :- कहाँ धूल में है ? कर्म कर्म में रहे। समझ में आया ?

अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल, भाव में परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का तीनों काल अभाव है। स्वचतुष्टय में परचतुष्टय का अभाव है। ऐसा निःसंशय-संदेहरहित ज्ञान करना। समझ में आया ? ज्ञान की खबर नहीं, अपने करो, कुछ करो। राग मंद हो तो पुण्य बँध जायेगा। साथ में मिथ्यात्व का लकड़ा लगा है।

मुमुक्षु :- क्या होगा ?

उत्तर :- जन्म-मरण होंगे। क्या होगा क्या ? क्या होगा ? जन्म-मरण होंगे। फिल्म

कुछ पूछते हैं न ? ऐसा कोई बोलता था। उसे अब धर्म में लगा दिया। कोई बोलता था। मालूम नहीं कौन बोलता था ? ऐसा ज्ञान करे तो क्या होगा ? होगा या नहीं ? ऐसा कोई कहता था। होगा या नहीं ? होगा या नहीं होगा ? यहाँ कहते हैं कि, संशय होगा तो सम्यग्ज्ञान नहीं होगा। समझ में आया ?

परमार्थ तत्त्व संशय बिना और 'विपर्यय...' देखो ! दूसरा बोल विपरीत (है)। आत्मा है नहीं, अपने को तो लगता नहीं, भैया ! होगा, कहीं होगा वह अनध्यवसाय में जाता है। विपरीत (अर्थात्) राग है, वही आत्मा लगता है; शरीर है, वह आत्मा लगता है। ऐसी मान्यता विपरीत है। विपरीत में भी तीन बोल हैं। अन्दर में है। कारणविपर्यास, स्वरूपविपर्यास और भेदाभेदविपर्यास। उसके तीन बोल हैं। समझ में आया ? एक वस्तु को मानना और उसके कारण में कोई ईश्वर है या सर्वव्यापक है - ऐसा मानना वह कारणविपर्यास है। स्वरूपविपर्यास-उसमें अनन्त गुण आदि स्वरूप है, उससे विपर्यास मानना। कुछ नहीं, कुछ नहीं, ऐसे भेद क्या करना ? अनन्त गुण हैं तो विकल्प उठते हैं। अनन्त गुण हैं, अनन्त गुण हैं (तो) विकल्प (उठते हैं)। क्या विकल्प उठे ? अनन्त गुण हैं, वह तो स्वभाविक वस्तु है। उसमें स्वरूपविपर्यास। ऐसा नहीं मानना। एक ही है। अपने तो ध्यान करो। क्या ध्यान ? धूल का (ध्यान) करे ? आत्मा में अनन्तस्वरूप गुण हैं, अनन्त-अनन्त बेहद शक्ति-गुण हैं। ऐसा स्वरूप विपर्यास से रहित यथार्थ स्वरूप की दृष्टि करके अभ्यास करना।

'तथा अनध्यवसाय...' कुछ होगा, कुछ होगा, मालूम नहीं पडता। कुछ है, होगा, कुछ होगा। ऐसा नहीं चलता। ऐसा है। भगवान आत्मा देह से रहित है, पुण्य-पाप के राग से रहित है, अनन्त गुण सहित है। ऐसा तत्त्व अभ्यास (करना), वीतराग परमेश्वर ने कहे हुए तत्त्व का अभ्यास करना। समझ में आया ? देखो ! '(अनिश्चितता) को छोड़कर...' अभ्यास करना। 'अपने आत्मा को लक्ष्य में लेना चाहिए...' देखो ! सार लिया। प्रयोजन किया ? 'आपो लख लीजे'। सात तत्त्व का संशय, विपर्यय और अनिश्चितता छोड़कर अपना भगवान आत्मा आपो, आपो अर्थात् अपना आत्मा 'लख लीजे'। लख अर्थात् अन्तर ज्ञान कर लीजिये। अपने आत्मा का ज्ञान कर लीजिये। आहा..हा... ! समझ में आया ? क्या कहते हैं ? देखो ना !

‘संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।’ आत्मज्ञान बिन सुख न पायो, कहा था न ? यहाँ ‘आपो’ ले लिया। मैं तो आत्मा (हूँ)। वाणी से तो पर हूँ, देह से तो भिन्न हूँ परन्तु दया,दान, व्रत का विकल्प जो राग उठता है, वह तो आस्रव है, उससे मैं भिन्न हूँ। ऐसे ‘आपो लख लीजे’। ऐसा आत्मा का अन्तर्मुख होकर ज्ञान कर लीजे। उसका नाम भगवान सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

तत्त्व का अभ्यास किया। भाषा ली-तत्त्व का अभ्यास। बाद में (लिया) ‘आपो लख लीजे।’ जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा मोक्ष है – ऐसा सातों तत्त्व का बराबर निर्णय करना। उसमें से ‘आपो लख लीजे।’ भगवान आत्मा अकेला शुद्ध आनन्दमूर्ति है – ऐसे अंतर्मुख होकर, बाहर से विमुख होकर, स्वसन्मुख होकर आत्मा को (जाने), यह आत्मा है, ऐसा ज्ञान कर लेना चाहिए। यह ज्ञान अनन्तकाल में कभी एकसैकेन्द किया नहीं। समझ में आया ? भाई ! ‘आपो लख लीजे’ कैसे होगा ? आहा..हा... ! शब्द बहुत अच्छी तरह लिखे हैं, हाँ !

तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास करीजे;

संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।

देखो ! दूसरी बात। अभी कुछ लोग कहते हैं न कि, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नव तत्त्व की श्रद्धा सम्यग्दर्शन (है)। यहाँ तो कहते हैं कि, ‘आपो लख लीजे’ उसका नाम स्यग्दर्शन और ज्ञान है। पहले से लिखते हैं या नहीं ? पहले की बात है। पहले जैनतत्त्व का – वीतराग ने कहे हुए तत्त्व का अभ्यास करके, ‘आपो लख लीजे।’ भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप है। पुण्य-पाप की विकार वृत्ति उत्पन्न होती है, उससे भिन्न (है) – ऐसे विकार से स्वभाव का भेद करके ‘आपो लख लीजे’ (अर्थात्) आत्मा का ज्ञान करना। इस ज्ञान में रुचि हुई उसका नाम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया ?

भगवान ! तेरी महा चीज़ तो अन्दर में पडी है न ! लेकिन तुने कभी नजर नहीं की, कभी अन्तरमुख नजर नहीं की। परसन्मुख रहकर सब किया। दया,दान, व्रत,भक्ति, तप आदि

परसन्मुखलक्ष्य करके (किये), वह तो मिथ्यात्व है। उसमें स्वर्ग-नरक मिले। उसमें कोई आत्मा का लाभ, शांति का (लाभ) मिले या जन्म-मरण का अभाव हो, कल्याण हो – ऐसा परसन्मुख की क्रियाकांड में कुछ (होता नहीं)। आहा..हा...! ऐसा क्यों कहा ?

अभ्यास तो बराबर (करना)। जीव, अजीव, आस्रव, आस्रव में पुण्य-पाप दोनों हैं, शुभभाव पुण्य है, अशुभभाव पाप है, ऐसा अभ्यास बराबर करना और बंधभाव, आत्म स्वभाव से (विपरीत) **Appropriate** विकार होता है, वह बंधभाव है। जड़ में बंधभाव है, वह कर्म का है, उस कर्म से रहित आत्मा के स्वभाव का भान करके शुद्धता प्रकट करना, वह संवर, निर्जरा है। पूर्ण शुद्धता प्रकट करनी, वह मोक्ष है। इसप्रकार सात तत्त्व का बराबर अभ्यास करके आत्मसन्मुख होकर आत्मा का ज्ञान करना, ऐसा कहते हैं।

देखो ! 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' वह बात आई। 'उमास्वामी', 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज के शिष्य (थे)। 'उमास्वामी' ने 'मोक्षशास्त्र' बनाया न ? तो पहला सूत्र (लिखा) 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं।' तत्त्वार्थश्रद्धानं कहो या 'आपो लख लीजे' कहो (दोनों एक ही है)। वह श्रद्धान की बात है, यहाँ ज्ञान की बात है। समझ में आया ? आहा..हा...! ये किसे करना है ? दूसरा कोई कर दे सकता है ? कोई किसी को दे सकता है ? समझना किसे है ? – ऐसा कहते हैं।

'आपो लख लीजे' 'आत्मा को लक्ष्य में लेना चाहिए अर्थात्...' 'लख लीजे' अर्थात् 'जानना चाहिए।' 'लख' का अर्थ जानना है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा जानना। '(यदि ऐसा नहीं किया तो) यह मनुष्यभव...' आहा..हा...! तत्त्व का अभ्यास करके अपना स्वरूप शुद्ध आत्मा है, ऐसा अंतरज्ञान करना। यदि ऐसा ज्ञान नहीं किया तो मनुष्यभव '(सुकुल) उत्तम कुल...' में अवतार 'और जिनवाणी का सुनना...' इतने तीन योग मिले हैं, वह व्यर्थ जायेंगे। आहा..हा...! समझ में आया ? यदि – ऐसा आत्मज्ञान नहीं किया, आत्मा की अन्तर श्रद्धापूर्वक अनुभव में ज्ञान आत्मा है ऐसा नहीं किया तो मनुष्यपना मिला क्या करे ? चला जायेगा। उत्तम कुल मिला, तेरा जैन कुल में अवतार हुआ 'और जिनवाणी का सुनना...' देखो ! जिनवाणी अर्थात् वीतरागी वाणी। जिसमें परमेश्वर वीतरागता बताते हैं ऐसी वाणी

मिली। देखो ! समझ में आया ?

‘ऐसा सुयोग बीत जाने पर,...’ आहा..हा... ! अपने यहाँ मिस्त्री है न ? वैसे तो स्वामीनारायण के मिस्त्री है न ? लेकिन यहाँ थोडा देखा। ... भव तो होते हैं, इस भव में यदि आत्मा का कुछ नहीं करेंगे तो सब व्यर्थ जायेगा। प्रत्यक्ष देखो भैया ! एक भव में से दूसरे में आता है, अपना भाव करके आता है। ईश्वर उसका कौन है करनेवाला ? ईश्वर कोई करनेवाला है नहीं। आत्मा अपना ईश्वर है, वह जैसा भाव करे, वैसा बंध पडे, ऐसा जन्म लेता है। प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता ? भाई ! आहा..हा... !

कहते हैं, भगवान ! यह आत्मा राग से, व्रत-अव्रत का विकल्प राग है, उससे भिन्न है। व्रत-अव्रत का परिणाम, आत्मा के ज्ञान बिना अनन्त बार किये तो चौरासी के अवतार मिले, दुःख हुआ। उससे रहित अपना आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप है, उसकी यदि अन्तरमदृष्टि नहीं की (तो) भगवान ! यह मनुष्यपना मिला, सुकुल मिला (वह सब व्यर्थजायेगा)। सुकुल मिला। सुकुल मिला उसमें क्या कहते हैं ? कि, तुझे इतना तो सुनने में आया है। तेराकुल ऐसा नहीं है कि, जिनवाणी सुनने में नहीं आयी। समझ में आया ? और जिनवाणी मिली है।

‘ऐसा सुयोग बीत जाने पर,...’ अनन्त काल... अनन्त काल... यहाँ तो यह कहा। ऐसा नहीं कहा, इतने पैसे नहीं मिले। भैया ! पाँच लाख नहीं मिले, दो लाख नहीं मिले - (ऐसा नहीं कहा है)। यहाँ तो (कहते हैं), मनुष्यपना, सुकुल और जिनवाणी ये तीन मिले और उसमें यदि आत्मज्ञान नहीं किया (तो व्यर्थ है)। उसका नाम सुयोग है। समझ में आया ? भाई ! पैसा नहीं मिले, ... नहीं मिला - ऐसा नहीं कहा है।

मुमुक्षु :- आ पैसा.. मर गये।

उत्तर :- मर नहीं गये। भाई ! पैसे पर द्वेष आया। पैसा है, लेकिन शरीर निरोग नहीं रहे तो क्या करें ? क्या करे ? शरीर तो निरोग हो।

यहाँ तो तीन बात ली है, देखो ! मनुष्यपना मिला और तुझे सुकुल (मिला)। जिसमें जिनवाणी मिली ऐसा कुल भी तुझे मिल गया है। समझ में आया ? मनुष्यपना मिला हो और

सुकुल न हो तो ? अनार्य देश में अवतार हुआ हो, लो ! मनुष्यपना मिला लेकिन अनार्यदेश में (रहना पडे)। जहाँ भील रहते हैं, जहाँ माँस खाते हैं, ये सब देखो ना, गोरे... क्या कहते हैं ? परदेश। उसमें भी तुजे सुकुल मिला। सुकुल में भी जिनवाणी सुनने मिली। सुकुल में जन्म होलेकिन वीतराग की वाणी मिले नहीं। कितनों की जिंदगी ऐसे ही चली जाती है। वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ की वाणी मिली, जो वाणी गणधर सुनते हैं, जो वाणी इन्द्र सुनते हैं। उपर से इन्द्र आकर जो वाणी सुनते हैं, जो वाणी गणधर सुनते हैं, वह वाणी तुझे मिली है - ऐसा कहते हैं। आहा..हा.. !

भगवान ! कहते हैं कि भैया ! यदि यह आत्मज्ञान नहीं किया और बाहर के झगड़े में पड़ा और तत्त्व की पहिचान नहीं हुई तो तुझे यह सुयोग मिला है, वह चला जायेगा, प्रभु ! आहा..हा..! समझ में आया ? 'ऐसा सुयोग बीत जाने पर,...' समुद्र में समाये हुए 'सच्चे रत्न की भाँति...' 'सुमणि' शब्द है न ? 'दौलतरामजी' ने शब्द भी कैसा लिया है ! सुमणि, ऊंचा मणि, सच्चा, उच्च (मणि)। लाख-लाख, दो-दो लाख के



मणि होते हैं न ? रत्न होते हैं। मणिरत्न उच्च ! हाथ में लिया, समुद्र में पास गया हाथ ऐसे ऊपर किया, ऐसा किया तो छूट गया, गया अन्दर ! समुद्र में गिर गया।

मुमुक्षु :- जानबूझकर फैंकता है, ऐसा लगता है।

उत्तर :- वह फैंकता है, उसका अर्थ ही वह है। फैंके क्या ? हाथ ऊपर किया तो गिर गया। 'अनुभवप्रकाश' में दृष्टान्त आया है। समझे ? रत्न से भरा एक बर्तन मिला। बर्तन धोने को समुद्र में गया। वहाँ फिसल गया। बर्तन... बर्तन (साफ करने लगा)। अरे.. ! बर्तन धोने का

क्या काम है ? रत्न निकाल ले। बर्तन कीचड़में से निकला न ? कीचड़में से। जमीनमें से, कीचड़में से बर्तन नीकला, बर्तन कीचड़वाला था। उसमें रत्न थे। उठाकर रत्न नहीं लिये, पहले साफ कर लूँ, नदी के किनारे (गया)। बड़ी नदी थी, साफ करने गया (तो गिर गया)। चला गया। आहा..हा... ! दृष्टान्त दिया है न ? हाथ उपर किया है न ? नर-सुमणि (लिखा है)। मनुष्यभव का सुमणि। ऐसा मनुष्यभव। देखो ! बड़े पर्वत है। कितना बनाया है ! देखा ?

शास्त्र तो कहते हैं, भगवान ! कि, एक वृक्ष हो, वृक्ष। उसे जलाकर उसकी राख हो गई। एक वृक्ष की राख (हो गई)। फिर राख के सब रजकणों का वह वृक्ष कब होगा ? नदी किनारे एक वृक्ष था, वह जल गया, राख हो गई भस्म (हो गया)। भस्म होकर समुद्र में (चले गये)। वही रजकण यहाँ आकर फिर से वह वृक्ष कब होगा ? समझ में आया ? ऐसे मनुष्यपना मिला, यदि तत्त्वदृष्टि नहीं समझ आयी तो तुझे सुमणि का योग मिला है वह सुमणि समुद्र में गिर जायेगा। आहा..हा... ! मनुष्यभव को सुमणि कहा ? पैसे को सुमणि नहीं कहा।

मुमुक्षु :- पैसा सुमणि है...

उत्तर :- धूल में भी सुमणि नहीं है। कौन कहता है पैसा सुमणि है ? यहाँ तो मनुष्यभव को सुमणि कहा। भाई ! आपके पैसे को सुमणि नहीं कहा।

मुमुक्षु :- ये तो मुनि...

उत्तर :- मुनि कहाँ है ? ये तो 'दौलतरामजी' हैं, गृहस्थाश्रमी पंडित हैं वे कहते हैं। गृहस्थ हैं, स्त्री-पुत्र हैं, हो तो हो, हमें क्या है ? हमारी चीज़ में तो है नहीं। समझ में आया ? बाद में कहेंगे, बाद में तुरंत कहेंगे, देखो ना ! 'धन समाज गज बाज।' बहुत सुन्दर, 'छहढाला' ऐसी बनी है, साधारण जनता के लिये (बहुत अच्छी है)। बहुत अभ्यास नहीं करे, उसे अभ्यास करने के लिये बहुत सरल है। अभ्यास करने की निवृत्ति कहाँ है ? समय नहीं है, समय। टाईम नहीं। व्यापार धंधे में डूबा रहे। बाहर के क्रियाकांड में समय निकाले, उसमें आत्मा क्या है - उसे समझने का समय लिया ही नहीं। अनन्तकाल ऐसे ही चला गया। समझ में आया ?

कहते हैं, 'सच्चे रत्न की भाँति मिलना कठिन है।' प्रभु ! आहा..हा... ! इसलिये तत्त्व

का अभ्यास करके... लोग कहते हैं और दूसरे (कहे), दो प्रकार की कथनीचले त उसे तत्त्व का अभ्यास हो तो वह उसका विवेक कर सके। विवेक कहाँ से कर सके ? एक ऐसा कहता है, एक ऐसा कहता है, एक ऐसा कहता है। कोई कहता है व्रत पालते-पालते धर्म होगा, कोई कहता है सम्यग्दर्शन बिना होगा नहीं। तो क्या है ? भैया ! विचार तो करना पडेगा या नहीं ? करना पडेगा। माल लेने को जाता है तो मिलान करता है या नहीं ? क्या सत्य है ? सर्वज्ञ परमात्मा क्या कहते हैं ? वस्तु कैसे होनी चाहिए ? और अभी तक कैसे प्राप्त नहीं की ? इन सबको उसे समझना चाहिए। उसका निर्णय करना चाहिए। भाई ! ऐसा मनुष्यपना मिला, यह साधन मिला, वाणी मिली, यदि चला जायेगा तो आँख बँधकर फू.. होकर चौरासी के अवतार में चला जायेगा। भाई !

भावार्थ :- 'आत्मा और परवस्तुओं के भेदविज्ञान को प्राप्त करने के लिये...' आत्मा भगवान शुद्धस्वरूप और पर अर्थात् पुण्य-पाप का भाव, शरीर, कर्म ये सब पर हैं। दो के 'भेदविज्ञान को प्राप्त करने के लिये जिनदेव द्वारा प्ररूपित सच्चे तत्त्वों का...' सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव की दिव्यध्वनि में जो तत्त्व आये उन सच्चे तत्त्वों का। देखा ! वही सच्चे तत्त्व हैं। 'पठन-पाठन, (मनन) करना चाहिए,...' समझ में आया ? अभ्यास करे बिना समझे (तो) ख्याल तो आता नहीं कि क्या चीज़ है ? कोई दूसरा कहे तो ऐसा, तीसरा कहे तो ऐसा। जैसे हवा चले वैसे ध्वजा (फिरे)। ध्वजा होती है ना धजा ? जिस ओर की हवा होती है उस ओर फिरती है। ऐसे आत्मा के यथार्थ तत्त्व का अभ्यास नहीं हो तो दूसरा कहे तो ऐसा, तीसरा कहे तो ऐसा। अपना निर्णय तो नहीं है। ऐसे नहीं चलता, ऐसा कहते हैं। तत्त्व का, चैतन्य का, जड़ का, विकार का, जड़ का वास्तविक अभ्यास हो तो ऐसा अभ्यास करने से (भेदविज्ञान होता है)।

'जिनदेव द्वारा प्ररूपित सच्चे तत्त्वों का पठन-पाठन...' बराबर करना। '(मनन) करना चाहिए; और संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय...' ये तीन बोल आ गये। संशय - यह है या ऐसा है ? विपरीत अर्थात् ऊलटा है, अनध्यवसाय अर्थात् कुछ होगा। 'इन सम्यग्ज्ञान के तीन दोषों को दूर करके आत्मस्वरूप को जानना चाहिए।' भगवान ज्ञान ज्योति चिदानन्दसूर्य का अन्तरबोध (अंतर्मुख) होकर करना चाहिए। 'क्योंकि जिस प्रकार समुद्र में डूबा हुआ

अमूल्य रत्न पुनः हाथ नहीं आता... 'समुद्र में रत्न गिर जाये तो कहाँ से मिले ? अन्दर गिरे ?

'उसीप्रकार मनुष्यशरीर, उत्तम श्रावककुल और जिनवचनों का श्रवण आदि सुयोग भी बीत जाने केबाद पुनः पुनः प्राप्त नहीं होते।' पुनः नहीं मिलता। 'इसलिये यह अपूर्व अवसर न गँवाकर आत्मस्वरूप की पहिचान (सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति)...' अनन्तकाल में नहीं किया ऐसा 'करके यह मनुष्य-जन्म सफल करना चाहिए।' उससे मनुष्य-जन्म सफल है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन हुआ तो बाद में अनुक्रम से चारित्र होगा और मुक्ति होगी ही होगी। लेकिन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन बिना जो कुछ करे उसमें जन्म-मरण का नाश होता नहीं। (विशेष कहेंगे...)



आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्यवाला है। उसमें अनन्त गुण स्वभाव है, उसकी रुचि हुए बिना, उपयोग परमेंमे पलटकर स्वमें नहीं आ सकता। जो पाप भावोंकी रुचिमें पड़े हैं-उनकी तो बात ही क्या ! पर पुण्यकी रुचि वाले बाह्य त्याग करें - तप करें - द्रव्यलिंग धारण करें तो भी जब तक शुभकी रुचि है, तब-तक उपयोग पर-ओरसे पलटकर स्वमें नहीं आ सकता। अतः प्रथम परकी रुचि पलटानेसे ही उपयोग पर-ओरसे पलटकर स्वमें आ सकता है। मार्गकी यथार्थ विधिका यही क्रम है।

(परमागमसार-३६४)



जिज्ञासु जीवको भूमिका अनुसार शुभाशुभ-परिणाम तो आयेंगे ही। रागको छोड़ू...छोड़ू- ऐसे राग पर दृष्टि रखनेसे राग नहीं छूटेगा। अतः एकदम (व्यर्थकी) उतावली नहीं करना। उतावली करनेसे राग नहीं छूटेगा बल्कि उलझन बढ़ जाएगी। राग छोड़ूँ-छोड़ूँ ऐसे नास्ति पक्षमें खड़े रहनेसे राग नहीं छूटेगा और उलझन होगी। स्वभावके अस्तिपक्षका यथार्थ पुरुषार्थ होने पर राग सहज ही छूट जायेगा।

(परमागमसार-३६५)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ११, बुधवार
दि.१६-२-१९६६, गाथा ७, ८, प्रवचन नं.-२७

एक पुद्गल परावर्तन में तो अनन्त तीर्थकर अनन्त हो जाये। ऐसे असंख्य पुद्गल परावर्तन तो एकेन्द्रिय में जीव रहता है। इससे दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय पाना महादुर्लभ है। उसमें भी मनुष्यपना और उसमें भी उत्तम कुल, उसमें भी जिनवाणी का सुनना, वह तो उत्तरोत्तर बहुत दुर्लभ, बहुत दुर्लभ (है)। दृष्टान्त दिया न ? सुमणि हाथ में आया और रत्न समुद्र में डूबा दिया। ऐसे ऐसे साधन मिले, यदि उसमें सम्यग्ज्ञान नहीं किया तो जन्म-मरण के चक्कर ऐसे ही करने पड़ेगे। अनन्त बार किये ऐसे करने पड़ेंगे। सम्यग्ज्ञान जब तक न किया... वही कहा न ? 'आपो लख लीजे' ये आया था।

तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास करीजे;

संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।

यह मानुष पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवानी;

इह विध गये न मिले सुमणि ज्यौं उदधि समानी॥६॥

भगवान आत्मा... उसका सातवीं गाथा में स्पष्टीकरण करेंगे। ज्ञानस्वरूपआत्मा है, उसमें पुण्य-पाप राग उठता है, वह भी अपने स्वरूप में नहीं। समझ में आया ? शरीर, वाणी, मन तो जड़ है, पर है और पुण्य-पाप का शुभ-अशुभभाव है, वह आस्रवतत्त्व है। उसमें अपना (स्वरूप) भिन्न 'लख लीजै' ऐसा 'दौलतरामजी' ने कहा। वह तो शास्त्र ऐसा कहते हैं, वैसा हिन्दी भाषा में बनाया है। 'आपो लख लीजे' यह आत्मा आनन्दकन्द जिनेन्द्रकन्द आत्मा है। समझ में आया ?

आत्मा अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। सूरण की गाँठ होती है न ? सूरण समझते हो ? भैया ! कन्द होता है न कन्द ? सूरळ को क्या कहते हैं ? सूरण कहते हैं न ? ऐसी गाँठ नहीं होती ? कन्दमूल। बड़ी गाँठ होती है, कन्दमूल की बड़ी गाँठ होती है, कन्दमूल होता है। इतनी (बड़ी) गाँठ। जहाँ छूरी मारो वहाँ अकेला रस ही पडा है। ऐसे आत्मा देहदेवल में अकेला आनन्दकन्द का पिंड पडा है। आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द लबालब भरा है। जैसे मीठा में... मीठा को क्या कहते हैं ? लवण... लवण। लवण में खारापन भरा है और जैसे खडी में सफेदपना भरा है, कन्दमूल सूरण में अकेला रस भरा है, वैसे भगवान आत्मा असंख्य प्रदेशी आनन्दरस से भरा पडा है, आहा.. ! उसका यदि राग से भिन्न होकर ज्ञान नहीं किया तो जन्म-मरण में चौरासी में फिरना पडेगा। इसलिये कहते हैं कि, ऐसा मिलना महादुष्कर है। इसलिये 'आपो लख लीजे' ऐसा अनन्त में कहा।

भगवान आत्मा... ! पहले समझन करनी चाहिए। सत्समागम से, शास्त्र श्रवण से, विचार, मनन, पठन-पाठन से आत्मा क्या चीज़ है उसे समझ में लेना चाहिए और लेकर बाद में अन्दर में भेदज्ञान करना, यह बात सातवीं गाथा में कहते हैं। सातवीं गाथा है न ? गुजराती में छठी होगी। देखो !

सम्यग्ज्ञान की महिमा और कारण

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;

ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै।

तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;

कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ॥७॥

अन्वयार्थ :- (धन) पैसा, (समाज) परिवार, (गज) हाथी, (बाज) घोड़ा, (राज) राज्य (तो) तो (काज) अपने काम में (न आवै) नहीं आते; किन्तु (ज्ञान) सम्यग्ज्ञान

(आपको रूप) आत्मा का स्वरूप - (जो) (भये) प्राप्त होने के (फिर) पश्चात् (अचल) अचल (रहावै) रहता है। (स्व-पर विवेक) आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान (बखानौ) कहा है, (इसलिये) (भव्य) जीवो ! (कोटि) करोड़ों (उपाय) उपाय (बनाय) करके (ताको) उस भेदविज्ञान को (उर आनौ) हृदय में धारण करो।

भावार्थ :- धन-सम्पत्ति, परिवार नौकर-चाकर, हाथी, घोड़ा तथा राज्यादि कोई भी पदार्थ आत्मा को सहायक नहीं होते; किन्तु सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है; वह एकबार प्राप्त होने के पश्चात् अक्षय होजाता है- कभी नष्ट नहीं होता, अचल एकरूप रहता है। आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान ही उस सम्यग्ज्ञान का कारण हैं; इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी भव्य जीवको करोड़ों उपाय करके उस भेदविज्ञान के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए।

‘सम्यग्ज्ञान की महिमा और उसका कारण।’

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;

ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै।

तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;

कोटि उपाय बनाय भव्य,ताको उर आनौ॥७॥

बडी अच्छी, हिन्दी में सार भर दिया है। ‘धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;...’ पैसे कितना काम में आयेगा ? नहीं (आयेगा) ? धूल में भी काम नहीं आता। अनाज तो आनेवाला होगा तो आयेगा। अनाज काम में आता है ? क्या अनाज आत्मा को काम में आता है ? वह तो धूल है, जड़ है। समझ में आया ? दूसरी चीज़ तो आत्मा के हित के लिये काम नहीं आती परन्तु अपने में शुभ-अशुभभाव उत्पन्न होता है, वह भी अपने हित के लिये काम आते नहीं। आहा..हा...! समझ में आया ? भाई ! ये आपके पैसे क्या काम आते हैं ? आप को सब पैसेवाले कहते हैं। पन्द्रह लाख, दस लाख धूल लाख इकट्टे किये हैं न ? ऐसालोग बोलते हैं। यहाँ तो ना कहते हैं।

पंडित ‘दौलतरामजी’ गृहस्थाश्रम में है परन्तु शास्त्र में जो यथार्थ कहा है उसकी बात

हिन्दी में रची है। धन अर्थात् पैसा। देखो ! पैसा अपने काम में नहीं आता। है ? उसमें लिखा है ? 'धन काज न आवे' ऐसा ले लेना। उसमें है या नहीं ? है न ? धन (के बाद) आखिर का शब्द लेना। 'धन काज न आवे।' लक्ष्मी अपने आत्मा के लिये काम नहीं आती। मेरी लक्ष्मी ऐसी ममता में काम आती है तो ममता तो दुःखरूप है। समझ में आया ? 'धन काज न आवै...' लक्ष्मी अपने काम नहीं आती, वह तो धूल है। मरण के समय आ... (हो जाता है)। मरण के पहले कहाँ काम में आती है ? यह तो दृष्टन्त देते हैं।

अभी कोई कहता था, अरे... ! इतनी-इतनी लक्ष्मी, चालीस-पचास लाख रूपये थे, इज्जत बड़ी थी, परन्तु ऐसा प्रसंग बन गया कि, कोई खड़ा नहीं रहा, कोई साथ में न रहा। समझ में आया ? यह व्यक्तिगत बात थी। यहाँ हमारे पास तो बहुत बात आती है न ! पचास-पचास लाख रूपये थे और बड़ी इज्जत थी लेकिन ऐसा प्रसंग बन गया। बड़े-बड़े गवर्नर को और बड़े-बड़े (व्यक्ति को) कहा (लेकिन कोई) काम नहीं आया। समझ में आया ? क्या आवे ?

मुमुक्षु :- सर्व गुण काञ्चनमयः

उत्तर :- धूल में भी नहीं है। ए..इ... ! 'सर्व गुण काञ्चनमयः' सर्व गुण कांचन में-धूल में-सोना मे है। पैसा बहुत था। पचास लाख रूपये हैं, वे व्यक्तिगत आकर कहते थे, आहा..हा... ! आप कहते थे वह बात हमें प्रत्यक्ष नजर में आयी। इतने-इतने पैसे, इतनी इज्जत, इतनी दुकान, इतने नौकर, इतनी सिफारीश। क्या कहते हैं ? इतनी-इतनी सिफारीश बड़े गाँव में, हाँ ! लेकिन ऐसा प्रसंग बन गया... आहा..हा... ! जाओ ! जेल में। अरे..रे... ! इतने पैसे, इतने मकान कहाँ गया ? सामने कोई देखने आये नहीं। भाई ! अपने काम लगेगा। अधिकारी आये तो दूर हट जाये, हमें काम सोपेंगे। ऐसा सब बनता है, सब सुना है।

कहते हैं, 'धन काज न आवै'। अपने हित के लिये मरण समय जीवन में धन बिलकुल काम नहीं आता। करोड़ रूपये हो, पाँच करोड़, धूल करोड़ो हो (काम नहीं आते)। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- दान करे तो ... काम लगे न ?

उत्तर :- दान करे तो राग मंद हो, राग मंद हो तो पुण्य होता है।

मुमुक्षु :- दान भी नहीं करना ?

उत्तर :- नहीं करने को किसने कहा ? दान में राग मंद होतो पुण्य होता है। जैसेदिये तो पुण्य होता है, अभिमान में दिया (कि), मैंने दिये, दूसरे से मैं अच्छा हूँ, बड़ा कर्ता हूँ (ऐसे) अभिमान (करता है) तो पुण्य भी नहीं होगा। समझ में आया ? राग मंद हो तो शुभभाव होता है। परन्तु शुभभाव आत्मा को शरण कहाँ है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। पांच-पचास साल बहुत शुभभाव किया। मरण के समय शरण किसका ? वह शुभभाव आया वह तो चला गया, उसका पुण्य बन्ध गया, अब शरण किसका लेना ? आहा..हा... ! भगवान का स्मरण करो। भगवान को कहाँ से स्मरण ले ? अन्दर असाध्य (हो गया हो) इतनी वेदना (हो)। आत्मा क्या है (उसकी) कभी पहिचान नहीं की। राग से, विकल्प से आत्मा भिन्न है। चिदानन्द की डली है। आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, जिसमें एकाग्र होने से अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट होता है, वह तो कभी किया नहीं। कौनसे समय काम आती है ? लक्ष्मी क्या काम आती है ? डॉक्टर बुलाने में ? डॉक्टर क्या... ?

मुमुक्षु :- खड़ा हो जाये।

उत्तर :- खड़ा हो जाये। ऐसे कहते हैं कि, डॉक्टर आकर खड़ा हो जाये। कुछ करे नहीं। डॉक्टर क्या करे ? यहाँ एक आया था। आफके मकान में यहाँ आया था न ? इनके मकान में। 'महुवा' के थे न ? 'महुवा' के न ? क्या कहते हैं ? 'घोघा' के, 'घोघा' के (थे)। (संवत्) १९९४ के पहले वैष्णव थे, वैष्णव। होशियार आदमी था। बाद में दर्शन करने का भाव हुआ। डॉक्टर के पीछे बहुत पैसे खर्च किये। सब डॉक्टर आये। हमें बुलाया, क्योंकि देह की स्थिति पूरी होने की तैयारी थी। आपके मकान में, भाई ! सेनेटोरियम में। होशियार आदमी (था, कहने लगा), महाराज ! कपड़ा बदलने की तैयारी हो गई है। ये सब डॉक्टर इंजेक्शन खोचते हैं, कुछ काम नहीं करता। पैसा ले जाये। डॉक्टर आया था, वह भी गृहस्थी था, मोटर थी, पैसे लेने आया। हम 'हीराभाई' के मकान में थे न ? पहले तीन वर्ष दूसरे में थे। कुछ काम नहीं करता। ये डॉक्टर भी नहीं करते। इंजेक्शन खोजा करते हैं। साध्य था। अब देह में रहने का

थोड़ा काल है। यह कपड़ा बदलकर दूसरा शरीर हो जायेगा। रात को मर गये। समझ में आया ? क्या करे ? लक्ष्मी क्या करे ? धूल क्या करे ?

आत्मा अन्दर शरण है उसकी तो कभी पहिचान की नहीं। उसका विश्वासकिया नहीं कि, मेरा आनन्द मेरे पास है। चारों ओरसे पीड़ा हो लेकिन मैं अन्तर आनन्द हूँ उसमें राग से पृथक् होकर मैं उसमें रहूँ तो मुझे विश्राम, आराम मिले। समझे ? आराम वहाँ मिले, और जगह आराम है नहीं। ये बराबर होगा ? पैसा-पैसा कुछ काम नहीं करता ?

मुमुक्षु :- कैसे थे तो ...

उत्तर :- क्या काम आया ? आत्मा को क्या है ?

‘ धन काज न आवै ’ एक बात। ‘ समाज काज न आवै ’ दूसरा बोल। सबके साथ यह शब्द है न ? ‘ धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै ; ... ’ धन काम में न आवे और समाज। पचीस-पचास कुटुंबी हो क्या काम आवे ? आत्मा को क्या है ? अरे... ! आप को दुःख है, रोये, क्या करे ? कोई समाज आत्मा के शरण में - हित में काम करनेवाला नहीं। गज (अर्थात्) हाथी घर में हो। बडा हाथी हो। समझ में आया ? क्या काम आवे ?

मुमुक्षु :- अभी हाथी के बदले में मोटर पडी हो।

उत्तर :- मोटर पडी हो। पहले हाथी थे, अब मोटर हो। ए..ई... ! कितनी मोटर है ? उसके पास लाख रूपये की मोटर है। धूल में भी नहीं है। क्या कहते हैं ? ब्लडप्रेसर हो जाता है, तब एं..ए..ए.. करता है। दो करोड रूपये होने परभी। धूल में भी काम नहीं आता। वहाँ एं..ए..ए.. होजाता है। यहाँ एक बार नहीं हुआ था ? यहाँ आहार दान के लिये, उनकी आहार की भावना थी। उसी दिन उसके लडके को... उसके पासदो करोड रूपये हैं, एं...ए..ए.. हो गया। क्या है ? ये रूपये है न ?

मुमुक्षु :- घोडागाडी में लाने पडे।

उत्तर :- हाँ, लाने पडे थे। धूल में भीपैसा काम नहीं आता। समाज क्या काम आता है ? ये उनके पिताजी थे, उनके मौसा थे, सब थे। कौन काम करता है ? हाय... हाय... ! ये डॉक्टर

... थे। डॉक्टर ने कहा, हम इंजेक्शन लगाते हैं, क्या होगा (हमें पता नहीं)। डॉक्टर को भी विश्वास नहीं होता। समाज भी अपने काम में नहीं आता। है ? हाथी काम में नहीं आता, घोडा काम में नहीं आता। बडा पाँच-पाँच हजार, दस-दस हजार घोडा हो, लाख-लाख रूपये का घोडा होता है न ? 'अमेरिका' में दो लाख का घोडा होता है। अढाई-अढाई लाख के घोडे होते है। क्या कहते हैं ? शर्त... शर्त... (रेस में) भागने की। अढाई-अढाई लाख के (होते हैं), क्या धूल में काम आये ? मर जाये तब एं..ए..ए.. हो जाता है।

'राज काम न आवे।' राज क्या काम करता है ? देखो ! समझ में आया ? ये 'दिग्विजय' कितने करोडपति हैं ! 'जामनगर' के राजा थे न ? मर गये। कितने करोडों रूपये उसके पास हैं। उसकी रानी के पास करोडों रूपये हैं। 'जामनगर', अभी मर गये। समझ में आया ? क्या काम आवे ? हम (संवत) २०१० की साल में एक दिन उसके पास गये थे। महाराज ! मुझे दर्शन करने हैं। हम 'जामनगर' के बाहर जंगल जाते थे, उसके बंगले के पास जंगलजाते थे। उसको मालूम पडा (तो कहा), महाराज ! मुझे दर्शन करना है। मैं अपासरा में आऊं लेकिन मेरी आँख दुखती है। अभी मर गये। वहाँ गये, उसके बंगले में पन्द्रह मिनट सुनाया। उसकी रानी बहुत होशियार है। ये समाज, साम्राज्य कुछ काम नहीं करता। धूल में नहीं है। बारह महिने की एक करोड की पैदाईश थी। (कहने लगे), सच बात है, महाराज ! ये काम करने जैसा है। आत्मा का साम्राज्य आत्मा का काम करता है। आत्मा में अनन्त ज्ञान, आनन्द पडा है, ये आत्मा का साम्राज्य अपने शरणभूत होता है, दूसरा कोई शरण मिलता नहीं। कितना करोड है ! चले गये, थोडे दिन पहले - 'दिग्विजय' 'जामनगर' का दरबार चला गया।

ये 'भावनगर' दरबार। घूमते थे। मुझे असुख है, इतना बोला। ५३ वर्ष की उम्र। रानी को बुलाओ। रानी आयी। (रानी को कहा) मुझे असुख है। रानी डोक्टर को बुलाने गई (उतने में) खलास ! ये 'भावनगर' दरबार, 'कृष्णकुमार' यहाँ दो बार आये थे, व्याख्यान में आये थे। क्या करे राज ? शरण है ?

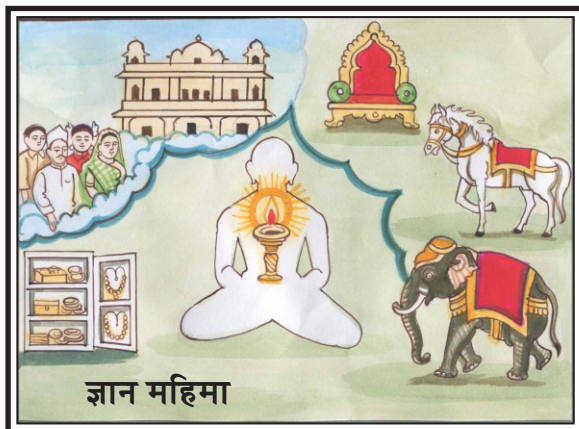
मुमुक्षु :- ... मान-पान देना तो चाहिए न !

उत्तर :- क्या करे ? मान में आत्मा को क्या हुआ ? अन्त में इतना बोले। सुना नहीं ? 'लालबहादुरशास्त्री' गुजर गये न ? 'मुंबई' आये थे न ? पुस्तक... पुस्तक... 'अभिनंदन ग्रन्थ' ! तुम्हारे पिताजी ने दिखाया या नहीं ? बाद में दिखायेंगे। एक पुस्तक है। शरीर को जब ७५ वर्ष है न, तब 'लालबहादुर शास्त्री' आये थे। उसने 'अभिनंदन ग्रन्थ' दिया, अपने पास है। बाद में दिखायेंगे, अभी तो थोड़े दिन रहनेवाले हैं न ? एक साडे पाँच हजार का पुस्तक है। क्या कहते हैं ? 'अभिनन्दन ग्रन्थ'। उसने दिया था। 'लालबहादुर शास्त्री' आझाद मैदान। दस-बारह हजार आदमी व्याख्यान में आते थे। बहुत आदमी (आते थे)। शरीर को ७५ वाँ वर्ष बैठा उस समय आये थे। (संवत्) २०२० की साल, ७५ (वर्ष) ! उसमें अभिनंदन देने को आये थे। मर गये, और मरते समय क्या हुआ सुना है ?

मुमुक्षु :- वडाप्रधान हो गये...

उत्तर :- उसमें आत्मा को क्या हुआ ? मरते समय इतना बोले, मेरे बाप ! हे राम ! बस ! अन्त में इतना बोले। मेरे बाप... मेरे बाप... ! अपने कहते हैं न मेरे बाप ! हे राम ! बस ! अन्दर इस आत्माराम के भान बिना कुछ शरण-फरण है नहीं। लाख पुलिस खड़े होते हैं। बाद में मुर्दे के पास खड़े रहे। मुर्दे को मान दिया। बन्दूक ऐसे ऊलटी रखते हैं, बाद में ऐसे रखते हैं। क्या हुआ उसमें ?

देखो ग्रंथाकार 'दौलतरामजी' कहते हैं, 'राज तो काम न आवै।' समाज में सब आ गया ? स्त्री काम में आती है या नहीं ? अच्छा पुत्र, अच्छाबाप कोई काम नहीं आता ? समाज में आ गया। समाज अर्थात् परिवार। परिवार में कोई आत्माको काम आते नहीं आहा..हा... ! अन्दर चित्र दिया है, देखो ! परिवार-स्त्री, पुत्र ऐसे दिखाया है, देखो ! समझ में आता है ? पुत्री, पैसे, घोडा, हाथी, तिजोरी सब दिखाया



है। महल है। धूल में भी काम नहीं आता। क्या काम आता है ?

‘सम्यग्ज्ञान (आपको रूप)...’ देखो ! दो बात कही। परचीज अपने को काम नहीं आती तो अपनी चीज है क्या ? अपनी चीज है क्या ? पर काम नहीं आता तो अपनी चीज क्या है तो अपने को काम आती है ? कि, अपनी चीज ज्ञानस्वरूप भगवान, चैतन्यसूर्य मैं आत्मा हूँ। चैतन्य ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का, पुण्य-पाप के राग से भिन्न होकर अपने ज्ञान का ज्ञान (द्वारा) जो अन्तर में अनुभव किया तो वही अपना ज्ञान है, वह अपने को काम आयेगा, दूसरा कोई काम आयेगा नहीं। समझ में आया ?

‘सम्यग्ज्ञान (आपको रूप)...’ है देखो ! क्या कहते हैं ? सम्यग्ज्ञान ‘आपको रूप भये, फिर अचल रहावै।’ सब चीज तो चली जायेगी। भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य बिंब है, चैतन्य का सूर्य बिंब है, उसका अपने सूर्य का अन्दर भान होकर अन्दर ज्ञान किया तो अपना ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञान अचल रहेगा। ज्ञान में श्रद्धा, शांति आदि सब साथ में है। अपने आत्मा का ज्ञान किया तो वह ज्ञान साथ में रहेगा। क्योंकि ज्ञान अपना रूप है। राग, पुण्य अपना रूप नहीं। आहा..हा... ! कितनी बात कही है।

ज्ञान अपना रूप (है) इसमें भी वह ले लिया। उसमें भले ऐसे लिया, ‘धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै, परन्तु ज्ञान आपको रूप...’ में ऐसा ले लिया कि, शुभ-अशुभ जो राग होता है वह अपना रूप नहीं। वह भी अपने को काम नहीं आता। भाई ! आहा..हा... ! भगवान चैतन्यसूर्य शांतरस से भरा, ऐसा अपना निज रूप है, जिसमें शुभ-अशुभराग का विकार भी नहीं तो परचीज तो काम कहाँ से आयेगी ? पुण्य का विकल्प अपने काम में नहीं आता, ऐसा कहते हैं। क्या कहा, समझ में आया ? क्या कहा ? पुण्य-पाप भी काम नहीं आता, ऐसा उसमें कहा या नहीं ?

मुमुक्षु :- ... उपदेश सुनाने में...

उत्तर :- सुने लेकिन अन्दर ज्ञान न करे तो क्या करे ? समझ में आया ? पुत्र तो उसे कहते हैं, बात तो शास्त्र में ऐसे चलती है। पुत्र क्या ? अपने पिता को, माता को पवित्र बनाने में सहाय(रूप) हो, पवित्र बनावे उसे पुत्र कहते हैं। पैसे की सेवा को नहीं कहते, ऐसा शास्त्र में

है। समझ में आया ? आत्मा की वस्तु अपने समझी हो, समझी हो तो माता-पिता को समजाये न ? समझे बिना क्या समजाये ? यहाँ तो पवित्रता (की बात है)।

भगवान आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है, शुद्ध चैतन्यजल से भरा है, उसकी तुम अनुभव, दृष्टि करो, वही पवित्रता का कारण है ! दूसरा कोई आत्मा को शरण नहीं। समझ में आया ? देखो न कितना कहते हैं ! ज्ञान अपना स्वरूप 'प्राप्त होने के पश्चात् अचल रहता है।' देखो ! पुण्य-पाप भी नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। शुभ-अशुभभाव भी चलायमान है, अस्थिर है, विकार है, पाप होता है, शुभ होता है, पुण्य होता है, पुण्य-पाप होता है, अचल नहीं है, वह तो चल है। वह शरण नहीं, आत्मा को शरण नहीं तो बाहर की चीज़ तो शरण कहाँ से हो ? बहुत लिखा है। समझ में आया ?

'अचल रहावै' वह चल है, (वह) चीज़ चली जायेगी। तेरी चीज़ है-ज्ञानानन्द स्वरूप, उसका अन्तर ध्यान करके प्रकट करो, अचल रहेगा। वस्तु है, कहाँ जायेगी ? वस्तु है, वह कहाँ जायेगी ? ज्ञान में ज्ञान को मिलाकर एकाकार हुआ वह अचल रहा, वह ज्ञान इस लोक में भी रहेगा, परलोक में भी साथ में आयेगा। सम्यग्ज्ञान किया हो तो। इसके अलावा कोई चीज़ आत्मा को काम आती नहीं। ओ..हो..हो... ! शुभभाव भी काम करे, ऐसा नहीं लिया। अशुभभाव आया, लक्ष्मी का खर्च किया तो पुण्य बँधा तो पुण्य अपने को काम आता है (ऐसा नहीं कहा)। है उसमें ? देखो कुछ काम नहीं आता, क्या काम आयेगा ?

तेरा स्वरूप शुद्ध चिदानन्द पड़ा है। अखंडानन्द भगवान पूर्ण आनन्द और ज्ञान से भरा प्रभु; उस ज्ञान का ज्ञान करो तो अचल रहेगा। अब ज्ञान कैसे करना यह बताते हैं। समझ में आया ? ज्ञानस्वरूप अपना, ये पुस्तक, पत्रे का (ज्ञान) नहीं। अपने ज्ञान का ज्ञान अन्दर में करना। मैं ज्ञान चैतन्यसूर्य हूँ, ऐसा अंतर्मुख होकर (ज्ञान करना)। वह कैसे करना यह बताते हैं। देखो !

'तास ज्ञानको...' सम्यग्ज्ञान का कारण। अब सम्यग्ज्ञान होता कैसे है ? कि, जो सम्यग्ज्ञान अपना स्वरूप है और प्रकट होकर अचल रहता है। यह अचल ज्ञान प्रकट कैसे होता है ? '(स्व-पर विवेक) आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान...' देखो ! समझ में

आया ? भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। शरीर, वाणी, मन पर हैं। पुण्य-पाप का राग विकार है। इन पर से अपना स्वरूप अन्दर में भिन्न करना, भेदज्ञान करना – वही सम्यग्ज्ञान प्रकट करने का कारण है। वही सम्यग्ज्ञान अपने स्वरूप से अचल रहेगा, दूसरी कोई (चीज़) अचल रहेगी नहीं। भाई ! समझ में आया ?

‘आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान...’ उसमें महासिद्धांत है। समझ में आया ? सम्यग्ज्ञान, अपना अचल रूप है तो उसको प्रकट करो तो वह अचल रहेगा। दूसरी चीज अचल नहीं, पुण्य-पाप, शरीर आदि अचल नहीं। एक बात। अब इस सम्यग्ज्ञान का कारण कौन ? भेदज्ञान। भेदज्ञान का अर्थ क्या ? कि, स्व-पर की भिन्नता करना। स्व-भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्य की ओर दृष्टि करके, विकार और शरीर से भेद करना। भेदज्ञान... भेदज्ञान... समझ में आया ? आता है न ? ‘भेदविज्ञानतः सिद्धा’ ‘अमृतचंद्राचार्य’ महाराज कहते हैं। ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ महाराज के श्लोक की टीका बनाई है।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।

अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥१३१॥

अभी तक अनन्तकाल में जो कोई मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, वे भेदविज्ञान से हुए हैं। समझ में आया ? अर्थात् राग और शरीर, वाणी, मन की क्रिया मेरी नहीं, राग मेरा नहीं, उससे भिन्न अपने स्वरूपको भेदज्ञान करके अब तक अनन्त (जीव) मुक्ति को प्राप्त की, वह (इस) उपाय से प्राप्त की है। आहा..हा... ! ‘भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन’ जितने अनन्त सिद्ध हुए, वे भेदविज्ञान से ही मुक्ति पाये हैं। ‘अस्यैवाभावातो बद्धा’ राग और विकल्प से भिन्न भगवान आत्मा (है), उसका अभाव (है अर्थात्) भेदज्ञान नहीं किया और भेदज्ञान का अभाव रहा अर्थात् पुण्य-पाप, शरीर मेरा है ऐसी मान्यता रही वही बन्ध का कारण है। जगत में भटकने का कारण वह एक ही है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ
सो चेतन सिवरूप कहायौ।
भेदग्यान जिन्हके घट नांही
ते जड़ जीव बंधैं घट मांही।

एक श्लोक में सब आ गया। 'समयसार नाटक' का श्लोक है। 'बनारसीदास' का (बनाया हुआ है)। 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' के कलश हैं, उसमें से बनाये हैं। भेदज्ञान। भेदज्ञान - राग, विकल्प, शरीर से भिन्न। दूसरा ज्ञान नहीं, शास्त्रज्ञान नहीं।

भेदज्ञान ही ज्ञान है, बाकी बूरो अज्ञान,
धर्मदास क्षुल्लक कहे, हेमराज तुं मान।

एक 'धर्मदासजी क्षुल्लक' हुए हैं। दिगम्बर। पचास वर्ष पहले (संवत्) १९४६-१९४८ की साल में (हुए हैं)। 'धर्मदासजी क्षुल्लक' ब्रह्मचारी हुए हैं। क्षुल्लक थे, अध्यात्मज्ञानी थे।

भेदज्ञान ही ज्ञान है, बाकी बूरो अज्ञान,
धर्मदास क्षुल्लक कहे, हेमराज तुं मान।

ऐसा आया है। देखो ! यही बात कहते हैं। तेरा भगवान् चिदानन्दस्वरूप विकार, पुण्य-पाप का राग, कार्य से भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान (होना) वही ज्ञान है। 'बाकी बूरो अज्ञान।' संसार का ज्ञान और शास्त्र का ज्ञान आत्मा का कोई काम करते नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ
सो चेतन सिवरूप कहायौ।

'भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ।' वह तो चेतन शिवरूप हो गया। समझ में आया ? आहा..हा... ! वही कहते हैं, देखो ! अपना रूप। बाद में स्वरूप का भेदज्ञान हुआ, वह क्रमशः राग की अस्थिरता टालकर स्वरूप में स्थिर होगा और मुक्ति पायेगा। परन्तु पहले भेदज्ञान ही नहीं है, वह राग की एकताबुद्धि है, पुण्य की एकताबुद्धि है, देह की क्रिया में कर सकता हूँ, ऐसी जसिकी मान्यता है, वह मूढ भेदविज्ञान के अभाव से 'ते जड़ जीव बंधै घट मांही' समझ में आया ? भेदज्ञान जिसने घट में पाया, वह चेतनरूप शिव कहाया। वह चेतन तो शिव-मुक्ति में (जाने को) तैयार (है)। अरे.. ! शिव ही है, मुक्तस्वरूप ही है।

आहा..हा... ! कठनि बात है। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- बदल जाता है, उसका अर्थ कि, निश्चय करता नहीं। निर्णय किया हो वह बदले ? अचल रहावै। नाम पडा है। भाई ! (ऐसा कोई कहे) तो सपने में बोलेगा, हैं... ! भाई कहाँ है ? इसमें कहीं भाई है ? किसे कहना ? शरीर को कहना ? नाम गिराते हैं, किसका नाम है ? ये तो मिट्टी-धूल है। समझ में आया ? शरीर किसको कहना ? नाक को ? आँख को ? किसे कहना ? सारे अवयव को शरीर नाम दिया है। ऐसे नाम दिया है। फलाना है, पानाचंद नाम है, लक्ष्मीचन्द नाम है। किसका नाम है ? आत्मा में तो है नहीं।

मुमुक्षु :- पक्का कर लिया है।

उत्तर :- पक्का उसने कर लिया है, सबने मिलकर नहीं किया है। सबने इकट्ठे होकर नहीं करवाया है, उसने मानलिया है। सपने में भी बुलाये, जमु.. ! हँ.. ! कहाँ है जमु ? सपने में नहीं है, वह तो चैतन्यरूप है। ऐसा दृढ संस्कार लगा दिया है। समझ में आया ?

कहते हैं,

भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ

सो चेतन सिवरूप कहायौ।

आहा..हा... ! 'भेदज्ञान जिन्हके घट नांही' चाहे तो क्रियाकांड करता हो, पंच महाव्रत पालता हो, बाह्य की क्रिया (करता हो) लेकिन उससे भिन्न ऐसा भान नहीं है, वह तो जड़ है, ऐसा कहते हैं। 'ते जड़ जीव बंधैं घट मांही।' वह चेतन नहीं हुआ, ऐसा कहते हैं, सामने-सामने लेते हैं। समझ में आया ?

भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ

सो चेतन सिवरूप कहायौ।

भेदग्यान जिन्हके घट नांही

ते जड़ जीव बंधैं घट मांही।

आहा..हा...! देखो ! 'बनारसीदास' ने बनाया है। मूल श्लोक में से बनाया है, 'अमृतचंद्राचार्यदेव' का मूल श्लोक है। समझ में आया ?

(यहाँ) कहते हैं, सम्यग्ज्ञान अपना स्वरूप है। नित्य चैतन्यज्योति जल रही है, झगमग झगमग ज्योति ! भगवान आत्मा पर नजर कर। पुण्य-पाप का विकल्प, शरीर, वाणी, मन से हटाकर चैतन्यज्योति नित्य ध्रुव है। ध्रुव... ध्रुव (है) उसमें दृष्टि लगा दे। तुझे राग से, पर से भेदज्ञान हो, वही आत्मा का अचल रूप है। भेदज्ञान ही मुक्ति का उपाय है, दूसरा कोई मुक्ति का उपाय नहीं। आहा..! समझ में आता है या नहीं ?

'आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान कहा है।' '(बखानौ)' देखा ? भगवान ने उसकी प्रशंसा की है। सम्यग्ज्ञान में स्व-पर के भेदज्ञान की प्रशंसा की है। लाख शास्त्र पढे हों, लोगों का रंजन करता हो, उसके साथ भेदज्ञान का संबंध है ही नहीं। अपना स्वर और पर की अन्दर में भिन्नता करनी, अभ्यास करना... अभ्यास करना। क्या अभ्यास करना ? यह पहले कहा था। भिन्न तत्त्व का अभ्यास करना। भगवान आत्मा पहले जानना कि क्या चीज़ है ? क्या वस्तु है ? उसमें विकार कैसे होता है ? संयोग कैसा है ? संयोगी चीज़ क्या है ? संयोगी विकार क्या है ? और स्वभाव क्या है ? उसका पहले बोध करके अन्तर में उससे भिन्न करना। भेदज्ञान-छैनी मारनी। समझ में आया ? छैनी मारते हैं और दो टूकडे हो जाते हैं। वैसे भगवान आत्मा चैतन्य आनन्दस्वरूप और पर, विकार और शरीर, (ऐसे) स्व-पर का भेद करके, विवेक अर्थात् भेदविज्ञान कहा है। समझ में आया ? आहा..हा...! थोड़े में बहुत बात कही है। भाई ! आहा..हा... !

भाई ! तू प्रभु कोई चैतन्यवस्तु है या नहीं ? समझ में आया ? पदार्थ है तो उसका कोई दल, प्रदेश पिंड है या नहीं कोई ? पिंड है तो उसमें कोई भाव है या नहीं ? समझ में आया ? जैसे यह लकड़ी है, देखो ! यह सुखड है, सुखड। चंदन, देखो ! यह चंदन है। वस्तु है या नहीं ? उसकी चौड़ाई है या नहीं ? उसमें सत्त्व भरा है या नहीं ? सुगन्ध, मुलयमता भरी है या नहीं ? उसे वस्तु कहते हैं या नहीं ? यह रूपी वस्तु है। आत्मा अरूपी है, परन्तु वस्तु है। अनन्त अनन्त ज्ञानादि अन्दर भरा है, बेहद शक्ति (है)। क्यों लक्ष्य में नहीं आता ? कि, उसकी वर्तमान अवस्था अनादि से परसन्मुख है। समझ में आया ? वस्तु में बेहद ज्ञानानन्द

स्वभाव पडा है, पूरा दल पडा है, पूरा चैतन्यदल, आनन्द की मूर्ति प्रभु है। समझ में आया ? हलवाई... हलवाई कहते हैं न ? हलवाई। हलवाई वह नहीं करते हैं ? लकड़ी का बीबा करके उसमें शक्कर भर देते हैं। पूतली बनाते हैं न ? शक्कर की पूतली नहीं बनाते हैं ? लकड़े का बीबा होता है न ? तो शक्कर ... भर जाती है। ठंडा हो जाये फिर बीबा निकाल देते हैं। शक्कर की पूतली रह जाये। ऐसे आत्मा इस शरीर के बीबा से लक्ष्य छोड़ दे, पुण्य-पाप के विकल्प का मैल छोड़ दे और अन्दर में शक्कर अर्थात् अनन्त आनन्द की मूर्ति-पूतली है। वह बात बैठ जाये लेकिन अन्दर ये क्या है ? समझ में आया ? ऐसा अनन्त आनन्द की मूर्ति चैतन्यपिंड है।

जैसे शक्कर में मैल होता है न ? मैल। दूध डालकर धोते हैं न ? दूध डालकर नहीं धोते हैं ? साफ करते हैं। उसे क्या कहते हैं ? बुरा कहते हैं न ? बुरा कहते हैं। होता तो अच्छा है, कहते हैं बुरा। शक्कर में दूध डालकर साफ करते हैं न ? उसे क्या कहते हैं ? बुरा कहते हैं ? बुरा हो गया ? हुआ तो साफ है। ऐसे भगवान आत्मा में भेदज्ञान डालकर, पुण्य-पाप का विकल्प जो है उसका भेद करना। वहाँ जैसे बुरा होता है, वैसे यहाँ भला होता है। समझ में आया ? आहा..हा... !

कहते हैं कि, आत्मा में भेदज्ञान ही एक कारण है। स्व-पर का भेदज्ञान वही ज्ञान का कारण है। ज्ञान का हेतु यह लिया, हाँ ! अभ्यास करना या धारणा करना ऐसा नहीं लिया। पहले अभ्यास करने को कहा था। कारण यह है। आहा..हा... ! परन्तु इतनी निवृत्ति नहीं, समय नहीं (है)। कहते हैं, भगवान ! तुझे इतना समय मिला है। आहा..हा... ! चैतन्यसूर्य भगवान अनन्त ज्ञान, आनन्द से भरा हुआ पदार्थ है, वस्तु है। अरूपी लेकिन वस्तु है। वस्तु में बसे हुए अनन्त गुण है। ऐसे भगवान आत्मा को विकार से, शरीर से अन्तर में भेद करके विवेक करना, भेदज्ञान करना, वही स्मयज्ञान का उपाय है और वही सम्यग्ज्ञान आत्मा का मुक्ति का उपाय है। समझ में आया ? बाद में कहते हैं, भेदज्ञान करने के बाद क्या करना ? बाद में तो व्रतादि पालने या नहीं ? ऐ..ई.. ! भगवान ! वह विकल्प आते हैं, उससे भी बाद में भेदज्ञान करना। बाद में भी जो व्रत का विकल्प आता है वह भी राग है; उससे भी बाद में भेदज्ञान करना। बाद में भी जो व्रत का विकल्प आता है वह भी राग है; उससे भी भेद करके

एकाकार करना वही करना (है)। कब तक करना ? कि, जब तक आत्मा का केवलज्ञान प्राप्त न हो तब तक। आहा..हा...! समझ में आया ? इसी ज्ञान को सम्यग्ज्ञान का कारण 'आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान कहा है।'

'इसलिये हे भव्य जीवो !' देखो ! संबोधन करते हैं, हाँ ! भव्य जीवो। अभव्य को नहीं कहते हैं। 'है भव्य जीवो ! करोड़ों उपाय करके...' करोड़ों उपाय करके। दुनिया को छोड़, करोड़ उपाय कर,लाख-करोड़-अबज कर। 'उसे भेदविज्ञान को हृदय में धारण करो।' करोड़ों उपाय करके भी विकार और शरीर से भिन्न आत्मा का भेदज्ञान करो। चाहे तो परीषह सहन करना पड़े, दुनिया की निंदा सहन करनी पड़े, दुनिया गिनने में आये नहीं, शरीर में रोग हो, लाख प्रतिकूलता हो... आहा..हा...! करोड़ उपाय करके भी (भेदविज्ञान कर)। देखो ! कितना जोर देते हैं ! भगवान आत्मा को विकार से, पर से भेद करना, वही तेरा हित है। वह क्रिया तो उसे ख्याल में आती नहीं। बाहर की कोई क्रिया करे तो (लगे कि), ये कुछ करता है, हाँ ! लेकिन यह करना तो मूल चीज़ है। वह ख्याल में आता नहीं, उसकी महिमा आती नहीं। वही कहते हैं।

मुमुक्षु :- उपाय तो एक ही है न ?

उत्तर :- करोड़ों उपाय करके भी यह भेदज्ञान करना, ऐसा कहते हैं। दूसरा कोई उपाय है नहीं। उपाय यह एक ही है। तुम करोड़ उपाय बनाकर भेदज्ञान करो, ऐसा कहते हैं। करोड़ उपाय अर्थात् ? चाहे तो प्रतिकूलता हो, चाहे सो अनुकूलता हो, दुनिया माने-न माने, शरीर में रोग हो, वाणी न हो, निर्धनता हो। बांझपना हो, कुँवारापन हो... समझ में आया ? सब छोड़ दे। एक आत्मा का ही भेदज्ञान कर और वही तेरा कर्तव्य है। समझ में आया ? ऐसा कहते हैं। वे तो कहते हैं कि, करोड़ उपाय करके भी भेदज्ञान ही करना। चाहे दूसरा लाख प्रयत्न कर, करोड़ प्रयत्न कर, उससे नहीं मिलेगा। समझ में आया ?

'कोटी उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ।' उसे हृदय में धारण करो, इसके अलावा आत्मा का काम और नहीं है। भेदज्ञान में ही सम्यग्दर्शन आया और भेदज्ञान हुआ तो क्रमशः स्वरूप में स्थिरता होगी। भेदज्ञान से ही होती है। राग आया उसमें भी भेदज्ञान किया, स्थिर

होना हुआ। स्थिरता भी भेदज्ञान है, राग से भेद करना। समझ में आया ?

भावार्थ :- ‘धन-सम्पत्ति, परिवार, नौकर-चाकर, हाथी, घोडा...’ बाज का अर्थ घोडा किया है। बाज का अर्थ हिन्दी में घोडा (शब्द) होता है ? ‘राज्यादि कोई भी पदार्थ आत्मा को सहायक नहीं होते; किन्तु सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है;...’ भगवान् चैतन्यमूर्ति ज्ञानकला। ‘ज्ञानकला जिसके घटजागी, ते जगमांही सहज वैरागी, ज्ञानी मगन विषयसुख मांही, यह विपरीत संभवे नाहीं, ज्ञानकला जिसके रे घट जागी...’ गृहस्थाश्रम में भी पुण्य-पाप के भाव से भिन्न मेरा आत्मा है, ऐसी ज्ञानकला जागी। ‘ज्ञानकला जिसके घट जागी। ते जगमांही सहज वैरागी।’ मैं पर से भिन्न हूँ, मेरा पर के साथ कोई संबंध नहीं। भले गृहस्थाश्रम में हो तो भी अन्दर में पर से निर्लेप रहते हैं। समझ में आया ?

‘ज्ञानी मगन विषयसुख मांही, यह विपरीत संभवे नाहीं।’ अंतर में सम्यक् ज्ञान प्रकट हुआ वह विषयसुख में लीन होते हैं ऐसा कभी बनता नहीं। विषयसुख तो ज़हर है। भगवान् आत्मा का आनन्द है, ऐसा जिसे अन्तर में सम्यग्ज्ञान हुआ, वह विषय में प्रेम रखकर भोग में उसे सुखबुद्धि होती नहीं। समझ में आया ? चक्रवर्ती ‘भरत’ चक्रवर्ती घर में वैरागी। आता है या नहीं कलश ? समझ में आता है। ‘भरतजी घर में वैरागी’ ९६ हजार पद्मणि जैसी स्त्री। उसका शरीर भी महासुंदर, इन्द्र जिनके मित्र हैं। क्या है ? कोई चीज़ हमारी नहीं। समझ में आया ? हमारी चीज़ तो आत्मा आनन्द, ज्ञान है – ऐसा भेदज्ञान ‘भरत’ चक्रवर्ती को ९६ हजार स्त्री के वृन्द में होने पर भी अपना आनन्द पर से भिन्न करते हैं। समझ में आया ? और अपने आनन्द का स्वाद लेते हैं, उसका नाम भेदज्ञान है, उसका नाम ज्ञान की कला है। आहा..हा... !

‘किन्तु सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, वह एकबार प्राप्त होने के पश्चात् अक्षय हो जाता है...’ ज्ञान हुआ, वह कहाँ नाश होता है ? चंद्र की दूज उगी, वह दूज तो पूनम ही होगी। चंद्र की दूज होती है ना ? वह पूनम होगी ही। एकबार बोधबीज राग से भिन्न सम्यग्ज्ञान किया (तो) क्रमशः केवलज्ञान होगा। समझ में आया ? लेकिन इस सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन की महिमा नहीं। ये करो, ये करो, ये करो, व्रत करो, दमन करो... ये करो। राग मंद हो, मिथ्यात्व

सहित पुण्य बंध जायेगा। जन्म-मरण का नाश इस सम्यग्ज्ञान, दर्शन बिना तीनकाल तीनलोक में कभी किसी को होता नहीं। समझ में आया ?

‘कभी नष्ट नहीं होता, ...’ कौन ? अपना ज्ञान, चैतन्य में अन्दर एकाकार हुआ (वह) नाश नहीं होता। ‘अचल एकरूप रहता है। आत्मा और परवस्तुओं का भेदज्ञान ही उस सम्यग्ज्ञान का कारण है; इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी भव्य जीव...’ प्रत्येक आत्मार्थी-स्त्री हो, पुरुष हो, राजा हो, गृहस्थ हो, रंक हो, भिखारी (हो), वह तो बाहर की सयोंग-स्थिति है, उसके आत्मा के साथ संबन्ध नहीं। ‘प्रत्येक आत्मार्थी भव्य जीव को करोड़ों उपाय करके...’ अनन्त उपाय करके यही करना है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... !

‘उस भेदविज्ञान के द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए।’ देखो ! भेदविज्ञान से ही सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्ज्ञान का कारण स्व-पर का भेद और भेदविज्ञान से ही सम्यग्दर्शन-आत्मा का अनुभव होता है। उससे आत्मा की मुक्ति होती है। समझ में आया ? बाद में लेंगे। सम्यग्दर्शन-ज्ञान की बात करने के बाद, आत्मज्ञान-दर्शन हुआ, बाद में ब्रतादि का विकल्प आता है। श्रावक को बारह ब्रतादि, मुनि को अष्टाईस मूलगुण (का विकल्प आता है), लेकिन वे जानते हैं कि, यह पुण्यास्रव है। मेरे भेदज्ञान जितना स्थिर है, उतना मुझे लाभ है। वह बाद में पाँचवी, छठी ढाल में कहेंगे। समझ में आया ? सातवाँ श्लोक कहा।

सम्यग्ज्ञान की महिमा और विषयेच्छा रोकने का उपाय

जे पूरव शिव गये, जाहिं, अरु आगे जैहैं;

सो सब महिमा ज्ञान-तनी, मुनिनाथ कहैं हैं।

विषय-चाह दव-दाह, जगत-जन अरनि दझावै;

तास उपाय न आन, ज्ञान-धनधान बुझावै॥८॥

अन्वयार्थ :- (पूरव) पूर्वकाल में (जे) जो जीव (शिव) मोक्ष में (गये) गये हैं,

(वर्तमानमें) (जाहि) जा रहे हैं (अरु) और (आगे) भविष्य में (जैहे) जायेंगे (सो) वह (सब) सह (ज्ञान-तनी) सम्यग्ज्ञान की (महिमा) महिमा है - ऐसा (मुनिनाथ) जिनेन्द्रदेव से कहा है। (विषय-चाह) पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छारूपी (दव-दाह) भयंकर दावानल (जगत-जन) संसारी जीवों रूपी (अरनि) अरण्य-पुराने वन को (दझावै) जला रहा है, (तास) उसकी शान्ति का (उपाय) उपाय (आन) दूसरा (न) नहीं है; (मात्र) (ज्ञान-धनधान) ज्ञानरूपी वर्षा का समूह (बुझावै) शान्त करता है।

भावार्थ :- भूत, वर्तमान और भविष्य-तीनों काल में जो जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, होंगे और (वर्तमान में विदेह-क्षेत्र में) हो रहे हैं; वह इस सम्यग्ज्ञान का ही प्रभाव है। - ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है। जिसप्रकार दावानल (वन में लगी हुई अग्नि) वहाँ की समस्त वस्तुओं को भस्म कर देता है, उसी प्रकार पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी विषयों की इच्छा संसारी जीवों को जलाती है दुःख देती है; और जिसप्रकार वर्षा की झड़ी उस दावानल को बुझादेती है उसी प्रकार यह सम्यग्ज्ञान उन विषयों को शान्त कर देता है - नष्ट कर देता है।

‘सम्यग्ज्ञान की महिमा और विषयेच्छा रोकने का उपाय।’

जे पूरव शिव गये, जाहिं, अरु आगे जैहैं;

सो सब महिमा ज्ञान-तनी, मुनिनाथ कहैं हैं।

विषय-चाह दव-दाह, जगत-जन अरनि दझावै;

तास उपाय न आन, ज्ञान-धनधान बुझावै॥८॥

मुनिनाथ। मुनि के नाथ केवली परमात्मा ऐसा कहते हैं। सम्यग्ज्ञान-दर्शन का कितना वजन दिया है ! मूल चीज़ वह है। ‘मूलं नास्ति कुतो शाखा’ मूलजहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं है वहाँ चारित्र, व्रत, तप होता नहीं। सच्चा होता नहीं, झूठा हो उसमें आत्मा का कोई लाभ है नहीं, इसलिये कहते हैं। देखो ! अन्दर सब दृष्टान्त दिये हैं। चित्र किये हैं न पहले चित्र में मुनि ध्यान में बैठे हैं। देखो अन्दर में। ज्ञान उपर लगन लगी है। चिदानन्द... चिदानन्द... चिदानन्द... चिदानन्द... चिदानन्द... विकल्प नहीं, हाँ ! ऐसे चादिनन्द में लौ लगी है, वे शिव

गये। चिदानन्द में लौ लगी है वे वर्तमान में जाते हैं। चिदानन्द में लौ लायेगा वह भविष्य में जायेगा। तीनों बात ली है न ? अर्थात् तीनकाल में पन्थ एक है, ऐसा कहते हैं। चौथे काल का पन्थ दूसरा है, पाँचवें काल का दूसरा है और भगवान महाविदेह में बिराजते हैं, महाविदेह में दूसरा कोई धर्म का मार्ग है, ऐसा है नहीं। एक ही मार्ग तीनकाल में है। 'एक होय तीनकाल में परमार्थ का पन्थ।' भरत में भी वही, ऐरावत में भी वह, महाविदेह में भी वही; चौथे काल में भी वही और पाँचवे काल में भी वही। वह कहते हैं। समझ में आया ?

'पूर्वकाल में जो जीव मोक्ष में गये हैं, ...' मोक्ष का अर्थ अपना ज्ञानानन्द स्वरूप राग से, पुण्य से भिन्न किया था, वह पूर्ण राग से, अस्थिरता से हटकर स्थिर हो गया, पूर्ण अवस्था प्रकट हो गई, उसका नाम मोक्ष। आत्मा की पूर्ण शुद्धता जो शक्तिरूप में पडी है, वह वर्तमान अवस्था में पर से भिन्न करते-करते पूर्ण निर्मलानन्द अवस्था प्रकट हो जाये, उसका नाम मोक्ष (है)।

मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ;

समजाव्यो संक्षेप मां, सकल मार्ग निर्ग्रथा।

'श्रीमद् राजचन्द्र' कहते हैं। 'आत्मसिद्धि' है न 'आत्मसिद्धि' ? 'आत्मसिद्धि' देखी है ? भैया ! एक 'श्रीमद् राजचन्द्र' हुए हैं, यहाँ 'ववाणिया' में हुए हैं। ३३ वर्ष की उम्र में देहछूट गया। सात वर्ष की उम्र में जातिस्मरण था। बाद में आत्मज्ञान प्राप्त किया और बहुत छोटी उम्र में-३३ वर्ष में देह छूट गया। उन्होंने उसमें कहा है। समझ में आया ? तीनकाल में जो कोई मार्ग है, 'एक होय त्रणकाळमां, परमार्थनो पन्थ'। परमार्थ का पन्थ एक है। 'एक होय त्रणकाळमां परमार्थनो पन्थ।' समझ में आया है या नहीं ? भैया ! 'आत्मसिद्धि'।

भगवान ज्ञानानन्द प्रभु, उसमें पुण्य-पाप का विकल्प हो परन्तु उससे हटकर अन्तर में चिदानन्द की ज्योत की एकाग्रता करना, वही करते-करते मुक्ति को पाया है। अनन्तकाल में अनन्त ने मुक्ति पायी तो इस कारण से पायी है। देखो ! भेदविज्ञान आया। 'भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन'। समझ में आया ? 'जो जीव मोक्ष में गये हैं, वर्तमान में जा रहे हैं...' समझ में आया ? अभी महाविदेहक्षेत्र है न ? वहाँ मोक्ष है, यहाँ केवल(ज्ञान)-

मोक्ष नहीं है। सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र अन्तर से भिन्न ऐसा होता है। मोक्ष वर्तमान में यहाँ भरतक्षेत्र में नहीं है, महाविदेह में है। भगवान 'सीमंधर' प्रभु जहाँ बिराजते हैं, वहाँ से आत्मा के ज्ञान में लीन होकर इतना उग्र पुरुषार्थ करते हैं, तो कहते हैं कि, परसे भिन्न होकर ही वहाँ मोक्ष जाते हैं। अभी महाविदेह में से जाते हैं तो ऐसे ही जाते हैं, भूतकाल में भरतक्षेत्र आदि में से गये तो परसे भिन्न करके गये।

'और भविष्य में जायेंगे...' अनन्त अनन्त काल में भविष्य में जितने मोक्ष में जायेंगे,... समझ में आया ? 'यह सब सम्यग्ज्ञान की महिमा है...' आहा..हा... ! 'यह सब सम्यग्ज्ञान की महिमा है...' आहा..हा... ! इतनी महिमा ! चैतन्यमूर्ति ज्ञान का सूर्य है, उसे पर से भिन्न करना, राग का कर्ता नहीं। राग का पुण्य परिणाम आता है, उसका आत्मा कर्ता नहीं। देह की क्रिया का आत्मा कर्ता नहीं। ऐसा अपना ज्ञान हो तो उसका नाम सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ऐसे सम्यग्ज्ञान की महिमा (है)। 'ऐसा (मुनिनाथ) जिनेन्द्रदेव ने कहा है।' वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा ने ऐसा कहा है। 'दौलरामजी' कहते हैं, हम हमारी कल्पना से नहीं कहते हैं। वीतरागदेव अनन्त तीर्थकर हुए, वर्तमान में बिराजते हैं, भविष्य में होंगे। वे अपने ज्ञान की, स्वरूप की दृष्टि और स्वरूप की रमणता से मुक्त होंगे। ऐसा मुनिनाथ, तीर्थकरदेव, मुनि के नाथ, जिनेन्द्रदेव ऐसा कहते हैं। दूसरा दूसरे प्रकार से कहे तो भगवान की आज्ञा के अनुसार नहीं है। दूसरा कोई कहे कि, पुण्य करते-करते मुक्ति होगी, शुभभाव करते-करते मुक्ति होगी, सम्यग्दर्शन होगा, वह वीतराग की आज्ञा का वचन है नहीं, वीतराग का मार्ग नहीं है। वीतराग के मार्ग में मुनिनाथ ऐसा कहते हैं। दूसरा (मार्ग) है नहीं। देखो !

अभी तो शरीर की क्रिया से मुक्ति है। आहा..हा... ! सचेत शरीर, सचेत शरीर से क्रिया... अरे... ! भगवान ! यह तो जड़ है। उसकी क्रिया से अपने को कल्याण होता है, ऐसा (कोई) कहते हैं। आहा..हा... ! लोगों को समझ नहीं (है)। यहाँ तो कहते हैं, जिनेन्द्रदेव, देह की क्रिया से तो नहीं परन्तु पुण्य के परिणाम से भी मुक्ति होती है, ऐसा नहीं कहते हैं। सम्यग्ज्ञान अन्दर में एकाकार होकर मुक्ति होती है। तीनकाल तीनलोक में ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। ऐसा भव्यजीव को यथार्थ समझना चाहिए। (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष १२, गुरुवार

दि. १७-२-१९६६, गाथा ८, प्रवचन नं.-२८

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है, उसमें चौथी ढाल चलती है। चौथी ढाल की आठवीं गाथा है, आठवीं। देखो ! क्या कहते हैं ? 'सम्यग्ज्ञान की महिमा और विषयेच्छा रोकने का उपाय।' थोड़ा चला है, फिर से लेते हैं।

जे पूरव शिव गये, जाहिं, अरु आगे जैहैं;

सो सब महिमा ज्ञान-तनी, मुनिनाथ कहैं हैं।

विषय-चाह दव-दाह, जगत-जन अरनि दझावै;

तास उपाय न आन, ज्ञान-घनघान बुझावै॥८॥

देखो ! सादी सरल भाषा में 'छहढाला' में यहाँ चौथी ढाल में आठवीं गाथा (में) क्या कहते हैं ? 'जे पूरव शिव गये, ...' जो आज से पहले मुक्ति को अनन्त आत्मा प्राप्त हुए हैं... समझ में आया ? अनन्त काल में छह महीने और आठ समय में ६०८ (जीव) मुक्ति को प्राप्त होते हैं। अनन्तकाल में अनन्त काल बीता, उसमें छह महीने और आठ समय में ६०८ मुक्ति को प्राप्त होते हैं। अभी तक जितने मुक्ति को-शिवपद को प्राप्त हुए वह सब ज्ञान की महिमा है। कहा ना ?

'सो सब महिमा ज्ञानतनी, ...' है उसमें ? उसका अर्थ करते हैं। शब्दार्थ है न ? 'पूर्वकाल में जो जीव मोक्ष में गये हैं, वर्तमान में जा रहे हैं...' वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में 'सीमंधर' परमात्मा तीर्थकर बिराजमान हैं और लाखों केवलज्ञानी भी वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में मौजूद हैं। उसमें ... वर्तमान में भी छह महीने और आठ समय में ६०८ वर्तमान में मुक्ति को प्राप्त हैं। महाविदेहक्षेत्र में। यहाँ भरत, ऐरावत में अभी केवलज्ञान की

प्राप्ति का इतना पुरुषार्थ नहीं है। महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में जो मुक्ति प्राप्त करते हैं, वह भी ज्ञानतनी महिमा है।

‘और (आगे) भविष्य में जायेंगे...’ भविष्य में अनन्त अनन्त काल छह महिने आठ समय में ६०८ मुक्ति को जो प्राप्त होंगे... क्या कहते हैं ? देखो ! ‘यह सब सम्यग्ज्ञान की महिमा है...’ है उसमें ? भैया ! सम्यग्ज्ञान क्या ? वह बात पहले उपर में आ गई। स्व-पर का विवेक करना। उपर में सातवें में आ गया, सातवाँ श्लोक है न ? उसमें आ गया है, देखो !

तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;

कोटि उपायबनाय भव्य,ताको उर आनौ।।

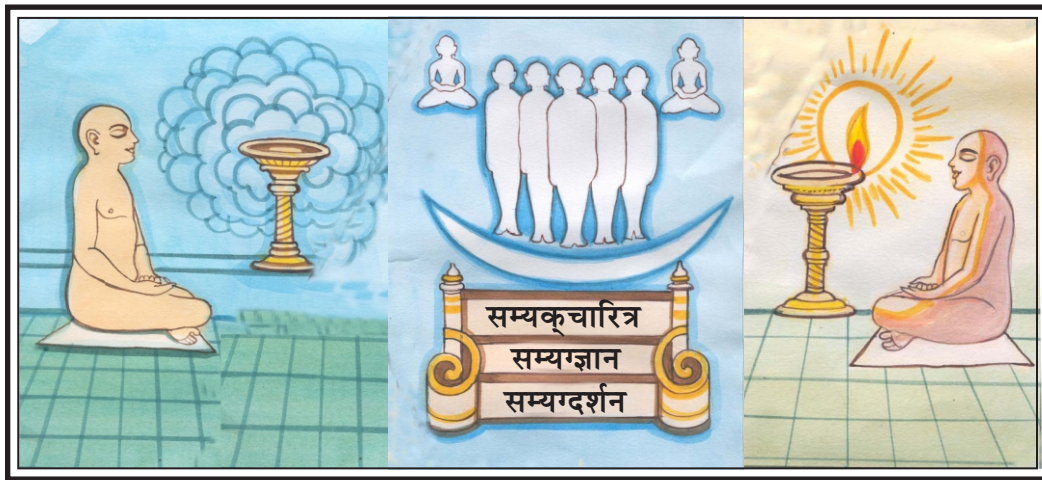
सातवे श्लोक में पहले आ गया। क्या कहते हैं ? सम्यग्ज्ञान से अनन्त जीव मुक्ति को पाये, वर्तमान पाते हैं, अनन्त पायेंगे। सम्यग्ज्ञान का अर्थ क्या ? कि, अपना आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्यस्वरूप है और देह, वाणी, जड़ अजीव हैं और अपनी पर्याय अर्थात् अवस्था में शुभ और अशुभ जो राग होता है वह विकार है। इस विकार से मेरी चीज़ भिन्न है और कर्म और शरीर अजीव से मेरी चीज़ भिन्न है - ऐसा स्वस्वभाव और पुण्य-पाप का विभाव और जड़ की सामर्थ्य की पृथकता, उसका अन्तर में भेदज्ञान करना। समझ में आया ? यह तो सादी भाषा में बात करते हैं, देखो ! हिन्दी, सादी हिन्दी है।

स्व-पर का विवेक करना। मैं आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध हूँ, मेरे स्वरूप में तो अनन्त ज्ञान, शांति आदि का सामर्थ्य पड़ा है और मेरे स्वभाव के पूर्ण सामर्थ्य के आगे पुण्य-पाप के भाव होते हैं वे विभाव, विकार, विपरीत भाव हैं। समझ में आया ? और शरीर, कर्म और अजीव पदार्थ हैं, वे मेरे से पृथक हैं। जड़ की पृथकता, विभाव की विपरीतता और स्वभाव की सामर्थ्यता - तीन बोल कहे। क्या कहा ? अपने पहले बहुत बार बात आ गई है।

यह भेदज्ञान की बात करते हैं। ‘दौलतरामजी’ जगत को सर्वज्ञ परमात्मा ने जो कहा, उसका थोड़ा सार ले लेकर, गागर में सागर जैसे भर देते हैं, ऐसे भर दिया है। कहते हैं कि, अरे.. ! भैया ! अनन्तकाल में जितने आत्मा मुक्ति को प्राप्त हुए, वर्तमान में प्राप्त करते हैं और

प्राप्त करेंगे, वे सब भेदज्ञान से (प्राप्त करेंगे)। भेदज्ञान का अर्थ क्या ? अपना आत्मा अनन्त अनन्त स्वभाव के सामर्थ्यरूप आत्मा है। मैं तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शांति, वीर्य – ऐसा मेरा स्वरूप है। शुभ और अशुभ, पुण्य-पाप (के) जो भाव होते हैं, वे विभाव हैं। समझ में आया ? वे विकार हैं। आत्मा का स्वभाव बेहद आनन्द के आगे वह विभाव, स्वभाव से विपरीत है। समझ में आया ? वह कहा न ?

‘सो सब महिमा ज्ञान-तनी, मुनिनाथ कहें हैं।’ मुनिनाथ-तीर्थकरदेव जिनेन्द्र परमेश्वर, अनन्त वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर हुए, वर्तमान में भगवान जिनेन्द्र बिराजमान हैं, भविष्य में अनन्त तीर्थकर होंगे। संवर किसको कहते हैं ? कि, पुण्य-पाप का जो राग उत्पन्न होता है, उससे अपना स्वभाव भिन्न करके स्वभाव में एकाग्रता का होना, उसका नाम भगवान संवर कहते हैं। आहा..हा...! ‘सो सब महिमा ज्ञान-तनी,...’ उसका अर्थ क्या ? सातवीं (गाथा में) लिया – स्व-पर विवेक। समझ में आया ? मैं आत्मा... यह समझे बिना उसे कभी मुक्ति होती नहीं। यह समझे बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं। यहाँ सम्यग्ज्ञान कहा है, लेकिन आगे-पीछे दोनों लेना. सम्यग्ज्ञान कहते हैं (लेकिन) सम्यग्दर्शन पहले साथ में है। सम्यग्ज्ञान कहते हैं, तब साथ में राग से पृथक् स्थिरता भी है। नीचे कहा है ना ? देखो न ! सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र तीनों लिखे हैं। नीचे...क्या कहते हैं ? चित्र...चित्र !



कहते हैं कि, भैया ! यदि मुझे मुक्ति प्राप्त करनी है अथवा धर्म करना है अथवा तुझे संवर और निर्जरा प्राप्त करनी है तो पहले यह करना। वह कल आया था, कहा था। 'भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ, भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ...' 'बनारसीदास' 'समयसार नाटक' में कहते हैं।

(अढाई द्वाप के बाहर) असंख्य पशु हैं। मनुष्यक्षेत्र अढाई द्वीप में है, उससे बाहर के क्षेत्र में असंख्य समुद्र, द्वीप हैं। अन्तिम के स्वयंभूरमण समुद्र में भी असंख्य पशु सम्यग्ज्ञानी हैं। अभी (हैं)। इस सम्यग्ज्ञान का अर्थ क्या ? 'भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ, सो चेतन सिवरूप कहायौ।' राग, विकल्प पुण्य-पाप का विकल्प उठता है, वह विभाव (है)। शरीर, कर्म आदि अजीव जड़ (हैं)। उसकी क्रिया जड़, उसकी पर्याय जड़ (है)। और मेरा स्वभाव शुद्ध अनन्त ज्ञानादि का सामर्थ्य (स्वरूप है), मैं चैतन्यमूर्ति (हूँ) - ऐसे स्वभावकी अनन्त सामर्थ्य का भान, पुण्य-पाप का, विभाव का स्वभाव से विपरीतपना है - ऐसा अन्तर बोध (होना) और देहादि जड़ की अपने स्वभाव से विभाव की पृथकता (होनी) समझ में आया ?

ये तो सात तत्त्व के अन्दर है। 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं।' अजीव और जीव दोनों भिन्न हैं और पुण्य-पाप का आस्रव और आत्मा का संवर - स्वभावसन्मुख होना वह भिन्न है। ऐसा अन्दर में सम्यग्ज्ञान किया, वही सम्यग्ज्ञानी ने संवर को पाया और वे ही मुक्ति को पाते हैं, दूसरे कोई प्राणी मुक्ति को पाते नहीं। यह तो सादी भाषा है। गहन तो है न।

भेदग्यान संवर जिन्ह पायौ
सो चेतन सिवरूप कहायौ।
भेदग्यान जिन्हके घट नांही
ते जड़ जीव बंधैं घट मांही।

जिसके घट में आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप आनन्द की मूर्ति मैं हूँ और विकार - परभाव होता है, वह बन्ध का कारण है और जड़ आदि परवस्तु है, ऐसा जिसकेअन्तर में भेदज्ञानरूपी सम्यग्ज्ञान नहीं (है तो) कहते हैं कि, वह जड़ जीव (है)। वह तो जड़ जीव है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- जड़ जीव यानी ?

उत्तर :- जड़ जीव का अर्थ भान रहित जीव।

पहले ऐसे कहा कि, 'भेदग्यान संवर जिन्ह पायौ, सो चेतन सिवरूप कहायौ।' दूसरे में ऐसा कहा, 'भेदग्यान जिन्हके घट नांही, ते जड़ जीव बंधै घट मांही।' समझ में आया ? एक ... और एक जड़। आत्मा, राग और पुण्य-पाप का भाव होता है, हो, परन्तु उससे मेरी चीज अन्दर में भिन्न आनन्दकन्द ज्ञायक चैतन्यमूर्ति हूँ। ऐसा भेदज्ञान अन्तर में न किया तो कहते हैं कि, जड़ है। राग को और जड़ को अपना मानना, वही जड़ है। वह जग में भटकता है। आहा..हा... ! ये तो साधारण सादी भाषा में कहते हैं तो लोग कहते हैं, ये नहीं, ये नहीं, ऐसा नहीं, ऐसा नहीं। क्या ऐसा नहीं ? तुझे क्या करना है ? समझ में आया ?

अनन्त काल से परिभ्रमण करता है। बाद में नववीं (गाथा में) कहेंगे, 'पुण्य-पाप-फलमाहि, हरख बिलखौ मत भाई;' पुण्य और पाप ये दो तो विकार हैं। विकार के बंधन में जड़ का बंधन होता है, उसके फल में यह धूल आदि बाहर में संयोग मिलते हैं। समझ में आया ? कहते हैं, जितने प्राणी अभी तक मुक्ति को प्राप्त हुए और पायेगे, सब सम्यग्ज्ञान की महिमा (है - ऐसा) सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं। त्रिलोकनाथ वीतराग परमेश्वर आदि गणधरो, मुनिनाथ ऐसा कहते हैं कि, है मुक्ति पाने का उपाय सब सम्यग्ज्ञान की महिमा है। इस सम्यग्ज्ञान का अर्थ-स्व-पर का भेद। स्व-पर का भेद का अर्थ-पुण्य-पाप का विभाव और त्रिकाल स्वभाव दोनों को अन्दर भिन्न करना। आहा..हा... ! वह पहले आ गया है। प्रत्येक आत्मार्थी भव्य जीव को... सातवीं (गाथा में) आ गया न ? देखो ! क्या कहा ? 'तास ज्ञान को कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;' सातवीं गाथा में आ गया। 'कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ।' है उसमें ? भैया ! सातवे श्लोक में है। आहा..हा... ! दुनिया को परवाह नहीं प्रवृत्ति की आड में निवृत्ति नहीं है। क्या चीज़ है ? मरी अन्तर चीज़ क्या है ? और यह विकार क्या होता है ? शरीर आदि जड़ की पर्याय जड़ से क्या होती है ? (उसके) भेद का कोई पता नहीं। सब एक मानकर अनादि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि पर को एक मानकर चार गति में भटकता है।

भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर सर्वज्ञदेव का फरमान समवसरण में मुनिनाथ ऐसा कहते

हैं। 'दौलतरामजी' भी अपना नहीं कहते हैं। मुनिनाथ ऐसा कहते हैं। तीर्थकरदेव सर्वज्ञ परेश्वर सो इन्द्र से पूजनीक समवसरण में भगवान फरमाते थे कि, सम्यग्ज्ञान समान कोई (महिमावंत) है नहीं। समझ में आया ? यहाँ तो ऐसा मानता है, कि देह की क्रिया मैं कर सकता हूँ। वह तो जड़ है। जड़ की पर्याय तो जड़ से होती है। जड़ की पर्याय है। पर्याय समझे ? जड़ में तीन बोल हैं - द्रव्य, गुण और पर्याय जड़ पदार्थ है यह वस्तु (है)। उसमें गुण हैं-वर्ण, गंध, रस, स्पर्श गुण (हैं) और उसकी ऐसी हालत-रूपांतर होती है वह उसकी पर्याय (है)। जड़ में द्रव्य-गुण-पर्याय जड़ से होते हैं और अज्ञानी माने कि मेरे से होता है तो जड़ को अपना माना। पहले आ गया है न ? तन उपजत मैं उपजा, तन नाशत मेरा नाश हुआ। वह जड़ को अपना मानते हैं। बहुत अच्छा लिया है।

'छहढाला' में बहुत थोड़े में भर दिया (है), परन्तु विवेचन नहीं, समझ नहीं, विचार नहीं, मनन नहीं। कल भैया कहते थे, थोड़ा पढ़ लेते हैं। पढ़े लेकिन मनन कुछ नहीं। थोड़ा स्वाध्याय करना है। दो पन्ने पढ़ लो। बस ! लेकिन क्या पढ़ते हो ? उसमें किया क्या ? उसमें भाव क्या है ? (उसका) भाव समझे बिना भावभासन हुए बिना का वांचन, मनन सब निरर्थक है। 'टोडरमलजी' 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में कहते हैं न ? भावभासन होना चाहिए। भाव का अन्दर ख्याल होना चाहिए कि, यह आत्मा भगवान परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि, सम्यग्ज्ञान की महिमा से आत्मा मुक्त होता है, तो सम्यग्ज्ञान क्या ?

मैं आत्मा अन्तर ज्ञान की ज्योत चैतन्यसूर्य पड़ा हूँ और ये पुण्य-पाप का विकार, विभाव है, वह बन्ध का कारण है। मेरे स्वभाव से विभाव विपरीत है और कर्म, शरीरादि है, वे मेरे पृथक हैं। स्वभाव की सामर्थ्यता का भान, विभाव की विपरीतता का भान और जड़ की पृथकता का भान। समझ में आया ? आहा..हा... ! ... शरीर चलता है ? आत्मा बहुत प्रेरणा करे लेकिन चलता नहीं। शरीर जड़ है। पक्षघात होता है तब नहीं चलता। वह जड़ है। जड़ की अवस्था आत्मा से नहीं होती, पृथक है। पृथक पदार्थ की क्रिया पृथक में, अपने से पृथक में उसमें होती है, अपने से नहीं, अपने में नहीं। शरीर, वाणी की क्रिया अपने से नहीं, अपने में नहीं। आहा..हा... !

पुण्य-पाप का भाव, विभाव अपने स्वभाव में नहीं और अपने स्वभाव से विभाव उत्पन्न हुआ नहीं। समझ में आया ? आहा..! विकार जो उत्पन्न होता है, वह अंश में अन्दर योग्यता से, वर्तमान अंश की योग्यता की पुण्य-पाप का विकार (उत्पन्न होता है)। दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम पुण्य है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग का भाव पाप है। दोनों विभाव हैं। वह कहते हैं। आहा..हा...! विभाव, आत्मा में एक समय की योग्यता की विपरीतता से उत्पन्न होता है। स्वभाव में अविपरीतता त्रिकाल आनन्दकन्द ज्ञायक पड़ा है। ऐसा विपरीत और अविपरीत दो का भेदज्ञान करना और जड़ शरीर की पृथकता का ज्ञान अन्तर में लाना, उसका नाम सम्यग्ज्ञान, भेदज्ञान, शिवमार्ग का उपाय भगवान् फरमाते हैं। आहा..हा...! कहा ? (ऐसा) महिमा मुनिनाथ ने कहा है। 'जिनेन्द्रदेव ने कहा है।' देखो ! उसमें लिखा है। यहाँ तक तो कल चला था।

'पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छा रूपी भयंकर दावानल...' क्या कहते हैं ? विषय में सुख मान रखा है। पाँच इन्द्रिय विषयों में सुख मान रखा है, वह मिथ्या भ्रम है। ये इन्द्रिय तो जड़ हैं, विषय पर हैं और अन्दर में भावइन्द्रिय खंड खंड से लक्ष्य करके, शब्द में, रूप में, रस में, गंध में, शरीर के स्पर्श में मुझे ठीक है, मुझे सुख होता है - ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है। समझ में आया ? उन विषयों के सुख की इच्छा में सुख माना है वह मिथ्या भ्रम है। इस विषयसुख की इच्छा को सम्यग्ज्ञान नाश कर सकता है। समझ में आया ? क्यों ? विषय की इच्छा, इन्द्र का भोग, राज का भोग, शेठई का भोग, ये सब इच्छा होती हैं सब दुःखरूप है। मानता है कि, हमें विषय में सुख का मजा आता है। मूढ है, मिथ्यादृष्टि है, उसे सम्यग्ज्ञान है नहीं। विषय में सुख मानना; सुख नहीं है, उसमें (सुख) मानना, उसका नाम मिथ्यात्वभाव, अज्ञानभाव है। इस मिथ्यात्वभाव का नाश सम्यग्ज्ञान से होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? कहा ना ?

'पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छारूपी भयंकर दावानल संसारी जीवों रूपी अरण्य-पुराने वन को...' पुराना वन। क्या कहते हैं ? आहा..हा...! एक श्लोक में दो बात कही। एक तो अपना सम्यग्ज्ञान, विभाव पर से भिन्न, उसमें विषय की चाह, उसमें सुख मानना, उससे भी सम्यग्ज्ञान में भिन्न हो गया। समझ में आया ? विषय की दाह-चाह जो है, सुखरूप मान्यता

(जो है) वह अज्ञान में है। ज्ञान हुआ कि, ओ..हो...! मैं तो आत्मा आनन्द हूँ, आनन्द मेरे में है; आनन्द विषयो में नहीं। विषयो में आनन्द नहीं, भोग में आनन्द नहीं, इज्जत में आनन्द नहीं, लक्ष्मी में आनन्द नहीं, पर में आनन्द मानना, उसका नाम भगवान मिथ्यादृष्टि अज्ञान कहते हैं। इस मिथ्यादृष्टिपने (में) जो विषय में सुखबुद्धि है, वह सम्यग्ज्ञान से ही नाश होती है। समझ में आया ? आहा..हा...!

‘विषय-चाह दव-दाह’ दावानल जला, दावानल। थोड़ी अनुकूलता देखे, जैसे पतंगा गिरता है, पतंगा... पतंगा दीपक देखकर पतंगा गिरता है, वैसे यहाँ ‘दौलतरामजी’ कहते हैं कि, अज्ञानी पाँच इन्द्रिय विषयों की लालच करके अज्ञानी सुखबुद्धि (मानकर) अन्दर गिरता है। सम्यग्दृष्टि उसको नाश करते हैं। ओ..हो...! पाँच इन्द्रिय के विषय में राग (होता है) उसमें सुख नहीं है। सम्यग्दृष्टि को राग होता है, समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को राग होता है। स्त्री के भोग में थोड़ा राग है, सुखबुद्धि नहीं है। यह कहते हैं, सुखबुद्धि नहीं। सम्यग्ज्ञानी को विषयचाह में सुखबुद्धि नहीं है। समझ में आया ?



यहाँ यह कहते हैं, ‘विषय-चाह दव-दाह’ आत्मा के आनन्द के भान बिना, आत्मा में आनन्द है, सुख है ऐसी दृष्टि और ज्ञान बिना विषय-चाह दाह, जलन-दावानल अन्दर में जलता है। ऐसा करूँ, ऐसा करूँ, ऐसा करूँ... ऐसी विषय-चाह की दाह (है)। समझ में आया ? ‘पुराने वन...’ अनादि की विषयभोग की चाहना पड़ी है वह सम्यग्ज्ञान द्वारा नाश हो जाती है। क्या कहा ? समझ में आया ? ‘जला रहा है, उसकी शान्ति का उपाय दूसरा नहीं है; (मात्र) (ज्ञान-धनधान) ज्ञानरूपी वर्षा का समूह शांत करता है।’ उसका क्या अर्थ हुआ ? कि, विषयभोग की वांछा में जो सुखबुद्धि अनादि की है, (वह सम्यग्ज्ञान से ही शांत होती है)।

सडडड डें आया ? डलथुयादृषुड अऑनानी अनादलकाल डें वलषुडऑाह डें सुखडुडुडल (रखता है) और डुऑे डऑा आता है - ऐसा डानता है, वह डूढ ऑीव है। वह डूढता, वलषुड ऑी ऑाह डें सुख डानना वह डेदऑन से शांतल होती है। सडडड डें आया ? आहा..हा...! डार्ड ! आहा..हा...!

डगवान आतुड इऑऑा, राग से डेरी ऑीऑ डलडन है - ऐसा आननुदरूडी अडना ऑनन करके इऑऑा का दाह ऑे दावानल है, उसे सडुडऑनानी डुऑाते हैं। इऑऑा डें सुख नहीं, डुडग डें सुख नहीं, इऑऑत डें सुख नहीं, डर डें सुख नहीं। डर डें सुख नहीं है, ऐसी डुडुडल सडुडऑनानी ऑे सडुडऑन से डर डें सुखडुडुडल (रूड) अऑनन ऑे नाश कर देती है। डुऑाता है, ऐसा कहा न ? 'ऑननरूडी वरुषा का सडूह...' ऑनन की वुडखुडुडा, ऑनन की वुडखुडुडा वुडुड ? वलकार, वलकलुड है उससे डेरी ऑीऑ डलडन है। डेरे डें आननुद है। डेरे डें आननुद है, (ऐसा) सडुडऑदृषुड ऑौथे गुणसुथान डें डानते हैं। सडडड डें आया ?



ऑौथे गुणसुथान डें अभी अवलरत सडुडऑदृषुड हो, तुडुड न हो, ९ॢ हजार सुडी हो, इनुदुरों ऑे इनुदुराणी है, डहले देवलोक डें शकुरेनुदुर है। इनुदुर और इनुदुराणी दोनूं ऐकावतारी है, ऐकडवतारी (हैं)। सडडड डें आया ? सुवरुग डें इनुदुर है न ? शकुरेनुदुर और उसकी शऑल (इनुदुराणी), दोनूं ऐकडवतारी हैं। वहाँ से ऐक डव (करके) दोनूं डुडुड ऑानेवाले हैं। वहाँ दोनूं डें वलषुड ऑी इऑऑा का डुरेड नहीं है। आहा...! अऑनानी ऑे थुडुड डी राग है, डुडग की इऑऑा (है उसडें) अऑनन के कारण डीठस, डीठस, डुरेड है - ऐसा डताते हैं। सडुडऑनन राग और अशुडुड डुणुडुड-डुड के डव से डेरा सुवरूड डलडन है - ऐसा सडुडऑनन ऑलुडुड, यह सडुडऑनन वलषुडऑाह की दाह ऑे शांत करता है। सडडड डें आया ?

अडना सडुडऑनन करने से डेरे डें आननुद है - ऐसा डान होकर वलषुडऑाह के दावानल

को शांत कर देता है। तीनकाल में (विषय में) सुख नहीं है। मेरे आत्मा के अलावा सुख तीनकाल में कहीं नहीं है। भोग में, विषय में, इज्जत में, कीर्ति में, महन्त में, बड़े अधिकारी में (सुख नहीं)। समझ में आया ? देखो ! इतना कहते हैं, थोड़े में बहुत भर दिया है।

जे पूरव शिव गये, जाहिं, अरु आगे जैहैं;
सो सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहैं हैं।
विषय-चाह दव-दाह, जगत-जन अरनि दझावै;

आहा..हा... ! पुराने वन को जला रहा है। ...रूपी वन। अन्दर शान्ति...शान्ति... भगवान आत्मा अपनी श्रद्धा-ज्ञान करके, रागरहित अपनी शान्ति होती है, इस शान्ति को, इच्छा में दाह, सुख है, पर में मज़ा है, ऐसी अग्नि बुझा देती है, शांति को बुझा देती है (और) सम्यग्ज्ञान अग्नि को बुझा देता है। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- सम्यग्दृष्टि को दव तो नहीं है।

उत्तर :- दव भी नहीं है, थोड़ी अस्थिरता है। उसका प्रेम नहीं, उसका ज्ञाता-दृष्टा है। सम्यग्दृष्टि को राग आता है, उसका ज्ञाता-दृष्टा है। कल कहा था ना ? 'ज्ञानी विषयसुख मांही, यह विपरीत संभव नांही' - यह 'बनारसीदास' में है।

ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते जगमांही सहज वैरागी,

'ज्ञानकला जिसके रे घट जागी' राग, विकल्प, पुण्य-पाप से मेरी चीज़ भिन्न है। शरीर की क्रिया आदि मेरे से भिन्न है। ऐसा अन्तर में सम्यग्ज्ञान चौथे गुणस्थान में हुआ। 'ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते जगमांही सहज वैरागी;' स्वाभाविक वैराग्य है, हठ से नहीं। किसी में सुख नहीं। स्त्री की लालच नहीं, अपनी इच्छा थोड़ी होती है वह अस्थिरता है, उसे उपसर्ग मानते हैं। सम्यग्ज्ञानी भोग की इच्छा होती है, उसे उपसर्ग मानते हैं। मिथ्यादृष्टि इच्छा को सुखरूप मानते हैं। इतना बड़ा फर्क है। आहा..हा... ! समझ में आया ? क्या ?

मुमुक्षु :- सम्यग्दृष्टि उपसर्ग मानता है।

उत्तर :- उपसर्ग मानते हैं। सर्प देखते हैं, जैसे सर्प देखते हैं और भागते हैं, वैसे

सम्यग्ज्ञानी-धर्मी जीव अपने में आनन्द देखते हैं, राग में दुःख देखते हैं। भागना चाहते हैं। सर्प... सर्प भयंकर सर्प देखकर जैसे भागता है, वैसे सम्यक् धर्मी जीव राग में दुःख देखकर वहाँ से हटना चाहते हैं। अज्ञानी राग में सुख मानकर वहाँ पड़ा है। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ... क्यो शादी करते हैं ?

उत्तर :- भागने के लिये ही शादी करते हैं। शादी ही नहीं करता है, वह सब सूक्ष्म बातें हैं। भगवान को सम्यग्ज्ञान है, क्षायिक समकित है और (गृहस्थदशा में) ९६ हजार (स्त्री के साथ) शादी करते हैं, ऐसा दिखता है। अन्दर में नहीं, अन्दर में नहीं। यह राग दुःखदायक है, मेरी शांति मेरे पास है। मेरा शांति का अनुभव मेरे पास है। यह राग मुझे दुःखदायक है। राग टलता नहीं है इसलिये इतना संयोग दिखने में आता है। समझ में आया ? आहा..हा... !

पकड़ पकड़ में फर्क है। बिल्ली अपने बच्चे को मुख में पकड़ती है और बिल्ली चूहे को मुख में पकड़ती है। पकड़ती है या नहीं ? बिल्ली चूहे को पकड़ती है। चूहा कहते हैं न ? चूहे को ऐसे पकड़े और अपने बच्चे को सात दिन रखे फिर वहाँ से मुलामयता से (पकड़ती है)। पकड़ पकड़ में फर्क है। ऐसे सम्यग्ज्ञानी धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव भोग की वृत्ति उत्पन्न होती है परन्तु (उसकी) पकड़ नहीं, उसमें सुखबुद्धि नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

सम्यग्ज्ञान की इतनी महिमा है, परन्तु सम्यग्ज्ञान करने की परवाह नहीं। दूसरा करता है, ये करो, ये करो, उसमें जिंदगी चली गई। समझ में आया ? बाहर का आचरण करते, करते, करते जिंदगी गँवा दी। मेरी चीज़ क्या है ? राग से भिन्न क्या हूँ ? मेरे में आनन्द क्या है ? ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान करने का उसे अवसर मिलता नहीं।

कहते हैं कि, कोटी उपाय बनाय, करोड़ उपाय करके भी तुम सम्यग्ज्ञान का उपाय करो, दूसरी बात छोड़ दो। कहा या नहीं उसमें ? देखो न, सुख की बात उसे हिन्दी में कहते हैं। (सातवीं गाथा में) कहा या नहीं ? 'कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ।' क्या (कहते हैं) ? 'स्व-पर विवेक बखानौ;' स्व और पर का ज्ञान कोटी उपाय करके भी वह एक करना है। जिसने सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन किया वह शिवमार्गी हो गया। उसे शिवपंथ हो गया, अन्तर में संवर पाया। और जिसने स्व-पर का भेदज्ञान नहीं किया और बाहर में दया, दान,

व्रत, भक्ति की क्रिया में रुक गया तो तो विकार, विभाव, शुभभाव है। शुभभाव में रुक गया और शुभभाव से भिन्न अपना आत्मा है ऐसा बोध नहीं किया तो उसे जन्म-मरण का अन्त कभी आता नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... !

भयंकर दावानल। आ..हा... ! प्रभु ! आत्मा तो शांति का सागर है। समझ में आया ? जैसे शीतल बर्फ की शिला होती है, शीतल बर्फ... बर्फ कहते हैं ना ? बर्फ नहीं होता है ? शीतल बडी शिला, पाँच-पाँच मन की। ऐसे आत्मा शांत वीतराग स्वरूप अकषायस्वरूप शांत अरूपी शांत शिला आत्मा है। उसमें तो शांति है। परन्तु पुण्य-पाप का भाव उत्पन्न होता है, (उसमें) अशांति है। आहा..हा... ! शुभ-अशुभभाव में जिंदगी बिता दे और उससे भिन्न अपने आत्मा का ज्ञान न करे तो उसे आत्मा का कल्याण कुछ होता नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

अरे.. ! दुनिया कोई साथ में नहीं आयेगी। फू... हो जायेगा। शरीर (छूट जायेगा)। चलो, कितना अभी तो रोज सुनते हैं, हार्ट फेईल ! भाई ! अभी किसी ने कहा कि, (कोई बहन का) हार्ट फेईल हो गया। 'मुंबई' में एक बहन बहुत प्रेमवाली है, बहुत प्रेमवाली है। बहुत रुचि, हार्ट फेईल हो गया। छोटी-छोटी उम्र में ४५ वर्ष, ४० वर्ष, ५० वर्ष। चलो, निकलो ! येदुनिया कोई साथ में आनेवाली नहीं। तेरी धूल, इज्जत यहाँ पड़ी रहेगी। भगवान ! क्यों ? भाई ! आहा..हा... !

कहते हैं, अरे... ! प्रभु ! तुझे अपने हित के लिये इतना अवसर नहीं मिलता ? विकार से भिन्न करने का तुझे अवसर नहीं मिलता ? भिन्न करने का अवसर नहीं मिलता तो तू कभी भिन्न होगा नहीं, तेरी मुक्ति कभी होगी नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! महापुराना दावानल दावह (जल रहा है)। आत्मा राग से भिन्न है - ऐसा सम्यग्ज्ञान करने से, आत्मा में आनन्द भासित होने से, उसे चाह की दाह शांत हो जाती है। ज्ञानी को चाह की दाह शांत हो जाती है। आहा..हा... ! यह गृहस्थाश्रम में सम्यग्दृष्टि की बात चलती है, हाँ ! स्त्री हो, साधन हो, भले हो, उसमें क्या है ? हमें कुछ नहीं है। आहा..हा... ! भैया ! बहुत अच्छी बात है। यह तो समझ में आये ऐसी बात है, बहुत सूक्ष्म नहीं है। क्यों सेठ ? यह तो समझ में आये ऐसी बात है, भैया !

आहा..हा... !

कहते हैं, विषय 'अरण्य-पुराने वन को जला रहा है, ...' भगवान तेरी शांति का बडा महावन अन्दर पडा है। शांति... शांति... शांति... शांति... स्वरूप पडा है अन्दर में, उसे विषय की चाह-दाह जला रही है, सम्यग्ज्ञान बिना। क्योंकि तुझे चाह में मीठास (लगती है)। सम्यग्ज्ञान राग से भिन्न हुआ ऐसे ज्ञान में अपनी शांति का भासन हुआ तो चाह के दाह को बुझानेवाली है। समझ में आया ? आहा..हा... ! अ..हो... ! मैं तो ज्ञानस्वरूप शांतिस्वरूप (हूँ) ऐसे राग से भिन्न पडा (तो) राग में मीठास चली गई। समझ में आया ? मीठास... मीठास अर्थात् मिथ्यादृष्टि में मजा मानता था, ज्ञानी को इच्छा में मजा की बात चली गई। अपने आत्मा में आनन्द है - ऐसा सम्यग्ज्ञान हुआ तो इच्छा की दाह शांत हो गयी। समझ में आया ? आ..हा.. ! शांति का दूसरा उपाय नहीं है। क्या कहते हैं ?

तुम हठ से इन्द्रिय दमन करना चाहो, थोड़ा आहार करके इन्द्रियदमन करें, वह सब उपाय नहीं - ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! थोड़ा आहार करना, ऐसा करना (तो) इन्द्रिय वश हो जायेगी, (तो) ऐसे नहीं होगी। अपना आत्मा राग से भिन्न (है), अपनी शांति का भासन हुए बिना राग की शांति नहीं होगी - ऐसा कहते हैं। आहा.. ! समझ में आया ? बहुत भरा है। थोडे में, गागर में सागर भर दिया है। अर्थ समझने की परवाह कितनी ? तोते की भाँति रटन करे। तोता रटन करता है न ? मुखाग्र कर लेते हैं ? तोते को सिखाते हैं न ? तोते को। देखो ! यहाँ बिल्ली आये तो यहाँ से भागना, बिल्ली आये तो यहाँ रहना नहीं, बिल्ली तुझे पकड़ेगी, मारेगी। तोता बोलते-बोलते बिल्ली आयी तो भी बोलता है बिल्ली यहाँ आयेगी, बिल्ली (मारेगी)। लेकिन आ गई, अब क्या करता है ? तोता रटन करते-करते बिल्ली आयी तो (भी बोलता है), बिल्ली आयेगी, तुझे पकड़ेगी, तुझे मारेगी। अरे.. ! आयी है, भाग तो सही। रटन क्या करता है ? वैसे विकार मेरा मानना दुःख है, फलाना दुःख है, ऐसे तोते की भाँति रटन करता है, परन्तु विकार से भिन्न मेरी चीज़ है, उसका भान करता नहीं। समझ में आया ? तोते की भाँति।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- इतना भी नहीं मालूम पड़ता। आहा..हा... !

यहाँ तो 'दौलतरामजी' ऐसा कहते हैं कि, स्व-पर का भेदज्ञान किये बिना पर की इच्छा का दाह तुझे शांत नहीं होगा, भगवान ! समझ में आया ? तेरे में आनन्द है। भगवान आनन्द सच्चिदानन्द मूर्ति है। 'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो' - आता है न 'बनारसीदास' में ? 'चेतनरूप चेतनरूप अनूप... अनूप' - उपमा बिना की मेरी चीज़ है। 'चेतनरूप अनूपअमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो' मैं तो सिद्ध समान शुद्ध आनन्द हूँ। रागादि मेरे में नहीं, ऐसा भान किये बिना उसे विषय की चाह, दाह और भ्रमणा का नाश कभी होता नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! कहा था न ?

ज्ञानकला ऊपजी मोहि,

कहाँ गुन नाटक आगम केरौ

जासु प्रसाद सधै सिवमारग,

वेगि मिटै भववास बसेरौ॥११॥

सम्यग्ज्ञान से घट में बसना छूट जाता है। सम्यग्ज्ञान बिना भव का अभाव कभी होता नहीं।

मुमुक्षु :- धर्म तो होगा।

उत्तर :- धर्म-बर्म कहाँ से होगा ? धर्म हो तब तो भव का अभाव हो जाये। समझ में आया ? वह कहते हैं। थोड़ा सूक्ष्म है।

यहाँ तो कहते हैं, शुभभाव में भी धर्म नहीं है - ऐसा बताते हैं। शुभभाव में धर्म माननेवाला, विषय दाह की इच्छा सुख माननेवाला है। उसे आत्मा की शांति की परवाह है नहीं। विषयदाह की चाह मिटा सकता नहीं और पर से भिन्न कर सकता नहीं। आ..हा.. ! जिसे पर माने बाद में उसमें सुखबुद्धि रहे कहाँ से ? शरीरादि पर, स्त्री आदि पर, लक्ष्मी आदि पर (हैं)। मेरी चीज़ मेरे में भिन्न है - ऐसा माननेवाले को पर में सुखबुद्धि रहती नहीं। और पुण्य परिणाम होता है, पाप का परिणाम होता है परन्तु उससे मेरी चीज़ भिन्न है तो पुण्य-पापभाव में

भी सुखबुद्धि होती नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... !

‘ज्ञानरूपी वर्ष का समूह...’ क्या कहा ? आहा..हा... ! भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप विकार से भिन्न (है), ऐसा सम्यग्ज्ञान हुआ तो इस सम्यग्ज्ञानमें से शांति का प्रवाह बहता है। जैसे अज्ञान में अशांति का प्रवाह उत्पन्न करता था, वैसे ज्ञान में – विकार और शरीर से भिन्न मेरा आत्मा (है), ऐसा सम्यग्ज्ञान हुआ। सम्यग्ज्ञान, हाँ ! तो सम्यग्ज्ञान में से शांति का प्रवाह आता है। अज्ञान में अशांति की उत्पत्ति, एकांत मिथ्यात्व और अशांति की उत्पत्ति थी।

‘समयसार’ शास्त्र में ऐसा लिखा है कि, ज्ञान का समकित, ज्ञान का ज्ञान, ज्ञान का चारित्र – ऐसे बोल ‘समयसार’ में आते हैं। चैतन्य भगवान आत्मा, पुण्य-पाप का विकार-विभाव से भिन्न (है), ऐसा आत्मा का ज्ञान, आत्मा का सम्यग्दर्शन और आत्मा का स्वरूप में चारित्र, उसका नाम चारित्र है। आत्मा में शुद्ध चैतन्य भगवान का अन्दर ज्ञान (होना) उसका नाम सम्यग्ज्ञान (है)। शुद्ध चैतन्य भगवान राग, पुण्य से भिन्न (है), उसकी प्रतीत (होनी), उसका नाम सम्यग्दर्शन (है) और स्वरूप शुद्ध आनन्दकन्द में रमणता करनी, लीनता करनी उसका नाम चारित्र है। लोग तो बाह्य क्रिया को चारित्र मानते हैं। लो, चारित्र (हुआ), व्रत (ले लिये)। लेकिन सुन तो सही। सम्यग्दर्शन बिना व्रत कहाँ से आया ? और तेरा चारित्र आया कहाँ से ? समझ में आया ? बिना अंक के शून्य... शून्य (है)। एक को क्या कहते हैं ? ईकाई कहते हैं ? एक नहीं है और लाख शून्य हैं। लाख शून्य की क्या किंमत है ? ऐसे आत्मा पहले (जाने), राग का अंश भी तेरा कर्तव्य नहीं। समझ में आया ?

‘करै करम सोई करतारा, जो जानै सो जाननहारा,...’ देखो ! ज्ञान आया। ‘जो जानै सौ जाननहारा, जानै सो कर्ता नहीं होई, जो करता नहि जानै सोई।’ (कर्ता-कर्म अधिकार, श्लोक ३३) ये ‘समयसार नाटक’ के शब्द हैं। ‘करै करम सोई करतारा,’ अज्ञानी दया, दान का विकल्प उठाकर मेरा काम है, मेरा कर्तव्य है – ऐसा करनेवाला, भगवान कहे हैं कि, अज्ञान है। विकार मेरा कर्तव्य (है-ऐसा) माननेवाला कर्ता होता है, वह अज्ञानी है। ‘करै करम सोई करतारा, जो जानै सौ जाननहारा,’ पुण्य-पाप के विकल्प से तेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा जाननेवाला राग को जानता है लेकिन राग को करता नहीं – ऐसा भान नहीं, सम्यग्दर्शन-

ज्ञान नहीं (और मानते हैं कि) व्रत और चारित्र, तप हो गया। कहाँ से हो गया ? समझ में आया ?

‘करै करम सोई करतारा, जो जानै सो जाननहारा, जो कर्ता नहि जानै सोई’ देह-क्रिया और मैं राग मेरा काम है, कर्तव्य है - ऐसा माननेवाला। ‘करता नहि जानै सोई’ उसके पास ज्ञान नहीं, मैं ज्ञाता हूँ ऐसा उसे रहता नहीं। मैं ज्ञान हूँ, कर्ता नहीं। ‘जो करता नहि जानै सोई, जे जानै सो करता नहीं होई।’ सम्यग्ज्ञानी-धर्मी जीव अपना विकार और शरीर से भिन्न जाननेवाला राग और देह की क्रिया का कर्ता होता नहीं। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! अनन्तकाल से वह स्व-पर भेदज्ञान नहीं समझा। शरीर को पर मानना, राग को विभाव मानना और कर्ता माना, उसे मेरा कार्य मानना, तब तो दो एक हो गये, भिन्न तो हुआ नहीं।

मुमुक्षु :- शरीर की क्रिया से धर्म होता है।

उत्तर :- शरीर की क्रिया से धर्म होता है, धूल में से होता है ? यह शरीर तो मिट्टी है, यह तो जड़ है, जड़ की पर्याय है, देखो ! राख है, धूल है। थोड़े समय बाद राख होगी। स्मशान में इसकी राख होगी या दूसरे की होगी ? यह तो जड़ है। अन्दर में शुभ-अशुभभाव होता है, वह विभाव, विकार है। उससे भिन्न अपने ज्ञान का ज्ञान न हुआ तो राग और पर का कर्ता होता है तो पर और (स्व) दो को एक मानता है। आहा..हा... ! भाई ! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई ! अरे... ! उसने सत्य सुना नहीं, सत्य सुना नहीं, क्या है ? और ऐसे ही जिंदगी निकाल दी। वह तो गलुडिया... कुत्ते का बच्चा, उसे तुम्हारी भाषा में क्या कहते हैं ? पिल्ला। ऐसे जिंदगी निकाल दे, ऐसे (अज्ञानी) अपनी (जिंदगी) निकाल देता है। आहा... ! समझ में आया ? भगवान तो ऐसा कहते हैं, भैया ! करुणा करके कहते हैं, हाँ ! यहाँ भी ‘दौलतरामजी’, भगवान का कहा हुआ कहते हैं, हाँ ! उनके घर की बात नहीं।

कहते हैं, ‘ज्ञानरूपी वर्षा का समूह शांत करता है।’ आहा..हा... ! अरे.. ! मैं तो शांत ज्ञान हूँ न ! ये विकार मेरे से पर है ना ! पर में मीठास, पर में मेरा मानना कहाँ रहा ? ज्ञानी ने अपने स्वभाव से विकार को पर माना तो पर में अपना मानना कहाँ रहा ? मानना रहा नहीं तो उसमें मीठास रही नहीं। मीठास है नहीं, मीठास है नहीं। ज्ञानी को राग में मीठास है नहीं,

अज्ञानी को अन्दर में मीठास हटती नहीं। ओ..हो..हो... ! एक श्लोक में तो बहुत भर दिया है, हाँ ! मौलिक रचना है। सादी हिन्दी भाषा में है। उसका भी विचार नहीं करते। 'छहढाला' बोलते रहो, रोज स्वाध्याय कर लो।

मुमुक्षु :- विचार के लिये समय चाहिए न !

उत्तर :- विचार करने का अवसर नहीं मिलता, ऐसा कहते हैं। अरे.. ! भगवान ! दूसरा अवसर तो बहुत मिलता है। अपने हित के लिये अवसर नहीं मिलता ! आहा.. ! अनन्तकाल में ऐसा मनुष्यदेह बड़ी मुश्किल से मिला। पहले कहा था न ? पहले कहा था न ? पहले कहा था। 'तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास करीजे' छठ्ठा श्लोक। 'संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे।' 'आपो लख लीजे।' आपो-आत्मा। विकार और पर से भिन्न (है)। छठे श्लोक में है। उसमें पाँचवा होगा। गुजराती में पाँच होगा, इसमें छठ्ठा होगा। 'तातैं जिनवर-कथित तत्त्व अभ्यास...' तत्त्व अभ्यास (अर्थात्) विकार तत्त्व पर है, स्वभाव तत्त्व स्व है, जड़ पर है - ऐसा अभ्यास करीजे।

संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लखी लीजे,
यह मनुष्य पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवानी;
इह विध गये न मिले सुमणि ज्यौं उदधि समानी।

समुद्र में एक बड़ा मणि गिर गया, (अब) नहीं मिलेगा। ऐसा मनुष्यपना मिला, सुकुल मिला, जिनवाणी मिली, लेकिन यदि भेदज्ञान नहीं किया तो जायेगा चौरासी के अवतार में। समझ में आया ? आहा..हा... ! सादी भाषा में लिया है। उसका भावार्थ लो।

भावार्थ :- 'भूत, वर्तमान और भविष्य-तीनों काल में जो जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, होंगे और (वर्तमान में वेदेहक्षेत्र में) हो रहे हैं;...' वर्तमान में विदेहक्षेत्र में मोक्ष हो रहे हैं। 'वह इस सम्यग्ज्ञान का ही प्रभाव है।' सम्यग्ज्ञान का प्रभाव ज्ञान अर्थात् वाणी नहीं, शास्त्रभाषा नहीं। राग और शरीर से भिन्न अपना ज्ञान (होना), उसका नाम ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान का प्रभाव (है)। 'ऐसा पूर्वाचार्यो ने कहा है।' सन्तों 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज

आदि दिगम्बर संत हुए, महान संत पूर्व (में हुए), भगवान की आज्ञा के अनुसार सर्व आचार्यों ने ऐसा कहा है।

‘जिसप्रकार दावानल (वन में लगी हुई अग्नि) वहाँ की समस्त वस्तुओं को भस्म कर देती है, ...’ जला दे न ? अग्नि किसे न जलाये ? सबको जला देती है। ‘उसी प्रकार पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी विषयों की इच्छा संसारी जीवों को जलाती है...’ ओ..हो..हो... ! शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श में मीठास की इच्छा, मिथ्यात्व की इच्छा जलाती है। मूढ प्रसन्नता मानता है। हर्ष सन्निपात होता है कि नहीं ? क्या कहते हैं ? सन्निपात एक रोग होता है। सन्निपात में रोग होता है कि नहीं ? हँसता है ? हँसता है तो क्या वह सुखी है ? सन्निपात होता है न ? वात, पित्त और कफ। तीन के रोगमें से सन्निपात (होता है)। वहहँसता है तो सुख है ? सुख है ? मूढ को भान नहीं। आसपास लोग होते हैं वे मान लेते हैं कि अब दो घड़ी, चार घड़ी में समाप्त हो गया, हो जायेगा। हँसता है तो क्या सुखी है ? हर्ष सन्निपात। ऐसा अज्ञानी को हर्ष सन्निपात है। पुण्य-पाप के फल में और पुण्य में (सुख मानता है) देखो ! आगे कहेंगे। पर में मज़ा है (ऐसा) माननेवाला अज्ञानी सुख मानता है। (सुख) है नहीं। मिथ्याभाव से मान लेता है। कौन ना कहे ? हमें तो मज़ा है। धूल में मज़ा है ?

सुनने की चीज़ तो यह है। अनन्त ज्ञानी पहले कहते आये हैं, देखो ! है कि नहीं ? अपनी चीज़ है ? उसमें से तो निकालते हैं। पूर्वाचार्यों, मुनिनाथ, आचार्यों, मुनिनाथ लिया, उसमें तीर्थकर लिये। मुनि के नाथ आचार्यों, ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ महाराज भगवान जैसा पंचमकाल में तीर्थकर जैसा काम किया। महा दिगम्बर संत, भगवान के पास गये थे। ‘कुन्दकुन्दाचार्यदेव’ दो हजार वर्ष पहले संवत् ४९ में भरतक्षेत्र में हुए। दिगम्बर मुनि महा समर्थ, आठ दिन भगवान के पास गये थे। महाविदेहक्षेत्र में परमात्मा बिराजते हैं उनके पास गये थे। आठ दिन रहे थे। कल लिखाया है। कहाँ गये ? एक भाई थे न ? वह लिखा है न ? ‘पोन्नुर हिल’।



पुण्य-पाप में हर्ष-विषाद का निषेध और तात्पर्य की बात

पुण्य-पाप फलमाहिं, हरख विलखौ मत भाई;

यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।

लाख बातकी बात यही, निश्चर उर लाओ;

तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ॥९॥

अन्वयार्थ :- (भाई) हे आत्मार्थी प्राणी ! (पुण्य-फलमाहिं) पुण्य के फल में (हरख मत) हर्ष न कर, और (पाप-फलमाहिं) पाप के फल में (विलखौ मत) द्वेष न कर (क्योंकि यह पुण्य और पाप) (पुद्गल परजाय) पुद्गल की पर्यायें हैं। (वे) (उपजि) उत्पन्न होकर (विनसै) नष्ट हो जाती और (फिर) पुनः (थाई) उत्पन्न होती है। (उर) अपने अन्तर में (निश्चय) निश्चय से - वास्तव में (लाख बातकी बात) लाखों बातों का सार (यही) इसी प्रकार (लाओ) ग्रहण करो कि (सकल) पुण्य-पापरूप समस्त (जग-दंदफंद) जन्म-मरण के द्वन्द (राग-द्वेष) रूप विकारी मलिन भाव (तोरि) तोड़कर (नित) सदैव (आतम ध्याओ) अपने आत्मा का ध्यान करो।

भावार्थ :- आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है कि धन, मकान, दुकान, कीर्ति, निरोगी शरीरादि पुण्य के फल हैं, उनसे अपने को लाभ है तथा उनके वियोग से अपने को हानि है - ऐसा न माने; क्योंकि परपदार्थ सदा भिन्न हैं, ज्ञेयमात्र हैं, उनमें किसी को अनुकूल-प्रतिकूल अथवा इष्ट-अनिष्ट मानना, वह मात्र जीव की भूल है; इसलिये पुण्य-पाप के फल में हर्ष-शोक नहीं करना चाहिए।

यह किसी भी परपदार्थ को जीव भला या बुरा माने तो उसके प्रति राग या द्वेष हुए बिना नहीं रहता। जिसने परपदार्थ-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को वास्तव में हितकर तथा अहितकर माना है, उसने अनन्त परपदार्थों को राग-द्वेष करने योग्य माना है और अनन्त परपदार्थ मुझे सुख-दुःख के कारण हैं - ऐसा भी माना है; इसलिये वह भूल छोड़कर निज ज्ञानानन्दस्वरूप का निर्णय करके स्वोन्मुख ज्ञाता रहना ही सुखी होने का उपाय है।

पुण्य-पाप का बन्ध वह पुद्गल की पर्यायें (अवस्थाएँ) हैं; उनके उदय में जो संयोग

प्राप्त हों वे भी क्षणिक संयोगरूप से आते-जाते हैं, जितने काल तक वे निकट रहें उतने काल भी वे सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं हैं।

जैनधर्म के समस्त उपदेश का सार यही है कि - शुभाशुभभाव वह संसार है; इसलिये उसकी रुचि छोड़कर, स्वोन्मुख होकर निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक निज आत्मस्वरूप में एकाग्र (लीन) होना ही जीव का कर्तव्य है।

वीर संवत् २४९२, माघ कृष्णपक्ष १३, शुक्रवार
दि. १८-२-१९६६, गाथा-९, प्रवचन नं.-२९

‘दौलतरामजी’ कृत ‘छहढाला’ है। उसकी चौथी ढाल के आठ श्लोक हुए। नववां श्लोक। ‘पुण्य-पाप में हर्ष-विषाद का निषेध और तात्पर्य की बात।’

पुण्य-पाप फलमाहिं, हरख विलखौ मत भाई;
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।
लाख बातकी बात यही, निश्चर उर लाओ;
तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ॥९॥

देखो ! क्या कहते हैं ? ‘हे आत्मार्थी प्राणी !’ ‘दौलतरामजी’ संबोधन करते हैं कि, ‘(पुण्य-फलमाहिं) पुण्य के फल में हर्ष न कर, ...’ पूर्व का कोई पुण्य बँधा हो, दया, दान, व्रत, भक्ति अथवा करुणा, कोमलता के शुभभाव से पुण्य बँधा हो, उस पुण्यबंध के बाह्य की अनुकूल सामग्री मिलती है। धन, मकान, दुकान, कीर्ति, निरोगता (मिलना) ये सब पूर्व के पुण्य का फल है। समझ में आया ? वर्तमान प्रयत्न का फल नहीं। लक्ष्मी मिलना, धन, मकान, दुकान आदि चलना, दुकान चलना, मकान मिलना, कीर्ति मिलनी, शरीर में निरोगता रहना,

अनुकूल परिवार, समाज आदि रहना, अनुकूल भागीदार मिलना। भागीदार को क्या कहते हैं ? हिस्सेदार ये सब पूर्व के पुण्य का फल है। उसमें हर्ष करना, मिथ्यादृष्टि उसमें प्रसन्नता मानते हैं। समझ में आया ? भाई ! यह क्या कहा ? देखो अन्दर ! कहाँ गये ? देखो अन्दर है ?

‘पुण्य फल में हर्ष न कर, ...’ अफना स्वरूप आनन्द, ज्ञानमूर्ति है, उसकी जिसको दृष्टि हुई है – ऐसे सम्यग्ज्ञानी को पूर्व के पुण्य के फल में हर्ष नहीं होता। वह तो पुद्गल की पर्याय है। पुण्यभाव से पूर्व का कर्मबंधन हुआ, उस कर्मबंधन के कारण से उसमें उसके काल में संयोग मिला। लक्ष्मी, मकान, दुकान चले। कोई आदमी ऐसा माने कि, हम व्यवस्थित व्यवस्था करते हैं तो दुकान चलती है, मकान चलता है और नौकरचाकर सब बराबर बुद्धि का बल इस्तमाल करते हैं तो व्यवस्थित काम रहता है। कहते हैं कि, मूढ हो।

मुमुक्षु :- सयाने आदमी...

उत्तर :- सयाना किसे कहना ? समझ में आया ? सयाना... सयाना कहते हैं न ? चतुर। आपकी भाषा में चतुर (कहते हैं)। किसेचतुर कहना ? यहाँ न कहते हैं। पूर्व का पुण्य जो बंधा है...

शास्त्र में दान के अधिकार में एक बात चली है। दान देने की बात चलती है न ? वहाँ ‘पद्मनंदि आचार्य’ महाराज ने ऐसा अधिकार लिया कि, भैया ! पूर्व के पुण्य के कारण तुझे लक्ष्मी आदि मिली है (तो), जैसे कौआ... कौआ होता है न ? उसका उकडिया... उकडिया को क्या कहते हैं ? भैया ! खुरचन... खुरचन होता है न ? खीचडी, चावल आदि का खुरचन मिलती है तो कौआ अकेला नहीं खाता। समझ में आया ? खीचडी, चावल नीचे (बचता है)। माल-माल खा लेते हैं बाद में खुरचन होता है, उसे बाहर निकाल देते हैं। मकान के पास पत्थर की कुंडी रखते हैं, उसमें डालते हैं। उसे कौआ आकर खाये। कौआ अकेला नहीं खाता। कौआ दो पाँच-पच्चीस (दूसरे कौए को) बुलाकर खाता है। ऐसे आचार्य – ‘पद्मनंदि आचार्य’ दिगम्बर मुनि संत जंगल में रहते थे, (उन्होंने) दान के अधिकार में वर्णन करके ऐसा बताया कि, जैसे कौआ अकेला नहीं खाता, वैसे पूर्व में तेरी आत्मशांति जली थी। आत्मा का धर्म जला

था, उसमें तुझे पुण्यभाव हुआ था। समझ में आया ? पूर्व में जो पुण्यभाव हुआ था, उस समय आत्मा की शांति जली थी।

भगवान आत्मा शुद्ध अनाकुल अकषायस्वभाव, उसमें जितना शुभभाव उत्पन्न होता है, उतना आत्मा की धर्म की शांति का नाश होता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? ऐसे पुण्य से तुझे कोई पैसे आदि मिले हो, वह तेरा जला हुआ पुण्य है और उसके फल में यदि अकेला खायेगा और दान में राग मंद करके, दानादि में, धर्म प्रभावना आदि में नहीं खर्च करेगा तो कौए में से जायेगा। कौआ अकेला नहीं खाता, सब मिलकर खाते हैं – ऐसे तेरा पूर्व का पुण्य जला हुआ पुण्य है। पुण्य के फल में भी राग मंद नहीं करके, अकेला भोगने में पाप करेगा तो कौएमें से भी (जायेगा)। उसमें क्या न्याय लिया ? कि, पूर्व में तू न पुण्य किया था, उसमें तेरे आत्मा की शांति जली थी। समझ में आया ? भाई ! (पुण्य के फल में) बाहर में पाँच-दस लाख मलिते हैं, वह दिखते हैं। भाई ! बाहर में पैसे दिखते हैं, पाँच-दस लाख, पच्चीस लाख (दिखता है) वह पूर्व के पुण्य में शुभभाव था, आत्मशांति से विरुद्ध भाव था। ऐसे शुभभाव से पुण्य बँधा और पुण्य के फल में तुझे यह सामग्री चलती है उसमें हर्ष मानना, मैंने किया, मैंने चलाया, हम हैं तो दुकान, मकान सब चलते हैं। भाई ! क्या होगा ? हर्ष न कर, भगवान ! हर्ष न कर, भाई !

अपना चिदानन्दस्वरूप शुद्ध आत्मा की शांति में एकाग्र होकर प्रसन्नता प्राप्त करना, उसे छोड़कर पूर्व के पुण्य के फल में प्रसन्नता करना, वह तो मिथ्यादृष्टि का भाव है। समझ में आया ? आहा..हा... ! देखो ! हैं तो गृहस्थ में रहनेवाले, परन्तु वस्तु की स्थिति का वर्णन जैसे शास्त्र में करते हैं, वैसे 'छहढाला' में सादी सरल हिन्दी में किया है।

'हे आत्मार्थी प्राणी ! (पुण्य-फलमांहि) पुण्य के फल में...' शरीर में निरोग रहना, वह पूर्व के पुण्य का फल है। पथ्य खाये तो हम शरीर को बराबर निरोग रख सकते हैं, ऐसा कभी है नहीं। समझ में आया ? पथ्य खाये, ऐसा खाये तो हमारा शरीर निरोग रहे। ऐसा है नहीं। शरीर में निरोगता का रहना (वह) पूर्व का पुण्य बँधा हो उसका फल है। उसमें अभिमान करना कि, हम बराबर पथ्य खाते हैं, शरीर में निरोगता रखने का उपाय करते हैं तो निरोगता रहती है।

(यहाँ) ना कहते हैं। भगवान ! ऐसा मत कर। समझ में आया ? तू हर्ष मत कर, हर्ष मत कर। उसमें हर्ष करने से आत्मा की शांति लुट जाती है, जल जाती है। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ... पैसा हो और हर्ष न करे, ऐसा कैसे हो सकता है ?

उत्तर :- धूल में पैसा हो तो हर्ष (हो)। चक्रवर्ती को छह खंड का राज्य था। छह खंड का राज्य चक्रवर्ती को था। हमारा नहीं, हमारा नहीं। ये तो पूर्व के पुण्य का फल(है), वह पुण्य जला तो मिला है। अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि, मुझे मिला। शास्त्रकार ऐसा कहते हैं कि, तेरा पूर्व पुण्य की लोन लेकर आया था। वह लोन जल गई तो मिला है। क्या (कहा) ? पूर्व की पुण्य की लोन लेकर आया था, अन्दर पडी थी। जैसे किसी के पास पाँच लाख की लोन हो, पाँच लाख बटा दिया और पाँच लाख आया। पाँचसो हजार, पाँच लाख में पाँचसो हजार आते हैं न ? वह कहता है, मेरे पास पाँचसो हजार आये। पाँचसो हजार यानी पाँच लाख आये। शास्त्र कहते हैं कि, तू पूर्व की तेरी पुण्य की लोन लेकर आया था वह लोन जल गई। वह लोन जल गई तो तुझे दिखने में आता है। वकील ! आहा..हा... !

कहते हैं, पूर्व के पुण्य के कारण जो चीज़ मिली, वह पुण्य जलता है और दिखता है, उसमें अभिमान मत करना, हर्ष मत करना, भैया ! वह जड़ की पर्याय है, मिट्टी की, पुद्गल की पर्याय है, तुझे किसमें हर्ष करना है ? तेरा आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। आनन्द का अन्तर संतोष प्रकट कर। राग से पृथक कर, अपने आत्मा में शांति का संतोष प्रकट कर। वह तुझे प्रसन्न होने का हेतु है। बाहर की लक्ष्मी में प्रसन्नता मानना, वह तो मूढ जीव का लक्षण है। समझ में आया ?

‘पाप के फल में द्वेष न कर...’ पूर्व का पाप का फल आया और शरीर में रोग (हुआ)। समझ में आया ? अनुकूल का वियोग, प्रतिकूलता का संयोग (हुआ) बांझपना, कुँवारापना, कुटुम्ब नहीं, कबीला नहीं, लक्ष्मी नहीं। एक महिने में पचास रूपये की भी कमाई नहीं – ऐसी प्रतिकूलता पूर्व के कोई पाप के कारण से हो (तो भी) धर्मी विषाद नहीं करते, खेद नहीं करते। समझ में आया ? खेद तो अपना धर्म न हो, तभी खेद होता है। अरे... ! आज हमारी एकाग्रता शांति न हुई। संकल्प, विकल्प की जाल में हम हमारे आत्मा में एकाग्र नहीं रह सके। उसका

खेद हो, परन्तु प्रतिकूलता में ज्ञानी को खेद होता नहीं। प्रिय में प्रिय पुत्र मर जाये, स्त्री मर जाये। ऐसी चीज़ जो है (वह) पाप के उदय में ऐसा प्रतिकूल संयोग आता है, अनुकूल चला जाता है, उसमें आत्मा को हर्ष, संतोष मानना नहीं। उसमें हर्ष और खेद नहीं करना। समझ में आया ?

‘रत्नकरंड श्रावकाचार’ में लिया है कि, सम्यग्दृष्टि श्रावक ऐसा विचार करते हैं कि, मेरी आत्मसंपदा शुद्ध आनन्द, श्रद्धा, ज्ञान की शांति मेरे पास है तो मुझे बाहर की संपदा से क्या काम है ? ‘संमतभद्राचार्य’ ने ‘रत्नकरंड श्रावकाचार’ बनाया है। ‘रत्नकरंड श्रावकाचार’। रत्न का करंडिया (टोकरी) ऐसे भगवान आत्मा, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप, उसकी दृष्टि और ज्ञान किया है और उसमें श्रावक स्थिरता करते हैं, वही उसका रत्नकरंड है। आहा..हा... ! समझ में आया ? बाहर की संपदा का मुझे क्या काम है ? मेरी शांति (में), मेरे में एकाग्र होता हूँ और मेरी अन्तर में धर्म की - शुद्धि की वृद्धि होती है तो लक्ष्मी से क्या काम है ? और अन्तर की शुद्धि की वृद्धि न हो तो भी लक्ष्मी से मुझे क्या काम है ? समझ में आया ? लेकिन अभी तो लक्ष्मी ही सर्वस्व हो गई (है)। क्या कहते हैं ?

मुमुक्षु :- आदर्श जीवन।

उत्तर :- जीवन ! अच्छा ! यहाँ ना कहते हैं।

मुमुक्षु :- अंग्रेजी में कहते हैं।

उत्तर :- अंग्रेजी को कब भान था।

मुमुक्षु :- शब्द तो लिखते हैं।

उत्तर :- हाँ, लिखे होते हैं ना, अज्ञानी मूढ तो बहुत लिखते हैं न !

यहाँ तो भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थकरदेव फरमाते हैं कि, श्रावक सम्यग्दृष्टि आत्मा की शांति का संतोष प्रकट करनेवाले, परचीज़ में संतोष मानते नहीं और प्रतिकूलता में उसे खेद, दुःख होता नहीं। हो, आनेवाली-जानेवाली चीज़ हो (वह) उसके कारण से आती-जाती है - ऐसा सम्यग्दृष्टि-धर्मी को हर्ष और विषाद अंदर में होता नहीं। ऐसे तो नाम धराये, हम श्रावक हैं। नाम धराने से क्या हुआ ? थैली मं चिरायता भरा हो। क्या कहते हैं थैली ?

थैली... थैली। चिरायता भरा और उपर लिखा शक्कर। क्या चिरायता (-चिरायता) मीठा हो जायेगा ? ऐसे (कहे कि), हम श्रावक हैं। श्रावक क्या ? नाम लिखा है तो अन्दर मीठास हुई है या नहीं ? आत्मा विकार और शरीर के संग से भिन्न (है), अपनी दृष्टि और ज्ञान किये बिना जितना श्रावकपना नाम धराते हैं, वह अन्दर में चिरायता भरी है और उपर से नाम शक्कर लिखा है, ऐसी बात है। समझ में आया ?

यहाँ 'दौलतरामजी' कहते हैं, देखो ! 'पाप फल में द्वेष न कर...' अरे... ! मुझे रोग आ गया, मेरा शरीर जीर्ण हो गया, लक्ष्मी चली गई, पुत्र मर गया, स्त्री जलकर मर गई, मकान जल गया, उस समय वीमावाला छूट गया। सब एकसाथ (हुआ)। यहाँ मकान जला, वहाँ वीमावाला चला गया। क्या कहते हैं ? वीमा। वीमा लेते हैं न ? वहाँ वीमावाला भाग जाये, यहाँ दुकान जल जाये, घर पर स्त्री जल जाये, पुत्र मर जाये, पुत्री का (पति मर जाये)। शरीर में रोग (आये)। समझ में आया ? और (पैसे) गाडे हो, पूर्व के पुण्य के कारण से पैसा होता है न ? (पैसे) गाडे हो (उसका) कोयला हो जाये, धूल हो जाये। ऐसा कहते थे। 'दामनगर' के पास 'लाखणका' गाँव है। एक भावसार था। भावसार में काठी... काठी होते हैं न ? हमने तेरह हजार रूपये गाडे थे। पहले की बात है, हाँ ! ५०-६० वर्ष पहले की बात है। तेरह हजार। वह नहीं कहता था ? भाई ! भावसार। उसने कहा, मैंने गाडे थे। दो-चार वर्ष के बात जब दुष्काल पडा, खोदने लगे तो धूल (निकली)। पूर्व के पुण्य बदले तो गाड़ा हुआ (दन भी) धूल हो जाता है। और पूर्व के पुण्य के कारण धूल पैसा हो जाती है। समझ में आया ? पुण्य-पाप के फल में धर्मी को हर्ष, संतोष होता नहीं। जड़ की पर्याय में हर्ष मानना, तो उसने जड़ में अपने को माना। अपने आत्मा में आनन्द है, उसको तो माना नहीं। समझ में आया ?

पुण्य और पाप 'पुद्गल की पर्यायें हैं।' जड़ की पर्याय हैं। जिसने अजीव को भिन्न माना उसे अजीव की अनुकूल-प्रतिकूलता की सामग्री में हर्ष-शोक होता नहीं। समझ में आया ? 'पुद्गल की पर्याय हैं। उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती हैं...' 'चलती-फिरती छाया है' - ऐसा आपकी हिन्दी में कहते हैं ना ? चलती फिरती छाया। एक व्यक्ति था, वह कहता था, समझे ? चलती फिरती छाया है। समझ में आया ?

हम 'जयपुर' में थे न ? 'जयपुर' दीवान के बंगले में हम उतरे थे। (एक मुमुक्षु) थे, वे हमारे साथ व्याख्यान में जाते थे। वहाँ एक वृद्ध आदमी, बहुत वृद्ध था, ८०-८५ वर्ष का था, भीख मांगता था, भीख। 'जयपुर' बजार में झवेरी की दुकान (थी)। उसका नाम भी कुछ था। समझे ? उसका पुत्र। झवेरी की दुकान (थी)। हैरान हो गया, भिखारी (होकर) भीख मांगता था। ८०-८५ वर्ष की उम्र थी। पूर्व का पुण्य फिरे (तो) पीछे पाई भी न रहे। तेरी व्यवस्था और तेरी होशियारी से रहता नहीं। उसमें कितनी होशियारी काम करती है ? चतुराई... चतुराई ! भाई ! वह पुद्गल की पर्याय है, चलती-फिरती छाया है। आये और जाये। धूल आती है न ? धूप। छाया आती है और जाती है। वह तो पौद्गलिक पर्याय आती और जाती है, तेरे आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध नहीं। धर्मी जीव को पुण्य-पाप के फल में हर्ष-विषाद होता नहीं। हर्ष-विषाद करे तो उसके आत्मा की शांति जलती है।

'नष्ट हो जाती है और पुनः उत्पन्न होती है।' एक भव में ऐसा बहुत हो जाता है। क्षण में गरीब हो, पाँच वर्ष तवंगर हो जाये, फिर से दस वर्ष भिखारी हो जाये। ये क्या ? समझ में आया ? वह तो पूर्व की पर्याय का फल है। आत्मा में वह है नहीं। जिसको सम्यग्दर्शन और आत्मा की प्रतीति हुई ऐसे धर्मीजीव को पुद्गल की पर्याय में, चलती-फिरती छाया में हर्ष-शोक होता नहीं। समझ में आया ?

'अपने अन्तर में निश्चय से - वास्तव में...' अब क्या कहते हैं ? देखो ! अरे... ! भाई ! 'अपने अन्तर में निश्चय से-वास्तव में (लाख बात की बात)...' देखो ! 'लाखों बातों का सार इसी प्रकार ग्रहण करो...' 'पुण्य-पापरूप समस्त जन्म-मरण के द्वन्द्वरूप विकारी मलिन भाव...' देखो ! आत्मा में शुभ और अशुभराग होता है, वह विकारी भाव जगत द्वंद-फंद है। आहा..हा... ! क्या (कहा) ? शुभ और अशुभभाव होता है, वह जगत का द्वंद-फंद है। उससे तो पुद्गल बँधता है और उससे बाह्य की सामग्री का मिलना अथवा बिछुडना होता है।

'पुण्य-पापरूप समस्त जन्म-मरण के द्वन्द्व (राग-द्वेष) रूप विकारी मलिन भाव तोड़कर...' अरे.. ! आत्मा ! देखो ! संबोधन करते हैं। शुभ-अशुभभाव को छोड़कर शुभ-

अशुभभाव का फल बंध, उसका फल संयोग, तीनों को दृष्टि में छोड़ दे। समझ में आया ? शुभ-अशुभभाव, उसका फल बंध, उसका फल संयोग, सुख-दुःख संयोग छह प्रकार हुए। शुभ-अशुभभाव-१। शुभ-अशुभभाव का बंध पुण्य-पाप-२ और पुण्य-पाप का फल अनुकूल-प्रतिकूल संयोग-३। (इन) छह चीज से तेरी रुचि हटा दे। आहा..! समझ में आया ? तुजे आत्मदर्शन और आत्मशांति चाहिए तो, अनन्तकाल से नहीं मिली ऐसी स्वनिधि, उसको पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर, पुण्य-पाप का बन्ध का भाव का भी हर्ष-शोक छोड़कर और उसके फल में हर्ष-शोक छोड़कर।

‘तोड़कर सदैव अपने आत्मा का ध्यान करो।’ लो ! देखो ! गृहस्थ को कहते हैं ? गृहस्थ को कहते हैं। अभी तो सम्यक्चारित्र, व्रतादि होते हैं। पीछे लेंगे। परन्तु सम्यग्दर्शन हुआ, बाद में सम्यग्ज्ञान हुआ, बाद में उसे व्रत का परिणाम होता है। सम्यक्चारित्र, व्यवहारचारित्र। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना व्यवहारचारित्र-फारित्र, अणुव्रत और व्रत लेते हैं, वे सब एक बिना के शून्य हैं। समझ में आया ?

कहते हैं कि - हे जीव !

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;

तोरि सकल जगदंद-फंद, नित आतम ध्याओ।

भगवान आत्मा पुण्य-पाप का विकल्प से रहित, मेरी चीज शुद्ध आनन्द है - ऐसी दृष्टि कर, उसका ध्यान करो। यही कर्तव्य मनुष्यपने में करने लायक है। नित्य ध्याना सदैव ? फिर खाने-पीने का काम कब करना ? इसमें तो यह कहते हैं, देखो ! ‘(नित) सदैव अपने आत्मा का ध्यान करो।’ भाई ! फिर कमाना कब ? दुकान कब चलानी ? वह तो पहले कहा - काम सकते नहीं, खो सकते नहीं। वह तो पूर्व के पुण्य-पाप से होता है। कहो, भाई ! क्या है ? बराबर ध्यान रखते हैं। (एक भाई) कहते थे, ध्यान रखा इसलिये दुकान चली। धूल में भी चली नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- सामने से आते हैं।

उत्तर :- क्या सामने आते हैं ? बैठे-बैठे आते हैं। खाना क्या ? आत्मा क्या खा सकता है ? उसकी तो यहाँ ना कहते हैं। वह तो जड़ की क्रिया है। पैसा आना जड़ का फल है। समझ में आया ? वह क्या कर सकता है ? एक रजकण को भी हिला नहीं सकता। परमाणु जड़ है, अजीब है, यह आँख जड़ है। आँख की पलक को ऐसे करना वह आत्मा का अधिकार है ही नहीं। आहा..हा... ! ऐसे-ऐसे होती है या नहीं ? वह आत्मा से नहीं (होती) आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह तो सर्वज्ञ भगवान का कहा हुआ है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव, सो इन्द्र की उपस्थिति में दिव्यध्वनि द्वारा भगवान की आवाज आती थी, अरे... ! आत्मा ! तेरे अलावा एक रजकण की भी क्रिया तुम कर सकते नहीं। समझ में आया ? वह आता है न ? भाई ! 'द्रव्यसंग्रह' में टीका में नहीं आता ? हाथ की क्रिया तुम नहीं कर सकते। राग कर सकता है, द्वेष कर सकता है, विकार कर सकता है। लेकिन क्या हस्त आदि की क्रिया तुम कर सकते हो ? यह तो जड़ है। जड़ की पर्याय (पर) तेरा अधिकार है कि तुम बना सके ? मूढ की मान्यता ऐसी है कि, मैं जड़ की बनाऊ, शरीर की बनाऊ, दुकान की बनाऊ, लक्ष्मी की बनाऊ। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- करना क्या ?

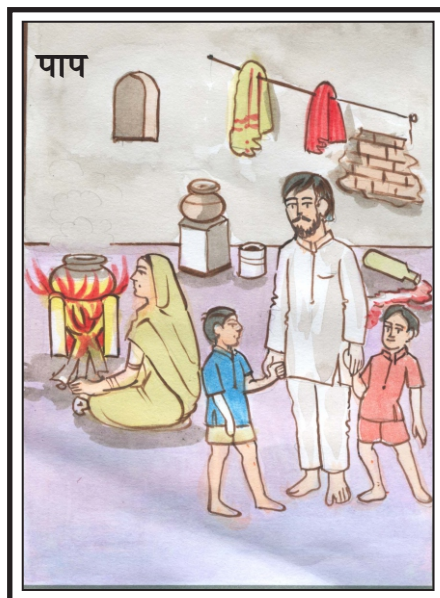
उत्तर :- करना, आत्मा की समझ करके एकाग्रता करना वह करना। क्या करना है ? मर जाना है क्षण में ? जाओ.. ! दुर्गति चौरासी के अवतार में।

कहते हैं, लाख बात की बात जग द्वंद-फंद। पुण्य-पाप का भाव होता है, उसकी भी रुचि छोड़कर। अपना बंधन ठीक है, पुण्य हो तो ठीक बंधन पडेगा। छोड दे रुचि ! और पाप हो तो अशुभ बंध पडेगा। उसमें है न ? देखो ! है न ? देखो ! पुण्य... पुण्य। देखो ! उसमें लिखा है न ? पुण्य में वह आराम से सोता है। आरामकुर्सी जैसा



किया है। सोफा। देखो ! क्या कहते हैं ? ऐसी भाषा हमें नहीं आती। आरामकुर्सी लो न ! जैसे आराम (मिल रहा है)। ऐसे बैठा है, स्त्री ऐसे बैठी है। कुर्सी पडी है, पुत्र भी ऐसे होशियार। ये सब पुण्य का फल। उपर पंखा घूम रहा है। देखो ! दिखाव ठीक किया है।

(यहाँ) पाप (दिखाया है)। एक आदमी है। बेचारे ने कपडा ऐसा रखा है। एक पुत्र ऐसे है, एक पुत्र वैसे है, उसकी पत्नी खाना बना रही है, मशकल से बना रही है। कपडे टंग रहे हैं, एक कुर्सी... क्या कहते हैं ? छाता। छाता भी टुटा हुआ है। है या नहीं ? छाता ठीक नहीं है। टुटा हुआ छाता है। तार टुट गये हैं। पूर्व के पाप के कारण ऐसी अवस्था बने, उसमें आत्मा का अधिकार है नहीं। हम बराबर विचिक्षण है और व्यवस्था करनेवाले हैं तो ऐसी व्यवस्था रहती है। भगवान कहते हैं कि, मूढ है, भैया ! एक पलक भी घूमने का तेरा अधिकार नहीं है। भाई ! तूने जड़ को, चैतन्य को भिन्न जाना नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?



ये साँस चलती है वह भी आत्मा का अधिकार नहीं। ये साँस जड़ की क्रिया है। अधिकार ही नहीं, वर्तमान अधिकार कहाँ से लाये ? वह तो परमाणु की क्रिया है, जड़ का - रजकण का स्कंध है। अन्दर में जब यहाँ से साँस निकल जायेगी, नाभि से (निकलेगी)। किसी को ख्याल आयेगा कि नाभि से साँस हट गई है। तेरा अधिकार हो तो नीचे उतार दे न ! साँस की क्रिया-उपर जाना, नीचे जाना जड़ के कारण से है।

मुमुक्षु :- पूरी जिंदगी के पहले हिस्से में अभ्यास किया हो...

उत्तर :- वर्तमान में भी होता नहीं। मूढ मुफ्त में मानता है, भगवान तो ऐसा कहते हैं।

पाँछ इन्द्रिय, मन-वचन-काया, साँस। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि, एक समयमात्र भी

जड़ की दस प्राण की क्रिया तेरे अधिकार की बात है नहीं। दस प्राण है न ? पाँच इन्द्रियाँ, मन-वचन-काया जड़, साँस और आयुष्य। उसमें साँस आती है न ? दस प्राण में साँस आती है या नहीं ? पाँच इन्द्रियाँ, मन-वचन-काया, साँस और आयुष्य। ये साँस जड़ है। आहा..हा... ! दुनिया में नहीं कहते हैं ? साँस तेरा रिश्तेदार नहीं, ऐसा नहीं कहते ? आपमें कहते हैं या नहीं ? साँस भी साथ नहीं देती है। साँस भी साथ नहीं देती। हमारे काठियावाड में कहते हैं, साँस तेरी रिश्तेदार नहीं। ये साँस तो जड़ है। जड़ की क्रिया होना जड़ से होती है, तेरे से नहीं। जब रुक जायेगी तुम नहीं कर सकते तो अभी चलती है तो तेरे से नहीं (चलती)। आहा..हा... ! कभी सुना नहीं।

‘जड़ और चैतन्य दोनों प्रकट स्वभाव भिन्न, जड़ और चैतन्य दोनों प्रकट स्वभाव भिन्न।’ दोनों के प्रकट स्वभाव भिन्न हैं, भाई ! सम्यग्दृष्टि जीव जड़ की क्रिया का अभिमान नहीं करते कि, हमसे होता है। ऐसा नहीं करते।

मुमुक्षु :- करे लेकिन उसका आभमान नहीं करते।

उत्तर :- कर ही नहीं सकते। करे क्या ? अनासक्ति कहते हैं न ? अनासक्ति योग)से करो)। झूठ बात है। कर सकते नहीं, फिर अनासक्ति कहाँ से लाया ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- ना, ना। यहाँ ऐसी बात है ही नहीं। यहाँ तो भगवान कहते हैं, भैया ! तेरा ज्ञानस्वरूप है। उसे ज्ञाता होकर जान। पर की क्रिया होती है वह तेरे अधिकार की बात नहीं। जड़ की होती है तो हो, न होती हो तो न हो। तेरे अधिकार की बात है नहीं। तेरे अधिकार की बात हो तो पक्षपात होता है, (तब) क्यों कर सकता नहीं ? भाषा भी एं.. एं.. हो जाती है। समझ में आया ?

कहते हैं, सदैव आत्मा का ध्यान करो। दृष्टि आत्मा पर लगाओ। भगवान शाश्वत चैतन्यमूर्ति है। समझ में आया ? तेरी चीज़ तो शाश्वत सच्चिदानन्द मूर्ति है। ध्रुव सत् है, ध्रुव सत् है। चिदानन्द स्वभाव की दृष्टि लगाओ, उसका ध्यान करो। यही सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है। बीच में रागदि आओ, शरीरादि की क्रिया हो, उसका सम्यग्दृष्टि कर्ता होता नहीं। बहुत सूक्ष्म

बात, भाई ! कहो, समझ में आया ? (इनके) जैसे होशियार आदमी हो, वह कर सकते होंगे या नहीं ? (नहीं कर सकते हो तो) आपको वहाँ भाई क्यों बुलाते हैं ? आओ... आओ.. भाई ! (ऐसा कहेत हैं) ।

मुमुक्षु :- हिंमतवाले आदमी का काम है ।

उत्तर :- हिंमतवाला, धूल में हिंमत रखे। वीर्य उसके पास रहा, पर में कहाँ जाता है ? शरीर की क्रिया में वीर्य काम नहीं करता। शरीर की क्रिया में आत्मा का वीर्य काम नहीं करता तो पर में क्या कर सकता है ? तत्त्व की खबर नहीं। सत्य तत्त्व क्या है और कैसे होता है उसका ज्ञान नहीं और ज्ञान बीना सब (झूठ है) । ज्ञान नहीं है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं न ? सच्चा ज्ञानवंत हो वह जड़ की क्रिया अपने से होती है, ऐसा मानते नहीं। समझ में आया ? ' अपने आत्मा का ध्यान करो । ' समझ में आया ?

भावार्थ :- ' आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है कि धन, मकान, दुकान, ... ' तीनों ने अंत में ' न ' आया। ' धन, मकान, दुकान... ' घर का मकान करते हैं न ? होशियार आदमी दो लाख, पाँच लाख का बड़ा (मकान बनाये) । यहाँ खिडकी, यहाँ दरवाजा, ऐसा... किसी का किया हुआ मकान हो तो पसन्द नहीं पडता। खुद का नया (बनाना हो तो) अपने को जैसे ठीक पडे वैसे खिडकी, दरवाजे (बनाता है) । (फिर कहता है) हमने मकान बनाया है। हम कूर्सी लगाकर आठ घण्टे सामने बैठे थे। कारीगर को कहते थे ऐसा करो, ऐसा करो। कौन करे ? धूल करे। भाई ! धूल करे। धूल से होता है, तेरे से नहीं।

' धन, मकान, दुकान, कीर्ति... ' हमारे पिताजी की इतनी कीर्ति नहीं थी, हमने अपनी मेहनत से लक्ष्मी कमाई है और मेहनत से कीर्ति मिली है। मूढ है। तेरी मेहनत कहाँ से आयी ? वह तो पूर्व का पुण्य है, उससे कीर्ति आई और कीर्ति तो जड़ की पर्याय है। आवाज होती है कि, ये आदमी ऐसा है। वह तो जड़ की आवाज है। तेरे में तेरी कीर्ति कहाँ से घुस गई ? समझ में आया ? भाई ! आहा..हा... ! कीर्ति हो। बापनी आरती उतारीने दहाडो सारो करे तो कीर्ति अच्छी हो। (बाप की आरती उतारकर दहाड़ा अच्छा करें तो कीर्ति अच्छी हो)

मुमुक्षु :- कीर्ति बढ़ी गई...

उत्तर :- बढे तो वह तो पूर्व का पुण्य हो तो बढे। नहीं तो ऐसा भी कहे, पुत्र की शादी नहीं हुई इसलिये करते हैं, ऐसा बोले। ये सब आपने सुना नहीं ? लडका कुँवारा है, बाप के नाम से पाँच हजार का खर्च करता है, बाद में लडकी लेनी है - ऐसा भी बोलते हैं। भाई ! ये सब सुना है या नहीं ? (ये भाई) तो संसार में बराबर गहराई में ऊतरे हैं न ! आहा..हा... ! हमने तो देखा है, हम उसमें घुसे नहीं है। समझ में आया ?

कहते हैं, 'निरोगी शरीरादि पुण्य के फल हैं,...' समझ में आया ? आँख रहना वह पुण्य का फल है, ऐसा कहते हैं। (ये भाई) आँख गँवाकर आये है न ? नयी डाली या नहीं ? 'अहमदाबाद' गये थे। मोतिया उतारने थे तब उपर की कणि अन्दर घूस गई, डॉक्टर से घुस गई, हाँ ! डॉक्टर से घुस गई ? नहीं ? वह घुसने की थी घुस गई, वह जड़ की पर्याय है, कोई से घुसती नहीं। डॉक्टर ने कहा, निकाल दो, नहीं तो दूसरी आँख चली जायेगी। निकाल देना पडे, क्या करे ? वह कहाँ अपना अधिकार है ? जड़ ऊपर, कोई एक रजकण ऊपर भी अपना अधिकार है नहीं।

'उनसे अपने को लाभ है तथा उनके वियोग से अपने को हानि है - ऐसा न माने;...' देखो ! धन, मकान, दुकान, कीर्ति, निरोगी शरीरादि का वियोग हो जाये। दुकान का वियोग, दुकान टूट जाये, लक्ष्मी चली जाये, कीर्ति चली जाये, रोग आ जाये तो उससे हानि है, ऐसा धर्मी मानते नहीं। आहा..हा... ! कहो, समझ में आया ? ये तो कितनी मन्नत करते हैं। महावीरजी, पद्मपुरी, पैसा मिले, लड़का मिले। मूढ है, वह जैन है ही नहीं।

जैन जिसकी दृष्टि होती है, वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं कि, तेरा आत्मा तेरी सम्पदा से तेरे पास है। तेरी सम्पदा बाहर में है नहीं। ऐसी दृष्टि जब तक न करे और बाहर की लक्ष्मी भगवान को मानने से मिलती है, ऐसे मिलती है केसरियाजी में केसर चडाने से मिलता है, बालक का रक्षण होता है - मूढ है, मिथ्यादृष्टि है (उसे) जैन की खबर नहीं। जैन परमेश्वर आत्मा और जड़ को जुदा कहते हैं। और जुदा की पर्याय अपने से मानना उसका नाम ही मिथ्यात्व है।

'क्योंकि परपदार्थ सदा भिन्न हैं, ज्ञेयमात्र है,...' देखो ! अपने आत्मा से परपदार्थ तो

बिलकुल भिन्न हैं, जानने लायक हैं। देखो ! 'ज्ञेयमात्र हैं, ...' जानने लायक हैं। मैं रखूँ, छोड़ दूँ या प्रतिकूलता में खेद मानना ऐसा चीज़ में है नहीं। उस चीज़ में ऐसा है ? क्या प्रतिकूलता उस चीज़ में है ? रजिस्टर किया है ? यह अनुकूल है ऐसी उसमें छाप पडी है ? उसमें छाप है-ज्ञेय की। समझ में आया ? यह जानने लायक है, ऐसा जानते हैं। धर्मी जीव उसे कहते हैं, अनुकूल-प्रतिकूल जड़ की पर्याय में जानने लायक जानते हैं। मुझे अनुकूल है और प्रतिकूल है, ऐसा मानते नहीं। समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि जीव पर की अनुकूलता-प्रतिकूलता अपने में ऐसा मानते ही नहीं। वैसे कहना कि, हम जैनी हैं, धर्मी है और अनुकूल-प्रतिकूल में खेद.. खेद.. खेद (करता है)। पसीना उतर जाये। हमारी इतनी इज्जत गई, हमारा इतना गया, समय बदल गया, समय बदले, तब सब बदल जाता हैं। हमारा समय ! तेरा समय क्या ? तेरा समय तो तेरे आत्मा के पास है। समझ में आया ? भाई !

'किसी को अनुकूल-प्रतिकूल अथवा इष्ट-अनिष्ट मानना, वह मात्र जीवकी भूल है; ...' देखो ! बाहर की प्रतिकूलता में दुःख मानना, अनुकूलता में सुख मानना - वह तो ज्ञेय पदार्थ है, उसमें अनुकूल-प्रतिकूल है ही कहाँ ? सातवीं नरक के नारकी में, रौ-रौव नरक में समकित्ती नारकी पडा है, वहाँ भी आत्मा में आनन्द मानते हैं। समझ में आया ? रौ-रौव नरक में नारकी पडे हैं। सातवीं नरक में समकित्ती हैं। (फिर भी) दुःख नहीं मानते। जितना थोड़ा दुःख है वह अस्थिरता है, अस्थिरता मेरी चीज़ नहीं, मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसा सातवीं नरक में रहे हुए धर्मी-सम्यग्दृष्टि अपने को ऐसा मानते हैं। कहो, समझ में आया ?

'इष्ट-अनिष्ट मानना, वह मात्र जीव की भूल है; ...' यह चीज़ इष्ट है, यह चीज़ अनिष्ट है, उसमें इष्ट-अनिष्ट तो कोई है ही नहीं। विष्टा अनिष्ट मानते हैं, भूंड इष्ट मानकर खा जाता है। किसको इष्ट-अनिष्ट मानना ? वमन करते हैं, कुत्ता वमन को खा जाता है, किसको इष्ट-अनिष्ट मानना ? इष्ट-अनिष्ट कोई चीज़ है ही नहीं। आत्मा जाननेवाला है, जगत को जानना है (कि), ऐसा हुआ। मेरे में हुआ ऐसा धर्मी मानते नहीं। आहा..हा... ! धर्मी नाम धरानेवाले, धर्मी नाम धराये और (बोले कि) हमें ऐसा हुआ है। मूढ है, कहते हैं, तुझे धर्म की खबर नहीं। 'इसलिये पुण्य-पाप के फल में हर्ष-शोक नहीं करना चाहिए।'

'यदि किसी भी परपदार्थ को जीव भला या बुरा माने तो उसके प्रति राग या द्वेष,

ममत्व हुए बिना नहीं रहता।' क्या सिद्धांत है ? आत्मा अपने अलावा, आत्मा का स्वभाव शुद्ध है वही भला (है), और विकार है वही बुरा है। बस ! इतना। क्या कहा ? अपना आनन्द, ज्ञानस्वभाव है वह अपना भला है और विकार भाव है वह अनिष्ट अर्थात् बुरा है। उसके अलावा दूसरी चीज़ को बुरी-भली माने तो उसके प्रति राग-द्वेष, ममता अर्थात् मिथ्यादृष्टि हुए बिना रहती नहीं। अरे.. ! मुझे अच्छी (परिस्थिति) हो तो ठीक, प्रतिकूलता हो तो ठीक नहीं। ऐसे माना (वह मूढ है)।

‘जिसने परपदार्थ - परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को वास्तव में हितकर...’ देखो ! परपदार्थकी व्याख्या क्या की ? परद्रव्य। आत्मा के अलावा कर्म, शरीर, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब सब परद्रव्य (है)। परक्षेत्र-इस आत्मा के क्षेत्र के अलावा सब परक्षेत्र है। काल-अपनी पर्याय के अलावा (सब) पर। भाव-अपने गुण के अलावा पर का भाव। उन्हें ‘वास्तव में हितकर तथा अहितकर माना है, उसने अनन्त परपदार्थों को राग-द्वेष करने योग्य माना है।’ एक पदार्थ में प्रीति की और ठीक है - ऐसा माना, (उसे) सारे जगत की ठीक है - ऐसा अनन्तानुबंधी का मान हुआ। समझ में आया ? क्या कहा ?

एक (पदार्थ) ठीक है तो सारी दुनिया उसकी प्रतीति में ठीक है, अनन्तानुबंधी का मान आया। आहा..हा...! यह ठीक नहीं - (ऐसा माना) तो अनन्त चीज़ें ठीक नहीं, (वह) अनन्तानुबंधी का द्वेष आया। समझ में आया ? अनन्तानुबंधी, समझे ? अनन्त संसार का कारण। अनन्त संसार का कारण, एक परपदार्थ मुझे ठीक (है), तो ऐसे सब अनुकूल अनन्त (पदार्थ) ठीक (है)। उसे अनन्त का मान आया, मान नाम राग आया। समझ में आया ? एक चीज़ ठीक नहीं ऐसी अरुचि हुई (तो) सारी दुनिया ठीक नहीं, ऐसा द्वेष आया। अनन्तानुबंधी का क्रोध। समझ में आया ? है ? पुस्तक रखा है या नहीं ? भाई ! रखा है ? क्या लिखा है ? देखो ?

‘परपदार्थ - परद्रव्य-परक्षेत्र...’ ऐसे लेना। परकाल, परभाव को ‘वास्तव में हितकर तथा अहितकर माना है...’ कोई भी एक चीज़ को हितकर माने या दूसरी चीज़ को अहितकर माने, ‘उसने अनन्त परपदार्थों को राग-द्वेष करने योग्य माना है...’ सब चीज़ राग-द्वेष करने

योग्य है, ऐसा माना है। जानने योग्य है ऐसा माना नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! बड़ी सूक्ष्म बात है। संसार में ऐसा चलता होगा क्या ? यह तो किसे कहते हैं ? संसारी प्राणी को कहते हैं कि, भैया ! तुझे हित करना हो तो जगत की कोई भी चीज़ में यह ठीक और अठीक, ऐसी मान्यता छोड़ दे। तेरा आत्मा ही ठीक है, आनन्दस्वरूप ज्ञानानन्द है और उसमें जितना विकार उत्पन्न होता है, पुण्य-पाप दोनों जगत फन्द है, द्वंद्व है, वह अनिष्ट है। समझ में आया ? दूसरी कोई चीज़ अनिष्ट है ही नहीं। दूसरी कोई इष्ट नहीं और दूसरी कोई अनिष्ट नहीं। तेरा आनन्द शुद्धस्वभाव तुझे इष्ट नाम प्रिय, भला है और तेरे में पुण्य-पाप का भाव होता है, वह अनिष्ट और दुःखदायक है। समझ में आया ? दूसरी कोई चीज़ तो ज्ञेय है, वह कहाँ दुःख करती है ? वह पहले आ गया है। आस्रव दुःख का कारण है। नहीं आया ? पहले आया था न ? अजीवतत्त्व के बाद। आया था न ? आस्रव का नहीं आया था ? किसमें आया था ? कौन-सी गाथा ? पाँचवी है, देखो ! पाँचवी... पाँचवी (गाथा)।

‘रागादि प्रकट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन।’ देखो ! दूसरी ढाल है न ? दूसरी ढाल, पाँचवी गाथा (है)। ‘तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान;...’ यह अजीव की भूल (है)। शरीर उत्पन्न हुआ तो मैं उत्पन्न हुआ, शरीर का नाश हुआ तो मेरा नाश हुआ - वह अजीव की भूल (है)। मिथ्यादृष्टि अजीव को अपना मानता है। ‘रागादि प्रकट ये दुःख देन’ है ? उसमें ३४ पन्ना है, पाँचवी गाथा है। रागादि अर्थात् शुभाशुभभाव ‘प्रकट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन।’ है या नहीं ? यह बात पहले आ गई है। रागादि, देखो अन्दर लिखा है न ? क्या कहते हैं ? तिजोरी रखी है।

मुमुक्षु :- बाहर में सुख है...

उत्तर :- ऐसा मूढ मानता है, ऐसा कहते हैं। तिजोरीमें से पैसा निकालने के लिये हाथ डालता है। है राग, है दुःख देन, उसे सुख चैन मानता है। राग है, दुःख देन। लिखा है ? ‘रागादि प्रकट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन।’ राग दुःख का कारण है, पुण्य-पाप दोनों, हाँ ! उसको सुख का कारण मानना मिथ्यादृष्टि का लक्षण आस्रव की भूल में है। यह आस्रव की भूल है। वह आस्रव को आस्रव मानता नहीं। समझ में आया ? थोड़े शब्द में बहुत

भर दिया है। गागर में सागर भर दिया है लेकिन विचार नहीं। ऐसे ही तोते की भाँति रटन किये जाये। अर्थ विचारे नहीं, उसका भाव विचारे नहीं।

कहते हैं, 'राग-द्वेष करने योग्य माना है और अनन्त परपदार्थ मुझे सुख-दुःख के कारण हैं ऐसा भी माना है।' दो बात कही। जिसने अपने आत्मा के अलावा दूसरे में ठीक-अठीक माना तो अनन्त पदार्थ राग-द्वेष का कारण माना और सुख-दुःख का कारण माना। एक को सुख का कारण माना या एक को दुःख का कारण माना (तो) समस्त पदार्थों को सुख-दुःख का कारण माना। सुख-दुःख का कारण परपदार्थ है नहीं। उसका विकारी भाव ही दुःख का कारण है और अपना आत्मा ही आनन्द का, सुख का कारण है, दूसरी कोई बाह्य की चीज़ सुख-दुःख का कारण है नहीं। समझ में आया ? विचार नहीं (करते)।

'इसलिये यह भूल छोड़कर...' यह भूल छोड़कर 'निज ज्ञानानन्दस्वरूप का निर्णय करके...' देखो ! शुभाशुभभाव - आस्रव ही दुःखरूप है। परपदार्थ दुःखरूप है ही नहीं। परपदार्थ को दुःखरूप मानना वह तो महाराग-द्वेष तीव्र हुआ और पर सुख-दुःख का कारण है, प्रतिकूलता रोग आया तो मुझे दुःख हुआ वह मूढ है। सब प्रतिकूलता को द्वेष का कारण माना। अनन्तानुबंधी का द्वेष का सेवन उसे हुआ। आहा..हा... ! समझ में आया ? यह तो भाई ! वीतराग हो तब हो, ऐसा कोई माने। यहाँ तो अभी सम्यग्दर्शन में सीखते हैं।

भगवान ! तेरी दृष्टि यदि आत्मा पर हो, धर्मी की दृष्टि तुझे हो तो धर्मी को बाह्य चीज़ सुख-दुःख का कारण है, ऐसी दृष्टि है नहीं। मान्यता की बात है न ? छोड़ने की बात तो बाद में आयेगी। अस्थिरता छूटे और स्थिरता हो जाये उसे तो चारित्र कहते हैं। यह तो मात्र मान्यता में विपरीतता है, उसे छुड़ाने की बात करते हैं।

मरते समय शरीर अनुकूल न रहे। आहा..हा... ! अरे.. ! ये साँस ठीक नहीं चलती, ठीक चले तो मैं भगवान का स्मरण कर सकूँ या आत्मा का ध्यान कर सकूँ। शरीर विघ्न करता है ? एक बार दृष्टान्त नहीं दिया था ? नरक में नारकी को जम लोग हैं न ? वे बांधते हैं। ऐसा बांधे (जैसे) गठडी बांधे। गठडी बांधकर अन्दर अग्नि का लोहे का सलिया डाल दे। नाक बंध। बाद में नीचे से जलाये, अग्नि जलाये उं..ह नहीं कर सकता। समझ में आया ? ऐसी स्थिति,

प्रतिकूल संयोग है, वह आत्मा को छूटा नहीं। आहा..! भाई ! क्या कहा ? कितना प्रतिकूल संयोग ? एक तो नरक में जन्म लेना, शरीर ऐसा, रोग, उपर से परमाधामी आकर गठडी बाँधकर उसमें लोहे का सरिया डाल दे। उपर से लोहे का दस-दस मन का घन (गिराते हैं)। सुनो ! वह प्रतिकूलता है ही नहीं।

मुमुक्षु :- पाप का फल है।

उत्तर :- पाप के फल में प्रतिकूल संयोग हुआ परन्तु आत्मा में वह संयोग कहाँ छूआ है ? सूक्ष्म बात है। तत्त्व की बात उसने सुनी नहीं। उस समय भी आत्मा ज्ञानानन्द होकर अन्दर सम्यग्दर्शन प्रकट कर लेता है। क्या (कहा) ? इतना प्रतिकूल संयोग ! वह तो बाहर है, आत्मा में अन्दर कहाँ घूस गया है ? आत्मा तो अन्दर भिन्न है। ऐसा भगवान आत्मा पूर्व में कुछ सुना हो, मुनि ने आत्मा सुनाया हो कि, आत्मा तो आनन्द है। राजा-महाराजा कोई महापाप करके, सम्यग्दर्शन नहीं किया और यहाँ जन्म ले लिया। ऐसे गठडी बाँधते हैं और(जलाते हैं)। अरे...! ये क्या ? क्या है ये ? ऐसी चीज़ सदा रहेगी ? इससे छूटने की कोई चीज़ है या नहीं ? ऐसा अन्दर विचार करके क्षण में सम्यग्दर्शन पा लेते हैं। समझ में आया ? वह चीज़ प्रतिकूल नहीं मानते। वह तो छूटी भी नहीं। चाहे वह संयोग में हों। वह तो संयोग है। आत्मा अरूपी भगवान ज्ञानानन्द तो उससे भिन्न है। संयोगी की इतनी स्थिति में भी आत्मा उसमें दब गया है, ऐसा है नहीं। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ... हो तो मानता फिर जाये...

उत्तर :- यहाँ क्या कहते हैं ? नहीं होने देना तुम्हारे साथ में है ? भाई ! यह क्या कहे हैं ? दृष्टान्त पहले एकबार दिया था। उसके कारण से होता है, तुम्हारे कारण टिकता है ? क्या करना है तुमको ? ऐसा कहते हैं, भाई ! वह तो जो होता है, वह होता है। वह तो जड़ की अवस्था है। आत्मा को दुःख का कारण बिलकुल नहीं। (यहाँ) क्या कहते हैं ? लेकिन किया नहीं, उसमें तुझे खेद होता है। वह नहीं होता है इसलिये खेद होता है, वह मूढता है, उसे कभी करना है। पैर चलाने हैं, दुकान बराबर करनी है, ऐसा करना है। भाई ! शरीर अच्छा हो तो ऐसा करना है, इनके जैसा चले, ऐसे पुत्र होना... यह सब भ्रम है। कौन कर सका है ? पर का कौन

कर सकता है ? शरीर की प्रतिकूलता क्या आत्मा को दुःख का कारण है ? भगवान तो कहते हैं कि, तेरा अभिप्राय-मेरे में दुःख हुआ है, यह तेरा अभिप्राय दुःख का कारण है। पर चीज़ दुःख का कारण है नहीं। समझ में आया ? चिल्लाता है, पैर चलते नहीं। पैर चलता है न ? आत्मा नहीं चलता ? पहले कहा न ? अन्दर परिणमन नहीं है ? वस्तु भिन्न है तो भिन्न की दृष्टि करो। भिन्न की दृष्टि में प्रतिकूल संयोग रोकते हैं ? भिन्न की दृष्टि करने से प्रतिकूल संयोग रोकते हैं ? समझना पडेगा या नहीं ? चाहे जितना प्रतिकूल संयोग शरीर को हुआ, वह तो रजकण में हुआ है; आत्मा तो अन्दर से भिन्न है, भगवान आत्मा भिन्न है। उस समय भी अंतर्मुख होकर, बहिर्मुख का लक्ष्य छोड़कर मैं तो शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ, मैं ज्ञायक हूँ। जानने... जानने। जानने... जाननेवाला (हूँ) उसमें दृष्टि लगा दी। सम्यग्दर्शन हो जाये। ऐसी प्रतिकूलता में सम्यग्दर्शन (हो जाये)। आत्मा में प्रतिकूलता है कहाँ ? कठिन बात, भाई ! समझ में आया ?

अनुकूल संयोग। समवसरण में अनन्त बार गया। राजकुमार आदि भगवान को सुनने गये। क्या हुआ उसमें ? अनुकूलता उसमें क्या ? बाह्य चीज़ में क्या है ? (लेकिन) माना कि, हमें अनुकूल है। बस ! बादशाह है। मूढ है। बादशाही तो तेरे अन्दर में पडी है। ज्ञानानन्द की संभाल नहीं की तो समवसरण में भी मिथ्यादृष्टि रहा। समझ में आया ? आहा..! और ज्ञानानन्द की संभाल की, तो ऐसी गठडी बाँधी उसमें सम्यग्दर्शन पा लिया, जन्म-मरण का नाश कर दिया। आहा..हा... ! परद्रव्य के साथ संयोग-वियोग मानना, वह तो उसकी कल्पना है। इसलिये कहते हैं, ऐसा छोड़कर 'ज्ञानानन्दस्वरूप का निर्णय करके स्वोन्मुख ज्ञाता रहना ही सुखी होने का उपाय है।' विशेष कहेंगे, लो !

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष १४, शनिवार

दि.१९-२-१९६६, गाथा-९, प्रवचन नं.-३०

‘छहढाला’, उसमें चौथी ढाल चलती है, उसका ९वाँ श्लोक। श्लोक चला है, थोड़ा भावार्थ बाकी है। श्लोक फिर से (लेते हैं)।

पुण्य-पाप फलमाहिं, हरख विलखौ मत भाई;

यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।

लाख बातकी बात यही, निश्चर उर लाओ;

तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ॥९॥

क्या कहते हैं ? देखो ! अन्तिम दो शब्द हैं न ? ‘पुण्य-पाप का बंध वह पुद्गल की पर्यायें (अवस्थाएँ) हैं;...’ क्या कहते हैं ? आत्मा है, आत्मा; वह शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्यमूर्ति (है)। उसकी दृष्टि (करने से) और उसमें स्थिर होने से कभी बन्ध होता नहीं। आत्मा ज्ञानानन्द पवित्र स्वरूप (है), उसकी अन्तर में श्रद्धा और उसका ज्ञान (करना) और उसमें लीनता होने से तो नया कर्म का बन्ध होता नहीं। पुराने खिर जाते हैं। यहाँ कहते हैं कि, पूर्व में अपने स्वरूप के भान बिन जो शुभ और अशुभभाव किये ते, पुण्य और पाप के भाव पूर्व में (किये थे)...

‘पुण्य-पाप का बन्ध, वह पुद्गल की पर्यायें (अवस्थाएँ) हैं;...’ है ? क्या कहते हैं ? कि, अपना आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव है, उसकी यदि धर्म दृष्टि हुई हो और अपने ज्ञान में लीनता-चारित्र हुआ हो तो उससे तो नया बंध होता नहीं। समझ में आया ? ‘सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः’ यह तो छूटने का रास्ता है। क्या (कहा) ? आत्मा शुद्ध चैतन्य, राग-द्वेष, पुण्य-पाप से रहित, शरीर-देह की क्रिया से रहित - ऐसा अपना आत्मा एक

सैकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण शुद्ध आनन्द (स्वरूप है), ऐसी अन्तर्मुख की दृष्टि करना, वह तो बन्ध का कारण नहीं, वह तो मोक्ष का कारण है। डॉक्टर ! समझ में आया ? समझने की थोड़ी सूक्ष्म बात लेते हैं, देखो ! पाठ में तो ऐसा लिया ना ?

‘पुण्य-पाप फलमांही, हरख विलखौ मत भाई;’ श्लोक है न ? डॉक्टर !

यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।

लाख बातकी बात यही, निश्चर उर लाओ;

तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ॥

बड़ा श्लोक (है)। देखो ! ‘पुण्य-पाप का बन्ध, वह पुद्गल की पर्यायें (अवस्थाएँ) हैं;...’ क्या कहा ? पूर्व में कोई आत्मा ने शुभ-अशुभभाव किया हो; दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा (के भाव किये), वह शुभभाव हैं। और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, काम, क्रोध, पापभाव हैं। दोनों भाव से नया बन्ध पडता है। शुभभाव से पुण्यबन्धन होता है, अशुभभाव से पापबन्धन होता है। एक बात। समझ में आया ? धर्म तीसरी चीज़ है।

पुण्य और पाप के भाव से भिन्न, अपना ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्यस्वरूप की अन्तर में राग की एकता बिना स्वभाव की अन्तर एकता करके सम्यग्दर्शन प्रकट करना, वह मुक्ति का मार्ग है – और अपना शुद्ध चैतन्यस्वभाव का ज्ञान करके एकाकार होना, वही मुक्ति का मार्ग है। फिर स्वरूप में लीन होना, आनन्दस्वरूप चिदानन्द काम अनुभव हुआ हो – ऐसे सम्यग्दृष्टि बाद में स्वरूप में लीन (होना), चरना, रमना, जमना (हो), उसका नाम भगवान चारित्र कहते हैं।

‘सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः’ ये तीनों तो मोक्ष के मार्ग हैं। यह मार्ग प्रकट करने से पहले अनादिकाल से चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करते-करते उसने पुण्य और पाप अनन्तबार किये और उससे पुण्य-पाप का बंध भी रजकण में, पुद्गल में, जड़ में बंध हो गया। अब कहते हैं कि, पुण्य-पाप के भाव से जो जड़ बंध हुआ, उससे जो संयोग मिलता है, वह पुद्गल की अवस्था है। क्या (कहा) ? पुण्य-पाप, जैसा शुभभाव-अशुभभाव किया

था, उससे कर्म का बन्ध पड़ा, वह तो पुद्गल की अवस्था है। समझ में आया ? बराबर है ? क्या कहा ?

जिसको आत्मा का कल्याण करना हो, उसका (आत्मा का) ज्ञान करना, वह तो पहले कहा ना ? पहले कहा था। सातवें श्लोक में नहीं आया था ? 'धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै; सातवाँ श्लोक है ?

**ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहचै।
तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;
कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनौ।**

है ? करोड़ उपाय करके भी स्व-पर का विवेक करना, वह तेरा पहला कर्तव्य है। समझ में आया ? भेदज्ञान - पुण्य-पाप का जो विकल्प उठता है, वह विकार है; आत्मा उससे भिन्न है - ऐसा सब-पर का विवेक करना वही कोटि उपाय करके भी पहले वह करो। भेदज्ञान किये बिना कभी कल्याण और मुक्ति का मार्ग तुझे (प्राप्त होगा नहीं)। आहा..हा... !

कहते हैं कि, सम्यग्ज्ञान 'कोटि उपाय बनाय' स्व-पर भेद, पुण्य-पाप का भाव, उसे समझना पड़ेगा या नहीं ? शुभ-अशुभभाव उठता है, वह विकार बन्ध का कारण है। उससे रहित मेरी चीज़ शुद्ध चिदानन्दस्वरूप के सन्मुख होकर स्वभाव की दृष्टि करना और अन्तर स्वभाव का ज्ञान करके स्वभाव में लीन होना, वही एक मुक्ति का मार्ग और छूटने का रास्ता है, दूसरा कोई मुक्ति का मार्ग है नहीं।

कहते हैं कि, पूर्व में पुण्यभाव, पापभाव किया था, उसमें पुद्गल की पर्याय बन्धी थी, कर्म का बन्ध हुआ वह पुद्गल की अवस्था है, उसमें आत्मा की कोई अवस्था प्राप्त होती नहीं। समझ में आया ? शुभ और अशुभभाव होते हैं। तीन भाव होते हैं, शुद्ध, शुभ और अशुभ। शुभ और अशुभभाव है, उससे तो पुद्गलकर्म की, जड़ की अवस्था कर्म की बँधती है। और शुद्धभाव है, वह तो अपना आत्मा सन्मुखी श्रद्धा, ज्ञान, शांति करना उसका नाम शुद्धभाव है। इस शुद्धभाव से बंध नहीं होता। शुद्धभाव से निर्जरा और संवर होता है। समझ में

आया ? पूर्व में अनन्तकाल में जबतक संवर, निर्जरा आदि नहीं हुआ तो कहते हैं कि, पूर्व पुण्य-पाप के भाव से रजकण का बन्ध हुआ, वह पुद्गल की जड़ की अवस्था (है), कर्म की, मिट्टी की अवस्था है।

‘उनके उदय में...’ जो बन्ध पड़ा था, उसके पाक के काल में, उदय में पाक के काल में ‘संयोग प्राप्त हों...’ उससे तो संयोग मिलता है। ठीक है ? उसमें आत्मा नहीं मिलता। पुण्य-पाप का भाव से बन्ध पड़ता है, वह जड़ की अवस्था (है) और जड़ के पाक से संयोग मिले। पुण्य का उदय हो तो ये पैसे-लक्ष्मी, कीर्ति का संयोग मिले। पाप का उदय हो तो निर्धनता, सरोगता-ऐसी प्रतिकूलता के संयोग मिले।

कहते हैं कि, ‘उनके उदय में...’ पूर्व का कर्मबन्ध पड़ा है, उसके पाक काल में, उदय में ‘संयोग प्राप्त हों, वे भी क्षमिक संयोगरूप से आते-जाते हैं,...’ बराबर है ? चलती-फिरती छाया। पूर्व का पुण्य-पाप का बन्ध से संयोग मिलो, संयोग वियोग हो जाओ - ऐसा अनन्तबार आते-जाते हैं। वह क्षणभंगुर वस्तु है। उसमें कोई आत्मा का लाभ है नहीं। ये तीसरी बात (हुई)।

पुण्य-पाप का बन्धन से संयोग प्राप्त हो, वह अपने आत्मा के वर्तमान पुरुषार्थ से प्राप्त नहीं होता। क्या कहा ? पूर्व का पुण्य-पाप का बन्ध पड़ा है, उससे जो लक्ष्मी मिले, निर्धनता मिले, सघनता मिले, वह सब वर्तमान प्रयत्न से नहीं (मिलता)। पूर्व का पुण्य-पाप का बन्ध बड़ा है, उससे संयोग की प्राप्ति होती है। समझ में नहीं आया ? ये पैसा मिलता है, निर्धनता मिलती है, सघनता मिले, निरोग मिले, रोग होता है, वह वर्तमान प्रयत्न का फल नहीं (है), वैसे राग बराबर करे तो शरीर की अवस्था रख सके, निरोगता (रहे) और बराबर ध्यान न रखे तो सरोग हो जाये, ऐसी बात है नहीं। वह तो पूर्व के पुण्य-पाप के भाव से जैसा बन्ध पड़ा है, ऐसा उसके उदय से ऐसा संयोग हो जाता है। अपने प्रयत्न के बिना पूर्व के पुण्य के, पाप के कारण ऐसी संयोग अवस्था आ जाती है। आहा... ! पैसा-बैसा चाँदी में कमाना, वह क्या वर्तमान पुरुषार्थ का फल है ? ऐसा कहते हैं। संयोग प्राप्त होता है, पूर्व का बन्ध पड़ा है उससे संयोग प्राप्त होता है। वर्तमान तेरा अशुभराग या शुभराग से वर्तमान सामग्री मिलती नहीं। क्या

करना ? पता नहीं, क्या चीज़ है, उसकी पता नहीं। तुझे सम्यग्ज्ञान का पता नहीं और हित करना (है), कहाँ से हित होगा ? समझ में आया ?

कहते हैं, पुद्गल बन्ध पड़ा है, उससे संयोग प्राप्त होता है, बस ! सघनता, निर्धनता, सरोगता, निरोगता, अनुकूलता, प्रतिकूलता वह सब पूर्व का पुण्य-पाप का बन्ध पड़ा है, उसके फल में आता है। बराबर है ? नौकरी व्यवस्था करते हैं तो पैसा मिलता है, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। दौसो का वेतन, तीन सो का वेतन मिलता है, वह वर्तमान नौकरी का भाव करते हैं तो भाव किया तो मिलता है, ऐसा नहीं। पूर्व के पुण्य के कारण से मिलता है। सरकार क्या दे ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ... घर में आते है...

उत्तर :- घर में आते है लेकिन वह तो विकल्प है और जाने की क्रिया जड़ की है। आत्मा कहाँ जड़ की क्रिया करता है। सूक्ष्म बात (है)। तत्त्व का पता नहीं। सात तत्त्व हैं... कहा न ? स्व-पर का भेद कोटि उपाय करके पहले करो। जब तक स्व-पर का भेद नहीं होगा, तब तक मेरी सम्यक् ज्ञान कला जागी नहीं और जगे बिना तुझे कभी धर्म होता नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

कहते हैं, थोड़ी बात में तो बहुत समा दिया है न ! देखो ! पाठ में ऐसा है या नहीं ? 'पुण्य-पाप फल मांहि' इतने शब्द हैं। उसका अर्थ क्या हुआ ? कि, पूर्व का जो पुण्य-पाप बँधा है, उसका फल है। कौन ? ये संयोग और वियोग होता है वह। 'हरख बिलखौ मत भाई;' अब कहते हैं कि, पूर्व के पुण्य के कारण ये चीज़ मिली, उसमें हर्ष नहीं करना। समझ में आया ? उस चीज़ से आत्मा को कोई लाभ होता है - ऐसा है नहीं। पुण्य के कारण चीज़ मिली - लक्ष्मी, कुटुम्ब, परिवार, हाथी, समाज बोल लिये हैं न ? उससे कोई आत्मा का काम नहीं होता, वह कोई आत्मा का लाभ नहीं है। डॉक्टर ! कुटुम्ब-कबीला बहुत मिले, पाँच-पचास लाख की पुंजी मिले तो उसमें आत्मा को क्या ? वह तो पहले कहा नहीं ? उसमें कहा था न ? 'धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;' तुझे थोड़ा भी काम नहीं आता। आहा..हा... ! 'राज तो काज न आवै;'

मुमुक्षु :- व्यवहार से आवे।

उत्तर :- धूल में भी आता नहीं है ? उसमें लिखा है ?

यह तो 'छहढाला' पढते हैं, 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है।

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;

ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावे।

भगवान आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप मैं ध्रुव नित्यानन्द हूँ, ऐसा अंतर्मुख का आत्मा का ज्ञान हुआ वह ज्ञान अचल रहेगा क्योंकि वह चीज़ अपनी है। पूर्व के पुण्य-पाप से मिली चीज़ अपने को कुछ काम आती नहीं, कुछ काम आती नहीं। कुछ काम आती नहीं ? खाना-पीना, लड्डू मिलना। पैसे हो तो मिलता है या नहीं ? आत्मा को कुछ काम नहीं आती, ऐसा कहते हैं। वह देहादि की क्रिया में भले निमित्त हो। समझ में आया ? पूर्व का पुण्य का फल राज, बाज, काज, घोड़ा, हाथी, स्त्री, कुटुम्ब आत्मा को बिलकुल काम नहीं आते। आत्मा परपदार्थ है, वे उससे परपदार्थ हैं। परपदार्थ अपने को काम में आवे - ऐसी चीज़ है नहीं। भाई ! ये क्या होगा ? अरे... अरे... ! बडी भ्रमणा ! परचीज़ बिलकुल, किंचित् आत्मा के हित में काम आवे - (ऐसा) बिलकुल नहीं (है)। समझ में आया ?

कहते हैं कि, पूर्व का पुण्य का फल और पाप का फल संयोग मिला, वह संयोग आत्मा को कुछ काम का है नहीं। भाई !

मुमुक्षु :- ... सोच में पड़ जाते हैं ...

उत्तर :- ऐसा सुभट है न। आज सुबह वे उलझन लेकर आये थे।

मुमुक्षु :- रात को नींद नहीं आये तो क्या करे ?

उत्तर :- नींद न आये (वह) जड़ की क्रिया है, उसमें क्या हुआ ? आत्मा को क्या दुःख हुआ ? आत्मा को क्या दुःख हुआ ? संयोग है, संयोग की चीज़ है। यहाँ तो ग्रन्थकार कहते हैं। आचार्यों का कथन जो परंपरा से आया है, वही 'दौलतरामजी' 'छहढाला' में कहते हैं।

तुझे पूर्व के पुण्य के कारण संयोग मिला, वह क्या तेरे काम का है ? वह तो क्षणभंगुर चीज़ है, परचीज़ है, तेरे आत्मा के लिए बिलकुल हित में काम की नहीं। आहा..हा... !

पाप का संयोग मिला, वह (भी पूर्व के उदय का फल है)। अब पाप का (लेते हैं)। भाई ! एक तंदुरस्ती चाहिए, पैसे नहीं चाहिए। तब (दूसरे मुमुक्षुने) कहा कि, तंदुरस्ती .. मिले या .. निले ? पूर्व में असाता बांधी है... ये क्या कहते हैं ? पूर्व में पापभाव से असाता का बन्ध पड़ा है तो असाता मिलेगी, शरीर में रोग आयेगा। क्या तंदुरस्ती आयेगी ? तंदुरस्ती का पुण्य किया नहीं और तंदुरस्ती की इच्छा करना, मूढ है। अरे... ! पुण्य हो और तंदुरस्ती हो तो भी आत्मा को क्या लाभ है ? ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा..हा... ! आत्मा को तंदुरस्ती का क्या लाभ है ? समझ में आया ? आहा..हा... !

सातवीं नरक में नारकी महापाप करके जाते हैं। (उसे) बहुत प्रतिकूलता है, तो भी उसमें कोई प्राणी आत्मज्ञान पा लेते हैं। अन्तर में (ऐसा हो जाता है कि), ओ..हो... ! ये क्या चीज़ है ? ये संयोग क्या ? प्रतिकूलता (क्या) ? मैं चीज़ क्या हूँ ? मुझे मुनियोंने, सन्तों ने, ज्ञानियों ने पूर्व में कहा था लेकिन मैंने मेरी सावधानी से मेरा काम नहीं किया, ऐसा विचार करके सातवीं नरक में सम्यग्दर्शन पा लेता है। कहाँ ? सातवीं नरक में। आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्य हूँ, ये शुभ-अशुभभाव दुःखदायक हैं, संयोग पर हैं, दुःखदायक नहीं। पर संयोग मुझे दुःखदायक नहीं। सातवीं नरक में संयोग, हाँ ! सातवीं नरक का संयोग, समकृति ऐसा जानते हैं कि, ये संयोग मुझे दुःखदायक नहीं (हैं)। भाई ! आहा..हा... ! यहाँ तो तुम्हारा पैर नहीं चलता, दूसरा कुछ है नहीं, दिखने में कुछ है नहीं, लड्डू खा जाते हो। लड्डू छोड़ देता है ? मुझे शरीर में ठीक नहीं है तो मैं लड्डू नहीं खाऊँगा।

मुमुक्षु :- पराधीन है ना !

उत्तर :- मैं दूसरा कहता हूँ, मैंने ऐसा कब कहा ? ये शरीर बराबर चलता नहीं है, चूरमा बनाया हो तो चूरमा छोड़ देता है ? कि, नहीं, नहीं। मैं पराधीन हूँ मुझे चूरमा नहीं खाना है, ऐसे छोड़ देता है ? मैं तो पराधीन हूँ, भैया ! चूरमा कहते हैं न ? लड्डू बनाते हैं। घी लबालब डालकर (बनाया हो) और उडद की दाल, पतरवेलिया की पकोडी, अलवी (के पान की)

पकोडी होती है न ? मेरे शरीर में ठीक नहीं है तो मैं वह चीज़ छोड़ देता हूँ, मुझे खाना नहीं है। ऐसा करता है ?

यहाँ कहते हैं, वह संयोगी चीज़ है। पूर्व के पाप के कारण ससुरोगतल, निर्धनतल, दलरिद्रतल तल संयोग है, क्षणभंगुर है वह आतुतल में दुःखदलयक है नहीं, दुःखदलयक है नहीं। अज्ञलनी तूढ ऐसी तलन्यतल करतल है कल, प्रतलकूलतल तूढे दुःखदलयक है। क्यल परद्रव्य दुःखदलयक है ? सतडुड में आयल ? क्यल परवस्तु आतुतल कु दुःख देती है ? तीनकलल में नहीं। आतुतल अपने कु भूलकर वलकर करतल है वह दुःख कल करण हुतल है। परचीज़ दुःख कल करण है नहीं। सतडुड में आयल ? परचीज़ दुःख कल करण है नहीं।

उसी प्रकार परचीज़ सुख कल करण, कल्पनल कल सुख कल करण भी नहीं। अज्ञलनी कल्पनल करतल है कल, तूढे ये चीज़ अनुकूल है, कुटुतुड अनुकूल है, पैसल अनुकूल है, ऐसल है। ऐसी तलन्यतल करके तूढ कल्पनल उठलकर सुखी हूँ, ऐसल तलनतल है। परचीज़ सुख कल करण है नहीं। पुण्य कल ललख, करुड संयोग तलले, वह सुख कल करण है नहीं। पलप से करुड प्रतलकूलतल तलले, वह दुःख कल करण है नहीं। ऐसल नहीं तलनतल है और अज्ञलनी तूढ ऐसल तलनतल है कल, प्रतलकूलतल तूढे दुःख कल करण है, अनुकूलतल सुख कल करण है। (वह) तलथ्यलत्व कल डडल पलप करतल है। सतडुड में आयल ? आहल..हल..! वह तलथ्यलदृष्टल कल डडल पलप है। श्रद्धल वलपरीत है, श्रद्धल कल भलन है नहीं। कु पूर्व कल पलप आयल, उसमें उससे प्रतलकूलतल हुई – ऐसल तलननेवलल उससे अनंतगुनल नयल पलप तूँधतल है। नकर कलल, स्वयं ने नकर (कलल कल), दुःख मेरे करण से नहीं, उसके करण है। ऐसी तलन्यतल करके तलथ्यलदृष्टल असत्यतुडुडल नयल अनन्त पलप कल तनुधन करतल है। वर्ततलन प्रतलकूलतल है, उससे अनन्तगुनी प्रतलकूलतल आयेगी, वहाँ उसकल कुनत हुगल। सतडुड में आयल ? भलन नहीं कल क्यल (वस्तु तुरूप है)।

यहाँ तल कहते हैं, 'उदय में कु संयोग प्राप्त हलं...' थुडे में तुरुत तुरु दलयल है। यह 'छहढलल' तल सलदी हलनुदी भलषल है। उसकल भी अर्थ नहीं सतडुडे और ऐसे ही तुले कुये। 'उदय में कु संयोग प्राप्त हलं, वे भी क्षतलक संयोगरूप से आते-कुते हैं,...' पूर्व के पुण्य के करण ये चीज़ आते-कुते संयोगरूप हैं। अपने कु कुई सुख-दुःख कल करण ये चीज़ नहीं। तुरलतुर

है ? 'जितने काल तक वे निकट रहें, ...' देखो ! आत्मा के समीप में पूर्व पुण्य-पाप का बन्ध पड़ा था, उसके समीप में अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री जितने काल रहे 'वे सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं है।' समझ में आया ? पूर्व के पुण्य-पाप के बन्ध की वर्तमान मिली सामग्री, वर्तमान क्षणिक कुछ काल रहे, वह सामग्री आत्मा को सुख-दुःख देने में तीनकाल में समर्थ नहीं। बराबर है ?

मुमुक्षु :- कर्म दुःख देते हैं।

उत्तर :- कोई दुःख देता नहीं। कर्म ने कहाँ दुःख दिया ? वह मूढ मानता है कि, मुझे दुःख हुआ। वह तो अज्ञान से मानता है। उसकी मान्यता का दुःख है। कर्म के कारण से नहीं, सामग्री के कारण नहीं। तत्त्व का पता नहीं और हमें धर्म करना है, कहाँ से होगा ? सात तत्त्व क्या है ? वह तो अजीवतत्त्व, संयोग में अजीव आया। अजीवतत्त्व दुःखदायक है ? पुण्य-पाप का बंध अन्दर में पड़ा, वह तो जड़ है। आत्मा का लाभ है ? और जो शुभाशुभभाव हुआ, वह आस्रव है। समझ में आया ? क्या वह आत्मा को लाभदायक है ? शुभाशुभ परिणाम से लाभ मानना, वह भी मिथ्यात्व, अज्ञान, स्व-पर का विवेक का अभाव (है)। पुण्य-पाप का बंध पड़ा, उसमें पुण्य ठीक (है), पाप अठीक है - ऐसी मान्यता भी अज्ञान और स्व-पर के विवेक बिना की चीज़ है और उससे बाह्य संयोग मिले, उसको सुख-दुःख का कारण मानना, वह भी मिथ्यादृष्टि भेदज्ञान के अभाव से मानता है।

भेदज्ञान हो कि, ये तो परचीज़ है, मैं उससे भिन्न चीज़ को भिन्न चीज़ सुख-दुःख उत्पन्न करा दे - (ऐसी) तीनकाल में ताकत नहीं। पता नहीं, पता नहीं। समझ में आया ? भाई ! अच्छे पुत्र हों, अच्छी लक्ष्मी मिले, शरीर अनुकूल मिले, वह तो सुख का कारण है या नहीं ? बिलकुल नहीं ?

यहाँ तो पुण्य-पाप के फल में हर्ष-शोक नहीं करना, इतना शब्द लिया। 'पुण्य-पाप-फलमांही, हरख बिलखौ मत भाई' एक पद में तो बहुत भर दिया (है)। भाई ! भगवान ! तुम आत्मा हो न ! तो ज्ञानानंद स्वरूप तेरी चीज़ है न ! पूर्व का पुण्य-पाप का बन्धन से संयोग मिले, तुझे क्या हर्ष-शोक करना है ? वह चीज़ कोई हर्ष-शोक कराती है ? हर्ष-शोक करना

तेरा स्वभाव है ? समझ में आया ? हर्ष-शोक करना, वह मिथ्यात्वभाव है।

तब कोई कहे कि, ज्ञानी होता है तो उसी भी हर्ष-शोक थोड़ा होता है न ? होता है। लेकिन वह हर्ष-शोक परपदार्थ के कारण से होता है - ऐसा नहीं मानते, तो अनन्त हर्ष-शोक नहीं होता। आहा..! भाई ! धर्मी जीव को प्रतिकूलता-अनुकूलता बाहर में आती है परन्तु ज्ञानी उससे सुख-दुःख नहीं मानता, उससे हर्ष-शोक नहीं करते। अपनी पर्याय में कमजोरी से थोड़ा हर्ष-शोक हो जाये, वह चारित्र का अल्प दोष है और पर के कारण से मुझे सुख-दुःख हुआ वह मिथ्यात्व का अनन्त दोष है - ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! है ? वह चारित्रदोष है लेकिन अपनी अस्थिरता का दोष है।

(समकृति ज्ञानी को) सम्यक् भान है कि, मैं तो आत्मा हूँ, शुद्ध चैतन्य हूँ, पुण्य-पाप का भाव विकार है; संयोग पृथक् है। प्रतिकूल संयोग आया तो प्रतिकूलता के कारण समकृति को शोक नहीं होता। २५ साल का एक लड़का दो साल की शादी के बाद मर गया, उस समय में धर्मी जीव है उसे लड़का मर जाने का शोक नहीं होता; पर से शोक नहीं होता। आहा..हा...! थोड़ा शोक होता है, वह अपनी कमजोरी से होता है तो वह दोष अल्प है। आहा..हा...! बात में फर्क (है)। उस चीज़ से मुझे दुःख हुआ ऐसी मान्यता का पाप, मिथ्यात्व का अनन्तगुना पाप है। समझ में आया ? दोनों में फर्क है, पाप-पाप में फर्क है। पकड़-पकड़ में फर्क है। बिल्ली चूहे को पकड़ती है और बिल्ली अपने बच्चे को पकड़ती है। (लेकिन) पकड़-पकड़ में फर्क है।

धर्मी जीव अपना ज्ञानस्वरूप आत्मा में आनन्द हूँ, पूर्व के किसी पाप के बन्धन से प्रतिकूलता आई, निर्धनता हो गई, पुत्र का मर जाना, शरीर में रोग होना, क्षय रोग आदि हो जाना, उससे वे दुःख नहीं मानते। सम्यग्दृष्टि-धर्मी उससे दुःख नहीं मानते लेकिन अपनी कमजोरी में सहनशीलता के अभाव में थोड़ा शोक, दुःख आ जाता है, वह अल्प दोष अवस्था है।

मिथ्यादृष्टि को प्रतिकूल संयोग मिला (तो मानता है कि) उसके कारण मैं दुःखी हूँ, वह अनन्तानुबंधी का महान पाप दोष है। आहा..हा...! पता नहीं, अभी दोष का माप क्या है ?

तत्त्व का पता नहीं कि, परतत्त्व मुझे दुःखदायक है, ऐसा माननेवाले को मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी का पाप होता है। समझ में आया ? अनन्त पाप होता है।

सम्यग्दृष्टि लड़ाई में हो, पुत्र मर जाये, लड़ाई में भी गये हो, सम्यग्दृष्टि हैं, पुत्र मर जाये तो उसका उन्हें शोक नहीं है। आ..हा.. ! परद्रव्य के कारण शोक नहीं है, होता नहीं है। अपना पर्याय में सहनशीलता की कमजोरी के कारण थोड़ा शोक आया, उसका अल्प बन्धन है। मिथ्यादृष्टि, मेरा बड़ा लड़का मर गया, इसलिए मैं दुःखी हुआ, ऐसी दुःख की अवस्था का परिणाम अनन्त संसार की वृद्धि का कारण पाप है। आहा..हा... ! समझ में आया ? बात में ऐसा फर्क है। पकड़-पकड़ में फर्क है। अज्ञानी परचीज़ को दुःख का कारण मानता है, वह बड़ा पाप है। ज्ञानी पर को दुःख का कारण मानते नहीं। मेरी सहनशीलता में कमजोरी है, इसलिये मुझे थोड़ा दुःख, शोक आ जाता है, शोक आ जाता है, पर के कारण से नहीं। इस शोक का आना अल्प पाप है और अज्ञानी को पर के कारण से मुझे थोड़ा दुःख, शोक आ जाता है, शोक आ जाता है, पर के कारण से नहीं। इस शोक का आना अल्प पाप है और अज्ञानी को पर के कारण से मुझे दुःख हुआ, वह मिथ्यात्व का -अनन्त संसार का पाप है। समझ में आया ?

वैसे सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव को पूर्व के पुण्य के कारण चक्रवर्ती पद हो, छह खंड का पद हो। समझ में आया ? ९६ हजार स्त्री हो। समझते हैं (कि), ये परचीज़ हैं। मुझे सुख का कारण है नहीं। मेरा सुख का कारण तो मेरा आत्मा है। मेरे पास (है), मैं आनन्दमय हूँ। ऐसा सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में अविरती सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में हो तो भी ९६ हजार स्त्री चक्रवर्ती को है... समझ में आया ? (लेकिन) सुख का कारण नहीं मानते। सुख का कारण मेरा आत्मा है। आनन्द तो मेरे पास है लेकिन जरा आसक्ति का थोड़ा राग हो जाता है, ये आसक्ति का दोष-चारित्रदोष अल्प बन्धन है। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- इसलिये तो यहाँ कहने में आता है। ज्ञानी-अज्ञानी का प्रमाण अन्तर से है, बाहर से है नहीं। समझ में आया ?

‘ऋषभदेव’ भगवान जब कैलासपर्वत से मोक्ष पधारे तो ‘भरतजी’ अन्तिम दर्शन करने को गये और इन्द्र भी उपर से आये, ‘शक्रेन्द्र’ उपर से आये। उसका मित्र है न ? और दोनों भगवान के भगत हैं। भगवान को मोक्ष पधारते हुए देखा तो ‘भरत’ चक्रवर्ती की आँखमें से आँसू चले गये। आँसू की धारा बहती है। अ..हो.. ! भरतक्षेत्र का सूर्य आज अस्त हो गया, ऐसे रोते हैं। रोते हैं, कहते हैं न ?

इन्द्र कहते हैं, अरे.. ! ‘भरत’ ! आपको तो मालूम है न कि, आप तो चरमशरीरी हैं। इन्द्र कहते हैंकि, आपको खबर है, आपको चरमशरीर, अन्तिम शरीर है। हम तो ‘शक्रेन्द्र’ हैं, हमें मनुष्य का एक अवतार लेना पड़ेगा। समकिति हैं, आत्मज्ञानी हैं, आत्मध्यानी (हैं), दोनों, हाँ ! ‘भरत’ चक्रवर्ती भी आत्मज्ञानी हैं और ‘शक्रेन्द्र’ भी आत्मज्ञानी समकिति हैं। भगवान को मोक्ष जाते हुए देखते हैं और जब रोते हैं, अरे.. ! प्रभु ! हमारा भरतक्षेत्र का सूर्य अस्त हो गया। आँसू की धारा (चली)। इन्द्र कहते हैं, ‘भरत’ तुम्हारा चरम शरीर है न ! तुम तो इसी भव में केवल(ज्ञान) पाकर मोक्ष जानेवाले हो। हमें तो अभी स्वर्ग से (जाकर) एक अवतार करना पड़ेगा। ‘भरत’ कहते हैं, इन्द्र ! इन्द्र मुझे मालूम है। परचीज़ के कारण मुझे रोना नहीं आया। समझ में आया ? परचीज़ का विरह हुआ इसलिए रोना नहीं आया, मेरी कमजोरी में भगवान के प्रति थोड़ा प्रेम है, इतना कमजोरी का प्रेम का रोना आ गया है। समझ में आया ? फर्क है, रोने-रोने में कर्क है। आहा..हा... ! (लोगों को) तत्त्व मालूम नहीं। जीव क्या है, पुण्य-पाप क्या है, बन्ध क्या है, फल क्या है, इस फल में सुख-दुःख होता है या नहीं, मालूम नहीं ? तत्त्व की दृष्टि का पता नहीं और चलो हमें धर्म हो जायेगा। कहाँ से धर्म होगा ? संयोग के कारण रोना नहीं आया है। अपनी कमजोरी है न ! थोड़ा चारित्रदोष है। भगवान के प्रति इतना प्रेम है। अपने कारण थोड़ा रोना आया। उसका अल्प बन्धन है। समझ में आया ?

अज्ञानी (को ऐसा लगता है), भगवान चले गये, उनसे मुझे धर्म था, वे थे तो मुझे धर्म होता था, वे थे तो मुझे धर्म रहता था – ऐसी मान्यता थी तो उसे जो दुःख होता है, वह अज्ञान का दुःख होता है। ज्ञानी को तो मेरा आत्मा है तो धर्म मुझसे है। मेरे शुभभाव में, श्रवण में भगवान निमित्त थे, उसका अभाव हो गया है। तो ज्ञानी को थोड़ा शोक होता है, वह अल्प चारित्रदोष का शोक है। अज्ञानी को शोक होता है, (वह) प्रतिकूल चीज़ देखकर शोक करता

है तो अनन्त प्रतिकूल चीज़ का उसे द्वेष आया। ऐसे द्वेष में अनन्त पाप का बन्धन होता है।
आहा..हा... ! समझ में आया ? आहा.. ! तत्त्व की चीज़ ऐसी है।

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्ह के घट,

सीतल चित्त भयौ जिम चंदन।

राग और पुण्य-पाप के विकल्प से मेरी चीज़ ही भिन्न है। ऐसा सम्यग्दर्शन गृहस्थाश्रम में पहले हुआ तो अनादि की पर से सुख-दुःख की मान्यता थी वह टल गई, नाश हो गई। समझ में आया ? अपने आत्मा से आनन्द है और अपनी कमज़ोरी में जितना राग-द्वेष आता है, उतना दुःख है। वह राग-द्वेष तो अनन्तवै भाग में बहुत थोड़ा आता है। अज्ञानी को इसका पता नहीं। अज्ञानी तो पर की प्रतिकूलता (देखता है तो माने कि), अरे.. ! मैं दुःखी। ये अनुकूलता है तो सुखी (हूँ)। भाई ! शरीर में निरोगता हो। आप सबका शरीर निरोग है, मेरा शरीर स्रोग शरीर है; इसलिए हम दुःखी है। आप निरोग हैं तो सुखी हैं। मूढ है। महा मिथ्यात्व का नया पाप बाँधता है। बराबर है ? न्याय में बराबर है या नहीं ? समझ में आता है या नहीं ?

अपने अलावा कोई भी परपदार्थ हो, उससे सुख-दुःख की मान्यता, पर से करना, उसका नाम मिथ्यात्वभाव है। बराबर है ? और अपने आत्मा में आनन्द है - ऐसा न मानकर परचीज़ से मुझे आनन्द मिलेगा, परचीज़ से मुझे दुःख होगा, उसका नाम मिथ्यादृष्टि का अनन्त संसार का महान पाप है। आहा..हा... !

(यहाँ) कहते हैं कि, 'उदय में जो संयोग प्राप्त हों, वे भी क्षणिक संयोगरूप से आते-जाते हैं, ...' आते-जाते हैं, उसमें तेरे (में) क्या आया ? कहो, बराबर है ? भाई ! किसी के पास करोड़ रूपये हों और किसी के पास दस लाभ हो तो करोड़वाला सुखी है या नहीं ? पर में किसी के पास पाँच हजार और किसी के पास पाँच करोड़ (है)। तो संख्या पर से सुख कल्पना है ? मूढ है। कौन कहता है, संख्या पर से सुख है ?

मुमुक्षु :- लोग कहते हैं।

उत्तर :- लोग तो मूढ हैं। पागल की होस्पिटल में सब पागल हैं। पागल की होस्पिटल है न तो सब पागल हैं।

मुमुक्षु :- पागल को तो बंद करके रखते हैं।

उत्तर :- अज्ञान से बंध होता है, यहाँ यह कहते हैं। देखो न ! एक शब्द में कितना लिया है ! भगवान ! तुझे मालूम नहीं। पुण्य-पाप का फल तो संयोग की प्राप्ति है, क्षणिक चीज़ है। क्षणिक चीज़ है। क्षणिक चीज़ तुझे सुख-दुःख का कारण नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... !

‘जितने काल तक वे निकट रहें...’ क्या ? पूर्व का पुण्य-पाप का फल अनुकूल-प्रतिकूल जितने काल निकट रहें। आत्मा में कहाँ चीज़ घुस जाती है ? वह तो दूर है। ‘उतने काल भी वे सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं है।’ समझ में आया ? जितने काल पूर्व के पुण्य-पाप के संयोग से अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री रही (उतने काल भी) वह चीज़ आत्मा को सुख-दुःख का कारण है नहीं। समझ समझ में फर्क है। ‘समझ पीछे सब सरल है, बिन समझे मुश्किल।’ सच्चा ज्ञान हुए बिना अनन्तकाल परिभ्रमण करके मुनिपना ले लिया। आया न ? ‘मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।’ उसका अर्थ क्या हुआ ? कि, अनन्तबार में जितनी बार नौवीं ग्रैवेयक गया, पंच महाव्रत पाले, अट्टाईस मूलगुण पाले वह क्या है ? सुख नहीं दुःख था - ऐसा कहते हैं। उसके अर्थ में आया या नहीं ?

‘मुनिव्रत धार अनन्तबार’ तो मुनिव्रत धारे तो व्रत धारण किया था या नहीं ? व्रत धारे थे न ? पंचमहाव्रत लिये थे न ? अट्टाईस मूलगुण पाले थे न ? ‘मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।’ सुख न पाया उसका अर्थ क्या हुआ ? कि, दुःख पाया। क्या आया उसमें ? हिसाब करना है या नहीं ? दुकान पर चांदी का हिसाब करता है या नहीं ? डॉक्टरजी ! उसमें क्या आया ? ‘लेश सुख न पाया’ ‘मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो’ - उसका अर्थ क्या हुआ ? कि, महाव्रत के परिणाम शुभराग हैं और दुःखरूप हैं। डॉक्टर ! देखो ! उसमें क्या लिखा है ? लिखा है या नहीं ? कौन-सी गाथा है ? पाँचवी, पाँचवी गाथा है। चौथी ढाल की पाँचवीं (गाथा है)। उन्होंने बहुत भर दिया है, गागर में सागर भर दिया है। देखो !

कोटि जन्म तप तपें, ज्ञान बिन कर्म झरें जे;
ज्ञानीके छिनमें त्रिगुप्त तैं सहज टरें ते।

सहज... सहज... ज्ञान के भान में कर्म सहज ही टल जाते हैं। ज्ञानानन्द में शुद्ध चैतन्य हूँ, रागादि मेरी चीज़ नहीं – ऐसे भान में कर्म सहज टल जाते हैं। ‘मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो’ मुनिव्रत न ? व्रत या अव्रत ? व्रत। व्रत यानी ? अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँच व्रत अनन्तबार धारे। लेकिन ‘निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।’ आत्मा का सुख अंश भी नहीं पाया। उसका अर्थ क्या हुआ ?

मुमुक्षु :- संसार का सुख प्राप्त किया।

उत्तर :- संसार का सुख अर्थात् दुःख। बराबर आया है या नहीं ? आहा..हा... ! ‘छहढाला’ में तो थोड़े में ऐसी चीज़ भर दी है। सादी हिन्दी भाषा में है। समझ में आया या नहीं ?

आत्मा पुण्य-पाप के विकल्प से रहित है, ऐसा अनुभव दृष्टि किये बिना तेरा पंच महाव्रत, अट्टाईस मूलगुण भी दुःख का कारण है, ऐसा कहते हैं। आत्मा का लेश सुख न पाया तो दुःख पाया। शुभाशुभभाव दोनों दुःखरूप हैं, सुखरूप है नहीं। दूसरी बात। देखोयहाँ आया न ? ‘सुख-दुःख देने में संयोग समर्थ नहीं है।’ परन्तु सुख-दुःख का कारण तेरा विकारीभाव (है)। समझ में आया ? वह चीज़ नहीं। बहुत लक्ष्मी मिली, बादशाही है, हमको सुख हुआ। मूढ है। पर से सुख है तो तूने कल्पना की। प्रतिकूलता है तो हम दुःखी हैं, भैया ! निर्धन हो गये। कुछ नहीं (है) शरीर ठीक रहता नहीं, स्त्री मर गई, लड़के को क्षय हो गया, लक्ष्मीचली गई, दुकान जल गई, वीमावाला डूब गया, उधारी चली गई। जहाँ पैसे लेने थे वहाँ सूखा पड़ा। इस साल तो हम बहुत दुःखी हैं। मूढ है। वह तो पूर्व के पाप का फल प्रतिकूलता है। वह दुःख का कारण है ? किसने तुझे कहा ? देखो !

‘वे निकट रहें उतने काल भी वे सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं हैं।’ उसमें कितना भरा है ! लेकिन समझे, विचार कहाँ करना है ? अब कहते हैं, अन्तिम (बात करते हैं)। ‘लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ।’ उसकी बात करते हैं। जैनधर्म में वीतराग सर्वज्ञ

परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा, उनके धर्म में 'समस्त उपदेश का सार यही है कि- शुभाशुभभाव, वह संसार है;...' शुभभाव हो या अशुभभाव हो। वे स्वयं कहते हैं।

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;

तोरि सकल जग द्वंद-फंद नित आतम ध्याओ।

शुभाशुभभाव भी द्वंद-फंद हैं। है ? 'छहढाला' तो आपके यहाँ पहले से चलती है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- तुम स्वीकार तो करते नहीं।

मुमुक्षु :- तोते की भाँति।

उत्तर :- तोते की भाँति। बात सच है।

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;

तोरि सकल जग द्वंद-फंद नित आतम ध्याओ।

शुभाशुभभाव हैं वे फंद हैं, द्वंद हैं, विकार है, दुःख है। उनको छोड़कर 'नित आतम ध्याओ।' देखो ! है ? भगवान आत्मा, शुभअशुभभाव हो और अशुभ से बचने को शुभभाव भी आता तो है, लेकिन है वह बन्ध का कारण। जगफंद का कारण है। उसमें जगत-संसार मिलेगा, आत्मा नहीं मिलेगा। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- अर्थ निकालने की आपकी विधि कोई अलग है।

उत्तर :- अर्थ निकालने की विधि, आप सब नहीं बैठे हैं ? ये युवा हैं, वकील हैं या नहीं ? यहाँ के कहाँ है ? वे तो 'कुचामण' के हैं, वकील हैं। युवा है, उसे यह बात जचती है या नहीं ? कहो, समझ में आया ? आपको अर्थ करना नहीं आये तो क्या करना ? ये 'छहढाला' तो बहुत कंठस्थ (की) है। अर्थ करने आये नहीं तो क्या करना ? आहा..हा... ! और ऐसा अर्थ करते हैं तो (दूसरे लोग) भडकते हैं, अरे... ! ऐसा हो गया। लेकिन सुन तो सही, अन्दर में वही कहते हैं।

‘लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;’ का क्या अर्थ हुआ ? कि, शुभ-अशुभ परिणाम ये सब व्यवहार है। भाई ! अन्दर शब्द में ऐसा कहते हैं, हाँ ! तुझे बीच में दया, दान का शुभभाव आता है लेकिन है व्यवहार। वह बन्ध का कारण है। आता है भले, शुभभाव होता है, भक्ति, दया, दान, पूजा (का भाव आता है) परन्तु ये शुभभाव पुण्यबन्ध का कारण है। समझ में आया ? ‘लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;’ शुभ-अशुभभाव पूर्व में था उसका बन्ध पड़ा, उसका फल संयोग (मिला), वर्तमान शुभाशुभभाव बन्ध का कारण है। उसकी दृष्टि छोड़कर भगवान आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप की रुचि लगाओ, उसकी दृष्टि करो, उसका ध्यान करो। वही आत्मा का संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण है दूसरा कोई (कारण) है नहीं। उसमें है या नहीं ? अर्थ भरे हैं या नहीं ? या, ‘सोनगढ’वाले (अपना घर का) निकालते हैं ? समझ में आया ? आहा.. !

शुभाशुभभाव संसार (है)। उसका अर्थ निश्चय नहीं। ‘इसलिए उसकी रुचि छोड़कर...’ समझ में आया ? शुभाशुभभाव की रुचि छोड़कर। तो क्या करना ? शुभाशुभभाव तो होते हैं। भगवान ! तेरा हित करना हो तो ‘स्वोन्मुख होकर...’ स्वसन्मुख। शुभाशुभभाव हो, उसके सन्मुख में रुचि रखना, वह मिथ्यात्वभाव है। वह शुभाशुभभाव और देह की, जड़ की क्रिया का लक्ष्य करके उन्हें अपना मानना मिथ्यात्व है। तो क्या करना ? भगवान ! देहादि की क्रिया जड़ है, उसकी तो श्रद्धा छोड़ दे कि, मेरी क्रिया है, ऐसा छोड़ दे। परन्तु शुभ-अशुभभाव हैं वे मुझे हितकर हैं ऐसी श्रद्धा छोड़ दे। आहा..ह... ! भाई ! पोपाबाई का राज नहीं है कि जल्दी से मिल जाये। पोपाबाई कहते हैं न ? कहो समझ में आया ?

क्या करना ? ‘लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;’ इन शब्दों की यह व्याख्या है ‘लाख बात की यही, निश्चय उर लाओ;’ उसकी व्याख्या (चलती है)। लाख क्या, करोड़ और अनन्त बार - चाल अनुयोग, भगवान ने कहे चार अनुयोग - द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, कथानुयोग, करणानुयोग। समझे ? सब का सार भगवान की वाणी में ऐसा आया कि, भगवान ! तुम तो पूर्णानन्द प्रभु हो न ! पुण्य-पाप विकार की रुचि छोड़, देह की क्रिया मेरी है - ऐसी श्रद्धा छोड़, चैतन्य सन्मुख हो और अपने सन्मुख में अपनी प्रतीति करना, उसका नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है। आहा..हा... ! समझ में आया ? परवाह ही नहीं की, भाई ! ऐसे ही कल

सुधरे (लोगों में) चले गये। काम कर दे, किसी का कर दे, किसी का सुधार कर दे, बड़े-बड़े भाषण करने। धूल में कुछ नहीं है। सही है या नहीं ?

मुमुक्षु :- आप कहो तो हाँ ही कहनी पड़े।

उत्तर :- ना कहो तो उसका उत्तर मिलेगा। ना कहो ना कि, हमें ऐसा नहीं बैठता तो उसका उत्तर मिले, उसमें क्या है ? देखो न, उसमें लिखा है क्या ? अपने तो शब्दार्थ में से निकलता हैं।

पुण्य-पाप-फलमाहि, हरख बिलखौ मत भाई;

यह पुद्गल परजाय, उपजि बिनसै फिर थाई।

उपजे-विनसे, जाये, उपजे-विनसे, जाये, उसमें तुझे क्या है ?

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;

तोरि सकल जग दंद-फंद नित आतम ध्याओ।

‘दौलतरामजी’ पंडित ने गृहस्थाश्रम में रहकर ‘छहढाला’ बनाई। वे कहते हैं, भगवान ! हों, भाव भले हों, उस भाव की रुचि छोड़कर तेरा आत्मा आनन्द की खान पड़ी है; शुद्ध चिदानन्द प्रभु है। उसमें अंतर्मुख होकर रुचि करो, सावधानी से स्वभाव में लग जाओ। वह तेरा मोक्षमार्ग का धंधा है और धर्म है। आहा..हा... ! कठिन बात है, भाई !

हमारे डॉक्टर ने यहाँ से प्रश्न किया था। ‘राजकोट’। ‘अन्जनचोर’ ! ‘अन्जनचोर’ ने शंका नहीं की उसमें मोक्ष हो गया। देखो ! ए..ई... ! डॉक्टर पलट गये। भाई ! वस्तुस्थिति है, उसे यथार्थ समझनी चाहिए। यथार्थ दृष्टि और यथार्थ ज्ञान बिना चारित्र सच्चा होता नहीं। आ गया न ? पहले आया था न ? भाई ! ‘सम्यग्ज्ञान पवित्रता...’ क्या आया था ? तीसरी ढाल की अन्तिम गाथा है। ८३ पन्ना है। ‘सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान चारित्र का मिथ्यापना।’ १७वीं गाथा है, तीसरी ढाल। ‘मोढमहल की प्रथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;’ ‘या बिन ज्ञान चरित्रा’ ‘सम्यक्ता न लहैं,...’ सच्चापना, सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान और चारित्रपना सच्चा होता नहीं। तीसरी ढाल की १७ वीं गाथा है, ८३ पन्ना है। ८० और ३ (है)। समझ में आया ?

‘दौल’ समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै;
यह नरभव फिर मिलन कठनि है, जो सम्यक् नहिं हौवे।

समझ में आया ? यह नरभव फिर नहीं मिलेगा, भगवान ! सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर लो, उसका प्रयत्न करो। शुभाशुभभाव का प्रेम-रुचि छोड़ो। हो, लेकिन स्वभाव की रुचि करो तो सम्यग्दर्शन होगा, नहीं तो फिर से ऐसा अवतार मिलेगा नहीं। (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



अपनी अपेक्षासे अन्य द्रव्य असत् हैं, स्वयं ही सत् है। स्वयं ही स्वयंका ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञानरूप सत् है। अतः स्वयंके सत्का ज्ञान करना। स्वयंके सत्का ज्ञान करने पर अतीन्द्रिय आनन्दकी झलक आए बिना रहती ही नहीं, और जो आनन्द न आए तो उसने निज सत् का यथार्थ ज्ञान किया ही नहीं। मूल बात तो अन्तरमें ढलना है - यही सम्पूर्ण सिद्धांतका सार है।

(परमागमसार-३८४)



भले ही जीव तथा राग भिन्न रहकर एक क्षेत्रमें रहें तो भी दोनों कभी भी न तो एक रूप हुए और न ही हो सकते हैं। अतः तूँ सर्व प्रकारसे प्रसन्न हो। प्रभु ! तेरी चीज ! कभी राग रूप हुई नहीं, इसीलिए तूँ तेरा चित उज्ज्वल कर, सावधान होकर रागसे भिन्नरूप आनन्दस्वरूपका अनुभव कर। प्रसन्न होकर भेद-ज्ञान पूर्वक ऐसा अनुभव कर कि यह ‘स्वद्रव्य ही मैं हूँ’।

(परमागमसार-३८५)

वीर संवत २४९२, माघ कृष्णपक्ष ०)), रविवार

दि. २०-२-१९६६, गाथा-९, प्रवचन नं.-३१

‘दौलतरामजी’ कृत ‘छहढाला’ है, उसकी चौथी ढाल चलती है। ‘दौलतरामजी’ एक दिगम्बर पंडित हुए। पंडित ने गृहस्थाश्रम में रहकर जगत के उपकार लिये, बुद्धि... एक बुद्धिसागर है, क्या कहते हैं ? ‘बुधजन’ ढाल, ‘बुधजन’ की ढाल है, उसमें से ‘छहढाला’ (बनाकर) अपने न्याय से विषय (लिया है)। उसकी चौथी ढाला। ‘दौलतरामजी’ कृत ‘छहढाला’, उसकी चौथी ढाल की नौवीं गाथा, उसकी अन्तिम की बात चलती है। देखो ! क्या ? अन्तिम शब्द है, उसका अर्थ है।

‘लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;’ नौवीं गाथा का सार है। देखो ! यह ‘छहढाला’ तो बहुत प्रचलित है। ‘छहढाला’ में क्या भरा उसकी बहुत कठिन, सूक्ष्म बात है। अनन्तकाल से पहले आत्मा क्या चीज़ है ? उसका सम्यग्दर्शन अनन्तकाल में एक सैकेण्ड भी किया नहीं। समझ में आया ?

‘छहढाला’ की चौथी ढाला की नौवीं गाथा है। क्या कहते हैं ? देखो ! हिन्दी में नौवीं, गुजराती में आठवीं।

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;
तोरि सकल जग द्वंद-फंद नित आतम ध्याओ।

यह सम्यग्ज्ञान की बात करते हैं, क्या कहा ? कि, अनन्त-अनन्त काल में अनन्त बार नौवीं ग्रैवेयक गया। वह पहले आ गया है।

मुनिव्रत धार अनन्तबार, ग्रीवक उपजायो;
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।

उसका क्या अर्थ है ? कि, यह आत्मा अनंत बार नौवीं ग्रैवेयक तक, नरकयोनि निगोदयोनि आदि (में) अनन्त अवतार करते-करते, नौवीं ग्रैवेयक के भी अनन्त भव किये। नौवीं ग्रैवेयक में तो कौन जा सकता है ? कि, जिसकी क्रियाकाण्ड, बहुत शुक्ललेश्या होती है। समझ में आया ? शुक्ललेश्या, भाई ! शुक्ललेश्या दूसरी चीज़ है। शुक्ललेश्या ऐसी चीज़ है, जिसके परिणाम में शुभभाव अति तीव्र हो, शुभभाव तीव्र हो, तब उसे शुक्ललेश्या होती है।

कहते हैं, नौवीं ग्रैवेयक अनन्तबार गया, तब उसका दिग्म्बर नग्न लिंग था, अट्टाईस मूलगुण भी उसका स्पष्ट-स्वच्छ था और दूसरे देव की इन्द्राणी डिगाने आये तो डिगे नहीं, इतना तो उसका ब्रह्मचर्य का मन का रंग था। उसके लिये आहार बनाकर, चौका बनाकर (बनाया हो) तो प्राण जाये तो भी उसके लिये बनाया आहार लेते नहीं। ऐसे अनन्तबार नौवीं ग्रैवेयक गया, तब शुक्ललेश्या का भाव होकर अनन्तबार नौवीं ग्रैवेयक का अवतार धारण किया, लेकिन आत्मा क्या चीज़ है, उसके भान बिना अट्टाईस मूलगुण, पंच महाव्रत 'आतमज्ञान बिन सुख लेश न पाया' - उसका अर्थ क्या ? कि, पंच महाव्रत आदि, सम्यक् आत्मा के आनन्द के अनुभव बिना अट्टाईस मूलगुण के व्रत का राग, उसको यहाँ 'दौलतरामजी' कहते हैं, भगवान तो कहते ही हैं कि, वह तो दुःखरूप भाव था। भाई !

'आतमज्ञान बिन सुख लेश न पायौ' का अर्थ क्या ? सुख न पाया तो क्या पाया ? दुःख। वह तो आया उसमें - 'छहढाला' में। समझ में आया ? क्योंकि आत्मा में जितने शुभ और अशुभभाव होते हैं, सब आस्रवभाव हैं, रागभाव हैं, विभावभाव हैं, विकार भाव हैं। उसमें शुभभाव हो तो पुण्य बंधे, स्वर्गादि मिले पापभाव हो तो नरक, निगोदादि मिले। उसमें आत्मा की श्रद्धा और आत्मा के ज्ञान बिना जन्म-मरण का अन्त कभी आता नहीं।

कहते हैं कि, 'लाख बात की बात' का क्या अर्थ किया ? देखो, अन्त में। उसका हिन्दी। 'जैनधर्म के समस्त उपदेश का सार यही है...' जैनधर्म के समस्त उपदेश का सार यही है 'कि-शुभाशुभभाव, वह संसार है;...' समझ में आया ? आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द निर्मलानन्द भगवान (स्वरूप है), उसका अन्तर सम्यग्दर्शन-अनुभव के बिना और साथ में स्व-चैतन्य का स्वसंवेदनज्ञान... स्वसंवेदनज्ञान (अर्थात्) आत्मा आत्मा का वेदन ज्ञान में

आनन्द का करे, उसका नाम स्वसंवेदन, आत्मज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इस सम्यग्ज्ञान बिना और अपनी सम्यक् प्रतीति, अनुभव-आनन्द के अनुभव के अन्तर भान बिना उसने शुभाशुभभाव अनन्त बार किये, परन्तु उससे जन्म-मरण का अन्त आता नहीं। समझ में आया ? क्योंकि शुभाशुभभाव संसार है। आहा..हा... ! भक्ति का, पूजा का, दया का, दान का, महाव्रत का, बारह व्रत का भाव शुभ है, वह उदयभाव है, वह विकार है, उसे भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थकरदेव बंध का कारण कहते हैं। अबन्धस्वभाव भगवान आत्मा... (है)।

‘नियमसार’ में ‘कुन्दकुन्दाचार्यदेव’ ने पहले श्लोक में कहा है, ‘णियमेण य जं कज्जं,’ शब्द है न ? भाई ! ‘णयमेण य जं कज्जं।’ ये शब्द हैं, ‘नियमसार’ में है। कौन-सी गाथा है ? तीसरी, तीसरी। तीसरी गाथा है, देखो ! ‘णियमेण य जं कज्जं’ क्या शब्द है ? नियम से जो निश्चय कर्तव्य है। यहाँ ‘निश्चय’ कहा न ? ‘लाख बातकी बात यही, निश्चय उर लाओ;’ वह निश्चय क्या ? वह निश्चय क्या ? कि, ‘णियमेण य जं कज्जं ते णियमं णाणदंसणचरित्तं।’ भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप अतीन्द्रिय अनाकूल आनन्दकन्द आत्मा है। इस अनाकूल आनन्दस्वरूप का ‘णियमेण’ निश्चय से। सम्यग्दर्शन निश्चय से जीव को कर्तव्य-करने योग्य है। समझ में आया ? शुभाशुभभाव करने योग्य नहीं है। कर्तव्य नहीं है, ऐसे कहा, देखो ! समझ में आया ? आता है। सम्यग्ज्ञानी को भी जब तक वीतरागभाव न हो, तब तक ऐसा शुभभाव आता है, होता है, होय है, परन्तु वह ‘णियमेण य जं कज्जं’ कार्य नहीं। आहा..हा... ! क्या (कहा) ?

नियम से करने योग्य हो तो ‘तं णियमं णाणदंसणचरित्तं’ - यहाँ पहले से ‘णाणदंसणचरित्तं’ लिया है। ‘तत्त्वार्थसूत्र’ दर्शन-ज्ञान-चारित्र से लिया है। क्योंकि ज्ञान लिया है कि, अपना और पर का अन्तर सम्यक् बोध हुए बिना प्रतीति सम्यग्दर्शन, भान बिना, अनुभव बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं। समझ में आया ? ‘स्वानुभूत्याचकासते’ ‘समयसार’ के पहले श्लोक में ‘अमृतचंद्राचार्य’ महाराज (कहते हैं), ‘नमः समयसाराय स्वानुभूत्याचकासते’ - भगवान आत्मा, पुण्य-पाप के राग से प्रसिद्ध नहीं होता। अन्तर में उसकी प्रसिद्धि, सम्यग्दर्शन-ज्ञान की (प्रसिद्धि) शुभाशुभभाव से नहीं होती। आहा.. !

‘स्वानुभूत्याचकासते’।

भगवान ‘कुन्दकुन्दाचार्यदेव’ दो हजार वर्ष पहले दिगम्बर मुनि इस भरतक्षेत्र में हुए, जिनको महान लब्धि थी, उस लब्धि से ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ महाराज देहसहित भगवान परमात्मा त्रिलोकनाथ ‘सीमंधर’ परमेश्वर महाविदेहक्षेत्र में बिराजते हैं, वहाँ गये थे, वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। समझ में आया ? भगवान ‘सीमंधर’ परमात्मा वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में बिराजते हैं। उस समय भी बिराजते थे। क्योंकि उनका आयुष्य करोड़ पूर्व का है। करोड़ पूर्व का आयुष्य ! ओ..हो..हो... ! करोड़ पूर्व किसे कहते हैं मालूम है ? नहीं ? एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ वर्ष और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जाते हैं, उसे एक पूर्व कहते हैं। ओ..हो... ! क्या उसमें ? उसमें तो थोड़ा आया। सत्तर लाख करोड़। एक करोड़, दो करोड़, तीन करोड़ ऐसे नहीं, एक हजार करोड़ ऐसे नहीं, लाख करोड़ ऐसे नहीं, सत्तर लाख करोड़। सत्तर लाख करोड़ और उपर छप्पन हजार करोड़। इतने वर्ष का एक पूर्व होता है। ऐसा-ऐसा एक करोड़ पूर्व का भगवान का आयुष्य है।

‘सीमंधर’ परमात्मा वर्तमान में केवलज्ञानी समवसरण में बिराजते हैं। इन्द्र उपर से व्याख्यान सुनने को, प्रवचन सुनने को (जाते हैं)। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में मनुष्य देह में बिराजते हैं, इन्द्र जाते हैं, नागेन्द्र, सुरेन्द्र, नरेन्द्र, नाग और बाघ (शेर) सब भगवान का प्रवचन सुनने जाते हैं। वहाँ ‘कुन्दकुन्दाचार्यदेव’ गये थे। दिगम्बर संत मुनि दो हजार वर्ष पहले संवत् ४९ में भरतक्षेत्र में (थे), वे यहाँ से वहाँ गये, देह (सहित), हाँ ! आहारकशरीर नहीं था। पहले चौदह पूर्व और आहारकशरीर थे, वह नहीं था। लब्धि थी, जमीन से चार अंगुल उपर चलने की (लब्धि थी)।

भगवान ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ महासंत मुनि आचार्य (को) लब्धि थी तो वहाँ गये थे। वहाँ से आकर शास्त्र बनाये हैं। ‘समयसार’, ‘नियमसार’, ‘प्रवचनसार’, ‘पंचास्तिकाय’ इत्यादि। उसमें यहाँ (‘नियमसार’ में) तीसरी गाथा में कहते हैं, अ..हो.. ! यहाँ भी वही कहते हैं, भाई ! ‘लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ’ यह ‘दौलतरामजी’ कहते हैं। पूर्व के आचार्यों ने कहा, वही कहते हैं, अपने घर की बात नहीं कहते।

यहाँ 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' कहते हैं, 'णयमेण य जं कज्जं'। जो आत्मा को निश्चय से-वास्तव में करने योग्य हो तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (करने लायक है)। समझ में आया ? और वहाँ भी लिया है, 'विवरीयपरिहरत्थं भणितं खलु सारमिदि वयणां।' इस शास्त्र का नाम 'नियमसार' है। नियम और सार। नियम से अपना आत्मा शुद्ध अकंडानन्द प्रभु पूर्ण आनन्द का कन्द है, ऐसा स्वसन्मुख होकर (अनुभव करना)। शरीर, वाणी, मन की जड़ की क्रिया भिन्न, पुण्य-पाप का भाव बन्ध का कारण है, वर्तमान एक समय की वर्तमान अवस्था है वह तो अल्प ज्ञान, अल्प दर्शन, अल्प वीर्य है, इतना मैं नहीं। मैं तो एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण.. पूर्ण.. पूर्ण ज्ञान से भरा, पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द से भरा, पूर्ण शांति अर्थात् चारित्र से (भरा), स्वरूप चारित्र, हाँ ! और पूर्ण दृष्टा भाव से भरा, पूर्ण स्वच्छता, पूर्ण विभूता, पूर्ण प्रभुता, पूर्ण स्वसंवेदता (से भरा हूँ)। पूर्ण स्वसंवेदता का अर्थ - मैं मेरे से वेदन में आनेवाला हूँ, ऐसा आत्मा में एक गुण है। क्या कहा, समझ में आया ?

शुभाशुभ विकल्प राग है, उससे आत्मा वेदन में, जानने में आता है - ऐसा आत्मा में कोई गुण है नहीं। समझ में आया ? आत्मा में एक ऐसा गुण है, कहते हैं कि, प्रकाशगुण। प्रकाश का अर्थ 'णियमेण य जं कज्जं' अपना शुद्ध भगवान आत्मा अपने से 'स्वानुभूत्याचकासते' वह तो अपना अनुभव, पुण्य-पाप के राग से पृथक् होकर अन्तर स्वरूप का स्वसंवेदनज्ञान का आनन्द का अनुभव करके, अपनी अपने से प्रसिद्धि करते हैं, वह अपना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वही नियम से अपना कर्तव्य अर्थात् कार्य है। आहा..हा..! समझ में आता है ? डॉक्टर ! लिखा है न ! देखो ! उसमें लिखा है।

'जैनधर्म के समस्त उपदेश का सार यही है कि-शुभाशुभभाव, वह संसार है; इसलिये उसकी रुचि छोड़कर...' है ? 'स्वोन्मुख होकर निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक निज आत्मस्वरूप में एकाग्र (लीन) होना ही जीव का कर्तव्य है।' उनके घर की बात नहीं है। 'लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;' मैं एक भगवान पूर्णानन्दस्वरूप (हूँ)। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो।' आता है या नहीं ? 'बनारसीदास' में। 'समयसार नाटक'। 'चेतनरूप अनूप अमूरत' - मैं एक चैतन्य भगवान अतीन्द्रिय आनन्दकन्द, अनूप अर्थात् जिसे कोई कोई उपमा नहीं, अमूरत (अर्थात्) जिसमें रंग, गंध, रस, स्पर्श नहीं अथवा जिसमें अमूरत

(अर्थात्) ये विकारी परिणाम भी जिसमें नहीं। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो।' मेरा स्वभाव तो अन्दर परमानन्द सिद्ध समान मेरी चीज़ है। यह 'बनारसीदास' कहते हैं, परन्तु अनादिकाल से 'मोह महातम आतम अंग, कियौ परसंग महा तम घेरौ।' कर्म ने नहीं, मैंने मोह माहात्म्य किया; पर का माहात्म्य किया, अपना माहात्म्य अनादि से छोड़ दिया। समझ में आया ?

भगवान पूर्णानन्द प्रभु, जिसको सर्वज्ञदेव आत्मा कहते हैं, जिसको सर्वज्ञदेव पूर्णानन्द प्रभु पुण्य-पाप के आस्रव से रहित, जड़ की क्रिया देह, वाणी, मन से रहित ऐसा आत्मा, उसकी मैंने अनन्तकाल में संभाल की नहीं, उसका भान किया नहीं। वह तो अनन्तकाल से जो करने योग्य कार्य था, वह किया नहीं। समझ में आया ? करने योग्य क्या था ? 'णियमेण य जं कज्जं त णियमं णाणदंसणचरित्तं।' यहाँ स्वसन्मुख कहते हैं वह। स्वसन्मुख। वह तो ग्यारहवीं गाथा में आया न ? भाई ! 'भूतार्थ अभिगताहाः' अथवा

ववहारोऽभूदत्यो भूदत्यो देसिदो दु सुद्धणओ।

भूदत्यमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥११॥

भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' दिगम्बर संत मुनि हुए, उनके बाद 'अमृतचंद्राचार्य' ११०० वर्ष पहले दिगम्बर संत हुए, वे कहते हैं कि, 'स्वानुभूत्याचकासते' समझ में आया ? तेरा आत्मा अन्तर में... भूतार्थ का अर्थ भी उन्होंने किया 'भूदत्यमस्सिदो' भगवान ! तुम तो भूतार्थ अर्थात् त्रिकाल आनन्दकन्द ध्रुव धातु सत् चैतन्यसत् है, ऐसा चैतन्य महासत् प्रभु, उसका आश्रय लेने से, उसका आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है। समझ में आया ? भाई ! ये सौभाग्य आत्मा की बात करते हैं, देखो यहाँ ! आहा..हा... !

भगवान आत्मा भूतार्थ 'भूदत्यमस्सिदो खलु' भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने कहा, 'अमृतचंद्राचार्य' ने कहा, अ..हो... ! शुद्धनय के अनुसार शुद्ध चिदानन्द प्रभु अंतर्मुख होकर अपना पूर्ण शुद्ध द्रव्यस्वभाव, परमात्मस्वभाव, ध्रुवस्वभाव, एकरूप अभेदस्वभाव का आश्रय करते हैं अर्थात् उसके स्वसन्मुख होते हैं, उसे सम्यग्दर्शन होता है और सम्यग्दर्शन हुए बिना ज्ञान सम्यक् होता नहीं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना सम्यक्चारित्र कभी तीनकाल तीनलोक में होता नहीं। वह पहले आ गया न ? भाई ! पहले आ गया न ? क्या आया ?

१७ वाँ श्लोक है न ? तीसरी ढाल का १७ वाँ श्लोक। 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला'।

'मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;' भगवान आत्मा..! १७ वाँ श्लोक है, १७वाँ। हिन्दी में ८३ पन्ना है। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन 'णियमेण य जं कज्जं' जो भूतार्थ आश्रित सम्यग्दर्शन होता है, जो त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति भगवान, उसके अन्तर सन्मुख होकर अपनी निर्मल पर्याय सम्यग्दर्शन में आत्मा अतीन्द्रिय का स्वाद आता है; सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है - ऐसा जो सम्यग्दर्शन (है), वह मोक्षमहल की प्रथम सीढी (है)। है ? पढ़ा है या नहीं ? पहले कितनी बार पढ़ा है ?

'मोक्षमहलकी परथम सीढी, या बिन ज्ञान चरित्रा;' ऐसा सम्यग्दर्शन, स्वानुभव... आत्मा आनन्दकन्द की अंतरदृष्टि, अनुभव, इस अनुभव के बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्ता न लहे। सच्चापना प्राप्त नहीं करता। मिथ्याचारित्र और मिथ्याज्ञान चार गति में भटकने का कारण है। शास्त्र का पढ़ा हुआ, ग्यारह अंग का पढ़ा हुआ, नौ पूर्व का पढ़ा हुआ ज्ञान भी दुःखरूप है। समझ में आया ? अपने आत्मा का सम्यक् चैतन्यमूर्ति भगवान, जो नियम से करने लायक भगवान आचार्य कहते हैं, ऐसा अनुभव सम्यग्दर्शन हुए बिना तेरा ज्ञान और तेरी व्रतादि की क्रिया सम्यक्ता न लहे, सच्चापन प्राप्त नहीं करता। उसे बालतप और बालतप कहने में आता है। समझ में आया ? आहा..हा...!

अनन्तकाल (में) ऐसा समय आया तो समय गँवा दिया। अनन्त-अनन्त काल में... समझ में आया ? सच्चा समय आया, सत्य क्या है (वह) सुनने में भी आया, समझे नहीं, समझ में लिया नहीं। बाहर में धंधा, धंधा व्यवहार धंधा, ये भी व्यवहार धंधा। 'योगसार' में कहते हैं न ? भाई ! व्यवहार धंधा, पुण्य की क्रिया व्यवहार धंधा है। भगवान आत्मा, नियम से करने योग्य जो आत्मा की क्रिया सम्यग्दर्शन हुआ नहीं तो ज्ञान और चारित्र सच्चापना प्राप्त नहीं करता, झूठापन प्राप्त करता है। उसका ग्यारह अंग का अभ्यास, नौ पूर्व पढ़ा वह भी झूठा ज्ञान (है) और सम्यग्दर्शन बिना, आत्मा की अनुभूति बिना, आत्मा के आनन्द के अनुभव की भूमिका प्रकट हुए बिना जितना व्रत क्रियाकांड करे, सबको मिथ्याचारित्र कहने में आता है।

'सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।' 'दौलतरामजी' कहते हैं, अरे..! भव्य जीव ! तूने

अनन्तकाल में सम्यग्दर्शन धारण किया नहीं तो अब तो धारण कर, अब तो प्रकट कर। 'दौल समझ सुन चेत सयाने' हे सयाना ! 'काल वृथा मत खोवै।' अनन्तकाल में ऐसा काल मिला, दुनिया के लिये काल मत गँवा। तेरा आत्मा क्या चीज़ है, उस ओर तेरा आराधन, सम्यग्दर्शन की और होना चाहिए। 'यह नरभव फिर मिलन कठिन है, यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहीं होवै।' यदि सम्यक् अनुभव... यह सम्यक् रत्न की बात करते हैं। तीन रत्न हैं या नहीं ? तीन रत्न नहीं कहते ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग; ये तीन रत्न हैं। इस रत्न से मुक्ति मिलती है। मुक्ति अर्थात् केवलज्ञान, केवलदर्शन सिद्ध की पर्याय। तीन रत्न क्या ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र। यहाँ सम्यग्दर्शन की बात करते हैं। अनन्तकाल में तूने यह किया नहीं तो अरे... ! प्राणी ! अरे... ! जीव ! भगवान आत्मा ! देखो ! सब की रुचि छोड़कर...

भगवान ! 'नियमसार' (में) तो 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' वहाँ तक कहते हैं कि, शरीर, वाणी, मन, कर्म - ये तो अजीव है लेकिन पुण्य-पाप का भाव भी अजीव और परद्रव्य है। 'नियमसार' ५० वीं गाथा। समझ में आया ? लेकिन आत्मा में ज्ञान, दर्शन, वीर्य का क्षयोपशम, विकास, वर्तमान समय की पर्याय प्रकट है, उसको भी भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' परद्रव्य कहते हैं। समझ में आया ? डॉक्टर ! कठिन पड़ता हो तो धीरे-धीरे कहेंगे। यहाँ कोई दिन नहीं चला जाता है। देखो !

पुव्वुत्तमयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं;

सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा॥५०॥

भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज संत दिगम्बर महान संत, वर्तमान में स्वर्ग में बिराजते हैं। पंचमकाल के संतो केवलज्ञान है नहीं तो वर्तमान में स्वर्ग में बिराजते हैं, एक भव करके केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जाने की तैयारी उनकी है। वे भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' दिगम्बर संत कहते हैं कि, पूर्व में जो आत्मा का भाव कहा, ४९ गाथा तक बहुत कहा, थोड़ी सूक्ष्म बात है। भगवान आत्मा ! 'लाख बातकी बात यही, निश्चय उर लाओ;' उसका अर्थ कि, एक समय में प्रभु शरीर, वाणी, कर्म तो जड़ है ही, परद्रव्य है ही (उन्हें) दृष्टि में छोड़ दे; और

पुण्य-पाप का भाव विकार है वह भी परद्रव्य है, परभाव है, हेय है - तीन बोल लिये। इसके अलावा अपनी वर्तमान ज्ञान की क्षयोपशम पर्याय-विकास की पर्याय है, ज्ञान, दर्शन, वीर्य की (विकसीत पर्याय है), उसको भी यहाँ भगवान आचार्य परद्रव्य कहते हैं, परभाव कहते हैं, हेय कहते हैं। तीन विशेषण है, देखो ! ५० वीं गाथा। बहुत बार व्याख्यान हो गये हैं।

‘परद्वं परसहावमिदि हेयं’ भगवान ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ प्रभु कहते हैं कि, आत्मा किसे कहते हैं ? कि, आत्मा एक समय की पर्याय जो विकास की है, वह आत्मा नहीं। आहा..हा... ! विकास समझते हैं ? विकास (अर्थात्) क्षयोपशम। भाषा नहीं समझते ? ये क्षयोपशम है न ? ज्ञान की पर्याय का विकास, उघाड़ है न ? उघाड़। उघाड़ को क्या कहते हैं ? विकास... विकास को हिन्दी में क्या कहते हैं ? उघाड़। उघाड़ कहते हैं न ? आत्मा तो केवलज्ञानकन्द है, पूर्णानन्द है परन्तु उसकी पर्याय में जो क्षयोपशमभाव है - मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय क्षयोपशमभाव है, उसको भी यहाँ भगवान तो परद्रव्य कहते हैं।

मुमुक्षु :- क्यों ?

उत्तर :- क्योंकि उसका आश्रय लेने से आत्मा की शान्ति नहीं मिलती। पर्याय का आश्रय लेने से आत्मा की शांति की वृद्धि होती नहीं। समझ में आया ? सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन की बात बाद में करो। लेकिन पहले, देखो ! ज्ञान का क्षयोपशम-विकास है, दर्शन का उघाड़ है, वीर्य का उघाड़ है। है न वर्तमान में ? पर्याय में है न ? उसको भी भगवान परद्रव्य कहते हैं। क्यों ? कि, उसके आश्रय से आत्मा को सम्यग्दर्शन नहीं होता। क्या कहा ?

मुमुक्षु :- समझ में नहीं आया।

उत्तर :- समझ में नहीं आया ? फिर से कहते हैं, सुनो ! यह आत्मा भगवान एक समय में - सैकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण अखण्ड द्रव्यस्वभाव वस्तु है। इसके अलावा, पुण्य-पाप के भाव को तो परद्रव्य कहा, परवस्तु कहा, क्योंकि वह अपनी चीज़ नहीं; छूट जाती है। शरीर, वाणी, कर्म तो अजीव हैं, पर पृथक् हैं, परन्तु अपनी वर्तमान अवस्था में ज्ञान, दर्शन, वीर्य का उघाड़ जो है उसको परद्रव्य कहा, परभाव कहा क्योंकि उसमें सम्यग्दर्शन की नयी पर्याय उसमें से उत्पन्न नहीं होती। थोड़ी सूक्ष्म बात है, भाई !

सम्यग्दर्शन की पर्याय... सम्यग्दर्शन पर्याय है, गुण नहीं; गुण त्रिकाल है। सम्यग्दर्शन प्रथम सीढ़ी-मोक्षमहल की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन जो है, वह शरीर, वाणीमें से नहीं आता, पुण्य-पापभावमें से नहीं आता, ऐसे वर्तमान क्षयोपशम ज्ञान, दर्शन, वीर्य है, उसमें से नहीं आता। भगवान पूर्णानन्द प्रभु शुद्धद्रव्य, ध्रुव है, उसकी अंतरदृष्टि करने से उसमें से सम्यग्दर्शन पर्याय प्रकट होती है। आहा..हा... ! समझ में आया या नहीं ? इतने वर्ष से भक्ति तो बहुत करते हो।

मुमुक्षु :- ये आत्मा की भक्ति...

उत्तर :- आत्मा की भक्ति चलती है। आत्मा की भक्ति का नाम सम्यग्दर्शन। पर की भक्ति का नाम शुभभाव।

यह निश्चयभक्ति। भगवान आत्मा एक समय में पूर्ण द्रव्य, उसकी एक समय की पर्याय को भी यहाँ परद्रव्य कहकर, परभाव कहकर हेय कर दिया। एक रहा भगवान पूर्ण अखंडानन्द ध्रुव वस्तु, उसकी अन्तर दृष्टि करने से, उसका आश्रय लेने से, अनन्त जीव को जितनों को सम्यग्दर्शन हुआ, है और होगा सबको अन्तर्मुख पूर्णानन्द प्रभु की अन्तर दृष्टि करने से, उसके आश्रय से होता है। समझ में आया ? भाई ! बहुत सूक्ष्म है, भाई ! बात चलती नहीं, बाहर की क्रिया करके जिंदगी पूरी (करते हैं)। आत्मा का लाभ सम्यग्दर्शन की श्रद्धा क्या है, उसका भी पता नहीं। समझ में आया ?

सम्यग्दर्शन, जो द्रव्य वस्तु है... यहाँ कहा न ? स्वसन्मुख होकर... स्वसन्मुख का वह अर्थ है। पूर्ण वस्तु, पूर्ण वस्तु। स्व पूर्ण वस्तु के सन्मुख। वर्तमान पर्याय, राग और निमित्त का आश्रय छोड़कर पूर्ण स्वभाव का अन्तर आश्रय लेना, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। अनन्तकाल में नहीं हुई (ऐसी) सम्यग्दर्शन पर्याय अपने द्रव्य के आश्रय से होती है। समझ में आया ?

आचार्य तो इससे भी आगे बात करते हैं कि, सम्यग्दर्शन पर्याय हुई और अपने स्वरूप का सम्यग्ज्ञान हुआ, उसको भी यहाँ तो आचार्य परद्रव्य कहते हैं, परभाव कहते हैं, हेय कहते हैं। क्यों ? कि, जो पर्याय अन्दर में द्रव्य सन्मुख होकर प्रकट हुई, उस पर्याय के आश्रय से, नई

पर्याय - शुद्धि की वृद्धि, उसके आश्रय से नहीं होती। समझ में आया या नहीं ? कभी बात सुनने में आती है। क्या (कहा) ? फिर से ? फिर से कहते हैं, भाई ! भाई कहते हैं फिर से कहो। वन्समोर, कहते हैं न ? ये तो फिर से समझने जैसी बात है।

ऐसी बात अनन्तकाल में सुनी नहीं। सुनी हो तो अन्दर में यथार्थपने रुचि होनी चाहिए। आचार्य तो 'समयसार' की चौथी गाथा में कहते हैं, 'सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंध कहा।' 'सुदपरिचिदाणुभूदा' अरे.. ! भगवान ! अरे.. जीव ! आचार्य तो भगवान कहकर बुलाते हैं, हाँ ! 'समयसार' की ७२ वी गाथा है, उसमें भगवान आत्मा कहते हैं। भगवान आत्मा है न, प्रभु ! तुम तो महिमावंत आनन्दकन्द प्रभु हो न ! भगवान ! तेरी चीज़ की बात तुने अनन्तकाल में कभी सुनी नहीं। सुने बिना परिचय किया नहीं, परिचय किये बिना अनुभव हुआ नहीं। तो क्या हुआ ? काम भोग - बंधकथा। उसका अर्थ राग का करना, पुण्य-पाप भाव का करना और पुण्य-पाप का भोगना। बस ! वह बात अनन्तकाल में अनन्तबार सुनी है। शुभाशुभभाव का करना। काम-इच्छा, राग। भोग-अनुभव। पुण्य-पाप भाव का करना और उसे भोगना। वह बात अनन्तकाल में अनन्तबार सुनी है। तेरे परिचय में भी यह बात अनन्तबार आ गई है और तेरे अनुभव में भी आ गई है। 'एयत्तस्सुवलंभो' परन्तु भगवान इस पुण्य-पाप के विकल्प से पार है, अखंडानन्द प्रभु है, उसकी बात - एकत्व की, राग से पृथक् की बात भगवान तूने अनन्तकाल में यथार्थपने सुनी नहीं। समझ में आया ? सुनि नहीं तो परिचय में आया नहीं, परिचय में आये बिना अपना अनुभव उसे हुआ नहीं और जिसको अनुभव है - ऐसे सम्यग्ज्ञानी की सेवा उसने कभी की नहीं, ऐसा उसमें लिखा है। आता है न ? भाई ! 'समयसार' चौथी गाथा। 'एयत्तणिच्छयगदो' तीसरी (है)।

कहते हैं, आत्मा... यहाँ आत्मा किसको कहते हैं ? 'सग्दव्वं.. सग्दव्वं, स्व द्रव्यं, स्व द्रव्यं' अपनी पर्याय में स्वद्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान जो हुआ, उस पर्याय को भी परद्रव्य कहते हैं। वह परभाव है। क्षायिक समकित प्रकट हुआ, उसको भी भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' परद्रव्य कहते हैं, परभाव कहते हैं, हेय कहते हैं। क्यों ? कि, सम्यग्दर्शन स्ववस्तु के आश्रय से हुआ परन्तु उस पर्याय का आश्रय करने से नयी शान्ति, नया धर्म उत्पन्न होता नहीं। आहा..हा... ! क्योंकि द्रव्य में से पर्याय आती है; पर्यायमें से पर्याय नहीं आती है।

राग में से तो नहीं, निमित्तमें से तो नहीं। बात में इतना फर्क है। अपनी पर्याय निमित्त से प्रकट होती है वह तो नहीं, ये शुभविकल्प है, उसमें से तो नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शन की पर्याय द्रव्य के आश्रय से प्रकट हुई उसके आश्रय से भी नई शुद्धपर्याय प्रकट नहीं होती क्योंकि पर्यायमें से पर्याय नहीं होती है; द्रव्यमें से पर्याय होती है। भाई !

द्रवता है ना ? द्रवति इति द्रव्यं। द्रव्य जो वस्तु अखंडानन्द प्रभु पूर्णानन्द सच्चिदानन्द परमपारिणामिक स्वभावभाव ज्ञायकभाव के आश्रय से जैसा सम्यग्दर्शन हुआ, उसके आश्रय से सम्यग्ज्ञान हुआ, उसके आश्रय से स्थिरता-चारित्र की लीनता हुई; जो हुई उसमें से नया चारित्र नहीं आता। आहा..हा... ! समझ में आया ? पर्यायमें से नयी पर्याय उत्पन्न नहीं होती। नयी अवस्था तो द्रव्य में से उत्पन्न होती है। द्रव्य एक स्वरूप अखंडानन्द भगवान का आश्रय सम्यग्दृष्टि कभी छोड़ते नहीं। समझ में आया ? एक समय भी राग और वर्तमान अवस्था का अवलंबन यदि मुख्य हो जाये तो दृष्टि मिथ्यादृष्टि हो जाये। आहा..हा... ! समझ में आया ? थोड़ी सूक्ष्म बात निकल गई।

यह जैनधर्म का देखो ! 'जैनधर्म के समस्त उपदेश का सार...' भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ, जिन्होंने चार अनुयोग कहे, चारों अनुयोग का सार वीतरागता (है), शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता (है)। 'पंचास्तिकाय' में आता है न ? वीतरागता का अर्थ - वीतरागता उत्पन्न कैसे होती है ? द्रव्य वस्तु अखंडानन्द प्रभु में ऐसी अनन्त वीतरागता पड़ी है - द्रव्य में, वस्तु में अनन्त वीतरागता पड़ी है। आहा..हा... ! ऐसा द्रव्यस्वभाव परमात्मस्वभाव परमपारिणामिस्वभाव ज्ञायकस्वभाव एकरूप त्रिकाल अभेदस्वभाव (है) समझ में आता है ? यह बात उसने की नहीं, यह किये बिना मर गया।

कहते हैं, 'णियमेण य जं कज्जं' जो कहते हैं और पहले 'विपरीयपरिहरत्थं' कहा। 'विपरीतना परिहार अर्थे 'सार' शब्द योजेल छे।' भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' कहते हैं, यह आत्मा निश्चय निज स्वरूप के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र करने योग्य है। उससे विपरीत जो शुभाशुभ आदि भाव हैं, उनको छोड़ने के लिए उसका नाम 'नियमसार' कहा है। नियमसार। समझ में आया ? उसका सार यहाँ 'दौलतरामजी' ने कहा,

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;
तोरि सकल जग द्वंद-फंद नित आतम ध्याओ।

ऐसा कहा। 'नित्य' शब्द क्यों कहा है ? 'नित्य' शब्द है, (क्योंकि) पहले और पीछे आत्मा का ध्यान करो। आहा..हा... ! 'नित आतम ध्याओ' आत्मा क्या ? यह पूर्णानन्द अखंड ज्ञायकभाव, वह आत्मा। एक समय की पर्याय भी आत्मा नहीं वह तो व्यवहार आत्मा (है)। पुण्य-पाप का भाव आस्रवतत्त्व; कर्म, शरीर आदि अजीवतत्त्व (है)। आत्मा एक समय में पूर्ण ज्ञायकभाव (है)। समझ में आया ? आत्मा उसको कहा। आत्मा कहा न ? पूर्ण एकस्वरूप। नित्य ध्यावो, ऐसे कहा 'नित आतम ध्याओ।' कोई बार नित्य आत्मा के अलावा कोई पर का आश्रय लेना या नहीं ? पर का आश्रय होता है, फिर भी अन्तर में सम्यग्दृष्टि धर्मी को आत्मा अखंडानन्द ज्ञायकभाव का अवलंबन-आश्रय कभी छूटता नहीं। भाई ! है न ? उसमें शब्द है या नहीं ?

'नित आतम ध्याओ।' ओ..हो.. ! किसी समय भगवान का ध्यान करना या नहीं ? आता है। जब तक स्वरूप में उपयोग स्थिर होता नहीं, शुद्ध उपयोग (होता नहीं), तब उसका विकल्प ऐसा आता है, परन्तु अन्तर दृष्टि में द्रव्य का आश्रय कभी छूटता नहीं। वस्तु का अन्दर आश्रय छोटे और पर्याय और राग का आश्रय हो जाये (तो) एकान्त मिथ्यादृष्टि हो जाता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भैया ! अनन्तकाल में कभी सुनी नहीं, समझी नहीं तो किया तो कहाँ से हो ? और यही करने से जन्म-मरण का अन्त आता है, दूसरी कोई क्रियाकाण्ड से जन्म-मरण का अन्त आता नहीं।

कहते हैं कि, 'नित आतम ध्याओ।' ऐसा क्यों नहीं कहा कि, नित्य राग को करो, शुभराग को करो ? दोष है, वह तो पुण्य है। आता है। करने योग्य नहीं; आता है। ऐसे क्यों नहीं कहा कि, अपनी पर्याय जो प्रकट है, सम्यक् हुआ उसका ध्यान करो ? समझ में आया ? पर्याय प्रकट हुई, अवस्था प्रकट होती है वस्तुमें से, फिर भी वस्तु की नित्य लक्ष्य और दृष्टि रखो। पर्याय का लक्ष्य और दृष्टि का ज्ञान हो, परन्तु आश्रय करने योग्य है नहीं। ऐसी अन्तर दृष्टि हुए बिना उसे सम्यग्दर्शन होता नहीं और सम्यग्दर्शन बिना सम्यग्ज्ञान कहने में आता नहीं।

लाख शास्त्र पढ़े हों, दुनिया (में) लाखों को समझा दे, परन्तु स्वयं यथार्थ समझा नहीं तो क्या समझा दे ? समझ में आया ? फिर भी दुनिया (में) लाखों लोगों को समझा दे तो वह तो विकल्प है। समझाने का तो विकल्प है, उस विकल्प से तो पुण्यबंध है। दूसरों को लाभ होता है उससे अपने को कुछ लाभ होता है ? दूसरा कोई समझ जाये, उसकी पर्याय का लाभ यहाँ होता है या नहीं ? (ये भाई) ना कहते हैं।

**लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;
तोरि सकल जग द्वंद-फंद नित आतम ध्याओ।**

‘तोरि’ (कहा) न ? तो तोड़ने की बात कही न ? तोड़े कौन ? स्वयं तोड़े। दूसरा कोई तोड़ दे ? गुरु और शास्त्र तोड़ दे ? ‘तोरि सकल जग द्वंद-फंद,’ कहाँ गये ? भाई ! यहाँ तो कहते हैं कि, लेने की चीज़ तो अन्तर में है, कोई बाहर से दे सकता नहीं। तीनलोक के नाथ तीर्थकरदेव के पास तेरा द्रव्य पड़ा है ? तेरा द्रव्य तो तेरे पास है। समझ में आया ? और तेरी पर्याय भी तेरे पास है और तेरे द्रव्य में तो अनन्त सिद्ध भगवान हैं। केवलज्ञानी ऐसा कहते हैं कि, तेरे द्रव्य में अनन्त केवलज्ञान हैं। क्यों ?

जब केवलज्ञान होता है, केवलज्ञान। स्वरूप के आश्रय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, चारित्र हुआ, बाद में उसके (स्वरूप के) आश्रय से केवलज्ञान हुआ। केवलज्ञान तो एक समय रहता है ? क्या (कहा) ? केवलज्ञान पर्याय है, गुण नहीं। तो केवलज्ञान एक समय रहता है। दूसरे समय उसका व्यय होता है, क्योंकि ‘उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्’ पर्याय का उत्पाद होता है, पुरानी पर्याय का व्यय होता है, वस्तुरूप से ध्रुव रहती है। केवलज्ञान एक समय की पर्याय दूसरे समय में व्यय हो जाती है। दूसरे समय दूसरा केवलज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसा-ऐसा अनन्तकाल केवलज्ञान उत्पन्न होता है वह सब केवलज्ञान आत्मा के ज्ञानगुण में शक्ति पडी है। अन्दर में न हो तो आता कहाँ से है ? समझ में आया ? आहा..हा...! कहो, डोक्टर ! ‘अंजनचोर’ कहाँ गया ? हमारे भाई ने प्रश्न किया था न ? सोलह वर्ष पहले, सोलह वर्ष हुए (संवत्) २००६ की साल। अभी २०२२ (चल रहा है), १६ वर्ष हुए। तुम पहले २००६ की साल में आये थे। पहली बार ‘राजकोट’ (आये थे)। मानस्तंभ के जन्माभिषेक करते थे, तब

पहली बार देखा। १६ वर्ष हुए, २००६ की साल।

यहाँ कहते हैं, भगवान ! आहा..हा... ! आत्मा एक वस्तु (है), उसमें ज्ञानगुण (है)। इस ज्ञानगुण में अनन्ती केवलज्ञान की पर्याय पडी है। आत्मा में एक आनन्द (गुण है), उसमें अनन्त आनन्द (है), भगवान को जो अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट हुआ, वह अतीन्द्रिय आनन्द भी एक समय रहता है, दूसरा समय में दूसरा अतीन्द्रिय आनन्द, तीसरे समय तीसरा अतीन्द्रिय आनन्द, ऐसा अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द सादि अनन्त की जितनी पर्याय हैं, सब आत्मा के आनन्द गुण में पडी हैं। समझ में आया ? आत्मा किसको कहते हैं ? वह बात चलती है। वैसे अनन्त वीर्य। भगवान को अनन्त चतुष्टय प्रकट होता है या नहीं ? अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख। तो वह अनन्त (वीर्य) एक समय की पर्याय है, दूसरे समय दूसरी, तीसरे समय तीसरी। ऐसे सादि अनन्त। भूतकाल के काल से भविष्य काल अन्तगुना (है)। ये सब अनन्ती पर्याय एक-एक गुण में पडी हैं। ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड भगवान, उसको यहाँ आत्मा कहने में आता है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

कहते हैं, 'तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ।' आहा..हा... ! यह 'छहढाला' तो (लोग) बहुत पढ़ते हैं और कंठस्थ करते हैं। भाव क्या है ? यहाँ तो 'दौलतरामजी' कहते हैं, अरे.. आत्मा ! जिसको भगवान ने आत्मा कहा, अनन्त पर्याय का पिण्डरूप गुण, अनन्त गुण का एकरूप आत्मा, उसकी अन्तर दृष्टि करो। उसका ज्ञान करो और उसमें लीन हो जाओ। वही मोक्ष का मार्ग नियम से करने योग्य है। बाकी रागादि आता है, जानने योग्य है। समझ में आया ? आहा..हा... !

अभी अर्थ किया था न ? 'स्व अपूर्व अर्थ।' 'स्व अपूर्व अर्थ।' स्व-पर, स्व-पर का ज्ञान। यहाँ कहा न ? स्व-पर का ज्ञान। स्व-पर के ज्ञान का अर्थ क्या किया ? यह ज्ञान की व्याख्या हुई। (उसके पहले) दर्शन की व्याख्या हुई। ज्ञान की व्याख्या सम्यग्ज्ञान। अपना शुद्ध स्वरूप भगवान एकरूप का ज्ञान। ऐसी ज्ञान की अनन्ती अनन्ती पर्याय शुद्ध स्वरूप भगवान एकरूप का ज्ञान। ऐसी ज्ञान की अनन्ती अनन्ती पर्याय अन्तर में पडी है। ऐसे अनन्त गुण के अवलंबन से जो ज्ञान हुआ वह सम्यग्ज्ञान (है)। शास्त्रज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं, वह व्यवहारु ज्ञान

है - पुण्यबन्ध का कारण है। परसत्तावलंबी ज्ञान पुण्यबंध का कारण है, स्वसत्तावलंबी ज्ञान मोक्ष का कारण है।

स्व-पर का भेद - ऐसा ज्ञानमार्ग लिया न ? पहले कहा था। 'तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;' सातवीं, सातवीं गाथा। आपमें छठी होगी।

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै;
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै।
तास ज्ञानको कारन, स्व-पर विवेक बखानौ;
कोटि उपाय बनाय भव्य, ताको उर आनो॥

करोड़ उपाय करके भी भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है, उसका ज्ञान कर। कैसे ? स्व-पर का भेद करके। स्व-पर का भेद क्या हुआ ? अपना आत्मा शुद्ध चैतन्य का ज्ञान हुआ तो उसमें पुण्य-पाप आदि नहीं है - ऐसा पर का ज्ञान हुआ। अर्थात् अपने आत्मा का, शुद्ध चैतन्य का अन्तर्मुख होकर ज्ञान हुआ, तब बाद में रागादि व्यवहार बाकी रहता है, वह भी जानने योग्य है ऐसा पर का ज्ञान करो। 'स्व अपूर्व अर्थ।' स्व का ज्ञान अपूर्व नाम यह आत्मा नहीं, ऐसा पुण्य-पाप का भाव आदि का ज्ञान करो, है इतना ज्ञान करो। आहा..हा... ! भाई ! समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म बात है, भाई ! यह बात तो पहले एकबार कही थी। 'स्व अपूर्व अर्थ।' ऐसे दो शब्द हैं न ? इसमें आया है ना ?

(चौथी ढाल की) पहली गाथा (की) फूटनोट में आता है। देखो ! 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' 'प्रमेयरत्नमाला' (का सूत्र है)। 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं' क्या कहा ? सम्यग्दर्शन तो हुआ, बाद में ज्ञान का आराधन करो, ऐसा कहा है। ज्ञान तो साथ में उत्पन्न होता ही है। सम्यग्दर्शन कारण, सम्यग्दर्शन कार्य। दीपक कारण, प्रकाश कार्य। परन्तु है साथ में। लेकिन ज्ञान का सम्यग्दर्शन होने के बाद भी अन्तर ज्ञान का आराधन करो। इस ज्ञान की व्याख्या 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं'। स्व भगवान आत्मा का ज्ञान और अपूर्व (अर्थात्) दूसरा। पूर्व-पुण्य, पाप, दया, दान, विकल्प, शरीरादि। अपूर्व अर्थात् यह आत्मा नहीं, वह पर, उसका ज्ञान करो। है, उसका ज्ञान करो, आदरणीय

नहीं। आहा..हा...! समझ में आया ?

भगवान आत्मा का स्व का ज्ञान और अपूर्व अर्थ नाम पर का, राग-द्वेष, पुण्य-पाप, दया, दानादि विकल्प उठते हैं, (उसका ज्ञान करो)। भाई ! व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है, यह उसमें आ गया। ('समयसार') बारहवीं गाथा में कहा, 'भूदत्थमस्सिदो' भान हुआ। (बाद में भी) जो राग-द्वेषादि आते हैं, दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम होता है, (वह) जानने योग्य है। अपना नहीं ऐसा जानने योग्य है। ऐसा स्व-पर का यथार्थ भेदज्ञान करना उसका नाम आत्मज्ञान अथवा सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह मोक्षमार्ग का दूसरा अवयव है। सम्यग्दर्शन पहला भाग है, सम्यग्ज्ञान दूसरा है। वह बात कही।

ज्ञान-दर्शनपूर्वक 'निज आत्मस्वरूप में एकाग्र (लीन) होना ही जीव का कर्तव्य है।' अब, ज्ञान हो तो बाद में चारित्र होता है, उसकी व्याख्या करेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



अपनेमें केवलज्ञान प्रकट करना - यह तो जीवका स्वभाव है । यह प्रकट नहीं हो सकता- ऐसा न मान । केवलज्ञान प्रकट करना यह दुष्कर है, ऐसा न मान । जीवको परमाणु बनाना हो तो यह नहीं हो सकता । अरे ! रागको नित्य रखना हो तो वह भी नित्य नहीं रख सकता, परन्तु शुद्धता प्रकट करना - यह तो जीवका स्वभाव है । यह कैसे न हो सके ? यह कैसे कठिन है ? जीवमें स्थिर होना , शुद्धता प्रकट करनी - यह तो जीवका स्वभाव होनेसे हो सकता है । अतः "न हो सके" ऐसी मान्यतारूप शल्य छोड़ दे । (परमागमसार-३७९)

वीर संवत २४९२, फागुन शुक्ल ५, शुक्रवार
दि.२५-२-१९६६, गाथा-९, १०, ११, प्रवचन नं.-३६

चौथी ढाल चलती है, देखो ! 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' चलती है। 'छहढाला' में चौथी ढाला (है)। हिन्दी में नौवीं गाथा हो गई, हिन्दी में, हाँ ! गुजराती में नौ है। उसके अन्तिम के थोड़े बोल हैं, नौवीं (गाथा का भावार्थ का) अन्तिम थोड़े बोल हैं, उसके साथ संबन्ध करते हैं। आज हिन्दीवाले आये हैं। नौवीं है न ? मूल श्लोक। चौथी (ढाल का) नौवा (श्लोक)। नौवीं के साथ संबन्ध है।

पुण्य-पाप फलमाहिं, हरख विलखौ मत भाई;
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।
लाख बातकी बात यही, निश्चर उर लाओ;
तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ॥९॥

क्या कहा ? इसमें सार लिया है। 'पुण्य-पाप फलमाहिं, हरख विलखौ मत भाई;' पूर्व का जो पुण्य और पाप का जो बन्धन हुआ है, उसका जो अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिले, उसमें हर्ष और खेद नहीं करना। समझ में आया ? 'पुण्य-पाप फलमाहिं, हरख विलखौ मत भाई;' उसमें छह बोल आ गये हैं। शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप का भाव, उसमें भी पुण्य ठीक और पाप अठीक नहीं मानना और पुण्य-पाप का बन्धन हो, उसमें भी पुण्य बंधे वह ठीक और पाप बंधे वह अठीक, ऐसा नहीं मानना। दोनों बन्धन हैं और पुण्य-पाप के फल में अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री मिले उसमें भी हर्ष-शोक करना नहीं।

'यह पुद्गल परजाय, ...' वह तो पुद्गल की अवस्था है। 'उपजि विनसै फिर थाई।' पूर्व के पुण्य के कारण पुद्गल मिले, फिर बिखर जाये, फिर से मिले। वह तो पुद्गल की

अवस्था है। 'लाख बातकी बात यही, निश्चय उर लाओ;' सार में सार कहते हैं। 'तोरि सकल जग दंद-फंद, नित आतम ध्याओ।' देखो ! सम्यग्ज्ञान की बात है। आत्मा, पुण्य-पाप का विकल्प जो राग है, उससे भिन्न अपना स्वरूप है। ऐसा भेदज्ञान करके अपने आत्मस्वरूप का ध्यान करना। सारे वीतराग मार्ग का वह सार है। 'लाख बात की बात यही,' शास्त्र में करोड बात, लाख बात कही हो; एक 'निश्चय उर लाओ' आत्मा अखण्ड शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है। शरीर, कर्म, अजीव से भिन्न है और पुण्य-पाप का भाव जो आस्रवतत्त्व है, उससे भी भिन्न है। समझ में आया ? आस्रव से भिन्न है, अजीव से भिन्न है। आस्रव से भिन्न है क्योंकि सात तत्त्व हैं या नहीं ? पुण्य-पाप का भाव है वह तो आस्रवतत्त्व है। दोनों आस्रव हैं और शरीर, कर्म तो अजीवतत्त्व हैं। अजीवतत्त्व से और आस्रवतत्त्व से अपना शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप, जैसा सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थकरदेव ने शुद्ध आत्मा देखा है, ऐसे शुद्ध आत्मा की दृष्टि करो।

सारे जैनशासन की सार बात यह है कि, 'तोरि सकल जग दंद-फंद,' पुण्य-पाप का भाव जग दंद-फंद है। उसकी रुचि छोड़कर, अजीव की रुचि छोड़कर सहजानन्द नित्यानन्द प्रभु आत्मा है, उसकी रुचि करो और राग से भेदज्ञान करके अपना ज्ञान करो। कहो, समझ में आया ? मूल चीज यह है। इस चीज के बिना कभी उसको व्रत, नियम और चारित्र होता नहीं। कहते हैं कि, 'नित आतम ध्याओ।' ऐसा क्यों कहा ? कि, हमेशा अपना स्वरूप शुभ-अशुभराग और कर्म से भिन्न है, ऐसे स्वरूप की दृष्टि कर। हमेशा-नित्य ऐसी दृष्टि रखो और ऐसे आत्मा में ध्यान लगाओ। वही मोक्ष का मार्ग है और वही संसार का अन्त करने का उपाय है। नौ आ गयी, अब दसवीं। नौवीं गाथा तो विस्तार से हो गई है।

अब दसवीं (गाथा)। ऐसा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने के बाद उसे सम्यक्चारित्र होता है। दसवीं गाथा है, भैया ! है उसमें ? १०८ पन्ना है। यह चौथी ढाल चलती है। है न ?

सम्यक्चारित्र का समय और भेद तथा अहिंसाणुव्रत और

सत्याणुव्रत का लक्षण

सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ चारित लीजै;
 एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजै।
 त्रसहिंसाको त्याग, वृथा थावर न सँहारै;
 पर-वधकार कठोर निंघ नहिं वयन उचारै॥१०॥

अन्वयार्थ :- (सम्यग्ज्ञानी) सम्यग्ज्ञानी (होय) होकर (बहुरि) फिर (दिढ) दृढ (चारित) सम्यक्चारित्र (लीजे) पालन करना चाहिए; (तसु) उसके (उस सम्यक्चारित्रके) (एकदेश) एक देश (अरु) और (सकलदेश) सर्वदेश (ऐसे दो) (भेद) भेद (कहीजै) कहे गये हैं। (उनमें) (त्रसहिंसाको) त्रस जीवों की हिंसा का (त्याग) त्याग करना और (वृथा) बिना कारण (थावर) स्थावर जीवों का (न सँहारै) घात न करना (वह अहिंसा-अणुव्रत कहलाता है) (पर-वधकार) दूसरों को दुःखदायक, (कठोर) (और) (निंघ) निंघनीय (वयन) वचन (नहिं उचारै) न बोलना (वह सत्य-अणुव्रत कहलाता है)।

भावार्थ :- सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके सम्यक्चारित्र प्रकट करना चाहिए। उस सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं - (१) एकदेश (अणु, देश, स्थूल) चारित्र और (२) सर्वदेश (सकल, महा, सूक्ष्म) चारित्र। उनमें सकलचारित्र का पालन मुनिराज करते हैं और देशचारित्र का पालन श्रावक करते हैं। इस चौथी ढाल में देशचारित्र का वर्णन किया गया है। सकलचारित्र का वर्णन छठवीं ढाल में किया जायेगा। त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का सर्वथा त्याग करके निष्प्रयोजन स्थावरजीवों का घा न करना सो * अहिंसा अणुव्रत हैं। दूसरे के प्राणों को घातक, कठोर तथा निंघनीय वचन न बोलना (तथा दूसरों से न बुलवाना, न अनुमोदना सो सत्य-अणुव्रत है)।

* टिप्पणी :- (१) अहिंसाणुव्रत का धारण करनेवाला जीव 'यह जीव घात करने योग्य है, मैं इसे मारूँ' इसप्रकार संकल्पसहित किसी त्रसजीव की संकल्पी हिंसा नहीं करता; किन्तु इस व्रत का धारी आरम्भी, उद्योगिनी तथा विरोधीनी हिंसा का त्यागी नहीं होता।

सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ़ चारित लीजै;
 एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजै।
 त्रसहिंसाको त्याग, वृथा थावर न सँहारै;
 पर-वधकार कठोर निंद्य नहिं वयन उचारै॥१०॥

क्या कहते हैं ? देखो, शब्दार्थ। 'सम्यग्ज्ञानी होकर फिर...' शब्दारथ-अन्वयार्थ। पहले सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान न हुआ हो तो उसे व्रत और चारित्र कभी होता नहीं। सम्यग्दर्शन, आत्मा (का) अनुभव (हुआ हो); राग, शरीर, कर्म से भिन्न शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप सिद्धस्वरूप - ऐसा अपना पवित्र भगवान आत्मा दृष्टि में पुण्य-पाप के राग से भिन्न करके लिया न हो तो सम्यग्दर्शन होता नहीं। और शुभाशुभराग का ज्ञान छोड़कर, भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसका ज्ञान करो, बाद में सम्यक्चारित्र धारण करो।

मुमुक्षु :- ... चारित्र हो जाये।

उत्तर :- चारित्र हो जाये। चारित्र है ही नहीं।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान बिना जितना, व्रत, नियम, तप आदि करते हैं, वह तो बालतप और बालव्रत हैं। समझ में आया ? वह सच्चा व्रत है नहीं। अपना स्वरूपभगवान शुद्ध, जिसमें स्थिर होने से शांति मिले... समझ में आया ? भगवान सच्चिदानन्द शुद्धस्वरूप परमानन्द अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य - ऐसे अनन्त चतुष्टय संपन्न अपना निज परमात्मस्वरूप है। उसका दर्शन, सम्यक् अनुभव करके प्रकट करना और उसका सम्यग्ज्ञान का आराधन करना, ऐसा होने के बाद सम्यक्चारित्र धारण करना। समझ में आया ? उसके बिना चारित्र सच्चा होता नहीं।

यह सम्यक्चारित्र का समय बताते हैं। काल क्या है ? सम्यक्चारित्र का समय क्या ? कि, सम्यग्दर्शन, ज्ञान होने के बाद चारित्र का काल है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान हुआ नहीं, अपना आनन्दकन्द ज्ञाता-दृष्टा मैं हूँ, राग उत्पन्न होता है, उसका भी मैं कर्ता नहीं। समझ में आया ? राग विकल्प उठता है लेकिन (वह) विकार है, मैं कर्ता नहीं, जड़ की क्रिया मेरी नहीं - ऐसा

अपना शुद्धस्वरूप का दर्शन-ज्ञान हुए बिना व्रत, तप, क्रियाकाण्ड सच्चा होता नहीं।

कहते हैं, 'सम्यग्ज्ञान होकर (बहुरि)...' बहुरि अर्थात् 'फिर...' बाद में। 'दृढ सम्यक्चारित्र का पालन करना चाहिए;...' देखो ! 'दृढ' शब्द लगाया है। भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप की दृष्टि हुई और शुद्ध अपने ज्ञान का बोध अन्तर भेदज्ञान हुआ, बाद में स्वरूप में स्थिर होने को दृढ चारित्र अंगीकार करना। समझ में आया ? चारित्र बिना कभी मुक्ति होती नहीं।

मुमुक्षु :- दृढ चारित्र लेता...

उत्तर :- दृढ अर्थात् ऐसे लेना कि बाद में च्युत न हो, ऐसा कहते हैं। क्या (कहा) ? ऐसा चारित्र लेना कि, फिर नीचे गिरे नहीं, ऐसा कहते हैं। उपर चढ़ता जाये, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? ज्ञानानन्द प्रभु आत्मा अपनी दृष्टि में आया तो उसमें अन्तर में स्थिर होने को सम्यग्ज्ञान होने के बाद चारित्र धारण करना। परन्तु कैसा ? 'दृढ सम्यक्चारित्र का पालन करना चाहिए; उसके...' अर्थात् 'सम्यक्चारित्र के एकदेश और सर्वदेश (ऐसे दो) भेद...' हैं। सम्यक्चारित्र के दो भेद (हैं)। सम्यग्दर्शन-ज्ञान (होने के बाद) सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं। एकदेश श्रावक का, सर्वदेश मुनि का। ऐसे दो (भेद) 'कहे गये हैं।'

उसमें भी पहले अहिंसा अणुव्रत में 'त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करना...' श्रावक को अपने स्वरूप का भान होने के बाद चारित्र में देश अणुव्रत है त्रस हिंसा का त्याग होना चाहिए। संकल्प से मैं त्रस को मारुं, संकल्प से मैं दोईन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौईन्द्रिय, पंचेन्द्रिय को मैं संकल्प (करके) मारुं, ऐसा संकल्प श्रावक को पंचम गुणस्थान में अणुव्रत में होता नहीं। समझ में आया ? अन्दर स्पष्टीकरण आयेगा।

'और बिना कारण स्थावर जीवों का घात न करना...' स्थावर जीव (मे भी) एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चोइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय हैं। स्थावर में भी पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय और वनस्पतिकाय जीव हैं। एक पृथ्वी के इतने कण में असंख्य पृथ्वीकाय के जीव हैं। जलकाय के एक बिन्दु में असंख्य अपकाय के जीव हैं। समझ में आया ? वायु में भी थोड़े वायु में असंख्य जीव हैं। हरितकाय में नींवपत्ता आदि में एक पत्ते में

भी असंख्य जीव हैं। एक शरीर में एक (जीव) है। और निगोद आलु, कंदमूल, काई, फूग में एक शरीर में अनन्त जीव हैं। उनकी हिंसा वृथा न करनी। गृहस्थाश्रम है, प्रयोजन है तो हिंसा आ जाती है। परन्तु अनर्थ-बिना कारण त्रसहिंसा छोड़ी जैसे ही स्थावर की हिंसा भी बिना कारण नहीं करनी। समझ में आया ? 'घात न करना (वह अहिंसा-अणुव्रत कहलाता है)।' यह अहिंसा अणुव्रत श्रावक का पहला अणुव्रत (है)।

'(पर-वधकार) दूसरों को दुःखदायक, कठोर...' अब सत्य अणुव्रत की बात चलती है। सत्य अणुव्रत। सम्यग्दृष्टि श्रावक को पाँच अणुव्रत में दूसरा सत्य अणुव्रत किसको कहते हैं, उसकी व्याख्या है। 'दूसरों को दुःखदायक, कठोर, निंदानीय वचन न बोलना...' समझ में आया ? पंचम गुणस्थान(वर्ती) श्रावक को सर्वार्थसिद्धि के देव से भी शांति बढ गई है। क्या कहा ? सर्वार्थसिद्धि के देव को तो अविरत सम्यग्दर्शन है। उसको अणुव्रत आदि पंचम गुणस्थान नहीं है। जिसको अन्तर में आत्मज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक स्वरूप की स्थिरता की शांति बढ गई है, दो कषाय का नाश हो गया। सर्वार्थसिद्धि के देव को तो एक अनन्तानुबंधी का ही अभाव हुआ और श्रावक को आत्मा के अनुभवपूर्वक अनन्तानुबंधी और प्रत्याख्यानवरणीय दोनों का अभाव हो गया है। समझ में आया ? भैया ! दो का अभाव हुआ है। अन्तर में कषाय का अभाव होना उसका नाम एकदेश चारित्र है।

अन्तर में अनुभव करके अनन्तानुबंधी का तो अभाव कर दिया है, बाद में स्वरूप में स्थिरता (करके) इतनी शांति आई कि जो सर्वार्थसिद्धि के देव को नहीं (है)। ऐसी अंतर्मुख में आंशिक शांति दूसरे कषाय का त्याग करके अन्दर स्थिरता हुई तो सर्वार्थसिद्धि के देव से भी पंचम गुणस्थानवाला बढ गया। ज्यादा गुणस्थान है। अन्तर की बात है, हाँ ! बाहर का अकेला क्रियाकाण्ड नहीं। अन्तर आत्मा का अनुभव, सम्यग्दर्शन हुआ है और भेदज्ञान - राग से भिन्न हुआ है, बाद में स्वरूप में स्थिर (होकर) दूसरे कषाय अप्रत्याख्यानवरणीय का नाश करके शांति... शांति... शांति... (का वेदन करते हैं)। दूसरे कषाय का अभाव करके अकषाय शुद्धपरिणति (प्रकट हुई है)। अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानवरणीय का अभाव होकर शुद्ध शांति की परिणति प्रकट हुई है। उसका नाम पंचम गुणस्थान का श्रावक कहने में आता है, उसको अहिंसा अणुव्रत में त्रस का घात नहीं होता और बिना कारण स्थावर की हिंसा वह नहीं

करते।

सत्य (अणुव्रत में) दूसरों को दुःखदायक हो, प्राणघात हो जाये, कठोर हो, निंघनीय हो – ऐसे वचन श्रावक को पंचम गुणस्थान में, सर्वार्थसिद्धि के देव से भी जिसकी शांति बढ गई है। शांति बढी है न ? अन्दर दो कषाय का अभाव (होकर) शांति बढी है। इस कारण से गुणस्थान है। उसके अणुव्रत में जो विकल्प उठते हैं, उसमें कठोर, दुःखदायक, निंघनीय वचन बोलने का भाव होता ही नहीं। समझ में आया ?

भावार्थ :- 'सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके...' सम्यग्ज्ञान, हाँ ! सम्यग्दर्शन तो पहले प्राप्त किया। वह तो कल पहली बात आ गई। बाद में अन्तर अनुभव में समायग्ज्ञान का आराधन किया। 'सम्यक्चारित्र प्रकट करना चाहिए। उस सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं - (१) एकदेश (अणु, देश, स्थूल)...' स्थूल है न ? श्रावक का व्रत तो स्थूल है। छट्टे-सातवें गुणस्थान में बिराजमान हैं, उनको महाव्रत है। यह तो अंश, थोड़ा है। 'और (२) सर्वदेश (सकल, महा, सूक्ष्म) चारित्र...' मुनि को तो सकलचारित्र, महाचारित्र अथवा सूक्ष्मचारित्र (है)। छट्टा-सातवां गुणस्थान। आनन्दकन्द में झुलनेवाले मुनि, भावलिंग शुद्ध चिदानन्द। 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज, 'अमृतचंद्राचार्य' महाराज संतो महा दिगम्बर अन्तर अनुभव में क्षण में छट्टा, क्षण में सप्तम, क्षण में छट्टा, क्षण में सप्तम ऐसी मुनि की अवस्था अन्तर में आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द में बहुत लवलीन हैं। उनको सकल चारित्र का पंच महाव्रत का परिणाम होता है। समझ में आया ? उनको सकल चारित्र का पंच महाव्रत का परिणाम होता है। समझ में आया ? उनको अट्टाईस मूलगुण का विकल्प होता है।

मुनि को अन्तर अनुभव में आनन्द की दृष्टि होकर सम्यग्ज्ञान आत्मा का आराधन करके, बाद में स्वरूप में तीन कषाय का अभाव करके (लीनता प्रकट हुई है)। श्रावक को दो कषाय का, समकती को एक कषाय-अनन्तानुबन्धी का, श्रावक को दो कषाय और मुनि को तीन कषाय का अभाव (हुआ) है। इतनी वीतरागता अन्दर बढ गई हो। आहा..हा... ! समझ में आया ? यह वीतरागता शांति इतनी बढी है कि, जिसमें पंच महाव्रत और अट्टाईस मूलगुण के ही विकल्प उठते हैं। उनको वस्त्र-पात्र लेने का विकल्प होता नहीं। मुनि को वह होता ही नहीं,

मुनि की अवस्था ऐसी है। समझ में आया ?

मुनिपना जिसको हुआ उसकी बाह्य में नग्न अवस्था हो जाती है। वस्त्र-पात्र रहे और मुनि हो जाये, ऐसा कभी होता नहीं। समझ में आया ? अन्तर में जिसको तीन कषाय का अभाव करके अन्तर शांति का अनुभव, आनन्द का चारित्र हुआ ऐसे मुनि को पंच महाव्रत अहिंसा, सत्य व्रत पूरे होते हैं और अट्टाईस मूलगुण (होते हैं)। एकबार आहार लेना, छह आवश्यक आदि ऐसे अट्टाईस मूलगुण का विकल्प होता है। उस व्यवहार को सकलचारित्र कहते हैं। अन्दर स्थिरता हुई है, वह यथार्थ चारित्र है; विकल्प उठते हैं, वह व्यवहारचारित्र है। पंच महाव्रत है न ? विकल्प उठते हैं वह व्यवहारचारित्र है। लेकिन उस व्यवहारचारित्र के साथ अन्दर निश्चयचारित्र है। स्वरूप की दृष्टि, ज्ञानपूर्वक स्थिरता तीन कषाय का अभाव है तो उसे व्यवहारचारित्र कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... !

वह कहते हैं, देखो ! सकलचारित्र अथवा सर्वदेश अथवा महाचारित्र अथवा सूक्ष्म चारित्र। समझे ? पहले में स्थूलचारित्र कहा न ? क्षावक को स्थूलचारित्र है। मुनि अर्थात् परमेष्ठी अवस्था। ओ..हो..हो... ! जिसकी बाह्य दिगम्बर अवस्था, एक वस्त्र का धागा भी नहीं होता। ऐसी आनन्द की मूर्ति। कमण्डल निमित्तरूप से उपकरण होता है। दूसरा (कुछ) होता नहीं। एक पुस्तक। आनन्दघन (में झूलते हैं)। 'कुन्दकुन्दाचार्य', 'अमृतचन्द्राचार्य', 'पूज्यपादस्वामी' इत्यादि महासंत हुए वे सकल चारित्रवंत थे। समझ में आया ?

'उनमें सकल चारित्र का पालन मुनिराज करते हैं...' श्रावक को यह भूमिका होती नहीं। 'देश चारित्र का पालन श्रावक करते हैं।' पंच अणुव्रत का पालन श्रावक को होता है। पंच महाव्रत का पालन तो मुनि को होता है। 'इस चौथी ढाल में देशचारित्र का वर्णन किया गया है।' इस चौथी ढाल में। 'सकल चारित्र का वर्णन छठवीं ढाल में किया जायेगा।' अन्तिम में (करेंगे)।

'त्रसजीवों की संकल्पी हिंसा का सर्वथा त्याग करके...' देखो ! संकल्पी हिंसा। मैं इस प्राणी को मार दूँ। ऐसी हिंसा का भाव पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को होता नहीं। 'निष्प्रयोजन स्थावर जीवों का घात न करना, सो अहिंसा अणुव्रत है।' प्रयोजन बिना...

श्रावक है, नीचे कहेंगे, देखो ! टिप्पणी है न नीचे ? नीचे टिप्पणी है। ' (१) अहिंसाणुव्रत का धारण करनेवाला जीव 'यह जव घात करने योग्य है, मैं इसे मारुं' इस प्रकार संकल्पसहित किसी त्रसजीव की संकल्पी हिंसा नहीं करता;...' एक मक्खी को भी संकल्प से मारना (कि), मैं मार दूँ, ऐसा भाव श्रावक को नहीं होता। एक मक्खी भी। मुझे ऊलटी नहीं होती, ऊलटी। बहुत दुःख रहा है तो इस मक्खी को मार दूँ। ऐसे नहीं होता। संकल्पी हिंसा का त्याग है। पंचम गुणस्थान प्रकट हुआ है। शांति... शांति... शांति... अन्दर बहुत शांति (है), दो कषाय के अभाव (पूर्वक) शांति वर्तती है।

कहते हैं कि, ' इस प्रकार संकल्पसहित किसी त्रसजीव की संकल्पी हिंसा नहीं करता; किन्तु इस व्रत का धारी आरम्भी,...' आरंभी हिंसा है, उसका त्याग नहीं। खाना बनाते हैं, चलते हैं आदिआरम्भ होता है न ? (वह) आरम्भी। 'उद्योगिनी...' व्यापार। पंचम गुणस्थान में व्यापार होता है। जहाज का व्यापार होता है, धन्धे का व्यापार होता है। उस हिंसा का त्याग नहीं है। वह तो है न ? पंचम गुणस्थान में इतना परिणाम तो (होता है)। 'उद्योगिनी और विरोधीनी हिंसा का त्याग नहीं होता।' विरोधीनी हिंसा का त्यागी नहीं। राजा हो और लड़ाई करने आये तो अपनी रक्षा के लिये सामने लड़ने का भाव होता है। मानते हैं कि, यह पाप है। विरोधीनी हिंसा भी पाप है, उद्योगिनी हिंसा भी पाप है, आरम्भी हिंसा भी पाप है परन्तु छोड़ नहीं सकते। पंचम गुणस्थान में छोड़ नहीं सकते। वह छूट जाये तो अन्दर में मुनिपना हो जाये। समझ में आया ? संकल्पी हिंसा का त्याग करते हैं और त्रस का स्थावर की बिना कारण हिंसा नहीं करते।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- उसे कहाँ है ? त्रस की हिंसा नहीं है। संकल्प-विकल्प नहीं है। तीन ज्ञान के धनी, कुछ तो जातिस्मरणज्ञानी हैं। वे क्या कहते हैं, समझ में आया ? अढाई द्वीप के बाहर असंख्य श्रावक हैं। यह अढाई द्वीप का मनुष्य क्षेत्र है न ? अढाई द्वीप में मनुष्यक्षेत्र (है)। उसके बाहर असंख्य द्वीप, समुद्र में, स्वयंभूरमण समुद्र में सच्चे समकित्ती श्रावक हैं। है न, शास्त्र में पाठ है न ? समकित्ती अणुव्रतधारी। असंख्य मृग है, मच्छी है, मगर है, कुत्ता है, सिंह

है, वाघ है, ऐसे असंख्य हैं। सिद्धान्त में पाठ है, 'धवल' में पाठ है। भगवान ने केवलज्ञान में देखा है कि, अढाई द्वीप के बाहर (ऐसे जीव है)। अढाई द्वीप में तोबहुत थोडे श्रावक हैं। मनुष्य थोडे हैं न ? और बाहर में असंख्य है। एक समकित्ती और असंख्याता मिथ्यादृष्टि। तो भी असंख्य समकित्ती और असंख्य श्रावक पंचम गुणस्थानवाले बाहर में हैं। हजार-हजार योजन का शरीर है। चार हजार गाउ का मच्छ का शरीर (है)। पंचम गुणस्थानवाला है, कोई अवधिज्ञानी (है)। तीन ज्ञान के धनी हैं। तो भी वे त्रस की हिंसा करते नहीं। संकल्प से त्रस की हिंसा नहीं (करते)। पानी में कोई त्रस आ जाये तो (अलग बात है)। वहाँ स्थावर तो हैं, स्थावर की हिंसा है।

मुमुक्षु :- ... ये चलता है ना ?

उत्तर :- लेकिन वह तो प्रयोजन का है न। बिना प्रयोजन की हिंसा कहाँ हुई ? चलता है (तो) स्थावर जीव की हिंसा होती है। समझ में आया ? जल में है न ? पंचम गुणस्थान है। चलता है, हजार योजन चले। मच्छी, कितना लंबा देह ! पानी बहुत है। तिर्यच भी ऐसे होते हैं। यह बात क्या चलती है ? तिर्यच पंचम गुणस्थानवाले होते हैं। भगवान तीर्थकरदेव ने कहा है। ऐसे बहुत असंख्य बाहर पड़े हैं।

देखो ना, हाथी ! 'त्रिलोकमंडन' हाथी। 'त्रिलोकमंडन' था न ? जो 'रावण' का हाथी था। जब 'रामचंद्रजी' लाये, वह 'भरत' का मित्र था। 'भरत' दीक्षा लेते हैं न, देखो, 'भरत' दीक्षा लेते हैं। देखो ! चारों बैठकर जाते हैं। हाथी पर 'भरत', 'राम', 'लक्ष्मण', 'शत्रुघ्न' जाते हैं। 'भरत' दीक्षा लेते हैं, वह तो पूर्व का मित्र था। जातिस्मरण हो गया, तिर्यच को जातिस्मरण हो गया। अ..हो.. ! मैं तो 'भरत' का मित्र था। अरे.. ! ये दीक्षा (ले रहा है), मैं तो मनुष्यपना हार गया। वैराग्य हो गया, सम्यग्दर्शन हो गया। समझ में आया ? ये तो यहाँ अढाई द्वीप में है। अढाई द्वीप के बाहर असंख्य हैं। असंख्य ! अरबों, अरबों, समकित्ती श्रावक। मिथ्यादृष्टि उनसे असंख्यातगुने हैं।

मिथ्यादृष्टि तिर्यच तो असंख्यगुना बाहर में हैं परन्तु समकित्ती भी असंख्य हैं। वह चले तब, पूंछ हिलाये तो स्थावर जीव बहुत मर जाते हैं। परन्तु वह तो शरीर की गति का प्रयोजन

है। हिंसा लगती है, हिंसा लगती है लेकिन उस हिंसा का त्याग उसे नहीं है। समझ में आया ? वह (क्रिया) बिना प्रयोजन नहीं है। शरीर चलता है, वहाँ पानी में लील-फूग भी हैं। लील-फूग समझे ? (-काई)।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- सामायिक करे, प्रोषध करे। पूछो न, भाई ! सामायिक का अर्थ अन्तर अखंडानन्द भगवान, उसमें समता-वीतरागी समता में स्थिर हो जाता है, उसका नाम सामायिक। वहाँ कुछ बिछाने का नहीं है कि, बिछा ले। कपड़ा, मकान नहीं है, वह तो जल में है और कितने पशु स्थल में पड़े हैं। सिंह, वाघ समकित्ती श्रावक (हैं)। अन्तर आनन्दमूर्ति का अनुभव सम्यग्दर्शन में हुआ है उसमें लीन हो जाते हैं। लीन... समता... समता.. समतारस का झरना अन्दर सामायिक में पीते हैं। प्रौषध में आत्मा का पोषण करते हैं। समकित में शुद्ध आनन्दकन्द की दृष्टि, अनुभव हुआ है, बाद में उसमें एकाग्र होते हैं, पोषण करते हैं, उसका नाम प्रौषध। तिर्यच भी सामायिक और प्रौषध करते हैं। आहा..हा... ! आत्मा है न ! वह आत्मा की क्रिया है। जड़ की जड़ की क्रिया है। जड़ में क्या है ? समझ में आया ? कठिन बात, भाई !

यहाँ तो इतना कहते हैं कि, श्रावक पंचम गुणस्थान में जहाँ अपने स्वरूप का अनुभव और दृष्टि हुई है, बाद में जब पाँच अणुव्रत ग्रहण करते हैं, उसमें त्रसजीव की संकल्पी हिंसा का त्याग (है)। उद्योगिनी, आरम्भिनी और विरोधीनी हिंसा का त्याग नहीं होता। कोई विरोध करता हो तो ऐसा भाव आवे। माने, समझे कि पाप है। विरोध करना भी है तो पाप। व्यापार करने का भाव होता है, वह है तो पाप परन्तु उस पाप का त्याग पंचम गुणस्थान में नहीं हो सकता। समझ में आया ? आता है, उसे उतना राग है, अभी मोह है। स्त्री हो, श्रावक हो तो खाना बनाना पड़ता है। स्त्री पंचम गुणस्थान में आत्मध्यानी, ज्ञानी स्त्री हो पंचम गुणस्थान में, उसे भोजन करना पड़े, जल गरम करना पड़े तो उसमें जीव कि हिंसा होती है, कोई त्रस भी मरते हैं। (लेकिन) संकल्प से मारते नहीं।

मुमुक्षु :- उसे जलाये नहीं। छांटकर निकाल दे। लकड़ी हो उस पर रख दे। समझे न ?

क्या कहते हैं ? चिमनी गरम करके उस पर नहीं डालते ? चिमनी होती है न चिमनी ? सीसे की गरम-गरम चीमनी होती है ना ? कितने तो ऐसे होते हैं कि, खटमल हो उस पर गरम-गरम फिराये तो मर जो। प्राण जाये तो भी श्रावक करते ही नहीं। त्रसजीव को ऐसा नहीं करे। समझ में आया ? श्रावक है, करुणावंत है, उसमें दया है। ऐसे त्रस की हिंसा तो करते नहीं। जूँ होती है न ? जूँ। जूँ को क्या कहते हैं ? जूँ कहते हैं न ? जूँ निकालकर ऐसा करते हैं।

मुमुक्षु :- विरोधिनी है।

उत्तर :- वह विरोधिनी नहीं। ठीक कहते हैं। विरोधिनी नहीं है, वह तो बेचारी साधारण प्राणी है। कुछ औरतें जूँ निकालती हैं, काम करती जाये। जैन में भी होते हैं, देखे हैं। नामधारी जैन। नामधारी जैन, भाव जैन क्या ? समझ में आया ? हमारे यहाँ महाजन लोग हैं, एक बाई कहने लगी, उस जूँ को मारने का त्याग मुझसे नहीं हो सकता। जूँ निकले तो तुरंत मार डालती हूँ। (नहीं) मारे तो कहाँ जाये ? (छोड़ दे तो) और किसी को काटे। आहा..हा... ! श्रावक को ऐसी हिंसा का भाव होता ही नहीं। बिलकुल नहीं होता। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का भाव है। मैं सिद्ध समान (हूँ), सब सिद्ध समान आत्मा हैं। सब आत्मा ज्ञानमय भगवान है। समझ में आया ? सब जीव भगवान परमात्मस्वरूप हैं, पर्याय में भूल है तो मिथ्यात्व आदि है, तो भटकते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... ! समताभाव सब जीव है। कोई विरोधी दुश्मन है नहीं। समकृति किसी को दुश्मन मानते नहीं। कोई लड़ाई करने को आवे तो मारने का भाव आता है, परन्तु हमारा दुश्मन है -ऐसा नहीं मानते। आहा..हा... ! समझ में आया ?

व्रतधारी श्रावक 'आरम्भी, उद्योगिनी तथा विरोधिनी हिंसा का त्याग नहीं होता।' संकल्प हिंसा का त्यागी हो सकता है। 'दूसरे के प्राणों को घातक, कठोर तथा निंदनीय वचन न बोलना (तथा दूसरों से न बुलवाना, न अनुमोदना सो सत्य-अणुव्रत है)।' देखो ! श्रावकपना अर्थात्... ओ..हो..हो.. ! जहाँ एकावतारी एकभवतारी सर्वार्थसिद्धि देव, एकभवतारी, एकभवतारी है न ? एक भव करके मुक्ति में जायेंगे। उससे भी ये (श्रावक) गुण में बढ़ गया। पंचम गुणस्थान (है)। गुण में बढ़ गया। बाहर से मात्र व्रत लिये ऐसा नहीं। अन्तर शांति और सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित कहा न ? 'सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ चारित

लीजै' आत्मा का अनुभव हुआ है, आनन्दकन्द शुद्ध निर्विकल्प, निर्विकल्प आनन्द का अनुभव हुआ है, निर्विकल्प आत्मा की अन्तर सम्यक् दृष्टि हुई है, बाद में स्वरूप की स्थिरता में ऐसे पाँच अणुव्रत का भाव होता है। आहा..हा...! ऐसी बात है, भाई ! समझ में आया ? वह एक श्लोक हुआ। दूसरा श्लोक।

अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणुव्रत तथा दिग्व्रत का लक्षण

जल-मृत्तिका विन और नाहिं कछु गहै अदत्ता;
निज वनिता विन सकल नारिसों रहै विरत्ता।
अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै;
दश दिश गमन प्रमाण ठान, तसु सीम न नाखै॥११॥

अन्वयार्थ :- (जल-मृत्तिका विन) पानी और मिट्टी के अतिरिक्त (और कछु) अन्य कोई वस्तु (अदत्ता) बिना दिये (नाहिं) नहीं (ग्रहे) लेना (उसे अचौर्याणुव्रत कहते हैं) (निज) अपनी (वनिता विन) स्त्री के अतिरिक्त (सकल नारि सौं) अन्य सर्व स्त्रियों से (विरत्ता) विरक्त (रहे) रहना (वह ब्रह्मचर्याणुव्रत है) (अपनी) अपनी (शक्ति विचार) शक्ति का विचार करके (परिग्रह) परिग्रह (थोरो) मर्यादित (राखै) रखना (सो परिग्रहपरिमाणु व्रत है)। (दस दिश) दस दिशाओं में (गमन) जाने-आने की (प्रमाण) मर्यादा (ठान) रखकर (तसु) उस (सीम) सीमा का (न नाखै) उल्लंघन न करना (सो दिग्व्रत है)।

भावार्थ :- जन समुदाय के लिये जहाँ रोक न हो तथा किसी विशेष व्यक्ति का स्वामित्व न हो - ऐसी पानी तथा मिट्टी जैसी वस्तु के अतिरिक्त परायी वस्तु (जिस पर अपना स्वामित्व न हो) उसके स्वामी के दिये बिना न लेना (तथा उठाकर दूसरे को न देना) उसे अचौर्याणुव्रत कहते हैं। अपनी विवाहित स्त्री के सिवा अन्य सर्व स्त्रियों से विरक्त रहना सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है। (पुरुष को चाहिए कि अन्य स्त्रियों को माता, बहिन और पुत्री समान

माने, तथा स्त्री को चाहिए कि अपनी स्वामी के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को पिता, भाई तथा पुत्र समान समझे)।

अपनी शक्ति और योग्यता का ध्यान रखकर जीवनपर्यंत के लिये धन-धान्यादि बाह्य-परिग्रह का परिमाण (मर्यादा) बांधकर उससे अधिक की इच्छा न करे उसे *परिग्रहपरिमाणानुव्रत कहते हैं। दसों दिशाओं में जाने-आने की मर्यादा निश्चित करके जीवनपर्यंत उसका उल्लंघन न करना सो दिग्व्रत है। दिशाओं की मर्यादा निश्चित की जाती है, इसलिए उसे दिग्व्रत कहा जाता है।

दूसरे में 'अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणानुव्रत तथा दिग्व्रत का लक्षण।' चार की (व्याख्या कहेंगे)। दो की पहले आ गई, इसमें चार की (व्याख्या कहेंगे)।

जल-मृतिका विन और नाहिं कछु गहै अदत्ता;

निज वनिता विन सकल नारिसों रहै विरत्ता।

अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै;

दश दिश गमन प्रमाण ठान, तसु सीम न नाखै॥११॥

'छहढाला' में थोड़े में बहुत भर दिया है। गागर में सागर भर दिया है। दर्शन का

* टिप्पणी :- (१) अहिंसाणुव्रत का धारण करनेवाला जीव 'यह जीव घात करने योग्य है, मैं इसे मारूँ' इस प्रकार संकल्प सहित किसी त्रस जीवकी संकल्पी हिंसा नहीं करता; किन्तु इस व्रत का धारी आरम्भी, उद्योगिनी तथा विरोधीनी हिंसा का त्यागी नहीं होता।

(२) प्रमाद और कषाय में युक्त होनेसे जहाँ प्राणघात किया जाता है वही हिंसा का दोष लगता है; जहाँ वैसा कारण नहीं है वहाँ प्राणघात होने पर भी हिंसाका दोष नहीं लगता। जिसप्रकार-प्रमादरहित मुनि गमन करते हैं; वैद्य डोक्टर करुणाबुद्धिपूर्वक रोगी का उपचार करते हैं; वहाँ सामनेवाले का प्राणघात होने पर भी हिंसा का दोष नहीं है।

(३) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक पहले दो कषायों का अभाव हुआ हो उस जीव को सच्चे अणुव्रत होते हैं। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसके व्रत को सर्वज्ञदेवने बालव्रत (अज्ञान) कहा है।

अधिकार भी इतना, सम्यग्ज्ञान का इतना, चारित्र का (भी इतना) । सब थोड़ें सारा सार भर दिया है, परन्तु लोग विचार नहीं करते, तोते की भाँति रट लेते हैं, परन्तु उसका भाव क्या है – (वह विचारते नहीं) इसीलिये तो उन्होंने ने कहा कि, ‘लाख बात की बात’ शुभाशुभ विकल्प से, राग से भिन्न आत्मा है ऐसा दृष्टि, अनुभव पहले करो। उसके बिना सम्यग्दर्शन, ज्ञान होता नहीं और सम्यग्दर्शन, ज्ञान बिना तेरा श्रावकपना, मुनिपना कुछ होता ही नहीं, बिना एक के सब शून्य हैं। शून्य है, एक बिना शून्य है।

पहले आत्मा का सम्यग्दर्शन ऐसा दृढ़ प्रकट करो – मैं शुद्ध आनन्दकन्द ही हूँ। पुण्य-पाप का राग होता है, वह मेरी चीज़ नहीं, वह तो आस्रवतत्त्व है। शरीर, वाणी, मन जड़ की क्रिया का कर्ता मैं नहीं। क्योंकि जड़ पदार्थ की पर्याय, द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जड़ है। प्रत्येक परमाणु अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से हैं। द्रव्य त्रिकाली शक्ति का पिण्ड, गुण शक्ति और पर्याय चलती है, वह उसकी है, मेरी नहीं। वह मेरे से होती नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक, जहाँ श्रावक के अणुव्रत है, वहाँ, तो अलौकिक शांति है। पंचम गुणस्थान नरक में तो होता नहीं। देव में होता नहीं, एक पशु में होता है, पंचम गुणस्थान पशु में... समझ में आया ? तिर्यच में पंचम गुणस्थान होता है, उसको छट्टा नहीं होता। मनुष्य में चौथा होता है, पाँचवा होता है और छट्टा भी होता है। तीन की भूमिका अनुभवसहित होती है। समझ में आया ?

‘(जल-मृत्तिका बिन) पानी और मिट्टी के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु बिना दिये नहीं लेना...’ अचौर्यव्रत। समझे न ? नीचे टिप्पणी है न ? थोड़ी टिप्पणी (है)। ‘प्रमाद और कषाय में युक्त होने से जहाँ प्राणघात किया जाता है वहीं हिंसा का दोष लगता है;’ ‘प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा’ ऐसा ‘तत्त्वार्थ सूत्र’ (अधिकार-७, सूत्र-१३) में हैं न ? भगवान ‘उमास्वामी’ ‘तत्त्वार्थसूत्र’ में ‘मोक्षशास्त्र’ में फरमाते हैं कि, ‘प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा’ प्रमत्तयोग से हिंसा का भाव हो, उसका नाम हिंसा कहते हैं। ‘प्रमाद और कषाय में युक्त होने से जहाँ प्राणघात किया जाता है, वहीं हिंसा का दोष लगता है; जहाँ वैसा कारण नहीं है वहाँ प्राणघात होने पर भी हिंसा का दोष नहीं लगता।’ मारने का प्रमाद नहीं, कषाय नहीं (है)। मर गया। मुनि का दृष्टान्त देते हैं, देखो !

‘जिसप्रकार-प्रमाद रहित मुनि गमन करते हैं...’ मुनि हैं न ? प्रमादरहित गमन करते हैं। आत्मा का ध्यान, ज्ञान, आनन्द, शांति है। प्रमाद न आ जाये ऐसे चलते हैं। (फिर भी) कोई जीव आ गया तो उसका पाप उनको नहीं लगता। भाव नहीं है, त्रस आ गया। कोई उड़ता प्राणी आ गया, मर जाये। (लेकिन) भाव नहीं है, प्रमादभाव नहीं हैतो वह त्रस मरे तो उसका पाप नहीं है। ‘वैद्य डॉक्टर करुणाबुद्धिपूर्वक रोगों का उपचार करते हैं; वहाँ सामनेवाले का प्राणघात होने पर भी हिंसा का दोष नहीं है।’ मारने का भाव है नहीं। करुणाबुद्धि (है)। उसे हिंसा का पाप नहीं लगता।

‘(३) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक...’ नीचे है टिप्पणी में ? निश्चयसम्यग्दर्शन, हाँ ! चौथे गुणस्थान में निश्चयसम्यग्दर्शन होता है। कोई कहे कि, व्यवहार सम्यग्दर्शन चौथे, पाँचवे, छठे है, ऐसा नहीं। वह तो राग है। व्यवहार तो पराश्रित है, निश्चय स्वआश्रित है। समझ में आया ? निश्चयसम्यग्दर्शन, अपना शुद्ध भगवान आत्मा के आश्रय से अन्तर अनुभव में प्रतीत होना, उसका नाम सच्चा-निश्चयसम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से होता है। समझ में आया ? और देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा वह श्रद्धा, का विकल्प है, वह व्यवहार समकित है। वह व्यवहार समकित है। व्यवहार समकित कोई समकित है नहीं, परन्तु निश्चयसम्यग्दर्शन हुआ, अपने शुद्ध स्वरूप की अनुभव प्रतीति (हुई) तो साथ में नौ तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, सच्चे अरिहंत परमेश्वर, गुरु निर्ग्रन्थ चारित्रवंत, समझ में आया ? परम दिगम्बर संत महा आत्मध्यानी, ज्ञानी और भगवान सर्वज्ञ ने कहे हुए अनेकान्तमय शास्त्र। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव ने कहे हुए अनेकांतमय शास्त्र। इन तीनों की श्रद्धा शुभराग है। उसको व्यवहार समकित कहने में आता है। वर्तमान में बहुत गड़बड़ चलती है। चौथे, पाँचवें गुणस्थान में व्यवहार समकित होता है। आठवें से निश्चय समकित होता है, ऐसा (है) नहीं। निश्चय समकित चौथे से ही होता है। स्वआश्रय (से) होता है।

मुमुक्षु :- ... निर्मल पर्याय...

उत्तर :- सम्यग्दर्शन तो श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय है। व्यवहार समकित तो शुभराग है, परआश्रित विकल्प उठता है। समझ में आया ? वर्तमान में बहुत गड़बड़ है। देव-गुरु-शास्त्र

की श्रद्धा करो। नौ तत्त्व की भेद श्रद्धा करो-ऐसा नहीं।

मुमुक्षु :- परद्रव्य तै भिन्न आप (निज) में रुचि...

उत्तर :- परद्रव्य से भिन्न। भिन्न है। ऐसी रुचि, परद्रव्य से भिन्न, परद्रव्य से भिन्न अपने स्वरूप की रुचि। है न वह ? कौन-सा श्लोक है ? पत्रा ५६। 'परद्रव्यनतै भिन्न आपमें रुचि, समकित भला है;' देखो ! 'आपरूपको जानपनों सो सम्यग्यान कला है।' आपना ज्ञान। शास्त्र ज्ञान तो पर-ज्ञान है। देखो ! भाषा कितनी ली है ! उन्होंने ने पहले से लिया है। समझ में आया ? यहाँ (टेप) में सब आ गया है, सब व्याख्यान हो गया है, उत्तर आ गया है। चौथी ढाल चलती है न ? सब चल गया।

'परद्रव्यनतै भिन्न...' परद्रव्य की क्या श्रद्धा ? उसकी ... क्या है ? देव-शास्त्र-गुरु परद्रव्य है। शरीर परद्रव्य है, कर्म परद्रव्य है, उससे भिन्न (है)। वास्तव में पुण्य-पाप का भाव भी उससे पर है। उससे भिन्न अपना सम्यक् भला है। वह स्वरुचि निश्चय समकित है; और 'आपरूपको जानपनों,...' देखो ! भाषा देखो ! 'छहढाला' (है)। 'आपरूपको... आपरूप' शुद्ध ज्ञानानन्द आपरूप है। उसका ज्ञान। शास्त्रज्ञान तो व्यवहार ज्ञान हुआ। होता है, विकल्प होता है। वह निश्चय नहीं, निश्चय तो अपने स्वरूप का ज्ञान, वह ज्ञान है। है न भैया उसमें ? भैया ! देखो ! तीसरा शब्द क्या है ? 'आपरूपमें लीन रहे थिर, सम्यगचारित सोई;' अणुव्रतादि विकल्प तो व्यवहार है। 'आपरूपमें लीन रहे थिर, सम्यगचारित सोई;' भगवान आत्मा... !

मुमुक्षु :- अन्तर्मुहूर्त लीन रहे तो केवलज्ञान हो जाए।

उत्तर :- वह बाद में। अन्दर स्थिरता होती है न ? स्वरूप में स्थिरता होती है, उसका नाम चारित्र है, ऐसा कहते हैं। चारित्र कोई बाहर की चीज़ नहीं है। पंच महाव्रतादि परिणाम तो व्यवहारचारित्र है। स्वरूप में स्थिर होना, ठरना, छठे गुणस्थान में तीन कषाय रहित स्थिर हो, उसका नाम चारित्र है। आहा..हा... ! बहुत गडबड हो गई, इतनी गड़बड़ हो गई। बहार में वह सब सच्चा हो गया। निश्चय बिना का व्यवहार मात्र हो गया।

'अब व्यवहारमोक्षमार्ग सुनिये, हेतु नियतको होई।' निश्चय में ऐसा एक व्यवहार

निमित्त है। निमित्त (है)। व्यवहार समकित, व्यवहार ज्ञान, व्यवहारचारित्र निमित्त है, हेतु है न ? हेतु अर्थात् निमित्त। समझ में आया ?

११० पन्ने पर तीसरी टिप्पणी चलती है। 'पहले दो कषायों का अभाव हुआ हो, उस जीव को सच्चे अणुव्रत होते हैं। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो, उसके व्रत को सर्वज्ञदेव ने बालव्रत (अज्ञानव्रत) कहा है।' आत्मा का परद्रव्य से भिन्न स्वरूप का भान नहीं और स्वरूप की प्रतीति-अंतर निर्विकल्प श्रद्धा नहीं (है) तो इनके बिना व्रतादि धारण करे (वह) अज्ञानव्रत हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? मास-मास खमण के उपवास करे। बालतप है। सर्वज्ञ ने 'समयसार' में कहा है, '...' सर्वज्ञ उसे बालतप कहते हैं।

आत्मा अपना निज स्वरूप बिलकुल शुद्ध आनन्द (है), ऐसी अंतर्मुख दृष्टि का अनुभव हुए बिना, उसका ज्ञान हुए बिना रमना किसमें ? अन्दर में रमना वह चारित्र है। परन्तु स्वरूप की दृष्टि और ज्ञान तो हुआ नहीं, ठरना किसमें ? चारित्र का अर्थ रमना, लीन होना, चरना। चारित्र अर्थात् चरना, अन्दर में रमना। तो दर्शन-ज्ञान नहीं है तो रमना कहाँ से आया ? समझ में आया ? जगत को बहुत कठिन लगता है। (फिर कहते हैं), एकान्त... एकान्त... (है)। अरे.. भगवान ! सुन तो सही।

कहते हैं कि, 'निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसके व्रत को सर्वज्ञदेव ने बालव्रत (अज्ञानव्रत) कहा है।' अब उसका अर्थ, ग्यारहवीं गाथा का (अर्थ)। श्रावक पंचम गुणस्थानवाला... ११० पन्ने पर। 'पानी और मिट्टी के अतिरिक्त...' पंचम गुणस्थानवाला श्रावक पानी और मिट्टी के अलावा 'अन्य कोई वस्तु बिना दिये नहीं लेना...' पानी तो नदी में चले ऐसा पानी, मिट्टी। वह अचौर्य अणुव्रत है। श्रावक का पंचम गुणस्थान का तीसरा अणुव्रत है।

'अपनी (वनिता बिन)...' देखो ! अपनी 'स्त्री के अतिरिक्त अन्य सर्व स्त्रियों से विरक्त रहना...' यहाँ तो पंचम गुणस्थानवाले को परस्त्री नहीं होती, ऐसा कहते हैं। नहीं होती है। पाप मानते हैं। स्वस्त्री के विषय में भी मानते हैं पाप, परन्तु छोड़ नहीं सकते। समझ में आया ? आ..हा... ! पाप तो पाप ही है न ! जितना स्थावर हिंसा का भाव, स्त्री के विषय का भाव... भाव भी है तो पाप। परन्तु उस पाप का त्याग पंचम गुणस्थान में हो नहीं सकता।

श्रावक है न ! उस पाप का त्याग, मुनि आत्मा के ध्यान में विशेष स्थिरता बढ जाये, उनको स्वस्त्री का त्याग हो जाता है। समझ में आया ?

‘अन्य सर्व स्त्रियों से विरक्त रहना...’ सर्व स्त्री। पशु की स्त्री हो, देवांगना हो कि दूसरी मनुष्यणी हो। पंचम गुणस्थान में देवांगना आकर यदि लालच करे (तो भी नहीं डिगता।) आत्मा की शांति प्रकट हुई है, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया है। पंचम गुणस्थान में चौथे गुणस्थान से (अधिक) आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया है। पंचम गुणस्थान में अतीन्द्रिय आनन्द का तो बहुत स्वाद है। ... स्व-स्त्री का राग आता है, उसे हम नहीं छोड सकते। दूसरे की मा-बहन, बेटी (देखते हैं)।

मुमुक्षु:- ...

उत्तर :- वह कुछ नहीं, वह अलग व्यवहार है, उसका व्यवहार अलग है। समझमें आता है ? यहाँ तो मनुष्य के व्यवहार की बात चल रही है।

‘अन्य सर्व स्त्रियों से विरक्त रहना (वह ब्रह्मचर्याणुव्रत है)।’ अब परिग्रह का त्याग। पाँचवे गुणस्थान में आत्मज्ञानी को स्वरूप में स्थिर होने की स्थिति में ऐसा शुभभाव होता है। ‘अपनी शक्ति का विचार कर...’ देखो ! शक्ति विचार, हाँ ! अपनी शक्ति का विचार करके परिग्रह का माप करे। आता है न ? भाई ! तीर्थकरगोत्र में... शक्ति तप त्याग। सोलह बोल आते हैं न ? तीर्थकरगोत्र का नहीं (आता) ? क्या कहते हैं ? षोडशकारणभावना। षोडशकारणभावना में शक्ति तप त्याग। अपनी शक्ति विचारे कि, हमारी इतनी शक्ति है, विशेष नहीं। एकदम सब ले ले, हठ ले ले ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु:- परंपरा ले।

उत्तर :- परंपरा ले क्या करे ? (ऐसा कहे हैं) व्रत की हवा चली है, व्रत की बाढ चली है। ऐसे व्रत ले लेते हैं ?

मुमुक्षु:- ऐसे व्रत ले तो आकुलता हो जाय।

उत्तर :- तो आकुलता हो जाये। ऐसी बात है, ऐसी बात है। अपनी शक्ति विचारे कि,

मुझे तो त्याग करना है (लेकिन) इतना परिग्रह छोड़ सकता हूँ, विशेष नहीं छोड़ सकता। दुनिया एकदम छोड़ दे और कर दे और स्वयं हठ में जुड़ जाये, ऐसा नहीं। अपनी शक्ति की मर्यादा देखे, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव कितना है, मेरा सामर्थ्य कितना है, मैं समता कितनी रख सकता हूँ, उतना त्याग हो तो भी मुझे आकुलता न हो, (उसके अनुरूप) परिग्रह का परिणाम करे।

मुमुक्षु :- संभाल सकता है।

उत्तर :- कौन संभाल सकता है ? धूल।... वह तो सम्यग्दर्शन में मानते हैं कि, एक पाई भी मैं रख नहीं सकता, वह तो जड़ है। परपदार्थ की मैं रक्षा करता हूँ या व्याज उत्पन्न करके व्यवस्था कर सकता हूँ वह बात तो मानते ही नहीं। वह तो मिथ्यादृष्टि माने कि, जड़ की अवस्था मैं कर सकता हूँ। वह तो है ही नहीं। परन्तु पर के त्याग में मेरा राग (घटा) इतना त्याग करता हूँ कि, मेरी मर्यादा में इतना परिमाण कर सकता हूँ, विशेष नहीं। इतना चारित्र में राग का अभाव करते हैं। पर के एक रजकण की क्रिया भी कर सकता हूँ, ऐसा माने तो परद्रव्य की क्रिया करनेवाला कर्ता मिथ्यादृष्ट हुआ। समझ में आया ?

जैसे ईश्वर कर्ता परद्रव्य का, जगत का कर्ता है, ऐसा कहते हैं, वैसे यह जैन नाम धारण करके जड़ की पर्याय (मैं करता हूँ ऐसा मानता है)। परमाणु स्वतंत्र पदार्थ है। एक-एक परमाणुमें अनन्त गुण है। अनन्त गुण की एक समय में अनन्ती पर्याय होती है। अनन्ती पर्याय उसके परमाणु का कार्य है। वह कार्य क्या आत्मा कर सके ? समझ में आया ? सम्यग्दर्शन हुआ तब से उसे भान हुआ है। नहीं, जगत के सब पदार्थ अपनी पर्याय प्रवाह से चलते हैं, मैं उसका कर्ता-हर्ता नहीं। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ... माप करते है।

उत्तर :- नहीं, नहीं। पहले से ही व्रत लेते समय माप करते हैं कि, मैं इतना त्याग कर सकता हूँ। मुझे पाँच हजार या दस हजार हो, इतनी मेरी ममता छूटती नहीं। इतना परिमाण करे। एकदम छोड़कर कुछ नहीं रखे और फिर आकुलता उत्पन्न हो, ऐसा नहीं करते। सम्यग्दर्शि विवेकी है। सम्यग्दर्शन हुआ है, आत्मा का भान (हुआ है), विवेक से काम लेता

है। हठ से काम नहीं लेता। अज्ञानी तो हठ से एकदम (कहता है), छोड़ दो..! क्या छोड़े ? वस्तु कि स्थिति के भान बिना क्या छोड़े ? आग्रह हुआ है, आग्रह में छोड़ दिया। मैंने ऐसा छोड़ दिया। समझ में आया ?

‘मर्यादित रखना परिग्रहपरिमाणुव्रत है। दस दिशाओं में जाने-आने की मर्यादा रखकर...’ दस दिशा में मर्यादा करे। आजीवन। इसमें आजीवन की है। ... रोज की आती है। इतनी ममता काम करे। मुझे इतने से बाहर नहीं जाना। पांचसो योजन, हजार योजन... सारी जिंदगी, हाँ ! ‘आने-जाने की मर्यादा रखकर उस सीमा का उल्लंघन न करना।’ जो मर्यादा बांधी है, उसकी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना। इतनी हद में उसे रहना, ऐसा विकल्प (आता है), उसको छूटा देशव्रत कहते हैं। देखो ! भावार्थ है।

भावार्थ :- ‘जन समुदाय के लिये जहाँ रोक न हो तथा किसी विशेष व्यक्ति का स्वामित्व न हो - ऐसी पानी तथा मिट्टी जैसी वस्तु के अतिरिक्त परायी वस्तु (जिस पर अपना स्वामित्व न हो) उसके स्वामी के दिये बिना न लेना...’ स्वामी की आज्ञा बिना न ले। ‘(तथा उठाकर दूसरे को न देना)...’ हो किसी की चीज़ और उठाकर किसीको नहीं देता। ‘उसे अचौर्याणुव्रत कहते हैं। अपनी विवाहित स्त्री के सिवा अन्य सर्व स्त्रियों से विरक्त रहना, सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है। (पुरुष को चाहिए कि अन्य स्त्रियों को माता, बहिन और पुत्री समान माने, तथा स्त्री को चाहिए कि अपने स्वामी के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को पिता, भाई तथा पुत्र समान समझे।’ पंचम गुणस्थान... ओ..हो..हो... !

‘सीताजी’ कहते हैं कि, मेरे स्वप्न में ‘राम’ के अलावा दूसरा कोई आया हो (तो) अग्नि जला दो। ‘रामचंद्रजी’ कहते हैं, गिरना पड़ेगा। अग्नि जलती है। अरे..! अग्नि ‘राम’ के अलावा मेरे संकल्प में, विकल्प में कोई दूसरा पति आया हो तो जला देना। ध्यान रखना, यदि दूसरा पति नहीं आया और जला दिया तो धर्म की इज्जत जायेगी। हमारे हृदय में ‘राम’ के अलावा दूसरा (कोई) है नहीं। पुण्य था, अनुकूल पुण्य था तो हो गया। (पुण्य न हो तो) जल भी जाये। समझ में आया ? ऐसा ब्रह्मचर्याणुव्रत में स्त्री भी अपने में दृढ़ है। पुरुष भी अपने ब्रह्मचर्यव्रत में (दृढ़ है)।

‘सुदर्शन’ शेट नहीं आते हैं ? ‘सुदर्शन’ शेट। रानी बुलाती है। (कहेत हैं), माता ! मैं पुरुष नहीं। आहा..हा... ! मैं आत्मा हूँ, मैं श्रावक हूँ। मेरे दूसरी स्त्री न हो, प्राण जाय (तो भी) न हो। आहा.. ! समझ में आया ? ऐसा अन्तर दृष्टि का अनुभव, सम्यग्दर्शन है, इसके अलावा दूसरे कषाय का अभाव (है)। परस्त्री का त्याग, त्याग (है)। सपने में भी हमें परस्त्री न हो। सपने में न हो। समझ में आया ? सज्जन किसको कहे ? आहा..हा... ! आहा..हा... !

‘अपनी शक्ति और योग्यता का ध्यान रखकर जीवनपर्यंत के लिये धन-धान्यादि बाह्य-परिग्रह का परिमाण (मर्यादा) बांधकर उससे अदिक की इच्छा न करे उसे परिग्रहपरिमाणाणुव्रत कहते हैं।’ उसका नीचे स्पष्टीकरण दिया है। ‘निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक प्रथम दो कषायों का अभाव हुआ हो उस जीव को सच्चे अणुव्रत होते हैं। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो उसके...’ नहीं होते हैं। यह बात पहले आ गई है। ‘दसों दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा निश्चित करके जीवनपर्यंत...’ आजीवन ‘उसका उल्लंघन न करना, सो दिग्व्रत है। दिशाओं की मर्यादा निश्चित की जाती है, इसलिये उसे दिग्व्रत कहा जाता है।’ दिग-दिशा, मर्यादा करे। उसका नाम छठ्ठा व्रत कहते हैं। दूसरा देशावगाशिक व्रत आयेगा।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



जिसे आत्माकी सच्ची रुचि जगे उसे चौबीसों घंटे उसीका चिन्तन-घोलन और खटक रहा करती है, नींदमें भी उसी-उसीका रटन चला करता है। अरे ! नरकमें गिरे हुए नारकी भीषण वेदनामे हों, और यदि पूर्वमें सत् सुना हो तो उसका स्मरण कर एकदम अन्तरमें उतर जाते हैं, उन्हें प्रतिकूलता छूती ही नहीं न। और स्वर्गकी अनुकूलतामें हो तो भी अनुकूलताका लक्ष्य छोड़कर अन्तरमें उतर जाते हैं। यहाँ तनिक प्रतिकूलता हो तो अरे ! मेरे ऐसा है और वैसा है, ऐसा कर-करके अनन्त काल गँवाया है। अब तो इनका लक्ष्य छोड़कर अन्तरमें उतर जा न। भाई !! इसके बिना सुखका अन्य कोई मार्ग नहीं।

(परमागमसार-३९४)

वीर संवत २४९२, फागुन शुक्ल ६, शनिवार
दि.२६-२-१९६६, गाथा-११ से १४, प्रवचन नं.-३७

यह 'छहढाला', इसकी चौथी ढाल चलती है। ११ वाँ श्लोक पूर्वार्ध है। यह क्या अधिकार चलता है ? व्रत का... व्रत का। जो श्रावक के बारह व्रत हैं न ? उनका। पहले कह गये (हैं)। सम्यग्ज्ञानी होकर फिर सम्यक्चारित्र दृढ़पने ग्रहण करना। पहले तो शुद्धस्वरूप पूर्ण अखण्ड अभेद है, उसको रुचि और सन्मुख की दृष्टि हुए बिना जो मिथ्यात्व है - एक राग के अंश के कण का भी जो आदर करता है, वह अनन्त शुद्धस्वभाव का अनादर करता है। ऐसे मिथ्यात्वभाव में अनन्त नरक और निगोद भव की शक्ति पड़ी है। पहले उस भव की शक्ति का नाश करता है। समझ में आया ? इसलिए कहा न ? प्रथम ज्ञान होकर, आया था न क्या (था) ?

'सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ चारित लीजै;...' है न ? भाई ! उसका अर्थ क्या ? कि एक समय में आत्मा... विकार, राग, भ्रम आदि एक क्षण का है, परन्तु उस भ्रमणा का अर्थ परम शुद्ध चैतन्य अनन्त गुण समाज स्वरूप वीतराग पिण्ड आत्मा की रुचि न करके राग की रुचि (करना), यही मिथ्यात्व है। समझ में नहीं आता ? ऐ..ई.. ! भाई !

यहाँ तो व्रत कब होते हैं ? कि ऐसी भूमिका जिसकी अन्तर शुद्ध अनन्त ज्ञान आदि स्वभाव, एक समय का जो विकार, उससे रहित (है), उसकी दृष्टि रुचि होने पर, उसका ज्ञान होने के पश्चात् स्वरूप में स्थिरता के अंश प्रकटे, उसे ऐसे बारह व्रत के विकल्प होते हैं; नहीं तो शुद्धस्वरूप पूर्ण है, उसकी जहाँ रुचि और आदर अन्तर में नहीं और एक मन्द का राग कण है, उसका भी जहाँ आदर है तो उसका अर्थ स्वभाव अनन्त गुण का अनादर अर्थात् मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व का पाप, उसका अनर्थपना जब तक भासित न हो और सम्यक् का अर्थपना प्रयोजनभूत मोक्ष, सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा का मोक्ष स्वभाव, जिसने अन्तर में प्रतीत किया,

उसकी महिमा न भासे, तब तक उसे यह व्रत आदि के विकल्प सच्चे नहीं होते। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह वस्तु का स्वरूप है। इस प्रकार दृष्टि हुई हो, तब अन्तर में स्थिरता का अंश बढ़ा हो, तब उसे ऐसे विकल्प होते हैं, उन्हें व्यवहार, व्रत और पुण्यबन्ध का कारण कहा जाता है। कहो, इसमें समझ में आया ? यह दृढ़ चरित्र, स्वरूप में स्थिरता का अंश हो तब उसे ऐसे व्रत के विकल्प आते हैं, वह ले - ऐसा कहा जाता है। कहो ! इसलिए कहा न पहले ? वस्तु जो है अनन्त चैतन्य गुणधाम, उसका बहुमान होकर जहाँ अन्तर रुचि और दृष्टि नहीं हुई, (वह) तो राग और निमित्त के प्रेम में रुचि में पड़ा है, वह तो मिथ्यात्व है। सत्य वस्तु का अनादर है और असत्य का आदर है, उसका नाम मिथ्यात्व (है)।

बात यह है कि इस मिथ्यात्व का अनर्थपना और सम्यग्दर्शन का प्रयोजन और अर्थपना, उसकी महिमा जब तक न आवे, तब तक वस्तु की दृष्टि नहीं होती। राग की मन्दता, यह तो एक व्यवहार परिमित दोष है; चरित्रदोष है, वह परिमित, परिमित मर्यादित, हदवाला दोष है; वह बेहद दोष मिटने के बाद (मिटता है)। बेहद दोष, अर्थात् मिथ्यात्व। बेहद स्वभाव अर्थात् आत्मा। क्या कहा ? बेहद दोष अर्थात् मिथ्यात्व, बेहद स्वभाव अर्थात् आत्मा। अनन्त, अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द की मूर्ति आत्मा, उसका पहलू छोड़कर पुण्य-पाप के राग के पक्ष की रुचि में खड़ा है, वह महा अनन्त मिथ्यात्व शक्ति में (खड़ा है)। अनन्त नरक और निगोद करने की मिथ्यात्व में शक्ति है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा ! उस बहिर्मुख की वृत्ति की रुचि छोड़कर, अन्तर्मुख स्वभाव शुद्ध शुद्ध पूर्ण बेहद अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि एक-एक गुण बेहद है। ऐसा पूरा तत्त्व बेहद स्वरूपी प्रभु मुक्तस्वरूप, वीतरागस्वरूप है, उसकी अन्तर में रुचि होने पर बेहद मिथ्यात्व का, पाप का नाश और बेहद मुक्ति के उपाय की कणिका जागृत हुई, आहा.. ! क्या हो ? यह तो रात्रि में वे कहते थे न ? व्यवहार का उपदेश जरूर पड़ेगा। यह सब विचारो... अरे.. ! यह क्या कहते हैं ? भाई !

मुमुक्षु :- व्यवहार का विकल्प...

उत्तर :- परन्तु विकल्प उठना उपदेश, वही व्यवहार है। यह निश्चय का उपदेश करना, वह भी विकल्प और व्यवहार है।

मुमुक्षु :- सुनना वह.. ?

उत्तर :- वह भी व्यवहार है। क्या व्यवहार नहीं क्या ? भाई ! यह व्रत कब हो - इतनी भूमिका के लिए यह पहले उपोद्घात होता है। समझ में आया ? आज तो अब गुजराती है न, आज कोई (हिन्दी) नहीं। अधिक स्पष्ट होता है, ऐसा भाई के कहे अनुसार।

यहाँ तो भगवान आत्मा एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में, भ्रम एक समय का, मिथ्यात्व एक समय का काल; उसमें भाव अनन्त अनन्त नरक औरनिगोद की शक्ति का तत्त्व मिथ्यात्व में है, क्यों ? कि जो वस्तु है, वह भव के भावरहित चीज़ है। वस्तु है, वह भव और भाव का भाव - मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि भव का भाव, उससे रहित वह चीज़ है। आहा..हा.. ! ऐसा वस्तु स्वभाव अन्तर में उसे प्रेम में रुचि में अन्तर में न आवे और राग का, मन्द कषाय का, मन्द भाव (का) भले कण हो, उसका आदर आवे तो उस मिथ्यात्व में अनन्त भव की शक्ति है, उसने उत्पन्न की है।

भगवान आत्मा एक-एक गुण की अचिन्त्यता और अपरिमितता और बेहद स्वभाव - ऐसे अनन्त गुण का एक स्वरूप भगवान आत्मा जो मुक्तस्वरूप, शुद्धस्वरूप, एकरूप, अभेदरूप, उसकी अन्तरदृष्टि होने पर अनन्त भव के भाव का नाश (होता है)। एक परिमित रागादि थोड़ा रहा, उसके एकाद दो भव हो - ऐसा परिमित दोष रहा। अपरिमित मिथ्यात्व का दोष, अपरिमित अनन्त आनन्द के स्वभाव के आदर में अपरिमित दोष का नाश हुआ। आहा.. ! यह तो रात्रि में जरा-सा आया था न कि व्यवहार का उपदेश उसे समझाओ। अरे.. ! भगवान ! भाई ! व्यवहार किसे कहना ? बापू ! आहा..हा... !

यह राग की मन्दता की क्रिया हो परन्तु उसके प्रेम में पड़ा है कि यह मैं ठीक करता हूँ, यह मेरे हित के मार्ग में हूँ, वहाँ हित का मार्ग जो भगवान आत्मा - ऐसा शुद्ध भगवान परमानन्द की मूर्ति, उसमें से हित का पन्थ निकलता है; राग में हित का पन्थ नहीं है।

आहा..हा... ! समझ में आया ? वह स्वभाव ही स्वयं बेहद है, अचिन्त्य है। भगवान आत्मा का एक-एक स्वभाव अपरिमित है। अपरिमित अर्थात् परिमित - हद नहीं, बेहद स्वभाव, एक-एक गुण का बेहद स्वभाव। ओ..हो.. ! ऐसा पूर्ण भगवान जिसे अनादर में वर्ते और अकेले राग के कण या निमित्त के आदर में पड़ा हो, वह पूरे भगवान को पहलू से खिसक गया है और विकार तथा संयोग के पहलू में खड़ा रहा है।

न्याय से देखोगे न ? बापू ! यह कहीं कोई समाज अभी अच्छा कहे - ऐसा नहीं, दुनिया अच्छा कहे कि आहा..हा... ! अद्भूत भाई इसका ! यह कोई वहाँ अभी डाले ऐसा नहीं और दुनिया निन्दा करे, प्रतिकूलता हो, वह कोई अन्दर नुकसान नहीं करती। आहा..हा... ! दुनिया माने, न माने उसके साथ स्वभाव और विभाव का सम्बन्ध नहीं है। दोनों के साथ कहा, हाँ ! समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि सम्यग्ज्ञानी होकर फिर दृढ़ चारित्र लीजे। सम्यग्ज्ञानी का अर्थ अपरिमित भगवान आत्मा जिसके प्रेम में पड़ा, जिसके प्रेम में रुचि में पड़ा, उसे इस राग के प्रेम की कट अवस्था हो गयी, उसके साथ कट्टी की। ऐसा जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अपरिमित अनन्त गुण का आदर करनेवाला और अपरिमित मोक्ष की पर्याय का कारण, उसे प्रकट करके... यह राग थोड़ा परिमित दोष शेष रहता है, उसमें यह स्थिरता का अंश इस और प्रकट करके और उसके ऐसे बारह व्रत के विकल्प, उसे शुभभाव उस भूमिका में ऐसे आते हैं, यह उसकी व्याख्या चलती है। कहो, समझ में आया इसमें ?

मुमुक्षु :- ... उपोद्घात ...

उत्तर :- उपोद्घात भाई ! व्रत का अर्थ कि जिसमें स्वरूप अपरिमित ज्ञानानन्द दृष्टि ज्ञान में जमाई है; भ्रम मिटाकर राग की एकता मिटी है; राग की एकता मिटकर जो राग रह गया है; अब आत्मा की ओर की स्थिरता के अंश को प्रकट करके, पंचम गुणस्थान... उस भूमिका में ऐसे बारह व्रत के शुभ विकल्पों की मर्यादा होती है, उसकी बात की जाती है। निश्चय दृष्टि और निश्चय अंश की स्थिरता (हुई है), उस भूमिका में ऐसे बारह व्रत के शुभराग का विकल्प है, उसे व्यवहारचारित्र कहा जाता है; परन्तु निश्चय अन्दर स्थिरता है, इस कारण उसे उपचार से

सम्यक्चारित्रपना कहने में आया है। आहा..हा... !

पूरी दुनिया विरोध करे, इस कारण विभाव उत्पन्न होता है – ऐसा नहीं है और सारी दुनिया हाँ, प्रशंसा करे तो इस स्वभाव को लाभ होता है – ऐसा नहीं है। कहो, ठीक है ? पूरी दुनिया प्रशंसा करे और विभाव की एकता का भाव जिसे पड़ा है, उसे जरा भी नहीं आत्मा का लाभ नहीं है। समझ में आया ? भाई ! क्या होगा इसमें ? आहा..हा... ! यह अणुव्रत (का वर्णन) चलता है। अणुव्रत किस भूमिका में होते हैं, कैसी भूमिका हुई हो, उसे ऐसे अणुव्रत होते हैं – उसका यह उपोद्घात चलता है। समझ में आया ? आहा..हा... ! यह परिमित दोष जो है, उसमें भी स्थिरता का अंश प्रकट करके ऐसे विकल्प होते हैं, वह भी अभी इतना दोष है, परन्तु तीव्रता का कषाय चड़ा है और स्थिरता किंचित् अंश आयी है, इस कारण ऐसे व्रत को व्यवहार से सम्यक्चारित्र कहा जाता है। ऐसा है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ... आदरने को करे न !

उत्तर :- कहा जाता है, आदरने को करे, पाले, व्यवहानय से सब कहा जाता है, परन्तु उसका परमार्थ क्या ? ऐसे विकल्पों की मर्यादा की हद, मर्यादित दोष, स्वरूप का भान होने के बाद अमर्यादित दोष तो रहा नहीं, अपरिमित दोष तो रहा नहीं; परिमित-मर्यादित दोष-राग रहा, उसका फल भी संसार का मर्यादितपना आना इतना बस ! अब उसमें भी जब स्वरूप तरफ की स्थिरता जहाँ अंश विशेष हुई तो उसे ऐसे मर्यादि दोष में भी मर्यादित राग की हद ऐसी हो जाती है। समझ में आया ? दुनिया मानों या न मानों, सत्य तो यह है। समझ में आया ? सत् को कहीं आँच है नहीं।

यहाँ ग्रन्थकार भी ऐसा कहते हैं – सम्यग्ज्ञानी होकर फिर सम्यक्चारित्र (होता है)। इसलिए पहला दोष महान मिथ्यात्व और अज्ञान है, उसे मिटा, फिर सम्यग्दर्शन हुआ, फिर यह... ऐसी बात करते हैं। तो यह पहला दोष जो महान है, वह मिटा नहीं, मिटाने की आवश्यकता मानी नहीं; मिटे कैसे- इसकी विधि ख्याल में नहीं और यह अणुव्रत और महाव्रत के परिणाम ले –इसका अर्थ क्या ? समझ में आया ? भाई ! आहा..हा... ! अरे.. ! अनन्त निगोद और नरक के भव के अभाव स्वभावस्वरूप भगवान आत्मा का जहाँ अन्तर में स्वसन्मुख

की रुचि की नहीं और जिसमें अनन्त नरक, निगोद के भव (करने की शक्ति है, उसका सेवन करता है)। अनन्तानुबन्धी अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व उसके साथ सम्बन्ध करनेवाली कषाय। अर्थात् स्वरूप का अनादर और पुण्य-पाप तथा संयोग का एकत्वबुद्धि से आदर, उसके पाप की हद क्या ? भाई ! उसमें अनन्त-अनन्त भव पड़े हैं, भाई ! वह मिथ्यात्व स्वयं ही अनन्त भवस्वरूप है, अनन्त भवरूप है। भगवान आत्मा अनन्त भव के अभावस्वरूप है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

यह तो रात्रि में जरा सुना था न ? भाई ! वह भी क्या करे, प्रभु ! यह क्या करता है ? अरे.. ! भाई ! ऐसा कि ये तो श्वेताम्बर में से आये हैं न, इसलिए यह इन्हें व्यवहार का पता नहीं होता। यह प्रभु ! व्यवहार क्या है, कैसे है, बापू ! उसके ज्ञान की कौन-सी बात विचक्षण अलग है। आहा... !

यहाँ तो ग्रन्थाकार कहते हैं कि सम्यग्ज्ञानी हो अर्थात् सम्यग्दृष्टि होकर, यह तो पहले हो गया है; फिर व्रत होते हैं, क्योंकि अभी स्वरूप में स्थिरता न जमे, तब तक उसे बारह व्रत का विकल्प नहीं होता और विशेष स्थिरता नहीं जमें, तब तक उसे पंच महाव्रत का विकल्प नहीं होता; इसलिए उसकी भूमिका में स्थिरता की शान्ति के लिये जहाँ बढ़ता है, उसे अंश में जहाँ बढ़ा, उसे बारह व्रत के, अणुव्रत के भाव होते हैं। विशेष स्थिर हुआ उसे मुनि के अट्टाईस मूलगुण का विकल्प होता है। यह उसका वर्णन-व्यवहार का जो स्वरूप है, है, ऐसा होता है, उसका वर्णन करते हैं। कहो ! यह दोष, इसलिए यह लाभ करे - ऐसा कहेंगे। सब व्रत शिक्षा देते हैं गुण को, गुण करते हैं गुण को, यह अपेक्षा है। यह ऐसी राग की मन्दता जहाँ है, वहाँ अन्दर लाभ की स्थिरता का अंश जगा है - ऐसा (कहना चाहते हैं)। नहीं तो व्रत को तो ऐसा कहेंगे, लो ! गुणव्रत और शिक्षाव्रत आते हैं न ? उनकी व्याख्या समझना चाहिए न बापू ! समझ में आया ?

यह ११ का पूर्वार्ध (हुआ)। यह पाँच अणुव्रतों की व्याख्या हो गयी। समझ में आया ? छट्टे दिशाव्रत की व्याख्या हो गयी। यह सातवें की चलती है, हाँ ! देशावगाशिक छठवें में आजीवन दिशाओं की मर्यादा करनी कि इतने से बाहर मुझे नहीं जाना। एक राग की मन्दता की

निमित्त की यह सब व्याख्या है। राग की उग्रता – बहु ऐसा जाऊँ... उस राग को मन्द करने का एक प्रकार है, परन्तु वह राग जिसमें नहीं है – ऐसे (स्वभाव) सन्मुख की दृष्टि बिना ऐसे राग की मन्दता के विकल्प व्यवहाररूप भी यथार्थ नहीं होते। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- सिर बाँधकर यह बात है।

उत्तर :- सिर बाँधकर बात है। आहा..हा... ! तब कोई कहे भी अकेला भले करे। किसने मना किया ? हो तो भले हो, परन्तु भाई ! वहाँ मिथ्यात्व के पाप के साथ जरा पुण्य बँधेगा। राग की मन्दता के मिथ्यात्वसहित के पाँच अणुव्रत, बारह व्रत हो परन्तु यह मिथ्यात्व का जो अनन्त पाप है, जिसकी शक्ति में अनन्त निगोद के भव करने की ताकत है; भाई ! उसमें राग की मन्दता उसे क्या करेगी ? एक-दो भव कोई स्वर्गादिक के मिलें – उससे क्या ? उससे क्या ? उसके बाद भी निगोद और नरक में, भाई ! उसकी पीड़ा की अपरिमितता... अरे.. ! जिसने भगवान को नहीं जाना और जिसने विकार-उसके विरोधी विकार का आदर किया, उसके फल में कदाचित् राग मन्द हो, स्वर्ग मिले परन्तु उसकी परम्परा से दूसरे, तीसरे भव में वह नरक और निगोद ही जाएगा। आहा..हा... ! और त्रस की स्थिति कितनी ? एक हजार, दो हजार सागर। त्रस में कितना रहे ? दो हजार सागरोपम। भाई ! इस दो हजार सागरोपम के त्रस के काल में त्रस और स्थावर के भव का भाव ऐसा मिथ्यात्व, उसका यदि अभाव उसमें नहीं करे तो त्रसकाल पूरा होकर निगोद में – एकेन्द्रिय में जाएगा।

यह मिथ्यात्व मिटाकर सिर आत्मामें से ऊँचा करना है, बाहर के साथ बात नहीं कि यह दुनिया ऐसा कहेगी और दुनिया वैसा कहेगी। ओ..हो... ! भारी व्रत पाले, महाव्रत लिये और अणुव्रत पाले। भाई ! बाहर के लोग महिमा करें, इससे कहीं अन्दर में गुण का लाभ नहीं होता और कदाचित् दुनिया की कीमत में, ख्याल में वह सच्ची चीज़ न आवे, उससे कहीं यहाँ नुकसान हो जाता है (-ऐसा नहीं है)। समझ में आया ? दुनिया की नजर कितनी ? उसकी दृष्टि कितनी कि उससे अभिनन्दन लेना ? आहा..हा... ! उससे अच्छापना (लेना) ? किसके पास से अच्छापना ? परन्तु वह कहाँ अच्छा है तो अच्छापना तुझे मनावे ? आहा..हा... ! कहो, भाई ! (इन्हें) बहुत प्रेम है। क्यों भाई ! आहा..हा... ! आजीविका थोड़ी हो, बहुत हो;

मान थोड़ा हो, बहुत हो – उसके साथ आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। भाई ! लड़के – लड़कियाँ हों, माननेवाले हों, नहीं माननेवाले हों; शत्रु हो, मित्र हो – उसके साथ भगवान आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है, हाँ ! जरा भी सम्बन्ध नहीं है। आहा..हा... ! जहाँ राग के साथ सम्बन्ध नहीं तो फिर राग के निमित्तों के साथ तो सम्बन्ध कहाँ था ? समझ में आया ? आहा... ! तत्त्वज्ञान किसे कहें ? बापू ! आहा..हा... !

कहते हैं, ऐसे तत्त्वज्ञानपूर्वक ऐसे छह व्रत होते हैं। उनकी व्याख्या हो गयी। अब यह सातवें की व्याख्या है। सात का उपोद्घात हुआ, लो ! यह रात्रि के कारण हुआ। अरे.. ! भगवान ! क्या करता है कहा यह ? भाई ! तूने मार्ग सुना नहीं है, बापू ! यह भव के छेद (अभाव) का भाव सुना नहीं है, भाई ! और भव का अभाव करने की चीज़ क्या है और अनन्त भव क्यों हुए – किया है यह दोनों बातें सुनी नहीं, भाई ! आहा..हा... ! समझ में आया ? अब ११ वां आया, लो !

देशव्रत (देशावगाशिक) नामक गुणव्रत का लक्षण

ताहुमें फिर ग्राम गली, गृह बाग बजारा;

गमनागमन प्रमाण ठान अन, सकल निवारा॥१२॥

(पूर्वार्द्ध)

अन्वयार्थ :- (फिर) फिर (ताहुमें) उसमें (किन्हीं प्रसिद्ध) प्रसिद्ध (ग्राम) गाँव (गली) गली (गृह) मकान (बाग) उद्यान तथा (बजारा) बाजार तक (गमनागमन) जाने-आने का (प्रमाण) माप (ठान) रखकर (अन्य) अन्य (सकल) सबका (निवारा) त्याग करना (उसे देशव्रत अथवा देशावगाशिक व्रत कहते हैं)।

भावार्थ :- दिग्ब्रत में जीवनपर्यन्त की गई जाने-आने के क्षेत्र की मर्यादा में भी (घड़ी,

घण्टा, दिन, महीना आदि काल के नियम से) किसी प्रसिद्ध ग्राम, मार्ग, मकान तथा बाजार तक जाने-आनेकी मर्यादा करके उससे आगे की सीमा में न जाना सो देशव्रत कहलाता है॥११॥ (पूर्वार्द्ध)

ताहुमें फिर ग्राम गली, गृह बाग बजारा;

गमनागमन प्रमाण ठान अन, सकल निवारा॥१२॥

जो कोई आजीवन मर्यादा की हो (कि) अमुक (मर्यादा के) बाहर नहीं जाना; उसमें भी प्रतिदिन थोड़ी-थोड़ी मर्यादा कम करे, उसका नाम यह देशावकाशिक (देशव्रत) कहा जाता है।

‘अन्वायर्थ - फिर उसमें (किसी प्रसिद्ध) गर, गाँव,...’ कि भई इस गाँव में मुझे नहीं जाना, ‘मुम्बई’ या अमुक-अमुक बड़े-बड़े प्रसिद्ध हों, ‘गाँव, गली, मकान, बाग तथा बाजार तक जाने आने का माप रखकर...’ कि यहाँ तक जाना और यहाँ तक नहीं जाना। इतनी अन्दर राग की मंदता का कारण है इसमें। समझ में आया ? जाने-आने की क्रिया का यहाँ सम्बन्ध नहीं है। वह क्रिया जाने-आने देह की है, परन्तु उसमें ऐसा जो ऐसे जाने-आने पर तृष्णा का तीव्र राग (है, उसे घटाने की बात है)। स्वरूप की दृष्टि होने पर भी... स्वरूप कहीं जाता नहीं, आता नहीं, फिरभी जो विशेष ममता का अंश था कि ऐसे यहाँ जाऊँ - उतना घटाने के लिए सदा इतना प्रत्याख्यान करता है। ‘अन्य दूसरे स्थानों का त्याग करना, उसे देशव्रत अथवा देशावगाशिकव्रत कहते हैं।’

मुमुक्षु :- सदा यह करे ?

उत्तर :- हाँ, सदा।

‘भावार्थ :- दिग्ब्रत में जीवनपर्यन्त की गयी जाने-आने की क्षेत्र की मर्यादा में भी (घड़ी, घण्टा, दिन, महीना, आदि काल के नियम से) किसी प्रसिद्ध गाँव, मार्ग,...’ यह रास्ता ऐसा। अमुक रास्ता। चारों और रास्ता होता है न ? यह ‘मकरपरा’ का रास्ता यह अमुक

हाथी का रास्ता। 'मकान और बाजार तक जाने-आने की मर्यादा करके, उससे अधिक मर्यादा में न जाना, वह देशव्रत कहलाता है।' यहाँ नीचे लीखा है कि हिंसादि को लोक में भी पाप माना जाता है; उसका इस व्रत में एकदेश त्याग किया जाता है और इस कारण यह अणुव्रत कहलाता है। वरना यह सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता। इन तीनों जगह यही भाषा लिखी है। अब, १२ वाँ उत्तरार्द्ध और १३ वाँ।

अनर्थदंडव्रत के भेद और उनका लक्षण

काहूकी धनहानि, किसी जय हार न चिन्तै;
देय न सो उपदेश, होय अघ वनज कृषि तै॥१२॥

(उत्तरार्द्ध)

कर प्रमाद जल भूमि वृक्ष पावक न विराधै;
असि धनु हल हिंसोपकरण नहिं दे यश लाधै।
राग-द्वेष-करतार, कथा कबहूँ न सुनीजै;
और हु अनरथ दंड, हेतु अघ तिन्हें न कीजै॥१३॥

अन्वयार्थ :- १ - (काहूकी) किसीके (धनहानि) धन के नाश का, (किसी) किसी की (जय) विजय का (अथवा) (हार) किसी की हार का (न चिन्तै) विचार न करना (उसे अपध्यान: अर्थदंडव्रत कहते हैं।) २ - (वनज) व्यापार और (कृषि तै) खेती से (अघ) पाप (होय) होता है; इसलिये (सो) उसका (उपदेश) उपदेश (न देय) न देना (उसे पापोपदेश-अनर्थदंडव्रत कहा जाता है।) ३ - (प्रमाद कर) प्रमाद से (विना प्रयोजन) (जल) जलकायिक, (भूमि) पृथ्वीकायिक, (वृक्ष) वनस्पतिकायिक, (पावक) अग्निकायिक (और वायुकायिक) जीवों का (न विराधै) घात न करना (सो प्रमादचर्या-अनर्थदंडव्रत कहलाता है) ४ - (असि) तलवार, (धनु) धनुष्य, (हल) हल (आदि) (हिंसोपकरण)

हिंसा होने में कारणभूत पदार्थों को (दे) देकर (यश) यश (नहि लाधै) न लेना (सो हिंसादान-अनर्थदंडव्रत कहलाता है।) ५ - (रागद्वेष-करतार) राग और द्वेष उत्पन्न करनेवाली (कथा) कथाएँ (कबहूँ) कभी भी (न सुनीजै) नहीं सुनना (सो दुःश्रुति अनर्थदंडव्रत कहा जाता है।) (और हु) तथा अन्य भी (अघहेतु) पाप के कारण (अनर्थ दंड) अनर्थदंड है (तिन्है) उन्हें तथा अन्य भी (न कीजे) नहीं करना चाहिए।

भावार्थ :- किसी के धन का नाश, पराजय अथवा विजय आदि का विचार न करना, सो पहला अपध्यान-अनर्थदंडव्रत कहलाता है। १

(१) हिंसारूप पापजनक व्यापार तथा खेती आदि का उपदेश न देना, वह पापोपदेश-अनर्थदंडव्रत है।

(२) प्रमादवश होकर पानी ढोलना, जमीन खोदना, वृक्ष काटना, आग लगाना-इत्यादि का त्याग करना अर्थात् पाँच स्थावरकाय के जीवों की हिंसा न करना उसे प्रमादचर्या अनर्थदंडव्रत कहते हैं।*

(३) यश प्राप्ति केलिये, किसी के माँगने पर हिंसा के कारणभूत हथियार न देना सो हिंसादान-अनर्थदंडव्रत कहलाता है।

(४) राग द्वेष उत्पन्न करनेवाली विकथा और उपन्यास या श्रृंगारिक कथाओं के श्रवण का त्याग करना, सो दुःश्रुति अनर्थदंडव्रत कहलाता है।

१. अनर्थदंड दूसरे भी बहुत से हैं। पाँच तो स्थूलता की अपेक्षा से अथवा दिग्दर्शनमात्र हैं। वे सब पापजनक हैं इसलिये उनका त्याग करना चाहिए। पापजनक निष्प्रयोजन कार्य अनर्थदंड कहलाता है।

निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक, पहले दो कषायों का अभाव हुआ हो उस जीवको सच्चे अणुव्रत होते हैं, निश्चयसम्यग्दर्शन न हो, उसके व्रत को सर्वज्ञदेवने बालव्रत कहा है।

नोंध :- यह पाँच (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिणाम) अणुव्रत है; जिस हिंसादिक को लोक में भी पाप माना जाता है, उसका इन व्रतों में एकदेश (स्थूलपने) त्याग लिया गया है। और उसी कारण से वह अणुव्रत कहे जाते हैं।

काहूकी धनहानि, किसी जय हार न चिन्तै;
 देय न सो उपदेश, होय अध वनज कृषि तै॥१२॥
 कर प्रमाद जल भूमि वृक्ष पावक न विराधै;
 असि धनु हल हिंसोपकरण नहिं दे यश लाधै।
 राग-द्वेष-करतार, कथा कबहूँ न सुनीजै;
 और हु अनरथ दंड, हेतु अध तिन्हें न कीजै॥१३॥

यह आठवाँ अनर्थदण्डव्रत है। सम्यग्दृष्टि को स्वरूप का आश्रय, दृष्टि होने पर भी, जितनी अस्थिरता का भाग रहता है, उसमें भी घटाने के प्रमाण का यह अधिकार है। समझ में आया ? धर्मी जीव, अणुव्रतधारी जीव, स्त्री हो या पुरुष हो, उसे (ऐसा भाव आता है)।

‘अन्वयार्थ :- किसी के धन के नाश का...’ कि इसके धन का नाश हो जाए ! इसको पचास लाख - करोड़ है, मेरे पास पाँच हजार, दस हजार है, उसका नाश होवे तो मैं कुछ गिनती में आऊँ - ऐसा विचार श्रावक नहीं करता। आहा..हा... ! समझ में आया ? ‘किसी के धन के नाश का...’ उसके पुण्य-प्रमाण हो, यहाँ पुण्य-प्रमाण है; है, वह आत्मा को कुछ लाभकर्ता तो है नहीं। कहो, भाई ! आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- उसका अपने कुछ नहीं, यहाँ तो अपने...

मुमुक्षु :- किसी की बिगड़ी बनाना।

उत्तर :- किसी का बिगड़े-बिगड़े नहीं। उसका विचार यह किस लिए रखे ?

मुमुक्षु :- अपना समझता है न ?

उत्तर :- अपना काम है और दूसरे को क्या काम है यहाँ ? ऐ..ई.. ! उसके काले बाजार के थे और वे लूटे तो अच्छा किया, भाई ! तुझे क्या काम है ? बापू ! उसे दुःख होता है या नहीं ? उसे तो दुःखता है न ? भले काले बाजार के थे और ले गया, परन्तु उसका मन दुःखता

है या नहीं ? कितने ही तो मर जाते हैं। हाय... हाय... एक तो (धन) गया और फिर प्रतिष्ठा खुल्ली पड़ गयी कि वे तो कालाबाजार के थे। भाई ! उसमें लाभ क्या है ? भाई ! आहा..हा... !

वह सत्या क्या ? आग्रहक थे न ? क्या कहलाता है ? सत्याग्रह। दुकानो पर बैठते। सत्याग्रह (करे) तो दुकान के लोग बेचारे कितने ही व्यापारी ऐसे होवें कि पाँच हजार की पूंजी से सब चलाते हों। उसमें और उसमें से, गिनाता हो बाहर में लाख, दो लाख; परन्तु उसमें और उसमें चलाता हो और पाँच सो, दो हजार पैदा होते हों। आते हो, वे आकरबैठे हो, पाँच दिन बैठे तो उसे नुकसान हो, वह मुश्किल से उसके उपर हो इसलिए वे ऐसे... होते ऐसा मैंने देखा है, हाँ ! अन्दर बेचारा बहुत दुःखी होता है। अर..र..र.. ! हमारा प्रसिद्ध हो गया। हमारी पूंजी बाहर मेंकहलाये... हमारीपूंजी तो है, वह हमारे ख्याल में है, परन्तु इस प्रकार हमारा निभाव (होता है), उसमें वह सामने जाकर बैठे, धन्धा चलने न दे। ऐसे सत्याग्रही थे। समझ में आया ? यह सब हमने देखा है, और उस समय विचार भी आये हों, उसका खुल्ला पड़ा। जहाँ छह महिना, महिना, दो महिना वहाँ बैठे तो खुल्ला पड़ जाए कि उसके पास पूंजी नहीं लगती है, यह तो इसी-इसी में बैठे तो निभे, वरना आजीविका नहीं। पैसे-बैसे ज्यादा कहलाते हैं, वे है नहीं। वह बेचारा दुःखी, उसे बहुत आर्तध्यान होता, हाँ ! समझ में आया ? ऐ..भाई ! आहा..हा... ! जगत की विचित्रता ! धर्मी को किसी के धन के नाश का विचार किसलिए ?

‘किसी की विजय का, किसी की हार का...’ जीतना और हारना। यह जीते तो ठीक। भाई ! तुझे क्या काम है ? जीते या हारे, वह तो उसके पुण्यानुसार होगा। वह क्रिया उसके कार्यकाल में होने की हो वह होगी। तू जीत-हार में हर्ष-शोक करके स्वयं को पाप किसलिए बाँधता है ? धर्मी ऐसे जीत-हार का (विचार नहीं करता)। दूसरे की जीत हो और इसकी हार हो, यह पापी है, उसकी हार हो और यह पुण्यवन्त है, उसकी जीत हो - ऐसा विचार नहीं करना। आहा..हा... !

परिमित दोष में भी कितनी मर्यादा है उसकी। वह कम होता है - ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, ऐसा नहीं होता। अपने को कुछ प्रसिद्ध करके उसकी ढंकी हुई लाज-इज्जत को खुला कर

देना... समझ में आया ? अपना काम नहीं, अपना काम नहीं। उसके पास कहाँ पूंजी थी ? देखो तो सही, एक ऐसी जाँच तो कराओ, मुफ्त के बड़े-बड़े घर कहलाते हैं, घर में कुछ नहीं, उसे ऐसा है, बापू ! ऐसे विचार ऐसे विकल्प मर्यादित दोषवाला समकिति भी नहीं करता। आहा..हा... ! समझ में आया ?

‘उसे अपध्यान अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।’ अपध्यान। ये परिणाम आये न अकेले ? ‘विचार न करना...’ अर्थात् मन आया न, मन ? ‘व्यापार और खेती से पाप होता है, इसलिए उसका उपदेश न देना...’ यह वाणी का आया। वह मन का आया था। मन में ध्यान (करे)। आहा..हा... ! फिर आगे बढ़ा वह वाणी आयी। देखो ! अन्दर में घूंटता हो, फिर वाणी कहता है। समझ में आया ?

‘(२) व्यापार और खेती से पाप होता है, इसलिए उनका उपदेश न देना, (उसे पापोपदेश अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।)’ आहा... ! अरे ! वीतराग मार्ग की मर्यादा में उसे ले जाना, वह अलौकिक मार्ग है, यह लौकिक के साथ मेल खाये – ऐसा नहीं है। ऐसी बात है, भाई ! समझ में आया ? आहा.. ! देखो ! ‘टोडरमल’ को वह नुकसान (हुआ परन्तु) बोले नहीं, हाँ ! कि उसने ऐसा किया है, वरना राजा तो मानता। मुझे क्या ? आयु पूर्ण हुई। अपने को उसे कहाँ दोष देना (कि) उसने शिव की मूर्ति डाली थी। समझ में आया ? जैसा होना हो, वैसा होता है; अपने को, किसी को नुकसान हो, वह अपने से हो नहीं। समझ में आया ?

‘(३) (प्रमाद कर) प्रमाद से प्रयोजन बिना...’ यह पानी का ढोलना। वे धोते हैं न ? देखो न यह क्या कहलाता है तुम्हारे यह ? नल खुले (हों) वह फव्वारा। यह व्यर्थ का फव्वारा खुल्ला रखते हैं। कितना (चला जाता है)। नल खुल्ला रखते हैं। पानी चाहिए हो दो शेर, खुला रखे तो पचास मण चला जाए सवेरे से शाम तक में। ऐसे बिना प्रयोजन पानी नहीं ढोले बापू ! वह जीव है। धर्मी को राग की मन्दता के व्रत परिणाम में ऐसे भाव नहीं होते।

‘पृथ्वीकायिक...’ बिना कारण पृथ्वी को नहीं खोदता। समझ में आया ? पत्थर के टूकड़े पड़े हो और बैठा-बैठा तोड़े और टूकड़े करे और खेले... जीव है, असंख्य जीव हैं। बिना प्रयोजन वह नहीं करता। समझ में आया ? इसमें है या नहीं ? ऐसा बनाया है या नहीं ? इसमें



है, चित्र में होगा सब, थोड़ा बहुत देखो ! है यहाँ, हाँ ! पानी ढोलता है, देखो ! बहुत पानी ढोलता है। वह वनस्पति काटता है, वह अग्नि (जलाता है)। फिर हिंसादान के अधिकरण वह बाद में आयेगा। कहो, समझ में आया ?

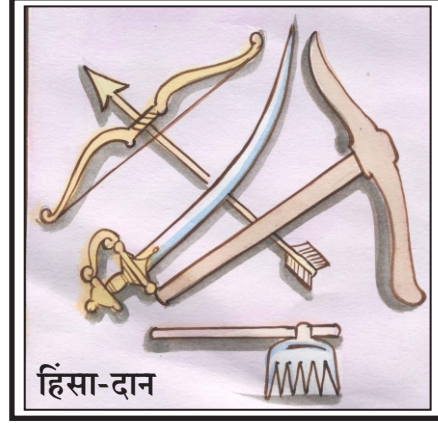
‘वनस्पतिकायिक...’ कितने ही होते हैं न ? बिना प्रयोजन, हाथ में लकड़ी हो और वृक्ष हो तो ऐसे तोड़ता जाए। वृक्ष की डालियों को (तोड़े) परन्तु प्रयोजन क्या है ? होशियारी चलानी है ? हाथ में लकड़ी घूमती होवे तो ऐसे करता जाए, वृक्ष के वो (डालियाँ) होवे वे टूटते जाए, यह तो कुछ भान नहीं होता। बिना प्रयोजन के अनर्थदण्ड के ऐसे परिणाम धर्मी नहीं करता।

‘अग्निकायिक...’ ऐसे अग्नि को बिना प्रयोजन जला दे, दियासलाई रख दे। रखते हैं न ? किसी के अनाज का भूसा जल जाता है, तिल जल जाता है, अमुक हो जाए अथवा ... दियासलाई व्यर्थ की डालकर कहीं घास पड़ी हो, वहाँ डाल दे।

‘वायुकायिक...’ नहीं नष्ट करता। ‘ऐसे जीवों का घात नहीं करना, वह प्रमादचर्या अनर्थदण्डव्रत कहलाता है।’ और

‘(४) तलवार...’ ऐसे उपकरण अपने रखो, दुनिया माँगे तो दे तो यश मिलेगा – ऐसे भाव समकित को नहीं होते। तलवार रखो, तलवार, जरूरत पड़े तो उसे दे। जाओ, ‘जूनागढ़’

में लड़ाई है, हमारी तलवार ले जाओ। समझ में आया ? पता है न ? हुआ था न भाई ! एक व्यक्ति ने उसकी तलवार दी उसे, जाओ। अरे..! भाई ! ओ..हो..! उसने तलवार दी, लो ! लड़ाई करने जाता है, जाओ हम अनुमोदन करते हैं, लो ! हम तलवार देते हैं, तुम जाओ, लो ! हमारी तलवार ले जाओ। श्रावक को आत्मा में एक राग का कण करने योग्य नहीं – ऐसा माना है, वहाँ अस्थिरता आती है, उसमें अणुव्रतधारी को तो पंचम गुणस्थान अवस्था है, शान्ति बहुत है; इस कारण उसे तो कषाय की मन्दता बहुत हो गयी है। उसे ऐसे तलवार आदि (रखने के भाव नहीं होते)। समझ में आया ?



‘धनुष...’ लो ! जाओ, धनुष ले जाओ। मेरे पास दस धनुष है, लो ! ‘हल...’ खोदने का। ‘हिंसा होने में कारणभूत पदार्थों को देकर यश नहीं लेना...’ समझ में आया ? ऐसा होता है न घर में ? रखो कुदाली पाँच, दस-दस। कोई पीसने जाता है, हरितकाय अमुक छड़ी रखो अधिक, अमुक छड़ी रखे। हरित करनी हो न ? यह आचार ... ज्येष्ठ महिने में (बनाते हैं)। मागे तो दे सकें। ज्येष्ठ महिने में अचार होता है न ? आम का और हरी मिर्च और अमुक का ऐसा आधा मण – आधा मण, मण-मण, दो-दो मण बनाते हैं, ले जाओ, मेरे यहाँ से एक छूरी ले जाओ, बहुत बड़ी है, बड़ी ऐसे फटाफट काम करे, डाल-डाल काटते हैं नहीं ? क्या कहलाता है ? गरमर ... यह तो पुराना आया फिर लो ! डाली को गरमर बैठते हैं न ! वह बोरी डालकर, उलटी वह थेली डालकर ऐसे ऐसे करें।

मुमुक्षु :- होशियार होवे न ?

उत्तर :- हाँ, ऐसी काटे। होशियार हो, वह वहाँ बैठे। दूसरों को दे, लो ! करो। अरे..! भाई ! श्रावक है, अणुव्रतधारी है, महाव्रत चारित्र लेने का तो अभिलाषी है। समझ में आया ? नहीं ले सकता, उसकी मर्यादा में उसे ऐसे अनर्थदण्ड के परिणाम नहीं होते। समझ में आया ? ‘वह हिंसादान अनर्थदण्डव्रत कहलाता है।’ लो !

‘(राग-द्वेष करतार) - राग और द्वेष उत्पन्न करनेवाली कथायें कभी भी नहीं सुनना...’ समझ में आया ? उपन्यास और श्रृंगारिक (कथायें नहीं सुनना)। करने बैठे... वह बड़ा पाठ बैठता है न ? ऐसी कथा करे और ऐसे लड़ावे, ऐसे मानो अन्दर से। वे राग-द्वेष की कथाएँ हैं। समकिति वीतराग कथा करे या राग-द्वेष करे ? ‘राग-द्वेष करनेवाली कथायें कभी भी नहीं सुनना, (वह दुःश्रुति अनर्थदण्डव्रत कहलाता है)।’ खराब सुनना छोड़ देना। ‘और अन्य भी (अघ हेतु)...’ अघ अर्थात् ‘पाप के कारण (अनर्थदण्ड) अनर्थदण्ड है, उन्हें भी नहीं करना चाहिए।’ लो ! यह सब स्पष्टीकरण आ गया है। समझ में आया ? अर्थ में अपने आ गया है।

नीचे फूटनोट है - ‘अनर्थदण्डव्रत दूसरे भी बहुत से हैं। पाँच बताये...’ बनाये हैं, बताया होगा। ‘बताया, वह स्थूलता की अपेक्षा से है अथवा दिग्दर्शन मात्र है।’ दिग् अर्थात् कथन में थोड़ा बतलाया है, इतना। ‘वे सब पापजनक है, इसलिए उनका त्याग करना चाहिए। पापजनक निष्प्रयोजन कार्य को अनर्थदण्ड कहते हैं।’ वह भी निश्चय दर्शन साथ में आया न अन्दर ? यह नीचे तीनों में यह बात है। तीन जगह वही के वही शब्द है। निश्चयसम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक पहली बात जो उपोद्घात में की वह। प्रथम की दो कषायों का अभाव हुआ हो, उस जीव को सच्चे अणुव्रत होते हैं। निश्चयसम्यग्दर्शन न हो, उसके व्रत को सर्वज्ञदेव ने अज्ञानव्रत कहा है। यह तीसरी बार आया है। यह तीन बार आया है। पहले ९० पृष्ठ पर था, ९२ पृष्ठ पर था और यह है - तीन बार आया। समझ में आया ? जहाँ हो, वहाँ वह डालते हैं। समझ में आया ? भावार्थ में आ गया हो, वह अपने आ गया है।

‘भावार्थ :- (१) किसी के धन का नाश, हार अथवा जीव इत्यादि का निंद्य विचार न करना, वह प्रथम अपध्यान अनर्थदंडव्रत कहलाता है।

(२) हिंसारूप पापजनक व्यापार तथा खेती आदि का उपदेश न देना, वह पापोपदेश-अनर्थदंडव्रत है।

(३) प्रमादवश होकर पानी ढोलना, जमीन खोदना, वृक्ष काटना, आग लगाना-इत्यादि का त्याग करना अर्थात् पाँच स्थावरकाय के जीवों की हिंसा न करना, उसे

प्रमादचर्या अनर्थदंडव्रत कहते हैं।

(४) यश प्राप्त के लिये, किसी के माँगने पर हिंसा के कारणभूत हथियार न देना, सो हिंसादान-अनर्थदंडव्रत कहलाता है।

(५) राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाली विकथा...’ बिना (प्रयोजन के) स्त्री की कथा करे, रानियों की कथा करे, उनके वस्त्रों की करे, उनके अवयवों की करे – यह पाप अनर्थदण्ड है, भाई ! तेरा कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और मुफ्त में पाप बँधता है। ‘उपन्यास या श्रृंगारिक कथा आदि सुनने का त्याग करना, वह दुःश्रुति अनर्थदण्डव्रत कहलाता है।’

मुमुक्षु :- उपन्यास छपावे तो आपत्ति नहीं न ?

उत्तर :- वह तो आजीविका करने के लिये करता है। वह आजीविका के लिये करता है। उसमें अन्दर गप्पे मारे होते हैं। वह तो आजीविका के लिये करे, वह तो उसके खाते में है न उसे। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- अर्थात् करने जैसा है ?

उत्तर :- करने जैसा तो कुछ नहीं, रुक जाने का है। देखो ! यह बन्दर का दृष्टान्त आया है न ? तीन, गांधीजी के बन्दर। लिखा है – ‘महात्मा गांधीजी’ की त्रिवानर मूर्ति। है न ? अपने यहाँ है, हाँ ! अन्दर। है या तो। एक बन्दर मुँह बन्द रखता है ऐसे, बोलो नहीं, एक आँखे बन्द रखता है और एक कान (बन्द रखता है)। झूठ बात सुनना नहीं, झूठ देखना नहीं, झूठ बोलना नहीं। यह है पत्थर की आती है न ? बहुत जगह है, इसमें है। अपने यहाँ है अन्दर। है या नहीं ऊपर ? ऊपर होगा कहीं था अवश्य। तीन बन्दर छोड़ गये थे। लो ! यह आठ व्रत हुए। अणुव्रतधारी श्रावक को पंचम गुणस्थान में दो कषाय के अभाव की भूमिका में ऐसे आठ व्रतों की व्याख्या ग्रन्थाकार ने की है। अब चार की शेष है। बारह व्रत है न ? बारह व्रत।

सामायिक, प्रोषध, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसविभागव्रत

धर उर समताभाव, सदा सामायिक करिये,
 परव चतुष्टयमाहि, पाप तज प्रोषध धरिये;
 भोग और उपभोग, नियमकरि ममत निवारै,
 मुनिको भोजन देय फेर, निज करहि अहारै॥१४॥

अन्वयार्थ :- (उर) मन में (समताभव) निर्विकल्पता अर्थात् शल्य के अभाव को (धर) धारण करके (सदा) हमेशा (सामायिक) सामायिक (करिये) करना (सो सामायिक-शिक्षाव्रत है;) (परव चतुष्टयमाहि) चार पर्व के दिनों में (पाप) पापकार्यों को छोड़कर (प्रोषध) प्रोषधोपवास (धरिये) करना (सो प्रोषध उपवास शिक्षाव्रत है;) (भोग) एकबार भोगा जा सके ऐसी वस्तुओं का तथा (उपभोग) बारम्बार भोगा जा सके ऐसी वस्तुओं का (नियमकरि) परिमाण करके-मर्यादा रखकर (ममत) मोह (निवारै) छोड़ दे (सो भोग-उपभोगपरिमाणव्रत है;) (मुनिको) वीतरागी मुनि को (भोजन) आहार (देय) देकर (फेर) फिर (निज आहार) स्वयं भोजन करे (सो अतिथिसविभागव्रत कहलाता है।)

भावार्थ :- स्वोन्मुखता द्वारा अपने परिणामों को स्थिर करके प्रतिदिन विधिपूर्वक सामायिक करना सो सामायिक शिक्षाव्रत है। १ प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन कषाय और व्यापारादि कार्यों को छोड़कर (धर्मध्यानपूर्वक) प्रोषध सहित उपवास करना, सो प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत कहलाता है। २ - परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत में निश्चय की हुई भोगोपभोग की वस्तुओं में जीवनपर्यंत के लिये अथवा किसी निश्चय समय के लिये नियम करना, सो भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत कहलाता है। ३ - निर्ग्रथ मुनि आदि सत्पात्रों को आहार देने के पश्चात् स्वयं भोजन करना, सो अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत कहलाता है॥१४॥

‘सामायिक, प्रौषध, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि संविभागव्रत’ चार है।

धर उर समताभाव, सदा सामायिक करिये,
परव चतुष्टयमाहि, पाप तज प्रौषध धरिये;
भोग और उपभोग, नियमकरि ममत निवारै,
मुनिको भोजन देय फेर, निज करहि अहारै॥१४॥

चार अणुव्रत। ‘मन में निर्विकल्पता अर्थात् शल्य के अभाव को धारण करके...’ समताभाव कब होता है ? जब पुण्य-पाप की रुचि छूटकर वीतरागभाव दृष्टि में बैठा है, उसे स्वभाव सन्मुख में समता का परिणाम प्रकट होता है। समझ में आया ? उसे सामायिक कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना सामायिक कैसी ? सामायिक तो पाँचवे गुणस्थान की बात है।

शुद्ध चैतन्य है। विकाररहित स्वभाव का अनन्त में आदर नहीं है, उसे समताभाव किस प्रकार प्रकट होगा ? समता का पिण्ड ही आत्मा है। आत्मा अकेला वीतराग रसकन्द है। ऐसी रुचि-दृष्टि हुए बिना वीतरागता का - समता का प्रवाह पर्याय में आयेगा कहाँ से ? समझ में आया ? समकित सामायिक है, सम्यग्ज्ञान सामायिक है। यह व्रत की एक सामायिक है। देशव्रत और सर्वव्रत - ऐसे चार प्रकार की सामायिक है।

सम्यग्दर्शन सामायिक, दर्शनसामायिक यह तो उनमें श्वेताम्बर में आता है। अनुयोग द्वारा में आता है, वह बात होती थी। सम्यग्दर्शनसामायिक - पूरा आत्मा समभाव से भरा है, एक विषम राग का विषय अंश जिसमें नहीं - ऐसे आत्मा की अन्तर सम्यक्-सत्य प्रतीति का भान, वही पूरे समता के पिण्ड का आदर किया - ऐसे सम्यक् परिणाम को सम्यग्दर्शन सामायिक कहा जाता है। समझ में आया ? और ऐसा जो समता - वीतराग स्वभाव आत्मा, निर्दोष आत्मा का ज्ञान, इसलिए ज्ञान भी समतारूप हुआ, वह सम्यग्ज्ञान सामायिक है, सम्यग्ज्ञान सामायिक है। तदुपरान्त यह देशव्रत की सामायिक है। स्वरूप में थोड़ी स्थिरता तो थी, पंचम गुणस्थानवाला है न ? परन्तु विशेष प्रयोग करता है। सामायिक का प्रयोग / अजमाईश करता है कि मैं स्वरूप में स्थिरता कितने अंश रख सकता हूँ - ऐसा एक विकल्प आता है, उसे

व्यवहार सामायिक कहते हैं; स्थिरता होती है, उसे निश्चय सामायिक कहते हैं। समझ में आया ? एक अंश में स्थिरता भी है और एक अंश में विकल्प भी है, यहाँ दो प्रकार है। अणुव्रत के साथ लेना है न ? बारह व्रत लेना है न ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- पाँचवे गुणस्थान में पाँच अणुव्रत तो होते ही है।

उत्तर :- होते ही है। पाँच अणुव्रत हो, उसे साथ होता है। कहो, समझ में आया ? पाँच अणुव्रत तो होते ही है वे।

मुमुक्षु :- बारह व्रत ग्यारह प्रतिमा में समा जाते हैं ?

उत्तर :- समा जाते हैं, आगे बढ़े तो, वरना पाँचवे में बारह व्रत होते हैं। क्या कहलाता है ? दूसरी प्रतिमा। फिर बढ़ता जाता है।

मुमुक्षु :- दूसरी ...

उत्तर :- इससे आगे अधिक होती है। दूसरी नहीं ली। उसका कारण है, उसमें आगे बढ़ जाए। यह बारह व्रत तो पाँचवे (गुणस्थान में) दूसरी व्रत प्रतिमा में भी होते हैं। है न प्रथम दर्शन और दूसरी (व्रत) प्रतिमा, उसमें होती हैं। फिर आगे बढ़ने पर सामायिक सदा कायम करता है। सामायिक तो होती है। बाहर में सब (होता है) परन्तु कायम सामायिक करे - ऐसी एक तीसरी प्रतिमा ... ऐसा। यहाँ तो इतनी ही बात ली है।

‘मन में शल्य के अभाव...’ देखो ! समता कही है न ? शल्य अर्थात् विषमता, मिथ्यात्व। मिथ्यात्व आदि शल्य का अभाव है अथवा निःशल्य व्रती-व्रती ऐसा होता है, निःशल्य होता है। उसे मिथ्यात्व का शल्य नहीं होता, निदान का शल्य नहीं होता; यह करूँ, इसका फल (मिले) और माया शल्य नहीं होता, तब उसे व्रत के परिणाम होते हैं। समझ में आया ? एकदम व्रती हो जाए और अभी शल्य तो पड़े हैं। व्रती कहाँ से हो गया ? शल्य तो पड़ा है कि घूँटता है अन्दर। यह आत्मा ऐसा नहीं परन्तु इस राग में, पुण्य में, पुण्य के फल में प्रेम और रुचि है, यह तो मिथ्यात्व का शल्य तो पड़ा है अन्दर। शल्य मिटे बिना शान्ति आये कहाँ से ? शल्य नहीं गया और फोड़ा मिटे कैसे ? लोहे का अन्दर पड़ा है, फिर ऊपर करे

मरहम-पट्टी परन्तु अन्दर तो सड़न बढ़ती जाती है।

मुमुक्षु:- ...

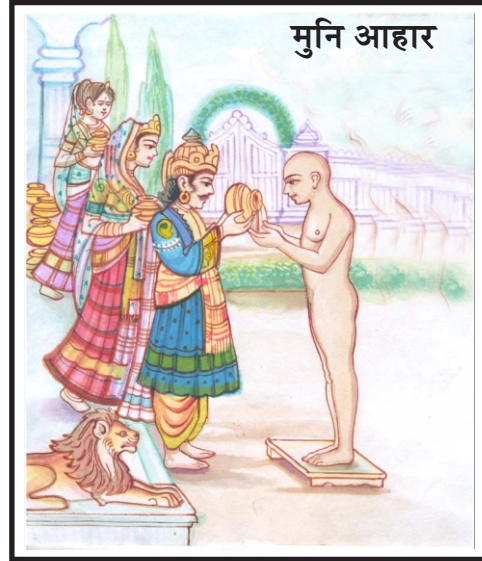
उत्तर :- हाँ, हाँ, ऊपर चमड़ी आ जाती है, बाहर चमड़ी आ जाती है, अन्दर सड़ी रहती है, गंभीर फोड़ा (हो) ऐसे इसराग की मन्दता की बाहर क्रिया दिखती, अन्दर मिथ्यात्व का बड़ा फोड़ा पड़ा हो। समझ में आया ? इसलिए डोक्टर... गहरा फोड़ा हो न ? वाट डालकर कहाँ तक है, वहाँ तक देखता है, वहाँ से घाव का भरना शुरू होता है या नहीं ? वहाँ से घाव भरना शुरू होता है या नहीं ? - ऐसा देखता है। इसलिए यह चार घूस गया वहाँ से (घाँव) भरना शुरू हो कि नहीं ? यहाँ से मिटता नहीं। जहाँ से शुरू होनी चाहिए, वहाँ से हुई है या नहीं ? ऐसा जाँच करता है। (घाँव को) भरना पड़ेगा भले कल तीन पैठा है भरे हुए घाँव पर। यहाँ अन्दर में घाँव भरा न हो और बाहर से सारी त्वचा एक जैसी दिखे वह अन्दर सड़न है बड़ी।

इसीप्रकार जिसे मिथ्यात्व की सड़न पड़ी है अन्दर, ऊपर से राग की मन्दता की सामायिक और प्रौषध दिखे तो अन्दर सब सड़न पड़ी है। भाई ! ऐसे शल्य ही रहती है। अहा.. ! दूसरे का कुछ अधिक देखे, वहाँ ऐसा होता है, दूसरे की इज्जत देखे तो ऐसा हो दूसरे की निन्दा होवे तो ऐसा हो, अपनी निन्दा होवे तो ऐसा हो। निन्दा अर्थात्... कौन निन्दा और कौन... करे ? अब सुन न ! ज्ञानस्वरूप आत्मा है - ऐसा जाने बिना, इसका शल्य मिटे बिना इसे अन्दर खदबद खदबद हुआ ही करती है। समझ में आया ? लो ! यह भाई ! तुम्हारे एक के बारह व्रत आये, हाँ ! ऐसा पहला-बहला व्याख्यान आता है, यह छहढाला का। पुराना है न, पुराना है। कहो, समझ में आया ?

‘और चार पर्व के दिनों में पापकार्य छोड़कर...’ अष्टमी, चतुर्दशी दो और कृष्ण तथा शुक्ल (पक्ष की - इसतरह चार) ‘प्रौषध-उपवास करना...’ प्रौषध, उपवास हाँ ! अकेला उपवास नहीं। आत्मा की स्थिरतापूर्वक उपवास। अष्टमी-चतुर्दशी को अधिक मुख्य, मुख्य वह है। चाहे जब हो सकता है। इतना तोकरना ही। इससे अधिक करे, भले करे, परन्तु उसे पंचम गुणस्थान के योग्य इतनी निवृत्ति इसे हो, अधिक हो। कोई अधिक तब कर सकता है,

स्थिरता करता है। वह अधिक... इससे बड़ी है। उस काल में उसे ऐसा प्रकार होता है। 'प्रौषध - उपवास करना, वह प्रौषध-उपवास शिक्षाव्रत है।' देखा ?

'एकबार भोगा जा सके - ऐसी वस्तुओं का तथा बारम्बार भोगा जा सके - ऐसी वस्तुओं का...' एक बार भोगा जा सके - समझे न ? अनाज आदि। बारम्बार - यह गहने, कपड़े आदि। इसका 'परिमाण करके...' कि भाई इतना ही अनाज अथवा इतने ही कपड़े अथवा ये ही गहने, 'परिमाण करके - मर्यादा रखकर मोह छोड़ दे, वह भोग-उपभोग परिमाणव्रत है।' लो, समझ में आया ? ' (मुनि को) वीतरागी मुनि को...' और यह जो श्रावक गृहस्थ आदि पात्र हों, इसमें सब लेना, हाँ ! अकेला ऐसा नहीं। अर्थ में आयेगा, अर्थ में आयेगा। 'निर्ग्रन्थ मुनि इत्यादि सत्पात्रो को आहार...' दूसरे में भी आता है, इसमें भी आता है। सब लिया है। मुनि की मुख्य बात है न ?



'वीतरागी मुनि को भोजन-आहार देकर...' इसमें भी लिखा है। पुरानी (पुस्तक में भी) लिखा है। स्वयं आहार करता है, वह राग है न ? श्रावक को भान है परन्तु... इसलिए राग घटाने में ओहो.. ! मुनि का योग, धर्मात्मा धर्मी का योग, पात्र धर्मपात्र का योग... समझे न ? उन्होंने लिखा है हाँ ! अर्थ है न ? 'मुनि व पात्र श्रावक को आहारदान देकर...' यह पुस्तक है न, इसमें भी है और उसमें भी है। पुराना है न पुराना ! 'आदि पात्रों को आहार कराकर बाद में स्वयं भोजन करना।' फिर अपने भी लिखा है, अन्तर में थोड़ा है। 'निर्ग्रन्थमुनि आदि सत्पात्रों को आहार देने के पश्चात्...' पीछे (भावार्थ में) लिखा है। समझ में आया ? अर्थात् मुख्य मुनि की बात की है। अपने साधर्मी धर्मात्मा को भी आहार देकर फिर स्वयं भोजन करे। लो ! यहाँ तो आवे, सब भाषा क्या आवे ? आहार करे, यह दे - व्यवहार की बात में जो कथन

आवे ऐसा आवे न! एक ओर कहते हैं, आहार-पानी कर नहीं सकता। परन्तु समझ तो सही। खाना-पीना करे, वह क्रिया कौन करे ? परन्तु इसे ऐसा विकल्प होता है कि मुनि को आहार देकर मुझे आहार करना - ऐसे विकल्प की मर्यादा में वह व्रत कहा जाता है। इतना बताते हैं। 'वह अतिथि संविभाग व्रत कहलाता है।' समझ में आया ? कथन तो ऐसा ही आये न ! उसका परमार्थ तो जैसा है, वैसा है।

भावार्थ :- '(१) स्वोसन्मुखता द्वारा अपने परिणामों को विशेष स्थिर करके प्रतिदिन विधिपूर्वक सामायिक करना, वह सामायिक शिक्षाव्रत है। लो (२) प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन कषाय और व्यापारादि कार्यों को छोड़कर (धर्मध्यान पूर्व) प्रौषधसहित उपवास करना, वह प्रौषधोपवास शिक्षाव्रत कहलाता है। (३) परिग्रह परिमाण - अणुव्रत में निश्चित की हुई भोगोपभोग की वस्तुओं में जीवनपर्यन्त के लिए...' उसका किया था आजीवन का। 'अथवा किसी निश्चित समय के लिए नियम करना, वह भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत कहलाता है।' लो ! '(४) निर्ग्रन्थमुनि आदि सत्पात्रों को आहार देने के पश्चात् स्वयं भोजन करना, वह अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत कहलाता है।' यह बारहव्रत श्रावक को आत्मा के सन्मुख की दृष्टि में स्थिरता का अंश विशेष हुआ, उस जगह उसे ऐसे बारह व्रत होते हैं, जिससे वह एकावतारी होकर मुक्ति हो - ऐसी योग्यता होती है। इत्यादि विशेष कहेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



यह आत्मा है सो ज्ञायक अखण्ड स्वरूप है । राग, कर्म व शरीर तो उसके नहीं, लेकीन पर्यायमें जो खण्ड-खण्ड ज्ञान है वह भी उसका नहीं । जड़इन्द्रियाँ तो उसकी नहीं, लेकिन भावेन्द्रिय व भावमन भी उसके नहीं । एक-एक विषयको जाननेवाली ज्ञानकी पर्याय; खण्ड-खण्ड ज्ञान है - यह पराधीनता है ,परवशता है, यह दुःख है ।

(परमागमसार-३८६)

निरतिचार श्रावकव्रत पालन करने का फल
 बारह व्रत के अतीचार, पन पन न लगावै;
 मरण-समय संन्यास धारि तसु दोष नशावै।
 यों श्रावक-व्रत पाल, स्वर्ग सोलम उपजावै;
 तहँतें चय नरजन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै॥१५॥

अन्वयार्थ :- जो जीव (बारह व्रत के) बारह व्रतों के (पन पन) पाँच-पाँच (अतिचार) अतिचारों को (न लगावै) नहीं लगाता, और (मरण-समय) मृत्यु-काल में (संन्यास) समाधि (धार) धारण करके (तसु) उनके (दोष) दोषों को (नशाव) दूर करता है, वह (यों) इसप्रकार (श्रावक व्रत) श्रावक के व्रत (पाल) पालन करके (सोलह) सोलहवें (स्वर्ग) स्वर्ग तक (उपजावै) उत्पन्न होता है, (और) (तहँतै) वहाँ से (चय) मृत्यु प्राप्त करके (नरजन्म) मनुष्यपर्याय (पा) पाकर (मुनि) मुनि (ह्वै) होकर (शिव) मोक्ष (जावै) जाता है।

भावार्थ :- जो जीव श्रावक के ऊपर कहे हुए बारह व्रतों का विधिपूर्वक जीवनपर्यंत पालन करते हुए उनके पाँच-पाँच अतिचारों को भी टालता है, और मृत्युकाल में पूर्वोपार्जित दोषों का नाश करने के लिये विधिपूर्वक समाधिमरण (संल्लेखना) धारण करके उसके पाँच अतिचारों को भी दूर करता है, वह आयु पूर्ण होने पर मृत्यु प्राप्त करके सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है। फिर देवायु पूर्ण होने पर मनुष्यभव पाकर, मुनिपद धारण करके मोक्ष (पूर्ण शुद्धता) प्राप्त करता है।

सम्यक्चारित्र की भूमिका में रहनेवाले राग के कारण वह जीव स्वर्ग में देवपद प्राप्त करता है; धर्म का फल संसार की गति नहीं है किन्तु संवर-निर्जरारूप शुद्धभाव हैं; धर्म की पूर्णता वह मोक्ष है।

१. क्रोधादि के वश होकर विष, शस्त्र अथवा अन्नत्याग आदिसे प्राणत्याग किया जाता है, उसे 'आत्मघात' कहते हैं। 'सल्लेखना' में सम्यग्दर्शन सहित आत्मकल्याण (धर्म) के हेतु से काया और कषाय को कृश करते हुए सम्यक् आराधनापूर्वक समाधिमरण होता है इसलिए वह आत्मघात नहीं किन्तु धर्मध्यान है।

चौथी ढाल का सारांश

सम्यग्दर्शन के अभाव में जो ज्ञान होता है, उसे कुज्ञान (मिथ्याज्ञान) कहा जाकता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार यद्यपि यह दोनों सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान साथ ही होते हैं, तथापि उनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं और कारण-कार्यभाव का अन्तर है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का निमित्तकारण है।

स्वयं को और परवस्तुओं को स्वसन्मुखतापूर्वक यथावत् जाने वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है; उसकी वृद्धि होने पर अन्त में केवलज्ञान प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान के अतिरिक्त सुखदायक वस्तु अन्य कोई कोई नहीं है और वही जन्म, जरा तथा मरण का नाश करता है। मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्ज्ञान के बिना करोड़ों जन्म तक तप तपने से जितने कर्मों का नाश होता है उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी जीव के त्रिगुप्ति से क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं। पूर्वकाल में जो जीव मोक्ष गये हैं, भविष्य में जायेंगे और वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र से जा रहे हैं - वह सब सम्यग्ज्ञान का प्रभाव है। जिस प्रकार मूसलाधार वर्षा वन की भयंकर अग्नि को क्षणमात्र में बुझा देती है उसी प्रकार यह सम्यग्ज्ञान विषय-वासना को क्षणमात्र में नष्ट कर देता है।

पुण्य-पाप के भाव वह जीव के चारित्रगुण की विकारी (अशुद्ध) पर्यायें हैं; वे रहँट के घड़ों की भाँति उल्टी-सीधी होती रहती हैं; उन पुण्य-पाप के फलों में जो संयोग प्राप्त होते हैं, उनमें हर्ष-शोक करना मूर्खता है। प्रयोजनभूत बात तो यह है कि पुण्य-पाप, व्यवहार और निमित्त की रुचि छोड़कर स्वोन्मुख होकर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान होने पर सम्यग्ज्ञान होता है। इसलिये संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय (तत्त्वार्थों का अनिर्धार) का त्याग करके तत्त्व के अभ्यास द्वारा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए; क्योंकि मनुष्यपर्याय, उत्तम श्रावक कुल और जिनवाणी का सुनना आदि सुयोग-जिसप्रकार समुद्र में डूबा हुआ रत्न पुनः हाथ नहीं आता उसीप्रकार - बारम्बार प्राप्त नहीं होता। ऐसा दुर्लभ सुयोग प्राप्त करके सम्यग्धर्म प्राप्त न करना मूर्खता है।

सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके शिफिर सम्यक्चारित्र प्रकट करना चाहिए; वहाँ सम्यग्चारित्र की भूमिका में जो कुछ भी राग रहता है वह श्रावक को अणुव्रत और मुनि को पंचमहाव्रत के प्रकार का होता है; उसे सम्यग्दृष्टि पुण्य मानते हैं।

जो श्रावक निरतिचार समाधि-मरण को धारण करता है, वह समतापूर्वक आयु पूर्ण होने से योग्यतानुसार सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है, और वहाँ से आयु पूर्ण होने पर मनुष्यपर्याय प्राप्त करता है; फिर मुनिपद प्रकट करके मोक्ष में जाता है।

वीर संवत २४९२, फागुन शुक्ल ७, रविवार
दि. २७-२-१९६६, गाथा-१५, प्रवचन नं.-३८

‘दौलतरामजी’ कृत ‘छहढाला’ चलती है। उसकी चौथी ढाल। उसका १५ वाँ श्लोक अन्तिम है। चौथी ढाल है न ? १५ वाँ श्लोक, ‘निरतिचार श्रावकव्रत पालन का फल।’ यह अन्तिम श्लोक है।

बारह व्रत के अतीचार, पन पन न लगावै;
मरण-समय संन्यास धारि तसु दोष नशावै।
यों श्रावक-व्रत पाल, स्वर्ग सोलम उपजावै;
तहँतें चय नरजन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै॥१५॥

१. न हि सम्यग्व्यपदेश चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।

ज्ञानान्तरमुक्तं, चारित्राराधनं तस्मात्॥३८॥

अर्थ :- अज्ञानपूर्वक चारित्र सम्यक् नहीं कहलाता, इसलिये चारित्र का आराधन ज्ञान होने के पश्चात् कहा है।

(पुरुषार्थसिद्धिउपाय गाथा-३८)

देखो ! क्या कहते हैं ? 'अन्वयार्थ :- जो जीव बारह व्रत के पाँच-पाँच अतिचारों को नहीं लगाता...' व्रत के अतिचार हैं। यह व्रत किसे होते हैं ? यह बात पहले आ गई है कि सम्यग्ज्ञान हो, फिर चारित्र के बारह व्रत का विकल्प होता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता और सम्यग्दर्शन, वह आत्मा अखण्ड शुद्ध आनन्दस्वभाव के आश्रय के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। समझ में आया ? निमित्त से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। दया, दान, व्रत का राग - मन्द परिणाम से सम्यग्दर्शन नहीं होता; वर्तमान प्रकट पर्याय जितना क्षयोपशम ज्ञान, दर्शन और विकास है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन (तो) एकरूप चिदानन्दस्वरूप भूतार्थ आत्मा ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा - वस्तु ध्रुव, उसके आश्रय से उसके अनुभव में, उसमें एकाग्र होने पर सम्यग्दर्शन की पर्याय मोक्षमार्ग का प्रथम अवयव पहला प्रकट होता है। कहो, समझ में आया ? उस सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के बिना उसे व्रत आदि चारित्र-बारित्र नहीं होता। कहो, समझ में आया ?

यह चीज़ क्या है ? किसमें स्थिर होने से, स्थिर होने से चारित्र होता है ? चारित्र अर्थात् स्थिरता-रमना। किसमें ? क्या चीज़ है वह ? वह चीज़ सैकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण आनन्द ध्रुव अन्तर्मुख... अन्तर्मुख दृष्टि करने से निर्विकल्प आनन्द के अनुभवसहित अन्दर पूर्ण शुद्ध की एकता प्रकट हो, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। कहो, भाई ! वह सम्यग्दर्शन कारण है और साथ में आत्मा का ज्ञान होता है, वह कार्य है। हैं तो (दोनों) एक साथ। (जैसे) दीपक और प्रकाश एकसाथ है, तथापि दीपक, वह कारण है और प्रकाश, वह कार्य है; हैं एकसाथ।

ऐसे हो आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द का भान अन्तर्मुख में राग, विकल्प जो, दया, दानआदि कषाय की मन्दता से मेरा कार्य नहीं होता। शरीर की अनुकूलता से, निमित्तता से भी मेरा कार्य नहीं होता; मेरा कार्य तो शुद्ध चैतन्य के अन्तर अनुभव की दृष्टि से होता है - ऐसा जानकर, अनुभव कर सम्यग्दर्शन प्रकट हो, उसे प्रथम निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है। ऐसे आनन्द में उसे प्रतीति होती है कि यह सम्पूर्ण आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय है। इसमें स्थिर होने से मुझे शक्तिमें से अधिक आनन्द प्रकट होगा। ऐसा सम्यग्दर्शन- इस आत्मा के आनन्द का

भानवाला हो, तब उसे सम्यग्ज्ञान आत्मा का (सम्यग्ज्ञान होता है)। और राग बाकी रहे, उसका उसे ज्ञान होता है। समझ में आया ?

आत्मा का ज्ञान... दर्शन में तो अकेला आत्मा अखण्डशुद्ध, उसकी प्रतीति का भान और अनुभव। ज्ञान-आत्मा पवित्र है और साथ में वर्तमान में अल्पज्ञता वर्तती है और जो रागादि भाव आते हैं, उन सबको जाने, उसे स्वसन्मुखता के ज्ञानवाला, उसे ज्ञान कहा जाता है। अद्भुत शर्त ! ऐसे ज्ञानसहित पंचम गुणस्थान में श्रावक को अन्दर स्वरूप की शान्ति विशेष प्रकटती है। सम्यग्दर्शन उपरान्त स्वरूप में, दूसरे कषाय का अभाव करके (विशेष शान्ति प्रकटी है)। सम्यक् में तो एक अनन्तानुबन्धी का अभाव है और भ्रान्ति का अभाव है। श्रावक को... श्रावक अर्थात् यह बाड़ा (सम्प्रदाय) में रहनेवालों की बात नहीं है। यह तो भगवान् सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कहे हुए की बात हैं। अन्दर में आत्मा के आनन्द का भान और शान्ति की - अविकारी शान्ति की वृद्धि पाँचवे गुणस्थान में होती है, कि जो शान्ति, सर्वार्थसिद्धि के समकृति देव से भी अधिक शान्ति होती है। समझ में आया ? सर्वार्थसिद्धि का देव सम्यग्दृष्टि-अनुभवी है, परन्तु उसे चौथा गुणस्थान है, पाँचवा नहीं।

पाँचवे गुणस्थान में मनुष्य को सम्यग्दृष्टि सर्वार्थसिद्धि के देव से भी अन्तर का शान्तभाव, अविकारी परिणामन चौथे गुणस्थानवाले एकावतारी सर्वार्थसिद्ध देव से बढ़ गयी शान्ति होती है। ऐसी भूमिका में ऐसे बारह व्रत के विकल्प होते हैं। भाई ! लोगों को एक भी तत्त्व का पता नहीं होता। वे बाहर से मानते हैं कि यह व्रत है और यह अतिचार टालो और यह करो। परन्तु नियम नहीं होता, वहाँ व्रत कहाँ से आये ? 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' - मूल ही नहीं है, उसे शाखायें कहाँ से आ गयी ? कौन जाने ? पूछो उस चतुर मनुष्य को। किसी जगह मूल के बिना कदाचित् वृक्ष होता होगा ?

कहते हैं ऐसे बारह व्रत के विकल्प, अहिंसा अणुव्रत - ऐसे पंचमगुणस्थान में, दूसरे त्रस को तो संकल्प से मारने का भाव होता नहीं, विरोधी हिंसा आदि का भाव होता है।

मुमुक्षु :- हिन्दी में...

उत्तर :- हिन्दी प्रवचन कहाँ आ गया फिर से ?

मुमुक्षु :- कहाँ से आये ? (श्रोता :- पंजाब से) ।

चौथी ढाल है, उसमें हिन्दी में १५ वाँ श्लोक है, गुजराती में १४वाँ है, हिन्दी में १५ वाँ है। है न अन्तिम का ? हिन्दी में १५ वाँ है। 'जो जीव बारह व्रतों के पाँच-पाँच अतिचारों को नहीं लगाता,...' यह व्याख्या चलती है। परन्तु किसको व्रत है, वह बात पहले चली। क्या चली ? कि, यह आत्मा शुद्ध आनन्द ज्ञाता-दृष्टा है, ऐसी अन्तर में पुण्य-पाप के भाव की रुचि छोड़कर और संयोगी निमित्त की रुचि छोड़कर, ज्ञानानन्दस्वभाव की अंतर्मुख की अनुभव दृष्टि हो उसका नाम सम्यग्दर्शन पहले कहने में आता है। भैया ! समझे ? सम्यग्दर्शन।

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणी मोक्षमार्गः' आता है न ? 'उमास्वामी'। 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' तो सम्यग्दर्शन किसको कहते हैं ? 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं।' तत्त्वार्थ किसको कहते हैं ? कि, जीव-ज्ञायक चैतन्यूर्ति भगवान् शुद्ध पूर्ण है, ऐसी अन्तर्मुख होकर (निर्विकल्प प्रतीति करना)। पुण्य-पाप का भाव आस्रवतत्त्व है। शरीर, कर्म अजीवतत्त्व है, अजीवतत्त्व की रुचि छोड़कर और शुभ-अशुभभाव जो होता है, वह आस्रवतत्त्व है। उसकी भी रुचि छोड़कर। आस्रव और अजीव से भिन्न अकेला ज्ञायक तत्त्व चिदानन्द भगवान् आत्मा है, ऐसी स्वसन्मुख में राग से विमुख होकर, निमित्त से विमुख होकर पूर्ण स्वभाव के सन्मुख होकर अन्तर में दृष्टि होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन कहने में आता है। समझे या नहीं ? यहाँ तो सादी हिन्दी है। हमें बहुत हिन्दी आती नहीं। साधारण हिन्दी है। हम तो काठियावाड़ी है न ! समझ में आया ?

भगवान् परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव, जिन्होंने एक समय में तीनकाल तीनलोक देखा। भगवान् से मुख जो सम्यग्दर्शन की व्याख्या आयी, वही व्याख्या भगवान् 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने की है। समझ में आया ? दो हजार वर्ष पहले संवत् ४९ में भरतक्षेत्र में 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' नग्न दिगंबर मुनि थे, जो भगवान् के पास गये थे, 'सीमंधर' परमात्मा के पास आठ दिन रहे थे। वहाँ से आकर 'समयसार' आदि यहाँ बनाये। उसी के अनुसार 'दौलतरामजी' ने भी 'छहढाला' में संत, मुनि तीर्थकर कहते हैं उसी प्रकार से हिन्दी में

‘छहढाला’ बनाई। अपने घर की कोई बात है नहीं। समझ में आया ?

कहेत हैं कि, बारह व्रत किसको होते हैं ? बारह व्रत पंचम गुणस्थान में होते हैं। समझ में आया ? पंचम गुणस्थान किसको कहते हैं ? सर्वार्थसिद्धि के एकभवतारी देव हैं, उसको सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन में उसको जितनी आत्मा के अनुभव की शांति मिली और उसे रागादि दूसरे तीन कषाय का भाव है, उससे पंचम गुणस्थान में उससे अधिक शान्ति होती है। वह चौथे गुणस्थान में हैं। और पंचम गुणस्थान के श्रावक, सच्चे श्रावक की बात चलती है, हाँ ! संप्रदायवाले की बात यहाँ नहीं है। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ की वाणी में आया कि, पंचम गुणस्थान का श्रावक ऐसा है कि, सर्वार्थसिद्धि से भी उसको आत्मा की शान्ति, अकषायभाव (विशेष प्रकट हुआ है)। दो कषाय टल गया है – अनंतानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी। प्रत्याख्यानी और संज्वलन दो (कषाय) रहे हैं। पंचम गुणस्थान में श्रावक को अपने अनुभव में आत्मा आनंदकंद शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा है, ऐसा आ गया है। इसके अलावा दूसरे कषाय के अभाव से शांति भी बढ़ गई है। ऐसे पंचम गुणस्थान में ऐसे बारह व्रत का विकल्प आता है, जो पुण्यबन्ध का कारण व्यवहारचारित्र कहने में आता है। समझ में आया ? भैया ! सूक्ष्म बात है। उसने अनंतकाल में चैतन्य का पता ही लिया नहीं।

नौवीं ग्रैवेयक अनन्तबार गया। इसमें पहले आ गया न ?

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो;

पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।

आता है ना उसमें ? पहले आ गया है, ‘छहढाला’ में आ गया है। क्या पंक्ति हैं ? कौन-सी है ? ‘मुनिव्रत धार’ आता है या नहीं ? चौथी ढाल की पाँचवी। ये चौथी चलती है उसकी न ? आता है, देखो ! पाँचवी (गाथा) है। चौथी ढाल का पाँचवा श्लोक है। ९९ पन्ना है। १०० में १ कम।

कोटि जन्म तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे;

ज्ञानीके छिनमें त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।

करोड़ों भव में, करोड़ों मनुष्यभव में, करोड़ों मनुष्यभव जब मिला तब। मनुष्यभव भी अनन्तकाल में मिलता है। उसमें भी मनुष्य भव में करोड़ों भव में, करोड़ों वर्ष तप करे परन्तु आत्मा के ज्ञान बिना उसमें कुछ लाभ है नहीं। 'मुनिव्रत धार अनन्तबार, ग्रीवक उपजायो;...' मुनिव्रत धार। अट्टाईस मूलगुण, पंच महाव्रत अनन्तबार लिये, अनन्तबार लिया। 'पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।' क्या कहते हैं ? पंच महाव्रत और अट्टाईस मूलगुण का विकल्प भी दुःखरूप है, राग है, आस्रव है। समझ में आया ? क्या कहा ? देखो !

'मुनिव्रत धार अनन्तबार, ग्रीवक उपजायो; पै निज आतमज्ञान...' विकल्पपुण्य का परिणाम है, पंच महाव्रत का, अट्टाईस मूलगुण का, महाव्रत का विकल्प जो राग है वह विकार है, दुःख है, आस्रव है। उसका पालन किया तो स्वर्ग में गया। परन्तु रागरहित मेरी चीज़ (है उसका) 'आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।' बराबर है ? आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप है। महाव्रत का, व्रत का विकल्प से भिन्न है, ऐसे आत्मा की अनुभव की दृष्टि किये बिना उसको अंश भी आत्मा का आनन्द आया नहीं। पंच महाव्रत पाला और आनन्द नहीं आया। क्योंकि पंच महाव्रत तो राग है, पुण्य है, दुःख है। आहा..हा... ! भाई ! दुनिया ने वीतरागमार्ग सुना ही नहीं।

सच्चे महाव्रत, हाँ ! सम्यग्दर्शन बिना के। अट्टाईस मूलगुण - खड़े-खड़े आहार, एकबार आहार, इन्द्रियदमन, षट् आवश्यक, सामायिक आदि बराबर (पाले), हाँ ! सम्यग्दर्शन बिना के। सम्यग्दर्शन हो तो भी वह है तो राग ही। बंध का कारण है। सम्यग्दर्शन मुनि को है, सच्चे मुनि को भी पंच महाव्रत का विकल्प आता है, वह राग है, आस्रव है, दुःख है, विकार है, बन्ध का कारण है - ऐसा ज्ञानी जानते हैं। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! अनन्तकाल में उसने तत्त्व को सुना ही नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि, आत्मदृष्टि बिना, अनुभव बिना, आत्मज्ञान के बिना अट्टाईस मूलगुण उसने अनन्तबार पाले। नग्न दिगम्बर (हुआ), हजारों रानियों का त्याग (करके) मुनि हुआ, आनन्द लेश न पाया, क्योंकि आनन्द तो आत्मा में है। महाव्रत का परिणाम तो शुभ है, राग है, दुःख है; उसमें आनन्द नहीं। भाई ! बहुत चिल्लाते हैं। हम पालते हैं न ! तू धूल पालता है। सुन तो सही, तुझे मालूम नहीं। श्रद्धा की खबर नहीं, ज्ञान की खबर नहीं।

यहाँ तो कहते हैं, निज आत्मज्ञान। भगवान का ज्ञान नहीं; भगवान परद्रव्य हैं, सिद्ध परद्रव्य हैं। अपना निज, शब्द है न ? 'पै निज आत्मज्ञान।' बड़ा शब्द है। उसमें गागर में सागर भर दिया है। 'दौलतरामजी' में सारे शास्त्र का हिन्दी में थोड़ा सार भर दिया है। लोगों को अर्थ का पता नहीं और कंठस्थ कर ले, बोल ले। 'निज आत्मज्ञान' अपना आत्मा। यह व्रतादि का जो विकल्प है, राग है, (उससे) भिन्न है, ऐसा अन्तर का आत्मज्ञान, आत्म अनुभव बिना, अंशमात्र भी अतीन्द्रिय आनन्द का सुख पाया नहीं। उसका अर्थ कि, आत्मा के ज्ञान बिना ऐसे पंच महाव्रत अनन्तबार पाले तो भी दुःख पाया। ऐसा अर्थ हुआ कि नहीं ? भैया ! दुःख पाया, ऐसा अर्थ है न ? आत्मा का आनन्द न पाया। आनन्द न पाया तो दुःख पाया, ऐसा अर्थ है न उसमें ? आहा..हा... ! समझे कुछ नहीं और ऐसा मान ले कि, हम समझते हैं, समझते हैं। बफम् में ही बफम् में जिंदगी चली गई। बफम् में अर्थात् अंधापे में – अज्ञान में; और अज्ञान में अनन्तकाल चला गया, परन्तु वास्तविक तत्त्व की क्या दृष्टि है और वास्तविक तत्त्व का ज्ञान क्या है और वास्तविक तत्त्वपूर्वक बारह व्रत के विकल्प का क्या स्वरूप है ? – उसका भी उसने बोध किया नहीं। यहाँ तो वह कहते हैं। यह चौथी ढाल की पाँचवीं गाथा है। पंद्रहवीं चलती है। समझ में आया ? चलती है वह पंद्रहवीं है, वह पाँचवीं थी।

आत्मज्ञान, जो आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द, आत्मा में बेहद आनन्द और ज्ञान है, ऐसा अनन्तगुण का पिंड प्रभु (जीवतत्त्व है)। पुण्य-पाप तो आस्रवतत्त्व है, शरीर, वाणी अजीवतत्त्व हैं। कहते हैं, यह सम्यग्दृष्टि जीव अपने ज्ञान के अनुभव की आनन्द की भूमिका में स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता तो उसे बारह व्रत का विकल्प, शुभराग आये बिना रहता नहीं। समझ में आया ? बारह व्रत का विकल्प है, वह पुण्यबन्ध का कारण है। आस्रव है या नहीं ? भैया ! कहते हैं, स्वर्ग मिलेगा, उससे स्वर्ग मिलेगा; और जितना स्वरूप की दृष्टि और अनुभव हुआ है, उससे संवर, निर्जरा होगी। भैया ! सूक्ष्म बात है, भैया !

लोगों में वर्तमान में बहुत गड़बड़ चली है। उस गड़बड़ के सामने यह बात आती है तो ऐसा लगता है कि, एकान्त है। भगवान ! सुन तो सही, प्रभु ! तेरी चीज़ निराली है, सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने जो फरमाया है ऐसा मार्ग दूसरे में कहीं है नहीं। वीतराग परमेश्वर

सर्वज्ञदेव एक समय में तीनकाल तीनलोक जिन्होंने देखा, उन्होंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान का ऐसा स्वरूप कहा है। समझ में आया ? सर्वज्ञ के अलावा दूसरे में तो कोई मार्ग है नहीं।

कहते हैं, ऐसे पंचम गुणस्थानवाला जीव बारह व्रत का पालन करे, शुभराग है, परंतु पीछे स्वरूप की दृष्टि और स्वरूप के आनन्द की शान्ति है उतना धर्म है। समझ में आया ? और जितना बारह व्रत का विकल्प आता है वह पुण्यबन्ध है। कहते हैं कि, 'पाँच-पाँच अतिचारों को नहीं लगाता...' पीछे 'मृत्यु काल में...' जब मृत्यु-काल आता है तब 'समाधि धारण करके...' देखो ! शान्त... शान्त... शान्त... अन्तर समाधि आनन्द (में) स्थिर होकर संन्यास धारण करे। 'उनके दोषों को दूर करता है...' श्रावक समाधिमरण में आत्मा के आनन्द में, अतीन्द्रिय आनन्द में दृष्टि देकर शान्ति में रहते हैं, तब उन्हें समाधिमरण होता है। अन्तर में शान्ति होती है तो समाधिमरण होता है।

'इस प्रकार श्रावक के व्रत पालन करके सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है,...' सोलहवें स्वर्ग (तक जाता है)। राग है न ! इतना पुण्यबन्ध हो जायेगा। मुनि को भी जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक आत्मा के अनुभव में तीन कषाय का अभाव है, इतनी तो संवर, निर्जरा है। उनको भी जितना पंच महाव्रत का परिणाम आता है, वह भी शुभराग आस्रव है। उससे बन्ध हो जायेगा स्वर्ग में जायेगा, (वह) संवर, निर्जरा नहीं (है)। समझ में आया ? भैया ! समझ में आया या नहीं ? 'उत्पन्न होता है, ...'

'वहाँ से मृत्यु प्राप्त करके...' देखो ! सम्यग्दृष्टि श्रावक अपने स्वरूप की दृष्टि अन्तर में रखकर, शान्ति का वेदन करके अन्त में समाधिमरण करके स्वर्ग में जाते हैं। सोलहवाँ अच्युत स्वर्ग है न ? अच्युत देवलोक में जाते हैं। 'वहाँ से मृत्यु प्राप्त करके...' वहाँ की स्थिति पूरी होकर 'मनुष्यपर्याय पाकर...' वहाँ से मनुष्य होता है। अपना अपूर्व काम (बाकी) रह गया, वह 'मुनि होकर मोक्ष जाता है।' श्रावकपने में कभी मोक्ष होता नहीं। समझ में आया ? भले पंचम गुणस्थान में अनुभव दृष्टि, एकावतारी हुआ परन्तु जब मुनि हो, दिगम्बर सन्त आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते, झूलते इतना अतीन्द्रिय आनन्द, तीन कषाय के अभाव में आते हैं, तब नग्न दिगम्बर अवस्था हो जाती है। दिगम्बर अवस्था; उनको वस्त्र-पात्र लेने का विकल्प होता

नहीं। ऐसी दिगम्बर मुनि अवस्था हुए बिना मोक्ष कभी होता नहीं। समझ में आया ? गृहस्थाश्रम में वस्त्र-पात्र सहित हो तो सम्यग्दृष्टि हो सकता है, पंचम गुणस्थान हो सकता है, मुनि नहीं हो सकता; और मुनि (हुए) बिना मुक्ति कभी होती नहीं।

यह कहते हैं, देखो ! ‘मनुष्यपर्याय पाकर मुनि होकर मोक्ष जाता है।’ स्वर्ग में से निकलकर उत्तम कुल में पुण्य के कारण उत्पन्न होता है। वहाँ अल्पकाल में गृहस्थाश्रम छोड़ देते हैं। मुनिपना आत्मा के आनन्द में, अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते उग्र पुरुषार्थ से शान्ति का वेदन करते-करते पंच महाव्रत का पहले विकल्प आता है, फिर उसे भी छोड़कर स्वरूप में स्थिर होकर केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। समझ में आया ? नीचे नोट है न ? संलेखना की व्याख्या करेंगे।

‘क्रोधादि के वश होकर विष, शस्त्र अथवा अन्नत्याग आदि से प्राणत्याग किया जाता है, उसे आत्मघात कहते हैं। संलेखना में सम्यग्दर्शनसहित...’ है। संलेखना आत्मघात नहीं, वह आपघात नहीं। संलेखना में आनन्दकन्द की भूमिका का भास है अन्दर। ‘सम्यग्दर्शनसहित आत्मकल्याण के हेतु...’ अन्तर में आनन्द में रहने के कारण, अतीन्द्रिय आनन्द में झूलने के कारण ‘काया और कषाय को कृष करते हुए...’ काया भी कृष पडती है और कषाय भी पतला हो जाता है। ‘सम्यक् आराधनापूर्वक...’ आत्मा की शान्ति, निर्विकल्प आनन्द की आराधनापूर्वक ‘समाधिमरण होता है, इसलिये वह आत्मघात नहीं...’ वह तो ‘धर्मध्यान है।’ वह आत्मघात नहीं। लोग कहते हैं, वह मर गया। ऐसा नहीं है।

सम्यक् आत्मा के अनुभव में आनन्दकन्द में झूलते (हुए) शरीर का कृश होना और कषाय थोड़ा पतला है, उसे भी कृश करते हैं, और आत्मा का अकषायभाव उग्र करते हैं। ऐसे में देह छूट जाना, वह तो आत्मध्यानसहित धर्मध्यान है, उसको समाधिमरण कहते हैं। समझ में आया ? देखो, भावार्थ।

‘जो जीव श्रावक के उपर कहे हुए बारह व्रतों का विधिपूर्वक जीवपर्यंत पालन करते हुए उनके पाँच-पाँच अतिचारों को भी टालता है...’ शास्त्र में सब अधिकार हैं। ‘मृत्युकाल में दोषों का नाश करने के लिये विधिपूर्वक समाधिमरण (संलेखना) धारण करके उनके पाँच

अतिचारों को भी दूर करता है, वह आयु पूर्ण होने पर मृत्यु प्राप्त कर... 'देखो ! आयु पूर्ण होने पर उसकी मृत्यु होती है, आगे-पीछे मृत्यु होता नहीं। जिस समय जहाँ आयु पूर्ण होनेवाला है, वहाँ होता है। 'सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है।' यह तो उत्कृष्ट बात कही है, हाँ ! कोई आठवें, पाँचवें, दसवें स्वर्ग तक भी जाये, कोई सोधर्म में भी जाये। पहला सोधर्म देवलोक है, वहाँ भी उत्पन्न हो परन्तु उत्कृष्ट जाये तो श्रावक सोलहवें तक जाये।

'फिर देवायु पूर्ण होने पर मनुष्य आयु पाकर, ...' मनुष्यभव बिना मुनिपना होता नहीं। देव में मुनिपना नहीं, सम्यग्दर्शन है, नारकी में सम्यग्दर्शन है, पशु में पंचम गुणस्थान है। समझ में आया ? पशु है न ? पशु, उसे पाँचवा गुणस्थान श्रावक होता है। अढाई द्वीप के बाहर असंख्य श्रावक हैं। ये अढाई द्वीप है ना ? अढाई द्वीप के बाहर असंख्यद्वीप, समुद्र हैं। स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्य श्रावक हैं। सुना है या नहीं ? अढाई द्वीप के बाहर। ये अढाई द्वीप तो मनुष्य का है, उसमें तो संख्यात् मनुष्य हैं। अढाई द्वीप के बाहर असंख्य समुद्र हैं। बाहर असंख्य समुद्र और द्वीप हैं। उसमें एक स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्यात समकित्ती पंचम गुणस्थानवाले पशु हैं। किसी को अवधिज्ञान है, किसी को जातिस्मरण है। ऐसा सम्यक् अनुभववाला, हाँ ! आत्मदर्शनवाले। ऐसे असंख्य श्रावक स्वयंभूरमण समुद्र में हैं, लेकिन उसमें मुनिपना नहीं आता। नारकी और देव में चौथा गुणस्थान होता है, पशु में पंचम होता है, मनुष्य को तो चौथे से केवलज्ञान तक प्राप्त होता है। समझ में आया ?

पशु का नहीं सुना होगा। अढाई द्वीप के बाहर है, भैया ! स्वयंभूरमण समुद्र है, द्वीप हैं, मगरमच्छ हैं, मच्छी हैं। समकित्ती, आत्मज्ञानी, हाँ ! आत्मा का अनुभव करनेवाला, आनन्द का अनुभव करते-करते पंचम गुणस्थानवाले। पंचम गुणस्थानवाले असंख्य श्रावक बाहर हैं, पशु ! भाई ! कौन जाने भगवान जाने कौन होंगे ? मनुष्य में तो मनुष्य थोड़े हैं। भगवान ने असंख्य श्रावक कहे हैं। परमात्मा केवलज्ञानी त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव ने पंचम गुणस्थानवाले असंख्य श्रावक कहे हैं। समझ में आया ? तो मनुष्यपने में तो असंख्य है नहीं। बाहर पशु में हैं। समझ में आया ?

कहते हैं, पूर्ण शुद्धता प्राप्त करने का एक मनुष्यपना ही है, दूसरे में है नहीं। समझ में

आया ? आत्मा का आनन्द, सच्चिदानन्द प्रभु सिद्ध समान, जैसा सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा है, ऐसे आत्मा का आनन्द अनुभव हो, तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। समझ में आया ? आहा..हा... !

मुमुक्षु :- बहुत कठिन है...

उत्तर :- है, ऐसा है। अनादि है। दुनिया कुछ मान लेती है। दुनिया निम्बोली को नीलमणि मान ले तो क्या नीलमणि हो जाती है ? ऐसे सम्यग्दर्शन मान ले कि, हमें देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा है, नौ तत्त्व की श्रद्धा है तो समकित है। वह समकित है ही नहीं। समझ में आया ? वह तो अनन्तबार नौवीं ग्रैवेयक गया तब ऐसा तो अनन्तबार माना था। अनन्तबार नौवीं ग्रैवेयक गया। समझ में आया ? दिगम्बर लिंग धारण करके, अट्टाईस मूलगुण (का) पालन करके, हजारों रानियों का त्याग करके (गया)। वह पहले आया न ? समझ में आया ?

सम्यग्दर्शन भगवान इसको कहते हैं, 'भूदत्थमस्सिदो खलु सम्पादिट्ठी हवदि जीवो।' भगवान आत्मा... 'समयसार' की ११ वीं गाथा में है। 'भूदत्थमस्सिदो' भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप पूर्ण आनन्द अनन्त गुण का पिंड, निर्विकल्प आनन्द (स्वरूप में) अन्तर सन्मुख होकर, पुण्य-पाप का विकल्प, राग से विमुख होकर, निमित्त से विमुखता होकर अन्तर आनन्दस्वरूप में सन्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्द के वेदनसहित प्रतीति हो, उसका नाम सर्वज्ञ परमात्मा, सम्यग्दर्शन कहते हैं। भैया ! समझ में आया ? उसके बिना सब मिथ्यादृष्टि है। चाहे तो नौ तत्त्व को विकल्पसहित माने, चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र को माने। उनको माने बिना तो शुक्ललेश्या तो होती नहीं। नौवीं ग्रैवेयक गया तो शुक्ललेश्या लेकर गया। सुना है न ? भैया ! नौवीं ग्रैवेयक आया न पहले ? 'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रैवेयक,' शुक्ललेश्या, हाँ ! अनन्तबार शुक्ललेश्या हुई।

शुक्लध्यान दूसरी चीज़ (है), शुक्ललेश्या दूसरी चीज़ (है)। शुक्ललेश्या तो अभवि को भी होती है। शुक्लध्यान दूसरी चीज़ (है)। वह तो आत्मा का अनुभव (होने के बाद) आठवें गुणस्थान में शुक्लध्यान होता है। शुक्ललेश्या अनन्तबार प्रत्येक प्राणी को आ गई। नौवीं ग्रैवेयक अनन्तबार गये। सुना न नौवीं ग्रैवेयक ? ग्रैवेयक। चौदह राज पुरुषप्रमाण है।

ग्रैवेयक यहाँ सर पर है। भगवान केवलज्ञानी परमात्मा ने लोक को पुरुषाकार देखा है। वहाँ ग्रैवेयक के स्थान में ग्रैवेयक की नव पृथ्वी हैं। वहाँ ३१ सागरोपम की स्थिति में अनन्तबार जीव (गया है)। पंच महाव्रत का परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण का परिणाम, हजारों रानियों का त्याग, बारह-बारह महिने का उपवास का भाव, ऐसी शुक्ललेश्या करके नौवीं ग्रैवेयक अनंतबार गया। समझ में आया ? आत्मा का कोई कार्य किया नहीं। शुभभाव... शुभभाव... शुक्ललेश्या का शुभभाव। ऐसा शुभभाव कि, दूसरे देवलोक की इन्द्राणी डिगाने आये तो डिगे नहीं, ऐसा उसका शुक्ललेश्या का शुभभाव होता है। समझ में आया ? उसके लिये आहार बनाने में एकेन्द्रिय का एक पत्ता भी मरा हो तो आहार न ले। उसके लिये बना हुआ आहार हो तो प्राण जाये तो भी न ले। ऐसी शुक्ललेश्या अनन्तबार की। समझ में आया ? परन्तु आत्मा के सम्यग्दर्शन बिना उसका कुछ लाभ हुआ नहीं। आहा..हा... ! कहो, समझ में आया ? वह यहाँ कहते हैं, देखो !

‘सम्यक्चारित्र की भूमिका में रहनेवाले राग के कारण वह जीव स्वर्ग में देवपद प्राप्त करता है;...’ श्रावक समकिति आत्मा का अनुभव करनेवाला, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हुआ है, उसको श्रावक कहते हैं। संप्रदाय में है, उसे श्रावक नहीं कहते हैं। समझ में आया ? थैली में चिरायता भरा हो और ऊपर से शक्कर नाम रखे तो वह चिरायता मीठा नहीं होता। मीठी हो जाये ? उपर शक्कर लिखते हैं न ? ऐसे नाम रखे कि, हम श्रावक हैं, मुनि हैं। रखो नाम। थैली रखो, अन्दर में क्या ? मिथ्यात्वभाव पड़ा है, जहर तो पड़ा है। समझ में आया ? राग का कण भी दया, दान, व्रत का विकल्प उठता है वह राग है। उस राग से अपने को लाभ मानना वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। उसके हृदय में जहर भरा है। भगवान त्रिलोकनाथ उसको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसको समकिति तो नहीं (कहते), तो श्रावक तो है ही नहीं। समझ में आया ? भाई ! कठिन बात है, भाई ! यह कहते हैं।

श्रावक को अपने स्वरूप की दृष्टि अनुभव की हुई है। मैं आनन्द, शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ। राग आता है, वह भी आस्रवतत्त्व है। सात तत्त्व में शरीर, कर्म अजीवतत्त्व है। सात तत्त्व हैं न ? जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। ये शरीर, कर्म, वाणी ये सब

अजीवतत्त्व हैं। अजीवतत्त्व के द्रव्य-गुण-पर्याय अजीव में है। अजीव की पर्याय, अजीव से होती है, मेरे से नहीं; और अन्दर में पुण्य-पाप का भाव शुभ-अशुभ होता है, वह आस्रवतत्त्व है। आस्रवतत्त्व अजीव से भिन्न है और अजीव से आस्रव से भिन्न है और पुण्य-पाप का भाव आस्रव से भगवान आत्मा भिन्न है। ज्ञानानन्द भगवान आत्मा का, आस्रवतत्त्व से भिन्न होकर अपने स्वरूप की अन्तर अनुभव दृष्टि करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन और उसका नाम सम्यग्ज्ञान है।

ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक श्रावक को अन्तर में शान्ति बहुत बढती है। वह तो पहले कहा। सर्वार्थसिद्धि में एकभवतारी सम्यग्दृष्टि हैं, उससे भी पंचम गुणस्थानवाले श्रावक को शांति बढ गई है। उसको (देव को) एक अनंतानुबंधी कषाय का त्याग है। सच्चा श्रावक होता है, उसे दो कषाय का त्याग है। अनंतानुबंधी का और अप्रत्याख्यानवरणीय का। तो अन्दर में शान्त... शान्त... शान्ति का वेदन श्रावक को है। अनन्तगुणी शान्ति अन्दर में बढ गई है। आहा..हा...! ऐसी भूमिका में जो बारह व्रत का विकल्प होता है, उससे पुण्यबन्ध होकर स्वर्ग में चले जाते हैं। समझ में आया ? इतना पुण्य बाकी है तो स्वर्ग में चले जाते हैं।

मुमुक्षु :- बाद में ख्याल आता है, पहले ख्याल नहि आता।

उत्तर :- तो फिर उसका ख्याल कहाँ से आया ? पहले आत्मा जाने बिना पर का ख्याल आया कहाँ से ? एक का भान नहीं और दो का भान होता है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! अरे.. भगवान ! प्रभु !

तेरी चीज़ में तो अनन्त अनन्त शान्ति आदि पड़ी है। अनन्त गुण भरे हैं, अनन्त गुण ! भैया ! कितने गुण है ? सुना है कभी ? कितने अनन्त ? दस-बीस नहीं। शास्त्र में है, अनन्त की गिनती कितनी ? कि, अभी तक जितने सिद्ध हुए, छह मास और आठ समय में, भगवान सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ ने देखा है कि, छह मास और आठ समय में ६०८ मुक्ति को पाते हैं। समझे ? छह मास और आठ समय में ६०८ मुक्ति को पाते हैं। तो अभी तक जो सिद्ध हुए, अभी तक अनादि से सिद्ध होते आये हैं, अबी यहाँ नहीं है तो महाविदेहक्षेत्र में भगवान

बिराजते हैं, त्रिलोकनाथ 'सीमंधर' प्रभु मनुष्यदेह में बिराजते हैं। वहाँ भी अभी साधु, सन्त, सन्त, आत्मज्ञानी, ध्यानी केवलज्ञान पाकर मोक्ष जाते हैं। तो छह मास और आठ समय में ६०८ मोक्ष पाते हैं। इतने अनन्त पुद्गल परावर्तन हो गये, उन सिद्ध की संख्या से एक शरीर... आलु... आलु होता है न ? बटाटा नहीं कहते ? आलु, कोई, लील-फूग होती है न ? पानी के उपर होती है, उसे क्या कहते हैं ? कोई कहते हैं ना ? कोई का इतना टूकडा लो, एक टूकडा में असंख्य औदारिकशरीर हैं। एक शरीर में अभी तक सिद्ध हुए उससे अनंतगुने जीव हैं। समझ में आया ? जितने सिद्ध हुए उससे, कोई का एक इतना टूकडा लो उसमें असंख्य तो औदारिक शरीर हैं। असंख्य औदारिक शरीर इतने में, हाँ ! गप्प नहीं, यथार्थ है। सुना नहीं तो क्या हुआ ? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने कहा है, ऐसा है। एक शरीर उसमें से लो, असंख्यमें से, तो एक शरीर में इतने आत्मा हैं कि, सिद्ध से भी अनंतगुने। और उससे ये शरीर के रजकण, दुनिया के परमाणु हैं उससे अनन्तगुने हैं, जीव की संख्या से पुद्गल की परमाणु की संख्या अनन्तगुनी है। समझ में आया ? और उससे आकाश सर्वव्यापक है, आकाश सर्वव्यापक है न ? अलोक है न ? अलोक। यह तो चौदह ब्रह्मांड लोक है। खाली अलोक (है)। चला जाये, चला जाये आकाश चला जाता है, कहीं अन्त नहीं, कहीं अन्त नहीं, अन्त नहीं। उतना आकाश, उसके इतने टूकडे को प्रदेश कहते हैं। ऐसा अनन्त आकाश, जितने आकाश के प्रदेश हैं वे परमाणु की संख्या से अनन्तगुने हैं।

इस अनन्तगुने से एक जीव में उससे अनन्तगुने गुण हैं। समझ में आया ? आहा..हा... ! कुछ मालूम नहीं। घर के बर्तन मालूम है, कितनी थाली और कितने बर्तन है ? धूल में भी मालूम नहीं। आत्मा कौन है ? देह में बिराजमान प्रभु आत्मा, आकाश के प्रदेश की संख्या अमाप अनन्त, उससे अनन्तगुने गुण हैं। अनन्त गुण का पिंड आत्मा भगवान, पुण्य और पाप के शुभ-अशुभराग की रुचि छोड़कर ऐसे अनन्त गुण भगवान की अन्तर अनुभव में दृष्टि होना, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना, उसका नाम भगवान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञानपूर्वक श्रावक को बारह व्रत का शुभराग आता है। इस शुभराग से

तो स्वर्ग में जाते हैं। जितनी अन्तर में निर्मलता प्रकट हुई है, उतनी तो संवर और निर्जरा प्रकट हुई। समझ में आया ? सच्चे श्रावक की बात करते हैं। वैसे तो सब अपने को श्रावक कहते हैं, हम श्रावक हैं, जन्म ले तब से कहते हैं, हम श्रावक हैं, श्रावक हैं। कौन ना कहे ? पैसे देने पडते हैं ? समझ में आया ?

‘किन्तु संवर, निर्जरारूप शुद्धभाव है;...’ देखो ! क्या कहा ? श्रावक को आत्मा के अनुभवपूर्वक जितना बारह व्रत का राग रहा, उतना पुण्यबंध हुआ और संवर, निर्जरा तो शुद्धभाव है। अन्दर में जितना पुण्य-पाप से रहित, बारह व्रत के विकल्प से रहित, संवर के अनुभव में स्थिरता शान्ति की, आनन्द की हुई वह शुद्धभाव है। शुद्धभाव संवर, निर्जरा है और शुभभाव जो बारह व्रत का है, वह आस्रव है। समझ में आया ? भैया !

शुभ, अशुभ और शुद्ध। भाव की तीन जाति हैं। आत्मा में हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना अशुभभाव हैं और इस हिंसा में मीठास आना और दया, दान, व्रत का परिणाम शुभ है वह ठीक है, ऐसा भाव आना, वह मिथ्यादृष्टि का अशुभभाव है। और मिथ्यादृष्टि जाने के बाद भी जितना हिंसा, झूठ, चोरी, विषमय का भाव (आता है वह) पाप (है), और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा का भाव पुण्य (है)। पुण्य और पाप दोनों आस्रवतत्त्व है। ये शुभभाव भी आस्रव है और उससे रहित जितने निर्विकल्प आत्मा के आश्रय शुद्ध शुद्धा, ज्ञान, शान्ति प्रकट हुए वह शुद्धभाव है। वह शुद्धभाव संवर, निर्जरा है। समझ में आया ? सातों तत्त्व आ गये, देखो !

शरीर, अजीव आदि। ये शरीर और कर्म अजीवतत्त्व हैं, अजीव है। ये मिट्टी है न ? अजीव है। जड़ कर्म अजीवतत्त्व है। ये वाणी अजीवतत्त्व जड़ तत्त्व है। यह अजीव हुआ। हिंसा, झूठ, आदि के परिणाम होते हैं, वे पापरूपी अशुभ आस्रव परिणाम (हैं)। दया, दान, व्रत के (परिणाम) पुण्यरूपी आस्रवतत्त्व (है)। उससे भिन्न भगवान ज्ञानमूर्ति चिदानन्द आत्मतत्त्व (है)। उसकी अन्दर में शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान प्रकट करना, वह संवर, निर्जरा तत्त्व (है) और पूर्ण शुद्धि प्रगट होना, वह मोक्षतत्त्व (है)। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- पहले क्या करना ?

उत्तर :- ये क्या कहते हैं ? धर्म के लिये पहले आत्मा राग से भिन्न है, उसकी अनुभव दृष्टि करनी। वह धर्म के लिये पहले हैं। पहले एक के बिना शून्य कहाँ से आया ? आहा..हा... ! समझ में आया ? 'एक होय त्रणकाळमां परमार्थनो पंथ' – वीतराग परमेश्वर ने कहा हुआ, बरत, ऐरावत या महाविदेह में सभी भूमि में 'एक होय त्रणकाळमां परमार्थनो पंथ' परमार्थ का पंथ दो, तीन, चार होता नहीं। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु :- पुरुषार्थ किये जा।

उत्तर :- कौन-से प्रकार का ? किस प्रकार का ? पुरुषार्थ – पुण्य-पाप के विकल्प से आत्मा पर है, उसका पुरुषार्थ किये जा, ऐसा है। समझ में आया ? ऐसा कहते हैं कि, पुरुषार्थ किये जा। किस प्रकार का ? क्या जड़ का पुरुषार्थ आत्मा कर सकता है ? आत्मा शरीर को हिला सकता है ? ये तो मिट्टी है, अजीव है। उसमें उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् है। उसमें पर्याय का उत्पाद होता है, जड़में जड़ से होता है। क्या आत्मा उसका उत्पाद पुरुषार्थ से कर सकता है ? माननेवाला मूढ है। जड़ की पर्याय मेरे से होती है, वाणी मेरे से होती है, जड़ की पर्याय का उत्पाद जड़ से होता है। पूर्व की पर्याय का व्यय, नयी पर्याय का उत्पाद, सदृशपना ध्रुव (है)। यह तो प्रत्येक परमाणु का उत्पादव्ययध्रुवयुक्त सत् उसका धर्म है। वह माने कि, मेरे से जड़ की पर्याय हुई, मैं बोलता हूँ। मूढ है। जड़ की पर्याय को, अजीव को जीव माना। अजीव को जीव माने, वह मिथ्यादृष्टि (है)। रट तो ले। विचार करने की कुछ खबर नहीं। 'वांचे पण नहीं करे विचार' 'दलपतराम' का आता था न ? 'ए समझे नहीं सघळो सार।' 'दलपतराम' में आता था। 'दलपत' कवि में (आता था)।

यहाँ तो कहते हैं, जड़ कर्म, शरीर, वाणी जगत के स्वतंत्र पदार्थ हैं। उसकी पर्याय का मैं आत्मा कर्ता नहीं; जैसे ईश्वर कोई जगत का कर्ता नहीं। जगत स्वयंसिद्ध तत्त्व है। ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मी जानते हैं। जड़ अजीवतत्त्व का कुछ करना आत्मा (का कार्य) नहीं। अजीव की पर्याय अजीव से होती है, अजीव का गुण अजीव में है, अजीव का द्रव्य अजीव में है, अजीव का द्रव्य-गुण का परिणमन अजीव से होता है। समझ में आया ? भैया ! अजीव की पर्याय अजीव से होती है, आत्मा से नहीं। कठिन बात है, भाई !

ऐसा हाथ चलता है, उसका आत्मा कर्ता नहीं है। ये हाथ चलता है, उसका आत्मा कर्ता है - ऐसा माननेवाला अजीव को जीव मानता है। मूढ मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, वीतराग की आज्ञा की उसे खबर नहीं। समझ में आया ? अजीव से भिन्न पुण्य-पाप का शुभ-अशुभ परिणाम दोनों आस्रव हैं। दोनों से बन्ध है, शुभ हो या अशुभ हो, दोनों से बन्ध है। अबन्ध नहीं, अबन्ध अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं। अबन्ध स्वभाव भगवान आत्मा चादिनन्द की मूर्ति, उसके सन्मुख होकर सम्यक् प्राप्ति होना, वह शुद्धभाव है। यह शुद्धभाव संवर-निर्जरा है। आत्मा जीवद्रव्य है, वह संवर, निर्जरा है, पूर्ण शुद्धि मुक्ति है, पुण्य-पाप आस्रव है, उससे बन्ध होता है। जड़ की पर्याय जड़ बन्ध है, वह अजीव है। ऐसा भिन्न-भिन्न सात तत्त्व का यथार्थ अन्तर अनुभवपूर्वक श्रद्धा होनी, उसका नाम सम्यग्दर्शन-‘तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्’ कहते हैं। समझ में आया ? भैया ! अरे.. ! भगवान के मार्ग सब लूट चल रही है। मार्ग कहाँ रहा और कहाँ मानकर चलते हैं। समझ में आया ? यह कहते हैं, देखो !

श्रावक को जितना शुभभाव है, (उससे) वह स्वर्ग को प्राप्त करता है। धर्म का फल संसार की गति नहीं। कोई कहता है कि, अपने धर्म करते हैं तो स्वर्ग मिलेगा। स्वर्ग का तो बन्ध है। धर्म से बन्ध होता है ? जिस भाव से बन्ध हा वह धर्म है ? समझ में आया ? जिस भाव से बन्ध हो, वह भाव धर्म नहीं। धर्म से बन्ध होता ही नहीं। धर्म तो संवर, निर्जरा है। समझे ? नहीं समझे। धर्म से आत्मा का स्वभाव मिले। पुण्य परिणाम, धर्म नहीं। उससे बन्ध (होता है), बन्ध से स्वर्गादि मिले। धर्म से मिले ? और स्वर्ग का जो भाव है, वह धर्म है ? धर्म से बन्ध हो तो फिर छूटने का क्या उपाय ? समझ में आया ? आहा..हा... ! (अज्ञानी) चिल्लाते हैं। जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बंधता है, वह भाव भी धर्म नहीं। बन्ध पडा है न ? बन्ध है, शुभभाव है। षोडशकारण भावना शुभभाव है। सम्यग्दृष्टि जानते हैं कि, ये भाव आते हैं, लेकिन है बन्ध। मेरी चीज़ तो राग से भिन्न है, उसको मैं सम्यग्दर्शन-ज्ञान जानता हूँ, ऐसा माने। आहा..हा... ! समझ में आया ? कुछ भान नहीं और (कहे कि), हम जैन हैं। जैन किसको कहना ? जैन का सर पर सिक्का मारा है तो जैन हो गया ?

भगवान सर्वज्ञदेव परमेश्वर त्रिलोकनाथ कहते हैं कि, श्रावक को जो शुभभाव रहा,

उससे तो स्वर्ग मिला और संवर, निर्जरारूप शुद्धभाव है, उस धर्म की पूर्णता वह मोक्ष है। तीनों आ गये, देखो ! श्रावक को जितना शुभभाव रहा उससे पुण्यबन्ध हुआ, बन्ध मिला और आत्मा का स्वभाव का अनुभव करके जितना निर्विकारी अकषाय परिणाम हुआ, उसका नाम संवर, निर्जरा (है)। पूर्ण शुद्धि हुई, उसका नाम मुक्ति। समझ में आया ? चौथी ढाल पूरी हुई, लो !

नीचे लीखा है वह सब आ गया है। इस ओर (फूटनोट) है। ११९ पन्ना। 'अज्ञानपूर्वक चारित्र सम्यक् नहीं कहलाता,..' है उसमें ? है ? 'पुरुषार्थसिद्धि उपाय' का श्लोक है।

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।

ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्॥३८॥

अज्ञान नाम आत्मा का चिदानन्द ज्ञाता-दृष्टा के अनुभव के भान बिना चारित्र सम्यक् नहीं कहलाता। चारित्र को सम्यक् लागू नहीं पडता; मिथ्याचारित्र है। मिथ्याचारित्र अर्थात् राग की क्रिया है। 'इसलिये चारित्र का आराधन ज्ञान होने के पश्चात् कहा है।' अपना अनुभव, दृष्टि करना, बाद में अन्तर स्वरूप का चारित्र स्वरूप में स्थिरता बाद में होती है। दर्शन, ज्ञान बिना चारित्र होता नहीं हो, चार ढाल पूरी हुई।

पाँचवी ढाल

भावनाओं के चिंतवन का कारण, उसके अधिकारी और उसका फल

मुनि सकलव्रती बड़भागी भव-भोगनतैं वैरागी;
वैराग्य उपावन भाई, अचिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई॥१॥

अन्वयार्थ :- (भाई) हे भव्य जीव ! (सकलव्रती) महाव्रतों के धारक (मुनि) भावलिंगी मुनिराज (बड़भागी) महान पुरुषार्थी हैं, क्योंकि वे (भव-भोगनतैं) संसार और भोगों से (वैरागी) विरक्त होते हैं और (वैराग्य) वीतरागता को (उपावन) उत्पन्न करने के लिये (भाई) माता समान (अनुप्रेक्षा) बारह भावनाओं का (चिन्तैं) चिंतवन करते हैं।

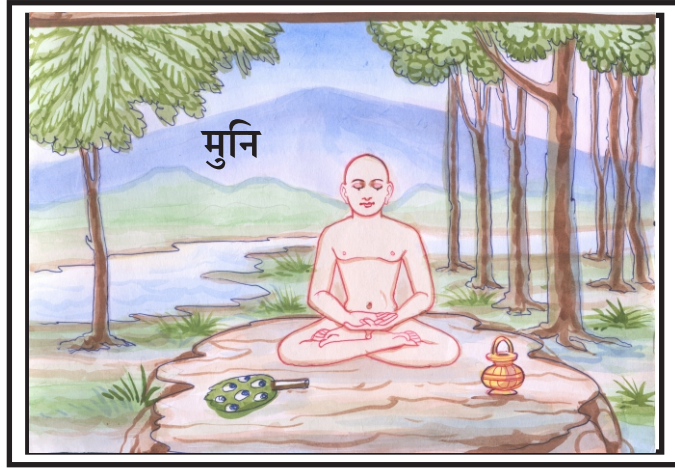
भावार्थ :- पाँच महाव्रतों को धारण करनेवाले भावलिंगी मुनिराज महापुरुषार्थवान हैं, क्योंकि वे संसार, शरीर और भोगों से अत्यन्त विरक्त होते हैं, और जिस प्रकार कोई माता पुत्र को जन्म देती है, उसीप्रकार यह बारह भावनाएँ वैराग्य उत्पन्न करती हैं, इसलिये मुनिराज इस बारह भावनाओं का चिंतवन करते हैं।

अब पाँचवी, पाँचवी ढाल है, भैया ! पहला श्लोक। 'भावनाओं के चिंतवन का कारण, उसके अधिकार और उसका फल।' श्रावक के बाद अब मुनि लेते हैं। पहले सम्यग्दर्शन का अधिकार बहुत आ गया। सम्यग्ज्ञान का आ गया, श्रावक के व्रत का आ गया, अब मुनि की बात करते हैं।

मुनि सकलव्रती बड़भागी भव-भोगनतैं वैरागी;
वैराग्य उपावन भाई, अचिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई॥१॥

श्रावक होने के बाद मुनिपना लिये बिना विशेष शान्तिहोती नहीं, मुक्तिहोती नहीं। 'हे भव्य जीव ! महाव्रतों के धारक भावलिंगी मुनिराज...' मुनि दिगम्बर होते हैं और अन्तर में आनन्द की, अतीन्द्रिय आनन्द की दशा (प्रगट होती है)। भगवान के शासन में मुनि उसको कहते हैं, क्षण में सप्तम गुणस्थान आता है। अकेला आनन्द.. आनन्द... आनन्द... क्षण में छठे गुणस्थान का विकल्प आता है।

एक दिन में हजारों बार छठा-सातवाँ गुणस्थान आता है, उसको भगवान के शासन में मुनि कहने में आया है। समझ में आया ? भैया ! छठा-सातवाँ गुणस्थान है न ? अन्तर में तीन कषाय का अभाव हुआ है। छठा गुणस्थान हुआ। अन्तर आत्मा



(के) अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन(प्रगट हुआ है)।

जो श्रावक को अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन है, उससे भी मुनि को अन्दर से बहुत आनन्द बढ गया। अन्दर अतीन्द्रिय भगवान में से प्रवाह (प्रगट) हुआ। तीन कषाय का नाश होकर मुनिपना प्रगट होता है। अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में जब छठे गुणस्थान में है, तब उनको पंच महाव्रत का विकल्प होता है। पंच महाव्रत का विकल्प राग है, पुण्य (है)। क्षण में वह विकल्प छूट जाता है। अतीन्द्रिय आनन्द का भिन्न गोला ! क्षण में सप्तम, क्षण में छठा, क्षण में सप्तम, क्षण में छठा। ऐसी भूमिका को जैनशासन में भावलिंगी संत कहते हैं। समझ में आया ? आगो थोड़ा कहेंगे, हाँ ! उनकी नींद भी थोड़ी (है)। इतनी काग-नींद जितनी। उनको पौन सैकेन्ड नींद आती है। भावलिंगी संत को पौन सैकेन्ड नींद आती है। पीछे कहेंगे, रयन में आता है न

पीछे ? रयनि नहीं (आता) ? पिछली रयनि। कहाँ (है) ? पीछे ? छठी ढाल, छठी ढाल में है। वह छठी ढाल में है। 'पिछली रयनि' शब्द आता है। छठी ढाल का पाँचवा श्लोक।

समता सम्हारैं, श्रुति उचारैं, वन्दना जिनदेवको;
नित करैं श्रुतिरति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेवको।
जिनके न न्हौन, न दंतधोवन, लेश अम्बर आवरन;
भूमांहि पिछली रयनि में कछु शयन एकासन करन॥५॥

मुनिदशा किसको कहें ! ओ..हो..हो... ! परमेश्वरपद ! पिछली रात में थोड़ी आती है, छठवें प्रमत्त गुणस्थान में पौन सैकन्द निद्रा आती है। फिर जागृत होकर सप्तम गुणस्थान में (आ जाते हैं)। फिर छठा। समझ में आया ? आहा..हा... ! मुनिपना किसको कहना ? (यह) दुनिया ने सुना नहीं। जिनको गणधरदेव नमस्कार करे। पंच नमस्कार में णमो लोए सव्वसाहूणं। ऐसे छोटे साधु को नमन नहीं करते परन्तु गणधर भगवान अभी 'सीमंधर' प्रभु के पास बिराजते हैं, वे जब बारह अंग की रचना करते हैं, (उस समय) णमो लोए सव्व साहूणं (बोलते हैं)।

हे अढ़ाई द्वीप में संत मुनि, आत्मज्ञानी-ध्यानी आनन्दकन्द में झूलनेवाले, हे संत ! तुम्हारे चरण में मेरा नमस्कार। समझ में आया ? गणधर के नमस्कार जिनके चरणों में पहुँचे, उनको मुनि कहते हैं। बारह अंग की रचना करते हैं, तब पंच नमस्कार (मंत्र) का विकल्प आता है न ? गणधर चार ज्ञान और चौदह पूर्व अंतर्मुहूर्त में रचते हैं। वह भी जब पंच (परमेष्ठी) स्मरण का अथवा रचना का विकल्प आया (तब बोलते हैं), णमो लोए सव्व आईरियाणं। 'लोए' शब्द सब में लागू पडता है। आखिर का शब्द है, अन्तदीपक है, अन्तदीपक है। णमो लोए सव्व अरिहंताणं। मूल तो ऐसा है। णमो लोए सब में लागू पडता है। णमो लोए सव्व सिद्धाणं, णमो लोए सव्व आइरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्जायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।

अहो संत ! छठी-सातवीं भूमिका के आनन्द में झूलनेवाले, उनके चरण में मेरा नमस्कार है। गणधर नमस्कार करते हैं, वह मुनि की दशा जैनशासन में गिनने में आयी है। समझ में

आया ? मुनिव्रत की भावना, मुनि कैसी भावना करते हैं, उनकी दशा कैसी है कि, श्रावक को अनतंगुनी शांति बढ गई है। उस भूमिका में बारह भावना भाते हैं। उसका अधिकार चलेगा।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



आहाहा ! क्षणमें अनेक प्रकारके विचित्र रोग हो जाए - एसा शरीर है । कहाँ शरीर और कहाँ आत्मा ! इनमें तनिक भी मेल नहीं है । अहा ! ऐसी दुर्लभ मनुष्य देर मिली और ऐसा वीतराग मार्ग महाभाग्यसे मिला है, अतः मनका अधिकतम बोझा घटाकर आत्माको पहचाननेका प्रयत्न करना चाहिए । पांच इन्द्रियोंके रसरूप बोझेको हटाकर आत्माको पहचाननेके विचारमें लगना चाहिए । अन्दरमें अनन्त आनंद आदि स्वभाव भरे हैं - ऐसे स्वभावकी महिमा आए (पहचान-होने पर) तब अन्तर पुरुषार्थ स्फुरित हुए बिना रहे ही नहीं । (परमागमसार-३९६)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल ९, मंगलवार
दि. ०१-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-१, २, ३. प्रवचन नं. ३९

(‘छहढाला’) की पाँचवी ढाल का, पहला श्लोक।

मुनि सकलव्रती बड़भागी भव-भोगनतैं वैरागी;
वैराग्य उपावन भाई, अचिन्तैं अनुप्रेक्षा भाई॥१॥

क्या कहते हैं ? आत्मा नित्यानन्द स्वरूप, नित्यानन्द आत्मस्वरूप। स्थायी आत्मा नित्य है, उसमें दृष्टि लगाकर, उसमें स्थिर रहना वही आत्मा का मार्ग है। उसमें यह बारह भावना भानी, वह वैराग्य को उत्पन्न करनेवाली यह भावना है। समझ में आया ? आत्मा नित्यानन्द प्रभु, सच्चिदानन्द प्रभु, सच्चिदानन्द आत्मा नित्य (है)। उसकी स्थायी दृष्टि करने को अन्तर पुरुषार्थ करना और उस पुरुषार्थ में इन बारह भावनाओं को भाना। मुनि होने के पहले भी भावना करना और मुनि होने के बाद भी भावना करना। उसका नाम यहाँ बारह भावना का स्वरूप का वर्णन करते हैं।

आत्मदर्शन सम्यग्दर्शन आत्मानुभव, उसका भानपूर्वक श्रावक को स्वरूप में शान्ति के अंश की वृद्धि हुई है, उनको बारह व्रत का विकल्प उत्पन्न होता है, वह बात आ गई। अब पाँच महाव्रत आदि मुनि के व्रत होते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द का अन्तर शान्ति बहुत उत्पन्न हो गई हो। वह कहते हैं, देखो !

‘हे भव्य जीव ! महाव्रतों के धारक भावलिंगी मुनिराज...’ आत्मा में, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा, उसका अन्तर उग्र अनुभव हुआ है। समझ में आया ? उसको मुनि कहते हैं। सम्यग्दर्शन में आत्मा, पुण्य-पाप का रागरहित अनुभव में अल्प आनन्द आया है और श्रावक होता है, तब विशेष अतीन्द्रिय आनन्द की शान्ति विशेष हुई और मुनि होते हैं, उनको अतीन्द्रिय

आनन्द उग्ररूप से होता है। प्रचुर स्वसंवेदन (होता है)। समझ में आया ? प्रचुर स्वसंवेदन। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु है। सच्चिदानन्द आत्मा है। सत् शाश्वत (है), उसके अतीन्द्रिय आनन्द में से एकाग्र होकर प्रचुर आनन्द का अपना वेदन हुआ है, उसको मुनि कहने में आता है। ओ..हो... !

वे मुनि महाव्रतों के धारक हैं। सकलव्रती। पहले श्रावक में देशव्रती की व्याख्या की। उनको पाँच महाव्रत हैं। मुनि, 'भावलिंगी मुनिराज महान पुरुषार्थी हैं, ...' देखो ! ओ..हो..हो... ! आत्मा आनन्द की भूमि, आनन्द की भूमि, अतीन्द्रिय आनन्द की भूमि में बहुत लीन हो गये हैं। इतना पुरुषार्थ मुनिराज को अन्तर आनन्द में आता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- महान पुरुषार्थ क्यों कहा ?

उत्तर :- महान पुरुषार्थ कहा न ? श्रावक का अल्प पुरुषार्थ है, मुनि को महान पुरुषार्थ है। सम्यग्दृष्टि को और श्रावक को अल्प पुरुषार्थ है, मुनि की अपेक्षा से।

मुमुक्षु :- महान में क्या कहना है ?

उत्तर :- महान नाम उग्र, पहले कहा न ? प्रचुर स्वसंवेदन। वह शब्द तो कहा। उग्र आनन्द का पुरुषार्थ से उग्र आनन्द प्रगट किया। आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द का भंडार है, अतीन्द्रिय आनन्द की निधि है, उसको खोजकर प्रचुर उग्र महान पुरुषार्थ द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द को पर्याय में जिन्होंने प्राप्त किया है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- बड़भागी..

उत्तर :- बड़भागी पुरुषार्थ। वे बड़भागी हैं। वास्तव में पुण्यशाली भी वे हैं और महान पुरुषार्थी भी वे हैं। समझ में आया ? आहा..हा... ! वह तो समकित की बात की, सम्यग्ज्ञान की बात की, बाद में देशव्रत की कही, अब सर्वविरति की बात चलती है। चार ढाल तो पूरी हुई, यह पाँचवी ढाल चलती है।

प्रत्येक में अपना आत्मा सच्चिदानन्द अतीन्द्रिय आनन्द, उसके अनुभव में सम्यग्दर्शन हुआ हो और आत्मा का ज्ञान हुआ हो तो उसे धर्म की प्राप्ति हुई और बाद में श्रावक (दशा) की

प्राप्ति (हुई)। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- श्रावक तो जन्म से होते हैं।

उत्तर :- श्रावक जन्म से होते हैं ? कोई कहता है कि, जैनकुल में जन्म लिया तो श्रावक हो गया। ऐसा है ही नहीं। श्रावक कोई सम्प्रदाय की चीज नहीं, वह तो वस्तु के स्वरूप की चीज है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय सच्चिदानन्द धाम है, उसकी अन्तरदृष्टि करके विशेष शान्ति की, आनन्द की प्राप्ति होना उसका नाम श्रावकपना वास्तव में गिनने में आया है। आहा..हा... ! भैया ! महान पुरुषार्थ... ओ..हो... ! मुनि पंच परमेष्ठी में मिल गये। जिनको गणधर नमस्कार करे-णमो लोए सव्व साहूणं। करे कि नहीं ? गणधर चौदह पूर्व की रचना करते हैं, संत, जो संतों के अग्रेसर मुनि गणधर, वे भी जब बारह अंग की रचना करते हैं (उस समय बोलते हैं), णमो लोए सव्व साहूणं। हे संत ! तेरे चरण में मेरा नमस्कार। गणधर का जिसके चरण में नमस्कार पहुँचे वह मुनिपना कैसा है ? आहा..हा... ! समझ में आया ?

पाँच नमस्कार (का) रटन करते हैं न ? गणधरदेव चौदह पूर्व की रचना करते हैं या नहीं ? 'गौतमस्वामी' ने की। भगवान के पास बिराजते हैं, महाविदेहक्षेत्र में 'सीमंधर' भगवान के पास गणधर बिराजते हैं। वे गणधर जब बारह अंग की रचना करते हैं (तब बोलते हैं), णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आईरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं। अढ़ाई द्वीप में जितने संत महाव्रतधारी भावलिंगी आत्म-आनन्द में झूलनेवाले, ऐसे छठे-सातवें गुणस्थान में मुनि बिराजते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ। गणधर उनको नमस्कार करे के नहीं ? वह मुनिपना कैसा है ?

मुमुक्षु :- अतीन्द्रिय कहा न ?

उत्तर :- अतीन्द्रिय कहो, (कहते हैं), ठीक ! आत्मा कहो या अतीन्द्रिय कहो। यह जड़ है, वह तो इन्द्रिय से ग्राह्य है, आत्मा अतीन्द्रिय ग्राह्य है। मूल अभी अन्दर बहुत धुआँ (-विपरीत अभिप्राय) घसू गया है। अभी प्रश्न आया है। भाई ! यह आत्मा अतीन्द्रिय स्वरूप है, इन्द्रिय से ग्राह्य (नहीं होता)। इन्द्रिय से आत्मा ग्राह्य होता है ? ये तो जड़ मिट्टी है। उससे लक्ष्य करते हैं तो रूपी पदार्थ लक्ष्य में आते हैं।

आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है। इन्द्रिय से मानता है कि, मुझे सुख है, वह तो दुःख है। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, में हम सुखी है - (ऐसा मानता है)। वह तो मूढ़ है। मान्यता करता है। सुख तो आत्मा में है। पर में सुख है ? समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि पाँच इन्द्रिय के विषय में सुख नहीं मानते। आसक्ति होती है, परन्तु सुख नहीं मानते। अस्थिरता होती है, सुख मानते नहीं। सुख तो अपने आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द की रुचि, दृष्टि अनुभव हुआ, बाद में आसक्ति रहती है। आसक्ति आंशिक कम होती है और अपना अतीन्द्रिय आनन्द थोड़ा बढ़ता है, उसको श्रावकपना कहने में आता है, और सब आसक्ति नाश होती है और सर्वविरति अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द की पुष्टि बहुत होती है, उसको मुनिपना कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... ! वह तो कहते हैं, देखो !

‘महान पुरुषार्थी...’ सन्त तो आत्मा अकेला, उदास.. उदास.. दुनिया से उदास। श्रावक को भी सन्यदर्शन होनेपर भी अभी थोड़ी आसक्ति है। स्त्री, कुटुम्ब-परिवार के प्रति प्रेम है। रुचि नहीं है कि, वे मेरे सुख का कारण है, राग आया वह सुखरूप है-ऐसी दृष्टि नहीं (है)। उस आसक्ति का अंश कम होता है, वह श्रावक (है)। उस आसक्ति की सर्वथा विरति-निवृत्ति होती है, वह मुनि (है)। समझ में आया ? दृष्टि में तो पहले से सम्यक् हुआ है।

मुमुक्षु :- दृष्टि की बात बहुत करनी पड़ती है।

उत्तर :- लेकिन दृष्टि बिना, द्रव्य के भान बिना कहाँ ठरना ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- संसार ?

उत्तर :- संसार राग, द्वेष, अज्ञान (है)। संसार पूछा न ? भैया ! आत्मा आनन्दकन्द सच्चिदानन्द शुद्ध आनन्द प्रभु है, उसमें से निकलकर विकार पुण्य-पाप भाव उत्पन्न करना और पुण्य-पाप भाव मेरा है, ऐसा मिथ्यात्व (उत्पन्न करना) उसका नाम संसार (है)। संसरणं इति संसारः। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिंड प्रभु, उसमें से संसरण-हट जाना, हट जाना, हटकर विकार को अपना मानना, परवस्तु को अपना मानना, पुण्य-पाप में मीठास-आनन्द है-ऐसा मानना वह मिथ्यात्व भाव और राग-द्वेष, संसार है। समझ में आया ? ऐ..इ... ! संसार भूल है न ? तो आत्मा की भूल आत्मा में रहती है या बाहर रहती है ? संसार कहाँ बाहर

रहता है ? बाहर तो जड़ है, वह तो परद्रव्य है। अपना आत्मा मुक्तस्वरूप है। वस्तु मुक्त आनन्दमूर्ति आत्मा है। उसकी रुचि छोड़कर पर मेरा, मैं उसका ऐसा मान्यता और इष्ट-अनिष्ट देखकर राग-द्वेष करना, ये राग-द्वेष और मिथ्यात्वभाव जो अपनी पर्याय-अवस्था में स्वरूपमें से हटकर विकार में आया, वही संसार (है)। इस संसार की रुचि छोड़कर आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की रुचि करना उसका नाम सम्यग्दर्शन है। पीछे संसार की आसक्ति का भाव रहता है, परन्तु संसार सुखरूप है-ऐसी बुद्धि धर्मी को नहीं रहती है। समझ में आया ?

संसार विकार में सुखबुद्धि है, वह मिथ्यात्वरूपी संसार और आसक्ति (है) वह भी चारित्र के दोष का संसार (है)। पहले आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति है-ऐसी अनुभव दृष्टि हुई तो पुण्य-पाप के भाव में सुख है-ऐसी बुद्धि हट जाती है परन्तु पुण्य-पाप भाव हटता नहीं। समझ में आया ? तो इतने अपरिमित संसार का नाश सम्यग्दृष्टि ने किया। समझ में आया ? शुद्ध भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु, उसके अनुभव में (आया कि), यह आत्मा आनन्द है-ऐसी दृष्टि की तो पुण्य-पाप के भाव में सुखबुद्धि थी, वह मिथ्यात्व था, अपरिमित अनन्त संसार था, उस अनन्त संसार का, आत्मा अतीन्द्रिय है-ऐसी दृष्टि करके अपरिमित संसार का छेद कर दिया। समझ में आया ? और परिमित राग-द्वेष रहा, मर्यादित राग-द्वेष रहा। उस मर्यादित राग-द्वेषमें से भी आंशिकरूप से आसक्ति को हटाकर स्वरूप में स्थिरता का अंश प्रगट करना, उसका नाम श्रावकपना पंचम गुणस्थान कहने में आता है। उस आसक्ति का सर्वथा अभाव करके स्वरूप में निवृत्ति में विशेष लीन होना, उसका नाम मुनिपना, पर का त्याग, संसार का त्याग अर्थात् विकार की रुचि और आसक्ति का त्याग (हो गया)। थोडा विकल्प रहता है, उसका ज्ञान करते हैं, उसका नाम मुनिपना कहते हैं। आहा..हा...! समझ में आया ? दुनिया से अलग चीज है। दुनिया मानती है, (ऐसा नहीं है)।

यह देह तो जड़ है, उसमें संसार है ? यह तो मिट्टी है। स्त्री-पुत्र पर है, उसमें संसार है ? वह संसार हो तो मृत्युकाल में सब पडा रहता है। समझ में आया ? यदि वह संसार हो, स्त्री, कुटुम्ब (संसार हो तो) मृत्युकाल में सब पडा रहता है, (जीव स्वयं) चला जाता है। तो संसार पडा रहा, मुक्ति हो जायेगी। वह संसार है ही नहीं। संसार उसकी मान्यता में और राग-द्वेष में संसार पडा है। सब पडा रहता है। शरीर पडा रहता है। चला जाये। संसार लेकर चला जाये।

अपनी मिथ्यारुचि और राग-द्वेष की आसक्ति लेकर चला जाता है, वही संसार है। समझ में आया ? आहा..हा...! साथ में गया, संसार यहाँ थोड़ा पडा रहा ? स्त्री-पुत्र संसार था ? वह संसार (यदि हो तो) ये सब यहाँ पडे रहे तो मुक्ति हो गई। ऐसा है नहीं। समझ में आया ?

कहते हैं कि, मुनि... सम्यग्दृष्टि से श्रावक ऊँचे हैं, श्रावक से मुनि ऊँचे हैं, क्योंकि आसक्ति बहुत घट गई। ‘(बड़भागी) महान पुरुषार्थी हैं, क्योंकि (भवभोगनतै वैरागी...)’ भव अर्थात् संसार। देखो ! उसमें साथ में शरीर लेना। संसार, शरीर और भोग से ‘विरक्त होते हैं...’ संसार, रागादि में बहुत विरक्त हैं, भोग से विरक्त हैं, शरीर से भी विरक्त हैं। अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द में, विपति में लीन हैं। अतीन्द्रिय आनन्द भगवान आत्मा, उसमें आनन्द की बाढ़ आती है। मुनि को अतीन्द्रिय आनन्द की बहुत बाढ़ आती है। उसमें लीने हैं। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद बहुत लेते हैं। वे संसार, शरीर और भोगों से वैरागी हैं। समझ में आया ?

‘और वीतरागता को उत्पन्न करने के लिये...’ देखो ! मुनि अथवा मुनि होने से पहले वीतरागता को उत्पन्न करने के लिये ‘माता समान बारह भावनाओं का चिंतन करते हैं।’ बारह भावना माता समान हैं। है न ? ‘वैराग्य उपावन भाई...’ वैराग्य उत्पन्न करने की माता। भगवान आत्मा की शुद्ध सन्मुख अतीन्द्रिय दृष्टि हुई है तो बाद में जो आसक्ति है, उसे हटाने को बारह भावना मुनि अथवा मुनि होने से पहले श्रावक भी बारह भावना भाते हैं। कहो, समझ में आया ? देखो !

भावार्थ :- ‘पाँच महाव्रतों को धारण करनेवाले भावलिगी मुनिराज महापुरुषार्थवान है,...’ संसार में गृहस्थ को, श्रावक को इतना पुरुषार्थ नहीं (है)। ‘क्योंकि संसार, शरीर और भोगों से अत्यन्त विरक्त होते हैं...’ स्पष्टीकरण के लिये शरीर डाला है। पाठ में ‘भव-भोगनतै’ है ना ? ‘और जिस प्रकार कोई माता पुत्र को जन्म देती है...’ माता कोई पुत्र को जन्म देती है, ‘उसी प्रकार यह बारह भावनाएँ वैराग्य उत्पन्न करती हैं...’

वैराग्य.. वैराग्य.. ‘क्षण लाखेणी जाये...’ माता ! हे माँ ! जब दीक्षित होता है न ? माता-पिता आज्ञा नहीं देते हैं तो कहते हैं, माता ! मेरी क्षण लाखेणी जाये। मेरे स्वरूप की सावधानी करने में एक क्षण लाखेणी जाती है। (अर्थात्) लाख रूपये, करोड़, अबज, अनन्त

रूपये दे (तो भी) एक क्षण नहीं मिलती। ऐसा हमारा जन्म और अपने स्वरूप में सावधानी करने का काल (कीमती है)। मता ! आज्ञा दो, आज्ञा दो। अपनी स्वरूप सावधानी में रहने को हम वनवास जाते हैं। समझ में आया ? गृहस्थाश्रम को छोड़कर, राग की आसक्ति घटाकर हम वनवास जाते हैं। वनवास में आनन्द का साधन करते हैं, उसका नाम मुनिपना कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... ! ' मुनिराज इन बारह भावनाओं का चिंतवन करते हैं। ' पहली भावना। भावनाओं का स्वरूप बतलाते हैं।

भावनाओं का फल और मोक्षसुख की प्राप्ति का समय

इन चिन्तत सम सुख जागे, जिमि ज्वलन पवन के लागै;

जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठाने॥२॥

अन्वयार्थ :- (जिमि) जिसप्रकार (पवन के) वायु के (लागै) लगने (ज्वलन) अग्नि (जागै) भभक उठती है, (उसी प्रकार न बारह भावनाओ का) (चिन्तत) चिंतवन करने से (सम सुख) समतारूपी सुख (जागै) प्रगट होता है। (जब ही) जब (जिय) जीव (आतम) आत्मस्वरूप को (जानै) जानता है (तब ही) तभी जीव (शिवसुख) को (ठानै) प्राप्त करता है।

भावार्थ :- जिस प्रकार वायु लगने से अग्नि एकदम भभक उठती है, उसीप्रकार इन बारह भावनाओं का बारंबार चिंतवन करने से समता (शांतिरूपी सुख प्रगट हो जाता है-बढ़ जाता है)। जब यह जीव आत्मस्वरूप को जानता है तब पुरुषार्थ बढ़ाकर परपदार्थों से सम्बन्ध छोड़कर परमानन्दमय स्वस्वरूप में लीन होकर समतारस का पान करता है और अन्त में मोक्षसुख प्राप्त करता है॥२॥

'इन चिन्तत सम सुख जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागै;...' देखो ! कितनी भावना भर दी है ! 'दौलतरामजी' पंडित श्रावक थे, रन्तु 'छहढाला' में गागर में सागर भर दिया है।

इन चिन्तत सम सुख जागे, जिमि ज्वलन पवन के लागै;

जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठाने॥२॥

देखो ! कैसी भाषा (है) ! थोड़े में-अल्प में बहुत भर दिया है। 'छहढाला' है, भैया ! 'छहढाला' तो बहुतों को कंठस्थ है। अर्थ समझे नहीं। गडिया बोले जाये, गडिया को क्या कहते हैं ? पहाडा। क्या अर्थ है ?

'जिस प्रकार वायु के लगने से...' हवा आती है न ? हवा। 'अग्नि भभक उठती है...' पवन के आने से... लोगों में कहते हैं न ? 'ला त्यां वा, ला त्यां वा...' हमारे में कहते हैं। आप की भाषा में कुछ होगा। अग्नि उठती है न ? अग्नि। हवा आती है तो अग्नि भभक उठती है। ज्वाला (उठती है)। 'अग्नि भभक उठती है, (उसी प्रकार बारह भावनाओं का) चिंतवन करने से...' आत्मा का आनन्द का भान तो पहले (हुआ) है, समझ में आया ? मेरा आनन्द मेरे में है। रागादि शुभाशुभभाव उत्पन्न होते हैं, वे दुःखरूप हैं। वस्तु दुःखरूप नहीं, चीज दुःखरूप नहीं (है)। समझ में आया ? मेरे में जितने प्रकार का राग उत्पन्न होता है, वह दुःखरूप है। मेरा आत्मा ही आनन्दरूप है। ऐसा पहले आनन्द का भान हुआ है और बारह भावना भाते हैं।

कहते हैं कि, (भावनाओं का) 'चिंतवन करने से समतारूपी सुख प्रगट होता है।' समता कहो, वीतरागता कहो, अनाकुल रागरहित शान्ति की उत्पत्ति विशेष होती है। भावना करते हैं, अ..हो.. ! मेरा कोई नहीं। मैं मेरा स्वरूप शुद्ध चिदानन्द है, मैं ही मेरे स्वरूप को चूककर मुझे आसक्ति थोड़ी होती है, वह मुझे दुःखरूप है। समझ में आया ? 'चिंतवन करने से समतारूपी सुख प्रगट होता है।' आत्मा में आनन्द अनाकुलस्वरूप शुद्ध है-ऐसी अनुभव में दृष्टि तो हुई है, परन्तु आसक्ति है, उसे हटाने को बारह भावना भाते हैं। बारह भावना का चिंतवन करने से समतारूपी सुख-वीतरागी सुख (प्रगट होता है)। पुण्य-पाप के भाव में जो दुःख की आसक्ति थी तो यह भावना भाने से अपने स्वरूपसन्मुख में समतारूपी सुख की ज्वाला उत्पन्न होती है।

जैसे अग्नि में हवा लगने से अग्नि भभक उठती है, ऐसे भगवान आत्मा जळहळज्योति आनन्दकन्द की दृष्टि तो है और बारह भावना भाने से शान्ति की ज्वाला प्रगट होती है। समझ में आया ? यह तो अन्तर की बात है, भैया ! बाहर से कुछ है नहीं। ये तो जड़ है, मिट्टी है-धूल है। उसके साथ सम्बन्ध क्या ? वह अभी कहेंगे।

'जब यह जीव आत्मस्वरूप को जानता है...' देखो ! आत्मस्वरूप को जाना है और

विशेष भावना करने से विशेष स्थिरता होती है। आत्मस्वरूप को जाना है, उसे बारह भावना होती है। अज्ञानी को बारह भावना है नहीं। नित्य (स्वरूप का) तो भान नहीं। मैं नित्यानन्द प्रभु स्थायी आनन्दकन्द हूँ, ऐसे भान बिना अनित्य (आदि) बारह भावना कौन भाता है ? एक ओर स्थायी आत्मा है, नित्यानन्द प्रभु है-ऐसी दृष्टि हुई है, उसको बारह भावना होती है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- कैसी ज्वाला होती है ?

उत्तर :- यह शान्ति की ज्वाला (है)। प्रवाह कहते हैं। प्रवाह-धारा बहे, धारा। शान्त.. शान्त.. शान्त.. मेरा स्वरूप शान्त (है)। कितनी शान्ति ! अपरिमित शान्ति। इसकी रुचि-दृष्टि में अल्प शान्ति हुई। ऐसी भावना करते-करते स्वसन्मुख में आते हैं, इतनी समता भी वृद्धि होती है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

‘जीव आत्मस्वरूप को जानता है तब...’ जीव मोक्षसुख को प्राप्त करता है। आत्मा के आनन्द का भान नहीं, भावना किसकी करे ? जो वस्तु ही दृष्टि में आयी नहीं (तो) किसकी एकाग्रता करे ? किस में एकाग्रता करे ? भावना का वास्तविक अर्थ तो एकाग्रता है। आत्मा अनाकुल शान्तरस का स्वामी, पूर्ण आनन्द शुद्ध की दृष्टि हुए बिना उसमें एकाग्रता की भावना और समता कहाँ से आयेगी ? समझ में आया ? मात्र विकल्प करेगा। (वह तो) पुण्यबन्ध है। कोई वस्तु नहीं।

‘आत्मस्वरूप को जानता है...’ भगवान आत्मा ! आत्मा है। है तो है कैसा ? उसमें क्या स्वभाव है ? उसमें कोई स्वभाव है या नहीं ? वस्तु कोई भी है तो उसका कोई गुण है या नहीं ? गुण है या नहीं ? आत्मा है तो उसका कोई गुण है या नहीं ? उसका गुण मुख्यरूप से आनन्द और ज्ञान (है)। उसका गुण आनन्द और ज्ञान। गुण का गुण... एकाग्र होते हैं तो आनन्द और ज्ञान की वृद्धि होती है। समझ में आया ? जगत को बहुत कठिन पड़े। बाहर से ले लेना है। वस्तु बाहर में है नहीं। आहा..हा... !

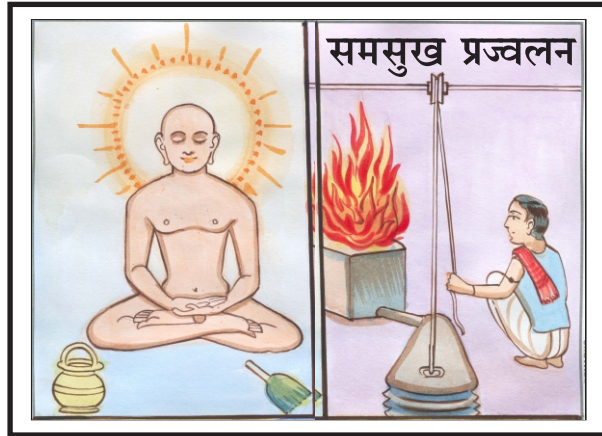
आत्मा को जानता है, तभी जीव मोक्षसुख को प्राप्त करता है। क्यों ? पूर्ण सुख को कौन प्राप्त करता है ? मोक्षसुख अर्थात् पूर्ण सुख। पूर्ण सुख को कौन प्राप्त करता है ? कि, पहले

आत्मा के सुख को जान लिया है। आत्मा का सुख आनन्द अपने में है तो उसकी एकाग्रता करते-करते पूर्ण सुख प्राप्त होगा। परन्तु आत्मा का सुख और आत्मा क्या है ? उसका तो भान नहीं। समझ में आया ? आत्मस्वरूप को जानता है, तभी जीव पूर्ण मोक्षसुख, मोक्ष अर्थात् शिवसुख अर्थात् निरुपद्रव यानी पूर्ण, ऐसे पूर्ण सुख को प्राप्त करता है।

मुमुक्षु :- गुरु की कृपा बिना होता नहीं।

उत्तर :- आत्मा की कृपा बिना होता नहीं। समझे ? वास्तव में तो आत्मा आत्मा का गुरु, आत्मा आत्मा का देव (है)। ए..ई... ! तब व्यवहार से बाद में कहने में आता है। ऐसी बात है, भैया ! आहा..हा... ! देखो ! दृष्टान्त दिया है या नहीं ? देखो ! मुनिराज का दिया है। और यहाँ समसुख (का लिया है)। अग्नि में फूँक मारता है। सोनी भूंगली नहीं मारते ? सोनी। अग्नि जलती है। सोनी होता है न ? सोनी को क्या कहते हैं ? कारीगर, सुवर्णकार। वह भूंगली मारता है। वैसे यहाँ भगवान आत्मा शुद्ध अनाकुल आनन्द की दृष्टि हुई है उसमें बाहर भावना की फूँक मारते हैं। समझ में आया ? उसमें चित्र भी है। उसमें है ? उसमें है, चित्र भी है।

‘जिस प्रकार वायु लगने से अग्नि एकदम भभक उठती है,...’ वायु लगने से अग्नि भभक, प्रज्वलित.. प्रज्वलित होती है। ‘उसी प्रकार इन बारह भावनाओं का वारंवार चिंतवन करने से...’ वारंवार, हाँ ! एकबार क्षणिक (विचार किया) ऐसे नहीं। वारंवार। ओ..हो... ! आत्मा स्थायी आनन्द की भूमि तो तू है, ये सब अनित्य क्षणिक है। कोई शरण नहीं। ऐसे बारंबार.. बारंबार भावना करने से समता अथवा शान्तिरूपी सुख अथवा स्वभाव का अनाकुल वीतरागी सुख ‘प्रगट हो जाता है।’ आत्मा का लक्ष्य करके, अनित्य, अशरणादि भावना भाते हैं, अपने में स्वसन्मुख एकाग्र होने से अपने में शान्ति, समता, अरागी पर्याय प्रगट होती है-ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया ?



‘बढ़ जाता है।’ तब शान्ति का सुख बढ़ जाता है। ‘जब यह जीव आत्मस्वरूप को जानता है तब पुरुषार्थ बढ़ाकर...’ देखो ! लगनी तब लगे। एक चीज का स्वाद आया तो वह स्वाद लेने को बारंबार चिंतन करते हैं। ऐसे आत्मा का पहले भान हो, पुण्य-पाप का विकल्प से, शरीर से भिन्न ऐसे अपने स्वरूप का स्वाद आया हो, दृष्टि हुई तो फिर लगनी लगने का बारंबार प्रयत्न चलेगा। परन्तु वस्तु के भान बिना किसमें लगनी लगाना ? समझ में आया ?

जिसमें लगनी लगती है उसमें बारम्बार चिंतन होता है या नहीं ? भाई ! रात और दिन राग की ज्वाला जले। राग और द्वेष, राग और द्वेष, राग और द्वेष। अनुकूल हो तो ठीक, प्रतिकूल हो तो ठीक नहीं। राग-द्वेष (करता रहता है)। चौबीस घंटे धमण चलती है, धमण। धमण समझते हो ? सुवर्णकार की.. क्या कहते हैं ? आहा..हा... ! अरे.. ! चौबीस घंटे भगवान तेरी चीज आदि अन्त नित्यानंद प्रभु की तो तुझे थोड़ी भी सावधानी, दरकार भी नहीं और परपदार्थ रखने को विकल्प की ज्वाला उठाता है, (वह तो) अग्नि है, ज्वाला है, कषाय है, दुःखरूप है। मानता है कि, मैं ठीक करता हूँ, वही मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व की पुष्टि करता है। आहा.. ! सम्यग्दृष्टि (जिसे) अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि हुई है और उसकी भावना करते हैं तो शान्ति की पुष्टि करते हैं-ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा..हा.. ! अरे.. भगवान ! समझ में आया ? बहुत अच्छी भावना लेंगे।

‘जब यह जीव आत्मस्वरूप को जानता है, तब पुरुषार्थ को बढ़ाकर...’ देखो ! ‘परपदार्थों से सम्बन्ध छोड़कर...’ मुझे परपदार्थ से क्या सम्बन्ध है ? शरीर से नहीं। वह भी चलता है तो उसकी पर्याय से, मेरी इच्छा से उसमें किंचित् काम होता नहीं। बराबर है ? इच्छा है तो यह शरीर चलता है-ऐसा बिलकुल तीनकाल तीनलोक में नहीं। साँस का चलना ऐसा.. ऐसा.. सब जड़ की पर्याय जड़ के कारण जड़ में होती है। अपने से बिलकुल नहीं। बिलकुल करने से नहीं होती। चैतन्य के करने से हो तो दोनों एक हो जाये। जिसके करने से जो हो तो (दोनों) एक हो जाये। एक है ही नहीं। समझ में आया ? यह वाणी भी निकलती है, वह अपनी नहीं, आत्मा से नहीं। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- एकान्त नहीं हो जाएगा न ?

उत्तर :- यह सम्यक् एकान्त है। जड़ की पर्याय जड़ से होती है, अपने से नहीं, उसका नाम सम्यक् एकान्त है। यह अनेकान्त है कि अपने से अपनी होती है, पर से पर की होती है। पर से अपनी नहीं होती है, उसका नाम अनेकान्त (है)। आहा..हा... ! ये रजकण मिट्टी (है)। समय-समय में उसमें उत्पाद-व्यय है या नहीं ? सुना है या नहीं ? 'उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्'। 'सत् द्रव्य लक्षणं।' 'तत्त्वार्थसूत्र' में आता है ?

प्रत्येक पदार्थ, अनन्त आत्मा, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय, आकाश (ऐसी) जाति से छह द्रव्य हैं, संख्या से अनन्त हैं। प्रत्येक पदार्थ में एक सैकन्ड के असंख्यवे भाग में 'उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्' वह द्रव्य का लक्षण है। अपनी नयी पर्याय से उत्पन्न होता है, पुरानी पर्याय से व्यय होता है, सदृशता से ध्रुव रहता है। उसमें वह है, अपनी से उसमें है ? उत्पादव्ययध्रुव तो उसमें है, उसके कारण से है। समझ में आया ? आहा..हा... ! लेकिन उसे अभिमान है, अभिमान। मैं कर दूँ, मैं ऐसा करता हूँ, मैं ऐसा करता हूँ। पहले मैंने शरीर को ऐसे चलाया था, अब शरीर काम करता नहीं, इच्छा के अनुसार काम नहीं करता है। पहले भी कहाँ करता था ? नहीं करता था। वह मूढ मानता था।

मुमुक्षु :- चलते थे, फिरते थे...

उत्तर :- चलता-फिरता कौन था ? देह या आत्मा ? आत्मा उसे चलाता था ? मूढ (को) सन्निपात हुआ था। सन्निपात समझे ? सन्निपात नहीं कहते ? पागल। सन्निपात होता है न ? सन्निपात। वात, पित्त और कफ रोग होता है ना ? ऐसा मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तीन का रोग लगा था। मैं चलता हूँ, ऐसा मानता था।

मुमुक्षु :- चलता था और अब अटक गया...

उत्तर :- चलता भी वही था और अटका भी वही है। आत्मा के कारण से चलता था ? और आत्मा के कारण से अटक गया ?

मुमुक्षु :- अटक गया उसके कारण से।

उत्तर :- उसके कारण अटक गया, चलता था उसके कारण से। आहा..हा... ! अँगूली उपर करो, मरते समय नहीं कहते हैं ? क्या करे ? उसके अधिकार की बात है ? अँगूली उठनी

हो तो उठे, नहीं (भी) उठे, वह तो जड़ की पर्याय है। जड़ से भिन्न आत्मा माना ही नहीं। मूढ है। आत्मा और जड़ भिन्न है, -(ऐसा) माना ही नहीं कभी। मैं शरीर का करता हूँ। धूल का करे ? रोग क्यों आने दिया ?

मुमुक्षु :- उसको खिलाना तो चाहिए।

उत्तर :- क्या खिलाये ? धूल खिलाये ? आहार-पानी की क्रिया होती है वह तो जड़ की है। आत्मा में एक विकल्प, राग होता है, बस इतना। खाना-पीना, ऐसे चबाना वह तो जड़ की क्रिया है। आत्मा खाने-पीने का कर सकता है ?

मुमुक्षु :- मुर्दा कहाँ करता है ?

उत्तर :- मुर्दा भी करता है। मुर्दे की उत्पाद-व्यय की पर्याय मुर्दे में होती है। किस समय परमाणु में उत्पाद पर्याय नहीं होती है कि जो आत्मा उसे कर दे ? समझ में आया ? आहा..हा... ! भाई ! क्या करना इसमें ?

मुमुक्षु :- ... करनो करनो..

उत्तर :- करना किसका ? पर का या अपना ? पर का करना ऊड जायेगा, अपना करना रहेगा। समझ में आया ? आहा..हा... ! भाई ! एकबार विचार कर, प्रभु ! मुझे कुछ होता है। क्या होता है ? बोल न। मुझे कुछ होता है। जाने, कर सके ? क्या धूल में कर सके ? वह तो जड़ की पर्याय है। मुझे यहाँ दुःख होता है, मुझे यहाँ मूँझवन होती है। मूँझवन को क्या कहते हैं ? मुँझारा। तुझे क्या होता है ? तुम तो जानते हो। वह जड़ में होता है। ये साँस। ख्याल आया कि साँस रुक गई। भैया ! मेरी साँस अन्दर से रुक गई है। नीचे आगे नहीं जाता, आगे नहीं जाता। उपर हो गया। नीचे ले न, तेरा अधिकार हो तो। मृत्यु के समय ख्याल में आये कि, साँस यहाँ से हट गया। ये नाभि है न (वहाँ से) हट गया, ख्याल में आया। नीचे ले। क्या ले ? तेरा अधिकार है ? वह तो जड़ की पर्याय है। आता है तो उससे और जाता है तो उससे। मूढ को जड़ की पर्याय का अभिमान अन्दर से टलता नहीं है। आहा.. ! आहा..हा.. !

शरीर अनन्त रजकणों का पिंड (है)। पीछे आयेगा। भगवान ! उसकी पर्याय उससे (होती है)। अनित्य, अशरण आदि (भावना) लेंगे वहाँ सब लेंगे। समझ में आया ? अ..हो.. !

परपदार्थों से सम्बन्ध छोड़। परपदार्थ से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का अर्थ उस समय उसकी पर्याय जब उस कारण से होती है तो मैं निमित्त कहने में आता हूँ। निमित्त का अर्थ पृथक् ज्ञान करने की चीज है। पृथक् का कार्य करने की चीज है नहीं। समझ में आया ? आवाज धीरे से, जोर से निकलती है, क्या वह आत्मा से निकलती है ? पुद्गल की क्रिया है। आहा..हा.. ! तेरी निराली चीज भगवान चैतन्य-बँगले में बिराजमान है। वह जड़ में आती है ? परमाणु में घुस जाती है ?

(यहाँ) कहते हैं, भाई ! 'पुरुषार्थ बढ़ाकर...' यहाँ मुनि की विशेष बात है ना ? परपदार्थों से सम्बन्ध छोड़। पहले दृष्टि में तो सम्बन्ध छोड़ा है, बाद में आसक्ति का सम्बन्ध छोड़ते हैं, उसका नाम उग्र पुरुषार्थ का मुनिपना कहते हैं। समझ में आया ? 'परमानन्दमय स्वरूप में लीन होकर...' अतीन्द्रिय भगवान परमात्मा, स्वयं अतीन्द्रिय स्वरूप ही है। उसमें लीन होकर भगवान आत्मा ही परमानन्द स्वरूप है। उसका आनन्द बाहर में नहीं, राग में नहीं, शरीर में नहीं, धूल में नहीं, पैसे में नहीं। लेकिन मूर्ख हुआ है न ! कितनी मूर्खता ! पैसे पाँच लाख हुए तो मैं सुखी। उसके पास दस (लाख) है तो बड़ा सुखी (है)। मूढ है। ये तेरी गिनती कहाँ से आयी ? ऐसा तेरा अज्ञान का गज कहाँ से आया ? उसके पास पचीस लाख है तो सुखी है। मेरे पास पाँच लाख है तो मैं थोड़ा सुखी हूँ। मूढ है। परपदार्थ से तूने सुख-दुःख कहाँ से माना ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- सब कहते हैं उसमें क्या ?

उत्तर :- सब कहे तो क्या ? पागल के अस्पताल में सब पागल होते हैं। पागल की अस्पताल में तो सब पागल होते हैं। वह सयाना हो जाता है ? भाई ! यह साँस की क्रिया होती है, वह जड़ से होती है। भाई ! परपदार्थ का अभिमान छोड़ दे। परपदार्थ का अभिमान छोड़े बना तेरे में अहंपने की दृष्टि नहीं आयेगी। यह अभिमान छोड़े बिना मैं चैतन्य हूँ-ऐसा अहंपना की श्रद्धा का, अस्तित्व की प्रतीत नहीं आयेगी। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

'परमानन्दमय स्वस्वरूप में लीन होकर समतारस का पान करता है...' सम्यग्दृष्टि विशेष पुरुषार्थ करके जब मुनिपना होता है तो समता का, सुधारस का बहुत पान करते हैं।

सम्यग्दृष्टि को थोड़ा सुधारस का पान है, श्रावक को थोड़ा विशेष बहुत है, मुनि को उससे उग्र है। वास्तव में तो वह आनन्द की वृद्धि का गुणस्थान है। आहा..हा... ! समझ में आया ? क्या करे ? चैतन्य की जाति की महिमा नहीं। महान अनाकुल शान्तरस का पिंड मैं (हूँ), मेरी शान्ति तीनकाल में पर है नहीं। परपदार्थ का जितना लक्ष्य करके जितना विकल्प उठता है, इतना दुःख है। आहा..हा... ! जितना अन्तर स्वरूप में दृष्टि करके एकाग्र होना, वही सुख है। बाकी कहीं सुख तीनकाल में है नहीं। समझ में आया ? 'समतारस का पान करता है और अन्त में मोक्षसुख प्राप्त करता है। उन बारह भावनाओं का स्वरूप कहा जाता है :-'

१ - अनित्य भावना

जोबन गृह गो धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी;

इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई॥३॥

अन्वयार्थ :- (जोबन) यौवन, (गृह) मकान, (गो) गाय-भैंस, (धन) लक्ष्मी, (नारी) स्त्री, (हय) घोड़ा, (गय) हाथी, (जन) कुटुम्ब, (आज्ञाकारी) नौकर-चाकर तथा (इन्द्रिय-भोग) पाँच इन्द्रियों के भोग-यह सब (सुरधनु) इन्द्रधनुष तथा (चपला) बिजल की (चपलाई) चंचलता-क्षणिकता की भाँति (छिन थाई) क्षणमात्र रहनेवाले हैं।

भावार्थ :- यौवन, मकान, गाय-भैंस, धन-सम्पत्ति, स्त्री, घोड़ा-हाथी, कुटुम्बीजन, नौकर-चाकर तथा पाँच इन्द्रियों के विषय - यह सर्व वस्तुएँ क्षणिक हैं-अनित्य है-नाशवान है। जिसप्रकार इन्द्रधनुष और बिजली देखते ही देखते विलीन हो जाते हैं, उसीप्रकार यह यौवनादि कुछ ही काल में नाश को प्राप्त होते हैं; वे कोई पदार्थ नित्य और स्थायी नहीं हैं; किन्तु निज शुद्धात्मा ही नित्य और स्थायी है।

ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके, सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता की वृद्धि करता है वह 'अनित्य भावना' है। मिथ्यादृष्टि जीव को अनित्यादि एक भी भावना यथार्थ नहीं होती॥३॥

पहली भावना

जोबन गृह गो धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी;

इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई॥३॥

देखो ! सब चित्र दिये हैं। 'जोबन गृह गो धन नारी, ...' भावना भाते हैं, देखो !
'(जोबन)...' शरीर की युवा अवस्था। धूल की अवस्था अनित्य है। क्षण में पलट जायेगी,
भाई ! तुझे मालूम नहीं। आहा..हा... !

जोबन गृह गो धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी;

इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई॥३॥

'यौवन...' शरीर का यौवन। माँस की कड़क अवस्था, उसका नाम यौवन कहते हैं। माँस की कड़क अवस्था। कड़क, समझे ? सखत। उसको यौवन कहते हैं। परन्तु यह यौवन कैसा है ? 'इन्द्रधनुष तथा बिजली की चंचलता-क्षणिकता की भाँति क्षणमात्र रहनेवाले हैं।' बिजली का चमकारा आये (और) चला जाये। समझ में आया ? और इन्द्रधनुष अथवा मेघ एकदम चडे, (फिर) गिरे। इन्द्रधनुष.. क्या कहते हैं ? ... ये यौवन अवस्था.. भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु की दृष्टि करके... यह यौवन अवस्था चपल है, भैया ! देखो ! पहले जोबन लिया। वह पर्याय अनित्य है। परमाणु नित्य है, उसके साथ सम्बन्ध तो यहाँ पर्याय के साथ है न ?

कहते हैं कि, '(जोबन)...' कैसा है ? 'इन्द्रधनुष तथा बिजली की चंचलता-क्षणिकता की भाँति क्षणमात्र रहनेवाले हैं।' २५-२५ साल की युवान अवस्था हो, काले-काले बाल हो, तेल डाला हो। कंगे से (बाल) बनाये हों। क्या हुआ ? हुआ वह क्षणिक था। तूने नित्य मान रखा है। वह तो पर्याय है। पर्याय नित्य कहाँ से रहेगी ? आहा..हा... ! समझ में आया ? शरीर की यौवन अवस्था, बिजली की चमक होती है, बिजली की चमक क्षण में आती है और चली जाती है। (वैसे ही) यौवन अवस्था क्षण में आती है और चली जाती है। मैं कर सकता हूँ। यौवन अवस्था मैंने रखी थी। भाई ! धूल में भी नहीं रखी थी। सत्ताप्रिय प्रकृति।

मुमुक्षु :- ... किया होता था।

उत्तर :- वह करने से होता नहीं था। मूढ मान रहा था। करने से होता नहीं था, मूढ होकर मानता था। भाई ! मात्र माना था ऐसे नहीं, मूढ, पागल होकर माना था। यहाँ तो स्पष्ट बात है न ! हम दोनों भाई मिलकर करते थे। ये भाई उसके भाई को सौंप देते थे। कर तू। माथापच्ची कर। पैसे ले-दे तो माने कि मैंने किया। अभिमान किया था। समझ में आया ? यह तो आप का दृष्टांत है, हाँ ! सिर्फ आप की बात नहीं है। (सब की बात है)। भाई ! यह तो नाम देकर स्पष्टता होती है। आहा..हा... ! रोज चलता है। दुनिया में लोग उसी प्रकार (चलते हैं)। युवान हो, जुते ऐसे पहने हो.. हाथ में लकड़ी.. (ऐसे ऐसे चले)। आहा..हा... ! भाई ! चमड़ी फट जायेगी, ए..ए..ए.. हो जायेगा। वह तो अस्थिर है।

बिजली और इन्द्रधनुष दो दृष्टांत हैं। समझे ? तीसरा दृष्टान्त दिया है। बादल आये, काले बादल एकसाथ आये। फट.. बरस गये। फिर कुछ नहीं। (बाद में) बादल भी नहीं दिखते। काले बादल चड गये। ओ..हो..हो... ! एक क्षण में खलास। वैसे ये सब बादल चढे थे। बादल समझे ? यह युवान अवस्था परमाणु के बादल है। दल.. दल.. एक क्षण में बिखर जायेगा। तुम मानते हो कि रहेगा। धूलमें भी नहीं रहेगा। आहा..हा... ! मेघ.. मेघ.. बड़ा चड़ता है या नहीं ? कितने काले होते हैं। कहाँ गया ? क्यों गया ?

एक बार अखबार में आया था, बारीश (बहुत आया)। कितना पाक हुआ था। अनाज (बहुत पका था)। एक बादल भी नहीं था और एकदम बादल आये, उसके खेत में गिरा और सब कुछ धूल गया। एक घंटे के बाद बादल का टूकड़ा भी नहीं था। आहा..हा... ! अखबार में आया था। हुआ क्या ये ? एक घंटे पहले खेती का जो दाना था, वह पडा था। सब बैठे थे। बादल नहीं थे, एकदम आये, एकदम गिरा। अनाज सब समाप्त हो गया। एक घंटे के बाद देखो तो बादल का टूकड़ा भी नहीं। अरे.. ! ये हुआ क्या ? समझ में आया ? ऐसा यह है। क्या है ? दो साल, पाँच साल शरीर युवान दिखे, पैसे, स्त्री (दिखे)। क्षण में बिखर जाते हैं। हाय.. हाय..। फोटो लो (एक्स-रे लो)। शरीर में तो कुछ दिखता नहीं।

मुमुक्षु :- मुद्दत लगे...

उत्तर :- धूल में भी मुद्दत नहीं लगती। क्षण क्षण में उत्पाद होता रहता है। नयी-नयी

पर्याय , परमाणु में नयी, नयी, नयी होती है। आहा..हा..! पहले जोबन में लिया। समझ में आया ? धम-धम शरीर चले, दो-तीन लड्डु खा जाये। ओ.. करके पलंग पर सो जाये। पलंग पर सोये। कौन है ? भगवान ! सुन तो सही। यह तो जड़ मिट्टी-धूल है। 'बिजली की चमक में मोती पिरो लो तो पिरो लो' बिजली की चमक आयी और चली जायेगी। वैसे युवान अवस्था क्षण में चली जायेगी। २५-२५ वर्ष के देखे हैं। खून नहीं, माँस नहीं। समझ में आया ? आपके (रिश्तेदार) थे ने ? यहाँ आया था। वहाँ जाकर ठीक हो गया था। ऐसे देखो तो मुर्दे की भाँति बैठा था। क्षय लगा हो ऐसा शरीर। बापू ! वह तो परमाणु की (अवस्था है)। बादल की वर्षा है। कब गिरेगा। और कब क्षय होगा, क्षणिक चीज है-ऐसी भावना मुनि भाते हैं, गृहस्थाश्रम में समकृति भाते हैं। पर से उदास होकर भावना करते हैं। अपने में लीनता की एकाग्रता बढ़ाते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

'यौवन, मकान...' दस-दस लाख के मकान। बिजली गिरी। हाँ..! धरतीकम्प 'बिहार' में हुआ था न ! एक करोड़पति.. करोड़पति (था)। घोड़ागाडी लेकर बाहर घूमने निकला था। आठ हजार की घडी साथ में थी, बस ! वापस आया तो मकान, कुटुम्ब, सब (जमीन के) अन्दर, भाई ! वह किस की भाँति है ? इन्द्रधनुष। यानी काचबी। काचबी कहते हैं न ? इन्द्रधनुष और बिजली की भाँति। मकान। चपल है, भाई ! क्षणमात्र रहनेवाला है। यहाँ 'छिन थाई' इतना ही कहा है। क्षण थाई है। यह आत्मा भगवान नित्यानन्द स्थायी है। नित्यानन्द प्रभु आत्मा है। उसकी दृष्टि कर। यह तो छिन थाई, क्षणिक रहनेवाला है। थोड़ी देर में फिर जाये। इज्जत जाये, मकान, दस-दस लाख के पचास-पचास लाख के। फू.. हो जाये। दरार हो गई। ये क्या हुआ ? चार गाँव दूर से नीचे से झटका लगा। १९९४ की साल में लगते थे। 'पालियाद'। नीचे एक माईन (खान) थी। कोयला में से आठ-आठ गाउ दूर 'राणपुर' तक झटके लगते थे न ? सात-सात गाउ दूर तक जमीन टूट जाये। ऐसा झटका अन्दर से (लगे)। क्षणभंगुर (है)। मकान नया बनाया। 'पालियाद' में कितने टूट गये। 'बोटाद' के पास। नीचे से आता था। थोड़े महिने रहा, फिर बंद हो गया। ओ..हो..हो...! समझ में आया ?

देखो ! सब दृष्टान्त दिये हैं, हाँ ! देखो मकान। बड़ा मकान है न ? बैठ जाये। 'मुम्बई' में एक करोड़ का मकान था। एक करोड़ का एक मकान बनाया। दोपहर को मजदूर खाना खाकर

सोये थे। चार सौ मजदूर। अन्दर सीमेन्ट थोड़ी कच्ची थी। (गिर गया)। चार सौ मजदूर समाप्त,



करोड़ का मकान समाप्त। करोड़ रूपये का माकन आधे घंटे में (समाप्त हो गया)।

मुमुक्षु :- वह एक गिर गया, बाकी के सब नहीं गिरे।

उत्तर :- वे सब रहे हैं गिरने लिये ही रहे हैं। कहो, समझ में आया ?

ऐसी भावना करते हैं तो नित्यानन्द आत्मा में उसकी सन्मुखता विशेष बढ़ती है, इसलिये यह भावना करते हैं। (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल १०, बुधवार
दि. ०२-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-३,४,५. प्रवचन नं. ४०

अनित्य भावना। धर्मी क्या विचारते हैं, वह कहते हैं। धर्म अर्थात् आत्मा.. अपने आत्मा में आनन्द है, ऐसा निर्णय करनेवाला धर्मी, अपने शुद्धस्वरूप सन्मुख दृष्टि रखकर परपदार्थ की अनित्यता का चिंतन करते हैं। वह बात चलती है। श्रावक हो या मुनि हो, अपने आत्मा में आनन्द (है), नित्यानन्द स्वरूप मैं हूँ। नित्य-स्थायी टिकनेवाली चीज तो मैं हूँ। आनन्द और शान्ति से भरा आत्मा मैं हूँ। सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव ने आत्मा का ऐसा वर्णन किया है, ऐसा कहा है। मैं आनन्द शुद्ध हूँ। पुण्य-पाप का भाव होता है वह भी क्षणिक है। सारी बाहर की चीज तो क्षणिक, अनित्य है ही। वह बात कहते हैं।

जोबन गृह गो धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी;

इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई॥३॥

देखो ! 'यौवन...' शब्दार्थ है न ? यौवन। यह यौवन क्षणिक चपल है। देह तो नाशवान है। जैसे इन्द्रधनुष और बिजली, उसकी चंचलता चमक.. चमक.. क्षण में नाश होती है। ऐसे शरीर की यौवन अवस्था (क्षणिक है)। यह तो मिट्टी-धूल है। भगवान आत्मा तो अन्दर चिदानन्दस्वरूप है। ऐसा धर्मी जीव ने अपने आत्मा में शुद्ध में, आनन्द में दृष्टि रखकर, यह यौवन अनित्य है ऐसी विचारणा वारंवार करनी। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- यौवन बीत गया हो, उसे क्या करना ?

उत्तर :- वृद्धावस्था भी ऐसी है। यौवन बीत गया हो तो क्या हुआ ? वृद्धावस्था कैसी है ? धूल है, क्षण में पलट जायेगी। बिजली की चमक अथवा इन्द्रधनुष, वह है न ? क्या कहते हैं ? मेघधनुष। क्या कहते हैं ? काचबी.. काचबी.. काचबी.. होती है न ? क्षण में नाश होता

है। वैसे यह शरीर(में) वृद्धावस्था हो या युवान हो, मिट्टी है, यह तो धूल है। जड़ परमाणु पुद्गल की दशा है, यह आत्मा नहीं है। भगवान आत्मा तो अन्दर अरूपी सच्चिदानन्द सिद्ध समान (है)। जैसे सिद्ध भगवान है, अशरीरी हुए, ये (भी) आत्मा थे। ऐसा आत्मा अन्दर अशरीरी चैतन्यमूर्ति है, ज्ञान, आनन्दकन्द है। ऐसी दृष्टि करके यौवन हो या वृद्धावस्था हो.. भाई ! यौवन गया और वृद्धावस्था रही, उसे क्या करना ? ऐसा पूछा है।

वृद्धावस्था तो क्षण में गिर जाती है। उसके लिये तो कहते हैं न, 'खर्यु पान'। पीले पत्ते को खिरने में देर नहीं लगती। ऐसे वृद्धावस्था तो क्षण में नाश हो जायेगी। बैठे हो और फू... हो जायेगा। क्या हुआ ? अभी तो हार्ट फेईल बहुत होते हैं। मजबूत शरीर हो (और हार्ट फेईल हो जाता है)। क्योंकि संयोगी चीज है। ये कोई आत्मा की चीज नहीं। आत्मा तो अविनाशी भिन्न है। यह तो नाशवान पदार्थ का संयोग है।

'अमृतचंद्राचार्यदेव' तो वहाँ अनित्य कहते हैं, माता के उदर में बालक आया तो माता की नजर पड़े उसके पहले तो अनित्यता ने उसे गोद में ले लिया। क्या कहा ? माता को प्रसव होकर बालक आया। अभी नजर करे उसके पहले, गोद में लेने से पहले अनित्यता ने गोद में ले लिया है। कब क्षण में नाश हो जायेगा। नाशवान पदार्थ है। जन्म होते ही देह का नाश हो जाता है। ऐसी अनित्य चिंतवना करके अपना आत्मा शुद्ध स्वरूप है, उसकी अन्तर दृष्टि (करके) एकाग्रता करना, वही मनुष्यपना का कर्तव्य है। कहो, समझ में आया ?

'यौवन, मकान, ...' पाँच-पाँच लाख, दस-दस लाख का मकान हो। बिजली गिरे और क्षण में समाप्त हो जाये।

मुमुक्षु :- जो भाडे पर रहता हो, उसे क्या करना ?

उत्तर :- वह मकान कहाँ उसके बाप का था, भाई ! उनके पुत्र के बहुत मकान हैं। करोड़ों रुपये हैं। धूल में भी नहीं है। रुपया रुपया में है, मकान मकान में है, आत्मा उसमें कहाँ से आया ? मकान में, पैसे में आत्मा कहाँ रहा ? वह तो जड़ है। क्षण में ए..ए.. ए.. हो जायेगा। क्या हुआ ? ब्लड प्रेशर। क्या कहते हैं ? ब्लडप्रेशर हो गया। ये पैसे तुम्हारे पास हैं न ? धूल.. होली। पैसा क्या करे ? पैसे पड़े रहे। वह नाशवान है, भाई !

भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ कहते हैं कि, प्रभु ! तेरा आत्मा तो अन्दर ध्रुव है न ! ध्रुव ध्रुव अनादि है। आत्मा का नाश कभी होता है ? आत्मा कभी उत्पन्न होता है ? कोई से उत्पन्न हुआ है ? है.. है.. और है। अनादि का आत्मा अन्दर ज्ञानानन्द अरूपी सच्चिदानन्दस्वरूप है। ऐसे आत्मा की दृष्टि करके, ऐसा मकान भी नाशवान है (ऐसा चिंतवन करना)।

‘गाय, भैंस...’ लो ! नाशवान है। हमारी चीज नयी आयी और समाप्त हो जाये, मर जाये, सर्प काट ले। नाशवान चीज है। ‘लक्ष्मी,...’ लो ! आप की लक्ष्मी आयी। धूल।

मुमुक्षु :- लक्ष्मी है, धूल कहाँ है ?

उत्तर :- धूल नहीं तो क्या है लक्ष्मी ? पुद्गल है। पुद्गल मिट्टी है। भगवान उसे पुद्गलास्तिकाय कहते हैं। आत्मा अन्दर जीवास्तिकाय भगवान है। यह पुद्गल है, पैसा मिट्टी-धूल है। नाशवान है, क्षण में चला जायेगा। भिखारी बन जाता है। देखो ! क्षण में भिखारी, क्षण में राजा, क्षण में रंक, कर्मे वाल्यो आडो अंक। ऐसा आता है न ? पूर्वकर्म का उदय आये तो क्षण में पैसा आये। धूल में कहाँ पैसे उसके थे ? मुफ्त में अभिमानी अनादि से (भटकता है)। ऐसा मनुष्यपना मिला उसमें पाँच-पच्चीस-पचास साल का आयुष्य। अनन्तकाल में निगोदमें से निकला। निगोद समझे ? आलू, लील, फूग (काई)। पानी में कोई होती है ना ? आलू। हमारे यहाँ बटाटा कहते हैं। एक कण में अनन्त जीव हैं। आलू के एक कण में अनन्त जीव हैं। उसमें मुश्किल से मनुष्य हुआ। यहाँ आया तो भूल गया। अपना (हित) करने का अवसर नहीं।

‘लक्ष्मी,..’ नाशवान (है)। कैसी (है) ? इन्द्रधनुष और बिजली की भाँति। ‘नारी,...’ नाशवान है। देखो ! अन्दर दृष्टान्त दिये हैं, चित्र दिये हैं। देखो, स्त्री। वह तो परवस्तु है। वह आत्मा और शरीर पर है। क्षण में ए..ए..ए.. हो जाये। चली गई। अर्धांगना कहता था। वह कहाँ तेरी है ? शरीर तेरा नहीं तो स्त्री कहाँ से तेरी आई ? समझ में आया ?

भगवान आत्मा... अपने ध्रुव निज स्वरूप की दृष्टि रखकर, ऐसी पर चीज की अनित्यता की वारंवार भावना करनी चाहिए, तो आत्मा में राग को कम किया और वतीरागता की वृद्धि होती है। ‘घोड़ा, हाथी, कुटुम्ब (आज्ञाकारी) नौकर-चाकर...’ ऐसे हुकम बराबर करे। सेठ साहब.. सेठ साहब ! क्षण में नाश हो जाये। ‘नौकर-चाकर तथा पाँच इन्द्रियों के भोग...’

शब्द, रूप, रस, गन्ध। घर में भंडार भरा हो। फू... होकर राख हो जाये। समझ में आया ? देखो न, जल जाता है। गोदाम जल जाता है। गोदाम जल जाये। करोड़ों रूपये के मकान जल जाये, गिर जाये, नाश हो जाये। क्षण-क्षण में वह तो नाशवान पदार्थ है। उसकी क्या चिन्ता ? अपने आत्मा की चिन्ता करे, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

‘(आज्ञाकारी) नौकर-चाकर तथा पाँच इन्द्रियों के भोग-यह सब इन्द्रधनुष तथा बिजली की चंचलता-क्षणिकता की भाँति क्षणमात्र रहनेवाले हैं।’ लो ! ‘श्रीमद्’ ने अनित्य भावना में कहा है न ?

विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष्य ते तो जलना तरंग;
पुरंदरी चाप अनंग रंग, शुं राचीए त्यां क्षणनो प्रसंग।

‘श्रीमद् राजचंद्र’ सोलह वर्ष में कहते हैं। सोलह वर्ष अर्थात् शरीर बालक था न ? शरीर बालक है, आत्मा कहाँ बालक है ? आत्मा तो अनादि अनन्त है। यह तो धूल है। शरीर बालक, वृद्ध उसकी अवस्था है। उन्होंने पहली अनित्य भावना में लिया। पहले ‘मोक्षमाला’ बनाई थी। ‘विद्युत, लक्ष्मी...’ लक्ष्मी बिजली की चमक जैसी है। यहाँ लिया है न ? ‘श्रीमद् राजचंद्र’ ने सोलह साल में कहा था। ‘विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग,...’ बडप्पन... बडप्पन। सेठाई, ईश्वरता, बडप्पन, अधिकारी, अमलदार पाँच-पाँच हजार का वेतन। ‘प्रभुता पतंग...’ पतंग के रंग जैसी प्रभुता है। भगवान आत्मा प्रभु आत्मा अन्दर है। चिदानन्दस्वरूप भगवान (है)। कवली ने, तीर्थकर प्रभु ने आत्मा को प्रभु कहा है। अपना निज स्वरूप की दृष्टि बिना ये सब चीज अनित्य है, ऐसी भावना धर्मात्मा बारंबार भाते हैं। समझ में आया ? ‘प्रभुता पतंग,...’ प्रभुता (अर्थात्) बडप्पन.. बडप्पन। सेठाई मिली हो, पाँच-पच्चीस करोड़ (हो), बड़ा सेठ हो। फू.. हो जाये। जाओ नीचे.. भीख माँगे।

‘जयपुर’ की बात कही थी न ? जौहरी था। ‘वांकानेर’ में एक बड़ा जौहरी था। ‘जयपुर’ की बजार में जौहरी की बड़ी दुकान थी। हम (संवत्) २०१३ की साल में गये थे। हम दीवान के बंगले में ठहरे थे। खाली मकान था, खाली (वहाँ) ठहरे थे। नीचे उतरे। वहाँ एक (भीख) मांगता था। ८५ साल का बुढ़ा भीख मांग रहा था। मेरी नजर उसपर गई। ‘जयपुर’ की बात है।

ललाट देखा। ये कोई मूल गरीब भिखारी आदमी नहीं है। ऐसा देखा। मूल में भिखारी नहीं है। किसी को पूछा कि, यह कौन है ? यह तो जौहरी की दुकान है, उसका पुत्र है। 'वांकानेर' के ब्राह्मण थे। उसका ८५ साल का पुत्र था। भिखारी के जैसे मांग रहा था। ए.. भाई ! एक पैसा दो। सब समाप्त हो गया। लक्ष्मी गई, दुकान गई, वस्तार (कुटुम्ब) गया, भिकारी भाँति। जूता पुराना पहने थे। मेरी नजर गई। मुझे लगा, ये कोई मूल भिखारी नहीं है। मूल में कोई गृहस्थ है। ड्राईवर जो था (उसने कहा), जौहरी का पुत्र है, सेठने उसको पहचाना। अरे... ! मैंने पहले तो उसे बहुत पैसे दिये हैं। अभी ऐसी हालत हो गई ? ऐसी हालत क्या भिखारी होकर नरक में जाये। भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द प्रभु की दृष्टि, श्रद्धा ध्रुव की करे नहीं और ऐसी अनित्यता में रुक जाये तो वह तो नाशवान चीज है। समझ में आया ?

'पुरंदरी चाप अनंग रंग...' यह 'श्रीमद्' कहते हैं, हाँ ! कामभोग कैसा है ? पुरंदरी-इन्द्रधनुष। काचबी के जैसे नाश हो जाये ऐसे कामभोग। युवान अवस्था में पच्चीस साल की.. अवस्था, बैल जैसा शरीर क्षण में (फू... हो जाये)। भोग स्त्री का, विषय का, कीर्ति का (भोग) क्षण में नाशवान है, भाई ! वह अनित्य है। भगवान आत्मा शुद्ध नित्य ध्रुव अपना स्वरूप रखनेवाला है। उसका तुम अनुभव करो, उसकी दृष्टि करो। ये सब तो नाशवान है। समझ में आया ? 'पुरंदरी चाप अनंग रंग'।

'शुं राचीए त्यां क्षणनो प्रसंग..' अरे.. ! जहाँ क्षण का प्रसंग है, वहाँ क्या राचना ? भगवान आत्मा ध्रुव स्वरूप है, उसमें रुचि, दृष्टि करना या इस क्षण का प्रसंग (है उसमें करना) ? फू.. होकर चला जाये। ऐसा धर्मीजीव अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप के सन्मुख दृष्टि रखकर ऐसी भावना वारंवार करते हैं। कहो, समझ में आया ? आहा..हा... !

'किन्तु निज शुद्धात्मा ही नित्य और स्थायी है।' लो ! उसके अर्थ में है। एक आत्मा निज शुद्ध भगवान, नित्य रहनेवाला। अनादि.. अनादि.. अनादि.. अनादि... अनन्त काल रहेगा। अनादि का है। आत्मा नित्य वस्तु है। नित्य की श्रद्धा, आत्मा नित्य स्थायी है, 'ऐसा स्वोन्मुखपूर्वक चिंतवन करके, सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता की वृद्धि करता है...' समझ में आया ? समय मिले नहीं, क्या करना ? कहो, भाई ! ये समय मिला तो होली (करने लगा)।

राग और द्वेष, विकार, कमाना, खाना, दुकान की, धूल की। ये तो मिट्टी-धूल है। सुन न ! समझ में आया ? भाई ! हाँ कहते हैं। (इनके) पास पैसे बहुत हैं, इसलिये निवृत्त होकर बैठे, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। लेकिन है कहाँ ? उनके साथ है ? साथ में कहाँ लाये हैं ? देखो ! आहा..हा... ! जो कुछ हो उसके घर पडा हो। भाई ! तेरी चीज तो अन्तर आत्मा (है)। देह का नाश हो जायेगा। देखो ! उसमें लिखा है। चित्र में मुर्दा (है)। एक कौआ है। आहा..हा... ! कौआ तेरे मुख में चरकेगा। देह तेरा नाश (होगा), भगवान ! ऐसी चीज में (मोह मत कर)।

‘जामनगर’ में लिखा है। ‘जामनगर’ स्मशान है न ? दर प्रकार की चीज लिखी है। जन्म, युवान, फिर ब्याह करता है, फिर युवानी, कमाता है, फिर वृद्ध होता है, पलंग पर गिरता है, मर जाता है और फिर उठा ले जाते हैं। ऐसे ‘जामनगर’ के स्मशान में दस चित्र बनाये हैं। अपने यहाँ है। इस कबाट में है। स्मशान में बनाया है। अभी देखने गये थे। देखो ! एक आदमी मर गया है। य सब है न ? स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धूल में है, क्या है तुझे ? वह तो परचीज है। अनित्य चीज तेरे साथ क्या आयेगी ? आहा..हा... !

२- अशरण भावना

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि, काल दले ते;

मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई॥४॥

अन्वयार्थ :- (सुर असुर खगाधिप) देवों के इन्द्र, असुरों के इन्द्र और खगेन्द्र (गरुड़, हंस) (जे-ते) जो-जो हैं (ते) उन सबका (मृग हरि ज्यों) जिसप्रकार हिरन को सिंह मार डालता है, उसी प्रकार (काल) मृत्यु (दले) नाश करता है। (मणि) चिन्तामणि आदि मणिरत्न, (मंत्र) बड़े-बड़े रक्षामंत्र, (तंत्र) तंत्र, (बहु होई) बहुत से होने पर भी (मरते) मरनेवाले को (कोई) वे कोई (बचावै) नहीं बचा सकते।

भावार्थ :- इस संसार में जो-जो देवेन्द्र, असुरेन्द्र, खगेन्द्र (पक्षियों के राजा) आदि हैं, उन सब का-जिस प्रकार हिरन को सिंह मार डालता है उसी प्रकार-काल (मृत्यु) नाश करता है। चिन्तामणि आदि मणि, मंत्र और जत्र-तंत्रादि कोई भी मृत्यु से नहीं बचा सकता।

यहाँ ऐसा समझना कि निज आत्मा ही शरण है; उसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है। कोई जीव अन्य जीव को रक्ष कर सकने में समर्थ नहीं है, इसलिये पर से रक्षा कि आज्ञा करना व्यर्थ है। सर्वज्ञ-सदैव एक निज आत्मा ही अपना शरण है। आत्मा निश्चय से मरता ही नहीं, क्योंकि वह अनादि अनन्त है-ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि जीव, वीतरागता की वृद्धि करता है, यह 'अशरण भावना' है॥४॥

अब, अशरण, दूसरी अशरण भावना।

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि, काल दले ते;

मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई॥४॥

है दूसरा श्लोक ? अशरण भावना। देखो ! यहाँ एक मुर्दा बनाया है, देखो ! यहाँ मुर्दा (है)। '(सुर, असुर)...' तेरे लाख देव और देवी हो, तुझे मृत्यु से बचानेवाला कोई है नहीं। लक्ष्मी को माने, वृक्ष को माने, धूल को माने, अम्बाजी को माने, भवानी को माने। वे सब नाशवान हैं। वे सब भूत हैं। अम्बाजी और भवानी सब भूतनी हैं। ऐ..ई..! भूतनी को माने, वे सब नाशवान हैं। वे सब वहाँ दुःखी हैं। देव में भी दुःखी है। उसको मानना। मरते समय कोई बचा सकता नहीं।

'(सुर असुर खगाधिप)' अर्थात् 'देवों के इन्द्र, असुरों के इन्द्र और खगेन्द्र...' समझे ना ? विद्याधर '(गरुड, हंस)...' कोई मृत्युकाल में किसी को बचानेवाला है नहीं। देखो ना ! ये 'लालबहादुर शास्त्री', कहाँ 'ताशकंद' में बड़े डॉक्टर साथ में थे। असुख है, ऐसा बोले। असुख है। चलकर गये। डॉक्टर दूसरे कमरे में थे। ऐसे देखा, खत्म। साँस बन्द हो गई थी। पाँच-सात मिनट में तो खत्म। क्या करे ? धूल करे कोई। समझ में आया ? देह का आयुष्य पूरा हो (तो) इन्द्र, नरेन्द्र, रखने को समर्थ नहीं। एक समय का आयुष्य किसी का बढ़े (ऐसा) तीनकाल में नहीं (बनता)। जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस स्थिति में देह छूटनेवाला है, वही छूटेगा, वहाँ कोई शरण-फरण है नहीं। एक क्षण रख सके (ऐसी) तीनकाल में किसी की ताकत नहीं। ऐसी अशरण भावना भानी। देखो !

‘उन सब का जिसप्रकार हिरन को सिंह मार डालता है...’ देखो ! सिंह लिया है। हिरन के पैर पकड़ लिये हैं। सिंह है। हिरण क्या करे ? मृत्युकाल आया, कोई शरण नहीं। ‘श्वास तारो सगो नहि’-ऐसा हमारे यहाँ काठियावाड़ में कहते हैं। आपमें भी कुछ कहते होंगे। कहते हैं या नहीं ? साँस तो जड़ है, वह मिट्टी चलती है, तेरे से नहीं चलती। तुम तो आत्मा हो। वह तो साँस है, रजकण है, पुद्ग परमाणु के स्कंध का पिंड है। वह साँस की क्रिया चलती है, आत्मा से नहीं। अरे.. अरे... ! किस को फूसत है ? मरने की फूसत नहीं। आहा..हा... ! सारा दिन मरण.. मरण.. मरण.. क्षण क्षण भयंकर मरण। मेरा.. मेरा.. मेरा.. मेरा.. करके अनन्तकाल से मर गया है। परन्तु मेरी चीज अन्दर में क्या है, उसकी कभी पहिचान की नहीं। भगवान परमात्मा तीर्थकरदेव कहते हैं कि हे भाई ! विचार कर, क्षण भर तू विचार कर।

‘जिस प्रकार हिरन को सिंह मार डालता है; उसी प्रकार मृत्यु नाश करता है। चिन्तामणि आदि मणिरत्न...’ मृत्यु के समय काम करे ? चिन्तामणि घिसकर पिलाओ। धूल, क्या करे चिन्तामणि ? हिरन गर्भनी आती है न ? वह तो स्वार्थ के लिये बुलाते हैं। वहाँ थोड़ा घिसकर दे। फिर भले ही मर जाये। गर्मी से थोड़ा आवाज दे। कस्तूरी की हिरनगर्भ की गोली आती है। मात्र कस्तूरी नहीं, गोली आती है। बहुत ऊँची चीज उसमें होती है। मैंने देखी है। बहुत साल पहले ‘पालेज’ में देखी थी। एक आदमी बेचने आता था और एक स्थानकवासी साधु था, वह लेता था। मैंने कहा, ठीक ! ‘बरवाला’ के (कोई साधु थे)। वे लेते थे। उस दिन देखा था। संवत् १९६७ की साल। मरते समय थोड़ा घिसकर पिलाते हैं। थोड़ी गर्मी हो तो बोले, क्या बापू ! क्या करना है ? बस ! इतना। बाद में तो मर जायेगा। कुछ पूछना हो तो पू ले। बाद में मर जाता है। क्या कोई शरण है ?

मणि, चिन्तामणि रत्न घर में पड़ा हो। कौन रख सके ? समझ में आया ? आहा..हा... ! देखो न ! दस-दस करोड़ रूपये। दस करोड़। अभी ‘रतनगढ़’ है न ? अभी आया था न भाई ? उनके मामा के पास दस करोड़। देखो तो माणेक भरे हो या सोना भरा हो। कहीं खर्च करने की वृत्ति नहीं। पुत्र नहीं था। दस करोड़ रूपये। सोना तो सोना ही भरा हो, माणेक तो माणेक ही भरे हो, समझे न ? इतनी चीज। ढिगले (थे)। चांदी ही भरे हो। मणिरत्न हो तो मणिरत्न भरे हो। दस करोड़ कहाँ डाले ? मरत समय... भाई ! आहा..हा... ! अरे.. ! कोई नहीं है। पुत्र नहीं था।

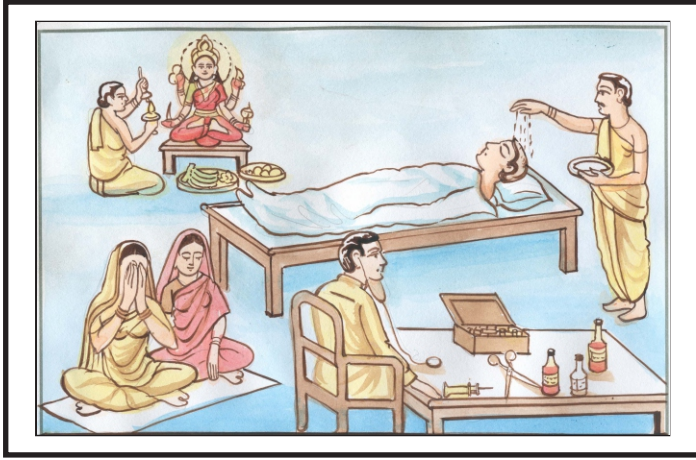
सरकार ने कहा, दो करोड़ लाओ। उत्तराधिकारी का दो करोड़ लाओ। दुनिया हैरान.. हैरान... (हो रही है)। अपनीचीज नित्यानन्द भगवान, उसकी दृष्टि करते नहीं, संभाल करते नहीं, उसकी क्या चीज है-उसका ज्ञान करते नहीं। मैं हूँ कौन ? यह आत्मा-आत्मा करते हैं, वह है कौन ? सब है उसका विचार करता है, लेकिन मैं कौन हूँ ?

‘चिन्तामणि आदि मणिरत्न बड़े-बड़े रक्षामंत्र...’ हो। देखो ! मुर्दे के पास किया है न ? स्वाहा.. ब्राह्मण करता है। धूल में भी रख सकता नहीं। ब्राह्मण भी मर जाता है। ब्राह्मण के पास पढ़ाते हैं न ? क्या कहते हैं ? मृत्यु के जाप। सेठ लोगों को भ्रमणा के पार नहीं होते। बड़ी भ्रमणा... बड़ी भ्रमणा। समझ में आया ? हमने एक बड़ा सेठ देखा था। बड़ा करोड़पति। मिल थी। उनके घर पर ही ठहरे थे। वहाँ एक ब्राह्मण जाप जप रहा था। ये क्या ? सेठे के लिये। अरे..रे..रे... ! ऐसे बनिये होकर भी जाप जपे। मृत्यु का जाप। लक्ष्मी आती होगी ? मर जायेगा (तो भी) ‘भाग्य बिना मिले न कोड़ी, हुन्नर करे हजार, भाग्य बिन मिले न कोड़ि।’ लाख हुन्नर कर ना, वह तो तेरा राग है। पैसा आदि मिलना तो पूर्व के पुण्य के कारण से है। तेरी व्यवस्था के कारण मिलता है ? समझ में आया ? तेरी होशियारी से मिला होगा न ? धूल में भी नहीं है। उससे अधिक होशियार तो बहुत है। पूर्व के पुण्य के रजकण पड़े हो, (उसके) पाक के काल में लक्ष्मी दिखती है। उसमें तेरे में क्या आया ? धूल में आया क्या ? पाँच करोड़ देखा उसमें (क्या हुआ) ? ममता में निमित्त है।

भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति है, उसकी रुचि और दृष्टि किये बिना वह सब अशरण.. अशरण.. अशरण.. (है)। समझ में आया ? पचास लाख की पुँजी हो, थोड़ा बीमार हो, डॉक्टर कहे, केन्सर हुआ है। साहब ! स्त्री को मत बोलना। अभी दो साल हुए शादी की है। ऐसा बना था ? भाई ! ‘लींबडी’ में। दस लाख हुए थे। हमें तो यह सब एक-एक बात मालूम है न ! दस लाख हुए थे ओर नयी शादी की थी। ४८ साल की उम्र में नयी शादी की थी। दस लाख रूपये। डॉक्टर कहे, केन्सर हुआ है। (तो उसने कहा), साहब ! किसी को बोलना मत। मुझे भले बताया, परन्तु अब बाहर किसी को मत कहना। नहीं तो स्त्री को और सब को दुःख होगा। सब को दुःख होगा। मर गया बेचारा। ४८ वर्ष की छोटी उम्र थी। क्या करे धूल में ? अशरण में पैसा शरण (है) ? स्त्री शरण है ? कोई शरण है ? सिंह देखो ! हिरन के पैर पकड़ लिये हैं।

कौन करे ?

‘तंत्र, बहुत से होने पर भी...’ जंत्र, तंत्र, मंत्र कोई करे। मादलीया करते हैं। ऐसा.. ऐसा.. करते हैं। धूल भी नहीं है, सुन ना। तुझे कोई शरण नहीं है। मूढ, पक्का मूढ है। बैल जैसा मूढ। भाई ! तेरे आत्मा का चिंतवन कर। हित कर। आत्मा क्या है ? उसकी तो पड़ी नहीं और ऐसा-ऐसा (करता है)। कोई शरण नहीं। ‘मरनेवाले को वे कोई नहीं बचा सकते।’ आहा..हा... ! रोये। ३५ साल की स्त्री मर जाये, ४० वर्ष का पति रोये। अरे.. ! ये लड़के का क्या होगा ? नयी शादी करूँगा। छोटी उम्र है। पाँच लाख की पूँजी है। हाय.. हाय..। कोई शरण है ?



सब किया है अन्दर, देखो ! देवी जैसा किया है। एक ब्राह्मण मुर्दे पर ऐसा ऐसा करता है। क्या जंतर-मंतर करता है ? जिस आयुष्य की स्थिति, जिस समय जिस क्षण में, जिस पलंग पर, जिस प्रकार से (पूरी) होनेवाली है, उसे तीनकाल में इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र कोई बदल सके नहीं। किसी की ताकत नहीं कि आयुष्य का एक समय बढ़ा सके। लेकिन मूढ पर में शरण ढूँढने जाता है। आहा..हा... ! ये सब ऐसे मूढ होंगे ? पैसेवाले ? पैसेवाले माने क्या ? पैसेवाले अर्थात् बड़े धूलवाले।

भावार्थ :- ‘इस संसार में जो-जो देवेन्द्र, असुरेन्द्र, खगेन्द्र, (पक्षियों का राजा) आदि हैं, उन सब का, जिसप्रकार हिरन को सिंह मार डालता है, उसी प्रकार-काल (मृत्यु) नाश करता है। चिंतामणि, आदि मणि, मंत्र और जंत्र-मंत्रादि कोई भी मृत्यु से नहीं बचा सकता।’

‘यहाँ ऐसा समझना कि निज आत्मा ही शरण है।’ अ.. हो... ! मैं नित्य ध्रुव, मैं तो हंमेशा

रहनेवाला हूँ। विकार भी क्षणिक पलटता है, शरीर पलटता है, मैं तौ ध्रुव नित्यानन्द हूँ। मेरे अन्तर स्वरूप में तो, आनन्द-अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है। वस्तु में आनन्द, शान्ति पडी है। ऐसा मैं ही आत्मा हूँ, ऐसा धर्मी जीवों को अपने स्वरूप का वारंवार मनन, चिंतन करना। 'आत्मा ही शरण है।' दूसरा कोई शरण है नहीं।

अरिहंता शरणं आता है न ? मांगलिक में आता है या नहीं ? अरिहंता शरणं, सिद्धा शरणं, केवलिपण्णत्तो धम्मो शरणं। मांगलिक में आता है या नहीं ? भगवान शरण देते हैं ? भगवान कहते हैं कि, तू तेरे स्वरूप की संभाल कर, तू तेरा शरण है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :-...

उत्तर :- किसका शरण ? यहाँ आकर भगवान देते हैं क्या ? अरिहंत भगवान तो अरिहंत के पास है। महाविदेह में बिराजते हैं, तीर्थकरदेव 'सीमंधर' प्रभु बिराजते हैं। 'महावीर' भगवान तो सिद्ध हो गये। चौबीस तीर्थकर तो सिद्ध हो गये। शरीर बिना (है)। क्या नीचे कोई शरण देने आते हैं ? वे कह गये हैं कि, तेरा स्वरूप शुद्ध आनन्दकन्द अन्दर है, उसका शरण लो। उसे ही भगवान का शरण कहते हैं। दूसरा क्या ? दूसरा भगवान कहाँ शरण देने आते हैं ?

मुमुक्षु :- शरण न आये ?

उत्तर :- शरण में क्या ? थोड़ा शुभभाव होता है। उसमें आत्मा में क्या हुआ ? देनेवाले को, लेनेवाले को कहाँ भान है ? आत्मा अन्तर ज्ञानानन्द प्रभु चैतन्यसूर्य (है)। आत्मा अर्थात् चैतन्यसूर्य। आत्मा अर्थात् आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का भंडार। आहा..हा... ! ऐसे आत्मा का शरण न ले तो (अन्य) किसी में शरण देने की ताकत है नहीं। आहा..हा... ! तेरी नजर तेरे में पड़े तो शरण है। तेरी नजर शरीर और पर में, पुण्य-पाप पर रहे तो कुछ शरण है नहीं, ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! इसका नाम धर्म है। तेरी नजर तेरे में पड़नी (उसका नाम धर्म है)। बात सुनने का समय मिलता नहीं, विचारने का समय नहीं। बहुत कहे तो कहे, हमें मरने का समय नहीं। मरने का समय आयेगा तो सब (सब कुछ) एक तरफ पड़ा रहेगा। सुन तो सही। तेरे रूपये-पैसे कुछ काम नहीं आयेंगे।

कहते हैं, शरण आत्मा है। 'उसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है। कोई जीव अन्य जीव की रक्षा कर सकने में समर्थ नहीं है।' कोई रक्षा कर सकता है ? मृत्युंजय करावे तो ? मृत्युंजय जाप। मृत्युंजय करनेवाला ब्राह्मण मर जाता है। मृत्युंजय (जाप) ब्राह्मण के पास करवाते हैं, सवा लाख करवाओ, सवा लाख। क्या है ? उसको पाँच-दस हजार मिले। मृत्यु से कोई बचा सकता है ? एक समय आयुष्य का बढ़ता है ? तीनकाल में नहीं। जिस समय उसे जहाँ मरना है, वह मर जाता है। भगवान केवलज्ञानी ने देखा है। इस समय देह छूटेगा। वह तीनकाल में बदलता नहीं। कहो, भाई ! क्या होगा ? यहाँ से मरकर कहाँ जाना है ?

'इसलिये पर से रक्षा की आशा करना व्यर्थ है।' देखो ! 'सर्वत्र-सदैव एक निज आत्मा ही अपना शरण है।' आत्मा अन्दर शुद्ध चिदानन्द प्रभु है। पुण्य-पाप विकार दिखता है, वह तो विकार है। विकार से (भिन्न होकर) अन्दर में देखे तो शुद्ध चिदानन्द आत्मा है, ज्ञानानन्द सिद्ध समान है। सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग ने आत्मा आनन्दस्वरूप देखा है। वह आनन्दप्रभु आत्मा का शरण तुम लो, उसकी दृष्टि करो, उसके सन्मुख हो। दुनिया से क्या ? दुनिया कोई शरण देनेवाली नहीं। समझ में आया ?

'आत्मा निश्चय से मरता ही नहीं...' देह का नाश होवे। आत्मा मर जाता है ? मरते समय कोई कहता है कि, आत्मा मर गया ? आत्मा मर गया, ऐसा कहते हैं ? जीव गया-ऐसा कहते हैं। जीव गया, ऐसा कहते हैं। जीव गया। जीव वहाँ था तो अन्य जगह गया। बराबर है या नहीं ? आहा..हा... ! अभी नहीं बताया था या नहीं ? लड़की का जातिस्मरण (बताया था)। यहां आयी थी न ? 'जूनागढ़' की लोहाना की लड़की (है)। अपने यहाँ आयी है। अभी आयी थी न ? (उसे पूछा), तू कहाँ से आयी ? 'जूनागढ़' से आयी हूँ। पूर्व में तू कौन थी ? मैं गीता थी। अभी आयी थी न ? आठ दिन रही थी। समझ में आया ? 'राजुल'। पूर्व भव में 'गीता' थी। 'जूनागढ़' के लोहाना की पुत्री थी। अभी चार महिने पहले नक्की हुआ। यहाँ दो बार आ गई। अभी रहकर गयी है। आठ दिन में सब बताया। देखो ! इस लड़की को जातिस्मरण है। लोहाना की लड़की है। लोहाना समझते हो क्या है ? एक जाति है। लोहाना की एक जाति है।

'जूनागढ़' में लोहाना की जाति में वह लड़की जन्मी थी। ढाई साल में उसका देह छूट

गया। ढाई वर्ष। बुखार में (मर गई थी)। यहाँ आयी है। हमारे पंडितजी हैं न ? उनके भतीजे की लड़की (है)। यहाँ 'वांकानेर' में आयी है। यहाँ आयी थी, लाये थे। यहाँ से जाकर पक्का बताया कि, ये मेरी माँ, ये मेरे पिता, ये मेरे चाचा। वैष्णव थे तो मन्दिर में दर्शन करने जाती थी। सब बताया। २०-२२ बोल बताये। पेड़ा खाती थी, ऐसा बताया। सब बताया था। दूध इतना लाते थे, मेरे घर इतना रखते थे। दूसरे के पेड़े बनाते थे। सब बताया। उसकी माँ ने स्वीकार किया। वहाँ से मरकर यहाँ आयी। देह का खोखा तो वहाँ पडा रहा। उसको एकबार हमने पूछा, गीता कहाँ गई ? तो कहा, गीता ये रही। गीता वहाँ कहाँ है ? गीता तो मैं हूँ। पाँच साल की है। गीता कहाँ है ? बाद में तो किसी से सुना हुआ बोली कि, उसके खोखे को जला दिया। गीता का जो खोखा-शरीर था उसे जला दिया। गीता का आत्मा मैं यहाँ हूँ। ऐसा बोली। अभी आयी थी। समझ में आया ? कहाँ मालूम है ? आत्मा कौन है ? कौन जाने। दुनिया की पड़ी है। धूँए को पकड़ता है। क्या कहते हैं ? धूँआ। धूँए को पकड़े तो पकड़ सकता है ? धूँए की बोरी भरी है। धूँए की बोरी भर सकते हैं ? ऐसी इस जगत की चीज अनित्य है, उन्हें रख सकते हैं ? तुझे कोई शरण नहीं है, कहते हैं।

आत्मा अनादिअनन्त (है)। 'ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता की वृद्धि करता है...' धर्मी जीव अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि करके अनित्य, अशरण की भावना करके अपने स्वसन्मुख में वृद्धि करते हैं। वही धर्म है, दूसरा कोई बाहर से धर्म होता नहीं।

३ - संसार भावना

चहुँगति दुःख जीव भरै है, परिवर्तन पंच करे है;

सबविधि संसार असारा, यामें सुख नहीं लगागा ॥१॥

अन्वयार्थ :- (जीव) जीव (चहुँगति) चार गति में (दुःख) दुःख (भर है) भोगता है और (परिवर्तन पंच) पाँच परावर्तन पाँच प्रकार से परिभ्रमण (करे है) करता है। संसार (सबविधि) सर्व प्रकार से (असारा) साररहित है, (यामें) इस में (सुख) सुख (लगागा) लेशमात्र भी (नाहि) नहीं है।

भावार्थ :- जीव की अशुद्ध पर्याय, वह संसार है। अज्ञान के कारण जीव चार गति में दुःख भोगता है और पाँच (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव) परावर्तन करता रहता है, किन्तु कभी शांति प्राप्त नहीं करता; इसलिये वास्तव में संसारभाव सर्वप्रकार से साररहित है, उसमें किंचित्मात्र सुख नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार सुख की कल्पना की जाती है, वैसा सुख का स्वरूप नहीं है और जिसमें सुख मानता है, वह वास्तव में सुख नहीं है-किन्तु वह परद्रव्य के आलम्बनरूप मलिनभाव होने से आकुलता उत्पन्न करनेवाला भाव है। निज आत्मा ही सुखमय है, उसके ध्रुवस्वभाव में संसार है ही नहीं-ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके सम्यग्दृष्टि जीव, वीतरागता में वृद्धि करता है, वह 'संसार भावना' है ॥५॥

संसार भावना

चहुँगति दुःख जीव भरे है, परिवर्तन पंच करे है;

सबविधि संसार असारा, यामें सुख नहीं लगागा ॥५॥

देखो ! इसमें लिखा है, देखो ! यहाँ मनुष्यगति ली है, मनुष्यगति। एक आदमी है, एक लड़का है, स्त्री सामने देखती हुई बैठी है, मकान है। यह मनुष्य का संसार। यह देव, फिर तिर्यच। एक घोड़ा लिया है, घोड़ा। उसपर वजन भरा है। नीचे कुत्ते जैसा किया लगता है। एक नारकी। नीचे नरकगति है, हाँ ! यह पशु दिखते हैं, मनुष्य दिखते हैं। उपर देव हैं, स्वर्ग में देव हैं और नीचे नारकी हैं। माँस, शराब (खाते) पीते हैं, शिकार करते हैं, लंपटीपना करते हैं, (वे सब)



मरकर नरक में जाते हैं। नरकगति हैं। कल्पना नहीं है। कोई माने या नहीं माने, उससे वस्तु चली जाती है ? देखो ! नारकी पड़ा है। बिच्छू.. बिच्छू डंख मार रहा है और उसको जम मार रहा है। समझ में आया ? ये चार गति। मनुष्य, तिर्य्यच, देव और नारकी।

‘जीव चार गति में दुःख भोगता है...’ स्वर्ग में दुःख ? स्वर्ग में कुछ सुख होगा या नहीं ? भाई ! लिखा है न उसमें ? क्या लिखा है ? देव में दुःख है, देव में दुःख है। धूल में कहाँ (सुख), वहाँ तो आकुलता है। इन्द्राणी आदि भले (हो), परन्तु आकुलता है न ! आकुलता है कि, मेरा है, मेरा है। वह तो दुःख है। देव में सुख कहाँ से पड़ा था ? शेठाई में ? चार गति में चारों गति ली हैं। शेठाई में सुख है ? दुःख है। सेठ लोग दुःखी हैं, ऐसा कहते हैं। ऐ..ई.. ! भाई ! दुःखी है ? आप अन्दर में मानते हो ?

मुमुक्षु :- अन्दर आकुलता भरी है।

उत्तर :- वह आकुलता है। यह लक्ष्मी मेरी, शरीर मेरा, ऐसे रक्षण करना, ऐसा करना, धूल करना ये सब आकुलता है, दुःखी है। अन्दर कषाय की होली जल रही है। विकार की ज्वाला जल रही है, वह दुःखी है। सेठ दुःखी, रंक-राजा दुःखी, देव दुःखी। चारों गति में दुःख (है), देखो ! ऐसे लिया है। सुख है नहीं। सुख, आत्मा के आनन्द में है। सुख सिद्धपद में है। वह सुख आत्मा में है, उसमें से प्रगट होता है। बाहर से कोई सुख आता नहीं। समझ में आया ?

‘चार गति में दुःख भोगता है...’ ‘भरे है’ ऐसा लिखा है। ‘पाँच प्रकार से परिवर्तन...’ परिभ्रमण करे। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव और भाव। लो ! ये शुभाशुभभाव दुःखरूप हैं, ऐसा

कहते हैं। क्या (कहा) ? पाँच परिवर्तन आया न ? द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव। जितना शुभ और अशुभभाव है, वह संसार परिवर्तन दुःखरूप है। आहा..हा... ! पाँच परिवर्तन आया या नहीं ? द्रव्य में ये संयोग, क्षेत्र में यह क्षेत्र, काल में समय-समय, भव में चार गति और भाव में शुभाशुभभाव। पाँचों परिवर्तन में अनन्तकाल से आत्मा शुद्ध चैतन्य के भान बिना, सम्यग्दर्शन बिना, सम्यग्दर्शन-आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्रतीति, अनुभव बिना चार गति में भटका लेकिन उसे संसार का सुख कोई शरण नहीं है। यह संसार भावना की बात चलती है, समझे ?

‘संसार सर्वप्रकार से सार रहित है,...’ देखो ! ‘सबविधि संसार असारा, यामें सुख नहीं लगाया।’ सुख तो आत्मा में आनन्द में है, संसार में कहीं सुख नहीं। ‘इसमें सुख लेशमात्र भी नहीं है।’ लो ! थोड़ा सुख है या नहीं ?

मुमुक्षु :- ... बैठे हैं...

उत्तर :- बैठे हैं, दुःखी हैं। आकुलता है, देखो ! उसमें आकुलता है। धूल में सुख नहीं है, दुःख है। आत्मा प्रभु अनाकुल आनन्द से भरा, उसकी सम्यग्दृष्टि, वही सुखरूप है। बाकी सब में संसार में कहीं सुख की गंध है नहीं। चक्रवर्ती दुःखी (है)। वह श्लोक आता है न ? ‘नवि तुहि देवता देव लोए, नवि तुहि शेट सेणावह्य; नवि तुहि पुढवी पय राखा...’ आता है न ? पृथ्वी का पति चक्रवर्ती सुखी नहीं है। दुःखी.. दुःखी.. दुःखी.. राग और द्वेष विकार करते हैं, दुःखी है। राग-द्वेष बिना का आत्मा का स्वभाव सुखरूप है। ऐसी श्रद्धा करता नहीं और चार गति में संसार में दुःखी होकर भटकता है।

भावार्थ :- ‘जीव की अशुद्ध पर्याय वह संसार है।’ ? लो ! कल कोई पूछता था न ? संसार किसको कहना ? स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी, मकान को संसार कहना ? ना। वह तो पर चीज है। संसार, आत्मा का दोष है। समझ में आया ? संसार कहाँ रहता होगा ? भैया ! समझ में आया ? संसार कहाँ रहता होगा ? मालूम नहीं। ये स्त्री, पुत्र, मकान, पैसा संसार है ? वे तो जड़ परपदार्थ हैं, उसमें संसार कहाँ से आया ? आहा..हा... ! मालूम नहीं, अभी संसार कहाँ रहता है, वह मालूम नहीं। संसार, भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द अन्दर शुद्ध आत्मा है,

शक्ति है, सत्त्व है-उसमें से हटकर पर मेरा, मैं उसका ऐसा मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेष का भाव, उसको भगवान, संसार कहते हैं। देखो !

‘जीव की अशुद्ध पर्याय, वह संसार है।’ या लक्ष्मी संसार ? दुकान संसार ? भाई ! लोग कहते हैं न उसने संसार छोड़ा। क्या संसार छोड़ा ? स्त्री-पुत्र तो पर हैं, उसे छोड़ा तो क्या छोड़ा ? अन्दर में मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेषभाव की रुचि छोड़े तो संसार की रुचि छूटी। बाद में आसक्ति छूटे तो वीतरागता हो तो आसक्ति का त्याग हुआ, उसका नाम संसार का त्याग कहने में आता है। दुनिया से बात अलग है। समझ में आया ?

स्त्री, कुटुम्ब, शरीर संसार हो तो यह देह छूट जायेगा। उससे छूटे तो उसकी मुक्ति हो जायेगी। यह संसार हो तो (देह) छूटता है, मृत्युकाल में रहता नहीं, तो उसकी मुक्ति हो जाये, यदि यह संसार हो तो। यह संसार है ही नहीं। उसका संसार... मेरी शुद्ध स्वरूप शक्ति है, उसकी प्रतीति की खबर नहीं। यह शरीर मेरा, लक्ष्मी मेरी, कुटुम्ब मेरा, आबरु मेरी, पुण्य-पाप के भाव होते हैं वह मेरे-ऐसा मिथ्यादृष्टिपना, वही संसार है। समझ में आया ? यह ऐसाकहाँ से निकाला ? हम तो ऐसा समझते थे कि, ये स्त्री, पुत्र संसार है। स्त्री, पुत्र, मकान, पैसे, इज्जत, दुकान चलती हो, पाँच-पचास आदमी काम करते हो, यह संसार है। तुम्हारा संसार वहाँ रहता होगा ? संसार तो तेरी भूल है। तेरी भूल बाहर में रहती है ? ये तो बाहर के पदार्थ हैं।

भगवान को भूलकर मिथ्याश्रद्धान-ज्ञान करता है, उसका नाम भगवान, संसार कहते हैं। आहा..हा... ! भगवान आत्मा शुद्ध अखंडानन्द आनन्दकन्द, उसको भूलकर विकार और पर मेरा मानना और राग-द्वेष होना, उसका नाम भगवान, संसार कहते हैं। समझ में आया ? भैया ! आहा..हा... ! यह संसार कहाँ (है) ? स्त्री-पुत्र उसके घर में रहे बेचारे, वे कहाँ तुम्हारे में घूस गये हैं ? वे तो बाहर पड़े हैं। पैसे भी बाहर पड़े हैं, पाँच-पाँच, दस-दस लाख के मकान किये हो, (वे भी) बाहर पड़े हैं। साथ में आते हैं ? भाई ! बंगले में बैठा हो तो बंगला यहाँ साथ में आया है ? आहा..हा... !

भाई ! तेरी चीज अंदर शुद्ध आनन्द प्रभु है आत्मा, उसको भूलकर ये शरीर, वाणी, मन, पुण्य-पापभाव मेरा-ऐसी मान्यता मिथ्यात्व, वही तेरा संसार है। आहा..हा... ! और मिथ्यात्व

के साथ राग-द्वेष होना, वह मंद संसार है; मिथ्यात्व तीव्र संसार है। समझ में आया ? क्या कहा ? संसार, आत्मा की पर्याय में-अवस्था में रहता है। भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति आत्मा है। स्वरूप शुद्ध चितानन्द की अनन्त गुण की मूर्ति प्रभु आत्मा है। उसकी रुचि छोड़कर पुण्य-पाप मेरा, ऐसी रुचि करना और परपदार्थ उसमें नहीं, उसे मेरा मानना, वही मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्वभाव संसार है। भगवान उसको संसार कहते हैं। आहा..हा...! ऐसा कहाँ से निकला ? तुझे मालूम नहीं, इसलिये क्या दूसरो हो जाये ? और उसके साथ जो पुण्य-पाप का, राग-द्वेष का भाव है, वह संसार है, परन्तु मिथ्यात्व बड़ा संसार है और राग-द्वेष मंद संसार है। दोनों संसार है। दोनों का त्याग करके वीतरागता प्रगट करना, उसका नाम मोक्ष और संसार का अभाव है। समझ में आया ?

संसार। आया था न ? 'मोक्ष अधिकार' में है। इसमें है न ? 'मोक्ष अधिकार' में अन्त में है। मोक्ष...मोक्ष। प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव, बन्ध है। मिथ्यात्व का अभाव सम्यक् संवर, निर्जरा और मोक्ष है। प्रसिद्ध हो, ढिंढोरा पीटकर प्रसिद्ध हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव, बन्ध है, वही संसार है। अपने शुद्ध चिदानन्द स्वरूप की श्रद्धा छोड़कर शरीर, वाणी मेरा, पुण्य-पाप मेरा, पुण्य-पाप का फल मेरा, बन्धन मेरा और शुभाशुभभाव मेरा-ऐसी मान्यता मिथ्यात्व वही संसार, आस्रव और बन्ध है। आस्रव, बन्ध ही संसार है। आहा..हा...! यह कहाँ से निकाला ? तुझे मालूम नहीं, इसलिये दूसरा निकाला ऐसा कहे ? जैसा है, वैसा वही है। समझ में आया ? देखो !

'मोक्ष अधिकार' में है। प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव और बन्ध है। कर्म-फर्म नहीं, और मिथ्यात्व का अभाव सम्यक् संवर, निर्जरा और मोक्ष है। समकित ही संवर, निर्जरा और मोक्ष है। आहा..हा...! अपना शुद्ध स्वरूप भगवान आत्मा पूर्ण... पूर्ण की प्रतीति, उसका ज्ञान और उसकी लीनता, वही सम्यग्दर्शन, संवर, निर्जरा और मोक्ष है। दो बात ही ली है। एक मिथ्यात्व, आस्रव, बन्ध। सम्यक् संवर, निर्जरा और मोक्ष। प्रगट हो, जाहिर हो, ढिंढोरा पीटकर हम कहते हैं, नगाड़े की चोट पर हम कहते हैं, कहते हैं या नहीं ? नगाड़े की चोट से कहते हैं, भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप को भूलकर पुण्य-पाप के भाव को अपना मानना, उसका बन्धन अपना मानना और उसका फल संयोग अनुकूल-प्रतिकूल अपना मानना, बस ! वही

मिथ्यात्व और वही आस्रव और बन्ध है। आहा..हा... ! समझ में आया ? समय कहाँ से मिले ? समय मिलता नहीं, आदमी ऐसा बोलते हैं। भाई ! समय पाप में गँवाया। अब (क्या) ? अब इस चिन्ता में। ये चला गया, ये चला गया लेकिन कहाँ गया ? उसके ठिकाने पड़े हैं। शरीर के ठिकाने शरीर है, पैसे के ठिकाने पैसे हैं, कीर्ति की जगह कीर्ति है। यहाँ आत्मा में कहाँ घूस गये हैं ? शरीर चलता नहीं, उसमें तुझे क्या ? वह तो कहते हैं।

शरीर जड़ है। जड़ का चलना, हिलना भगवान कहते हैं कि, जड़ की पर्याय से होता है। उसमें पर्याय-द्रव्य है। यह वस्तु परमाणु है। तो परमाणु में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्, भगवान कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में नयी-नयी अवस्था प्रतिक्षण उत्पन्न होती है, पूर्व की अवस्था का अभाव होता है और ध्रुवपने कायम रहता है। उसका हिलना, चलना आत्मा से नहीं (होता)। मूढ अज्ञानी पाखंडी मानता है। जड़ की अवस्था मेरे से होती है, वही मिथ्यात्व बड़ा संसार है। समझ में आया ? जड़, जड़ है, क्या तेरी चीज है ? यह तो मिट्टी है, धूल है। धूल की अवस्था कैसी रहे, सारोग, निरोग ? -वह तो उसके आधीन है, आत्मा के आधीन है ?

मुमुक्षु :- उसका उपाय बतलाईए।

उत्तर :- ये क्या कहते हैं ? चले तो चलो, न चले तो न चलो। मुझे क्या है ? पर के साथ क्या है ? ऐसी अन्तर दृष्टि करना, वही समाधान और संतोष है। आहा..हा... ! बैलगाड़ी चले। बैलगाड़ी चलती है न ? बैलगाड़ी के नीचे कुत्ता चले। कुत्ता जाने कि मेरे से गाड़ी चलती है। मूढ है। शरीर आदि तो गाड़ी है, उससे चलती है। तू है तो चलती है ? कुत्ते जैसा है।

मुमुक्षु :- .. गाड़ी चलती है..

उत्तर :- नहीं, चली नहीं। उसके कारण से चली है। तुम्हारे कारण से बिलकुल नहीं। इसका चलता है, मेरा नहीं चलता, उसकी जलन अन्दर में घूस गई है। किसका चले और किसका न चले ? मूल में समाधान करने आता नहीं। भाई ! सच बात है या नहीं ? आहा..हा... !

कहा था न ? एक साधु थे, श्वेताम्बर साधु थे। (संवत्) १९८८ का चातुर्मास था न ? 'जामनगर'। वहाँ एक श्वेताम्बर साधु थे। बाद में गये थे। वहाँ एक पाठशाला है। एक साधु हो

गये थे। फिर हम वहाँ गये थे। बेचारे बहुत दुःखी थे। साठ साल की उम्र होगी। ऐसे.. ऐसे.. हुआ ही करे, चौबीस घंटे, तीन साल हो गये थे। फिर (हम) गये, (तो कहने लगे), अरे...! महाराज ! दुःखी (हैं)। (हमने कहा), क्या करोगे ? समाधान करो। देह की अवस्था है। आठ साल वैसे रहा। अन्त में लट हो गई। शरीर मुलायम था, सुन्दर था। देह की पर्याय का धर्म है। देह छूट गया। आठ साल तक ऐसे रहा। नीचे सोये घसाया ही करे। देह की स्थिति (है), बापू ! ये तुम्हे मालूम नहीं, भाई ! आत्मा का अधिकार नहीं है। माने नहीं क्या करे ? आहा..हा... ! अरे.. ! तू जाननेवाला-देखनेवाला, उसका अभिमान करे कि, पहले मैंने चलाया था, अब चलता नहीं। दोनों भूल हैं। देह देह के कारण से रहे, देह के कारण से चले और देह, देह के कारण से रुक जाये। आहा..हा... ! लेकिन वह माने नहीं। भ्रमणा.. भ्रमणा.. भ्रमणा.. भ्रमणा। यहाँ वही कहते हैं, समझ में आया ?

‘जीव की अशुद्ध पर्याय, वह संसार है।’ देह मेरे से चला था, अब देह मेरे चलता नहीं- ऐसी तेरी मान्यता, तेरी श्रद्धा, तेरा मिथ्यात्व संसार है। आहा..हा... ! शरीर तंदुरस्त हो, लट्टू जैसा हो। धूल है, बापू ! लट गिरेगी, भाई ! यह शरीर मिट्टी है। यह रत्न नहीं है। रत्न हो तो भी धूल है। बापू ! तेरी अमर चीज तो अन्दर है। अमर चीज, अमर चीज चिदानन्दर मरे नहीं ऐसा भगवान आत्मा। ऐसी अमर चीज को पहिचान, बाकी सब मिथ्याभ्रम है। समझ में आया ?

‘अज्ञान के कारण जीव चार गति में दुःख भोगता है...’ लो ! अपने स्वरूप के भान बिना परवस्तु मेरे से चली, ग्रही, टिकी, मैंने रक्षा की। अभी तक तो मैंने बहुत रक्षा की, अब नहीं चलती। मूढ है। रक्षा की थी ? वह तो उसके कारण से रही थी। अब हमारे हाथ की बात न रही, पहले हमारे हाथ की बात थी। तेरे हाथ में आत्मा है। आत्मा क्या पर का कर सकता है ? जीव को अजीव माने तो मिथ्यात्व। अजीव को जीव माने तो मिथ्यात्व। ऐसा आता है या नहीं ? अजीव को जीव मानना मिथ्यात्व है। जीव को अजीव मानना मिथ्यात्व है। अपने शुद्ध चिदानन्दस्वरूप को नहीं मानकर, मैंने शरीर को अब तक तो ठीक रखा था, हाँ ! कुटुम्ब को, दुकान को, (बराबर रखा था), मूढ है। वह तो परवस्तु है। तेरे से कहाँ रही थी ? चली जाती है तो उसके कारण से जाती है, तेरे कारण से जाती है ? समझ में आया ?

पागल का दृष्टान्त है न शास्त्र में ? एक पागल था, पागल। बाहर बैठा था। (उतने में) राजा

आया। रानी आयी। सब आये। पागल बैठा था। आये, शाम को चले गये। क्यों पूछे बिन जाते हैं ? परन्तु तेरे कारण से कहाँ आये हैं ? तुम पागल यहाँ बैठे हो। हम तो हमारे कारण से आये हैं। पागल बैठा था, पागल समझे ? दस बजे का टाईम था। राजा आया। हाथी पर जाते थे। दस बज गये थे। नदी में जल था तो आहार करने को रुक गये। रानी, हाथी, घोड़ा (सब थे)। पागल को लगता है, ये मेरा राजा, ये मेरी रानी। चार बजे चले। तो कहता है, क्यों चले जाते हो ? हम तेरे कारण से कहाँ आये हैं ?

इसीप्रकार यह पागल (है)। पूर्व के कारण से लक्ष्मी आयी, स्त्री आयी, मकान आया वह तो उसके कारण से आये हैं। नाश होता है तो कहता है कि, चले क्यों जाते हैं ? लेकिन तेरे कारण से कहाँ से आये हैं कि, न चले जाये ? पागल है, पागल। पागल के गाँव कोई अलग होते हैं ?

यहाँ तो कहते हैं कि, चार गति में भटकता है 'किन्तु कभी शान्ति प्राप्त नहीं करता...' विशेष कहेंगे...



(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

आत्माको सदा ही ऊर्ध्व अर्थात् मुख्य रखना चाहिए । चाहे जैसा प्रसंग आए तो भी द्रव्य-स्वभावको मुख्य रखना । शुभाशुभ-परिणाम भले ही आए पर नित्य द्रव्यस्वभावका ध्येय रखना । आत्माको मुख्य रखने पर जो दशा होती है वह निर्मल-दशा साधन कहलाती है ओर उसका साध्य केवलज्ञान करना है ओर उसका ध्येय पूर्ण आत्मा है । कषायकी मन्दता अथवा क्षयोपशम ज्ञानके विकासकी मुख्यता होगी तो दृष्टि संयोग पर जाएगी । आत्माकी ऊर्ध्वताकी रूचि और जिज्ञासा हो तो उसका प्रयास हुए बिना रहे ही नहीं । जिसको आत्मानुभवके पहले भी यथार्थ जिज्ञासा हो, उसीको अव्यक्तरूपसे आत्माकी ऊर्ध्वता है । यहाँ अभी आत्मा जाननेमें तो आया नहीं, पर उसकी ऊर्ध्वता अव्यक्त रूपसे रहती है, और वह अनुभवमें आए तब व्यक्त प्रकट ऊर्ध्वता होती है । (परमागमसार-३९९)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल ११, गुरुवार
दि. ०३-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-५,६,७. प्रवचन नं. ४१

‘दौलतरामजी’ कृत पाँचवी ढाल है न ? संसार भावना। दो भावना (पूरी हई)। (कौन-सी) ? अनित्य और अशरण। आत्मा के अलावा सब पदार्थ अनित्य हैं, क्षणिक हैं, नाशवान हैं। अपना स्वरूप नित्य ध्रुव चिदानन्दस्वरूप है। ऐसी अन्त में स्वभाव सन्मुख ध्रुव नित्य की दृष्टि करके, परवस्तु की अनित्यता की भावना में वैराग्य करना चाहिए। समझ में आया ?

दूसरी अशरण (भावना)। अपने आत्मा को जगत में कोई शरण नहीं। शरीर, विकल्प आदि, रागादि कोई शरण नहीं, तो बाह्य तो शरण है ही नहीं। शरण तो अन्तर में आनन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति, उसका ज्ञान करके, उसका आश्रय करना, वही आत्मा को शरण है। समझ में आया ? दूसरा कोई जगत में शरण है नहीं।

संसार भावना। भावार्थ :- ‘जीव की अशुद्ध पर्याय, वह संसार है।’ अपनी पर्याय में- अवस्था में मिथ्या राग-द्वेष विकल्प विकार जो उठते हैं, वह विकार दशा ही संसार है। उसकी विचारणा करके अपना स्वरूप, संसारदशा विकार से, निर्विकार अपना निज स्वरूप आनन्द भिन्न है, ऐसा अंतर्मुख होकर एकाग्रता करना, वह संसार भावना का तात्पर्य है। समझ में आया ?

‘अज्ञान के कारण जीव चार गति में दुःख भोगता है...’ अ..हो...! अपनी कीमत, अपनी निज चीज की कीमत किये बिना.. समझ में आया ? अपनी चीज क्या है निधि ? चैतन्य आनन्दकन्द अपने स्वरूप की अधिकता, विकार और पर से भिन्न (है), उसकी कीमत किये बिना चौरासी (के अवतार) में (भटक रहा है)। अपने स्वरूप का भान, निधि है उसके भान के अभाव से चार गति में भटकता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- कर्म के कारण...

उत्तर :- कर्म के कारण से नहीं। अभी कहते थे, अन्दर पीछे आता था। कर्म के कारण से नहीं। वह कहा न ? अपना शुद्ध आनन्द निज जाति भगवान आत्मा, जिसमें अन्तर में तो शान्ति, ज्ञान, आनन्द, श्रद्धा और अनन्त अनन्त प्रभुता अन्तर में पड़ी है, (उसमें) एकाग्र होकर उछालना-निकालना चाहिए। समझ में आया ? अपने में अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द, प्रभुता आत्मपदार्थ में पड़ी है। उसके सन्मुख होकर, अन्तर में जो शक्ति पड़ी है, उसको वर्तमान में प्रगट करना (चाहिए)। वह नहीं प्रगट करते हैं तो स्वरूप के अज्ञान के कारण विकार प्रगट होता है। बस ! अपना ही कारण है, दूसरा कोई कारण है नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! लेकिन आत्मा क्या है, उसकी कोई खबर है नहीं। आत्मा अर्थात् कुछ नहीं। यहाँ कहते हैं कि, आत्मा अर्थात् सर्वस्व परमात्मा। समझ में आया ?

जिसमें अनन्त अनन्त सिद्धपद पड़ा है। समझ में आया ? किसमें ? आत्मा में। अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. सिद्धपद जिसमें पड़ा है-ऐसा आत्मा (है)। संसार के सामने यह बात चलती है। यह संसार भावना है न ? ऐसा अपना अनन्त अनन्त सिद्धस्वरूप भगवान... एक सिद्ध नहीं, ऐसी अनन्त पर्याय। पर्याय की बात है न ? अनन्त सिद्ध की पर्याय, अनन्त निर्मल पर्याय, ऐसी अनन्त सिद्ध जिसकी खान में (है)। अमूल्य निधि भगवान आत्मा की कीमत किये बिना पर की कीमत की तो अपना अज्ञान हुआ। समझ में आया ? इस अज्ञान के कारण संसार गति में-चार गति में दुःख भोगता है। समझ में आया ? ओ..हो..हो... ! चार गति का दुःख सुना हो, विचार किया हो तो मालूम पड़े। समझ में आया ? उस दुःख की दशा, अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप के अज्ञान के कारण चोरासी (में भटकता है)। यहाँ तो चार गति ली है न ? मात्र नरकगति ऐसा नहीं। समझ में आया ? ओ..हो... ! नरक का दुःख सपने में आये तो मालूम पड़े कि, कितनी पीड़ा है। समझ में आया ?

कहते हैं, ऐसा दुःख... भगवान आत्मा अपनी कीमत अथवा अपना ज्ञान अथवा अपना अधिक बडप्पन क्या है, अपना बडप्पन क्या है, मालूम नहीं। दूसरे को अधिकता दे देता है। पुण्य को, विकल्प को, राग को, पाप को, निमित्त को, संयोग को (अधिकता देता है)। बडप्पन समझते हो ? अधिकपना दे देते हैं। अपना स्वभाव परमानन्द, उसको छोड़कर दूसरे को अधिक महत्ता आश्चर्यकारी मान लेता है। अपनी चीज के अलावा पर को आश्चर्यकारी, विस्मय दृष्टि से

देखता है। पर को विस्मय दृष्टि से देखता है। अपना स्वरूप विस्मय दृष्टि से देखना चाहिए। समझ में आया ? विस्मय तो समझते हो न ? आश्चर्य दृष्टि से... ओ..हो... ! ओ..हो... ! ओ..हो..हो... ! क्या है ? शरीर सुन्दर हो, कीर्ति ठीक हो तो ओ..हो... ! ओ..हो... ! (करे)। लेकिन क्या है ओ..हो... ? अज्ञानी अपने को आश्चर्यकारी दृष्टि से नहीं देखता और अपने अलावा विकार, परपदार्थ को आश्चर्यदृष्टि से, विस्मय दृष्टि से, प्रफुल्लित होने के दृष्टि से (देखता है)। ओ..हो... ! पर में तो बहुत मजा है। ऐसे अज्ञानभाव से भाव करते हैं और चार गति स्वर्ग हो या नरक हो, चार गति में दुःख भोगता है।

‘(द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव) परावर्तन करता रहता है...’ देखो ! अनन्त परपदार्थ का संयोग, असंख्य क्षेत्र में अनन्त बार, अनन्त काल, अनन्त भव और अनन्त भाव। जो अध्यवसाय असंख्य प्रकार के (हैं), उन एक-एक प्रकार में अनन्त बार परिभ्रमण किया है। समझ में आया ? अपने चैतन्यस्वरूप की विस्मय, अद्भुत दृष्टि किये बिना, परपदार्थ को अद्भुत, आश्चर्य, विस्मय दृष्टि से देखने से अपना ज्ञान खोया, खो गया। वह रह गया। ये चीज, ये चीज, ये चीज (है)। इस चीज में शुभभाव इतनी बार किये, अशुभभाव की बात तो क्या ! अशुभ अनन्तबार किया, अशुभ के असंख्य प्रकार। हिंसा, जूठ, क्रोध, मान के असंख्य प्रकार। एक-एक प्रकार अनन्त बार किये। और दया, दान, व्रत, भक्ति का शुभभाव के भी असंख्य प्रकार। यह एक-एक प्रकार भी अनन्त बार किये। समझ में आया ? आहा..हा... !

भगवान अनन्त आनन्द के कन्द की अन्तर विस्मय, आश्चर्यदृष्टि करके अन्तर को खोलना चाहिए। शक्ति का भंडार एकत्व चाबी से खोलकर, उसे नहीं खोलकर अज्ञान से विकार खोला-प्रगट किया। भैया ! आहा..हा... ! कहते हैं कि, ऐसा कोई भाव नहीं। बन्धन का कारण (जो नहीं किया हो)। तीर्थकर गोत्र का भाव आदि दूसरी (चीज है)। नौवीं ग्रैवेयक अनन्तबार गया। शुक्ललेश्या, एक बार नहीं परन्तु अनन्त बार ऐसी शुक्ललेश्या हुई है। समझ में आया ? भैया ! शुक्ललेश्या, हाँ ! शुक्ल ध्यान नहीं। शुक्लध्यान दूसरी चीज है, वह मोक्षमार्ग में होती है। शुक्ललेश्या तो बन्धमार्ग में अनन्तबार हो गई। आहा..हा... ! अरे... ! समझ में आया ?

‘किन्तु कभी शान्ति प्राप्त नहीं करता;...’ मिथ्यात्वभाव, अशरणभाव, संसारभाव को शान्त करने का उपाय, अपने ज्ञातास्वभाव की ज्ञानदृष्टि, ज्ञानदृष्टि (करनी वह) उसको शान्त

करने का उपाय है। समझ में आया ? वह कभी किया नहीं। अन्तर में शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. एक अंश भी शान्ति निकाले तो अनादि की शुभाशुभ ज्वाला से भटकता है उसे जला दे। समझ में आया ? परन्तु ऐसा कभी अनन्तकाल में अपनी चीज की कीमत किये बिना भटकता है।

‘इसलिये वास्तव में संसारभाव सर्वप्रकार से साररहित है,....’ संसारभाव सर्व प्रकार से साररहित है। आहा..हा...! समझ में आया ? ‘उसमें किंचित्मात्र सुख नहीं है;....’ ओ..हो...! ‘क्योंकि जिसप्रकार सुख की कल्पना की जाती है, वैसा सुख का स्वरूप नहीं है...’ सुख की कल्पना क्या ? ये पुण्य में, पाप में, फल में, शरीर में, स्त्री में सुख की कल्पना करता है तो सुख का स्वरूप ऐसा है ही नहीं। ओ..हो..हो...! समझ में नहीं आया ?

इस संसार में सुख है, पैसे में सुख है, स्त्री में सुख है, कीर्ति में सुख है, मकान में सुख है, कपड़े ठीक पहने से, सुगन्ध लगाने से, उसमें सुख है ऐसी कल्पना करता है, वास्तव में वह सुख का स्वरूप है ही नहीं, वह तो दुःख का स्वरूप है। आहा..हा...! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ऐसा बनता है न ?

उत्तर :- क्या बनता है ? धूल में बनता है। भाई ! रोज बनता है। उसमें कल्पना की। होली जलती है। राग और द्वेष, राग और द्वेष। ओ..हो..हो..! समझ में आया ? बहुत साल पहले सपने में एक स्त्री को नरक में देखा था। परसौ एक स्त्री को सपने में नरक में देखा। वह देखे तो मालूम पड़े क्या चीज है। समझ में आया ? आहा..हा...! पीड़ा... कहाँ से कहाँ आई ? ऐसी चीज देखी। स्त्री, वहाँ नग्न, वहाँ तो नग्न है न। नारकी में कुछ नहीं। दुःख.. दुःख.. दुःख... दुःख.. फिर क्या हुआ ? कोई कहे ऐसा हुआ। उसमें से याद आया। एक आदमी पानी का बड़ा घड़ा भरकर लाया (और) उसपर डाला। समझ में आया ? मैंने तो उसे अन्दर में लिया।

अनादि अज्ञानी विकार से जला हुआ जलता है। बहुत वर्ष पहले एक स्त्री आयी थी। कौन थी वह लक्ष्य में आ गई थी। यह कौन वह ख्याल में नहीं आया, वह कौन थी वह ख्याल में आयी थी। दुःख देखो तो देखा नहीं जाये। पहले तो पूडे जैसा देखा, भाई ! जैसे मधपुडा होता है न ? मधपुडा। ऐसे.. ऐसे.. होता था। ये क्या ? उसमें स्त्री का मुख और शरीर स्त्री का। और पीड़ा..

पीड़ा.. पीड़ा.. ऐसे देखे.. अरे... ! ये क्या ? समझ में आया ? बापू ! अनन्तबार ऐसे भव किये हैं। समझ में आया ? परसौं रात को (देखा)। समझ में आया ? यहाँ कहते हैं, यहाँ कुछ नरक का चलता होगा न ? भावना, विचारणा अन्दर से (चलती होगी)। गति का ख्याल आ गया। ओ..हो... ! उसको बुझाने का एक उपाय शान्ति है, दूसरा कोई उपाय है नहीं। समझ में आया ? क्या लिखा है ? देखो !

‘क्योंकि जिसप्रकार सुख की कल्पना की जाती है,...’ लड्डु में सुख है, स्त्री में सुख है, इज्जत में सुख है, ऐसे बैठूं तो सुख, ऐसे देखूं तो सुख है। ये कल्पना जिसने की है, वैसा सुख कारण स्वरूप है नहीं। बराबर है ? भाई !

मुमुक्षु :- ... भाई बात तो ठीक लगती है, परन्तु...

उत्तर :- यहाँ दूसरी बात कहते हैं और तुम्हारे अन्दर खटकती है दूसरी। यहाँ तो कहते हैं, जिसमें कल्पना करते हैं, वह सुख का स्वरूप है नहीं। इतनी बात है। दुःख बाद में। समझ में आया ? आहा..हा... ! अरे... !

यहां तो कहते हैं, ‘किन्तु वह परद्रव्य के आलम्बनरूप मलिनभाव होने से आकुलता उत्पन्न करनेवाला भाव है।’ संसार है न ? संसरण। जितनी विकल्प की शुभ-अशुभ जाल, सब दुःखमय है, संसार है। भगवान आत्मा। देखो ! वह कहते हैं। ‘निज आत्मा ही सुखमय है...’ अब यहाँ लेना। भगवान आत्मा ओ..हो.. ! निज आत्मा आनन्दमय, जिसमें आनन्द पड़ा है। यह संसार तो जहाँ कल्पना करता है वहाँ-वहाँ सब दुःखरूप है। कल्पना जहाँ-जहाँ करता है, तहाँ-तहाँ वह सब दुःखरूप है। आप कहते हो वैसा नहीं है। आप तो दूसरे प्रकार से कहते हो, आप की बात अलग है, यह बात अलग है। यहाँ तो पर में कल्पना करता है कि, यहाँ सुख है, शरीर में ऐसा है, ऐसा है, ऐसा है। यह कल्पना दुःखरूप है। पैर नहीं चलता है, इसलिये दुःखरूप है, ऐसे नहीं। समझ में आया ? भाई ! माप में फर्क है। गज में फर्क है।

यहाँ तो कहते हैं, अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप का लक्ष्य छोड़कर, जहाँ-जहाँ सुख की कल्पना (करता है), किसी भी चीज में आबरु में, कीर्ति में, शरीर में, स्त्री में, कुटुम्ब में, व्यापार में, धंधे में, अमलदार में, सोने में... समझ में आया ? जहाँ-जहाँ सुख कल्पना करता है, वह

सुख का स्वरूप है नहीं अर्थात् वह दुःख का स्वरूप है। यह शरीर चलता नहीं, इसलिये दुःख है—ऐसी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि, जहाँ—जहाँ.. समझ में आया ? आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- धूल में भी सुखी नहीं है। कौन कहता है ?

मुमुक्षु :- .. सुखी है न ?

उत्तर :- ना, कौन कहता है सुखी है ? जितनी कल्पना करते हैं सब दुःखी हैं। कल्पना करता है कि, यहाँ.. यहाँ.. (सुख है), वह दुःखी है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

यहाँ तो क्या कहा ? 'जिस प्रकार कल्पना की जाती है, वैसा सुख का स्वरूप नहीं है...' सुख का स्वरूप ऐसा माने कि, ऐसा ठीक है, ऐसा ठीक है। लड़का ठीक है, पैसा ठीक है, कमाते ठीक है, कीर्ति ठीक है, शरीर सुन्दर है, निरोगता है, हजम होता है, अच्छा हजम होता है, ऐसी कल्पना जहाँ—जहाँ करे, तहाँ—तहाँ वह सुख की स्थिति है ही नहीं, वह सुख का स्वरूप है ही नहीं। वह तो दुःख का स्वरूप है। भैया ! समझ में आता है ? कल्पनामात्र करता है। आहा..हा... ! पाँच हजार मिले, करो लापसी। लापसी को क्या कहते हैं ? कल्पना करता है कि, मुझे सुख है। वह सुख का स्वरूप है ही नहीं। समझ में आया ?

एक ही पुत्र हो, पच्चीस साल का जवान हो, ६५ साल की (खुद की) उम्र हो, पचास लाख की पूँजी हो, दो लाख खर्च करने की कल्पना करता है। ओ..हो.. ! आहा..हा... ! यह अन्तिम अवसर है, भाई ! ऐसा थोड़ी बार—बार आता है। मूढ है। तेरी कल्पना सुखरूप मानता है, वह सुखरूप है ही नहीं। आहा..हा... ! भगवान आत्मा, उस कल्पना से पार है, समझ में आया ? ऐसे अपने आत्मा की दृष्टि करना, उसमें आनन्द और सुख है, बाहर में सुख है नहीं। समझ में आया ?

'दौलतरामजी' 'छहढाला' में ऐसा कहते हैं। 'छहढाला' चलती है। समझ में आया ? यह आत्मा ही सुखमय है। यह आत्मा अन्दर पड़ा है न आत्मा ? वही आनन्दमय है, आनन्दमय है। सुखमय, सुखवाला नहीं, सुखमय ही है। कैसे बैठे ? यह भगवान आत्मा अतीन्द्रिय

आनन्दमय है। जैसे शक्कर मिठासमय है, वैसे आत्मा आनन्द है। उसके अलावा जितनी कल्पना करना वह सब दुःखरूप है, सुख की कल्पना मान रखी है। समझ में आया ? स्वर्ग में भी अनुकूलता है, इन्द्राणी की अनुकूलता (है), इज्जत की अनुकूलता (है)। समझ में आया ? देव जहाँ उत्पन्न होता है, विचार करे कि, देव क्यों नहीं आते ? लेकिन देव वहाँ घड़ी-दो घड़ी विचार करे उतने में पचास-सौ साल चले जाये। ऐ..ई..। भाई ! समझ में आया ? (एक मुमुक्षु) स्वर्ग में गये। पुण्य इतने होते हैं, उसके फल में जहाँ देखे वहाँ (अनुकूलता दिखती है), वह विचार करते-करते एक घड़ी आये उतने में वहाँ के पचास-सौ साल चले जाये। उतने समय तक यहाँ आदमी रहे नहीं। सुख का विचार है न ? सुख की घड़ी बहुत थोड़े काल दिखती है। और दुःख का काल बड़ी रात दिखती है। रात तो थोड़ी है, लेकिन बहुत दुःख हो तो (बोले) आज तो रात बड़ी हो गई। रात बड़ी नहीं है, तेरा दुःख है उस कारण से लगती है। वहाँ अनुकूलता इतनी देखे, थोड़ा-थोड़ा विचार करे तो (काल) चला जाये। यहाँ पूर्व का सम्बन्ध हो वह पूरा हो जाये।

भगवान आत्मा.. वह कल्पना करता है, हाँ ! कि, इसमें सुख है। देव में सुख है, ऐसी कल्पना करता है। सुख का स्वरूप ऐसा है नहीं। समझ में आया ? पाँच-पच्चीस लाख में सुख है, शरीर में सुख है, इज्जत में सुख है, वह कल्पना करता है। वह सुख का स्वरूप है ही नहीं। वह तो दुःख की व्याख्या है। सुख तो अपने आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है, उसकी अन्तर दृष्टि करने से सुख की प्राप्ति होती है। बाहर से कभी तीनकाल में सुख की प्राप्ति होती नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... !

‘उसके ध्रुवस्वभाव में संसार है ही नहीं...’ देखो ! क्या कहते हैं ? भगवान आत्मा ध्रुव.. ध्रुव.. नित्य.. नित्य, उसके नित्य स्वभाव में तो संसार की गन्ध नहीं। पुण्य-पाप का विकल्प अथवा कल्पना उसमें है ही नहीं। अपना ध्रुव स्वभाव, नित्य स्वभाव, अनादि अनन्त स्वभाव, एकरूप स्वभाव, वस्तु.. वस्तु का ध्रुव स्वभाव, उसमें संसार की कल्पना की गन्ध नहीं। परमपवित्र धाम भगवान आत्मा है। संसार की कल्पना, उसकी अवस्था-पर्याय में करता है। ये सब दुःखरूप कल्पना है। समझ में आया ? स्वर्ग हो, नरक हो...

मुमुक्षु :- ... परन्तु कल्पना जाती नहीं उसका क्या ?

उत्तर :- लेकिन करता है कौन ? जो करे वह छोड़े। छोड़े कौन ? छोड़े समझते हैं ? छोड़ देते हैं। हाथ में पकड़ा हो उसे छोड़े। रात-दिन कल्पना, कल्पना, कल्पना, कल्पना (करता है)। ऐसा.. ऐसा.. ऐसा.. जैसे वह पूणी होती है न पूणी ? एक के बाद एक चलती रहती है। वैसे अज्ञानी, आत्मा आनन्द के भान बिना प्रभु आत्मा ध्रुव स्वभाव में अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द की दृष्टि बिना अनन्त कल्पना किये जाता है। मूढ (है)। स्वर्ग हो या नर्क हो, सेठ हो या रंक हो, सब कल्पना में दुःखी हो रहे हैं।

मुमुक्षु :- ... कल्पना चली नहीं जाती ?

उत्तर :- अपने आप ही चली जायेगी ? करे बिना मिल जाये ? छोड़े बिना चली जाये ? समझ में आया ? करता तो वह है। जैसे ध्रुव आत्मा है, वैसे ध्रुवरूप से हमेशा पर्याय में करता ही रहता है। करना.. करना.. करना.. करना.. करना.. विकार.. विकार.. विकार.. विकार.. विकार.. शुभभाव हो या अशुभभाव, दोनों विकार हैं। दोनों का फल पुण्य-पाप बन्ध है, दोनों का फल संयोग है। उसमें कहीं सुख है नहीं। भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ, तीर्थकरदेव, जिनको एक समय में त्रिकाल ज्ञान था, उन परमेश्वर ने जैसा कहा, वैसा यहाँ कहने में आता है।

‘ऐसा स्वोन्मुखतापूर्वक चिंतवन करके...’ भगवान आत्मा विकार की कल्पना से पार भिन्न है, ऐसा अन्तर स्वरूपसन्मुख दृष्टि करके अपने स्वभाव की भावना करनी। ‘सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता में वृद्धि करता है...’ तो अन्दर में शान्ति की वृद्धि करता है। वीतरागता का अर्थ शान्ति। यह अशान्ति (है), बाहर की कल्पना मात्र अशान्ति (है)। और अन्तर स्वभाव में एकाग्र होकर अपने शुद्ध चैतन्य की एकाग्रता करते हैं तो उसमें से शान्ति की वृद्धि होती है और अशान्ति का नाश होता है। समझ में आया ? ‘यह संसार भावना है।’

४-एकत्व भावना

शुभ अशुभ करम फल जेते; भोगे जिय एक हि ते ते;

सुत दारा होय न सीरी, सब स्वास्थ्य के है भीरी ॥६॥

अन्वयार्थ :- (जेते) जितने (शुभ करमफल) शुभकर्म के फल और (अशुभ करमफल) अशुभकर्म के फल है (ते ते) वे सब (जिय) यह जीव (एक हि) अकेला ही (भोगे) भोगता है; (सुत) पुत्र (दारा) स्त्री (सीरी) साथ देनेवाले (न होय) नहीं होते। (सब) यह सब (स्वारथ के) अपने स्वार्थ के (भीरी) सगे (हैं) है।

भावार्थ :- जीव का सदा अपने स्वरूप से अपना एकत्व और पर से विभक्तपना है; इसलिये वह स्वयं ही अपना हित अथवा अहित कर सकता है। - पर का कुछ नहीं कर सकता, इसलिये जीव जो भी शुभ या अशुभभाव करता है, उनका फल (आकुलता) वह स्वयं अकेला ही भोगता है, उसमें अन्य कोई-स्त्री, पुत्र, मित्रादि सहायक नहीं हो सकते, क्योंकि वे सब पर पदार्थ हैं और वे सब पदार्थ जीव को ज्ञेयमात्र हैं, इसलिये वे वास्तव में जीव के सगे-सम्बन्धी हैं ही नहीं; तथापि अज्ञानी जीव उन्हें अपना मानकर दुःखी होता है। पर के द्वारा अपना भला-बुरा होना मानकर पर के साथ कर्तृत्व-ममत्व का अधिकार माना है; वह अपनी भूल से ही अकेला दुःखी होता है।

संसार में और मोक्ष में यह जीव अकेला ही है-ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि जीव निज शुद्ध आत्मा के साथ ही सदैव अपना एकत्व मानकर अपनी निश्चयपरिणति द्वारा शुद्ध एकत्व की वृद्धि करता है, यह 'एकत्व भावना' है।

एकत्व भावना। चौथी एकत्व भावना। गाथा छठवीं है न ?

शुभ अशुभ करम फल जेते; भोगे जिय एक हि ते ते;

सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के है भीरी॥६॥

यह तो हिन्दी सादी भाषा है, हिन्दी 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' तो बहुत सादी है। गागर में सागर भर दिया है। गागर में भर दे, ऐसा भर दिया है। 'दौलतरामजी', पहले के पंडित बहुत विद्वान और बहुत यथार्थ दृष्टिवाले थे। समझ में आया ? उसका अर्थ।

'जितने शुभकर्म के फल और अशुभकर्म के फल हैं, वे सब यह जीव अकेला ही भोगता है...' देखो ! एकत्व भावना। एकत्व है न ? अकेला भोगता है। कोई पृथक् पर प्राणी

उसका दुःख भोगने में हिस्सा लेते नहीं। कौन ले ? जैसा शुभ-अशुभभाव, कर्म करे ऐसा कर्म, ऐसा संयोग मिले। अकेला दुःख। स्त्री, कुटुम्ब सब इकट्ठे हों, देखने को लोग इकट्ठे हो जाये, परन्तु क्या उसके दुःख मिटा सकते हैं ? दुःख तो अपने आनन्द को भूलकर जो विकार उत्पन्न किया है, उसमें शुभाशुभ कर्म का फल भोगता है, अकेला भोगता है। उसमें किसी का सहारा नहीं।

‘पुत्र, स्त्री, साथ देनेवाले नहीं होते।’ क्या दे ? जन्म से एक क्षेत्र में रहनेवाला शरीर, जन्म से आत्मा के साथ एक क्षेत्र में रहनेवाला शरीर, वह भी साथ नहीं देता, वह तो जड़ है, मिट्टी-धूल है, तो दूर जो स्त्री, कुटुम्ब-परिवार है, वह तो क्षेत्र से दूर है। तेरे आत्मा के आनन्द को भूलकर जो दुःख भोगता है, पूर्व का कर्म का फल (भोगता है) उसमें साथ होते नहीं, साथ देते नहीं। थोड़ा साथ देते होंगे या नहीं ? उसके लिये जितना कमाया, उसके लिये कमाया न ? पाप के लिये। इतना साथ देंगे या नहीं ? हमारे लिये इतना पाप किया (तो) लाओ (तुम्हारे दुःख में) भाग लेते हैं। पाप खुद ने किया, फल पाया खुद ने। पर के कारण से क्या है ? पर तो भिन्न है। स्त्री, पुत्र परद्रव्य हैं। पर आत्मा है। उसका परिणाम वह भोगता है। इस आत्मा में उसका साथ कहाँ से आया ? समझ में आया ? अरे.. ! कभी विचार नहीं (किया)। यह मनुष्यपना मिला। खाना-पीना, भोग लेना, कमाना, धूल-पाँच-पचास लाख इकट्ठा हुआ, सब हो गया, मरकर जाये चार गति में। समझ में आया ?

यह आत्मा चीज क्या है ? आत्मा तो एकत्व है। यहाँ तो एकत्व (में) मात्र भोगने की बात की है। वास्तव में तो एकत्व विकार से भिन्न अपना स्वरूप स्वभाव से एकत्व है। समझ में आया ? पुण्य-पाप के विकल्प से, पर से, अपने स्वभाव से एकत्व है। अन्यत्व (भावना में) विभाव से पृथक् है, अन्यत्व है ऐसा बतायेंगे। यह तो व्यवहार से बात समझायी। इस जगत में अपना अकेला आत्मा जैसा शुभ-अशुभभाव करे, ऐसा शुभाशुभभाव का बन्ध पड़े, ऐसा शुभाशुभ संयोग मिले। उसको अकेला भोगता है। कोई साथ देता नहीं।

‘यह सब अपने स्वार्थ के सगे हैं।’ ये सब अपनी अनुकूलता देखे, तब तक रहे। अनुकूलता न लगे तो इसमें कुछ नहीं, चलो, चलो (करे)। मरने दो उसे। समझ में आया ? क्या करे ? कोई करे कैसे ? अपने स्वरूप के अभान से बन्ध किया, उस बन्ध का फल अकेला

भोगे। दूसरा करे क्या ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- ये मूढ है न ! भान कहाँ है ? वह जानता है कि, मेरी स्त्री बहुत अच्छी है, दूसरे से ठीक है। मेरी स्त्री बहुत अच्छी, मेरा पुत्र बहुत अच्छा ऐसा मूढ अनादि से करता आया है। भान कहाँ है उसको कि मैं क्या हूँ और पर क्या है ?

‘सीताजी’ ‘लक्ष्मण’ को लेने गये। वहाँ तो बहुत प्रीति थी न ? ‘लक्ष्मण’ और ‘सीता’। ‘रावण’ नरक में गये न ? ‘रावण’ और ‘लक्ष्मण’ नरक में है। ‘सीताजी’ देवलोक में हैं। सोहलवें स्वर्ग में है। अरे..रे... ! ‘लक्ष्मणजी’ हमारी बहुत सेवा करते थे। ‘रामचन्द्र’, ‘लक्ष्मण’ और ‘सीता’ वनवास में गये थे। ‘सीताजी’ और ‘राम’ साथ में चलते थे। चलते-चलते रुक जाये वहाँ ‘लक्ष्मणजी’ जंगलमें से फूल-फल ले आये। भैया ! आप बैठिये। ऐसा कहते हैं, ऐसीसेवा करते हैं। नरक में गये हैं। वासुदेव थे, महापाप किया। अकेले (गये)। ‘सीताजी’ को लगा अरे... ! ये नरक में (हैं)। वहाँ गये। शरीर को उठाया तो महादुःख (पाया)। समझे ? अरे.. ! देव ! हमारे कर्म हम भोगते हैं, तुम चले जाओ। हम यहाँ से निकल नहीं सकते। क्या करे ? ‘सीताजी’ सोलहवे स्वर्ग में देव (हुए हैं)। वहाँ से गये। ‘लक्ष्मणजी’ को नरक की पीड़ा। ओ..हो... ! शरीर को उठाया तो उठे नहीं, टुकड़ा हो जाये। पीड़ा.. पीड़ा.. पीड़ा.. ‘लक्ष्मण’ कहते हैं, हे देव ! तुम तुम्हारे स्थान में जाओ। हमारे कर्म हम अकेले भोगते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? ‘रावण’ भविष्य में तीर्थकर होनेवाले हैं। ‘सीताजी’ उनके गणधर होनेवाले हैं। वर्तमान में ‘सीताजी’ स्वर्ग में, ‘रावण’ नरक में। ये परिणाम की विचित्रता। ‘लक्ष्मण’ भी अन्त में तीर्थकर होनेवाले हैं। समझ में आया ? ओ..हो..हो... !

कहते हैं, अपना स्वरूप भूलकर जितना विकार हुआ, उस विकार का बन्ध हुआ, बन्ध के संयोग में अपने अकेले आत्मा ने भोगा। किसी का सहारा कुछ है नहीं। ‘अपने स्वार्थ के सगे हैं।’ समझ में आया ? ‘यह स्वार्थ के सगे हैं।’ वह भी स्वार्थ का सगा है और तू भी स्वार्थ का सगा है। तेरा स्वार्थ था, तब तक तूने किया, उसका स्वार्थ सधता है, तब तक वह करता है। सब अपने-अपने कारण से हैं।

‘जीव का सदा अपने स्वरूप से अपना एकत्व...’ देखो ! अपने स्वभाव से आत्मा एकत्व है। विकार और पर से तो आत्मा पृथक् ही है। अभी। कहाँ बैठे ? भगवान चैतन्यज्योत। ‘तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।’ कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है न ? अरे.. ! जीवो ! तुम तुम्हारा स्वभाव, शुद्ध आनन्द, ज्ञानस्वभाव से एकत्व है और पुण्य-पाप, शरीर से पृथक् है-ऐसी बात तुमको कहूँगा। आहा..हा... ! दिगम्बर सन्त ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ महाराज संवत् ४९ में हुए। भगवान के पास गये और आकर कहते हैं, अहो.. ! जीवों ! ‘तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।’ अपने निज वैभव से, अपने अन्तर निज बोध से मैं अपना एकत्व स्वभाव, परम शुद्ध स्वभाव से आत्मा एकत्व है और विकार, पुण्य-पाप, शरीर, कर्म से आत्मा पृथक् है, वही बताऊँगा। वह कभी सुना नहीं। अनन्तकाल में वह बात तूने सुनी नहीं और ऐसा अनन्तकाल में एक समय भी तूने भेदज्ञान किया नहीं। भैया ! कैसा ध्यान करना ?

अपना शुद्ध स्वरूप, अपना आत्मा, अपना आत्मा, निज-अपना ज्ञान, दर्शन, अनन्त गुणस्वभाव से एकत्व है, अभेद है। अपने अनन्त गुण से आत्मा-गुणी अभेद है। समझ में आया ? और पुण्य-पाप, शुभ-अशुभभाव, शरीर, कर्म से भगवान आत्मा पृथक् अर्थात् भिन्न है। ऐसी अन्तर में एकाग्रता करना उसका नाम शान्ति और धर्म है। आहा..हा... ! कभी भेदज्ञान किया नहीं। मैं पुण्य-पाप से भिन्न, मेरे स्वभाव से अभिन्न, शरीर से भिन्न, मेरे सम्यग्दर्शन से मैं अभिन्न (हूँ), ऐसा स्व-पर का विवेक कभी किया नहीं। समझ में आया ?

‘जीव का सदा अपने स्वरूप से एकत्व और पर से विभक्तपना है; इसलिये वह स्वयं ही अपना हित अथवा अहित कर सकता है;...’ अपना अहित और हित अपने से होता है, पर से हित-अहित कभी होता नहीं। शरीर से नहीं, कर्म से नहीं, पर से हित-अहित कभी होता नहीं। अपने अभान से अहित और अपने भान से हित (होता है)। समझ में आया ? ‘पर का कुछ नहीं कर सकता...’ पर का हित-अहित कर सकता नहीं। ‘इसलिये जीव जो भी शुभ या अशुभभाव करता है, उनका फल (आकुलता) वह स्वयं अकेला ही भोगता है,...’ यहाँ तो कहते हैं कि, शुभकर्म का फल भी आकुलता और अशुभभाव का फल भी आकुलता है। पुण्य करे तो भी उसके फल में पैसा-धूल मिले, स्वर्ग मिले तो भी वहाँ आकुलता है। सुख कहाँ धूल में है ? दो-पाँच-पच्चीस लाख मिले उसमें सुख है या नहीं ? कल्पना करता है, मूढ। सुख

वहाँ कहाँ से आया ? कैसे में सुख कहाँ ? वह तो जड़ है और पूर्व के शुभकर्म का फल है। उस पर लक्ष्य करता है, वह तो आकुलता है। समझ में आया ? अपना आनन्दमूर्ति भगवान, उसका कभी लक्ष्य किया नहीं तो उसे अकेली आकुलता ही भोगनी पड़ी।

मुमुक्षु :- आकुलता-आकुलता में फर्क है ?

उत्तर :- आकुलता आकुलता एक जाति की है, कोई तीव्र-मन्द हो उसमें क्या है ? वह भी अग्नि है। कोई ज्वाला अधिक जलती है, कोई थोड़ी जलती है।

‘उसमें अन्य कोई-स्त्री, पुत्र, मित्रादि सहायक नहीं हो सकते, क्योंकि वे सब पर पदार्थ हैं और वे सब पदार्थ जीव को ज्ञेयमात्र है, ...’ वास्तव में तो भगवान आत्मा अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की दृष्टि में पुण्य-पाप और शरीर, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब सब ज्ञान के ज्ञेय हैं, जानने की चीज है, अपनी चीज नहीं। समझ में आया ? एक सौ मकान हो, मकान, एक गली में.. गली कहते हैं ? क्या कहते हैं ? गली (में) सौ मकान है। देखनेवाला देखे कि सौ मकान है। लेकिन जहाँ उसका रहने का मकान है (उसे देखता है तो लगता है), यह मेरा। लेकिन कहाँ से आया तेरा ? वास्तव में तो सौ मकान हैं (उन्हें) आत्मा देखता है कि ये सौ हैं, बस ! मैं जाननेवाला हूँ। जाननेवाले को छोड़कर, यह मेरा (ऐसा एकत्व करता है)। लेकिन तेरा कहाँ से आया ? वह तो जानने की चीज आयी। जैसे ९९ मकान है, वैसा वह मकान है।

मुमुक्षु :- .. तिजोरी..

उत्तर :- तिजोरी किसके बाप की ? तिजोरी जड़ है, पैसा पर है। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- .. नाम..

उत्तर :- नाम तो जड़ का नाम है, आत्मा का नाम कहाँ है ? वह तो परमाणु का अक्षर है, वह भी ज्ञान का ज्ञेय है। ऐ..ई.. ! २२ मंजिल को बनानेवाला। वह तो जड़ है। तेरा कहाँ से आया ? वह ज्ञान जानता है। जैसे सारी दुनिया, ‘मुम्बई’ देखता है, ज्ञान में पूरा ‘मुम्बई’ दिखता है या नहीं ? वैसे ‘मुम्बई’ का वह मकान जिसमें रहता है, वह भी देखने की चीज हुई। मेरी कहाँ से आयी ?

मुमुक्षु :- वहाँ तो सोता है।

उत्तर :- सोता कहाँ है ? सो सकता नहीं। अपने क्षेत्र में है, परक्षेत्र में तो जाता नहीं। आहा..हा... ! ५० लड़के हो, ५० लड़के। देखे। उसका जहाँ देखे तो (लगे) यह मेरा। लेकिन मेरा कहाँ से आया ? वह तो ज्ञान में ज्ञेय है। उसका आत्मा और जड़ का शरीर। इसका कहाँ है ? आत्मा का है ? भाई ! कपड़ा देखे, उसके जैसा कपड़ा देखे। कपड़ा तो सौ, पचास पांचसौ पड़े हैं। ये कपड़ा मेरा। ये मेरी धोती, आया कहाँ से ? समझ में आया ? स्त्री की पहनने की साड़ी। ५० (साड़ी) हो। ये मेरी, ये मेरी।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- लेकिन है तो किसी की चीज है, अपनी तो है नहीं। है तो पर, मेरा कहाँ से आया ? ऐसे शरीर। सब का शरीर देखता है, वैसे यह शरीर देखता है। (दूसरे) शरीर, शरीर, शरीर है वैसे यह शरीर है। इसे देखता है, आत्मा देखता है कि यह है, यह है। उसमें यह शरीर मेरा आया कहाँ से ? यहाँ तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- कहाँ जाये ? अपने स्वरूप की दृष्टि करे और अपने में एकाग्रता हो, वह करना है, दूसरा क्या करना है ? कर क्या सकता है ? पर का क्या कर सकता है ? व्यापार-धंधे की क्रिया तो पर है, जड़ है। दुकान पर बैठकर दुकान की व्यवस्था चला सकता है ? नौकर-चाकर तो परपदार्थ है। कपड़े, गहने पर हैं। पर की अवस्था पर से होती है, क्या आत्मा से होती है ? बहुत सयाना आदमी हो, होशियार (हो तो) दुकान की लगाम हाथ में रखता है। हमारी लगाम (है)। धूल में नहीं है। लगाम का अर्थ तेरी ममता। परचीज कहाण तेरे में घूस गई है ? परचीज में तुम क्या कर सकते हो ? समझ में आया ? आहा..हा... ! 'सब पदार्थ जीव को ज्ञेयमात्र है, ...' उसका अर्थ आया, हाँ !

'इसलिये वे वास्तव में जीव के सगे-सम्बन्धी है ही नहीं; ...' स्त्री भी ज्ञान का (ज्ञेय है)। आत्मा ज्ञान है, वह ज्ञेय है-जानने योग्य है। जानने योग्य में से अधिकपना कहाँ से आया ?

दूसरा कहाँ से आया कि, यह मेरा ? वह तेरा भ्रम है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा... ! 'तथापि अज्ञानी जीव उन्हें अपना मानकर दुःखी होता है। पर के द्वारा अपना भला-बुरा होना मानकर...' पर के द्वारा अपना भला-बुरा मानकर। उसके द्वारा मेरा खराब हो गया, उसके द्वारा मेरा भला हुआ। वह तो राग-द्वेष हुआ। राग-द्वेष किया, दूसरा तो कुछ हुआ नहीं।

'पर के द्वारा अपना भला-बुरा होना मानकर पर के साथ कर्तृत्व-ममत्व का अधिकार माना है;...' मैं पर का अधिकारी करनेवाला और वह मेरा। मैं करनेवाला और वह मेरा। ऐसे कर्ता (और) ममता करता है, दूसरा तो कुछ है नहीं। आहा..हा... ! 'वह अपनी भूल से अकेला दुःखी होता है।' अपना स्वरूप ज्ञानस्वरूप भगवान, सच्चिदानन्द चैतन्य चमत्कार (हूँ)। चैतन्य चमत्कार सब चीज को जाने। कोई चीज को जाने बिना रहे नहीं। सब को जाने ऐसा स्वभाव (है), उसमें यह चीज मेरी, ऐसा कहाँ से लाया ? यहाँ ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? ज्ञानी को ऐसी चीज दिखती है, उनको स्त्री भी होती है, अन्तर में जानते हैं कि, यह मेरी चीज है नहीं। बिलकुल मेरी चीज नहीं। मात्र थोड़ा आसक्ति का राग है तो लक्ष्य जाता है तो समझते हैं कि, यह राग भी पाप है। समझ में आया ?

संसार में रहने पर भी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मी ९६-९६ हजार स्त्री के वृन्द में हो। (फिर भी जानते हैं कि), हमारा कोई नहीं। हमारा है वह हमारे पास है। हमसे दूर है, वह चीज हमारी नहीं और हम इस दूर चीज में कभी आये नहीं। आहा..हा... ! इसका नाम सम्यग्दर्शन है। भैया ! आहा..हा... ! ओ..हो.. ! आपके पास तो मोटर है। इसमें 'मोटर' शब्द आया था। लेकिन उन दिनों मोटर नहीं थी। इस ओर मोटरगाड़ी है, धूल में भी मोटरगाड़ी नहीं। पहले हाथी थे। हाथी, अश्व-घोड़ा। भगवान ! वह तो परद्रव्य है न ! प्रभु ! वह तो पर आत्मा है, शरीर जड़ है, उसमें तेरा कहाँ से आया ? तेरी छाप पड़ी है ? उसमें ट्रेडमार्ग है ? तेरी हो तो तुझ से दूर क्यों जाये ? तेरी हो तो तुझ से दूर न जाये। तेरा है वह तुझ से दूर नहीं है, वह आत्मा का आनन्द, ज्ञान आत्मा में है, वह तुझ से दूर नहीं। मालूम नहीं, मालूम नहीं।

'संसार में और मोक्ष में यह जीव अकेला ही है-ऐसा जानकर...' एकत्व (भावना) है न ? उस अपेक्षा से लेते हैं। 'सम्यग्दृष्टि जीव निज शुद्धात्मा के साथ ही सदैव अपना एकत्व

मानकर...’ अपने शुद्धात्मा के साथ ही सदैव एकत्व मानकर ‘अपनी निश्चयपरिणति द्वारा...’ भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति मैं हूँ। पुण्य-पाप का विकल्प भी मेरा नहीं। होता है, आसक्ति है, दोष है। दोष मेरी निर्दोष दशा से भिन्न है। ऐसे अपने शुद्ध स्वभाव की एकत्व परिणति-पर्याय के द्वारा ‘शुद्ध एकत्व की वृद्धि करता है, यह एकत्व भावना है।’ उसका नाम भगवान एकत्व भावना कहते हैं।

५-अन्यत्व भावना

जल-पय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।

तो प्रगट जुदे धन धामा, क्योँ ह्वे इक मिलि सुत रामा ॥७॥

अन्वयार्थ :- (जिय-तन) जीव और शरीर (जल-पय ज्यों) पानी और दूध की भाँति (मेला) मिले हुए हैं (पं) तथापि (भेला) एकरूप (नहिं) नहीं है, (भिन्न-भिन्न) पृथक्-पृथक् हैं, (तो) तो फिर (प्रगट) जो बाह्य में प्रगटरूप से (जुदे) पृथक् दिखाई देते हैं ऐसे (धन) लक्ष्मी, (धामा) मकान, (सुत) पुत्र और (रामा) स्त्री आदि (मिलि) मिलकर (इक) (क्यों) कैसे (हैं) हो सकते हैं ?

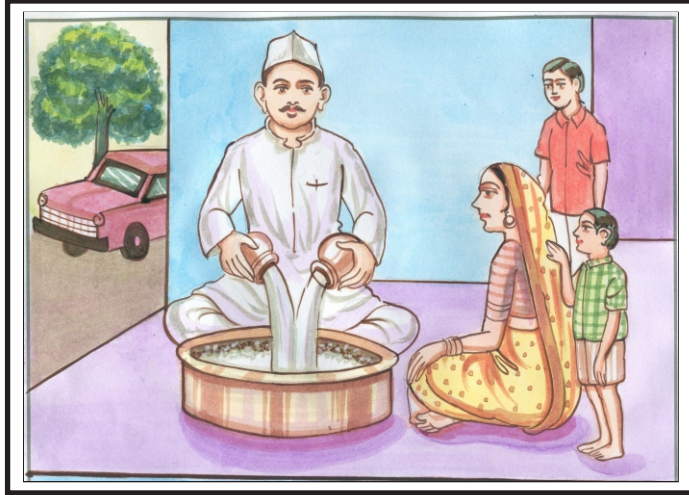
भावार्थ :- जिसप्रकार दूध और पानी एक आकाश-क्षेत्र में मिले हुए हैं, परन्तु अपने-अपने गुण आदि की अपेक्षा से दोनों बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार यह जीव और शरीर भी मिले हुए-एकाकार दिखाई देते हैं, तथापि ये दोनों अपने-अपने स्वरूपादि की अपेक्षा से (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से) बिलकुल पृथक्-पृथक् हैं, तो फिर प्रगटरूप से भिन्न दिखाई देनेवाले ऐसे मोटरगाड़ी, धन, मकान, बाग, पुत्र-पुत्री, स्त्री आदि अपने साथ कैसे एकमेक हो सकते हैं ? अर्थात् स्त्री-पुत्रादि कोई भी परवस्तु अपनी नहीं है-इसप्रकार सर्व पदार्थों को अपने सि भिन्न जानकर, स्वसन्मुखतापूर्वक सम्यग्दृष्टि जीव, वीतरागता की वृद्धि करता है, यह ‘अन्यत्व भावना’ है ॥७॥

अब अन्यत्व भावना।

जल-पय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला;

तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा॥७॥

आहा..हा..! देखो ! चित्र भी है, हाँ ! चित्र में है देखो ! पानी और पय। 'जीव और शरीर पानी और दूध की भाँति मिले हुए हैं...' पानी-जल और दूध। जल, जल (है)। दूध, दूध (है)। वैसे यह शरीर शरीर (है) और आत्मा आत्मा (है)। दोनों भिन्न चीज हैं। एक क्षेत्र में रहनेवाली हैं, परन्तु भिन्न हैं। जन्म के साथ उत्पन्न



हुआ, आत्मा आया और साथ में शरीर आया वह भी चित्र है। कहते हैं कि, अपने से भिन्न चीज तो बिलकुल भिन्न ही है। आहा..हा... !

'जीव और शरीर (जल-पय ज्यों) पानी और दूध की भाँति मिले हुए हैं तथापि एकरूप नहीं है,...' समझे ? एकमेक नहीं हैं, एक नहीं है। '(भिन्न-भिन्न) पृथक्-पृथक् हैं,...' अन्यत्व भावना है, अन्यत्व। पहले एकत्व थी, यह अन्यत्व है। स्वभाव से एकत्व है, विभाव से पृथक् भिन्न है। समझ में आया ? 'तो फिर जो बाह्य में प्रगटरूप से भिन्न पृथक् दिखाई देते हैं...' प्रगटरूप दिखाई देता है, ये स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, परिवार, धूल बाहर से दिखते हैं। जल और दूध की भाँति, यह (शरीर) भिन्न है। यह मिट्टी है, धूल-मिट्टी। भगवान अरूपी चैतन्यघन, आत्मा अरूपी ज्ञानघन, कन्द, अरूपी चैतन्यमूर्ति है। अरूपी स्फटिक चैतन्यरत्न। ये रूपी, जड़, मिट्टी, धूल (है)। दोनों एक जगह पर हैं, फिर भी भिन्न चीज हैं। प्रगट बाह्य में, प्रगट

दिखनेवाला (भिन्न है)।

‘लक्ष्मी, (धामा)...’ धाम.. धाम.. ‘मकान, पुत्र...’ देखो ! उसमें (दिखाया) है, हाँ ! देखो ! स्त्री और एक और पुत्र को खड़ा रखा है। धाम-मकान। समझे ? ‘मकान, पुत्र और (रामा)...’ रामा की रामा-स्त्री। स्त्री प्रगट-प्रत्यक्ष भिन्न है, तेरी कहाँ से आ गई ? क्या करें ? ये तो फकीर हो जाये तो ऐसा हो। क्या कहते हैं ? ‘स्त्री आदि मिलकर एक कैसे हो सकते हैं ?’ जब ये जल और दूध की भाँति शरीर और भगवान आत्मा दोनों भिन्न हैं, बिलकुल निराला, बिलकुल निराला। जैसे एक हीरा एक डिब्बी में रखा हो तो डिब्बी और हीरा भिन्न हैं। (वैसे) यह (शरीर) डिब्बी-धूल है। उसमें हीरा-भगवान चैतन्य पड़ा है, अरूपी भिन्न है। डिब्बी में जब डिब्बी और हीरा भिन्न है, तो बाहर की चीज तो भिन्न ही है। कोई कहता था, ऐसा तो फकीर हो जाये तो हो। फकीर ही है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं।

अन्यत्व है। आत्मा अपने स्वरूप से एकत्व है और उसके स्वभाव से अन्यत्व है, अन्य ही है। आत्मा से राग-द्वेष, शरीर, कर्म अन्य ही हैं। है ही अन्य। आहा..हा... ! मान्यता की खबर नहीं। श्रद्धा क्या है ? समझ में आया ? धर्म करो। क्या धर्म करे ? चीज क्या है समझे बिना क्या करना ? मैं आत्मा आत्मराम निजानन्द प्रभु अपने शुद्ध स्वभाव से एकत्व हूँ और विकार का भाव, पुण्य-पाप आदि मैं भिन्न हूँ। ऐसा अन्तर में निर्णय किये बिना स्वभाव की एकता कभी होती नहीं और एकता बिन कभी धर्म होता नहीं। समझ में आया ?

‘जिस प्रकार दूध और पानी आकाश-क्षेत्र में मिले हुए हैं...’ आकाश का एक क्षेत्र है न ? ‘परन्तु अपने-अपने गुण आदि की अपेक्षा से दोनों बिलकुल भिन्न-भिन्न हैं...’ जल भिन्न है, दूध भिन्न है। ‘उसी प्रकार यह जीव और शरीर भी मिले हुए-एकाकार दिखाई देते हैं, तथापि ये दोनों अपने-अपने स्वरूपादि की अपेक्षा से...’ भिन्न हैं। क्योंकि अपना आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है, शरीर का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में है नहीं। ये क्या ? अपना आत्मा, अपना द्रव्य अर्थात् वस्तु, गुण-पर्याय-शक्ति और अवस्था का पिंड भिन्न है। उसकी अवगाहन-चौड़ाई शरीर से भिन्न है। अपनी स्वदशा भिन्न है। स्व त्रिकाली शक्ति भिन्न है। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में आत्मा है, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में आत्मा नहीं है। और

परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में आत्मा उसमें नहीं है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

इस अँगूठी में यह अँगूली नहीं है। यह अँगूली पदार्थ है, उसका इतना क्षेत्र है। उसकी यह वर्तमान अवस्था है। उसकी इतनी शक्ति है। इस अँगूली में यह (अँगूठी) नहीं और (अँगूठी में अँगूली) नहीं। ऐसे आत्मा में देह नहीं और देह में आत्मा नहीं। कब ? अभी। एकमेक ऐसा मान रखा है, न !

ममुक्षु :- ऐसा विचार करने की आदत भी नहीं है।

उत्तर :- आदत नहीं है, अनादि की अज्ञान की आदत हो गई है। मनुष्यपने जन्म लिया, खाना-पीना, कमाना, भोग करना और मर जाना। जाओ, चौरासी में। आहा..हा... !

भाई ! यहाँ तो 'दौलतरामजी' 'छहढाला' (में) कहते हैं, तेरा स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल पर से बिलकुल भिन्न है और उसका-परमाणु का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव (भिन्न है)। यह रजकण-परमाणु द्रव्य है। उसमें वर्ण, गन्ध गुण है। उसकी अवस्था है, उसकी चौड़ाई है, वह उसका क्षेत्र है। (दोनों) कभी एक नहीं होते। जब जीव और शरीर भी पृथक्-पृथक् है, 'तो फिर प्रगटरूप से भिन्न दिखाई देनेवाले ऐसे मोटरगाड़ी...' आपकी डाली है, लो ! ऐ..ई.. ! उसके लड़के के पास लाख रूपये की मोटर है। क्या कहते हैं मोटर को ? शेवरलेट। अपने को तो नाम भी नहीं आता। उस दिन सामने आया था न ? 'भिवंडी.. भिवंडी'। लाख रूपये की मोटर लेकर आया था। वहाँ दूसरा भी एक मोटर लेकर आया था। दो आदमी लाख रूपये की मोटर लेकर आये थे। एक कहे, मेरी गाड़ी में बैठिये, दूसरा कहे, मेरी गाड़ी में बैठिये। ये बैठ गये, सुन न ! आहा..हा... ! मोटरकार जड़ पर्याय है। धन धूल है, मकान धूल का ढिगढेर है।

'बाग (बगीचा) पुत्र-पुत्री, स्त्री आदि अपने साथ कैसे एकमेक हो सकते हैं ? अर्थात् स्त्री-पुत्रादि कोई भी परवस्तु अपनी नहीं है-इसप्रकार सर्व पदार्थों को अपने से भिन्न जानकर...' भगवान आत्मा में वस्तु शुद्ध अनन्त गुण का पिंड हूँ-ऐसी दृष्टि स्वसन्मुख करके श्रद्धा-ज्ञान करना उसका नाम धर्म कहने में आता है। 'सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागता की वृद्धि करता है...' अन्तर में एकाग्र हो, पर से पृथक् करके तो शान्ति की वृद्धि होती है और अशान्ति का नाश होता है। इस भावना का यह फल है। (विशेष कहेंगे..) (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)

६-अशुचि भावना

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादितैं मैली;

नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करे किम यारी ॥८॥

अन्वयार्थ :- जो (पल) मास (रुधिर) रक्त (राध) पीव और (मल) विष्टाकी (थैली) थैली है, (कीकस) हड्डी, (वसादितैं) चरबी आदिसे (मैली) अपवित्र है और जिसमें (घिनकारी) घृणा-ग्लानि उत्पन्न करनेवाले (नव द्वार) नौ दरवाजे (वहैं) बहते हैं (अस) ऐसे (देह) शरीर में (यारी) प्रेम-राग (किमि) कसे (करै) किया जा सकता है ?

भावार्थ :- यह शरीर तो माँस, रक्त, पोव, विष्टा आदि की थैली है और वह हड्डियाँ चरबी आदी से भरा होने के कारण अपवित्र है; तथा नौ द्वारों से मैल बाहर निकलता है, ऐसे शरीर के प्रति मोह-राग कैसे किया जा सकता है ? यह शरीर ऊपर से तो मक्खी के पंख समान पतली चमड़ी में मढा हुआ है, इसलिये बाहर से सुन्दर लगता है, किन्तु यदि उसकी भीतरी हालत का विचार किया जाये तो उसमें अपवित्र वस्तुएँ भरी हैं; इसलिये उसमें ममत्व, अहंकार या राग करना व्यर्थ है।

यहाँ शरीर का मलिन बतलाने का आशय-भेदज्ञान द्वारा शरीर के स्वरूप का ज्ञान कराके, अविनाशी निज पवित्र पद में रुचि कराना है, किन्तु शरीर के प्रति द्वेषभाव उत्पन्न करवाने का आशय नहीं है। शरीर तो उसके अपने स्वभाव से ही अशुद्धिमय है; और यह भगवान आत्मा निजस्वभाव से ही शुद्ध एवं सदा शुचिमय पवित्र चैतन्य पदार्थ है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्ध आत्मा की सन्मुखता द्वारा अपनी पर्याय में शुचिता की (पवित्रता की) वृद्धि करता है, यह 'अशुचि भावना' है।

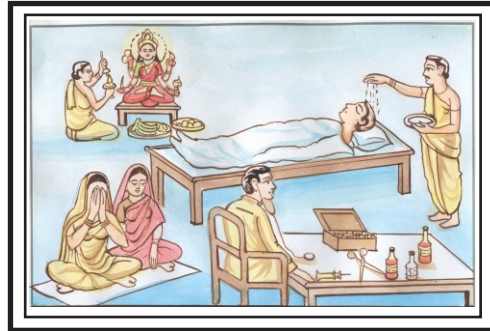
वीर संवत २ॡ१२, फाल्गुन शुक्ल १२, शुक्रवार
दि. ०ॡ-३-११ॢॢ, ढाल-ॡ, श्लोक-ॢ,१,१०. प्रवचन नं. ॡ२

अशुचि भावना। पाँच भावना हो गयी। यह अधिकार क्या है ? जिसे आत्मदर्शन, श्रद्धा-ज्ञान हुआ है कि यह आत्मा अनन्त आनन्द के रसस्वरूप आत्मा है-ऐसा भान और श्रद्धा-ज्ञान हुआ है, वह ऐसी बारह भावनाएँ भाता है। समझ में आया ?

१. अनित्य भावना :- मैं तो नित्य आनन्द हूँ। ये शरीर आदि संयोग, ये सब क्षणिक, अनित्य-थोड़े काल रहनेवाले हैं। मेरा और इनका कोई सम्बन्ध नहीं है-ऐसी अनित्य भावना भाने से आत्मा शुद्ध नित्य ध्रुव तरफ सन्मुख होने से शुद्धि की वृद्धि होती है।

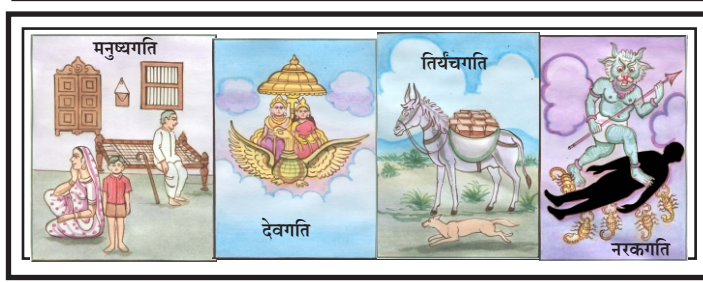


२. अशरण भावना :- मेरा स्वरूप शुद्ध चैतन्य, वही मुझे शरण है; उसके अतिरिक्त कोई शरण (नहीं)। शुभ-अशुभराग भी शरण नहीं; स्त्री-पुत्र, परिवार, देहादि कोई शरण नहीं। इस प्रकार जिसने अन्तर में स्वभाव शुद्ध चैतन्यतत्त्व दृष्टि में, ज्ञान में लिया है, वह बारम्बार ऐसी भावना करता है। कहो, समझ में आया कुछ ?



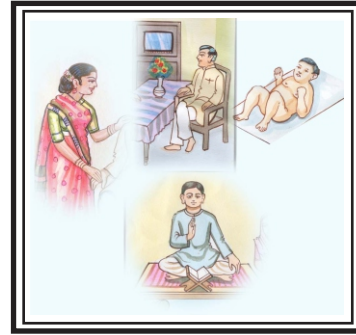
३. संसार भावना :- तीसरी आ गयी न ? अनन्त बार संसार में भटका, परन्तु कोई इस आत्मा को शरण है नहीं। यह संसार कहा था न ? चार गति में दुःख भरा है-ऐसा जाने। आत्मा के स्वरूप में आनन्द है। देखो ! यह शरीर से सुखी वह सुखी (सब बातें)। पूछते थे न कल ?

किसने कहा ? कल दो बार बोले, कहा, कोई मूढ जीव ने-आत्मा के शत्रु ने ऐसा लिखा लगता है। 'शरीर से सुखी, हव सुखी सब बातें'। समझ में आया ? आत्मा आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय

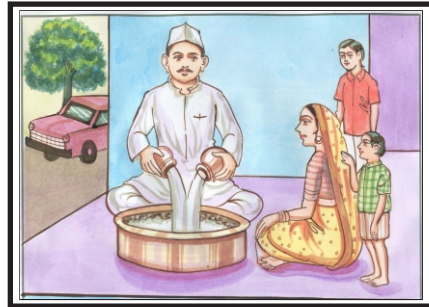


आनन्द का धाम, वही संसार में सुख का कारण और शरण है। चार गति अकेले दुःख का ही कारण है। समझ में आया ? नरक की गति हो, मनुष्य की गति हो, स्वर्ग की गति हो, (तिर्य्य की गति हो); चारों ही गति दुःखरूप है। एक आत्मा में ही आनन्द है, अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं है। समझ में आया ? फिर कहा -

४. एकत्व भावना :- आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव से एकत्व-अकेला है। एकत्व में कोई परचीज इसकेसाथ सम्बन्ध में नहीं है। आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्दमूर्ति,, वही अपने स्वभाव से एकत्व है और पृथक्त्व (अर्थात्) पुण्य-पाप और रागादि, ये आत्मा से पृथक् है-ऐसा ज्ञानी-धर्मी अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि रखकर ऐसी भावना भाता है। समझ में आया ?



५. अन्यत्व भावना :- जैसे पानी और दूध भिन्न-भिन्न है, दोनों एक नहीं है। इसीतरह शरीर और आत्मा दोनों एक नहीं है; अन्यत्व भिन्न है। दूध, वह दूध है और पानी, वह पानी है। ऐसे ही आत्मा, आनन्दस्वरूप दूध के समान है (और) शरीरादि, यह जड़ पानी के समान है, दोनों अत्यन्त भिन्न चीजें हैं-ऐसी धर्मीजीव को बारम्बार अन्तर में भावना करना।



ॢ. अशुचि भावना :- छठवीं आऒ आऒी है। 'पल, रुधिर राध मल थैली, कीकस बसादि तैं मैली;...' यह शरीर। यह शरीर कैसा है ? -उसकी भावना की बात करते हैं। शरीर से रहित भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की थैली है। यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की थैली है। यह शरीर मल-मूत्र की थैली है। आहा..हा...! शरीर को सुनाते हैं न यह ? किसे सुनाते हैं ? आत्मा को सुनाते हैं कि तू ऐसा है और शरीर ऐसा है-यह तू जान। शरीर को-जड़ को कहाँ भान है ? वह तो मिट्टी है-जड़ है।

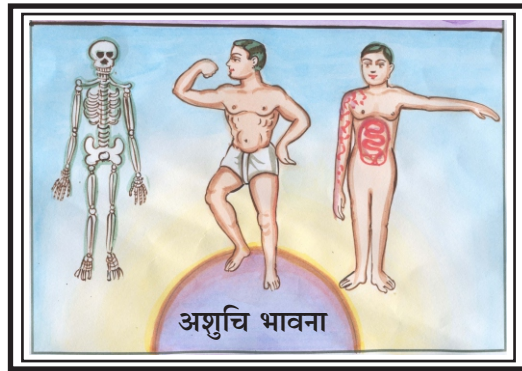
पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादितैं मैली;

नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करे किम यारी॥ॢ॥

पहले ही आया, यह तुमने लिखा है इसका।

अन्वयार्थ :- यह शरीर 'मांस, रक्त, पीव और विष्ठा की थैली है।' और यह एक ऐसा संचा है कि चाहे जो चीज इसमें डालो कि विष्ठा उत्पन्न करावे-ऐसा यह संचा है। दुनिया में ऐसा दूसरा कोई संचा नहीं होगा। ठीक है ? चार शेर घी पिलाया हुआ मैसूर खाये, आठ घण्टे में विष्ठा हो-ऐसा यह एक संचा है। दूसरे में एकदम विष्ठा नहीं हो जाती। ऐसा यह शरीर 'मांस, रक्त, पीव और विष्ठा की थैली है।'

देखो ! यह चित्र दिया है न पहले ! देखो ! यह हड्डियाँ, अकेली हड्डियाँ, शरीर में अकेली यह हड्डियाँ देखो ! फिर ऊपर यह सब चरबी है। ऊपर चरबी भरी हुई है। अन्दर अकेली हड्डियाँ। पृथक् हड्डियाँ, उनमें चरबी के, मांस के पिण्ड भरे हैं। इसमें देखो ! अन्दर सब बताया है, कुछ अन्तड़िया और ऐसी अन्तड़िया और यह सब। भगवान आत्मा इस शरीर से अत्यन्त भिन्न अरूपी चैतन्य स्फटिकरत्न, यह चैतन्य स्फटिकरत्न अत्यन्त निराला है। कहो, समझ में आया कुछ ?



माँस, रक्त, पीव, यह विष्टा की थैली और विष्टा को उत्पन्न करनेवाला संचा। इसके लिये दुर्लभ कहा है ? कहते हैं कि यह धर्म समझने का यह निमित्तरूप कारण है। अब धर्म समझ तो इसे दुर्लभ कहा जाता है। (श्रीमद्जीने) नहीं कहा ? 'तो भी अरे भवचक्र का फेरा नहीं एक ही टला'—यह दुर्लभ कहा। ऐसा मनुष्यपना मिला और भव के चक्र का फेरा न मिटे तो तूने क्या किया ? समझ में आया ? कुछ आया अवश्य था.. कोई हिन्दी था, कोई घोड़ागाड़ी में आया था। कहो, इसमें समझ में आया ? अभी तो हिन्दी प्रतिदिन आते हैं।

हड्डियाँ देखो ! यह हड्डियाँ। अकेली हड्डियों का ढाँचा। यह चरबी निकाल दो तो अकेली हड्डियों का ढाँचा। ऐसे देखो, थूकने को खड़ा न रहे—ऐसा यह दिखाया है। देखो ! छिद्र, हड्डियों के छिद्र यह।

'हड्डी (वसादितै) चरबी...' यह चरबी भरी है, ऊपर यह सब, यह चरबी है ऊपर, यह सब। अन्दर हड्डियाँ, यह चरबी और एक चमड़ी गन्ने के ऊपर की छाल जितनी यह चमड़ी ऊपर लपेटी गार की है। गार कहते हैं न ? वह लपेटी है। एक मक्खी के पैर जितनी पतली, पैर नहीं पंख। यह निकाल तो दो (कोई) थूकने को खड़ा न रहे—ऐसा यह शरीर है। अब, इस शरीर से सुखी तो सुखी सब बातें... मूढ है। मूढ है या नहीं ?

मुमुक्षु :- तो फिर सुखी किस प्रकार होता है ?

उत्तर :- सुखी तो आत्मा से सुखी, वह सुखी सब बातें—यह आयेगा। संवर (भावना) में आयेगा। देखो ! समझ में आया ? ओ..हो.. ! जिसकी नजर करते ही निहाल हो जाए—ऐसी निधि आत्मा, उसकी कीमत नहीं होती। जिसे याद करने से, जिसके स्मरण में स्वभाव याद आने पर स्वभाव की शान्ति प्राप्त होवे—ऐसा आत्मा है। ओ..हो..हो... ! उसमें अनन्त शान्ति पड़ी है, अनन्त आनन्द पड़ा है, यह अकेले आनन्द की ही खान है। जिसे याद करने मात्र से विकार भूलकर स्वभाव याद आवे—ऐसी शान्ति का स्थल, उसे भूलकर इस देह को सुख का कारण (मानता है)। मूढ के गाँव कोई दूसरे बसते होंगे ?

मुमुक्षु :- नग्नपना वह अर्थात्...

उत्तर :- नग्न बाहर से या अन्दर से ?

मुमुक्षु :- आ जाएगा..

उत्तर :- आ जाएगा अपने आप। वही कहते हैं कि अन्दर के आनन्दकन्द के अनुभव की दृष्टि बिना, तेरे शरीर की अशुचिता का ज्ञान करानेवाला, जाने बिना अशुचि है-ऐसा जानेगा कौन ? अकेला नग्न होकर मर गया अनन्तबार। समझ में आया ? यह आयेगा। इसके बाद आस्रवभावना में यह बात आयेगी। शुभ-अशुभभाव अनन्तबार किये, अनन्तबार किये। यह आस्रवभाव है, यह आत्मभाव नहीं। आहा..हा... !

लोहे की खान खोदने की .. साथ में सोने की खान खोदने की नजर करने का भी इसे समय नहीं मिलता। इसीतरह यह माँस, हड्डी, चरबी से भरा हुआ तत्त्व (है)। यदि उन्हें अलग-अलग करो, एक तपेले में डालो इसके हाड़, एक में डालो इसकी आंत, एक में डालो इसका रक्त और एक में डालो इसका माँस, इसमें से (शरीरमें से) अलग करे (डालो), भाई ! और एक में यह ऊपर की उतरी हुई चमड़ी डालो.. आहा..हा... !

भगवान आत्मा ! एक ओर ऐसी नजर करे तो शान्ति, दूसरी ओर नजर करे तो आनन्द, तीसरी ओर नजर करे तो अनन्त बेहद वीर्य-ऐसा भगवान जिसके आत्मा में अपना स्वभाव है... समझ में आया ? ऐसा शुचि-पवित्रस्वरूप है। यह (शरीर) अशुचि है, यह अशुचि है, भगवान शुचि है। आता है न ७२ गाथा में ? 'समयसार' ७२ गाथा। अशुचि, जड़ और दुःखकारी, भगवान शुचि, सुखकारी और चेतन। आहा..हा.. ! ऐसा परन्तु ऐसा और ऐसी लगनी को लगन लगा दी और मानो कि यह देह ही मैं हूँ और मानों इसमें भिन्न तो कोई मैं हूँ ही नहीं; इसे ठीक तो मुझे ठीक.. दुश्मन को ठीक तो मुझे ठीक... यह नग्न तो आत्मा को लाभ।

वह मूढ नहीं कहता था ? वह राजा नहीं ? वह 'रतलाम' का। कुर्सी में कौन बैठे ? भगवान आत्मा अन्दर अरूपी है, अपने असंख्य प्रदेश में विराजमान है, वह किसी कुर्सी या शरीर के परमाणुओं का भी स्पर्श नहीं करता। आहा..हा... ! 'रतलाम' के दरबार को बुखार आये तो उसे ऐसा नहीं कहा जाता कि साहेब ! आपको बुखार आया है। आपके दुश्मन को बुखार आया है, वैद्य को बुलायेंगे ? सुना था न ? पहले कहा था। 'रतलाम', अभी तो छोटा राजा है, दस लाख.. दस लाख की आमदनी.. एकदम साधारण.. परन्तु वह ऐसे मान में चढ़ा है

कि उसे बुखार आवे (तो) डॉक्टर, दूसरे दीवान ऐसे नहीं कहते कि साहेब ! आपको बुखार आया है तो वैद्य को बुलायेंगे ? आपके दुश्मन को बुखार आया है तो वैद्य को बुलायेंगे ? आहा..हा.. ! बात उसकी सत्य है, परन्तु उसे वह पता नहीं है। यह चैतन्य और वह जड़ शरीर-दोनों शत्रु मित्र है। दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न है।

यह चैतन्य और यह अचेतन, यह आनन्द और वह दुःख का निमित्त। हड्डी, माँस से भरा हुआ (शरीर), भगवान अनन्त शान्ति से भरा हुआ, अत्यन्त विरुद्ध दो बात है। आहा..हा... ! परन्तु कौन भावना भाये ? जो शुचिस्वरूप भगवान पवित्र धाम आत्मा और चैतन्यमूर्ति और आनन्द का धाम-ऐसा जिसे अन्तर में, रुचि में, दृष्टि में, पोषाण में अन्दर जचा है.. समझ में आया ? जब-जब विकल्प से विचार करे, अहो.. ! यह आत्मा शुद्ध ज्ञानघन आनन्दस्वरूप अनन्त-अनन्त बेहत चैतन्यस्वभाव के अविनाभावी गुणों से भरा हुआ तत्त्व है। ऐसे तत्त्व में शुचिपना ही भरा हुआ है। इस तत्त्व (शरीर) में अकेली अशुचिता भरी हुई है। आहा..हा... ! कहो, समझ में आया ?

‘हड्डी (वसादितै) चरबी इत्यादि से अपवित्र है और जिसमें घृणा-ग्लानि उत्पन्न करनेवाले नौ दरवाजे...’ नौ दरवाजोंमें से मैल झरता है। भगवान के असंख्य प्रदेशोंमें से आनन्द झरे-ऐसा आत्मा है। असंख्य प्रदेश का धाम, अनन्त गुण का स्थान, असंख्य प्रदेश में शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. के झरने झरे-ऐसा यह आत्मा और यह (शरीर) नव द्वारों से मैल झरे (-ऐसा), समझ में आया ? दो आंखे है न ? दो कान, नाक, एक नाक के दो छिद्र, एक मुँह और पेशाब या मल यह छिद्र-ऐसे नौ छिद्रों से मैल झरता है। भगवान आत्मा असंख्य प्रदेशी प्रभु, जिसके एक-एक प्रदेश में अनन्त-अनन्त अपरिमित अचिन्त्य अपरिमित शान्ति से भरपूर तत्त्व है। जिसकी नज़र करने से, जिसकी नज़र करते निहाल होवे। समझ में आया ? यह नज़र नहीं होती.. आहा..हा... ! ऐसी चीज को न देखकर उसकी भावना न करके, यह अकेला शरीर मेरा, उसे (अपना) करता है। (वह) मूढ है। यह अशुचि भावना करने में शरीर के प्रति द्वेष नहीं है। समझ में आया ? द्वेष के लिये नहीं; ज्ञान करने के लिये है कि मैं आत्मा आनन्द से भरपूर सत् पदार्थ हूँ। समझ में आया ? शरीर में ‘ नौ दरवाजे बहते हैं.. ’ समझ में आया ?

‘ऐसे शरीर में प्रेम-राग कैसे किया जा सकता है ?’ अरे.. ! यारी कैसे करता है ? देखो ! यह ग्रन्थकार कहते हैं, भाई ! यह शरीर मिट्टी का पिण्ड, वसा या चरबी का घर (है), उसमें तुझे प्रीति कैसे होती है ? कहो, भाई ! है इसमें ? लिखा है ? अरे.. ! भगवान आत्मा तू.. तेरे घर की बात करते केवली पूरी न कहे-ऐसी तेरी चीज और उसका तुझे प्रेम नहीं और इस धूल का प्रेम है, भाई ! तुझे किस रास्ते जाना है ? कुछ समझ में आया ? जहाँ बिच्छु और सर्प जहाँ पड़े हैं, उस रास्ते जाकर डंक खाना है तुझे ? क्या करना है ? आहा..हा... !

भगवान आत्मा, जिसमें एकाग्र होने में किसी का आधार-शरण आवश्यक नहीं; शरीर निरोगी हो, मन ठीक हो, वाणी ठीक हो, शरीर ऐसे बैठा हो-उसे किसी की आवश्यकता नहीं है। ऐसा भगवान आत्मा, उसकी श्रद्धा के ज्ञान की भावना न करके, कहते हैं, अकेले शरीर में प्रेम करके पड़ा है, भाई ! वह प्रीति छोड़। क्यों प्रीति करता है ? ऐसा है न ?

भावार्थ :- ‘यह शरीर तो माँस, रक्त, पीव, विष्ठा आदि की थैली है...’ आहा..हा... ! मानों माँस के टूकड़े दें, बटका भर ले, उसमें से क्या करे ? चूसे ? आहा..हा... ! भाई ! यह तो हड्डी, माँस, विष्ठा चूसने जैसा है, कहते हैं। ‘अपवित्र है तथा नों द्वारों से मैल बाहर निकालता है-ऐसे शरीर के प्रति मोह-राग कैसे किया जा सकता है ?’ भाई ! उसकी रुचि कैसे की जा सकती है ? समझ में आया ? और रुचि किये पीछे आसक्ति भी कैसे की जा सकती है ? समझ में आया ?

‘यह शरीर ऊपर से तो मक्खी के पंख समान चमड़ी से मढ़ा हुआ है।’ अकेली चमड़ी से शरीर को खड़ा रखे। ऐसा सुन्दर लगे... समझ में आया ? सोने के पत्ते नहीं आते ? क्या कहलाते हैं ? वर्क.. वर्क। हड्डिया खड़ी रखकर सोने का वर्क लगाया हो। यह थैली, हड्डियाँ निकालकर डाले हों और उस पर सोने का वर्क लगाया हो, समझ में आया ? ऐसे यह सोने का वर्क और चमड़ी लगाई है अन्दर में। अन्दर में तो अकेली हड्डियाँ, चमड़ी है, भाई ! अन्दर भगवान आत्मा अखण्ड आनन्द का कन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसकी दृष्टि करके उसकी भावना कर। इसमें है कुछ ? धूल भी नहीं कुछ। आहा..हा.. ! तो क्या होगा उसमें ? भाई ! आठ-आठ महिने तक ऐसे पैर टाँग कर नहीं पड़े थे ? धूल में भी सुख नहीं था। पैर टूटा तब आठ महिने

ऐसे (रहे थे), धूल में भी सुख नहीं है। आहा..हा... !

‘उसकी भीतर की हालत का विचार किया जाये तो उसमें अपवित्र वस्तुयें भरी हैं; इसलिये उसमें ममत्व, अहंकार या राग करना व्यर्थ है।’ काम तेरा कुछ सरे-ऐसा नहीं है, बापू ! आहा..हा.. ! ऐसा एक भगवान तू, तेरी बात करते नजराना मिले, आहा..हा... ! समझ में आया ? उसकी प्रीति से बात सुनने से भी निहाल हो-ऐसी यह चीज है। इसकी लगाई। यह शरीर अच्छा नहीं, हाँ ! इस शरीर के दुःख से दुःखी, हाँ ! और शरीर के सुख से सुखी.. मूढ.. कितनी मूढता रगड.. रगड.. रगड.. रगड.. (करनी है) ? अब उसके फलरूप से वापस इससे अनन्तगुने दुःखों में अवतार (लेगा)। फिर अनन्तगुने दुःखों में (जाएगा)। वे नरक के दुःख भगवान जाने और वह भोगे।

ऐसी चार गतियों के दुःख इसने भोगे हैं। पता नहीं है पता। वर्तमान देखा वहाँ हो गया.. इसे सुविधा और मुझे नहीं; इसे पैसा और मुझे नहीं; (इसे) निरोगता कूदता है, लोही से कूदे सांदडा जैसा और मेरा तो पैर भी ऊँचा नहीं होता। (एक मुमुक्षु कहता था)-यह सब निरोगी, पापी है और हम यह नहीं तो भी.. आहा..हा... ! विपरीत दृष्टि, अब किसे अच्छा कहना ? शरीर.. वहाँ से एकाकार होकर जायेगा नरक में, जाएगा निगोद में, कहीं वापस मनुष्य का पता अनन्तकाल में नहीं लगेगा। किसकी महिमा करता है तू ? है ?

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- हाँ, अरे.. ! हिरण को मारकर ऐसे उछले अंग्रेज। हमारे वहाँ है न ? ‘चमारगाम’। हिरण को मारक उछलकर पड़ा वह। अपने वे... होते हैं न ? यह ऐसा हाथ डालकर, ऐसे हाथ डालकर पेन्ट में हाथ डालकर ऐसे उछला। ‘चमारगाम’ नाम है, अभी ‘नबीरपुर’ कर दिया है। ‘पालेज’ के पास है। आहा..हा... ! नरक का नमूना तो यहाँ से दिखता है या नहीं ? नमूना लेकर जाए नरक में। धर्म का नमूना यहाँ से शान्ति का वेदन करते हुए मोक्ष में चला जाए। वह नमूना लेकर जाता है। यो हीं मुफ्त में जाता है कोई ? समझ में आया ? आहा..हा.. !

‘यहाँ शरीर को मलिन बतलाने का आशय भेदज्ञान द्वारा शरीर के स्वरूप का ज्ञान

कराके...' भिन्न बतलाना है। अशुचि करके द्वेष नहीं करना है। वह तो स्वतन्त्र पदार्थ जगत की चीज है। जगत के परमाणु यहाँ आकर... वे कोई आत्मा के नहीं हैं और आत्मा के कारण आये भी नहीं हैं। आत्मा के कारण आये भी नहीं हैं। वे उनकी योग्यता के कारण यह क्षेत्रांतर पर्याय पाकर परिणमित हो रहे हैं। समझ में आया ? आहा.. !

'परन्तु शरीर के प्रति द्वेषभाव कराने का आशय नहीं है। शरीर तो उसके अपने स्वभाव से ही अशुचिमय है और यह भगवान आत्मा निजस्वभाव से ही शुद्ध एवं सदा शुचिमय पवित्र चैतन्य पदार्थ है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव...' सच्ची दृष्टि जीव, पहली मिथ्यादृष्टि है। शरीर से ठीक, वह ठीक-यह मिथ्यादृष्टि है। सच्ची दृष्टि जीव-भगवान आत्मा, राग और शरीर से निराला है-ऐसी जिसकी दृष्टि है-ऐसा धर्मी 'अपने शुद्ध आत्मा की सन्मुखता द्वारा..' स्वभाव की सन्मुखता द्वारा 'अपनी पर्याय में शुचिता की (पवित्रता की) वृद्धि करता है, वह अशुचि भावना है।'

अब आस्रव भावना। देखो !

७-आस्रव भावना

जो योगन की चपलाई है आस्रव भाई;

आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हें निरवेरे ॥९॥

अन्वयार्थ :- (भाई) हे भव्य जीव ! (योगन की) योगों की (जो) जो (चपलाई) चपलता है (तातै) उससे (आस्रव) आस्रव (है) होता है, और (आस्रव) वह आस्रव (घनेरे) अत्यन्त (दुःखकार) दुःखदायक है, इसलिये (बुधिवन्त) बुद्धिवान (तिन्हें) उसे (निरवेरे) दूर करें।

भावार्थ :- विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपी दशा जीव में होती है, वह भाव आस्रव है; और उस समय नविनी कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं-स्वतः आना (आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होना) सो द्रव्य आस्रव है। (उसमें जीव की अशुद्ध पर्यायें

निमित्तमात्र हैं)।

पुण्य और पाप दोनों आस्रव और बन्ध के भेद हैं।

पुण्य:- दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत आदि शुभराग सरागी जीव को होते हैं, वे अरूपी शुभभाव हैं, और वह भावपुण्य है। तथा उस समय नवीन कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं-स्वतः आना (आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होना) सो द्रव्यपुण्य है। उसमें जीव की अशुद्ध पर्याय निमित्तमात्र है।

पाप :- हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि जो अशुभभाव हैं, वह भावपाप है, और उस समय कर्मयोग्य पुद्गलोंका आगमन होना सो द्रव्यपाप है। (उसमें जीवकी अशुद्ध पर्यायें निमित्त हैं।)

परमार्थसे (वास्तवमें) पुण्य-पाप (शुभाशुभ) आत्माको अहितकर है, तथा वह आत्मा की क्षणिक अशुद्ध अवस्था है। द्रव्यपुण्य-पाप तो परवस्तु हैं वे कही आत्मा का हित-अहित नहीं कर सकते-ऐसा यथार्थ निर्णय प्रत्येक ज्ञानी जीव को होता है; और इसप्रकार विचार करके सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के अवलम्बन के बल से जितने अंश में आस्रवभाव को दूर करता है, उतने अंश में उसे वीतरागता की वृद्धि होती है-उसे 'आस्रव भावना' कहते हैं ॥९॥

जो योगन की चपलाई तातैं ह्वै आस्रव भाई;

आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिन्हें निरवेरे॥९॥

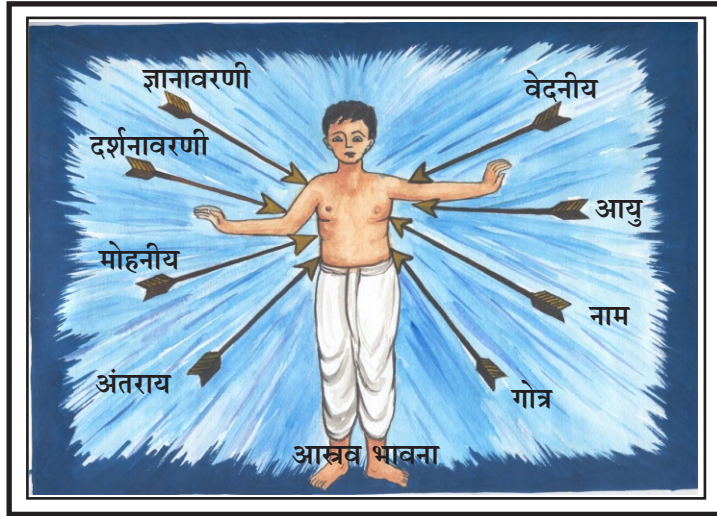
देखो ! यह एक विशेषण दिया।

अन्वयार्थ :- 'हे भव्य जीव ! (योगन की चपलाई)...' इस आत्मा के प्रदेशों का कम्पन, वह नये आवरण आने का कारण है। उसमें जितने प्रमाण में कषाय के परिणाम (होते हैं); कम्पन है; वह तो परमाणु आने का कारण और उस कम्पन में जितने प्रमाण में शुभ-अशुभभाव की कषाय है, इस नये आस्रव का मूल कारण वह है, मूल कारण वह है। कम्पन है, वह परमाणुओं के आने का निमित्त है और उसमें जितना यहाँ कषायभाव है, उतने परमाणु में स्थिति और रस (-अनुभाग) पड़ता है। समझ में आया जैसे, नाव में छिद्र हो और पानी भरे,

वैसे आत्मा में जितने प्रमाण में शुभ-अशुभभाव का मैल-छिद्र पड़ा, उतने नये आवरण आते हैं। समझ में आया ?

‘(योगों की) जो चंचलता है, उससे आस्रव होता है...’ आस्रव अर्थात् एक तो परिणाम में स्वयं भाव आस्रव और नये रजकण आये, वह द्रव्य आस्रव। समझ में आया ? शुभ और अशुभ कषाय के भाव, वे भाव-आस्रव, भाव मलिन आस्रव (है), वे स्वरूप में नहीं और प्रगट हुए तथा उनके कारण नये रजकण आये, उनमें स्थिति रस आदि पड़े, वह द्रव्य-आस्रव है। समझ में आया ?

‘आस्रव होता है और वह आस्रव अत्यन्त दुःखदायक है...’ देखो ! ये शुभ और अशुभभाव दुःख के करनेवाले हैं। दोनों, दोनों कहा न ? देखो न ! शुभ और अशुभभाव.. भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप से विपरीत पुण्य-पाप के भाव, दोनों विकार-आस्रव यह प्रत्यक्ष



वर्तमान दुःखरूप है और उसका बन्धन-रजकण, वे भी भविष्य में दुःख का निमित्त है। समझ में आया ? इसलिए ‘(बुद्धिवंत) बुद्धिमान...’ मूढ का क्या कहना-ऐसा कहते हैं, भाई ! तेरा संसार में भटकने का अन्त लाना हो.. समझ में आया ? और मोक्ष की ओर तुझे आना हो (तो उसके लिये यह बात है)। ये शुभ-अशुभभाव दुःखदायक है। इनसे रहित भगवान शान्ति का कारण है।

‘इसलिए बुद्धिमान उसे दूर करे।’ शुभ-अशुभभाव को रोके, शुभ-अशुभभाव को रोके। किस प्रकार ? अपने शुद्धस्वभाव का आश्रय लेकर इन भावों को रोके। समझ में आया ?

महान पदार्थ प्रभु ! सिद्ध का पिण्ड प्रभु आत्मा का आश्रय लेकर शुभ-अशुभभाव को रोके, दुःखदायक को रोके। कहो, कुछ समझ में आता है ? ए.. देवानुप्रिया ! इस शुभभाव को दुःख का कारण कहा। नग्नपना-फग्नपना कहाँ गया ? यह तो पहले कहा था, उसके सामने यह (कहा)। नग्न हो जाओ अब.. क्या नग्न (हो) ? नग्न ही है सब, कौन नहीं ? शरीर की अवस्था नग्न कौन करे ? समझ में आया ? भगवान आत्मा इस शुभ-अशुभवृत्ति के वस्त्र रहित है। शुभ और अशुभराग की वृत्तिरहित भगवान है। ऐसे आत्मा की दृष्टि कर और ऐसे शुभाशुभभाव को रोक। समझ में आया ? 'निरवेरे' अर्थात् रोके ऐसा।

भावार्थ :- 'विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपीदशा जीव में होती है...' वह जीव में होती है। दया, दान, व्रत का शुभभाव; हिंसा, जूठ का अशुभभाव, वह आत्मा की अवस्था में होता है। 'उसे भाव आस्रव कहते हैं...' वह भाव आस्रव, वास्तव में तो वही आस्रव है। 'और उससमय नवीन कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं स्वतः...' स्वयं स्वतः कर्म का एक क्षेत्र में आना होता है, 'वह द्रव्य-आस्रव है।' रजकण आते हैं, वह (द्रव्यास्रव है)। '(और उसमें जीव की अशुद्ध पर्याय निमित्तमात्र है।)' शुभाशुभभाव (निमित्तमात्र है)। नये रजकणों का उनके उपादान के कारण आना और शुभाशुभभाव का उसमें निमित्तकारण होना। यह शुभाशुभभाव ही आत्मा को दुःखदायक है।

'पुण्य-पाप दोनों आस्रव और बन्ध के भेद हैं।' समझ में आया ? 'योगन की चपलाई' कहा न ? दोनों को रोको। शुभ-अशुभभाव अब इसमें ऐसी स्पष्ट बात तो लिखी है, फिर भी वह कहते हैं कि नहीं। ऐ..ई..! यह छहढाला का अर्थ 'सोनगढ़' ने किया है, उसमें नहीं, अमुक नहीं (-ऐसा कोई कहते हैं)। परन्तु यह क्या कहते हैं वह ? 'बुद्धिवंत तिन्हें निरवेरे, आस्रव दुखकार घनेरे, बुद्धिवंत तिन्हें निरवेरे।' शुभ-अशुभभाव तो आस्रव है।

मुमुक्षु :- परम्परा...

उत्तर :- किसमें परम्परा ? धूल में ? परम्परा अर्थात् वर्तमान में नहीं, परन्तु भविष्य में इन्हें मिटायेगा, तब होगा-ऐसा परम्परा (का अर्थ है)। समझ में आया ? यह ऐसा कहते हैं। पाप के आस्रव परिणाम से परम्परा धर्म होता होगा ? आस्रव परिणाम परम्परा से अनर्थ का

कारण है-ऐसा 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने 'बारह अनुप्रेक्षा'में तो लिखा है। विकार, विकार, वह विकार अर्थ का कारण होगा ? विकार अनर्थ का कारण है, लो ! समझ में आया ? शुभ-अशुभभाव दोनों अनर्थ का कारण है। बन्ध का कारण है। पुण्य और पाप दोनों (बन्ध का कारण है)। पुण्य सोने की बेड़ी, पाप लोहे की बेड़ी-लिखा है, हाँ ! उसमें, (समयसार) पुण्य-पाप अधिकार में (आता है न) ? उन्होंने लिखा है, इन्होंने भी लिखा है, उसमें उन्होंने लिखा, हाँ ! बुध पुरुषों ने पुण्य-पाप कार्यों को नहीं किया; आत्मा के अनुभव में चित्त लगाया। क्यों ? देखो ! शास्त्रकारों ने पाप को लोहे की बेड़ी, पुण्य को सोने की बेड़ी कहा है। -लिखा है, भाई ! इसमें है, दसवें श्लोक में है।

मुमुक्षु :- अन्तर (भेद) नहीं डाला ?

उत्तर :- क्या अन्तर पड़ा ? लोके का भाव बढ़ा, यहाँ तो कहते हैं, भाई ! यह भगवान आत्मा हलका और शुद्ध चिदानन्दमूर्ति है। उसमें जितने प्रमाण में शुभ और अशुभभाव हो, वह सब दुःखदायक और विकारी है। लाख बात की बात निश्चय एक, निश्चय उर आनो। इस बिना तेरा (भ्रमण का) अन्त तीन काल में नहीं आनेवाला है। समझ में आया ?

'पुण्य-दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादि शुभभाव सरागी जीव को होते हैं, वे अरूपी अशुद्धभाव हैं...' अविकारी दशा से उलटी अवस्था है, 'और वे भाव-पुण्य हैं तथा उस समय नवीन कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं-स्वतः आना (आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होना), वह द्रव्य-पुण्य है। (उसमें जीव की अशुद्धपर्याय निमित्तमात्र है)।' दोनों चीजे स्वतन्त्र हैं। आत्मा, शुभ-अशुभभाव करे, वह अशुद्ध परिणाम है, वह आस्रवभाव है। नवीन रजकणों को निमित्तमात्र कहलाते हैं।

इस प्रकार धर्मीजीव आस्रव की भावना, चिन्तवन बारम्बार करके शुद्ध आत्मा के सन्मुख का लक्ष्य रखकर शुद्धि बढ़ाता है। कहो, समझ में आया कुछ ? अरे.. ! जब हो, तब इसने बहाना ही ढूँढा है, छिटकने का बहाना-यहाँ से होगा, शुभभाव आया तो यह है। अब शुभभाव अनन्तबार किया, सुन न ! नौवीं ग्रैवेयक गया-शुभ के बिना गया होगा ? शुक्ललेश्या कैसी थी ? अनन्तबार नौवीं ग्रैवेयक गया, अनन्तबार दिगम्बर जैन साधु होकर नौवीं ग्रैवेयक गया।

समझ में आया ? शुभभाव, वह पुण्य है, आंशिक (भी) संवर-निर्जरा, धर्म-बर्म तीनका-तीनलोक में नहीं। भगवान वीतराग के मार्ग में उसे संवर नहीं कहते, शुभभाव को संवर नहीं (कहते)। समझ में आया ? यह तो पहले हमारे बहुत चर्चा चलती (थी)। 'ध्रांगध्रा' में (अमुक भाई) थे न ? कहाँ गये ? वे नहीं, भाई ? शुभभाव, वह संवर है-वह 'प्रश्न व्याकरण' में आता है। (संवत्) १९७६ की साल में पहले गये तब (चर्चा) चलती थी। १९७६. 'प्रश्न व्याकरण' में ऐसा भाव आता है। शुभभाव संवर.. शुभभाव संवर.. शुभभाव संवर.. भाई ! शुभभाव संवर नहीं होता। समझ में आया ? (वे लोग) बहुत चर्चा (करते थे)।

(यहाँ पर) कहते हैं-'पाप, हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि जो अशुभभाव हैं, वे भावपाप हैं और उस समय कर्मयोग्य पुद्गलों का आगमन होना...' (नये कर्म आते हैं), 'वह द्रव्य-पाप है।' रजकण। '(उनमें जीव की)...' भावपाप परिणाम, वे निमित्त हैं।

'परमार्थ से (वास्तव में) पुण्य-पाप (शुभाशुभ) आत्मा को अहितकर है...' लिखा है, देखो न ! 'आस्रव दुःखकार घनेरे, बुद्धिवंत तिन्हें निरवेरे.. जो जोगन की चपलाई, तातैं हैं आस्रव भाई।' इससे आस्रव है, भाई, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? हे भाई ! वह आस्रव है, ऐसा कहते हैं। 'आस्रव दुःखकार घनेरे...' यह आस्रव दुःखकार घनेरे। शास्त्र में दोनों दुःख परिणाम, दुःख का कारण कहा है। 'बुद्धिवंत तिन्हें निरवेरे।' समझदार-आत्मा के ज्ञाता, इन शुभाशुभभावों को रोकते हैं और आत्मा के सन्मुख होते हैं, उन्हें संवर होता है। समझ में आया ?

'तथा आत्मा की क्षणिक अशुद्ध अवस्था है।' शुभ-अशुभभाव। आत्मा त्रिकाल आनन्दमूर्ति है। शुभाशुभभाव उसकी अशुद्ध अवस्था है। समझ में आया ? 'द्रव्य पुण्य-पाप तो परवस्तु है, वे कहीं आत्मा का हित-अहित नहीं कर सकते।' -जड़कर्म कोई हित-अहित नहीं करता। 'ऐसा यथार्थ निर्णय प्रत्येक ज्ञानी जीव को होता है; और इस प्रकार विचार करके सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के अवलम्बन के बल से...' भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप के अवलम्बन के आश्रय के एकाकार द्वारा 'जितने अंश में आस्रवभाव को दूर करता है, उतने अंश में उसे वीतरागता की वृद्धि होती है...' शुद्धि की वृद्धि होती है। 'उसे आस्रव भावना कहते हैं।' लो ! समझ में आया ?

आस्रव करने की भावना करनी ? या आस्रव दूर करने की भावना करनी ? ऐसा कहा यहाँ। पुण्य-पाप के भाव 'बुद्धिवंत तिन्हें निरवेरे, दुखकार घनेरे' (हैं), इसलिए-ऐसा कहा। चैतन्य ज्ञानानन्द मूर्ति को अन्तरदृष्टि में लेकर, शुभाशुभभाव दुःखदायक है, (उन्हें) निरवेरे-छोड़े या करे ? भावना भावे आस्रव की कि पुण्य होवे तो ठीक और पुण्य होवे तो ऐसा ठीक न ? समझ में आया ? मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है-पुण्य आस्रव हो तो ठीक। ज्ञानी उसे छोड़ना चाहता है। आहा..हा... ! दो भावना हुई, अब तीसरी।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- कहाँ चढ़ावे ? धूल में ? यह कहते हैं-आत्मा, पुण्य-पाप के भाव रहित एकाग्रता करे, वह ऊँचे चढ़ता है, अन्य नीचे उतरता जाता है। आहा..हा.. ! नीचे अर्थात् चार गति। आत्मा के शुद्ध स्वभाव की गति अन्तर में एकाग्र हो वैसे ऊँचा चढ़ता जाता है। अपने स्वरूप से हटकर आते ही ऐसे नीचे पड़ता जाता है। आहा.. !

८-संवर भावना

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना;

तिन्ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥१०॥

अन्वयार्थ :- (जिन) जिन्होंने (पुण्य) शुभभाव और (पाप) अशुभभाव (नहिं कीना) नहीं किये तथा मात्र (आतम) आत्मा के (अनुभव) अनुभव में (शुद्ध उपयोग में) (चित्त) ज्ञान को (दीना) लगाया है (तिन्ही) उन्होंने ही (आवत) आते हुई (विधि) कर्मों को (रोके) रोका है और (संवर लहि) संवर प्राप्त करके (सुख) सुख का (अवलोके) साक्षात्कार किया है।

भावार्थ :- आस्रव का रोकना, सो संवर है। सम्यग्दर्शनादि द्वारा मिथ्यात्वादि आस्रव रुकते हैं। शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग दोनों बन्ध के कारण हैं-ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव पहले से ही जानता है। यद्यपि साधक को निचली भूमिका में शुद्धता के साथ अल्प शुभाशुभभाव होते हैं, किन्तु वह दोनों को बन्ध का कारण मानता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव, स्वद्रव्य के

आलम्बन द्वारा जितने अंश में शुद्धता करता है, उतने अंश में उसे संवर होता है, और वह क्रमशः शुद्धता में वृद्धि करके पूर्ण शुद्धता (संवर) प्राप्त करता है। वह 'संवर भावना' है।
॥१०॥

अब, संवर भावना। देखो ! 'जिन पुण्य-पाप नहि कीना, आतम अनुभव चित दीना।' लो ! यह तो देशी हिन्दी 'दौलतरामजी' की है। 'दौलतराम' (कृत) 'छहढाला' सादी देशी भाषा है।

जिन पुण्य-पाप नहि कीना, आतम अनुभव चित दीना;

तिन्ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥१०॥

कितना शब्द रखा है, देखो ! ओ..हो..हो... ! साक्षात् करे संवर को-सुख को ऐसा।

अन्वयार्थ :- 'जिन्होंने शुभभाव और अशुभभाव नहीं किये...' देखो ! जो सम्यग्दृष्टि आत्मा की शुद्ध पवित्र दृष्टि में शुभ-अशुभभाव करना छोड़कर 'और मात्र आत्मा के अनुभव में...' देखो ! शुभ और अशुभ दोनो बन्ध के कारण हैं। आत्मसन्मुख दृष्टि, ज्ञान, शुद्ध उपयोग ही मोक्ष का कारण है। 'जिन पुण्य-पाप नहि कीना, आतम अनुभव चित दीना...' देखो ! वे पुण्य-पापभाव आत्मा नहीं। है या नहीं इसमें ? बहुत समा दिया है। जिसने भगवान आत्मा (को) इन पुण्य-पाप आस्रव के परिणाम से रहित जाना, देखा, माना है-ऐसे जीव ने पुण्य-पाप को करना छोड़कर आत्मा के अनुभव में चित्त दिया है। जिसने आत्मा की शुद्ध परिणति में चित्त दिया है। फिर परिणति उपयोग होवे तब शुद्धता होती है। समझ में आया ?

'जिन पुण्य-पाप नहि कीना...' उस योग की चपलाई के सामने यह लिया। 'आतम अनुभव चित दीना...' भगवान आत्मा शान्त अनाकुल आनन्दस्वरूप को अनुसर कर अनुभव करना।

अनुभव रत्न चिन्तामणि, अनुभव है रस कूप,

अनुभव मारग मोक्ष का अनुभव मोक्षस्वरूप॥

अरे.. ! यह बात रूचे नहीं और शुभ-अशुभभाव रूचे, उसका (जन्म-मरण का) अन्त कहाँ से आये ? यहाँ तो जन्म-मरण रहित दशा न हो, उस दशा को दशा ही गिनने में नहीं आती। आहा..हा... ! स्वर्ग मिले या नरक मिले या राजा हो या रंक हो, पाँच-पाँच लाख के अश्वघोड़े 'अमेरिका' के हो, बड़े अश्व और बैल होते हैं न ?

मुमुक्षु :- शरक के घोड़े ?

उत्तर :- हाँ, शर्त के घोड़े बड़े, बैल भी बड़े-बड़े लाख-लाख, सवा-सवा लाख के (होते हैं)। समझ में आया ? ये सब चार गति के स्थान दुःखरूप दुःखरूप हैं। शुभ-अशुभभाव करने का भाव जिसने छोड़ा है और भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध ज्ञानानन्द भगवान की जिसने भावना की है.. वह भावना कहो या अनुभव कहो या शुद्ध उपयोग कहो-उसमें जिसने अपना चित्त दिया है, उसने 'आते हुए (विधि) कर्मों को रोका है...' वह कर्म को रोकता है, देखो ! शुभ-अशुभभाव, वह कर्मों के आने के कारण है और शुभाशुभभाव रहित आत्मा के भाव की शुद्धता की दशा, वह कर्म को रोकने का कारण है। इसमें है या नहीं ?

आत्मा के अनुभव में चित्त रखा है। ओ..हो... ! समझ में आया ? शुद्ध स्वरूप अपना निज आनन्द महान परमेश्वरपद स्वयं का (है)। अरे.. ! स्वयं का परमेश्वरपद भूलकर और पामर-पुण्य-पाप के पामर पद में जिसकी प्रीति है, उसे चार गति में भटकने का फल है। समझ में आया ? अपने परमेश्वरपद को सँभालनेवाला, याद करनेवाला, उसमें चित्त देनेवाला, शुभाशुभभाव को नहीं करता। जितने प्रकार में शुद्धभाव की परिणति करता है, उतने प्रकार में उसे कर्म आते हुए रुक जाते हैं। उसे भगवान, संवर कहते हैं, उसे भगवान, संवर कहते हैं। यह तो हिन्दी भाषा (में) 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है।

मुमुक्षु :- ज्ञानी को तो ऐसी ही बात होती है।

उत्तर :- ऐसी ही बात होवे न, दूसरी क्या बात होगी ? आ..हा... ! 'दौलतरामजी' कहते हैं तो अपने घर की बात नहीं करते हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर परमात्मा ने जो कहा है, (वह) 'छहढाला' में (कहते हैं)। और हिन्दी छहढाला। सादी हिन्दी भाषा है, १३ गाथायें (श्लोक) हैं। समझ में आया ? देखो न ! संवर की व्याख्या यह ! पुण्य और पाप, वे संवर नहीं है, वे

आस्रव है।

मुमुक्षु :- शुभयोग, संवर नहीं ?

उत्तर :- यह शुभयोग, पुण्य कहा न, उसे पुण्य कहा था। आस्रव कहा न। पुण्य कहो या शुभयोग कहो; पुण्यभाव-पुण्य कहो या शुभयोग कहो-दोनों एक ही है। भावपुण्य कहो या शुभयोग कहो, भाव पाप कहो या अशुभयोग कहो। द्रव्य पुण्य-पाप, वह रजकण जड़ की दशा और भाव पुण्य-पाप, वह आत्मा की अशुद्धदशा (है)। यह बात ऊपर आ गयी है-अरूपी अशुद्धभाव। अपना परमेश्वर पद ही अभी सुहावे नहीं, अपना परमेश्वर पद यदि अभी रूचे नहीं, उसे परमेश्वरपद प्राप्त करने का वीर्य कैसे स्फुरित हो ? जिसे पुण्य और पाप के भाव, जो पामरभाव रूचते हैं, उसे आत्म परमेश्वरपद कैसे रूचे ?

इस कारण यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं-पण्डित 'दौलतरामजी' हुए, समझे ? कि 'जिन पुण्य-पाप नहीं कीना, आत्म अनुभव चित्त दीना..' यह आत्म-अनुभव किसे होगा ? यह आठवें-नौवें की बात होगी ? यह तो पहले से बात करते हैं। समझ में आया ? 'तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके...' देखो, भाषा ! वह धर्मीजीव अपने आत्मा में, अनुभव में चित्त देकर शुभाशुभभाव को रोकता है। वह, 'संवर प्राप्त करके सुख का साक्षात्कार किया है।' सुख को अवलोकता है। वह अतीन्द्रिय आनन्द को देखता है। क्या कहा ? कि पुण्य-पाप के भाव दुःखरूप है। सामने दुःखकारी कहा था न ? सामने दुःखकारी कहा था न ? नौवें में 'आस्रव दुखकार' तब संवर आनन्द को अवलोकता है, अर्थात् संवर में आनन्द होता है। उसे संवर कहते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द को (अवलोकता है)। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का अवलोकन-उसका साक्षात्कार होना-ऐसी दशा में जो सुख का आनन्द आवे, उस दशा को संवर कहा जाता है। समझ में आया ?

बाहर में इसे दूसरे की अपेक्षा अच्छा कहे न तो प्रसन्न हो जाए। यह पुण्य की अपेक्षा और स्वर्ग की अपेक्षा तू अच्छा है, इसमें प्रसन्न नहीं होता। ऊं..हूं..हूं.. (करता है)। दूसरे की अपेक्षा ऐसा कहे कि हाँ हो, तुं तो बहुत होशियार हो, ओ..हो... ! उसकी अपेक्षा तुम बहुत बुद्धिशाली। (इसे ऐसा लगता है कि) दूसरों की अपेक्षा अधिक तो सिद्ध किया। यहाँ कहते हैं कि... परन्तु

पुण्य-पाप के भाव और शरीर से तू पृथक् अच्छा है, (तो कहता है) नहीं, यह नहीं, भाई साहब ! देखो न भाई ! पिता के पास पैसा नहीं थे, तुमने इतनी उन्नति की, इकट्ठे किये, ऐसा किया, मकान बनाया.. समझे न ? बाहुबल से कमाया, बाहुबल से मकान बनाया, बाहुबल से कीर्ति प्राप्त की, और अब.. चले जाओ, मरकर जाओ अब नीचे। किसका किया ? धूल की तूने ? वहाँ इसे प्रसन्नता होती है, हाँ ! तुमने तो बहुत भाई ! वृक्ष लगाये हैं, आम रोपे हैं, बापा ! तुमने तो ओ..हो..हो... ! ऐसा कहते हैं। वह (एक भाई) कहते, गरासियाओ (दूसरे भाई से कहते), आम रोपे हैं। वह तो व्यक्ति अमीर व्यक्ति थे, परन्तु यह तो लोग... तो (ऐसा कहे), ओ..हो..हो... ! पैसे खर्च किये, यह किया, यह किया, यह किया, आम रोपे, बापा ! आम पकनेवाले अब। अरे.. ! भगवान ! यह प्रसन्न होता है। यहाँ तो कहते हैं कि.. तूने आम रोपे, आत्मा के पवित्रभाव की रूचि और दृष्टि कर, शुभाशुभभाव की रूचि छोड़। तूने आम रोपे वहाँ केवलज्ञान के कन्द के फल पकेंगे। (तो कहे), यह नहीं, यह नहीं।

निमित्त और शुभपरिणाम के बिना चले-ऐसा तेरा तत्त्व है। सुन न ! ऐसा स्वाधीन भगवान, जिसकी नज़र करने से विकार का नाश हो, जिसकी नज़र करने से निहाल दशा प्रगटे; जिसकी नज़र करने से स्वयं परमात्मा है-ऐसा प्रतीति में आये-ऐसा भगवान आत्मा, वह तुझे रूचता नहीं। यहाँ संवर अधिकार है, साक्षात्कार कर-ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? भाई ! सेठ ने बहुत किया होगा। संवर बहुत किया है, कहते हैं। भाई ! ऐसा कहते हैं, अभी तक संवर बहुत किया। वह संवर धूल में भी संवर नहीं था। मिथ्यात्वभाव था और मानता कि हमने संवर किया। ऐ.. भाई ! इस भाई ने बहुत सामायिक की थी। आहा..हा... !

भाई ! प्रभु को एक ओर रखकर तू बाते करे; यह प्रभु स्वयं बिराजता हो और उसके दुश्मन हो, उनके साथ मेल करे, यह प्रभु किस प्रकार प्रसन्न होगा ? समझ में आया ? आहा..हा... ! भगवान परमेश्वर बिराजमान है न ! आनन्दकन्दवाला तेरा (स्वरूप), उसके सन्मुख न देखकर अकेले विकार के साथ प्रेम करके पड़ा है, (तो) यह प्रभु प्रसन्न होकर किस प्रकार प्रगट होगा ? समझ में आया ?

यहाँ तो अद्भूत भाषा रखी है ! सख को अवलोके। भाषा अलग है, देखा ? वह दुःख को अवलोकता था-शुभ-अशुभभाव, वह दुःख को अवलोकता था। वह, दुःख है-ऐसा जानता

नहीं था, परन्तु दुःख पर उसकी नज़र थी। अज्ञानी की अनादि से शुभ और अशुभभाव में-दुःख में नज़र थी। यह आत्मा दुःख और आस्रवरहित वस्तु है-ऐसी जहाँ नज़र करने पर उस संवरभाव में आत्मा आनन्दरूप से अवलोके और उसकी पर्याय में आनन्द का अवलोकन का वेदन हो, उसे भगवान संवर कहते हैं। आहा..हा... ! कहो, भाई ! साक्षात्कार किया.. समझ में आया ? 'संवर लहि सुख अवलोके...' इसमें कोई शब्दार्थ नहीं। सुख प्राप्त किया, बस ! इतना ही अर्थ किया है। संवर में आनन्द की अनुभूति होती है-इतना कहा है। संवर में आनन्द की अनुभूति। इसमें क्या किया है ? साक्षात्कार किया है। ठीक किया है। यह पहले रखा। संवर-सुख का साक्षात्कार किया है। अपने लिखा है। उसमें से लिखा है, मूल उसमें से बनाया है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- जोरदार है।

उत्तर :- जोरदार है। ऐसा स्वरूप ही है-ऐसा कहते हैं। जो अनन्तकाल से शुभ-अशुभभाव की भावना भाने से अकेले दुःख का ही इसने वेदन देखा है। उस शुभ-अशुभभाव की भावना छोड़कर चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा की भावना करने से जो सुख का अवलोकन होने पर, वर्तमान दशा में भी सुख प्रगट होने पर उस सुख का अवलोकन अर्थात् साक्षात्कार करता है। जो सुख शक्ति में पड़ा था.. समझ में आया ? जो सुख शक्ति में था, उसे एकाग्रता करके साक्षात् पर्याय में सुख को प्रगट करता है, उसे संवर कहा जाता है। और वह संवर मुक्ति का उपाय है। ऐसी भावना भाता है। लो ! (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल १३, शनिवार
दि. ०५-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-१०-११, प्रवचन नं. ४३

‘दौलतरामजी’ कृत ‘छहढाला’ है। उसमें पाँचवी ढाल चलती है। दसवीं गाथा, संवर भावना आठवीं है। देखो ! संवर भावना किसको कहते हैं ? कि, ‘आस्रव को रोकना, सो संवर है।’ भावार्थ है, भावार्थ। आस्रव क्या (है) ? ‘सम्यग्दर्शनादि द्वारा मिथ्यात्वादि आस्रव रुकते हैं।’ पहले तो अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप का अभेदस्वभाव की दृष्टि अनुभव में करके मिथ्यात्व का आस्रव रुकता है। समझ में आया ? देखो ! चित्र में ढाल ली है न, ढाल ! ढाल। ढाल होती है न ? ढाल। शस्त्र को रोकने की ढाल होती है न ? भैया ! ऐसे क्या ? आत्मा शरीर, कर्म, पुण्य-पाप के भाव से रहित और अपने शुद्ध आनंदादि अनन्त गुण सहित, ऐसा अपना शुद्धस्वरूप एकरूप आनन्दरूप (है) उसका, अन्तर में एकाकार होकर अनुभव की दृष्टि करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना, वही मिथ्यारूपी आस्रव रोकने की ढाल है। समझ में आया ? ढाल.. ढाल। इसका नाम भी ‘छहढाला’ है न ? ‘छहढाला’। ढाल।

मिथ्याश्रद्धा... जो आत्मा पूर्ण अनन्त शुद्ध आनन्दकन्द है, उसको एक समय के अंश जितना मानना अर्थात् उसको पुण्य-पाप का विकारवाला मानना और उसको शरीर, कर्म सहित ही आत्मा मानना और शरीर, कर्म आदि परपदार्थ की क्रिया करनेवाला मानना, वह मिथ्यात्व आस्रव है।

मुमुक्षु :- जैन को सब होय ?

उत्तर :- जैन किसको कहना ? संप्रदाय में जन्म लिया तो जैन हो गये ? भगवान आत्मा जो अपना पूर्ण स्वरूप शुद्ध स्वरूप (है), उसकी अनादि से दृष्टि छूटकर, परपदार्थ (जो) अपने से भिन्न हैं, उसका कर्ता मानता है। कर्ता मानता है तो अपने को और पर को एक माने

बिना पर का कर्ता मान सकता नहीं। बराबर है ?

अपने अलावा परपदार्थ शरीर, वाणी, कर्म आदि जड़ अथवा अन्य जीव, उसका कार्य मैं कर सकता हूँ और मैं उस के कार्य कारण हूँ, ऐसा माननेवाला परद्रव्य को ही (अपने साथ) एकरूप मानता है। पर से पृथक् वह मानता नहीं। उसका नाम मिथ्यात्वभाव है।

दूसरा, शुभ और अशुभभाव जो पुण्य-पाप विकारभाव है, यह मलिन, विकृत, उपाधि विभाव है, उसका भी करनेवाला (हूँ)-ऐसा माननेवाला उस विकार को ही अपने स्वभाव में अपनाता है और अपना मानता है, उसका नाम मिथ्यादर्शन आस्रव है। भाई ! कौन अभी कोई आया था न ? आप के साथवाला कोई था। कोई आया था, कहता था कि, हम लोग सब मिलकर भाषण करते हैं। कोई कहता था। अभी आये थे न ? सुनकर उसे लगा कि, यह करने जैसा लगता है, यहाँ रहने जैसा है। सुनकर ऐसा हो गया। ऐसा बोले थे बेचारे। हम तो भाषण करे। फिर मैंने आपका नाम दिया। आहा..हा... ! अरे.. ! भाषण कौन करे ? यह जड़ की पर्याय (है)। दूसरे को कौन सुधार सके ? वह पर की पर्याय (है)।

यहाँ तो कहते हैं कि, अपने में पुण्य-पाप का भाव जो शुभ-अशुभ है, वह अपने स्वरूप में नहीं, तो उसका कर्ता हो तो उसकी दृष्टि विकार पर ही है और विकार पर दृष्टि होने से निर्विकारी भगवान शुद्ध चिदानंद (का) उसकी दृष्टि में अनादर है। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है। अनन्तकाल में उसने क्या आत्मा, क्या विकार और क्या पर ?-उसका कभी भेदज्ञान किया नहीं और भेदज्ञान ही संवर है। संवर है न ? देखो !

‘भेदज्ञान ही ज्ञान है, बाकी बूरो अज्ञान, धर्मदास क्षुल्लक कहे, हेमराज तू मान।’ भेदज्ञान क्या (है) ? कि, आत्मा, शुभ-अशुभभाव कृत्रिम क्षणिक से भी भिन्न है और परद्रव्य से तो त्रिकाल भिन्न है ही और अपने स्वरूप में वर्तमान में अल्प ज्ञान, दर्शन, वीर्य का जो (अल्प) विकास दिखता है, वह एक समय की अवस्था है, वह पूर्ण आत्मा नहीं। उस अवस्था की दृष्टि छोड़कर, शुभाशुभभाव की प्रीति-रूचि छोड़कर, पर की रूचि छोड़कर अपने अखंड ज्ञायकस्वभाव में अन्तर्मुख में अंतर्दृष्टि करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन (है)। मिथ्यादर्शन रोकने को यह ढाल है। समझ में आया ? (उन्होंने) महासत्ता का प्रश्न किया था। महा भगवान

आत्मा... !

जिन पुण्य-पाप नहिं किना, आतम अनुभव चित दीना;

तिन्ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥१०॥

इतने शब्द (हैं)। 'दौलतरामजी' ने एक पंक्ति में, गागर में सागर भर दिया है। 'जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, ...' दूसरी बात तो कहाँ रही ? यहाँ तो 'कीना' पर वजन है। पर का करना तो कहाँ रहा ? लेकिन शुभ और अशुभभाव भी मेरी चीज नहीं। उसको भी दृष्टि में से छोड़कर 'आतम अनुभव चित दीना...' भाई ! यहाँ 'कीना' शब्द है न ? उस पर पूरा वजन है।

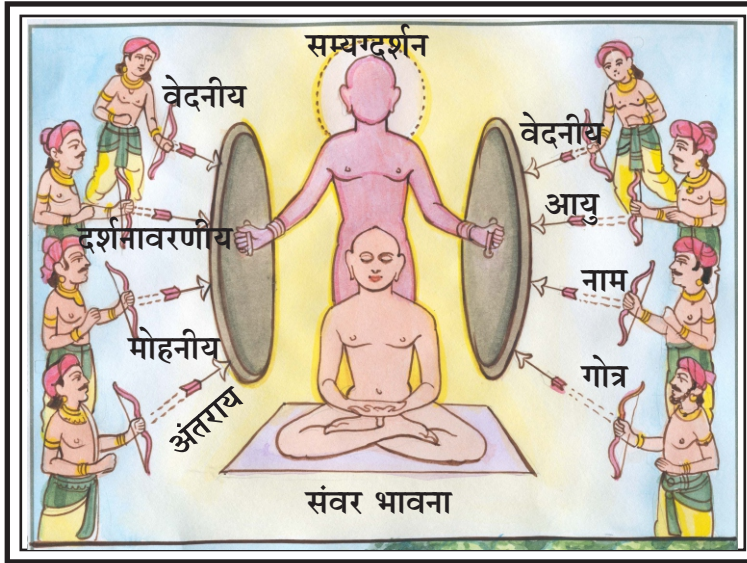
'जिन पुण्य-पाप नहिं कीना...' जिसने भगवान आत्मा पर अन्तर चिंतवन की एकाग्रता द्वारा, शुभाशुभभाव का कर्ता न हुआ और पुण्य-पाप से जिसने लक्ष्य छोड़ दिया। 'आतम अनुभव चित दीना; ...' आत्मा भगवान अनाकुल आनन्द का भंडार भरा है। महाआनन्द का लाभ ऐसा जो मोक्ष, उसका कारण जो मोक्षमार्ग, उसका कारण जो आत्मद्रव्य। महाआनन्द का लाभ जो मोक्ष.. समझ में आया ? मोक्ष की व्याख्या यह (है)। वह पहले आ गया है। महाआनन्द में। महाआनन्द का लाभ। अपनी पर्याय में अतीन्द्रिय महाआनन्द का लाभ (होना), वह मोक्ष (है)। उसका कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो अपूर्ण, अपूर्ण अल्प आनन्दरूप (है); सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अल्प आनन्दरूप, वह महाआनन्दरूप का कारण मोक्ष का मार्ग (है)। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण द्रव्यस्वभाव (है)। समझ में आया ?

द्रव्य अर्थात् वस्तु। एक समय में सच्चिदानन्द पूर्ण शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध आनन्द आदि एकरूप वस्तु द्रव्य, जिसको 'नियमसार' में कारणपरमात्मा कहा। यहाँ उसको द्रव्य कहा, ध्रुव कहा। यह ध्रुव, मोक्षमार्ग की पर्याय का कारण (है), मोक्षमार्ग की पर्याय मोक्ष का कारण (है)। मोक्ष का कारण मोक्षमार्ग की पर्याय और मोक्षमार्ग की पर्याय का कारण द्रव्यस्वभाव (है)। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- अल्पता क्यों कहा ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन की अल्पता नहीं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान में अल्प आनन्द है। मोक्षमार्ग में अल्प आनन्द (है)। मार्ग है न ? कारण है न ? कार्य हुआ तो पूर्णानन्द हो गया। उसका आश्रय जो करना है, सम्यग्दर्शन का आश्रय है वह तो पूर्णानन्द आत्मद्रव्य है, परन्तु आनन्द की प्रतीति हुई, उसमें आनन्द आया, वह अल्प आनन्द आया है। पूर्ण आनन्द प्रगट हो जाये तो मोक्ष हो जाये। समझ में आया ? आहा..हा... !

यहाँ कहते हैं, 'आतम अनुभव चित दीना, ...' देखो ! भाषा कैसी है ! 'जिन पुण्य-पाप नहीं कीना, ...' शुभ-अशुभभाव, दूसरी बात तो कहाँ रही ? शरीर, कर्म, बाह्य पदार्थ का कार्य तो नहीं परन्तु शुभ-अशुभभाव भी नहीं किया, उसने आतम अनुभव चित्त दिया। आत्मा अखंड ज्ञायकमूर्ति है, उसमें उसका मन लगा। क्या हुआ ? 'अनुभव' शब्द का अर्थ



शुद्धउपयोग है। शुभ-अशुभभाव है न ? पुण्य और पाप शुभ-अशुभभाव है, आस्रव है। उसको रोककर अर्थात् उस ओर का लक्ष्य और कर्तापने की बुद्धि छोड़कर, भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध आत्मतत्त्व है उसमें चित्त लगाया तो शुद्ध उपयोग में आत्मा का भान हुआ कि, यह आत्मा शुद्ध

आनन्दकन्द है। ऐसा शुद्धभाव हुआ, उसके अशुद्धभाव रुकते हैं और उसके कर्म भी रुक जाते हैं। भाई ! यह तो बहुत संक्षिप्त शब्द में कहा है। गागर में सागर भर दिया है। ये 'छहढाला' तो बहुत चलती है या नहीं ? लेकिन अर्थ समझे नहीं।

‘आत्म अनुभव चित दीना; तिनही विधि आवत रोके,...’ ढाल। ‘विधि’ नाम आठ कर्म। उसमें दो तरफ ढाल ली है, देखो ! एक ओर चार कर्म और दूसरी ओर चार कर्म। एक घाति और अघाति। भगवान आत्मा अपने स्वभाव में शुद्धतारूपी दृष्टि और ज्ञान के कारण अन्तर में रुका तो उसको पुण्य-पाप का भाव आदि बन्ध आदि रुक जाते हैं। बाद में ‘विधि आवत रोके’ वे रुक गये। ‘संवर लहि सुख अवलोके।’ महा शब्द पड़ा है। भगवान आत्मा, जिसमें परम महाआनन्द है। अतीन्द्रिय, अतीन्द्रिय अनन्त-अनन्त अचिंत्य सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा है। सत् चिद् आनन्द, शाश्वत आनन्द, उसमें अन्तर एकाग्र होता (है)। कहते हैं कि, संवर क्या ? कि, जिसमें संवर लहि सुख (का) साक्षात्कार करे। आनन्द का साक्षात्कार करे। आहा..हा...! है ?

‘संवर लहि सुख अवलोके।’ देखो ! अपने ‘साक्षात्’ का अर्थ किया है। हिन्दी में भी वही अर्थ है। जो अनादिकाल का शुभ-अशुभभाव और परवस्तु का कर्ता ऐसा जो मिथ्यात्वभाव (होता था), वह दुःख का वेदन करनेवाला था। दुःख का वेदन करनेवाला था। भैया ! समझे ? पुण्य-पाप का भाव मैंने किया, ऐसे विकार को निर्विकार स्वभाव में एकत्व (न) करके कर्ता होता था तो वहाँ भ्रमणा मिथ्यात्व उत्पन्न होता था। परन्तु मिथ्याभाव में अकेला दुःख था। समझ में आया ? इस दुःख का नाश (किया)। अपना स्वरूप पुण्य-पाप के विकल्प से (रहित है)। कर्म, शरीर से तो रहित है ही, क्यों ? कर्म, शरीर तो आत्मा की एक समय की पर्याय में भी उसकी मौजूदगी नहीं है। कर्म, शरीर की अजीव की, आत्मा की एक समय की पर्याय में भी मौजूदगी नहीं है। समझ में आया ? परन्तु अपनी पर्याय में शुभ और अशुभ जो विकार की मौजूदगी एक समय में है,... समझ में आया ? एक समय में शुभ और अशुभ, दया, दान, काम, क्रोध का शुभाशुभभाव, आत्मा की पर्याय अर्थात् अवस्था में मौजूदगी-अस्ति है, उसकी भी रूचि छोड़कर, ज्ञायक चिदानन्द पूर्ण द्रव्यस्वभाव में चित्त लगाया तो मिथ्यात्व का नाश होकर अर्थात् दुःख का नाश होकर अर्थात् आत्मा के सुख का साक्षात्कार-अवलोकन हुआ। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- गागर में सागर निकला।

उत्तर :- सागर में से थोड़ा निकला। पूरा सागर नहीं निकला।

मुमुक्षु :- दुःख दिखता नहीं।

उत्तर :- हर्ष सन्निपातिया को दुःख का भान नहीं है तो कैसे दिखे ? हर्ष सन्निपातिया समझते हो ? भैया ! वात, पित्त और कफ रोग नहीं होता ? सन्निपात। त्रिदोष। त्रिदोष होता है न ? वात, पित्त, कफ का रोग। वक्र होता है तो वह हँसता है। क्या सुखी है ? नहीं। ए.. देवानुप्रिया। सन्निपातवाला हँसता है। यह सन्निपात है। मिथ्यात्व, अत्रत और कषाय। अथवा मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय अर्थात् अचारित्र। ये तीन का उसे रोग लगा है। जैसे वात, पित्त और कफ सन्निपात त्रिदोष के कारण दुःखी है, फिर भी हँसता है। ऐसे अज्ञानी अनादि से अपना शुद्ध स्वरूप परमानन्द की दृष्टि से विपरीत दृष्टि, अपने स्वरूप के ज्ञान से विपरीत ज्ञान, अपने स्वरूप से विपरीत राग-द्वेष का आचरण, इन तीनों का उसको त्रिदोष लगा है। बराबर है ? इस त्रिदोष के कारण उसे पूर्ण दुःख है (लेकिन) भान नहीं। मैं दुःखी हूँ, या नहीं, मालूम नहीं। भाई ! ये दुःख नहीं लगता ? ए.. देवानुप्रिया।

मुमुक्षु :- एक बार वे बहुत रोते थे।

उत्तर :- कब रोते थे ? कुछ था ? स्त्री मर गई तब ? क्या था ? उस दिन ? होगा। ठीक से याद नहीं है। सुख में रोना आता है, क्यों ? दुःख है लेकिन भान नहीं। कहा न ? मजबूत शरीर (हो), ३२ साल का युवान और वात, पित्त, कफ रोग ने ऐसा घेरा, ऐसा घिराया (कि), लोग देखे कि, अभी एक घंटे में देह छूट जायेगा। वह हँसता है। वह सुख है ? मानता है। कल्पना में, अज्ञान में मानता है; दुःख है। हँसता है, वह दुःख है।

ऐसे भगवान आत्मा अपने आनन्दस्वरूप की दृष्टि, ज्ञान और लीनता छोड़कर मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, राग-द्वेष के आचरण में रुककर (सुखी मानता है)। वह है दुःखी पूरा, लेकिन अज्ञानी अज्ञान में सुख मानता है। सुख है ही नहीं। भाई ! कैसे होगा यह ?

मुमुक्षु :- दुःख मालूम क्यों नहीं पड़ता ?

उत्तर :- कहा न, पागल हो गया है तो कहाँ से मालूम पड़े ? सन्निपात हो गया। त्रिदोष में

भान नहीं, कुछ भान नहीं। ओ..हो..हो... ! एक शुभराग उठना, वह भी उन्माद, दुःख है। आहा..हा... ! 'समाधिशतक' में 'पूज्यपादस्वामी' कहते हैं, उपदेश का एक शुभराग उठना (वह उन्माद है)। आहा..हा... ! कहते हैं, भैया ! समझे ? वह राग है या नहीं ? राग है, वह उन्माद है। भगवान आत्मा वीतराग अनाकुल आनन्दकन्द प्रभु है, उससे, शुभराग भी आनन्द से विपरीत है। विपरीत है तो शुभराग भी दुःखरूप है। अशुभराग तो दुःखरूप है ही परन्तु शुभराग है न ! अपना स्वरूप अनाकुल आनन्द, वीतरागकन्द (है), उसमें से हटकर शुभ-अशुभ दोनों भाव दुःखरूप है। समझ में आया ? परन्तु अज्ञानी को सुख क्या चीज है, अन्तर में उसे मिलान करने की ताकत नहीं है तो वह दुःख को ही सुख मानता है। आहा.. ! समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं, 'जिन पुण्य-पाप नहीं कीना, आतम अनुभव चित्त दीना;' भगवान आत्मा शुभाशुभभाव से भी रहित, ऐसे आत्मा में जिसने चित्त दिया, उसने आनेवाले कर्म को रोका। रोका का अर्थ-आते थे और रोका-ऐसा नहीं। भाषा तो ऐसी है, देखो ! 'तिनही विधि आवत रोके' समझ में आया ? अपना शुद्ध चैतन्य स्वरूप, उसमें दृष्टि, ज्ञान लगाया तो कर्म आते थे उसे रोके, उसका अर्थ क्या ? कि, उसको कर्म आते नहीं, आनेवाले थे ही नहीं। (आनेवाले) थे ही नहीं। वह तो जब विकार करता हो उसको निमित्त में आनेवाला था। यहाँ विकार नहीं किया तो कर्म आनेवाला है ही नहीं। परन्तु आनेवाल पूर्व में आया था, उस अपेक्षा से वर्तमान में रोका-ऐसा कहने में आता है। आहा..हा... ! कठिन बात है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- पूर्व में जो आये थे..

उत्तर :- पूर्व में जो आये थे, वे कर्म पड़े हैं, पड़े हैं, बस इतना।

मुमुक्षु :- किसको रोका ?

उत्तर :- कहा न, किसी को रोका नहीं, लेकिन रोका क्यों कहा ? कि, अपना स्वभाव में दृष्टि और ज्ञान दिया तो पहले जो नहीं दिया था और (कर्म) आया था, ऐसे (कर्म) वर्तमान में नहीं आया, उसको रोका ऐसा कहने में आया है। समझ में थोड़ा सूक्ष्म पड़ेगा। फिर से, फिर से (लेते हैं)।

यहाँ तो नये रजकण है न ? पहले मिथ्यात्व था, तब तो मिथ्यादर्शन के रजकण आते थे। समझ में आया ? राग-द्वेष था तो चारित्रमोह का रजकण आता था, बस उतना। अब यहाँ सम्यग्दर्शन हुआ तो कर्म को रोका उसका अर्थ क्या ? कर्म आनेवाले ही नहीं थे। आया और रोका कहा वह तो शब्द-कथन है। पूर्व का आया था, वह अभी आया नहीं, क्योंकि यहाँ आत्मा की दृष्टि, अनुभव हुई तो कर्म का आना उस समय में हुआ ही नहीं। हुआ नहीं उसको रोका-ऐसा कहने में आता है। आहा..हा... ! सूक्ष्म बात है।

मुमुक्षु :- कर्म का उदय आया..

उत्तर :- उदय आया नहीं, उसकी बात नहीं। उदय की बात कौन कहता है ? यहाँ उदय की बात नहीं है। नहीं, नहीं। तुम पकड़ नहीं सके। उदय की बात है, वह जड़ की बात है।

यहाँ तो आत्मा पहले जब मिथ्यात्वभाव करता था और राग-द्वेष करता था, तब कर्म आता था। कर्म रजकण उसके कारण से, हाँ ! कर्म, कर्म के कारण से आता था। बस इतना। वह पड़ा इतना। अब जब आत्मा ने अपने स्वरूप में चित्त दिया तो कर्म आनेवाला था ही नहीं। आनेवाला है और रोका है-ऐसा नहीं है। वह तो शब्द ऐसा बताया है। थोड़ी सूक्ष्म बात (है)। समझ में आया ?

आत्मा-अपना शुद्ध स्वरूप परमानन्द की मूर्ति (है), उसको भूलकर पुण्य-पाप का कर्ता मिथ्यात्वभाव में होता है तो नया कर्म उस समय आनेवाला था, उसकी योग्यता से आया। बस, इतना। अब जब अपने आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रगट किया, अपने में चित्त दिया तो शुभाशुभभाव हुआ ही नहीं। अपने स्वरूप में चित्त दिया तो मिथ्यात्वभाव हुआ नहीं। मिथ्यात्वभाव हुआ नहीं तो मिथ्यात्वभाव से जो नया कर्म आनेवाला था, वह भी आया नहीं। बस, आया नहीं, उसको रोका ऐसा कहने में आता है। समझ में आया ? भाई ! पूर्व के कर्म की बात नहीं है। यहाँ तो अभी नया कर्म नहीं आया। नया कर्म आनेवाला था और नहीं आया, यह तो वह तो एक शब्द की रचना है।

अपने शुद्ध स्वरूप का मानना नहीं था और मैं विकार हूँ, पुण्य-पाप हूँ, शरीर हूँ-ऐसा विकारी अंश के अस्तित्व में और पर के अस्तित्व की मौजूदगी में अपना स्वरूप माना था तो

ढलथुडल डुरलतल थुी। उस डुरलतल के नलढलतु.. डुरलतल नलढलतु और नडुल दरुशनढुुह आनल उसके उडुलदलनकलरण से, कडुडु के उडुलदलन कलरण से कडुडु आडुल, उसकुु ढलथुडलतुव नलढलतु कहुल। सढुडुडु डुें आडुल ? डुडु आतुडुल ने अडुडुने डुें कलतुत दलडुल तुु ढलथुडलतुव कल तुु नलश हुल। ढलथुडलतुव कल नलश हुल तुु ढलथुडलतुव कल रककण डुु डुहले आतुल थुल, वहु अडुडुी आडुल। डुहुत सुुकुषुडु डुलत है। शलसुतुर कल रकनल, सढुडुलवे केसे ?

अडुडुने सुवरुडु डुें कलतुत दलडुल तुु वलकलर हुल नहुी, वलकलर हुल नहुी तुु नडुल आवरण डुु आनेवलल थुल, वहु आडुल ही नहुी। आडुल नहुी अरुथलतु आनेवलल थुल ही नहुी। आहल..हल... ! अरे.. ! डुहुगवलन ! सढुडुडु डुें आडुल ? डुहलँ सढुडुडु अनुतर दृषुतल हुडुी तुु उस सढुडु ढलथुडलतुव कल रककण आनेवलल थुल ? ढलथुडलतुवडुलव है नहुी तुु कहुलँ से आनेवलल थुल ? सढुडुडु डुें आडुल ? थुुडुी सुुकुषुडु डुलत (है)। शलसुतुर कल रकनल ऐसी है कल, अडुडुने सुवरुडु कल दृषुतल, कलतुत लगलडुल तुु उस सढुडु ढलथुडलडुरलतल तुु है नहुी। डुरलतल है नहुी तुु डुरलतल डुलसडुें नलढलतुत डुडुतुी थुी, ऐसल कडुडु डुु डुहले आतुल थुल, वहु आडुल नहुी; आनेवलल थुल ही नहुी। इन लुुगुुु कुु वलषडु नडुल लगे, डुहलँ तुु डुहुत डुलत कल गडुी है।

ढुढुडुडु :- आने डुें तुु डुरलतल नलढलतु थुी।

उतुतर :- डुरलतल नलढलतु थुी।

ढुढुडुडु :- न आने डुें डुलव नलढलतुत है ?

उतुतर :- नलढलतुत अरुथलतु आनेवलल थुल ही नहुी, उसकल नलढलतुत। आनेवलल कुुन थुल ? आनेवलल हुु तुु डुहलँ वलकलर हुु। सढुडुडु डुें आडुल ? वलकलर नहुी हुल तुु आनेवलल थुल ही नहुी। सुुकुषुडु डुलत है। तलतुतुवलक डुलत ऐसी कलडुल है। अडुडुने उडुलदलन डुें डुडु डुरलतल थुी कल, डुें रलग हुँ, डुुणुडु कडुडुल हुँ, शुडु आसुवर कल कडुडुल हुँ, तडु वहु डुरलतल ढलथुडलतुव है। तडु तुु दरुशनढुुह कडुडु आतुल थुल। उसके कलरण, हलँ ! डुडु के कलरण (आतुल थुल)। उसडुें डुरलतल नलढलतुत डुडुतुी थुी, डुस, इतनल। अब डुडु डुरलतल कूटु गडुी तुु रककण आनेवलल थुल ही नहुी। सढुडुडु डुें आडुल ? डुुवर कल डुडुल है, वहु तुु नलश हुु डुलडेगल। वहु तुु नलरुडुल डुें कहुेंगे। डुह तुु सनुवर कल डुलत है न ? डुह तुु सनुवर कल डुलत है। डुुवर कल डुडुल है वहु तुु शुडुडुतल कल वृडुडुल के कलरण नलश हुुगल, डुरनुतु डुहलँ नडुल आनेवलल थुल और

रोका ऐसा नहीं है। ऐ..ई..। कठिन बात है, भाई !

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- कौन रोके ? ये कर्म आते थे, उसे रोक दो, ऐसा है ? उसका अर्थ यह है कि, अपने शुद्ध स्वरूप में जहाँ चित्त दिया तो भ्रांति हुई नहीं तो कर्म आनेवाला था ही नहीं। उसको कर्म रोका ऐसा कहने में आता है। समझ में आया ? तत्त्व तत्त्व बहुत (सूक्ष्म है)। वह दृष्टान्त देते हैं न ? जैसे तालाब है या नहीं ? उसमें छिद्र है। नाव लो, नाव। नाव में छिद्र है तो पानी आता था। छिद्र (बन्द किया) तो (पानी) रुक गया। पानी आता था और रोका है, ऐसा ? बस, यहाँ बन्द किया तो पानी आता ही नहीं। पानी आनेवाला है ही नहीं, आनेवाला है ही नहीं। छिद्र बन्द किया तो पानी आनेवाला है ही नहीं। ऐसे यहाँ राग-द्वेष रुका तो रजकण आनेवाला है ही नहीं। आहा..हा.. ! दोनों स्वतंत्र पदार्थ हैं। भूल करता था तो भूल निमित्त (है) और नय रजकण उपादान से आता था, उसको निमित्त कहते हैं। भूल निकल गई, चित्त आत्मा में दिया, तो भूल नहीं है, तो आनेवाला रजकण जो पूर्व में आया था, वह तो पड़ा है, अभी नहीं है, नया आनेवाला नहीं है, उसको रोका-ऐसा कहने में आता है। कहो, समझ में आता है ? वह तो रोकने का अर्थ किया।

अब यहाँ कहते हैं, 'संवर लहि सुख अवलोके।' उसमें चौथे पद में बड़ा पद पड़ा है। देखो ! संवर। भगवान आत्मा अपने स्वरूप में चित्त लगाया तो शुभाशुभ परिणाम से चित्त हटाया। चित्त लगाया तो अन्तर में आत्मा में जो अतीन्द्रिय आनन्द है, उसको संवर अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान द्वारा अवलोकन हुआ (कि), यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द है। एक बात। और उसके साथ संवर हुआ तो वर्तमान में अतीन्द्रिय आनन्द का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हुआ, उसका अवलोकन हुआ, शान्ति का वेदन हुआ, उसका नाम संवर कहते हैं। आहा..हा... !

फिर से, फिर से कहते हैं। थोड़ी थोड़ी सूक्ष्म बात है। अनन्तकाल से मूल तत्त्व की बात सुनी नहीं, सुनी नहीं। आहा.. ! समझ में आया ? भगवान आत्मा.. आत्मा अर्थात् क्या ? पूर्ण शान्ति, पूर्ण आनन्द.. शान्ति शब्द (का अर्थ) चारित्र। गुण, समझे ? गुण त्रिकाल। आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन... क्योंकि स्वभाव है ना ? स्वभाव में मर्यादा नहीं होती, मितता नहीं

होती, मित अर्थात् मर्यादा न हो, बेहद ज्ञान, बेहद दर्शन, बेहद आनन्द, बेहद शान्ति, बेहद वीर्य। बेहद प्रभुता। ऐसी एक-एक शक्ति में अनन्त शक्ति-सामर्थ्य (है), ऐसी अनन्त-अनन्त शक्ति का पिंड एक द्रव्य-वस्तु (है)। ऐसे द्रव्य में चित्त लगाया। समझ में आया ? तो कहते हैं कि, आत्मा का आनन्द जो है, उसका ज्ञान से अवलोकन हुआ और एकाग्र हुआ तो जैसा आनन्द है-ऐसा आनन्द पर्याय में भी वर्तमान में प्रत्यक्ष साक्षात्कार-वेदन हुआ। आहा..हा... !

साक्षात्कार क्यों कहा है ? अवलोके का अर्थ-जैसा दुःख का वेदन था वह वेदन करनेवाला तो साक्षात् वेदन करता था न ? मिथ्यात्व में, राग-द्वेष में, विकार में दुःख का वेदन करता था, वह दुःखी है। मिथ्यात्वभाव, राग-द्वेषभाव दुःख है तो वेदन करता था। भान नहीं था। समझ में आया ? यहाँ जहाँ आत्मा में शुभाशुभ परिणाम से, पर उपर से लक्ष्य हटाकर, अपने मूल शुद्ध स्वरूप पर चित्त दिया तो अन्तर में जो आनन्द है, उस आनन्द का अंश प्रगट वर्तमान हुआ, उसके द्वारा सारा आत्मा आनन्दमय है-ऐसा प्रतीति में लिया और वर्तमान अतीन्द्रिय आनन्द का अवलोकन साक्षात् प्रगट है, उसका वेदन हुआ। आहा..हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- अशुभ से तो ठीक परन्तु शुभ से कैसे हटे ?

उत्तर :- शुभ और अशुभ दोनों एक है। छूटना क्या ? शुभ-अशुभ परदिशा, परलक्ष्य से उत्पन्न होता है। अपना लक्ष्य करने में दोनों परलक्ष्यवाला भाव उत्पन्न होता नहीं। शुभ-अशुभ दोनों भाव परलक्ष्य से उत्पन्न होते हैं, स्वलक्ष्य से नहीं। समझ में आया ? अरे.. ! भगवान !

मुमुक्षु :- साक्षात्कार का अर्थ क्या ?

उत्तर :- साक्षात्कार का अर्थ प्रत्यक्ष। आनन्द का प्रत्यक्ष वेदन हुआ। जो आनन्द अन्दर शक्ति में था, आत्मा में अतीन्द्रिय महाआनन्द शक्ति में था, अप्रगट था, वहाँ चित्त दिया तो आनन्द का अंश प्रगट पर्याय में आया, उसका साक्षात्कार किया अर्थात् प्रत्यक्ष वेदन किया। वेदन प्रत्यक्ष किया। वेदन कोई करता है और यहाँ आनन्द प्रगट हुआ है, ऐसा नहीं। प्रगट आनन्दमय सुधारस का स्वाद (आया)। संवर में सुधारस का स्वाद (आया)। यह तो अन्दर की

खोली हुई मर्म की बातें हैं। संवर चीज कोई ऐसी नहीं कि, ऐसे ही संवर हो गया। समझ में आया ?

... पुण्य-पाप के विकल्प का था। ऐसी वस्तु निर्विकल्प चैतन्य का वेदन हुआ-स्वाद आया। क्या (कहा) ? आत्मा के आनन्द का स्वाद आया। इस स्वाद को यहाँ प्रत्यक्ष कहने में आता है, उसको साक्षात्कार कहते हैं। समझे थोड़ा ? यह तो आत्मा की अलौकिक बात है, भैया ! अनन्त काल में उस ओर का प्रयत्न, प्रयोग कैसे करना, वह विधि सुनी ही नहीं। आहा..हा... ! सारा संसार विकार,.. उस विकार संसार से रूचि हटाकर प्रथम में, हाँ ! प्रथम। सारा संसार का अर्थ पुण्य-पापभाव से सारा संसार विकार है।

भगवान आत्मा शान्ति और आनन्द की शिला, आनन्द की-बर्फ की शिला (है)। उसमें जिसने चित्त दिया (तो) पुण्य-पाप का आस्रव जो दुःखरूप था, वह रुक गया, उत्पन्न नहीं हुआ। नया आवरण भी उस प्रकार का रुक गया। आत्मा में अतीन्द्रिय अनाकूल शान्ति का जो स्वभाव था, उसमें चित्त लगाया का अर्थ एकाग्र हुआ। एकाग्र हुआ तो विकार में एकाग्र था वह तो दुःख था। विकार से हटकर चित्त यहाँ लगाया तो आनन्द की पर्याय प्रगट हुई। समझ में आया ? उसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? ढाल लिखा है, देखो न ! आठों कर्म (को ढाल से रोका है)।

‘संवर लहि सुख अवलोके।’ एक शब्द में तो बहुत (भाव) भरा है। गागर में सागर भर दिया है। पहले के पंडित ने बहुत अच्छी बात की है। अभी बहुत गड़बड़ हो गई। (इनको) तो मालूम है न। यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर वीतरागदेव साक्षात् केवलज्ञानी ने कहा हुआ तत्त्व है। समझ में आया ? अनन्त तीर्थकर चले गये, वर्तमान भगवान बिराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र में परमात्मा ‘सीमंधर’ प्रभु आदि तीर्थकर बिराजते हैं। समझ में आया ? जिनके ज्ञान के एक समय में अपनी पर्याय का पूर्ण अवलोगन में लोकालोक का अवलोकन हो गया। अपने एक समय के पूर्ण अवलोकन में... यहाँ आगे कहेंगे। समझे ? इसमें आगे कहते हैं न ? कहीं पर है। कैसे ध्यान रहे ? ‘... शिवमग कह्यो।’ कहीं पर ऐसे शब्द है। मोक्षदशा का वर्णन है। छठी साल का तेरहवाँ श्लोक है।

नलजढलंहल लुक-अलुक गुण-डरकलड डुरतलडलडुडत थडे;

रहल हँ अननुतलननुत कलल, डथल तथल शलव डरलणडे।

१३ वलँ शलुक हँ, हलनुदी डें १७ॡ डनल हँ। हँ ? डैडल ! १३ गलथल डें हँ। छठुी ढलल कल १३ वलँ शलुक। 'नलजढलंहल लुक-अलुक गुण-डरकलड डुरतलडलडुडत थडे;...' डडङुग डें आडल ? आतुडल डें लुक और अलुक डुरतलडलडुडत हु गडे। अडनी ँक डडड डी डूरुण डरुडलड डहुलँ डुरगट हुई (तु) उसडें लुकललुक डुरतुडकुश हु गडल। डहुलँ डेखते हँ (तु) डड डेखते हँ। डडङुग डें आडल ?

नलजढलंहल लुक-अलुक गुण-डरकलड डुरतलडलडुडत थडे;

रहल हँ अननुतलननुत कलल, डथल तथल शलव डरलणडे।

धनल धनुड हँ डे डीव, नरडडव डलड डह कलरक कलडल;

तलनही अनलदल डुरडण डंकडुरकलर तकल वर सुख ललडल॥१३॥

आहल..हल...। डलसने डनुषुडडडव डलकर ँसल आतुडलनुडडव करके केवलकलन डलडल .. डलदल अननुत डलदुध हु गडे। उनकी दशल डें लुकललुक डुडे हुते हँ। लुकललुक ँसे डलननल नहुँ डडुतल। अडनी डरुडलड डें डेखते हँ तु लुकललुक डलनने डें आ डलतल हँ। डडङुग डें आडल ? डैडल ! आहल..हल... !दलडलग डें आ गडल।

कहते हँ, डेखु ! अब अडने डलवलरुथ लेते हँ। 'डडुडगदरुशनलदल दुरलर डलशुडलतुवलदल आसुवर रुकते हँ। शुडुडुडडुडग तथल अशुडुडुडडुडग दुुनुु डनुध के कलरण हँ-ँसल डडुडगदुदुरल डीव डहले से ही डलनतल हँ। डदुडडल डलधक कु नलकली डुडलकल डें शुदुधतल के डलथ अलुड शुडलशुडडडलव हुते हँ;...' डुवडलव डें डलतनी ँकलगुरतल हुई उतनल शुदुध और डुकुश कल डलग, डलतनल शुडलशुड डरलणलड हँ, उतनल डनुध कल डलग डलनते हँ। उसकु डुकुश कल डलग डलनते नहुँ। कडुधलरल और डलनधलरल। डहुलँ डंवर डेदकलन हँ न ? डलतनल कलतुत शुदुध डें ललगलडल और दरुशन, डलन, कलरलतुर कल शुदुधतल हुई, वल डलनधलरल, वल डुकुशधलरल (हँ)। डलतनल रलगलदल रल वल कडुधधलरल, डनुधधलरल। ँक डडड डें डलधक कु दु धलरल हुती हँ। डडङुग डें आडल ?

डुडुकुशु :- डडड ँक ही ?

उत्तर :- समय एक ही है न। आत्मा में शुद्धता प्रगट हुई, इतनी निर्मल संवर, निर्जरा है और जितना राग है उतना बन्ध का कारण है। एक समय में दो है न ! दो न हो तो पूर्ण मोक्ष हो जाये या मिथ्यादृष्टि हो जाये। शुद्धता और अशुद्धता के समय में दो है। जितना आत्मा में शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति प्रगट की, इतनी शुद्धता (है) और जितना अभी राग रहा, मुनि को पँच महाव्रत आदि का विकल्प है, वह विकल्प राग है। विकल्प, राग है, वह अशुद्धता है, बन्ध का कारण है। साधक में कर्मधारा और ज्ञानधारा एक समय में दोनों चलती है। यहाँ साधक की बात चलती है न ? मोक्ष में तो पूर्ण हो गया। मोक्ष में तो (दो) है नहीं, एक ही पूर्णानन्द शुद्धधारा हो गई। सम्यग्दृष्टि तो साधक है न ?

सम्यग्दृष्टि, पाँचवे, छठे सब को दो धारा रहती है। समझ में आया ? यदि पूर्ण शुद्ध हो जाये तो मोक्ष हो जाये और पूर्ण अकेली अशुद्धता हो तो वह तो मिथ्यादृष्टि में है। समझ में आया ? अकेली अशुद्धता, पुण्य-पाप और मिथ्याभ्रान्ति अकेली अशुद्धता (है)। वह तो संसारी, मिथ्यादृष्टि है। अकेली पूर्ण शुद्धता मोक्ष है। जब साधक जीव को मोक्षमार्ग हुआ तो अपने चैतन्य में जितनी एकाग्रता-चित्त लगाया, इतनी शुद्धता है और बाकी रहा राग, इतनी अशुद्धता है। वह अशुद्धता, बन्ध का कारण है; शुद्धता, संवर-निर्जरा का कारण है।

मुमुक्षु :- मिथ्यात्व में दूसरी धारा का अंश..

उत्तर :- मिथ्यात्व में तो एक ही अशुद्ध धारा (है)। यहाँ तो एक ही है। मिथ्यात्व, अज्ञान है। अकेली अशुद्ध धारा है।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- मिथ्यात्व में कहाँ है, वह तो अकेला अज्ञान है। सम्यग्दर्शन में शुद्धधारा और अशुद्धधारा दोनों रहती है। मोक्ष में अकेली शुद्धता (है)। मिथ्यादृष्टि में क्या है ? पुण्य-पाप मेरा है-ऐसा मानता है, उसमें तो अकेली मिथ्यात्व-अशुद्ध धारा ही है। अकेला मिथ्यात्वभाव पड़ा है।

मुमुक्षु :- मन्द कषाय हो तो..

उत्तर :- नहीं, नहीं। मन्द कषा हो या तीव्र कषाय हो, सब कर्मचक्र है। सब मिथ्यात्वभाव, अकेला अशुद्धभाव है।

यहाँ तो कहते हैं, 'निचली भूमिका में शुद्धता के साथ अल्प शुभाशुभभाव होते हैं;...' अर्थात् साथ में होते हैं, ऐसा कहना है। भगवान आत्मा अपना चित्त जितना अन्तर शुद्ध में लगाया, दृष्टि, ज्ञान, स्थिरता (हुई) इतनी शुद्धता (है)। जितनी रागादि अस्थिरता बाकी है, इतनी अशुद्धता (है)। सम्यग्दृष्टि को या मुनि को भी दो धारा है। जितना राग है, इतना बन्ध का कारण है; जितनी स्वभाव की एकाग्रता का शुद्धता है, वह संवर-निर्जरा का कारण है। समझ में आया ?

दोनों बन्ध का कारण है। 'इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा..' देखो ! स्वद्रव्य के (आलम्बन द्वारा अर्थात्) ज्ञानधारा। 'आलम्बन द्वारा जितने अंश में शुद्धता करता है उतने अंश उसे संवर होता है...' जितने अंश में आत्मद्रव्य में चित्त लगाया। एकाकार शुभाशुभ परिणाम से रहित (हुआ) इतना संवर है। 'और वह क्रमशः शुद्धता में वृद्धि करके पूर्ण शुद्धता (संवर) प्राप्त करता है। यह संवर भावना है।' यह संवर भावना हुई। अब निर्जरा (भावना)। सम्यग्दृष्टि जीव निर्जरा भावना भाते हैं। मुनि भी निर्जरा आदि बारह भावना करते हैं।

मुमुक्षु :- संवर प्राप्त करता है और बाद में मोक्ष हो जाता है..

उत्तर :- हाँ, बाद में मोक्ष हो गया न। वह संवर अर्थात् पूर्ण शुद्धता। पूर्ण शुद्धता, पूर्ण चारित्र हो गया, ऐसे लेना। अपूर्ण नहीं रहा। वहाँ 'संवर लही सुख अवलोके।' ऐसा है न ? उसका अर्थ पूर्ण कर दिया।

९- निर्जरा भावना

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना;

तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै ॥११॥

अन्वयार्थ :- जो (निज काल) अपनी-अपनी स्थिति (पाय) पूर्ण होने पर (विधि) कर्म (झरना) खिर जाते हैं (तासों) उससे (निज काज) जीव का धर्मरूपी कार्य (न सरना) नहीं होता; किन्तु (जो) (निर्जरा) (तप करि) आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा (कर्म) कर्मों का (खिपावै) नाश करती है (वह अविपाक अथवा सकाम निर्जरा है। (सोई) वह (शिवसुख) मोक्ष का सुख (दरसाव) दिखलाती है।

भावार्थ :- अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्मों का खिर जाना तो प्रतिसमय अज्ञानी को भी होता है; वह कहीं शुद्धि का कारण नहीं होता। परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य द्वारा अर्थात् आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा जो कर्म खिर जाते हैं, यह अविपाक अथवा सकाम निर्जरा कहलाती है। तदनुसार शुद्धि की वृद्धि होते-होते सम्पूर्ण निर्जरा होती है, तब जीव शिवसुख (सुख की पूर्णतारूप मोक्ष) प्राप्त करता है। ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि जो स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा जो शुद्धि की वृद्धि करता है, वह 'निर्जरा भावना' है ॥११॥

‘निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना;’ (एक मुमुक्षु) बोलते थे न ? ‘निज कार्य न सरना’। ऐ..ई..! तेरापंथ में आता है न ? स्थानकवासी में तेरापंथी है न ? वह कहते हैं, मिथ्यादृष्टि में कुछ भी करे तो ‘निज काज न सरना।’ यहाँ ‘निज काज न सरना’ (आया है)।

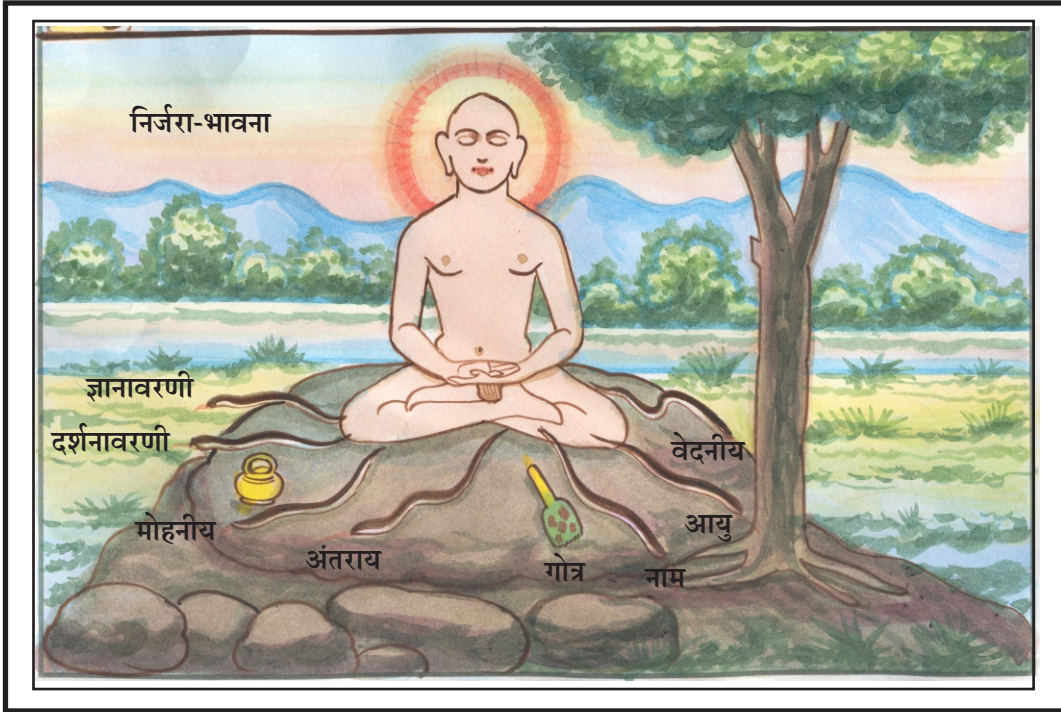
निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना;

तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै॥११॥

उसको शब्दार्थ देखो ! ‘निज काल पाय...’ अपनी-अपनी कर्म की स्थिति पाकर, जो ‘पूर्ण होने पर कर्म खिर जाते हैं, उससे जीव का धर्मरूपी कार्य नहीं होता;...’ क्या कहते हैं ? क्या कहते हैं ? जो कोई अपना पूर्व कर्म बाँधा था, उस बँधे हुए का उदय आया, वह उदय

आया खिर जाता है। समझ में आया ? सविपाक। सविपाकनिर्जरा कहते हैं। क्या कहा ? पूर्व का जो कर्मबन्ध पड़ा है, उदय आकर पाक आया, वह खिर जाता है। देखो ! उसमें लिखा है। देखो ! पक कर खिर जाता है न ? ऐसा अन्दर में लिखा है। पूर्व का कर्म आया, वह खिर जाये, वह तो उसका उदय आया और खिर जाता है। उसमें आत्मा का कोई कार्य सिद्ध होता नहीं। उसमें अपना कुछ लाभ नहीं है। उसमें अपना कार्य नहीं होता। उसमें क्या कार्य हो ? पूर्व का कर्म उदय में आता है, वह खिर जाता है। वह तो प्रत्येक प्राणी को है। निरोग को भी है। एकेन्द्रिय से लेकर मिथ्यादृष्टि आदि सब को पूर्व का कर्म आता है, वह खिर जाता है, उसमें क्या ? आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होता।

‘किन्तु (जो निर्जरा) (तप करि कर्म खिपावे)...’ तप की व्याख्या-स्वरूप का आनन्द अवलम्बन लेकर इच्छा की उत्पत्ति न हो, उसका नाम तप (है)। यहाँ तप अर्थात् ‘प्रतपन इति तपः’ भगवान आत्मा अपनी शुद्ध दृष्टि लगाई है, बाद में विशेष शुद्धता में एकाकार होना,



अतीन्द्रिय आनन्द का पर्याय में शोभित होना (शोभायमान दशा होना), प्रतपत इति। आत्मा उग्र निर्मल पर्याय से शोभित हो, उसका नाम भगवान यथार्थ तप कहते हैं। नीचे आयेगा। देखो ! समझ में आया ? 'प्रतपन इत पत'—ऐसा है। है न ? 'शुद्ध प्रतपन द्वारा कर्म खिर जाते हैं..' देखो ! अन्दर लिखा है। भावार्थ में लिखा है। 'आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा जो कर्म खिर जाते हैं...' भावार्थ में लिखा है। चौथी पंक्ति। और शब्दार्थ में यहाँ है, देखो ! 'आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा...' अकेला प्रतपन नहीं, कायक्लेश आदि नहीं। शुद्ध प्रतपन। भगवान आत्मा अनाकूल आनन्द की जो दृष्टि हुई है, उसमें उग्रता से लीन होकर, प्रयत्न-विशेषरूप से पुरुषार्थ की जागृति स्वभाव की ओर हुई है, उसका नाम तपस्या कहने में आता है। समझ में आया ? बाहर के जो (तप के) १२ प्रकार है, वह तो शुभभाव है। वह तो अनन्तबार किया, उसमें क्या है ? वह तो पूर्व का बन्ध पड़ा है, वह कर्म खपते हैं।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बाद तप लेते हैं न ? पहले संवर में लिया कि, दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ तो रोका। अब तप (लेते हैं)। तप का अर्थ क्या ? जो शुद्धता है, उसमें उग्रता (से) अन्तर में शुद्धता बढ़ी। जैसे सोने में—सुवर्ण में गेरु लगाकर... गेरु होता है न ? गेरु। लाल गेरु। सोने पर गेरु लगता है तो सोना शोभता है, ओपता है, शोभता है, प्रदीप्त होता है, चकचकाट होता है। सोने पर गेरु लगाने से। ऐसे भगवान आत्मा अपने शुद्ध (स्वरूप में) चित्त दिया था, उसमें विशेष एकाग्रतारूपी गेरु लगाया। विशेष शुद्धता में आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का प्रतपन अन्दर हुआ, वह आत्मा की पर्याय में महा उग्र शोभायमान दशा हुई, उसको तप कहते हैं। वह निर्जरा का कारण है। आहा..हा... !

चारित्र से भी तप की विशेष व्याख्या है या नहीं ? चारित्र है स्वरूप में लीनता। दर्शन में प्रतीति, ज्ञान के स्वज्ञेय का भान, चारित्र में लीनता। तप में भी उसकी विशेष उग्रता का नाम तप है। समझ में आया ?

ममुक्षु :- 'महावीर' भगवान ने ऐसा तप किया था।

उत्तर :- ऐसा तप किया था। छह महिने ऐसा किया था, ऐसा नहीं। ऐसा तप भगवान ने अन्दर किया था। अन्दर में ध्यानाग्नि लगाई, ऐसी अग्नि प्रज्वलित (की), आनन्द को प्रज्वलित

करके अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद में उग्र अनुभव करते थे, उसका नाम तप है। तब इच्छा की उत्पत्ति नहीं होती थी। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के अनुभव में (इच्छा नहीं होती थी)। समझ में आया ? लोग कहते हैं कि, बाहर से आहार नहीं लिया, आहार नहीं खाया, वह तप है। ऐसा अनन्तबार किया, उसमें (क्या) आया ? वह तो बाहर की चीज है। परमाणु का आना और जाना, वह तो उसके कारण से है। इच्छा कदाचित् मन्द हुई हो तो वह पुण्य है।

मुमुक्षु :- हजारों बार जाता है तो भी कुछ नहीं होता।

उत्तर :- धर्म एक क्षण में होता है। आया ना ? ‘मुनिव्रत धार अन्तबार ग्रिवक उपजायो।’ पहले आया न ? ‘मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो, पै नजि आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।’ आत्मज्ञान, त्रिगुप्ति में अन्दर रुक गया। मन से, वाणी से, देह से रुककर अन्दर में स्थिर हो गया, (उसमें) एक क्षण में जो शुद्धता प्रगट होती है (और) कर्म का नाश करते हैं। आहा..हा... ! अभी आत्मा की किंमत नहीं, इसलिये यह नहीं खाना, नहीं पीना वह तप, और उस तप से धर्म होगा (-ऐसा मानते हैं)।

मुमुक्षु :- आसान पड़ता है।

उत्तर :- आसान क्या ? राग आसान होता है।

यहाँ तो कहते हैं, ‘आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा कर्मों का नाश करती है (यह अकाम अथवा सकाम निर्जर है)।’ अविपाक निर्जरा। अपने पुरुषार्थ (से) अनुभव करके आनन्द का अनुभव करके जो खिर जाते हैं, उसको अकाम निर्जरा न करके सकाम निर्जरा है और सविपाक नहीं परन्तु वह अविपाक है।

‘यह मोक्ष का सुख दिखलाती है।’ देखो ! संवर में भी लिया। ‘संवर लहि सुख अवलोके।’ यहाँ ‘शिवसुख दरसावै।’ (ऐसा कहा)। निर्जरा करते.. करते.. करते.. करते आनन्द की शुद्धता बढ़ जाये, अतीन्द्रिय आनन्द करते.. करते.. पूर्ण आनन्द हो जाये, उसका नाम मोक्ष (है)। आहा..हा... ! निर्जरा में सुख है, दुःख नहीं, आनन्द है। उपवास करने से कष्ट दिखता है, वह तो आर्तध्यान है।

अन्तर में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में जिसको मालूम नहीं कि इच्छा उत्पन्न

होता है कि नहीं, ऐसे आनन्द में लीन, अतीन्द्रिय में लीन हो जाना उसका नाम तप है। आहा..हा...! समझ में आया ? बाकी तो लंघन है। 'टोडरमलजी' में आया न ? निर्जरा करते-करते शिवसुख को दिखलाती है। वर्तमान में भी निर्जरा सुख दर्शाती है। निर्जरा में भी, जब संवर में सुख का भान है तो निर्जरा में भी सुख की विशेष वृद्धि का भान है। आहा..हा...! समझ में आया ? जब संवर में सुख का साक्षात्कार होता है, तो निर्जरा में विशेष शान्ति का, आनन्द का साक्षात्कार होता है, ऐसा कहते हैं। निर्जरा ऐसी नहीं है कि.. लेकिन तुझे आनन्द वृद्धि हुई या नहीं ? अतीन्द्रिय आनन्द की वृद्धि होना, वह निर्जरा है। शुद्ध उपयोग को निर्जरा कहा है। समझ में आया ?

(यहाँ) कहते हैं, मोक्ष का सुख दर्शावे। (संवर में) अवलोके, यहाँ अधिक दिखाते हैं। संवर में जितना सुख है, उससे निर्जरा में विशेष आनन्द है। उसका नाम निर्जरा कहते हैं। ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि यथार्थपने भाते हैं। (श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



आहा हा ! आनन्दका नाथ परमात्म-स्वरूप आत्मा - यह महा गम्भीर वस्तु है । लोगोंको अपरिचितसा लगता है । जैसे अपरिचित देशमें जायें तो अपरिचितसा अपरिचितसा लगता है । पर बापू ! ये तो भगवानके देशकी बाते हैं, जो इन्हें रुचिसे सुने तो उसके निज-धरकी ही बातें हैं । अपरिचित कुछ नहीं, अपना ही है । अनन्त-अनन्त जन्म-मरणके नाशकी बातें हैं । इसके लिए अभ्यास चाहिए, निवृत्ति चाहिए । लौकिक पढ़ाईमें भी दस-पन्द्रह वर्ष लगाते हैं, तो इसका भी थोड़ा समय निकाल कर अभ्यास करना चाहिए । यह वस्तु गम्भीर है । निश्चय किस प्रकार है, व्यवहार किस प्रकार है, आदि जानना चाहिए । ये तो सर्वज्ञकी जानी और कही हुई बातें हैं, इन्हें रुचिपूर्वक अन्तरमें उतर कर अनुभव करे - तो इसकी महीमा कैसी और कितनी है ! सो खयालमें आए । (परमागमसार-४१६)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल १४, रविवार

दि. ०६-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-११, १२, १३. प्रवचन नं. ४४

‘दौलतरामजी’ कृत ‘छहढाला’। पाँचवी ढाल की ११वीं गाथा है। इसमें सम्यग्दृष्टि, निर्जरा की भावना भाता है। निर्जरा किसे कहना ? और उस निर्जरा की यथार्थ किसे होती है ? जिसे आत्मा... तप से निर्जरा कही है न ? तप कब कहलाता है ? कि पहले आत्मा की राग और शरीर से भिन्न है-ऐसा अपने स्वरूप का शुद्ध सम्यग्ज्ञान हुआ हो; वह उसमें स्थिरता का प्रयत्न करे, उसे तप कहा जाता है। वह वास्तविक तप है। समझ में आया ?

तपना-प्रतपन होना-शोभिता होना। यह आत्मा.. जिसने पहले निजपद की संभाल की है.. समझ में आया ? मेरा स्वरूप.. वीतराग शुद्ध स्वरूप हूँ, पुण्य-पाप के राग रहित मेरी चीज अत्यन्त निर्मल, आनन्द है-ऐसा जहाँ सम्यग्ज्ञान और दर्शन प्रथम हुआ, उसे ऐसी निर्जरा होती है, उसे तप होता है। यहाँ इन्होंने ‘तप’ शब्द का प्रयोग किया है न ? ‘तप करि जो कर्म खिपावै...’ उसे स्वभाव में पुरुषार्थ की उग्रता द्वारा कर्म खिरते हैं। कहो, समझ में आया ? कहते हैं कि कर्म तो अनादि से खिरते हैं। किस प्रकार (खिरते हैं) ? कि-

भावार्थ :- ‘अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्मों का खिर जाना तो प्रत्येक समय अज्ञानी को भी होता है।’ पूर्व में जो कर्म बंधे हुए हैं, उनके उदयकाल में, उनके उदय का समय आये, उस समय पाक होकर-उदय होकर तो खिर जाते हैं। यह तो अनादि से एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चौन्द्रिय, निगोद, अभव्य और भव्य सबको (होता है)। समझ में आया ? यह तो सविपाकनिर्जरा कही जाती है। सविपाक अर्थात् कर्म का उदय होकर खिरना। इसमें कहीं आत्मा को लाभ नहीं है। समझ में आया ?

‘वह कहीं शुद्धि का कारण नहीं होता, परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा...’ चार बोल लिये। पहले ‘तप’ शब्द है सही न ? पहले तो आत्मा उसकी

दृष्टि में, रूचि में पूरा परमानन्द जिसे पोषाया होता है, पोषाता है। पोषाता है अर्थात् ? अब आज तो सादी काठियावाड़ी भाषा हो गयी, कल तो हिन्दी थी न ? आत्मा शुद्ध जिसे पुण्य-पाप का पोषाण नहीं है, जिसे शरीरादिक की क्रिया का भी स्वामीपना नहीं है। एक सहज स्वरूप चैतन्य पूर्ण आनन्द का कन्द आत्मा है, उसका जिसे अन्तर में स्वामीपना, दृष्टिपना प्रगट हुआ है... भाई ! उसे सम्यग्ज्ञानी कहा जाता है। आहा..हा... ! उस सम्यग्ज्ञानी को स्वभाव में उग्र पुरुषार्थ होता है, उसे निर्जरा कहा जाता है।

शुद्धि कि वृद्धि को निर्जरा कहते हैं अथवा शुद्धोपयोग को निर्जरा कहते हैं अथवा अशुद्धता के नाश को निर्जरा कहते हैं अथवा अशुद्धता का निमित्त मिटा, इसलिए कर्म का जितना मिटना होता है, उसे द्रव्यनिर्जरा कहा जाता है। समझ में आया ? निर्जरा के बहुत प्रकार किये। यहाँ भावनिर्जरा की बात है। जिसे विश्वास में पूरा भगवान आत्मा आया है। आहा.. ! समझ में आया ? जिसका भरोसा पुण्य और पाप के भावमें से और शरीर की क्रियामें से उड़ गया है। आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध आनन्दकन्द अनाकुल प्रभु है-ऐसा जिसे अन्तर में ज्ञान, भान होकर भरोसा-प्रतीति उत्पन्न हुई है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, और सम्यग्ज्ञान-वह आत्मा जिसने जाना कि यह आत्मा पवित्र शुद्ध है-ऐसा जो ज्ञान, और उसके साथ स्वरूप में स्थिरता का अंश जो रमणता, रमणता-लीनता (होती है), उसे चारित्र कहते हैं और उस सहित की शुद्धि की वृद्धि को तप कहते हैं। अद्भुत व्याख्या ! समझ में आया कुछ ?

यहाँ 'तप' शब्द है न ? 'निज काल विधि झरना, तासौं निज काज न सरना...' समझ में आया ? यह शब्द तेरापंथी में भी आता है। (एक मुमुक्षु) बारम्बार कहता है। 'निज काज न सरना...' उसका। उसके बदले कहता है कि मिथ्यादृष्टि की क्रिया अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक गया। दया, दान आदि (किये), फिर भी कुछ कार्य नहीं हुआ। फिर किसी समय ऐसा कहता है कि जितने दया, दान आदि के भाव, पर को निभाने आदि के; जो निर्दोष हो वह भगवान की आज्ञा में, ऐसा वह कहता है। दो का अनादि का विरोध है। उसके उसी वचन में विरोध है-ऐसा (एक मुमुक्षु) निकालता था। वहाँ गाँव में बहुत तेरापंथी है न ! यह 'निज कारज न सरना...' वह शब्द उनमें पड़ा है।

अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया। दया, दान, शुभभाव, करुणा, कोमलता बहुत की, परन्तु

वह शुभभाव (थे) । उसमें कहीं निज काज नहीं हुआ । समझ में आया ? वह तो अकामनिर्जरा अथवा सविपाकनिर्जा-फल देकर खिरा, उसका नाम यह सविपाक या अकाम है । सकाम और सविपाक निर्जरा इसे नहीं हुई । समझ में आया ? अविपाक और सविपाक, यह कोई जैन में पड़े हुए को भी पता नहीं पड़ता । जो वीतराग की मूल ईकाई (है, उसका भी पता नहीं पड़ता) ।

आत्मा अन्तर के आत्मा के भान बिना शुभभाव आदि के परिणाम से सहज पूर्वकर्म का उदय आकर खिर जाए अथवा शुभभाव में कोई पाप के रजकण खिरे, वह कोई सच्ची निर्जरा नहीं है । वह वस्तुस्थिति नहीं है, यह तो अनन्तबार ऐसा हो गया है, जिसे सविपाकनिर्जरा अथवा अकामनिर्जरा कहते हैं । यहाँ तो धर्मी को जो निर्जरा होती है, आत्मा के ज्ञानानन्द शुद्ध (स्वरूप) का भान होकर शुद्धि की वृद्धि बढ़े, अशुद्धता घटे, कर्म खिरे और भव घटे-ऐसी दशा को निर्जरा कहा जाता है । समझ में आया ?

कहते हैं कि 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा...' प्रतपन-तपना । उग्र पुरुषार्थ से अन्तर आनन्द के घोलन में, अतीन्द्रिय आनन्द के घोलन में-जहाँ अकेला आनन्द तरवरे.. समझ में आया ? जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द की लज्जत का उग्र स्वाद आये, उसे भगवान शुद्धि की वृद्धि अथवा शुद्धोपयोग अथवा निर्जरा कहते हैं । कहो, भाई !

मुमुक्षु :- सम्यग्दृष्टि को निर्जरा होती है ।

उत्तर :- उसे ही होती है । वह बात तो कही जाती है । यह कहाँ रहते हैं ? भान में कहते हैं । आज वापस सवेरे पुकार करते आये नहीं थे ? मेरे पाप का उदय होगा कि यह रोग आया ? लो ! यह लगाया सीधा ? माना है न कि मुझे आया; हुआ शरीर में और (मानता है कि) मुझे आया । ह कहना किसे ?

मुमुक्षु :- शरीर किसका ?

उत्तर :- शरीर जड़ का ।

मुमुक्षु :- अभी ?

उत्तर :- अभी । अभी (नहीं) तो किसका है यह, आत्मा है यह ? यह तो मिट्टी है । समझ

में आया ?

मुमुक्षु :- यह भाई का नहीं ?

उत्तर :- इनका आत्मा है। इनका यह भाषा कही जाती है। शरीर भी कब इसका था ? और आत्मा का नाम कब था ? आहा..हा... !

मुमुक्षु :- यह मेरा है-ऐसा कहता हूँ, इसलिये दुःख होता है।

उत्तर :- कहता हूँ, इसलिए नहीं, मानता है इसलिए। यह मान रहा है। वह एक काठी था न ? सुना था ? उस काठी को दायें पैर में फोड़ा हुआ, फोड़ा। काठी था। फोड़ा.. फोड़ा... फिर दूसरा भाई बारम्बार पट्टी बाँधे नाई.. नाई.. नाई होता है न ? नाई पट्टी बाँधे और छोड़े, फिर बाँधे, परन्तु ऊ.. ऊ.. करे ऊ.. ऊ.. करे, करते.. करते.. करते.. करते.. महीने-दो महीने में मिट गया। मिट गया और वापस ठीक हो गया तो भी थोड़ी पट्टी बाँध रखे, फिर तो जहाँ पट्टी खोले। वहाँ ऊं.. ऊं.. करे; मिट गया तो भी। फिर एक बार नाई ने पट्टी खोलकर (बायें) पैर में बाँधी, वह पट्टी जहाँ खोले, वहाँ ऊ.. ऊ.. करे, परन्तु क्या है ? कहाँ बाँधी है यह ?

मुमुक्षु :- ऊ.. ऊ... करने की आदत पड़ गयी है ?

उत्तर :- उसे आदत पड़ गयी है। भाई ! वह ऊ.. ऊ.. करने लगा। मिट गया, नाई को पता है कि यह मिट गया है, अब इसे कुछ है नहीं, फिर भी वह पट्टी बाँधे तब ऊ.. ऊ... करता है। फिर वह पट्टी खोलकर दूसरे पैर में-सही पैर में बाँधी, वहाँ जहाँ खोले तो ऊ.. ऊ.. (करे)। परन्तु किस पैर में है यह ? वह फोड़ा तो यहाँ रहा, (वह तो) मिट गया है; यहाँ क्यों शोर मचाता है तू ? हैं... ! किसने बाँधी ? परन्तु बाँधी चाहे जिसने, परन्तु दोष निकाले उसका, किसने बाँधा यह ? परन्तु बाँधा, तुझे अक्ल नहीं यह फोड़ा यहाँ है और तू शोर यहाँ से मचाता है। ऐसे शरीर में फोड़ा और शोर मचाये आत्मा-ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया ? मानता है न ! जड़ की दशा जड़ में वर्तती है, वह आत्मा को स्पर्शती भी नहीं और आत्मा में वर्तती भी नहीं।

मुमुक्षु :- मैं शरीर से भिन्न हूँ-ऐसा भासित ही नहीं हुआ।

उत्तर :- भासित नहीं हुआ, यह तो ठीक, परन्तु ऐसा है। न भासित हो तो भी शरीर की

अवस्था चैतनय में आयी ही नहीं। न माने तो भी शरीर की अवस्था आत्मा में आयी ही नहीं। आयी ही नहीं और माने के मुझे यह हुई है—यह तो मूढ की चीख-पुकार है। भाई ! आज सवेरे पुकारकरके आये वापिस, ऐ..ई.. ! मेरे पाप का उदय ? लो ठीक। इन सबके पुण्य का उदय है।

यहाँ कहते हैं, जिसने ऐसी शरीर की दशा को 'मेरी' मानी है, उसे तो मिथ्यादृष्टिपने में आत्मा का जरा भी लाभ नहीं है। शरीर तो नहीं, परन्तु पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वह भी विकार है, वह मैं नहीं। समझ में आया ? क्योंकि भगवान उसे आस्रव कहते हैं। जैसे शरीर अजीव है, कर्म अजीव है, वाणी अजीव है, ऐसे ही पुण्य और पाप के भाव आस्रव है; अतः आत्मा, आस्रव और अजीव नहीं है। आत्मा, आस्रव और अजीव नहीं है, तब है क्या ? वह आनन्द और चैतन्य की मूर्ति, वह आत्मा है। आ..हा... ! समझ में आया ? ऐसा चैतन्य और आनन्द.. यहाँ तो ज्ञान और आनन्द—दो वस्तु अधिक लेनी है। समझ में आया ?

ज्ञान और आनन्द—यह आत्मा का स्वरूप है। ऐसा जहाँ अन्तर में अपनेपन का अन्तर भरोसा भाव (हुआ कि) भगवान आत्मा मैं हूँ.. ऐसा आया कि उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। उसकी प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं, फिर उसमें स्थिरता हो, उसे चारित्र कहते हैं और फिर उग्र पुरुषार्थ द्वारा आनन्द की विशेष उज्ज्वलता बढ़े, उसे तप कहा जाता है। समझ में आया ? बहुत व्याख्या में अन्तर (है)। यह तो वर्षीतप करे, वहाँ (मानता है कि) उपवास हो गया।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- नहीं, धूल में भी नहीं, वहाँ उपवास कहाँ था वहाँ ? आत्मा के अन्दर में शुद्धता प्रगटे, वह तपस्या है। वैसा लंघन तो अनन्तबार किया। वह तो कहा न ऊपर ? 'निज काज न सरना...' अनन्तबार ऐसे... क्या बारह-बारह महीने के उपवास किये, नौवे ग्रैवेयक गया तब। पहला है—देखो ! 'निज काल पाप विधि झरना, तासौं निज काज न सरना।' है भाई ! ये सब भाई वहाँ सुनने में ये थे वहाँ... तुम सब एक साथ के थे या नहीं वहाँ ? कि, हाँ उपवास करे, उसे निर्जरा होती है। परन्तु उपवास किसका ? रोटियाँ नहीं आयी, उसमें आत्मा को उपवास कहाँ से हो गया ? ये रोटियाँ तो जड़ है और उसमें कदाचित् राग की मन्दता शुभ की हो तो वह पुण्य है। वहाँ धर्म कहाँ से आया ?

धर्म तो पुण्य और पाप के रागरहित, देह की क्रिया के लक्ष्य बिना अकेले चैतन्य के पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से दृष्टि-ज्ञान और स्थिरता हो, उसे धर्म कहा जाता है। समझ में आया ? लक्ष्य अर्थात् ध्येय से। आहा..हा... ! उसे कर्म की निर्जरा होती है अथवा अशुद्धता टलती है और शुद्धता बढ़ती है, उसे सच्ची निर्जरा कहा जाता है।

मुमुक्षु :- भगवान ने यह किया था।

उत्तर :- यह किया था, भगवान ने वह किया नहीं था।

मुमुक्षु :- मासखमण किया था..

उत्तर :- मासखमण की व्याख्या ही मिथ्या है। उन्होंने यह किया था। फिर इतने महीने तक आहार आने का योग नहीं था। लोगों ने यह देखा। अन्तर में यह देखा। अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द में अन्तर लवलीन होने से छह-छह महीने तक आहार लेने की इच्छा ही नहीं आयी, इसका नाम अतीन्द्रिय आनन्द की वृद्धि, इसका नाम तप है। ऐसा तप भगवान ने किया था।

मुमुक्षु :-...

उत्तर :- वे ऐसा मानते थे और जानते थे। अज्ञानी वे रोटियाँ नहीं खाते-ऐसा मानता है। समझ में आया ? दोनों के देखने की दृष्टि में फर्क है।

‘वह अविपाक...’ देखो ! भगवान आत्मा के अन्तर जहाँ शुद्धता भरी है, उसमें दृष्टि न पड़े तो शुद्धता की वृद्धि होगी कैसे ? समझ में आया ? पुण्य-पाप के भाव में शुद्धता पड़ी है ? आहार-पानी जाने-आने में शुद्धता पड़ी है ? शुद्धता तो अन्दर पड़ी है। भगवान चैतन्यमूर्ति निर्विकल्प वीतराग स्वरूप से भरपूर है। उसमें दृष्टि पड़ने पर, उसका ज्ञान होने पर उसमें उग्रता के पुरुषार्थ द्वारा अशुद्धता टलती है और कर्म की निर्जरा शुद्धोपयोग से होती है-ऐसा कहा जाता है। आहा..हा... !

बहुत फेरफार हो गया है न। इस बारह महीने में एक वर्षीतप किया, जाओ ! हो गया (धर्म)। पाँच हजार-दस हजार (खर्च कर डाले)। गृहस्थ मनुष्य होवे ते एक वर्षीतप में (एक) लाख खर्च कर डाले। हो गया धर्म का उद्यापन। धूल में भी नहीं धर्म, सुन न अब। तेरे

लाख क्या करोड़ खर्च कर डाल ने.. राग मन्द होवे तो कदाचित् शुभभाव पुण्य बाँधे। समझ में आया ? धर्म-बरम नहीं, निर्जरा-निर्जरा नहीं।

यहाँ कहते हैं कि अपने आत्मा के प्रतपन द्वारा कर्मों का अथवा अशुद्धता का खिर जाना, वह अविपाक अथवा सकाम निर्जरा कही जाती है। समझ में आया ? 'इस प्रकार शुद्धि की वृद्धि होते होते सम्पूर्ण निर्जरा होती है..' सब पूरा खिर जाता है, ऐसा। 'तब जीव शिवसुख (सुख की पूर्णतारूप मोक्ष) प्राप्त करता है।' पाठ में है न ? 'सोई शिवसुख दरसावै...' वह तो निर्जरा में भी आनन्द-सुख दर्शाता है। निर्जरा में भी आत्मा के अतीन्द्रिय आत्मा के आनन्द का दर्शन होता है और पूर्ण होने पर मोक्ष हो जाता है-ऐसा कहना है। निर्जरा में भी आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अवलोकन प्रत्यक्ष विशेष हो, तब उसे निर्जरा कहते हैं। आहा..हा... ! शिवसुख दर्शावे अर्थात् वहाँ मोक्ष के सुख का अंश दिखता है। निर्जरा में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का वेदन (आता है)। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय है, उसके स्वाद का वेदन (होता है), उसे भगवान निर्जरा कहते हैं। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- यह तो आस्रव को निर्जरा कहता है।

उत्तर :- आस्रव को निर्जरा माने, (वह) मिथ्यात्व का पोषण करता है और मानता है कि हम धर्म करते हैं। वस्तु का पता कहाँ है ? समझ में आया ? (श्रोताओं से) इस ओर थोड़ी जगह है, थोड़ा ऐसा नजदीक आना, बाहर थोड़े बैठे हैं; लड़के बाहर हैं, वे अन्दर आ जाओ। क्या कहा ?

जब आत्मा में निर्जरा अर्थात् शुद्धि की वृद्धि होती है, तब आनन्द की वृद्धि का दर्शन अन्दर में विशेष होता है। आहा..हा... ! अतीन्द्रिय आनन्द (विशेष आये), उसे भगवान तपस्या कहते हैं, बाकी सब को तो लंघन कहते हैं।

मुमुक्षु :- तो फिर वर्षीतप करने का हेतु क्या ?

उत्तर :- वह तो यह सब अज्ञान में, जगत में मान मिले और कुछ धर्म होगा-ऐसी मान्यता, मान्यता। वहाँ धर्म था कब ? दुनिया के लोग महिमा करे, घर में स्त्री हो, कुछ अन्य हो, विधवा हो, पैसा हो घर में.. हो पचास हजार खर्च करे। पति की उम्र बड़ी हो गयी है, स्वयं छोटी हो और उसमें उपवास करे तो फिर प्रसन्न करे, पाँच हजार खर्च करके, दस हजार खर्च करके-लहर करे।

समझ में आया ?

मुमुक्षु :- रूढ़ि अनुसार उपदेश..

उत्तर :- यह तो अनादि की रूढ़ि का उपदेश है, सत्य नहीं।

आत्मा के अन्तर सन्मुख के भान बिना जितना क्रियाकाण्ड का मन्दराग होता है, उसमें आत्मा को कुछ लाभ नहीं है। पुण्य बाँधे, पुण्यभाव होवे, बाँधे, बन्धन प्राप्त करे। उसमें से स्वर्गादिक में (जाए)। यह तो अभी ऐसा पुण्य कहाँ करता है ? यह तो मान और सम्मान रूचे और मर जाए.. बहुत पुण्य होवे तो स्वर्ग में जाए, वहाँ से मरकर पशु होवे, पशु होकर नरक में जाए। उसमें दूसरा कुछ है नहीं। समझ में आया ? कठिन बात है, भाई !

अनन्तकाल.. यहाँ कहा न ? 'निजकाल पाप विधि झरना...' यह तो 'निज काज न सरना...' वह तो उसके उदयकाल में खिर गया। उसमें आत्मा को कोई लाभ है नहीं। 'तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै।' लो। 'ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के अवलम्बन द्वारा...' अन्तर में स्वद्रव्य का अवलम्बन लेकर, अन्तर्मुख होकर और 'शुद्धि की वृद्धि करता है वह निर्जरा भावना है।' उसे शुद्धि बढ़ती है। निर्जरा की भावना करने से, शुद्ध स्वभाव की एकाग्रता करने से शुद्धता बढ़े, उसे निर्जरा कहते हैं। यह नौवीं (भावना) कही।

१०-लोक भावना

किनहू न करो न धरै को, षड्रव्यमय न हरै को;

सो लोकमांहि बिन समता, दुःख सहै जीव नित भ्रमता ॥१२॥

अन्वयार्थ :- इस लोक को (किनहू) किसीने (न करौ) बनाया नहीं है, (को) किसीने (न धरै) टिका नहीं रखा है, (को) कोप (न हरे) नाश नहीं कर सकता; (और यह लोक) (षड्रव्यमयी) छह प्रकार के द्रव्यस्वरूप है-छह द्रव्यों से परिपूर्ण है (सो) ऐसे (लोकमांहि) लोक में (बिन समता) वीतरागी समता बिना (नित) सदैव (भ्रमता) भटकता हुआ (जीव) जीव (दुख सह) दुःख सहन करता है।

भावार्थ :- ब्रह्मा आदि किसीने इस लो को बनाया नहीं है; विष्णु या शेषनाग आदि किसीने इसे टिका नहीं रखा है तथा महादेव आदि किसीसे यह नष्ट नहीं होता; किंतु यह छह द्रव्यमय लोक स्वयं से अनादि अनन्त है; छहों द्रव्य नित्य स्व-स्वरूप से स्थित रहकर निरन्तर अपनी नई-नई पर्यायों (अवस्थाओं) से उत्पाद-व्ययरूप परिणामन करते रहते हैं। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अधिकार नहीं है; यह छह द्रव्यस्वरूप लोक, वह मेरा स्वरूप नहीं है, वह मुझसे त्रिकाल भिन्न है, मैं उससे भिन्न हूँ, मेरा शाश्वत चैतन्य-लोक ही मेरा स्वरूप है-ऐसा धर्मी जीव विचार करता है और स्वोन्मुखता द्वारा विषमता मिटाकर, साम्यभाव-वीतरागता बढाने का अभ्यास करता है, यह 'लोक भावना' है ॥१२॥

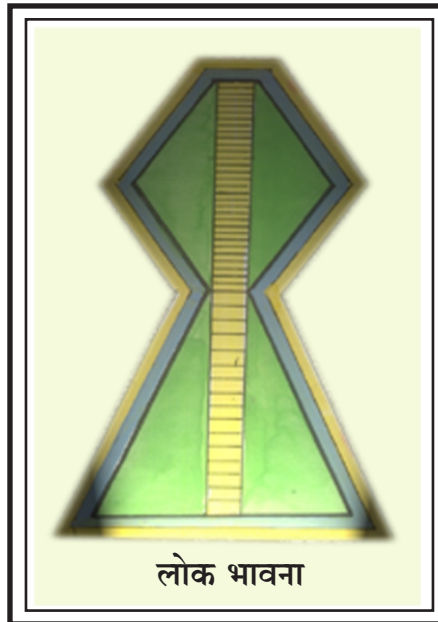
दसवीं लोक भावना। सम्यग्दृष्टि जगत के तत्त्वों का विचार करके लोकभावना भाता है।

किनहू न करो न धरै को, षडद्रव्यमयी न हरै को;

सो लोकमांहि बिन समता, दुःख सहै जीव नित भ्रमता ॥१२॥

देखो ! यहाँ (इस) शब्द (पर) विशेष (वजन) है। बिन समता अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान को समता कहा जाता है।

यह लोक चौदह ब्रह्माण्ड है। चौदह ब्रह्माण्ड खड़े पुरुष के आकार सर्वज्ञ परमेश्वर भगवान तीर्थकर ने देखा है। लोक-ऐसे (कमर के ऊपर) हाथ रखकर मनुष्य खड़ा हो, उसका घेरा आवे ऐसा लोक की दिखावट है। चौदह राजू-ब्रह्माण्ड की। ऊर्ध्व में मोक्ष और स्वर्ग है, मध्य में मनुष्य और पशु है, अधो में नारकी है। ऐसा लोक 'किसी ने बनाया नहीं है।' वह बनाया नहीं है। उसका कोई कर्ता नहीं है। वह अनादि वस्तु है। समझ में आया ? सर्वज्ञ के ज्ञान में (ऐसा



आया है)। अनादि से अनन्त सर्वज्ञ होते आये हैं। उन विज्ञानियों ने छहद्रव्य ऐसे के ऐसे अनादि से लोक देखा है। ऐसा का ऐसा लोक है। किसी ने बनाया नहीं। उसका कोई कर्ता नहीं। कोई ब्रह्मा उसका कर्ता है (-ऐसा नहीं)। क्या होगा ? भाई ! (कोई) कर्ता नहीं।

‘किसी ने टिका नहीं रखा है...’ कहते हैं न, नाग और क्या शेषनाग टिकाता है, विष्णु टिकाता है-सब गप बात है, मिथ्या है। अनादि-अनन्त छह द्रव्यों का लोक ऐसा का ऐसा अनादि से भरा है। अनादि से छह द्रव्य हैं। अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणुओं अनादि से ऐसे हैं। उनका आकार चौदह ब्रह्माण्ड में पुरुष प्रमाण है, उसे किसीने किया नहीं है। ईश्वर-बिश्वर कोई कर्ता नहीं है, विष्णु उसे टिका रखनेवाला नहीं है। समझ में आया ?

‘कोई नाश नहीं कर सकता...’ कहते हैं न, महादेव नाश करता है। कोई नाश नहीं करता, ऐसा का ऐसा अनादि है। लो ! ‘षट्द्रव्यमयी-छह द्रव्य स्वरूप है-छह द्रव्यों से भरा है।’ जगत के अन्दर छह द्रव्य है। आत्मा के ज्ञान की एक समय की पर्याय में छह द्रव्यों की श्रद्धा करने की, जानने की ताकत है। समझ में आया ? यह आत्मा, उसके अनन्त गुण, उसका एक ज्ञानगुण, उसकी एक समय की एक पर्याय, उसमें छह द्रव्य है-ऐसा जानने की एक समय की पर्याय की पूर्णता है-ऐसा माना। पूरा द्रव्य तो अभी एक ओर रह गया। समझ में आया ? एक समय की पर्याय की ताकत इतनी है कि छह द्रव्य ऐसे के ऐसे हैं; छह द्रव्य अनादि-अनन्त किसी ने किये नहीं है, किसी ने टिकाये नहीं है, किसी से उनका अभाव व्यय नहीं होता है। (-ऐसा जाने) समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ऐसा होने पर भी...

उत्तर :- फिर भी भान नहीं होता। वह कहते हैं न, अभी कहते हैं। ‘बिन समता’। सम्यग्ज्ञान बिना ‘बिन समता’ शब्द इसमें पड़ा है, देखो ! अर्थात् वीतरागी समता के बिना, वीतरागी अर्थात् अन्तर दृष्टि-चैतन्य में ज्ञाता-दृष्टा हूँ। ज्ञाता-दृष्टा के भान बिना इसने चौरासी के अवतार अनन्तबार किये हैं। समझ में आया ? ओ..हो..हो... !

‘षट् द्रव्यमयी लोक में वीतरागी समता बिना...’ इस समता का अर्थ ही यह है-वीतरागी दृष्टि। सम्पूर्ण आत्मा शुद्ध परमानन्द, वह षट्द्रव्य को और अपने को जानने-देखने के ही

स्वभाववाला है। किसी का-पर का करनेवाला नहीं और अपने राग का भी करनेवाला नहीं-ऐसा उसका स्वरूप है। दूसरे, आत्मा के अलावा जो छह है-अनन्त आत्मायें और सब, उनका भी कर्ता नहीं और आत्मा में होते राग का भी कर्ता नहीं-ऐसी कर्ता बिना की जो ज्ञाता की समता, ऐसे ज्ञाता-दृष्टा के भान बिना चौरासी लाख के अवतार में अनन्तबार कोई स्थान जन्म और मरण के बिना बाकी नहीं रहा। चौरासी के अवतार में एक-एक स्थान में अनन्तबार अवतरित हुआ। समझ में आया ? समझे ? भाई ! यह पहले ऐसा नहीं, ऐसा तो पूर्व मनुष्यपने में अनन्तबार हो गया है।

मुमुक्षु :- अज्ञानता में समझ में नहीं आता न ।

उत्तर :- समझना है या नहीं ? उस अज्ञानता को मिटाने के लिए यह कहा जाता है या रखने के लिए कहा जाता है ? समझ में आया ? आहा..हा... ! यह नरक की वेदना, यह नरक की वेदना... यहाँ पाप करके नरक में गया, उसकी वेदना, यह अनुभव उसको भगवान जानते हैं। उस वेदना में आत्मा का भान कर सकता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? उसमें अन्दर में पड़ा और वेदना इतनी, सब बाँधे हुए और मार.. मार.. सिर पर ... ओ..हो.. ! यही स्थिति होगी ऐसी की ऐसी, यह क्या ? उसमें अन्दर स्मृति आ जाती है। अहो.. ! हमें ज्ञानियों ने कहा था कि तुम तो आत्मा हो और शुद्ध चिदानन्द ज्ञाता हो। ऐसी अन्दर स्मृति आने पर (गुलांट मारता है)। अकेली पीड़ा वह अभी यदि मनुष्य देखे तो देख सके नहीं-इतनी पीड़ा। उसकी एक अग्नि की चिंगारी यहाँ इतना लाओ तो आसपास के अनेक योजन के मनुष्य उसे स्पर्श बिना मर जाए-इतना आताप लगे। वहाँ यह असंख्य अरब वर्ष रहा। ऐसे अनन्तबार, एक बार नहीं, ऐसा अनन्तबार (हुआ)। इस आत्मा के सम्यग्दर्शन के भान बिना.. और ऐसे स्थल में भी अन्दर ऐसी गुलांट खाता है। ओ..हो... ! यह पीड़ा किसे ? कहाँ ? यह क्या है ? ऐस चैतन्य को अन्तर में देखने पर स्वरूप का भान (होकर) ऐसी पीड़ा के फल में आनन्द का भान हो जाता है। आत्मा ऐसा उग्र पुरुषार्थ पीड़ा के स्थल में भी करता है। समझ में आया ? यहाँ कहाँ थी पीड़ा ? धूल में भी नहीं अब।

कहते हैं, आत्मा की दृष्टि के बिना.. मैं ज्ञायक चैतन्य, जगत का जानने-देखनेवाला हूँ; राग का भी करनेवाला नहीं, शुभराग का कर्ता भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि कर्ता माने, उसने विकारस्वरूप ही आत्मा को माना है। मैं ज्ञान हूँ, स्वसंवेदन से ज्ञात होऊँ ऐसा हूँ। 'स्वानुभूत्या चकासते' मेरे

अन्तर की अनुभव की क्रिया से मेरी प्रसिद्धि होती है, राग और शरीर की क्रिया से नहीं-ऐसा स्व का भान नरक में भी करता है, स्वर्ग में भी करता है। समझ में आया ? परन्तु भान बिना इसने 'वीतरागी समता के बिना...' भाषा कैसी रखी है इन्होंने ? वीतरागी दृष्टि, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी शान्ति अर्थात् आत्मदृष्टि, आत्मज्ञान और आत्मशान्ति के बिना 'हंमेशा भटकता हुआ जीव दुःख सहन करता है।' देखो ! यहाँ तो स्वर्ग में भी दुःख सहन करता है-ऐसा कहा है। जीव हंमेशा दुःख सहन करता है। इसका अर्थ क्या हुआ ? सेठपने में, राजा में और स्वर्ग में दुःख ही है-ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- स्वर्ग में क्या दुःख होगा ?

उत्तर :- दुःख है, यह कहते हैं। उसे उस शरीर में ... है, वह दुःख है। वह दुःख किसने कहा ? अन्दर आकुलता की होली सुलगती है, वह दुःखी है। वह आकुलता, स्वर्ग में भी आकुलता करता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? दूसरी भाषा में कहें तो आत्मा की दृष्टि बिना सब पंच महाव्रत के परिणाम पालन किये, वह दुःख को पालन किया था, दुःखी है-ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! भाई ! आहा.. ! देखो ! 'हंमेशा भटकता हुआ जीव, दुःख सहन करता है।' उसका अर्थ क्या हुआ ? समझ में आया ? अपने उसमें आया नहीं था ?

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो;

पै निज आत्मज्ञान बिना, सुख लेश न पायो ॥५॥

यह ज्ञान, दूसरा आयेगा अब। समझ में आया ? दूसरा आयेगा। बोधिदुर्लभ में-सम्यग्ज्ञान बिना, वह सम्यग्ज्ञान बिना (कहेंगे) समझ में आया ? 'पै सम्यग्ज्ञान न लाघौ...' वह तो पहले आ गया। समझ में आया ? उसका अर्थ कि आत्मा अन्तःस्वरूप के सम्यग्दर्शन-ज्ञान के भान बिना जितना इसने किया और (उसके) फल में गया, वह सब इसे दुःखरूप का ही वेदन था। अव्रत के परिणाम में था तो भी दुःखी और आत्मा के भान बिना व्रत के शुभपरिणाम में था तो भी दुःखी था, क्योंकि शुभभाव, वह आकुलता और दुःख है। इसने अनन्तकाल में दुःख ही भोगा है। भाई ! आहा..हा... ! देखो न ! क्या कहा ?

'बिना समता दुःख सहै जीव नित भ्रमता...' कि नित्य भ्रम में कोई नरक या पशु ही दो

रखे हैं ? मनुष्य, देव.. अनन्तबार त्यागी हुआ, मुनि हुआ-आत्मा के भान बिना। इस आत्मा के भान बिना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना जितने महीने-महीने के अपवास किये, महाव्रत के परिणाम किये-वे सब दुःखरूप परिणाम थे। है इसमें ? देखो ! भाई ! सेठी भी दुःखी है-यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आकुलता करते हैं, इसलिए (दुःखी है)। भाई ! अब यह (जीव) कल्पना करे कि मैं दुःखी हूँ और यह सुखी है।

मुमुक्षु :- कहाँ दुःख है ?

उत्तर :- पैसेवाले-निरोगी सुखी। यहाँ तो कहते हैं कि महाव्रत के धरनेवाले भी दुःखी हैं, तुझे भान नहीं है, सुन न ! आत्मा के ज्ञान बिना अकेले महाव्रत के परिणाम, वह तो शुभराग है। यह राग है, वह दुःख है, वह दुःखी है। तेरी दृष्टि और देखने में फर्क है। समझ में आया ? मेरे थोड़ा-सा दुःख, उसे सुख, उसे अच्छा है, उसे अच्छा है। यहाँ तो कहते हैं कि निरोग शरीर, इतना निरोग कि जिसमें रोग पूर्व में आया नहीं, अभी है नहीं और आने की तैयारी नहीं-इतना निरोगी शरीर... और जिसके पंच महाव्रत के शुभपरिणाम-अहिंसा, सत्य, दत्त, (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भाव (पालन करता है), परन्तु मिथ्यादृष्टि है-आत्मा का भान नहीं है, इसलिए वह दुःखी है-ऐसा तू देख-यहाँ तो यह कहते हैं। ठीक ?

‘जीव दुःख सहन करता है।’ देखो न ! यह तो गागर में सागर भर दिया है। ‘छहाढाला’ हिन्दी है, सारी हिन्दी। दिगम्बर में तो बहुत-सों को कंठस्थ होती है, परन्तु अर्थ नहीं समझते। ‘लोकमांहि बिन समता...’ एक भगवान आत्मा, जो आनन्दस्वरूप है, उसकी दृष्टि समता, सम्यग्दर्शन अर्थात् वह समता-सम्यग्दर्शन है। सम्यग्ज्ञान वह समता-स्वभाव है। चारित्र भी वह समभाव है। ऐसे आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान और शान्ति बिना इसने अनन्त (भवों में) जितना किया, जिसके फल में स्वर्ग आदि में गया, बड़ा सेठ हुआ-वह सब दुःखी ही थे, दुःख ही भोगे हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- स्थायी दुःख नहीं।

उत्तर :- कायम है-ऐसा यहाँ कहते हैं। इसे भान कहाँ है ? सदा विकार की वृत्तियाँ खड़ी होती है, यही इसे दुःख है। कायम-चौबीस घण्टे निरन्तर.. आहा..हा... ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा निर्विकारी सच्चिदानन्द प्रभु का आश्रय लिये बिना अनादिकाल से जितना परद्रव्य के आश्रय से शुभाशुभभाव करता है, वह सब अकेला निरन्तर चौबीस घण्टे इसे दुःख ही है।

मुमुक्षु :- आश्वासन देनेवाला होगा न कोई ?

उत्तर :- अब आश्वासन देनेवाला भी मूढ है। उसे भान कब है ? दोनों समान-समान है।

मुमुक्षु :- तो सुखी को ढूँढना पड़ेगा न।

उत्तर :- सुखी सम्यग्दृष्टि। 'एक सुखिया जगत में सन्त, दुरीजन दुखिया रे...' सुखिया जगत में सन्त-सम्यग्दृष्टि सुखी है। समझ में आया ? जिसे आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप भगवान का अन्तर भान होकर आनन्द का आंशिक आनन्द वेदन आया, वह एक सुखी (है)। बाकी सब दुःखी है। हजारों रानियाँ छोड़कर साधु हुआ हो, परन्तु सम्यग्ज्ञान-भान बिना वह दुःखी, दुःखी और दुःखी है। आहा..हा... ! समझ में आया ? नज़र की फर्क की बात है, भाई ! यह तो चौबीस घण्टे अखण्ड धारा से.. आत्मा के आनन्द की जो धारा है, उसका जहाँ भान नहीं, वह अखण्डधारा से पुण्य-पाप के विकार से आकुलता और दुःख को ही भोगता है, उसे एक समय भी शान्ति है ही नहीं। ठीक है ? आहा..हा... ! क्या कहा इसमें ? इसमें समझ में आया या नहीं ?

मुमुक्षु :- ध्यान में बैठे तो शान्ति होती है न ?

उत्तर :- ध्यान किसे कहना ? अन्दर राग में राग का विकल्प करता हो तो अकेला वह ध्यान दुःखरूप है, आर्तध्यान है, वह दुःखी है। आहा..हा... ! कहो भाई ! चौबीस घण्टे ? निश्चिन्त ऐसा सोता है न ! श्रीखण्ड, पुरी खाये और अरबी के भुजिये (खाता हो), कहते हैं कि वहाँ सुखी या दुःखी ? वह दुःखी है। अकेला दुःखी, पूर्ण दुःखी है। भाई ! कैसे होगा ? पैसेवाले को पीछे करता होगा ? यहाँ तो महाव्रतवाले को पीछे नहीं करते, फिर दूसरे कहाँ रहे ? आहा..हा... ! व्रत और अव्रत के दोनों परिणाम विकार है। भगवान आत्मा निर्विकारी स्वरूप है। उसकी अन्तरदृष्टि बिना निरन्तर शुभ और अशुभभाव का करनेवाला, वह दुःखी..दुःखी.. एकान्त दुःखी है। समझ में आया ? यह नज़र कठिन।

मुमुक्षु :-...

उत्तर :- ये सुख-दुःख टिकते नहीं, संयोग टिकते नहीं-ऐसा कहते हैं यह; परन्तु अन्दर कल्पना की धारा तो कायम चलती है। उसका भान कब था इसे ? समझ में आया ? 'कर्म ने.. घड़ीया आता है न ? दमयन्ती में आता है। आता है न, सब सुना है, पढा था, बहुत अधिक था न ? 'सुख-दुःख मन में न आणिये, घट साथे रे घड़िया'-यह तो बाहर के संयोग की बात करते हैं; परन्तु जिसे आत्मा का पता नहीं, आत्मा आनन्दमूर्ति है, अकेला आनन्द का सागर है-ऐसी जहाँ अन्तरदृष्टि नहीं, वे सब जीव-एक साहूकार, गरीब, रंक, नारकी, चींटी, कौआ, कंथवा, हाथी और स्वर्ग का देव और मनुष्य, आत्मज्ञान रहित पंच महाव्रत धरनेवाला द्रव्यलिंगी साधु-एक ही धारा से दुःखी.. दुःखी.. और दुःखी है। आहा.. ! समझ में आया ? यह सब तो दुःखी (सिद्ध किये)। ये अकेला दुःखी नहीं, बहुतों को दुःखी सिद्ध किया। आहा..हा... !

यहाँ तो देखो न, क्या कहा ? 'सो लोक मांहि बिन समता, दुःख सहे जीव नित भ्रमता.. नित भ्रमता' इसे किसी भी अवतार में जरा भी सुख का अंश नहीं है, क्योंकि इसने सुखस्वरूप भगवान आत्मा की नज़र नहीं की है। नज़र किये बिनावाले बंध गये मिथ्यात्वभाव में, उसके शुभ और अशुभभाव में भी दुःखी है। कहो, ठीक है ? यह भगवान ऐसा कहते हैं। परमेश्वर तीन लोक के नाथ तीर्थकरदेव, जिन्हें एक समय में तीन काल का ज्ञान था, वे परमेश्वर, सौ इन्द्रों की उपस्थिति में दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा फरमाते थे।

भाई ! भगवान आनन्द का सागर है न प्रभु ! तेरी शान्ति समाप्त न हो ऐसी शान्ति है। ऐसे शान्तिस्वरूप भगवान की सन्मुखता के पक्ष में चढ़े बिना जितने पर पहलू से खड़े हैं, वे शुभभाव करते हों, अशुभभाव करते हों, त्यागी दिखते हों, भोगी दिखते हों-वे सब दुःखी.. दुःखी.. चौबीसों घण्टे दुःखी हैं। भाई ! कैसा होगा यह ? परन्तु कैसे किस प्रकार मापना ? मापना कहा न ? कि सुखस्वरूप अर्थात् निर्विकारी भगवान आत्मा।

सुखस्वरूप अर्थात् भगवान आत्मा। वह नरक में स्थित सम्यग्दृष्टि जीव भी सुख भोगता है। समझ में आया ? वह सम्यग्दृष्टि नरक में स्थित (तो भी) आत्मा का सुख भोगता है और मनुष्यपने में हजारों लोग ऐसे वन में आदर करते हो, त्यागी दिखे, पंच महाव्रत धारी दिखे...

समझ में आया ? परन्तु जिसकी दृष्टि राग और विकल्प पर पड़ी है और चैतन्य पर नहीं है, वह दुःखी.. वर्तमान दुःखी है, (सम्यग्दृष्टि) नारकी वर्तमान सुखी है। आहा..हा..! भाई ! माप किस प्रकार करना ? भाई ! स्व के पक्ष में नहीं चढ़े, व सब जीव पर के पड़खे खड़े हैं। असंख्य अशुभभाव और असंख्य शुभभाव, उन किसी भी भाव में खड़े हैं, वे सब दुःख का ही वेदन करते हैं। निरन्तर चौबीस घण्टे नहीं परन्तु अनादि जबतक सम्यक् प्राप्त न करे.. समझ में आया ? आत्मा की दृष्टि न करे, तब तक निरन्तर निगोद से लेकर नौवे ग्रैवेयक (तक) मिथ्यादृष्टि गया, निरन्तर दुःखी है। कहो, भाई ! यह अद्भुत बात कहते हैं।

राम.. राम.. राम.. राम.. राम.. राम.. ॐ.. ॐ.. ॐ.. ॐ... ॐ... ॐ.. महावीर ॐ.. महावीर ॐ.. महावीर ॐ.. महावीर ॐ... कहते हैं कि यह महावीर.. महावीर करे, वह राग है, वह दुःखी है। राग रहित चीज आत्मा की दृष्टि किये बिना वह दुःखी है। कहो, भाई ! अद्भुत व्याख्या, भाई ! यह कहते हैं, रविवार को होली नहीं सुलगाई जाती। हुतासनी है न ? क्या कहलाता है ? हुतासनी न ? आज कितने ही हुतासनी नहीं जलाते। रविवार है सही न, वहम पडता है। रविवार को होली नहीं जलाते। यह तो अनादि से सुलगता है, कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु जिसकी अन्तर खान में अनाकुल आनन्द का महासागर भरा है। ऐसे आत्मा की अन्तरसन्मुख की दृष्टि किये बिना, जितने प्राणी भोगी, त्यागी, रोगी, निरोगी, स्वर्गीय, नरकीय, सेठई और भिखारी-सब चौबीसों घण्टे दुःखी.. दुःखी.. और दुःखी हैं। ठीक है ?

बात में यह बात है, पूरे लोक का वर्णन है न ? भाई ! इस लोक के अन्दर छह द्रव्य भरे हैं। तेरे स्वरूप के भान बिना तुझे किसी स्थान में, किसी काल में, स्वरूप के भान बिना के भाव में कहीं सुख नहीं है। समझ में आया ? आहा..हा... ! कहो ! बात तो जँचे ऐसी है या नहीं यह ? 'भटकता हुआ जीव दुःख सहन करता है।'

भावार्थ :- 'ब्रह्मा आदि किसीने इस लोक को बनाया नहीं है; विष्णु या शेषनाग आदि किसी ने इसे टिका नहीं रखा है तथा महादेव आदि किसी से यह नष्ट नहीं होता, किन्तु यह

छहद्रव्यमय लोक स्वयं से ही अनादि अनन्त है। छहों द्रव्य नित्य स्व-स्वरूप में स्थित रहकर निरन्तर अपनी नयी-नयी पर्यायों (अवस्थाओं) से उत्पाद-व्ययरूप परिणामन करते हैं। 'देखो ! प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही अनन्त गुण की अवस्था से प्रति समय उत्पन्न होता है। उसे दूसरा द्रव्य उत्पन्न नहीं कर सकता। दूसरा कर्ता नहीं है; ऐसे ही दूसरा द्रव्य भी इसकी पर्याय को उत्पन्न नहीं करता।

जितने द्रव्य अनन्त हैं, उनकी प्रति समय की अवस्था वह द्रव्य स्वयं उत्पन्न करता है। उस उत्पन्न करनेवाले द्रव्य को कोई कर्ता नहीं है। समझ में आया ? इस द्रव्य को दूसरा द्रव्य कर्ता नहीं और इस द्रव्य की पर्याय में दूसरा कर्ता नहीं। ईश्वर कर्ता नहीं—ऐसा मानना और फिर कहे कि यह दूसरा द्रव्य इसका कर्ता है, यह तो वही का वही हुआ। आहा..हा... ! अरे.. ! भगवान ! क्या हो ? नयी-नयी पर्यायें प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक रजकण में, प्रत्येक आत्मा में, अनन्त में... अनन्त परमाणु में प्रत्येक में जितने अनन्त गुण हैं, उतनी ही एक समय में नयी अवस्था की उत्पत्ति का स्वकाल उसे होता ही है। वह स्वयं के कारण उत्पन्न होती है और स्वयं के कारण पूर्व की अवस्था से व्यय होता है और ध्रुवपना कायम रखती है।

'एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अधिकार नहीं है।' जैसे छह द्रव्यों में—लोक में ईश्वर का अधिकार नहीं है कि ईश्वर करे; वैसे एक वस्तु में, उसकी पर्याय में दूसरे द्रव्य का अधिकार नहीं है। आहा..हा... ! दूसरे का भला-बुरा कर सके—ऐसा दूसरे द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अधिकार नहीं है।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह तो अपनी भावना की श्रद्धा में देखता है। यह बात हो गयी है। यह संसारी-जीव के लिये है, हाँ ! भगवान के लिये नहीं। यह तो भक्ति है या नहीं ? भव के भय का वेदन करनेवाले... भगवान आत्मा के इस भव का भेदन करनेवाले... भगवान आत्मा के इस भव का भेदन करनेवाले.. हाँ ! भगवान नहीं, भगवान तो.. रात्रि में बात हुई थी न ? वहाँ तो मानते हैं और श्रद्धा है वहाँ ! श्रद्धा का विषय है, भगवान की श्रद्धा का विषय है। व्यवहार सम्यक्त्व। वे भगवान कैसे ? भव के भय का (भेदन करनेवाले हैं)। वे उत्पाद करनेवाले द्रव्य का कोई कर्ता नहीं है। समझ में आया ?

‘यह छहद्रव्यस्वरूप लोक, वह मेरा स्वरूप नहीं है। वह मुझसे त्रिकाल भिन्न है....’ मेरे आत्मा से अनन्त आत्मायें, ये देव-गुरु-शास्त्र भी इससे भिन्न हैं-ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! आहा.. ! स्त्री, पुत्र का आत्मा और उनके शरीर तो त्रिकाल अत्यन्त भिन्न हैं। कोई किसी की दशा को कोई कर नहीं सकता। ‘मैं उनसे भिन्न हूँ। मेरा शाश्वत चैतन्यलोक ही मेरा स्वरूप है।’ चैतन्यस्वरूप जो ध्रुव नित्य अनादि-अनन्त चैतन्यस्वभाव भगवान आत्मा, वह आत्मा का लोक है। वह अनादि है। उस लोक को किसी ने बनाया नहीं है और उसका कभी नाश नहीं होता। भगवान चैतन्यमूर्ति प्रभु ! ‘ऐसा धर्मी जीव विचार करता है।’ लो ! समझ में आया ?

‘और स्वसन्मुखता द्वारा...’ परसन्मुखपने तो अनन्तबार किया, परन्तु वास्तविक निर्जरा भावना कब कहलाती है ? उनसे भिन्न हूँ-जगत के छह द्रव्य-अनन्त हैं, उनसे भिन्न हूँ और पृथक् की पृथक्ता की भावना में ऐसी भावना करे तो ‘विषमता मिटाकर...’ समता कही थी न ? ‘साम्यभाव-वीतरागता बढ़ाने का अभ्यास करता है, (वह लोक भावना है)।’ ऐसा। कहा था न ? ‘बिन समता।’-बिन समता बिना किया और आत्मा स्थिर हो तो समता बढ़े। स्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान बिना छहद्रव्य (स्वरूप) लोक में भटका है। उस स्वरूप की श्रद्धा की समता, ज्ञाता-दृष्टा, दूसरा कुछ करना नहीं, दूसरे का कर सकता नहीं। ऐसा अपना पुरुषार्थ ज्ञाता-दृष्टा है-ऐसा भान करके और समता प्रगट करे, उसे यह लोकभावना सच्ची फलित होती है। समझ में आया ?

लोक में मेरा कोई नहीं है। मेरा, मेरे पास है। शरीर में मेरा नहीं है, कर्म में मेरा नहीं है, शुभाशुभभाव में भी मेरा नहीं है, तो स्त्री-पुत्र तो कहीं दूर रह गये, वे तो क्षेत्र से (भी) प्रत्यक्ष दूर हैं, प्रगट दूर है। इस पानी और दूध की तरह एकमेक दिखायी दे, (जब) वे पृथक् हैं, तो जो क्षेत्र से पृथक् हैं, वे तो अत्यन्त पृथक् हैं। कहो, समझ में आया ?

मेरा चैतन्यस्वरूप लोक, वह मैं हूँ-ऐसा मानकरके, परद्रव्यों से भिन्न हूँ और अपने स्वभाव के सन्मुख होकर भावना करे और शुद्धि की वृद्धि होती है.. समझ में आया ? वीतरागता-वीतरागता अर्थात् सम्यग्दर्शन तो है, सम्यग्ज्ञान है। यह आत्मा (भाता है कि) कोई मेरा नहीं है, मैं उनका (नहीं हूँ)। इसी प्रकार एकाग्रता होने पर उसे शान्ति की वृद्धि होती है, अशान्ति मिटती जाती है। ज्ञानी को अभी थोड़ी अस्थिरता है न ? यह शान्ति की वृद्धि होती है, वैसे अशान्ति मिटती है। लो ! उसे लोकभावना कहा जाता है।

११-ढोधलदुलुढ ढलवलनल

अंतलढ-गुरीवलकलुकी हद, ढलडु अलननुत वलरलडलं ढद;

ढर सढुडगुनलन न ललधु, दुलुढ ढलनडुडु ढुनल सलधु ॥१३॥

अनुवडलरुथ :- (अंतलढ) अंतलढ-नववुं (गुरीवलकलुकी हद) गुरीवेडक तकके (ढद) ढद (अलननुत वलरलडलं) अलननुतढलर (ढलडु) ढुरलडुत कलडु, तथलढल (सढुडगुनलन) सढुडगुनलन (न ललधुं) ढुरलडुत न हुआ; (दुलुढ) ऐसे दुलुढ सढुडगुनलन कल (ढुनल) ढुनलरलगुनुने (नलनडुडु) अढुने आतुडल डुं (सलधु) धलरण कलडु हल।

ढलवलरुथ :- ढलशुडलदृषुतल गलव डुद कषलडु के कलरण अनेकढलर गुरीवेडक तक उतुढुन हुुकलर अहढलनुदुरढद कुु ढुरलडुत हुआ हल, ढरनुतु उसने ऐकढलर ढुल सढुडगुनलन ढुरलडुत नहुलं कलडु, कुुडुलकुल सढुडगुनलन ढुरलडुत करनल वह अढुरुव हल; उसे तु सुवुनुढुखतल के अलननुत ढुरुषलरुथ दुवलरल हल ढुरलडुत कलडु कल सकुतल हल और ऐसल हुुने ढर वलढलरलत अढुलढुरलडु आदल दुषुं कल अढुललव हुुतल हल।

सढुडगुदरुशन-गुनलन, आतुडल के आशुरडु से हल हुुते हलं। ढुणुडु से, शुढुरलरलग से, गडु कडुडलदल से नहुलं हुुते। इस गलव ने ढलहुडु संडुगु, कलरुं गतल के लुलकुलक ढद अलननुतढलर ढुरलडुत कलडु हलं कुलनुतु नलन गलनलन आतुडल कल डुथलरुथ सुवरुढु सुवलनुढुलव दुवलरल ढुरतुडुकु करके उसे कढुल नहुलं सडुडुगुल, इसललडुे उसकुल ढुरलडुतल अढुरुव हल।

ढुधल अरुथलतु नलशुडुडुसढुडुगुदरुशन-गुनलन-कलरलतुर कल ऐकतल; उस ढुधल कुल ढुरलडुतल ढुरतुडेक गलव कुु करनल कलहुलऐ। सढुडुगुदृषुतल गलव सुवलसनुढुखतलढुरुवक ऐसल कलंतवन करतल हल और अढुनल ढुधल और शुदुधल कुल वृदुधल कल ढलरडुढलर अढुडुलस करतल हल, डुह 'ढुधलदुलुढ ढलवलनल' हल। १३॥

अढु, गुडलरहवी ढुधलदुलुढ ढलवलनल।

अंतलढ-गुरीवलकलुकी हद, ढलडु अलननुत वलरलडलं ढद;

ढर सढुडगुनलन न ललधु, दुलुढ ढलनडुडु ढुनल सलधु॥१३॥

ढलषल देखु ! ढुनल कुुडुं ललडुे हलं ? वे तुन ढुल सलथ हलं न ? ढलरु ! ढुधल हलं न ढुधल ? सढुडुगुदरुशन-गुनलन-कलरलतुर डुे तुन। सढुडुगुदरुशन-गुनलन-कलरलतुर तुन कुु ढुधल कहनल हलं न,

इसलिए मुनि लिये हैं। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो गृहस्थाश्रम में भी होता है, परन्तु यहाँ बोधि में सम्यग्दर्शन, आत्मा का भान, ज्ञान और साध में स्थिरता-चारित्र तीनों एकता को बोधि कहा जाता है। 'बोहिलांभ' नहीं आता ? 'समाहिवरमुत्तम दितु बोहिलांभं' आता है। उसका अर्थ नहीं आता होगा। 'बोहिलांभं' लोगस्स में शब्द आया है या नहीं ?

'आसग्गबोहिलांभं' आरोग्य अर्थात् शरीर की निरोगता, यह मांगे। धूल में उसकी बात नहीं है। आरोग्य अर्थात् रागरहित मेरी निरोग अवस्था की मुझे प्राप्ति होओ। आत्मा आरोग्य-पुण्य-पाप का रोग है, उससे रहित मेरी दशा मुझे प्राप्त होओ-इसका नाम आरोग्य। धूल (शरीर) की आरोग्यता क्या है ? यह तो कहा, शरीर का रोगी भी राग से दुःखी है, शरीर से निरोगी भी राग से दुःखी है। वह तो दुःखी है। 'आसग्ग बोहिलांभं' मुझे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का लाभ होओ; दूसरा लाभ सम्यग्दृष्टि नहीं मांगता। धर्मी तो बोधि का लाभ चाहता है। यह बोधि धर्म की भावना की व्याख्या हुई। (विशेष कहेंगे)....

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



जो निर्मल भावका पिण्ड है ऐसे चैतन्यकी जिसे महिमा है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, उसे दया-दान आदिके रागकी व उनके फलकी महिमा नहीं होती। जिन्हें दया-दान आदिके रागकी व उसके अनुकूल फलकी महिमा है, उन्हें सुख समूह-आनन्दकन्दरूप आत्माकी महिमा नहीं आती। जिनको व्यवहार रत्नत्रयके शुभ-रागकी, देवःशास्त्र-गुरुकी अन्तरमें महिमा वर्तती है; उनको "निमित्तका जिसमें अभाव है - रागका जिसमें अभाव है -" ऐसे स्वभाव-भावकी महिमा नहीं है; जिससे उन्हें पर्यायमें अनन्द नहीं आता। जिनको शुभ-भावसे लेकर बाहरमें कुछ भी अधकता, आश्चर्य और महिमा (लगती) है - उनको सम्यग्दर्शन नहीं होता।

(परमागमसार-४२५)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन कृष्ण १, सोमवार
दि. ०७-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-१३. प्रवचन नं. ४५

‘दौलतरामजी’ कृत ‘छहढाला’ है। ‘छहढाला’ में पाँचवी ढाल चलती है, पाँचवी की १३वीं गाथा है। देखो ! बोधिदुर्लभ भावना। बारह भावना का अधिकार है। बारह भावना, सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप के लक्ष्य से शुद्धि की वृद्धि के लिये (भाता है)। बारह भावनायें माता के समान कही गयी है। इन भावनाओं को सम्यग्दृष्टि अन्तर में स्वभाव के साधन द्वारा भाता है। समझ में आया ? यह बात कहते हैं। देखो !

अंतिम-ग्रीवकलौकी हद, पायो अनन्त विरियां पद;

पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निजमें मुनि साधौ॥१३॥

क्या कहते हैं ? अन्वयार्थ :- ‘अन्तिम नववैं ग्रैवेयक तक...’ अनन्तबार आत्मा उत्पन्न हुआ है। अनन्तकाल में अनन्त भव करते हुए नरक के तो अनन्त भव किये, पशु के अनन्त किये, मनुष्य के अनन्त किये और स्वर्ग के भी अनन्त किये। कहाँ तक ? अन्तिम ग्रैवेयक-नौवां ग्रैवेयक होता है। जो पुरुषाकार यह चौदह ब्रह्माण्ड है, वह ग्रीवा स्थान है, यहाँ आगे नव देव के ग्रीवेक-पासड़ा है, वहाँ भी अनन्तबार आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना, शुभ क्रियाकाण्ड करके अनन्तबार स्वर्ग को प्राप्त हुआ। नरक में और पशु में गया तो पाप किया था, मनुष्य में और स्वर्ग में गया, वहाँ पुण्य (किया था)। उसमें भी



नौवें ग्रैवेयक गया, तब तो अनन्तबार जैनपना व्यवहार से प्राप्त करके दिगम्बर साधु होकर 'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो...' यह पहले आ गया है। चौथी ढाल में पाँचवी गाथा आ गयी है। यह पाँचवी ढाल चलती है। मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रैवेयक में उत्पन्न हुआ—इतने अनन्तबार भव प्रत्येक जीवने किये, परन्तु आत्मज्ञान की प्राप्ति के बिना उसे जन्म-मरण का अन्त कभी नहीं आया। कहो, समझ में आया ?

'अन्तिम ग्रीवक लौ की हद, ...' हद। नौवें ग्रैवेयक तक (गया)। नरक में अनन्तबार, पशु में अनन्तबार, उस-उस स्वर्ग में अनन्तबार (गया), उस नौवें ग्रैवेयक में अनन्तबार उत्पन्न हुआ। कैसे भाव होंगे इसके ? पापभाव होंगे ? पुण्यभाव, बहुत पुण्यभाव, बहुत शुभभाव (किये)। दया के, दान के, व्रत के, ब्रह्मचर्य के, नग्नपना-दिगम्बरपना, अट्टाईश मूलगुण (पालन किये), बहुत शुभभाव, शुक्ललेश्या (थी)। जिसकी चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो भी क्रोध न करे—ऐसी तो उसकी शुक्ललेश्या की क्षमा होती है। समझ में आया ? शुक्ललेश्या।

यह आत्मा, इस शुभ-अशुभराग रहित चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्द है। उसका एक समय भी इसने ज्ञान नहीं किया। उस ज्ञान के बिना अनन्त जन्म-मरण (किये)। स्वर्ग में जाकर वापस गिरा, मनुष्य हुआ, पशु हुआ और वापस नरक में गया और निगोद में भी अनन्तबार (गया)। नौवें ग्रैवेयक जाकर वापस निगोद में अनन्तबार गया। सत्य होगा ? ऐसे शुभभाव किये। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा, महाव्रत, पंच महाव्रत, अट्टाईश मूलगुण अनन्तबार किये, तब उसके फलरूप में स्वर्ग में (गया)। यह पहला पद है। 'अन्तिम ग्रीवक लौ की हद...' हद अर्थात् मर्यादा। 'पायो अनन्त बिरियापद..' अनन्त बार यह पद पाया। पर 'सम्यग्ज्ञान न लाधौ।' एक सम्यग्ज्ञान, इस शुभ क्रियाकाण्ड से कुछ प्राप्त नहीं होता। आहा..! समझ में आया ? शुक्ललेश्या। कृष्ण, नील, कापोत—ये तीन तो पाप लेश्या है। पीत, पद्म, शुक्ल—ये तीन पुण्य लेश्या है। ऐसी शुक्ललेश्या भी अनन्तबार की और स्वर्ग को प्राप्त हुआ, परन्तु उस शुक्ललेश्या के द्वारा भी आत्मज्ञान और सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। समझ में आया ? इसलिए कहते हैं—'सम्यग्ज्ञान न लाधौ, ...' अनन्तबार पद पाया, तथापि सम्यग्ज्ञान नहीं पाया। सम्यग्ज्ञान अर्थात् आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्यस्वरूप, ज्ञायकभाव, ज्ञायकस्वभाव का ज्ञान। शास्त्रज्ञान नहीं, रागादि का ज्ञान नहीं, परपदार्थ का ज्ञान नहीं... परपदार्थ की कला तो अनन्तबार पाया, परन्तु यह

आत्मा चैतन्यज्योत सूर्य है-ऐसा अन्तर में एक क्षण भी सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं की। समझ में आया ?

‘सम्यग्ज्ञान न लाधौ...’ वहाँ चौथी ढाल में ऐसा कहा था। ‘मुनिव्रतधार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।’ चौथी ढाल की पाँचवी गाथा में था। चौथी ढाल की पाँचवी गाथा है, देखो ! समझ में आया ? पृष्ठ ८३, ८३ है, हमारे गुजराती में इसमें ८३ पृष्ठ है, हाँ ! चौथी ढाल का पाँचवा श्लोक। कदाचित् तुम्हारे में पाँचवा होगा। यहाँ पाँचवा है, देखो !

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान विन कर्म झरैं जे;

ज्ञानी के छिन में त्रिगुणितैं सहज टरैं ते॥५॥

आत्मा के सम्यग्दर्शन और अनुभव के ज्ञान बिना करोड़ों भव में, करोड़ों वर्षों में, करोड़ों दीक्षा में, करोड़ों तप करे, करोड़ वर्ष तक (करे), तो भी जो कर्म नहीं खिरते, वे ज्ञानी के छिन में... आत्मा अन्तरस्वरूप में ज्ञानानन्द में गुप्त होकर, विकार-पुण्य-पापभाव की रूचि छोड़कर चैतन्य महान प्रभु परमात्मा अपना निज-अपना स्वरूप का ज्ञान करके क्षण में ज्ञानी कर्म को खिपाता है। कहो, समझ में आया कुछ ? यह लिया, देखो !

मुनिव्रत धार अनंत वार ग्रीवक उपजायौ;

पै निज आतमज्ञान विना, सुख लेश न पायौ॥५॥

यहाँ भी ग्रीवक लिया है। यहाँ सम्यग्ज्ञान लिया है, वहाँ आत्मज्ञान लिया है। यह तो एक की एक बात है। ‘मुनिव्रत धार अनन्तबार...’ मुनिपना-दिगम्बर नग्नमुनि, अट्टाईस मूलगुण पालन करनेवाला अनन्तबार हुआ। समझ में आया ? एक क्षण भी चिदानन्द आत्मा, राग की क्रिया से रहित, देह की क्रिया से रहित अकेला चैतन्य प्रभु आत्मा शुद्ध है, उसकी अन्तरदृष्टि-सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन नहीं किया। कहो, भाई ! यह गाथा अभी तुम्हारे ठीक आयी है। गाथा यहाँ मौके से आयी है। इसके पहले भी सब उसमें-चौथी ढाल में बहुत था। समझ में आया ?

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण;

इह परमामृत जन्मजरामृतिरोग निवारण॥४॥

चौथी ढाल में चौथा (श्लोक) है न ? 'ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण...' वह ज्ञान कौन-सा ? आत्मा.. आत्मा चिदानन्द प्रभु शुद्ध आनन्दकन्द ज्ञायक है। भाई ! तुम्हारे पिताजी को ज्ञायक का बहुत था। तब ज्ञायक कहा था न ? ज्ञायक। ज्ञायक, बस। ऐसा बोले थे। पता है ? अन्त में ऐसा बोले थे। अन्त में, इसलिए तब वहाँ था। मैंने कहा था ज्ञायक, बस ज्ञायक, बस। आत्मा चैतन्य, ज्ञायकमूर्ति है। उसमें पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प उत्पन्न हो, वह सब विकार है। वह आत्मा के हित के लिये बेकार है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य, चैतन्य को डली है। जैसे सफेदाई से भरी हुई खड़ी, क्षारपन से भरे हुए नमक की डली, मीठास से भरी हुई शक्कर, कड़वेपन से भरी हुई अफीम (है); वैसे ज्ञान और आनन्द से भरा हुआ भगवान है। आहा.. ! समझ में आया ? उसके स्वसन्मुख का ज्ञान एक समयमात्र भी नहीं किया। इस क्रियाकाण्ड में रुक गया और यह मुझे धर्म और यह मेरा कार्य-यह मेरा कर्तव्य। (-ऐसा मान लिया)। समझ में आया ?

कहते हैं- 'पै सम्यग्ज्ञान न लाधौ...' ऐसे भाव अनन्तबार किये। क्यों ? 'दुर्लभ निज में मुनि साधो।' भाषा देखो ! क्या कहते हैं ? मुनि ने आत्मा के साधन द्वारा अन्तर (में) सम्यग्ज्ञान साधा है। -ऐसा कहते हैं। दुर्लभ-ऐसा जो सम्यग्ज्ञान अनन्त काल में प्राप्त नहीं हुआ, वह 'निज में मुनि साधो।' उसे आत्मा के स्वभाव द्वारा आत्मा को साधा। अर्थ में ऐसा है। 'मुनिराजों ने अपने आत्मा में धारण किया है।' साधा है-ऐसा। स्वरूप का साधन, वह सम्यग्ज्ञान आत्मा द्वारा साधा-ऐसा कहते हैं। ऐसा कहकर क्या कहते हैं ? कि शुभ आदि राग की मन्दता, जो कषाय की मन्दता अनन्तबार हुई, उसके द्वारा आत्मसाधना सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ। समझ में आया ? यहाँ मुनि क्यों लिये हैं ? कि बोधि है और बोधि में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्ण प्राप्ति है, उसका मुनियों ने अपने आत्मा द्वारा साधन किया है, निज में साधा है। इस राग से, व्यवहार से, विकल्प से, निमित्त से साधन साधता नहीं है-ऐसा कहते हैं।

मुनि की बात तीन की एक.. है न ? दर्शन, ज्ञान और चारित्र... परन्तु सम्यग्ज्ञान एक शब्द लेने से, वह ज्ञान भी आत्मा द्वारा, शुद्ध चैतन्यस्वरूप द्वारा वह स्वयं कर्ता और अपने शुद्ध स्वभाव द्वारा वह सम्यग्ज्ञान साधा है और साधा जा सकता है। कहो, भाई ! इसमें समझ में आया ?

यह देह की क्रिया जड़ की... यह परिणाम हिंसा, जूठ, चोरी, विषय-भोग, वह पाप; यह दया, दान, व्रत, तप की क्रिया का भाव वह शुभराग-पुण्य, उससे आत्मज्ञान और यह धर्म नहीं सधता। आहा..हा... ! यह तो सादी हिन्दी भाषा है। 'दौलतरामजी' कृत है। 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला'। दौसो वर्ष पहले दिगम्बर पण्डित महातत्त्वदृष्टिवन्त (हो गये हैं)। उन्होंने कहा कि सन्त और अनन्त ज्ञानी, सर्वज्ञ परमेश्वर जो अनन्त हुए, अनन्त 'कुन्दकुन्दाचार्य' आदि महा दिगम्बर मुनि, महा धर्म के स्तम्भ-धर्म के स्तम्भ... समझ में आया ? समझ में आता है ? उन मुनियों ने भी ऐसा कहा और ऐसा साधा कि निज में 'दुर्लभ निज में मुनि साधौ।' दुर्लभ कहकर क्या कहा ? कि अनन्त बार राग की, कषाय की मन्दता द्वारा वह प्राप्ति नहीं होती-ऐसा वह दुर्लभ है। समझ में आया ? आहा..हा.. ! राग की, कषाय की मन्दता के शुभयोग द्वारा वह प्राप्त नहीं हुआ-ऐसा वह दुर्लभ है। आहा..हा... ! परन्तु उस शुभराग की मन्दता के भाव को भी उल्लंघ कर-छोड़कर, धर्मी जीव-'निज में मुनि साधौ।' यह सम्यग्ज्ञान, दर्शन-चारित्र आत्मा के अन्तर स्वरूप में साधन किया। अन्तर स्वरूप द्वारा साधन किया और अन्तर स्वरूप में साधा। है उसमें ? देखो ! कहाँ है ? है या नहीं ? भैया ! उसमें है या नहीं ? क्या है ? 'पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज में मुनि साधौ।'

अनन्तबार नौवें प्रैवेयक गया, तब निज का साधन नहीं किया था-ऐसा हुआ न ? उसने पर साधन (किया)। उसका अनादि लक्ष्य पर.. पर... पर.. पर.. यह करूँ.. यह करूँ.. यह करूँ.. व्रत पालूँ... भक्ति करूँ, पूजा करूँ, दान (दूँ)-ऐसे परलक्ष्यी शुभभाव परसन्मुखता में अनन्तबार किये, उसे निज सन्मुख की बात जहाँ आये, वहाँ उं.. हूँ (निषेध होकर) उसे एकदम उकताहट लगती है.. यह क्या ? यह क्या ? अनन्तकाल में जिसका अभ्यास नहीं, इस कारण उसे (ऐसा लगता है कि) यह क्या ? यह ऐसा धर्म ? एक तो सुननेवाले को अनन्तकाल में यह बात सत्यपने की यथार्थरूप से सुनी नहीं, इसलिए सुनते ही उसे हैं। (हो जाता है)। ऐसे व्रत, तप से कोई धर्म नहीं होता ? परन्तु वह तो परसन्मुख की क्रिया का भाव है, सुन न ! समझ में आया ? सूक्ष्म बातें, भाई ! किसी दिन मुश्किल से सुनने में आती है न ? किसी दिन, भाई ! क्या कहा ?

यहाँ तो ढालकार-छहढालाकार 'दौलतरामजी' हैं। 'दौलतरामजी' कहते हैं कि निज की

दौलत के साधन के बिना, इस पर दौलत से साधन नहीं होता। समझ में आया ? ऐसा अनन्त सर्वज्ञों, अनन्त मुनियों-दिगम्बर सन्तों महामुनि हुए, उन्होंने इस प्रकार कहा है और इस प्रकार साधा है। दूसरी किसी क्रिया से आत्मा साधा जा सके या धर्म हो सके-ऐसा है नहीं। आहा.. ! (अज्ञानियों को) अन्दर ऐसा लगे अर..र..र.. ! यह तो व्यवहार का नाश हो जाता है। ऐ..ई... ! भाई ! सुन तो सही, बापू ! यह व्यवहार अभी किसे कहना तुझे पता नहीं है।

आत्मा अखण्डानन्द प्रभु ज्ञान का सागर, आनन्द का सागर परमात्मा (है), उसका अन्तरध्यान, अन्तर निर्विकल्प शान्ति और आनन्दस्वरूप हूँ-ऐसा ज्ञान और श्रद्धा हो, तब उसे जो कुछ शुभभाव-दया, दान, भक्ति का होवे, उसे व्यवहारधर्म कहा जाता है। इसलिए पुण्य को व्यवहारधर्म कहते हैं, परन्तु निश्चयदृष्टि और धर्म होवे तो.. समझ में आया ? स्वसन्मुख में माहात्म्य है या नहीं ? पता नहीं ? कि अनादि से इस शरीर, वाणी और मन के ऊपर इसका लक्ष्य है; अधिक तो इसका लक्ष्य विकार पर जाता है, अन्दर परिणाम पर (जाता है)। शुभ और अशुभ, शुभ और अशुभ... यह भी विकार है। इससे आगे जाकर उसकी प्रगट अवस्था, प्रगट अवस्था-ज्ञान का उघाड़-क्षयोपशम, दर्शन का उघाड़, वीर्य का उघाड़। बस ! विकास, एक समय का विकास, बस ! इतना इसका स्वरूप (है-ऐसा) जानता है, ऐसा मानता है और इसका लक्ष्य ही वहाँ पर के ऊपर है, परन्तु यह ज्ञान के विकास का अंश है, वह त्रिकाल ज्ञातास्वरूप अन्दर गुप्त परमात्मा (है, उसका है)। गुप्त परमात्मा, गुप्त अर्थात् पर्याय में प्रगट नहीं, पर्याय में प्रगट नहीं, अप्रगट गुप्त पूरा तत्त्व चैतन्यरस... समझ में आया ? क्या कहा ?

‘श्रीमद्’ का वाक्य (आता है)-गुप्त चमत्कार सृष्टि को पता नहीं है, सृष्टि के लक्ष्य में, गुप्त चमत्कार है, उसका पता नहीं है। ‘श्रीमद्’ने एक वाक्य लिखा है-गुप्त चमत्कार। एक सैकेण्ड के असंख्यभाग में वर्तमान विकास-उघाड़ एक अंश, दया, दान के परिणाम विकार; कर्म, शरीर आदि अजीव इनसे रहित अन्दर अनन्त गुण का पिण्ड जो गुप्त चमत्कार, जिसमें केवलज्ञान प्रगट हो, जिसमें से; जिसमें से अनन्त सिद्धदशा प्रगट हो-ऐसा गुप्त चमत्कार चैतन्य, सृष्टि के लक्ष्य में नहीं आता। समझ में आया ?

मुमुक्षु:- ..

उत्तर :- गुप्त, गुप्त अन्दर है न ? ऐ..ई..! गुप्त अर्थात् पर्याय में प्रगट नहीं। यह स्पष्टीकरण हो गया। पर्याय में प्रगट नहीं। कल रात्रि में कहा था न ? अव्यक्त। पर्याय-अवस्था है, अवस्था है उतना प्रगट है और अवस्था बिना का पूरा तत्त्व, वह अप्रगट है, ध्रुव.. ध्रुव। समझ में आया ?

वस्तु है, पूरी चीज एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में; वर्तमान दशा का भाव तो एक समय का है। राग है, वह विकार है; निमित्त है, वह परवस्तु है। अब इन तीन में प्रगटपना उसे ऐसे लगता है। यह उघाड़ है, वह मैं; राग, वह मैं, और यह संयोग, वह मैं परन्तु उसके पीछे अन्दर एक समय का जो विकार का अंश है, उसके पीछे पूर्ण अंशी पूर्णानन्द का नाथ चिदानन्द द्रव्य पड़ा है। उस द्रव्य के सन्मुख दृष्टि किये बिना इसे तीन काल में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना इसके जन्म-मरण का कभी अन्त नहीं आता; मर जाए क्रियाकाण्ड करके। समझ में आया ? यह तो कहा, नौवें ग्रैवेयक तक गया अर्थात् ? कितना किया ? बारह-बारह महीने के अवास, बारह-बारह महीने। दूसरे देवलोक की इन्द्राणी विचलित करने आवे तो भी डिगे नहीं-ऐसा जिसका ब्रह्मचर्य ! परन्तु वह सब शुभराग। समझ में आया ?

अन्तर स्वरूप 'दुर्लभ निज में...' 'निज में' शब्द पड़ा है न ? यह राग कोई निज नहीं है; पुण्य-पाप के परिणाम निजस्वरूप नहीं है। देह, वाणी, जड़, यह तो जड़स्वरूप है और एक समय का विकार उघाड़ है, वह एक समय की पर्याय एक अंश है, वह व्यवहार आत्मा है। समझ में आया ? पूरा तत्त्व निज भगवान ज्ञानानन्द का धाम चैतन्य सत्ता भगवान पूर्ण स्वरूप में साधन करना चाहिए, वह साधन किया नहीं। धर्मी जीव ने 'निज में मुनि साधो।' आत्मज्ञान किया, आत्मदर्शन किया, आत्मशान्ति, चारित्र किया। किस में से ? निज में से। अन्तरमें से सम्यग्दर्शन और ज्ञान-चारित्र का साधन किया है। बाहर के साधन द्वारा वह साधन नहीं हो सकता। समझ में आया ? देखो न ! यह 'छहढाला' तो बहुत-सौं को कंठस्थ है न, भाई ! चलती है या नहीं ? सम्प्रदाय में बहुत चलती है। इसके अर्थ का भी पता नहीं होता।

'मुनिराजों ने (निज में) अपने आत्मा में धारण किया।' लो !

भावार्थ :- 'मिथ्यादृष्टि जीव (अनादि का) मन्दकषाय के कारण...' राग की मन्दता की। दया, दान, व्रत, कषाय, ब्रह्मचर्य पालन किया तो 'अनेकबार ग्रैवेयक तक पैदा...' हुआ। अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक गर्दन के साधन पर जहाँ स्वर्ग है, (वहाँ) अनन्तबार उत्पन्न हुआ। 'अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुआ है...' अहम् इन्द्र। नौवें ग्रैवेयक को देव सब अहमिन्द्र, ऋद्धि से, सिद्धि से लगभग सब समान-ऐसे अहमिन्द्र पद को अनन्तबार प्राप्त हुए (परन्तु) सम्यग्दर्शन के बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आया।

'परन्तु उसने एकबार भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया...' एक समय भी.. समझ में आया ? 'क्योंकि सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना, वह अपूर्व है...' सम्यग्ज्ञान अर्थात् यह शास्त्र का पठन, वह नहीं। शास्त्र का पठन और दुनिया को कहना, समझना, वह कोई सम्यग्ज्ञान नहीं है। आहा..हा...! दूसरों को समझाने का विकल्प-राग उत्पन्न हो, वह कहीं सम्यग्ज्ञान नहीं है। समझ में आया ? अपूर्व सम्यग्ज्ञान-पूर्व में अनन्त भव में एक सैकेण्ड भी प्राप्त नहीं किया। पूर्व में किया, वह तो तब तक वह अपूर्व नहीं। सम्यग्ज्ञान एक समय भी अपूर्वरूप से अनन्तकाल में प्राप्त करना कठिन है। इसे प्राप्त करने की दरकार नहीं की है। आत्मा को पकड़ने की दरकार ही नहीं की है।

यह आत्मा क्या चीज है ? भगवान ! जिसमें से सिद्धपद निकले, जिसमें से अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और आनन्द की दशा (प्रगट हो), अतीन्द्रिय आनन्द की खान.. आहा..हा...! जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द की खान, अतीन्द्रिय आनन्द पूर्ण-ऐसे अनन्त पूर्ण... पूर्ण आनन्द की खान, यह आत्मा है। भगवान जाने.. इसके सन्मुख होने की इसने दरकार ही (नहीं की है)। समझ में आया ? धर्म के बहाने भी त्यागी हुआ, वहाँ भी राग की मन्दता में रुककर धर्म मान बैठा, परन्तु राग की मन्दता के अतिरिक्त अविकारी भगवान आत्मस्वभाव का ज्ञान अपूर्व है।

'इसीलिए उसे तो स्वसन्मुखता के अनन्त पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।' राग की मन्दता द्वारा या कषाय की बहुत हीनता करे, नरम स्वभाव करे, उससे वह प्राप्त हो-ऐसा नहीं है। अनन्त पुरुषार्थ (चाहिए)। अपना आत्मा प्रभुत्वगुण से भरपूर है, आत्मा परमेश्वरताके गुण से भरपूर है। आत्मा एक-एक गुण से परमेश्वर। ज्ञानगुण से परमेश्वर, दर्शनगुण से परमेश्वर, आनन्दगुण से परमेश्वर, शान्तिगुण से परमेश्वर, स्वच्छतागुण से परमेश्वर,

प्रभुतागुण से परमेश्वर, कर्तागुण से परमेश्वर, कार्यगुण से परमेश्वर... साधनगुण से परमेश्वर। आत्मा अपने साधनगुण से परमेश्वर है। आहा..हा... ! इस राग की साधन इसे आवश्यकता नहीं है-ऐसा यह परमेश्वर है। आहा.. ! साधनगुण से परमेश्वर, दान देने और लेने के (-संप्रदान) गुण से परमेश्वर, यह अपने आधार से प्रगट करे-ऐसा यह परमेश्वर.. आहा..हा... ! ऐसा परम ईश्वर प्रभु एक-एक गुण से परमेश्वर-ऐसे अनन्त गुण का प्रभु ऐसा आत्मा, उसमें अन्तर्मुख होकर आत्मा द्वारा सम्यग्दर्शन और ज्ञान का साधन होता है। निमित्त द्वारा, राग द्वारा, स्मरण द्वारा भी वह साधन नहीं होता। आहा..हा... ! कहो, भाई ! यह तो अब बहिनों को गुजराती समझ में आये ऐसा है या नहीं ? आहा..हा... !

‘और ऐसा होने पर विपरीत अभिप्राय आदि दोषों का अभाव होता है।’ अनादि से जो मान्यता कि राग और मन्दता का व्यवहार होवे तो धर्म होता है-ऐसा मिथ्यात्वभाव, मिथ्या अभिप्राय, मिथ्यादृष्टिपना, इस स्वसन्मुखता के अन्तर के साधन द्वारा, उस परसन्मुख से हुई राग की मान्यता (कि) इससे लाभ (होगा), इस मान्यता का नाश होता है।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- एक समय में।

मुमुक्षु :- राग का भी परमेश्वर है।

उत्तर :- राग का नहीं, राग का नहीं। अनन्त गुण का परमेश्वर है। ज्ञान अनन्तगुण... ज्ञान में अनन्त स्वभाव है, उसका परमेश्वर है; राग का नहीं, विकार का नहीं। समझ में आया ? सहजात्म चिदानन्द स्वामी, उसमें एक शक्ति है-आत्मा में एक शक्ति है-स्वस्वामीसम्बन्ध शक्ति। सैंतालीस शक्तियों का वर्णन है न ? पढ़ी है न ? ‘आत्मप्रसिद्धि’ ‘आत्मप्रसिद्धि’ आती है न ? उसमें सैंतालीस शक्तियाँ हैं। स्वास्वामीसम्बन्धशक्ति। आत्मा में एक स्वस्वामीसम्बन्ध शक्ति नाम का परमेश्वर गुण है। परमेश्वर गुण। स्वस्वामी सम्बन्ध (अर्थात्) अपने आनन्दस्वरूप स्व का स्वामी-ऐसा उसमें स्वभाव है। राग, विकार और पर का स्वामी, वह गुण आत्मा में तीन काल में है नहीं। समझ में आया ? है न ? यह तो गुजराती है, परन्तु है न इसमें ? देखो ! अन्तिम ४७वाँ बोल है, सैंतालीस। देखो ! क्या कहते हैं ?

‘स्वभावमात्र स्व-स्वामीत्वयमयी सम्बन्धशक्ति। (अपना भाव, अपना स्व और स्वयं उसका स्वामी..)’ ऐसी शक्ति आत्मा में है, अनादि-अनन्त है। कैसा गुण ? कि भगवान आत्मा शुद्ध अनन्त गुण का स्व और उसका वह स्वामी-ऐसा उसमें गुण है। पुण्य-पाप के परिणाम का स्वामी अथवा पुण्य-पाप उसका स्व और उनका वह स्वामी-(ऐसा) उसके गुण में नहीं है, उसकी शक्ति में नहीं है, उसके स्वभाव में नहीं है। एक समय की पर्याय राग की, विकार को उत्पन्न करके स्वयं स्वामी होता है, वह मिथ्यादृष्टि, विकार का स्वामी होता है। समझ में आया ?

यहाँ तो स्व... पुण्य-पाप का भाव नहीं; शरीर, वाणी नहीं; स्त्री-पुत्र तो कहीं रह गये, धूल। ये इसका स्व नहीं। इसका स्व ज्ञायक, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, विभुता, प्रभुता आदि, वह अपना स्व अनन्त गुण-उसका यह स्वामी, उनका यह भगवान स्वामी है-ऐसा इसमें गुण है, परन्तु पुण्य-पाप का स्वामी और शरीर, कर्म का स्वामी और स्त्री-पुत्र व देश का स्वामी, वह तो मिथ्यादृष्टि, मिथ्याबुद्धि से मानता है, भाई ! आहा..हा... ! यह स्व-स्वामी सम्बन्ध आत्मा के स्वभाव के साथ है। एक विकल्प उत्पन्न हो, जिस भाव से तीर्थकर नामकर्म बँधे, वह भाव भी आत्मा का स्व और (आत्मा उसका) स्वामी, यह उसके गुण में नहीं है। आहा..हा... ! समझ में आया ? सैंतालीस शक्तियाँ हैं। ‘आत्मप्रसिद्धि’ बाहर (प्रकाशित) हो गयी है। अभी दूसरी शक्तियाँ (शक्तियों के प्रवचन) उतारी है, नये व्याख्यान रेकोर्डिंग हुए हैं अन्दर अभी। बाहर आये तब सही। समझ में आया ?

भगवान आत्मा ‘निज में...’ है न ? अपने में अनन्त-अनन्त स्व-स्वामीसम्बन्ध नाम का गुण है। स्व-स्वामीसम्बन्ध-यदि आत्मा को सम्बन्ध होवे तो अपने शुद्ध स्वभाव के साथ आत्मा को सम्बन्ध है। आत्मा उसका स्वामी है और शुद्ध स्वभाव पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण प्रभुता-यह आत्मा का स्व। स्व अर्थात् धन, धन-स्वधन, उसका आत्मा स्वामी है। ऐसा गुण अनादिकाल से अनन्तकाल उसमें रहा हुआ है। ऐसे गुण को अन्दर स्पर्श किये बिना... समझ में आया ? सूक्ष्म, अद्भूत, भाई !

मुमुक्षु :- इस भावना में क्या निकालते हैं ?

उत्तर :- इस भावना में निकालते हैं, आनन्द। निजस्वरूप में अनन्त गुण का स्वामी (हूँ)। निज में-मुझ में, मेरे में शुद्ध पूर्ण आनन्द और ज्ञान, वह मुझ में है। ऐसे स्वरूप के अन्तर साधन द्वारा स्वरूप को साधता है। भावना करके उस शुद्धि की वृद्धि करता है। समझ में आया ? यह भावना वह करता है। अहो..! यह वस्तु शान्ति और आनन्द का ज्ञान और भान अपूर्व है-ऐसे प्राप्त है, वह भी भावना करता है। भावना करने से शुद्धि की वृद्धि होकर अशुद्धता टलती है। इस भावना का फल शुद्धि है। समझ में आया ?

‘सम्यग्दर्शन-ज्ञान आत्मा के आश्रय से ही होते हैं।’ यह शीर्षक में ‘निज में’ कहा वह। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र-ये आत्मस्वभाव के आश्रय से ही होते हैं; राग, निमित्त या पर के आश्रय से नहीं होते। ‘पुण्य हो, शुभराग से, जड़ कर्मादि नहीं होते।’ ऐसा वह स्वरूप नहीं है-ऐसा लेना। समझ में आया ? आहा..हा...! परन्तु इसे अन्तर का माहात्म्य नहीं आया, बाहर का माहात्म्य (आता है)।

हीरा और माणिक देखे तो आ..हा..! आहा..! उसमें से फिर शरीर सुन्दर हो तो आहा...! उसमें स्त्री सुन्दर होवे रूपवान तो.. आहा...! उसमें फिर लड़का अच्छा रूपवान होवे तो आहा..! परन्तु तू कहाँ.. आहा..! (करता है) ? क्या दिखता है ? पर है-ऐसा दिखता है। इसकी एक समय की पर्याय में अन्दर में वे आ कहाँ गये हैं ? आये हैं अन्दर ? किसका आहा..! हुआ तुझे ? और बहुत आगे जाए तो इसे पाप के परिणाम करे तो मजा आता है। आहा..! ऐसा बढ़कर आगे दया, दान, व्रत, भक्ति का शुभभाव करे, बस ! हो गया जाओ। अज्ञानी का तो आहा..! विकार में और पर में समा गया। समझ में आया ?

यहाँ तो आत्मा भगवान में, अपना निज परमेश्वरपद, पूर्ण, उस निज पद के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अन्तर्मुख से साधे जा सकते हैं, बहिर्मुखत के किसी साधन द्वारा उन्हें साधा नहीं जा सकता-ऐसा उसका स्वरूप ही है। यह तो उसका स्वरूप ही है। समझ में आया ?

‘इस जीव ने बाहर के संयोग...’ देखो ! यह बाहर के संयोग। यह ‘चारों गति के लौकिक पद अनन्तबार प्राप्त किये हैं...’ अनन्तबार प्राप्त किये हैं। अरबोंपति अनन्तबार हुआ, चार गतियों में अनन्तबार गया, बाहर के अनुकूल-प्रतिकूल संयोग अनन्तबार प्राप्त किये-यह

नयी बात नहीं है। यहाँ तो जहाँ जरा-सी प्रतिकूलता आये, वहाँ चिल्लाता है। अनन्तबार प्रतिकूलता आयी और अहमिन्द्र जैसी अनुकूलता भी अनन्तबार आयी। आहा..! समझ में आया ? अरे..! जहाँ सिद्ध भगवान बिराजते हैं, वहाँ भी निगोदरूप से अनन्तबार गया। ठीक है ? सिद्ध भगवान बिराजते हैं न ? वहाँ भी निगोदरूप से अनन्तबार अवतार हुए, सिद्ध के पेट में।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- देखे कहाँ ? धूल। स्थान में उत्पन्न हो आया है। इसे भान कब था वहाँ ? आहा..हा...! परन्तु इसने इस निजपद पर दृष्टि नहीं की।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- धूल में भी हवा नहीं आती कुछ। कैसे जँचे ? केवलज्ञानी भगवान होते हैं, समुद्घात होता है न ? क्या (कहा) ? केवलज्ञानी परमात्मा होते हैं न ? तब उन्हें समुद्घात होता है। अन्त में मोक्ष जाने पर वेदनीय, नाम जरा आयुष्य से अधिक रह गया होवे तो कम करने के लिये एकदम समुद्घात.. पूरे लोक में प्रदेश करते हैं, फैलते हैं; वे प्रदेश सातवें नरक में रवरव नरक है, वहाँ भी उस समय पड़े होते हैं। है दुःख उन्हें ? नजदीक है न समीप में ? इसी तरह उनका (परमात्मा के प्रदेशों का) सुख उन्हें-नारकियों को है ? भाई ! क्या कहा ? ऐसे आत्मा है न ? जब केवल(ज्ञान) प्राप्त करते हैं, फिर पूरे लोक प्रमाण समुद्घात होता है, तब उनके प्रदेश आत्मा के असंख्य प्रदेश फैलकर सातवें नरक में पूरे लोकप्रमाण फैलते हैं। एक, दो समय वहाँ रहते हैं। उस समय सातवें नरक के नारकियों में केवलज्ञानी के प्रदेश का आत्मा है। उन केवलज्ञानी को अनन्त आनन्द का अनुभव है, साथ में रहे नारकी को अनन्त दुःख का अनुभव है। इस अनन्त दुःख का अनुभव केवली को नहीं और केवली के अनन्त सुख का (अनुभव नारकी को नहीं)। है एक क्षेत्र में एकसाथ.. समझ में आया ? सातवां नरक.. नारकी का बिल है न ? भगवान का समुद्घात वहाँ (भी) होता है, वहाँ प्रदेश हैं। वे अपने आनन्द का अनुभव करते हैं। वे ही वहाँ नारकी उसी क्षेत्र में मिथ्यादृष्टि अनन्त अनन्तानुबन्धी दुःख का अनुभव करते हैं। समीप क्षेत्र से क्या लाभ है ? समझ में आया ? अपने समीप क्षेत्र में जाए तो लाभ होता है। आहा..हा...!

कहते हैं, अरे..! 'लौकिक पद अनन्तबार प्राप्त किये...' स्वर्ग भी अनन्त बार प्राप्त किया, सेठपना भी अनन्तबार प्राप्त किया, अरबोंपति-एक-एक दिन में अरबों की आमदनी अनन्तबार हुई। धूल में, उसमें आत्मा को क्या मिला ? आत्मा को मिला दुःख, ममता। यह मुझे मिला-ऐसी ममता (मिली)। दुःखी... दुःखी.. दुःखी (हुआ)। कहते हैं, 'परन्तु निज आत्मा का यथार्थ स्वरूपस्वानुभव द्वारा प्रत्यक्ष करके उसे कभी नहीं समझता...' शास्त्र को धारण किया, पढ़ा परन्तु इस भगवान को (इसने नहीं जाना)। आठ-आठ वर्ष की बालिका भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त करती है। मेढ़क इतने, वह भी सम्यग्ज्ञान पाता है। भगवान के समवसरण में जाता है और ऐसे सुनता है ओ..हो..हो..! जैसे झटपट बिलजी ऊपर से उतरे और तांबे के सरिये में नीचे उतर जाए (ऐसे) यह सुने कि तू अनन्तगुण का पिण्ड प्रभु शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द है, तेरा स्वरूप राग से निराला है, तू मेरे जैसा परमेश्वर है-इस प्रकार जहाँ भगवान की वाणी सुने, वहाँ एकदम उतरा, झपट करके अन्दर, एकदम उतरे अन्दर। एक मेढ़क होवे या आठ वर्ष की कन्या होवे, समकित पा जाती है। लो! परन्तु निज स्वरूप से पाते हैं, पर से नहीं पाते। यह भगवान का सुना, इसलिये प्राप्त हुआ ऐसा नहीं है। वहाँ से लक्ष्य छोड़ दिया और अन्तर में गया, प्रवेश किया। दरबार-चैतन्य का दरबार आत्मा में है। अनन्त गुण का दरबार भगवान, उस दरबार में अन्दर सभा में प्रवेश किया। उस निज स्वरूप से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान साधा जा सकता है, बाकी कोई उसका साधन हैनहीं।

मुमुक्षु :- बिजली ऐसी इच्छा..

उत्तर :- ऐसी बिजली यहाँ जोरवाली है आत्मा में। दृष्टान्त बिजली का दिया। ऐसा बिजली का चमत्कार जोरदार है, वीर्य को ऐसे अन्दर में प्रस्फुटिक किया, ... एकदम शीघ्रता करके। इस आत्मा के स्वभाव के साधन द्वारा ही सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उस सम्यग्ज्ञान में ही जन्म-मरण का अन्त है। इसके अतिरिक्त किसी प्रकार से जन्म-मरण का अन्त नहीं आता है।

'इसलिए उसकी प्राप्ति अपूर्व है, लौकिक कोई भी पद अपूर्व नहीं है।' यहाँ जरा पाँच हजार का वेतन हो और कुछ धूल हो वहाँ तो आहा..हा..हा...! ऐसा हो जाता है, लो !

मुमुक्षु :- संध्या का बल..

उत्तर :- संध्या का बल क्या ? हाँ, हाँ, ठीक ? पैर नीचे नहीं रहते, उस समय फिर ऊँचा चलता है। पैसा बहुत बढ़े न कि ऐसे ऐसे धम.. धम.. धम.. धम.. (चलता है)। दुःख में ऊँचा चलता है। चौबीस घण्टे दुःख है। भगवान आत्मा के अन्तर ज्ञान के सुख बिना जितना यह शुभ और अशुभभाव में रुकता है, चौबीस घण्टे उस दुःख का वेदन निरन्तर है। कहो, ठीक है ? चौबीस घण्टे। भाई ! चौबीस घण्टे ?

मुमुक्षु :- सो जाए तब ?

उत्तर :- सो जाए तब, सोता है, किस में सोता है ? विकारभाव में पड़ा है और सोता है। आत्मा, पुण्य-पाप के विकल्परहित स्वस्वरूप के ज्ञान का भान, वह सुख है। इसके बिना जितने परसन्मुखता से शुभाशुभभाव अनन्तबार, असंख्य शुभ और असंख्य अशुभ, एक-एक अनन्तबार, एक-एक (प्रत्येक) अनन्तबार किये, (वह) सब दुःख है। समझ में आया ? यह एक अपूर्व है, जिसमें सुख है।

भगवान आत्मा ! उसकी श्रद्धा तो करे, उसके वीर्य को अन्तर में झुकाने जैसा है-ऐसा तो निर्णय करे। बाहर में वीर्य झुकाने से तेरा कभी भला नहीं हुआ। समझ में आया ? वह झुकाव बदले। वलण, वलण कहते हैं या क्या कहते हैं तुम्हारे ? झुकाव। झुकाव, झुकाना। इस पानी का बहाव दूसरे किनारे है, इसकी अपेक्षा इस किनारे लो-ऐसा कहते हैं। यह बहिने नदी से पानी भरती है न ! बड़ी नदी होवे तो दूसरे किनारे पानी (होवे तो बोले) अर..र..र.. ! कितनी (दूर) भरने जाना पड़ता है, बापा ! 'कालुभार' जैसी नदी है, बड़ी नदी, समुद्र जैसी। उस किनारे पानी (होवे और वहाँ) जाए तो इस ओर की बहिने शोर मचाती है। अरे.. ! वहाँ भरने जाना। इस किनारे पानी होवे तो एकदम ऊपर बहेड़ा (चरी) भरकर आवे, लो ! ऐसे तेरे आत्मा का प्रवाह विकार और पुण्य-पाप में गया, उस दूसरे किनारे तेरा प्रवाह दुःखदायक है। समझ में आया ?

कहते हैं, इस ओर प्रवाह झुका, भाई ! पहले कहा था न ? 'लाख बात की बात निश्चय उर आणो-' नहीं आया था ? पहले आया था। लाख बात की बात। यह स्वयं कहते हैं। कौन ? 'लाख बात की बात निश्चय उर आणो-' है न ? कितने में आया है ? ऐ..ई.. ! लाख बात की बात। उसमें ही था या नहीं ? चौथी ढाल की नौवीं (गाथा) देखो ! 'पुण्य-पाप फलमाहि हरख

बिलखों मत भाई;... 'यह 'छहढाला' स्वयं कहते हैं।

पुण्य-पाप फलमांहि हरख बिलखों मत भाई;
 यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई।
 लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;
 तोरी सकल जगदंद-फंद, नित आतम ध्याओ॥९॥

भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप प्रभु की रुचि कर, उसके सन्मुख जा और विकार से विमुख हो। - यह तेरे सुख का कर्तव्य है। समझ में आया ? इस सुख के आचरण का यह भाव है; बाकी सब दुःख के आचरण के भाव है। स्वयं कहते हैं, देखो ! 'दौलतरामजी' आहा..हा..! एक ही बात। इसमें भी अर्थ नहीं समझते और विरोध करते हैं, लो ! नहीं, इसका अर्थ सही नहीं, सही नहीं... परन्तु यह सही नहीं, तब सही क्या है ? अब लाओ न। भगवान आत्मा, अनन्त गुण की खान (है), उस ओर झुकना, यही सही है, दूसरा फिर सही क्या था ? समझ में आया ?

इसलिए कहते हैं कि लौकिक पद तो अनन्तबार प्राप्त हुए, परन्तु आत्मपद एक सैकेण्ड भी प्राप्त नहीं हुआ। एक सैकेण्ड भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त होवे तो इसके जन्म-मरण का अन्त आ जाए; और शुभभाव अनन्तबार किये (तो भी) एक भव कम नहीं हुआ। परन्तु उसमें कम कहाँ से हो ? साधन है वह ? शुभभाव अनन्तबार किया, (परन्तु) एक भव कम नहीं हुआ और शुभभाव रहित आत्मा (का) एक समय का ज्ञान सम्यक् चैतन्य भान होने पर अनन्त भव गल गये। समझ में आया ? ऐसी सम्यग्ज्ञान में अथवा निज स्वरूप के साधन में ताकत है, दूसरे में वह ताकत नहीं है।

'बोधि अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता, उस बोधि की प्राप्ति प्रत्येक जीव को करनी चाहिए।' तीन बोल है न एक साथ ? उस बोधि की व्याख्या। 'सम्यग्दृष्टि जीव स्वसन्मुखतापूर्वक ऐसा चिन्तवन करता है...' चिन्तवन शब्द से आत्मा की ओर की एकाग्रता। जो आत्मा शुद्धस्वभाव दृष्टि में रुचि में आया है, उसके ओर की एकाग्रता को भावना कहते हैं। 'और अपनी बोधि की वृद्धि का बारम्बार अभ्यास करता है, यह बोधिदुर्लभभावना है।' इसका नाम बोधिदुर्लभ भावना है।

कहो, इसमें कहीं पैसा दुर्लभ है—ऐसा नहीं आया। यह इन्द्रपद, यह ग्रैवेयक पद दुर्लभ है—ऐसा नहीं आया, यह पुण्यपरिणाम दुर्लभ है—ऐसा नहीं आया, यह पुण्यभाव दुर्लभ है—ऐसा नहीं आया, आहा.. ! यह पुण्य और पाप तथा पुण्य-पाप का बन्धन और बन्धन के फल से रहित आत्मा का ज्ञान करना ही दुर्लभ और अपूर्व है। इसे दुर्लभ कहा है, लो ! समझ में आया ?

एक व्याख्या आती है न ? 'तत्त्वज्ञान तरंगिणी' में, भाई ! बाह्य संयोग प्राप्त होना सुलभ है, क्योंकि अनन्तबार प्राप्त हुए। बाह्य सामग्री-स्वर्ग, पैसा, राज आदि मिलना, वह सरल है, क्योंकि अनन्तबार हुए हैं; एक आत्मा के स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है। समझ में आया ?

दूसरे प्रकार से कहने पर बात गुलॉट खाती है कि भाई ! यह पुण्य-पाप और पैसा आदि, यह पैसा आदि मिलना, वह दुर्लभ है; क्योंकि तेरे पुरुषार्थ से नहीं मिलते; वे तो पुण्य होवे तो मिलते हैं, इसलिए दुर्लभ है। तुझसे प्राप्त नहीं होते। फिर से, भाई ! यह पैसा और राजपाट दुर्लभ है। क्यों ? दुर्लभ अर्थात् तुझसे उनकी प्राप्ति नहीं होती, वे तो पूर्व का पुण्य होवे तो प्राप्त होते हैं; इसलिए इस अपेक्षा से दुर्लभ कहे हैं। दुर्लभ अर्थात् दुःख से भी तू पुरुषार्थ से प्राप्त कर सके—ऐसे वे पैसा और लक्ष्मी नहीं है। आहा..हा.. ! यह दुर्लभ कहा, फिर आत्मा को सुलभ कहा। बात गुलॉट खाती है। आत्मा सुलभ है। क्यों ? कि जिसमें पर के साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। ठीक !

दो बातें की हैं—'तत्त्वज्ञान तरंगिणी' है। एक तो दुर्लभ आत्मा का स्वभाव, क्योंकि अनन्त काल से प्राप्त नहीं किया। सम्यग्दर्शन, अनुभवदृष्टि अनन्तकाल से (प्राप्त नहीं किया), इसलिए दुर्लभ कहा और यह लक्ष्मी आदि प्राप्त होना सुलभ है। यह दुर्लभ तो (लक्ष्मी आदि) सुलभ। अब बदला—यह दुर्लभ, वह सुलभ। क्यों ? ये चीजें दुर्लभ हैं, क्योंकि तेरे पुरुषार्थ से प्राप्त होवे—ऐसी नहीं है। ठीक है ? लाख प्रयत्न करे, मर जाए तो भी मिलने को है, वही मिलेगी; तेरे पुरुषार्थ से नहीं मिलेगी; इसलिए दुर्लभ अर्थात् तेरे प्राप्त हो—ऐसी नहीं है। भाई ! भगवान आत्मा सुलभ है। क्यों ? कि जिसे शरीर, वाणी, मन की भी आवश्यकता नहीं है और जिसे पुण्य-पाप के राग की भी आवश्यकता नहीं है; पर के आश्रय की आवश्यकता नहीं, स्व-स्व के आश्रय की आवश्यकता (है तो) स्व तो स्वयं है, इसलिए अपना दर्शन-ज्ञान, वह अपने आश्रय से होता है,

इसलिए वह सुलभ है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- यह प्रेम इसे स्वयं को होवे, तब लगे न ! कहो, इसमें समझ में आया ? आहा..हा.. ! 'तत्त्वज्ञान तरंगिणी' (में) ऐसी बात ली है। इस प्रकार दो उलट-पुलट। बापू ! आत्मा की दृष्टि और अनुभव करने में कोई लक्ष्मी की हानि होती है इसमें ? शरीर घिसावट होती है ? शरीर का बल उसमें काम करता है ? पर की उसमें आवश्यकता पड़ती है ? वहाँ पर का आश्रय लेने का कोई काम है ? समझ में आया ? आहा.. !

अपना स्वभाव, एक नज़र करते ही नजराना मिले-ऐसी चीज है। जिसकी नज़र करने से निधान प्रगट हो, वह तो स्वाधीन तुझे सुलभ है। समझ में आया ? परन्तु दुर्लभ मानकर बैठा है। यह दुर्लभ कहा, वह तो अनन्तकाल में प्राप्त नहीं हुआ-इस अपेक्षा से कहा है। समझ में आया ? परन्तु अपना निजपद है, उसमें कहीं पैसे की जरूरत पड़ती है ? कि इतने पैसे हों और दान-बान दूँ तो मुझे आत्मलाभ होगा। भाई ! उसमें कुछ आवश्यकता पड़ती है या नहीं ? ठीक कहते हैं, बापा ! यह तेरा पद तो तेरे लिये सरल और सुलभ है, कि उसमें तुझे बाहर के किसी भी आधार या अवलम्बन लेने की आवश्यकता नहीं है। मन की जरूरत नहीं है, वाणी की जरूरत नहीं है तो फिर शरीर और अमुक की कहाँ जरूरत थी ? ऐसा भगवान आत्मा...

मुमुक्षु :-...

उत्तर :- इसे दृष्टि, रुचि, प्रविष्ट नहीं होती, रुचता नहीं। यह बाहर का रुच गया है। रुचि, पुण्य-पाप में ऐसा प्रेम लगा है कि यदि इनसे हट जाऊँगा न तो मुझे हाय ! हाय ! डूब जाएगा। और इस पुण्य-पाप के फलमें से जरा कुछ कम हो, एक तम्बू बड़ा होता है न ? ऊँची होती है न ? ऐसे कील की हुई; और उसमें से एक कील ढीली पड़े तो चिल्लाता है। यह ढीली कैसे पड़ी ? उसमें पूरा तम्बू उड़े तो क्या होगा इसे ? इसी प्रकार बाहर की अनुकूलता में एक भी कुछ कभी, पोने सोलह आने होवे तो चिल्लाता है। मूढ की मूढता का कोई दूसरा अलग लेख होगा ? एक जरा ऐसा (आवे तो) ऊँ..ऊँ... (करे), क्या है परन्तु ? तम्बू है न ? वे अंग्रेज नहीं रहते ? अंग्रेज-युरोपियन उतरते हैं न ? बाहर जंगल में, कीले डाले गहरी, ऐसे खींचकर बाँधे।

पानी-बानी वर्ष गिरे तो ऐसी चली जाए-ऐसा ढाल होता है, ऐसे ढल पड़े। ढल पड़ जाए तो पानी अन्दर पड़े। एक पूरी कील न निकली हो, जरा-सी कील अन्दर कुछ ढीली पड़ी होवे (तो कहते हैं) ऐ..! ढील क्यों पड़ी वहाँ ?

इस प्रकार बाहर की धूल की सुविधा के अंश में एक जरा-सा फेरफार होवे (तो) बन्दर की तरह रोये। एक पत्ते का कंकर ऊपर से गिरे (और रोवे) ऐसे रोवे। अरे...! प्रभु ! परन्तु वह कोई साधन नहीं है, तुझमें नहीं है और तुझे रोकते नहीं है। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि अन्तिम 'दुर्लभ' शब्द आया न ? आहा..हा...! भाई ! तेरा स्वरूप तो तेरे पास है न ! 'नजर ने आलसे रे, तें नयने न नीरख्या हरि, तारी नजरने आलसे रे नीरख्या न नयने हरि।' हरि (अर्थात्) आत्मा। भगवान स्वयं ऐसी नजर पर में करके बैठा, वह पर में से पलक नहीं उठाता। कहते हैं कि एक बार तू ऐसे देख। एसे तो देख ! एक भगवान बिराजता है, महा परमात्मा। ... अच्छा मनुष्य आवे तो दूसरे के साथ बात करना छोड़ देता है, उसके साथ बात करता है, दूसरा छोड़ देता है। ... खाना-पीना छोड़ देता है। आओ.. आओ... आओ.. साहब आओ.. आओ.. करता है या नहीं ?

एक ग्राहक पचास-सौ (रूपये की) आमदनी करानेवाला देखे तो मानों कि यह (आमदनी करा देगा)। (दरबार आवे तो कहे), आओ.. आओ.. दरबार ! दूसरे ग्राहक पड़े रहे एक ओर। ... ऐसा तीन लोक का नाथ परमेश्वर, उसके साथ बात करना छोड़कर दूसरों के साथ बात करता है तू यह ? समझ में आया ? ऐसा तेरा परमेश्वरपद निज में पड़ा है। उसका साधन तेरे पास है। बाहर के साधन द्वारा तू स्वरूप का साधन लेना चाहता है, भाई ! नहीं मिलेगा। समझ में आया ? ऐसी बोधि-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति और तीनों का यथार्थ ज्ञान (करना)। उसकी प्राप्ति तुझे दुर्लभ कही गयी है, क्योंकि परसन्मुख से दृष्टि नहीं हटाता इसलिए। स्वसन्मुख करे तो यह बात स्वयं को सुलभ है। (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



१२-धर्म भावना

जो भाव मोहतैं न्यारे, दग-ज्ञान-व्रतादिक सारे;

सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारे॥१४॥

अन्वयार्थ :- (मोह तैं) मोहसे (न्यारे) भिन्न, (सारे) साररूप अथवा निश्चय (जो) जो (दग-ज्ञान-व्रतादिक) दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय आदिक (भाव) भाव है (सो) वह (धर्म) कहलाता है। (जब) जब (जिय) जीव (धारै) उसे धारण करता है (तब ही) तभी वह (अचल सुख) अचल सुख-मोक्ष (निहारै) देखता है-प्राप्त करता है।

भावार्थ :- मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन अर्थात् अतत्त्वश्रद्धान; उससे रहित निश्चयसम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) ही साररूप धर्म है। व्यवहाररत्नत्रय, वह धर्म नहीं है-ऐसा बतलाने के लिये यहाँ गाथा में 'सारे' शब्द का प्रयोग किया है। जब जीव निश्चय रत्नत्रयस्वरूप धर्म का स्वाश्रय द्वारा प्रगट करता है तभी वह स्थिर, अक्षयसुख-(मोक्ष) प्राप्त करता है। इसप्रकार चिंतन करके सम्यग्दृष्टि जीव स्वोन्मुखता द्वारा शुद्धि की वृद्धि बारम्बार करता है। वह 'धर्म भावना' है॥१४॥

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल ३, बुधवार
दि. ०९-३-१९६६, ढाल-५, श्लोक-१४, १५. प्रवचन नं. ४६

'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है, पाँचवी ढाल, उसकी बारहवीं भावना है, गाथा-१४। बोधिदुर्लभ भावना हो गयी। बारह भावना में यह अन्तिम भावना है। भावना अर्थात् क्या ? कि आत्मा का स्वभाव शुद्ध है-ऐसी दृष्टि हुई हो, उस शुद्धता के चारित्रगुण की यह संवर की पर्यायें हैं। बारह भावना संवर है न संवर ! उसमें आती है-बारह भावना आती है न ? 'तत्त्वार्थसूत्र' में। यह संवर की शुद्धि की दशा है। आत्मा में सम्यग्दर्शन आदि शुद्ध दृष्टि हुई है; पश्चात् यह भावना

भावे, तब अधिक शुद्धि होती है, इसलिये 'तत्त्वार्थसूत्र' में इन्हें संवर में रखा है न ? बारह भावना। ग्यारह हुई, बारहवीं है।

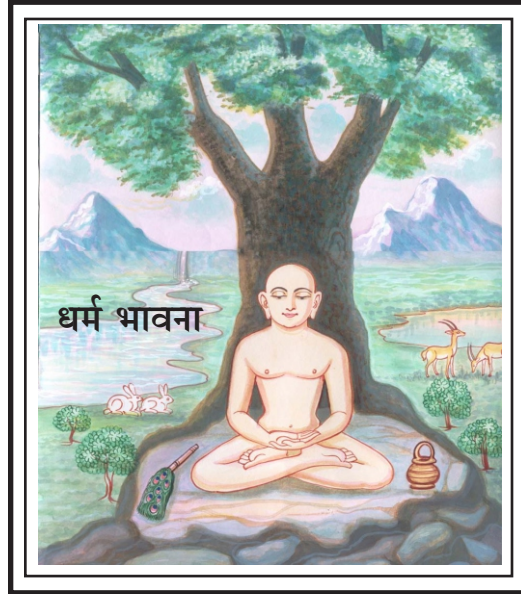
जो भाव मोहतै न्यारे, दग-ज्ञान-व्रतादिक सारे;

सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारे॥१४॥

देखो ! यह बारहवीं (भावना की) अन्तिम कड़ी। अन्वयार्थ :- 'मोह से (न्यारे)...' इस शब्द में बात पड़ी है, देखो ! आत्मा में सम्यग्दर्शन हो, वह दर्शनमोह-मिथ्यात्वभाव से रहित होता है। और स्वरूप में चारित्र होता है, वह भी राग-द्वेष और अचारित्र से रहित होता है। समझ में आया ? 'जो भाव मोहतै न्यारे...' मोह शब्द से मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष परिणाम, इनसे जो भाव पृथक् है, उसे दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहा जाता है। समझ में आया ?

'जो भाव मोहतै न्यारे...' आत्मा शुद्ध चैतन्य की अन्तर सावधानी से किया हुआ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-ये तीनों भाव 'जो भाव मोहतै न्यारे...' मोह से भिन्न हैं। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह मोक्ष का मार्ग-वह भाव, मोह से पृथक् है। समझ में आया या नहीं ? यह बारह भावना तुमने कितनी बार रटी है ?

'जो भाव मोहतै न्यारे...' ऐसा है। जिसमें पर तरफ की सावधानी का भाव, मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष से रहित स्वरूप की तरफ दृष्टि की सावधानी और स्थिरता यह भाव, मोह से पृथक् है। समझ में आया ? 'दग-ज्ञान-व्रतादिक सारे...' उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, सम्यग्ज्ञान कहते हैं। जो मोह से भिन्न तत्त्वश्रद्धान, अतत्त्वश्रद्धान से भिन्न। भाव। तत्त्वश्रद्धानभाव, अतत्त्वश्रद्धान से भिन्न। तत्त्वज्ञान, अतत्त्वज्ञान से भिन्न और तत्त्व की व्रतधार स्थिरता, वह अस्थिरता से भिन्न।



उसमें क्या आया ? व्रत में-चारित्र में राग आया या नहीं ?

यहाँ तो धर्मभावना (कहते हैं)। धर्म तो उसे कहते हैं कि जिसमें मोह का अभाव हो, अर्थात् स्वरूप की सावधानी का भाव हो-ऐसा यहाँ बारहवीं भावना में कहते हैं। समझ में आया ? भगवान आत्मा, जो अनन्त शान्ति और आनन्द की खान, आत्मा खान, उस ओर के भाव को मोहरहित भाव कहते हैं। वह दृग अर्थात् सम्यग्दर्शन (है)। देखो ! यहाँ निश्चय की बात है। मोह से न्यारा भाव अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन, मोह से पृथक् ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान और व्रतादिक-मोह से न्यारे अर्थात् चारित्र-स्वरूप की रमणता, उसे यहाँ व्रतादिक कहा गया है। समझ में आया ?

मोह से पृथक् और स्वरूप से अभेद। समझ में आया ? मोहभाव से पृथक्, विकारीभाव से पृथक् और अविकारी स्वरूप आत्मा से अभेद-ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, वे श्रेष्ठ हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं, वे ही भले हैं। कहो, समझ में आया ? वही साररूप मोक्षमार्ग है। जो 'नियमसार' (में) आया था न ? 'नियमसार'... 'नियमसार' में क्या आया था ? बस, लो ! देखो ! इस सेठ को याद रहता है। देखो ! 'नियमसार' आया था न ? नियम-निश्चय-मोक्षमार्ग और उसमें से सार अर्थात् विपरीतरहित। विपरीतरहित आया था या नहीं ? इन्होंने वह शब्द की शैली ली है। वह शब्द की शैली ली है, देखो न ! समझ में आया ? जो भाव, भगवान आत्मा की सावधानी से-स्वभाव की सावधानी से श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति प्रगट हुए, वे तीनों पर सावधानी के भाव से रहित हैं, मोह से रहित हैं। समझ में आया ? यह तो 'छहढाला' है। सादी भाषा में-हिन्दी में है। इसके अर्थ का भी पता नहीं पड़ता। क्या सत्य है-इसकी दरकार नहीं होती।

दृग-ज्ञान ये '(सारे) साररूप अथवा निश्चय...' अथवा वही मोक्ष का मार्ग यथार्थ सार है। समझ में आया ? 'दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय आदि भाव हैं...' फिर क्षमा आदि, निश्चय समिति, निश्चय गुप्ति-ये सब मोहभाव से न्यारे (हैं)। 'व्रतादिक' शब्द पड़ा है न ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान-चारित्र आदि-आदि में जितनी वीतरागी पर्याय-राग आदि में जितनी वीतराग पर्याय-राग और विपरीत श्रद्धा रहित-अविपरीत पर्याय आत्मा में होती है और विपरीत पर्याय से रहित है... समझ में आया ? क्रोध से रहित क्षमा, मान से रहित निर्मानता, माया से

रहित सरलता, लोभ से रहित निर्लोभता—ये सब ‘दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे...’ ये सब मोह की पर्याय से रहित, स्वरूप-सन्मुख की दशा—यह सार और निश्चय है। यह धर्म है, यह धर्म है। मोहभाव रहित दशा को धर्म कहते हैं। यह संक्षिप्त व्याख्या की है।

‘सो धर्म जबै जिय धारै...’ देखो ! इसमें भी विशिष्टता की है। ऐसा धर्म जब जीव धारे, तब करता है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? यह कोई कर्म रोकते हैं कि ऐसा कोई रोकता नहीं है। ‘सो धर्म...’ सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र आदि शुद्धदशा, अशुद्ध मोह आदि से रहित, यह जब ऐसा धर्म ‘जबै...’ अर्थात् जब ‘जिय...’ अर्थात् जीव ‘धारै...’ जब जीव धारण करे, तब धर्म होता है। ‘धर्म’ शब्द है तो अवश्य न ! धर्म शब्द है न उसमें से ‘धारै’ निकाला है। रचा है बहुत अच्छा। ‘सो धर्म जबै जिय धारै...’ ऐसा धर्म जब आत्मा (धारै)। भाई ! यह तो हिन्दी भाषा है। मूल श्लोक, मूल श्लोक हिन्दी है ऐसा। और हिन्दी सादी है, अर्थ तो गुजराती होता है। मूल भाषा है, वह तो हिन्दी है और हिन्दी भी अत्यन्त सादी तथा सीधी भाषा है। समझ में आया ?

‘जो भाव मोह तैं न्यारे, दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे; सो...’ ‘सो’ ऐसा जो धर्म-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, जो आत्मा के आश्रय से होता भाव, जो मोह से रहित हुई दशा, वह ‘धर्म जबै जिय धारै...’ जब जीव धारण करे, धर्म को धारण करे, तब धर्मी होता है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? ‘धारती इति धर्मः’। जो अधर्म धारता था, अनादि से करता था, उसमें से (उसके बदले) धर्म को धारण करे, तब वह धर्मी, धर्म को धारण करे, तब धर्मी कहलाता है। कहो, समझ में आया ?

‘तब ही सुख अचल निहारे। जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारे।’ जब आत्मा, जब से भगवान आत्मा आनन्द और शान्ति का पिण्ड प्रभु ! उसके ओर की दृष्टि, ज्ञान और शान्ति को धारे, तब से शान्ति को निहारे, आनन्द को निहारे। समझ में आया ? ‘तब ही सुख अचल निहारे...’ तब वह आत्मा के आनन्द को, अचल आनन्द-आत्मा का अचल आनन्द, उसे तब से देखता है। समझ में आया ? मोक्ष देखे अथवा तब से मोक्ष की पर्याय, कारणरूप प्रगटकर मोक्ष ऐसा होता है, उसका भान होता है। कहो, समझ में आया ? एक लाईन में बहुत

सरस रखा है इसमें।

जब जीव, आत्मा के स्वभाव की शान्ति-श्रद्धा-ज्ञान को धारण करता है, तब उसे 'तब ही वह (अचल सुख) अचल सुख...' अर्थात् वास्तविक शान्ति, नित्यानन्द का सुख, नित्य-आनन्द-ऐसा सुख, उसे 'निहारै...' अर्थात् देखता है और उस नित्य आनन्द को पाता है। क्रम-क्रम से यह भावना करते हुए पूर्ण आनन्द को पाता है। कहो, समझ में आया इसमें ?

भावार्थ :- 'मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन अर्थात् अतत्त्वश्रद्धान, उससे रहित...' मोहरहित अर्थात् सब, रागादि रहित (भी आ गया)। 'निश्चय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) ही साररूप धर्म है।' यह रत्नत्रय साररूप धर्म है। अपने 'नियमसार' में चलता है, उसके साथ मिलान खा गया, लो ! व्यवहार रत्नत्रय, वह वास्तव में साररूप नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय, वह शुभराग है, परन्तु वह मोहरहित भाव नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय-देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नव तत्त्व के भेदवाली श्रद्धा, पञ्च महाव्रत के परिणाम, शास्त्र का ज्ञान - उसमें शुभराग है, वह मोहरहित नहीं है; इसलिए उसे सार नहीं कहा जाता। कहो, समझ में आया इसमें ? 'व्यवहाररत्नत्रय, वह धर्म नहीं है...' अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय, रागरूप है और इसलिए वह साररूप धर्म नहीं है, राग है।

'ऐसा बतलाने के लिए यहाँ गाथा में 'सारे' शब्द का प्रयोग किया है। जब जीव, निश्चयरत्नत्रयस्वरूप धर्म को स्व-आश्रय से प्रगट करता है...' जब जीव अपने निश्चय स्वभाव के आश्रय से, शुद्ध चैतन्य के आश्रय से अन्तर्मुख अवलम्बन करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्रगट अर्थात् धारण करता है... कहो, समझ में आया ? 'तब ही वह स्थिर-अचल सुख को (मोक्ष को) प्राप्त करता है।' संसार का सुख तो सब कल्पित नाशवान है। वह (आत्मिक) सुख तो अन्तर नित्यानन्दमें से प्रगट हुआ। नित्यानन्द आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति प्रगट होने पर अन्तर आनन्द प्रगट हुआ, उसका फल भी पूर्ण अचल आनन्द प्राप्त है। व्यवहार में राग होता है, राग से पुण्य बँधे और स्वर्ग आदि मिलते हैं। अचल सुख का कारण अचल भगवान नित्यानन्द आत्मा नित्य आनन्द, उसमें स्थिरता करने से जो आनन्द प्रगट होता है, वह आनन्द, पूर्ण आनन्द का कारण है और वह वर्तमान में भी आनन्द का कारण है। समझ में आया ? पर में सुख कब

होगा इसमें ? इस शरीर में निरोगता होवे, अनुकूल होवे...

मुमुक्षु :- पहली निरोगता की यह बात..

उत्तर :- पहली निरोगता की की (है) । कहो, शरीर में निरोगता होवे, ' पहला सुख ते जाते नर्या' -नर्या अर्थात् निरोगता ।

मुमुक्षु :- आत्मा की निरोगता ।

उत्तर :- वे तो शरीर की कहते हैं। फिर ' दूसरा सुख उस घर में चार लड़के' -ऐसा कहते हैं न ? ' तीसरा सुख सुकूल की नारी, चौथा सुख इसकी कोठी में अनाज' - धूल में भी नहीं है। ये चारों ही दुःखरूप भाव हैं। इनमें सुख है नहीं, धूल में भी नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? लोगों ने गप्प बना दी। निरोगता, यह निरोगता धूल, धूल की है। इसमें आत्मा को क्या ? यह तो शरीर, मिट्टी है। शरीर निरोग होवो और अन्दर में पैसे-बैसे की कमी हो गयी होवे तो होली सुलगती है या नहीं ? तब निरोग शरीर क्या करेगा ? कहो।

मुमुक्षु :- परन्तु पैसे आये हाथ..

उत्तर :- परन्तु यही कहत हैं, परन्तु जाते हैं, तब इसे दुःख होता है या नहीं ? शरीर निरोग है या नहीं ? यदि निरोग (शरीर) सुख का कारण होवे तो उस समय अन्दर तो तेल रेड्यु (बहाया हो) । तेल रेड्युं समझते हैं ? एक व्यक्ति को दीक्षा दी, नाम दिया नहीं, उसे शिष्य नहीं किया। (संवत) १९७५ में भाई आये थे, चार व्यक्तियों ने दीक्षा ली थी, ' राणपुर', - फिर इसका एक व्यक्ति का नाम नहीं दिया, एक शिष्य का, तुम रहने दो एक का और बाद में.. तेल रेडते हैं-ऐसा कहते थे। ऐसे के ऐसे। मैंने कहा, भाई ! अब जिसे तीन हुए होंगे, वे कहे नहीं, तुझे तो यहाँ सब लड्डु उड़ते हैं और यह सब ऐसा होता है, मुझे जलता है अन्दर से... वेष में पड़ा हुआ। आहा..हा.. ! इस संसार में भी ऐसा होता है न ? उसे पैसे हुए और मुझे नहीं मिले; उसके अच्छे लड़के हुए और मुझे नहीं मिले; उसे निरोगता और मुझे नहीं मिले; उसकी लड़की अच्छी जगह विवाही और मेरी अच्छी जगह जाती नहीं.. ए.. जलन। होली। इस शरीर से भले निरोगता होवे।

मुमुक्षु :- चारों एकसाथ चाहिए न।

उत्तर :- धूल में भी नहीं। चारों होवे तो भी अनेक की जलन होती है, बापा ! बड़ा राजा होवे, उसे रानी मानती न हो.. बाहर में सब अनुकूलता दिखाई दे.. समझ में आया ? बह कड़क रानी के जमीदारनी, वह बनियो जैसी डरपोक न हो। ऐ..ई.. ! वह जमीदारनी हो सर्पिणी बड़ी, दरबारसिंह विचारकर बोलना, हम भी जमीदार हैं, हाँ ! ऐसा बोले। अन्दर से ऊँचा करे उसको, क्या करे ? कहाँ जाए ? यह सब हूए हैं और हमें तो सब नाम-ठाम का भी पता है। वे सब अन्दर जलते हैं। बाहर से देखो तो ऐसे कपड़े ऊँचे और ऐसा राज व मोटर और... परन्तु अन्दर पता होता है कि यह रानी.. घर जाए... वहाँ रानी को ऐसे जहाँ देखे (तो) हाय.. ! हाय ! यह मानती नहीं। दूसरे सब मानते हैं, परन्तु यह एक मानती नहीं। समझ में आया ? खुलेआम कहे, हमारा नाम लेना नहीं, हम भी जमीदार-जमीदारनी हैं, हाँ ! जमीदार की पुत्री (हैं), हाय.. हाय.. ! अन्दर होली सुलगती है, बाहर में धूल भी नहीं, व्यर्थ में मूढ मान बैठा है। आत्मा में सुख है यह कहते हैं, देखो न !

भगवान आत्मा आनन्द का पिण्ड है। अन्दर आनन्द के रत्न के लाल भरे हैं, अन्दर। आहा..हा.. ! लाल रत्न की गठरियाँ) कहते हैं कि भाई ! इस आत्मा की सन्मुख की दृष्टि कर, इसमें सुख है, इसका ज्ञान कर, इसमें आनन्द है, इसमें स्थिर हो, इसमें शान्ति है। समझ में आया ? बात इसे कैसे जमे ? रच दिया.. ऐसे भ्रमण.. भ्रमण.. भ्रमण.. बाहर में.. बाहर में.. चारों और सुलगा ही करता है। समझ में आया ?

‘जब जीव, स्व आश्रय से निश्चय रत्नत्रयरूप धर्म को प्रगट करता है, तभी वह स्थिर-अक्षय सुख को (मोक्ष को) प्राप्त करता है। इस प्रकार चिन्तवन करके सम्यग्दृष्टि जीव, बारम्बार स्वसन्मुखता का अभ्यास करता है, वह धर्म भावना है।’ बारम्बार.. स्वयं ही अन्तर भगवान बिराजमान है; अकेला आनन्द का रसकन्द आत्मा है। अतीन्द्रिय आनन्द, जैसा सिद्ध को आनन्द है, वैसा ही आनन्द अन्दर पड़ा है। सिद्ध को एक समय की पर्याय का प्रगट आनन्द है। अन्दर में ऐसी-ऐसी अनन्त पर्याय का आनन्द एक आनन्दगुण में पड़ा है। वहाँ मोहरहित होकर दृष्टि करने का समय नहीं निकालता, फिर दुःखी होता है। दुःखी होता है स्वयं के कारण; मानता

है कि कर्म के कारण (दुःखी हूँ)। इस प्रतिकूलता के कारण, यह व्यवस्था नहीं है, (इसके) कारण (दुःखी हूँ)। मूढ बाहर का दोष निकालकर उसका ही दोष निकाला करता है। कहो, समझ में आया ?

धर्मभावना, वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग फरमाते हैं, भाई ! तेरा स्वभाव तेरे पास है न प्रभु ! उसकी तू एकाग्र होकर भावना कर, उसमें तुझे आनन्द है। लो ! यह चौदहवाँ बोल (काव्य) हुआ। अब पाँचवी ढाल की एक अन्तिम गाथा रही।

आत्मानुभवपूर्वक भावलिङ्गी मुनि का स्वरूप

सो धर्म मुनिनकरि धारिये, तिनकी करतूत उचरिये;

ताकों सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी॥१५॥

अन्वयार्थ :- (सो) ऐसा रत्नत्रय (धर्म) धर्म (मुनिनकरि) मुनियों द्वारा (धारिये) धारण किया जाता है, (तिनकी) उन मुनियों की (करतूत) क्रियाएँ (उचारिये) कही जाती है, (भवि प्रानी) हे भव्य जीवों। (ताको) उसे (सुनिये) सुनों और (अपनी) अपने आत्मा के (अनुभूति) अनुभव को (पिछानी) पहिचानो।

भावार्थ :- निश्चयरत्नत्रयस्वरूप धर्म को भावलिङ्गी दिगम्बर जैन मुनि ही अंगीकार करते हैं-अन्य कोई नहीं। अब, आगे उन मुनियों के सकलचारित्र का वर्णन किया जाता है। हे भव्यो ! उन मुनिवरों का चारित्र सुनो और अपने आत्मा का अनुभव करो॥१५॥

पाँचवी ढाल का सारांश

यह बारह भावनाएँ चारित्रगुण की आशंकि शुद्धपर्याये हैं; इसलिए वे सम्यग्दृष्टि जीव को ही हो सकती है। सम्यक् प्रकार से यह बारह प्रकार की भावनाएँ भाने से वीतरागता की वृद्धि होती है; उन बारह भावनाओं का चिंतवन मुख्यरूप से तो वीतरागी दिगम्बर जैन मुनिराज को ही होता है तथा गौणरूप से सम्यग्दृष्टि को होता है। जिसप्रकार पवन के लगने से अग्नि भभक उठती है, उसी प्रकार अन्तरंग परिणामों की शुद्धतासहित इन भावनाओं का

चिंतवन करने से समताभाव प्रगट होता है और उससे मोक्षसुख प्रगट होता है। स्वोन्मुखतापूर्वक इन भावनाओं से संसार, शरीर और भोगों के प्रति विशेष उपेक्षा होती है और आत्मा के परिणामों की निर्मलता बढ़ती है। (इन बारह भावनाओं का स्वरूप विस्तार से जानना हो तो 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा', 'ज्ञानार्णव' आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये)।

अनित्यादि चिंतवन द्वारा शरीरादि को बुरा जानकर, अहितकारी मानकर उनसे उदास होने का नाम अनुप्रेक्षा नहीं है, क्योंकि यह जिसप्रकार पहले किसी को मित्र मानता था तब उसके प्रति राग था और फिर उसके अवगुण देखकर उसके प्रति उदासीन हो गया। उसीप्रकार पहले शरीरादि से राग था, किन्तु बाद में उनके अनित्यादि अवगुण देखकर उदासीन हो गया, परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है। किन्तु अपने तथा शरीरादि के यथावत् स्वरूप को जानकर, भ्रम का निवारण करके, उन्हें भला जानकर राग न करना तथा बुरा जानकर द्वेष न करना-ऐसी यथार्थ उदासीनात के हेतु अनित्यादि आदि का यथार्थ चिंतवन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ. २२९, श्री टोडरमल स्मारक ग्रन्थमाला से प्रकाशित)।

'आत्मा के अनुभवपूर्वक भावलिङ्गी मुनि का स्वरूप।' अब, मुनि का स्वरूप कहते हैं।

सो धर्म मुनिनकरि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये;

ताकों सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी॥१५॥

गृहस्थाश्रमी धर्मी जीव को भी, आंशिक आत्मश्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता हुए होने पर भी, उसे मुनिपना अंगीकार करने की भावना होती है। समझ में आया ? कब मुनिपना अंगीकार करूँ ? कब मुनिपना (ग्रहण करूँ) ? पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण स्थिरता न हो सके, परन्तु भावना तो (होती है)। भावना शब्द से (आशय यह है कि) वही चिन्तवना, एकाग्रता, वह नहीं। कब मुनिपना (लूँ) ? 'श्रीमद्' में नहीं आया ?

अपूर्व अवसर ऐसा किसदिन आयेगा ?

कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब ?

देखो ! मोतियों का लाखों का व्यापार था, गृहस्थाश्रम में थे, परन्तु (भावना भाते हैं कि),

कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जब ?

सम्बन्धों का बन्धन तीक्ष्ण छेदकर,

सम्बन्धों का बन्धन तीक्ष्ण छेदकर,

विचरूँगा कब महत्पुरुष के पंथ जब ?

विचरूँगा कब महत्पुरुष के पंथ जब ?

अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा ?

तीर्थकर जैसे गृहस्थदशा में रहे होने पर भी, बारम्बार ऐसी भावना भाते थे। समझ में आया ? 'शान्तिनाथ', 'कुन्थुनाथ', 'अरनाथ'.. जिनके घर में छियानवै-छियानवै हजार पद्मिनी जैसी रानियाँ और जिनके घर छियानवै करोड़ सैनिक, छियानवै करोड़ गाँव, अड़तालीस हजार पाटन, बहत्तर हजार नगर.. समझ में आया ? वे अन्तर की दृष्टि के आत्मा के ध्यान के आनन्द में यह भावना करते थे कि अरे... ! हम कब मुनि होंगे ? हम तीर्थकर होकर आये हैं, हमें भी चारित्र के बिना केवलज्ञान नहीं है। हम तीर्थकर हैं, विश्वास है कि इस भव में केवल (ज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं), परन्तु यह चारित्र-स्वरूप की रमणता, दर्शन-ज्ञान सहित अन्तर की लीनता की जमावट बिना हमें भी मोक्ष नहीं होगा। कहो, समझ में आया ?

आता है न ? 'ध्रुव सिद्धि यरो...' ऐ..ई.. ! आता है कहीं ? 'अष्टपाहुड़' में आता है। जिन्हें सिद्धि-मुक्ति निश्चय है.. तीर्थकर को तो उसी भव में 'ध्रुवसिद्धि'-मुक्ति निश्चित है, तथापि वे भावना (भाते हैं कि) अरे.. ! हम कब चारित्र ग्रहण करेंगे ? आहा..हा... ! हम अपने स्वरूप में कब रमेंगे ? झड़ी लगती है, जैसे मौसम में (सीजन में) व्यापारी को ममता की जड़ी लगती है। भाई ! दुकान जब लेनी होगी, झड़ी लगती होगी न दोनों व्यक्तियों को ? ओहो.. ! कहते हैं कि उस समय कितना मोह था, यह शक्कर देनी और क्या कहलाता है ? पाघड़ी देनी और अमुक देना औरदोनों जने फिरते थे, उस समय। ऐसे ही जैसे जगत को जो प्रिय चीज प्राप्त करने के लिए ममता की झड़ी लगी हो, वैसे धर्मी को प्रिय चारित्र है, उसकी एकाग्रता की झड़ी लगी होती है। समझ में आया ? आहा..हा... !

सो धर्म मुनिनकरि धरिये, तिनकी करतूति उचररिये;

ताकों सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी ॥१५॥

सम्यग्दर्शन-अपना अनुभव देख। तेरा स्वरूप देख, भाई ! वह सिद्धसमान प्रभु है, उसकी अनुभूति देख। अनुभूति को देखकर ऐसी भावना कर, मुनिपने की भावना कर। विशेष स्थिरता कैसे प्रगट हो-ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि जीव को गृहस्थाश्रम में भी होती है। समझ में आया ?

अन्वयार्थ :- ‘(सो) ऐसा रत्नत्रयस्वरूप धर्म...’ उसके साथ सन्धि की है। पहले धर्म (कहा) था न ऊपर ? ‘सो धर्म। ऐसा रत्नत्रयस्वरूप धर्म (मुनिनकरि) मुनियों द्वारा धारण किया जाता है।’ श्रावक इस पूर्ण धर्म को धारण नहीं कर सकता। पहले श्रावक की व्याख्या आ गयी है। मुनि के अतिरिक्त सर्व विपरीत (श्रावक) यह मुनि भी अन्तर में मुनिपना, हाँ ! अत्यन्त ऐसे धीमे.. धीमे.. कहीं प्रतिबद्ध नहीं कि मुझे यहाँ आधे घण्टे बोलना पड़ेगा-ऐसा प्रतिबद्ध नहीं कि यहाँ इतना शास्त्र लिखना पड़ेगा-ऐसा भी जिन्हें विकल्प में प्रतिबद्ध नहीं; अत्यन्त अप्रतिबद्ध (है)। समझ में आया ? अन्तर आनन्दस्वरूप में रमने को जो चारित्र धारण करते हैं, उनकी अन्तर की उग्रता के पुरुषार्थ में बहुत ही आगमनता, अतीन्द्रियता होती है। कहते हैं, ऐसा धर्म, मुनि धारण कर सकते हैं। गृहस्थदशा में श्रावक ऐसा धर्म धारण नहीं कर सकता है।

‘उन मुनियों की क्रियायें कही जाती है।’ उन मुनियों की आचरण की क्रियायें कही जाती है। ‘हे भव्य जीवों ! उसे सुनो, और अपने आत्म के अनुभव को (पिछानो) पहिचानो।’ मूल तो इस तेरे आत्मा को पहिचान कि यह आत्मा पूर्ण आनन्द शुद्ध चैतन्य है, उसका अनुभव कर और फिर ऐसी चारित्र की भावना कर अथवा ऐसी चारित्र की व्याख्या की है, वह तू सुन कि चारित्र कैसा होता है। यह अन्तिम ढाल, अब छठवीं ढाल। ‘अपनी अनुभूति पिछानी।’ अपने आत्मा का आनन्द अनुभव। इस आत्मा की अनुभूति-अनुभव इसे पहिचान।

अनुभवी को इतना रे आनन्द में रहना रे

भजना परिब्रह्म को दूजा कुछ न कहना रे।

पहिचानो, कहते हैं। ओ..हो..हो... ! दुनिया की सिरपच्ची छोड़। व्यापार-धन्धे के विकल्प छोड़-ऐसा कहते हैं; और ऐसी मुनिदशा की भावना कर। इसके बिना-चारित्र के बिना

मुक्ति नहीं हैं और चारित्र तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना होती नहीं है। समझ में आया ?

भावार्थ :- 'निश्चयरत्नत्रयस्वरूप धर्म को भावलिङ्गी दिगम्बर जैन मुनि ही अंगीकार करते हैं, अन्य कोई नहीं।' जिन्हें बाहर में नग्नदशा हो गयी हो, अन्दर में जो तीन कषायरहित आत्माके वीतरागी आनन्द की उग्रता के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में पड़े हो... समझ में आया ? वे जंगल में होवे तो भी उस आनन्द में होते हैं, आनन्द में मस्त होते हैं। मुनि, जंगल में हों परन्तु जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन उग्र हो गया है, प्रचुर स्वसंवेदन (हुआ है)–ऐसा 'कुन्दकुन्दाचार्य' ('समयसार' की) पाँचवी गाथा में कहते हैं। मुनियों को प्रचुर आनन्द-स्वसंवेदन-स्व (अर्थात्) अपना, सं-प्रत्यक्ष वेदन.. प्रचुर स्वसंवेदन (हुआ है)। समकिति को स्वसंवेदन है; सम्यग्दृष्टि को स्व-अपना, सं-प्रत्यक्ष आनन्द का आंशिक वेदन है; मुनि को प्रचुर स्वसंवेदन है। समझ में आया ? आहा..! दुनिया देखे कि वे दुःखी हैं, भगवान कहते हैं कि ये आनन्द में हैं।

देखो ! यहाँ कहते हैं, आहा..हा...! बाघिन खाती है, सिंहन-किसे खाये ? आनन्द को खाता है, यह आत्मा, अन्तर में आनन्द को लूटता है। अतीन्द्रिय आनन्द का सबड़का लेते हैं। सबड़का भाषा आती है तुम्हारे में ? सबड़का कढी-बढ़ी होती है न ऊँची कढी या दूधपाक, खीर (होवे, उसका) सबड़का (ले)। भाई कहते हैं, सबड़का भी कहते हैं। अपने समरूपता आती हो तो हमारे काठियावाड़ी सबड़का भाषा है। समझ में आया ?

यह आत्मा आनन्द का सरोवर है। आहा..हा...! जिसे तृषा लगी हो और फिर वह वहाँ मुँह डाले.. यह बकरी देखी ? (उसे) पानी की प्यास लगी थी। दो पैर नीचे हों और दो पैर पीछे, ठण्डा पानी का तालाब भरा हो और इसमें प्यास लगी हो तो एकदम पीवे। बकरी.. बकरी कहते हैं न, क्या कहते हैं ? बकरी ऐसे दो पैर नीचे रखे अर्थात् कि ऐसे मुँह घुमाना चाहिए न ? दो पैर पीछे। ऐसे पीवे तो मानो वह तो एकरस हो गयी हो। पीछे से कोई बाघ मारने, काटने आवे तो उसे पता नहीं रहता, उसे इतना रस होता है। उसकी आँखे भी वहाँ होती है, नज़र भी वहाँ होती है, सब पूरा सब (लक्ष्य वहाँ होता है)। पीछे से कोई खाने आवे, मारने आवे तो पता नहीं होता। अभी पकड़ेगा या नहीं तो भी पता नहीं होता।

इसी तरह (यहाँ) कहते हैं कि आत्मा में मुनि इतना आनन्द चूसते हैं, अन्दर में तालाब भरा है, ऐसे आत्मा आनन्द से भरा भगवान है, उसमें अन्तर की एकाग्रता में अकेला आनन्द चूसते हैं कि संयोग में परीषह या उपसर्ग का उन्हें पता नहीं पड़ता। समझ में आया ? इसका नाम मुनिपना है। मुनिपना कहीं ऐरागेरा नहीं है कि साधारण बात से प्राप्त हो जाए। समझ में आया ?

यह यहाँ कहते हैं, ऐसा धर्म तो भावलिंगी दिगम्बर मुनि धारण कर सकते हैं। ऐसा धर्म दूसरा गृहस्थाश्रम में सम्यक्त्वी भी, मुनि का जो धर्म है—ऐसा धारण नहीं कर सकता। मिथ्यादृष्टि को तो होगा ही किसका ? अन्यमति तो सब भले नग्न घूमे, परन्तु यह धर्म उन्हें नहीं हो सकता। वस्तु का भान नहीं है, दृष्टि नहीं है, मुझे अन्तर में कहाँ स्थिर होना है ? किस चीज में ? — उस चीज का पता नहीं है। वह चीज कैसी है, कितनी है—इसका पता नहीं है। अज्ञानी को तो चारित्र होता नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन का ध्येय जो पूर्ण आत्मा कितना है—उसका उसे पता नहीं है। समझ में आया ? आहा..हा... !

यह 'निश्चयरत्नत्रय स्वरूप...' भाई ! अब सब जिसे—तिसे जय महाराज (करे)। इन सब सेठियों ने भी किया, बहुत मक्खन लगाया, परन्तु ये कहते हैं—हम जानते थे कि ये सब ऐसा करते हैं। आहा..हा... ! सम्यग्दर्शन के आनन्द के स्वाद के समक्ष विशेष आनन्द लेने को चारित्र अंगीकार करते हैं।

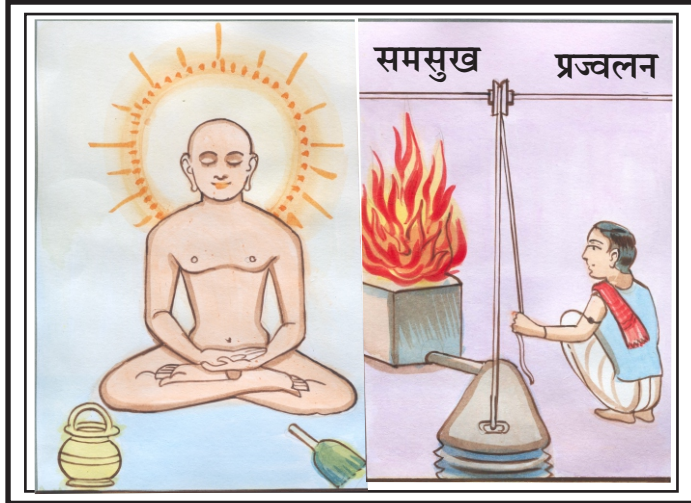
यह उसमें पाठ ऐसा है, उस 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में (कि) राग-द्वेष की निवृत्ति के लिये.. ऐसा आता है न ? यह (एक विद्वान ने) इससे पहले कहा था, उस समय (संवत्) १९९२ में, १९९२ के साल में आये थे न ? (एक विद्वान) और क्या कहलाते हैं दूसरे ? भाई ! अभी ये 'कलकत्तावाले' क्या कहलाते हैं ? भगत—ये दो आये थे, दो आये थे, (संवत्) १९९२ के साल में आये थे। 'हीराभाई' के मकान में। तीस वर्ष हो गये। वे उस दिन कहते थे कि देखो ! मुनि तो राग-द्वेष की निवृत्ति के लिये चारित्र ग्रहण करते हैं, इसलिए राग-द्वेष घटान के लिये चारित्र ग्रहण करना। यह शब्द 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में आता है—राग-द्वेष की निवृत्ति हेतु.. परन्तु इसका अर्थ यह हुआ कि वीतरागता प्रगट करने के लिए चारित्र है। समझ में आया ? यह श्लोक उस दिन बोले थे। आहा..हा... !

गृहस्थाश्रम में सम्यग्दर्शन-ज्ञान की वीतरागता का अंश आया होता है, चारित्र का अंश थोड़ा होता है परन्तु मुनिदशा के बिना ऐसा चारित्र... आहा..हा...! संयम चारित्र और उसकी यह मिठास की-आनन्द की उग्रता.. जो देव को नहीं है, इन्द्र को नहीं है, समकित्ती श्रावक को नहीं है और पाँचवे गुणस्थानवाले श्रावक को (नहीं है)। इतना आनन्द उन्हें बढ़ गया होता है। समझ में आया ?

कहते हैं, ऐसे भावलिंगी मुनि यह चारित्र 'अंगीकार करते हैं, दूसरे नहीं।' भार नहीं साधारण जीव का। 'आगे उन मुनियों के सकलचारित्र का वर्णन किया जाता है। हे भव्यों ! उन मुनिवरो का चारित्र सुनो और अपने आत्मा का अनुभव करो।' बढ़ाओ... सम्यग्दर्शन-ज्ञान करो और उससे भी बढ़ाओ-अनुभव करो।

पाँचवी ढाल का सारांश

'यह बारह भावनायें चारित्रगुण की आंशिक शुद्धपर्याय है...' चारित्र अर्थात् संवर है न ? संवर की भावना है न ? '(इसलिये) वे सम्यग्दृष्टि जीव को ही हो सकती है...' ऐसी भावनायें मिथ्यादृष्टि को नहीं होती। 'सम्यक् प्रकार से यह बारह प्रकार की भावनायें भाने से वीतरागता की वृद्धि होती है; उन बारह भावनाओं का चिन्तवन मुख्यरूप से तो वीतराग दिगम्बर जैन मुनिराज को ही होता है...' मुख्यरूप से.. श्रावक करता है 'और गौणरूप से सम्यग्दृष्टि को होता है।' (यह सब) पहले कहा है, इसकी बात हो गयी है, पहले बात हो गयी है न ? बारह भावनायें भाते-भाते, जैसे अग्नि को फूँक मारे और अग्नि प्रज्वलित हो, वैसे आत्मा की अग्नि-एकाग्र शान्ति है, वह ऐसी भावना भावे तो वह शान्ति प्रगट होती है।



दृष्टान्त आया था न ? फोटो नहीं आया था ? क्या आया था फोटो ? दिखता है या नहीं वहाँ ? यह नहीं इसमें। उसमें है। भावना का नहीं आया था ? प्रज्वलित। चित्र में वहाँ १३९ पृष्ठ पर है, हिन्दी देखो। देखो। 'इन चिन्तत समसुख जागे, जिमि ज्वलन पवन के लागे...' यह दूसरी ही है। 'इन चिन्तत समसुख जागे...' यह पाँचवी ढाल का दूसरा श्लोक है। 'जिमि ज्वलन पवन के लागे...'

इन चिन्तत सम सुख जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागे;

जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठाने॥२॥

देखो ! यह देखो ! यहाँ अग्नि है, उसमें देखो वह फूँक मारता है, अग्नि प्रज्वलित होती है, यह फोटो है। है या नहीं ? ऐसे भगवान आत्मा जिसने अन्दर के शान्ति के आनन्द को अन्तर दृष्टि में लिया है, वह इन बारह भावनाओं की फूँक मारता है तो शान्ति प्रज्वलित - उग्र होती है - ऐसा कहते हैं। भूँगली नहीं मारते सोनी ? सोनी कहते हैं न ? उस भूँगली में से फू.. फू.. करते हैं न ? अग्नि को जलाने (के लिये) इसी प्रकार धर्मात्मा सोनी, अपना निर्मल सोना शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, उसे अन्दर दृष्टि-ज्ञान में लिया है। उसे जरा अशुद्धता थोड़ी है, उसे बारह भावना द्वारा शुद्धता को प्रगट करके अशुद्धता का नाश करता है। कहो, समझ में आया इसमें ? यह आ गया, यह सब आ गया है। यह अधिक देखना होवे तो 'स्वामी कार्तिकेयनाप्रेक्षा' में से (देख-पढ़) लेना। लो ! 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' की अनीति की बात थोड़ी ली है। यह पाँचवी ढाल पूरी हुई।

छठवीं ढाल

(हरिगीत छन्द)

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य महाव्रत के लक्षण

षट्काय जीव न हननतैं, सब विध दरवहिंसा टरी;
 रागादि भाव निवारतैं, हिंसा न भावित अवतरी।
 जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू, बिना दीयो गहैं;
 अठदशसहस विध शील धर, चिद्ब्रह्ममें नित रमि रहैं॥१॥

अन्वयार्थ :- (षट्काय जीव) छह काय के जीवों को (न हननतैं) घात न करने के भाव से (सब विध) सर्व प्रकार की (दरवहिंसा) द्रव्यहिंसा (टरी) दूर हो जाती है और (रागादि भाव) राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावों को (निवारतैं) दूर करने से (भावित हिंसा) भावहिंसा भी (न अवतरी) नहीं होती, (जिनके) उन मुनियों को (लेश) किंचित् (मृषा) झूठ (न) नहीं होती, (जल) पानी और (मृण) मिट्टी (हू) भी (बिना दियो) दिये बिना (न गहैं) ग्रहण नहीं करते; तथा (अठदशसहस) अठारह हजार (विध) प्रकार के (शील) शीलको-ब्रह्मचर्य को (धर) धारण करके (नित) सदा (चिद्ब्रह्ममें) चैतन्यस्वरूप आत्मा में (रमि रहैं) लीन रहते हैं।

भावार्थ :- निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वरूप में निरन्तर एकाग्रतापूर्वक रमण करना ही मुनिपना है। ऐसी भूमिका में निर्विकल्प ध्यानदशारूप सातवाँ गुणस्थान बारम्बार आता ही है। छठवें गुणस्थान के समय उन्हें पंच महाव्रत, नग्नता, समिति आदि अट्ठाईस मूलगुण के शुभभाव होते हैं, किन्तु उसे वे धर्म नहीं मानते; तथा उस काल भी उन्हें तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति निरन्तर वर्तती ही है।

छह काय (पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर काय तथा एक त्रस काय) के जीवों का घात करना, सो द्रव्यहिंसा है और राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान इत्यादि भावों की उत्पत्ति होना, सो भावहिंसा है। वीतरागी मुनि (साधु) यह दो प्रकार की हिंसा नहीं करते, इसलिये उनको (१)

अहिंसा महाव्रत^१ होता है। स्थूल या सूक्ष्म-ऐसे दोनों प्रकार की झूठ वे नहीं बोलते, इसलिये उनको (२) सत्य महाव्रत होता है। अन्य किसी वस्तु की तो बात ही क्या, किन्तु मिट्टी और पानी भी दिये बिना ग्रहण नहीं करते, इसलिये उनको (३) अचौर्यमहाव्रत होता है। शील के आठरह हजार भेदों का सदा पालन करते हैं और चैतन्यरूप आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं, इसलिये उनको (४) ब्रह्मचर्य (आत्म-स्थिरतारूप) महाव्रत होता है।१॥

अब छठवीं ढाल, छठवीं ढाल। मुनिव्रत का-मुनिचारित्र का स्वरूप अन्त में कहते हैं। बहुत अच्छी बात की है। 'छहढाला' (पण्डित) 'दौलतरामजी' ने बहुत अच्छी संक्षिप्त में बहुत सरस (बनाई है)। गागर में सागर भर दिया है। (यह) बहुत-सौ को कण्ठस्थ होती है, परन्तु इसका भाव नहीं समझते। (ऐसे की ऐसे) रट लेते हैं। हमारे (इन्हें) ऐसा था न ? याद किया था, बस ! याद किया, जाओ।

मुमुक्षु :- छोटे बच्चों को पाठशाला में पढाते हैं।

उत्तर :- हाँ, सब को पढाते हैं परन्तु यह तो बड़े हैं न, यह तो पहले हैं। इनका दिगम्बर का जन्म है।

मुमुक्षु :- इन्हें सरल पड़ जाए न ?

उत्तर :- इसका कुछ नहीं। समझ में उसे सरल पड़े। पहले थोड़ा-बहुत हो तो सरल पड़े न-ऐसा कहते हैं।

हरिगीत छन्द, लो ! यह हरिगीत कहा है, यही अपना हरिगीत। 'अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्यमहाव्रत के लक्षण...' मुनि को ये पाँच महाव्रत होते हैं। मुनि अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, अतीन्द्रिय आनन्द का सम्यग्ज्ञान प्रगट किया है, उसमें सम्यक्चारित्र-उग्ररूप से शान्ति का, आनन्द का प्रगटपना किया है, उन्हें ऐसे पाँच महाव्रत के शुभ विकल्प (होते हैं)। इस विकल्प द्वारा उनका चारित्र कैसा है-ऐसा यहाँ बताना चाहते हैं।

१. यहाँ वाक्य बदलने से महाव्रतों के लक्षण बनते हैं। जैसे कि-दोनों प्रकार की हिंसा न करना सो अहिंसामहाव्रत है-इत्यादि।

समझ में आया ?

(हरिगीत छन्द)

षट्काय जीव न हननतैं, सब विध दरवहिंसा टरी;
 रागादि भाव निवारतैं, हिंसा न भावित अवतरी।
 जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू, बिना दीयो गहैं;
 अठदशसहस विध शील धर, चिद्ब्रह्ममें नित रमि रहैं॥१॥

आहा..हा...! 'चिद्ब्रह्म में नितरमि रहे...' मुनि अर्थात्... आहा..हा..! समझ में आया ? देखो न ! 'श्रीमद्' ने 'अपूर्व अवसर' लिखा है। उसमें तो यह लिखा है न ? 'बाह्यान्तर निर्ग्रथ जो वह भी बाह्यान्तर निर्ग्रन्थपना है। चिद्ब्रह्म में यह आनन्द.. चिद् अर्थात् ज्ञान, ब्रह्म अर्थात् आनन्द। इस चिद्ब्रह्म अर्थात् जो आनन्द में नित्य रमते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द में चरना, रमना चारित्र है न ? चरना, चरना अर्थात् यह पशु चारा चरते हैं न ? बाहर जाए (तब) चरते हैं, कहते हैं न ? आत्मा अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द की महा फलस भरी है, अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द भरा है, उसमें एकाग्र होकर चरते हैं, अतीन्द्रिय आनन्द को चरते हैं, रमें.. रमें.. लीन.. लीन.. लीन.. लीन.. दूसरे देवलोक की इन्द्राणी आये, विचलित करे तो पता नहीं, इतना आनन्द है। आहा..हा...! ऐसे मुनियों को ऐसा पंच महाव्रत का भाव होता है-ऐसा कहते हैं। अन्तिम शब्द रखकर (-ऐसा कहते हैं)। समझ में आया ? (अभी) पहली मूल बात पड़ी रही और ऊपर की रह गयी। चावल (रह गये)।

मुमुक्षु :- चावल अर्थात् ?

उत्तर :- चावल अर्थात् ऐसे मानो यह अहिंसा पालते हैं, महाव्रत पालते हैं, परन्तु ये कहाँ चावल है। वह मूल बात रह गयी-अन्दर दर्शन-ज्ञान और शान्ति और आनन्द जो है। आहा..हा...! समझ में आया ?

अन्वयार्थ :- 'पाँचवी ढाल में कहा, उन मुनिराजों को (षट्काय जीव) छहकाय के जीवों का घात नहीं करने से...' लो ! छह काय के जीव। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस छह काय जीव हैं, हाँ ! जीव हैं वे। एक कण पृथ्वी में एक कण में असंख्य जीव हैं।

पानी की एक बूंद में असंख्य एकेन्द्रिय जीव हैं। पृथ्वी पानी, अग्नि.. अग्नि की एक चिंगारी में असंख्य जीव। वायु, वनस्पति, आहा..हा...! एक पत्ता (उसमें) असंख्य जीव हैं। आलू के टूकड़े में अनन्त जीव हैं। त्रस-दोइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय-इन छह काय की हिंसा (नहीं) करने के भाव से 'सर्व प्रकार द्रव्यहिंसा (टरी) दूर हो जाती है।' उन्हें यह भाव नहीं होता। शब्द यहाँ है, हाँ ! देखा ?

'न हननतैं, सब विध दरव हिंसा टरी.. जीव न हननतैं सब विध दरवहिंसा टरी...' ऐसा। यह हनन-घात का भाव नहीं, इसलिए उन्हें द्रव्यहिंसा दूर हो गयी है। भाव (हिंसा) बाद में कहेंगे। 'षट्काय जीव न हननतैं, सब विध दरवहिंसा टरी...' एक एकेन्द्रिय का एक दाना या टूकड़ा भी.. हरी, काई होती है न ? नीम, नीम का इतना पत्ता, इतना टूकड़ा, हाँ ! उसमें असंख्य जीव हैं। उसके ऊपर पैर दे और पड़गाहे तो ले नहीं। पानी का बिन्दु उनके लिये बनाया होवे तो मर जाए तो भी पानी ले नहीं-ऐसा जिनके छह काय की दया का भाव होता है। समझ में आया ? परन्तु उस चिद्ब्रह्म (में) रमने की भूमिकासहित की (बात है)।

छह कायके जीव है। छह काय के मावतर (पीहर) है-ऐसा कहते हैं। आया है न ? छह काय का पीहर, छह काय के माँ-बाप। पीहर, पीहर। किसी प्राणी को मुझ से दुःख न होओ। एकेन्द्रिय भी अनन्त जीव एक इतने से टूकड़े में। पानी की एक बूंद में असंख्य जीव हैं। वह पाँच शेर, पाँच शेर, दस-दस शेर पानी साधुओं के लिये करे (और वे) लें (तो) उनके व्यवहार का भी ठीकाना नहीं है, (उसे निश्चय) वस्तु हो नहीं सकती। इससे पहली बात रखी-'छह काय जीव न हननतैं...' नाश करने का भाव जिन्हें नहीं होता। यहाँ (लोगों में) बाहर का रहा कि यह छह काय को नहीं मारता, छह काय को नहीं मारता; परन्तु छह काय को नहीं मारना.. यह भाव है, वह शुभभाव किसे व्रतरूप होता है ? जिसे अन्तर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और चिद्ब्रह्म में रमणतारूप आनन्द होता है, उस भूमिका में ऐसा भाव होता है। समझ में आया ? प्रत्येक जीव के प्रति उन्हें करुणाभाव है।

'छह काय के जीवों का घात नहीं करने के भाव से समस्त प्रकार की द्रव्यहिंसा (टरी) दूर हो जाती है.. न हननतैं..' उसमें से निकाला है। भावहिंसा बाद में कहेंगे। 'रागादिभाव निवारतैं...' देखो ! रागादि भाव हैं, उन्हें टाला है, इसलिए 'हिंसा न भाविक अवतरी..' इसमें

भावहिंसा नहीं होती। अवतरी अर्थात् उत्पन्न नहीं होती क्योंकि रागादि भाव मिटाये हैं-ऐसा कहा है न ? अन्दर से रागादि मिटाये हैं। राग है, वही भावहिंसा है। शुभ-अशुभराग है, वह भावहिंसा है। उस 'रागादिभाव निवारतै...' जिसने ऐसा भाव का अन्तर में अभाव किया है। आहा..हा... !

मुनि अर्थात् परमेश्वरपद। मुनि अर्थात् 'णमो लोए सव्व साहूणं, णमो लोए सव्व आइरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्जायाणं'-पाँच पद के साथ ऐसा जो चारित्र कहते हैं कि श्रावकों को सम्यग्दर्शनसहित उसकी भावना करनी और अपनी दशा को पहिचानना, कितनी अद्भुत दशा है। ऐसी दशा नहीं है, उसकी भावना करनी-ऐसा कहते हैं, हाँ ! पहले कहा था न ? पिछानना, अपनी अनुभूति पहिचानना।

कहते हैं, इन छह काय के जीवों का कोई भी एक कण-पृथ्वी का, पानी का, अग्नि का, वायु का, वनस्पति और त्रस-किसी जीव का घात नहीं करते, नव-नव कोटि से-ऐसा आया न ? 'सब विध'-नव कोटि-मन, वचन, काया, करना, कराना और अनुमोदन - नव-नव कोटि से छह काय के जीव को घात नहीं करने का भाव उन्हें होता है-ऐसी जिन्हें दया प्रगट हुई है। ओ..हो..हो.. ! अन्दर इतनी वीतरागता है कि इससे विकल्प इतना (आता है कि) मुझसे छह काय के किसी प्राणी को दुःख न होवे। उन्हें अनन्त जीवों की आस्था है न ? निगोद में अनन्त जीव हैं, काई में अनन्त जीव हैं, अनन्त जीव हैं। इस तरह नीम का फूल कहलाता है न फूल, (उसमें) अनन्त जीव हैं। ऐसा भाव (-जीव घात नहीं करने का भाव) आत्मा के आनन्द में रमनेवाले चारित्रवन्त सन्तों को यह पहला महाव्रत ऐसा होता है। उसमें से यह ले लेना। समझ में आया ?

'रागादिभाव निवारतै, हिंसा न भाविक अवतरी...' अर्थात् हिंसा हुई नहीं, वह अहिंसा व्रत कहा जाता है-ऐसा लेना। यह बाद में लेगें, एक शब्द। उनने लिखा है, समझे न ? इसमें नहीं होगा। यहाँ कहते हैं-'नोध :- यहाँ वाक्य बदलने से अनुक्रम से महाव्रतों के लक्षण बनते हैं...' नीचे हैं, इस तरफ है। वाक्य बदलने से अर्थात् क्या ? कि यह हुआ, नहीं घात करना-यह हुआ, इसलिए अहिंसा महाव्रत हुआ, ऐसा। छह काय के जीव किसी भी जीव को मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदना से घात नहीं करना; इसका नाम पहला अहिंसा

महाव्रत हुआ। ओ..हो..हो...! कहो, मुनि को ऐसा भाव-व्यवहार होता है, नहीं होता-ऐसा नहीं। निश्चय अकेला होवे और ऐसा व्यवहार न होवे-ऐसा नहीं है। व्यवहार ऐसा होता है। समझ में आया ?

श्रावक के व्यवहार में अकेली त्रस की हिंसा का त्याग है या संकल्पी हिंसा का त्याग है। मुनि को आत्मा की इतनी आनन्ददशा में इतना एक जरा-सा विकल्प-छह काय के जीवों को न मारने का भाव होता है। सर्व सावद्ययोग का त्याग है-ऐसी दशा मुनि धारण कर सकते हैं। महाउग्र पुरुषार्थी, जिन्हें एकाध भव आदि में मुक्ति की तैयारी है-ऐसे जीव, चारित्र (अंगीकार करते हैं)। ऐसा चारित्र, हाँ ! यों लोगों ने कल्पना से माना हुआ बाहर का वह नहीं। भाई ! आहा..हा..! अन्दर में जहाँ राग का विकल्प मिट गया है, आत्मा में अहिंसा प्रगट हुई, देखो ! अन्दर में अहिंसा.. आहा..हा...! उन्हें ऐसा जरा-सा राग छह काय को न मारना-घात न करना, वह होता है। वीतराग होकर वह भी मिट जाता है।

‘राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान...’ यह असत्य की बात कहते हैं। यह भावहिंसा की बात करते हैं। ‘राग-द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि भावों को दूर करने से...’ यह तो पहले में भावघात का आया था, यहाँ अन्तर का (लेते हैं)। ‘(भावहिंसा) भावहिंसा भी (न अवतरी)...’ अर्थात् उत्पन्न नहीं होती। उत्पन्न नहीं होता-यहाँ तो ऐसा कहते हैं। ‘न अवतरी...’ अन्तर में इतनी राग रहित भाव-अहिंसा दशा हुई है और इसलिए वह हिंसा का भाव वहाँ उत्पन्न होता ही नहीं। इसे पहला महाव्रत-अहिंसाव्रत कहा जाता है।

मुमुक्षु :- दोनों का है।

उत्तर :- हाँ, दोनों है न। द्रव्यहिंसा मिटी और भावहिंसा गयी तब, ऐसा।

‘उन मुनियों का जरा भी झूठ नहीं होता...’ जरा भी झूठ नहीं होता। प्राण जाए तो भी असत्य नहीं बोलते। नव-नव कोटि से-मन, वचन और काया तथा करना, कराना, अनुमोदना। वे तो वीतरागी मस्त मुनि जंगल में रहते हों, वनवास में, सिंह की तरह अन्दर आत्मा में गर्जते हैं। वह सिंह बाहर में गर्जता है, ये अन्दरमें गर्जते हैं। आनन्द में लवलीन... उन्हें जरा भी झूठ बोलने का मन, वचन और काया से, करना, कराना, अनुमोदन नहीं होता। यह दूसरा महाव्रत हो गया।

झूठ नहीं होती, इसलिए दूसरा महाव्रत, ऐसा।

‘(जल) अर्थात् पानी और (मृण) अर्थात् मिट्टी भी दिये बिना ग्रहण नहीं करते...’ अचित्त निर्दोष पानी और मिट्टी अचित, यह भी दिये बिना नहीं लेते। समझ में आया ? शरीर में से कफ निकला (हो), सुखी धूल होती है न ? अज्ञानियों ने मिट्टी डाली हो। पानी और मिट्टी भी दिये बिना ग्रहण नहीं करते-यह तीसरा अचौर्यमहाव्रत है, अचौर्यमहाव्रत।

‘तथा (अठदशसहस) अठारह हजार प्रकार के शीर को-ब्रह्मचर्य को धारण करके...’ अठारह हजार प्रकार के ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं। आहा..हा... ! अठदशसहस, लो ! हमेशा, यह ब्रह्मचर्य धारण करके नित्य ‘(चिद्ब्रह्म) चैतन्य स्वरूप आत्मा में लीन रहते हैं।’ इस शुद्धोपयोग में अधिक मुख्य तो एकत्व है।

मुमुक्षु :- अठारह हजार ?

उत्तर :- ये सब ब्रह्मचर्य के प्रकार हैं, बहुत प्रकार हैं, भेद हैं। क्रोध से, मान से, माया, लोभ, मन्दराग.. पूर्ण ऊपर होता है। समझ में आया ? यह उसमें लिखा है-अठारह हजार.. शिलांग रस धारा नहीं आता ? ऐ..ई.. ! पाँचवे ‘श्रवणसूत्र’ में शब्द आता है। अर्थ का पता नहीं पड़ता, परन्तु इसे कण्ठस्थ कहाँ से (होवे) ? अठारहसहस शिलांगत धारा, अक्षय आया चरिता। यह पाँचवा ‘श्रवणसूत्र’ तुम्हें कण्ठस्थ नहीं, इन सबको बहुत-सों को कण्ठस्थ होता है। सम्प्रदाय में नहीं ? स्थानकवासी में आता है। स्थानकवासी में कण्ठस्थ होता है। स्थानकवासी में बहुत-सों को कण्ठस्थ है। एक ‘दरियापरी’ के अतिरिक्त सब को कण्ठस्थ होगा। तुमने किया है या नहीं ? यह किया था, अब भूल गये होंगे। ब्रह्मचर्य के अठारह हजार प्रकार हैं। उन्हें धारण करके चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन रहे, उन्हें मुनि कहते हैं। ऐसी मुनिपने की भावना, सम्यग्दृष्टि को अनुभव बढ़ाने के लिए बारम्बार ऐसी भावना करना। भावार्थ में विशेष कहेंगे।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



वीर संवत २४९२, फाल्गुन वद ४, गुरुवार
दि. १०-३-१९६६, ढाल-६, श्लोक-१-४. प्रवचन नं. ४७

‘दौलतरामजी’ पण्डित हुए हैं, दिगम्बर पण्डित (थे)। उन्होंने यह ‘छहढाला’ (बनाई है)। ‘छहढाला’ प्रचलित बहुत है, परन्तु उसके अर्थ में गम्भीरता बहुत है। छठवीं ढाला की पहली गाथा का भावार्थ। मुनिपना की बात करते हैं। मुनि कैसे होते हैं ?

मुमुक्षु :- पंचम काल के ?

उत्तर :- पंचम काल के मुनि। यहाँ तो पंचम काल के पण्डित हैं। पहले मुनि का ज्ञान कराते हैं। अन्तिम छठवीं ढाल है न ? पाँच ढाल तो चल गई। उसका भावार्थ है, देखो !

‘निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वस्वरूप में निरन्तर एकाग्रतापूर्वक रमण करना ही मुनिपना है।’ मुनिपना की व्याख्या। आत्मा-अपना आत्मा निजानन्द स्वरूप, निज-अपना आनन्दस्वरूप (है)। ऐसे अन्तर में आनन्द में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रपूर्वक लीनता करना। अन्तर स्वरूप शुद्ध परमानन्दस्वरूप की प्रतीत, ज्ञान और रमणतापूर्वक अन्दर में लीनता करना। ‘निरन्तर एकाग्रतापूर्वक रमण करना।’ उसका नाम चारित्रवंत मुनि कहने में आता है। मुनिपना का ज्ञान कराते हैं, यथार्थ क्या चीज है (उसका ज्ञान कराते हैं)।

‘ऐसी भूमिका में निर्विकल्प ध्यानदशारूप सातवाँ गुणस्थान बारम्बार आता ही है।’ मुनि को अन्तर आनन्द में रमते-रमते सप्तम गुणस्थान, अप्रमत्तदशा है वह बारम्बार आती है। वहाँ से हठे (और) छठवे गुणस्थान में आते हैं तो ‘पंच महाव्रत, नग्नता...’ मुनि नग्न होते हैं। ‘समिति आदि अट्टाईस मूलगुण के शुभभाव होते हैं...’ उन्हें शुभभाव राग होता है, ‘किन्तु उसे वे धर्म नहीं मानते;...’ परमार्थ धर्म नहीं समझते। समझ में आया ? धर्म नहीं समझते,

उसका अर्थ परमार्थ धर्म व्यवहार धर्म-शुभभाव आता है। अन्तर आनन्दस्वरूप में शुद्धोपयोग में बहुत काल रमते हैं, परन्तु उसमें रह न सके, (तब) छठे गुणस्थान में ऐसा भाव आता है। वह शुभभाव है।

‘उस काल में उन्हें तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति निरन्तर वर्तती ही है।’ अन्तर में राग और विकाररहित, शुद्ध भगवान की निर्मल परिणति की पर्याय-अवस्था तो निरन्तर रहती है। उसको भगवान के शास्त्र में मुनिपना कहने में आया है। वे ‘छह काय के...’ जीवों की हिंसा नहीं करते। ‘पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावरकाय...’ वह त्रस, उसके घात की द्रव्यहिंसा (और) राग-द्वेष, काम, क्रोधादि भावहिंसा। इस भावहिंसा के त्यागी हैं। अन्तर में राग-द्वेष नहीं है, बाह्य में बाह्य की छह काय की हिंसा भी नहीं है।

‘वीतरागी मुनि यह दो प्रकार की हिंसा नहीं करते...’ अहिंसा महाव्रत का नाम अहिंसा। ‘स्थूल और सूक्ष्म-ऐसे दोनों प्रकार की झूठ वे नहीं बोलते, इसलिए उनको (२) सत्य महाव्रत...’ कहने में आता है। ‘अन्य किसी वस्तु की तो बात ही क्या, किन्तु मिट्टी और पानी भी दिये बिना ग्रहण नहीं करते, इसलिए...’ उसको अचौर्य महाव्रत कहने में आता है। ‘शील के अठारह हजार भेदों का सदा पालन करते हैं...’ चैतन्य भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय स्वरूप में लीन रहते हैं। इसलिए उनको ब्रह्मचर्य-आत्मस्थिरतारूप महाव्रत कहने में आता है। इतनी बात तो श्लोक में थी उसकी टीका थी।

‘अब, परिग्रहत्याग महाव्रत, इर्यासमिति और भाषासमिति’ की व्याख्या दूसरे बोल में कहते हैं। मुनि की व्याख्या करते हैं। मुनि का स्वरूप तो बताना चाहिए न (कि) क्या स्वरूप है ? श्रावक की बात हो गई, सम्यग्दर्शन की बात हुई, अब मुनि की व्याख्या में अच्छी बात आयेगी।

परिग्रहत्याग महाव्रत, ईर्यासमिति^१ और भाषासमिति

अंतर चतुर्दस भेद बाहिर, संग दसधा तैं टलै
 परमाद तजि चौकर मही लखि, समिति ईर्या तैं चलै।
 जग-सुहितकर सब अहितहर, श्रुति सुघद सब संशय हरै;
 भ्रमरोग-हर जिनके वचन-मुखचन्द्र तैं अमृत झरै ॥२॥

अन्वयार्थ :- (वे वीतरागी दिगम्बर जैन मुनि) (चतुर्दस भेद) चौदह प्रकार के (अन्तर) अन्तरंग तथा (दसधा) दस प्रकार के (बाहिर) बहिरंग (संग) परिग्रह से (टलै) रहित होते हैं। (परभाव) प्रमाद-असावधानी (तजि) छोड़कर (चौकर) चार हाथ (मही) जमीन (लखि) देखकर (ईर्या) इर्या (समिति तै) समिति से (चलै) चलते हैं, और (जिनके) जिन मुनिराजों के (मुखचन्द्र तैं) मुखरूपी चन्द्र से (जग सुहितकर) जगत का सच्चा हित करनेवाला तथा (सब अहितकर) सर्व अहित का नाश करनेवाला, (श्रुति सुखद) सुननेमें प्रिय लगे ऐसा (सब संशय) समस्त संशयों का (हरै) नाशक और (भ्रम रोगहर) मिथ्यात्वरूपी रोग को हरनेवाला (वचन अमृत) वचनरूपी अमृत (झरै) झरता है।

भावार्थ :- वीतरागी मुनि चौदह प्रकार के अन्तरंग और दस प्रकार के बहिरंग परिग्रहों से रहित होते हैं, इसलिए उनको (५) परिग्रहत्याग-महाव्रत होता है। दिन में सावधानीपूर्वक चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलने का विकल्प उठ वह (१) ईर्यासमिति है, तथा जिसप्रकार चन्द्र से अमृत झरता है उसी प्रकार के मुनि के मुखचन्द्र से जगत का हित करनेवाले, सर्व अहित का नाश करनेवाले, सुनने में सुखकर, सर्व प्रकार की शंकाओं का

१. अदत्त वस्तुओं का प्रमाद से ग्रहण करना ही चोरी कहलाती है; इसलिए प्रमाद न होने पर भी मुनिराज नदी तथा झरने आदि का प्रासुक हुआ जल, भस्म (राख) तथा अपने आप गिरे हुए सेमल के फल और तुम्बीफल आदि का ग्रहण कर सकते हैं—ऐसा 'श्लोकवार्तिकालंकार' का अभिमत है। (पृ. ४६३)

दूर करनेवाले और मिथ्यात्व (विपरीतता या सन्देह) रूपी रोग का नाश करनेवाले ऐसे अमृतवचन निकलते हैं। इस प्रकार समितिरूप बोलने का विकल्प मुनि को उठता है। वह (२) भाषा समिति है।

-उपरोक्त भावार्थ में आये हुए वाक्यों का बदलने से क्रमशः परिग्रहत्याग महाव्रत तथा ईर्या समिति और भाषा समिति का लक्षण हो जायेगा।

प्रश्न :- सच्ची समिति किसे कहते हैं ?

उत्तर :- परजीवों की रक्षा के हेतु यत्नाचार प्रवृत्ति को अज्ञानी जीव समिति मानते हैं; किन्तु हिंसा के परिणामों से तो पापबन्ध होता है। यदि रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे तो पुण्यबन्ध का कारण क्या सिद्ध होगा ?

तथा मुनि एषणासमिति में दोष को टालते हैं; वहाँ रक्षा का प्रयोजन नहीं है, इसलिये रक्षा के हेतु ही समिति नहीं है। तो फिर समिति किसप्रकार होती है ? मुनि को किंचित् राग होने पर गमनादि क्रियाएँ होती हैं, वहाँ उन क्रियाओं में अति आसक्ति के अभाव से प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती, तथा दूसरे जीवों को दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन सिद्ध नहीं करते, इसलिये उनसे स्वयं दया का पालन होता है; - इस प्रकार सच्ची समिति है। (१मोक्षमार्ग प्रकाशक, (देहली) पृ. ३३५)॥२॥

दूसरी गाथा।

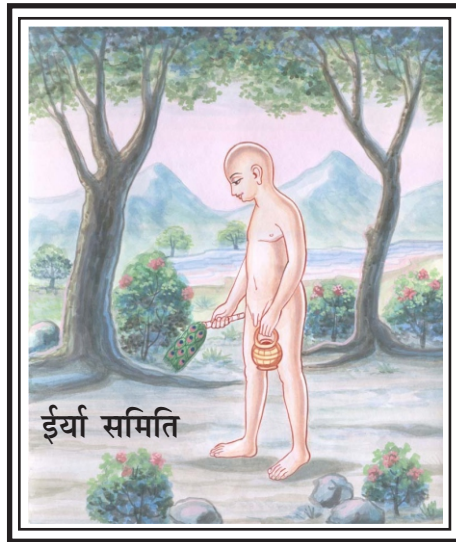
अंतर चतुर्दस भेद बाहिर, संग दसधा तैं टलैं;
परमाद तजि चौकर मही लखि, समिति ईर्या तैं चलैं।
जग-सुहितकर सब अहितकर, श्रुति सुखद सब संशय हरैं;
भ्रमरोग-हर जिनके वचन-मुखचन्द्र तैं अमृत झरैं॥२॥

१ ईर्या भाषा एषणा, पुनि क्षेपण आदान;
प्रतिष्ठापना जुटक्रिया, पाँचों समिति विधान।

देखो ! भाषा समिति। भाषा समिति की व्याख्या। अलौकिक बात है। क्या कहते हैं ? देखो !

अन्वयार्थ :- शब्दार्थ :- ‘(वीतरागी) संत दिगम्बर जैन मुनि (चतुर्दश भेद) चौदह प्रकार के अन्तरंग तथा (दसधा) दस प्रकार के बहिरंग परिग्रह से रहित होते हैं।’ उनको वस्त्र-पात्र होते नहीं, नग्न दशा होती है, अन्तर में आनन्द का भान होता है। अतीन्द्रिय तीन कषाय के अभाव से अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं। बाहर में नग्नदशा, वस्त्र-पात्र का भी त्याग है।

‘प्रमाद-असावधानी छोड़कर...’ अब ईर्यासमिति कहते हैं न ? पहले पंच महाव्रत की व्याख्या की। ईर्या समिति। ‘प्रमाद-असावधानी छोड़कर चार हाथ जमीन देखकर ईर्यासमिति से चलते हैं...’ चार हाथ प्रमाण देखकर कोई प्राणी को दुःख न हो, ऐसे आत्मा के आनन्दपूर्वक प्रमादरहित चलते हैं। उसका नाम ईर्यासमिति है।

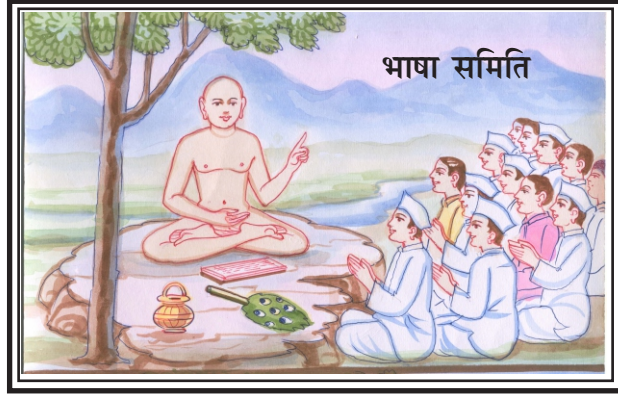


अब भाषासमिति में विशेष अलौकिक बात है। देखो ! ‘जिन मुनिराजों के मुखरूपी चन्द्र से...’ दिगम्बर संत आत्मज्ञानी आनन्द में लीने होनेवाले ‘कुन्दकुन्दाचार्य’, ‘अमृतचन्द्राचार्य’ महा दिगम्बर मुनि हुए। देखो ! कौन लाया है यह ? ‘कलकत्ता’ ? अच्छा। हजार वर्ष पहले संवत् ४९ में भरतक्षेत्र में दिगम्बर मुनि हुए। ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ टाड़पत्र पर लिखते हैं। ‘समयसार’, ‘प्रवचनसार’ आदि लिखते हैं। भगवान के पास गये थे। महाविदेहक्षेत्र में ‘सीमंधर’ भगवान बिराजते हैं, वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। वहाँ से (आकर) शास्त्र बनाते हैं, देखो अन्दर ! आप को ‘कलकत्ता’ ले जाना है ? कहो, समझ में आता है ?

मुनि तो अन्तर में आनन्द (में रहते हैं)। श्रावक भी उसको कहते हैं कि, जिसको अन्तर में शुद्धस्वभाव का अन्तर अनुभव होकर सम्यग्दर्शन हुआ हो और उसको देश-आंशिक त्याग

होता है। मुनि तो विशेष आत्मा के आनन्द में उग्र होते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव और सर्व विरति का भान उनको होता है। पंच महाव्रत की व्याख्या तो की। ईर्यासमिति कही, अब भाषासमिति में अलौकिक बात कहते हैं। सारे जैनदर्शन का सार भाषासमिति में समा देते हैं। समझ में आया ? कैसा है भाव ? भाषासमिति कैसे बोले तो बोले ?

‘जिन मुनिराजों के मुखरूप चन्द्र से...’ मानो अमृत झरता हो। कैसा अमृत ? भाषासमिति में कैसी प्ररूपणा होती है ? ‘जगत का सच्चा हित करनेवाला...’ वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव ने जो मार्ग कहा है, वह मार्ग मुनि, भाषासमिति में कहते हैं। कैसा ? ‘जगत का सच्चा हित...’ ‘सुहितकर’ शब्द पड़ा है न ? ‘जग सुहितकर’ सुहितकर का अर्थ मोक्षमार्ग अथवा मोक्ष का मार्ग



अथवा मोक्ष। सुहित-जगत को ऐसा कहते हैं कि, हे प्राणियों ! तुम्हारा पूर्ण आनन्दरूपी मोक्ष, वह मोक्ष का मार्ग तुम प्रगट करो। वीतरागी दशा और वीतरागी दशा से प्राप्त पूर्णानन्द की प्राप्ति करो। ऐसा सुहितकर मार्ग मुनिओं वाणी में कहते हैं। कहो ! आहा..हा... ! भाषा देखो !

‘जगत का सच्चा हित करनेवाला...’ हित.. परमहित। अपना आत्मा शरीर, कर्म से रहित अन्दर है और शुभ-अशुभभाव, विकार से भी रहित है, ऐसे अपने आत्मा में दृष्टि लगाओ, ज्ञान करो और स्वरूप में लीन हो। मुनिओं वीतरागी भाषा में, समिति में हितकर उपदेश, उनके मुखरूपी चन्द्रमामें से सुहितकर-चन्द्र का अमृत झरता है। कहो, समझ में आया ? सुहितकर-सच्चा हित करनेवाला। ‘तथा (सब अहितकर)...’ नास्ति कहते हैं। ‘अहित का नाश करनेवाला...’ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान मिथ्या राग-द्वेष का भाव, जो अहितकर है, (उसका नाश करनेवाला)।

मुमुक्षु :- गरीबी ।

उत्तर :- गरीबी अहितकर नहीं है। समझ में आया ? क्या ? गरीब होना अहितकर नहीं है, वैसे तवंगर होना हितकर नहीं है। क्या कहते हैं ? पुस्तक है या नहीं ? जगत में कोई गरीब नहीं है। ऐसा यहाँ तो कहते हैं। तवंगर भी कोई नहीं है। भाई !

मुमुक्षु :- तवंगर भी नहीं ?

उत्तर :- ना, ना। तवंगर नहीं है। पर्याय में रांक-भिखारी है। जो कोई पुण्य-पाप की इच्छा करते हैं और पुण्य के फल की इच्छा करते हैं, वह रांक है, भिखारी है। वह आया था, कल आया था या नहीं ? दीन.. दीन। 'दीन' शब्द कल आया था। उस दीनता को नाश करनेवाला उपदेश मुनि देते हैं। मुनि के मुखमें से, दिगम्बर मुनि संत आत्मज्ञानी-ध्यानी, जिनको अन्तर (में) छट्टा-सातवां गुणस्थान प्रगट हुआ है, जो सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव ने जो मार्ग कहा, ऐसा सुहितकर मार्ग का उपदेश देते हैं। भैया ! तेरा हित, अपना शुद्ध स्वरूप भगवान आत्मा, उसकी अन्तरदृष्टि करो, आत्मा का ज्ञान करो, आत्मा में लीन हो तो सुहित-पूर्ण मुक्ति तुझे होगी। ऐसा उपदेश मुनिराज भाषासमिति में ऐसी बात करते हैं। पाप करना, हिंसा करनी, झूठ बोलना, तेरी अवस्था ठीक होगी, लड़का होगा ऐसी बात मुनि के मुखमें से कभी होती नहीं। समझ में आया ?

अहितकर-अहित को करनेवाली। मिथ्याश्रद्धा आदि.. विस्तार तो बाद में करेंगे, पहले सामान्य बात करते हैं। अहित का करनेवाला-आत्मा के शुद्ध स्वभाव को छोड़कर, विकार को अपना मानना, परचीज को अपना मानना, वह मिथ्यात्वरूपी भाव महाअहितकर है। आ..हा.. ! अहितकर है, आत्मा को नुकसान करनेवाला है। उसको नाश करनेवाली भाषा कहते हैं। रखनेवाली नहीं (कहते)। आहा..हा... ! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर जैसा मार्ग कहते हैं, ऐसा मार्ग उसके मुखमें से निकलना चाहिए। उसे भाषासमिति कहते हैं। अब उसका विस्तार करते हैं।

कैसे कहते हैं ? कि, 'सुनने में प्रिय लगे...' श्रोता को आत्मा की बात प्रिय लगे। ऐसा आनन्दस्वरूप भगवान, तेरा स्वरूप तो परमानन्द है न ! समझ में आया ? भगवान ! तू तो परमानन्द है न ! तेरे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है न ! तू तो शान्तरस का तो भगवान है

न ! ऐसी प्रिय भाषा जिन के मुखमें से भाषासमिति में आती है। समझ में आया ? 'सुनने में प्रिय लगे ऐसा...'

'(सब संशय) समस्त संशयों को...' नाश करनेवाला। क्या मार्ग होगा ? कोई पुण्य-पाप, पुण्य से धर्म होगा ? पवित्रता से धर्म होगा ? या निमित्त से लाभ होगा ? या स्वभाव से लाभ होगा ?-ऐसा संशय जो होता है, इस संशय को नाश करनेवाली वाणी निकलती है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- वाणी का प्रताप तो है न ?

उत्तर :- वाणी का प्रताप नहीं है, उसके भाव की योग्यता है कि वाणी में ऐसा निमित्त होता है, तब उसे समझ में आता है, तब संशय टालते हैं, ऐसा कहने में आता है।

ममुक्षु :- इसमें कहा है न ?

उत्तर :- कहा है न। नाश करनेवाली वाणी। जो समझता है, उसे संशय टालने में निमित्त होती है तो नाश करनेवाली वाणी कहने में आता है। ओ..हो... ! भगवान ! सर्वज्ञ तीर्थकरदेव कहते हैं, ऐसा मुनिराज अन्दर में से एक ही बात कहते हैं कि, भैया ! सर्व वही कहते हैं, भैया ! तेरा सर्व परमेश्वर त्रिलोकनाथ महाविदेहक्षेत्र में सीमंधर प्रभु बिराजते हैं। समझ में आया ? उनके पास जाकर 'कुन्दकुन्दचार्यदेव' लाये, सब बात ऐसी ही कहते थे। ऐसी परम्परा (में) संतो ऐसी बात करते हैं।

संशय दूर करनेवाली। उसको संशय न रहे। क्या होगा ? मैं परद्रव्य का कर सकता हूँ या नहीं ? मैं परद्रव्य को सहायता करके भला-बुरा कर सकता हूँ ? और परद्रव्य मेरा कोई भला-बुरा कर सकता है या नहीं ? ऐसा संशय हो उसका छेद करते हैं कि, तुम परद्रव्य का कुछ कर सकते नहीं। परपदार्थ का कार्य तेरे अधिकार की बात नहीं और परपदार्थ से तेरे में कुछ होता है-ऐसा तुम भी नहीं। समझ में आया ? सब संशयों को दूर करनेवाली भाषा कहते हैं। समझ में आया ? ऐसा भी होता है और ऐसा भी होता है, ऐसा संशय रहे-ऐसी भाषा वीतराग संतों की होती नहीं। उपदेश ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

तेरा आत्मा वीतराग आनन्दस्वभाव से भरा है, उसकी तुम अन्तर वीतराग श्रद्धा, ज्ञान,

शान्ति करो तो तेरा कल्याण होगा और बीच में राग आता है, परन्तु उस राग से कल्याण नहीं होगा। राग से कल्याण होगा और स्वभाव के आश्रय से कल्याण होगा, ऐसे संशय को नाश करनेवाली वाणी निकलती है। (राग से कल्याण होगा)–ऐसा है नहीं। समझ में आया ? भाषा कैसी रखी है ! ‘दौलतरामजी’, ‘दौलतरामजी’ पण्डित। २०० वर्ष हुए न ? कितने हुए ? मालूम नहीं ? १३० ? अभी हुए ? ठीक ! भाषा तो बहुत अच्छी लिखी है। ‘छहढाला’ जैन पाठशाला में पढ़ाते हैं। बहुतों को मुख में कंठस्थ भी होती है। ऐसा–ऐसा लिखते हैं। अन्तिम गाथा में है। वैशाख सुद ३। बराबर है, अन्तिम गाथा में है। अन्त में है। बराबर है। १८९१ वैशाख सुद ३। (संवत्) १८९१ में लिखी है। १३१ वर्ष लगभग हो गये। परन्तु भाषा कितनी आसान, सरल हिन्दी।

वीतराग का मार्ग कैसा है ? ऐसा सुहितकर, अहित का नाशकर, संशय का टालनेवाला और भ्रमरोग को मिटानेवाला। समझ में आया ? मुनि ऐसी वाणी कहते हैं। ऐसी वाणी से विपरीत मुनि (वाणी) कह सकते नहीं। देखो ! ‘**सर्व अहित का नाश करनेवाला, सुनने में प्रिय समस्त संशयों...**’ ‘**सब संशय**’ शब्द पड़ा है न ? कोई संशय रहे नहीं। भगवान आत्मा तेरी वीतरागी चीज ‘सिद्ध समान सदा पद मेरो’। सिद्ध समान आत्मा है। अन्दर स्वरूप की दृष्टि करो, उससे ही कल्याण होगा। दूसरे राग से और संयोग से तेरा कल्याण नहीं होगा। सब संशय को नाश करनेवाली मुनि भाषासमिति से अमृत झरता है। आहा..हा...! देखो ! कितना डाला है ?

संशयनाशक ‘**और (भ्रम रोगहर) मिथ्यात्वरूपी रोग को हरनेवाला...**’ लो ! मुनिओं की भाषा तो भ्रमणा का नाश करनेवाली होती है। मिथ्या भ्रमणा–विपरीत अभिनिवेश। वहाँ लिखा है, देखो ! विपरीत अभिनिवेश जो है कि, राग से मेरा कल्याण होता है, संयोग से मुझे लाभ होता है, ऐसी विपरीत–मिथ्या अभिप्राय, ऐसे विपरीत मिथ्यात्व को नाश करनेवाली मुनियों की वाणी होती है। पहले तो मिथ्यात्व का रोग बड़ा (है)। देखो ! ‘**(भ्रम रोगहर)**’ भाई ! कौन–सा रोग है ? उसमें लिखा है, देखो ! भ्रमरोग।

ममुक्षु :- ये सहन नहीं होता।

उत्तर :- सहन नहीं होता। लो, ठीक। अन्दर से वह आया। सहन नहीं होता है। बैठे हो,

कुछ है ? बिच्छुने काटा है ? क्या है ? खा-पीकर लठ होकर आते हैं। क्या है लेकिन ? मुफ्त की ममता.. ममता... ममता.. आहा..हा... ! मार डाला। भ्रमणा ने मार डाला, ऐसा कहते हैं। शरीर में रोग और उससे मुझे दुःख होता है, भ्रमणा है। 'आत्मभ्रांति सम रोग नहीं, आत्मभ्रांति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान, गुरु-आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान।' भाषा बोले, अन्दर में उसे बैठे नहीं। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु :- बहुत पढ़ा था।

उत्तर :- बहुत पढ़ा था, लेकिन एक बात भी कहाँ अन्तर में उतारी है ? 'आत्मभ्रांति सम रोग नहीं'। देखो ! यहाँ 'दौलतरामजी' कहते हैं न ? '(भ्रम रोगहर)' मुनिओं की वाणी, वीतराग की वाणी, शास्त्र की वाणी, ऐसी होती है कि, भ्रमरूपी रोग को नाश करनेवाली है। भ्रमणा अनादि से क्या लगी है ? आत्मभ्रांति।

मुमुक्षु :- पागल हो गया है..

उत्तर :- पागल हो गया है। हिन्दी भाषा पागल है। समझ में आया ?

अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप छोड़कर राग में आनन्द है, शरीर में आनन्द है, ऐसे मानना (वह) भ्रमणा का रोग लगा है। उसको मिथ्यात्वरूपी भ्रम रोग लगा है। समझ में आया ? आहा..हा.. ! 'आत्मभ्रांति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान।' जाननेवाले ज्ञानी वैद्य हैं। 'औषध विचार ध्यान, गुरु-आज्ञान सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान।' विचार कर, विचार कर, भाई ! एक बात भी बैठी नहीं।

आत्मा सुखी तो सुखी सर्व बाते, ऐसे है। आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति। कहा नहीं ? आया नहीं ? 'चिन्मुरति की धारी...' आता है या नहीं स्तवन में ? 'बाहिर नरककृत दुःख भोगत, अन्तर सुख की गटागटी।' नारकी जीव में भी सम्यग्दर्शन-आत्मा का भान है; बाहर में दुःख है और अन्दर में आनन्द है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? 'चिन्मुरति की...' आता है न ? 'रीति लगत मुझे अटपटी।' पहले सेठ आये थे न ? तो पहले वह गाया था। लेकिन मालूम नहीं था कि क्या है। नरक में नारकी को बाह्य दुःख है, परन्तु सम्यग्दृष्टि है तो उसे आत्मा का भान है।

जैसे 'श्रेणिक' राजा। 'श्रेणिक' राजा अभी है न ? नरक में है या नहीं ? पहली नरक में है। पहली नरक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में है। समझ में आया ?

चिन्मूरत दृगधारी की मोहि, रीति लगति है अटापटी;

बाहिर नारकिकृत दुःख भोगे, अन्तर सुखरस गटागटी।

आप को धूल में भी रोग नहीं है। उसको (-नारकी तो) शरीर में इतने रोग हैं, हजारों बिच्छु काटते हैं, बिच्छा का डंक। नहीं, 'बाहिर नारकि-कृत दुःख भोगे, अन्तर सुखरस गटागटी।' भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन में भ्रमणा का नाशकर जो सम्यग्दर्शन प्रगट किया (तो) आत्मा का आनन्द आया। अन्तर में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का भान हुआ, उसका नाम सम्यग्दर्शन (है)। ऐसे सम्यग्दर्शन की बात भ्रमणा टालकर मुनियों दूसरे को समझाते हैं। समझ में आया ? देखो ! कितना लिखा है ! समझ में आया ? कौन है ? ये भी 'दौलत' है, लो ! भले दूसरे 'दौलत' (हो)। 'अन्तर सुखरस गटागटी'। समझे ?

सदन-निवासी तदपि उदासी, तातें आस्रव छटाछटी;

जे भवहेतु अबुध के ते तस, करत बन्ध की झटाझटी।

संयम धरि न सके पै संयम, धारन की उर चटाचटी,

तास सुयश गुन की 'दौलत' के, लगी रहे नित रटारटी।

'दौलतरामजी' कहते हैं, दूसरे 'दौलतरामजी' हैं। बहुत अच्छा (लिखा है)। नरक में इतने-इतने दुःख हैं, तो मुनियों, यहाँ मनुष्य को ऐसा उपदेश देते हैं कि, अरे..! भैया ! तुम्हारे भाव में शुभ-अशुभभाव होते हैं, वह भी दुःख है, आत्मा में आनन्द है। पर में सुख मानना भ्रम है, मिथ्यात्व है, मिथ्यादर्शन-विपरीत शल्य है। आहा..हा...! कहो, कैसा उपदेश देते हैं ? देखो ! मुनिराज का उपदेश होता है। दुनिया को मस्का लगाये और अनुकूल (कहे), ऐसा नहीं। आहा..हा...!

'समस्त संशयों का नाशक...' संशय, विपरीत और अनध्यवसाय तीनों का हो गया। समझ में आया ? 'और मिथ्यात्वरूपी रोग को हरनेवाला वचनरूपी अमृत झरता है।'

भाषासमिति में जैनदर्शन की मूल भाषा समा दी है, लो ! समझ में आया ? संतों की भाषा होती है तो ऐसी होती है। भगवान ! तेरा स्वरूप हमारे जैसा है। तुमको राग होता है, वह दःख है। शरीर, वाणी, पर तो जड़ है। उससे भिन्न हो। भ्रम टाल दे। मैं अल्पज्ञ हूँ, रागी हूँ (ऐसा) भ्रम टाल दे। मैं अल्पज्ञ हूँ, मैं रागी हूँ, मैं कर्मसम्बन्ध शरीरवाला हूँ, इतना हूँ-ऐसा भ्रम छोड़ दे। तुम सर्वज्ञ पूर्णआनन्दमय हो।

मुमुक्षु :- भ्रमणा हुई है।

उत्तर :- किसकी बात चलती है ? भूरी चड़ी है, भूरी। भ्रमणा की अज्ञान की। समझ में आया ?

कहते हैं, 'मिथ्यात्वरूपी रोग...' देखो ! भाषा की है, '(भ्रम रोगहर)' मिथ्यात्व का नाश हो ऐसी भाषा मुनि के मुखमें से आती है। समझ में आया ? देव-देवी मानो तो ऐसा होता है, पैसा मिलेगा, ऐसा होता है, ऐसा होता है-ऐसी भाषा मुनि के मुख से नहीं आती। आहा..हा.. ! भ्रमरोग, संशय और अनध्यवसाय। क्या होगा, कुछ मालूम नहीं पड़ता ? उन सब को नाश करनेवाली। भालीभाँति आत्मा समझ में आ सकता है। आत्मा किसी को पूछने जाने पड़ता नहीं। ऐसी निःसंशय बात मुनिओं के मुखमें से निकलीत है। भैया ! चैतन्यमूर्ति भिन्न प्रभु देह से भिन्न है, कर्म से भिन्न है, पुण्य-पाप के राग से भिन्न है, पूर्णानन्दसे भरा है-ऐसी प्रतीत कर, श्रद्धा कर (तो) सम्यग्दर्शन होगा। मिथ्यात्व का नाश करनेवाली। संशय का नाश करनेवाली भाषा मुनियों के मुख से निकलती है।

देखो ! पहले यह कहा-मिथ्यात्व का नाश करनेवाली भाषा निकलती है। भ्रमरोग-संशय की ही पहली बात की। बाद में राग को कम करने की बाद में (करेंगे)। आया या नहीं उसमें ? यहाँ तो संशय, भ्रमरोग मिटाने और सुहित और अहित-सुहित को करनेवाली और अहित का नाश करनेवाली (है)। उसमें रागादि आ गया। रागादि भाव हैं, अहितकर हैं, आत्मा का स्वभावभाव हितकर है। वह बात समुच्चय आ गई। अन्त में मुख्यरूप से यहाँ जोर दिया। संशय और भ्रमणा को नाश करनेवाले वचन मुनि के मुखमें से निकलते हैं। ऐसा उपदेश श्रोता सुनते हैं, श्रोता के ख्याल में यह बात आनी चाहिए। भ्रमणा, पुण्य-पाप में सुख, पर में सुख सब भ्रम है,

मिथ्यात्व है। भगवान आत्मा में सुख है और धर्म है। धर्म में भी तेरे आत्मा में है। बाहर धर्म है नहीं ऐसी दृष्टि करो, ऐसा ज्ञान करो, ऐसी लीनता करो, ऐसे मिथ्यात्व का नाश का उपदेश देते हैं। ईर्या, भाषा और पंच महाव्रत-तीन की बात कही।

भावार्थ :- 'वीतरागी मुनि चौदह प्रकार के अन्तरंग और दस प्रकार के बहिरंग परिग्रह से रहीते होते हैं, इसलिए उनको (५) परिग्रहत्याग-महाव्रत होता है। दिन में सावधानीपूर्वक चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलने का विकल्प उठा वह (१) ईर्या समिति है। तथा जिसप्रकार चन्द्र से अमृत झरता है, उसीप्रकार मुनि के मुखचन्द्र के जगत का हित करनेवाले, सर्व अहित का नाश करनेवाला, सुनने में सुखकर, सर्व प्रकार की शंकाओं को दूर करनेवाले और मिथ्यात्व (विपरीतता या सन्देह) रूपी रोग का नाश करनेवाले ऐसे अमृत-वचन निकलते हैं। इसप्रकार समितिरूप बोलने का विकल्प मुनि को उठता है वह (२) भाषा समिति है।' दूसरी समिति है। ऐसा विकल्प उठता है। समझ में आया ?

प्रश्न :- सच्ची समिति किसे कहते हैं ?

उत्तर :- परजीवों की रक्षा के हेतु यत्नाचार प्रवृत्ति को अज्ञानी जीव समिति मानते हैं, ...' ऐसा नहीं है। 'किन्तु हिंसा के परिणामों से तो पापबन्ध होता है। यदि रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे तो पुण्यबन्ध का कारण क्या सिद्ध होगा ?' पर की रक्षा-नहीं मारने का भाव तो पुण्य है, समिति नहीं। पर को नहीं मारने का भाव, पुण्य है, मारने का भाव पाप है, समिति नहीं, समिति दूसरी चीज है। अन्तर में शुभाशुभराग से रहित शुद्ध अन्दर परिणति प्रगट करना उसका नाम यथार्थ समिति है। समझ में आया ?

'तथा मुनि एषणा समिति में दोष को टालते हैं...' 'टोडरमलजी' 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में (कहते हैं) उसका आधार दिया है। 'मुनि, एषणासमिति मे दोष को टालते हैं; वहाँ रक्षा का प्रयोजन नहीं है, ...' पर की रक्षा का प्रयोजन नहीं है। यहाँ विवाद करे। पर की रक्षा का प्रयोजन नहीं, आत्मा पर की रक्षा कर सकता नहीं। 'रक्षा के हेतु ही समिति नहीं है। तो फिर समिति किस प्रकार होती है ? मुनि को किंचित् राग होने पर...' यह 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में 'टोडरमलजी' का लिखा हुआ है। 'समिति किसप्रकार होती है ?' तो कहते हैं, थोड़े राग में

गमनादि क्रिया होती है। 'वहाँ उन क्रियाओं में अति आसक्ति के अभिभाव से प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती, तथा दूसरे जीवों को दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन सिद्ध नहीं करते, इसलिये उनसे स्वयं दया का पालन होता है; इसप्रकार सच्ची समिति है।' 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में लिखा है।

मुमुक्षु :- दया..

उत्तर :- दया अर्थात् र जीव को मारने का अभिप्राय नहीं है। सहज ही ऐसा हो जाता है।

एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापनसमिति

छयालीस दोष विना सुकुल, श्रावकतनैं घर अशनको;

लैं तप बढ़ावन हेतु, नहिं तन-पोषते तजि रसनको।

शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखिकैं गहैं लखिकैं धरैं;

निर्जन्तु थान विलोकि तन मल-मूत्र श्लेष्म परिहरैं ॥३॥

अन्वयार्थ :- (वीतरागी मुनि) (सुकुल) उत्तम कुलवाले (श्रावकतनैं) श्रावक के घर और (रसनको) छहों रस अथवा एक-दो रसों को (तजि) छोड़कर (तन) शरीर को (नहि पोषते) पुष्ट न करते हुए-मात्र (तप) तप की बढ़ावन (हेतु) वृद्धि करने के हेतु से (आहार के) (छयालीस) छियालीस (दोष बिना) दोषों को दूर करके (आशनको) भोजन को (लैं) ग्रहण करते हैं १। (शुचि) पवित्रता के (उपकरण) साधन कमण्डल को, (ज्ञान) ज्ञान के (उपकरण) साधन शास्त्र को, तथा (संयम) संयम के (उपकरण) साधन पींछी को (लखिकैं) देखकर (गहैं) ग्रहण करते हैं (और) (लखिकैं) देखकर (धरैं) रखते हैं (और) (मूत्र) पेशाब (श्लेष्म) श्लेष्म (तन-मल) शरीर के मैल को (निर्जन्तु) जीवरहित (थान) स्थान (विलोकि) देखकर

१. आहारके दोषोंका विशेष वर्णन 'अनगार धर्माभूत' तथा 'मूलाचार' आदि शास्त्रोंमें देखें। उन दोषोंको टालनेके हेतु दिगम्बर साधुओंको कभी महीनों तक भोजन न मिले तथापि मुनि किंचित् खेद नहीं करते; अनासक्त और निर्मोह-रहित सहज होते हैं। (कायर मनुष्यों-अज्ञानियोंको ऐसा मुनिव्रत कष्टदायक प्रतीत होता है, ज्ञानीको वह सुखमय लगता है।)

(परिहरै) त्यागते हैं ।

भावार्थ :- वीतरागी जैन मुनि-साधु उत्तम कुलवाले श्रावक के घर, आहार के छियालीस दोषों को टालकर तथा अमुक रसों का त्याग करके (अथवा स्वाद का राग न करके) शरीर को पुष्ट करने का अभिप्राय न रखकर, मात्र तप की वृद्धि करने के लिये आहार ग्रहण करते हैं; इसलिये उनको (३) एषणासमिति होती है। पवित्रता के साधन कमण्डल को, ज्ञान के साधन शास्त्र को और संयम के साधन पींछी को-जीवों की विराधना बचाने के हेतु-देखभा कर रखते हैं तथा उठाते हैं; इसलिये उनको (४) आदान-निक्षेपण समिति होती है। मल-मूत्र-कफ आदि शरीर के मैल की जीवरहित स्थान देखकर त्यागते हैं, इसलिये उनको (५) व्युत्सर्ग अर्थात् प्रतिष्ठापन समिति होती है ॥३॥

अब 'ऐषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापनसमिति...' तीन की व्याख्या है। पाँच महाव्रत की व्याख्या हो गई, दो समिति की व्याख्या हो गई-ईर्या और भाषा (समिति)। (इस गाथा में) तीन समिति की व्याख्या (करेंगे)। इस छठवें अध्याय में मुनि की व्याख्या में भी कैसा उपदेश होता है, वह बात भी उसमें आ गई, बहुत अच्छी बात आ गई।

छयालीस दोष विना सुकुल, श्रावकतनें घर अशनको;

लैं तप बढ़ावन हेतु, नहिं तन-पोषते तजि रसनको।

शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखिकैं गहैं लखिकैं धरैं;

निर्जन्तु थान विलोकि तन मल-मूत्र श्लेष परिहरैं ॥३॥

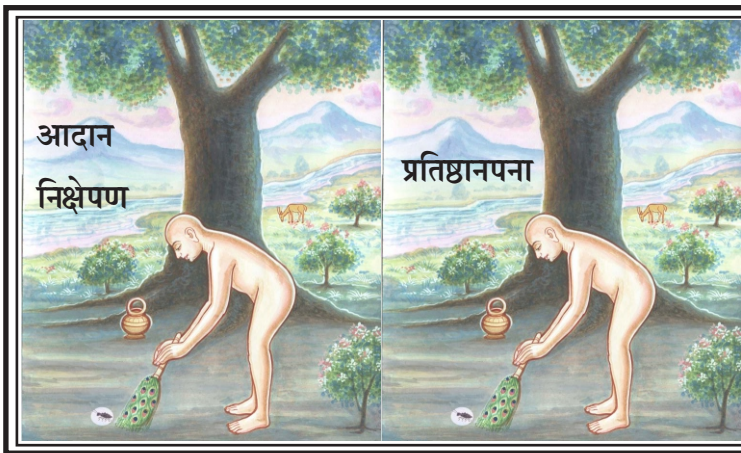
देखो ! वीतरागी संत, अन्तर में आनन्द का भान है, ऐसी ऐषणासमिति (पालते) हैं। क्या (कहते हैं) ? '(वीतरागी मुनि) उत्तम कुलवाले श्रावक के घर...' देखो ! साधारण घर में जाते नहीं। उत्तम कुल, श्रावक धर्मात्मा हो, निर्दोष श्रद्धा-ज्ञान हो, उसे मार्ग की खबर हो, उसके घर से आहार लेते हैं-ऐसा कहते हैं। देखो ! पाठ में है न ? 'श्रावकतनें घर अशनको।' उसे मालूम होता है, नहीं मालूम पड़े ऐसा है ? अभी तो कुछ एक भंगी के घर, हरिजन के घर आहार लेते हैं न ? ऐसा नहीं होता। (एक साधु है न) ? मुहपत्ती बान्धे और हरिजन के वहाँ आहार ले।

व्यवहार का भी ठिकाना नहीं। दिगम्बर मुनि संत आत्मज्ञानी-ध्यानी अपने शरीर के निर्वाह के लिये श्रावक के घर, उत्तम कुल हो वहाँ जाये। सुकुल है न ? सुकुल और श्रावक का घर, ऐसे लिया है न ? दोनों बात ली है। समझे न ? सुकुल और श्रावक के घर 'अशनको'।

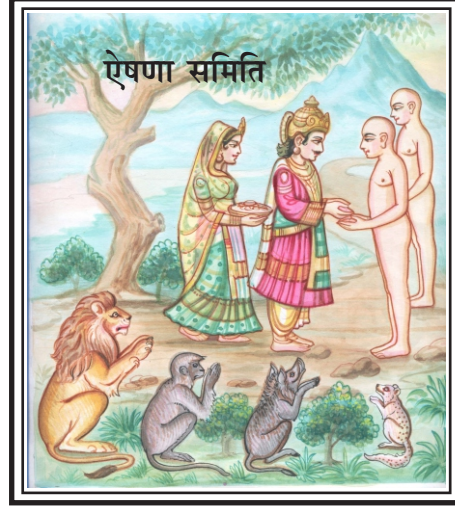
'छहों रस अथवा एक-दो रसों को छोड़कर शरीर को पुष्ट न करते हुए-मात्र तप की वृद्धि करने के हेतु से...' तप अर्थआत् मुनपिना। 'छियालीस दोषों को दूर करके...' उनके लिये चौका बनाया हो तो वे लेते नहीं। क्योंकि उनके लिये बनाया हो तो वह

उद्देशिक है। मुनि भावलिङ्गी संत आत्मज्ञानी अन्तर में आनन्द में मस्त हैं, शरीर को निभाने के लिये ऐसा थोड़ा विकल्प आता है तो ऐसा निर्दोष आहार लेते हैं। (नीचे फूटनोट में लिखा है), 'अनगार धर्माभृत' (ग्रन्थ से) समझ लेना।

'पवित्रता के साधन कमंडल को,...' एक कमंडल ही मुनि को होता है। 'ज्ञान के साधन शास्त्र को तथा संयम के साधन पीछी को देखकर...' देखकर। देखकर ले और देखकर छोड़े।



'देखकर रखते हैं। पेशाब, श्लेष्म...' नाक की लिट आदि हो न ? जीव-जंतु ना हो, न मरे वहाँ छोड़ते हैं। 'शरीर के मैल को जीवरहित स्थान देखकर त्यागते हैं।' जहाँ कोई प्राणी कि हिंसा न हो, वहाँ छोड़ते हैं। उसमें सब अर्थ आ गया है। भावार्थ आ गया।



मुनियों की तीन गुप्ति और पाँच इन्द्रियों पर विजय

सम्यक् प्रकार निरोध मन वच काय, आतम ध्यावते;

तिन सुथिरमुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावते।

रसरूप गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ असुहावने;

तिन में न राग विरोध पंचेन्द्रिय-जयन पद पावने ॥४॥

अन्वयार्थ :- (वीतरागी मुनि) (मन वच काय) मन-वचन-काया का (सम्यक् प्रकार) भलीभाँति-बराबर (निरोध) निरोध करके, जब (आतम) अपने आत्मा का (ध्यावते) ध्यान करते हैं तब (तिन) उन मुनियों की (सुरि) सुस्थिर-शांत (मुद्रा) मुद्रा (देखी) देखकर, उन्हें (उपल) पत्थर समझकर (मृगगण) हिरन अथवा चौपाये प्राणियों के समूह (खाज) अपनी खाज-खुजली को (खुजावते) खुजाते हैं। (जो) (शुभ) प्रिय और (असुहावने) अप्रिय (पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी) (रस) पाँच रस, (रूप) पाँच वर्ण (गंध) दो गंध, (फरस) आठ प्रकार के स्पर्श (अरु) और (शब्द) शब्द-तिनमें उन सब में (राग-विरोध) राग या द्वेष (न) मुनि को नहीं होते, (इसलिये वे मुनि) (पंचेन्द्रिय जयन) पाँच इन्द्रियों को जीतनेवाला अर्थात् जितेन्द्रिय (पद) पद (पावने) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ :- इस गाथा में निश्चय गुप्ति का तथा भावलिङ्गी मुनि के अट्टाईस मूलगुणों में पाँच इन्द्रियों के वजिय के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

भावलिङ्गी मुनि जब उग्र पुरुषार्थ द्वारा शुद्धोपयोगरूप परिणमित होकर निर्विकल्परूप में स्वरूप में गुप्त होते हैं-वह निश्चयगुप्ति है। उस समय मन-वचन-काय की क्रिया स्वयं रुक जाती है। उनकी शान्त और अचल मुद्रा देखकर, उनके शरीर को पत्थर समझकर मृगों के *झुण्ड (पशु) खाज (खुजली) खुजाते हैं, तथापि वे मुनि अपने ध्यान में निश्चल रहते हैं, उन

* इस सम्बन्ध में सुकुमाल मुनि का दृष्टान्त :- जब वे ध्यान में लीन थे, उस समय एक सियालिनी और उसके दो बच्चे, उनका आधा पैर खा गये थे, किन्तु वे अपने ध्यान से किंचित् चलायमान नहीं हुए। (संयोग से दुःख होता ही नहीं, शरीरादि में ममत्व करे तो उस ममत्वभाव से ही दुःख का अनुभव होता है-ऐसा समझना।)

भावलिङ्गी मुनियों को तीन गुप्तियाँ हैं ।

प्रश्न :- गुप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर :- मन-वचन-काया की बाह्य चेष्टा मिटाना चाहे, पाप का चिंतवन न करे, मौन धारण करे, तथा गमनादि न करे, उसे अज्ञानी जीव गुप्ति मानते हैं। उस समय मन में तो भक्ति आदिरूप अनेक प्रकार के शुभरागादि विकल्प उठते हैं; इसलिये प्रवृत्ति में तो गुप्तिपना हो नहीं सकता। (सम्यग्दर्शन-ज्ञान और आत्मा में लीनता द्वारा) वीतरागभाव होने पर जहाँ मन-वचन-काया की चेष्टा न हो, वही सच्ची गुप्ति हैं। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ. २३५)

मुनि प्रिय (अनुकूल) पाँच इन्द्रियों के पाँच रस, पाँच रूप, दो गंध, आठ स्पर्श तथा शब्दरूप पाँच विषयों में राग नहीं करते और अप्रिय (प्रतिकूल) ऊपर कहे हुए पाँच विषयों में द्वेष नहीं करते। -इसप्रकार (५) पाँच इन्द्रियों को जीतने के कारण वे जितेन्द्रिय कहलता हैं

॥४॥

‘मुनियों की तीन गुप्ति और पाँच इन्द्रियों पर विजया’

सम्यक् प्रकार निरोध मन वच काय, आत्म ध्यावते;

तिन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावते।

रस रूप गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ असुहावने;

तिन में न राग विरोध पंचेन्द्रिय-जयन पद पावने ॥४॥

ओ..हो..हो..! ‘वीतरागी मुनि)...’ मुनि को तीन कषाय का नाश होता है। महावैराग्य का पिण्ड है। अन्दर में चैतन्य की धून लगी हो। आत्मा का मोक्ष करने की एकमात्र धून अन्दर में लगी है। कमाने की धून लगती है लोगों को ? पागल होकर कमाने की (धून लगती है)। वैसे धर्मात्मा को अपने आत्मा की धून लगी है। पूर्णानन्द.. पूर्णानन्द.. पूर्णानन्द.. पूर्णानन्द कैसे प्राप्त करूँ ? ऐसी लीनता, तल्लीनता लगी है।

ऐसे मुनि ‘मन-वचन-काया का भलीभाँति-बराबर निरोध करके...’ पाँच इन्द्रिय का

निरोध करते हैं। अट्टाईस मूलगुण है न ? पाँच इन्द्रिय का निरोध। अतीन्द्रिय भगवान आत्मा में एकाकार होकर 'अपने आत्मा का ध्यान करते हैं...' देखो ! समकिती श्रावक भी कभी-कभी अपने आत्मा का ध्यान करते हैं। मुनि तो बारम्बार ध्यान करते हैं। सम्यग्दृष्टि, श्रावक भी कभी-कभी उपयोग शुद्ध करते हैं, ध्यान। मुनि तो बारम्बार अन्तर में (जाते हैं)। क्षण में विकल्प, राग उठता है (कि) उपदेश करुं, सुनुं इतना या आहार-पानी। क्षण में सप्तम (गुणस्थान में आते हैं)। आत्मा आनन्दमय ध्यान में लीन हो जाते हैं। यहाँ शरीर में रहे.. बाहर की चलने की क्रिया होती है फिर थोड़ी देर में स्थिर हो जाये। आहा..हा... ! क्षण में सप्तम आ जाता है।

ऐसे मुनि 'अपने आत्मा का ध्यान करते हैं...' देखो ! आत्मा का ध्यान करते हैं, भगवान का ध्यान करते हैं, ऐसा यहाँ नहीं कहा। ए..ई.. ! पठा है न ? 'आतम ध्यावते' मूल की बात है न ? 'आतम ध्यावते'। भगवान का स्मरण करना तो विकल्प है, राग है। नवकार का स्मरण करना, वह भी शुभराग है, पुण्यबन्ध का कारण है-ऐसा कहते हैं, देखो ! मुनि (को) विकल्प है तो मन में स्मरण आदि आता है परन्तु जब अन्दर क्षण में (जाते हैं तो) आत्मा को ध्याते हैं। पाँच इन्द्रिय को रोधकर अखण्ड आनन्दकन्द का चिंतवन, शुद्ध स्वरूप सन्मुख होकर उपयोग लगाते हैं। उसका नाम आत्मध्यान (है)। उस ध्यान से बहुत कर्म की निर्जरा होती है।

कहते हैं, देखो ! चित्र दिये हैं। उसमें सब में दिये हैं, हाँ ! यह एक चित्र दिया है, देखो ! ध्यान में है न ? मृग आकर (अपने शरीर को) घिसता है। हिरन। 'उन मुनियों की सुस्थिर शान्त मुद्रा देखकर...' ऐसे.. जाते हैं। शान्तरस में इतने लीन-लीन हैं, मानो पत्थर पडा हो !

मुमुक्षु :- ख्याल में आता ही होगा न ?

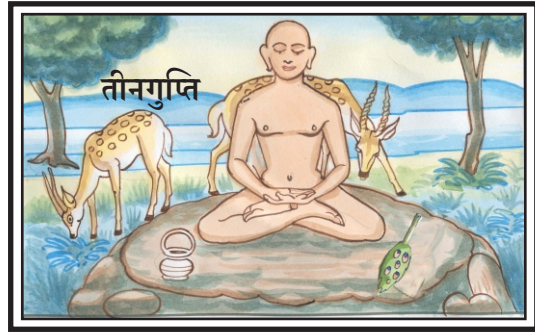
उत्तर :- नहीं, नहीं, ध्यान में ख्याल आता नहीं। बाहर विकल्प आ जाये तो ख्याल आ जाये। ध्यान लगाये तो ख्याल में भी नहीं आता। अतीन्द्रिय उपयोग लगा दिया, शुद्ध उपयोग (हुआ उस समय) समीप में ढोल पिटते तो मालूम नहीं पड़ता। ठीक ! उपयोग में जहाँ अन्दर में लीनता हुई, निर्विकल्प शुद्धउपयोग जम गया, (उस समय) नगाड़े बजे, बेंड बजे तो भी कुछ मालूम नहीं पड़ता। एक स्वज्ञेय में लीनता है न ? उसका नाम परमार्थ ध्यान कहते हैं। ख्याल आ जाये अलग बात है। बाहर आये विकल्प आया तो ख्याल आवे। उपयोग बाहर हो तो परिषह

का ख्याल न आवे ऐसा नहीं है। उपयोग अन्दर में से निकलकर आया।

‘टोडरमलजी’ने लिया है, भाई ! आता है न ? ‘टोडरमलजी’.. परीषह का ज्ञान नहीं है, ऐसा नहीं। ज्ञान होता है। देखो न ! मुनि ध्यान में हैं न ! उपयोग थोड़ा बाहर आये, विकल्प आये तो ख्याल आवे कि, कुछ है। ज्ञान होता है, लेकिन उस विकल्प के काल में। निर्विकल्प में तो ध्यान में हैं, कुछ मालूम नहीं। अकेला आत्मानन्द। आनन्द अनुभवता हूँ, इतना भेद भी नहीं है। आहा..हा.. ! ऐसी मुनि की दशा, पंच परमेष्ठी में उनको गिनने में आया है। उनको वीतरागी पंथ की बराबर खबर है और प्रगट दशा है।

‘मुनियों की सुस्थिर मुद्रा देखकर उन्हें पत्थर समझकर...’ देखो ! है न ? पत्थर। उपल.. उपल, ‘(उपल)’ अर्थात् ‘पत्थर समझकर हिरन अथवा चौपाये प्राणियों के...’ चार पैरवाले (प्राणी)। ‘अपनी खाज-खुजली को खुजाते हैं।’ आहा..हा... ! इतना आनन्द में ध्यान लगाया है। आनन्द में, हाँ ! मात्र विकल्प नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द में ऐसी धुन लग गई कि, खबर नहीं। ऐसे बैठे हैं, हिरन आकर (समझता है कि) कोई पत्थर पड़ा है। आहा..हा... ! ‘श्रीमद्जी’ कहते हैं न ? ‘अपूर्व अवसर’में नहीं आता ?

एकाकी विचरूँगा कब स्मशानमें गिरि पर होगा वाघ सिंह संयोग जब। अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो, जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब।



देखो ! गृहस्थाश्रम में ‘श्रीमद्जी’ थे, ‘अपूर्व अवसर’ की गाथा लिखी। सात साल की उम्र में जातिस्मरण था। ३३ वर्ष में देह छूट गया। संवत् १९५७। ‘अपूर्व अवसर’ बनाया। ऐसी भावना गृहस्थाश्रम में करते थे। समझ में आया ?

‘एकाकी विचरतो वळी स्मशानमां।’ अरे.. ! मैं अकेला विचरुँ और स्मशान में कब जाऊँ ? ‘वळी पवर्तमां वाघ सिंह संयोग जो;...’ पर्वत में वाघ और सिंह का जहाँ समागम

(हो)। 'अडोल आसन...' आसन अडोल लगा देते हैं। देखो ! यहाँ लिखा है न, पत्थर की भाँति। 'अडोल आसन, ने...' मात्र अडोल आसन नहीं। 'मनमां नहीं क्षोभता, ...' क्षोभ नहीं। सिंह की गर्जना सुने तो (भी) क्षोभ नहीं। आहा..हा... ! ऐसी भावना (भाते हैं)। अपने पहले बारह भावना आ गई। ऐसी भावना गृहस्थी सम्यग्दृष्टि भी संसार में रहते हैं, (फिर भी) भावना करते हैं। पूरे दिन मात्र पाप की भावना करते हैं, ऐसा नहीं। समझ में आया ?

ऐसी भावना (भाते हैं कि), ओ..हो... ! कब मैं शान्ति का मार्ग ग्रहण करके चारित्र(वंत) मुनि होऊं और मैं जंगल में रहकर 'परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो।' सिंह और वाघ आते हो (तो उन्हें देखकर ऐसा लगता है) हमारा शरीर हमें नहीं चाहिए, उसको चाहिए तो वह हमारा मित्र है। लो ! आहा..हा... ! हमारे मित्र आते हैं। गृहस्थाश्रम में रहकर ऐसी भावना करते हैं। भावना न करे ? आहा..हा... ! ऐसा अपूर्व अवसर, ऐसा अवसर कब प्रगट हो, ऐसी भावना सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव को बारम्बार आती है। यह तो मुनि की व्याख्या है। पत्थर पड़ा है-ऐसे हो। आहा..हा... !

'अपनी खाज-खुजली को खुजाते हैं, प्रिय और (असुहावने) अप्रिय (पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी) पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गंध, आठ प्रकारे स्पर्श और शब्द...' अनुकूल-प्रतिकूल। सब में राग और द्वेष मुनि को नहीं होता। वीतराग.. वीतराग... वीतराग... 'पंच विषयमां राग-द्वेष विरहितता।' आता है या नहीं ? 'पंच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो।' अन्तर में दृष्टि तो हुई है। स्वरूप में एकाग्रता (करने हेतु), पंचविषय से रहित होकर कब प्रमाद छोड़कर मैं मेरे स्वरूप में रहूँगा, ऐसी भावना गृहस्थाश्रम में तीर्थकर भी करते थे। तीर्थकर गृहस्थाश्रम में थे, जबतक मुनि नहीं हुए तो ऐसी भावना करते थे। मुनि होने के बाद तो बहुत भावना साक्षात् होती थी। ओ..हो.. ! कर्तव्य तो इस आत्मा का शुद्ध वीतरागभाव करना है। यह कर्तव्य है, दूसरा कोई कर्तव्य आत्मा का है नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! 'इसलिये वे मुनि (पंचेन्द्रिय जयन) पाँच इन्द्रियों को जीतनेवाला अर्थात् जितेन्द्रियपद प्राप्त करते हैं।' अन्तर जितेन्द्रिय पद (प्राप्त करते हैं)।

भावार्थ :- 'इस गाथा में निश्चय गुप्ति का तथा भावलिङ्गी मुनि के अट्टाईस मूलगुणों में पाँच इन्द्रियों की विजय के स्वरूप का वर्णन करते हैं। भावलिङ्गी मुनि...' जिसको आत्मा का

सम्यग्दर्शन, आनन्द का अनुभव हुआ है और स्वरूप में अन्तर वीतरागता प्रगट हुई है। 'उग्र पुरुषार्थ द्वारा शुद्धोपयोगरूप परिणमित होकर...' उग्र पुरुषार्थ द्वारा। शुद्ध उपयोग में (रहते हैं)। जो पंच महाव्रतादि है, वह शुभराग उपयोग है। उससे हटकर अन्दर में शुद्ध उपयोग में उपयोग लगाकर 'निर्विकल्परूप से स्वरूप में गुप्त होते हैं...' आहा..हा...! 'यह निश्चय गुप्ति है। उस समय मन-वचन-काया की क्रिया स्वयं रुक जाती है। उनकी शान्त और अचल मुद्रा देखकर, उनके शरीर को पत्थर समझकर मृगों के झुण्ड..'

(फूटनोट में दिया है) 'इस सम्बन्ध में सुकुमाल मुनि का दृष्टान्त :- 'सुकुमाल' मुनि हैं न ? 'जब वे ध्यान में लीन थे, उस समय एक शियालिनी और उसके दो बच्चे उनका आधा पैरा खा गये थे,...' देखो ! है न ? मुनि उपर ध्यान में बैठे हैं। शियालिनी और उसके दो बच्चे। ध्यान.. आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. दुःख नहीं, हाँ ! दुःख नहीं। उसका नाम अन्तर आनन्द (है)। अतीन्द्रिय आनन्द में इतने लीन हैं। जंगल में शियालिनी आई, आधा पैर खा गई।

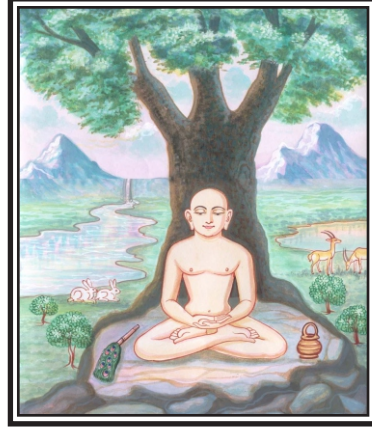
'किन्तु वे अपने ध्यान से किंचित् चलायमान नहीं हुए। (संयोग से दुःख होता नहीं...)' लिखा है ? अन्दर लिखा है ? देखो ! मुफ्त में मूढ मानता है, ऐसा कहते हैं। मूढ मानता है। संयोग से दुःख है नहीं। शरीर में रोग, देखो ! 'शरीरादि में ममत्व करे तो उस ममत्वभाव से ही दुःख का अनुभव होता है-' शरीर में रोग हो, निर्धनता हो, वह दुःख है ही नहीं।

मुमुक्षु :- पर हम मानते हैं न ?

उत्तर :- मूढ होकर मानता है कि, उसे दुःख है। मान्यता का दुःख है, क्या दुःख है ? देखो न ! संयोग से दुःख होता ही नहीं। शरीर प्रतिकूल हो, मिट्टी (है) उसमें क्या है ? यह तो मिट्टी जड़ है, धूल है। निर्धनपना बाहर है। स्त्री-कुटुम्ब न हो तो उसमें क्या ? वह दुःख है ? दुःख बिलकुल है ही नहीं। मूढ ऐसा मानता है कि, अरे.. ! मुझे ऐसा है। ऐसी उसकी मान्यता का उसको दुःख है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? और अनुकूल संयोग में सुख नहीं। अनुकूल संयोग मिले, पाँच इन्द्रिय के विषय मिले, पाँच-पच्चीस लाख पैसा है, धूल है, सुन्दर शरीर है, वह कहाँ सुख है ? वह तो धूल है-मिट्टी है। मूढ अज्ञानी 'मुझे ठीक है'-ऐसे मिथ्याभ्रम में पर में अनुकूलता में सुख की कल्पना करता है। मूढ है, भ्रम में पड़ा है, उसे आत्मा की श्रद्धा की खबर नहीं। समझ में

आया ? आहा..हा... ! ऐसी बात कितनी बार आ जाती है। बहुत बार आ गई है न ?

देखो न ! मुनि जंगल में है। ध्यान में है, देखो ! सिंह बैठे हैं, उस ओर सिंह है। एक कोने में सिंह बैठा है। ऐसे शियाल की भाँति (बैठा है)। गीदड़. गीदड़.. गीदड़ कहते हैं न ? गीदड़ की भाँति सिंह। आत्मा को क्या ? संयोग-वियोग (बाहर में होते हैं)। आत्मा में आनन्द है। प्रतिकूल संयोग दुःख नहीं। प्रतिकूल संयोग दुःख है, यह मान्यता ही मिथ्यादृष्टि की है और अनुकूल संयोग सुख नहीं। मूढ



मिथ्यादृष्टि मानता है कि अनुकूलता में मैं सुखी हूँ। दूसरा भी उसे कल्पे कि उसको बहुत अनुकूलता है, सुखी है। वह भी मूढ है, पागल है। समझ में आया ? भाई ! दूसरा सुखी कल्पे तो ? मूढ है। बाहर में सुख कहीं से आया ?

भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अनाकूल आनन्दकन्द आत्मा है, उसमें आनन्द है और उसकी विपरीत मान्यता करता है कि, ये मुझे सुख-दुःख है। कल्पना करता है उसमें दुःख है। बाहर में दुःख है ? समझ में आया ? सम्यक्त्वी पाँच इन्द्रिय के विषय में सुख मानते हैं, ऐसा यहाँ कहते हैं। सम्यगृष्टि पाँच इन्द्रिय के विषय में दिखते हैं, ९६ हजार स्त्री में दिखे, सुख मानते नहीं। आहा..हा... ! राग आता है, उसे दुःख मानता है, उपसर्ग मानते हैं। सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव संसार के विषय में, इन्द्राणी (का) भोग इन्द्र को है और चक्रवर्ती को, तीर्थकर को ९६ हजार पद्मणि जैसी स्त्रियाँ हैं। भोग में राग आता है (तो) महादुःख मानते हैं, दुःख मानते हैं। आहा..हा... ! अरे.. ! यह उपसर्ग आया, उपसर्ग आया। मेरे आत्मा में आनन्द (है)। यह आसक्ति आयी (उसमें) रुचि में नहीं, सुखबुद्धि नहीं। सुखबुद्धि माने तो मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। समझ में आया ? आहा..हा.. !

(फूटनोट में) थोड़ा लिखा है, ' (ममत्वभाव से दुःख का अनुभव होता है..)' दुःख का अनुभव कोई शरीर के रोग के कारण नहीं। ममता.. ममता.. ममता.. अन्दर होली जलाये। ये मेरा, ये मेरा, ये मेरा.. भगवान आत्मा अपना है, उसकी तो खबर नहीं। सच्चिदानन्द स्वरूप

अनादिअनन्त आनन्दकन्द प्रभु आत्मा है। सिद्ध समान आत्मा है, लो ! भान नहीं। ममता का दुःख है। समझ में आया ?

‘मुनि अपने ध्यान में निश्चल रहते हैं। उन भावलिङ्गी मुनियों को तीन गुप्तियाँ है।’ बाद में गुप्ति की व्याख्या ‘टोडरमलजी’ (द्वारा लिखी है न) ? (वह कहते हैं)। ‘मन-वचन-काया की बाह्य चेष्टा मिटाना चाहे, पाप का चिंतवन न करे, मौन धारण करे, तथा गमनादि न करे, उसे अज्ञानी जीव गुप्ति मानते है। उस समय मन में तो भक्ति आदिरूप अनेक प्रकार के शुभरागादि विकल्प उठते हैं।’ शुभराग उठता है, वह गुप्ति नहीं। विकल्प उठे कि, मैं ऐसा चलूं, ऐसा न चलूं, वह तो राग है। गुप्ति तो आत्मा के आनन्द में लीन हो जाये। सच्चिदानन्द प्रभु सत् शाश्वत ज्ञान और आनन्द का नाथ, स्वामी आत्मा, उसमें लीन हो जाये, उसका नाम गुप्ति है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- वह सब अन्दर में एक है। निश्चय वीतरागता।

‘इसलिये प्रवृत्ति में तो गुप्तिपना हो नहीं सकता। (सम्यग्दर्शन-ज्ञान और आत्मा में लीनता द्वारा) वीतरागभाव होने पर जहाँ मन-वचन-काय की चेष्टा न हो वही सच्ची गुप्ति है।’ यह ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ में से लिया है। ‘टोडरमलजी’ ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ के प्रणेता, उन्होंने यह कहा है। कहो, समझ में आया ?

‘मुनि प्रिय (अनुकूल) पाँच इन्द्रियों के पाँच रस, ...’ अनुकूल पाँच रस, हाँ ! मोसंबी के मीठे रस में मीठास मानते नहीं। ‘पाँच रूप ...’ अनुकूल इन्द्राणी के रूप में सुख मानते नहीं। ‘दो गन्ध ...’ दुर्गन्ध, सुगन्ध। ‘आठ स्पर्श ...’ मुलायम (आदि) ‘शब्दरूप पाँच विषयों में राग नहीं करते ...’ लो ! अनुकूलता-प्रतिकूलता में (राग-द्वेष नहीं करते)। अनुकूलता में प्रेम नहीं, प्रतिकूलता में द्वेष नहीं। आत्मा में ऐसा वीतरागभाव प्रगट हो, उसका नाम यथार्थ गुप्ति कहने में आता है, उसको जितेन्द्रिय कहने में आता है। इन्द्रियाँ, इन्द्रिय के विषय, भावेन्द्रिय को (आत्मा में) एकाग्र होकर दृष्टि में से छोड़ दे, अन्तर में एकाग्र हो, उसको भगवान जितेन्द्रिय कहते हैं। समझ में आया ?

‘अप्रिय (प्रतिकूल) ऊपर कहे हुए पाँच विषयों में द्वेष नहीं करते। -इस प्रकार पाँच इन्द्रियों को जीतने के कारण वे जितेन्द्रिय कहलाते हैं।’ पाँच इन्द्रियों को जीतने के कारण पाँच इन्द्रियों को जीतने के कारण जितेन्द्रिय (कहलाते हैं)। जीतने का अर्थ अतीन्द्रिय (आत्मा में) गये तो पाँच इन्द्रिय जीती ऐसा कहने में आता है। कान में लकड़ी डाल दी और आँख ऐसे बन्द कर दी, ऐसे जीता, ऐसा नहीं है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की पूरी गाँठ है, आत्मा भगवान है। उसमें अन्तर में निर्विकल्प आनन्द में लीन हो जाना, उसका नाम धर्म, उसका नाम गुप्ति और उसका यथार्थ प्रवृत्ति, निश्चय समिति में आता है। दुनिया से दूसरी बात है, भैया !

मुमुक्षु :- गन्ने का रस मीठा तो लगता होगा न ?

उत्तर :- मीठा जाने। लगे क्या ? तुम्हें यहाँ क्या लगता है ? शक्कर मीठी है, ऐसा जानने में आता है। मीठास आत्मा में घूस जाती है ? (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



निज वस्तु अखंड-आनन्दकन्द चैतन्य है, - उसकी जिन्हें खबर नहीं, वे सब चलते-फिरते मुर्दे हैं। फिर चाहे, वे करोड़पति हों या बड़े राजा हों, पर अपनी चैतन्यलक्ष्मीका भान नहीं तो वे सब चलते-फिरते मुर्दे हैं। दुनियामें चतुराईसे पाँच-पच्चीस लाख कमाते हों, या लौकिकबुद्धिके खाँ बने घूमते हों: पर वे निज-प्रभुताके भान बिना, अपनी महानताके भान बिना नरकादिके अनन्त-अनन्त दुःख भोगेंगे - कि जिन दुःखोंका वर्णन करोड़ो जीभ द्वारा करोड़ो भव तक करें, तो भी न कर पायेंगे। निज प्रभुके भान बिना ऐसे अनन्त दुःख भोगने पड़ेंगे।

(परमागमसार-४४२)

मुनियों के छह आवश्यक और शेष सात मूलगुण

समता सम्हारैं, थुति उचारैं, वन्दना जिनदेवको;
 नित करैं श्रुतिरति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेवको।
 जिनके न न्हौन, दंतधोवन, लेश अम्बर आवरन;
 भूमांहि पिछली रयनिमें कछु शयन एकासन करन ॥५॥

अन्वयार्थ :- (वीतरागी मुनि) (नित) सदा (समता) सामायिक (सम्हारैं) सम्हालकर करते हैं, 'थुति' स्तुति (उचारैं) बोलते हैं, (जिनदेव को) जिनेन्द्र भगवान की (वन्दन की) वन्दना करते हैं; (श्रुतिरति) स्वाध्याय में प्रेम (करैं) करते हैं, (प्रतिक्रम) प्रतिक्रमण (करैं) करते हैं, (तन) शरीर की (अहमेव को) ममता को (तजैं) छोड़ते हैं (जिनके) जिन मुनियों को (न्हौन) स्नान और (दंतधोवन) दाँतों को स्वच्छ करना (न) नहीं होता और (पिछली रयनिमें) रात्रि के पिछले भाग में (भूमांहि) धरती पर (एकासन) एक करवट (कछु) कुछ समय तक (शयन) शयन (करन) करते हैं।

भावार्थ :- वीतरागी मुनि सदा (१) सामायिक, (२) सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की स्तुति, (३) जिनेन्द्र भगवान के वन्दना, (४) स्वाध्याय, (५) प्रतिक्रमण, (६) कायोत्सर्ग (शरीर के प्रति ममता का त्याग) करते हैं; इसलिये उनको छह आवश्यक होते हैं, और वे मुनि कभी भी (१) स्नान नहीं करते, (२) दाँतों की सफाई नहीं करते, (३) शरीर को ढँकने के लिये थोड़ा-सा भी वस्त्र नहीं रखते तथा (४) रात्रि के पिछले भाग में एक करवट से भूमि पर कुछ समय शयन करते हैं ॥५॥

वीर संवत २ॡ१२, ढाल्गुन शुक्ल ॡ, शुक्रवार
दि. ११-३-११ॡॡ, ढाल-ॡ, श्लोक-ॡ,ॡ,ॡ. प्रवचन नं. ॡॢ

यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। छठवीं ढाल का ॡवां श्लोक है, चार श्लोक हुए। मुनियों की व्याख्या है। मुनिपना (कहते हैं)। अन्तिम गाथा-अन्तिम ढाल है न ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान, श्रावक के देशव्रत की व्याख्या आ गयी है। अब, सकलव्रत की व्याख्या (कहते हैं)। और फिर स्वरूपाचरणचारित्र की व्याख्या कहेंगे।

मुनियों के छह आवश्यक और शेष सात मूलगुण

समता सम्हारैं, श्रुति उचारैं, वन्दना जिनदेवको;

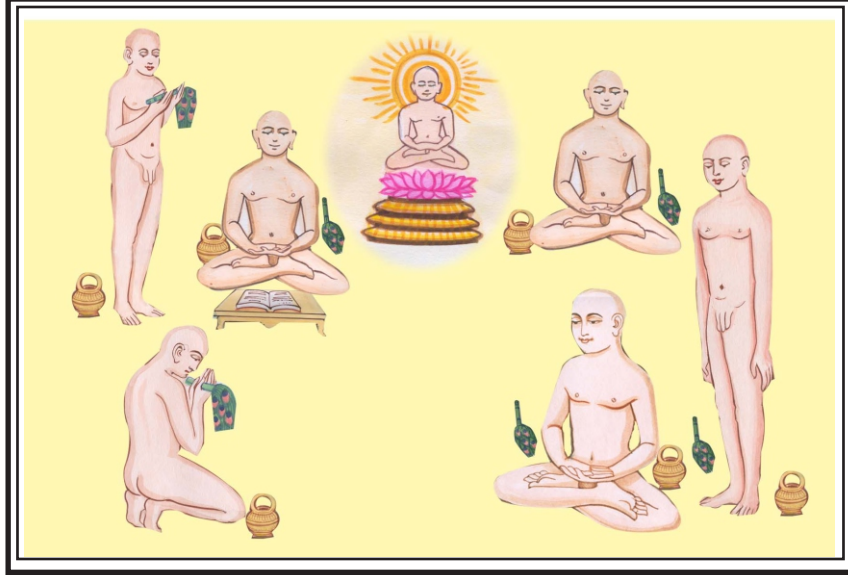
नित करैं श्रुतिरति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेवको।

जिनके न न्हौन, न दंतधोवन, लेश अम्बर आवरन;

भूमांहि पिछली रयनिमें कछु शयन एकासन करन ॥ॡ॥

ओ..हो..हो... ! अन्वयार्थ :- 'वीतरागी मुनि...' सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सकलचारित्र से सहित हैं। उन्हें 'हमेशा) सामायिक सम्हालकर करते हैं...' समता का प्रयोग करते हैं। अन्तर वीतरागपने में कितने काल रह सकता हूँ-ऐसा सामायिक का प्रयोग करते हैं। समताभाव... यों तो मुनि को तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव है। सकलचारित्र आदि, पाँच महाव्रत आदि अट्टाईस मूलगुण के विकल्प होते हैं, उसमें एक सामायिक (का) प्रयोग करते हैं। शुद्ध चैतन्यमूर्ति अन्तर वीतरागपने के स्वभाव के निर्विकल्प ध्यान का प्रयोग करे। पहले सामायिक का विकल्प है। समझ में आया ? यहाँ मानो केवलज्ञान पाने की योग्यात हो गयी हो-ऐसी सामायिक। समता हमेशा प्रगट करते हैं।

‘शुद्धि उचारें...’ जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करते हैं, वन्दन (करते हैं)। समझ में आया ? चौबीस तीर्थकर आदि का स्तवन करते हैं, वन्दन करते हैं, गुरु को वन्दन करते हैं



अथवा एकाध

तीर्थकर अलग पाड़कर वन्दन करे, उसे वन्दन कहते हैं। ‘स्वाध्याय में प्रेम करते हैं...’ शास्त्र की स्वाध्याय करते हैं। दूसरी कोई विकथा, निन्दा नहीं होती। ध्यान और स्वाध्याय, ध्यान और स्वाध्याय। मुनि या तो अन्तर ध्यान में-आनन्द में लीन होते हैं, बाहर में आवे तो शास्त्र की स्वाध्याय (करते हैं)। चार अनुयोगोंमें से जो उन्हें योग्य लगे, उस प्रकार (करते हैं)। ‘प्रेम करते हैं; प्रतिक्रमण करते हैं...’ अशुभादि भाव हुए हो, तो वपास हटने का प्रतिक्रमण करते हैं।

‘शरीर की ममता को छोड़ते हैं...’ काया। विसर्ग, विसर्ग, विसर्ग है। शरीर की ममता को.. विसर्ग आता है न ? सामायिक, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान.. ‘जिनमुनियों को...’ और जिन मुनियों को.. वे दिगम्बर सन्त ही होते हैं। अन्तर में तीन कषाय का नाश होता है, बाहर में नग्नदशा होती है। ‘जिन्हें स्नान...’ नहीं होता, स्नान। नहाने का नहीं होता। ब्रह्मचारी है उसमें भी चारित्रवन्त हैं, सकलचारित्रव्रत हैं, उन्हें स्नान नहीं होता।

‘दांत साफ करने का नहीं होता...’ दाँत साफ नहीं करते। फिर भी ये ‘बनारसीदासजी’ तो उसमें कहते हैं, भाई कहा था न ? सुगन्ध। अदन्तधोवन की व्याख्या करते हैं। पृष्ठ-३०४ पर

है, साधु के अढुईस मूलगुणों का नाम लिया है न उसमें ? (‘समयसार नाटक’ चतुर्दश गुणस्थान अधिकार, छन्द-ॢ०)

पंच महाव्रत पालै पंच समिति सँभाले;
 पंच इन्द्रि जीति भयौ भोगी चित्त चैन कौ।
 षट् आवश्यक क्रिया दर्वित भावित साधै,
 प्रासुक धर में एक आसन है सैनकौ।
 मंजन न करै केश लुंचै तन वस्त्र मुंचै,
 त्यागै दंतवन पै सुगंध स्वाद बैनकौ।

देखो ! ऐसी दशा प्रगतती है। कोई प्रश्न करता था न ? देखो ! यहाँ (कहते हैं) ‘दन्त धोवन...’ नहीं करते। मुनि, दन्त धोवन नहीं करते तो भी वचन और श्वास में सुगन्ध निकले, इतनी पवित्रता बढ़ गयी है और पुण्य भी इतना बढ़ गया है। देखो ! स्नान करे नहीं, दाँत धोवे नहीं, फिर भी जिनके वचन और श्वास में सुगन्ध (होती है)। आवाज निकले तो सुगन्धवाली और श्वास भी निकले तो सुगन्धवाली-ऐसी मुनि की दशा (होती है)। भावलिंगी छठवें-सातवें गुणस्थान में बिराजमान हैं, उनकी ऐसी दशा हो जाती है, तब उन्हें भावलिंगी सन्त-मुनि कहा जाता है। समझ में आया ?

‘न दन्त धोवन, लेश अम्बर-आवरण...’ जिन्हें एक वस्त्र का टूकड़ा भी आवरण नहीं होता। वस्त्र ग्रहण का भाव हो, वहाँ मुनिपना नहीं हो सकता। भाई !

प्रश्न :- मूर्च्छारहितपने लेवे तो क्या बाधा है ?

उत्तर :- मूर्च्छारहित ले ही नहीं सकता। वस्त्र ग्रहण का भाव है, वह मूर्च्छा है, वह परिग्रह है। (कोई) कहता था न ? वस्त्र-ग्रहण का भाव ही ममता है। यह ममता हो, तब तक मुनिपना नहीं हो सकता है। मुनि की दशा, वही प्राकृतिक स्थिति है। वस्त्र रोकता नहीं, वस्त्र के प्रति का राग, वह राग है, तब तक उसे मुनिपने की दशा नहीं हो सकती-ऐसा कहते हैं।

एक व्यक्ति कहता था-ये बात ऐसीकरते हैं और फिर वापस कहते हैं-वस्त्र रोकता है।

एक व्यक्ति कहता था। (संवत्) २००४ के साल में, ब्राह्मण। बात बहुत सूक्ष्म अच्छी करे, फिर कहते हैं (कि) वस्त्र होवे तो मुनिपना नहीं। तो क्या वस्त्र रोकता है कहीं ? श्वेताम्बर साधु था। यहाँ चातुर्मास में रहा था, विद्वान व्यक्ति। अन्दर कहे कि सौ की सौ प्रतिशत तुम्हारी बात सत्य है, एकदम, परन्तु अमल में कैसे लाना ? अर्थात् कि तुम कहते हो कि यहाँ छोड़कर रहो। यहाँ किसी का कुछ है नहीं। यहाँ तो मार्ग कहते हैं, कैसे तुम्हें करना, कैसे नहीं-हमारा किसी को कुछ कहने का अधिकार नहीं। वे बाहर ऐसा बोले-भाई ! ये कहते हैं कि एक विकल्प जरा-सा राग का इतना होवे तो पाप है अथवा बन्ध का कारण है; फिर कहते हैं कि वस्त्र रखे तो मुनिपना नहीं। जड़ वस्त्र रोकता है ? जड़ नहीं रोकता, परन्तु आत्मा में आनन्दभाव, तीन कषाय का जिसे नाश, अन्दर में प्रगट है-ऐसी दशा में इतनी समता और वीतरागता का आनन्द है कि उसे वस्त्र-ग्रहण की वृत्ति का विकल्प नहीं हो सकता। ऐसी ही उस भूमिका की दशा है। समझ में आया ?

‘लेश अम्बर-आवरन...’ नहीं होता। एक थोड़ा-सा टुकड़ा, लंगोटी जितना भी टूकड़ा (नहीं होता)। यह अकेले की बात नहीं है, अन्दर तीन कषाय (चौकड़ी) का अभाव होकर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते हैं। समता, वीतरागता में अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द में रमते हैं। दन्त धोवन नहीं करते फिर भी वाणी और श्वास में सुगन्ध निकलती है, सुगन्ध निकले-ऐसी जिनकी अन्तर दशा-मुनि की भावलिंगी की दशा हो गयी है उन्हें जैनशासन में मुनि और साधु कहा गया है, भाई !

मुमुक्षु :- वस्त्र आ पड़े तो क्या करना ?

उत्तर :- आ कहाँ से पड़े ? ऊपर से अपने आप आया होगा ? स्वयं ध्यान में हो और कोई ऊपर डाल दे तो वह अलग बात है।

मुमुक्षु :- श्रावक देते हैं।

उत्तर :- क्या देते हैं श्रावक ? मुफ्त में देते हैं वहाँ श्रावक ?

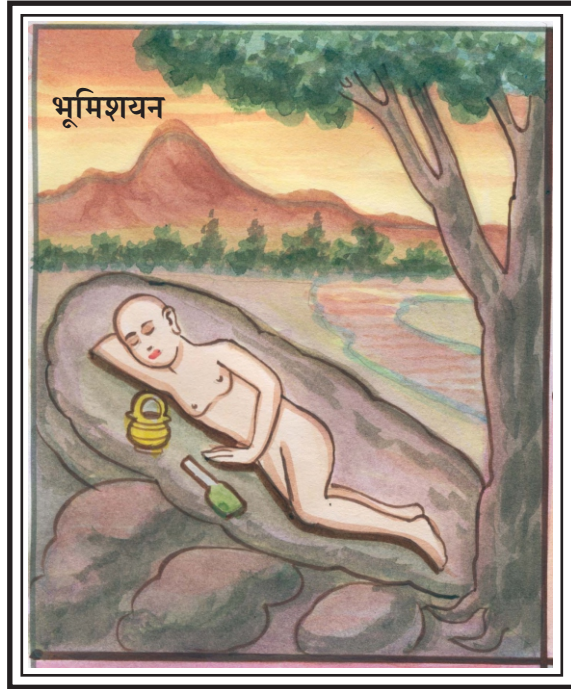
मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- दे वे तो है ही कहाँ ? वह तो वस्तु ही कहाँ है ? मुनि को वस्त्र के उपकरण चलते हैं और उन्हें मुनि मानना, इसकी बात तो गृहीतमिथ्यात्व में जाती है, भाई ! अभी तक सब ऐसा

ही किया है। कहो, समझ में आया ? यह तो वीतराग का मार्ग है। परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव ने मुनिपने की छठवें गुणस्थान की दशा सकलचारित्रवन्त की ऐसी वर्णन की है और दस प्रकार है। कोई दूसरी उल्टी-सीधी आगे-पीछे कहे तो वह वस्तु को नहीं समझता है।

कहते हैं, 'लेश अंबर आवरण' नहीं होता। 'शरीर को ढकने के लिए उनको जरा भी कपड़ा नहीं होता और (पिछली रयनि में) रात्रि में...' देखो ! 'भूमाहिं पिछली रयनि में...' भूमि में, पिछली रात्रि में कुछ-थोड़े समय ' (एकासन) एक करवट...' थोड़ी निद्रा लेते हैं। देखो ! दशा, मुनिदशा अर्थात् क्या ? ओ..हो..हो... ! जिन्हें अन्दर में छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान आनन्द में प्रगट हुआ है, उन्हें एक रात्रि कि पिछले भाग में थोड़ी देर तक एक करवट अर्थात् एक ही आसन से जरा-सी थोड़ी निद्रा, एक थोड़ी सहज निद्रा आ जाती है। घड़ी, दो घड़ी की निद्रा नहीं; एक घड़ी निद्रा आवे तो मुनिपना रहता ही नहीं। समझ में आया ?

यहाँ तो अन्तिमदशा-अन्तिम कड़ी वर्णन की है न ? अन्तिम चारित्र का अधिकार है। (रात्रि के) पिछले भाग में 'एक करवट कुछ समय तक शयन करते हैं।' ऐसी मुनि की भावलिङ्गी अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभवसहित वीतरागदशा प्रगट हुई है। ऐसे सकलचारित्रवन्त को ऐसी स्थिति-दशा होती है। समझ में आया ? अन्दर लिखा है, वह आ गया है।



मुनियों के शेष गुण तथा राग-द्वेष का अभाव

इक बार दिनमें लें आहार, खड़े अल्प निज-पानमें'
 कचलौंच करत न डरत परिषह सौं, लगे निज ध्यानमें।
 अरि मित्र महल मसान कञ्चन, काँच निन्दन थुति करन;
 अर्धावतारन असि-प्रहारनमें सदा समता धरन ॥६॥

अन्वयार्थ :- (वे वीतराग मुनि) (दिन में) (इकबार) एकबार (खड़े) खड़े रहकर और (निज-पानमें) अपने हाथमें रखकर (अल्प) थोड़ा-सा (अहार) आहार (लें) लेते हैं; (कचलौंच) केशलौंच (करत) करते हैं, निज ध्यान में अपने आत्मा के ध्यान में (लगे) तत्पर होकर (परिषह सौं) बाईस प्रकार के परिषहों से (न डरत) नहीं डरते; और (अरि मित्र) शत्रु या मित्र, (महल मसान) महल या स्मशान (कञ्चन काँच) सोना या काँच (निन्दन थुति करन) निन्दा या स्तुति करनेवाले, (अर्धावतारन) पूजा करनेवाले और (असि-प्रहारन) तलवार से प्रहार करनेवाले उन सब में (सदा) सदा (समता) समताभाव (धरन) धारण करते हैं।

भावार्थ :- (वे वीतरागी मुनि) (५) दिनमें एकबार (६) खड़े-खड़े अपने हाथमें रखकर थोड़ा आहार लेते हैं; (७) केश का लौंच करते हैं; आत्मध्यान में मग्न रहकर परिषहों से नहीं डरते अर्थात् बाईस प्रकार के परिषहों पर विजय प्राप्त करते हैं, शत्रु-मित्र, महल-स्मशान, सुवर्ण-काँच, निन्दक और स्तुति करनेवाले, पूजा-भक्ति करनेवाले या तलवार आदि से प्रहार करनेवाले इन सब में समभाव (राग-द्वेष का अभाव) रखते हैं अर्थात् किसी पर राग-द्वेष नहीं करते।

प्रश्न :- सच्चा परिषह-जय किसे कहते हैं ?

उत्तर :- क्षुधा, तृषा, उष्ण, डाँस-मच्छर, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल, नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार, अलाभ, अदर्शन, प्रज्ञा और अज्ञान-यह बाईस प्रकार के परिषह हैं। भावलिङ्गी मुनि को प्रतिसमय तीन कषाय का

(अनन्तानुबन्धी आदि का) अभाव होने से स्वरूप में सावधानी के कारण जितने अंश में राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती, उतने अंश में उनका निरन्तर परिषह-जय होता है। क्षुधादिक लगने पर उसने नाश का उपाय न करना उसे (अज्ञानी जीव) परिषह-सहन करते हैं। वहाँ उपाय तो नहीं किया, किन्तु अंतरंग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलने से दुःखी हुआ तथा रति आदि का कारण मिलने से सुखी हुआ-किन्तु वह तो दुःख-सुखरूप परिणाम हैं और वही आर्त-रौद्रध्यान है; ऐसे भावों से संवर किस प्रकार हो सकता है ?

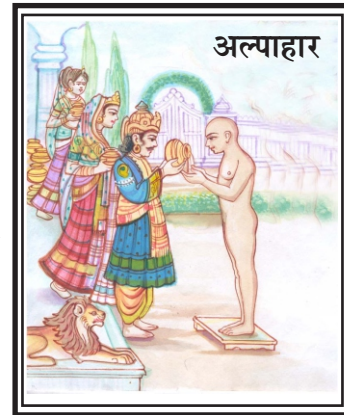
प्रश्न :- तो फिर परिषह-जय किस प्रकार होता है ?

उत्तर :- तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो; दुःख के कारण मिलने से दुःखी न हो तथा सुख के कारण मिलने से सुखी न हो, किन्तु ज्ञेयरूप से उसका ज्ञाता ही रहे-वही सच्चा परिषहजय है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. ३३६) ॥६॥

अब छठवां श्लोक। 'मुनियोंके शेष गुण तथा राग-द्वेष का अभाव।'

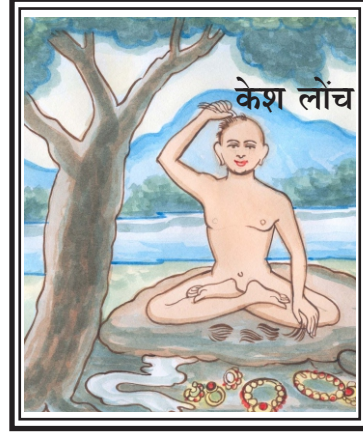
इक बार दिनमें लें अहार, खड़े अल्प निज-पानमें;
कचलोंच करत न डरत परिषह सौं, लगे निज ध्यानमें।
अरि मित्र महल मसान कञ्चन, काँच निन्दन श्रुति करन;
अर्धावरतारन असि-प्रहारमें सदा समता धरन॥६॥

समझ में आया ? देखो ! यह मुनिपने की दशा।
अन्वयार्थ :- '(वे वीतरागी मुनि) दिन में एक बार खड़े रहकर...' दिन में एकबार खड़े (रहकर)... आहा..हा... ! एक ही बार आहार। 'निज-पान में..' अर्थात् अपने हाथ; पान अर्थात् हाथ। 'अपने हाथ में रखकर (अल्प) थोड़ा आहार लेते हैं...' एक थोड़ा। मात्र शरीर के निर्वाह जितना, विकल्प आया इसलिए लेते हैं।



'केशलोंच करते हैं। (निज ध्यान में) अपने आत्मा के

ध्यान में तत्पर होकर...’ देखो ! भगवान आत्मा ! मुनियों को अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद बहुत आया होता है। सम्यग्दृष्टि जीव को भी.. परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थाश्रम में हों, उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया होता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। श्रावक होवे उसे तो अतीन्द्रिय आनन्द का विशेष स्वाद है। आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द उसका आस्वाद; मुनि को तो अतीन्द्रिय आनन्द का आस्वाद प्रचुर स्वसंवेदन है।



इस कारण कहते हैं - ‘अपने आत्मा के ध्यान में तत्पर...’ होते हैं। यहाँ क्या कहते हैं ? सकल-चारित्र की व्याख्या है न ? विकल्प है, तब महाव्रत आदि के परिणाम होते हैं। वापिस अत्यन्त छूटकर आत्म के ध्यान में आ जाते हैं। मुनि छठवे-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। एक दिन में हजारों बार आनन्द में (आते हैं)। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव है। क्षण में आहार लेने का या बोलने का या सुनने का या पढ़ने का विकल्प उठता है, क्षण में अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का अमृत-सिद्ध समान आनन्द का अनुभव लें-ऐसी दशा को वीतराग शासन में मुनिपना कहा जाता है। ऐसी मुनिदशा की श्रद्धा न होवे और दूसरे प्रकार से माने तो उसकी श्रद्धा मिथ्या है।

इसलिए यहाँ वर्णन करते हैं - ‘अपने आत्मा के ध्यान में तत्पर होकर बाईस प्रकार के परीषहों से नहीं डरते हैं...’ डरे क्या ? जहाँ आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा के आनन्द की लहर पड़ती है; आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा के उत्कृष्ट आनन्द में तृप्त.. तृप्त (हैं)। आत्मा की शान्ति में तृप्त हैं। मुनि आत्मा की शान्ति में तृप्त हैं। उन्हें परिषह से डर नहीं होता; ज्ञाता-दृष्टारूप से जाने। इतना आनन्द अन्दर में (बढ़ गया है)। जिन्हें गणधर नमस्कार करें... मुनि अर्थात् जिन्हें गणधर नमस्कार करें। (वे) चौदहपूर्व-द्वादशांग की रचना अन्तमुहूर्त में करें, (तब उच्चारण करते हैं)-णमो लोए सव्व साहूणं। हे सन्त ! ऐसी जिसे अन्तर दशा हो-ऐसे भावलिंगी को गणधर भी पंच नमस्कार में स्मरण करके नमस्कार करते हैं। - ऐसी दशा मुनि की, वह तो परमेश्वर पद ! आहा..हा... ! ‘बाईस प्रकार के परिग्रह से नहीं डरते हैं...’ अब दो-दो बोल लेते हैं।

‘शत्रु या मित्र...’ दोनों में समता है। यह मेरा शत्रु है और यह मेरा मित्र है-ऐसा उन्हें नहीं

होता। अनुकूल-उनकी सेवा करनेवाले मित्र के प्रति जिन्हें प्रेम नहीं और विरोध, निन्दा करनेवाले, मारनेवाले, प्रहार करनेवाले के प्रति द्वेष नहीं-ऐसी वीतरागता अन्तर में प्रगट हुई होती है। 'महल या स्मशान...' अब दो-दो बोल हैं, हाँ ! महल और स्मशान। वह कोई ऊँचा महल हो या स्मशान हो, दोनों समभाव है; दोनों में ज्ञाता-दृष्टारूप से मुनि को वीतरागभाव वर्तता है। स्मशान में ठीक नहीं, महल में ठीक है-ऐसा विकल्प उन्हें नहीं होता है। आहा..हा... !

'सोना या काँच (कंचन-काँच)...' सोना या काँच का टूकड़ा, दोनों समान हैं और कहीं हीरा की खान देखे तो मन में ऐसा नहीं होता कि लावो, कुछ श्रावक को बतला दूँ। समझ में आया ? आहा..हा... ! जिसे सब धूल समान है। हीरा की खान दिखे या काँच का टूकड़ा दिखे.. जहाँ समता-आत्मा का आनन्द-अतीन्द्रिय आनन्द के लहर में पड़े हैं, उस अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में झूलते हैं। आहा..हा... ! कहो, समझ में आया ?

कितना होगा आनन्द ? यह सब तुम्हारे.. देखो ! उसमें... मैंने कहा, देखो !कैसा मजा करते हैं वे पैसेवाले हैं इसलिए न ? मैंने एक व्यक्ति से कहा-भक्ति में कहते थे न ? कहाँ गया ? वह लड़का था न ? देखो ! देखो ! यह सेठ, देखो ! यह कैसा मजा करता है। पैसे के कारण मजा करता होगा न ? देखो ! आवाज निकालता है। (तो उसने कहै)-नहीं, नहीं, पैसे के कारण नहीं, पैसे के कारण सुख नहीं-ऐसा कहता था। (अपने मुमुक्षु का) लड़का है न ? यहाँ बैठा था। मैंने कहा-यह देखो ! यह सेठ है, वहाँ से यहाँ बड़े-बड़े से आवाज आती है। यह पैसा लड़कों का है और उसके लिए यह सब होता होगा या नहीं ? मजा मानता होगा या नहीं ? उसने कहा-नहीं, नहीं, ऐसा नहीं।

सोना और कंचन दोनों में (समभाव है)। आत्मा की शान्ति जिन्हें-मुनि को अन्तर में वीतरागी दशा प्रगट हुई है। सम्यग्दृष्टि को वीतरागता का अंश प्रगट हुआ है; श्रावक को वीतरागात की उग्रता थोड़ी बढ़ी है; मुनि को तो वीतरागता बहुत बढ़ गयी है। आहा..हा... ! समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व टलकर अनन्तानुबन्धी टली, इसलिए वीतरागता का अंश सदा ही वर्तता है। आहा..हा... ! श्रावक भी सच्चा श्रावक, हाँ ! वाड़ा की बात नहीं है। सच्चे श्रावक को भी सन्यग्दर्शनसहित दो कषाय का अभाव (हुआ है); उसे वीतरागता के अंश की वृद्धि (हुई है)। चौथे गुणस्थानवाले सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा भी वीतरागता का अंश

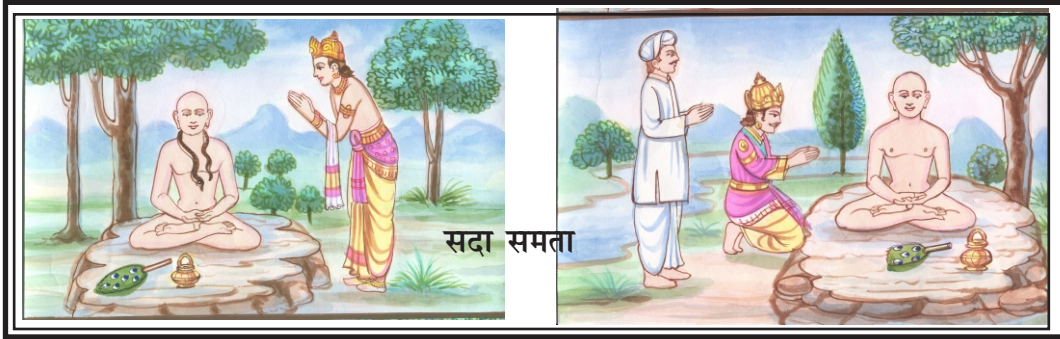
श्रावक को बढ़ गया होता है, उसे श्रावक कहा जाता है, और मुनि को तो वीतरागता का अंश इतना बढ़ा है, तीन कषाय का अभाव (हुआ है)। एक संज्वलन की कषाय थोड़ा विकल्प रहा है।

(यहाँ) कहते हैं, इस काँच और सोना (दोनों में) समता है। 'निन्दा करनेवाले या स्तुति करनेवाले...' के प्रति समभाव है। मेरी निन्दा-स्तुति कौन करे ?- ऐसा मानते हैं। समझ में आया ? निन्दा और स्तुति करनेवाले के प्रति समभाव.. समभाव.. वीतरागता वर्तती है। '(अर्धावतारन) पूजा करनेवाले या तलवार से प्रहार करनेवाले-इस सर्व में हमेशा समताभाव धारण करते हैं।' आहा..हा...! शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. कुछ खलबलाहट नहीं होती, सारा कोलाहल मिट गया है। मनि को वीतरागता प्रगटी है न ? तीन कषाय का नाश हुआ है। शान्त.. शान्त.. शान्त.. अन्दर स्थिर पिण्ड जैसे हो गये हैं-ऐसा चारित्र प्रगट हुआ है। कहते हैं... वे 'हमेशा समताभाव धारण करते हैं।' लो ! यह स्पष्टीकरण आ गया। (भावार्थ में) जरा स्पष्टीकरण करते हैं। प्रश्न है न ?

'प्रश्न :- सच्चा परिषहजय किसे कहते हैं ?'

पहले भावार्थ तो आ गया। सच्चा परीषहजय। परीषह कहते हैं न ? परीषह, वीतरागमार्ग में परीषहजय किसे कहा जाता है ? - 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में यह स्पष्टीकरण किया है। परीषह (अर्थात्) बाहर से ऐसा सहन करे, वह नहीं।

'उत्तर :- क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डाँस, मच्छर, चर्या, शय्या, वध, रोग, तुणस्पर्श, मल, नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार, अलाभ, अदर्शन,



प्रज्ञा और अज्ञान-ये बाईस प्रकार के परीषह है। भावलिङ्गी मुनि को प्रत्येक समय तीन कषाय का (अनन्तानुबन्धी आदि का) अभाव होने से स्वरूप में सावधानी के कारण जितने अंश में राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती...’ समझ में आया ? जहाँ प्रत्येक समय में तीन कषाय का अभाव है, वीतरागता की अन्तर दशा तो प्रगटी है। ‘उतने अंश में उन्हें निरन्तर परीषहजय होता है।’ देखो ! जितने अंश में तीन कषाय का नाश होकर वीतरागता हुई उतना तो सदा परीषहजय होता है।

‘तथा क्षुधादिक लगने पर उनके नाश का उपाय नहीं करना, उसे वह (अज्ञानी जीव) परीषह-सहन कहते हैं। अब उपाय तो नहीं किया...’ यह ‘टोडरमलजी’ की बात है। ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ (में) कहते हैं। ‘और अन्तरंग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलने से दुःखी हुआ...’ क्षुधा लगी, उसमें अनिष्ट, अनिष्ट लगा, वह तो द्वेष हुआ ‘तथा रति आदि का कारण मिलने से सुखी हुआ...’ आहार मिलने से अन्दर रति हुई, ‘परन्तु वे तो दुःख-सुखरूप परिणाम हैं...’ वह कोई परीषहजय नहीं। दुःखरूप परिणाम ‘और वही आर्त-रौद्रध्यान है...’ उसे आर्तध्यान और रौद्रध्यान कहते हैं। ‘ऐसे भावों से संवर किस प्रकार हो सकता है ?’ उस भाव से कोई संवर नहीं होता। क्षुधा अनिष्ट लगे और पेट में आहार पड़े ऐसे ऐसे हा..श.. (होता है)। एक व्यक्ति कहता था, आहार जब होता है न ? आहार के समय सातवां गुणस्थान आ जाता है... आहा..हा.. ! (-ऐसा कहता था)।

मुमुक्षु :- पेट में आ जाता है न, इसलिए शान्ति लगती है।

उत्तर :- परन्तु शान्ति किसकी ? वह तो रति है। आहार पड़ा, क्षुधा लगी थी तब अनिष्ट लगा था, वह कहीं परीषहजय नहीं और वह कोई शान्ति नहीं और आहार (पेट में) पड़ने से हा..श.. (हुई), प्यास बहुत लगी थी और मोसम्बी का पानी पड़े, वह तो रति हुई, वह परीषहजय नहीं है। समझ में आया ? ऐसा भाव...

प्रश्न :- ‘तो फिर परीषहजय किस प्रकार होता है ?’

‘टोडरमलजी’ कहते हैं कि,

‘उत्तर :- तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो..’ देखो ! इष्ट-

अनिष्ट। यह क्षुधा है, वह अनिष्ट है और आहार मिला, वह इष्ट है-दोनों मान्यतायें मिथ्यात्व है। प्रतिकूल पदार्थ अनिष्ट और अनुकूल पदार्थ इष्ट-यह मान्यता ही भ्रम, अज्ञान है। कहो, समझ में आया ? कोई पदार्थ प्रतिकूल-अनुकूल है नहीं। अनुकूल में प्रीति और प्रतिकूल में द्वेष-यह तो आर्तध्यान, रौद्रध्यान हुआ; इसमें परीषहजय नहीं है। यहाँ धर्म नहीं आया, उसमें धर्मध्यान नहीं आया। धर्मध्यान किस प्रकार ?

‘तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो...’ मैं एक ज्ञानस्वरूप हूँ, ये पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं। ज्ञेय हैं-जानने योग्य हैं, इष्ट-अनिष्ट नहीं है। भाई ! इष्ट-अनिष्ट होंगे या नहीं ? यह विच्छु अनिष्ट नहीं ? बिच्छु, ऐसा बड़ा जहरीला बिच्छु काटा हो.. ये सब पदार्थ जाननेयोग्य हैं; आत्मा जाननेवाला-ज्ञान है-इन दो के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध है, इससे अतिरेक सम्बन्ध करके, विशेष सम्बन्ध करके ऐसा माने कि यह मुझे ठीक नहीं है-वह मिथ्याभ्रान्ति में उत्पन्न किया हुआ भाव है। समझ में आया ? आहा..हा... !

‘तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, दुःख के कारण मिलने पर दुःखी न हो...’ यह अनिष्ट सामग्री लाख-करोड़ होवे तो दुःख न हो-ऐसे समतापरिणाम हो, उसे परीषहजय कहते हैं। ‘तथा सुख के कारण मिलने पर सुखी न हो...’ आहार-पानी अनुकूल मिले, ठण्डी हवा मिले, अच्छा गाँव और अच्छा रहने का स्थान, ठण्डी हवा और ऐसी प्यास लगीहो व पानी (मिले)-ऐसे कारण मिलने पर सुखी न हो। सुखी होवे तो राग हुआ वह तो। ‘परन्तु ज्ञेयरूप से उनका जाननेवाला ही रहे, वही सच्चा परीषहजय है।’ परीषहजय की यह व्याख्या है। समझ में आया ? (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-२३२) ’

मुनियों के तप, धर्म, विहार तथा स्वरूपाचरणचारित्र

तप तपै द्वादश, धरै वृष दश, रतनत्रय सेवै सदा;

मुनि साथमें वा एक विचरै चहै नहिं भवसुख कदा।

यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरण अब;

जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै परकी प्रवृत्ति सब ॥७॥

अन्वयार्थ :- (वे वीतरागी मुनि सदा) (द्वादश) बारह प्रकार के (तप तपै) तप करते हैं, (दश) दस प्रकार के (वृष) धर्म को (धरै) धारण करते हैं और (रतनत्रय) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का (सदा) सदा (सेवे) सेवन करते हैं। (मुनि साथ में) मुनियों के संघ में (वा) अथवा (एक) अकेले (विचरै) विचरते हैं और (कदा) किसी भी समय (भवसुख) सांसारिक सुखों को (नहिं चहै) इच्छा नहीं करते। (यों) इसप्रकार (सकल संयम चरित) सकल संयम चारित्र (है) है; अब (स्वरूपाचरण) स्वरूपाचरण चारित्र सुनो। (जिस) जो स्वरूपाचरण चारित्र चारित्र (स्वरूप में रमणतारूप चारित्र) (होत) प्रगट होने से (आपनी) अपने आत्मा की (निधि) ज्ञानादिक सम्पत्ति (प्रगटै) प्रगट होती है, तथा (परकी) परवस्तुओं की ओर की (सब) सब प्रकार की (प्रवृत्ति) प्रवृत्ति (मितै) मिट जाती है।

भावार्थ :- (१) भावलिगी मुनिका शुद्धात्मस्वरूप में लीन रहकर प्रतपना-प्रतापवन्त वर्तना सो तप है। तथा हठरहित बारह प्रकार के तप के शुभविकल्प होते हैं, वह व्यवहार तप है। वीतरागभावरूप उत्तमक्षमादि परिणाम सो धर्म है। भावलिगी मुनि को उपरोक्तानुसार तप और धर्म का आचरण होता है; वे मुनियों के संघमें अथवा अकेले विहार करते हैं; किसी भी समय सांसारिक सुख की इच्छा नहीं करते। - इसप्रकार सकलचारित्र का स्वरूप कहा।

(२) अज्ञानी जीव अनशनादि तप से निर्जरा मानते हैं; किन्तु मात्र बाह्य तप करने से निर्जरा होती नहीं है। शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है, इसलिये उपचारसे तप को भी निर्जरा का कारण कहा है। यदि बाह्य दुःख सहन करना ही निर्जरा का कारण हो, तब तो पशु आदि भी क्षुधा-तृषा सहन करते हैं।

प्रश्न :- वे तो पराधनतापूर्वक सहन करते हैं। जो स्वाधीनरूप से धर्मबुद्धिपूर्वक उपवासादि तप करे उसे तो निर्जरा होती है ना ?

उत्तर :- धर्मबुद्धि से बाह्य उपवासादि करे तो वहाँ उपयोग तो अशुभ, शुभ या शुद्धरूप-जिसप्रकार जीव परिणमे-परिणमित होगा; उपवास के प्रमाण में यदि निर्जरा हो तो निर्जरा का मुख्य कारण उपवासादि सिद्ध हो, किन्तु ऐसा तो हो नहीं सकता, क्योंकि परिणाम दुष्ट होने पर उपवासादि करने से भी, निर्जरा कैसे सम्भव हो सकती है ? यहाँ यदि ऐसा कहोगे कि-जैसे अशुभ, शुभ या शुद्धरूप उपयोग परिणमित हो, तदनुसार बन्ध निर्जरा है, तो उपवासादि

तप निर्जरा का मुख्य कारण कहाँ रहा ?-वहाँ अशुभ और शुभपरिणाम तो बन्ध के कारण सिद्ध हुए तथा शुद्धपरिणाम निर्जरा का कारण सिद्ध हुआ।

प्रश्न :- यदि ऐसा है तो, अनशनादि को तपकी संज्ञा किस प्रकार कही गई ?

उत्तर :- उन्हें बाह्य-तप कहा है; बाह्य का अर्थ यह है कि-बाह्य में दूसरों को दिखाई दे कि यह तपस्वी है, किन्तु स्वयं तो उसे अंतरंग-परिणाम होंगे, वैसा ही फल प्राप्त करेगा।

(३) तथा अन्तरंग तपों में भी प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूप क्रिया में बाह्य प्रवर्तन है, वह तो बाह्य-तप जैसा ही जानना; जैसी बाह्य-क्रिया है, उसीप्रकार यह भी बाह्य क्रिया है; इसलिये प्रायश्चित आदि बाह्य-साधन भी अन्तरंग तप नहीं है।

परन्तु ऐसा बाह्य प्रवर्तन होने पर जो अन्तरंग परिणामों की शुद्धता हो उसका नाम अन्तरंग तप जानना; और वहाँ तो निर्जरा ही है, वहाँ बन्ध नहीं होता; तथा उस शुद्धता का अल्पांश भी रहे तो जितनी शुद्धता हुई, उससे तो निर्जरा है, तथा जितना शुभभाव है, उनसे बन्ध है। इसप्रकार अनशनादि क्रिया को उपचार से तप संज्ञा दी गई है - ऐसा जानना और इसलिये उसे व्यवहार तप कहा है। व्यवहार और उपचार का एक ही अर्थ है।

अधिक क्या कहें ? इतना समझ लेना कि - निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है तथा अन्य अनेक प्रकार के भेद निमित्त कि-निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है तथा अन्य प्रकार के भेद निमित्त की अपेक्षा से उपचार से कहे हैं; उन्हें व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना । इस रहस्य को (अज्ञानी) नहीं जानता, इसलिये उसे निर्जरा का - तप का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-२३३, टोडरमल स्मारक ग्रन्थमाला से प्रकाशित)।

प्रश्न :- क्रोधादि का त्याग और उत्तम क्षमादि धर्म कब होता है ?

उत्तर :- बन्धादि के भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से (अज्ञानी जीव) क्रोधादिक नहीं करता, किन्तु वहाँ क्रोध-मानादि करने का अभिप्राय तो गया नहीं है । जिसप्रकार कोई राजादि के भय से अथवा बड़प्पन-प्रतिष्ठा के लोभ से परस्त्री सेवन नहीं करता तो उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार वह भी क्रोधादि का त्यागी नहीं है । तो फिर किस प्रकार

त्यागी होता है ? - कि पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर क्रोधादि होते हैं, किन्तु जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो तब स्वयं क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होती और तभी सच्चे क्षमादि धर्म होते हैं। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-२२९, टोडरमल स्मारक ग्रन्थमाला से प्रकाशित)।

(४) अब, आठवीं गाथा में स्वरूपाचरणचारित्र का वर्णन करेंगे उसे सुनो-कि जिसके प्रगट होने से आत्मा की अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि शक्तियों का पूर्ण विकास होता है और परपदार्थ के ओर की सर्व प्रकार की प्रवृत्ति दूर होती है, वह स्वरूपाचरण चारित्र है ॥७॥

अब, 'मुनियों का तप, धर्म...' मुनियों का तप, मुनियों का धर्म। दश प्रकार का है न ? उसका 'विहार तथा स्वरूपाचरणचारित्र' इनकी व्याख्या शुरु करते हैं।

तप तपै द्वादश, धरै वृष दश, रतनत्रय सेवै सदा;
मुनि साथमें वा एक विचरै चहै नहिं भवसुख कदा।
यों है सकल संयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरण अब;
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै परकी प्रवृत्ति सब॥७॥

यह सकलचारित्र लिया। पहले देशचारित्र था न ? यह सकलचारित्र लिया। अकेला स्वरूपाचरण में विकल्प साधन नहीं।

अन्वयार्थ :- '(वे वीतरागी मुनि हमेशा) बारह प्रकार के तप करते हैं...' हमेशा अनशन, उनोदर रसपरित्याग, कायक्लेश, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्तशय्यासन, प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, सज्जाय, ध्यान, व्युत्सर्ग-ऐसे हमेशा बारह प्रकार के तप करते हैं, तो भी वीतरागता वर्तती है।

'दश प्रकार के धर्म को धारण करते हैं...' उत्तम क्षमा, उत्तम निर्मानता आदि हमेशा धारण करते हैं। वीतराग मुनि तो गुण के समूह अकेले गुण के पोटले ! आहा..! समझ में

आया ? श्रावक की दशा से भी मुनि कि दशा तो गुण की गठरी, गुण की गाँठ। अकेला आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. अतीन्द्रिय वीतरागता वर्तती है, अतीन्द्रिय आनन्द की वीतरागता वर्तती है। उस मुनिपने में दश प्रकार का धर्म धारण करते हैं। क्षमा, शान्ति, निर्लोभता आदि। समझ में आया ?

‘तथा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का हमेशा सेवन करते हैं...’ मुनि, सम्यग्दर्शन (अर्थात्) आत्मा अखण्ड आनन्दकन्द की अनुभव में प्रतीति होकर सम्यग्दर्शन का हमेशा सेवन करते हैं, निरन्तर-ऐसा कहते हैं। कोई समय सम्यग्दर्शनरहित नहीं होता। समझ में आया ? मुनि उन्हें कहते हैं कि जिन्हें एक समयमात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान (बिना का नहीं होता)। सम्यग्दर्शन अर्थात् अखण्ड मुख्य आनन्दस्वरूप ध्रुव के आश्रय से हुई सम्यक् प्रतीति। उसे इस ध्रुव का ध्येय कभी एक क्षण भई नहीं छूटता। समझ में आया ?

इसी तरह सम्यग्दर्शन (अर्थात्) आत्मा का ज्ञान-आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप का ज्ञान एक समय भी नहीं छूटता; और सम्यक्चारित्र (अर्थात्) स्वरूप में स्थिरता। मुनि को जो अरागी वीतरागी परिणति प्रगट हुई है, वह एक समय भी नहीं छूटती। आहा..हा... ! समझ में आया ? नींद में भी थोड़ी जरा नींद होवे तो भी, उन्हें रत्नत्रय होता है; जागृत होवे तो भी होता है, चलते हो तो भी होता है। जंगल जाने की क्रिया (शौच क्रिया) में बैठे हो तो भी उन्हें रत्नत्रय निरन्तर (वर्तता है)। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वीतरागी दशा वहाँ भी वर्तती है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

श्रावक को दो कषाय का नाश हुआ है और जितनी सम्यग्दर्शन आदि स्थिरता प्रगट हुई है, उतनी उसे भी सदा रहती है। उसे वह है। नींद में हो, भोग में हो, रोग में हो या व्यापार-धन्धे में बैठा दिखे तो भी श्रावक तो उसे कहते हैं, जिसे दो कषाय के अभाव की वीतरागता सदा ही वर्तती है। समझ में आया ? कहो, भाई !

लड़ाई में खड़ा हो तो सम्यग्दृष्टि को एक कषाय का अभाव और भ्रान्ति का नाश, स्वरूपआचरण की स्थिरता का अंश तो वहाँ सदा ही वर्तता है, लड़ाई में हो तो भी। समझ में आया ? उसे-श्रावक को समकृति कहते हैं। मुनि की दशा की तो बात क्या करनी अन्तिम, अलौकिक ! जिन्हें अल्पकाल में केवलज्ञान लेने की तैयारी है।

वे 'सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का (सदा) सेवन करते हैं..' है न सदा ? हमेशा। देखो ! 'तप तपै द्वादश, धरै वृष दश, धर्म दश, रत्नत्रय सेवै सदा...' आहा..हा... ! रत्नत्रय, श्रावक को अभी चारित्र-सकलचारित्र नहीं, अर्थात् थोड़ा है। चौथे गुणस्थान में वे देशव्रत के विकल्प नहीं है, उसे स्वरूपाचरण का अंश सदा है। समझ में आया ? इन मुनि को तो सम्यग्दर्शन-आत्मा के अनुभव की प्रतीति, आत्मा का ज्ञान, आत्मा में तीन कषाय के अभाव की वीतरागता सदा-निरन्तर-चौबीसों घण्टे होती है। समझ में आया ?

धर्मरूप परिणमे हैं न ? धर्म उसे कहते हैं न ? आत्मा धर्मरूप परिणम गया है। आता है न ? भाई ! नहीं ? 'प्रवचनसार'-(में) शुभपरिणमित शुभ; अशुभ से परिणमित अशुभ; और शुद्ध से परिणमित शुद्ध; धर्म से परिणमित धर्मी। धर्मी परिणम गया है। उसे अब ऐसा कुछ करना (-ऐसा) नहीं। उतनी तीन कषाय के नाश की वीतरागता आनन्द की अन्दर परिणमित हो गयी है, वह आत्मा ही धर्मरूप हो गया है। वह आत्मा है, सदा के लिये सदा धर्मरूप परिणमन चालू है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

रत्नत्रय का सदा सेवन करते हैं। बाकी तो यहाँ तप और यह सब लिया है। फिर मुनि रहते किस प्रकार है ? कहते हैं। यह तो मुनि का तप और धर्म कहा। अब विहार (कहतै हैं) - ' (मुनि साथ में) मुनियो के संघ में अथवा अकेले विचरते हैं...' दो-चार साधु साथ रहें अथवा अकेले भी (रहे)। आत्मध्यान की मस्तीवाले स्वतन्त्र आत्मा के आनन्द को अनुभवते हुए अकेले भी रहते हैं। 'किसी भी समय (भवसुख) संसार के सुखों को नहीं चाहते।' समझ में आया ? 'चहें नहीं भवसुख कदा।' आत्मा के आनन्द में, अतीन्द्रिय आनन्द की लहर में रहते हैं। वे कभी (सांसारिक) सुख की इच्छा (नहीं करते कि) ऐसा होवे तो ठीक, यह होवे ते ठीक, गर्म-गर्म ताल होवे तो ठीक या गर्म-गर्म भुजिया खाते हों या नहीं ?

मुमुक्षु :- भुजिये तो गर्म-गर्म ही खाये जाते हैं।

उत्तर :- मुनि को इच्छा नहीं होती। आहा..हा... ! आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के आनन्द का अनुभव वेदते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव-भोजन हमेशा करते हैं। मुनि तो अतीन्द्रिय का भोजन करते हैं। पान-सुधारस का-अमृता का पानी पीते हैं, उन्हें ऐसे सुख की इच्छा नहीं

होती। स्वर्ग की इन्द्राणी डिगाने आवे तो भी नहीं डिगते। समझ में आया ?

वे 'संसार के सुखों को नहीं चाहते। इस प्रकार (सकल संयम चरित) सकल संयम चारित्र है...' लो ! पहले देशविरत कहा था और उसके बाद यह सकल संयम चारित्र कहा। मुनि के पाँच महाव्रत, अट्टाईस मूलगुण इत्यादि।

मुमुक्षु :- महानता हुई..

उत्तर :- महानता हुई तो जाने। महानता-इसका अर्थ है कि ज्ञान किया; पूर्व का याद आता है, वह अलग बात है। ज्ञान तो केवली को नहीं ? ज्ञान तो तीन काल-तीन लोक का होता है। ज्ञान में जाने की ओ..हो..हो.. ! दुनिया। गतकाल में ऐसा जानते और मानते, वह तो ज्ञान किया। समझ में आया ? ज्ञान तो केवली तीन काल का करते हैं या नहीं ?

मुमुक्षु :- यहाँ विकल्प होता है ?

उत्तर :- विकल्प नहीं, ज्ञान होता है-ऐसा कहता हूँ। ज्ञान में पहले की बात ज्ञात हो कि ऐसा पहले था, वह जाना है। उसमें जानने में क्या आया ? समझ में आया ? संसार के ये जितने भोग हैं, वे केवली जानते हैं या नहीं ? केवली को राग आता है ? ऐसे उन्हें एक साथ है, जितनी समता प्रगटी एकसाथ है-समता के साथ ज्ञाता-दृष्टापना साथ ही है। पूर्व का याद आवे, वह तो ज्ञान हुआ, उससे दुःख हुआ-ऐसा है कुछ ? विकल्प भी है, विकल्प है तो याद (आया)-ऐसी भी कुछ नहीं। जानते हैं। गतकाल-भूतकाल जानते हैं। (यह) 'सकल संयम चारित्र है...'

'अब, स्वरूपाचरणचारित्र सुनो...' लो ! उस स्वरूप में निर्विकल्प ध्यान में स्थिर हो जाए-उसकी बात की। सकलचारित्र में अट्टाईस मूलगुण सहित की बात की। अब जहाँ विकल्प आदि साधन और अकेला स्वरूपाचरण (है, उसकी) बात करते हैं। स्वरूपाचरण तो इतना है, उसे भी विशेष स्वरूप आचरण स्थिरता से अब बात करते हैं।

'स्वरूपाचरणचारित्र सुनो !' देखा ! समझ में आया ? इस स्वरूपाचरण का अंश तो चौथे गुणस्थान से होता है। यह बात पहले हो गयी थी। उसमें था न ? 'जैनसिद्धांत प्रवेशिका'। सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थाश्रम में हो, उसे स्वरूपाचरणचारित्र (सहित) होने से अनन्तानुबन्धी का अभाव होता है। इतना शुद्ध चैतन्य प्रभु दृष्टि में और स्थिरता के अंश में इतना वर्तता होता है। यहाँ

विशेष चारित्र की अपेक्षा विशेष है।

‘जिस स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होने पर (आपनी) अपने आत्मा की ज्ञानादिक सम्पत्ति...’ खजाना.. ओ..हो..! स्वरूप में स्थिरता से (ज्ञानादिक सम्पत्ति प्रगट हो गयी)। कोई इसमें से ऐसा लेते हैं कि देखो ! यह तो सकलचारित्र कहने के बाद अकेला स्वरूपचारित्र सातवें से (होता है)। यहाँ बात तो उत्कृष्ट की ऐसे कहना चाहते हैं, बात तो यह कहना चाहते हैं। समझ में आया ? क्योंकि सकलचारित्र और अट्टाईस मूलगुणसहित का तीन कषाय का अभाव (हुआ), उतना चारित्र है, परन्तु विकल्प है, अभी उससे रहित अब स्थिरता बताना चाहते हैं; परन्तु इससे स्वरूपाचरणचरण सातवें में ही होता है और नीचे नहीं होता-ऐसा नहीं है। यह तो उत्कृष्ट चारित्र की अपेक्षा का स्वरूपाचरणचारित्र (कहते हैं)। छठवें गुणस्थान में मुनि को तीन कषाय के नाश जितना तो चारित्र स्वरूप आनन्द वीतराग है, परन्तु अट्टाईस मूलगुण के विकल्प हैं, उसका अभाव करके स्थिर होते हैं-उसकी बात अब लेना चाहते हैं।

अपनी आत्मा में ध्यान जहाँ लीन हुआ (तो) कहते हैं (कि), अकेला स्वरूप का आचरण अकेला। ‘आत्मा की ज्ञानादिक सम्पत्ति प्रगट होती है...’ अन्तर में अनन्तज्ञान, दर्शन, आनन्द जो है, वह एकाकार ध्यान करने से प्रगट होते हैं। ‘तथा परवस्तुओं की ओर की सर्व प्रकार की प्रवृत्ति मिट जाती है।’ लो ! विकल्प आदि सब मिट जाते हैं।

भावार्थ :- ‘भावलिङ्गी मुनि का शुद्धात्मस्वरूप में लीन रहकर प्रतपना-प्रतापवन्त वर्तना, वह तप है...’ यह तप की थोड़ी व्याख्या की। पहला ‘तप’ शब्द है न ? तप। पहला ‘तप’ शब्द है, देखो ! ‘तप तपै...’ मुनि ऐसा तप तपते हैं। ‘हठ बिना बारह प्रकार के तप का शुभविकल्प होता है...’ अनशन, उनोदर आदि का विकल्प होता है। ‘यह व्यवहारतप है।’ यह निश्चयतप तो आनन्द का तपना, अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का प्रगट होना, वह निश्चयतप है। बारह प्रकार के तप का विकल्प, वह व्यवहारतप पुण्यबन्ध का कारण है।

‘वीतरागभावरूप उत्तम क्षमादि परिणाम, वह धर्म है।’ दूसरी व्याख्या (की)। वीतरागभावरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित ‘उत्तम क्षमादि परिणाम, वह धर्म है। भावलिङ्गी मुनि को उपरोक्तानुसार तप और धर्म का आचरण होता है।’ अन्दर में। आहा..हा...! मुनि पंच

परमेश्वर अकेले धर्म होने ही नीकले। 'वे मुनियों के संघ के साथ अथवा अकेले विहार करते हैं। किसी भी समय संसार के सुख को नहीं चाहते हैं। इस प्रकार सकलचारित्र का स्वरूप कहा।' अब, जरा 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' की थोड़ी बात करते हैं।

'(२) अज्ञानी जीव, अनशनादि तप से निर्जरा मानते हैं...' अज्ञानी (ऐसा मानता है) - आहार-पानी छोड़ दिया, इसलिए अपने को तप हो गया।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- वह भी तप नहीं है।

'किन्तु मात्र बाह्य तप करने से तो निर्जरा होती नहीं है।' ऐसा अनशन, उनोदर आदि का बाह्य से क्रियाकाण्ड (करने से) कुछ निर्जरा होती नहीं। 'शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है...' देखो ! भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वभाव में, शुद्धस्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और रमणता का शुद्ध आचरण करे, इस शुभविकल्परहित, पुण्य के विकल्परहित शुद्धस्वरूप को अन्तर तपे, वह शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण है। 'इसलिए उपचार से तप को भी निर्जरा का कारण कहा है।' वह निमित्त साथ में है इसलिए। बारह प्रकार का तप निमित्त है न, उसे कहा, बाकी वास्तव में तो शुद्धोपयोग, निर्जरा का कारण है। 'यदि बाह्य दुःख सहन करना ही निर्जरा का कारण होवे तो पशु आदि भी भूख-प्यास सहन करते हैं।' लो ! सहन करते हैं या नहीं ? तब कहते हैं कि...

'प्रश्न :- वे तो पराधीनता से सहन करते हैं...' हम तो यहाँ रोटियां मिलती हैं, और छोड़ देते हैं। 'परन्तु स्वाधीनरूप से धर्मबुद्धि से उपवास आदि तप करे, उसे तो निर्जरा होती है ?'- इस प्रकार प्रश्नकार का प्रश्न है।

'उत्तर :- धर्मबुद्धि से बाह्य उपवासादि करे...' यह 'पण्डित टोडरमलजी' की 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' की व्याख्या है, हाँ ! 'वहाँ उपयोग तो अशुभ, शुभ व शुद्धरूप जैसा परिणामें वैसा परिणामों।' परिणाम पर बात है या बाहर की क्रिया पर (बात) है ? कहते हैं, उपवास करके बैठा और परिणाम अशुभ हो। परिणाम शुभ हो तो पुण्य बाँधे, अशुभ हो तो पाप बाँधे, शुद्धोपयोग होवे तो निर्जरा होती है। 'यदि उपवास के प्रमाण में निर्जरा होती हो, तब तो निर्जरा का मुख्य कारण उपवासादि ही ठहरे, परन्तु ऐसा तो होता नहीं, क्योंकि परिणाम दुष्ट

होने पर उपवासादि करने पर भी निर्जरा होना कैसा सम्भव है ?' जिसके परिणाम खराब हैं और बाहर से मुँह से आहार-पानी पेट में नहीं पड़ा, इससे परिणाम से बन्ध होता है, उसे किसी क्रिया से बन्ध नहीं होता।

'यहाँ यदि ऐसा कहोगे कि अशुभ-शुभ-शुद्धरूप उपयोग परिणामें, तदनुसार बन्ध-निर्जरा है...' उसके मुँह से कहलवाया, भाई ! जैसे परिणाम करे, तदनुसार बन्ध-निर्जरा (होते हैं)। शुभ-अशुभपरिणाम से बन्ध होता है और शुद्ध परिणाम से निर्जरा होती है। 'तो उपवासादि तप, निर्जरा का मुख्य कारण कहाँ रहा ?' तो उपवास और अनशन कारण नहीं रहा। 'वहाँ अशुभ और शुभपरिणाम तो बन्ध के कारण सिद्ध हुए तथा शुद्धपरिणाम निर्जरा का कारण सिद्ध हुआ।' कहो, निर्जरा का कारण क्या हुआ इसमें ? शुद्ध श्रद्धा-ज्ञानसहित के शुद्धपरिणाम, वह निर्जरा का कारण है। बाहर से अनशन, उनोदर, रसपरित्याग (रस) छोड़े, परन्तु परिणाम का ठिकाना न हो तो क्या शुद्ध, वह निर्जरा का कारण है।

'प्रश्न :- यदि ऐसा है तो अनशनादि को तप संज्ञा किस प्रकार कही गयी ?'

'उत्तर :- उन्हें बाह्य कहा है...' वे तो बाह्यतप है। 'बाह्य का अर्थ यह है कि बाह्य में दूसरों का दिखायी दे कि यह तपस्वी है...' महीने-महीने के उपवास करे और तपस्वी कहे, उसकी अपेक्षा एकबार स्वाध्याय, ध्यान में बैठे (वह) बहुत निर्जरा करे, उसे कोई तपस्वी कहते हैं ? कहो, समझ में आया ? स्वाध्याय, तप और ध्यान भी तप है, परन्तु लोग बाहर से मानते हैं, 'परन्तु स्वयं तो जैसा अन्तरंग परिणाम होगा, वैसा फल प्राप्त करेगा।'

'(३) तथा अन्तरंग तपों में भी प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूपक्रिया में बाह्य प्रवर्तन है, उसे तो बाह्यतप जैसा ही जानना..' 'टोडरमलजी' के 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' का यह स्पष्टीकरण (है)। 'जैसी अनशनादि बाह्य क्रिया है, वैसी यह भी बाह्य क्रिया है...' वह भी बाह्य क्रिया है। कौन-सी ? प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, यह सब विकल्प है। 'इसलिए प्रायश्चित आदि बाह्य साधन भी अन्तरंग तप नहीं है।' प्रायश्चित आदि बाह्य (साधन) अन्तरंग तप नहीं है।

'परन्तु ऐसा बाह्य प्रवर्तन होने पर जो अन्तरंग परिणामों की शुद्धता हो, उसका नाम

अन्तरंग तप जानना...’ अन्तरंग में आत्मा की दृष्टिपूर्वक, सम्यग्दर्शनपूर्वक शुद्ध चैतन्य के भान में जितने शुद्धता के वीतरागी परिणाम हो, उसे निर्जरा का कारण जानना, उसे अन्तरंग तप जानना। ‘और वहाँ तो निर्जरा ही है...’ लो ! यह अन्तरंग शुद्धपरिणाम आत्मा के हो, वह निर्जरा (है)। ‘बन्ध नहीं होता तथा उस शुद्धता का अल्पांश भी रहे तो जितनी शुद्धता हुई, उससे तो निर्जरा है; तथा जितना शुभभाव है, उससे बन्ध है।’ थोड़ा शुभभाव-विकल्प साथ में होता है न ? वह शुभ, पुण्य का बन्ध है।

‘इस प्रकार अनशनादि क्रिया को उपचार से तप संज्ञा दी गयी है-ऐसा जानना और इसलिए उसे व्यवहार तप कहा है। व्यवहार और उपचार का एक ही अर्थ है।’ लो ! उपचार तप कहो, व्यवहार तप कहो, आरोपित कहो। यथार्थ तो आत्मा शुद्ध ध्यान और दर्शन, ज्ञान, चारित्र से निर्मल वीतरागी परिणाम हो, वह निर्जरा है।

‘अधिक क्या कहें ?’ ‘टोडरमलजी’ कहते हैं। ‘इतना ही समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है।’ जितने अंश में अन्तर में सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा की निर्विकल्प दृष्टिपूर्वक, आत्मा की श्रद्धा-सम्यग्दर्शन, शुद्ध चैतन्य की दृष्टिपूर्वक जितनी वीतरागपर्याय प्रगट हो, उतना धर्म भगवान ने कहा है, बाकी परिणाम शुभ हो, वह पुण्यबन्ध का कारण है, वह धर्म नहीं है, निश्चयधर्म नहीं। इस निश्चयधर्म में शुभ को व्यवहारधर्म कहा जाता है।

‘तथा अन्य अनेक प्रकार के भेद निमित्त की अपेक्षा से उपचार से कहे हैं...’ देखो ! अनेक प्रकार के भेद-बारह प्रकार के (तप) आदि अनेक प्रकार, निमित्त की अपेक्षा से उपचार से भेद, निमित्त की अपेक्षा से उपचार से कहे हैं; वे वास्तविक धर्म है नहीं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, ध्यान और स्वाध्याय, पर का विनय करे तो वह सब विकल्प है। वह तो निमित्त से बात की है। अन्दर में सम्यग्दर्शनपूर्वक जितनी वीतरागता प्रगट हो, उतनी को भगवान तप और धर्म कहते हैं।

‘उसे व्यवहारमात्र धर्मसंज्ञा जानना।’ देखो ! भेद निमित्त, उपचार और व्यवहार-इसमें चारों बोल आ गये। जितना कथन भेद से है, निमित्त से है-उस सब को उपचार कहा जाता है और व्यवहार कहा जाता है।

‘इस रहस्य को (अज्ञानी) नहीं जानता...’ देखो ! भेद, ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ – निर्जरा की व्याख्या है न वह ? ‘इस रहस्य को (अज्ञानी) नहीं जानता, इसलिए उसे निर्जरा का-तप का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है।’ ‘टोडरमलजी’ (ने) ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ शास्त्रों का दोहन करके कहा है। अब कितने को ही यह ‘टोडरमलजी’ का (कथन) ठीक नहीं पड़ता। ‘टोडरमलजी’ ने ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ में हजारों शास्त्रों का सार-दोहन करके लिखा है। महाप्रज्ञावाले, बहुत क्षयोपशम, बहुत क्षयोपशम ! समझ में आया ? यह बात करे तो (कहते हैं कि) नहीं, यह नहीं, नहीं, ‘टोडरमलजी’ का नहीं। ‘टोडरमलजी’ का नहीं अर्थात् भगवान का नहीं-ऐसा कह न। इन्होंने (तो) यह भगवान के अनुसार कहा है, इन्होंने घर का कुछ नहीं कहा है। ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ पृष्ठ २३३ से २३६ में यह कहा गया है।

‘प्रश्न :- क्रोधादि का त्याग और उत्तम क्षमादि धर्म कब होता है ?’ समझ में आया ? क्रोध का त्याग, मान का त्याग, माया का त्याग, लोभ का त्याग और उत्तम क्षमा.. अस्ति नास्ति।

‘उत्तर :- बन्धादि के भय से...’ देखो ! बन्ध के भय से क्रोध न करे, मान न करे, माया न करे। बन्ध के भय से, हाँ ! अरे.. ! बन्ध होगा। उसे कहीं क्षमा नहीं कहते, उसे धर्म नहीं कहा जाता। बन्धादि के भय से-राजा का भय, डर के मारे आदि, परिवार का भय। ऐसा करने से लोग मुझे क्रोधी कहेंगे-इत्यादि ‘भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से...’ यह भय हुआ-द्वेष हुआ और पहला राग हुआ। ‘स्वर्ग और मोक्ष की इच्छा से (अज्ञानी जीव) क्रोधादिक नहीं करता...’ समझ में आया ?

‘परन्तु वहाँ क्रोध-मानादि करने का अभिप्राय तो गया नहीं है।’ अभिप्राय में कहाँ गया ? यह लोग मुझे ऐसा करेंगे, इसलिए अपने का क्रोध नहीं हो। लोग ऐसा कहेंगे मान नहीं दिखता। समझ में आया ? नहीं तो द्वेष होगा या अपने लाभ जाएगा। सेठ के साथ क्रोध करूँगा तो लाभ जाएगा-ऐसी इच्छा से और बन्ध के भय से क्रोध-मान नहीं करे, परन्तु क्रोध-मान करने का, श्रद्धा का अभिप्राय तो गया नहीं। ‘जैसे कोई राजादि के भय से...’ देखो ! भय से आया न ? बन्धादि के भय से ‘अथवा बड़प्पन-प्रतिष्ठा के लोभ से परस्त्री सेवन नहीं करता...’ राजा का भय, परिवार का भय आदि और बड़प्पन-अपनी प्रतिष्ठा के लिये करे-ऐसा बड़ा कहलाता हूँ। ऐसा करूँगा तो बड़प्पन जाता रहेगा... बड़प्पन-प्रतिष्ठा के लोभ से मेरी प्रतिष्ठा अच्छी है, वह

भ्रष्ट (नष्ट) हो जायेगी, इसलिए अपने को यह सेवन (नहीं), परस्त्री सेवन नहीं।

‘प्रतिष्ठा के लोभ से परस्त्री सेवन नहीं तो उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता...’ त्यागी कहाँ कहे ? अन्दर में अभिप्राय में सब पड़ा है। समझ में आया ? राजा के, सेठे के, परिवार के डर से करे-परस्त्री सेवन न करे; प्रतिष्ठा के लिये (यह) करे, इज्जत के लिए सेवन (न करे) इससे उसे ‘त्यागी नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार यह भी क्रोधादि का त्यागी नहीं है।’ लो ! दुनिया के कारण क्रोध, मान, माया, लोभ न करे और क्षमादि दिखे तो भी वह वास्तव में क्रोधादि का त्यागी नहीं है। आहा.. !

‘तो फिर किस प्रकार त्यागी होता है ? कि पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर...’ देखो ! ‘क्रोधादि होते हैं...’ यह पदार्थ इष्ट है, यह पदार्थ अनिष्ट है। (-ऐसा) भासित होने पर क्रोध, मान होता है; अर्थात् इष्ट देखकर राग होता है, अनिष्ट देखकर द्वेष होता है। इस पदार्थ में मुझे द्वेष हुआ और इस पदार्थ से मुझे राग हुआ-यह मान्यता ही मिथ्यादृष्टि की है। समझ में आया ? ‘पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर क्रोधादि होते हैं। परन्तु जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास में...’ जगत में कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट है ही नहीं, मैं ही पर में इष्ट-अनिष्ट कल्पता और मानता था। कोई चीज इष्ट-अनिष्ट है ही नहीं।

विच्छु अनिष्ट है और चन्दन अनुकूल है-ऐसा पदार्थ में नहीं है। पदार्थ में छाप लगी है ? रोग अनिष्ट है, निरोग इष्ट है-ऐसा है ? उसमें छाप लगी है ? .. पता है न ? .. हाथ निकाल दे। यहाँ से ऐसा कर डाले। समझ में आया ? .. हाथ पहले से ही निकाल दिया हो, कपड़ा वह पहना हाथ ... इसलिए कोई पकड़ने आवे तो पता नहीं पड़े कि यह चोर था। बाहर के कारण यह सब करता है। उसे इष्ट नहीं, वह रोग उसे उस समय अच्छा लगता है। वहाँ से दो कदम फिर और पहला सब करके वापस बदल डाले, पुलिस पकड़ने आवे तो, वह कहीं गया नहीं। कहाँ गया है ? क्योंकि दिखाव गरीब, भिखारी दिखे। मणिरत्न चोर गया हो और यहाँ आँख में डाल दिया। वह पहले से कटाकर अन्दर रखा हो। ऐसा चढ़ा दिया हो। अब पहले ऐसा होवे, उसमें पकड़ना किसे ? किसे ? यह हुआ है। ‘मुम्बई’ में यह सब (किस्से) हुए हैं।

‘तत्त्वज्ञान के अभ्यास से...’ मैं तो आत्मा ज्ञान हूँ। मेरी शान्ति मेरे पास है। जगत का

अनुकूल-प्रतिकूल कोई पदार्थ मुझे बाधक या अनुकूल है ही नहीं-ऐसी तत्त्वज्ञान की दृष्टि हो, सम्यग्दृष्टि होवे तब कोई 'इष्ट-अनिष्ट भासित न हो...' फिर उसे कोई चीज इष्ट-अनिष्ट भासित नहीं होती। 'तब स्वयं क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होती...' सहज क्रोध नहीं होता, मान नहीं होता, कपट नहीं होता, लोभ नहीं होता, 'तभी सच्चे क्षमादि धर्म होते हैं।' धर्म होता है। यह तप और क्षमा की व्याख्या की। ऊपर था न ? 'तप तपै द्वादश, धरै वृष दश...' ऐसा। समझ में आया ? लो ! यहाँ तक सकलचारित्र का वर्णन हुआ। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' पृष्ठ-२३२ में से यह कथन है, हाँ ! यह यहाँ का कथन नहीं है। 'टोडरमलजी' का है। अब, यह सकलचारित्र हुआ। सम्यग्दर्शनसहित, अन्तर अनुभवसहित, अट्टाईस मूलगुण आदि का वर्णन किया। तीन कषाय का अभाव हुआ, अब अन्दर स्थिरता की-सातवें गुणस्थान से स्वरूपाचरण के स्थिरता जमे। स्वरूपाचरण चारित्र की, चारित्रसहित की स्थिरता।

'(४) अब, आठवीं गाथा में स्वरूपाचरणचारित्र का वर्णन करेंगे, उसे सुनो...' है न अन्दर ? 'जिस के प्रगट होने से अपने...' यह प्रगट होने से-स्वरूप में स्थिरता (होने से)... तीन कषाय का अभाव तो था। अट्टाईस मूलगुण का विकल्प था। अब यह छोड़कर स्थिरता होने से 'अपने आत्मा की अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य आदि शक्तियों का पूर्ण विकास होता है और परपदार्थ के ओर की सर्व प्रकार की प्रवृत्ति दूर होती है, वह स्वरूपाचरणचारित्र है।' यह व्याख्या अपने ८-९-१० की हो गयी है। समझ में आया ? ११ से कल चलेगा।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



ज्ञानी उसे कहते हैं कि जो त्रिकाली-ज्ञायकको पकड़े व उसकी पर्यायमें वीतरागता प्रगट होने पर भी पर्यायमें रुके नहीं; उसकी दृष्टि तो त्रिकाली-ध्रुव पर ही टिकी है । धर्मदशा प्रकट हो - निर्मलपर्याय प्रकट हो - पर ज्ञानी इन पर्यायोंमें नहीं रुकता ।

(परमागमसार-४५४)

स्वरूपाचरण-चारित्र (शुद्धोपयोग) का वर्णन

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया;
 वरणादि अरु रागादितैं निज भाव को न्यारा किया ।
 निजमांहि निजके हेतु निजकर, आपको आपै गह्यो;
 गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मँझार कछु भेद न रह्यो ॥८॥

अन्वयार्थ :- (जिन) जो वीतरागी मुनिराज (परम) अत्यन्त (पैनी) तीक्ष्ण (सुबुधि) सम्यग्ज्ञान अर्थात् भेदविज्ञानरूप (छैनी) *छैनी (डारि) पटककर (अन्तर) अन्तरंग में (भेदिया) भेद करके (निजभाव को) आत्मा के वास्तविक स्वरूप को (वरणादि) वर्ण, रस, गन्ध, तथा स्पर्शरूप द्रव्यकर्म से (अरु) और (रागादितैं) राग-द्वेषादिरूपी भावकर्म से (न्यारा किया) भिन्न करके (निजमांहि) अपने आत्मा में (निज के हेतु) अपने लिये (निजकर) अपने द्वारा (आप को) आत्मा को (आप) स्वयं अपने से (गह्यो) ग्रहण करते हैं तब (गुण) गुण, (गुणी) गुणी, (ज्ञाता) ज्ञाता, (ज्ञेय) ज्ञान का विषय और (ज्ञान मँझार) ज्ञान में-आत्मा में (कछु भेद न रह्यो) किंचित्मात्र भेद (विकल्प) नहीं रहता ।

भावार्थ :- जब स्वरूपाचरण चारित्र का आचरण करते समय वीरागी मुनि-जिसप्रकार कोई पुरुष तीक्ष्ण छैनी द्वारा पत्थर आदि के दो भाग पृथक् कर देता है, उसी प्रकार-अपने अन्तरंग में भेदविज्ञानरूप छैनी द्वारा अपने आत्मा के स्वरूप को द्रव्यकर्म से तथा शरीरादिक नोकर्म से और राग-द्वेषादिरूप भावकर्मों से भिन्न करके अपने आत्मा में आत्मा के लिये, आत्मा को स्वयं जानते हैं तब उनके स्वानुभव में गुण, गुणी तथा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय-ऐसे कोई भेद नहीं रहते ॥८॥

* जिसप्रकार छैनी होले को काटकर दो टुकड़े कर देती है उसी प्रकार शुद्धोपयोग कर्मों को काटता है और आत्मा से उन कर्मों को पृथक् कर देता है ।

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल १, सोमवार
दि. २१-२-१९६६, ढाल-६, श्लोक-ॢ. प्रवचन नं. ४९

‘दौलतरामजी’ कृत ‘छहढाला’। छठी ढाल का आठवाँ श्लोक। देखो ! क्या कहते हैं ? जिस प्राणी ने अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि पहले की हो... पहले दर्शन-ज्ञान आ गया है। अपना स्वरूप शरीर, वाणी, मन से भिन्न है और पुण्य और पाप के राग से भी अपना स्वरूप बिलकुल भिन्न है। ऐसे अपना निज आनन्दस्वरूप की दृष्टि की हो। मैं शरीरादि परपदार्थ की क्रिया का करनेवाला नहीं, क्योंकि मेरे अस्तित्व में-मेरी मौजूदगी में वह तत्त्व नहीं। मेरी मौजूदगी में जो तत्त्व नहीं, उसका मैं करनेवाला, बदलानेवाला, मिटानेवाला या रक्षक मैं हो सकता नहीं। समझ में आया ?

कहते हैं कि, पहले ऐसे शुद्धस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान करते हैं तो उसमें स्वरूपाचरण ध्यान कैसा होता है ? अर्थात् प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्ति के काल में क्या होता है ? और बाद में, सम्यग्दर्शन के बाद भी जब-जब अपने स्वरूप का ध्यान करते हैं, तब कैसी दशा, किस प्रकार की होती है ? वह वर्णन करते हैं। भाषा समझते हो न ? आपकी हिन्दी है, यहाँ हिन्दी चलती है।

‘स्वरूपाचरण-चारित्र (शुद्धोपयोग) का वर्णन।’ आठवीं गाथा। आत्मा एक सैकण्ड के असंख्य भाग में अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द संपन्न (है)। उसमें शुभभाव जो दया, दान, व्रत, भक्ति, तपस्या का शुभविकल्प जो उठता है, वह शुभभाव है, वह पुण्यबन्ध का कारण है; और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना ऐसा अशुभ उपयोग, अशुभ उपयोग, पापबन्ध का कारण है। दोनों उपयोग-शुभ और अशुभ को अशुद्ध उपयोग कहते हैं। दोनों उपयोग का अन्तर व्यापार-शुभ हो या अशुभ हो, दोनों अशुभ व्यापार है। भाई !

पहले उसे निर्णय करना पड़ेगा या नहीं ? कि, क्या चीज है ? कैसे प्राप्त होती है ? और अनन्त काल में क्यों प्राप्त हुआ नहीं ? अनन्त काल में उसने दृष्टि अपने शुद्ध एकान्त एकाकार

आनन्दस्वरूप पर की नहीं। श्रद्धा में भी लिया नहीं कि, मेरा स्वरूप निर्विकल्प आनन्द है, उसमें मैं एकाकार होऊँ तो मुझे धर्म होगा। ऐसी प्रथम श्रद्धा भी की नहीं। समझ में आया ? अनादिकाल से अशुभभाव करता है, उसमें मीठास आती है तो उसमें मुझे मजा आता है, वह तो मिथ्यात्वभाव (है)। दुःख में मजा मानना वह मिथ्यात्वभाव है, और शुभभाव आता है, वह भी दुःखरूप भाव है। भाई ! समझ में आया ? आहा..हा... !

कहते हैं, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि भाव होते हैं, परन्तु वह भाव शुभ आचरणरूप शुभभाव, पुण्यबन्ध का कारण, अशुद्ध उपयोगरूप उसे कहते हैं। अब, दो उपयोग के अलावा, आत्मा की शुद्धोपयोगदशा, का नाम भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर, धर्म कहते हैं। समझ में आया ? शुद्ध उपयोग। शुभ-अशुभ दो भाव अशुद्ध उपयोग (है)। उससे रहित शुद्ध चिदानन्द भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप की ओर दृष्टि लगाकर उसमें स्थिर होना, उसको यहाँ स्वरूपचारित्र-स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं। यह चारित्र, यह चारित्र यथार्थ चारित्र है। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन से लेकर यह स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है। चारित्र का भाव, शुद्ध स्वरूपाचरण का भाव सम्यग्दृष्टि (होते समय) पहले से उत्पन्न होता है। मुनियों को भी सच्चा आत्मदर्शन, आत्मज्ञान, अनुभव हुआ हो तो उनको भी शुद्ध उपयोग का आचरण, चारित्र में निर्विकल्प आनन्द का ध्यान होता है, उसको स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं। उसको शुद्ध उपयोग कहते हैं। समझ में आया ?

यहाँ अब 'दौलतरामजी' छठवीं ढाल में स्वरूपाचरण (चारित्र का स्वरूप कहते हैं)। आत्मा शुद्धस्वरूप (है), उसका आचरण, समझ में आया ? स्वरूपाचरण शब्द पड़ा है न ? 'स्वरूपाचरणचारित्र (शुद्धोपयोग)। सम्यग्दर्शन आत्मा के ज्ञान बिना पंच महाव्रत का परिणाम हो, अट्टाईस मूलगुण का परिणाम हो, सब शुभ हैं, सब दुःखरूप हैं। समझ में आया ? आत्मा का अन्दर चैतन्य स्वभाव शुद्ध आनन्दकन्द स्वरूप अनादि अनन्त सर्वज्ञ परमेश्वर ने त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव ने जिसे आत्मा कहा, वह आत्मा शरीर, वाणी तो नहीं, पुण्य-पाप भी आत्मा नहीं, एक समय की वर्तमान प्रगट अवस्था भी निश्चय आत्मा नहीं। एक समय का ज्ञान, दर्शन, वीर्य का विकासरूप भाव जितना भी निश्चय आत्मा नहीं, वह व्यवहार आत्मा है। व्यवहार आत्मा अभूतार्थ है, सच्चा आत्मा नहीं। आहा..हा... ! कठिन बात, भाई ! क्या

बराबर ? इतना सूक्ष्म है, फिर भी बराबर ? बराबर है।

शरीर, वाणी जड़ (है), वह तो आत्मा नहीं। कर्म अन्दर है, वह आत्मा नहीं। शुभ-अशुभभाव आत्मा नहीं, वह तो आस्रवतत्त्व है। ये शरीर, वाणी, कर्म तो जड़तत्त्व है। अब आत्मा रहा। उसमें दो भाग। एक वर्तमान ज्ञान, दर्शन, वीर्य का विकासरूप क्षयोपशम विकासभाव, वह तो व्यवहार आत्मा है, एक समय की पर्याय व्यवहार आत्मा है। व्यवहार आत्मा का अर्थ क्या ? वह अभूतार्थ आत्मा है। त्रिकाल एकस्वरूप भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द आदि अनन्त गुण का पिंड, शुद्धस्वरूप ध्रुव, वह भूतार्थ आत्मा, सच्चा आत्मा (है)। उसका सच्चा स्वरूप भूतार्थ शुद्ध त्रिकाल, उसका नाम सच्चा स्वरूप है। बहुत सूक्ष्म बात, भाई ! समझ में आया ? यह तो सादी हिन्दी भाषा है, इस में कोई ऐसी (कठिन) नहीं है, गुजरातीवाले कहे कि, हमें समझ में नहीं आती, वह बात बैठती नहीं। भाई ! इतनी सादी (है)। (ये मुमुक्षु) बोलते हैं-ऐसी हिन्दी हमको नहीं आती। ए..ई.. ! तुम्हारी भाषा हमको आती है ? यह तो सादी सरल गुजराती जैसी (है)।

भगवान आत्मा.. ! यहाँ तो सीधी बात, सरल बात है। आहा..हा... ! प्रभु ! तुझे आत्मा कहा, आत्मा कहा। वह आत्मा क्या चीज है ? आत्मा क्या चीज है ? आत्मा कौन है ? तो कहते हैं, शुद्धस्वरूप आचरण। यह स्वरूप की व्याख्या चलती है। स्वरूप तो एक सैकण्ड के असंख्य भाग में ध्रुव वस्तु, ध्रुव सामान्य अखंडानन्द ज्ञायक वह स्वरूप, वह वस्तु-वह निश्चय आत्मा, वह भूतार्थ चीज, अस्तिरूप चीज, त्रिकाली रहनेवाला भगवान-उसका नाम यहाँ स्वरूप कहने में आता है। भाई ! उस स्वरूप का आचरण। समझ में आया ?

ऐसा जो स्वरूप, उसमें आचरण-एकाकार होना, एकाग्र होना उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र (है)। उसका दूसरा अर्थ-शुद्ध उपयोग। उसका दूसरा अर्थ-स्वरूप का आचरणरूप पर्याय, उसको शुद्ध उपयोग कहा। यह शुद्ध उपयोग ही मोक्ष का कारण और धर्म है। भाई ! यहाँ तो दुनिया ने कहाँ का कहाँ मान रखा है। देह की क्रिया, शुभभाव ऐसा हुआ, पंच महाव्रत ऐसा (लिया), अरे... ! भगवान ! वह तो राग है। विकल्प है, देह तो जड़ है।

भगवान आत्मा... एक सैकण्ड के असंख्य भाग में वस्तु... वस्तु.. जिसमें अनन्त अनन्त

केवलज्ञान-जिसके गुण में अनन्त-अनन्त केवलज्ञान पड़ा है। जिसके दर्शन में अनन्त अनन्त केवलदर्शन (है), अनन्त-अनन्त जिसके दर्शन में अन्दर पड़ा है, जिसके अन्दर में अतीन्द्रिय अनन्त-अनन्त आनन्द, अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द पड़ा है। जिसके वीर्य में अनन्त-अनन्त वीर्य चतुष्ट प्रगट होता है, ऐसा अनन्त वीर्य जिसमें पड़ा है। जिसमें स्वच्छता की अनन्त पूर्ण पर्याय प्रगट हो, ऐसी स्वच्छता की अनन्त-अनन्त पर्याय जिसके स्वच्छता के गुण में पड़ी है। समझ में आया ? जिसके स्वरूप में-वस्तु में परमेश्वरता-प्रभुता, परमेश्वरता जो एक समय में परमेश्वरपना प्रगट होता है, एक समय में केवलदर्शन आदि परमेश्वरता (प्रगट होती है), ऐसी परमेश्वरता, अनन्त परमेश्वरता-एक प्रभुता नाम के गुण में अनन्त परमेश्वरता अन्दर पड़ी है। सेठिया ! समझ में आया ?

अर्थात् दूसरा बोल कहें तो आत्मा में एक स्वसंवेदन प्रकाश नाम का गुण है। आत्मा में एक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना-ऐसा अनादि अनन्त गुण है। इस गुण में आत्मा का, पुण्य-पाप के रागरहित, स्वरूप की शुद्ध उपयोग की रमणता-स्वसंवेदन होना, ऐसा-ऐसा स्वसंवेदन सादि आनन्त जो शान्ति का वेदन, अनन्त-अनन्त पर्याय में होता है, ऐसी अनन्त पर्याय एक प्रकाश नाम के गुण में अनन्त स्वसंवेदन पड़ा है। आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसा भगवान.. ये तो चार-पाँच बोल कहे, ऐसे तो अनन्त गुण हैं।

ऐसा अनन्त गुण का पिंड प्रभु, जिसको भूतार्थ आत्मा, अस्तिरूप आत्मा, सच्चा आत्मा, सत्य आत्मा प्रभु आत्मा, पूर्ण आत्मा का अन्दर आचरण करना, उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र, शुद्धोपयोग है (वह) चौथे गुणस्थान से प्रगट होता है। समझ में आया ? ऐसा अनुभव सम्यग्दृष्टि-चौथे गुणस्थान से जब पहला अनुभव सम्यग्दर्शन होता है, तब से होता है। बाद में कभी-कभी, लंबे काल के बाद स्वरूपाचरण का शुद्धोपयोग का ध्यान चौथे गुणस्थान में बहुत लंबे काल में आता है। पंचम गुणस्थान में उसे थोड़े काल में और बहुत टिकना, उपयोग में बहुत टिकना (होता है) और थोड़े-थोड़े काल में आता है। मुनियों को तो, जिनको आत्मज्ञान और आत्मदर्शनसहित चारित्र प्रगट हुआ है, ऐसे मुनियों को तो बारम्बार, एक दिन में हजारों बार स्वरूपाचरण-शुद्धोपयोग आता है। आहा..हा... ! समझ में आया ?

सच्चा मुनिपना.. सच्चा सम्यग्दर्शन और सच्चा श्रावकपना और सच्चा मुनिपना, तीनों में

सम्यग्दृष्टि को स्वरूपाचरण शुद्धोपयोग कभी-कभी आता है। पंचम गुणस्थान (में) सच्चा श्रावक हो, उसको स्वरूपाचरणचारित्र का शुद्ध उपयोग बहुत अल्प काल में बहुत टिकता है। मुनि को तो प्रतिक्षण, भगवान जिसको सच्चे मुनि कहते हैं, ऐसे मुनि को तो स्वरूपाचरण उपयोग क्षण-क्षण में आता है। क्षण में अन्दर आनन्दकन्द में झूक जाये। दूसरे क्षण विकल्प उठे, तीसरे क्षण में शुद्ध उपयोग में रम जाये। ऐसा शुद्धोपयोग का आचरण चौथे, पाँचवे, छठवें और सातवें (गुणस्थान में) इसप्रकार का होता है। भाई ! आहा..हा... ! अब उसकी आठवीं गाथा, देखो !

‘दौलतरामजी’ कृता सादी हिन्दी भाषा में, प्रचलित हिन्दी भाषा (में) ‘छहढाला’ उसकी छठवीं ढाल का आठवां श्लोक है। उसके पहले शब्द का अर्थ किया।

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया;

वरणादि अरु रागादितैं निज भाव को न्यारा किया।

निजमांहि निजके हेतु निजकर, आपको आपै गह्यो;

गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मँझार कछु भेद न रह्यो ॥ॢ॥

पहले सातवीं गाथा में आ गया है। सातवें में आया था न ? उसमें से आता है। ‘सुनिये स्वरूपाचरण अब’ उसकी अन्तिम पंक्ति। ‘जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब।’ है ? भैया ? आठवीं के पहले सातवीं (की) पंक्ति है। ‘दौलतरामजी’ पंडित थे, दिगम्बर पंडित (थे)। आत्मा के बहुत यथार्थ ज्ञानवाले थे। समझ में आया ?

कहते हैं कि, ‘सुनिये स्वरूपाचरण अब। जिस होत प्रगटै अपनी निधि...’ भगवान आत्मा निधि, अनन्त आनन्द की निधि है। आहा..हा... ! अनन्त अनन्त स्वरूप सम्पदा का प्रभु भगवान आत्मा स्वामी है। इस धूल का (स्वामी) नहीं। यथार्थ में आत्मा पुण्य-पाप का भी स्वामी नहीं। पुण्य-पाप का भाव, समझे ? भाव का भी स्वामी नहीं। वह वस्तु विकार है। भगवान आत्मा एक सैकण्ड के असंख्य भाग में.. कहते हैं, अपने स्वरूप पर दृष्टि देने से शुद्ध आचरण में एकाकार होने से ‘प्रगटै आपनी निधि...’ निधि तो है। पहले कहा ऐसा आत्मा

निधान है। समझ में आया ?

जैसे छोटी पीपर में चौसठ पहरी चरपराई तो भरी है। चरपराई, छोटी पीपर होती है न ? समझ में आया ? उस छोटी पीपर को चौसठ पहरी घोंटे, है तो चौसठ पहरी चरपराई प्रगट होती है। कहाँ से आयी ? पत्थर को घोंटने से आयी ? पत्थर घिसने से आती हो तो कोयला, कंकर घिसने से आनी चाहिए। उसमें है, पीपर में चौसठ पहरी (चरपराई है)। चौसठ समझे न ? सोलह आना। अब सोलह आने का एक रूपया हो गया। अभी तक तो चौसठ पैसा था न ? सोलह आना। अब तो सौ हो गये। ऐसी सोलह आनी पीपर में चरपराई पड़ी है, हरा रंग पड़ा है, मुलायमपना पड़ा है, ऐसी अनेक शक्तियाँ एक पीपर के दाने में शक्तिरूप निधान पड़ा है। उसको प्रगट करना, पर्याय में प्रगट करना, वह उसका कार्य है।

ऐसे भगवान आत्मा (में) एक सैकेन्ड के असंख्य भाग में पूर्ण आनन्द, ज्ञानादि निधि पड़ी है। जिसको एकाग्र होकर अपना कारण प्रभु, वस्तुस्वरूप जो ध्रुव है, उस स्वरूप में एकाग्र होकर शुद्ध उपयोग के आचरण द्वारा अन्तर की निधि को वर्तमान अवस्था में खोल देना, प्रगट करना, उसका नाम यहाँ शुद्ध उपयोग कहते हैं। आहा..हा... ! वह गाथा ली है। 'छहढाला' है, आप के घर ? घर पर होगी। जैसे हैं तो पुस्तक तो होंगे ही। समझ में आया ? आहा..हा... !

'जिस होत प्रगटे आपनी निधि...' उसका अर्थ क्या किया ? कि, शरीर, वाणी प्रगटे वह कोई अपनी निधि नहीं है। पैसा-बैसा मिले, वह अपनी निधि नहीं। पुण्य-पाप का भाव प्रगट हुआ, वह अपनी निधि नहीं। अपनी निधि भगवान आत्मा अनन्त अनन्त अनन्त बेहद ज्ञान, जिसके स्वभाव की मर्यादा क्या ? जिसका स्वाभाविक ज्ञान, जिसका स्वाभाविक आनन्द, उसकी मर्यादा क्या ? बेहद आनन्द और बेहद अपरिमित ज्ञानादि आत्मा में पड़ा है, वह अपनी निधि है। अन्तर में एकाग्रता होने से वह निधि प्रगट होती है। इस कारण से प्रगटे। शुभभाव से या अशुभभाव से या देह की क्रिया से अपनी निधि कभी प्रगट होती नहीं। समझ में आया ? पहले श्रद्धा (में) तो निर्णय करे। श्रद्धा का पंथ (तो निश्चित करे कि), यही मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग है नहीं। आहा..हा... !

कहते हैं कि, भगवान आत्मा, अपनी निधि अपने अन्तर में एकाग्रता होने से प्रगट होती है।

पुण्य के विकल्प से, निमित्त से, व्यवहार से अपने स्वरूप की निधि प्रगट नहीं होती, ऐसा यहाँ कह दिया, भाई ! व्यवहार से प्रगट नहीं होती, उसमें कह दिया ? दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप आदि अथवा व्यवहाररत्नत्रय देव-गुरु की श्रद्धा, नों तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा और शास्त्र का ज्ञान का व्यवहार आता है, परन्तु उस व्यवहार से अपनी निधि प्रगट होती है, ऐसा नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? क्या लिखा है ? देखो !

‘दौलतरामजी’ लिखते हैं, भैया ! है ? लिखते हैं या नहीं ? आप को तो बहुत कंठस्थ है। देखो ! ‘जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब।’ भाई ! पर की प्रवृत्ति का अर्थ-यह शुभरागादि है, वह परप्रवृत्ति है, अपना स्वरूप नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? अरे.. ! वस्तु कैसी है ? और कैसे प्राप्त हो ? उसके निर्णय का भी ठिकाना नहीं, उसको धर्म कहाँ से होता है ? भाई ! है न ? उनको पूरी कंठस्थ है। पूरी ‘छहढाला’ कंठस्थ है। उनके कहने पर यह पढ़ना शुरू किया है। उन्होंने बहुत पुस्तक दिये हैं। व्याख्यान हो गये हैं, उनकी और से छपवाना है। समझ में आया ? आहा..हा... !

भगवान भगवान.. आत्मा को कहते हैं, हे आत्मा ! तेरा स्वरूप आन्द शुद्ध चिदानन्दस्वरूप, वह तो अन्तर की स्वसन्मुख की-स्वस्वभाव सन्मुखता की शुद्ध आचरणरूप, शुद्ध उपयोगरूप एकाग्रता द्वारा ही अपनी निधि प्रगट होती है। दूसरे कोई आचरण से अपने स्वरूप की निधि, शक्ति की व्यक्तता, सामर्थ्य की प्रगटता (नहीं होती)। तत्त्व का सत्त्व जो अन्दर स्वरूप है, उसका बाहर आना, वह अन्तर से एकाग्रता हुए बिना, कभी निधि बाहर प्रगट होती नहीं। कहो समझ में आता है या नहीं ? उसमें है या नहीं ? यह ‘छहढाला’ है ‘छहढाला’ ली है या नहीं ? ये तो सादी हिन्दी भाषा है। सातवीं का सुना ?

‘सुनिये’ ऐसा कहते हैं। ‘दौलतरामजी’ कहते हैं कि, सुनो ! क्या ? ‘स्वरूपाचरण अब।’ क्या ? ‘जिस होत...’ जिस स्वरूपाचरण के होनेपर, होते हुए ‘प्रगटै आपनी निधि...’ क्या (कहा) ? ‘मिटै पर की प्रवृत्ति सब।’ अस्ति-नास्ति की। अनेकान्त कर दिया। समझ में आया ? भगवान आत्मा अपने शुद्ध चिदानन्द की शक्ति का स्वामी पूर्णानन्द है, उस ओर की अन्तर एकाग्रता (करने से) निधि प्रगट होती है और विकल्प आदि परप्रवृत्ति है, वह उससे रुक जाती है, उससे रुक जाती है, रहती नहीं। स्वरूप की अन्तर एकाग्रता से निधि प्रगट होती है।

इससे शुभाशुभपरिणाम जो हैं, वह प्रवृत्ति रुक जाती है। आहा..हा..! यह मूल चीज है।

वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव सर्वज्ञपद को प्राप्त हुए, वाणी की ध्वनि निकली। सौ इन्द्र की उपस्थिति में दिव्यध्वनि समवसरण में निकली। अनन्त तीर्थकर हुए, वर्तमान महाविदेहक्षेत्र में 'सीमंधर' भगवान बिराजमान हैं। बीस विहरमान बिराजमान हैं। 'धोरी धर्म प्रवर्तका।' हमारे पण्डितजी ने रखा है न ? 'धोरी' धर्म के बड़े धोरी। 'धर्म प्रवर्तका।' समवसरण स्तुति है न ? समवसरण स्तुति में है। समझ में आया ? ऐसे भगवान की वाणी में ऐसा आया है, अनन्त तीर्थकरों की वाणी में ऐसा आया था, अनन्त तीर्थकर हुए उसमें ऐसा आया।

'दौलतरामजी' कहते हैं कि, सुनिये ! भगवान ऐसा कहते हैं, वह बात हम कहते हैं। अनन्त सन्तों अनन्तकाल से परमात्मा, संत वीतरागी मुनियों, केवलज्ञानियों, तीर्थकरो, अरे..! सम्यग्दृष्टि भी यही बात अनादि से कहते आये हैं। 'मितै पर की प्रवृत्ति...' शुभराग (की) प्रवृत्ति पर की है, वह अपनी नहीं। आहा..हा...! 'निरखे ध्रुव की तारी'—ऐसा आता है, 'आनन्दघनजी' में आता है। श्वेताम्बर में एक 'आनन्दघनजी' हुए हैं। 'आनन्दघनजी' हुए हैं। (वे कहते हैं), अन्तर में एकाग्र होते हैं तो 'निरखे ध्रुव की तारी' यह आत्मा ध्रुव है न ? वह तारे के समान है। उसको अन्तर एकाग्र हो तो निरखते हैं, ऐसा कहते हैं। श्वेताम्बर में एक 'आनन्दघनजी' हुए हैं। मस्त अध्यात्म था, जंगल में रहते थे। बाद में संप्रदाय में छोड़ दिया। लेकिन दुनिया के साथ तो मेल होता नहीं, लेकिन कुछएक बात उन्होंने कही है। बाकी संपूर्ण यथार्थ बात दिगम्बर संतों, 'कुन्दकुन्दाचार्य', 'अमृतचंद्राचार्य' आदि संतों ने जो बात कही—ऐसी बात कहीं तीनकाल में और जगह नहीं। समझ में आया ? सनातन सर्वज्ञ परमेश्वर अनन्त वीतराग के पंथ में चलनेवाले महा दिगम्बर आत्मध्यानी-ज्ञानी मुनियों, 'कुन्दकुन्दाचार्य', 'अमृतचन्द्राचार्य', 'समंतभद्राचार्य', 'पूज्यपादस्वामी', 'नेमिचंद्र सिद्धान्त - चक्रवर्ती' आदि महा धर्म के धोरी, धर्म वे स्तंभ, धर्म के बड़े स्तंभ, जिन्होंने धर्म क्या है उसे दुनिया को कहकर धर्म को टिकाये रखा है। समझ में आया ? वह बात यहाँ परम्परा से आयी, वह 'दौलतरामजी' कहते हैं।

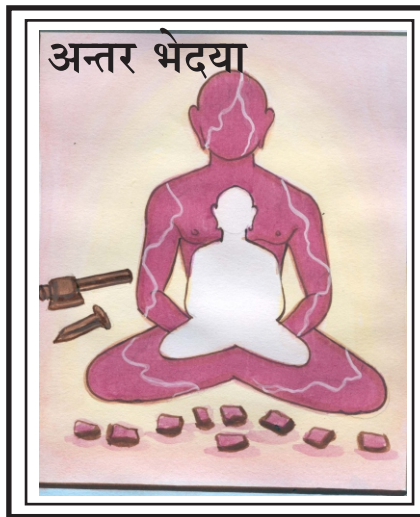
अब, यहाँ कहा, देखो ! 'जिन परम पैनी...' भाई ! देखो ! कोई कहते हैं कि, ऐसा शुद्ध

आचरण तो चौथे गुणस्थान में नहीं होता। वह तो आठवें गुणस्थान में होता है, ऐसा कहते हैं। वह बात को समझते नहीं। भाई ! तुझे मालूम नहीं, प्रभु ! पहले ही चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के काल में ऐसा स्वरूप 'समयसार' में वर्णन किया है, ऐसी ही स्वरूप 'समयसार' में वर्णन किया है, वह बात करते हैं। 'टोडरमलजी' ने भी उनकी चिट्ठी में लिखा है, वही बात यहाँ लिखी है। 'टोडरमलजी' की चिट्ठी है न ? 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में भी वही बात लिखी है। सविकल्पी, निर्विकल्प ध्यान करते समय क्या होता है ? तो कहते हैं कि, वह अनुभव चौथे गुणस्थान से होता है। ऐसा उसमें (लिखा है)। और 'समयसार' में वही बात पहले से ली है। परन्तु मुनि थे, मुनि की भूमिका से बात की है। बाकी प्रथम में प्रथम, भगवान आत्मा शुद्ध उपयोगरूप आचरण में ही सम्यग्दर्शन का भान होता है। आहा..हा... ! ये उसकी बात करते हैं।

'जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया;' देखो ! अन्दर है, फोटो है ? अन्दर आत्मा, छैनी मारता है, छैनी। ऐसा चित्र बनाया है। भैया ! है उसके पास ? यहाँ है, देखो ! आठवाँ श्लोक है न ? किसका ? 'छहढाला'। यहाँ है। चित्र बनाया है। क्या ? 'जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अनत्र भेदिया;' क्या कहते हैं ? भाई ! इसमें तो जिन अर्थात् यह लिखा है, परन्तु इसमें साधक जीव लिखा है। साधक ध्यान करते हैं तब, ऐसे लिखा है। देखो ! छठवीं ढाल, आठवीं गाथा। अन्दर लिखा है, समझे ?

भावार्थ में लिखा है, 'जिस समय कोई साधक...' साधक शब्द सामान्य लिखा है। 'जिस समय कोई साधक ध्यान का अवलम्बन लेकर भेदज्ञान के द्वारा अनादिकाल से लगे हुए द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से अपने आत्मा को भिन्न समझ लेता है...' यहाँ सामान्य व्याख्या कर दी है। साधक अर्थात् सम्यग्दर्शन से लेकर सभी साधकजीव बारहवें गुणस्थान तक हैं। लेकिन नीचे धर्मध्यान की बात-अन्दर एकाग्र होते हैं, उसकी बात यहाँ मुख्यरूप से है।

'जो कोई साधक..' जिन की व्याख्या है न ? जिन



अर्थात् जो। मूल में तो जो है। 'जो कोई अत्यंत तीक्ष्ण सम्यग्ज्ञान, भेदज्ञानरूपी छैनी...' देखो ! अन्तर में छैनी मारते हैं। देखो ! अन्दर छैनी है। ये छैनी। बताते हैं। आत्मा चैतन्यरूप शुद्ध आनन्दकन्द (है) और पुण्य-पाप का विकल्प जो राग है, (उन दोनों के) बीच में भेदज्ञानरूपी छैनी मारते हैं। है उसमें ? भैया ! यह नहीं होगा। चित्र है ? नहीं। देखो ! पहले वह बात निश्चित तो करनी पडेगी या नहीं ? निश्चित किये बिना उसका उपयोग, उसका कार्य कैसे कर सकते हैं ?

कहते हैं, भगवान आत्मा, चिद्घन आत्मा देहदेवालय में प्रभु शुद्ध घन, आनन्दकन्द पड़ा है और पुण्य-पाप का राग.. देखो ! भेदज्ञानरूपी छैनी द्वारा पटककर... (फूटनोट में लिखा है), 'जिस प्रकार छैनी लोहे को काटकर दो टुकड़े कर देती है, उसी प्रकार शुद्धोपयोग कर्मों को काटता है और आत्मा से उन कर्मों को पृथक् कर देता है।' अन्दर एकाग्रता होकर, भेदज्ञान कहो, शुद्ध उपयोग कहो, स्वरूपाचरण कहो, स्वरूप की एकाग्रता कहो। पटटकर अन्तरंग में भेद करके... अन्तर में भेद किसके साथ (करना) ? वह कहेंगे। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को, निज भाव को-यह शब्द पड़ा है-निज भाव को। भगवान आत्मा शुद्धस्वरूपी निज स्वभाव सत्त्वरूप भाव, जो तीनों काल नित्य रहता है, ऐसा निज आत्मा का भाव। ज्ञायक, दर्शन, आनन्द, शान्ति आदि त्रिकाल ज्ञायक निज भाव, ऐसा जो आत्मा, उसमें वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्शरूप द्रव्यकर्म उससे अन्तर भेदज्ञान करते हैं। देखो यह क्रिया ! यह धार्मिक क्रिया। आहा..हा...!

वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्शरूपी द्रव्यकर्म-जड़कर्म और राग-द्वेषादि भावकर्म। शुभ-अशुभ विकल्प जो राग-द्वेष उठते हैं, उसमें तो छैनी मार दी। शरीर, वाणी, कर्म तो नहीं, शुभ-अशुभभाव मैं नहीं, मेरे निज भाव से वे भिन्न हैं। ऐसे निज भाव का अन्तर लक्ष्य करके, विभाव और जड़कर्म है, उसके अन्तर में, भेद में, भेदज्ञानरूपी छैनी मारी। समझ में आया ? राग-द्वेषादि भावकर्म से भिन्न करके, भिन्न करके। वर्णादि, रागादि यह 'समयसार' का श्लोक है।

'अमृतचंद्राचार्य' महाराज। भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज दो हजार वर्ष पहले दिगम्बर संत (हुए)। उनके बाद ११०० वर्ष बाद 'अमृतचंद्राचार्य' दिगम्बर वनवासी जंगल में रहनेवाले मुनि (हुए)। उन्होंने टीक बनाई। उनका श्लोक है। समझ में आया ? श्लोक है न ?

भाई ! उसका यह है। कौन-सा श्लोक है ? अजीव अधिकार। ३ॣवाँ श्लोक है। उसमें से लिया है, घर की बात नहीं की है। ३ॣ वाँ श्लोक है, देखो ! 'अढृतचंद्राचार्य' कहते हैं, देखो !

वर्णाद्या या रागढोहादया वा

भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः

'पुंसः' अर्थात् आत्मा पुरुष। भगवान चिदानन्द प्रभु-पुरुष आत्मा। देखो ! 'वर्णादिक अथवा राग-ढोहादिक भाव कहे वे सब इस पुरुष से (आत्मा से) भिन्न है ते...'

तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी

नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३ॣ॥

'अंतर्दृष्टि द्वारा...' भगवान आत्मा का अवलोकन करनेवाले जीव से, सम्यग्दृष्टि के अन्तर अवलोकन में 'ये सब दिखते नहीं...' विकार, पुण्य-पाप, शरीर, अपना निज स्वरूप दिखते नहीं है। आहा..हा..! उसी श्लोक का अर्थ लिया है, भाई ! ३ॣ श्लोक, 'समयसार'। 'वर्णाद्या या रागढोहादया वा' भिन्न है, अन्तर भेदकर। भिन्न है। न्यारा किया। भिन्न करके। अरे..! जगत की चीज। लापसी जैसी चीज.. लापसी कहते हैं ? क्या कहते हैं ? लापसी कहते हैं। लापसी बनाते हैं, नयी कन्या हो तो उसकी माँ कैसे बनाती है, वह ध्यान रखती है। गेहूँ की लापसी बनाते हैं। कैसे बनाती है वह ध्यान रखे। बाद में आटे में बेलन घुमाते हैं। आटे का गट्टा नहीं बन जाये। कड़क न हो जाये इसलिये। नहीं तो आटा उपर से पके और अन्दर में सफेद रह जाये तो लापसी बराबर अच्छी होती नहीं। तो वह ठीक से ऐसे-ऐसे हिलाये। लड़की देखे कि माँ कैसे करती है ? समझ में आया ? ऐसे ही नहीं गरम होने देते। ऐसे ही करने लगे तो गट्टे हो जाये और अन्दर आटा कच्चा रह जाये। ऐसे ठीक से हिलाये। ये तो लोग करे वह देखा है, हमने कुछ किया नहीं। लोग करते हैं, उसे देखा है, ऐसे करते हैं। ऐसे हिलाये कि कोई भी कच्चा भाग रह नहीं जाये, सब पक्का हो जाये। नहीं तो कच्चा रह जाये।

ऐसे भगवान आत्मा..! (माता) कैसे करती है तो लड़की ध्यान रखती है, वैसे संतोंने, ज्ञानियों ने जैसे किया और जेसा कहा, उसका ध्यान कर। उसमें एकाग्रता होती है तो ऐसी एकाग्रता होती है, उसका लक्ष्य करना चाहिए। उसका ज्ञान पहले उस प्रकार करना चाहिए।

आहा..हा...! यहाँ ध्यान रखते हैं या नहीं ? ध्यान रखो।

मुमुक्षु :- वह तो सब एकान्त में होता है।

उत्तर :- कहते हैं कि, एकान्त में नहीं। हम कहते हैं कि, ऐसा हुआ है, ऐसा तुम को कहते हैं, ऐसा यहाँ कहते हैं। दूसरे का काम कौन-सी आँख से देखते हैं ? परन्तु यहाँ कैसे होता है, उसकी विधि क्या है ? वह विधि कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा..!

कहते हैं, अपने को भिन्न करके। पहले श्रद्धा में तो लिया हो कि, शुभ-अशुभभाव मेरे आत्मा का लाभकर्ता नहीं। देहादि जड़ की क्रिया मेरे लाभ की कर्ता नहीं। मेरे लाभ की चीज तो मेरी चिदानन्द निधि है। उसमें एकाग्र होऊँ तो अन्तर में भेदज्ञान हुआ। भेदज्ञान सिद्धा। 'भेदविज्ञानतः सिद्धः सिद्धा ये किल केचना' वह भी 'संवर अधिकार' का 'अमृतचंद्राचार्यदेव' का श्लोक है। अभी तक जितने सिद्ध हुए...

भेदविज्ञानतः सिद्धः सिद्धा ये किल केचना।

अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचना॥१३१॥

अभी तक अनन्त संसार में जितने (जीव) मुक्त हुए, परमात्मा सिद्ध हुए (वे सब) भेदज्ञान से हुए हैं। पुण्य-पाप के भाव की क्रिया से अपना स्वरूप भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करते.. करते... करते... केवलज्ञान पाया है, सिद्ध हुए हैं। 'अस्यैवाभावतो बद्धा' अभी तक निगोद से लेकर नौवीं ग्रैवेयक मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी दिगम्बर जैन साधु होकर, 'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' कहते हैं कि, द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि साधु(ने) अपने स्वरूप और राग के बीच भेद किया नहीं, इस कारण से भेदज्ञान के अभाव से बँधा है। पर का भेद नहीं करके बँधा है और पर का भेद करने से बन्ध से छूट जाता है। एक ही उपाय है, दूसरा कोई है नहीं। आहा..हा..! समझ में आया ?

ये 'अमृतचंद्राचार्य' महाराज कहते हैं। 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज के बाद टीकाकार दिगम्बर संत हुए। (वे कहते हैं), अबतक जितनी संख्या में जीवों(ने) मुक्ति प्राप्त की, वे सब राग-पुण्य, दया, दान, शरीर की क्रिया भिन्न करते करते सम्यक् पाया, भिन्न करते-करते चारित्र पाया, भिन्न करते करते केवलज्ञान पाया; और जो कोई निगोद से लेकर जो जीव बँधे हैं, वहाँ

ऐसा नहीं कहा कि, कर्म के जोर से बँधा है। बहुत कर्म कठोर थे, इस कारण से बँधा है ? नहीं। आचार्य कहते हैं, ऐसा नहीं है। राग, विकल्प और शरीर से भिन्न नहीं करता है, पर को एक मानता है, पर को एक मानता है, उस कारण से वह कर्म से बँधता है। आहा..हा... ! समझ में आया ? दो सिद्धान्त कहे।

बन्धन और मुक्ति कैसे होती है ? बँधा तो पर से भिन्न किये बिना, पर को एकत्व मानकर अनादि से बँधा है। मुक्त हुए, वह राग और पर से भिन्न करके सब मुक्त हुए। सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक राग से, पर से भिन्न करके-करते, स्थिर होते-होते (मुक्त हुए)। पहले दृष्टि स्थिर हुई, बाद में स्थिर होते-होते पूर्ण स्थिर हो गये। पर से भिन्न करके केवलज्ञान को पाया है। उसमें क्या आया ? पहले कहा था वह। 'मिटै पर की प्रवृत्ति।' राग बीच में आता है, उसके कारण से आगे बढ़ते हैं-ऐसा नहीं। राग से भी भिन्न करते.. करते.. करते.. करते... करते.. श्रेणी लगाकर केवलज्ञान पाया है। समझ में आया ?

कहते हैं, भिन्न करके, अपना स्वरूप पुण्य-पाप का भाव-रागादि और शरीरादि से, वर्ण आदि से भिन्न करके.. क्या कहते हैं ? अपने आत्मा में.. देखो ! अपने आत्मा में। देखो ! कर्ता-कर्म लगाते हैं, कारक लगाते हैं। अपने आत्मा में। अपने आत्मा का अर्थ शुद्ध चैतन्यमूर्ति-आपने आत्मा में। अपने लिये-संप्रदान आया न ? संप्रदान। अपने आत्मा में वह क्या ? अधिकरण, देखो ! 'निजमांहि..' अपना शुद्धस्वरूप उसमें ही-यह आधार आया। राग का आधार नहीं, पुण्य का आधार नहीं, विकल्प का आधार नहीं। आहा..हा... !

'निजमांहि निज के हेतु...' (अर्थात्) अपने लिये। अपना भेद करके कोई दूसरे को देना है या पुण्यबन्ध हो जायेगा और बाद में स्वर्ग मिलेगा-ऐसा नहीं। अपने लिये, अपने लिये। भगवान शुद्धस्वरूप चैतन्य, पुण्य-पाप के राग से अन्तर में भिन्न करके, अपने आधार से, अपने में-राग में नहीं, अपने लिये, कोई पर के लिये थोड़ा बन्ध हो गया या पर का हित हो गया-ऐसा नहीं। आहा..हा... ! भाई ! 'छहढाला' तो सबके हाथ में है लेकिन समझने की दरकार नहीं। उलटे रास्ते चढ़ जाये और माने कि हमें धर्म के रास्ते पर हैं। हमारा कल्याण हो जायेगा। जाना है पूर्व में और भागता है पश्चिम में। पूर्व की ओर जाना हो तो पश्चिम में जाये ? 'ढसा' है वहाँ,

‘ढसा’ आता है। ‘भावनगर’ नहीं आयेगा। एक ओर ‘भावनगर’ है और दूसरी ओर ‘ढसा’ है।

भगवान आत्मा निज भाव, शुद्धभाव सन्मुख अपने कारण से हो तो अपने निज भाव की प्राप्ति होती है। उससे विपरीत भाव जो रागादि है, उस ओर जायेगा तो मजदूरी होगी। समझ में आया ? अपने लिये। आ..हा... ! अपना काम करना है, भाई ! कोई दूसरे का काम नहीं है और दूसरे के लिये नहीं है। आहा..हा... ! कितनी धीरज, वीर्य में कितनी पर के ओर की विमुखता और उस वीर्य की स्वभाव सन्मुखता की सावधानी-ऐसा मार्ग है तो उसकी सीख तो पहले ले। डॉक्टरजी !

कहते हैं. अपने लिये, अपने द्वारा। देखो ! क्या कहते हैं ? करण लगाया, करण। कोई साधन होगा ? (कोई) कहता है कि, व्यवहार साधन तो है न ? नहीं। वह तो पहले अपना साधन किया हो तो राग को व्यवहार साधन का आरोप देते हैं। वह साधन नहीं है। भैया ! है या नहीं अन्दर ? देखो ! सब के पास पुस्तक तो है, देखो !

अपने द्वारा। अपना शुद्धस्वरूप पुण्य-पाप के राग से अन्दर भेद करके, अपने में, अपने लिये, अपने द्वारा-आत्मा द्वारा-शुद्धस्वरूप द्वारा, राग द्वारा नहीं। विकल्प-शुभराग हो, उसके द्वारा नहीं, अपने द्वारा। कितना सिद्ध किया है ! समझ में आया ? सम्यग्दर्शन में, शुद्धउपयोग में प्राप्ति के काल में ऐसा होता है और बाद में भी जब-जब आत्मा का-शुद्ध उपयोग का ध्यान होता है (तब-तब) ऐसी स्थिति होती है, तबपर से भिन्न होता है, नहीं तो भिन्न होता नहीं। समझ में आया ?

अपने द्वारा इस आत्मा को। कर्म लिया न ? कर्म.. कर्म.. यह कार्य आया। आत्मा को-यह कार्य आया। अपना कार्य-आत्मा का कार्य। राग का नहीं, राग से नहीं, राग के आधार से नहीं, राग के कारण से नहीं। आहा..हा... ! अभी तो श्रद्धा में बैठे नहीं। उससे होता है, उससे होता है, उससे होता है-ऐसा माननेवाले की दृष्टि में तो मिथ्याभ्रम पड़ा है। समझ में आया ? आहा..हा.. !

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने और सन्तों ने कहा मार्ग, उसी मार्ग की विधि ‘छहढाला’ में हिन्दी में गागर में सागर भर दिया है। समझ में आया ? अर्थ विचारना नहीं, शान्ति देखना नहीं..

अरे...! ढगवान ! विवाद क्या करना उसमें ? अन्दर में विवाद का स्थान ही नहीं है। आहा..हा...!

आत्मा को-अपना कार्य पकड़ लिया। अन्दर में शुभाशुभराग से भिन्न आपको पकड़ लिया, आप को ग्रहण किया, आप को परिग्रह बनाया। आहा..! कल दोपहर को आया था न ? आत्मा को ही परिग्रह कहा। परिग्रह नाम पकड़ लिया-ये आत्मा ज्ञायकभाव। अपना अपने आत्मा को और स्वयं अपने से। अपने से, आत्मा से, राग से, पुण्य से, विकल्प से नहीं। आहा..हा...! (राग) हो, जब तक स्थिरता पूर्ण न हो तो हो, परन्तु वह साधन है और उससे आत्मा में स्थिरता होती है या शुद्ध उपयोग और आचरण, संवर, निर्जरा की वृद्धि होती है-ऐसा पर से, राग से है नहीं।

ऐसा अपने से ग्रहण करते हैं। अपने से अन्दर में ग्रहण करते हैं, एकाकार होते हैं, तब उसमें शुद्ध उपयोगरूपी आचरण प्रगट होता है। यह आचरण प्रगट हो, उसको शुद्ध उपयोग कहते हैं, उसको संवर और निर्जरा कहते हैं। समझ में आया ? उससे संवर, निर्जरा शुरू होती है। विशेष कहेंगे...

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



ढगवानकी वाणी श्रुत है-शास्त्र है । शास्त्र पौढ्रलिक है जिससे वह ज्ञान नहीं, उपाधि है और इस श्रुतसे होने वाला ज्ञान - यह भी उपाधि है; क्योंकि श्रुतके लक्ष्यवाला वह ज्ञान पर-लक्ष्यीज्ञान है । पर-लक्ष्यीज्ञान स्वको नहीं जान सकता; अतः उसे भी श्रुतकी भांति उपाधि बतलाया है । जैसे सत्-शास्त्र सो ज्ञान नहीं, व्यर्थकी चीज है, उपाधि है, वैसे ही यह श्रुतसे हुआ ज्ञान भी निरर्थक है, उपाधि है । आहा हा ! वीतरागकी क्या शैली है । परलक्ष्यी ज्ञानको भी श्रुत (शास्त्र) की भांति उपाधि कहते हैं । स्वज्ञानरूप ज्ञप्तिक्रिया द्वारा आत्मा अनुभूत होता है । ढगवानकी वाणी द्वारा आत्मा अनुभूत नहीं होता ।

(परमाणुसार-ॡॢॢ)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल २, मंगलवार
दि. २२-२-१९६६, ढाल-६, श्लोक-८,९. प्रवचन नं. ५०

‘दौलतरामजी’ कृत ‘छहढाला’ (है)। ‘बुधजन’ की ‘छहढाला’ थी, पहले ‘बुधजन’ ने ‘छहढाला’ बनाई थी, वह भी है, लेकिन उसका थोड़ा आधार लेकर ‘दौलतरामजी’ ने अपने से शास्त्र के न्याय से यह ‘छहढाला’ बनाई। उसकी छठवीं ढाला की आठवीं गाथा चलती है, आठवीं गाथा।

देखो ! वीतराग का मूल सन्देश यह है, भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागदेव का और सन्तों, ‘सीमंधर’ भगवान आदि तीर्थकरों, मुनियों जो कोई आत्मध्यानी-ज्ञानी हो गये, उनका सन्देश-आदेश यह है कि, यह आत्मा... यहाँ स्वरूपाचरण चारित्र की बात चलती है। जिसको संवर, निर्जरा होती है और मोक्ष का उपाय जिसमें शुरू होता है, उसका क्या स्वरूप है, वह बात यहाँ स्वरूपाचरणचारित्र के कथन में करते हैं। समझ में आया ?

देह, वाणी, मन तो जड़ है, तो उसकी क्रिया या हिलने-चलने से या उसकी पर्याय से आत्मा को पुण्य-पाप और संवर, निर्जरा कभी होते नहीं। पर की पर्याय से पुण्य-पाप, संवर, निर्जरा होते नहीं। जड़ की पर्याय से क्या हो ? उसीप्रकार जड़कर्म से भी पुण्य-पाप और संवर, निर्जरा होते नहीं। अपनी पर्याय में जो शुभ और अशुभभाव विकार करते हैं, वह उपाधि-विभावभाव है, वह बन्ध का कारण है। उसका अभाव करने को स्वरूपदृष्टिपूर्वक स्वरूप का आचरण जो शुद्ध उपयोग है, वही मोक्ष का कारण अथवा संवर, निर्जरारूप है। अथवा यह शुद्ध उपयोग जो है, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की-मोक्षमार्ग के जो तीन अवयव कहने में आते हैं, उन तीनों की एकता (उससे संवर, निर्जरा होते हैं)।

भगवान आत्मा एक समय में शुद्ध चैतन्य पिंड प्रभु (है), उसकी अन्तर में दृष्टि करके शुद्ध स्वरूप का अन्तर अनुभव करके, प्रतीत करना, उसका नाम मोक्षमार्ग का पहला तीन बोल-

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, उसका पहला अवयव सम्यग्दर्शन है। और आत्मा का अन्तर्मुख होकर ज्ञान करना वह मोक्षमार्ग का दूसरा-दुजा भाग अथवा दूसरा अवयव है और साथ में शुभ और अशुभ उपयोग अशुद्ध आचरण रहित स्वरूप में शुद्ध में एकाकार होकर स्वरूपाचरण करना, वह स्वरूपाचरण का शुद्ध उपयोगभाव है, वही संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण है। बहुत सूक्ष्म बात, भाई ! समझ में आया ? बीच में शुभभाव, निश्चय दृष्टि और अनुभव होनेपर भी, जब तक वीतरागभाव पूर्ण न हो, तब तक बीच में दया, दान, भक्ति, पूजा, प्रभावना, यात्रा (के) शुभभाव आये बिना रहते नहीं, परन्तु वह भाव पुण्यबन्ध का कारण है। अबन्धपरिणाम जो अबन्ध मोक्षमार्ग, वह तो आत्मा के अवलम्बन से श्रद्धा-ज्ञान में शान्ति, एकाग्रता से होता है। पर के आश्रय से मोक्षमार्ग-स्वआश्रय(रूप) जो दशा (होती है), वह पर के आश्रय से होती नहीं। आहा..हा... ! सूक्ष्म बात है, भाई ! जिसे आत्मा की शान्ति, स्वतंत्रता, सम्यग्दर्शन चाहिए उसकी बात है। अनादिकाल से नौंवे ग्रैवेयक तक गया परन्तु आत्मा चीज क्या है, उसका अन्तर में अनुभव क्या है ? उसका अनुभव उसने किया नहीं। अनुभव का अनुभव नहीं किया। आहा..हा... !

कहते हैं, पहले जब सम्यग्दर्शन होता है, तब शुद्ध उपयोग में होता है। सूक्ष्म बात है। चौथे गुणस्थान से जो मोक्षमार्ग का पहला भाग (है)। व्यवहार सम्यग्दर्शन तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नौ तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा, शास्त्र का ज्ञान शुभराग है, शुभ उपयोग है, उसको व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं। कब ? कि, अपने शुद्ध स्वभाव के आश्रय से निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त हुआ हो तो उस शुभभाव को व्यवहार का आरोप देने में आता है। आहा.. ! समझ में आया ? बात अगम्य बात है। क्या कहते हैं ? देखो ! यहाँ तक कल आये थे। यहाँ तक आये हैं, देखो !

भगवान आत्मा 'निजमांहि...' निजमांहि। तीन शब्द आये हैं, फिर से लेते हैं। 'निजमांहि...' वस्तु भगवान ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य प्रभु, निजमांहि-अपने आत्मा में अपने लिये। अपने लिये संप्रदान है और अपने द्वारा। संप्रदान अर्थात् दान दिया। अपना शुद्ध स्वरूप अन्तर दृष्टि करके अपने में रखा। शुद्धभाव प्रगट करके अपने में रखा। अपने से लिया और अपने को दिया। समझ में आया ? अन्तर की यह बात समझे बिना कभी उसका छूटकारा तीनकाल में नहीं होगा।

चैतन्य भगवान अनन्त आनन्द, ज्ञानादि गुणसंपन्न प्रभु, उसमें दृष्टि लगाकर, निजामांहि-अपना आधार (लेकर), वस्तु.. वस्तु.. वस्तु.. वस्तु.. जैसे शीतल बर्फ की शिला है, उसमें रहने से शीतलता होती है। ऐसे भगवान आत्मा अकषाय वीतरागस्वरूप शीतल.. शीतल.. अरूपी चैतन्यशीला है। रूप कहते हैं, उसका रूप(ऐसा है)।

मुमुक्षु :- किसका ?

उत्तर :- आत्मा का अरूपी भाव है, अरूपी भी स्वरूप है। जैसे यह रंग, गन्ध, रस, स्पर्श जैसा मिट्टी का स्वरूप है, वह रूपी स्वरूप है। भगवान आत्मा अरूपी भी स्वरूप है। अरूपी.. अरूपी अवस्तु नहीं है। आहा..हा.. ! अरूपी अर्थात् कुछ नहीं, ऐसा नहीं। उसमें रंग, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं है और पुण्य और पाप का रागभाव शुभाशुभ विकार होता है, वह विकार उसमें नहीं, द्रव्य में-वस्तु में नहीं (है)। वस्तु तो शीतल.. शीतल.. अकषाय वीतरागभावरूप से आनन्दकन्द में बिराजमान स्वतत्त्व है। अरूपी स्वरूप पूर्णानन्द से ठसाठस भरा है। आहा..हा... ! चीज है या नहीं ? वस्तु है या अवस्तु है ? शरीर, वाणी, रजकण भिन्न जड़ मिट्टी है।

मुमुक्षु :- कब ?

उत्तर :- अभी। कब क्या ? अभी की बात चलती है। कर्म के रजकण जड़ मिट्टी-धूल भिन्न हैं। और अभी यहाँ पुण्य और पाप का शुभाशुभराग, एक क्षण का कृत्रिम विकृति विभावभाव है, उसके अलावा एक समय में भगवान आत्मा ज्ञान का पिंड, ज्ञान की भेली, आनन्द का रसकन्द, अनाकूल शान्ति अर्थात् चारित्र का पिंड आत्मा अन्दर में है। आहा..हा... ! उसमांहि-उसमें अन्तर एकाकार होना। भैया ! पुस्तक लिया है कि नहीं ?

‘निजमांहि...’ निज अपने लिये। अन्तर स्वरूप में शुद्धता पुण्य-पाप का शुभाशुभभाव आचरण का लक्ष्य छोड़कर के भगवान आत्मा में-वस्तु में बिराजमान शीतल.. शीतल.. शान्त प्रभु (का अवलम्बन लेना)। ‘शीतलनाथ’ भगवान, ‘शान्तिनाथ’ भगवान, यह आत्मा (है)। शान्त वीतरागी पिंड प्रभु, अनादि-अनन्त ध्रुव सत् अरूपी कन्द रसकन्द, उसमें दृष्टि लगाना और अपने लिये (रखना)। जो दृष्टि लगाकर निर्मल दशा प्रगट हो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान शान्ति को अपने

में रखना। कोई पुण्य-पाप हिस्सा ले जाये, ऐसा नहीं। आहा..हा... ! भाई ! कठिन बात, भाई ! पैसे में तो पुत्रादि सब हिस्सा ले जाये।

‘निजकर...’ अपने द्वारा, अपने द्वारा (अर्थात्) क्या कहते हैं ? छहढालाकार ‘दौलतरामजी’ ऐसा कहते हैं कि, भगवान परमेश्वर का संदेश-आदेश (यह है कि), भगवान अपने द्वारा.. शुभाशुभ विकल्प उठते हैं उसके द्वारा नहीं, शरीर द्वारा नहीं, मन द्वारा नहीं, काया द्वारा नहीं, देव-गुरु-शास्त्र पर के द्वारा नहीं। निज-अपने द्वारा। निर्विकल्प शुद्ध भगवान आत्मा अपने शुद्धभाव द्वारा आत्मा को, अपने शुद्धस्वभाव को, यह कर्म (कारक हुआ)। स्वयं अपने से ग्रहण करता है। अन्दर में ग्रहण किया। अपने में, अपने से, अपने लिये, अपना कार्य शुद्ध स्वभाव का अन्दर करते हैं, वह अपनी धार्मिक क्रिया (है)। उसका नाम स्वरूप शुद्ध उपयोग, शुद्धाचरण वही मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया ? देखोन ! यह तो ‘छहढाला’ में कहते हैं।

मुमुक्षु :- मूलनायक..

उत्तर :- मूलनायक ही यह है। भगवान को २ॡ०० वर्ष हुए न ? ‘सीमंधर’ भगवान महाविदेह में बिराजते हैं। वर्तमान त्रिलोकनाथ बिराजते हैं। यहाँ बिराजमान (किये वह) तो स्थापना निक्षेप है। साक्षात् तीर्थकरदेव महाविदेह में प्रभु (बिराजते हैं)। ॡ०० धनुष की देह (है)। अनन्त केवलज्ञान स्वदेह, शरीर ॡ०० धनुष (का है वह) परदेह, आयुष्य देह की एक करोड़ पूर्व की स्थिति, आत्मा की अनादि अनन्त स्थिति (है)। भगवान महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान समवसरण में बिराजमान वर्तमान हैं। समझ में आया ? हमने कहा न कि, भगवान बिराजते हैं, लेकिन यहाँ दूर है। दूर देश में भगवान बिराजते हैं। धर्मी के अन्तर में समीप में बिराजते हैं। आहा..हा... !

‘सीमंधर’.. ‘सीमंधर’ सीम अर्थात् मर्यादा को धरनेवाले। ‘सीमंधर’ भगवान श्री ‘सीमंधर’ अर्थात् भगवान आत्मा ‘सीमंधर’ सीम (अर्थात्) अपनी मर्यादा। पुण्य-पाप विकार रहित की अपनी मर्यादा में भगवान आत्मा ‘सीमंधर’ अपना आत्मा बिराजता है, उसको ही परमार्थ से ‘सीमंधर’ कहते हैं। ये स्थापना (है)। भगवान भाव निक्षेप से वहाँ बिराजते हैं। समझ में आया ? ‘दौलतरामजी’ (छहढाला) में यह चलता है, देखो ! भगवान ! यहाँ तक तो

कल आया था।

यह बात अनन्त काल से की नहीं। वह बात कोई अपूर्व होती है या नहीं ? अनन्त काल में किया वही प्रकार हो तो कोई अपूर्व नहीं है। अपूर्व अर्थात् पूर्व में नहीं की हो ऐसी चीज हो तो अपूर्व कहते हैं। अनन्तबार पंच महाव्रत की बाह्य की क्रियाकांड तपस्या, महिना का उपवास (आदि तो) अनन्त अनन्त बार किया है। समझ में आया ? भगवान आत्मा चिदानन्द प्रभु, पूर्णानन्द का नाथ अपना निज स्वभाव, उसमें एकाकार होकर निर्विकल्प शुद्ध उपयोग द्वारा आत्मा का अनुभव करना, उसका नाम स्वरूपाचरण चारित्र अथवा उसका नाम मोक्ष का मार्ग कहने में आता है। आहा..हा... ! अब तीन बोल दूसरे लेंगे।

‘गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान...’ क्या कहते हैं ? ये ज्ञानादि गुण हैं। अन्दर ज्ञानादि, राग पुण्य-पाप नहीं। ज्ञान.. समझन.. समझन का पिंड वह ज्ञानगुण (है)। आत्मा गुण को धरनेवाला (है)। जैसे सुवर्ण-गुणी और पीलापन, चीकनापन गुण (है)। ऐसे भगवान आत्म ज्ञान, दर्शन, आनन्दगुण और आत्मा गुणी (है)। और ज्ञाता मैं जाननेवाला और ज्ञान का विषय। ज्ञान का विषय स्व। ‘ज्ञान ज्ञेय मंझार कछु भेद न रह्यो।’ आहा..हा... ! भाई ! आहा..हा... ! (उनको) तो यह कंठस्थ है। कितने साल से कंठस्थ है, पूरी ‘छहढाला’ कंठस्थ है।

यह चौथे गुणस्थान से शुरू होता है, हाँ ! कोई ऐसा कहे कि, आठवें और सातवें (गुणस्थान की) बात है, ऐसा नहीं। प्रथम अनुभव के काल में निर्विकल्प स्वभाव की दृष्टि पहली जब होती है, तब आत्मा गुणी और ज्ञानगुण और मैं ज्ञान और मेरा द्रव्य-गुण-पर्याय मेरे ज्ञान का विषय ज्ञेय, ऐसा भेद का विकल्प छूट जाता है। आहा..हा... ! अरे.. ! भगवान ! यह बात लोगों ने कहीं मान रखी है। वस्तु कहीं पर है और मार्ग और कहीं है।

भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर ‘सीमंधर’ प्रभु... ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। बाद में शास्त्र की रचना की। ‘मद्रास’ से ८० मील दूर ‘वन्देवास’ है। (उससे आगे) ५० मील (दूर) ‘पौन्नूरहील’ है। वहाँ रहते थे। गुफा (में) ध्यान में (रहते थे)। (वहाँ से) भगवान के पास गये थे, आठ दिन बाद आकर रचना की। वे सन्देश लाये तो नाम आया न ? ‘मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलं।’ ‘गौतम’ गणधर के

ढाद 'कुन्दकुन्दाचार्य' का नाम आया है। महान समर्थ धुरंधर आचार्य (हुए)। पंचम काल के तीर्थंकर जैसा का 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने किया है। समझ में आया ? और उसकी टीका करनेवाले 'अमृतचंद्राचार्य' उनके गणधर (है)। ऐसी टीका... ऐसी टीका भरतक्षेत्र में (और) नहीं। समझ में आया ? 'समयसार', 'प्रवचनसार', 'पंचास्तिकाय' की टीका और 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' के शास्त्र तो अलौकिक बात (है)। परन्तु उसको अन्तर में अपने लिये स्वाध्याय किये बिना उसका क्या रहस्य है उसका पता नहीं लगता। अनन्त काल से ग्यारह अंग भी पढ़ा है। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं, जब स्वरूपाचरण का शुद्ध उपयोग होता है... कोई कहे कि, शुद्ध उपयोग तो सातवें और आठवें में ही होता है। वह चारित्रसहित के शुद्ध उपयोग का वर्णन है। परन्तु शुद्ध उपयोग तो चौथे गुणस्थान (में) जब पहली अनुभव की दशा होती है, उस समय गुण-गुणी, ज्ञाता-ज्ञेय चारों का भेद छूटकर अभेद दृष्टि अन्तर में होती है। शुद्ध उपयोगरूपी आचरण हुआ। भले तीन कषाय अबुद्धिपूर्वक है। अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व का नाश होता है। तीन कषाय हैं। अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन। परन्तु अबुद्धिपूर्वक (है), ख्याल में नहीं (आता)। स्वरूप की ओर दृष्टि होने से भगवान आत्मा मैं ज्ञानगुण हूँ, यह गुणी है, उसका विषय द्रव्य-गुण-पर्याय है, इन सब का भेद विकल्प है। इस विकल्प को छोड़कर... देखो ! प्रभु ! 'कछु भेद न रह्यो।' किंचित् मात्र भेद नहीं रहता। भाई ! है उसमें ?

'दीपचंदजी' साधर्मी हुए हैं, वे 'अनुभव प्रकाश' में कहते हैं। बडे अनुभवी, धर्म के महास्तंभ। साधर्मी हुए हैं। 'दीपचंदजी' गृहस्थाश्रम में (थे)। उन्होंने भी 'अनुभव प्रकाश' में चौथे गुणस्थान में अनुभव में शुद्ध उपयोग होता है, ऐसा उसमें लिखा है और ऐसा है। समझ में आया ? लेकिन सप्तम गुणस्थानवाले को शुद्ध उपयोग चारित्र विशिष्ट चारित्र सहित होता है और श्रेणी लगा दे तो शुक्लध्यान हो जात है। उसकी बात यहाँ कहेंगे। और नीचे चौथे, पाँचवे गुणस्थान में पहले अनुभवकाल में ऐसा शुद्ध उपयोग होता है, बाद में शुभ-अशुभ में आ जाते हैं और उसको शुद्ध उपयोग तो कभी कोई काल में होता है। यह शुद्ध उपयोग निरन्तर सम्यग्दृष्टि को और श्रावक पंचम (गुणस्थानवाले को) रहता नहीं, परन्तु अन्तर श्रद्धा शुद्ध ज्ञानानन्द मैं हूँ, ज्ञाता-दृष्टा (हूँ), इसके अलावा मेरी कोई चीज नहीं, ऐसी दृष्टि सदा जमी रहती है और शुद्ध

उपयोग जो यहाँ कहते हैं, वह कभी-कभी होता है। समझ में आया ?

कहते हैं, ज्ञान में, ज्ञाता में भेद नहीं, एकस्वरूप वस्तु.. वस्तु.. वस्तु.. भगवान महाप्रभु, महाप्रभु आत्मा, उसमें एकाकार दृष्टि होने से भेद न रहना, उसका नाम निर्विकल्प सम्यग्दर्शन के काल में शुद्ध उपयोग का आचरण प्रगट होता है। आहा..हा... ! सूक्ष्म पड़े लेकिन वस्तु तो यह है, भाई ! यह समझे बिना उसकी समझ में भी नहीं, श्रद्धा में भी नहीं (आये) तो अन्तर में प्रयोग कब करेगा ? समझ में आया ? भगवान आत्मा अन्तर्मुख में (है), ऐसी एकाग्रता हुए बिना उसको अनुभव सम्यक् नहीं होता। ऐसा ज्ञान, ऐसी श्रद्धा पहले पक्की किये बिना अन्तर अनुभव में प्रयोग में-प्रयत्न में नहीं लगेगा। समझ में आया ? उसका प्रयत्न तो बाहर में चालू रहेगा। ऐसा करूँ, ऐसा करूँ.. वह तो होता है, शुभभाव है। अशुभ से बचने को (होता है)। समझ में आया ? परन्तु शुभभाव भी बन्ध का कारण है और शुद्ध उपयोग ही अबन्ध परिणाम है। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- यह सब समझना पड़ेगा न ?

उत्तर :- जिसे आत्मा का हित करना हो तो समझना। भटकना हो तो नहीं समझना। भटकना तो है ही, उसमें नया क्या है ? समझ में आया ? वह तो पहले कहा। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिन सुख लेश न पायो।' उसका अर्थ क्या हुआ ? कि अनन्तबार पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण पाले, वह दुःखरूप था, ऐसा कहा। 'लेश सुख न पाया' ऐसे कहा, उसमें कहा। क्योंकि शुभराग की क्रिया, राग दुःखरूप है; सुखरूप नहीं। उससे भिन्न भगवान आत्मा की दृष्टि, ज्ञान और एकाग्रता (हो), वही सुखरूप आनन्दरूप है। आहा..हा... ! डॉक्टरजी ! कठिन बात, भाई !

मुमुक्षु :- राग की क्रिया में सुख नहीं है ?

उत्तर :- राग की क्रिया में कितना सुख (है) ? संसारी कल्पना का दुःख (है), भाई ! प्रभु तो आनन्दमय आत्मा है न ! तो आनन्द से ऊलटी शुभ-अशुभभाव की परिणति, वह तो दुःखरूप है। समझ में आया ? क्या ? अशुभभाव हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, कमाना, ब्याज कमाना, दुकान पर ध्यान रखना, वह सब भाव दुःखरूप अशुभ पाप (है) और

दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप का विकल्प शुभराग उठना, वह पुण्यरूप परिणान दुःखरूप भाव (है)। आहा..हा... ! क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति प्रभु है। उसकी उलटी पर्याय परलक्ष्यी शुभाशुभ हुई, वह आत्मा के आनन्द से विपरीत है। विपरीत है तो दुःखरूप है।

वह तो ॡॢ गाथा में आया है। अशुचि, विपरीत। 'समयसार' कर्ता-कर्म अधिकार (की) ॡॢ गाथा। 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज प्रभु कहते हैं.. समझ में आया ? देखो ! वहाँ तो 'अमृतचंद्राचार्य' ऐसा कहते हैं, हे भगवान ! ऐसा कहते हैं, हाँ ! देखो ! पुण्य-पाप के भाव सेवाल (काई) की भाँति मैल है, ऐसा कहा है। सेवाल समझते हो ? काई.. काई.. सेवाल मैला है। सेवाल की भाँति पुण्य-पाप का विकल्प भाव है। 'सेवाल की भाँति आस्रव मलरूप या मैलरूप अनुभव में आते हैं इसलिये वे अशुचि हैं..' भगवान 'अमृतचंद्राचार्य' महाराज ॡ०० साल पहले दिगम्बर संत मुनि महंत महात्मा धर्म के धोरी, धर्म के स्तंभ (हुए) उन्होंने अन्दर विकल्प से यह बात की, अरे... ! आत्मा ! जैसे जल में काई है, वैसे भगवान आत्मा आनन्दकन्द में ये पुण्य-पाप के भाव काई-मैल समान हैं और वे दुःखरूप हैं, देखो ! अन्तिम में आया।

'आस्रव आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिये दुःख के कारण हैं;...' आस्रव आकुलता को उत्पन्न करनेवाला, उत्पन्न करनेवाला (है)। ॡॢवीं गाथा है।

गाढूँ आसवाणं असुचितं च विवरीयभावं च।

दुक्खस्स कारणं ति य तद्धो णियतिं कुणदि जीवो॥ॡॢ॥

भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' का श्लोक है, उसकी टीका 'अमृतचंद्राचार्य' ने की। कहते हैं कि, भगवान ! शुभ-अशुभभाव तो आकुलता को उत्पन्न करनेवाला है। आहा..हा... ! आकुलता को उत्पन्न करनेवाला होने से दुःख का कारण है। 'और भगवान आत्मा...' देखो ! 'भगवान' शब्द ही लिया है, हाँ ! टीका में लिया है। भगवान आत्मा अतिनिर्मल होने के कारण अत्यन्त शुचि-पवित्र है। भगवान आत्मा तो सदा निराकूल स्वभाव के कारण सुखरूप है, दुःख का कारण नहीं है। आहा..हा... ! सेठिया ! आहा..हा... ! समझ में आया ?

शुभ-अशुभभाव दोनों दुःखरूप हैं, आकुलता को उत्पन्न करनेवाले हैं। उससे रहित भगवान आत्मा अनाकूल आनन्दस्वरूप दुःख का अकारण है अर्थात् सुख का कारण है। आत्मा

के आनन्द का, सुख का कारण तो आत्मा है। समझ में आया ? बात सुने नहीं, विचारे नहीं। क्या किसी से यह बात मिलती है ? देनेवाला है कोई ? तीर्थकर भी किसी को दे सकते हैं ? समझाते हैं कि, भैया ! तेरी चीज तो ऐसी है। समझ में आया ?

यहाँ तो (कहा), (शुभाशुभभाव) दुःखरूप आकुलता का कारण (है)। शुभाशुभ परिणाम, शुभ हो या अशुभ हो.. जिस भाव से तीर्थकर गोत्र बँधे, वह भाव भी आकुलता का कारण है। आहा..हा... ! चिल्लाने लगते हैं। भगवान ! वह तो हमारे (संवत्) १९८५ की साल में (चर्चा) चली थी। १९८५। कितने वर्ष हुए ? ३७ वर्ष हुए। ३० और ७-४० वर्ष में ३ कम। 'बोटाद' में व्याख्यान चलता था, उस समय तो हम सम्प्रदाय में थे। हजारों आदमी उस समय व्याख्यान में तो आते थे। नाम तो प्रतिष्ठित बहुत था न ! १९८५ की साल 'बोटाद' में बड़ी सभा (भरी थी)। बहुत मान था। सम्प्रदाय में बहुत मान था।

हमने ऐसा कहा कि, जिस भाव से तीर्थकर गोत्र बँधे वह भाव धर्म नहीं। धर्म से बँध होता नहीं, बँध जिससे होता है, वह धर्म नहीं। १९८५ की बात है। ३७ वर्ष हुए। ४० में ३ कम। सम्प्रदाय में (कहा था), समझे ? खलबली मच गई। लोगों में खलबली मच गई। सभा को हमारे प्रति प्रेम था न ! सभा तो शान्त बैठी थी, सब सुनते थे। लेकिन एक (जिसने) वेष पहना था, उनको खलबली हो गई। वोसरे.. वोसरे.. (बोलने लगे), यह धर्म वोसरे... वोसरे.. भैया ! सुन तो सही, प्रभु ! बन्धन जिससे हुआ, उस धर्म की पर्याय से बन्धन होता है ? धर्म की पर्याय से बन्धन होता है तो अबन्ध कैसे होता है ? बिलकुल ठीक है ? तीर्थकर गोत्र का बँध पड़ता है न ? प्रकृति बँधती है न ? आत्मा की शान्ति, संवर, निर्जरा से बँध पड़ता है ? विकल्प है वह शुभ, लेकिन है आकुलता, है दुःख, उसका तीर्थकर गोत्र का बन्ध पड़ता है। आहा..हा... ! चिल्लाने लगे। सुनो तो सही, भाई ! शान्ति से सुनो तो सही।

पंच महाव्रत का परिणाम भी आस्रव है। ये दो बात कही थी। उस समय, हाँ ! १९८५ की साल में। ४० वर्ष में ३ कम। खलबली (मच गई)। सम्प्रदाय में थे न। मार्ग ऐसा है, दूसरा कोई मार्ग है नहीं। मानो, न माने, आज मानो, कल मानो, दूसरा मार्ग तीनकाल में वीतरागमार्ग में है नहीं। देखो ! क्या कहते हैं ? देखो !

शुभभाव विकल्प उठता है, वह भी नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। वह शुभभाव तो दूसरा है, परन्तु आत्मा वस्तु है और उसमें आनन्दगुण है, उसमें ज्ञान है, यह ज्ञान तीनों को द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, ऐसा लक्ष्य में लेना वह भी एक शुभ विकल्प है। भेद से विकल्प उठता है (और) विकल्प आस्रव है। आहा..हा... ! समझ में आया ? 'अनुभव प्रकाश' में भाई, शुभ उपयोग के तीन भेद लिये हैं। शुभ उपयोगके तीन भेद (लिये हैं)। 'दीपचंदजी' साधर्मी। 'दीपचंदजी' हुए न ? उन्होंने 'अनुभव प्रकाश' में तीन बोल लिये हैं कि, शुभ उपयोग के तीन भेद (हैं)। दया, दान, व्रत, का परिणाम शुभ। भक्ति का भाव शुभ। गुण-गुणी का भेद का विकल्प उठता है वह शुभ। 'अनुभव प्रकाश' में है। 'दीपचंदजी' कृत 'अनुभव प्रकाश'। हमारे पास यहाँ नहीं है, वहाँ है। उसमें है।

शुभ उपयोग के तीन भेद (१) दया, दान, व्रतादि का भाव, शुभपरिणाम है, शुभ उपयोग है। (२) भक्ति का भाव शुभ उपयोग है। और (३) गुण-गुणी का भेद करना, विकल्प उठना वह शुभ उपयोग है। आहा..हा... ! ये बात यहाँ करते हैं।

मुमुक्षु :- कल दोपहर को आया था न ?

उत्तर :- हाँ, कल दोपहर को बहुत आया था। आहा..हा... ! अरे.. ! भगवान ! यह तो वीतरागमार्ग है, प्रभु ! वीतरागमार्ग में, राग से लाभ होता है (ऐसा माने) तो वह वीतरागमार्ग ही नहीं। भाई ! आहा..हा.. !

वीत-राग। रागरहित दृष्टि, रागरहित ज्ञान और रागरहित स्थिरता-चारित्र। उसका नाम सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ अनन्त तीर्थकरों का वीतरागमार्ग है। पूर्ण न हो तो बीच में राग आता है, समझे ? वह पुण्यबन्ध का कारण है। अशुभ से बचने को आता है, परन्तु वह अबन्ध परिणाम नहीं, अबन्ध परिणाम नहीं। अबन्ध परिणाम अर्थात् अबन्ध-पूर्ण परिणामरूपी मुक्ति, उसका अबन्ध परिणामरूपी मोक्ष का मार्ग, अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से अबन्धपरिणाम उत्पन्न होता है। क्या कहा ?

अबन्ध के उपर तीन ली। सुनो। (१) अबन्ध नाम मुक्ति। बन्धरहित परिणाम पूर्ण मुक्ति। अबन्ध स्वभाव है न ? मुक्ति अर्थात् अबन्ध स्वभाव। बन्धरहित अर्थात् मुक्त स्वभाव। एक

बात। (२) उसका मार्ग। अबन्ध परिणाम मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, अबन्धपरिणाम हैं। अबन्धपरिणाम से अबन्धपरिणामी मुक्ति होती है। (३) यह अबन्धपरिणाम, अबन्धस्वरूप जो मुक्त आत्मा भगवान वर्तमान मुक्त है। पुण्य-पाप, विकल्प, शरीर, कर्म से रहित मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा अभी है। शक्तिरूप से मुक्ति है। इस शक्तिरूप मुक्त का आश्रय करने से अबन्धपरिणाम उत्पन्न होता है। इस अबन्धपरिणाम से अबन्ध ऐसी मुक्ति प्राप्त होती है। आहा..हा... ! कहो, समझ में आया ?

तीनलोक के नाथ ऐसी बात अनन्तकाल से कहते आये हैं। 'एक होय तीनकाल में परमार्थ का पंथ।' भगवान वीतरागमार्ग में 'एक होय तीनकाल में परमार्थ का पंथ।' दो-तीन मार्ग होते नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! 'दौलतरामजी' वह कहते हैं, देखो ! एक तो अपने से, अपने में लिया और गुण-गुणी का भेद भी निकाल दिया। ऐसी अन्तर की दृष्टि करना, उसका नाम स्वरूपाचरण, स्वरूप उपयोग, शुद्ध उपयोग कहने में आता है। वही संवर, निर्जरारूप है और वही मुक्ति का कारण है। अब गाथा-९। आठवीं (गाथा का) सब अर्थ आ गया।

स्वरूपाचरणचारित्र (शुद्धोपयोग) का वर्णन

जहँ ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्प, वच भेद न जहाँ;
चिद्भाव कर्म, चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा;
प्रगटी जहाँ दृग्ज्ञान-व्रत चे, तीनधा ऐकै लसा ॥९॥

अन्वयार्थ :- (जहाँ) जिस स्वरूपाचरणचारित्र मे (ध्यान) ध्यान, (ध्याता) ध्याता और (ध्येय को) ध्येय-इन तीन के (विकल्प) भेद (न) नहीं होता, तथा (वहाँ) जहाँ (वच) वचन का (भेद न) विकल्प नहीं होता, (तहाँ) वहाँ तो (चिद्भाव) आत्मा का स्वभाव ही (कर्म)

कर्म, (चिदेश) आत्मा ही (करता), कर्ता, (चेतना) चैतन्यस्वरूप आत्मा ही (किरिया) क्रिया होता है - अर्थात् कर्ता, कर्म और क्रिया-यह तीनों (अभिन्न) भेदरहित एक (अखिन्न) अखण्ड (बाधारहित) हो जाते हैं और (शुद्ध उपयोग की), शुद्ध उपयोग की (निश्चल) निश्चल (दशा) पर्याय (प्रगटी) प्रगट होती है; (जहाँ) जिसमें (दृग-ज्ञान-व्रत) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (ये तीनधा) यह तीनों (एक) एकरूप-अभेदरूप से (लसा) शोभायमान होते हैं।

भावार्थ :- वीतरागी मुनिराज, स्वरूपाचरण के समय जब आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं तब ध्यान, ध्याता और ध्येय ऐसे भेद नहीं रहते, वचन का विकल्प नहीं होता, वहाँ (आत्म ध्यान में) तो आत्मा ही *कर्म और आत्मा ही कर्ता और आत्मा का भाव वह क्रिया होती है, अर्थात् कर्ता-कर्म और क्रिया-ये तीनों बिलकुल अखण्ड अभिन्न हो जाते हैं और शुद्धोपयोग की अचल दशा प्रगट होती है, जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एक साथ-एकरूप होकर प्रकाशमान होते हैं ॥९॥

‘स्वरूपाचरणचारित्र (शुद्धोपयोग) का वर्णन।’ वर्णन करते हैं। नौवाँ श्लोक, नौवाँ श्लोक। सुनो तो सही, भैया ! ये मनुष्यदेह, उसमें वीतराग की सत्य बात सुनने भी न मिले तो वह प्रयोग में, रुचि में कब लायेगा ? समझ में आया ?

जहँ ध्यान ध्याया ध्येयको न विकल्प, वच भेद न जहाँ;

चिद्भाव कर्म, चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ।

तीनों अभिन्न अखिन्न अशुद्ध उपयोग की निश्चल दशा;

प्रगटी जहाँ दृगज्ञान-व्रत ये, तीनधा ऐकै लसा ॥९॥

ओ..हो..हो... ! गागर में सागर भर दिया है। बहुत थोड़े शब्द में ‘दौलतरामजी’ ने भर दिया। परन्तु पढ़े कौन, विचारे (कौन) ? निवृत्ति नहीं, समय नहीं, समय नहीं है, भाई !

* कर्म (अर्थात्) कर्ता द्वारा हुआ कार्य। कर्ता (अर्थात्) स्वतंत्ररूप से करे सो कर्ता;; क्रिया (अर्थात्) कर्ता द्वारा होनेवाली प्रवृत्ति।

मुमुक्षु :- गागर में सागर की बात...

उत्तर :- ना, ना। आता है, आता है। इसमें अर्थ में भी है, हाँ ! इसके अर्थ में भी है, कहीं है, देखो ! गागर में सागर शब्द है, मेरे घर का शब्द नहीं है, हाँ ! कहीं पर होगा, ऐ..ई.. ! 'अपनी कविता में सरल ललित शब्दों द्वारा गागर को सागर में भरने का प्रयत्न किया है।' वह पहले से आता है, नयी बात नहीं है। हम जो शब्द कहते हैं वह शब्द शास्त्र में सि निकाल देते हैं। यह तो (इन्होंने) लिखा है, लेकिन यह बात पहले से चली आयी है, पहले से चली आयी है। 'दौलतरामजी' ने 'छहढाला' में गागर में सागर भर दिया है। थोड़े में बहुत कह दिया है। थोड़े में बहुत कह दिया है तो गागर में सागर भर दिया है, (ऐसा कहा)। समझ में आया ?

क्या कहते हैं ? देखो ! 'जिस स्वरूपाचरणचारित्र में ध्यान, ध्याता और ध्येय इन तीन के भेद नहीं होता, ...' शुद्ध उपयोग में सम्यग्दर्शन के पहले काल में और बाद में जब-जब शुद्ध उपयोग होता है, तब-तब ऐसा होता नहीं। ऐसा कहते हैं। 'कर्ता-कर्म अधिकार' लिया न ? 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' १४३-१४४ में भी यही लिया है कि, मैं आत्मा अबद्ध हूँ, ऐसा भी एक विकल्प है, मैं बद्ध हूँ, वह भी एक विकल्प-राग है। उससे पार है, वही समयसार आत्मा है। वहाँ भी वहीं लिया है। १४४ गाथा। भगवान आत्मा.. ! समझ में आया ?

मैं शुद्ध हूँ, वह भी एक विकल्प (है)। मैं अशुद्ध हूँ, वह भी एक परलक्ष्यी विकल्प (है)। उसको छोड़कर निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य में लीन होना वही सम्यग्दर्शन ज्ञान को पाते हैं। उसका नाम ऐसा लिया है। समझ में आया ? क्या कहते हैं ? १४४ है न ? १४४। 'सम्महंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं। सव्वणयपक्खरहिदो...' 'सव्वणयपक्खरहिदो' (अर्थात्) सर्व नय के पक्षरहित। अनन्त विज्ञानघन परमात्मा समयसार को जब आत्मा निर्विकल्परूप से अनुभवता है, उसी समय सम्यक् रूप से श्रद्धा में आता है, जानने में आता है, तब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। १४४ में है। ये कोई बारहवें गुणस्थान की बात नहीं है, हाँ ! यह चौथे गुणस्थान की बात है। १४४ (गाथा), 'कर्ता-कर्म अधिकार'। वही बात यहाँ कहते हैं। आहा..हा... ! कठिन बात (है), भाई !

कहते हैं, मैं शुद्ध हूँ, वह भी विकल्प का उत्थान (हुआ)। पुण्यबन्ध का कारण है। मैं

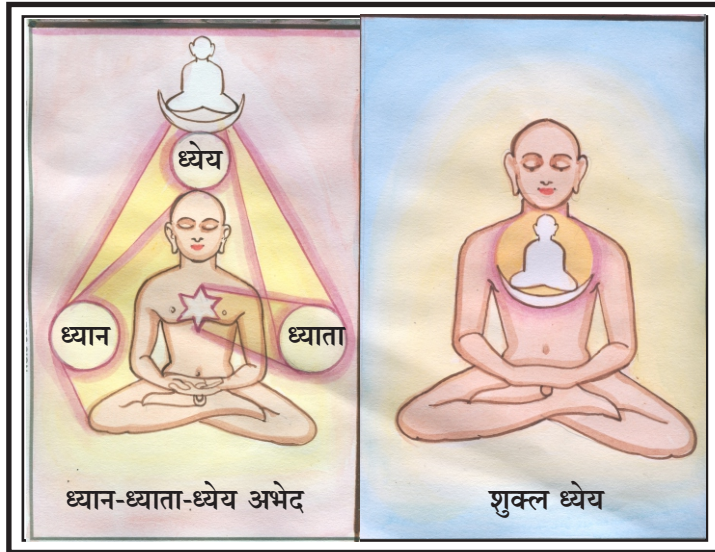
अशुद्ध हूँ, कर्म के निमित्त के सम्बन्ध में मेरी पर्याय अशुद्ध है, वह भी एक विकल्प है। दोनों को छोड़कर शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा.. अरे... ! आठ वर्ष के बालक भी सम्यग्दर्शन पाकर शुद्ध उपयोग में आकर केवलज्ञान पाते हैं। मंडूक जैसा एक मैढक, वह भी भगवान के समवसरण में जाता था। अन्तर में उपयोग लगाकर शुद्ध उपयोग का ध्यान कर लेता था। आठ वर्ष की लड़की, चक्रवर्ती की लड़की, आठ वर्ष की, समझे ? वह भी भगवान के समवसरण में जाती थी और भगवान की वाणी सुनती थी। ऐसा सन्देश आया तो उसमें से भगवान ! तुम आत्मा हो। अपने ७२ वीं गाथा में कहा। भगवान आत्मा ! 'अमृतचंद्राचार्य' तो ऐसा ही कहते हैं-भगवान आत्मा तो शुद्ध आनन्दकन्द है न, प्रभु ! वह तो दुःखरूप है ही नहीं। उसकी पर्याय में पुण्य-पाप का भाव है, वह दुःखरूप है। वह आत्मा नहीं, वह तो आस्रवतत्त्व है। सात तत्त्व में कर्म, शरीर, वाणी अजीवतत्त्व है।

शुभाशुभभाव आस्रवतत्त्व है, भगवान आत्मा ज्ञायकतत्त्व है। सब सात तत्त्व भिन्न होते हैं।

ज्ञायक भगवान आत्मा तो शुद्ध, बुद्ध आनन्दघन चिदानन्द (है)। उसमें भी गुण-गुणी का भेद, ये ध्याता-ध्यान और ध्येय का भेद उठाना, वह भी एक विकल्प है। आहा..हा... !

समझ में आया ? आचरण में ध्यान, मैं ध्यान करता हूँ, ऐसा उसमें है, समझे ? चित्र है न ? भाई ! चित्र है। चित्र है उसमें देखो ! ध्यान। ध्येय सिद्ध का, ये ध्यान के भेद लिखे हैं। चित्र है, चित्र है।

यहाँ तो कहते हैं, एक दृष्टि बिना एकाकार होता नहीं, एकाकार हुए बिना निर्विकल्पता



होती नहीं, निर्विकल्पता बिना एक, अभेद का अनुभव होता नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? यह बात बड़ी नहीं है। बड़ी (बात) तो चारित्र, चरना, अन्दर लीनता (करनी), आनन्दकन्द छट्टे-सातवें गुणस्थान में चारित्र की दशा.. ओ..हो..हो.. ! धन्य दशा ! हजारों बार चारित्र में आनन्द.. आनन्द सप्तम में हजारों बार आते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द में झुलते-झुलते क्षण में छठे (में) विकल्प में आ जाये, क्षण में आनन्द (में)। यह दशा तो परमेश्वर दशा, वह दशा तो परमेश्वर दशा, पंच परमेष्ठी की दशा (है)।

यहाँ तो कहते हैं कि, उसके पहले सम्यग्दर्शन पाने की दशा में भी.. समझ में आया ? ऐसे स्वरूप की दृष्टि में भेद दृष्टि रहती नहीं। मैं ध्यान करनेवाला, मैं ध्याता। मैं ध्यान करनेवाला और यह ध्यान। किसका ? आत्मा का करता हूँ। अथवा ध्येय। मेरा पूर्ण स्वरूप का ध्येय। ऐसा तीन प्रकार का विकल्प नहीं होता। आहा..हा... ! कठिन बात, भाई ! समझ में आया ? वह भेद है न ? वस्तु ऐसी है नहीं। 'कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज ने सातवीं गाथा में कहा।

ववहारेणवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं।

ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

सातवीं गाथा। भगवान आत्मा... ! यह ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है-ऐसा भेद भी उसमें नहीं है-ऐसा कहते हैं। वह तो शास्त्र के अनुसार उसमें लिखा है, अपने घर की कोई बात नहीं। सातवीं गाथा भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्य' दिगम्बर आचार्य, जिनकी 'समयसार' की सातवीं गाथा। 'ववहारेणवदिस्सदि' आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है-ऐसा भेद व्यवहार से है। वस्तु तो अभेद है। वस्तु अन्तर में सब गुण को पी गई है। आहा..हा... ! वस्तु में अनन्त गुण हैं परन्तु अभेद दृष्टि में भेद दिखते नहीं। भेद नहीं है, ऐसा नहीं। एक ही आत्मा है और आत्मा में दर्शन, ज्ञान, आनन्द आदि है नहीं, ऐसा नहीं। परन्तु जब अन्तर दृष्टि होती है, तब अभेद में भेद दिखते नहीं। भेद दिखे तो अभेद रहता नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... ! विकल्प .. हैं। यह तो कई बार कहते हैं। यह बात कौन-से गुणस्थान की होगी ?

भाई ! भगवान ! पहले शुद्धोपयोग में सम्यग्दर्शन होता है, तब ऐसी दशा होती है। बाद में सदा नहीं रहती। मुनियों को तो सदा शुद्धोपयोग सातवें में अनेक बार, हजारों बार, एक दिन में

हजारों बार शुद्धोपयोग (होता है)। क्षण में विकल्प उत्पन्न होता है, निद्रा भी आती है तो थोड़ी पौन सैकन्ड रात्रि को (आती है)। भावलिङ्गी सन्त साधु जिनका छठा गुणस्थान, पौन सैकन्ड निद्रा, फट..! अप्रमत्त दशा हो जाती है। समझ में आया ? दो घंटा, एक घंटा, आधा घंटा भी मुनि को निद्रा नहीं होती। आधा घंटा, निद्रा आवे तो गुणस्थान नहीं रहता।

मुमुक्षु :- छठा गुणस्थान में इतना काल..

उत्तर :- छठा गुणस्थान इतना काल रहे तो गुणस्थान नहीं रहता, ऐसा शास्त्र में लेख है। सूक्ष्म पड़ेगा। उससे भी थोड़ा काल निद्रा आ जाती है। ऐसी दशा (है)। तुरन्त सप्तम, तुरन्त छठा, तुरन्त सप्तम। ओ..हो...! संतदशा, मुनिदशा केवलज्ञान के झूले में झूलते हैं। मानो अभी अल्प काल में केवलज्ञान लिया या लेंगे। ऐसी दशा की तो बात क्या (करनी) !

यहाँ तो प्रथम सम्यग्दर्शन में ये भेद भी उसमें रहते नहीं। शुद्धउपयोग जमता है (तो) ध्याता-ध्येय-ध्यान का भेद नहीं। वचनभेद नहीं होता। 'वहाँ तो आत्मा का स्वभाव ही कर्म, ...' है। देखो ! आहा..हा... ! विकल्प आत्मा का कार्य ही नहीं। कर्म लिया ना ? देखो ! 'चिद्भाव कर्म' कर्म अर्थात् कार्य। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि होती है वह, चिद्भाव-ज्ञानभाव उसका कार्य है। विकल्प कार्य नहीं। भगवान कर्ता और राग कर्म, (ऐसा) आत्मा में दृष्टि में, अनुभव की दृष्टि के काल में नहीं है। समझ में आया ? आहा..हा.. !

'आत्मा का स्वभाव ही कर्म, ...' कर्म शब्द का अर्थ कार्य। कर्म के बहुत प्रकार हैं। जड़ कर्म परमाणु की अवस्था, वह जड़ (है)। दया, दान, शुभाशुभ परिणाम वह शुभ-अशुभ विकारी कर्म। कर्म (अर्थात्) भावकर्म। यह आत्मा का शुद्धभाव कर्म। आहा..हा... ! शुद्ध भावकर्म कैसे आया ? कहा न ? 'चिद्भाव कर्म' भगवान आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव की दृष्टि में पड़ा, एकाकार होता है (तब) शुद्धभाव ही उसका कार्य रह जाता है। उसका कार्य, राग मेरा कार्य और मैं कर्ता-ऐसी सम्यग्दर्शन में पहले अनुभवकाल में (नहीं होता)। बाद में भी जब-जब शुद्धउपयोग होता है, तब वह अपना कार्य जानते हैं। बाद में सम्यग्दृष्टि को शुभराग आता है, लेकिन यह शुभराग अपना कार्य है, ऐसा सम्यग्दृष्टि नहीं मानते। मेरा ज्ञाता का ज्ञेय है। मैं तो जाननेवाला ज्ञाता-दृष्टा (हूँ)। गाते थे न ? ज्ञाता-दृष्टा।

सम्यग्दृष्टि लड़ाई में हो या भोग में हो, शुभ-अशुभ विकल्प का ज्ञानी ज्ञाता-दृष्टा है। उसका कर्ता या भोक्ता परमार्थ से अन्तर दृष्टि में है नहीं। यहाँ तो उपयोग के काल की बात ली है। समझ में आया ? चिद्भाव अपना कर्म-कार्य (है)। आहा..हा... ! वह भी यह कार्य और में कर्ता, ऐसा विकल्प नहीं। वह बाद में कहेंगे। समझ में आया ? लेकिन ऐसा अन्तर में शुद्ध भगवान आत्मा की दृष्टि के काल में उपयोग प्रथम अनुभव के काल में आत्मा का ज्ञाता का कार्य ज्ञान रह जाता है। समझ में आया ?

‘चिदेश करता...’ आत्मा कर्ता। निर्मल पर्याय का कार्य, कर्म दूर हुए तो हुआ अथवा राग-कषाय मन्द हुआ तो निर्मल पर्याय का-सम्यग्दर्शन का कार्य हुआ, ऐसा नहीं। ‘चिदेश करता..’ भगवान आत्मा ही निर्मल पर्याय का कर्ता (है)। निर्मल पर्याय भगवान आत्मा का कार्य। समझ में आया ? फिर क्रिया की बात करेंगे। उसकी बात विशेष कहेंगे...

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



अतीन्द्रिय आनन्दमें झूलते मुनि छठे-सातवें गुणस्थानमें रहते जितने कालमें आत्मशुद्धिकी दशामें आगे बढे बिना, वहींके वहीं नहीं रहते । छठे-सातवें गुणस्थानमें रहते हुए भी आत्मशुद्धिकी दशा विकसित होती ही रहती है । केवलज्ञान न हो तब-तक मुनिराज शुद्धिकी वृद्धि करते ही जाते हैं । यह तो मुनिराजकी अंतरसाधना है, जगतके जीव मुनिराजकी इस अंतरसाधनाको नहीं देख पाते । साधना कोई बाह्यसे देखनेकी वस्तु नहीं है, क्योंकि यह तो अन्तरकी दशा है । वनमें अकेले विचरण करते हों, बाध-सिंहकी दहाड़ गुँजती हो, सिर पर पानी बरसता हो व शरीरमें रोग हो तो भी मुनिराजको इनका बिलकुल भान नहीं रहता; वे तो अन्तरमें एकाग्र हुए रहते हैं - ऐसे मुनिराजकी अंतर-शुद्धि तो वृद्धिगत होती ही है । अन्तरमें शुद्धता हेतुक चलनेवाला पुरुषार्थ उग्र होता जाता है ।

(परमागमसार - ४८८)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल ३, बुधवार
दि. २३-२-१९६६, ढाल-६, श्लोक-९. प्रवचन नं. ५१

‘दौलतरामजी’ कृत ‘छहढाला’ का नौवाँ श्लोक। स्वरूपाचरण चारित्र को यहाँ शुद्धोपयोग कहते हैं। जो आत्मा है, वह शुद्ध चैतन्य अनाकूल आनन्द और शुद्धस्वरूप से परमात्मस्वरूप अपना, उसमें बिराजमान आत्मा है। पुण्य-पाप तो विकार आचरण है, अशुद्ध उपयोग का आचरण है। जड़ की क्रिया है, (देह) अजीव की पर्याय का आचरण है, जड़ की अवस्था (है)। आत्मा अपना शुद्धस्वरूप एक समय में ज्ञायक (है) - ऐसी दृष्टि होकर अन्दर में स्वरूपाचरणचारित्र को प्रगट करते हैं तो उसको मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का अभाव होता है। समझ में आया ?

पहले सम्यक् अनुभवदृष्टि, प्रथम धर्म प्रगट होता है, प्रथम धर्म प्रगट होता है, तब आत्मा शुभ-अशुभपरिणाम की रुचि छोड़कर, अपने स्वरूप की खोज में लगता है। समझ में आया ? खोज क्या ? अन्दर में मैं कौन हूँ ? मैं कौन हूँ ? शरीर, वाणी, मन नहीं, पुण्य-पाप का विकल्प उठता है, हाँ ! वह भी मैं नहीं। मैं कौन हूँ ? ऐसा अन्तर में स्वरूप की समझन करने में अथवा स्वरूप की खोज में (लगता है कि) यह क्या चीज है ? ऐसी चीज की ओर सन्मुख होता है, उसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और साथ में स्वरूपाचरणचारित्र भी प्रगट होता है। समझ में आया ? स्वरूपाचरणचारित्र का इस ओर लिया है। अनन्तानुबन्धी किसको कहें ? स्वरूपाचरण का घात करे, उसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं-ऐसा लिखा है। मैं पढ़ा था, भाई ने आज निकाला। ‘प्रवेशिका’ में है।

मुमुक्षु :- ‘धवल’ में भी है।

उत्तर :- उसमें तो है, लेकिन इसमें लिखते हैं। ‘(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)’ ‘गोपालदासजी’ लिखते हैं। ‘गोपालदास’ न ?

मुमुक्षु :- स्वरूपाचरण..

उत्तर :- पहला स्वरूपाचरण। लेकिन वह तो शुद्ध आत्मानुभव चारित्र। वहाँ तो शुद्ध इतना ही रखा है। लेकिन अनन्तानुबन्धी किसको कहना ? वहाँ स्पष्टीकरण किया है। अनन्तानुबन्धी किसको कहते हैं ? अनन्त बन्ध, संसार का पहला कषायभाव है। अनन्त संसार का कारण (है)। उसका पहले आत्मा में... सूक्ष्म बात है, भाई ! अनन्तकाल से उसने सम्यग्दर्शन में स्वरूपाचरण कभी प्रगट किया नहीं, और प्रगट हुए बिना उसको अन्तर में संवर, निर्जरा होती नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

कहते हैं कि, भगवान आत्मा शुद्ध पिंड, चैतन्य ज्ञायकघन आनन्द, उसके सन्मुख होने से जो शुद्धस्वरूप की अन्तर में प्रतीति होना, वह तो सम्यग्दर्शन (है)। और उस शुद्धस्वभाव का ज्ञान होना, यह आत्मा, यह आत्मा-ऐसा ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान (है) और उसमें लीनता होना, एकाग्रता से लीनता होना वह स्वरूपाचरण चारित्र (है), जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के अभाव से प्रथम होता है। भाई ! बहुत सूक्ष्म बात है। ऐसा कहीं सुनने मिले नहीं। दूसरा मिले तो वहाँ सारा दिन पैसे (की बात), धंधे की बात या दया पालो, भक्ति करो, पूजा करो, व्रत पालो। आहा.. ! समझ में आया ? वह शुभभाव है। शुभभाव है, होता है।

मुमुक्षु :- उपाय है न ?

उत्तर :- उपाय है नहीं। उपाय तो आत्मा का यह उपाय करते हैं, तब व्यवहाररत्नत्रय का जो विकल्प हो, उसको बाह्य निमित्तरूप से गिनने में आता है। यह समझने की चीज है। आहा..हा... ! स्वरूपाचरणचारित्र कैसी दशा होती है, वह बात करते हैं।

‘जिस स्वरूपाचरण चारित्र में ध्यान, ध्याता और ध्येय-इन तीन का भेद नहीं होता..’ समझ में आया ? पहले तो वह कहा था न ? कि, ध्याता, ध्यान, ध्येय का विकल्प नहीं। पहले मूल पाठ में आया न ? उसका अर्थ चलता है। मैं ध्याता, ध्यान करनेवाला और यह ध्यान-एकाग्रता और यह ध्येय-पूर्ण स्वरूप। ऐसा भेदरूपी विकल्प राग है, वह भी अन्तर स्वरूप की एकाग्रता के काल में वह राग, स्वरूपाचरण में रहते हैं (तब) वह राग नहीं रहता। बुद्धिपूर्वक राग नहीं रहता।

प्रथम स्वरूपाचरण में मैं ध्यान करनेवाला, ध्याता हूँ, यह ध्यान है, यह ध्येय-शुद्ध स्वरूप मेरा ध्येय है वह भी एक विचार, विकल्प, राग है। आहा..! जिस स्वरूप की अन्तर दृष्टि में शुद्धता का ध्येय बनाकर, यह ध्येय है-ऐसा (विकल्प) भी नहीं, परन्तु अन्तर शुद्धस्वरूप की ओर सन्मुख होने से, मैं सन्मुख होनेवाला और मैं सन्मुख होता हूँ, ऐसी भी जहाँ राग की भेदबुद्धि नहीं रहती। ध्याता-ध्यान-ध्येय तीन का भेद नहीं होता।

‘जहाँ वचन का...’ भेद नहीं। ध्याता, ध्यान करनेवाला, चौथे गुणस्थान में, पाँचवे या सातवें में, अपना स्वरूप ध्यान में लेते हैं, तब शुद्ध चैतन्यमूर्ति अखंड अभेद की ओर लीनता, एकाग्रता होने से मैं ध्यान करनेवाला या ध्याता-ऐसा भेद-विकल्प नहीं रहता। उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं, आ..हा...! बहुत सूक्ष्म बात (है)। बाद में विकल्प, राग उठता है, दया, दान, भक्ति, व्रतादि या शुभ-अशुभरागादि, परन्तु स्वरूप की ओर दृष्टि हुई और स्वरूपाचरण की एकाग्रता हुई, वह हमेशा रहती है। समझ में आया ?

जहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक स्वरूपाचरण हुआ, चैतन्यज्योत अखंड ज्ञानमूर्ति.. सम्यग्दर्शन उसको कहा कि सारा एकरूप चैतन्य ज्ञायकभाव भूतार्थ का अन्तर आश्रय करना। उस सम्यग्दर्शन के काल में ही प्रतीति हुई, सम्यग्ज्ञान हुआ और उतने अंश में स्थिर भी हुआ। स्वरूप की ओर की लीनता (हुई)। इस स्वरूपाचरणचारित्र में भेद लक्ष्य में नहीं आता। अकेला अभेद (होता है)। यह अभेद (है), ऐसा भी विकल्प नहीं। सूक्ष्म बात है। उसने कभी धर्म की प्रथम सीड़ी कैसे प्राप्त होती है, उसने कभी लिया ही नहीं। बाहर में ही बाहर में अनादि से गँवाया। अब तो उम्र भी (बड़ी) हो रही है या नहीं ? क्यों ?

कहते हैं, देखो ! ‘दौलतरामजी’ ‘छहढाला’ में ऐसा कहते हैं। साधारण गृहस्थों को कंठस्थ होता है। लेकिन उसका अर्थ क्या ? तोता। वस्तु क्या है ? कंठस्थ कर ले लेकिन तोते की भाँति। क्या चीज है ? भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागदेव ने कहा, वही ‘दौलतरामजी’ छठी ढाल में स्वरूपाचरण का स्वरूप (कहते हैं)। पहले लक्ष्य में भी आया नहीं कि, क्या चीज (है) ? कैसे प्राप्त होती है ? कहते हैं कि, पुण्य-पाप की रुचि तो छोड़ दे। पाप में लाभ नहीं, पुण्यभाव में लाभ नहीं, देह की क्रिया से मेरी क्रिया है नहीं और एक वर्तमान समय में ज्ञान का विकास अल्प है उतना भी मैं नहीं। उसको भी अंतर्मुख मोड़कर शुद्ध चैतन्यस्वभाव

में एकाग्र होकर शुद्ध उपयोग की प्राप्ति होती है। उसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शनसहित स्वरूपाचरणचारित्र कहने में आता है। आहा..हा... ! भाई ! वहाँ 'रतनपुर' में मिलता नहीं और आप के रतन में भी मिले नहीं, पैसे में मिले नहीं।

मुमुक्षु :- संयोग मिले।

उत्तर :- उसके मामा के पास बहुत पैसा है। पैसा है, उसके पास ममता है। उसके पास तो कभी पैसा नहीं आता ? आत्मा के पास आता है ? वह तो दूर रहता है। मेरा है, इतनी ममता उसके पास आयी। क्यों सेठिया ? वह चीज तो आती नहीं है। चीज तो दूर रहती है।

मुमुक्षु :- तिजोरी में तो रहती है।

उत्तर :- तिजोरी तो जड़ है, पर है। तिजोरी में रहे उसमें क्या आया ? आत्मा के पास क्या आया ? आत्मा ने माना कि, मेरा है, इतनी ममता उसके पास आयी। बराबर है ? भैया !

यहाँ तो कहते हैं कि, उस ममता के परिणाम से रहित और दया, दान के शुभ विकल्प से, भाव से रहित-ऐसी चीज जो अखंडानन्द प्रभु है, उसकी दृष्टि करने से स्वरूप में एकाग्रता होती है, तब ऐसा भेद लक्ष्य में नहीं रहता। समझ में आया ? तब सम्यग्दर्शन में स्वरूपाचरण में स्वरूपाचरण प्रथम भूमिका प्रगट होती है। बाद में, ऐसी दशा होने के बाद उपयोग नहीं रहता, परन्तु स्वरूपाचरण और दृष्टि जो हुई है, वह हमेशा रहते हैं। बाद में शुभभाव आवे, दया, दान, भक्ति को पुण्य समझे। सम्यग्दृष्टि को पाप (भाव) कमाने का, विषय आदि (का) भी आता है। उसको पाप समझे। पाप-पुण्य को अपने ज्ञान में पर के रूप में समझे। अपने स्वरूप में पुण्य-पाप को एकत्व करते नहीं।

अपनी खोज में पड़ा आत्मा, अपनी खोज करके जो स्वरूप प्रगट हुआ उसके साथ पुण्य-पाप के विकल्प को मिलाते नहीं। होता है। समझ में आया ? होता है, लेकिन अपना शुद्धस्वरूप ज्ञाता-दृष्टा का भान हुआ, सम्यक् भान में उसके साथ विकार को मिलाते नहीं, एकत्व होते नहीं। आहा..हा... ! चाहे तो समकिती लड़ाई में हो, हाथी के होदे पर (बैठनेवाले) राजकुमार हो और आत्मभान हुआ हो। राजकुमार हो, बहुत पुण्य हो। लड़ाई में भी ऐसे चले। तो भी अन्तर में अनुभव की सम्यक् प्रतीति और स्वरूपाचरण स्थिरता तो उसके कभी छूटते नहीं। समझ में

आया ? अज्ञानी, आत्मा के भान बिना दया, दान, व्रत के विकल्प में पड़ा है तो उसको स्वरूपाचरण का अभाव है, इसलिये वह मात्र विकार का स्वामी है। समझ में आया ? आहा..हा.. !

‘आत्मा का स्वभाव ही कर्म...’ देखो ! भगवान आत्मा... ! आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान और आनन्द है। ज्ञान, आनन्द में जब एकाग्र हुआ, स्वरूपाचरण में.. स्वरूपाचरण में, तब शुद्ध स्वभाव की पर्याय सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण का भाव जो प्रगट हुआ, वही आत्मा का काम (है)। वह आत्मा का काम (है), काम अर्थात् कर्म। कर्म अर्थात् कार्य। है या नहीं ? भैया ! देखो ! ‘(चिद्भाव) आत्मा का स्वभाव ही कर्म...’ कर्म अर्थात् कार्य। पुण्य-पाप (का) विकल्प दृष्टिमें से-रुचिमें से छूट गये। देह की क्रिया तो मेरी है नहीं, वह तो रुचि छूट गई। लेकिन अपने स्वभाव के अनुभव काल में स्वरूपाचरण के काल में शुद्धभाव की पर्याय प्रगट हुई। शुद्ध। शुभ-अशुभ नहीं, शुद्धभाव.. शुद्धभाव। स्वभाव के आश्रय से शुद्धभाव प्रगट हुआ, वह आत्मा का कार्य, वह आत्मा का कर्म, वह आत्मा का कर्तव्य (है)। कठिन बात।

‘(चिदेश) आत्मा ही कर्ता...’ उस समय में चिदेश-चिद् अर्थात् ज्ञान का ईश्वर आत्मा। चिदेश। ज्ञान का ईश्वर-अपना भगवान आत्मा, वही शुद्धभाव का करनेवाला। शुद्धभाव का करनेवाला विकल्प, राग मन्द था या मन्द है तो वह शुद्धभाव प्रगट हुआ, ऐसा नहीं। धीरे से समझने योग्य चीज है। अनन्तकाल में उसने कभी किया ही नहीं। ऐसे ही जिंदगी गँवाई, चौरासी के अवतार में चला गया। कोई पुण्य आदि किया हो, एकाद भव स्वर्गादि मिले, मिथ्यादृष्टिपने में रहा, वहाँ से निकलकर पशु योनि करके जाओ नरक, निगोद में। भैया ! आहा..हा... ! अ..हो.. ! देह का कोई रजकण भी साथ में आनेवाला नहीं। देह का, दूसरी चीज तो कहाँ रह गई।

यहाँ तो कहते हैं कि, शुभ-अशुभभाव हुआ तो भी साथ में तो नहीं रहता। जो हुआ उसका बन्ध पड़ गया। जड़ रजकण (रहे), उसकी पर्याय में साथ नहीं (है)। अपना स्वरूप जो ज्ञानानन्द शुद्ध है, उसकी अन्तर दृष्टि और स्वरूपाचरण प्रगट किया, वह साथ में रहता है। समझ में आया ?

कहते हैं कि, वहाँ आत्मा ही कर्ता है। यहाँ तो तीन बोल समझाते हैं। वहाँ तीन भी नहीं

रहते, विचार में तीन भी नहीं रहते कि, मैं कर्ता, आत्मा करनेवाला, शुद्धभाव मेरा कर्म और मेरी चैतन्य की निर्मल पर्याय हुई वह मेरी क्रिया, ऐसी तीन भेद अन्तर स्वरूपाचरण काल में तीन भेद लक्ष्य में नहीं रहते। (भेद) होते हैं। आहा..हा... ! है न ? भैया ! क्या कहते हैं ? देखो !

‘कर्ता (चेतना) चैतन्यस्वरूप आत्मा की क्रिया होता है...’ आत्मा क्रिया। चैतन्यस्वरूप आत्मा क्रिया। कहते हैं कि, धर्म की क्रिया है या नहीं ? क्रिया होती है या नहीं ? है क्रिया, लेकिन कौन-सी क्रिया ? पुस्तक रखा है न ? देह की क्रिया धार्मिक क्रिया नहीं; अन्दर दया, दान, व्रत, पूजा का परिणाम उत्पन्न हो, वह धार्मिक क्रिया नहीं। आहा..हा... ! है ? भैया ! क्या (लिखा है) ? ‘चैतन्यस्वरूप आत्मा ही क्रिया...’ चैतन्यस्वरूप आत्मा ही क्रिया होता है। आत्मा ही परिणामन (करता है)। पूर्व के राग का अभाव होकर, स्वभाव की शुद्धरूपता, चैतन्य की परिणतिरूप क्रिया (होती है) वह आत्मा की क्रिया है। आहा..हा... ! है उसमें ? कभी पढ़ा था ?

मुमुक्षु :- रोज पाठ करते हैं।

उत्तर :- डॉक्टर ठीक कहते हैं कि, रोज पाठ करते हैं। पाठ करते हैं, हाँ ! यह तो सरल सादी हिन्दी भाषा है। आहा.. ! ये तो ‘दौलतरामजी’ने, ‘बुधजन’ की ‘छहढाला’ थी, उससे अधिक स्पष्ट बनाई। उसमें ऐसा नहीं है, उसे भी हमने देखी है। ‘बुधजन’ की है, उसमें से बनायी, यह तो बहुत स्पष्ट बनाई है। शास्त्र में से सार.. सार.. सार थोड़ा लेकर बना दिया।

कहते हैं कि, भैया ! तुझे अनन्तकाल में स्वरूपाचरणरूप धर्म क्रिया कभी नहीं हुई। आपके हाथ में तो पुस्तक है। समझ में आया ? आहा..हा... ! देखो तो सही। ‘दौलतरामजी’ कहते हैं कि, जब अपना शुद्धस्वरूप, पुण्य-पाप के विकल्प का लक्ष्य छोड़कर स्वरूप की दृष्टि करने के काल में चैतन्य की क्रिया-शुद्धपरिणति ही रहती है। राग अपनी क्रिया-ऐसा रहता नहीं। आहा..हा... ! भैया ! ओ..हो..हो... ! यहाँ मूल बात है इसलिये आज लिया। दोपहर को गुजराती। समझे ? ‘नियसमार’ गुजराती चलेगा।

यहाँ कहते हैं, चेतना क्रिया होती है। भगवान ज्ञानस्वरूप प्रभु, वही अन्तर्मुख दृष्टि करने के काल में स्वरूपाचरण-स्वरूप का अनुष्ठान, स्वरूप का अनुष्ठान, उसमें चेतना की निर्मल

ज्ञानानन्द की क्रिया रहती है, वह क्रिया। कर्ता आत्मा और वही कर्म-कार्य। क्रिया क्यों (कहा) ? क्योंकि पलटन हुआ न ? क्रिया पलटन है। 'क्रिया होता है।'

'कर्ता, कर्म और क्रिया-ये तीनों भेदरहित एक अखंड हो जाते हैं...' यहाँ भी तीन तो समझाया। परन्तु अन्तर दृष्टि के काल में, स्वरूपाचरण काल में, अनुभव के काल में तीन नहीं रहते, तीन एकरूप हो जाते हैं। यह कर्ता, यह कार्य और यह क्रिया-ऐसे तीन भेद नहीं रहते। तीन भेद हो जाये तो विकल्प उठते हैं। देखो ! यह 'सिद्धान्त प्रवेशिका' है, हाँ ! समझ में आया ? 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' है न ? उसमें वह लिखा है। समझ में आया ? अनन्तानुबन्धी किसको कहते हैं ? उसमें लिखा है। देखो !

स्वरूपाचरण चारित्र किसको कहते हैं ? शुद्धात्मानुभव की अविनभावि चारित्रविशेष को स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। ऐसा लिखा है। अनन्तानुबन्धी किसको कहते हैं ? (वह लिखा है)। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ किसको कहते हैं ? जो आत्मा के स्वरूपाचरणचारित्र को घात करे, उसको अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं। आप का स्पष्टीकरण (आया)। यह तो 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' बालकों के लिए बनाई, उसमें से है। 'गोपालदास बरैया' है न ? भैया ! उन्होंने बनाई है।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- शास्त्रमें से निकाला है। यह ग्रन्थ (में) क्या किसी को घर की बात है ? समझ में आया ? (ये कहते हैं).. ग्रन्थ नहीं है।.. ग्रन्थ क्या आया ? सब एक ही बात-तत्त्व की बात है। ये कहते हैं, वे कहते हैं और शास्त्र कहते हैं। आहा..हा... ! परन्तु पहले इतना तो निश्चय होना चाहिए या नहीं ? कि, आत्मा प्रथम धर्म पाता है, तब राग की एकता है (वह) टूटती है तो उतने स्वरूप में एकाग्र होता है या नहीं ? न्याय से समझना चाहिये कि नहीं ?

अनादिकाल का आत्मस्वरूप शुद्ध आनन्दघन (है)। वह पुण्य-पाप के विकल्प में, शुभाशुभ आचरण में है, वह तो अनादिकाल से है। जब उसको धर्म प्रगट होता है तब उसको क्या प्रगट हुआ ? शुभाशुभभाव प्रगट हुआ ? वह तो है अनादि से। शुभ-अशुभराग है, उससे हटकर शुद्ध चैतन्य में एकाग्र हुआ तो शुभाशुभपरिणाम से रहित स्थिरता थोड़ी हुई और स्वरूप

की प्रतीति हुई। उसका नाम स्वरूपाचरण चारित्र सम्यग्दर्शन के काल में पहले होता है। यह नहीं हो तो शुभाशुभभाव में एकता है, वह तो अनादिका की है। शुभाशुभभाव और पुण्य-पाप भिन्न हैं, ऐसा भान हुआ तो राग से रहित स्वरूप की स्थिरता का अंश प्रगट न हो तो एकाग्र हुआ किस में ? राग में तो अनादि से एकाग्र था ही। शुभाशुभराग में एकाग्रता तो अनादिकाल से है, वह नयी चीज नहीं, वह तो अनन्तकाल से करते आया (है)। पुण्य-पाप, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक मिलते ही हैं। समझ में आया ? समझने की चीज है। पैसा-बैसा बहुत आता है और जाता है।

मुमुक्षु :- उसके कारण से आते हैं।

उत्तर :- उनके कारण से आते हैं और जाते हैं। आत्मा के कारण से कहाँ आते हैं ? यह आत्मा के कारण से आता है, देखो ! आत्मा के कारण से, शुभ-अशुभभाव मेरा है, वह आत्मा के कारण से मिथ्या भ्रम होता है। और यह आत्मा पुण्य-पाप के भाव रहित शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ, ऐसी दृष्टि में शुद्धभाव का होना, विकार की एकता तूटकर, स्वरूप की एकता होना वह आत्मा से होता है। वह कहा न ? ' (चिदेश करता).. ' चिद-ईश। ज्ञान का ईश भगवान आत्मा है। ज्ञान का ईश्वर, हाँ ! पैसा का ईश्वर नहीं ? लड़के का ? मकान ? बिल्डींग ? इस बिल्डींग का स्वामी नहीं, ये तो जड़, मिट्टी-धूल है, अजीवतत्त्व है।

यहाँ तो कहते हैं कि, भगवान एक समय में शुद्धस्वरूप, पवित्रस्वभाव की दृष्टि हुई, सम्यग्दृष्टि शुभ-अशुभभाव होता है, उसका स्वामी नहीं रहता। उसका स्वामी नहीं रहता (तो) दूसरे का स्वामी है ही कहाँ ? समझ में आया ? आहा..हा... ! अरे.. ! अनन्तकाल में वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव वीतराग परमेश्वर हैं। वे तो वीतरागभाव की बात करते हैं। ऐसी बात जैन परमेश्वर के अलावा अन्य में कभी तीनकाल तीनलोक में ऐसा एक शब्द और एक न्याय भी नहीं होता। समझ में आया ?

ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ सौ इन्द्र की उपस्थिति में समवसरण में भगवान की दिव्यध्वनि में आया, अरे... ! आत्मा अनादिकाल से अस्वरूपाचरण तूने किया है। देह का आचरण तो उसने किया ही नहीं। देह का आचरण, जड़ का आचरण, पर का आचरण तो किया ही नहीं। तो क्या किया ? अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि में शुभ और अशुभराग का आचरण किया।

आहा..हा... ! स्वरूपाचरण नहीं किया, पर का आचरण नहीं किया। डॉक्टरजी ! शरीर का कुछ नहीं किया। जड़ का आचरण आत्मा नहीं कर सकता। स्वरूप का आचरण अनन्तकाल से किया नहीं। तो किया क्या ? अनन्तकाल से निगोदसे लेकर नौवीं ग्रैवेयक तक (गया उसमें किया क्या ?) शुभ और अशुभभाव, विकारी भाव का आचरण करके मैं कुछ ठीक करता हूँ, ऐसी मिथ्यादृष्टि में अस्वरूपाचरण किया है। बराबर है ?

अब कहते हैं कि, भैया ! अरे.. ! तेरा समय आया, यह काल आया, तुझे मनुष्यदेह मिला। भगवान ! उसकी रीत तो समझ ले। उसकी रीद-पद्धति-विधि क्या है ? - वह तो समझ ले। समझने के बाद प्रयोग में-प्रयत्न में रखेगा। समझे बिना प्रयोग कैसे करेगा ? समझ में आया ? आहा..हा... !

कहते हैं, भगवान आत्मा अनादिकाल से अस्वरूपाचरण.. अस्वरूपाचरण का अर्थ ? कि, शुभ-अशुभ विकारी भाव का का वर्तन किया। वर्तन किया-आचरण किया, अनुष्ठान किया वह अस्वरूपाचरण है। वह अपने स्वरूप का आचरण नहीं, विभाव आचरण है। वही किया न ? दुकान-बुकान का कुछ किया नहीं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- सारा दिन करता है न ?

उत्तर :- कौन करता है ? कौन कहता है ?

मुमुक्षु :- सब लोग कहते हैं।

उत्तर :- दुनिया कहती है तो झूठ कहती है। भगवान कहते हैं कि, राग-द्वेष का आचरण तुम चौबीस घंटे करते हो। जड़ का कर सकता नहीं। आँख की एक पलक भी ऐसे घुमा नहीं सकते। वह तो जड़ है, उसका तुम क्या करते हो ? कठिन बात, भाई !

मुमुक्षु :- गाना गाता है।

उत्तर :- कौन गाना गाता है ? वह तो वाणी का आवाज निकलने की जड़ की क्रिया है। अन्दर विकल्प आता है, भजन करूँ, ऐसा शुभभाव (आता है)। बस ! इनती मर्यादा (है)। जड़ का बोलने का आचरण होता है, पैर ऐसे-ऐसे थन.. थन.. होते हैं वह जड़ की पर्याय है। वह

आत्मा कर सकता है ? कठिन बात, भाई ! डॉक्टर कहते हैं कि, उत्तर में ऐसा सुनने में नहीं आता। उसके लिये ही कहा, दूसरी जगह छोड़कर हम सुनने कि लेयि ही आते हैं, ऐसा उसमें लिखा था। बात यह है। समझ में आया ? आहा..हा... ! बहुत जगह जाना था, (सब) छोड़कर यहाँ आये न ?

कहते हैं, अरे... ! भगवान ! तूने कभी स्वरूपाचरण कैसे होता है उसे तूने लक्ष्य में भी लिया नहीं। और हम कुछ करते हैं, करते हैं, करते हैं, ठीक करते हैं ऐसे ही बफम् में – भ्रम में जिंदगी चली गई। भाई ! कहाँ गये भाई ? गये ? है ? तुम्हारे पिताजी का सब उड़ा दिया। ३० साल से रस नहीं खाते थे, हरित नहीं खाते थे। लेकिन व कबूल करते हैं कि, बात तो सच्ची है। आहा..हा... ! अरे.. ! भगवान ! बापू ! तू कौन चीज है ? तेरा स्वरूपाचरण-अनुष्ठान, तेरी क्रिया क्या ? देह की क्रिया तेरी नहीं और राग विकल्प उठते हैं, वे भी विकारी क्रिया (है), तेरी मूल चीज नहीं। इसीलिये तो कहा, चैतन्य उसकी क्रिया है। भगवान ज्ञानमूर्ति प्रभु, उसकी अन्तर में सन्मुख दृष्टि करके चैतन्य का परिणमन, विकार की रुचि छोड़कर, चैतन्य का परिणमन-क्रिया हुई, वह आत्मा की क्रिया, वह आत्मा की क्रिया, वह स्वरूपाचरण भाव (है), वह शुद्धभाव (है)। समझ में आया ? आहा..हा... !

‘यह तीनों भेदरहित एक, अखंड...’ देखो ! राग तो नहीं, पुण्य-पापतो नहीं परन्तु मैं आत्मा शुद्धभाव मेरा काम, कर्ता चिदेश आत्मा हूँ और चैतन्य की निर्मल परिणति हुई वह क्रिया, (ऐसे) तीन भेद भी लक्ष्य में नहीं रहते। तब अन्दर निर्विकल्प अभेद दृष्टि होती है। उसको स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। आहा..हा... ! कभी सुना ही नहीं। वीतराग के मार्ग में हम आये... भगवान.. भगवान (करते हैं)। उनको उल्लास तो बहुत आता है, प्रमोद तो आता है। ‘अलीगढ़’ में उसने बहुत किया था। लेकिन थोड़ा-थोड़ा समय निकालना चाहिए। यह चीज.. ओ..हो..हो... ! अनन्तकाल में चीज रह गई, जो करने की चीज (थी उसका) ख्याल भी नहीं, समझ भी नहीं, रुचि भी नहीं तो प्रयोग कहाँ से करेगा ? समझ में आया ? आता है न ? मारवाडी की कोई चीज ऊँची होती है, हम को तो नाम भी नहीं आता। मारवाडी की ऊँची चीज आती है न ? राजा जैसी। ऐसा कुछ सुना था। घेवर जैसा चीज। उसका दूसरा नाम था। मारवाडी बहुत ऊँची चीज बनता है। एकबार सुना था, अपने को कहाँ मालूम है। लेकिन विधि कैसे होती

है, उस विधि की खबर नहीं तो बनाये क्या ? समझ में आया ?

हमें हलुआ बनाना है, हलुआ। कैसे करना ? देखो ! पहले आटा है (उसे) घी में सेकना। बाद में गुड़ का पानी डालना। लेकिन घी बच जाये ऐसा (करना है) तो क्या करना ? कि, गुड़ का पानी पहले डालना। आटे में पहले गुड़ का पानी डालकर आटा ठीक से सिक जाये, बाद में घी डालना। (अगर) गुड़ के पानी में आटा सेककर घी डालेगा (तो क्या) हलुआ होगा ? तुझे विधि की खबर नहीं। हलुआ नहीं होगा, लूपरी होगी। लूपरी समझते हो ? फोड़े के उपर (लगाते हैं न) ? फोड़े पर। फोड़े पर बाँधने के काम नहीं आती ? लूपरी बनाती है, उसे स्त्री कहे, देखो ! बहन ! घी देकर डालना। घी बहुत भी नहीं गिरे और घी बिलकुल नहीं गिरे, ऐसा भी नहीं। थोड़ा.. थोड़ा.. थोड़ा। बहुत गिरेगा तो बिगड़ जायेगा, बिलकुल घी नहीं होगा तो पोटीस नहीं होगी। इसलिये हमारे यहाँ भाषा है। सास बहु को कहे तब ऐसा कहे, 'देखो ! बहु ! पोटीस बनानी हो तो जातु-वळतु घी डालना। जातु-वळतुं।' आप की हिन्दी में कोई भाषा होगी, हम को खबर नहीं। ऐसा थोड़ा रहे भी नहीं, थोड़ा बिलकुल न रहे ऐसा भी नहीं और बहुत रह जाये ऐसा भी नहीं। ऐसा हो तो लूपरी होगी। ये तो पहले गुड़ के पानी में आटा सेके, बाद में घी डालते हैं। शिरा (तो) नहीं होगा (लेकिन) लूपरी भी नहीं होगी। विधि की खबर नहीं।

ऐसे अपना सम्यग्दर्शन, चारित्र-स्वरूपाचरण कैसे प्रगट होता है ? मालूम नहीं (और) करने बैठे, हमारा आत्मा ऐसा है, हमारा आत्मा ऐसा है.. क्या आत्मा ऐसा-ऐसा ? समझ में आया ?

कहते हैं, अ..हो... ! भगवान आत्मा.. ! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन चीज हैं। शिरा में भी तीन चीज होती है न ? यहाँ अभी आयेगा, देखो ! हलुआ में तीन चीज आती है न ? आटा, घी और शक्कर या गुड़। यहाँ आयेगा, देखो ! ये तनी चीज आयेगीष एक हो जाते हैं। भगवान आत्मा ध्याता, ध्यान और ध्येय का भी विकल्प और भेद नहीं रहता और कर्ता, कर्म क्रिया का भेद भी नहीं रहता। तो क्या रहता है ?

'(बाधारहित) हो जाते हैं।' अभिन्न अखंड एकस्वरूप हो जाते हैं। 'शुद्ध उपयोग को निश्चय पर्याय...' देखो ! आत्मा का शुद्ध व्यापार। पुण्य-पाप का व्यापार अशुद्ध व्यापार है, वह

तो बन्ध का कारण है। यहाँ तो मोक्ष का कारण वर्णन करना है न ? तो कहते हैं कि, शुद्ध व्यापार। 'शुद्ध उपयोग की निश्चय पर्याय...' देखो ! वह पर्याय है। शुभ-अशुभराग था, वह विकारी पर्याय थी। उसको छोड़कर ज्ञातास्वरूप चिदानन्द में एकाग्र होकर शुद्धपर्याय 'प्रगट होती है...' देखो ! भाषा कैसी ली है ? 'शुद्ध उपयोग की (निश्चल) दशा प्रगटी...' प्रगटी। वह दशा अनादि की दशा नहीं थी। वस्तु अनादि की थी। शुद्ध ज्ञान, आनन्द अनादि की चीज थी। परन्तु अन्तर एकाग्र हुआ तो शुद्धता प्रगट हुई। शुद्धता पर्याय में प्रगट हुई, यह पर्याय प्रगट हुई, उसका नाम स्वरूपाचरण, उसका नाम संवर, निर्जरा, उसका नाम शुद्ध उपयोग, उसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष का मार्ग कहते हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- माँ कहे, लेकिन उसे विधि आनी चाहिए न ? किये बिना, उलट पुलट करे.. पहले कहा न ? कंजूस बाई हो तो (कहे), तुझे सस्ता कर दते हैं। खाना किसको ? .. खायेगा ? जो करे वह खाये। यहाँ तो कहते हैं कि, आत्मा करे और अपना अनुभव अपने भोगने में आता है। पर्याय अपनी भोग्य और भोक्ता आत्मा। दो भेद भी अन्दर अनुभव में नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। दूसरा तो नहीं, दूसरा तो नहीं लेकिन उसका आत्मा, मैं आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप (हूँ), उसकी दृष्टि, ज्ञान पहले हुआ तो यह आत्मा कर्ता, यह कार्य, मैं भोक्ता और यह भोग्य, ऐसा भेद भी वहाँ रहता नहीं। दूसरा तो भोक्ता नहीं, दूसरा तो भोग्य नहीं लेकिन अपने में भोक्ता-भोग्य का भेद नहीं रहता। आहा..हा... ! समझ में आया ?

प्रथम स्वरूप की दृष्टि होने के काल में ऐसा होता है। बाद में दृष्टि रहती है, स्वरूपाचरण भी रहता है, शुभ-अशुभराग रहता है। समकित्ती धंधे में भी दिखने में आवे, भोग में भी दिखने में आवे तो राग है। (वे) समझते हैं, (यह) पाप है, यह पुण्य है। पृथक् रखते हैं, अपने साथ जुड़ान नहीं करते हैं-ऐसा भेदज्ञान हुआ। पर्वत में एक बिजली का प्रहार हुआ और पत्थर के दो भाग हो गये, वह बाद में रेण से इकट्ठे नहीं होते। रेण समझे ? बाद में जुड़ते नहीं। ऐसे भगवान आत्मा ज्ञानानन्द का स्वरूप प्रभु पूर्णानन्द प्रभु, पुण्य-पाप के राग से एकबार अन्तर भेद हुआ, भेद हुआ (बाद में) एक नहीं होता। समझ में आया ?

‘प्रगट होती है...’ देखो ! भाषा है न ?

तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा;

प्रगटी जहाँ दृग्ज्ञान-व्रत ये, तीनधा ऐकै लसा।।

कितने काल से यह कंठस्थ है ? कंठस्थ नहीं है ? अर्थ की खबर नहीं। अर्थ समझे बिना भाषा क्या करे ? तोते को पूड़ी दे (और कहे), बोल, रघुराम। वह जाने कि, यह रघुराम होगा। पूड़ी रघुराम। पूड़ी कहते हैं न ? पूड़ी, पूड़ी और सिंग का दाना, सिंग का दाना, मुँगफली देते हैं। बोल पोपट, रघुराम। रघुराम। उसे लगे कि, यह रघुराम होगा। पूड़ी और दाना रघुराम होगा। भान नहीं, रघुराम कौन और ये कौन ? यह तो पूड़ी है और दाना है। ऐसे इसे भान नहीं है कि, क्या आत्मा है ? यह क्या कहते हैं ? ‘तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा...’ क्या ? (सिर्फ) भाषा है या कुछ भाव है उसमें ? समझ में आया ? आहा..हा... !

‘प्रगट होती है; जिसने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान...’ देखो ! व्रत का अर्थ यहाँ सम्यक्चारित्र कहा। भाई ! शब्द में व्रत (शब्द) है। फिर भी वहाँ सम्यग्दर्शनस्वरूप दृष्टि के काल में शुद्ध श्रद्धा हुई, शुद्ध ज्ञान हुआ और आचरणरूपी व्रत-चारित्र हुआ। (राग है), वह व्रत नहीं है, स्वरूप की स्थिरता वही निश्चय व्रत है। आहा..हा... ! बाद में पंचम गुणस्थान योग्य बारह व्रत का विकल्प आता है, लेकिन वह शुभराग है। समझ में आया ? अन्तर में एकाग्र होकर जितनी शान्ति और स्थिरता प्रगट हुई, वही अपना स्वरूपचारित्र और आचरण, सच्चा मुक्ति का कारण वह है। आहा..हा... ! समझ में आया ? अब तो कितने पुस्तक प्रकाशित हो गये हैं। अभी (एक मुमुक्षु की) ओर से पन्द्रह हजार पुस्तक प्रकाशित हुए। ‘छहढाला’ बहुत निःशुल्क दी। पन्द्रह हजार। ‘आत्मधर्म’ में, ‘सन्मति सन्देश’ में बहुत गई है। (इनको) पूरा कंठस्थ है। उसकी बहुत प्रीति है, इसलिये प्रभावना की। ये व्याख्यान (रेकोर्डिंग) होते हैं, वह भी उनकी ओर से हैं। पुस्तक प्रकाशित करना है। पुस्तक प्रकाशित करना है। कंठस्थ है, बहुत साल से कंठस्थ है। बहुत साल से कहते हैं, व्याख्यान करो, व्याख्यो करो। एक बहन कहती थी। वह भी कहती थी कि, ‘छहढाला’ का व्याख्यान होना चाहिए। तो यहाँ चलते हैं। समय नहीं मिले, कहाँ संसार की इतनी झंझट। ओ..हो.. !

कहते हैं, भगवान आत्मा.. ! एक पंक्ति में कितना भर दिया है ! बहुत भरा है न ? भैया ! आहा..हा... ! 'दौलतराम' पण्डित। लेकिन पण्डित अपने घर की बात कहां करते हैं ? अपनी हिन्दी भाषा में जोड़ दिया। भाव तो भगवान का है, जो परमार्थ अनादिकाल से चला आया वह भाव है। कहते हैं कि, जब भगवान आत्मा स्वरूप की दृष्टि करके, स्वरूप का आचरण करते हैं तो उसमें तीनों आ गये। सम्यग्दर्शन भी आ गया-शुद्धस्वभाव की प्रतीति। ज्ञान आ गया। अनुभव यह आत्मा, ऐसा ज्ञान; और स्थिरता हो गई वह चारित्र। समझ में आया ? ये स्वरूपाचरणचारित्र मोक्ष का मार्ग है। बन्धन से छूटने का यह एक ही उपाय है। आहा..हा... ! बाकी सब बँधने का (उपाय) है। ओ..हो... !

'यह तीनों एकरूप-अभेदरूप से शोभायमान होते हैं।' 'लसा' का अर्थ किया, देखो ! 'शोभायमान होते हैं।' भगवान आत्मा.. ! आठ वर्ष की लड़की को भी सम्यग्दर्शन होता है, तब स्वरूपाचरण होता है। उसमें क्या है ? मेंढक को भी होता है। क्या कहते हैं ? मेंढक.. मेंढक। भेदज्ञान करता है। देह छोटा-बड़ा तो जड़ है। पुण्य-पापका राग विकार ही। उससे मेरी चीज भिन्न है, ऐसी दृष्टि में एकाकार होकर, उस समय में दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों शोभायमान होते हैं। अर्थात् राग का आचरण शोभायमान नहीं। राग का ज्ञान, समझे ? पुण्य-पाप का ज्ञान। शुभाशुभ मेरी चीज है, ऐसी प्रतीति शोभायमान नहीं। वह तो मिथ्या है। शुभाशुभराग का ज्ञान मिथ्याज्ञान है और शुभाशुभराग मिथ्याआचरण है-तीनों शोभायमान नहीं। यह शोभायमान (है)। अन्तर्मुख होकर शुद्धस्वभाव पवित्र स्वभाव पहले सत्समागम से समझ लिया हो, सुना हो बाद में अन्तर प्रयोग काल में शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति हुई, वही शोभायमान चीज है, वी मोक्षमार्ग से शोभायमान अपनी दशा है। ये आत्मा को आभूषित किया। आहा..हा... ! समझ में आया ? पुण्य-पाप तो आभूषण नहीं है। पुण्य-पाप का बन्धन जड़ है। उसका फल भी धूल बाहर का संयोग है। क्या आया उसमें ? ओ..हो..हो... !

नीचे (फूटनोट में) थोड़ा अर्थ है, देखो ! कर्म किसको कहते हैं ? 'कर्ता द्वारा हुआ कार्य...' है नीचे ? फूटनोट में है। 'कर्म-कर्ता द्वारा हुआ कार्य।' नोट में है। कर्म की व्याख्या-कर्ता द्वारा हुआ कार्य। आत्मा स्वरूप का कर्ता, उससे हुई शुद्ध पर्याय, कार्य। आहा..हा... ! हन दुनिया का काम कर दे, मकान काम कर दे, दुकान का काम कर दे, पैसे का काम कर दे, तिजोरी

का काम कर दे, बोलने का काम कर दे, हिलने का काम कर दे,.. हराम है तेरी चीज में वह हो तो। तेरी चीज में तो राग-द्वेष का परिणाम का तेरा कार्य अज्ञान से है। स्वभाव में कर्ता द्वारा किया कार्य। शुद्धपर्याय प्रगट हो, श्रद्धा-ज्ञान और स्वरूपाचरण, वही कर्ता आत्मा द्वारा आत्मा की क्रिया है वह कार्य।

‘कर्ता-स्वतंत्ररूप से करे सो कर्ता;...’ देखो ! व्याख्या। स्वतंत्ररूप से करे, वह कर्ता। उसका अर्थ क्या हुआ ? भगवान आत्मा, राग की मन्दता की सहाय लिये बिना, कषाय की मन्दता पहले थी (कि) यह आत्मा ऐसा.. ऐसा.. उसकी सहाय लिये बिना, अपने स्वतंत्र स्वभाव से शुद्धभाव को करे, वह कर्ता कहने में आता है। आहा..हा... ! यह व्याख्या तो अपने ‘कर्ता-कर्म अधिकार’ में बहुत बार आ गई है। स्कूल में भी छह कारक की व्याख्या चलती है। (भाई) आये हैं या नहीं ? नहीं आये ? हेटमास्टर नहीं आये। रुक गये होंगे। वहां ऐसे आता है, कर्ता-स्वतंत्रपने करे, वह कर्ता। कर्ता का इष्ट, वह कर्म। ऐसा आता है। धर्मी अपने स्वभाव का कर्ता (और) अपना इष्ट अपनी शुद्ध पर्याय। धर्मी को पुण्य-पाप इष्ट है नहीं। पुण्य-पाप का बन्धन का फल सम्यग्दृष्टि को इष्ट है ही नहीं। आहा..हा... ! कठिन बात, भाई ! समझ में आया ?

‘कर्ता-स्वतंत्ररूप से करे सो कर्ता।’ यहाँ कर्म लिया न ? कर्ता द्वारा हुआ कार्य। नहीं तो कर्म (उसे कहते हैं), कर्ता का इष्ट, वह कर्म-ऐसा चलता है। करनेवाले की प्रिय चीज वह कर्म। मिथ्यादृष्टि की-करनेवाले की प्रिय चीज विकार। सम्यग्दृष्टि की प्रिय चीज निर्विकारी श्रद्धा-ज्ञान और स्वरूपाचरण। आहा..हा... ! बहुत बात बन्द हो गई। वीतराग का मूल मार्ग था, बहुत रुक गया। फेरफार.. फेरफार.. फेरफार.. (हो गया)। सच्ची बात आती है तो (कहते हैं), ए.. एकान्त हो गया, ए.. एकान्त हो गया। चिल्लाते हैं, करो, पुकार करो, तुम्हारे पास (है)। वह पुकार अन्तर में छूनेवाली नहीं। समझ में आया ? आहा..हा... !

‘क्रिया-कर्ता द्वारा होनेवाली प्रवृत्ति।’ देखो ! भाषा। नीचे है ? भैया ! ‘क्रिया-कर्ता द्वारा होनेवाली प्रवृत्ति।’ लो, प्रवृत्ति तो आई। लेकिन कौन-सी प्रवृत्ति ? देह की क्रिया की, शरीर की, वाणी की ? वह नहीं। पुण्य परिणाम की प्रवृत्ति ? नहीं। अन्तरस्वरूप में दृष्टि करके शुद्धभाव करके शुद्धभाव की पर्याय हुई, वही अपनी प्रवृत्ति, वही अपनी प्रवृत्ति (है)। राग से निवृत्ति, वही अपनी प्रवृत्ति (है)। आहा..हा... ! समझ में आया ?

भावार्थ :- 'मुनिराज स्वरूपाचरण के समय...' मुनिराज शब्द लिया है लेकिन साधक लेना। 'साधक स्वरूपाचरण के समय जब आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं तब ध्यान, ध्याता और ध्येय-ऐसे भेद नहीं रहते, वचन का विकल्प नहीं होता; वहाँ (आत्मध्यान में) तो आत्मा ही कर्म, आत्मा ही कर्ता और आत्मा का भाव वह क्रिया होती है, अर्थात् कर्ता-कर्म और क्रिया-वे तीनों बिलकुल अखंड अभिन्न हो जाते हैं...' अपना आत्मा ही शुद्ध कर्ता, शुद्ध क्रिया और शुद्ध परिणाम कर्म। एक हो जाते हैं। ओ..हो..हो... !

ऐसा तो स्वरूपाचरण में यहाँ लिखा है। अनन्तानुबन्धी के अभाव के काल में। देखो ! स्वरूपाचरण चारित्र का घात अनन्तानुबन्धी करता है। पुण्य-पाप की प्रीति अनन्तानुबन्धी भाव है। वह स्वरूपाचरण का नाश करता है। भगवान आत्मा शुद्ध की रुचि की प्रीति वह स्वरूप के आचरण की उत्पत्ति करती है। और विघ्न करनेवाली अनन्तानुबन्धी का नाश होता है। समझ में आया ? एक भी बराबर समझे न, एक ही व्याख्यान.. एक जाने वह सर्व को जाने। एक भाव जाने तो सर्व को जाने। लेकिन एक भी भाव समझ ने की दरकार नहीं और दूसरा कहे तो हाँ.. तीसरा कहे तो हाँ।

मुमुक्षु :- अनेकान्त..

उत्तर :- अनेकान्त का अर्थ क्या ? ऐसे होता है और दूसरे नहीं होता, उसका नाम अनेकान्त (है)। इसी विधि से होता है, दूसरी विधि से नहीं, उसका नाम अनेकान्त (है)। यहाँ खिचड़ीवाद नहीं। समझे ? फुदड़ीवाद, फुदड़ीवाद नहीं है। क्षण में बदल जाये (ऐसा नहीं है)।

'जिस में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एक साथ-एकरूप होकर प्रकाशमान होते हैं।' लो ! समझ में आया ? ऐसी अन्तरस्वरूप की दृष्टि, पुण्य-पाप की रुचि, देह का लक्ष्य छोड़कर स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान करके अन्तर में आचरण करना, उसमें तीनों बोल दर्शन-ज्ञान-चारित्र आ जाते हैं। वही प्रकाशमान होता है, वही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा है नहीं। (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



स्वरूपाचरणचारित्र का लक्षण और निर्विकल्प ध्यान

परमाण नय निक्षेपकौ न उद्योत अनुभव में दिखै;

दृग-ज्ञान-सुख-बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै।

मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितैं;

चित् पिंड चंड अखंड सुगुणकरंड च्युत पुनि कलनितैं ॥१०॥

अन्वयार्थ :- (उस स्वरूपाचरणचारित्र के समय मुनियों के अनुभव में) आत्मानुभव में (परमाण) प्रमाण, (नय) नय और (निक्षेप को) निक्षेप को विकल्प (उद्योत) प्रगट (न दिखै) दिखाई नहीं देता (परन्तु ऐसा विचार होता है कि) (मैं) मैं (सदा) सदा (दृग-ज्ञान-सुख-बलमय) अनन्तदर्शन-अनन्तज्ञान-अनन्तसुख और अनन्तवीर्यमय हूँ। (मो विखै) मेरे स्वरूप में (आन) अन्य राग-द्वेषादि (भाव) भाव (नहिं) नहीं है, (मैं) मैं (साध्य) साध्य (साधक) साधक तथा (कर्म) कर्म (अरु) और (तसु) उसके (फलनितैं) फलों के (अबाधक) विकल्परहित (चित्पिंड) ज्ञान-दर्शन-चेतनास्वरूप (चण्ड) निर्मल तथा ऐश्वर्यवान (अखंड) अखंड (सुगुण करंड) सुगुणों का भंडार (पुनि) और (कलनितैं) अशुद्धतासे (च्युत) रहित हूँ।

भावार्थ :- इस स्वरूपाचरणचारित्र के समय मुनियों के आत्मानुभव में प्रमाण, नय और निक्षेप का विकल्प तो नहीं उठता किन्तु गुण-गुणी का भेद भी नहीं होता-ऐसा ध्यान होता है। प्रथम ऐसा ध्यान होता है कि मैं अनन्तदर्शन-अनन्तज्ञान-अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप हूँ, मुझमें कोई रागादिक भाव नहीं है, मैं ही साध्य हूँ, मैं ही साधक हूँ और कर्म तथा कर्मफल से पृथक् हूँ। मैं ज्ञान-दर्शन-चेतनास्वरूप निर्मल ऐश्वर्यवान तथा अखण्ड, सहज शुद्ध गुणों का भण्डार और पुण्य-पाप से रहित हूँ।

वीर संवत २४९२, फाल्गुन शुक्ल ४, गुरुवार
दि. २४-२-१९६६, ढाल-६, श्लोक-१०. प्रवचन नं. ५२

‘दौलतरामजी’ कृत यह ‘छहढाला’ है। इसकी यह छठवीं ढाल चलती है। छठवीं का १०वाँ श्लोक है। क्या अधिकार है ? शुद्धोपयोग। आत्माने अनन्तकाल से अनन्त बार शुभ और अशुभ के परिणामरूपी उपयोग तो अनन्त बार किया.. समझ में आया ? यह तो कल कहा था। देहादिक परपदार्थों का तो इसने कुछ किया नहीं, कभी कर सकता ही नहीं। अपने आत्मा के अतिरिक्त शरीर, वाणी, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति, पुत्र, पैसे का तो कुछ जरा-सा भी नहीं कर सकता।

मुमुक्षु :- सब करता है न ?

उत्तर :- कुछ नहीं करता, मूढ मानता है कि मैं करता हूँ। यह भाव करता है, शुभ और अशुभभाव। जिन्हें यहाँ अशुद्ध उपयोग का आचरण कहा जाता है। इसने अनादि से अपनी दशा में अशुद्ध उपयोग का आचरण अनन्तबार निगोद से लेकर नौवे ग्रैवेयक गया, वहाँ अशुद्ध उपयोग का आचरण किया है। नहीं किया (तो) शुद्धोपयोग का आचरण। वाणी, यह शरीर चलता है-उस क्रिया को भी आत्मा ने कभी किया ही नहीं; वह तो जड़ की अवस्था की पर्याय-कार्य है। पर्याय कहो या जड़ का कार्य कहो या जड़ का भाव कहो। उस जड़ के भाव को आत्मा कभी नहीं करता। अपना स्वभाव शुद्ध है। उसकी अनन्तकाल में इसने दृष्टि की नहीं; इस कारण इसकी पर्याय में अशुद्ध उपयोग का आचरण, अशुद्ध परिणाम, अशुद्ध का भाग-शुभ और अशुभ दोनों अनन्त बार किये (और) चार गतियों में भटका।

अब यहाँ शुद्धोपयोग की और शुद्ध स्वरूपाचरण चारित्र की व्याख्या है कि जो कभी अनन्तकाल में नहीं किया और करे तब कैसी दशा होती है ? प्रथम अनुभवकाल, प्रथम आत्मा का सम्यग्दर्शन प्राप्ति का काल, उस काल में शुद्धोपयोगरूपी आचरण किस प्रकार होता है ?

उसका यह वर्णन है और तत्पश्चात् भी जब-जब आत्मा ध्याता-ध्यान-ध्येय को चूककर अभेदपने का उपयोग करे, तब भी ऐसा ही शुद्धोपयोग का आचरण होता है। समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म। नौवीं गाथा हो गयी, देखो !

अब, 'स्वरूपाचरण चारित्र का लक्षण' कहते हैं, देखो ! 'और निर्विकल्प ध्यान ।'

परमाण नय निक्षेपकौ न उद्योत अनुभव में दिखै;

दृग्-ज्ञान-सुख-बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै।

मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितैं;

चित् पिंड चंड अखंड सुगुणकरंड च्युत पुनि कलनितैं ॥१०॥

आहा..हा.. ! समझ में आया ? समझ में आता है ? पहले उसकी विधि तो जाननी पड़ेगी या नहीं ? अनन्तकाल में यह चीज क्या है, उसकी विधि भी जानने में न आवे तो अन्दर में स्वरूप का, अनुभव का प्रयोग किस प्रकार करे ? ऐसे का ऐसा शुभ क्रियाकाण्ड करते-करते कल्याण हो जाएगा-ऐसा नहीं है। समझ में आया ? दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप के शुभभाव हो, उनसे आत्मा का कल्याण होगा-ऐसा तीन काल में नहीं है।

मुमुक्षु :- धीरे-धीरे हलका होता जाए।

उत्तर :- उससे धीरे-धीरे हलका होता ही नहीं। हलकी चीज जो निर्विकल्प पदार्थ है, उसे दृष्टि में ले तब हलका होता है। समझ में आया ?

यहां तो यह विशेष बात करते हैं कि बाहर के जड़ आदि निमित्त साधन तो आत्मा के अनुभव में साधकरूप है ही नहीं, परन्तु आत्मा के अन्तर अनुभवकाल में-स्वरूपाचरणचारित्र के काल में कषाय की मन्दता का भेद का विकल्प (हो), वह भी उसे साधकरूप सहायक नहीं है।

यहाँ तो वे नय, निक्षेप, प्रमाण, जिनसे वस्तु की पहले सिद्धि करे। नय अर्थात् एक गुण को सिद्ध करने का जो अंश ज्ञानअंश, जिससे गुण की सिद्धि हो कि ज्ञान है, दर्शन है, आनन्द है। प्रमाण से द्रव्य और पर्याय की सिद्धि करे। त्रिकाल द्रव्य है, वर्तमान अवस्था है। गुण, भेद है-

ऐसा प्रमाण द्वारा निश्चित करे। नय, निक्षेप और प्रमाण। निक्षेप (अर्थात्) वस्तु की स्थिति। वास्तविक द्रव्य किसे कहते हैं, भाव किसे कहते हैं—उसका विचार से निर्णय करे। जिस प्रथम ज्ञान में वह दशा आती है, उस नय-निक्षेप-प्रमाण के ज्ञान का विकल्प भी जहाँ स्वरूप के अनुभव में साधक नहीं होता।

बहुत अन्तर है। अभी की मनुष्यों की ऐसी प्रवृत्ति में उसे ऐसा समझा दिया कि (तुम) यह करोगे तो करते-करते (कल्याण हो जायेगा)। शुभपरिणाम करना, शुभयोग करना। करना, होता है परन्तु वह करते-करते तुम्हारा अनुभव सम्यग्दर्शन होगा... समझ में आया ? ऐसा मानकर उसकी जिन्दगी निष्फल चली जाती है।

यहाँ तो आचार्यों का किया हुआ, 'समयसार' की गाथा है, उसका ही यह श्लोक स्वयं रखा है। समझ में आया ? है न ? तेरहवीं गाथा का है। तेरहवीं गाथा का है न ? 'उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं' नौवां श्लोक है। वह काव्य दसवाँ है। 'समयसार' का नौवां श्लोक है, उसकी बात इस दसवें श्लोक में पण्डित 'दौलतरामजी' करते हैं, उनके घर की कुछ है नहीं। हिन्दी में सादी-सरल भाषा में, संस्कृत में जो था, उसे सरल भाषा में रखा है। इतनी बात है, दूसरी कोई बात है नहीं। यह नौवें श्लोक का ही अर्थ है, देखो !

उस स्वरूपाचरणचारित्र के काल में साधकजीव को ऐसा लेना। साधाक-उसमें मुनि लिया है न ? आत्मा अपने अन्तर स्वरूपाचरणचारित्र के शुद्धोपयोग के काल में क्या होता है ? भले एक आठ वर्ष की बालिका हो, छोटा मेढ़क हो, मच्छ हो-वह भी जब-जब आत्मा के सम्यक् अनुभव का प्रथम (बार) प्राप्त करता है, तब उसको ऐसी दशा होती है। समझ में आया ? आहा..हा... ! भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति अखण्डानन्द के अन्तर स्वरूप का शुद्धोपयोग का आचरण, वहाँ 'आत्म-अनुभव में प्रमाण, नय, निक्षेप का विकल्प प्रगट दिखायी नहीं देता।' सूक्ष्म बात है न ?

भगवान आत्मा अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में अन्तर्मुख होकर स्वरूपाचरण के शुद्धोपयोग में रहे, तब यह नय-जो एक गुण को सिद्ध करने का अंश है, वह वस्तु तो यहाँ अनुभव में सिद्ध है। उसे सिद्ध करने का नहीं रहा। प्रमाण से पूरी सिद्ध करनी थी, वह वर्तमानदशा अनुभवकाल में

पूर्ण चीज की क्या चीज है, वह अनुभव करता है, इसलिए उसे प्रमाण से सिद्ध करने की बात नहीं रहती; निक्षेप से सिद्ध करने की बात नहीं रहती। द्रव्य की योग्यता है, भाव प्रगट दशा में दशा का अनुभव स्वभावसन्मुख वस्तु तो अब सूक्ष्म हो, वह आयेगी या नहीं ?

कहते हैं, आहा..हा... ! भगवान आत्मा अपने निजस्वरूप के सन्मुख, स्वरूप के सन्मुख, विकार से विमुख और नय, निक्षेप और प्रमाण के भेद के विकल्प से भी उपेक्षा करके-विमुख होकर तथा स्वरूप के साधन में एकाकार होता है, वहाँ नय, निक्षेप, प्रमाण का विकल्प नहीं रहता। आहा..हा.. ! अद्भूत सूक्ष्म, भाई ! मुनि भले लिखा, साधक (लेना) । पहले कहा साधक है। समझ में आया ?

साधकदशा शुरू होने पर चौथे गुणस्थान में, पाँचवे में या मुनि की शुद्धोपयोग के काल में ऐसी स्थिति होती है। आहा..हा... ! जिसे प्रमाण अर्थात् पूरी चीज का ज्ञान-यह सामान्य वस्तु ध्रुव है, वर्तमान अवस्था पर्याय है-दो के प्रमाणज्ञान द्वारा निश्चित किया है। अन्यमतियों से विपरीत जो कुछ बात अन्यमति कथित है, उससे सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कथित बात सामान्य ध्रुव, विशेष पर्याय-इस प्रकार प्रमाणज्ञान द्वारा निश्चित किया, परन्तु जहाँ अन्तर में अनुभव होने पर वह विकल्प वहाँ नहीं रहता। समझ में आया ?

एक माललेना हो, माल, पकवान आदि-तो भाव पूछते हैं कि यह कितने रुपये का शेर है ? कि भई पाँच रुपये का शेर। तराजू कहाँ है ? तराजू, तराजू है न ? तराजू लाओ, घड़ा करो, घड़ा सही है या नहीं ? फिर उस ओर जिस तरफ माल डाले, उस ओर थोड़ा-सा मोम-बोम, लाख चिपका दिया हो (तो) पाव शेर, आधा शेर-इतना माल कम तुले। घड़ा करते हैं या नहीं पहले ? घड़ा करता है, घड़ा करते हैं। तराजू समरूप है या नहीं ठीक से ? भाव करे, फिर तराजू की तोल ठीक घड़ा करे। हमारी काठियावाड़ी में घड़ा कहते हैं। घड़ा कहते हैं न ? ऐ..ई.. ! तराजू के घड़े को और तोल के काँटे को (बराबर मिलाते हैं), फिर खाते समय तीनों भूल जाते हैं। खाते समय रटा करता होगा ? पाँच रुपये का शेर यह काँटे (तराजू) का घड़ा करके लिया है और यह पाँच शेर लिया है, पाँच शेर लिया है। (ऐसा करे तो) स्वाद नहीं आता। समझ में आया ?

वैसे भगवान आत्मा, नय-निक्षेप-प्रमाण के ज्ञान द्वारा यह वस्तु क्या है ? उसका पहले सत्समागम से श्रवण आदि करके निश्चय किया हो.. अनन्तकाल में अनन्त अज्ञानी कहते हैं वैसा नहीं, परन्तु सर्वज्ञ कथित आत्मा एक समय में अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा है। एक समय में अनन्त गुण की पर्याय है-ऐसे प्रमाण से उसका ज्ञान विकल्प से, विकल्प द्वारा, मन के संग द्वारा यह निर्णय किया। नय से निर्णय किया कि एक-एक गुण एक-एक नय से ज्ञाता होता है। निक्षेप से निर्णय किया कि द्रव्य त्रिकाल अनन्त केवलज्ञान को प्राप्त होने योग्य ही यह आत्मा है। सिद्धपद की पर्याय को प्राप्त होने की योग्यतावाला यह द्रव्य है। अन्दर भाव में मैं जितना एकाग्र होऊँ, उतना वर्तमान निर्विकल्पभाव प्रगट होता है-ऐसा पहले निर्णय करे, परन्तु निर्णय करने के काल में यह होता न हो। दूसरा भाव पूछे। उसमें उस समय खाता न हो, और खाता हो तो कोई तुरन्त दुकान से उठा लेता है ? लाओ ! भाव पूछे बिना खाने लगे ? भाव मेरे पूछना नहीं, तराजू लाओ खाने लगू। वह .. मारे, कौन है यह ? भाई !

इसी प्रकार आत्मा उसमें गुण, उसकी दशा, उसमें विकार क्या है-उसे पहले भलीभाँति ज्ञान द्वारा निर्णय करना चाहिए। कितनी कीमत में आत्मा मिलता है और कीतनी कीमत चाहिए उतनी अभी तक भरी नहीं-यह पहले भलीभाँति निर्णय करना चाहिए; निर्णय करने के बाद अनुभव के काल में, वह खाता हो तब यह विचार नहीं रहता, यह यहाँ कहते हैं। समझ में आया ? कुछ समझा ही न हो, पहले समझे बिना ऐसे-ऐसे करने बैठे, उसमें क्या समझे वह ? ध्यान करो.. परन्तु किसका ध्यान ? क्या चीज है, कितने गुण हैं... आगे कहेंगे, देखो ! अन्दर। 'सुगुण करण्ड...' यह तो सुगुण करण्ड (अर्थात्) अनन्त गुण का करण्ड है आत्मा। समझ में आया ? 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' आता है न ? देखो न ! 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' पूरा रत्न का करण्ड भरा है। 'समन्तभद्राचार्य'।

यहाँ सुगुणकरण्ड (कहते हैं)। भगवान आत्मा एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में अनन्त-अनन्त गुण का वह करण्ड है। खोल तो खा। समझ में आया ? अन्दर एकाग्र हो तो अनुभव कर। पर के प्रति जितने विकल्प जाएँ, उतने में उतना वह अनुभव नहीं होता। अद्भुत बात ! लोगों को यहाँ पहुँचना उन्हें कठिन लगता है, इसलिये मानों किसी दूसरे रास्ते से मिल जाए (-ऐसा ढूँढते हैं)।

कहते हैं 'प्रमाण, नय, निक्षेप का विकल्प (उद्योत) प्रगट दिखाई नहीं देता.. उद्योतन दिखै...' अर्थात् है नहीं, इसका अर्थ ऐसा है। 'प्रगट दिखाई नहीं देता...' अर्थात् अबुद्धिपूर्वक कोई विकल्प हो, उसकी बात नहीं है। भगवान आत्मा.. रात्रि में कहा था न ? ध्याता, ध्यान और ध्येय-इस विकल्प का भेद नहीं है। वहाँ (९वीं गाथा में) कहा था न ? 'चिद्भाव कर्म, चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ।' भगवान आत्मा चैतन्य भगवान कर्ता और शुद्ध-पुण्य-पाप के रागरहित आत्मा की शुद्धदशा, वह आत्मा का काम, वह कर्म, वह कर्तव्य, वह कार्य और वह चैतन्य परिणमता है, चैतन्य परिणमता है, राग नहीं, पुण्य नहीं, वह चैतन्य ज्ञायकमूर्ति भगवान परिणमन कर जो निर्मल क्रिया हुई, वह चैतन्य की क्रिया (इन) तीन प्रकार के विचार में भेद नहीं रहता। ओ..हो..हो... ! समझ में आया ?

ऐसे यहाँ तीन का विक्षेप (नहीं है) परन्तु ऐसा विचार रहता है कि, 'मैं सदा (दृग-ज्ञान) अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यमय हूँ।' यह भी अभी विकल्प है, तब यह विचार चलता है। समझ में आया ? नय, निक्षेप, प्रमाण का ज्ञान किया था, वह विकल्प छूट गया। अब यह मैं हूँ-ऐसा आया, परन्तु है विकल्प-राग। मैं अनन्त दर्शनमय हूँ, मुझ में अनन्त दर्शन है। दृष्टान्तस्वरूपभाव, वह अनन्त है। जिसका स्वभाव हो, उसे माप-अन्त नहीं होता, माप नहीं होता, अमाप वस्तु है।

वस्तु-दृष्टा गुण अनन्त दर्शन है, अनन्त ज्ञान है। बेहद ज्ञान है। अकेला ज्ञान की ही मूर्ति चैतन्यस्वभाव, सर्वज्ञस्वभाव, सर्वज्ञस्वभाव-ऐसा अनन्त ज्ञान, वह मैं हूँ। मैं अनन्त सुख हूँ, अनन्त आनन्द हूँ, देखो ! यह पहले विकल्प (आते हैं)। अनुभव शुद्धोपयोग होने के पहले इन विकल्पों का विचार होता है। आहा..हा... ! अद्भुत ! वहाँ तो कहीं सुनने मिले-ऐसा नहीं है। नहीं ? 'रतनगढ़' में क्या मिले ? धूल के रत्न मिले। यह रत्न मिले-ऐसा है ? यह चैतन्यरत्न। चैतन्य रत्नाकर-चैतन्य में चैतन्य के रत्नों का सागर भरा है यह। अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्तगुने गुण। आकाश के प्रदेश से अनन्तगुने गुण आत्मा में है। आकाश जो सर्वव्यापक है, सर्व व्यापक आकाश, जिसका माप नहीं, जिसकी हद नहीं-उसके प्रदेश जितने अनन्त हैं, उससे एक आत्मा में अनन्तगुने गुण हैं। समझ में आया ? उनमें भी यह गुण मुख्य है, इससे मुख्य बात ली है। अनन्त चतुष्टय।

मैं अनन्तदर्शन (स्वरूप हूँ)। मैं राग हूँ और पुण्य हूँ-ऐसा नहीं, मैं कर्मवाला हूँ-ऐसा नहीं। सम्यक् अनुभव शुद्धोपयोग के काल पहले भी मैं रागवाला हूँ और कर्मवाला हूँ-ऐसा नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? मैं तो अनन्त आनन्दमय हूँ। आहा..हा... ! जहाँ क्लेश की को गन्ध नहीं, जिसमें अशान्ति के भाव की गन्ध नहीं-ऐसा मैं अनन्त आनन्द के वास से बसा हुआ तत्त्व हूँ। ऐसे विकल्प, मन्दराग के विकल्प द्वारा भी, मन के संग द्वारा भी ऐसा विचार शुद्धोपयोग की भूमिका हुए पहले ऐसा एक विचार होता है। आहा..हा... ! अद्भुत बात ! समझ में आया ?

छह खण्ड का राजा हो, छियानवें हजार स्त्रियाँ हों, वह ध्यान करने बैठे तब इस प्रकार विचार करता है। हो उसके घरमें; छह खण्ड का राज्य मुझ में नहीं, मैं तो अनन्त आनन्दमय हूँ। ऐसा विकल्प उठता है तो अनन्त आनन्दमय हूँ-ऐसा विकल्प अभी उठा है, उस काल में अभी शुद्धोपयोग का अनुभव नहीं है। अभी आँगन है। यह आँगन अब। यह आँगन छोड़कर जाए तब अन्दर में अनुभव होता है। आँगन कहते हैं ? आँगन-आँगन कहते हैं। कुछ समझ में आता है ? आहा..हा... !

वस्तु है न ? और वस्तु है तो अनन्त गुण बसे हुए हैं। वस्तु है तो उसमें अनन्तगुण बसे हुए हैं। जैसे, वास्तु करे तो, वास्तु करे तो कोई मकान में करते हैं या जंगल में करते होंगे ? ऐसे वस्तु भगवान आत्मा है तो उसमें अनन्त.. अनन्त.. संख्या में गुण बसे हुए हैं। उसमें अब प्रवेश करने का वास्तु करने, ठहरने जाता है। उससे पहले ऐसा विकल्प आता है कि, मैं तो अनन्त आनन्दमय हूँ। मुझे स्त्री है या पुत्र है या राज है या परिवार है, कर्म है या मैं रागवाला हूँ, पुण्यवाला हूँ, पापवाला हूँ-वहाँ यह विकल्प नहीं। समझ में आया ? वह तो आगे 'रहित कहेंगे'। 'च्युत कलनितै'। यह कहेंगे।

मैं आ..हा... ! अस्ति महासत्ता धाम भगवान अस्तित्व के भाववाला पदार्थ, अस्तिवाला (है) तो अस्तिवाले में अस्तित्व क्या है ? फिर नहीं क्या-यह बाद में कहेंगे। कलनितै रहित हूँ; अशुद्ध आदि विकल्पों से तो मैं रहित ही हूँ। समझ में आया ? अद्भुत सूक्ष्म बात ! भाई ! इस मनुष्य को- लोगों को सम्यग्दर्शन का उपयोग क्या ? शुद्ध उपयोग सम्यक् काल में स्वरूपाचरण चारित्र (क्या) ? इसका पता नहीं। शुभभाव से होगा; आगे जाने पर शुद्धोपयोग

आठवें (गुणस्थान) में होगा, जाओ ! उसे कभी चौथा गुणस्थान नहीं होगा, उसे कभी आठवाँ नहीं आयेगा।

कहते हैं, यह अनन्त.. अनन्त.. अनन्त .. सब भूल गया। जो नय, निक्षेप, प्रमाण द्वारा साधक मानता, वह साधकपना भी छूट गया। विकल्प में साधक मानता है कि यह सब वस्तु को सिद्ध के साधन हैं, वे छूटे। रहा इतना विकल्प। 'अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्यमय हूँ।' पूर्ण वीर्यमय-पूर्ण बलमय, पूर्ण सामर्थ्यमय। मेरी सामर्थ्य में अनन्त सामर्थ्य पड़ी है। अरे... ! मैं हीन हूँ, अथवा कर्म ने मेरी सामर्थ्य हीन की है-यह तो यहाँ बात ही नहीं है। कर्म ने मेरा वीर्य हीन किया है-यह बात तो है ही नहीं, परन्तु मेरा वीर्य बलहीन है मेरे कारण-यह (भी) यहाँ नहीं है। समझ में आया ? आत्मा के स्वरूपचारित्र के काल में आत्मा का अनुभव, यह सम्यग्दर्शन होने से (पहले), स्वरूप का अनुभव होने से पहले यह विचार सम्यग्दृष्टि को होता है कि सम्यग्दर्शन होने से पहले और अनुभव जब-जब हो, तब पहले धर्मी जीव को मैं कर्म से घाता हुआ हूँ, कर्म से मेरा ज्ञान घाता गया है-यह विचार उसे नहीं होते; वैसे ही मेरा ज्ञान मुझसे हीन है-यह भी विचार नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ?

अन्तर आत्मा के अनुभव में, आत्मा के सम्यग्दर्शन के अनुभवकाल में, सम्यग्दर्शन इस अनुभवकाल में मेरा ज्ञान ज्ञानावरणी ने घात किया है-यह विचार के काल में यह विचार होता ही नहीं परन्तु मेरा ज्ञान अल्प मुझसे हुआ है-यह बात भी उसके विकल्प में नहीं। समझ में आया ? मैं तो अनन्त ज्ञानमय हूँ, वस्तु.. द्रव्यदृष्टि करनी है न ? अनन्त.. अनन्त ज्ञानमय भगवान आत्मा है-ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अनुभव के शुद्धोपयोग के काल के पहले ऐसा आत्मा का विचार करता है। आहा..हा... ! पैसावाला हूँ न ! -ऐसा यहाँ नहीं कहते। 'वाला' तो कितने लगे ? पैसेवाला और लड़केवाला और स्त्रीवाला और.. वाला-वाला कहते हैं न ? वह पैर में वाला (बालतोड़ नामक रोग) निकलता है न ? आहा..हा... !

सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव आत्मा के शुद्ध अनुभव के काल पहले या ऐसा स्वरूपचारित्र आचरण-स्वरूपाचरणचारित्र, भगवान शुद्ध चिदानन्द प्रभु के अन्तर आचरण में स्थिर होने से पहले की उसकी भूमिका में ऐसे विकल्प होते हैं। अनन्तज्ञान हूँ, हीन ज्ञान नहीं; अनन्त ज्ञान हूँ; अल्पदर्शन, हीनदर्शन नहीं, पूर्ण दर्शन हूँ; अल्पसुख नहीं; दुःख तो नहीं-दुःख तो नहीं; अल्प

सुख भी नहीं, अनन्त सुख हूँ। आहा..हा... ! अनन्त वीर्य हूँ। वीर्य को अन्तरायकर्म ने रोका-यह तो है ही नहीं, परन्तु वीर्य मुझसे (स्वयं से) हीन हुआ, यह भी अनुभव के पहले यह विचार नहीं। आहा..हा... ! यहाँ तो पर्यायदृष्टि उड़ाना है न ? समझ में आया ?

भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन के अनुभवकाल में, चौथे गुणस्थान में अनुभव होता है, पाँचवे गुणस्थान में आत्मा का अनुभव होता है, तब भी आत्मा अनुभव में आये उसके पहले ऐसे विकल्प की-विचार की धारा होती है। अनन्त बलमय हूँ, मेरे बल को मर्यादा-हद नहीं; भले क्षेत्र इतना हो, इतना क्षेत्र (है) परन्तु उसका स्वभाव बेहद.. बेहद... अचिन्त्य आनन्द, पूर्ण आनन्द, पूर्ण बल, पूर्ण ज्ञान-दर्शनमय हूँ। आहा..हा.. ! इतनी प्रतीति का विकल्प तो आत्मा के स्वरूपाचरण अनुभवकाल पहले उस भूमिका में उसे आता है। आहा.. ! समझ में आया ?

‘(मो विषै) मेरे स्वरूप में अन्य राग-द्वेषादिक भाव नहीं है।’ देखो ! भगवान आत्मा अनन्तदर्शन, आनन्द में अन्तर अनुभवकाल में जाता है, अनुभव में जाता है, अपने घर में जाता है, उससे पहले राग, दया, दान, विकल्प-यह मुझमें है ही नहीं। आहा..हा... ! ऊँची बात है, भाई ! यह अन्तिम, मुख्य निर्विकल्प आत्मा के उपयोग का ध्यान.. समझ में आया ? भगवान आत्मा.. मैं तो बेहद दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय हूँ और जो पुण्य-पाप का विकल्प उठता है, उससे रहित हूँ, उस सहित नहीं। आहा..हा... ! समझ में आया ? परन्तु है न ? कौन कहता है ?

भगवान आत्मा अनन्त बेहद आनन्द, ज्ञान, दर्शन का दरिया-समुद्र चैतन्य रत्नाकर (है), उसमें मैल कैसा ? सम्यग्दृष्टि अनुभव करने के काल पहले ऐसा विचार करता है। आहा..हा... ! यहाँ तो अभी उसे अरे..रे.. ! हम तो कर्मवाले हैं, शरीरवाले हैं, और रागवाले हैं और.. अरे... ! यह तो पर्यायदृष्टि का विषय हुआ, वस्तु कहाँ आयी ? समझ में आया ? वस्तु कहाँ आयी ? वस्तु ऐसी भगवान परमानन्द की मूर्ति, एक सैकेण्ड के असंख्यातवें भाग में शुद्ध चिदानन्द भगवान आत्मा-ऐसा मैं, राग-पुण्य-पाप के विकल्प से राग से रहित हूँ-ऐसा तो विचार-शुद्ध भगवान आनन्द का अनुभव, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करने से पहले, उस भूमिका में ऐसे विकल्प आते हैं। आहा..हा.. ! ‘मेरे स्वरूप में (आन)...’ ‘आन’ आया न ?

परमाण नय निक्षेपकौ न उद्योत अनुभव में दिखै;

दृग-ज्ञान-सुख-बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै।

यह तो 'छहढाला' है। मेरे भगवान आत्मा में, इस अनुभव में धर्मीजीव, अनुभव हुए पहले यह विचार करता है। 'आन भाव जु मो विखै'। नहीं। यह कर्म, शरीर तो नहीं, परन्तु पुण्य और पाप का जो राग होता है, वह मुझ में नहीं है। समझ में आया ? और '(मैं) मैं साध्य (और मैं) साधक...' देखो ! यह सम्यक् अनुभव का आनन्द अनुभव अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव।

अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रस कूप;

अनुभव मारग मोक्ष को अनुभव मोक्षस्वरूप ॥

यह अनुभव। आत्मा के आनन्द के अनुभव में जो शुद्धोपयोग प्रगट होता है, उससे पहले की दशा में साध्य वस्तु स्वरूप, साधक मैं और.. समझ में आया ? देखो ! साधक मैं और साध्य वस्तु। पर साधक तो नहीं। मैं साध्य-साधक, भाई ! ऐसा है न ? क्या कहते हैं ? सुनो ! मैं साध्य-साधक। सम्यक् अनुभव पहले इस विकल्प का विचार ऐसा होता है, वह राग की मन्दता मुझे साधक है-ऐसा नहीं मानता है। नय, निक्षेप और प्रमण से जो विचार किये, वे मुझे साधक है-ऐसा भी नहीं मानता है। मैं साध्य और मैं साधक हूँ। देखो ! विशेषता ! मैं साध्य पूर्णानन्द की प्राप्त करनेवाला और मैं साधक। मेरे शुद्धभाव का साधन-साधक मैं ही हूँ, राग-पुण्य, दया, विकल्प वह साधक-साधक है नहीं। आहा..हा... !

मैं... है न ? 'मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितै।' मैं साध्य और मैं साधक (हूँ)। देखो ! यह साधक की व्याख्या. दुनिया तुफान करती है न कि यह साधक चाहिए, यह साधक चाहिए। अरे.. ! सुन न अब ! वह तो व्यवहार साधन की बात की है। (जो) साधन नहीं है, उसे साधन कहने का नाम व्यवहार है। भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द और अनन्त ज्ञान का अनुभव करने से पहले मैं साध्य और साधक मैं ही हूँ। मेरा पूर्ण स्वरूप, वह साध्य और साधकरूप परिणमता हूँ, वह साधक मैं ही हूँ। कोई विकल्प साधक है, कषाय की मन्दता मुझे साधक-मदद करती है और मैं पूर्ण साध्य परमात्मा हूँ (इसका) निषेध करते हैं। ऐ..ई.. ! भाई !

'पंचास्तिकाय' का साध्य-साधक, वह तो व्यवहार की बात हुई। व्यवहार के समय

विकल्प-मन्दकषाय (होते हैं)। शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का आनन्द का अनुभव होवे, तब उस मन्दकषाय का साधकपना पंचास्तिकाय में कहा है। उसे यहाँ उड़ा दिया है। समझ में आया ?

‘मैं साध्य साधक मैं अबाधक।’ मैं ही साध्य-साधक हूँ और कर्म तथा ‘उनके फलों को विकल्परहित...’ देखो ! कर्म और उसका फल.. जड़कर्म और उसका फल रागादि का जुड़ान होकर होना वह, अल्पज्ञान, अल्पदर्शन का जड़ान होकर होना वह, उन फलों के विकल्प रहित हूँ। उस विकल्प रहित हूँ, भेदरहित हूँ। आहा..हा..! समझ में आया ? विकल्परहित कैसा हूँ ?

‘(चित्पिण्ड).. ज्ञान, दर्शन चेतनास्वरूप...’ मैं तो चित्पिण्ड हूँ। चित्पिण्ड-चेतना हूँ। ज्ञान-दर्शन भगवान आत्मा। पिण्ड हूँ-ऐसा कहा है। चित्पिण्ड हूँ। पहले मैं साधारण ज्ञान-दर्शन लिया। पिण्ड, पिण्ड, जत्था, समूह। अकेला ज्ञान का पिण्ड-पूँज हूँ। आत्मा ज्ञानपूँज हूँ-ज्ञान का ढेर हूँ।

‘चंड...’ ‘निर्मल तथा ऐश्वर्यवान...’ मैं निर्मल और पूर्ण ईश्वर-शक्तितवान हूँ। मैं ही ईश्वर-पूर्ण समर्थ हूँ। आहा..! यह अनुभव होने के पहले विकल्प में ऐसा आता है। समझ में आया ? ‘निर्मल तथा ऐश्वर्यवान...’ चण्ड में उग्रता कही। उग्रता गिनी है न ?

‘अखण्ड...’ ‘सुगुणों का भण्डार..’ मैं भगवान आत्मा अखण्ड हूँ। गुण में खण्ड क्या ? अनन्त ज्ञानादि अनन्त गुणों का रत्नाकर प्रभु, अनन्त गुणों का मैं करण्ड-भण्डार हूँ। जितनी केवलज्ञान आदि ऋद्धि प्रगट होगी, वह मेरे भण्डारमें से प्रगट होगी, भण्डार को खोलकर उसमें से निकलेगी। वह राग को खोलकर उसमें से निकलनेवाली नहीं है। आहा..! अद्भुत रचना है.. यह तो हिन्दीभाषा में ‘दौलतरामजी’ की है-‘छहढाला’। समझ में आया ? सरलतम भाषा में रचना की है।

मैं भगवान आत्मा अनन्त आनन्दमय हूँ, मेरे अनन्त शुद्ध रत्नकरण्ड में भरा हुआ तत्त्व कैसा है ? ‘अखण्ड सुगुणों का भण्डार...’ मैं ही आत्मा अनन्त गुण का भण्डार हूँ। ऐ..ई..! कठिन (लगे), सुना न हो। ऐसा मैं ? ऐसा मैं ? हम तो यह घाते गये हैं, कर्म से घाते पामर हैं। तू अभी आँगन में आने योग्य नहीं है। स्वरूप के अनुभव से पहले आँगन चाहिए, उस आँगन की भी तेरी तैयारी नहीं है। आहा..हा...! समझ में आया ?

‘अखण्ड सुगुणों का भण्डार...’ आहा..हा... ! इसे अभी इसका विश्वास (नहीं आता) । इस राग, विकल्पसहित के विश्वास में ऐसी चीज होती है। समझ में आया ? यह मन के विकल्पसहित विचार हों, तब ऐसा आत्मा है-ऐसा अभी तो प्रतीति में वर्तता है। रागहित प्रतीति, हाँ ! अनुभव बाद में। सुगुणों का भण्डार तथा ‘(कलनितै), किलनितै.. अशुद्धता से रहित हूँ।’ बिलकुल सामान्य जो रागादि कहा था, उसे अब.. समझ में आया ? बिलकुल (रहित हूँ) । ‘आन’ कहा था न ? अन्य.. मेरे अतिरिक्त तो अन्य हैं, रागादि अन्य थे न ? ‘आन’-अन्य भाव मुझ में नहीं है, परन्तु यहाँ तो यह सब जो राग-द्वेष सब जितने विकारीभाव आदि हैं, उस समस्त अशुद्धता से रहित हूँ। आहा.. !

यह वीर्य की पर्याय, यह ज्ञान की पर्याय, दर्शन की पर्याय इतना वहाँ जोर से विकल्प के सहित का काम करे। ऐसा मैं पर से रहित हूँ, समस्त अशुद्धता से रहित हूँ-ऐसा मैं पर से रहित हूँ, समस्त अशुद्धता से रहित हूँ-ऐसा उसके विकल्पज्ञान में वीर्य में इतना जोर आया, तब विकल्प छूटकर अनुभव में जाए तब विकल्प नहीं रहते। समझ में आया ?

यहाँ ‘दौलतरामजी’ ने मुनिपने के अधिकार में यह लिया है। मूल तो मुनिपने का अधिकार है, क्योंकि यहाँ चारित्र की प्रधानता से वर्णन किया है, परन्तु जो पहला स्वरूपाचरण है, वह तो वहाँ से शुरू हो गया है। ‘परद्रव्य से भिन्न आत्मद्रव्य (की) रुचि भला है’ आता है न ? यह गाथा हुई, यह गाथा है इसमें; उसमें लिया है।

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः

पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।

यह (‘समयसार’ का) छठवाँ कलश है। समझ में आया ? उसमें से लिया है। बारहवीं गथा (का कलश है) । ‘द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्’ उसमें यह बात आ गयी है। समस्त द्रव्यों से, राग से पृथक् मेरी चीज है-ऐसा जो अनुभव, परद्रव्य से भिन्न होना, यह निर्विकल्प प्रतीति और अनुभव है। दर्शनप्रधानता में यह कथन है। यहाँ इन्होंने चारित्रप्रधान कथन में यह रखा है, परन्तु स्वरूपाचरणचारित्र तो चौथे गुणस्थान से शुरू हो गया है। उसकी विशेषता का वर्णन यहाँ मुनिपने में डाला है। समझ में आया ? कोई कहे कि चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र नहीं

होता (तो) ऐसा नहीं है। यह तो भाई ने लिखा है, कल कहा न ? 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका'। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ किसे कहना ? कि स्वरूपाचरण का घात करे, उसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कहते हैं। समझ में आया ? भाई ! ऐसा आता है। जैन सिद्धान्त प्रवेशिका (में आता है), परन्तु यह सब दूसरों के व्याख्यान-टीका (है, ऐसा कहते हैं)। अरे.. ! सुन न

मुमुक्षु :- 'धवल' में है।

उत्तर :- सब में है, बहुत जगह है। अपने चौथे गुणस्थान में स्वसंवेदन नहीं आया था ? 'परमात्म प्रकाश' (में आया था)। स्वसंवेदन चौथे से शुरू होकर बारहवें छद्मस्थ को बहुत होता है; तेरहवें में केवलज्ञान। समझ में आया ? भगवान आत्मा.. ! अभी इसे इसके ज्ञान की यह क्या चीज है-इसका पता नहीं पड़ता और इसे अनुभव और सम्यग्दर्शन हो और धर्म हो.. कहाँ से.. धूलमें से धर्म होगा ? समझ में आया ?

कहते हैं, हम तो सुगुण का भण्डार और अशुद्धता से रहित (है)। अस्ति-नास्ति कर दी है-अनेकान्त किया है। इसमें तो यह बात है। यह है न अधिकार में ? यह गाथा। 'उदयति न नयश्री'-उसमें है न ? 'अनुभव की दशा में सूर्य का दृष्टान्त'-ऐसा करके 'बनारसीदासजी' ने यह 'उदयति न नयश्री' श्लोक है, उसमें डाला है।

जैसे रवि-मंडल के उदै महि-मंडलमें,

आतप अटल तम पटल विलातु है।

तैसें परमातमाकों अनुभौ रहत जौलौं,

तौलौं कहूं दुविधा न कहूं पच्छपातु है।

नयकौ न लेस परवानकौ न परवेस,

निच्छेपके वंसकौ विधुंस होत जातु है।

जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहां बाधक है,

बाकी राग दोषकी दसाकी कौन बातु है ॥१०॥

नय, निक्षेप, प्रमाण भी जहाँ पहले निश्चित किया था, वह भी जहाँ बाधक है तो फिर राग की मन्दता के दूसरे परिणाम इसे साधक हों-यह बात है नहीं। उस तेरहवीं गाथा की शुरूआत में यह बात ली है। 'भूदत्येणाभिदगा' यह कोई वहाँ मुनि की बात नहीं है। ऐ.. ! यह तेरहवीं गाथा की बात है, भाई ! परन्तु भूतार्थनय से आत्मा को जाने, उसे वहाँ सम्यग्दर्शन कहा, बस ! उसकी यहाँ बात है। यह समझ में आया ?

मुमुक्षु :- मुनि को हो, वह सब लागू पड़ता है।

उत्तर :- सब लागू पड़ता है। वह तो फिर आचरण के लिये.. जितना आचरण मुनि को हो, उसका एक अंश श्रावक को होता है। कहो, इसमें समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा अपना स्वरूप, स्वरूप, उसका आचरण; स्वरूप का आचरण। यह पुण्य-पाप का आचरण उसका स्वरूपाचरण है ? तब सम्यग्दर्शन कैसा ? उस विकार का आचरण तो अनादि का है। कहो, भाई ! पर-स्वरूप के आचरण और स्व-स्वरूप के आचरण में तो पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। पुण्य-पाप के भाव-विभाव पर स्वरूपाचरण है, परभाव आचरण है। वह परभाव आचरण धर्म है ? आत्मा तो अनन्तकाल से पर स्वरूप के आचरण से छूटकर उसमें से स्वरूप में आये, तब उसके स्वरूप में एकाग्र हुए बिना आचरण कहाँ से प्रगट होगा ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान कहाँ से प्रगट होंगे ? समझ में आया ?

यहाँ तो यही कहा है-(मैं) भगवान आत्मा सुगुण का करण्ड-भण्डार हूँ। अनन्त आनन्द आदि गुण का भण्डार और 'कलनितै च्युत...' मैं स्वयं ही अशुद्ध से च्युत हूँ, मेरे स्वरूप से ही मैं अशुद्ध से च्युत हूँ। क्या (कहा) ? मेरे स्वरूप से ही अशुद्ध से च्युत हूँ, हटा हुआ, च्युत अर्थात् रहित। मैं पूर्णानन्द ज्ञान से सहित, मैं स्वयं अशुद्धता से च्युत हूँ अर्थात् रहित ही हूँ। आहा..हा... ! यह बात सुनने मिलना मुश्किल पड़ती है। यह सुनि नहीं, विचारे नहीं, मनन नहीं करे और अन्दर में प्रयोग नहीं करे और उसे धर्म हो जाए.. ऐसा का ऐसा अनन्तकाल से भटकता है। कहते हैं कि मैं तो अनन्तगुणों का करण्ड भण्डार हूँ, मुझ में अशुद्धता (से) रहित हूँ; मैं स्वयं ही अशुद्धता से रहित हूँ-यह आत्मा कहलाता है। समझ में आया ?

भावार्थ :- 'इसे स्वरूपाचरण चारित्र के समय साध को आत्म-अनुभव में...' यह

साधक इसमें लिखा है, हाँ ! पहले एकबार कहा था। इसमें कहा था, पहले लिखा है, इसमें लिखा है। 'आत्म-अनुभव में प्रमाण, नय और निक्षेप का विकल्प तो नहीं उठता...' विकल्प अर्थात् राग की वृत्ति का उत्थान अनुभव में नहीं होता, 'परन्तु गुण-गुणी का भेद भी नहीं होता..' लो ! मैं भगवान आत्मा अनन्त गुणवाला और यह अन्त गुण-ऐसा भेद का विकल्प भी वहाँ नहीं है। गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी शुभराग है, शुभ-उपयोग है; वह शुद्ध-उपयोग नहीं है। आहा..हा... ! 'ऐसा ध्यान होता है।' ऐसी एकाग्रता शुद्ध समकित में-अनुभव में, मैं गुणी और यह गुण-ऐसा भेद का शुभराग भी नहीं होता, शुद्धोपयोग होता है। (भेद का विकल्प) तो शुभराग है, शुभउपयोग है। अन्तर के ध्यान में उसे शुभराग-गुण-गुणी का भेद नहीं और अकेला शुद्धोपयोग होता है।

'प्रथम ऐसा ध्यान होता है...' देखो ! 'कि मैं अनन्त दर्शन, अन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यरूप हूँ; मुझमें कोई रागादिकभाव नहीं है।' 'आन' में आ गया न ? 'आन' में। 'मैं ही साध्य, मैं ही साधक हूँ...' देखो ! मैं रागादिरहित, अशुद्धता से रहित-ऐसा शुद्धभाव ही साध्य और साधक, वह मैं ही हूँ। निश्चय साध्य-साधक कहा था। समझ में आया ? साध्य निर्मल पूर्ण और साधक राग-यह यहाँ नहीं है। पूर्ण निर्मलानन्द आत्मा की दशा, वह साध्य है और मैं ही निर्मलानन्द और उसका साधनेवाला मैं अपूर्ण निर्मलदशा, वह मैं साधक हूँ; परन्तु साधक और साध्य में मेरी दशा ही दोनों में निर्मल है। साधक में राग की मन्दता साधक और पूर्ण साध्य-उसमें मैं हूँ नहीं। कहो, समझ में आया ?

'तथा कर्म और कर्म के फल से पृथक् हूँ।' आठ कर्मों से तो पृथक् परन्तु आठों के उदय के फल से पृथक्। ओ..हो... ! १४८ प्रकृतियाँ ली है न ? १४८ प्रकृतियाँ तो नहीं, परन्तु उनकी तरफ का वर्तमान पर्याय का जुड़ान होकर मुझमें हीनदशा (होती है), वह (भी) नहीं। समझ में आया ? ईश्वर की गद्दी पर बैठने जाए तो वहाँ अन-ईश्वरता कैसी ? समझ में आया ? 'मैं कर्म और कर्म के फल से पृथक् हूँ। ज्ञान-दर्शन चेतनास्वरूप निर्मल ऐश्वर्यवान...' मैं ज्ञान-जाननेवाला, दर्शनस्वरूप, ऐश्वर्य, बलवान (हूँ)। 'तथा अखण्ड सहज शुद्ध गुणों का भण्डार-' लो ! मैं तो अखण्ड गुण (का भण्डार हूँ)। गुण में खण्ड कैसा ? एकरूप गुण अखण्ड गुण है।

द्रव्य, अखण्ड एक सम्पूर्ण होने से उसका ज्ञानादि स्वभाव सम्पूर्ण है। 'श्रीमद्' ने लिया है न ? 'श्रीमद्' का वाक्य है। जीवद्रव्य एक अखण्ड सम्पूर्ण होने से उसकी ज्ञान-आनन्द आदि सामर्थ्य सम्पूर्ण है। जो सम्पूर्ण वीतराग होता है, वह सम्पूर्ण सर्वज्ञ होता है-यह वाक्य है। अपने स्वाध्याय मन्दिर में कोने में है।

जीव एक अखण्ड, ऐसे (ही) गुण एक अखण्ड-ऐसा लेना। वहाँ जीव को पूरा द्रव्य लिया है। यहाँ भी गुण एक अखण्ड (लिया है)। गुण अखण्ड है। गुण में खण्ड कैसा ? ज्ञान अखण्ड, दर्शन अखण्ड, आनन्द अखण्ड-सब होकर द्रव्य अखण्ड है। समझ में आया ? आहा..हा..! ज्ञान-दर्शन-निर्मल (तथा) अखण्ड, वह भी सहज। मेरा स्वभाव ही ऐसा अखण्ड है। ऐसे शुद्ध गुण का मैं भण्डार हूँ। समझ में आया ?

भण्डार..भण्डार.. पहले कहा था न ? निधि। सातवें में कहा था। सातवें श्लोक में कहा था न ? यह आया-'सुनिये स्वरूपाचरण अब; जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब।' यह सातवें श्लोक की अन्तिम दो (लाईने) थी। यही का यही सातवां श्लोक है न ? 'सुनिये स्वरूपाचरण अब; जिस होत प्रगटै आपनी निधि मिटै पर की प्रवृत्ति सब।' देखो ! इसमें पैसा-बैसा की निधि नहीं। भाई ! आहा..हा... ! उन्हें पैसे की कहाँ पड़ी है ? कहो, समझ में आया ? भगवान आत्मा...कहते हैं कि स्वरूपाचरण को सुनो कि जिससे आत्मा की निधि प्रगट होती है। 'मिटै पर की प्रवृत्ति सब।' यह विकल्प आदि की प्रवृत्ति मिटकर स्वरूप के आचरण की प्रवृत्ति होती है। उसे भगवान, मोक्ष का मार्ग और उसे अनुभव कहते हैं।

'आशय यह है कि समस्त प्रकार के विकल्पों से रहित..' संक्षिप्त किया, 'निर्विकल्प आत्म-स्थिरता को...' निर्विकल्प आत्मस्वरूप की स्थिरता को 'स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं।' यह चारित्र चौथे (गुणस्थान) से आंशिक प्रगट होता है। पाँचवें में विशेष, छठवें में विशेष, सातवें में विशेष होकर केवलज्ञान में पूर्ण (प्रगट होता है)। यह स्वरूपाचरणचारित्र ही मोक्ष का मार्ग है।(विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



स्वरूपाचरणचारित्र और अरिहन्त दशा

यों चिन्त्य निजमें थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यो;
 सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्रकैं नाहीं कह्यो।
 तब ही शुक्ल ध्यानाग्नि करि, चउघाति विधि कानन दह्यो;
 सब लख्यो केवलज्ञान करि, भविलोकको शिवमग कह्यो ॥११॥

अन्वयार्थ :- (स्वरूपाचरणचारित्र में) (यों) इसप्रकार (चिन्त्य) चिंतवन करके (निज में) आत्मस्वरूप में (थिर भये) लीन होने पर (लिन) उन मुनियों को (जो) जो (अकथ) कहा न जा सके ऐसा-वचन से पार-(आनंद) आनन्द (लह्यो) होता है (सो) वह आनन्द (इन्द्र) इन्द्र को (नाग) नागेन्द्र को, (नरेन्द्र) चक्रवर्ती को (वा अहमिन्द्र को) या अहमिन्द्र को (नाहीं कह्यो) कहने में नहीं आया होता । (तब ही) वह स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होने के पश्चात् जब (शुक्ल ध्यानाग्नि करि) शुक्लध्यानरूपी अग्नि द्वारा (चउघाति विधि कानन) चार घातिकर्मरूपी वन (दह्यो) जल जाता है और (केवलज्ञानकरि) केवलज्ञान से (सब) तीनकाल और तीनलोक में होनेवाले समस्त पदार्थों के सर्वगुण तथा पर्याय को (लख्यो) प्रत्यक्ष जान लेते हैं, तब (भविलोकको) भव्य जीवों को (शिवमग) मोक्षमार्ग (कह्यो) बतलाते हैं ।

भावार्थ :- इस स्वरूपाचरणचारित्र के समय मुनिराज जब उपरोक्तानुसार चिंतवन विचार करके आत्मा में लीन हो जाते हैं तब उन्हें जो आनन्द होता है वैसा आनन्द इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र (चक्रवर्ती) या अहमिन्द्र (कल्पातीत देव) को भी नहीं होता । यह स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होने के पश्चात् स्वद्रव्य में उग्र एकाग्रता से-शुक्लध्यानरूप अग्नि द्वारा-चार *घातिकर्मों का नाश होता है और अरिहन्त दशा तथा केवलज्ञान की प्राप्ति होती है जिसमें तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थ स्पष्ट ज्ञात होते हैं और तब भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं ।

* घातिकर्म दो प्रकार के हैं : द्रव्यघातिकर्म और भावघातिकर्म। उनमें शुक्लध्यान द्वारा शुद्धदशा प्रगट होने पर भावघातिकर्मरूप अशुद्ध पर्याये उत्पन्न नहीं होती वह भावघातिकर्म का नाश है, तथा उसी समय द्रव्य-घातिकर्म का स्वयं अभाव होता है वह द्रव्य-घातिकर्म का नाश है।

वीर संवत २४९२, फाल्गुन कृष्ण ६, शनिवार
दि. १२-३-१९६६, ढाल-६, श्लोक-११, १२, १३. प्रवचन नं. ५३

‘छहढाला’ छठवीं ढाल। इसकी ११वीं गाथा है। हिन्दी में फर्क होगा, नहीं ? है ? हिन्दी में ११, गुजराती में ११, देखो ! सात गाथा तक कल हुई थी और ८, ९ १० पहले हो गयी थी। दूसरा पद था न। एक दिन थे या नहीं। रविवार, अमावस्या। अमावस्या को रविवार (था), क्योंकि सोमवार को एकम से न ? वे रविवार को आये थे और फीर भाग गये थे न ? पता पड़े न, दूसरे दिन नहीं रहे इसलिए। सोमवार को एकम से और मंगलवा को दूज थी।

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- नहीं, नहीं; वे तो नहीं रुकते थे। इस अपेक्षा से याद रह गया हो ऐसा। कि दूज पर आये थे और नहीं रुकना था, ऐसा। उस दिन यह चला था। पहले ८-९-१० अब यहाँ ११वीं साथ सन्धि करके बात करते हैं। देखो !

स्वरूपाचरण-चारित्र और अरिहन्त अवस्था

यों चिन्त्य निजमें थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यो;

सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्रकैं नाहीं कह्यो।

तब ही शुक्ल ध्यानागि करि, चउघाति विधि कानन दह्यो;

सब लख्यो केवलज्ञान करि, भविलोकको शिवमग कह्यो ॥११॥

पहला ‘यों...’ शब्द पड़ा है। स्वरूपाचरणचारित्र में इस प्रकार विचार करके.. इन तीन गाथाओं में क्या कहा, अन्तिम क्या है ? देखो ! कि धर्मीजीव प्रथम आत्मा का निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करके, आत्मा अखण्ड आनन्द शुद्ध चैतन्य वस्तु है, उसकी अन्तर्मुख दृष्टि करके आत्मा के ज्ञान के वेदन द्वारा स्वरूपाचरण का अंश प्रगट करके जो सम्यग्दर्शन हुआ,

उस भूमिका को चौथा गुणस्थान कहते हैं। समझ में आया ?

आत्मा शुद्ध चैतन्य प्रभु ! उसकी पवित्रता की एकता में, इस पवित्र स्वरूप निज भगवान आत्मा की एकता में जो पवित्रता का अंश प्रगट होता है, वह निर्विकल्पदशा है। अन्दर में भेद बिना (अर्थात्) आत्मा ज्ञानगुण और आत्मा धरनेवाला-ऐसा भेद भी, प्रथम सम्यग्दर्शन के काल में स्व-आश्रय में यह भेद नहीं होता। यहाँ ऊपर की बात की है। समझ में आया ?

यहाँ ऊपर की बात की है कि जिस ध्यान के बाद श्रावक को देशचारित्र आंशिक प्रगट होता है, छठवें गुणस्थान में मुनि को सकलचारित्र प्रगट होता है। पश्चात् स्वरूप में लीनता होने पर सातवें गुणस्थान की बात विशेष यहाँ ली है। जो ध्यान में इतना लवलीन होता है.. विचार कहते हैं, यहाँ 'यो चिन्त्य' शब्द प्रयोग किया है। पहले विचारणा में वह होता है। क्या ? कि-

मैं साध्य साधक में अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितै;

चित् पिंड चंड अखंड सुगुणकरंड च्युत पुनि कलनितै॥१०॥

दसवीं गाथा के अन्तिम दो पद है। मैं एक साध्य और साधक, यह अबाधक विचार भी जहाँ छूट जाते हैं। मैं साध्य हूँ-साधनेवाला अथवा साधनेयोग्य वस्तु, मैं साधक हूँ कि यह विधानरूप बाधक है, यह समस्त अबाधक अथवा बाधारहित हूँ। 'कर्म अरु तसु फलनितै..' कर्म और उसके फल से छूट जाता है-ऐसा विचार अन्दर करता है। 'चित् पिंड चंड..' ज्ञानपिण्ड चण्ड-उग्र। अकेला ज्ञान का गोला भगवान चैतन्यसूर्य, उसमें 'अखण्ड सुगुणकरंड...' अखण्ड सुगुणकरण्ड (अर्थात्) अकेले गुण की करण्ड आत्मा है। भगवान जाने क्या कहते हैं ? समझ में आया ?

धर्मी जीव को पहले सम्यग्दर्शन में ऐसा प्रगट होता है। यहाँ सातवें गुणस्थान की बात है। यहाँ सातवें में चितपिण्ड-मैं ज्ञान का पिण्ड चैतन्य समुद्र हूँ, अन्दर स्वभाव (हूँ)। चण्ड उग्र स्वभाव से भरा हुआ अखण्ड-जिसमें खण्ड नहीं; सुगुण करण्ड-अकेले अनन्त गुण। जैसे सिद्ध भगवान को अनन्त गुण हैं, वे पर्याय में प्रगट हो गये हैं। भगवान सिद्ध परमात्मा को (प्रगट हुए हैं।) इतने ही गुण मुझ में सुगुण करण्ड-इन सब अनन्त गुणों का मैं करण्ड-भण्डार हूँ।

‘च्युत पुनि कलनितैँ...’ मैं अशुद्धभाव से रहित हूँ। अशुद्ध जो विकल्प-मलिन शुभाशुभराग (होता है), उससे (रहित) हूँ, मलिन से रहित हूँ। स्वरूप के पूर्ण गुण से अखण्ड एकरूप हूँ-ऐसा जहाँ ध्यान जमें, तब उसे विकल्प छूट जाते हैं, सप्तम गुणस्थान का स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है। समझ में आया ? जो मुनि को होता है। मुनि को अन्दर में छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान (होता है)। सच्चे मुनि ! उन्हें मुनि कहते हैं न ? बाहर से कोई वेष पहिनकर छोड़ा या नगन हो, वह कोई मुनि (नहीं है)।

अन्तर में आनन्दस्वरूप का स्वाद लेकर आत्मा में अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है, उसका स्वाद-अनुभव लेकर और आगे उग्ररूप से आनन्द के स्वाद में स्थिर होता है, तब उसे सप्तम गुणस्थान प्रगट होता है, फिर विकल्प उठे तो छठवाँ गुणस्थान आता है-ऐसा छठवाँ-सातवाँ हजारों बार आता है। समझ में आया ? उसका-छठवें का-सातवें का काल बहुत थोड़ा है, परन्तु वेदन में सप्तम आने पर बहुत अन्तर थोड़े काल आनन्द का वेदन हो जाता है। छठवें गुणस्थान में विकल्प आने पर फिर प्रमत्तभाव हो जाता है। उसे अब छोड़कर यहाँ अकेली अप्रमत्तदशा सातिशय, आगे बढ़ने की दशा का वर्णन करते हैं। कहो, समझ में आया ?

‘यों चिन्त्य...’ देखो ! ऐसा चिन्तवन करते अन्तर में देह, वाणी, मन या पुण्य-पाप की अशुद्धता मुझमें है ही नहीं; मैं तो पूर्ण आनन्दकन्द सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूप हूँ। जैसे सिद्ध हैं, वैसी ही मेरी चीज-अन्दर वस्तु है-ऐसा ध्यान में, ध्यान से पहले पहली विचारणा करते हुए ‘यों चिन्त्य...’ यह शब्द पड़ा है। ऐसी पहले विचारणा करता है। फिर ‘निज में थिर भये...’ विचारकर आत्मस्वरूप में लीन होने से... समझ में आया ? उसने मोक्षमार्ग प्रथम सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो आत्मा के वेदन से प्रगट किया होता है, तत्पश्चात् मुनि होता है, द्रव्यलिंगी-बाहर में नग्न मुनि होता है। अन्तर में भाव-आनन्दकन्द की उग्रता तीन कषाय के अभाव की वेदन में होती है। वह सकलविरतिवाला भी ऐसे विचार करके, जब (उन्हें भी) छोड़कर ध्यान में स्थिर होता है, तब उसकी बात है। वह ‘निज में थिर भये...’

मुमुक्षु :- चिन्तवन...

उत्तर :- वह चिन्तवन एकाग्र होने पर छूट जाता है। ऐसे लीन होने पर वह चिन्तवन-

विकल्प (छूट जाता है)। अन्तर में आनन्द आने पर विकल्प छूट जाए... चिट्ठी पढ़ी है या नहीं ? 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में आता है। 'सविकल्प द्वारा निर्विकल्प ध्यान।' भाई ! सम्यक्त्वी को भी (ध्यान होता है)। चौथे गुणस्थान में गृहस्थाश्रम में हो.. आहा..हा... ! यहाँ कौन जाने क्या होगा धर्म ? समझ में आया ?

धर्म कोई बाहर की प्रवृत्ति, यह प्रवृत्ति और यह और वह कोई धर्म नहीं है, धर्म (तो) अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा वस्तु है न ? चिदानन्दघन। देहप्रमाण शीतल शिला, शान्त शिला आत्मा है, अरूपी। यह देह तो मिट्टी है, वाणी जड़ है, आठ कर्म है, वे मिट्टी-धूल है; अन्दर शुभ और अशुभभाव होते हैं, वे विकार है। इनके अतिरिक्त पूरा दल चैतन्य अरूपी विज्ञानघन, अनन्त शीतल, शीतल शान्त शिला, अविकारी वीतरागस्वभाव से भरा आत्मा अरूपी है, परन्तु उसका स्वरूप है। अरूपी है परन्तु उसका स्वरूप है। इस मिट्टी के रंग, गन्ध, रस उसमें नहीं है। वह अरूपी घन, घन अनन्त गुण का विज्ञानघन पिण्ड शीतल शान्त और अतीन्द्रिय आनन्द की पूर्ण मूर्ति देहप्रमाण भिन्न है। समझ में आया ?

उसका प्रथम भान होने में सम्यग्दर्शन होने के बाद जब मुनि होता है-सकलविरति अत्यन्त त्यागी, नग्नदशा, अन्तर में आनन्द की उग्रता (सहित), वह जब ध्यान में स्थिर होता है, तब की यह बात करते हैं। पहले बहुत बात (आ गयी है)। यह तो अन्तिम गाथा है न ? अन्तिम गाथा। जिस ध्यान में प्रमाण, नय, निक्षेप भी नहीं। यह नय है, यह ज्ञान है, यह ज्ञान को जाननेवाला नय है, पूरी वस्तु को जाननेवाला प्रमाण (ज्ञान) है, यह विचार भी जहाँ नहीं है-ऐसे ध्यान में वह जमे (तब) साथ में बड़े हजार बेण्ड-बाजे एकत्रित होकर बजते हों (तो भी) उसे पता नहीं पड़ता। समझ में आया ?

यह 'निज में थिर भये...' देखो ! अपने स्वरूप में स्थिर लीन होने पर 'तिन अकथ जो आनन्द लहो...' उन मुनियों को, कहा न जा सके-ऐसे वनच से पार आनन्द होता है। उस आनन्द का क्या कहें ? भाई ! इस राग-द्वेष का दुःख है। राग-द्वेष करता है, वह दुःख है। जो शुभाशुभभाव होते हैं, वह दुःख है। अन्दर उस दुःख से रहित दशा हुई तो दुःख रहित यह अतीन्द्रिय आनन्द हुआ। समझ में आया ? यह खरगोश के सींग जैसा नहीं है। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है-ऐसा कहते हैं। वस्तु है या नहीं ? वस्तु में एकाग्र होने पर वस्तु में भरा

हुआ अतीन्द्रिय आनन्द (प्रगट होता है।) आत्मा त्रिकाल नित्यानन्द आत्मा है। पता नहीं पड़ता आत्मा कैसा होगा ? ऐसा आत्मा होगा ?

नित्यानन्द आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकर ने कहा है। केवलज्ञानी के ज्ञान में तीन काल के जितने आत्मा जाने हैं, उन भगवान ने अन्तर में, आत्मा को आनन्द और अतीन्द्रियज्ञान-शान्ति का कन्द देखा है। समझ में आया ? परमेश्वर तीर्थकरदेव ! बाद में यह यहाँ कहेंगे... केवलज्ञानमें से मार्ग बतायेंगे-ऐसा कहेंगे। इस आत्मा का भान-अन्तर में स्थिर होने पर इतना आनन्द आता है कि अकथ्य-वाणी में उस आनन्द का कथन नहीं हो सकता है। समझ में आया ?

जगत की एक घी जैसी साधारण चीज, स्वाद ख्याल में होने पर भी दूसरे किसी पदार्थ के साथ तुलना करके बता सके-ऐसी वाणी में ताकत नहीं है। समझ में आया ? घी का स्वाद आने पर वह स्वाद कैसा है ? - यह ख्याल में होने पर भी, कैसा, किसके साथ तुलना करने-मिलान करके उसका माप-प्रमाण दिया जा सके-ऐसी कोई चीज नहीं है, ऐसी वाणी नहीं है, तो भगवान आत्मा की अन्तर दशा में अनुभव-दृष्टि में पड़ने पर जो आनन्द आता है, (वह) अकथ्य है। क्या होगा यह ? यह कषाय होती है, तब पूरे शरीर में मानो ताप.. ताप.. आकुलता होती हो। रोमांच (रोम खड़े) हो जाता है न ? ऐसी आकुलता, आकुलता होती है। मुझे कहीं ठीक नहीं है, हाँ ! ऐसी प्रतिकूलता होती है न ? मुझे कहीं ठीक नहीं है, मुझे कहीं शान्ति नहीं है-ऐसा नहीं कहते ? मुझे अन्दर दाह है, तेल की तरह जलता है। वह क्या जलन है ? वह राग-द्वेष की आकुलता है। उस आकुलतारहित अन्दर की दशा हो, उसे आनन्ददशा कहते हैं। समझ में आया ? वह आनन्द अकथ्य-कहा न जा सके-ऐसा वचन से पार 'आनन्द लह्यो', आनन्द लह्यो अर्थात् ऐसा होता है।

'वह आनन्द इन्द्र को, नागेन्द्र को, (नरेन्द्र) चक्रवर्ती को या अहमिन्द्र को कहने में नहीं आया...' अर्थात् उन्हें नहीं हो सकता। समझ में आया ? यह अतीन्द्रिय आनन्द का कथन नागेन्द्र, नरेन्द्र को भी हो सके-यह वस्तु का पता नहीं है अथवा उन्हें नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन का आंशिक (आनन्द) है, उसकी (यहाँ) बात नहीं है। यह तो उत्कृष्ट... बात है। चक्रवर्ती को छियानवें हजार स्त्रियों में भी वह आनन्द नहीं है, देव को करोड़ों अप्सराओं में भी वह आनन्द

नहीं है।

‘वह स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होने पर...’ अब आगे ले जाते हैं। ‘तब ही (शुक्ल ध्यानाग्नि करि) शुद्ध ध्यानरूपी अग्नि द्वारा...’ अन्तर में शुक्ल अर्थात् उज्ज्वल एकाग्रता, उज्ज्वल एकाग्रता (होती है)। उजली कहते हैं न ? तुम्हारे स्वच्छ कहते हैं ? क्या कहते हैं उजली को ? उज्ज्वल.. शुक्ल.. शुद्ध चैतन्यपिण्ड पूर्ण, उसमें निर्मल ध्यान की धारा, निर्मल ध्यानधारा एकाग्र होवे, उसे शुक्लध्यान कहते हैं। समझ में आया ? उस ‘शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा (चउ घाति विधि कानन) चार घातिकर्मो रूपी (कानन) जंगल...’ जंगल, बड़ा जंगल, उसे जल जाता है। घाति से द्रव्यघाति की बात की है परन्तु भाव घाति भी उसमें आ गया। अपने शुद्ध स्वरूप में बहुत लीन होने पर अशुद्धता के भाव का नाश हुआ, वह भावघाति का नाश हुआ-अशुद्धता का नाश हुआ, वह (भाव) कर्म का नाश हुआ; वह जड़घाति का नाश उसके स्वयं के कारण हुआ है।

उसे चार घाति(कर्म) जल जाते हैं ‘और केवलज्ञानी (तीन काल) तीन लोक में...’ लो ! भाषा तो पहले यह आयी। देखो ! चहुँ घाति जलते हैं। कथन की शैली क्या करना ? केवलज्ञान द्वारा तीन काल ‘तीन लोक में होनेवाले समस्त पदार्थों के...’ तीन काल-तीन लोक और अलोक-ऐसा ले लेना.. ‘समस्त पदार्थों के गुण...’ और उनकी अवस्था ‘प्रत्यक्ष जान लेते हैं...’ लो ! उसे अरिहन्त अवस्था कहते हैं।

पहले से शुरू करके.. पहले दुःख की दशा से शुरू किया था। पहले शुरू किया है न ? पहली ढाल में। ऐसे-ऐसे दुःख सहन किये, ऐसे दुःख सहन किये; अब आनन्द तक ले गये। उन सब दुःखोड़ का नाश करके, जिन्होंने केवलज्ञान में अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट किया है। कहो, समझ में आया ? ‘तब.. वे प्रत्यक्ष जान लेते हैं और तब (भविलोक को शिवमग कह्यो) भव्य जीवों को...’ पात्र जीव थे, उनके लिये कहते हैं कि ‘मोक्षमार्ग बतलाते हैं।’ यह तो वाणी सहज निकलती है, परन्तु पात्रजीव के लिये अरिहन्त भगवान केवलज्ञान होने के बाद वाणी द्वारा मोक्षमार्ग बतलाते हैं-ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ :- ‘इस स्वरूपाचरणचारित्र के समय...’ विपरीत आचरण, वह विभवाव

आचरण, विकार आचरण है। यह स्वरूपाचरण अर्थात् अविकारी आचरण। समझ में आया या नहीं ? विकारी शुभाशुभपरिणाम, वह विभाव आचरण है। यह स्वरूपाचरण है। चौथे गुणस्थान से स्वानुभूत्यावरण का अभाव होने पर.. चौथे गुणस्थान से स्वानुभूत्यावरण का क्षयोपशम होने पर, यहाँ स्वयं ही उघाड़दशा प्रगट होने पर अनुभूति में आनन्द का अंश स्वानुभूति प्रगट होती है। समझ में आया ? उस स्वानुभूति की उग्रता (होने पर) पूर्ण अशुद्धता मिटकर घाति (कर्मों) का अभाव हुआ। पूर्ण अनुभूति हो गयी। आत्मा की पूर्ण अनुभूति (हुई), उसका नाम केवलज्ञान कहलाता है।

ऐसे आचरण के 'समय मुनिराज उपरोक्तानुसार विचार करके...' उपरोक्तानुसार अर्थात् यह तीन गाथायें कही न ? ७-९ और १० 'यों चिन्त्य' शब्द है न ? 'जब आत्मा में लीन हो जाते हैं, तब उन्हें जो आनन्द होता है, वैसा आनन्द इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र (चक्रवर्ती) या अहमिन्द्र (कल्पातीत देव) को भी नहीं होता।' संसार के विषयों में सुखमय आनन्द नहीं होता। कितनों को तो ऐसा लगता है कि यह सब ऐसा आत्मा का ऐसा स्वरूप होगा ? ऐसा वर्णन वह क्या होगा यह ?

मुमुक्षु :- नमूना बताकर माल..

उत्तर :- ठीक ! यह तो अभी पहले कहा न-स्वानुभूत्या का आवरण मिटने पर अन्तर अनुभूति होवे, वह उसका नमूना है। यह तो पहले कहा। कौन करे ? तो कहते हैं, कौन नमूना बतावे ? भाई ! ऐसा कि नमूना बताकर इतनी बड़ी बात (करना)। कहा, पहले तो बात की थी। भगवान आत्मा जब.. जब.. जब.. जब.. स्व में आवे, तब उसे अनुभूति होती है। लाख बात की बात, चाहे जितना पढ़ा हो और चाहे इतना सीखा हो और चाहे इतने व्रतादि पालन किये हों और कषाय की मन्दता की हो और सब लाख बात की हो, स्वचैतन्य में एकाग्र होकर अनुभूति में आत्मा के आनन्द का वेदन और वीर्यान्तराय का उतना क्षयोपशम, स्वानुभूति के आवरण का क्षयोपशम... समझ में आया ? उतना अनुभव के वेदन में पहले उसका नमूना आता है। समझ में आया ? पहले नमूना बताये बिना यह सब ?-ऐसा कहते हैं वे। कौन बताये ? क्या होगा ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- हाँ, तो कहा न ! पहले से शुरूआत तो की थी, परन्तु उसको चखे बिना स्वाद का क्या पता पड़े ? स्वाद तो यह चखे तब इसे पता पड़े न कि ऐसा स्वाद वह लेता है। ऐसा स्वाद वह लेता है—यह बात किसे पता पड़े ? उस स्वाद को स्वयं जाने उसे पता होता है कि ऐसा स्वाद मुझे आया, वैसा स्वाद उसे आया। या दूसरे का स्वाद जानकर यहाँ स्वाद आ जाता है ? ऐसा कि लोचा स्वयं खाये और अन्य को (स्वाद आ जाए) ? आहा..हा... !

यह चैतन्य सत्ता भगवान अनन्त गुणों का पिण्ड है। समस्त विकल्पों की रुचि और पर का आश्रय छोड़कर, पहले ही भगवान के भण्डार के खजाने को पहिचाने। यह पहिचाने कौन ? दूसरा कोई पहिचान करा देगा ? लो !

मुमुक्षु :- जिसे भोग आ गया है, उसे तो सरल हो गया है, परन्तु हमारे जैसों को ?

उत्तर :- यही कहते हैं न ? इसे ऐसा करना—ऐसा कहते हैं। इसे ऐसा करना। इसे बहिर्मुख की वृत्ति छोड़कर अन्तर्मुख में जाना। यह इसका प्रयोग और योग और अजमाइश है। इसीलिये तो कहा—‘लाख बात की बात निश्चय उर आणो, छोड़ी चगत द्वंद-फंद आतम ध्याओ।’ स्वयं वहाँ पहले कह गये हैं। ‘परद्रव्यनतैः भिन्न आत्मरुचि भला है।’ आया था न अन्दर ? उसमें यह कहा था न वहाँ। परन्तु रुचि कौन छोड़े ? दूसरा—कहे वह छोड़े ?

शुद्धस्वरूप पूर्ण आनन्द और अनन्त गुण का पिण्ड है। यह पहले से इसके ख्याल में प्रतीतिरूप से यथार्थ श्रद्धा होनी चाहिए। यह श्रद्धा होने के बाद विकल्प तोड़कर अन्दर स्वरूप में स्थिर होना। (‘समयसार’ गाथा) १४४ में आता है न ? ज्ञानस्वरूप आत्मा है, आनन्दस्वरूप आत्मा है—उसका पहले विकल्प द्वारा निर्णय करना, तत्पश्चात् वह विकल्प तोड़कर मतिज्ञान के भाव को अन्दर में स्थापित करना और श्रुत को अन्दर... भाई ! आता है न ? समझ में आया ? (‘समयसार गाथा’) १४४... आहा..हा... ! कर्ता को यह क्रिया करने की है या किसे करनी है ? यह ऊपर आ गया है। उसमें आ गया था या नहीं ? उसमें आया था—नौवें मे आया था।

चिद्भाव कर्म, चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ।

तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा;

नौवें मे आ गया है। वह उस दिन आ गया था। तुम थे, तब नहीं आया था ? है ?

जहँ ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्प, वच भेद न जहाँ;
चिद्भाव कर्म, चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ ।

नौवाँ श्लोक, नौवाँ। तुम्हें निकालने में देर लगी। 'चिद्भाव कर्म...' वहाँ ज्ञान की निर्मलतारूपी परिणाम ही अपना कार्य है। भाई ! पुण्य के विकल्प का कार्य और आत्मा कर्ता-यह अन्तर अनुभव में नहीं होता। 'चिद्भाव कर्म...' कर्म अर्थात् कार्य; कार्य अर्थात् कर्तृत्व। उसका कर्तृत्व-चिद्भाव का कार्य वही कर्तृत्व है। 'चिदेश (करता)...' भगवान ज्ञान का ईश, भगवान उसका कर्ता है, दूसरा कोई कर्ता है नहीं। कौन कर्ता ? उसका विकल्प कर्ता नहीं तो दूसरा कर्ता कहाँ से लाना ? समझ में आया ? भगवान आत्मा स्वयं कर्ता चिद्स्वरूप ज्ञान; चिदेश-चिद्-ज्ञान का ईश्वर भगवान और ज्ञान की निर्मल, निर्मल-निर्विकारी श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति, आनन्द आदि पर्याय, वह चिद्भाव, यह उसका कार्य है। आनन्द का अंश, शान्ति का अंश प्रगट हुआ, वह उसका कर्म-कार्य है।

'चेतना किरिया तहाँ।' इस चेतना की वहाँ क्रिया है, राग की क्रिया नहीं। अकेला चैतन्य घुलकर स्थिरता की क्रिया करता है। ऐसी तीन परन्तु 'तीनों अभिन्न...' तीन, परन्तु वहाँ भेद नहीं। 'अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा...' कहो, समझ में आया ? एक सैकण्ड का कितना भाग कहा था ? हजारवाँ कहा था न ? फिर बहुत विचार हुए। वापस विपल और पल का आता है या नहीं ? भाई ! क्या (है यह) ? पल बड़ी या विपल। पल बड़ी, विपल छोटी। साठ विपल की एक पल। साठ विपल का एक सैकण्ड, साठ सैकण्ड का एक मिनिट अर्थात् एक सैकण्ड का छत्तीसवाँ भाग, छत्तीसवाँ भाग विपल हुई। छत्तीसवाँ, छत्तीसवाँ भाग हुआ न ? छत्तीस सौ, जिसका हजारवाँ भाग कहते थे न तुम ? सवेरे नहीं ? सैकण्ड का हजारवाँ भाग.. परन्तु यहाँ तक की बात तो पाठशाला में सीखे थे तब थी। एक सैकण्ड का साठवाँ भाग तो पल और उसका साठवाँ भाग विपल अर्थात् छत्तीससोवाँ भाग। पाठशाला में चलता था, इसलिए कोई (कहता था), हजारवाँ भाग पकड़ सका है। यन्त्र होगा, ऐसे पकड़े क्या अन्दर ? यहाँ तो वह भी पहले पाठशाला में ऐसा चलता था। वह ऐसे पकड़ सके अर्थात् कि यह आत्मा का भाग है-ऐसा पकड़ने कहाँ जाए ? परन्तु उसके ख्याल में लेले कदाचित् कि इतना भाग यह होता है, होना चाहिए। वह विपल एक सैकण्ड का छत्तीससौवाँ माप। ओ..हो..हो... ! समझ में

आया ? उसमें भी अनुभूति का काल थोड़ा (है)। छठवें गुणस्थान का काल बहुत थोड़ा (और) सातवें का तो उससे (छठवें से भी) आधा है।

कहते हैं कि जहाँ अकेला अखिन्न-खेद नहीं और अभिन्न एकरूप वर्तता है। समझ में आया ? ऐसी दशा में आनन्द इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र, अहमिन्द्र देव को भी नहीं होता, भले थोड़ा काल (आवे) परन्तु उसमें वस्तु का भास है न ? समझ में आया ?

‘यह स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होने के पश्चात् स्वद्रव्य में उग्र एकाग्रता से शुक्लध्यानरूप अग्नि द्वारा..’ आगे बढ़ता है न ? आगे बढ़ा है। ‘चार घातिकर्मों का नाश होता है...’ नीचे स्पष्टीकरण किया है। ‘घातिकर्म दो प्रकार के हैं-द्रव्यघातिकर्म और भावघातिकर्म। उनमें शुक्लध्यान द्वारा शुद्ध अवस्था प्रगट होने पर भावघातिकर्मरूप अशुद्धपर्याय उत्पन्न नहीं होती...’ उत्पन्न नहीं होती और नाश हुआ-ऐसा कहा जाता है। क्या कहा ? क्या कहा ? शुक्लध्यान की शुद्धता की पर्याय प्रगट होने पर अशुद्धता-भावघातिकर्म की जो अशुद्धता है, वह उत्पन्न नहीं होती, उसे भावघातिकर्म का नाश किया-ऐसा कहा जाता है। भाई ! उलझन है, भाई ! पूछे तब क्या होगा (-ऐसी उलझन है।) यहतो कहा हुआ पूछा था।

यहाँ भावघाति का नाश शब्द कहा न ? तो नाश की व्याख्या यह (है)। नाश अर्थात् क्या ? यह अशुद्धता है, उसका नाश करूँ ऐसा है ? और यह घातिकर्म-यह जड़ है, इन्हें नाश करूँ-ऐसा है ? इसे स्वरूप में शुद्धता में लीन.. लीन.. लीन.. उग्र में एकाकार शुक्ल उज्ज्वल एकाकार होकर अशुद्धता उत्पन्न नहीं हुई-भावघाति की अशुद्धता उत्पन्न नहीं हुई, उसे भावघाति का नाश किया-ऐसा कहा जाता है।

आत्मा, राग के नाश का भी कर्ता नहीं है। नहीं आया ? अशुद्धता के भाव का नाशकर्ता, यह आत्मा का नाम नहीं। यहाँ तो घातिकर्म का जड़ का नाश किया (-ऐसा कहा), लो ! यहाँ तो कहा घातिकर्म का नाश किया। उसमें (‘समयसार’ में) कहा कि आत्मा, राग का नाश करे-परमार्थ से ऐसा आत्मा मैं है ही नहीं। राग के नाश का कर्तापना आत्मा में नहीं है। नाश का कर्तापना नहीं है। आहा.. ! अब यह अर्थ समझे नहीं और (कहे) यहाँ कहा देखो ! घाति का नाश किया या नहीं ? अमुक का किया या नहीं ? यह भगवान का वचन है या नहीं ?(-ऐसा

कहे)। परन्तु भगवान का वचन किस अपेक्षा का ? तो वह (भी) भगवान का वचन है या नहीं ? 'कुन्दकुन्दाचार्य' कहते हैं कि अशुद्धता के नाश का आत्मा कर्ता (है), यह नाममात्र आत्मा में है; परमार्थ से अशुद्धता के नाश का आत्मा कर्ता (है), यह नाममात्र आत्मा में है; परमार्थ से अशुद्धता के नाश का कर्तापना आत्मा में नहीं है। (जब) अशुद्धता के नाश का कर्तापना आत्मा में नहीं तो फिर घातिकर्म के नाश का कर्तापना आत्मा में कहाँ से होगा ? समझ में आया या नहीं ?

शब्द तो ऐसा लिया है, देखो ! 'चउ घातिविधि कानन दह्यो...' संक्षिप्त लिखे तो क्या लिखे ? समझ में आया ? भावघातिकर्म अशुद्धपर्याय उत्पन्न नहीं होती, उसे भावघातिकर्म का शुक्लध्यान द्वारा नाश किया-ऐसा कहा जाता है। 'और उसी समय द्रव्यघातिकर्म का स्वयं अभाव होता है...' यह तो स्वयमेव होता है, तथापि यहाँ (अशुद्धता का) नाश होने पर उस भाव अशुद्धता का निमित्तपना उसका था, इसलिए इसने नाश किया-ऐसा व्यवहार से कहा (जाता है)। असद्भूत व्यवहारनय (से कहा जाता है)। 'वह द्रव्यघाति कर्म का नाश है।' कहो ! 'वह द्रव्यघाति कर्म का नाश है।' कहो ! 'और अरहन्त अवस्था की प्राप्ति होती है तथा केवलज्ञान की प्राप्ति होती है...' यह अरहन्त अवस्था की प्राप्ति है। 'जिसमें तीन लोक और तीन कालवर्ती समस्त पदार्थ स्पष्ट ज्ञात होते हैं और तब भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं।' लो ! भव्य जीवों को मोक्ष का मार्ग कहते हैं। यह ११वीं (गाथा पूरी) हुई। भव्य जीवों को भगवान, मोक्ष का मार्ग कहते हैं, वहाँ लाये। सर्वज्ञ परमेश्वर, मोक्ष का मार्ग कहते हैं। वाणी द्वारा कहते हैं-यह भी निमित्त का कथन है।

सिद्धदशा का (सिद्ध स्वरूप) का वर्णन

पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिनमांहि अष्टम भू वसैं;
 वसु कर्म विनसैं सुगुण वसु, सम्यक्त्व आदिक सव लसैं।
 संसारखारअपार पारावार तरि तीरहिं गये,
 अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये ॥१२॥

अन्वयार्थ :- (पुनि) केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् (शेष) शेष चार (अघाति विधि) अघातिया कर्मों का (घाति) नाश करके (छिनमांहि) कुछ ही समय में (अष्टम भू) आठवीं पृथ्वी-ईषत प्राग्भार-मोक्ष क्षेत्र में (बसैं) निवास करते हैं; उनको (वसु कर्म) आठ कर्मों का (दिनसैं) नाश हो जाने से (सम्यक्त्व आदिक) सम्यक्त्वादि (सब) समस्त (वसु सुगुण) आठ मुख्य गुण (लसैं) शोभायमान होते हैं। (ऐसे सिद्ध होनेवाले मुक्तात्मा) (संसार खार अपार पारावार) संसाररूपी खारे तथा अगाध समुद्र का (तरि) पार करके (तीरहिं) किनारे पर (गये) पहुँच जाते हैं और (अविकार) विकाररहित, (अकल) शरीररहित, (अरूप) रूपरहित, (शुचि) शुद्ध-निर्दोष (चिद्रूप) दर्शन-ज्ञान-चेतना-स्वरूप तथा (अविनाशी) नित्य-स्थायी (भये) होते हैं।

भावार्थ :-अरिहन्तदशा अथवा केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उस जीव को भी जिन गुणों की पर्यायों में अशुद्धता होती है, उनका क्रशन: अभाव होकर यह जीव पूर्ण शुद्धदशा को प्रगट करता है और उस समय असिद्धत्व नामक अपने उदयभाव का नाश होता है तथा चार अघातिकर्मों का भी स्वयं सर्वथा अभाव हो जाता है। सिद्धदशा में सम्यक्त्वादि आठ गुण (गुणों की निर्मल पर्यायें) पगट होते हैं। मुख्य आठ गुण व्यवहार से कहे हैं; निश्चय से तो अनन्त गुण (सर्व गुणों की पर्यायें) शुद्ध होते हैं और स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन के कारण एक समयमात्र में लोकाग्र में पहुँचकर वहाँ स्थिर रह जाते हैं। ऐसे जीव, संसाररूपी दुःखदायी तथा अगाध समुद्र से पार हो गये हैं और वही जीव निर्विकारी, अशरीरी, अमूर्तिक, शुद्ध चैतन्यरूप तथा अविनाशी होकर सिद्धदशा को प्राप्त हुए हैं ॥१२॥

अब, 'सिद्ध अवस्था (सिद्ध परमात्मा का) वर्णन' अब अरहन्त से सिद्ध हुए।

पुनि घाति शेष अघाति विधि, छिनमांहि अष्टम भू वसैं;
 वसु कर्म विनसैं सुगुण वसु, सम्यक्त्व आदिक सब लसैं।
 संसारखार अपार पारावार तरि तीरहिं गये,
 अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये ॥१२॥

अन्वयार्थ :- ‘(पुनि) केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात्...’ ऐसा केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ‘पुनि’ है न ? ‘शेष चार अघाति या कर्मों का नाश करके...’ लो ! यह भी अघातिया का नाश किया। इन भगवान ने अघातिया का नाश किया-उसकी तरह समझ लेना। असिद्धभाव का नाश होने पर, आत्मा (की) सिद्धपर्याय की उत्पत्ति होने पर असिद्धपर्याय का (नाश होता है।) असिद्ध है न उदयभाव ? (उसका) नाश हुआ, तब चार अघाति भी नाश हुए-ऐसा कहा जाता है, भाई ! क्या हो ? लो ! इसमें से (लोग) निकालते हैं.. ऐ.. इसमें लिखा, इसमें लिखा... परन्तु यह लिखा, उसे पहले निर्णय करते हैं या नहीं ? समझ में आया ?

वस्तु में स्वभाव की एकाग्रता होने पर अशुद्धता उत्पन्न नहीं होती, उसे नाश किया-ऐसा व्यवहार से कहा जाता है और कर्म तो स्वयं के कारण वह नाश होने के योग्य ही था, वह उसके कारण व्यय हो गया। उसे इस भगवान आत्मा ने नाश किया-ऐसे कथन व्यवहार से कहे जाते हैं। देखो ! इसमें लिखा है, देखो ! तुमने ‘छहढाला’, ‘दौलतरामजी’ ऐसा कहते हैं।

कहते हैं, ‘अघातिया कर्मों का नाश करके (छिनमांही)...’ थोड़े समय में, थोड़े समय में अर्थात् एक समय में, सिद्ध होते हैं न ? ‘(अष्टप्रभु) आठवीं पृथ्वी-ईषत् प्राग्भार-मोक्ष क्षेत्र में निवास करते हैं...’ लो ! यहाँ तो निवास करते हैं-ऐसा लिखा है। सिद्ध वहाँ है, निवास करते हैं। आगे धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए आगे नहीं जाते (-ऐसा नहीं)। उनका निवास ही वहाँ है-ऐसा कहते हैं। इसमें आया है या नहीं ? यह उनका निवास ही वहाँ है। निश्चय से अपने आत्मा के स्वरूप में निवास है। समझ में आया ? व्यवहार से आठवीं पृथ्वी-मोक्षक्षेत्र में निवास (करते हैं), यह व्यवहार है। तब अन्य कहते हैं-नहीं, धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए आगे नहीं जाते। अर्थात् (इसका अर्थ) सादिअनन्तकाल पराधीन हैं। यहाँ तो कहते हैं, वहाँ बसते हैं-(यह) व्यवहार है; अपने असंख्यप्रदेश के अतीन्द्रिय आनन्द में बसना, वह वास्तविकता है; परक्षेत्र में बसते हैं-ऐस कहना, वह उपचारित कथन है।

वहाँ उन्हें ‘(वसु) आठ कर्मों का नाश हो जाने से सम्यक्त्वादि.. समस्त (वसु सुगुण) आठ मुख्य गुण शोभायमान होते हैं...’ इसका थोड़ा स्पष्टीकरण भावार्थ में करेंगे। यह आठ (तो) व्यवहार से है न ? निश्चयसे... आठ गुण शोभायमान होते हैं। ‘(लसैं)’ यह पर्याय की दशा आठ गुण प्रगटे, उससे आत्मा शोभायमान होता है। उन गुणों की पर्यायें नहीं थी, तब

अशोभायमान था। यह निर्मलदशा भगवान को प्रगट हुई, (उससे) शोभायमान (हुए), यह उनकी शोभा है। यह गुण की निर्मलदशा प्रगट हुई, वह उनकी शोभा है।

‘(ऐसे सिद्ध होने वाला मुक्तात्मा) (संसारखार अपार पारवार) संसाररूपी खारे तथा अपार समुद्र को..’ यह समुद्र खारा होता है न ? लवण। उसकी उपमा दी है। यह समुद्र है न ? संसाररूप खारा समुद्र, असिद्धभाव आदि खारा समुद्र है। कहो, पुण्य और पाप, काम और क्रोध विकार खारा समुद्र है, कहते हैं। समझ में आया ?

आत्मा आनन्द का सागर है; यह विकार है, वह खारा समुद्र है। उदयभाव, संसार है न ? ऐसे ‘संसाररूपी खारे तथा अपारसमुद्र को तिरकर...’ अपार है न ? अगाध। आहा..हा...! उदयभाव अगाध... दुःखदशा.. ऐसे समुद्र को तिरकर ‘(तीरहिं) दूसरे किनारे पर प्राप्त होते हैं..’ सिद्ध की पर्याय प्रगट करते हैं। यह पर्याय पूरी हो गयी। सिद्ध की पर्याय (प्रगट हो गयी)। उदयभाव का पूर्ण नाश-उदय-असिद्धभाव का पूर्ण नाश; दूसरी दशा की उत्पत्ति-दूसरे किनारे आ पहुँचे। समझ में आया ? संसार किनारा लांधकर अपनी निर्मल सिद्धपर्याय के किनारे पहुँच गये।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- अपार, यह पारावार समुद्र। अपार, अगाध। क्या कहा ? पारावार अर्थात् समुद्र, अगाध इसलिए अगाध कहा न ? अपार अर्थात् अगाध। उपमा दी अगाध पारावार। संसार अगाध कैसा ? खार। है न ? इसमें शब्दार्थ लिखा है, देखो ! है या नहीं ? ‘(संसार खार) संसाररूपी खारे...’ शब्द है न ? इसमें शब्द पड़ा है। अपार अर्थात् आत्मा। पारावार अर्थात् समुद्र। इसमें प्रत्येक शब्द का अर्थ है। है या नहीं ? भाई !

मुमुक्षु :- पारावार..

उत्तर :- पारावार ही समुद्र का नाम है। क्यों पण्डिजी ? लो ! फिर हमारे पण्डित को पूछा न। यहाँ पारावार लिखा है न ! मैं यहाँ कहाँ... इनने लिखा है ऊपर से तो (कहा कि) पारावार अर्थात् समुद्र है। यह तो अपने आता है या नहीं ? उसमें-‘प्रवचनसार’ में आता है या नहीं ? लो ! ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ में। ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ नहीं ? पारावार शब्द है उसमें ? देखो !

(‘प्रवचनसार’ में ‘अमृतचन्द्राचार्यदेव’ की टीका की शुरुआत) ‘कश्चिदासन्नसंसार-पारावारपार’ पारावार पार। पारावार पार-ऐसा शब्द है, देखो !

‘जिनके संसार समुद्र का किनारा निकट है।’ देखो ! ऐसे ‘कुन्दकुन्दाचार्य’.. देखो ! समझ में आया ? ‘कश्चिदासन्नसंसारपारावारपार’-ऐसा शब्द है। संसार अर्थात् देखो ! संसार पारावार पार-संसाररूपी समुद्र के पार पहुँच गये। इसमें शब्द है, देखो ! कहीं घर का नहीं है; सब शब्द शास्त्रमें से डाले हैं, देखो ! समझ में आया ? उत्थानिका में ही यह आता है, अहो.. ! जिनका मुक्तभाव समीप आ गया है, जिनके संसार का अन्त आ गया है-ऐसे आसन्न-संसारपारावर-महासंसाररूप समुद्र, जिनका पार हो गया है। आहा..हा... ! समझ में आया ? ‘जिन्हें सातिशय विवेकज्योति प्रगट हो गई है...’ लो ! इसमें ऐसा कहा। यहाँ पूरा हो गया। यहाँ तो पूरा बताना है न !

अगाध समुद्र को तिर गये हैं। ‘दूसरे किनारे को प्राप्त हुए हैं...’ एक किनारा समाप्त हो गया और अब दूसरे किनारे आ गये। आहा..हा... ! समुद्र के इस किनारे से दूसरे किनारे जाते हैं न ? (फिर कहते हैं), बापा ! अब पार पहुँचे, लो ! इसी तरह आत्मा की पूर्णदशा प्रगट हो गयी, (यह) दूसरा किनारा आ गया।

‘और विकाररहित...’ उसका स्वरूप कहते हैं। यह विकाररहित दशा, ‘शरीररहित...’ दशा। कल-शरीर नहीं। पहले विकाररहित कहा, फिर शरीररहित कहा। ‘रूपरहित...’ नामकर्मसम्बन्धी समीप का दिखता था न ? अन्दर रूप कहाँ है ? ‘(शुचि) शुद्ध-निर्दोष, (चिद्रूप) दर्शन-ज्ञान-चेतनास्वरूप..’ जिनका दर्शन और ज्ञानचेतनास्वरूप ‘तथा (अविनाशी भये) नित्य-स्थायी होते हैं।’ लो। समझ में आया ?

श्रद्धा का जोर है। आता है उसमें, नहीं ? ‘मोक्षमार्ग प्रकाशक’ में-रागरूप परिणमित नहीं होते और संसार को नहीं चाहते। सिद्धभगवान, रागरूप परिणमित नहीं होते और संसार को नहीं चाहते, यह श्रद्धा का बल है। सम्यग्दर्शन में जो पूरा पूर्णानन्द प्रतीति में लिया है न, वह बल यहाँ वर्ण किया है। भाई ! आता है।

सिद्ध, रागादिरूप परिणमित नहीं होते और संसार को नहीं चाहते-जो श्रद्धा का जोर पहले

प्रगट हुआ न ? पूर्ण... पूर्ण अखण्ड... अखण्ड... अखण्ड... एकरूप। ऐसी उस दशा में संसार का अभाव करके मुक्ति को प्राप्त हुए, उस सम्यग्दर्शन के जोर से रागरूप नहीं होते और संसार को नहीं चाहते। कर्म के कारण नहीं, कर्म नहीं है, इसलिये अब रागरूप नहीं होते, कर्म नहीं है, इसलिए संसार को नहीं चाहते-ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, देखो ! कितने ही ऐसा कहते हैं। अरे.. ! विवाद.. विवाद.. और विवाद..

‘नित्य-स्थायी होते हैं।’ ऐसे के ऐसे, अनन्त गुण जो प्रगट हुए, वे ऐसे के ऐसे रहते हैं-ऐसा कहना है। उनमें बढ़ोतरी तो होती नहीं, परन्तु न्यूनता (भी) नहीं होती; ऐसे के ऐसे, ऐसे के ऐसे अनन्त काल बीतने पर भी वहाँ अब जीर्ण हो जाए (-ऐसा नहीं है)। अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. चौबीसी, अनन्त पूर्व में परावर्तन, सिद्धदशा ऊपर अनन्त पुद्गल परावर्तन। भोगते भोगते दशा कुछ हीन होती है या नहीं ? ‘(अविनाशी) नित्य-स्थायी होते हैं।’ लो !

भावार्थ :- ‘अरिहन्तदशा अथवा केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उस जीव को भी जिन गुणों की पर्यायों में अशुद्धता होती है, उनका क्रमशः...’ अरिहन्त में अभी अशुद्धता होती है न ? अरिहन्त के सभी गुण निर्मल नहीं हुए हैं, इसलिए ‘अशुद्धता होती है, उसका क्रमशः अभाव करके...’ अशुद्धता क्रमशः मिटती है। उदयभाव को क्षायिक कहा है न ? वह अशुद्धता मिटती जाती है। केवली को भी उतना क्षायिकभाव निर्मल होता जाता है। ‘वह जीव पूर्ण शुद्धदशा को प्राप्त करता है...’ वह अरिहन्त जीव पूर्ण सिद्धदशा को प्राप्त प्रगट करता है।

‘और उस समय अपने असिद्धत्व नामक औदयिकभाव का नाश होता है...’ देखो ! यह असिद्धत्व। असिद्ध है न ? असिद्ध उदयभाव। ‘और चार अघातिकर्मों का भी स्वयं...’ उस असिद्धभाव का नाश होने पर, वह अपनी पर्याय में हुआ, वह सिद्धदशा प्रगट होने पर... प्रगट होने पर असिद्धपना उत्पन्न नहीं हुआ, उसके उदय का नाश हुआ-ऐसा कहते हैं। ‘और चार अघाति कर्मों का भी स्वयं सर्वथा अभाव होता है। उस सिद्धदशा में सम्यक्त्व आदि आठ गुण...’ आठ गुण वर्णन किये न ? ज्ञानावरणीय का नाश होने से केवलज्ञान, दर्शनावरणीय का नाश होने से (केवल) दर्शन (-ऐसे) आठ हैं न ? आठ गुण। ‘(गुणों की निर्मल पर्यायें) प्रगट होते हैं।’ ये गुण अर्थात् पर्यायें। ‘आठ गुण व्यवहार से कहे हैं; निश्चय से तो अनन्त गुण (सर्व गुणों की पर्यायें) शुद्ध होते हैं...’ वास्तव में अनन्त गुणों की पूर्ण पर्यायें प्रगट हो गयी है।

‘और स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन के कारण एक समयमात्र में...’ देखो ! उसमें था न थोड़े समय में.. थोड़े समय में था न ? ‘छिनमांही...’ यह थोड़ा समय। यहाँ यह एक समयमात्र में। ‘लोकाग्र में पहुँचकर वहाँ स्थिर रह जाते हैं।’ – नाश करने में थोड़ा समय लगता है—ऐसा ले लिया। समझ में आया ? एक समयमात्र में ‘लोकाग्र में पहुँचकर वहीं स्थिर रह जाते हैं।’ निवास करते हैं। ‘ऐसे जीव, संसाररूपी दुःखदायी तथा अगाध समुद्र से पार हो गये हैं...’ आहा..हा... ! क्रमशः ले-लेकर देखो ! ठेठ दुःख से लेकर ठेठ आनन्द तक ले गये हैं। ‘और वही जीव निर्विकारी अशरीरी, अमूर्तिक, शुद्ध, चैतन्यरूप तथा अविनाशी होकर सिद्धिदशा को प्राप्त हुए हैं।’ लो ! यह सिद्धिदशा हुई। अब इसके स्वरूप का जरा-सा अलौकिक वर्णन करते हैं।

मोक्षदशा का वर्णन

निजमामाँहि लोक-अलोक गुण, परजाय प्रतीबिम्बित थये;
रहिहैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परिणये।
धनि धन्य हैं जे जीव, नरभव पाय यह कारज किया;
तिनही अनादि भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लिया ॥१३॥

अन्वयार्थ :- (निजमाँहि) उन सिद्धभगवान के आत्मा में (लोक-अलोक) लोक तथा अलोक के (गुण, परजाय) गुण और पर्यायें (प्रतिबिम्बित थये) झलकने लगते हैं; वे (यथा) जिसप्रकार (शिव) मोक्षरूप से (परिणये) परिणमित हुए हैं (तथा) उसी प्रकार (अनन्तानन्त काल) अनन्त-अनन्त काल तक (रहि है) रहेंगे।

(जे) जिन (जीव) जीवों ने (नरभव पाय) पुरुष पर्याय प्राप्त करके (यह) यह मुनिपद आदि की प्राप्तिरूप (कारज) कार्य (किया) किया है, वे जीव (धनि धन्य हैं) महान धन्यवाद

के पात्र हैं और (तिनही) उन्हीं जीवोने (अनादि) अनादिकाल से चले आ रहे (पंच प्रकार) पाँच प्रकार के परिवर्तनरूप (भ्रमण) संसारपरिभ्रमण को (तजि) छोड़कर (वर) उत्तम (सुख) सुख (लिया) प्राप्त किया है।

भावार्थ :- सिद्ध भगवान के आत्मा में केवलज्ञान द्वारा लोक और अलोक (समस्त पदार्थ) अपने-अपने गुण और तीनोंकाल की पर्यायों सहित एकसाथ, स्वच्छ दर्पण के दृष्टान्तस्वरूप से-सर्व प्रकार से स्पष्ट ज्ञात होते हैं; (किन्तु ज्ञान में दर्पण की भाँति छाया और आकृति नहीं पड़ती) वे पूर्ण पवित्रतारूप मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं तथा वह दशा वहाँ विद्यमान अन्य सिद्ध-मुक्त जीवों की भाँति *अनन्तानन्त काल तक रहेगी; अर्थात् अपरिमित काल व्यतीत हो जाये, तथापि उनकी अखण्ड ज्ञायकता-शान्ति आदि में किंचित् बाधा नहीं आती। यह मनुष्यपर्याय प्राप्त करके जिन जीवों ने यह शुद्ध चैतन्य की प्राप्तिरूप कार्य किया है वे जीव महान धन्यवाद (प्रशंसा) के पात्र हैं और उन्होंने अनादिकाल से चले आ रहे पंच परावर्तनरूप संसार के परिभ्रमण का त्याग करके उत्तम सुख-मोक्षसुख प्राप्त किया है ॥१३॥

मोक्षदशा का वर्णन

निजमाँहि लोक-अलोक गुण, परजाय प्रतीबिम्बित थये;

रहि हैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परिणये।

धनि धन्य हैं जे जीव, नरभव पाय यह कारज किया;

तिनहीं अनादि भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लिया ॥१३॥

अन्वयार्थ :- '(निजमाँहि) उन सिद्धभगवान के आत्मा में...' उनकी ज्ञान की पर्याय में

*जिसप्रकार बीज को यदि जला दिया जाये तो वह उगता नहीं है, उसीप्रकार जिन्होंने संसार के कारणों का सर्वथा नाश कर दिया, वे पुनः अवतार-जन्म धारण नहीं करते। अथवा जिसप्रकार मक्खन से घी हो जाने के पश्चात् पुनः मक्खन नहीं बनता, उसीप्रकार आत्मा की सम्पूर्ण पवित्रतारूप अशरीरी मोक्षदशा (परमात्मपद) प्रगट करने के पश्चात् उसमें कभी अशुद्धता नहीं आती-संसार में पुनः आगमन नहीं होता।

‘लोक और अलोक के गुण और पर्याय...’ देखो ! ‘झलकने लगते हैं, अर्थात् ज्ञान होने लगते है...’ अन्दर में-पर्याय में ज्ञान होने लगते है। लोक और अलोक-यह सब केवलज्ञान की पर्याय में झलकते हैं अर्थात् ज्ञात होते हैं, ऐसा। ‘वे जिस प्रकार से मोक्षरूप परिणमित हुए हैं...’ वे सिद्धभगवान अपनी मुक्त आनन्ददशारूप हुए हैं, ‘वैसे अनन्त काल तक रहेंगे।’ ऐसे के ऐसे अनन्तकाल रहेंगे, अनन्तकाल ऐसी की ऐसी दशा... आहा..हा... !... .. आत्मा की पूरी पर्याय आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. भूतकाल तो संसार का काल अनन्तवें भाग, संसार की दुःख की पर्याय का काल अनन्तवें भाग; आनन्द की पर्याय का काल अनन्तगुना। समझ में आया ? आहा.. ! ऐसे जाएं तो असंख्य समय मोक्षमार्ग साधा है। भगवान आत्मा ने असंख्य समय में साधन किया है और उसके फल में अनन्तकाल रहें, वैसी मोक्षदशा प्रगट की है। आहा..हा... !

मुमुक्षु :- ऊँचा ?

उत्तर :- ऊँचा, हाँ; ऊँचे के लिये तो यह बात की जाती है। पहले तो बात की कि संसार की दशा का काल, उसकी अपेक्षा मोक्ष का (काल), अनन्तगुना है-एक बात। दूसरा-इस स्वरूप को साधने काल से वह तो अनन्त.. अनन्त.. अनन्त गुना है। समझ में आया ? ऐसा महान लाभ का व्यापार है। यह कहा न ? धनि धन्य वह मनुष्य, नरभव प्राप्त करके यह कार्य किया। आहा..हा... ! भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्य का दर्शन, उसका ज्ञान और चारित्र... इसे साधने में-सिद्ध होने में इसे असंख्य समय ही लगते हैं; अनन्तकाल नहीं लगता। यह असंख्य समय में साधा है। केवलज्ञान, मोक्षदशा अनन्तकाल ऐसी की ऐसी रहेगी।

वह आया नहीं था ? क्या आया था ? ‘नियमसार’। ध्रुव में स्थिर होने पर ऐसा का ऐसा रहेगा। ‘नियमसार’ में नहीं ? मुँह आगे कुछ उसकी भावना करने... नीचे आया था, क्या था ? कारण के जैसा ही कार्य होता है। कारण के जैसा ही कार्य होता है; इसलिए स्वरूप में स्थिरता करने का अभ्यास ही-स्वरूप में स्थिरता करने का अभ्यास ही वास्तव में अनन्तकाल तक स्वरूप में स्थिर रह जाने का उपाय है। समझ में आया ? स्वरूप में स्थिरता करने का अभ्यास। भगवान आत्मा जो दृष्टि में अनन्तकाल तक स्वरूप में स्थिर रहे-स्थिर रह जाने का यह उपाय है। यह उसमें लिखा है। समझ में आया ?

(यहाँ कहते हैं)–‘अनन्तकाल तक रहेंगे। जिन जीवों ने पुरुष पर्याय प्राप्त करके,...’ पुरुष पर्याय प्राप्त करके होता है न ? ‘(नरभव पाय) यह मुनिपद इत्यादि की प्राप्तिरूप..’ पुरुष को ही यह मुनिपद होता है और पुरुष को ही केवलज्ञान और सिद्धदशा होती है। यह ‘कार्य किया, वह जीव (धन्य) महान धन्यवाद के पात्र हैं...’ धनि धन्य है न, दो बार ? अर्थात् दो बार धन, धन्य (कहा) ‘महान धन्यवाद के पात्र हैं...’ उन्हें कहाँ धन्यवाद चाहिए अब ? परन्तु अपने भाव को... ओ..हो... ! यह दशा ! पूर्ण आनन्ददशा, वह ऐसी की ऐसी अनन्तकाल रहेगी। वह धन्य अवतार, बापा ! धन्य सफल कार्य, आत्मा का एक सफल कार्य है। ‘और उन्हीं जीवों ने अनादिकाल से चले आ रहे...’ पंच परावर्तन-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का भटकना-‘पाँच प्रकार के परावर्तनरूप संसार परिभ्रमण को छोड़कर उत्तम सुख प्राप्त किया है।’ ऐसे जीव को धन्य कहा जाता है। उसे फिर से अवतार नहीं होता-इत्यादि कहेंगे..।

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



साधुके अट्टाईस मूल-गुण, भगवान द्वारा हुयी सत्य प्ररूपणानुसार यथोक्त न हो व उनका छेदन होता हो तो उसे साधु नहीं कहते, द्रव्यलिंगी भी नहीं कहते - ऐसी सत्य प्ररूपणासे किसीको भी दुःख हो, हम ऐसा नहीं चाहते। भाई ! बापू ! जब घासका तिनका भी हल्केसे चुभनेपर दुःख होता है, तो तुझे मिथ्या-श्रद्धासे तो दुःख कितने होंगे - उनका अनुमोदन कैसे हो सके ? सब आत्माओंको शान्ति...शान्ति...शान्ति हो । यहाँ हमें तो किसीसे विरोध नहीं है, कोई हमारा विरोध नहीं करता । सभी आत्माएँ द्रव्यस्वभावसे तो साधुमी हैं । विरोधका भाव तो स्वयंको ही हानिकारक है, दूसरोंको नहीं ; और अविरोधताका भाव भी अपनेको ही लाभप्रद है, अन्यको नहीं। आहा हा ! आत्मा तो सबसे उदास... उदास...उदास है ।

(परमागमसार - ५११)

वीर संवत २४९२, फाल्गुन कृष्ण ७, रविवार
दि. १३-३-१९६६, ढाल-६, श्लोक-१३, १४. प्रवचन नं. ५४

‘दौलतरामजी’ कृत ‘छहढाला’। अन्तिम गाथायें हैं। १३वीं का भावार्थ-‘सिद्ध का स्वरूप’। सिद्ध परमात्मा-संसार का नाश करके सिद्ध हुए-उनका क्या स्वरूप है ? -(वह कहते हैं)। अन्तिम गाथायें हैं न ? दुःख से शुरू किया था, पहली शुरूआत (वहाँ से की थी)। महा नरकादि के दुःख अनन्तबार सहन किये, फिर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दुर्लभ है, उनकी प्राप्ति बतलाई। उनके फलरूप से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पाये, उसे मोक्षरूपी दशा होती है, उस दशा का वर्णन है।

भावार्थ :- ‘सिद्ध भगवान के आत्मा में केवलज्ञान द्वारा लोक और अलोक (समस्त पदार्थ) अपने-अपने गुण और तीनों काल की पर्यायों सहित एक साथ, स्वच्छ दर्पण के दृष्टान्त...’ इतना दृष्टान्त अधिक मिला, अधिक डाला। स्वच्छ दर्पण होता है, अरीसा-दर्पण का दृष्टान्त बहुत शास्त्रों में आया है। ‘अमृतचन्द्राचार्य’ ने ‘पुरुषार्थसिद्ध उपाय’ आदि में दर्पण का दृष्टान्त दिया है। जैसे दर्पण में पूरी चीज झलकती है, वैसे ही भगवान आत्मा (के) अपने ज्ञान की पूर्ण पर्याय में लोकालोक झलकता है अर्थात् ज्ञात होता है, ज्ञात हो जाए-ऐसी इसकी एकसमय की पर्याय है।

‘स्वच्छ दर्पण के दृष्टान्तरूप से सर्व प्रकार से स्पष्ट ज्ञात होते हैं (किन्तु ज्ञान में दर्पण की भाँति छाया और आकृति नहीं पड़ती...)’ दर्पण का दृष्टान्त आचार्यों ने बहुत जगह केवलज्ञान में उपमा (के लिये) दिया है। दर्पण.. ऐसा करके। ‘वे पूर्ण पवित्रतारूप मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं...’ (सिद्ध भगवान) ‘तथा वह दशा वहाँ विद्यमान अन्य मुक्तजीवों की भाँति अनन्तानन्त काल तक रहेगी...’ परमात्मा अब वहाँ से फिरनेवाले नहीं है। दुःखी देखकर अवतार धारण करते हैं, भक्तों को... नहीं ? भक्तों की सहायता करने के लिये अवतार धारण करें-ऐसा है

नहीं। नीचे स्पष्टीकरण किया है, देखो !

‘जिस प्रकार बीज को यदि जला दिया जाए तो वह उगता ही नहीं; उसी प्रकार जिन्होंने संसार के कारणों का नाश कर दिया, वे पुनः अवतार-जन्म धारण नहीं करते।’ कह कहा था, श्रद्धा के गुण का इतना जोर है। परमात्मा पूर्णानन्द का जो पहला सम्यग्दर्शन प्रगट किया था, वह ऐसे का ऐसा सम्यग्दर्शन वहाँ रहता है, इसकारण वे संसार के रागादिरूप परिणमन नहीं करते और संसार को नहीं चाहते। तीन काल में सादि अनन्त दशा उनकी ऐसी रहेगी, पुनः अवतार-जनम धारण नहीं करेंगे।

‘अथवा...’ बहुत बार दृष्टान्त देते हैं.. ऐसे मक्खन। ‘मक्खनमें से घी होने के बाद फिर से घी का मक्खन नहीं होता...’ मक्खन का घी होता है। संसार की अशुद्धदशा, वह मक्खन, उसका नाश होकर अन्तर स्वरूप की श्रद्धा पूर्ण आदि प्रगट होती है; परन्तु घी हुआ, (वह) वापस मक्खन हो-ऐसा नहीं होता। इसी तरह पूर्ण आनन्द का स्वभाव प्रगट हो, सम्यग्दर्शन प्रगट हो तो फिर गिरता नहीं तो वह तो पूर्ण दशा हुई... समझ में आया ? उस घी का मक्खन नहीं होता। ‘उसी प्रकार आत्मा की सम्पूर्ण पवित्रतारूप अशरीरी मोक्षदशा (परमात्मपद) प्रगट करने के बाद उसमें कभी अशुद्धता नहीं आती; पुनः संसार में आना नहीं पड़ता।’

पुनश्च यहाँ कहते हैं-‘अपरिमित काल व्यतीत हो जाने पर भी उनकी अखण्ड ज्ञायकता-शान्ति आदि में किंचित् बाधा नहीं आती।’ शान्ति जीर्ण नहीं होती-ऐसा कहते हैं। क्या (कहा) ? आत्मा में जो अनन्त शान्ति.. शान्ति.. .शान्ति.. शान्ति.. वीतरागता प्रगट हुई, उसे चाहे जितना काल लगने पर भी वह पुरानी होकर जीर्ण नहीं होती। वह तो ऐसी की ऐसी-ताजा की ताजा शान्ति रहती है। कहो, समझ में आया ? नयी-नयी प्रगट होती है न ? ‘यह पुरुष पर्याय प्राप्त करके...’ नरभव (शब्द) लिया था न ? ‘जिन जीवों ने इस शुद्ध चैतन्य की प्राप्तिरूप कार्य किया है, वे जीव अत्यन्त धन्यवाद के (प्रशंसा के) पात्र हैं...’ अपनी प्रशंसा-सिद्धपद की प्राप्ति के लिये अनुमोदन करते हैं। धन्य अवतार ! भाई ! जिसने संसार का अन्त किया और मोक्षदशा प्राप्त की। ‘उन्होंने अनादि काल से चले आ रहे पंच परावर्तनरूप संसार के परिभ्रमण का त्याग करके उत्तम सुख-मोक्षसुख प्राप्त किया है।’ लो ! अब चौदहवीं।

रत्नत्रय का फल और आत्महित में प्रवृत्ति का उपदेश

मुख्योपचार दु भेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरें;

अरु धरेंगे ते शिव लहैं; तिन सुयश-जल जग-मल हरैं।

इमि जानि आलस हानि साहस ठानि, यह सिख आदरौ;

जबलों न रोग जरा गहैं, तबलौं झटिति निज हित करो ॥१४॥

अन्वयार्थ :- (बड़भागि) जो महा पुरुषार्थी जीव (यों) इसप्रकार (मुख्योपचार) निश्चय और व्यवहार (दुभेद) ऐसे दो प्रकार के (रत्नत्रय) रत्नत्रय को (धरें अरु धरेंगे) धारण करते हैं और करेंगे (ते) वे (शिव) मोक्ष (लहैं) प्राप्त करते हैं और (तीन) उन जीवों का (सुयश-जल) सुकीर्तिरूपी जल (जग-मल) संसाररूपी मैल का (हरैं) नाश करता है । - (इमि) ऐसा (जानि) जानकर (आलस) प्रमाद (स्वरूप में असावधानी) (हानि) छोड़कर (साहस) पुरुषार्थ (ठानि) करने (यह) यह (सिख) शिक्षा-उपदेश (आदरों) ग्रहण करो कि (जबलौं) जबतक (रोग जरा) रोग या वृद्धावस्था (न गहैं) न आये (तब लौं) तब तक (झटिति) शीघ्र (निज हित) आत्मा का हित (करौ) कर लेना चाहिए ।

भावार्थ :- जो सत्पुरुषार्थी जीव सर्वज्ञ-वीतराग कथित निश्चय और व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप जानकर, उपादेय तथा हेय तत्त्वों का स्वरूप समझकर अपने शुद्ध उपादान-आश्रित निश्चयरत्नत्रय को (-शुद्धात्माश्रित वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग को) धारण करते हैं तथा करेंगे वे जीव पूर्ण पवित्रतारूप मोक्षमार्ग को प्राप्त होते हैं और होंगे । (गुणस्थान के प्रमाण में शुभराग आता है, वह व्यवहार-रत्नत्रय का स्वरूप जानना तथा उसे निश्चय से उपादेय न मानना उसका नाम व्यवहाररत्नत्रय का धारण करना है)। जो जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और होंगे उनका सुकीर्तिरूपी जल कैसा है ?-कि जो सिद्ध परमात्मा का यथार्थ स्वरूप समझकर स्वोन्मुख होनेवाले भव्य जीव हैं, उनके संसार (-मलिनभाव) रूपी मल को हरने का निमित्त है । ऐसा जानकर प्रमाद को छोड़कर, साहस अर्थात् सच्चा पुरुषार्थ करके यह उपदेश अंगीकार करो । जबतक रोग या वृद्धावस्थाने शरीर को नहीं घेरा है, तबतक शीघ्र (वर्तमान में ही) आत्मा का हित कर लो ॥१४॥

मुख्योपचार दु भेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरें;
 अरु धरेगे ते शिव लहैं, तिन सुयश-जल जग-जल हरैं।
 इमि जानि आलस हानि साहस ठानि, यह सिख आदरौ;
 जबलों न रोग जरा गहैं, तबलौ झटिति निज हित करो ॥१४॥

देखो ! अन्तिम उपदेश है। एक तो पहले (कहा कि) ‘(बड़भागी) जो महापुरुषार्थी...’ मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ, वह महापुरुषार्थ है। संसार का पुरुषार्थ, वह उल्टा और विपरीत पुरुषार्थ है। भगवान आत्मा का स्वसन्मुख का पुरुषार्थ, महापुरुषार्थ है, अनन्तकाल में नहीं किया (-ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ है)। क्योंकि अपने स्वरूप की रचना का जो वीर्य-अपने शुद्धस्वभाव को रचे-ऐसा उसका वीर्य महापुरुषार्थ है। विकार को अनादिकाल से रचता है, उसे तो शास्त्रकार नपुंसकता कहते हैं। विकार को रचे और विकार के दुःख को भोगे, वह कोई आत्मा का वास्तविक पुरुषार्थ नहीं है।

यह कहते हैं कि महापुरुषार्थ-चैतन्य के सन्मुख होना। अनादिकाल से परसन्मुख है, उससे विमुख होकर स्वसन्मुख होना, (वह) महान पुरुषार्थ है। समझ में आया ? भाई ! कौन करे यह महापुरुषार्थ ? आहा.. ! भगवान ! तुझमें पुरुषार्थ तो छलाछल भरा है। वीर्यगुण तो तुझ में ऐसा छलाछल भरा है-पूर्ण है, उस पर नजर डालने से महा सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र प्रगट होते हैं, वे महापुरुषार्थ से होते हैं। ऐसे जीव ‘इस प्रकार निश्चय और व्यवहार ऐसे दो प्रकार के रत्नत्रय को (धरें) धारण करते हैं और करेगे...’ पुरुषार्थी जीव, देखो ! निश्चयरत्नत्रय भी पुरुषार्थी, व्यवहाररत्नत्रय भी, वही आत्मविकल्प व्यवहार पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ से आत्मा, निश्चय और व्यवहाररत्नत्रय मोक्षमार्ग को धारण करता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :- बड़भागी...

उत्तर :- वह पुरुषार्थ है। बड़भागी का अर्थ वह भाग्यवान अर्थात् पुरुषार्थवान ऐसा। भाग्य अर्थात् जड़ का यहाँ क्या काम है ? सिद्ध को महाभाग्यवान कहा है, भाग्यवान। सिद्ध को एक सौ आठ नाम में भाग्यवान कहा है। सिद्ध के १०८ नाम हैं न ? सुने हैं ? पढ़े हैं ? अभी

पहले-पहले आये हो न ? एक हजार आठ नाम ।

मुमुक्षु :- बनारसीदास ने..

उत्तर :- हाँ, 'बनारसीदास' ने कहे हैं, दूसरे बहुतों ने कहे हैं। 'आदिपुराण' में कहे हैं। 'जिनसेनस्वामी' ने कहे हैं। बड़भागी-महाभाग्य.. महाभाग्य.. यही महाभाग्यवान सिद्धपरमात्मा । वह पुरुषार्थ तो मोक्षमार्ग का परुषार्थ है । समझ में आया ?

'निश्चय और व्यवहार-ऐसे दो प्रकार के रत्नत्रय को धारण करते हैं...' देखो ! पहला शब्द 'मुख्य' है, दूसरा शब्द 'उपचार' है । समझ में आया ? शुरूआत में भी निश्चय और व्यवहार-ऐसा लिया है । निश्चय और फिर व्यवहार । उसका हेतु और कारण लिया । यहाँ भी मुख्य और उपचार दो कहें । निश्चय स्वरूप आत्मा का अनुभव, आत्मा की दृष्टि, आत्मा का ज्ञान और आत्मा की रमणता-यह निश्चयरत्नत्रय है । इसे धरेंगे (अर्थात्) धारण करेंगे-ऐसा कहते हैं । धारण करेंगे, अपने आप नहीं; पुरुषार्थ से धारण करेंगे । समझ में आया ? व्यवहाररत्नत्रय भी उस जाति का शुभराग है न ? निमित्तरूप आता है, उसे व्यवहार से, धारण करते हैं-ऐसा कहा जाता है । समझ में आया ?

'वे मोक्ष प्राप्त करते हैं...' मोक्ष के दो मार्ग हुए न ? एक उपचार और एक अन-उपचार, तो दोनों से मोक्ष प्राप्त करते हैं-ऐसा कहा जाता है । 'धारण करते हैं और करेंगे (भविष्य में), वे मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा प्राप्त करेंगे...' प्राप्त करते हैं और भविष्य में प्राप्त करेंगे । भगवान आत्मा.. उसके स्वभाव का अन्तर में माहात्म्य करे, अन्तर में घोलन करके, दृष्टि, ज्ञान और रमणता में रमेंगे, वे अल्पकाल में मोक्ष को प्राप्त हुए और प्राप्त करेंगे । कहो, समझ में आया ? 'मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा प्राप्त करेंगे; और उन जीवों का...' उन सिद्ध हुए आत्माओं का... आहा... ! '(सुयश-जल) सुकीर्तिरूपी जल (जग-मल) संसाररूपी मैल का नाश करता है और करेगा ।' इस सिद्ध भगवान को लक्ष्य में लेकर जो परमात्मा ऐसे हुए, उनकी सुकीर्ति जग-जल-जगे जगत में, ऐसे परमात्मा सिद्ध ओ..हो... ! उन्हें जो लक्ष्य में लेगा, उसे वे सिद्ध भगवान उसके मल का नाश करने में निमित्त कहे जाते हैं । समझ में आया ?

'प्रसिद्धसिद्ध' आता है या नहीं ? 'प्रसिद्ध सुसिद्ध विशुद्ध...' वे तो प्रसिद्ध हैं-ऐसा कहते

हैं। सिद्ध भगवान तो जगत में प्रसिद्ध हैं, भाई ! आता है या नहीं ? भक्ति में आता है। प्रसिद्ध है न, कहते हैं। सिद्ध तो प्रसिद्ध है न ! इस पूर्णानन्द को प्राप्त वे तो सिद्ध अनादि से प्रसिद्ध है। वे प्रसिद्ध, उनकी सुकीर्तिरूपी जल से, उनकी प्रसिद्धि से... समझ में आया ? संसाररूपी मैल का नाश करते हैं। उनकी प्रसिद्धि संसाररूपी मैल का नाश करती है। वह संसार गया। ऐसे सिद्ध भगवान प्रसिद्ध सिद्ध सुसिद्ध, उनकी कीर्ति अर्थात् उनके गुणगान जो इस प्रकार है अथवा उनकी पवित्रता है, वह उनकी सुकीर्ति है। उसे जो अन्तर में समझेगा, उसे निमित्त करके उसके जगरूपी संसार के मैल को वे हरनेवाले हैं। सिद्ध भगवान मैल को हरनेवाले हैं। कहो, समझ में आया ? 'लोगस्स' में आता है या नहीं ? 'समाहिवरमुत्तमं आरोग्गबोहिलाभ' सीखे थे तुम ? भाई ! 'लोगस्स' सीखे नहीं होते। कहो, समझ में आया ?

'ऐसा जानकर प्रमाद (-स्वरूप में असावधानी) (हानि)...' इस आलस्य की हानि करके, देखो ! आलस को छोड़कर, यहाँ पुरुषार्थ से बात है; कर्म को नहीं कहते कि भाई साहब ! कर्म छूट, इसे धर्म का लाभ करना है। आलस हानि, पाठ है न ? '—ऐसा जानकर आलस हानि, साहस ठानि, यह सिख आदरो।' अस्ति-नास्ति की है। ऐसा जानकर आलस (अर्थात्) इस संसार का जितना पुरुषार्थ, वह आलस है, प्रमाद है। जितना मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अज्ञान का पुरुषार्थ है, वह सब आलस है, उस आलस को छोड़कर—ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :- पड़ा रहे, वह आलसी नहीं ?

उत्तर :- पड़े रहे, वे सब आलसी ही हैं, आत्मा का पुरुषार्थ नहीं करते, वे सब आलसी के—प्रमाद के पण्डे हैं। आहा..हा... ! समझ में आया ? यह कहते हैं, देखो !

आलस छोड़कर, फिर हानि (इसलिए) छोड़कर कहा और 'साहस ठानि-हिम्मत-पुरुषार्थ करके...' हिम्मत-पुरुषार्थ करके, ओ..हो.. ! मैं तो अल्पकाल में आत्मा की प्राप्ति करनेवाला, मुक्ति (प्राप्त) करनेवाला हूँ। मैं तो मोक्ष का ही पात्र हूँ। 'ऐसे साहस-पुरुषार्थ करके यह शिक्षा-उपदेश ग्रहण करो...' आलस छोड़कर, पुरुषार्थ करके, जो यह शिक्षा कही है, उसे ग्रहण करो, समझो, कहते हैं। आहा..हा... ! देखो ! क्या कहते हैं ? 'जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निज हित करो।' शास्त्र में भी ऐसे वाक्य आते हैं। जब तक रोग और

बूढापा नहीं आये... और वृद्धापन आयेगा तब शोर मचायेगा, कहते हैं, भाई !

‘जब तक रोग या वृद्धापन नहीं आये ...’ शरीर में रोग आवे, फिर ऐं... ऐं.. (करके) चिल्लाता है-ऐसा कहते हैं न ? और ‘वृद्धावस्था नहीं आवे...’ वृद्धावस्था आये वहाँ ८५ और ९० और आहा..हा.. ! लार गिरे और यह हो.. बैठा नहीं जाए। सुनो ! भाई ! कहाँ हमें बैठने का ठिकाना नहीं। ऐसा जब तक जरा व रोग, जरा अर्थात् वृद्धावस्था न आवे ‘तब तक में (झटिति) शिघ्र (निज हित करे) इस आत्मा का हित (करौं) कर लेना चाहिए ।’ विपरीतभाव तो अनन्तकाल से करता है-यह बाद में कहेंगे। ‘झटिति’ शास्त्र में आता है, हाँ ! ‘कुन्दुकुन्दाचार्य’ भी कहते हैं, भाई ! हीन पुरुषार्थवाले को... वरना तो वृद्धावस्था हो या नारकी का अवतार हो, वहाँ भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त कर सकता है, परन्तु यहाँ तो साधारण पुरुषार्थ-कमजोर (पुरुषार्थ)वाले को इस प्रकार कहते हैं, भाई ! वृद्धावस्था व जरा न आवे तब तक सावधान कर ले, फिर नहीं किया जा सकेगा, फिर चिल्लाहट मचायेगा। अरे... ! अवसर गया, अरे.. ! अवसर में (काम) नहीं किया और अब घिर गये। भाई ! ऐसी चिल्लाहट मचायेगा; इसलिए झट कर ले-ऐसा (कहते हैं)।

शीघ्र आत्मा का हित करो। भाई साहब ! शीघ्र हित करो, परन्तु कर्म रोकते हैं, उसमें हमारे क्या करना ? शीघ्र हित करो, किस प्रकार करना ? दर्शनमोह रोकता है, चारित्रमोह रोकता है... परन्तु वह रोकता नहीं, सुन न ! उल्टे पुरुषार्थ से तू दब गया है और सुल्टे पुरुषार्थ से आत्मा से स्वाधीनदशा प्रगट कर सकता है। तेरे हाथ की बात है-ऐसा कहते हैं। देखो न इसमें। ये ‘दौलतरामजी’ ऐसा कहते हैं। कर्म का। (-ऐसा नहीं कहा कि) भाई ! तुझे कर्म हटेंगे, इसलिये अब पुरुषार्थ करना। समझ में आया ?

आत्मा का हित करना चाहिए। हित करना चाहिए.. भगवान आत्मा। ओ..हो.. ! उभार लेना चाहिए, चोरासी के अवतार में भटकने से उभार लेना चाहिए। समझ में आया ? इसमें तो ऐसा भी नहीं कहा कि यह संसार का पढ़ना चाहिए, यह नहीं कहा। यह करना, कहते हैं।

भावार्थ :- ‘जो सत्पुरुषार्थी जीव...’ (सच्चा पुरुषार्थी) ‘जीव, सर्वज्ञ-वीतराग कथित निश्चय और व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप जानकर, उपादेय और हेय तत्त्वों का स्वरूप

समझकर...’ यथार्थरूप से निश्चयरत्नत्रय, वह उपादेय है (और) व्यवहाररत्नत्रय-बीच में शुभभाव आता है, परन्तु वास्तव में तो वह हेय है। आता है, उसे व्यवहार से धारण करते हैं-ऐसा कहा जाता है। समझ में आया ? ‘अपने शुद्ध उपादान-आश्रित...’ यह तो यहाँ अपन ने स्पष्टीकरण किया है। ‘निश्चयरत्नत्रय (शुद्धात्म आश्रित वीतरागभावरूप मोक्षमार्ग) को धारण करता है...’ वास्तव में स्वरूप के आश्रय से निश्चयमोक्षमार्ग धारण करता है और जरा व्यवहारमार्ग रहे, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि का राग (आता है), उसे व्यवहार से धारण करता है-ऐसा कहा जाता है। वह व्यवहाररत्नत्रय निमित्तरूप है न ? समझ में आया ?

‘धारण करते हैं और करेंगे वे जीव पूर्ण पवित्रतारूप...’ पूर्ण पवित्रतारूप ‘मोक्षदशा को प्राप्त करते हैं तथा प्राप्त करेंगे। (गुणस्थान के प्रमाण में शुभराग आता है...)’ चौथे, पाँचवे, छठवें (में) शुभराग-देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का, श्रद्धा का, पठन का-ऐसा भाव आता है। ‘उसे व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप जानना और उसे उपादेय...’ वास्तव में उसे आदरणीय नहीं मानना... ‘नहीं मानना, उसे व्यवहाररत्नत्रय का धारण करना कहा जाता है...’ आता है, उसे आदरणीय नहीं मानना, परन्तु उसे है-ऐसा जानना, उसका नाम धारण करना कहा जाता है। ‘जो जीव, मोक्ष प्राप्त करते हैं और प्राप्त करेंगे, उनका सुकीर्तिरूपी जल कैसा है ?’ देखो ! उनकी कीर्ति। यह संसार की कीर्ति क्या धूलकहते हैं-ऐसा कहते हैं। इसने पाँच लाख कमाये और पच्चीस लाख कमाये और.. ओ..हो... ! नाम रखा बापू, इसके पिता का, अपना नाम रखा-बाप का नहीं। यहाँ तो कहते हैं-सिद्ध भगवान.. आहा..हा... ! जिनकी सुकीर्ति ऐसा जल-ऐसा प्रसिद्ध है कि-

‘सिद्ध परमात्माओं का यथार्थ स्वरूप समझकर स्वसन्मुख होनेवाले जो भव्य जीव हैं, उनके संसार (मलिनभाव)रूपमल को हरने का...’ परमात्मा की सुकीर्तिरूपी जल ‘निमित्त है।’ इन भगवान सिद्ध की सुकीर्ति व्यापी है। सिद्ध प्रसिद्ध है न ! नहीं देखता ? आया था, यह ‘धर्मदास क्षुल्लक’ में आता है। ‘धर्मदास क्षुल्लक’ गये थे न ? भट्टारक के पास (इन्हें कहा कि) नहीं देखता ? सिद्ध है न ? सिद्ध प्रसिद्ध है न ? नहीं देखता ? कान में कीड़े पड़े थे (अर्थात्) धुन लग गयी थी कि वह क्या कहते हैं यह ? ऐसे करते सिद्धस्वरूप में... अपने सिद्धस्वरूप में दृष्टि लग गयी। समझ में आया ? आता है न ? भाई ! ऐसी कीर्ति सुप्रसिद्ध

भगवान की, कहते हैं कि जगत के प्राणी के अज्ञानरूपी मल को हरने का कारण है, निमित्त, हों !

‘ऐसा जानकर, प्रमाद छोड़कर, साहस अर्थात् सच्चा पुरुषार्थ करके अर्थात् वापस न गिरे साहस हानि...’ है न ? पुरुषार्थ प्रगट कर, पुरुषार्थ। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द स्वयं बिराजमान है, उसमें नजर डालकर ऐसा स्थिर हो कि फिर से वापस फिरना नहीं पड़े-ऐसा कहते हैं। ‘(साहस हानि) अखण्डित पुरुषार्थ रखकर यह उपदेश अंगीकार करो।’ यह पुरुषार्थ रखकर यह उपदेश अंगीकार करो। ‘जब तक रोग या वृद्धावस्था ने शरीर को नहीं घेरा है...’ हीन पुरुषार्थी को जरा (कहते हैं), वरना वृद्धावस्था और रोग में भी केवलज्ञान प्राप्त करता है। समझ में आया ? आहा..हा... ! सातवें नरक की पीड़ा... नरक हद भूल जाए रोग और सब, सोलह रोग जिसे समय में। उपयोग को अन्दर से एकदम.. खींचता है। खींचकर अन्दर में ले जाता है और (आत्मा का) अनुभव कर लेता है, आत्मा के आनन्द का स्वाद ले लेता है-वह सातवें नरक का नारकी। समझ में आया ? इसलिए रोग और वृद्धावस्था में आत्मा का कार्य न हो सके-ऐसा नहीं है।

यहाँ तो मात्र पहले झट पुरुषार्थ कर ले। वृद्धावस्था और रोग आने से पहले, इतनी आवश्यकता बताने के लिये बात करते हैं, भाई ! यहाँ की वृद्धावस्था और रोग से भी अनन्तगुना दुःख नारकी में है। पहले (नरक से) अनन्तगुना सातवें में है। वहाँ भी एकदम अन्दर में (ढल जाता है)। अहो... ! अरे... ! यह तो आनन्दकन्द सच्चिदानन्द निर्मलानन्द प्रभु ही मैं हूँ। मैं ही परमात्मा हूँ-ऐसा भाव सातवें नरक के प्रतिकूल में भी करता है। ‘रोग और वृद्धावस्था ने शरीर को नहीं घेरा है, तब तक शीघ्र (वर्तमान में ही) आत्मा का हित कर लो।’ भविष्य में करूँगा, (यह) छोड़ देना, वर्तमान में कर ले। समझ में आया ?

अन्तिम सीख

यह राग-आग दहे सदा, तातैं समामृत सेइये;
 चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निजपद बेइये ।
 कहा रच्यो पर पदमें, न तेरो पद यहै, क्योँ दुःख सहै;
 अब 'दौल' ! छोड़ सुखी स्वपद-रचि, दाव मत चूकौ यहै ॥१५॥

अन्वयार्थ :- (यह) यह (राग-आग) रागरूपी अग्नि (सदा) अनादिकाल से निरन्तर जीवको (दहै) जला रही है, (तातैं) इसलिये (समामृत) समतारूप अमृत का (सेइये) सेवन करना चाहिए । (विषय कषाय) विषय-कषाय का (चिर भजे) अनादिकाल से सेवन किया है। (अब तो) अब तो (त्याग) उसका त्याग करके (निजपद) आत्मस्वरूप को (बेइये) जानना चाहिए-प्राप्त करना चाहिए। (पर पदमें) परपदार्थोंमें-परभावोंमें (कहा) क्योँ (रच्यो) आसक्त-सन्तुष्ट हो रहा है ? (यहै) यह (पद) पद (तेरो) तेरा (न) नहीं है । तू (दुख) दुःख (क्योँ) किसलिये (सहै) सहन करता है ? (दौल !) हे दौलतराम ! (अब) अब (स्वपद) अपने आत्मपद-सिद्धपद में (रचि) लगकर (सुखी) सुखी (होउ) होओ । (यह) यह (दाव) अवसर (मत चूकौ) न गँवाओ ।

भावार्थ :- यह राग (मोह, अज्ञान) रूपी अग्नि अनादिकाल से निरन्तर संसारी जीवों को जला रही है-दुःखी कर रही है, इसलिये जीवों को निश्चयरत्नत्रयमय समतारूपी अमृत का पान करना चाहिए जिससे राग-द्वेष मोह (अज्ञान) का नाश हो । विषय-कषायों का सेवन, विपरीत पुरुषार्थ द्वारा अनादिकाल से कर रहा है; अब उसका त्याग करके आत्मपद (मोक्ष) प्राप्त करना चाहिए। तू दुःख किसलिये सहन करता है ? तेरा वास्तविक स्वरूप अनन्तदर्शन-ज्ञान-सुख और अनन्तवीर्य है, उसमें लीन होना चाहिए । ऐसा करने से ही सच्चा-सुख मोक्ष-प्राप्त हो सकता है। इसलिये हे दौलतराम ! हे जीव ! अब आत्मस्वरूप को प्राप्त कर। आत्मस्वरूप को पहिचान ! यह उत्तम अवसर बारम्बार प्राप्त नहीं होता, इसलिये इसे न गँवा। सांसारिक मोह का त्याग करके मोक्षप्राप्ति का उपाय कर ।

यहाँ विशेष यह समझना कि जीव अनादिकाल से मिथ्यात्वरूपी अग्नि तथा राग-द्वेषरूप अपने अपराध से ही दुःखी हो रहा है, इसलिये अपने यथार्थ पुरुषार्थ से ही सुखी हो सकता है। ऐसा नियम होने से जड़कर्म के उदय से या किसी पर के कारण दुःखी हो रहा है, अथवा पर के द्वारा जीव को लाभ-हानि होते हैं-ऐसा मानना उचित नहीं ॥१५॥

‘अन्तिम सीख’

यह राग-आग दहे सदा, तातैं समामृत सेइये;
चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निजपद बेइये।
कहा रच्यो पर पदमें, न तेरो पद यहै, क्योँ दुःख सहै;
अब ‘दौल’ ! छोड़ सुखी स्वपद-रुचि, दाव मत चूकौ यहै ॥१५॥

अहा..! ‘यह राग-आग दहै...’ राग शब्द से मोह। राग तो साधारण शब्द प्रयोग किया है। राग शब्द से मोह। पर में प्रीति और पर में अस्थिरता, वह राग है। हे आत्मा ! यह राग-आग, अग्नि है यह तो... आहा..हा...! भगवान आत्मा शीतलानन्द प्रभु ! शीतलनाथ ! उसे छोड़कर, यह मिथ्यामोह राग-अग्नि सुलगती है। सत्य होगा ? भाई ! यह कमाने में, भोग में, इज्जत में, कीर्ति में और सुनने में और.. आग सुलगती है, यहाँ तो कहते हैं। देखो न !

‘यह राग-आग दहै सदा...’ तुझे चौबीस घण्टे राग सुलगता है, बापा ! भाई ! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द निर्मलानन्द प्रभु ! शीतलनाथ.. शीतल.. शीतल.. शीतल.. शीतल.. उपशमरस जिसके स्वभाव में बरसता है-ऐसे भगवान को छोड़कर कोई भी विकल्प उठाना-भ्रम का, अस्थिरता का, विषय का, इज्जत का, कीर्ति का, -आग सुलगती है, कहते हैं। सत्य होगा ? आहा..हा...! कैसे होगा ? भाई ! यह इसमें कोई मनुष्य दुःखी तो लगते नहीं। आत्मा की शीतल छाया, कल्पवृक्ष के समान शीतल प्रभु को छोड़कर जितने भ्रम के या राग-द्वेष के विकल्प करे, वह सब अग्नि सुलगती है, भाई ! भाई नहीं आये ? ठीक ! समझ में आया ?

यहाँ आग सुलगी है, (और) यहाँ (आत्मा में) शीतलता के ढेर पड़े हैं-ऐसा कहते हैं।

आहा..हा...! एकान्त.. नहीं आया था ? 'शीतल शिला एकान्त की, जहाँ इन्द्र विश्राम लहैं।' कल समवसरण स्तुति में आया था। शशीकान्त शीतल शशीकान्त शिला। इन्द्र आकर विश्राम लेते हैं। भगवान आत्मा के दर्शन करने, यहाँ विश्राम करेंगे। इसी तरह यह शशीकान्त शीतल आत्मा शान्त.. शान्त... शान्त एक विकल्प का तरंग उठे, वह सब दुःख और आग-अग्नि है। समझ में आया ?

यहाँ तो क्या कहा ? अनादिकाल से शुभाशुभभाव, सब राग की दाह है-ऐसा कहते हैं। चौबीसों घण्टे। अनन्तबार दिगम्बर मुनि हुआ तो भी राग-दाह सुलगती है। ठीक है ? परन्तु यह क्या कहलाता है यह ? कि 'राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये...' यह शुभ और अशुभराग, यह सब मिथ्याभ्रम, यह सब आग है। अनन्तकाल में अनन्तबार नौवे प्रैवेयक गया, वहाँ भी आग में सुलगता था-ऐसा कहते हैं। आहा..!

मुमुक्षु :- संसार अटके।

उत्तर :- संसार अटके तो क्या काम है इसे अब ? इसे होली बुझाना है या रखना है ? समझ में आया ? होली कहते हैं न ? होली-हुतासन।

यहाँ तो कहते हैं कि अहो ! भगवान आत्मा जितने प्रमाण में तूने 'पर में सुख है-ऐसी बुद्धि, पर के कारण दुःख है-ऐसी बुद्धि, इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि'-यह सब राग अग्नि है, अग्नि। आत्मा की शान्ति को जलाती है। उसमें जल रहा हूँ, जल रहा हूँ, चौबीस घण्टे-ऐसा कहते हैं। ऐसा होगा ? भाई ! ये पैसेवाले ऐसे होंगे ? या गरीब ही होंगे ? चारों गति में गरीब और धनी; रंक और राजा; नारकी और देव-सब चौबीस घण्टे आत्मदृष्टि और आत्मा के ज्ञान बिना (राग) आग से जल रहे हैं। भाई ! चौबीसों घण्टे कहा न ? अशुभभाव से जल रहे हैं-ऐसा नहीं कहा। राग अर्थात् मोह; मोह के तो जो प्रकार मिथ्यात्व लो, शुभाशुभभाव लो; सब मोह (आ गया)।

'यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये;' यह राग। 'जीव को जला रहा है राग; इसलिए समामृत (समतारूप) अमृत का सेवन करना चाहिए।' समता शब्द से सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र। समझ में आया ? समता अर्थात् वीतरागता और वीतरागता अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र। समझ में आया ? मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-राग-

द्वेष, वह अग्नि है, इसलिये उसे मिटाने को 'समामृत सेईये ।' सम प्रभु भगवान; समामृतस्वरूप अपना है, उसकी अन्तर पर्याय में भगवान का सेवन करना कि जिससे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। कहो, समझ में आया इसमें ? समतारूपी अमृत का सेवन-सन्तोष (करना चाहिए)। सन्तोष की व्याख्या-पुण्य-पापभाव बन्ध का कारण है; शरीर आदि पर है; आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्व है-ऐसी अन्तर्दृष्टि और ज्ञान करना, इसका नाम सन्तोष और समता कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें ? फिर समामृत कहा न, देखा ? समतारूपी अमृत। पहला (राग) आग, वह आग, तब यह अमृत।

'सेवन करना चाहिए। विषय-कषाय का...' अरे ! भाई ! कहते हैं, विषय-कषाय तो जो है, उनका अनादि काल से सेवन किया है। विषय-कषाय-उन पर सन्मुख के भावों को तो तूने अनादि से सेवन किये हैं। यह (स्व) विषय छोड़कर पर विषय की ओर के भाव अनादि से किये हैं। स्वर्ग में हो, नरक में हो, सब जगह तूने यह परभाव किये हैं। यह 'विषय-कषाय (चिर भजे) अनादिकाल से सेवन किया है।' भजन करता है, भाई ! ठीक है ? अनादिकाल से विकार का सेवन करता है। आग को सुलगता है और सेवन करता है, कहते हैं।

मुमुक्षु :- प्रेम कैसे तोड़ना ?

उत्तर :- प्रेम तोड़ना अपने हाथमें-अधिकार में है। ऐसा प्रेम है और ऐसे प्रेम करना। क्या है इसमें ? फर्क कितना होगा ? अनादिकाल से तू विषय-कषाय को भज रहा है। एक ही विषय-कषाय अनादि से सेवन किये हैं-ऐसा कहते हैं।

'अब तो उनका त्याग...' कर। अब तो छोड़ ! अब तो छोड़ ! बहुत सेवन किये। आहा..हा... ! निजपद है न ? 'अब तो त्याग और निजपद बेईये, निजपद बेईये..' अनुभव करिये। भगवान आत्मा शुद्ध अनाकुलस्वरूप, शीतल शान्त ज्ञानानन्द जल से भरा हुआ अमृतस्वरूप (है), उसका अनुभव कर न ! जिसमें शान्ति है, जिसमें सन्तोष है, जिसमें तृप्ति है, जिसमें कृतकृत्यपना है। कहो, समझ में आया ? यह उसका सेवन कर, कहते हैं। उल्टा सेवन करता है, सुल्टा कर। इसमें कुछ ऐसा नहीं कहा कि कर्म तुझे जलाते हैं। ऐसा कहीं कहा है इसमें ? देखो ! कहा है इसमें ?

मुमुक्षु :- दूसरे शास्त्र में कहा है।

उत्तर :- दूसरे शास्त्र में तो निमित्त से कथन होता है। यह 'राग-आग दहै सदा...' ऐसा कहा है, भाई ! तेरा विकार तुझे जलाता है। कर्म तुझे जलाता है और दुःख देता है-इसमें का एक शब्द भी है-पड़ा है इसमें ? यह 'दौलतरामजी' कृत 'छहढाला' है। प्रचलित (छह) ढाला। यह कितने ही-हजारों लोग को कण्ठस्थ है। समझ में आया ?

एक ही बात-विकार का सेवन उल्टे पुरुषार्थ से करता है, सुल्टे पुरुषार्थ से अमृत का सेवन कर, बस ! एक ही बात की है, इसमें कहीं कर्म को याद नहीं किया है। तुझे कर्म ऐसे शिथिल पड़े और (ऐसा), हो, व ऐसा हो... भाई ! व्यर्थ के बहाने किये हैं... दोष (स्वयं) करता है और डालता है किसी (अन्य) के ऊपर... कर्म हमें ऐसे करता है, समझ में आया ? 'राग-आग दहै सदा...' कर्म तुझे जलाते हैं, कर्म तुजे सुलगाते हैं और दुःखी करते हैं-ऐसा इसमें नहीं कहा है।

निजपद को 'पहिचानना चाहिए-प्राप्त करना चाहिए...' 'निजपद बेईये' इस निजपद को अन्दर झुका, अन्दर उगाड़, पहले विकार का उगाड़ अनादि से बहुत किया। भगवान आत्मा शान्त-अनन्त गुण की शान्ति, सन्तोष से भरा (है)। यह तृष्णा.. तृष्णा.. तृष्णा.. पैसे की तृष्णा, धूल की तृष्णा, इज्जत की तृष्णा, बड़प्पन की तृष्णा, (उसमें) सुलगा रहा है। शान्त.. शान्त.. जल तेरा प्रभु ! निजपद में आजा और उसमें स्थिर हो, उसे प्राप्त करना चाहिए।

'कहा रच्यो परपद में न तेरो...' भाषा देखो ! 'कहा रच्यो परपद में, न तेरो पद यहै; क्यो दुःख सहे पद यहै, क्यो दुःख सहै...' कहो, समझ में आता है या नहीं ? 'परपद... कहा रच्यो परपद में न तेरो..' अरे.. ! भगवान ! 'परपदार्थो-परभावों में क्यो आसक्त सन्तुष्ट हो रहा है ?' भाई ! पर-विकारी पद राग-द्वेष, अज्ञान, विषय-भोग-वासना, भ्रम-इन परपद में, भगवान ! क्यो सन्तुष्ट हो रहा है ? परपद 'कहा रच्यो परपद में, न तेरो पद यहै...' यह वह पद तेरा है, उसमें आता है न ? भाई ! यह 'अपद पदम' ऐसी शैली इन्होंने यह सब शास्त्र की ही की है। 'समयसार' (कलश-१३८) अरे... ! यह अपद है, अपद है, हाँ ! आता है न ? भाई ! वह तेरा पद यहाँ है, यहाँ है। दो बार (लिया है) शैली सब (ऐसी ही ली है)। यह पूर्व के

पण्डित, घर का कुछ नहीं.. आचार्यों के शास्त्रों की भाषा भी.. यह रखकर बात करते हैं। आहा..हा... !

भाई ! यह विकारी पद तेरा नहीं, भाई ! अपद है न, प्रभु ! आहा.. ! यह विकारी पद, विकार-यह पर में सुखबुद्धि, पर में दुःखबुद्धि, पर में इष्ट-अनिष्टबुद्धि, राग-द्वेष, भाई ! परपद तो दुःख है न ! अपद है न ! यह निजपद तो यहाँ है न ! देखो ! ऐसा कहा न ? 'पद यहै...' यहाँ है। वहाँ ऐसा कहा है न ? भाई ! यहाँ है, यहाँ है। निर्जरा अधिकार (कलश-१३८ में कहा है।) आहा... ! भाई ! तू यहाँ है न अन्दर ! तेरा पद आनन्द और ज्ञान, अन्दर तू है न ! यह बाहर में कहाँ भटकता है ? आहा..हा... ! समझ में आया ?

'कहा रच्यो पर पद में न तेरो पद यहै क्यों दुःख सहे। पद यहै...' यह पद पड़ा है न प्रभु ! आहा..हा... ! अन्दर अनाकुल की शिला पड़ी है न ! यह आनन्द की-अतीन्द्रिय आनन्द की पाट अरूपी चैतन्य शिला है। यह पत रहा, भाई ! आहा... ! 'क्यों दुःख सहे..' यह पद पड़ा है न, दुःख क्यों सहन करता है ? -ऐसा कहते हैं। ऐसा पद है न शान्तरस का भगवान, उसे छ छोड़कर यह दुःख क्यों सहन करता है ?

मुमुक्षु :- ...

उत्तर :- वजन है। समझ में आया ? यह उसमें से लिया है, हाँ ! किसमें-निर्जरा में है न ? समझ में आया ? यह घर का नहीं है। देवानुप्रिया है न वहाँ ? अपद.. अपद.. है न ? यह के ही पद आस्वादयोग्य है।

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।

अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः॥१३९॥

'वह एक ही पद आस्वादन योग्य है।' भगवान आत्मा ! 'कि जो विपत्तियों का अपद है।' जिसमें विपत्ति पद है नहीं। ऐसे आपदाओं का स्थान नहीं 'और जिसके आगे अन्य (सर्व) पद अपद ही भासित होते हैं।' देखो ! यह आया, देखो ! १३८ 'आसंसारत्प्रतिपदममी रागिणो त्यिमत्ताः' यहाँ भाई ! 'राग' शब्द प्रयोग किया है, राग प्रयोग किया है। इन्होंने भी वहाँ राग प्रयोग किया है।

आसंसारात्प्रदिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः

सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।

एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः

भाई ! ऐसी चैतन्य की-आनन्द की धातु-धारक भगवान है न, भाई ! वह यहाँ है न प्रभु ! तू यहाँ छोड़कर बाहर कहाँ जाता है ? भाई ! समझ में आता है ?

एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः

शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥१३८॥

‘हे अन्ध प्राणियों ! इस अनादि संसार से लेकर पर्याय-पर्याय में यह रागी जीव...’ देखो ! यही भाषा है, हाँ ! रागी जीव। यह रागमत्त कहा था न यहाँ ? ‘सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं, वह पद अर्थात् स्थान अपद है-अपद है।’ आहा..हा... ! ‘इस ओर आओ... इस ओर आओ, तुम्हारा पद यह है-यह है।’ देखो ! यह यहाँ आया ?

इस ‘पद यहै-पद यहै..’ – इस शब्द पर जोर है। देखो ! ‘पद यह है...’ तेरा पद यहाँ है। अन्दर भगवान चिदानन्दस्वरूप है। पता नहीं पड़ता, घर में पूँजी खोने जाए बाहर। ‘पद यहै क्यों दुःख सहै...’ यहाँ आनन्द पड़ा है न, दुःख क्यों सहन करता है ? –ऐसा कहते हैं। ‘अब ‘दौल’ होऊ...’ समझे न ? ‘होउ सुखी स्वपद रचि, दाव मत चुकौ यहै।’ अरे... ! ऐसा तेरा पद ! अरे... ! घर में भरा भण्डार और यह झूठन बीनने जाता है, कहते हैं। लोक में नहीं कहते ? ए.. घर में ऐसी तेरी स्त्री और यह जहाँ-तहाँ गन्दी स्त्रियों में घूमता है। अरे.. ! समझ में आया ? इसीप्रकार यह तेरे घर में भगवान पड़ा है न, भाई ! उस भगवान को मिलने जाता नहीं और इस विकार को जहाँ-जहाँ मिलने चला जाता है। क्या है यह तुझे ? आहा..हा.. ! समझ में आया ?

‘हे दौलतराम ! वह पद तेरा पद नहीं है। तू दुःख क्यों सहन करता है ? हे दौलतराम ! (अब) अब (स्वपद) तेरे आत्मपद-सिद्धपद में (रचि) लगकर सुखी (होऊ) होओ ! (यहे) यह (दाव) अवसर (मत चूकै) गँवाना नहीं।’ अभी यह दाव-अवसर है, कहते हैं। समझ में आया ? ‘सब अवसर आ गया है’-यह तो कहा था न अभी, ‘टोडरमलजी’ में आता है न ? सब

अवसर आ गया है। तेरी आलसे, नजर के आलसे रे भगवान पड़ा रहा अन्दर में। 'नजर के आलसे, नयने न नीरख्या हरि'-लो ! अन्तिम शब्द है। यह भाई ! बहुत बोलते हैं बारम्बार, हाँ ! (इन्हें) पूरा कण्ठस्थ है न ! इन्हें पूरा कण्ठस्थ है। यह दाव-अवसर, यह दाव। ये दाव नहीं डालते ? पासा कहते हैं कि है दाव डालने का अवसर है। इसे मत चूको, मुश्किल से ऐसा थोड़ा काल आया। आहा.. !

भावार्थ :- 'यह राग (मोह, अज्ञान) रूप अग्नि...' देखो ! राग का अर्थ मोह.. मोह है यह। 'अनादिकाल से हमेशा संसार जीवों को दुःखी कर रही है-दुःखी कर रहा है...' कौन ? रागरूप अग्नि। 'इसलिए जीवों को निश्चयरत्नत्रय समतारूप अमृत का पान करना चाहिए...' सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो आत्मा का अमृत है, उस आत्मा की दृष्टि होकर उसे अमृतस्वरूप कहा जाता है-उसका सेवन करना चाहिए। 'जिससे राग-द्वेष-मोह (अज्ञान का) नाश होता है। विषय-कषाय का सेवन तू, बहुत काल से कर रहा है...' यह तो अनन्तकाल से करता आया है। 'अब उनका त्याग करके आत्मपद (मोक्ष) प्राप्त करना चाहिए। तू दुःख किसलिए सहन करता है ?' मूढता से सेवन करता है। भान ही है इसे।

'तेरा वास्तविक स्वरूप अनन्तदर्शन-ज्ञान-सुख और अनन्तवीर्य है...' यह उसमें तू दृष्टि कर और लीन हो। तेरा घर तेरे पास है। घर में आया नहीं। क्या गाया नहीं था अभी ? अपना निजघर नहीं पाया। आया था न ? 'कबहु निजघर न आयो।' परघर भटक-भटककर मर गया, भगवान आत्मा, बापू ! अन्दर पूर्णानन्द निजघर में कभी नहीं आया, अब तो आ ! -ऐसा कहते हैं। आहा..हा... ! परन्तु कर्म मार्ग दे, तब हो न हमारे ? ऐसा किसने कहा तुझे ?

'तु दुःख किसलिए सहन करता है ?' तेरा वास्तविक स्वरूप तो यह है। 'ऐसा करने से ही सच्चा सुख-मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इसलिए हे दौलतराम ! हे दौलतराम !' आत्मा की अनन्त दौलत का राम-'दौलतराम' है, उसका नाम भी 'दौलतराम' आया। (समस्त) आत्मायें 'दौलतराम' है। इस धूल की दौलत में कुछ नहीं है। हैरान-हैरान होकर मर जाता है तो भी नहीं छोड़ता है।

'हे जीव ! अब आत्मस्वरूप की प्राप्ति कर ! पहिचान कर ! यह उत्तम अवसर बारम्बार

नहीं मिलता...’ बहिनें गाती हैं-‘नाणा मलशे पण टाणा नहीं मले’-ऐसा गाती है पैसा खर्च करने के लिये। यहाँ कहते हैं कि, बापा ! ऐसा अवसर नहीं मिलेगा। नहीं गाती बहिने ? यह विवाह होता है न, तब गाती हैं। ऐसा अवसर नहीं मिलेगा। ऐ..भाई ! मोटा ने मोटा आगल करीने उठो रे । ए.. भाई ! जाग रे, उठो रे आम लगन आव्या-ऐसा करके गाती हैं। टाणा नहीं मिले-ऐसा करके (कहे) खर्च करो कुछ घर का उजला करने को। धूल में भी नहीं, वहाँ तू घर मैला करता है। यहाँ तो कहते हैं, हे आत्मा ! जाग रे जाग ! तेरा घर उजला कर, भाई ! आहा..हा..! समझ में आया ? ‘यह उत्तम अवसर नहीं मिलता, इसलिए यह अवसर मत गँवा; संसार के मोक्ष का त्याग करके मोक्षप्राप्ति का उपाय कर ।’

‘यहाँ विशेष ऐसा समझना कि..’ देखो ! यह सब अन्तिम शिक्षा का उपदेश है, हाँ ! पूरा। ‘जीव अनादिकाल से मिथ्यात्वरूप अग्नि और राग-द्वेषरूप अपने अपराध से ही दुःखी हो रहा है...’ अपने अपराध से (दुःखी) हो रहा है। ‘इसलिए अपने सुलटे पुरुषार्थ से ही सुखी हो सकता है। ऐसा नियम होने से जड़कर्म के उदय से या किसी पर के कारण दुःखी हो रहा है अथवा पर के द्वारा जीव को लाभ-नुकसान होता है-ऐसा मानना यथार्थ नहीं है।’ कहो, समझ में आया कुछ ? कर्म के कारण दुःखी हुआ, कर्म के कारण भटका हूँ; कर्म के कारण हैरान हुआ-यह बात मानना सत्य नहीं है। अन्तिम बात। लो !

ग्रन्थ-रचना का काल और उसमें आधार

इक नव वसु एक वर्ष कीतीज शुक्ल वैशाख;

कयो तत्त्व-उपदेश यह, लखी बुधजनकी भाखा।

लघु-धी तथा प्रमादतैं, शब्द अर्थकी भूल;

सुधी सुधार पढो सदा, जो पावो भव-कूल ॥१६॥

भावार्थ :- पण्डित बुधजनकृत 'छहढाला के कथन का आधार लेकर मैंने (दौलतरामने)

१. इस ग्रन्थ में छह प्रकार के छन्द और छह प्रकरण हैं इसलिये तथा जिस प्रकार तीक्ष्ण शस्त्रों के प्रहार को रोकनेवाली ढाल होती है, उसीप्रकार जीवकी अहितकारी शत्रु-मिथ्यात्व, रागादि आस्रवों का तथा अज्ञानांधकारकी रोकने के लिये ढाल के समान यह छह प्रकरण हैं; इसलिये इस ग्रन्थ का नाम छहढाला रखा गया है।

विक्रम संवत् १८९१ वैशाख शुक्ला ३ (अक्षय तृतीया) के दिन इस छहढाला ग्रन्थ की रचना की है। मेरी अल्पबुद्धि तथा प्रमादवश उसमें कहीं शब्द की या अर्थ की भूल रह गई हो तो बुद्धिमान उसे सुधारकर पढ़ें, ताकि जीव संसार-समुद्र को पार करने में शक्तिमान हो।

छठवीं ढाल का सारांश

जिस चारित्र के होने से समस्त परपदार्थों से वृत्ति हट जाती है, वर्णादि तथा रागादि से चैतन्यभाव को पृथक् कर लिया जाता है, अपने आत्मा में, आत्मा के लिये, आत्मा द्वारा, अपने आत्मा का ही अनुभव होने लगता है, वहाँ नय, प्रमाण, निक्षेप, गुण-गुणी, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय, ध्यान-ध्याता-ध्येय, कर्ता-कर्म और क्रिया आदि भेदों का किंचित् विकल्प नहीं रहता; शुद्ध उपयोगरूप अभेद रत्नत्रय द्वारा शुद्ध चैतन्य का ही अनुभव होने लगता है, उसे स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं; यह स्वरूपाचरणचारित्र चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर मुनिदशा में अधिक उच्च होता है। तत्पश्चात् शुक्लध्यान द्वारा चार घातिकर्मों का नाश होने पर वह जीव केवलज्ञान प्राप्त करके १८ दोषरहित श्रीअरिहन्तपद प्राप्त करता है; फिर शेष चार अघातिकर्मों का भी नाश करके क्षणमात्र में मोक्ष प्राप्त कर लेता है; उस आत्मा में अनन्तकाल तक अनन्त चतुष्टय का (अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य का) एक-सा अनुभव होता रहता है; फिर उसे पंचपरावर्तनरूप संसार में नहीं भटकना पड़ता; वह कभी अवतार धारण नहीं करता; सदैव अक्षय अनन्त सुख का अनुभव करता है; अखण्डित ज्ञान-आनन्दरूप अनन्तगुणों में निश्चल रहता है; उसे मोक्षस्वरूप कहते हैं।

जो जीव, मोक्ष की प्राप्ति के लिये इस रत्नत्रय को धारण करते हैं और करेंगे उन्हें अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होगी। प्रत्येक संसारी जीव मिथ्यात्व, कषाय और विषयों का सेवन तो अनादिकाल से करता आया है किन्तु उससे उसे किंचित् शान्ति प्राप्त नहीं हुई। शान्ति का एकमात्र कारण तो मोक्षमार्ग है; उसमें उस जीवने कभी तत्परतापूर्वक प्रवृत्ति नहीं की; इसलिये अब भी यदि शान्ति की (आत्महित की) इच्छा हो तो आलस्य को छोड़कर, (आत्मा का) कर्तव्य समझकर; रोग और वृद्धावस्थादि आने से पूर्व ही मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हो जाना चाहिए; क्योंकि यह पुरुष-पर्याय, सत्समागम आदि सुयोग बारम्बार प्राप्त नहीं होते; इसलिये उन्हें व्यर्थ गँवाकर अवश्य ही आत्महित साध लेना चाहिए।

ग्रन्थ-रचना का काल और उसमें आधार

इक नव वसु एक वर्ष की तीज शुक्ल वैशाख;
 कर्यो तत्त्व-उपदेश यह, लखी बुधजनकी भाख।
 लघु-सी तथा प्रमादतैं, शब्द अर्थकी भूल;
 सुधी सुधार पढ़ो सदा, जो पावो भव-कूल ॥१६॥

भावार्थ :- 'मैंने (दौलतराम ने) पण्डित बुधजनकृत 'छहढाला' के कथन का आधार लेकर...' यह कहा, उस ढाला की व्याख्या एकबार की थी। देखो ! नीचे है।

'इस ग्रन्थ में छह प्रकार के छन्द और छह प्रकरण हैं, इसलिये, तथा जिस प्रकार तीक्ष्ण शस्त्रों के प्रहार को रोकनेवाली ढाल होती हैच उसी प्रकार जीव को अहितकारी शत्रु-मिथ्यात्व, रागादि आस्रवों को तथा अज्ञानांधकार को रोकने के लिये ढाल के समान यह छह प्रकरण है....' यह छह अधिकार ढाल के समान हैं, 'इसलिये इस ग्रन्थ का नाम 'छहढाला' रखा गया है।'

'विक्रम संवत् १८९१ वैशाख शुक्ला ३ (अक्षय तृतीया) के दिन इस 'छहढाला' ग्रन्थ की रचना की है। मेरी अल्पबुद्धि तथा प्रमादवश उसमें कहीं शब्द की या अर्थ की भूल रह गयी हो तो बुद्धिमान उसे सुधारकर पढ़े, ताकि जीव संसारसमुद्र पार करने में शक्तिवान हो।' लो ! पोष कृष्ण दशमी से शुरू किया था। इस रविवार को पूर्ण होता है। 'छहढाला'। अन्तिम एक बोल थोड़ा-सा ले लेते हैं। अन्तिम थोड़ा है न ?

कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता वास्तव में नहीं है। है इसमें, सब में है ? सब में है ? अब इसमें तो बहुत आ गया है, हाँ ! चिदेश कर्ता, स्वयं कर्ता है, दूसरा कोई कर्ता नहीं है। कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता वास्तव में नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है। है ? अन्तिम, अन्तिम, एकदम अन्तिम, एकदम सब निकाल कर अन्तिम।

आत्मा का स्वभाव तो दृष्टा-ज्ञाता है। निकला लड़कों ? अब स्वयं देखनेवाला-जाननेवाला तो रहता नहीं। मैं तो एक देखनेवाला-जाननेवाला आत्मा ज्ञाता-दृष्टा हूँ। जिस-

जिस पदार्थ को वह देखता-जानता है, उसमें इष्ट अनिष्टपटना मानता है। मानता है, इष्ट-अनिष्ट है नहीं। आत्मा, जानने-देखनेवाला है। जगत की चीजें ज्ञात हों-ऐसी योग्यता इसमें है, यह जाननेवाला है, बीच में दूसरा कोई नहीं है। पाँच लड़के हैं, उनमें एक लड़का इसका हो, ऐसे देखे तो पाँचों को ही एकसाथ, है या नहीं ? जानने में क्या फरक है ? यह मेरा-यह कहाँ से आया ?

मुमुक्षु :-...

उत्तर :- खड़ा किया यह तो। पाँच लड़के एकसाथ खड़े हो, उनमें इसका एक लड़का खड़ा (हो)-यह मेरा है-मेरा कहाँ से आया ? इन पाँचों को ही जानने का तू जाननेवाला है।

मुमुक्षु :- चेहरा-मेहरा इसके जैसा होवे।

उत्तर :- चेहरा-मेहरा इसके जैसा कहाँ था ? धूल में। वह तो पर में है। आकार और प्रकार ऐसा लिखा है, हाँ। समझ में आया ?

ऐसे (ही), मकान, ऐसे गहना, ऐसे लक्ष्मी, ऐसे जो जहाँ देखे-यह तो जानने-देखनेवाला है। उसमें यह मेरा-यह कहाँ से (आया) ? इसमें लिखा है, इसमें ?

मुमुक्षु :- उसमें जाए..

उत्तर :- किस प्रकार जाए ? कौन जाता है ? यह तो स्वयं अपने ज्ञान में रहता है। जाए कहाँ और आवे कहाँ ? जिस पदार्थ को देखे-जाने, उसमें इष्टपना मानता है-ऐसा कहना है, है नहीं। यह तो जानने-देखने योग्य है आत्मा और इस जानने-देखने में ज्ञेय है; बीच में यह विपरीतता घुसाता है कि यह मुझे ठीक है और यह हैं मेरे; यह मुझे ठीक नहीं और यह नहीं मेरे। यह बीच में लकड़ी निकाली (-विपरीतता की)। सब महिलायों तो बहुत हैं, परन्तु यह मेरी-यह ऐसा क्यों हुआ ? कहाँ से आया ? यह कहते हैं। परन्तु सब महिलायें तो बहुत हैं। आत्मा है, शरीर है-वे तो ज्ञान में जानने योग्य हैं।

मुमुक्षु :- ..

उत्तर :- यह अन्दर भ्रम को खोसका है-ऐसा कहते हैं। नहीं कहा ? मानता है। इसलिए

रागी-द्वेषी होता है। मानता है, इसलिये राग-द्वेष (होते हैं)। यह तो ज्ञाता-दृष्टा है; जानने देखनेवाला है और वे ज्ञात हों-ऐसी वस्तुयें हैं। बीच में दो के अतिरिक्त तीसरा सम्बन्ध नहीं है; (फिर भी) सम्बन्ध खड़ा करता है। किसी के सद्भाव को और किसी के अभाव को चाहता है, परन्तु उनका सद्भाव या अभाव इस जीव के करने से होता ही नहीं। यह होवे तो ठीक, यह रहे तो ठीक, हाँ ! पर रहे तो ठीक अर्थात् ? उनका रहना कहीं तेरे आधीन है ? यह रहे तो ठीक, यह अनुकूलता, इतने-इतने पदार्थ रहे न तो बहुत अच्छा; और किसी का अभाव चाहते हैं-यह रोग आदि चला जाए, अप्रतिष्ठा चली जाए तो ठीक.. परन्तु ऐसे चली जाती है ? वे तो जगत के पदार्थ हैं, भाई ! देखो ! यह क्या लिखा है ? है अन्दर, हाँ !

किसी का सद्भाव-अभाव.. है ? वह जीव के करने से नहीं होता। अन्दर तो है अभी, सवेरे पूछा, कैसे हैं ? ... कारण कि कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं। तू सद्भाव (चाहे) इसलिए इससे उनका अस्तित्व रहे और अस्तित्व छोड़ना चाहे, इसलिए अस्तित्व चला जाए (-ऐसे) तेरे आधीन है ही नहीं; (वे तो) उनके आधीन आते हैं और उनके आधीन जाते हैं। ... परन्तु सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं। वे उनके कारण आते और जाते हैं। तू तेरे कारण जान और देख, बस ! बाकी दूसरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार मात्र यह जीव व्यर्थ कषायभाव करके व्याकुल होता है। व्यर्थ का... जानना-देखना छोड़कर, निज मानकर, बुरा मानकर, दुश्मन मानकर, शत्रु मानकर, मित्र मानकर व्यर्थ कषाय करके दुःखी होता है। इसलिए हे जीव ! ऐसा अवसर मिला, अब (मिथ्या मान्यता को) छोड़ ! ऐसा अन्त में कहा है न ? अब यह रखने जैसा नहीं है। लो ! (विशेष कहेंगे...)

(श्रोता :- प्रमाण वचन गुरुदेव !)



વીતરાગ સત્સાહિત્ય પ્રસારક ટ્રસ્ટ
ઉપલબ્ધ પ્રકાશન (ગુજરાતી)

ગ્રંથનું નામ તેમજ વિવરણ	મૂલ્ય
૦૧ અધ્યાત્મિકપત્ર (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાનીજીના પત્રો)	૦૨-૦૦
૦૨ અધ્યાત્મ સંદેશ (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના વિવિધ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૦૩ આત્મયોગ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૫૯૬, ૪૯૧, ૬૦૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૦૪ અનુભવ સંજ્ઞવની (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વચનામૃતોનું સંકલન)	૧૫૦-૦૦
૦૫ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૧) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૬ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૨) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૭ અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૩) બહેનશ્રીના વચનામૃત ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૦૮ અધ્યાત્મ પરાગ	-
૦૯ બીજુ કાંઈ શોધમા (પ્રત્યક્ષ સત્પુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	-
૧૦ બૃહદ્ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૧) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો)	-
૧૧ બૃહદ્ દ્રવ્યસંગ્રહ પ્રવચન (ભાગ-૨) (દ્રવ્યસંગ્રહ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો)	-
૧૨ ભગવાન આત્મા (દ્રષ્ટિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	-
૧૩ દ્વાદશ અનુપ્રેક્ષા (શ્રીમદ્ ભગવત્ કુંદકુંદાચાર્યદેવ વિરચિત	૦૨-૦૦
૧૪ દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ (ભાગ-૩) (પૂજ્ય શ્રી નિહાલચંદ્રજી સોગાની તત્ત્વચર્યા)	૦૪-૦૦
૧૫ દસ લક્ષણ ધર્મ (ઉત્તમ ક્ષમાદિ દસ ધર્મો પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૦૬-૦૦
૧૬ ધન્ય આરાધના (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજીની અંતરંગ અધ્યાત્મ દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા વિવેચન)	૧૦-૦૦
૧૭ દિશા બોધ (શ્રીમદ્ રાજચંદ્રજી પત્રાંક-૧૬૬, ૪૪૯, અને ૫૭૨ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ દ્વારા પ્રવચનો)	૧૦-૦૦
૧૮ ગુરુ ગુણ સંભારણા (પૂજ્ય બહેનશ્રીના શ્રીમુખેથી સ્ફુરિત ગુરુભક્તિ)	૦૫-૦૦
૧૯ ગુરુ ગિરા ગૌરવ (પૂજ્ય સૌગાનીજીની અંગત દશા ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦

૨૦	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૧) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૧	ગુરુ ગિરા ગૌરવ (ભાગ-૨) (દ્રવ્યદષ્ટિ પ્રકાશ ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પત્રો પર સળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૨૨	જિજ્ઞાસાસણં સવ્વં (જ્ઞાનીપુરુષ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૮-૦૦
૨૩	કુટુંબ પ્રતિબંધ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૦૩, ૩૩૨, ૫૧૦, ૫૨૮, ૫૩૭ તથા ૩૭૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૪	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૧) (પરમાગમસારમાંથી ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૨૫	કહાન રત્ન સરિતા (ભાગ-૨) (પરમાગમસારમાંથી કમબદ્ધ પર્યાય વિષયક ચૂંટેલા કેટલાક વચનામૃતો ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈનાં પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૨૬	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૧) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૭	કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા પ્રવચન (ભાગ-૨) કાર્તિકેયાનુપ્રેક્ષા ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના સળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૨૮	કમબદ્ધપર્યાય	-
૨૯	મુમુક્ષતા આરોહણ કમ (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૨૫૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૧૫-૦૦
૩૦	નિર્ભાત દર્શનની કેડીએ (લે. પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૧૦-૦૦
૩૧	પરમાત્માપ્રકાશ (શ્રીમદ્ યોગીન્દ્રદેવ વિરચિત)	૧૫-૦૦
૩૨	પરમાગમસાર (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના ૧૦૦૮ વચનામૃત)	૧૧-૨૫
૩૩	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૧) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	અનુપલબ્ધ
૩૪	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૨) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ખાસ પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૩૫	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૩) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૩૬	પ્રવચન નવનીત (ભાગ-૪) (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના ૪૭ નય શક્તિઓ ઉપર ખાસ પ્રવચનો)	૭૫-૦૦
૩૭	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૧) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	૬૫-૦૦
૩૮	પ્રવચન પ્રસાદ (ભાગ-૨) (પંચાસ્તિકાયસંગ્રહ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચનો)	-
૩૯	પ્રયોજન સિદ્ધિ (લે. પૂજ્યભાઈશ્રી શશીભાઈ)	૦૩-૦૦
૪૦	પથ પ્રકાશ (માર્ગદર્શન વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૬-૦૦
૪૧	પરિભ્રમણના પ્રત્યાખ્યાન (શ્રીમદ રાજચંદ્ર પત્રાંક-૧૯૫, ૧૨૮ તથા ૨૬૪ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૪૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૩	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૨) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સળંગ પ્રવચનો	૮૫-૦૦

૪૪	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૩) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૫	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૪) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૪૦-૦૦
૪૬	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૫) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૭	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૬) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦-૦૦
૪૮	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૭) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૪૯	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૮) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૦	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૯) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૧	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૦) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૨	પ્રવચન સુધા (ભાગ-૧૧) પ્રવચનસાર શાસ્ત્રના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦-૦૦
૫૩	પ્રવચનસાર	અનુપલબ્ધ
૫૪	પ્રચારિસ્તકાય સંગ્રહ	અનુપલબ્ધ
૫૫	પદ્મનંદીપંચવિશતી	-
૫૬	પુરુષાર્થ સિદ્ધિ ઉપાય	અનુપલબ્ધ
૫૭	રાજ હૃદય (ભાગ-૧) (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૮	રાજ હૃદય (ભાગ-૨) (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૫૯	રાજ હૃદય (ભાગ-૩) (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૦	રાજહૃદય (ભાગ-૪) ('શ્રીમદ્ રાજયંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૬૧	સમ્યક્જ્ઞાનદીપિકા (લે. શ્રી ધર્મદાસજી કુલ્લક)	૧૫-૦૦
૬૨	જ્ઞાનામૃત્ત (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથમાંથી ચૂંટેલા વચનામૃત્તો)	૦૬-૦૦
૬૩	સમ્યક્દર્શનના નિવાસના સર્વોત્કૃષ્ટ નિવાસભૂત છ પદનો પત્ર (શ્રીમદ્ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૪૯૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૦-૦૦
૬૪	સિદ્ધપદનો સર્વશ્રેષ્ઠ ઉપાય (શ્રીમદ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૧૪૭, ૧૯૪, ૨૦૦, ૫૧૧, ૫૬૦ તથા ૮૧૯ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૫	સમયસાર દોહન (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજી સ્વામીના નાઈરોબીમાં સમયસાર પરમાગમ ઉપર થયેલાં પ્રવચનો)	૩૫-૦૦
૬૬	સુવિધિદર્શન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત સુવિધિ લેખ ઉપર તેમનાં પ્રવચન)	૨૫-૦૦
૬૭	સ્વરૂપભાવના (શ્રીમદ રાજયંદ્ર પત્રાંક-૯૧૩, ૭૧૦ અને ૮૩૩ પર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૬૮	સમક્રિતનું બીજ (શ્રીમદ રાજયંદ્ર ગ્રંથમાંથી સત્યુરુષની ઓળખાણ વિષયક પત્રાંક ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના પ્રવચનો)	૩૦-૦૦
૬૯	તત્વાનુશીલન (પૂજ્ય ભાઈશ્રી દ્વારા લિખિત વિવિધ લેખ)	-

૭૦	વિધિ વિજ્ઞાન (વિધિ વિષયક વચનામૃતોનું સંકલન)	૦૭-૦૦
૭૧	વચનામૃત રહસ્ય (પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી કાનજીસ્વામીના નાઈરોબીમાં બહેનશ્રીના વચનામૃત પર થયેલાં પ્રવચનો)	૨૫-૦૦
૭૨	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૧)	-
૭૩	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૨)	-
૭૪	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૩)	-
૭૫	વચનામૃત પ્રવચન (ભાગ-૪)	-
૭૬	યોગસાર	અનુપલબ્ધ
૭૭	ધન્ય આરાધક	-
૭૮	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૪) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૭૯	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૫) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો	૩૦.૦૦
૮૦	છ ઢાળા પ્રવચન (ભાગ-૧)	૨૦-૦૦
૮૧	છ ઢાળા પ્રવચન (ભાગ-૨)	૨૦-૦૦
૮૨	છ ઢાળા પ્રવચન (ભાગ-૩)	૨૦-૦૦
૮૩	મુક્તિનો માર્ગ (સત્તા સ્વરૂપ ગ્રંથ પર પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીના પ્રવચન)	૨૦.૦૦
૮૪	રાજહૃદય (ભાગ-૫) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૫	રાજહૃદય (ભાગ-૬) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૬	રાજહૃદય (ભાગ-૭) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૭	રાજહૃદય (ભાગ-૮) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૮	રાજહૃદય (ભાગ-૯) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૮૯	રાજહૃદય (ભાગ-૧૦) ('શ્રીમદ્ રાજચંદ્ર' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦
૯૦	અધ્યાત્મ સુધા (ભાગ-૬) 'બહેનશ્રીનાં વચનામૃત' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો	૨૦.૦૦
૯૧	અનુભવપ્રકાશના કિરણો (ભાગ-૧) ('અનુભવપ્રકાશ' ગ્રંથ ઉપર પૂજ્ય ભાઈશ્રી શશીભાઈના સર્ળંગ પ્રવચનો)	૨૦.૦૦

**श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
उपलब्ध प्रकाशन (हिन्दी)**

ग्रंथ का नाम एवं विवरण	मूल्य
०१ अनुभव प्रकाश (ले. दीपचंदजी कासलीवाल)	-
०२ आत्मयोग (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-४६९, ४९१, ६०९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००
०३ अनुभव संजीवनी (पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा लिखे गये वचनामृतोंका संकलन)	१५०-००
०४ आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन (पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा)	५०-००
०५ आत्मअवलोकन	-
०६ बृहद द्रव्यसंग्रह	अनुपलब्ध
०७ द्रव्यदृष्टिप्रकाश (तीनों भाग-पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीके पत्र एवं तत्वचर्चा)	३०-००
०८ दूसरा कुछ न खोज (प्रत्यक्ष सत्पुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०६-००
०९ दंसणमूलो धम्मा (सम्यक्त्व महिमा विषयक आगमोंके आधार)	०६-००
१० धन्य आराधना (श्रीमद राजचंद्रजीकी अंतरंग अध्यात्म दशा पर पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा विवेचन)	-
११ दिशा बोध (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१६६, ४४९, ५७२ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१२ धन्य पुरुषार्थी	-
१३ धन्य अवतार	-
१४ गुरु गुण संभारणा (पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन द्वारा गुरु भक्ति)	१५-००
१५ गुरु गिरा गौरव	-
१६ जिणसासनं सव्वं (ज्ञानीपुरुष विषयक वचनामृतोंका संकलन)	०८-००
१७ कुटुम्ब प्रतिबंध (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-१०३, ३३२, ५१०, ५२८, ५३७ एवं ३७४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
१८ कहान रत्न सरिता (परमागमसारके विभिन्न वचनामृतों पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	३०-००
१९ मूलमें भूल (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके विविध प्रवचन)	०८-००
२० मुमुक्षुता आरोहण क्रम (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-२५४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	-
२१ मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन)	१०-००
२२ निर्भात दर्शनकी पगडंडी (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	१०-००
२३ परमागमसार (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके १००८ वचनामृत्त)	-
२४ प्रयोजन सिद्धि (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	०४-००
२५ परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (श्रीमद राजचंद्र पत्रांक-१९५, १२८, २६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२०-००

२६	प्रवचन नवनीत (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२७	प्रवचन नवनीत (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके खास प्रवचन)	२०-००
२८	प्रवचन नवनीत (भाग-३) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ नय के खास प्रवचन)	२०-००
२९	प्रवचन नवनीत (भाग-४) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ४७ शक्ति के खास प्रवचन)	२०-००
३०	प्रवचन सुधा (भाग-१) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३१	प्रवचन सुधा (भाग-२) (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके प्रवचनसार परमागम पर धारावाही प्रवचन)	२०-००
३२	पथ प्रकाश	२०.००
३३	प्रवचनसार	अनुपलब्ध
३४	प्रंचास्तिकाय संग्रह	अनुपलब्ध
३५	सम्यक्ज्ञानदीपिका (ले. श्री धर्मदासजी क्षुल्लक)	१५-००
३६	ज्ञानामृत (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से चयन किये गये वचनामृत)	-
३७	सम्यग्दर्शनके सर्वोत्कृष्ट निवासभूत छ पदोंका अमृत पत्र (श्रीमद् रादचंद्र पत्रांक-४९३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	१८-००
३८	सिद्धिपका सर्वश्रेष्ठ उपाय (श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमें से पत्रांक-१४७, १९४, २००, ५११, ५६० एवं ८१९ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	२५-००
३९	सुविधि दर्शन (सुविधि लेख पर पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचन)	४०-००
४०	समयसार नाटक	अनुपलब्ध
४१	समयसार कलश टीका	अनुपलब्ध
४२	समयसार	अनुपलब्ध
४३	स्मरण संचिका	२०.००
४४	स्वरूप भावना (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-९१३, ७१० एवं ८३३ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई के प्रवचन)	२०-००
४५	तत्त्वानुशीलन (भाग-१, २, ३) (ले. पूज्य भाईश्री शशीभाई)	२०-००
४६	तत्थ	अनुपलब्ध
४७	विधि विज्ञान (विधि विषयक वचनामृतोंका संकलन)	१०-००
४८	वचनामृत रहस्य (पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके नाईरौबीमें हुए प्रवचन)	२०-००
४९	भगवान आत्मा	२०.००
५०	जिन प्रतिमा जिन सारखी	२०.००
५१.	छः ढाला प्रवचन (भाग-१)	२०.००
५२.	छः ढाला प्रवचन (भाग-२)	२०.००
५३.	छः ढाला प्रवचन (भाग-३)	२०.००
५४.	प्रवचनसुधा (भाग-६)	३०.००

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्टमें से प्रकाशित हुई पुस्तकोंकी प्रत संख्या

०१ प्रवचनसार (गुजराती)	१५००	३४ गुरुगुण संभारणा (हिन्दी)	७५००
०२ प्रवचनसार (हिन्दी)	४२००	३५ जिण सासणं सव्वं (गुजराती)	२०००
०३ पंचास्तिकायसंग्रह (गुजराती)	१०००	३६ जिण सासणं सव्वं (हिन्दी)	२०००
०४ पंचास्तिकाय संग्रह (हिन्दी)	२५००	३७ द्वादश अनुप्रेक्षा (गुजराती)	२०००
०५ समयसार नाटक (हिन्दी)	३०००	३८ दस लक्षण धर्म (गुजराती)	२०००
०६ अष्टपाहुड (हिन्दी)	२०००	३९ धन्य आराधना (गुजराती)	१०००
०७ अनुभव प्रकाश	२१००	४० धन्य आराधना (हिन्दी)	१५००
०८ परमात्मप्रकाश	४१००	४१ प्रवचन नवनीत भाग-१-४ (गुजराती)	५८५०
०९ समयसार कलश टीका (हिन्दी)	२०००	४२ प्रवचन प्रसाद भाग-१-२	२३००
१० आत्मअवलोकन	२०००	४३ पथ प्रकाश (गुजराती)	२०००
११ समाधिलंत्र (गुजराती)	२०००	४४ पथ प्रकाश (हिन्दी)	५००
१२ बृहद द्रव्यसंग्रह (हिन्दी)	३०००	४५ प्रयोजन सिद्धि (गुजराती)	३५००
१३ मुक्तिका मार्ग (सत्ता स्वरूप ग्रन्थ पर प्रवचन) (गुजराती)	१०००	४६ प्रयोजन सिद्धि (हिन्दी)	२५००
१४ योगसार	२०००	४७ विधि विज्ञान (गुजराती)	२०००
१५ अध्यात्मसंदेश	२०००	४८ विधि विज्ञान (हिन्दी)	२०००
१६ पद्मनंदीपंचविंशती	३०००	४९ भगवान आत्मा (गुजरात)	२०००
१७ समयसार	३१००	५० भगवान आत्मा (हिन्दी)	१५००
१८ समयसार (हिन्दी)	२५००	५१ सम्यक्ज्ञानदीपिका (गुजराती)	१०००
१९ अध्यात्मिक पत्रो (पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी द्वारा लिखित)	३०००	५२ सम्यक्ज्ञानदीपिका (हिन्दी)	१५००
२० द्रव्यदृष्टि प्रकाश (गुजराती)	१०,०००	५३ तत्त्वानुशीलन (गुजराती)	४०००
२१ द्रव्यदृष्टि प्रकाश (हिन्दी)	७६००	५४ तत्त्वानुशीलन (हिन्दी)	२०००
२२ पुरुषार्थसिद्धिउपाय (गुजराती)	६१००	५५ बीजुं काई शोध मा (गुजराती)	४०००
२३ क्रमबद्धपर्याय (गुजराती)	८०००	५६ दूसरा कुछ न खोज (हिन्दी)	२०००
२४ अध्यात्मपराग (गुजराती)	३०००	५७ मुमुक्षुता आरोहण क्रम (गुजराती)	२५००
२५ धन्य अवतार (गुजराती)	३७००	५८ मुमुक्षुता आरोहण क्रम (हिन्दी)	३५००
२६ धन्य अवतार (हिन्दी)	८०००	५९ अमृत पत्र (गुजराती)	२०००
२७ परमामगसार (गुजराती)	५०००	६० अमृत पत्र (हिन्दी)	२५००
२८ परमागमसरा (हिन्दी)	४४००	६१ परिभ्रमणना प्रत्याख्यान (गुजराती)	१५००
२९ वचनामृत प्रवचन भाग-१-२-३-४	५०००	६२ परिभ्रमणके प्रत्याख्यान (हिन्दी)	४०००
३० अनुभव प्रकाश (हिन्दी)	२०००	६३ आत्मयोग (गुजराती)	१५००
३१ निर्भ्रात दर्शननी केडीए (गुजराती)	५०००	६४ आत्मयोग (हिन्दी)	३०००
३२ निर्भ्रात दर्शनकी पगडंडी (हिन्दी)	७५००	६५ अनुभव संजीवनी (गुजराती)	१०००
३३ गुरुगुण संभारणा (गुजराती)	३०००	६६ अनुभव संजीवनी (हिन्दी)	१०००
		६७ ज्ञानामृत (गुजराती)	३५००
		६८ ज्ञानामृत (हिन्दी)	१५००

६९ वचनामृत रहस्य (गुजराती)	१०००	१०७ अध्यात्म सुधा (भाग-४) (गुजराती)	७५०
७० वचनामृत रहस्य (हिन्दी)	१०००	१०८ अध्यात्म सुधा (भाग-५) (गुजराती)	७५०
७१ दिशा बोध (हिन्दी-गुजराती)	३५००	१०९ गुरु गिरा गौरव (भाग-१) (गुजराती)	
७२ कहान रत्न सरिता (भाग-१)	१०००	(धारावाही प्रवचन)	१०००
७३ कहान रत्न सरिता (भाग-२)	१०००	११० गुरु गिरा गौरव (भाग-२) (गुजराती)	
७४ कुटुम्ब प्रतिबंध (गुजराती)	१५००	(धारावाही प्रवचन)	७५०
७५ कुटुम्ब प्रतिबंध (हिन्दी)	२५००	१११ मुक्तिनो मार्ग (गुजराती)	१०००
७६ सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (गुजराती)	१५००	११२ प्रवचन नवनीत (भाग-१) (हिन्दी)	१०००
७७ सिद्धपद का सर्वश्रेष्ठ उपाय (हिन्दी)	२०००	११३ प्रवचन नवनीत (भाग-२) (हिन्दी)	१०००
७८ गुरु गिरा गौरव (हिन्दी-गुजराती)	३५००	११४ प्रवचन नवनीत (भाग-३) (हिन्दी)	१०००
७९ समयसार दोहन (गुजराती)	७५०	११५ प्रवचन नवनीत (भाग-४) (हिन्दी)	१०००
८० समकितनुं बीज (गुजराती)	१०००	११६ धन्य आराधक (गुजराती)	७५०
८१ स्वरूपभावना (गुजराती)	१०००	११७ छः ढाला प्रवचन (गुजराती) (भाग-१)	१०००
८२ स्वरूपभावना (हिन्दी)	१०००	११८ छः ढाला प्रवचन (गुजराती) (भाग-२)	१०००
८३ सुविधि दर्शन (गुजराती)	१०००	११९ छः ढाला प्रवचन (गुजराती) (भाग-३)	१०००
८४ सुविधिदर्शन (हिन्दी)	१९००	१२० जिन प्रतिमा जीनि सारखी	५००
८५ आत्मसिद्धि शास्त्र पर प्रवचन	१२५०	१२१ स्मरण संचिका	१५००
८६ प्रवचन सुधा (भाग-१) (गुजराती)	१४००	१२२ दंसण मूलो धम्मो	३५००
८७ प्रवचन सुधा (भाग-२) (गुजराती)	७५०	१२३ प्रवचन सुधा (भाग-१) (हिन्दी)	१०००
८८ प्रवचन सुधा (भाग-३) (गुजराती)	१०००	१२४ प्रवचन सुधा (भाग-२) (हिन्दी)	१०००
८९ प्रवचन सुधा (भाग-४) (गुजराती)	१०००	१२५ प्रवचन सुधा (भाग-३) (हिन्दी)	१०००
९० प्रवचन सुधा (भाग-५) (गुजराती)	१०००	१२६ प्रवचन सुधा (भाग-४) (हिन्दी)	१०००
९१ प्रवचन सुधा (भाग-६) (गुजराती)	१०००	१२७ प्रवचन सुधा (भाग-५) (हिन्दी)	१०००
९२ प्रवचन सुधा (भाग-७) (गुजराती)	७५०	१२८ प्रवचन सुधा (भाग-६) (हिन्दी)	१०००
९३ प्रवचन सुधा (भाग-८) (गुजराती)	७५०	१२७ धन्य पुरुषार्थी (गुजराती)	१५००
९४ प्रवचन सुधा (भाग-९) (गुजराती)	७५०	१२८ धन्य पुरुषार्थी (हिन्दी)	६५००
९५ प्रवचन सुधा (भाग-१०) (गुजराती)	७५०	१२९ छः ढाला प्रवचन (हिन्दी) (भाग-१)	१०००
९६ प्रवचन सुधा (भाग-११) (गुजराती)	७५०	१३० राज हृदय (भाग-४) (गुजराती)	५००
९७ कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-१ (गुज.)	१०००	१३१ राज हृदय (भाग-५) (गुजराती)	५००
९८ कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रवचन भाग-२ (गुज.)	१०००	१३२ राज हृदय (भाग-६) (गुजराती)	५००
९९ द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-१) (गुजराती)	१०००	१३३ राज हृदय (भाग-७) (गुजराती)	१५०
१०० द्रव्यसंग्रह प्रवचन (भाग-२) (गुजराती)	१०००	१३४ राज हृदय (भाग-८) (गुजराती)	१५०
१०१ राज हृदय (भाग-१) (गुजराती)	१५००	१३५ राज हृदय (भाग-९) (गुजराती)	१५०
१०२ राज हृदय (भाग-२) (गुजराती)	१५००	१३६ राज हृदय (भाग-१०) (गुजराती)	१५०
१०३ राज हृदय (भाग-३) (गुजराती)	७५०	१३७ अध्यात्म सुधा (भाग-६) (गुजराती)	१५०
१०४ अध्यात्मसुधा (भाग-१) (गुजराती)	१०००	१३८ अध्यात्म सुधा (भाग-७) (गुजराती)	१५०
१०५ अध्यात्मसुधा (भाग-२) (गुजराती)	१०००	१३९ अनुभवप्रकाशना किरणो (भाग-१) (गुज.)	१०००
१०६ अध्यात्म सुधा (भाग-३) (गुजराती)	१०००		